Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

J112700

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Diamond Book Binding Ho
Moh. Karachh B.H.E.L. Road Ja

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोध भारती

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की अनुसन्धान पत्रिका)

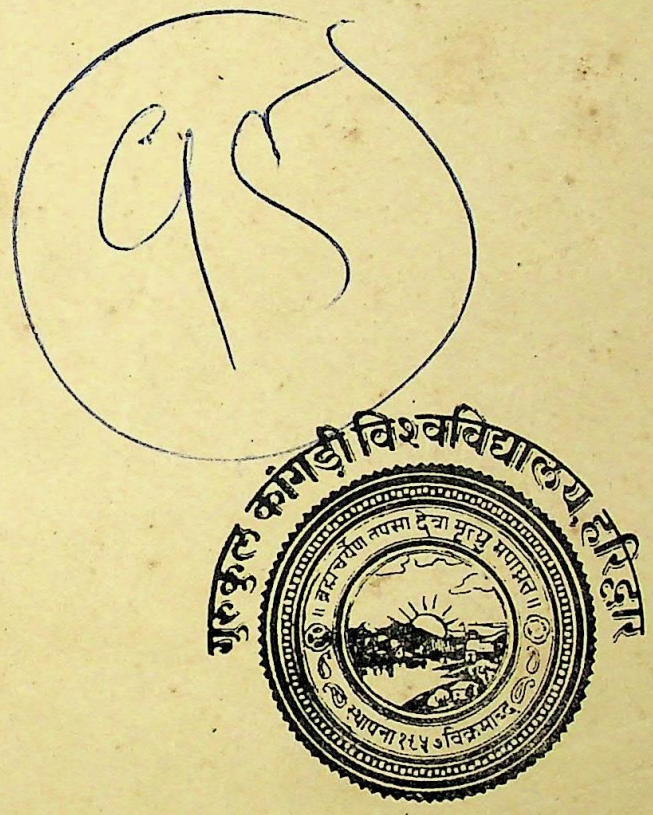

112700

सम्पादक

डा० रामनाथ वेदालङ्कार

डा० विष्णुदत्त राकेश

वर्ष १, अंक १

जनवरी १९७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

112700

शोध भारती

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की अनुसन्धान पत्रिका)

सम्पादक

डा० रामनाथ वेदालङ्कार

डा० विष्णुदत्त राकेश

वर्ष १, अंक १

जनवरी १९७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

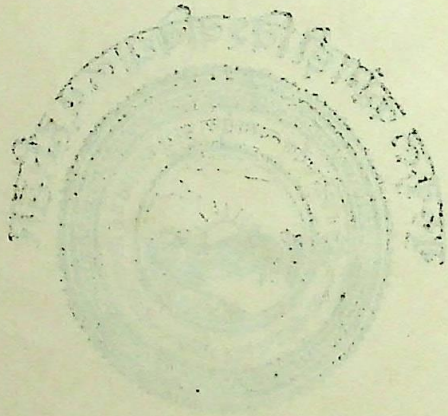

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

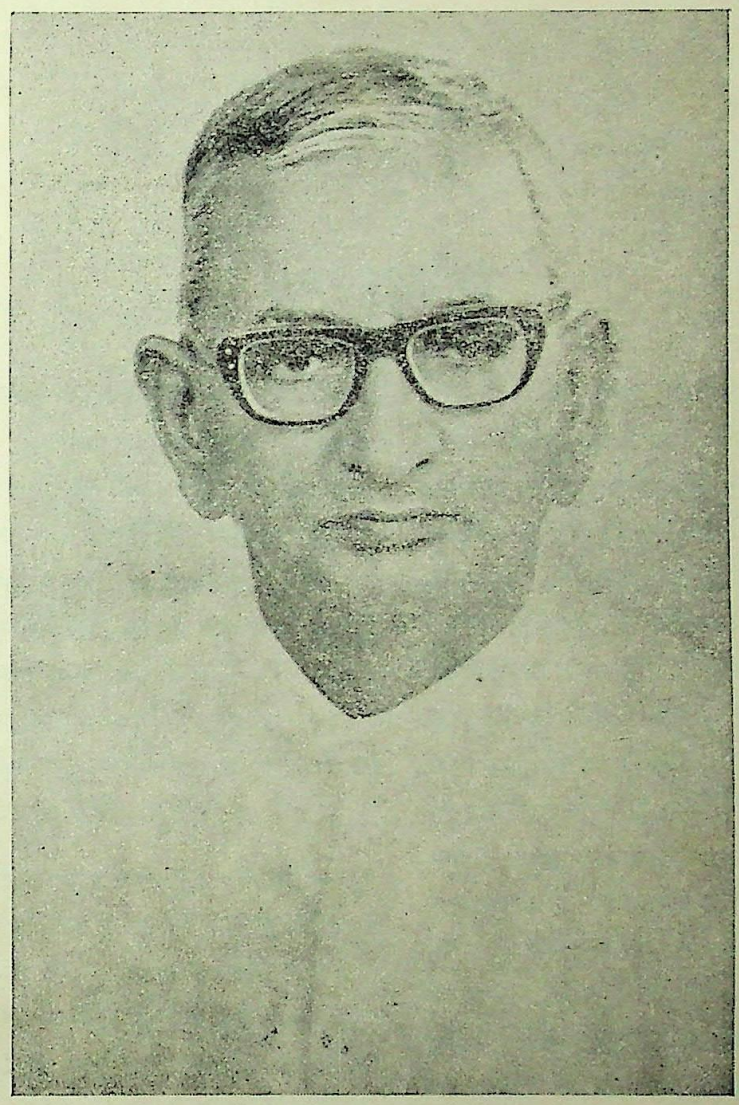

वैदिक साहित्य, इतिहास तथा दर्शन के

प्रकाण्ड विद्वान्

आचार्य रघुवीर सिंह शास्त्री

कुलपति

जिनके जीवन्त कर्त्तृत्व तथा गतिशील नेतृत्व का संस्पर्श पाकर

विश्वविद्यालय का शैक्षणिक स्तर संवर्द्धित

हुआ है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

७३ वर्ष के प्रौढ़ किन्तु नित्य यौवन छवि से दीप्त, सक्रिय तथा संस्फूर्त्त गुरुकुल विश्वविद्यालय कुलगुरु स्वामी श्रद्धानन्दजी के आदर्शों पर भारतीय साहित्य, संस्कृति, दर्शन, इतिहास तथा वेदांगों के क्षेत्रों में प्रचलित विश्वविद्यालयीय परिपाटी से भिन्न शिक्षा-मूल्यों का सामयिक परिप्रेक्ष्य में गतिशील प्रयोग करता रहा है। उसकी प्राच्य विद्या-संरक्षणगत उपलब्धियों का राष्ट्र के प्रबुद्ध विचारक वर्ग ने स्वागत किया है। अन्य उच्चस्तरीय शिक्षण संस्थाओं से उसकी यह मौलिकता भारतीय शिक्षा के इतिहास में अनिवार्य महत्त्व की साक्षी है।

गुरुकुल संस्था नहीं, विचारधारा है। परिपाटी नहीं, प्रयोग है। स्थिरता नहीं, गति है, चेतना है और है शाश्वत सांस्कृतिक मूल्य बोध। गुरुकुल परिसर में छात्र तथा शिक्षक प्रकृति के सुरम्य परिवेश में एक रचनात्मक उद्देश्य के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की प्रगति का परिचय प्राप्त करते हैं। वेद, दर्शन, मनोविज्ञान, गणित, विज्ञान, पुरातत्त्व, हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी साहित्य तथा आयुर्वेद जैसे विषयों का उच्चस्तरीय अध्यापन तथा शोध कार्य यहाँ व्यवस्थित रूप से हो रहा है। विश्वविद्यालय के समकक्ष मान्यता मिल जाने पर अपने मौलिक रूप की रक्षा करते हुए अन्य विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम, शोधस्तर तथा अध्यापन-परिपाटी के समस्तरीय रूप ग्रहण से इसने नव जीवन प्राप्त किया है। विद्वत् समिति, शिक्षा पटल, व्याख्यान-माला तथा पाठ्यक्रम समितियों के व्याज से देश के मूर्धन्य विद्वानों तथा शिक्षा शास्त्रियों के उपयोगी विचारों तथा परामर्शों से इसका पथ प्रशस्त हुआ है। शिक्षाविदों की दृष्टि गुरुकुल पर कृपापूर्ण रही है और उनकी आशाओं-आकांक्षाओं को साकार करने में यह निरन्तर सचेष्ट है। मास्को विश्वविद्यालय के प्राच्य-संस्थान के निदेशक डा० ई० चेलिश्शेव तथा भारत की माननीया प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इस सत्र में विश्वविद्यालय में पधारकर इसकी प्रगति पर सन्तोष का अनुभव किया है। सीमित साधनों तथा शक्तियों के होते हुए भी विश्वविद्यालय के अधिकारी, प्राध्यापक तथा छात्र बद्ध परिकर हो अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं। संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान्, कुशल प्रशासक तथा प्रमुख शिक्षाशास्त्री आचार्य रघुवीरसिंह शास्त्री के कुलपतित्व में विश्वविद्यालय में शान्ति, अध्यापन, शोध तथा रचनात्मक प्रवृत्तियों को जैसा संरक्षण-संवर्द्धन मिला है, तोड़फोड़ तथा विघटनात्मक गतिविधियों के केन्द्र अन्य शिक्षण-संस्थानों के लिए यह स्पृहा की वस्तु है। श्री शास्त्री जी की प्रेरणा से ही विश्वविद्यालय की यह शोध-पत्रिका प्रकाशित हो रही है। प्रवेशांक आप सुधी-पाठकों के सामने है। हम आपके सक्रिय सहयोग, परामर्श और आशीर्वाद के आकांक्षी हैं।

अनुसन्धान एक दुरुह प्रक्रिया है। उसके मूल तत्त्वों का निरुपण यहाँ अभिप्रेत नहीं है। आत्म सजगता के साथ सम्पन्न होने वाला कार्य महत्त्वपूर्ण होता है, इस आशय से संकलित इन शोध-निबन्धों से नये संकेत की क्षमता पाठकों को अवश्य मिलेगी, इसका पूर्ण विश्वास है। परम्परा और विचारधारा संशय की दरार से टूटती है किन्तु जीवन बोध और महनीय सत्य का साक्षात्कार भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न चिन्हों के साथ ही उजागर होता है। सृजनात्मक साहित्य और आलोचना शोध के परिवृत्त में बंधकर ही विश्वसनीय बनते हैं, उनकी आयुकाल व्यापिनी होती है। वय का अनुमान और ठीक-ठीक मूल्याङ्कन आँखों की स्वस्थता का सूचक है। इस संकलन के निबन्ध शोध और आलोचना की नई दृष्टि से सम्पन्न हैं, यदि विषय-मर्मज्ञों को इससे सन्तोष मिल सका तो हम अपने श्रम को सफल मानेंगे। अन्त में जिन विद्वानों ने अपने मौलिक निबन्ध सरस्वती-प्रीत्यर्थ प्रकाशनार्थ देकर 'शोध-भारती' को भारती भवन में प्रवेश दिलाने का सुअवसर प्रदान किया है उनके प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। भविष्य में भी हमें इन मनीषियों का अधिक से अधिक सहयोग मिलता रहेगा, इस आशा के साथ प्रस्तुत अंक सहृदय पाठकों के कर कमलों में सौंप रहे हैं।

"यह मनुज ब्रह्माण्ड का सब से सुरम्य प्रकाश,
कुछ छिपा सकते न जिससे भूमि या आकाश।"

—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचरित के तीन गायक और उनकी काव्यकृतियाँ

वाल्मीकि, अज्ञातनाम कवि,और तुलसीदास कृतियाँ

—आचार्य किशोरीदासवाजपेयी

पौलस्त्यवध, वाल्मीकीय रामायण, और रामचरित मानस इनमें से एक (पौलस्त्यवध) नाटक है, और शेष दोनों महाकाव्य। 'महाकाव्य' की जो परिभाषा अर्वाचीन साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दी गई है, उसमें यदि वाल्मीकीय रामायण तथा 'रामचरित-मानस, गृहीत नहीं होते, तो यह 'परिभाषा' बनाने वालों का दोष है कि वे अपनी परिभाषा में इन महाकाव्यों को न ला सके। यह भी संभव है कि उनके सामने 'महाकाव्य' संस्कृत के ही रहे हों और 'मानस' पर उनका ध्यान न गया हो; या 'परिभाषा' बनाने तक 'मानस' का अवतरण न हुआ हो और वाल्मीकीय रामायण को वे साधारण महाकाव्यों में न रखना चाहते हों। वह तो 'आदिकाव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। तब 'महाकाव्य' की अर्वाचीन परिभाषा में वह कैसे आए !

वाल्मीकि रामचरित के आदि गायक हैं। उन्होंने करुण रसात्मक 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा था, जिसका पता वाल्मीकीय रामायण के आरंभिक चार सर्गों से चलता है। प्रारंभिक सर्ग उस अज्ञातनाम महाकवि ने भूमिका के रूप में लिखे हैं, और फिर पाँचवें सर्ग से महाकाव्य की कथा आरंभ होती है।

'वाल्मीकीय रामायण' नाम इसलिए प्रचलित हो गया; क्योंकि महाकवि ने आरंभ के चार सर्गों में बताया कि रामायण (रामचरित) के प्रथम गायक वाल्मीकि हैं, और फिर अन्त में कृतज्ञापूर्वक कहा—

'आदिकाव्यमिदं चार्षम्,
पुरा वाल्मीकिनो 'कृतम्'

'पुरा' अति प्राचीन काल में मुनि वाल्मीकि ने इस आर्षकाव्य की—'रामायण' की रचना की थी। नाटक दृश्य काव्य है, और वाल्मीकि का 'पौलस्त्यवध' नाटक था, जिसे 'रामायण' नाम से प्रसिद्धि मिली। रामायण का रामचरित का—निबन्धन 'पौलस्त्यवध' में होने के कारण उसे 'रामायण' लोग कहने लगे। पहले 'राम-चरित' के अर्थ में 'रामायण' का प्रयोग होता था। वाल्मीकी रामायण के प्रौढ़ टीकाकार श्रीमान् राम महोदय ने लिखा है—रामस्य अयनम्, चरितम्—'रामायणम्'। यानी 'रामायण' तब तक काव्यविशेष की संज्ञा न थी। आगे चलकर 'रामायण' शब्द का प्रयोग उन काव्य-विशेषों के लिए होने लगा, जिनमें राम-चरित (रामायण) का निबन्धन हुआ हो—अध्यात्मरामायण' आदि। यहाँ तक कि तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' की भी 'तुलसीकृत रामायण' नाम से ही अधिक प्रसिद्धि है।

सो, वाल्मीकि के 'पौलस्त्यवध' नाटक को 'रामायण' नाम मिला और फिर रामायण (रामचरित) को लेकर जब किसी महाकवि ने एक महाकाव्य की रचना की तो उसे भी 'रामायण' नाम मिला और वह वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस महाकाव्य को भी पौलस्त्यवध (रावण-वध) तक ही रखा गया था। 'युद्धकाण्ड' (लंका-काण्ड) के अन्त में ही राम का, अयोध्या-आगमन और राज्य-भार ग्रहण करने का वर्णन है और यहीं 'फल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुति' आदि है, जो ग्रन्थ की समाप्ति पर ही लिखी जाती है। 'उत्तरकाण्ड' उत्तर कालीन प्रक्षेप है। यह सब आगे बताया जायगा।

रामचरित के तीसरे प्रमुख गायक हैं जो स्वामी 'तुलसीदास' जिनका 'रामचरित - मानस' तुलसीकृत 'रामायण' नाम से देश भर में तथा विदेशों में भी गुंजित हो रहा है। जितना व्यापक प्रचार इस महान् काव्य का हुआ, उतना अन्य किसी भी ग्रन्थ का नहीं। इस लोकोत्तर लोक काव्य ने भारतीय जनता को काव्यानन्द के साथ-साथ आत्मबल तथा सदाचार की भी शिक्षा दी है। अपढ़-निरक्षर से लेकर बड़े से बड़े विद्वान् भी तुलसी के शब्दों का आनन्द लेते रहेंगे। यह काव्य पाञ्चाली और अवधी में है। ये दोनों भाषाएं 'हिन्दी संघ' की प्रमुख भाषाएं हैं। परन्तु कहा यही जाता है कि 'रामचरित-मानस' अवधी भाषा का काव्य है।

ये तीन रामचरित के प्रमुख गायक हैं। इनका तथा इनकी काव्य-कृतियों का विशद विवेचन इस छोटे से लेख में क्या होगा! संक्षेप में आगे परिचय दिया जाएगा।

वाल्मीकि और उनका "पौलस्त्यवध काव्य"

'वाल्मीकीय रामायण' के प्रमुख टीकाकार श्रीमान् राम महोदय ने लिखा है कि वाल्मीक नाम के कोई ऋषि थे। उनके पुत्र 'वाल्मीकि'। यों 'वाल्मीकि' नाम नहीं, नाम का विशेषण ठहरता है, जैसे—'दाशरथि'। परन्तु यह विशेषण ही नाम के रूप में चल पड़ा, और नाम लोग भूल ही गए! बादशाह अकबर का नाम कितने लोग जानते हैं? 'अकबर' तो उनके महत्त्व के लिए लगाया गया शब्द है। नाम था-'जलालुद्दीन,' जो प्रायः लुप्त ही हो गया। हिन्दी के महाकवि भूषण का नाम भी लुप्त है। 'कवि-भूषण' की पदवी उन्हें दी गई थी। फिर 'कवि-भूषण' लोग कहने लगे। जैसे 'भूषण' नाम, और 'कवि' उसका विशेषण, आगे 'भूषण' ही नाम प्रसिद्ध हो गया। बस, कुछ यही स्थिति 'वाल्मीकि' मुनि की है।

सरस्वती उपासक मुनियों में केवल वाल्मीकि का ही नाम अमर है, शेष सब लुप्त हो गए। भरतमुनि तो बहुत बाद के हैं। इसी तरह असुर-कवियों में 'उशना' का नाम लिया जाता है—'कवीनामुशनाः कविः'। 'उशनाः-शुक्रः'। शुक्र (असुरों के गुरु, नेता तथा महाकवि) का नाम 'उशना' था। वे वीर-भाव (वीर्य वीरता) के पुंज थे, अपनी मृतसंजीवनी काव्य-शक्ति के कारण। इसलिए उन्हें 'शुक्र कवि' कहा गया। कालान्तर में 'शुक्र कवि' ही प्रसिद्ध हो गए और उनका नाम (उशना) भी कृष्ण-जैसे वीरता-प्रेरकों की ही जानकारी तक रह गया। नाम भर वाल्मीकि की कृति का शेष है; पर शुक्रकवि की कृति का नाम भी लुप्त हो गया।

एक दूसरे वाल्मीकि भक्त हुए हैं द्वापर में, जिन्हें युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में भगवान् श्री कृष्ण ने उजागर किया, और सर्वोपरि महत्त्व दिया। ये भक्त वाल्मीकि सफाई का काम करने वाले हरिजन (भंगी) परिवार में पैदा हुए थे। इनका वर्णन नाभा जी ने 'भक्त माल' में किया है। यह नाम के एक होने के कारण कुछ लोग द्वापर के भक्त वाल्मीकि को ही रामगायक मुनि वाल्मीकि समझ बैठे हैं।

वाल्मीकि मुनि में साहित्यिक प्रवृत्ति थी। वे कोई ऐसा काव्य लिखना चाहते थे, जो आदर्श वीरता का प्रेरक हो। इस के लिए उन्हें मुनिवर नारद से प्रेरणा मिली कि राम ही एक आदर्श पुरुष हैं। उन्हें ही काव्य का नायक बनाओ। इस के बाद ब्रह्मा जी वाल्मीकि से मिले। ब्रह्मा जी नाट्य-शास्त्र के आद्याचार्य हैं। उन्होंने ही कदाचित् 'दृश्य काव्य' लिखने की सलाह दी हो; क्योंकि 'श्राव्य काव्य' की अपेक्षा 'दृश्य काव्य' में अधिक प्रेरकता होती है! अपढ़-कुपढ़ भी दृश्य काव्य (नाटक आदि) में बराबर आनन्द लेते हैं और (लिपि- माध्यम के बिना ही) सीधे कवि की वाणी सुनते हैं, उन अभिनेताओं के द्वारा, जो राम, सीता, हनुमान आदि की भूमिका में आकर अभिनय करते हैं। सो वाल्मीकि को यह बात अच्छी लगी। उन्होंने 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा। रामायण-महाकाव्य के रचयिता ने भूमिकात्मक (बाल काण्ड के आरम्भ में) चौथे सर्ग में लिखा है—

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।
पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामायणम्—रामचरितम् 'पौलस्त्यवधमित्येवम्'-पौलस्त्यवधनामकम् ।

कृत्स्नम्-सम्पूर्णम् । वस्तुतः 'पौलस्त्य-वध' में सम्पूर्ण रामचरित आ जाता है । वन-गमन के प्रकरण में अयोध्या आ गई, और फिर विजय कर के अयोध्या लौटने पर राज-काज सँभालना । 'सीतायाश्यचरितं महत्' तो 'पौलस्त्यवध' का बीज ही है ।

सो, पौलस्त्य-वध' काव्य महर्षि 'वाल्मीकि ने लिखा, यह स्पष्ट हुआ । पता नहीं, 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने 'पौलस्त्यवध' काव्य देखा भी था; या विद्वत्परम्परा से प्राप्त कथा भर सुनी थी । परन्तु यह पक्की बात है कि वाल्मीकि ने 'पौलस्त्यवध' काव्य लिखा था ।

अब यह देखना है कि यह काव्य किस वर्ग का था । हम ने लिखा है कि यह 'दृश्य काव्य' या नाटक था । इस में आप प्रमाण मांगेंगे । प्रमाण में हम 'वाल्मीकीय रामायण' के भूमिका-सर्गों को ही सामने रखेंगे । वहाँ लिखा है कि वाल्मीकि 'पौलस्त्यवध' लिख कर इस चिन्ता में थे कि—

'को न्वेतत्प्रयुञ्जीयात् !'

अब इस का 'प्रयोग' कौन करे ! 'प्रयोग' 'दृश्य काव्य' का ही होता है । श्राव्यकाव्य तो पढ़ा जाता है । कौन इसे 'पढ़ेगा,' यह चिन्ता तो थी ही नहीं, क्योंकि मुनि-समाज में तथा उस समय के साधारण जन-समाज में सब निरक्षर तो होंगे ही नहीं ! हाँ, नाटक आदि का 'प्रयोग' करने वाले कलाकार (नट, कुशीलव) दुर्लभ होंगे । आज भी अच्छे नाट्य कलाकार बहुत कम हैं । कोई भी नाटककार यह सोचता है, कामना करता है कि मेरे नाटक का कहीं गुणग्राही समाज में कुशल नाट्य-कलाकारों के द्वारा 'प्रयोग' हो—मेरा नाटक रंगमंच पर 'खेला जाए' । अँगूठी की शोभा बढ़िया नग से होती है और नग की अँगूठी से । काव्य-रचना—नाटक का निर्माण—एक कला है और उस का 'प्रयोग' रंगमंच पर करना दूसरी कला । एक चीज कवि की है, दूसरी कुशीलवों की—नाट्यकला-विशारदों की । कभी-कभी कवि भी कुशीलव का काम करता है । महाकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने नाटकों के 'प्रयोग' में पात्र विशेष की भूमिका ग्रहण करके मंच पर अभिनय किया करते थे । परन्तु ये अपने ही नाटकों के प्रयोग में पात्र-विशेष की भूमिका ग्रहण करते थे; इस लिए कुशीलव नहीं, कवि ही कहे जाएँगे । कुशीलवों की कला का बहुत सम्मान था और राज-परिवार के जन भी इस क्षेत्र में आते थे ।

सो, जब वाल्मीकि 'पौलस्त्य-वध' के प्रयोग की चिन्ता में थे, तभी

तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
अगृहीतां ततः पादौ मुनिवेशौ कुशीलवौ ।।

—जब मुनि उस तरह नाटक के प्रयोग की चिन्ता में थे, तभी दो कुशीलव सीधे सादे वेश में वहाँ पहुँचे और मुनि की चरण-वन्दना की । उस समय मुनि का मन नाटक-प्रयोग के बारे में भावना विभोर हो रहा था ।

जैसे कवि कुशीलवों की खोज करता है, उसी तरह कुशीलव भी उत्तम नवीन नाटक की खोज में रहते हैं । पता लगा होगा कि वाल्मीकि ने 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा है; सो पहुँच गए । एक 'सूत्रधार' और दूसरा उस का प्रमुख सहचर-सहयोगी 'पारिपार्श्विक' थ। ।

इन दोनों कुशीलवों के बारे में कहा है—

कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ ।

'आश्रमवासिनौ'—जब कुछ दिन आश्रम में दोनों कुशीलव रहे, तब ज्ञात हुआ कि वे दोनों मुनि वेश में हैं; पर राजपुत्र हैं; सगे भाई हैं; उन का स्वर सराहनीय है और (अपनी कला में) बहुत यश प्राप्त कर चुके हैं । यह भी लिखा है कि संगीत-विद्या में दोनों बहुत निपुण थे । वाल्मीकि ऐसे न थे कि किसी ऐरे-गैरे को नाटक सौंप देते । खूब ठोक-बजा कर देख लिया, तब —'अग्रायत प्रभुः'—अपना नाटक उन्हें सौंप दिया ।

इस के अनन्तर उन कुशीलवों ने नाटक का अध्ययन किया; अपनी मंडली बुलाई; प्रयोग की तैयारी की; जिस पात्र का अभिनय जिस को सौंपा गया, उस ने उस में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दक्षता प्राप्त की और फिर मुनि-समाज में ही 'पौलस्त्य-वध' नाटक का प्रथम प्रयोग हुआ। नाटक देख कर मुनि जन मुग्ध हो गए और आवाज उठी—

'चिरनिर्वृत्तमप्येतत्,
प्रत्यक्षमिव दर्शितम्'

जो घटना बहुत पहले घटी थी, उसे आँखों के सामने ला दिया! ऐसा जान पड़ा कि वह सब हमारे सामने ही हुआ!

मुनियों ने फिर कुशीलवों को उपहार में तरह-तरह की वस्तुएँ भेंट की, जो उन के पास थीं। वे 'राजकुमार' थे कुशीलव; तो भी मुनिजनों के दिए हुए ये (वल्कल आदि) उपहार सम्मान-पूर्वक ग्रहण किए।

इस के बाद वे कुशीलव नाटक लेकर चले गए।

'कुशीलव' और 'कुशलव'

वाल्मीकीय रामायण के टीकाकारों ने 'कुशीलवौ' को 'कुशलवौ' समझ लिया है! लिखा है कि 'कुशलवौ' का आर्ष-प्रयोग है—'कुशीलवौ।' कितना भ्रम! आर्ष-प्रयोग जो ऐसे हुए हैं, उन में स्वर दीर्घ भर हुआ है, स्वर-परिवर्तन नहीं। 'अ' को 'आ' रूप मिल गया है—'सूर्यचन्द्रमसौ' का 'सूर्याचन्द्रमसौ' और 'इन्द्रवरुणौ' का 'इन्द्रावरुणौ' प्रयोग आर्ष है। 'अ' को कहीं भी 'ई' रूप नहीं मिला है।

फिर, यदि कुश-लव नाट्यकलाकार थे और उन के आश्रम में ही थे, तो फिर मुनि चिन्ता में क्यों पड़े कि 'कोन्वेतत्प्रयुञ्जीत'—इस नाटक का प्रयोग कौन करेगा! क्या अपने आश्रम के कलाकारों को कोई नहीं जान पाता? और फिर उन कुशीलवों को 'राजपुत्रौ' कहा गया है; एक जगह नहीं, बीसों जगह। यदि कुश-लव होते, तो 'राजपुत्रौ' की जगह 'रामपुत्रौ' विशेषण होता।

वस्तुतः 'प्रयुञ्जीत' तथा 'कुशीलवौ' का अर्थ ही लोग नहीं समझे?

२. अज्ञात महाकवि का महाकाव्य 'वाल्मीकीय रामायण'

'पौलस्त्य-वध' का 'रस'

'पौलस्त्य-वध' इस नाम से आभास मिलता है कि वह नाटक वीररस-प्रधान रहा होगा। परन्तु लोक-विश्रुति यह है कि वाल्मीकि की वह रचना करुण रस से ओत-प्रोत थी। इस पर विचार करना चाहिए।

कुशल कुशीलव ऐसा ही दृश्यकाव्य पसन्द करते हैं, जिसका प्रयोग पांच-छः घंटे में सम्पन्न हो जाए, और चतुर नाटककार कुशीलवों की इस रुचि का ध्यान रखते हैं। ऐसी स्थिति में सरलता से समझा जा सकता है कि 'पौलस्त्य वध' के लिए वाल्मीकि ने राम-चरित का कितना अंश लिया होगा। पाँच छह घंटे में सुकर-प्रयोग नाटक को पाँच-छह अंकों में विभक्त किया जा सकता है। निश्चय ही राम-निर्वासन से ही नाटक का श्रीगणेश हुआ होगा। 'आदौ रामतपोवनाधि गमनम्'। प्रथम अंक में अयोध्या से राम का निर्वासन और उस समय राज-परिवार की दशा का चित्रण मर्मस्पर्शी रहा होगा। दूसरे अंक में राम की वन में स्थिति, सीता का वह वन्य जीवन चित्रित हुआ होगा, जिसे देखकर दर्शकों के हृदय द्रवीभूत हो जाते होंगे। तीसरे अंक में सीता-अपहरण का कारुणिक दृश्य दर्शकों को रुला देता होगा। चौथे अंक में सीता के वियोग में राम की क्या दशा हुई, इस का चित्रण कवि ने किया होगा। पाँचवें अंक में लंका-स्थित सीता का विरह-सन्ताप चित्रित हुआ होगा और छठे अंक में किसी प्रमुख पात्र के मुख से सीता को सूचना मिली होगी कि भयंकर युद्ध में पौलस्त्य मारा गया और राम की विजय हो गई है। इस समाचार से सीता का पुनरुज्जीवन—'सूखत धान परा जनु पानी' की तरह दर्शकों को आह्लादित करता होगा। फिर राम और सीता का पुनर्मिलन। यों सुखान्त नाटक रहा होगा।

इस अन्तिम अंश (छठे अंक) को छोड़, शेष पूरे नाटक में करुणात्मक दृश्य और एक से एक बढ़कर दिल दहलाने वाले। तो, प्रधानता करुण रस की स्पष्ट ही है।

युद्ध रंगमंच पर दिखाया नहीं जा सकता; इसलिए उसकी सूचना किसी ढंग से दे दी जाती है। तो फिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीर रस में परिणति होने पर भी उसका परिपाक तो नहीं हुआ न ! दर्शकों के मन तो करुण रस से भरे हुए। उन में पौलस्त्य-वध की सूचना से सुख-संचार होने पर भी वह करुण दृश्यावली ही जमी रहना स्वाभाविक है और इसी लिए 'पौलस्त्य-वध' में करुण रस प्रधान रहा।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है। अर्वाचीन काव्य-विवेचकों ने पारिभाषिक 'करुण' रस की जो परिभाषा दी है, वह अधूरी है। उसके अनुसार तो किसी की मृत्यु हो गई हो, तभी वह 'करुण रस' की परिधि में आता है।

हाँ, 'पौलस्त्य-वध' के अंक-विभाजन की जो बात मैंने कही है, उस पर पाश्चात्य आलोचक और उनके भारतीय चेले कहेंगे कि "उस अति प्राचीन युग में 'लिखने' की कोई बात ही नहीं; क्यों कि तब तक लिपि का निर्माण आर्यों में हुआ ही न था और इसीलिए 'वेद' को 'श्रुति' कहा जाता था। सुनते-सुनाते वह चलता था।"

ऐसे मूर्खों को कैसे बताया जाए कि "कालिदास ने 'रघुवंश' में और तुलसीदास ने 'रामचरित-मानस' में कहा है—।" क्या इन के युग में भी लिपि न थी ? आज कल 'श्रव्य काव्य' ही अधिक लिखे जाते हैं। इस का क्या मतलब ? क्या आज भी लिपि नहीं है ? फिर 'श्रव्य काव्य' 'लिखे जाते हैं'; यह क्या ? इन्हें कैसे समझाया जाए कि 'लिखना-पढ़ना' भी (लिपि के माध्यम से) कहना-बोलना ही है। संसार के सब से प्राचीन साहित्य 'ऋग्वेद' के भी 'मण्डल' तथा 'सूक्त' रूपों में परिच्छेद हैं। तब उसके बहुत दिन बाद वाल्मीकि ने अपने दृश्य काव्य का विभाजन अंकों में किया, तो शंका किस बात की ?

वाल्मीकि के समय दृश्य काव्यों का प्रयोग करने के लिए रंगमंच की भी उत्तम व्यवस्था रही होगी और अभिजात वर्ग के विद्वान् कलाकार अपने को 'कुशीलव' कहलाने में गर्व का अनुभव करते होंगे। तभी तो दो राजकुमार कुशीलव वाल्मीकि की सेवा में जा कर हाजिर हुए थे।

एक बात और ! वह क्रौंच पक्षी की हत्या वाली बात कुछ जमती नहीं है और वाल्मीकि के प्रस्तुत करुण काव्य से मेल भी नहीं खाती। महाकवि निराला के सामने ही, उन की प्रकृति बताने के लिए, लोग कहानियाँ गढ़ लेते थे और मेरे सामने ही (मेरे दिल्ली-अभिनन्दन पर) अनेक विद्वान् मित्रों ने मेरी प्रकृति बतलाने के लिए कई कल्पित प्रसंग उपस्थित किए थे। अन्यत्र भी ऐसा होता है। सो, वाल्मीकि की मनोदशा को वैसे काव्य की रचना के अनुकूल बनाने के लिए वह क्रौंच पक्षी की हत्या वाली कहानी गढ़ी गई है; जो जमती नहीं है।

'पौलस्त्य-वध' से पहले और बाद में

'पौलस्त्य-वध' से पहले और उसके बाद संस्कृत में कितना साहित्य अवतरित हुआ होगा, इसका अनुमान कोई लगा नहीं सकता। यह हो नहीं सकता कि अचानक 'पौलस्त्य-वध' कूद पड़ा हो, उसके पहले कोई साहित्य प्रकट न हुआ हो ! अन्यविध साहित्य के अतिरिक्त दृश्यकाव्य भी काफी बन चुके होंगे और उनके प्रयोग करने वाले कुशीलवों की कला का विकास भी हो चुका होगा। अन्यथा, एकदम वे कुशीलव कहाँ से टपक पड़ते, जो वाल्मीकि के आश्रम में नवीन नाटक की प्राप्ति के लिए पहुँचे थे ? हाँ, यह हो सकता है कि रामचरित को लेकर वह पहला ही नाटक हो, जिसकी चर्चा 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने की है। उसे तो अपनी परम्परा से मतलब। यह भी हो सकता है कि रामचरित को लेकर भी काव्य-रचना हुई हो, जो 'पौलस्त्य-वध' के उदय से अस्त हो गई हो ! पाणिनि से पहले जो व्याकरणकार हुए, उनके नाम तो 'अष्टाध्यायी' से मालूम हैं, उनके मत भी थोड़ा-बहुत मालूम हैं; पर उनके ग्रन्थों का कहीं पता नहीं। इसी तरह यास्क ने अपने 'निरुक्त' में जिन भाषाविज्ञानियों के नामों का और उनके मतों का उल्लेख किया है, सामने हैं। परन्तु उनके ग्रन्थों का पता नहीं ! पाणिनी की 'अष्टाध्यायी' के बाद पहले के सब व्याकरण ग्रन्थ अस्त हो गए और यास्क के 'निरुक्त' ने पहले के सभी निरुक्तीय (भाषावैज्ञानिक) ग्रन्थों को निरस्त-अस्त कर दिया। पाणिनि तथा यास्क के समय अन्य विषयों का भी साहित्य होगा; अन्यथा व्याकरण तथा निरुक्त का प्रदुर्भाव ही संभव न था। परन्तु अपने-अपने विषय के ही पूर्वाचार्यों के नाम और मत दोनों आचार्यों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्र-तत्र प्रकट कर दिए हैं। इसी तरह 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने वाल्मीकि तथा उनकी कृति 'पौलस्त्य-वध' की चर्चा कर दी है। वही सर्वोत्कृष्ट जँचा होगा।

संभव है, 'पौलस्त्य-वध' के बाद भी रामचरित पर साहित्य बना हो, पर नगण्य रहा हो और इसी लिए उस की चर्चा अनावश्यक समझी गई हो। पं० कामता प्रसाद 'गुरु' के हिन्दी-व्याकरण के बाद भी सैकड़ों हिन्दी-व्याकरण बने, पर 'हिन्दी शब्दानुशासन' में केवल 'गुरु' जी का ही उल्लेख है। इस निबन्ध में रामचरित के तीन 'गायक' निर्दिष्ट हैं, परन्तु उनकी संख्या तीन ही तो नहीं है न! तीन पर हमें विचार करना था।

'लिपि का उल्लेख'

लोग यह भी कहते हैं कि वैदिक साहित्य में कहीं 'लिपि' का उल्लेख नहीं है; जिस से स्पष्ट है कि उस समय 'लिखने' की व्यवस्था न थी!

इन लोगों को यह भी कहना चाहिए कि "चालीस वर्ष पहले तक हिन्दी में 'लिखने' की व्यवस्था न थी; क्योंकि अंग्रेजी के 'स्पेलिंग' और उर्दू के 'हिज्जे' की तरह हिन्दी साहित्य में कोई वैसा शब्द नहीं मिलता। हिन्दी में 'वर्तनी' शब्द चले अभी बहुत थोड़े दिन हुए हैं। यदि पहले हिन्दी में लिखने की व्यवस्था होती तो 'वर्तनी' शब्द जरूर मिलता।"

बस, और अधिक क्या कहा जाए। 'वाल्मीकीय रामायण' महाकाव्य जिस महाकवि ने लिखा, उसके नाम-धाम का कुछ पता नहीं। यह भी पता नहीं कि वे कब हुए और कब अपने इस महाकाव्य की रचना की। इतनी ही बात पक्की है कि यह 'वाल्मीकीय रामायण' अति प्राचीन रचना है।

शुक्र तथा मुनि वाल्मीकि का नाम कवि-रूप से सबको विदित है; पर उनके काव्य लुप्त हो गए और इस महाकवि की रचना सामने है; पर नाम लुप्त हो गया। महाकवि का नाम 'वाल्मीकि' में अन्तर्हित हो गया।

'वाल्मीकीय रामायण' ऊँचे दर्जे की काव्य-रचना है। इसमें प्रकृति का तथा मानव-प्रकृति का जैसा सजीव वर्णन हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। महाकवि पर अपने युग के समाज का भी प्रभाव पड़ा है। प्रसिद्धि थी—'लंका में सीता की अग्नि-परीक्षा हो गई और उसमें वे खरी उतरीं'। वैसी भयंकर स्थिति में अपना सतीत्व सुरक्षित रखना भयंकर अग्नि-परीक्षा में खरा उतरना है। लोग इसका मतलब यह समझने लगे थे कि परीक्षा के लिए बहुत बड़ी चिता बनाई गई और सीता जी उस धधकती हुई चिता में कूद पड़ीं और फिर अपने सतीत्व के प्रभाव से ज्यों की त्यों, दमकते हुए कुन्दन की तरह, प्रकट हुईं।' महाकवि भी ऐसा ही समझे और यह भी कल्पना की होगी कि वाल्मीकि ने भी अपने रामचरित (रामायण) काव्य 'पौलस्त्यवध' में सीता जी के ऐसे ही अग्नि-प्रवेश का वर्णन किया होगा! वह कैसा कारुणिक दृश्य रहा होगा! महाकवि को इस प्रसंग ने अत्यधिक प्रभावित किया और उनकी यह भावना बनी कि 'पौलस्त्य-वध' इसी घटना के कारण 'करुण रस' का कहा जाएगा; इसी की संगति के लिए कहाकवि ने अपने महाकाव्य के आरम्भिक (भूमिकात्मक) सर्गों में और सब लिखते हुए क्रौंच पक्षियों की कल्पना-प्रसूत कथा लिखी।

महाकवि ने अपने महाकाव्य (वाल्मीकीय रामायण) में सीता के अग्नि-प्रवेश का अत्यन्त करुणात्मक वर्णन किया है। उसे पढ़ने वाले के मन में (सीता के प्रति वैसी कटूक्तियाँ सबके सामने कहते हुए) राम के प्रति असद्-भावना पैदा न हो, यह सम्भव नहीं और वहीं पाठक का सिर माता सीता के चरणों पर झुक जाता है। लोकोत्तर शील, संयम और शालीनता के दर्शन हैं।

जो भी हो, महाकवि का यह वर्णन अद्वितीय है। राम का वैसा रूप वर्णन करके भी महाकवि उन्हें 'धर्मज्ञ' कहता है; यह लोक-लीक! निरपराध सीता का अग्नि-प्रवेश वर्णन भी लोक-लीक का ही पीटना है; अन्यथा, महाकवि की पूर्ण सहानुभूति माता सीता की ओर है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को निरपराध देश-भक्त समझते हुए भी न्यायाधीश ने उन्हें दण्ड दिया था। दण्ड देना पड़ा था। वह कानून से बंधा हुआ था। इसी तरह महाकवि लोक-लीक से चिपका हुआ था। उसे वैसा वर्णन करना पड़ा और खूब किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर काण्ड का प्रक्षेप

'वाल्मीकीय रामायण' युद्ध-काण्ड (लंका-काण्ड) पर ही समाप्त है। सातवाँ काण्ड बहुत बाद का प्रक्षेप है; यह उसके नाम से ही स्पष्ट है—'उत्तर काण्ड'—बाद का जोड़ा हुआ काण्ड। महाकाव्य के असली छहों काण्डों के नाम स्थान या घटनाओं को लेकर हैं—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, और युद्धकाण्ड। 'वाल्मीकीय रामायण' का अंग यह सातवाँ काण्ड होता, तो नाम होता—राज्यपालन काण्ड, या सीतानिर्वासन काण्ड।

दुनिया कितनी विचित्र है! कैसे-कैसे क्रूर राक्षस यहाँ पैदा होते हैं। सीता की उस 'अग्नि-परीक्षा' से भी सन्तोष न हुआ और तब 'उत्तर काण्ड' रच डाला। इसी काण्ड में तपस्वी शम्बूक की हत्या राम के द्वारा कराई गई है। और भी बहुत-सी ऐसी ही कहानियाँ हैं; परन्तु सबसे क्रूर कल्पना सीता-निर्वासन की है। निरपराध, अबला, गर्भवती और फिर उसकी वह दुर्गति! बियाबान जंगल में हिंस्र जानवरों को चीर-फाड़ कर खा जाने के लिए उसे छोड़ आना! फिर, कहा क्या गया है—अपने वंश की मर्यादा, अपनी कीर्ति तथा धर्म की रक्षा के लिए वैसा करना पड़ा! यदि यही बात होती, तो धर्मज्ञ राम स्वयं प्रायश्चित करते और वैसा कोई दण्ड स्वयं भुगतते; क्योंकि दोषी वे ही ठहरते हैं। वे सीता जी को पुष्पक-विमान में लंका से अयोध्या लाए और राजभवन में सम्मान के साथ रखा। तब प्रजा ने किसको दोषी समझा होगा?

पत्नी का परित्याग आगे दुष्यन्त ने जो किया, वह सच्ची घटना है; कल्पित नहीं। दुष्यन्त ने शोहदेपन से मुनि-आश्रम की एक बालिका को अपने जाल में फँसा लिया और फिर अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए उसे अपमानित करके भगा दिया कि यह मुझे कलंकित करके रानी बनने के लिए राँड़ कहाँ से आ पहुँची! शोहदे ऐसा करते ही हैं और जो लड़कियाँ गुरुजनों के परामर्श-अनुमति के बिना वैसा 'प्रेम-विवाह' कर लेती हैं, उनमें से अधिकांश प्रायः पछताती ही देखी जाती हैं। परन्तु दुष्यन्त ने शकुन्तला को पकड़वा कर बियाबान जंगल में नहीं छुड़वाया।

'सीता-निर्वासन' की क्रूर कल्पना हृदय दहलाने वाली है और इसके जोड़ की केवल एक ही और क्रूर कल्पना मिलती है, जो राजा मयूरध्वज की कथा है। कुछ ठिकाना है। एक साधु को प्रसन्न करने के लिए, उसके जानवर के लिए, माता और पिता अपने हाथों आरे से अपने पुत्र को चीर दें। सुनते ही रोम खड़े हो जाते हैं। सीता-निर्वासन के जोड़ की केवल यही एक क्रूरतम कल्पना और है। अन्य सब कुत्सित कल्पनाएँ इनके बाद हैं।

खैर, अधिक कहने को मन नहीं करता—'कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः'। चाहिए था कि किसी मधुर प्रसंग से इस प्रकरण की समाप्ति की जाती। परन्तु सामने यह बीभत्स नारकीय प्रसंग आ गया! आँखें बन्द करके सब भुला दो।

३. गोस्वामी तुलसीदास और 'रामचरित मानस'

ऊपर रामचरित के दो प्रमुख गायकों की चर्चा हुई, जिनके काव्य संस्कृत में बने। तीसरे महाकवि हमारे गोस्वामी तुलसीदास जी हैं, जिनकी 'भाषाभनिति' है—'रामचरित मानस'। यह महाकाव्य 'तुलसीकृत रामायण' नाम से अधिक प्रसिद्ध है। परन्तु इधर हिन्दी के जागरूक विद्वानों के सम्पादकत्व में जो संस्करण प्रकाशित हुए हैं, वे 'रामचरित मानस' नाम से ही अलंकृत हैं; तो भी कथापरिच्छेदों के नाम 'काण्ड' ही रखे गए हैं। गोस्वामी जी ने अपने 'मानस' के सात 'सोपान' रखे थे—'सप्त सोपान'। सातवें 'सोपान' का नाम लोगों ने 'उत्तर काण्ड' रख लिया; परन्तु इसमें वाल्मीकीय रामायण के 'उत्तर-काण्ड' की क्रूरता नहीं है। न यहाँ 'सीता निर्वासन' की चर्चा है; न किसी तपस्वी की हत्या ही राम जी से कराई गई है। इस 'सोपान' या 'उत्तरकाण्ड' को कृति का उत्तमाङ्ग कहना चाहिए; 'उत्तरकाण्ड' यह 'उत्तमकाण्ड' है। सीता और लक्ष्मण के साथ राम का अयोध्या-आगमन, राज्याभिषेक, अपने (लंका-युद्ध के) सहयोगी सुग्रीव, अंगद, हनूमान आदि का कृतज्ञता-पूर्वक सम्मान, प्रजा की सुख-समृद्धि का वर्द्धन, धर्म-स्थापन आदि का वर्णन है और फिर विविध कथा-प्रसंगों में भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि का विशद वर्णन है तथा सर्वोपरि राम-भक्ति का प्रतिष्ठापन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यानी इस सातवें 'सोपान' को गोस्वामी जी ने लोक तथा परलोक, दोनों का आदर्श 'आदर्श' (दर्पण) बना दिया है—अपना हृदय प्रकट कर दिया है।

'आठवां काण्ड'

वाल्मीकीय रामायण छह काण्डों में है और उसमें सातवाँ 'उत्तरकाण्ड' प्रक्षिप्त है। गोस्वामी तुलसीदास का 'मानस' सात सोपानों में पूर्ण है। परन्तु लोगों ने एक आठवाँ 'काण्ड' गढ़ कर 'लव-कुश काण्ड' नाम से इसमें जोड़ दिया था, जिसमें वे सब क्रूर-कथाएँ तथा ऊल-जलूल निरर्थक कथाएँ भर दी गईं, जिनसे गोस्वामी तुलसीदास बहुत उद्विग्न थे। बीच-बीच में, अन्य सभी काण्डों में 'क्षेपक' भर दिए गए। ऐसे 'क्षेपकों' सहित, तुलसीकृत रामायण, आठों काण्ड' छाप-छाप कर लोगों ने खूब धन कमाया। यह धमाचौकड़ी देख कर हिन्दी के विद्वान् सजग हुए और सभी 'क्षेपक' हटा कर तथा अठवाँ 'लव-कुश काण्ड' काट कर पुनः 'मानस' को अपने निज रूप में कर दिया। अब उन क्षेपकों का तथा आठवें 'लवकुश काण्ड' का कहीं पता-ठिकाना नहीं है।

तुलसी ने एक कुंजी दे दी है

गोस्वामी तुलसीदास ने राम-चरित समझने के लिए विद्वानों के दिमागों पर लगे संशय-संदेहों के कपाट खोल दिए हैं। जड़ता का ताला खोलने की उनकी कुन्जी यह है—

'कलप-भेद हरि-चरित सुहाए,
भाँति अनेक मुनीसन गाए'

गोस्वामी जी ने लिखा है कि राम जी के चरित्र में जो यह भिन्नता है, वह 'कल्प-भेद' से है। प्रत्येक 'कल्प' में राम जी का नवीन अवतार होता है और यों कथा-भेद होता है। राम एक ही हैं।

निश्चय ही 'कल्प-भेद' का मतलब 'कल्पना-भेद' है, कवि सब तरह के होते हैं। वे अपने मन से कल्पना करते हैं। जो जैसा हुआ, उसने वैसी ही कल्पना कर ली। यह कल्पना ही काव्य को 'सुकाव्य' या 'कुकाव्य' बना देती है। समाज की स्थिति तथा मान्यता में भी परिवर्तन होते रहते हैं। कविजन अपने समय की सामाजिक स्थिति से प्रभावित होते हैं और उसी के अनुसार काव्य-कल्पना कर लेते हैं। सो, राम-चरित में जो तरह-तरह के वर्णन-प्रसंग देश-विदेश में मिलते हैं, वे सब कवि-कल्पनाओं की सृष्टि हैं। उन कल्पनाओं को विवेक-दृष्टि से देखना चाहिए कि मर्यादा-पुरुषोत्तम राम से इसका कोई साम-ञ्जस्य-मेल है भी कि नहीं! राम से भी क्या कोई ऐसा क्रूर तथा अन्यायपूर्ण कृत्य संभव है? इस तरह विवेक के सूप से फटकने पर असार तत्त्व उड़ कर दूर जा पड़ेंगे और सार तत्त्व पास रह जाएगा।

'हरि-चरित सुहाय' जो चरित जिसे सुहाया-मन-भाया, उसी को राम के माथे थोप दिया।

'मुनीसन गाए' में 'मुनीसन' शब्द बड़े काम का है। कुत्सित कल्पना करने वाले भी 'मुनास'। खबीस भी 'मुनीस'! 'कथिता पुण्यजना निशाचराः'। राक्षसों का एक नाम 'पुण्यजन' भी है। यही बात कुकवि जनों को 'मुनीस' कहने में है। और, सुकवि रामगायक तो 'मुनीस' हैं ही; मुनीश वाल्मीकि की परम्परा में हैं; इसीलिए सब 'मुनीस'। साधारण सिख को भी आदर से 'सरदार' कहा जाता है। सो राम-चरित के सभी गायक 'मुनीस' हैं, तुलसी की दृष्टि में।

मैं समझता हूँ, 'कल्प-भेद से रामचरित में भिन्नता' बतलाकर तुलसीदास ने हमें एक ऐसी कुन्जी दे दी है, जिससे हम न केवल रामचरित-काव्यों को ही वरन सभी काव्यपुराण-कल्पना कथाओं को साफ-साफ देख सकते हैं। किसी क्रूर के लिए क्रूर चरित की कल्पना ठीक हो सकती है, परन्तु दयालु धर्मात्मा के लिए नहीं। कभी-कभी अपने काव्य-नायक की प्रतिष्ठा बचाने के लिए भी कविजन कल्पना कर लेते हैं, परन्तु किसी दुश्चरित्र के समाज विरोधी आचरण को कल्पना-बल से छिपाना सामाजिक अपराध है जो महाकवि कालीदास से भी हो गया है। दुष्यन्त के शकुन्तला के प्रति किए दुर्व्यवहार पर मुनि-शाप की कल्पना ऐसी ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मानव मूल्य और आधुनिक हिन्दी काव्य'

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

इतिहासविदों ने भारत और यूरोपीय संस्कृति के सम्पर्क काल को आधुनिक युग के नाम से अभिहित किया है और भारत में यूरोपीय संस्कृति का वचन-काल उन्नीसवीं शताब्दी है। इस शताब्दी में भारतीय जीवन मध्ययुगीन पौराणिक वातावरण में डूबा हुआ था और यह जीवन मन्द गति-पूर्ण और विस्तार भार से लदा हुआ था। इस प्रकृति के दर्शन उस समय की सबीह तथा चित्रकला के अन्य रूपों, शिल्प की पच्चीकारी तथा सजावट और हिन्दी की रीति कालीन कविता में होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में जब यूरोपीय उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद अपनी पूरी शक्ति के साथ देश में आया तो यदि एक ओर राजनीतिक और आर्थिक दृष्टियों से देश अधोगति को प्राप्त हुआ, तो दूसरी ओर वैज्ञानिक आविष्कारों और नवीन शिक्षा के प्रचार से देश के बौद्धिक और भावनात्मक जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित हुआ, देश के बुद्धिजीवियों का पाश्चात्य विचार-परम्परा और साहित्य के साथ सम्पर्क स्थापित होने के फलस्वरूप और साथ ही देश के अतीत गौरव के स्मरण से नवोत्थान की लहर फैलने में विलम्ब न हुआ। देश वासियों में नवीन साहित्यिक,कलात्मक और शासन संबंधी आकांक्षाएँ उत्पत्न हुई। यह बात विशेषरूप से ध्यान देने की है कि जहाँ देश में एक और पाश्चात्य प्रभाव अत्यन्त तीव्रता के साथ बढ़ रहा था, वहाँ दूसरी ओर अपनी प्राचीन साँस्कृतिक परम्पराओं से देश का ध्यान अपने प्राचीन गौरव की ओर गया। भारत के बुद्धिजीवियों को यह देश 'विश्व-गुरु' के रूप में दृष्टिगोचर होने लगा, एक ऐसे देश के रूप में दृष्टि गोचर होने लगा जिसका अपना एक ऐसा सन्देश था जिससे मानव का कल्याण हो सकता था; जहाँ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' जैसे स्वरों का उद्घोष हो चुका था। यहीं से देश में 'पूर्व' और पश्चिम' का संघर्ष प्रारम्भ होता है। यह एक विचित्र ऐतिहासिक घटना है कि आधुनिकता के जन्म के समय से ही आधुनिक भारत का निर्माण स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे महापुरुषों द्वारा हुआ जो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित होते हुए भी भारतीय आध्यात्मिक गरिमा और सन्देश को भूले नहीं थे। यह भारतीय नवोत्थान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रथम चरण था जिसके फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी देश के बौद्धिक एवं साँस्कृतिक जीवन में एक नितान्त नूतन मोड़ प्रस्तुत करती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय जीवन में अभिव्यक्त यह प्रक्रिया उस महान् ऐतिहासिक क्रम का एक अंग थी जो समस्त एशिया के जीवन को स्पन्दित कर रहा था। वास्तव में कोपर्निकस, मिल, मोर्ले तथा अन्य यूरोपीय चिन्तकों और विचारकों ने भारतीय मध्ययुगीन जीवन की जड़ हिलादी। यही उन्नसवीं शताब्दी का वास्तविक महत्त्व है, अन्यथा राजनीतिक उत्थान-पतन तो पहले भी हो चुके थे। इस नवीन ज्ञान के प्रकाश में जीवन का फिर से संस्कार किया जाने लगा।

अतः वैचारिक स्तर पर उन्नीसवीं शताब्दी एक नई संक्राँति का काल था। पश्चिमी समस्यता एवं संस्कृति के साथ टकराव फलस्वरूप लोगों का दृष्टिकोण बदला, प्रजा-तंत्र की नींव पड़ी और अनेस प्रकार की विषमताओं और वर्जनाओं का जीवन व्यतीत करते हुए भी एक नए युग का सूत्रपात हुआ और जड़ जीवन-पद्धतियों एवं निष्क्रियता के बीच नवीन उत्साह, सक्रियता एवं आत्म-विश्वास की भावना का उदय हुआ जिसकी अन्तिम परिणति बीसवीं शताब्दी में स्वतंत्रता-प्राप्ति में दृष्टिगोचर होती है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लगभग १५०-१७५ वर्ष की दासता के अभिशाप को भुगतते हुए और उसके मध्य भारत में अनेक अधुनातन विचारधाराओं का जन्म एवं विकास हुआ। इसलिए जब आधुनिक काव्य के सन्दर्भ में मानव-मूल्यों की बातें उठाई जाती हैं तो उसका सीधा अर्थ समाजिक परिवेश एवं सामयिक जीवन की गति के भीतर उभरते हुए एवं स्वरूप ग्रहण करते हुए प्रगतिशील तत्त्वों से है। इसलिए आधुनिक काव्य और मानव-मूल्यों का अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित हो जाता है।

एक समय वह था जब हिन्दी कविता परिपाटी विहित और रूढ़िग्रस्त राधा-कृष्ण की लीलाओं और नायक-नायिकाओं के कल्पित ऐश्वर्य और विलास में डूबी हुई थी। इन भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवियों के पास उपयुक्त साधन थे। परन्तु पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क में आने से हमारे कवियों का ध्यान प्राचीन काव्य-परम्परा के निर्वाह के अतिरिक्त नवीन भावों और विचारों और अपने चारों ओर की दुनिया की ओर भी जाने लगा। कविता दरबारों से निकल कर सड़क पर आगई। एक ओर तो रूढ़ियों और परम्पराओं ने, और दूसरी ओर अंगरेजी-शासन के कर्मचारियों ने साधारण जन को ऐसा दबोच रखा था कि उसे उभरने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो रहा था। हिन्दी के कवियों ने पहली बार देश की सामूहिक भलाई की ओर ध्यान दिया और मनुष्य को मनुष्य समझा। उन्होंने लोकहित की ओर ध्यान दिया। शताब्दियों से पीड़ित मानव का उद्धार करना चाहा। अंगरेजी राज्य के अन्तर्गत नवजात और नवशिक्षित मध्यम वर्ग ने इस दृष्टि से अग्रगण्य भाग लिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, बालमुकुन्द गुप्त, बद्रीनारायण चौधरी, 'प्रेमधन, श्रीधर पाठक आदि कवियों ने अपने समय के मनुष्य को उसके सामाजिक एवं राजनीतिक सन्दर्भों में, पूरी समग्रता के साथ मूल्याँकित करने का प्रयास किया और मानव को अपने चिन्तन का आधार बनाया। यदि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की सारी आधुनिक कविताओं को एक स्थान पर संकलित किया जाय तो उस समय के भारतीय मानव के समूचे जीवन का एक अच्छा चित्रफलक उपस्थित हो सकता है। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी कवियों की दृष्टि देश की दीनहीन दशा की ओर गई और ब्रिटिश शासनान्तर्गत घूमते हुए नर-कंकालों के प्रति सहानुभूति उमड़ी। जब वे भूख से पीड़ित, अर्द्ध-नग्न और आशिक्षित भारतवासी को देखते थे, जब वे उसे तरह-तरह की रूढ़ियों में ग्रस्त देखते थे, तो उनकी आत्मा कलप उठती थी। वे उसके सारे अभाव दूर कर उसे परिष्कृत और समृद्ध मानव के रूप में देखना चाहते थे। 'प्रेमधन' ने कहा भी था:—

'नहिं विद्या नहिं बाहुबल, नहिं खरचन को दाम'

भारतेन्दु का भावावेग भी ऐसे देशवासियों के प्रति उभरा जिनके घरों में भूंजी भाँग भी नहीं थी, मंहगी के कारण जो उदर-पोषण भी न कर पाते थे, जो फाके मस्ती करते थे, जिनके पास बुद्धि नहीं थी और जिनके संबंध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा:—

'दीन दसा अँसुअन पिचकारिन सब लिलार भिजयोरी।' उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हुए बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा था:—

'भारत घोर मसान है, तू आप मसानी।
भारतवासी प्रेत से डोलहिं कल्यानी।
हाड़ माँस नर रक्त है भूतन की सेवा।
यहाँ कहाँ मा पाइये चन्दन घी मेवा?

अथवा—

'पेट भरनहित फिरें हाय कूकर से दर दर।
चारहिं ताकें पैर लपकि मारहिं जो ठोकर॥
तुम्हीं बताओ राम तुम्हें हम कैसे जानैं।
कैसे तुम्हरी महिमा कलुषित हिय महं आनैं॥

इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में जब हिन्दी कविता ने करवट बदली तो वह मानवा-भमुख हुई।

किन्तु, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, उन्नीसवीं-शताब्दी की यह मानवोन्मुखी कविता उस व्यापक भारतीय मानवतावाद का अंग थी जो हमें अपने प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है। आधुनिक हिन्दी कविता में प्रारम्भ से हमें एक ऐसी निष्ठा मिलती है जिसमें अन्तरात्मा की शक्ति है, जिसमें परम्परागत मानव-मूल्यों को नवीन विज्ञान और समाज-संगठन के बीच पारस्परिक संबंध स्थापित कर फिर से खोजने का पुनीत प्रयास मिलता है। इस परम्परागत भारतीय मानवतावाद का परिवेश अत्यन्त व्यापक था। उसने शताब्दियों तक भारतीय चेतना को प्रभावित किया। जब हमारे यहाँ यह कहा गया कि विश्व के सभी मानव सुखी हों, सभी रोग मुक्त, सभी कल्याणकारी कार्यों का अवलोकन करें और कोई भी दुःख का भागी न बने, अपने-पराये की संकुचित भावना से सभी दूर रहें और उदार चरित वालों के लिए यह संपूर्ण धरती ही कुटुम्ब-सदृश है, तो वह मानव-मंगलापेक्षी भावनाओं से प्रेरित होकर ही कहा गया था। सहिष्णुता, समर्पण, प्रेम, अहिंसा, सद्भावना, करुणा, सहानुभूति, समानता, निःस्वार्थभाव, अन्तःकरण की शुद्धता, न्याय, आत्म-तुष्टि, त्याग, अंहकार विसर्जन, परोपकार आदि भारतीय मानवतावाद के प्रमुख तत्त्व हैं। मानव-जीवन को हमारे पूर्वजों ने अशोभन नहीं माना। वह तो अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने का एक पवित्र साधन है। भारतेन्दु-युगीन आधुनिक कविता का मानव-प्रेम इसी परम्परागत आदर्श का पोषण करने वाला है। किन्तु वह भावुकतापूर्ण अधिक और विचार-प्रधान कम था। कोई निश्चित परम्परा और स्पष्ट दिशा न होने के कारण इन मानव-मूल्यों में केवल मानव के प्रति प्रेम है, विचार-प्रसूत निश्चित दिशा देने का प्रयास नहीं है। जीवन के सत्व का अन्वेषण करना और उसके मानवीय पक्ष पर बल देना उनका प्रधान लक्ष्य था।

यह तो सर्व विदित है कि आर्य समाज ने एक विशेष शास्त्रीय और तार्किक प्रणाली को जन्म दिया था। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के समन्वय से इस प्रणाली ने तथा विवेकानन्द द्वारा प्रचलित वेदान्त द्वारा प्रचलित वेदान्त ज्ञान ने और भी अधिक व्यापक रूप धारण किया। स्वर्गीय विपिनचन्द्र पाल ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि इस प्रवृत्ति ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि जिन सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं की कुछ वर्ष पूर्व विगर्हणा की जाती थी, उनका बुद्धि और यूरोपीय ज्ञान के आधार पर समर्थन किया जाने लगा और यह बात सिद्ध की जाने की चेष्टा होने लगी कि भारतीय मनीषा से प्राप्त उत्तराधिकार गंभीर सत्य पर आधारित था, उसके कारण विदेशियों के सामने लज्जित होने की आवश्यकता नहीं। इस प्रवृत्ति से यद्यपि प्रतिगामी शक्तियों को भी बल प्राप्त हुआ, तो भी व्यापक दृष्टि से समाज में गतानुगतिकता के पीछे सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक बीस-पच्चीस वर्षों में इस प्रवृति ने काफ़ी प्रमुखता प्राप्त कर ली थी। वैज्ञानिकता की प्रेरणा के कारण, ज्ञान की पिपासा और जिज्ञासा शान्त करने की दृष्टि से व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रत्येक बात का कारण जानने और उसके प्रकाश में किसी विशेष समस्या के उचित-अनुचित, स्वस्थ-अस्वस्थ रूप का विश्लेषण कर अपना मत निर्धारित करने की आकांक्षा जाग्रत हुई। विवेक का प्रयोग किए बिना अब वह कोई बात स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। इस तर्क बुद्धिवाद में भावुकता के स्थान पर नीर-क्षीर-विवेक था। इस सन्देश के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति के आन्तरिक रूप पर बल दिया गया—यहाँ तक कि देवी-देवताओं और ईश्वर सेवा का रूप भी बदलने लगा। पौराणिक कथाओं और पात्रों की कथाएँ प्रस्तुत अवश्य की गईं, किन्तु उनमें मानव-जीवन का कोई-न-कोई सत्य अन्वेषित किया गया। शंका-पूर्ण स्थलों का खण्डन कर उन्हें आधुनिक और मानव-सापेक्ष रूप देने की चेष्टा की गई। कवियों को किसी अपार्थिव, अलौकिक और अतिमानवी रूप के प्रति अब कोई मोह नहीं रह गया था।

तर्क बुद्धिवाद द्वारा सम्मत हिन्दी कवियों के मानववादी दृष्टिकोण ने यदि राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में जनवादी रूप धारण किया, तो सामाजिक क्षेत्र में उसने दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया। दोनों रूप नवीन चेतना के प्रतीक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आधार बने। भौतिक दृष्टि से जनसाधारण के जीवन को सुखमय बनाना जनवाद की मूल भावना थी। इससे जनता के अधिकारों की रक्षा की बात सोची गई। राज्य-सत्ता और जन-हित का संघर्ष उसमें निहित था। भारतवर्ष जब स्वतंत्रता-संग्राम में रत था, एक जबर-दस्त साम्राज्यवादी शक्ति से संघर्ष ले रहा था और जब उसके जीवन में कर्मठता, आत्मोत्सर्ग की भावना और देश के प्रति अनुराग की आवश्यकता थी, तो कवियों में एक विशिष्ट मानववादी दृष्टिकोण का जन्म होना स्वाभाविक था। उनका मुख्य उद्देश्य अपार जन-समूह को पशुवत् जीवन के गर्त से निकाल कर मनुष्य के धरातल पर लाने का प्रयास था। गाँधी जी ने भी भौतिक आवश्यकताओं से ऊपर आध्यात्मिकता पर ही अधिक बल दिया। छायावादी-रहस्यवादी कवियों में सांस्कृतिक चेतना का उदय तो अवश्य हुआ था, किन्तु अधिकतर ये कवि वायवी लोक में ही अधिक विचरण करते रहे। स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म में उन्होंने एकात्मता का अनुभव अधिक किया। उसमें सात्विक उल्लास था, मानव के प्रति कल्याण-कामना भी थी, किन्तु उसका नैतिक-व्यावहारिक रुप हमारे समाने नहीं आता। राष्ट्रीयता परक काव्यधारा में भारत माता के साथ-साथ भारत-संतान के प्रति प्रत्यक्ष प्रेम था। जीवन के अभाव और लघुता उनके सामने स्पष्ट थी। तो भी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के फल-स्वरूप उत्पन्न कविता ने मानव-जीवन के आदर्श पक्ष पर ही अधिक बल दिया। उस समय की वैचारिक ईकाई थी—आदर्शवादिता (जो स्वतंत्रता-संग्राम-रत देश में स्वाभाविक था)। तत्कालीन कविता में आदर्श मानव-परक जो मूल्य उभरे उनके प्रति लोगों का रागात्मक संबंध था और देश की सामूहिक बुद्धि एक धार्मिक-नैतिक और सामाजिक परम्परा की पृष्ठभूमि पर किसी कृत्य का, किसी आचार-विचार का मूल्यांकन कर लेती थी। स्वतंत्रता-संग्राम ने कुछ सिद्धान्त स्थापित किए थे जो कालांतर में मूल्य के रूप में परिवर्तित हो गए। राजनीति के क्षेत्र में मनुष्य को मनुष्य के रूप में पहचानने की प्रवृत्ति ने जो दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया उसमें विवेकानन्द का अद्वैत-दर्शन था, साहित्य में 'प्रसाद' द्वारा गृहीत करुणा के सन्देश द्वारा 'विश्वात्मा' के दर्शन करना था, सब प्राणियों में समभाव रखते हुए कर्त्तव्य-पालन, अहिंसा, सहनशीलता, क्षमा-शीलता स्नेह, सहानुभूति आदि को जीवन में स्थान देना था, गरीब की सेवा में ही ईश्वर सेवा का रूप देखना था, मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर में ईश्वर का निवास न देखकर उसे गरीब की झोंपड़ी में देखना था। मानव-जीवन के इसी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक धरातल पर सब धर्मों की समानता, सामाजिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष की समानता और अछूतोद्धार और धार्मिक क्षेत्र में सबको ईश्वर की उपासना करने के अधिकार की घोषणा की गई। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक पच्चीस-तीस वर्षों में हिन्दी काव्य अधिकाधिक जीवन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सापेक्ष्य भाव-भूमि पर स्थित हुआ। 'प्रसाद' की इड़ा के साथ श्रद्धा का समन्वय स्थापित हुआ। निस्सन्देह जीवन के ये आध्यात्मिक एवं दार्शनिक मूल्य भारतेन्दु युगीन जीवन-मूल्यों से कहीं अधिक व्यापक थे। भारत वर्ष का सनातन आदर्श—विश्व-बन्धुत्व—फिर से लोगों के सामने आया। मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' आदि अनेक कवियों की रचनाओं में सामान्य मानव में 'विश्वात्मा' के दर्शन कराए गए हैं, मानव के समष्टि रूप के लिए व्यष्टि रूप के उत्सर्ग की उच्च भावना व्यक्त हुई है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जीवन के इन मानव-मूल्यों की स्थापना में विवेकानन्द और फिर महात्मा गाँधी के विचारों का प्रभाव भी कम मात्रा में नहीं पड़ा। मानव-मूल्यों के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक और जनवादी पक्षों ने सामाज में आदर्शवाद की स्थापना की, अर्थात्, जीवन के एक उदात्त और उत्कृष्ट रूप की पुनः स्थापना और जीवन का निर्माण एक नैतिक धरातल पर करना, क्योंकि पराधीन भारत के सामने जीवन के अभाव और लघुता स्पष्ट थी। कवियों ने उस आदर्श को ग्रहण किया जिसमें प्राचीन और नवीन का अद्‌भुत सम्मिश्रण था। कवियों ने 'राम' की विजय 'रावण' पर देखनी चाही। उन्होंने लघुत्व के भीतर महत्त्व की स्थापना की। दूसरे शब्दों में, भारतीय आत्मा की खोज की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से गया। उनकी रचनाएँ सत, शिव और सुन्दर की मनोरम कल्पनाओं से अनुरंजित है। उन्होंने सीमा का अतिक्रमण भी किया, किन्तु आदर्शवाद को तो यह स्वाभाविक गति है। इस समय ऐसे आदर्श परक जीवन-मूल्य स्थापित किए गए जो सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, राष्ट्रीय आदि क्षेत्रों में सभी प्रकार विगर्हणा दूर कर जीवन को औदात्य और स्वातंत्र्य की ओर अग्रसर करने वाले थे। कहना चाहें तो हम यह कह सकते हैं कि उस समय के जीवन-मूल्यों का संबंध राष्ट्रवाद से था। यहाँ तक कि स्वच्छन्दतावादी काव्य का लक्ष्य भी जीवन को नवीन स्तर पर स्थापित करना था। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण शास्त्रगत नहीं, वरन् व्यक्ति की स्वतंत्र अनुभूति द्वारा उत्पन्न हुआ था। प्रत्यक्षतः उसका संबंध तर्क बुद्धिवाद से था, और अन्ततोगत्वा आदर्शवाद से भी। राष्ट्रीयता और स्वच्छन्दतावाद दोनों ने उस नवजागरण काल में अपनी-अपनी भूमिकाओं का निर्वाह किया और जीवन में ज्ञान, कर्त्तव्य, कर्मठता, सदाचार आदि का स्वर भरा। ये मूल्य राष्ट्र और व्यक्ति दोनों को सुख, कल्याण और समृद्धि की ओर ले जाने के लिए थे। भारत का मानवीकरण, या कहना चाहिए, दैवीकरण भी इसी उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए हुआ था और महात्मा गांधी का सत्य और अहिंसा का दर्शन भी इन्हीं जीवन-मूल्यों में से प्रस्फुटित हुआ था।

१९३० के आसपास हिन्दी कविता में प्रगतिवाद का जन्म हुआ—अर्थात् उस काव्य-धारा का जो कम्यूनिज़्म से प्रभावित थी। एक प्रकार से कम्यूनिज़्म का यह साहित्यिक मोर्चा था। राजनीति के क्षेत्र में इस काव्य-धारा ने गांधी वादी जीवन-मूल्यों का विरोध किया, तो साहित्य के क्षेत्र में छायावादी वायवी एवं रोमानी प्रवृत्तियों का और यथार्थवाद का आश्रय ग्रहण कर सर्व हारा वर्ग के अधिनायकत्व का स्वर उच्च किया। उन्हें लाल क्रान्ति में विश्वास था। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि प्रगतिवाद को न तो साधन और साध्य की पवित्रता में विश्वास था और न भौतिक जगत् के आतिरिक्त अन्य किसी सत्ता में। स्पष्ट है ऐसी विचार धारा को जीवन के आदर्शपरक मूल्यों में विश्वास नहीं हो सकता था। उनका समाज-दर्शन भी परम्परागत भारतीय समाज-दर्शन से भिन्न था। ऐतिहासिक दृष्टि से निस्सन्देह प्रगतिवाद ने हिन्दी कविता को एक नया आयाम प्रदान किया। किन्तु द्वितीय महा युद्ध के समाप्त होते-होते यह काव्य धारा समाप्त हो गई। भाषा, भाव, छन्द आदि की दृष्टि से प्रगतिवाद ने कुछ नाविन्य भी प्रकट किया। तो भी जहाँ तक जीवन-मूल्यों से संबंध है प्रगतिवादी काव्य-धारा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा की भाँति कोई विशेष दृष्टिकोण प्रदान न कर सकी। न तो उसने जीवन किसी एक विशेष दिशा की ओर मोड़ा, न उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सक्रिय बनाया। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा में जीवन को एक उदात्त और परिष्कृत रूप प्राप्त हुआ था, उसमें एक नई शक्ति आई थी। प्रगतिवादी काव्य-धारा ने व्यापक जीवन को प्रभावित करने के स्थान पर, एक सीमित संख्या के लोगों को नया दृष्टिकोण और नई आस्था प्रदान की। किन्तु जीवन में कोई नए मूल्य स्थापित न किए। उसने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा के सात्विक मूल्यों की उपेक्षा की और साथ ही कोई आध्यात्मिक या दार्शनिक या मानसिक संस्कार भी प्रदान न किया। अपनी संकीर्णता के कारण वह न तो हिन्दी साहित्य का प्रमुख अंग बन पाई और न अधिक दिन जीवित रही। उसने मूर्द्धन्य कोटि का कोई कवि भी न दिया। उसने अपनी सारी शक्ति परम्परागत जीवन-संस्कारों को झुठलाने में लगा दी और कुरूपता एवं विद्रूपता की सृष्टि की। यथार्थपरक होते हुए भी यह काव्यधारा जीवन की यथार्थता को संतुलित अभिव्यक्ति प्रदान न कर सकी। अतः जहाँ तक जीवन-मूल्यों की स्थापना से संबंध है, प्रगतिवादी काव्य-धारा के पोषक दावा चाहे जितना लम्बा-चौड़ा भरें, वस्तुस्थिति यह है कि वह बहुत कम सफलता प्राप्त कर सकी।

और महात्मा गाँधी 'राम-राज्य' का अपना सपना लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ संघर्षरत रहे। द्वितीय महायुद्ध भी समाप्त हो चुका था, किन्तु भीषण ज्वाला से संसार को संतप्त कर गया था। ऐसे ही माहौल में १५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भारत में न तो 'राम-राज्य' की स्थापना हुई और न द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार में शान्ति। इन दोनों कारणों से हमारा आज का जीवन बहुत बिखरा-बिखरा-सा हो गया है। प्रत्येक दिशा में खण्डित मर्यादाएं हैं और विच्छिन्न मूल्यों की अस्त-व्यस्त परम्परा है। इसका तात्कालिक परिणाम एक ओर सामाजिक एवं वैयक्तिक सीमाओं का टूटना तथा दूसरी ओर नैतिक मान्यताओं की विकृति है। इन दोनों के मध्य मानव-जीवन में अनास्था एवं कुण्ठाओं की ऊंची मीनारें उठ रही हैं तथा मानव-मूल्य की मर्यादा शंकालु बनती जा रही है। यह प्रवृत्ति बहुत कुछ विध्वंसात्मक है और ऐसी परिस्थिति में कवि का दायित्व बढ़ जाता है। वह नए उभरने वाले मानव-मूल्यों का अन्वेषण करता है तथा मानव जीवन के विविध प्रसंगों के सन्दर्भ में सहानुभूतिपरक दृष्टिकोण लेकर उन्हें अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है। मनुष्य अपने परिवेश, इतिहास-क्रम तथा काल-प्रवाह के सन्दर्भ में क्या स्थिति महत्त्व नहीं रखती कविता इस ओर इंगित करके जीवन के नए प्रतिमानों का निर्माण करती है।

वास्तव में स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद मनुष्य के सामने एक मोह-भंग की स्थिति उभर आई है। जब-जब परिस्थितियों में परिवर्तन होता है तब-तब मानव जीवन के सारे सम्बन्धों पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो हो जाता है। बदले हुए सम्बन्ध पूर्व-निर्धारित मूल्यों के लिए चुनौती बन जाते हैं। उस स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि परिवर्तन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आयामों को पहचाना जाए। हमारा आधुनिक काल ऐसा था, जहाँ एक बहुत बड़ा समुदाय अपने मूल्यों एवं आस्थाओं के खण्डित होने से बदहवासी की हालत में था और पराजय की गहन अनुभूति से जर्जर हो गया था। विभाजन में हत्याएं, बलात्कार तथा निर्मम अत्याचार ही नहीं हुए थे, बल्कि समग्रता के मोह में डूबा हुआ व्यक्ति भीतर से पूरी तरह से विच्छिन्न हो गया था और उसकी सारी आस्थाएँ तथा मूल्य-मर्यादा शून्यता के प्रवाह में विलीन हो गई थीं।

यह मानवीय संकट केवल यहीं का नहीं था, बल्कि समूचे विश्व का था। परिस्थितियों के सन्दर्भ हर राष्ट्र में चाहे भिन्न-भिन्न हों, लेकिन हर स्थान पर मानवीय संकट गहरा होता जा रहा था। मूल्य-मर्यादाएँ टूट रहीं थीं और मोह-भंग की स्थिति जड़ता उत्पन्न करती जा रही थी। कविता इस मानवीय संकट की उपेक्षा नहीं कर सकती थी, क्योंकि सभी साहित्यिक विधाओं की तुलना में वह मानव जीवन को अधिक समग्रता तथा सूक्ष्मता से आत्मसात् ही नहीं करती, वरन् जीवन-सदृश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सूक्ष्म चित्रफलक पर उसे अभिव्यक्त भी करती है।

अरवन्दि ने भी स्वीकार किया है कि विकास की स्वाभाविक परम्परा में जैसे पशुता से मनुष्य की स्थिति आई है, ठीक उसी प्रकार हम इस स्थिति से भी आगे जाएंगे। वस्तुतः हमें यह स्वीकार लेना चाहिए कि जब तक मनुष्य को उसकी समग्रता में देखने की चेष्टा नहीं होगी, मानवीय पक्ष कविता में उभर ही नहीं सकता और मानवीय संकट निरन्तर गहरा ही होता जाएगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानवतावादी दृष्टिकोण का विस्तार उस व्यापक परिवेश में होता है, जहाँ तक इस सृष्टि का विस्तार है। कविता में अभिव्यक्त की जाने वाली सभी अधुनातन विचारधाराओं में मानवतावादी दृष्टिकोण का सर्वाधिक महत्त्व है तथा वह हमारे रचनाकारों को विभिन्न स्तरों पर प्रभावित करता रहा है।

जैसा की अभी-अभी कहा जा चुका है, आज संसार में चारों तरफ गहन संकट छाया हुआ है और सम्पूर्ण मानव-जाति का अस्तित्त्व खतरे में पड़ गया है। आज का संसार पहले से बहुत भिन्न है और हमें आज की तकनीकी क्रान्ति के साथ सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है। आज की सबसे बड़ी समस्या यह है कि मनुष्य जाति कैसे सुरक्षित रहे। आज दासता तथा स्वतन्त्रता का प्रश्न उतना नहीं है, जितना हमारी सभ्यता एवं संस्कृति के जीवन एवं मृत्यु का। मानवतावाद का उदय इन्हीं परिस्थितियों के सन्दर्भ में हुआ है। मानवतावादी विचारधारा हमें आधुनिक संकटग्रस्त जीवन की संक्रान्तियों को एक नए दृष्टिकोण से समझने में सहायता देती है। इससे आज की उलझी हुई मानव अनुभूति के अनेक उल्लेखनीय प्रसंगों को स्पष्टतया समझा जा सकता है। मानवतावाद का प्रमुख लक्ष्य इस सृष्टि में मनुष्य की वास्तविक स्थिति का अन्वेषण है। साथ ही यह भी कि, क्या प्राप्त करना उसके लिए वाछंनीय है और क्या अवांछनीय मानवतावाद इस प्रकार मानव उद्देश्यों, मूल्यों एवं आदर्शों को स्पष्ट करने के साथ-साथ उसे सम्पुष्ट भी बनाता है तथा उसे अपने आसपास के परिवेश, जीवन, समाज तथा विश्व-व्यवस्था के अधिक निकट लाकर अपने पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त करने में सहायता देता है।

विज्ञानवाद तथा मानवतावाद परस्पर विरोधी मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। विज्ञानवाद मनुष्य को भौतिक परिस्थितियों की तुलना में सर्वोपरि सिद्ध करके उसे स्वयं अपने ही ऊपर श्रेष्ठ सिद्ध करने और अपने द्वारा मनुष्यों का संहार करने के लिए प्रयोग करने पर बल देता है। इसके विपरीत मानवतावाद मनुष्यों को स्वतन्त्र करके उसकी मानवीयता के अन्वेषण एवं प्रतिष्ठापन पर बल देता है। वह मनुष्य को असीमित समाज एवं मानव भावनाओं के साथ समन्वय की दिशा में गतिशील करता है। इस प्रकार मानवतावाद मानव-सेवा को ही सर्वोच्च धर्म मानता है। वह उत्तम जीवन, सामंजस्य, सन्तुलन तथा उदारता में विश्ववास करता है। मानवतावाद एक जीवन पद्धति है, जो विश्व-परिवार एवं सद्भावना की स्थापना तथा हमारी दृष्टि के विस्तार में सहायता देती है।

सम्पूर्ण मानव इतिहास में न जाने कितने मानवतावादी विचार आए और गए, लेकिन स्थायी रूप से केवल तीन मानवतावादी दृष्टिकोण—भारतीय, चीनी तथा पश्चिमी—अपने शाश्वत मूल्यों के कारण जीवित रहे हैं। प्रत्येक ऐतिहासिक सभ्यता में मनुष्य और समाज के लिए सार्वभौमिक तथा उत्कर्षशील मूल्यों एवं सम्भावनाओं का मार्ग प्रशस्त करने के कारण ही ये तीनों विचारधाएं इतनी मूल्यवान सिद्ध हुई हैं। तीनों ने मानव-व्यक्तित्व की अनिवार्य आवश्यकताओं और सामाजिक व्यवस्था के समन्वय को सार्वजनीन रुप में ग्रहण किया है। तीनों ने ही मनुष्य और समाज की प्रादेशिक एवं वर्गगत सीमाओं को तोड़कर 'सम्पूर्ण विश्व एक है' की भावना को आत्मसात् करने की चेष्टा की है। सभी ने ऐतिहासिक सत्य, मूल्य एवं पौराणिकता के मध्य समन्वय स्थापित करने का यत्न किया है। यद्यपि आज चीनी तथा पश्चिमी मानवतावाद की अनेक सीमाएं बन गई हैं, और वे आज की मानव आवश्यकताओं के सन्दर्भ में अनुपयुक्त सी प्रतीत होती हैं, फिर भी इससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं हो जाता।

जीवन के प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण के विकास ने पश्चिमी मानवतावाद को दो रूपों में प्रभावित किया। एक तो यह यथार्थ से दूर पड़ गया, क्योंकि वहाँ के अधिकांश लोगों के लिए जीवन की समग्रता लगभग असम्भव प्रतीत होती है। दूसरे आर्थिक व्यवस्था तथा संस्थाओं के अन्याय तथा शोषण के प्रति विरोध एवं घृणा बौद्धिक विचार धारा के लिए एक सामान्य बात हो गई। चीनी मानवतावाद अनिवार्यतः प्राकृतिक, सामाजिक तथा ऐहिक है। उसके अनुसार कोई सिद्धान्त परम्परा द्वारा अनुमोदित होना चाहिए, न कि ज्ञान द्वारा। वह मानता है कि मानव अपनी वास्तविक विशिष्टता ठोस मानव-सम्बन्धों के माध्यम से ही प्राप्त कर सकता है।

मानवतावाद की स्थिति परम्परा तथा आधुनिकता के मध्य अत्यन्त विचित्र है। उसे फैशन की झोंक में पुरातनवादी होने का प्रतीक समझ लिया जाता है। आधुनिक पश्चिमी मानवतावादी विचारधारा में धार्मिक या आध्यात्मिक मनोवृत्तियों के प्रति सन्देह भाव पाया जाता है। इतिहास में एक लम्बे समय तक धर्म सभी संस्कृतियों का आधार स्वीकार किया जाता रहा। लेकिन धीरे-धीरे धर्म की तथाकथित महत्ता एवं समग्रता के प्रति आधुनिक विचारकों द्वारा सन्देह प्रकट किया जाने लगा, फलतः धर्म की उपयोगिता मानव और समाज के सन्दर्भ में विचारी जाने लगी। द्वितीय महायुद्ध ने मनुष्य को आमने-सामने खड़ा कर दिया है। वे अनुभव करने लगे हैं कि उनके सामने दो विकल्प हैं। या तो मानवता की रक्षा करें या मानव एवं सभ्यता का विध्वंस करें। यही कारण है कि धर्म की तुलना में आज विज्ञान कहीं अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। लेकिन यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि धर्म की रूढ़ियों का तिरस्कार किया जाता है, समूचे धर्म का नहीं। बिना आध्यात्मिक आधार के कोई नैतिक अनुशासन या मानवता के प्रतिमान स्थापित नहीं किए जा सकते।

मानवतावाद सेक्स के सम्बन्ध में भी यही धारणा रखता है कि किसी को भी हम 'उपभोग' की वस्तु न समझें, वरन् मानवीय स्तर पर लें। आधुनिक काल में मानवतावाद प्रजातन्त्र का विकास जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहता है। मानव का वास्तविक उद्देश्य उत्तरदायित्व-पूर्ण स्वतन्त्रता है, प्रजातन्त्र इस नैतिक सिद्धान्त की राजनीतिक अभिव्यक्ति है। इन परिस्थितियों में ही एक सार्वभौमिक परिवेश निर्मित होने की आशाएं बलवती होती हैं। यह एक प्रकार का विश्व मानवतावाद है।

मानवतावादी विचारधारा के विभिन्न तत्त्व इसी सन्दर्भ में अन्वेषित किए जा सकते हैं। भारतीय मानवतावाद में सहिष्णुता, समझौता, सहयोग, अहिंसा, बन्धुत्व-भावना, सभी के प्रति करुणा एवं सहानुभूति, समताभाव, शुद्धता, आत्म-संतोष, स्वत्व के यथार्थ, ईश्वर या ब्राह्मण के प्रति पूर्ण समर्पण भाव, परोपकार, अहं का हनन तथा स्वयं का प्रसार, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रति आत्मीय भाव, क्षमाशीलता तथा आत्म-निग्रह आदि तत्त्वों पर बल दिया गया है। आधुनिक हिन्दी काव्य के सन्दर्भ में इन बातों की ओर पीछे संकेत किया जा चुका है।

काव्य में जब मानवतावादी तत्त्वों का अन्वेषण किया जाता है, तो मुख्य रूप से उनका स्वर भावुकतापूर्ण हो जाता है। कला या शिल्प के प्रतिमानों से सम्बद्ध होकर मानवतावादी तत्त्व चर्च, मन्दिरों या धर्म-सम्प्रदायों में घोषित किए जाने वाले स्पष्ट उपदेशों की भांति नहीं आते, वरन् अनुभूति के रूप में अन्तर्निहित होते हैं। दृष्टिकोण का वैभिन्य उनमें चाहे जितना हो, लेकिन सबके मूल में केवल एक ही सत्य है कि मनुष्य अपने अर्थ की वास्तविक गरिमा प्राप्त करे। वह न तो सामाजिक शोषण के अन्तर्गत अपनी महत्ता खोए और न धार्मिक तथा राजनीतिक अत्याचार के नीचे उसकी आत्मा का हनन हो।

मानव के सन्दर्भ में मूल्य का अर्थ एक ऐसी धारणा या दृष्टि है जो मूलतः व्यक्ति के जीवन में पनपती है, किन्तु जिसका विकास समाज की ओर होता है, जो समाज में आचरण-व्यवहार-संबंधी मान्यताओं, विश्वासों और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिलाषाओं को तोलती है, उनका मानदण्ड बनती है। यह धारणा या दृष्टि मानवी व्यवहार का नियमन करती है, जिसके आधार पर हम समाज में व्यक्ति या उसके आचरण को उत्कृष्ट या निकृष्ट, उचित या अनुचित, अच्छा या बुरा, घोषित करते हैं। और क्योंकि समाज परिवर्तनशील है, सामाजिक मान्यताएँ आर्थिक तथा अन्य कारणों से बदलती रहती हैं, मान्यताओं के बदलने के साथ-साथ नैतिकता और सामाजिक वातावरण बदलता है, इसलिए मूल्यों में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है।

पीछे मैंने प्रगतिवाद का उल्लेख किया था। उसके बाद की काव्य-धारा ने जिसे प्रयोगवाद के नाम से अभिहित किया जाता है, जीवन की यथार्थता की गहराई में प्रवेश किया और युगानुकूल मानव-मूल्यों का अन्वेषण किया। छायावाद-रहस्यवाद में सामाजिक चेतना का अभाव था, तो प्रगतिवाद समाज के बाह्यरूप पर ही अटक गया। प्रयोगवाद ने सामाजिक चेतना व्यक्त करने के साथ-साथ व्यक्ति की स्वतंत्रता टटोलने का भी प्रयास किया। प्रयोगवाद ने ही जब नई कविता का रूप धारण किया तो वह मनुष्य की वर्जनाओं और कुण्ठाओं और रूढ़ियों को तोड़ कर व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित कर दोनों का जीवन गहराई से देखने और अनेक उलझी हुई अनुभूतियों के विभिन्न आयामों को बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से चित्रित करने की ओर अग्रसर हुई। छठे दशक की कविता ने नई कविता का केंचुल छोड़कर नया रूप धारण किया है। प्रयोगवाद और नई कविता का युग-बोध अब, परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार, पुराना पड़ गया है। जो कुछ भी हो, प्रयोगवाद से लेकर साठोत्तरी कविता तक के कवियों ने मनुष्य के अस्तित्व का अर्थ समझने की चेष्टा की है और इस बात को समझने की चेष्टा की है कि समाज में रहते हुए व्यक्ति अपनी स्वतंत्र सत्ता कैसे बनाए रख सकता है—विशेषतः जब कि आज के युग में वह भय, संत्रास, कुण्ठा, ऊब, अकेलेपन की अनुभूति आदि तथा अन्य राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक संकटों से त्रस्त है और मानव के अस्तित्व पर ही प्रश्नसूचक चिह्न लग गया है। जीवन की इस स्थिति के प्रति सामयिक कवियों ने विभिन्न रूपों में अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं—समाजवादी, अस्तित्ववादी, व्यक्तिवादी, मानवतावाद आदि के रूप में—और जीवन की व्यर्थता, अराजकता, मृत्यु-भय, निस्संगता, विसंगतियों, विद्रूपताओं आदि पक्षों की ओर गम्भीर संकेत किए हैं। इसलिए सामयिक कविता का महत्त्व विशुद्ध साहित्यिक या सौन्दर्यात्मक दृष्टि से तो है ही, साथ ही जीवन की समस्याओं के प्रति कवि का क्या दृष्टिकोण है, यह भी विचारणीय है। स्वयं उसकी अपनी अध्यांतरिक समस्याएँ बहुत-कुछ बाह्य ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर हैं। यहाँ तक कि वह राजनीति से भी अपने को असंपृक्त नहीं रख सकता। स्टीफेन स्वेंडर के शब्दों में कवि या लेखक को वर्तमान की परिस्थिति में पूर्णतः डूब जाना चाहिए, नहीं तो उसके सामयिक संसार के लिए उसका कोई महत्त्व नहीं रह जाएगा। आज कवि जीवन को अन्दर से देख ही नहीं रहा, वरन् भावुकता और धार्मिकता के स्थान पर बुद्धि और वैज्ञानिकता के आश्रय से जीवन देख रहा है। वह जीवन के प्रति सतर्क है और वर्तमान परिस्थिति की संकटपूर्ण अवस्था को भली भाँति पहचान रहा है। उसके लिए अतीत अस्तित्व ही नहीं रखता, वर्तमान अराजकतापूर्ण है और भविष्य अन्धकार और भयावह आशंकाओं से पूर्ण। इसलिए उसके कवि-कर्म का आज उद्देश्य है व्यक्ति में आत्मविश्वास की भावना पैदा करना, क्योंकि वह देख रहा है कि व्यक्ति लड़खड़ा रहा है, वह भीड़ में खींचा जा रहा है और सभी शक्तियाँ उसके व्यक्तित्व को कुतरने में लगी हुई हैं। विघटित होते हुए मूल्यों के स्थान पर वह नए मूल्य, जीवन के प्रति नया उत्साह, नई आस्था देखना चाहता है। विज्ञान, प्रजातंत्र, व्यक्ति-स्वातंत्र्य के आश्रय से वह नए मानव-मूल्य खोजने में लगा है—ऐसे मूल्य जिनसे मनुष्य का जीवन झाड़-झंखाड़ रहित सुखपूर्ण हो, उसके व्यक्तित्व का ऐसा स्वतंत्र विकास हो जिसकी अन्तिम परिणति समाज के साथ समन्वय में हो। मानव सम्बन्धों को वह शोषण-विहीन और गरिमामय रूप में देखना चाहता है। परस्पर राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता रओ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीषण संहारक अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ के बीच वह मृत्यु की मँडराती हुई छाया से इन्सान को बचाने के लिए व्याकुल है। मृत्यु और विनाश ही मनुष्य की नियति नहीं है, और न वह मुट्ठी भर सत्ताधारियों के हाथ में कठपुतली की तरह है। उसे अपना जीवन अपने ढंग से जीने का हक है। संक्षेप में आज का कवि सभी प्रकार के शोषणों, बन्धनों, आतंकों, भग्नाशाओं, विद्रूपताओं एवं विसंगतियों से मानव मात्र की मुक्ति की कामना करता है, नाना प्रकार की वर्जनाओं से उबार कर उसके जीवन में नया प्रकाश भरना चाहता है। परम्परागत मानवी-संबन्धों के स्थान पर वह परिवर्तित परिस्थितियों के प्रकाश में, आधुनिकता के बोध के साथ, नए आन्तरिक संबंध स्थापित करने के लिए उत्सुक है। सामयिक कविता मानव-जीवन के सही परिप्रेक्ष्य खोज रही है। कवि आत्मोपलब्धि के साथ-साथ मानव-अस्तित्व का सही अर्थ बूझना-बुझाना चाहता है। संकटपूर्ण परिस्थिति में रहते हुए वह संकट दूर करना चाहता है। जिन जीवन-मूल्यों की ओर मैंने संकेत किया है वे कवियों की रचनाओं से अप्रत्यक्ष रूप से निःसृत होते हैं। अन्यथा कविगण अकेलेपन, शून्यता, अजनबीपन, आतंक, संत्रास, कुण्ठा आदि की अभिव्यक्ति में लगे रहते हैं।

किन्तु प्रश्न उठता है कि सामयिक कविता में जो जीवन-दृष्टि पनप रही है, जिस भोगे हुए क्षण का, जीवन की जिस घुटन और टुटन, अन्तर्विरोधों और असंगतियों एवं विडंबनाओं को युवा पीढ़ी का कवि अभिव्यक्ति प्रदान करता है, उनका भारतीय जीवन के परिवेश से कहाँ तक सच्चा सम्बन्ध है, क्योंकि इन जीवन मूल्यों की सार्थकता, उनकी वास्तविकता तभी सिद्ध हो सकती है जबकि उनका जीवन के सही परिवेश से घनिष्ठ सम्बन्ध हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टता व्याप्त हो गई है और जीवन सुखी न होकर अभिशप्त है। किन्तु युवा पीढ़ी के कवियों ने जो अनुभूतियाँ व्यक्त की हैं वे बहुत-कुछ उधार ली हुई और जबरदस्ती ओढ़ी हुई हैं, क्योंकि न तो हमारे देश में एटमबम का विस्फोट हुआ और न युद्धजनित उन यातनाओं का ही यहाँ के कवियों को अनुभव है जिनका अनुभव यूरोप के कवियों को प्राप्त हुआ और जिसके फलस्वरूप वहाँ अस्तित्ववादी चिन्तन का प्रचार हुआ। विज्ञान और टेकनोलोजी के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों का भी उन्हें अनुभव नहीं है। अतः सामयिक कविता की प्रवृत्तियाँ बहुत-कुछ किताबी ज्ञान के फलस्वरूप हैं। विविध बन्धनों और वर्जनाओं से मानव की मुक्ति की बात जब वे करते हैं तो उनमें अतिरंजना का अंश ही अधिक रहता है।

निष्कर्षतः, आज मानव-मूल्य केवल वैयक्तिक अनुभव ही हैं। किन्तु उनका समग्र मानव-प्रकृति से सहज संवेदनात्मक तादात्म्य भी आवश्यक है। व्यक्ति-विशेष की स्वतः स्फूर्त, परम्परा-विहित, वातावरण-जन्य द्वन्द्वात्मकता के परिवेश में स्थान एवं काल के अनुसार क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तनशील गति की नियति ही मूल्य बन जाता है। और इस प्रकार जितने कवि हैं उनके द्वारा उतने ही मानव-मूल्यों का निर्धारण संभाव्य है। मूल्य-बोध और मूल्य-निर्धारण का संकट न केवल आधुनिक हिन्दी काव्य एवं अत्यानुधिक पाश्चात्य काव्य-कृतित्व के परिप्रेक्ष्य में, वरन् हर नई संभावना, संश्लिष्टि और साहित्य-सर्जना में स्वयमेव अनुस्यूत रहता है। आज, जहाँ एक ओर विविध काव्य-विधाओं की भीड़ है, वहीं आधुनिकता के अर्थ-बोध का अनुकल्पन विवादास्पद है। आधुनिकता, जीवन-क्रम के प्रत्येक परिवर्तन के साथ जागरूक प्रतिक्रिया का उच्छ्वास है। और, हमने आधुनिक हिन्दी काव्य की विभिन्न धाराओं में अन्तर्भूत मानव-मूल्यों का विश्लेषण भी इसी आधार-पीठिका पर किया है।

इधर, वर्षों से मेरे मन में पिछले तीन दशकों की अनेकशः नामाभिधेय और विविध वादों से युक्त कविता के प्रति शंकाएँ रही हैं जिन्हें सामाजिक उहापोहों, सांस्कृतिक असंगतियों और युगजनीन परिस्थितियों की अभिव्यक्तिमात्र नहीं कहा जा सकता। कहीं ऐसा तो नहीं है कि आत्यंतिक अहं के विस्फोट, अधकचरे समष्टिगत विन्यास और उधार लिए गए प्रतीकवाद, बिम्बवाद, दादावाद, अतियथार्थवाद और फ्रायडवाद के 'फैशनेबुल'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यञ्जन में मानव-मूल्यों का सहज संवेदनात्मक स्वरूप ही बिखर रहा हो ? अनुकरण किन्हीं परिस्थितियों में मान्य हो सकता है, किन्तु पाश्चात्य के प्रति अन्ध-भक्ति केवल प्रतिभा-शून्यता और वैचारिक गुलामी की ही प्रतीक मानी जाएगी। नित्य नवोन्मेष और नए प्रयोग 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' के केन्द्र-बिन्दु पर श्लाघ्य होंगे। लेकिन शर्त यही है कि मानव-घाती मूल्यों की वर्जना हो, अन्यथा तरह-तरह के वादों-प्रतिवादों और नामों-नारेबाजियों की भस्मासुरी भँवरों में स्वयंभू कवि और काव्य खुद-ब-खुद डूब जाएँगे। इस प्रकार के तथा-कथित काव्य की क्या परिणति हो सकती है जिसे केवल उच्चवर्गीय या मध्यमवर्गीय एक-दो प्रतिशत नफ़ासत-नजाकतपूर्ण निठल्लू पाठक-श्रोता ही समझ सकें और वह तब, जबकि उसका विस्तृत भाष्य स्वतः रचयिता को ही प्रस्तुत करना पड़े ? हमें भय है कि कहीं यह तीन-चार दर्जन नामों से पुकारी जाने वाली तथाकथित तरह-तरह की कविता-कुण्डलियाँ अपने पूर्वज देशों, अमेरिका-इंगलैण्ड जैसी ही सामाजिक अरुचि की पात्र न बन जाएँ ?

मेरी दृष्टि में, नव्य-भव्य और उदात्त मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा का काव्य कृत्रिम नहीं होता, वह कोरे बौद्धिक वितण्डावाद की परिधि में नहीं समाता और न प्रयोगों के लिए प्रयोग के नाम पर 'सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्' का ही परित्याग करता है। आखिर, भावना, ज्ञान और कर्म का समवाय ही तो मानव है। इसी समवाय का अविरल गत्यात्मक सन्तुलन और जीवन्त संयोजन, अधुनातन मानव-मूल्य है और अनुभूतिपरक मानव-मूल्यों का सम्यक् स्वर ही काव्य है। तात्पर्य यह कि वादों के दायरे से मुक्त और गुटनिरपेक्ष मानवीय काव्य-सृष्टि का उन्मेष तमाम विषम-ताओं के बीच करना ही होगा। आधुनिकता और नवीनता के सम्मोहक-सूत्रधार कहीं अमेरिका, इंगलैण्ड, जर्मनी और रूस में न बैठें। कविता केवल कठपुतलियों की 'कें-कें' न बन जाय। 'मानव', मानव है, न लघुमानव, न महामानव और न बौना या विद्रूप-विकृत माँसलपिण्ड। कविता, कविता है। न नई, न पुरानी और न भूखी-नंगी या ताज़ी-बासी। लोक वृत्यात्मक, मज़दूरों-मजलूमों और फाकाकशों का रुग्ण संगीत काफ़ी-हाउस और कनॉट-प्लेस में नहीं बल्कि खानों, खदानों और खेतों-खलिहानों में खपकर ही गाया जा सकेगा। अन्यथा मन-मस्तिष्क के कुहासों में, व्यक्ति-अभिषेक का अनुरणन—घोर वैयक्ति-कता का आत्म-प्रदर्शन और सर्वनाशी मानव-मूल्यों का कथ्य बन जाएगा।

अस्तु, आवश्यकता है कि अधुनातन काव्य बौद्धिक-व्यायाम बन्द करे। अतिवादी यौनेषणा, अनियन्त्रित-ऊट-पटाँग-अभिव्यक्ति, सम्पूर्ण आस्था-विगलित अनास्था, आरोपित कुरूपता, क्लीव-चिन्तन और पतनोन्मुख मानव-मूल्य-संहतियों का पटाक्षेप करके; 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' से सम्पृक्त भारतीय संस्कृति की ज्योतिर्मय मूल-संचितना से आपूरित हो। राहों के अन्वेषी पथभ्रष्ट होकर न रह जाएँ। तमाम सामाजिक संकट, कच्छपीय-बुद्धि-संकुलता के मूर्त्तरूप न बनें। अनेकशः अन्तर्विरोधों के बीच भी, शाश्वत मानव-मूल्यों का अन्तर्बोध—कवि का अपना दायित्व है; और यदि यह मूल्य-चेतना जन-मानस में स्पन्दित नहीं होती, तो आधुनातन काव्य-कला की विविध बाँकी अदाएँ भी कूड़े के ढेर से ज्यादा सौन्दर्य-तत्त्व नहीं संजोएंगी। इसके लिए नए काव्य को न तो अधि-नायकवाद का ढिंढोरची ही बनाना है और न पूँजीवादी व्यवस्था के ध्वंसावशेषों का सुनियोजित रक्षा-प्रयास। अतः मानव-मूल्यों की ठोस स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि आधुनिक और नवीन युगबोध यथार्थ की ही धरती पर उतरे, न कि परिकल्पित वायव्य गगन में विहार करने लगे।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषा-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानस की दार्शनिक मान्यताएं अभिनव पक्ष

—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

परम्परागत मान्यताओं और तर्क के आधार पर मेरी यह निश्चित धारणा है कि मध्यकालीन आध्यात्मिक आचार और विचार 'आगम' से पूर्णतः प्रभावित हैं—प्रभावित ही नहीं, बहुत दूर तक वे तन्मूलक भी हैं। यह अवश्य है कि उस समय तो निश्चय ही कोई भी आचार और विचार भारत की धरा पर पनप नहीं सकते थे—जब तक वे अपने को श्रौत परम्परा से संबद्ध न कर लें। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रस्थान त्रयी का भाष्य इस तथ्य का साक्षी है। इसीलिए यदि समस्त तुलसी साहित्य को निगमागमकल्पतरु का परिणतफल कहा जाय—तो उसमें कोई त्रुटि न होगी। वैसे तो उन्हीं ने 'मानस' को 'नानापुराणनिगमागम-कल्पितं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' कहा ही है।

निगमागमकल्पितरु के परिणत-फल तुलसी-साहित्य के 'रस' रूप में 'भक्ति' की ही प्रतिष्ठा है। अतः इसकी दार्शनिक मान्यताओं पर विचार 'भक्ति' को ही केन्द्र में मानकर किया जा सकता है। तुलसी अपने समूचे आचार और विचार का लक्ष्य 'भक्ति' को ही मानते हैं। 'भक्ति' ही उनके लिए 'साध्य' है। मध्यकालीन 'भक्ति' के आचार्यों ने 'भक्ति' को पंचम पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्टित किया है। मधुसूदन सरस्वती का यही पक्ष है। गोस्वामी जी भी 'मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने' कहकर इसी पक्ष का उपोद्वलन कर रहे हैं। वैसे तुलसी के भक्त पात्रों में 'सार्ष्टि' को छोड़कर अवशिष्ट अन्य द्वैत मुक्तियों—सालोक्य, सायुज्य तथा सामीप्य—का उल्लेख मिलता है। पर यह तो भेद-भगति का फल है। संतवर गोस्वामीजी 'अभेद-भगति' को सबसे बड़ा मानते हैं। 'अभेद-भगति' ज्ञानोत्तरा भक्ति है। ज्ञानोत्तरा भक्ति शांकर आत्म-साक्षात्कार के अनन्तर आरम्भ होती है। शांकर आत्म-साक्षात्कार के सोपान जो अद्वैत वेदांत सम्मत हैं—मानस में उपक्षिप्त हैं। 'सोऽहमस्मि इतिवृत्ति अखण्डा'—द्वारा जिस 'सोऽहमस्मि' इत्याकारक अखण्डाकार विद्यात्मिका मायीय वृत्ति का उपक्षेप किया गया है—वह 'श्रवण' तथा 'मनन' की विधियों का परिणाम है। उपनिषद् का कहना है—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मान्तव्यो निदिध्यासितव्यः" आत्मा ही द्रष्टव्य है और तदर्थ श्रवण, मनन और निदिध्यासन अपेक्षित हैं। किन्तु श्रवण का पात्र बनने से पहले मुमुक्षादि साधन चतुष्टय की सम्पत्ति आवश्यक है। मुमक्षादि की प्राप्ति, अन्तःकरण का शोधन "श्रुति-संमत हरिभक्ति पथ संयुतविरति विवेक"—से ही संभव है—वैधी भक्ति से ही संभव है—दास्य भक्ति से ही संभव है। 'विनय पत्रिका'—जो तुलसी की व्यक्ति-साधना का मार्मिक और सहज गीतात्मक समुच्छलन है—का 'विनय' शब्द ही आराध्य के प्रति 'माहात्म्य बोध' और स्व के प्रति लघुता बोध का प्रमाण है। द्वैतभूमि की यह वैधी भक्ति अन्तःकरण को शोधित कर श्रवण-बीज का भव्य क्षेत्र बनाती है। महावाक्यों या महावाक्य का श्रवण एवं मनन साधक को इस योग्य बना देता है कि वह आत्म साक्षात्कार कर सके। आत्मा तो सदैव अपरोक्ष है—अनादि आविधाजन्य मल या आवरण के कारण वह परोक्ष-सा लगता है। इसी आवरण का क्षय श्रवण तथा मनन द्वारा होता है। श्रुत का मनन करते-करते वृत्ति तदाकार हो जाती है और यह 'सोऽहमस्मि' रुपा विधात्मिका-वृत्ति आविधिक वृत्ति का उच्छेद कर डालती है। 'कतकर जो न्याय' से अन्ततः मायीय होने के कारण वह स्वयं भी उच्छिन्न हो जाती है। इस प्रकार प्रारब्ध कर्म भोग का निमित्त मात्र अविद्या शेष रह जाती है, शेष अविद्या का क्षय हो जाता है। इस प्रकार अन्यथा दर्शन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कराने वाली भेदजननी माया-निवृत्ति से आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। गोस्वामीजी की साधना यहीं नहीं रुकती। उनकी दृढ़ धारणा है कि द्रवशील प्रकृति के साधकों में आत्म साक्षात्कार के बाद भी एक आभ्यंतर मल शेष रह जाता है—जो ज्ञानोत्तरा भक्ति से निवर्त्य है। यह मल भी मल ही है—वह दूसरी बात है कि वह आत्म-मुख होने से शुद्ध मल कहा जाता है। महायानी बौद्धों में यही 'शुद्ध वासना' है—जिसकी निवृत्ति बोधिसत्व की प्रक्रिया से 'बुद्धत्वोपलब्धि' में है। गोस्वामीजी ने इसी के लिए कहा है—

"प्रेम भगति जल बिनु अन्हवाये।
अभिअन्तर मल कबहुं न जाये॥"

मेरी निजी धारणा है कि यह प्रेम भगति ज्ञानोत्तरा आत्म-रति है—अभेद-भगति है। शास्त्रों में कहा गया है—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक्, जाते बोधे **मनीणया**।
भक्तयर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

आत्माबोध से पहले का द्वैत—अनात्मबोध मोहकारी होता है—फलतः दुःख-संतति का प्रसवकारी है। पर विधात्मिका वृत्ति से आविधिक वृत्तियों का क्षय हो जाने के अनन्तर आत्म-साक्षात्कार—अद्वैत बोध के बाद का कल्पित द्वैतबोध—जो भक्ति के लिए है—अद्वैतबोध से भी सुन्दर और आनन्दमय है। इसका मतलब यह हुआ कि यहाँ का भजनीय, भजन तथा भक्त-तत्वतः हैं—अभिन्न ही, केवल 'भजन' के लिए त्रिधा कल्पित हैं। अर्थात् भक्ति भक्त, भगवंत ही नहीं, 'गुरु' भी—चतुर नाम किन्तु वपु एक ही हैं। भगवंत और गुरु में कोई भेद नहीं है। 'वैराग्यसंदीपनी' में कहा है—

तन करि मन करि वचन करि काहू दूषत नाहिं
तुलसी ऐसे संतजन, रामरूप जग माहिं।

राम स्वयं अपने और भक्ति के बीच 'गुरु' को सन्त कहते हैं—

भगति तात अनुपम सुख मूला।
मिलहिं जो संत होहिं अनुकूला॥

कहने का अभिप्राय यह है कि अद्वैत भक्ति के धरातल पर भक्ति, भगवान और भजनीय कल्पित भेद हैं—नाम मात्र का—अर्थ का नहीं। अर्थतः सभी एक ही हैं। यदि अर्थतः सभी एक हैं—तो इसका अर्थ यह है कि 'भगति' भी तत्वतः चिदानन्दमय है—भजनीय तो है ही। भक्त भी अभेद भूमि पर वही है। भाव का पूरा सुख कल्पित अभाववश ही मिल सकता है। कल्पित या स्वेच्छाधीन अभाव सुखकर तो हो सकता है—पर दुःखकर नहीं हो सकता।

अब, यह देखना चाहिए कि 'भक्ति' के इस रूप की कल्पना का उत्स क्या है—निगम या आगम या क्वचिदन्य? 'निगम' के ज्ञानकांड और कर्मकांड में तो 'भक्ति' का यह रूप है ही नहीं, उपासना कांड में भी यह रुप नहीं है। शांकरधारा में आत्म-रति या निर्गुणोपास्ति की बात पंचदशीकार ने यद्यपि सविस्तार उठाई है और कहा है कि जो आत्मा—'वेदन' का विषय बन सकता है, वह 'उपासन' का भी विषय बन सकता है। जिस भी रुप में वह वेदन का विषय है—उसी रुप की प्रत्यावृत्ति उपासना भी कही जा सकती है। इस 'अहंग्रहोपासना' का मध्यकालीन वैष्णवों की 'साध्य पंचम पुरुषार्थ रुपा भक्ति' से तालमेल बिल्कुल नहीं बैठता। कारण, वह सब आत्मसाक्षात्कार के लिए है और प्रक्रान्त भक्ति आत्मसाक्षात्कार के बाद की है—अतः पूर्ववर्ती से परवर्ती की एकरूपता का सवाल ही नहीं खड़ा होता। जो अहंग्रहोपासना साधन है—उसका भगवदभिन्न भक्ति से एकरूपता किस प्रकार? 'भक्ति' की यह कल्पना विशुद्ध आगमिक है। आगमिक परम्परा में 'भक्ति' मायिक अन्तःकरण की एक वृत्ति विशेष नहीं है—बल्कि उसके माध्यम से प्रकाशित होने वाली ह्लादिनी शक्ति की ही एक वृत्ति है—तरंग है—उच्छलन है। आत्मा की चिदानन्दमयी शक्ति की ही एक वृत्ति है—इसीलिए वह बोधमयी भी है और आनन्दमयी भी। तुलसी के "ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा" को इसी भूमिका पर परखा जा सकता है। चित् ही अनुकूल होकर आनन्द है—आनन्दरूपा ही भक्ति है। यही साध्य है—पर इसका आस्वाद कल्पित भेद की भूमि पर ही संभव है। एतदर्थ 'ज्ञानोत्तरा भक्ति' की बात कही जाती है। इस प्रकार भक्ति भगवान् की ही आत्मशक्ति की एक वृत्ति विशेष है। तुलसी को भक्ति का यही रूप अभीष्ट है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति के इस रूप की संगति के अनुरूप ही भजनीय चरमतत्व की कल्पना करनी पड़ेगी। गोस्वामीजी चरम परमतत्व को 'राम' नाम से अभिहित करते हैं—पर वे 'राम' शांकर-ब्रह्म की भाँति 'शक्ति' शून्य नहीं हैं—शक्तिमान् हैं। 'सिया' उनकी ऐसी शक्ति हैं—जो उनसे गिरा—अर्थ और जलवीचिवत् न एकांततः भिन्न ही कही जा सकती है और न एकान्ततः अभिन्न ही। बात यह है कि कहना वही और उतना ही सम्भव है जितना 'बुद्धि' में आ सके। 'बुद्धि' स्वयं सापेक्ष और सीमित है—अतः उसमें जो कुछ भी आयेगा—वह भी सापेक्ष और सीमित होगा—अतः बुद्धिपूर्वक समस्त कथन भी और कथ्य भी सापेक्ष और सीमित होगा—अतः बुद्धि की परिधि में समग्रतः न आ सकने वाले तत्त्व के विषय में निरपेक्ष कथन सम्भव ही नहीं है। फलतः चरमतत्व के विषय में सारा कथन एकांततः सत्य नहीं है। वह समस्त संभावनाओं का आगार है—अतः सारी संभावनाएँ संभावनाओं के रूप में ही कही जा सकती है—उसमें भेद की भी सम्भावना है और अभेद की भी—उभय की भी और अनुभय की भी, निषेध की भी और विधान की भी दोनों की और किसी की भी नहीं। इस प्रकार तुलसी की दृष्टि में चरमतत्व ऐसा ही है। आगमिक अद्वयवादी यही मानते हैं। शांकर अद्वैत तुलसी को यदि अभीष्ट होता, तो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर तक की ही कल्पना करने वाले शांकर अद्वैतियों की भाँति ये भी 'चिदानन्दमय देह' की बात न करते। चिदानंदमय शाक्त देह की कल्पना केवल अद्वैतवादी आगमिक ही मानते हैं। गोस्वामीजी ने परमतत्वज्ञ वाल्मीकि द्वारा कहलवाया है—"चिदानन्दमय देह तुम्हारी"। भगवद्रूप की इस बोधस्वातंत्र्यमय-चिदानन्दमय कल्पना के आलोक में ही गोस्वामीजी की 'भक्ति' का रूप समझा जा सकता है।

चरमतत्व विषयक दार्शनिक मान्यता के स्पष्टीकरण के अनन्तर उसकी अवरोहणात्मक या जागतिक स्थिति का निरूपण प्रसंग प्राप्त है। शांकर अद्वैत वेदांत सृष्टि को माया शक्ति का परिणाम मानता है और माया को स्वतंत्र मानता है—ईशाधीन नहीं। इसीलिए उनके यहाँ 'षडस्माकमनादयः' कहा गया है। तत्वतः अद्वैत सत्ता को स्वीकार करके भी चित्, अचित्, जीव, जीवेशभेद आदि को अनादि कह दिया गया है। 'लीला' दर्शन की सारी सम्भावनायें शांकर अद्वैत में निःशेष हो जाती हैं। ये आगम ही हैं, जो ईश्वर की स्वातंत्र्य शक्ति की लीला रूप में सृष्टि का समर्थन करते हैं। गोस्वामीजी ने अनेकत्र माया को ईशाधीन कहा है। इस प्रकार जहाँ एक ओर गोस्वामीजी माया को ईशाधीन कहकर शांकर प्रस्थान से अपने को पृथक् कर लेते हैं—वहीं दूसरी ओर 'सत्ख्याति' या 'आत्मख्याति' द्वारा भ्रम का आत्यंतिक उच्छेद मानने वाले विशिष्टाद्वैतवादियों से भी अपने को अलग कर लेते हैं। परतत्व आनन्दमय स्वरूप का अनुभव आत्मशक्तिवश जगदात्मक आत्मप्रसार द्वारा भी पा लेता है और स्वात्मविश्रांति द्वारा भी। गोस्वामीजी भी अद्वयवादी आगमिकों की भांति मानते हैं कि समूची सृष्टि चरमतत्व का ही प्रसार है। वे कहते ही हैं—

"सियाराममय सब जग जानी"

समस्त जगत शक्ति शक्तिमान् के अद्वय रूप की ही परिणति है। यही कारण है कि चरमतत्व की द्वयात्मकता के अनुरूप सारा जगत् "स्थितिगत्यात्मक" है। राम 'स्थिति' हैं और 'सिया'—गति। द्वयात्मकता में वे 'स्थितिगत्यात्मक' हैं और अद्वयात्मकता में उभयातीत। इस दृष्टि से चरमतत्व विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी। चाहे अणु-परमाणुमय जड़ जगत् को लें या जीवकोश रूप चेतन को—उभयत्र पुंस्त्व तथा स्त्रीत्व 'राम' और 'सिया' के प्रतिनिधि में संलग्न हैं। अणु-परमाणु में ऋणात्मक तथा धनात्मक शक्तियाँ हैं और जीवकोश में डी० एन० ए० तथा आर० एन० ए० हैं। अध्यात्म ही नहीं, विज्ञान भी इसे स्वीकार करता है।

अवरोहण के अनन्तर आरोहण की प्रक्रिया आती है है—प्रत्यावर्तन का प्रसंग आता है। प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया भगवदनुग्रह से ही संभव है। गोस्वामीजी उपनिषदों की

"यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः"

की भाषा में कहते हैं—

"सोई जानै जेहि देहु जनाई।
जानत तुमहि तुमहि होई जाई॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यावर्तन उसी की इच्छा से संभव है। यही इच्छा जीवन-विषयक होने से शक्तिपातात्मक अनुग्रह है। शक्तिपात की आनुपातिक मात्रा में 'गुरु' लभ्य 'दीक्षा' आती है। गोस्वामीजी की दृढ़ धारणा है "गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई।" 'विनयपत्रिका' भी कहती है—

"तुलसीदास हरि गुरु करुना बिनु···"

गुरु दीक्षा में 'नाम' देता है और नाम साधना साधक द्वारा सम्पादित की जाती है। गोस्वामीजी ने कहा है—

"नाम निरूपन नाम जतन तें।
जिमि प्रगटत अनमोल रतन तें॥"

तुलसीदास ने नाम निरूपन की बात तो बहुत की है—पर 'नाम जतन'—नाम विषयक अभ्यास की बात कम। एक स्थल पर यह अवश्य कहा गया है—

"जोग जंत्र जप मंत्र उपाऊ।
फलै तबहिं जब करिय दुराऊ॥

संभव है मंत्रात्मक (बीज मंत्र जेहि जपत महेसू) उपाय का दुराव किया हो। उपाय के नाम पर दो बातें ही मिलती हैं—एक तो उसे जीह देहरी पर रखना अर्थात् नामोच्चारण और दूसरे—

"रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा।"

श्वास प्रतिश्वास नाम की रट। क्या इस 'प्रतिस्वाशा' के माध्यम से गोस्वामीजी संतों की भांति श्वास प्रश्वासमय सहज जप की ओर तो संकेत नहीं कर रहे हैं? एक संत ने ठीक कहा है कि मुख से जप करना वैसा ही है जैसे नौकर-चाकर से पूजा करवाना। वास्तव में मुक्त होना या भक्तिरस का आस्वाद पाना लक्ष्य है—जीव को और साधन करें—जीवेतर—यह संगत भी नहीं लगता। साधना तो ऐसी होनी चाहिए जो जीव ही करता हो। इसीलिए मानस जप अथवा सहज जप को जप परम्परा में महत्व दिया गया है। कविराज श्री गोपीनाथ ने नाम साधना द्विविध कही है—रस पर्यवसायी तथा नादपवर्यवसायी। निश्चय ही 'भक्ति' रस को साध्य मानने वाले गोस्वामीजी की नाम साधना 'रसपर्यवसायी' ही होनी चाहिए। "रामनाम कला मणि मंजूषा"—नाम की कृति को आधार बनाकर कविराज जी ने इनकी नामसाधना या 'नामजतन' का निरूपण किया है—पर परम्परा इस कृति को प्रामाणिक नहीं मानती। कहा गया है कि नाम के जाग्रत होने से सद्गुरु की और उनके प्रभाव से इष्टमंत्ररूपी विशुद्धबीज की प्राप्ति हो सकती है। बीज के प्रभाव से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है—फलतः देह और मत की मलिनता हटती है। भजन या नामजप की स्वाभाविक स्थिति इस मातृगर्भ संभूत मायिक देह से संभव नहीं है—तदर्थ भाव देह की अपेक्षा है। वास्तव में इसी भाव देह में स्वाभाविक भजन होता है। वैध-मार्ग तब तक के ही लिए उपादेय है जब तक मंत्र चैतन्य नहीं होता। मंत्र चैतन्य के बाद, विधि मार्ग की सार्थकता जाती रहती है। भाव देह के विकास के साथ-साथ भावरञ्जित दृष्टि के समक्ष इष्ट देवता का ज्योतिर्मय धाम प्रकट होता है। भजन के ही प्रभाव से भाव प्रेम में परिणत होता है और भाव के प्रेम रूप में परिणत होते ही उस ज्योतिर्मय धाम में इष्ट देवता का प्रत्यक्ष होता है। इसके पश्चात् भक्त और भगवंत का द्वैत विगलित हो जाता है। इस दशा में भक्त की शुद्ध वासनात्मक स्थायी भाव के अनुरूप अनन्तविध लीला का प्राकट्य होता है। भक्ति की यही सिद्ध दशा है। इस प्रकार नाम ही रसात्मक परिणति पाता है।

प्रसिद्धि है कि गोस्वामीजी को देहत्याग से कुछ ही समय पूर्व महावीरजी ने रामनाम का रहस्य बताया था। कहा था कि रामनाम का विश्लेषण करने पर उसमें पांच कलाओं का पता लगता है—ताटक, दण्डक, कुण्डल, अर्धचन्द्र तथा बिंदु। साधक नामसाधना वशक्रमशः स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण तथा कैवल्य देह का उक्त कलाओं में विलयन करता जाता है। बिंदु 'सिया' हैं और उनका भेद किए बिना रेफ रूप राम का संधान पाना कठिन है। महावीरजी के उपदेश का निष्कृष्ट अर्थ यही है कि बिंदु रूपा सीता का आश्रय लिए बिना निष्कल ब्रह्म की ओर नहीं बढ़ा जा सकता। विनयपत्रिका में भी सीता के माध्यम से राम की ओर बढ़ने में यही रहस्य इंगित है।

इस प्रकार नाम साधना से साध्य चिदानंदमय भक्ति का कल्पित द्वैतमय भूमिका पर आस्वाद लिया जाता है। गोस्वामीजी के अनुसार प्रत्यावर्तन की यही प्रक्रिया है। संक्षेप में गोस्वामीजी की मेरी धारणा के अनुसार ये ही मान्यताएं हैं।

(रामर्मूति त्रिपाठी)
आवास क्रमांक-२, कोठी रोड,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुष-सम्बन्धी युग-धारणाएँ एक शोध दृष्टि

—डॉ० छविनाथ त्रिपाठी

"पुरुष" के सम्बन्ध में युगानुकूल भिन्न-भिन्न धारणायें बनती रही हैं। किसी शब्द-विशेष के साथ जब एक विशेष प्रकार की धारणा सम्बद्ध हो जाती है, तब वह शब्द, सामान्य-शब्द की श्रेणी से ऊपर उठकर एक विशिष्ट अर्थ का बोधक बन जाता है। जब कोई कवि उस शब्द का प्रयोग करता है, तो उसके मानस-पटल पर युगानुरूप अर्थ का ही बिम्ब उभरता है और उसे आशा रहती है कि काव्य श्रोता या पाठक के मानस में भी वही बिम्ब उभरेगा। यह बिम्ब-निर्माण शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ मात्र से ही नहीं होता, अपितु उन धारणाओं के द्वारा भी होता है, जिन्हें लोक-मानस उस शब्द के साथ संबद्ध कर लेता है। 'पुरुष' शब्द के साथ रूप, गुण और व्यक्तित्व सम्बन्धी अनेक धारणायें सदा संबद्ध रही हैं। ये धाराणायें युग-परिवर्तन के साथ बदलती रही हैं, फल-स्वरूप अर्थ-विधान की उसकी क्षमता और बिम्ब-निर्माण सम्बन्धी उसकी स्पष्टता और व्यापकता में भी परिवर्तन होता रहा है।

अध्यात्म और धर्म-प्रधान वैदिक-युग में एक मन्त्र-द्रष्टा ऋषि ने 'पुरुष सूक्त' में 'पुरुष' को इतनी महत्ता प्रदान की है कि वह भूत और भविष्य का नियंता, अमृतत्व का स्वामी, सम्पूर्ण विश्व में अबाधित गति वाला, श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण भूमि और नगरों का अति-क्रान्ता मान मान लिया गया है।[1] पुरुष सूक्त के सोलह मन्त्रों में 'पुरुष' की जिस महनीयता का वर्णन हुआ है, उससे उसका आदर्श-व्यक्तित्व परमात्मा के समकक्ष पहुँच जाता है। वैदिक-युग का 'पुरुष' इन सम्पूर्ण धारणाओं का बिम्ब उभारने में समर्थ था। वायु-अन्तरिक्ष, वीर-वीर्य, मृत्यु-अमृत, अमृत, सत्य-अनृत तथा भूत और भव्य जब न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, तब यह 'पुरुष-प्राण' ही क्यों डरे।[2] वह तो कल्याण-पथ का निर्भीक पथिक है।[3]

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् काल में वैदिक 'पुरुष' का विराट-स्वरूप सर्वथा खो नहीं गया था, फिर भी भौतिक-जीवन की ओर अत्यधिक उन्मुख होने के कारण संकुचित अवश्य हो गया था। ऐतरेय ब्राह्मण में 'चरैवेति' की अनुगूंज अवश्य सुनाई पड़ती है, परन्तु

१. ऋक् १०।९०।२,३,५
२. शौनक-संहिता २।१५।२,९,११-१३ ॥
३. अथर्व १९।९।१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपदेश रूप में ही; सूर्य-सदृश श्रम और गतिशीलता उसमें नहीं रह गई थी।[1] वह पुरुष, पुरः या शरीर में ही आबद्ध होकर रह गया था। गृहस्थ-जीवन की महत्ता बढ़ने के कारण 'शतपथ ब्राह्मण' ने 'पुरुष' को आधा मान कर पत्नी को उसका अर्ध-भाग कहा।[2] अपत्नीक को अयज्ञीय समझा जाने लगा[3] और पुत्रहीन के लिए तो यह लोक ही निरर्थक बन गया।[4] नारी का गौरव ही गृहस्थ-जीवन का गौरव है, वह जाया और सखा है[5], उसका सौन्दर्य आकर्षण का विषय है[6], इस धारणा ने पुत्रैषणा को बढ़ाया और सन्तानोत्पत्ति के लिए अनेक विवाह को भी विहित घोषित कर दिया गया।[7]

जब आरण्यकों के समय पुत्र-वित्त और लोकैषणाओं ने पुरुष को पूरी तरह बाँध लिया तो इनकी प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप इनके त्याग पर बल दिया जाने लगा।[8] 'पुरुष' का यह आबद्ध-रूप इतना सशक्त बन चुका था कि त्याग के सहस्रों उपदेश भी उसके अस्तित्व को उखाड़ फेंकने में असफल रहे।

'द्वा सुपर्णा'[9] से यह आभास तो मिलता ही है कि 'पुरुष' द्विमुखी बन गया था। या तो वह सांसारिक सुख की लालसा में मोह-शोक और चिन्ताग्रस्त था या इनके परे वीत शोक। 'यथाक्रतु' सांसारिक पुरुष ही था।[10] सैकड़ों हाथों से एकत्र करो और हजारों हाथों से वितरण,[11] जैसे आदेश, आसक्ति और त्याग के समन्वय को ही व्यक्त करते हैं। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'[12] का स्वर मुखरित करने वाला ईशावास्य भी यह स्वीकार करता है कि हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख ढँक गया है।[13] भोग-संलग्न आडम्बरपूर्ण जीवन को जीने वाले पुरुष की आयु भी कम हो गई। सौ या सौ वर्ष से भी अधिक जीने वाला 'पुरुष' वैदिक पुरुष था,[14] ऐसा पुरुष भोगासक्त होकर 'मनुष्य' मात्र रह गया।[15] इस 'नाति दीर्घ' जीवन के प्रति, उसके भोगों के प्रति, विरति का स्वर नचिकेता ने मुखरित किया था।

उपनिषद-काल के 'पुरुष' के दोनों रूपों को स्वीकृति प्राप्त हो गई। वैदिक विराट् पुरुष को 'परात्पर दिव्य पुरुष' मान लिया गया और तत्कालीन 'पुरुष' को नाम-रूप युक्त 'अंगुष्ठ-पुरुष'।[16] कर्म, प्रेय, अज्ञान और अमुक्त का सम्बन्ध अंगुष्ठ पुरुष से हो गया और त्याग, श्रेय, ज्ञान तथा मुक्त का सम्बन्ध विराट् पुरुष से। पुरुष के इस बौने रूप को महत्तम एवं विराट् रूप में उभारने का प्रयास ही उपनिषद् ग्रन्थ करते हैं। सारा मुण्डक उपनिषद् कर्मबद्ध पुरुष के मुक्त पुरुष तक आरोहण की कथा है। सारे ही उपनिषद् ससीम को असीम बनने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इन्द्र ने माया द्वारा पुरुष को यह ससीम रूप दे दिया था,[17] पर इस माया से मुक्ति सरल न थी। 'पुरुषान्न परं किंचित्'[18] में पुरुष-महिमा को ही पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु न तो यह कार्य सरल था न सर्वजन बुद्धि-गम्य। इस अंगुष्ठ मात्र पुरुष का बोध भी ज्ञानियों के लिए ही

---

१. ऐतरेय ३३।३।१५
२. शतपथ ५।१।६।१०, ५।२, १।१०
३. तैत्तिरीय २।२।२।१, ३।३।३।५
४. ऐतरेय ७।१३
५. वही ४।२७।५,६
६. शत० १३।१।९।६, ३।५।१।११, ६।५।१।१० आदि
७. ऐत० ३।२३, गोपथ २।३।१९
८. वृहदारण्यक ४।४।२२
९. श्वेता० ४।६
१०. वही ४।७
११. अथर्व ३।२४।५
१२. ईशा० १
१३. वही १५
१४. कौषीतकी ११।७, शत० १।९।३।१९
१५. कठ १।२।३
१६. मुण्डक ३।२।८, श्वे० ३।१९, कठ २।१।१२, २।३।१७
१७. वृह० उ० २।५।१९
१८. कठ १।३।११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभव रह गया। वे ही विराट् के इस बौने रूप को देख सकते थे। इसका ज्ञान-मात्र ही मुक्ति का साधन बन गया।[1] तात्त्विक-एकत्व-बोध मात्र से ही तो वामन, विराट् नहीं बन सकता था।

जिस प्रकार पुरुष और दिव्य-पुरुष का सम्बन्ध, लघु और महत् के सम्बन्ध का द्योतक बना, उसी प्रकार नर-राष्ट्र के भौतिक स्वरूप में प्रजा और राजा का सम्बन्ध भी लघु-महत् आधार पर प्रतिष्ठित हुआ। अंगुष्ठ पुरुष की महत्ता दिव्य पुरुष के साथ एकात्मता में है, अतः प्रजा की महत्ता राजा और राष्ट्र के साथ एकात्मता स्थापन में विहित हो गई। राजा और राष्ट्र जितने महान् एवं विराट् हैं उसकी प्रजा भी उतनी ही महान् और विराट् होगी, औपनिषदिक दर्शन का यह राजनैतिक रूप उत्तरोत्तर विकसित होता गया। यह तथ्य अधिक महत्त्व-पूर्ण नहीं बन सका कि राजा कैसे चुना या बनाया जाता था, उसे क्या-क्या प्रतिज्ञायें करनी पड़ती थीं, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह उभरा कि पुरुष के विराट् रूप का लौकिक प्रतीक राजा बन गया, उसे 'महती देवता' कहा गया तथा वह अपने विराट् स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ का आश्रय लेने लगा। ब्रह्मचर्य और तप[2] द्वारा राजा राष्ट्र की रक्षा अवश्य करता था, किन्तु उसके पौरुष का दर्शन[3] तो युद्ध में दिखाई पड़ता था। पौरुष के विराट् स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए ही वह साम्राज्य और सार्वभौम राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील एवं लक्ष्य-निष्ठ रहता था।[4] प्रजा का ससीम पौरुष राजा के असीम पौरुष में पुंजीभूत होकर विराट् का लौकिक रूप व्यक्त करता था।

सूत्र काल में श्रौत, पाक एवं संस्कार सहित महायज्ञों द्वारा यज्ञ को भी जीवन-व्याप्त विराट् आकार प्रदान किया गया। पुरुष 'यज्ञमयोऽयं पुरुषः' बन गया। श्रौत, गृह्य एवं धर्म सूत्रों ने ससीम पुरुष को सामाजिक, नियम-बद्ध, अनुशासित एवं पूर्णतः लौकिक पुरुष में ढाल दिया। यज्ञों का विराट् स्वरूप विशाल जनसामाज को प्रभावित कर सकता था।[5] पौरुष के विराट् स्वरूप को व्यक्त करने के लिए ही साधकों में महावीर और बुद्ध ने आरम्भ में कृच्छ्र-तप द्वारा जनसमाज के समक्ष त्याग और तप का उदाहरण प्रस्तुत किया था। लोकासक्त और लोक-विरक्त 'पुरुष' के द्विविध विराट् रूपों की तत्कालीन अभिव्यक्ति औपनिषदिक आरोहण कथा से भिन्न नहीं है। पुरुष की मनुष्य रूप में परिणति उसके और परिसीमन की कथा है। विधि-निषेध का पालक 'पुरुष' भ्रम, प्रमाद, इन्द्रिय-दोष और विप्रलिप्सा से युक्त होने के कारण और भी अप्रामाणिक तथा संकुचित बन गया। 'पुरुष' का दो रूप एक तीसरे और निम्न-स्तर तक पहुँच गया और विविध दर्शनों ने उसका वर्गीकरण—जीव, ईश्वर और दिव्य-पुरुष (ब्रह्म) के रूप में करते हुए 'जीव' को उस निम्न-स्तर की संज्ञा प्रदान की।

सांसारिक कर्म (संघर्ष)-निरत एवं उससे उत्पन्न कर्म फल का भोक्ता जीव तो दुःखी होता ही है। दुःखानुषंगी होने के कारण सांसारिक सुख भी दुःखमय है।[6] अतः दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति के अन्वेषण में ही भारतीय दर्शनों का विकास हुआ। दर्शन की इस चिन्तन-धारा से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि जीव-स्तरीय पुरुष अत्यन्त दुःखी था। वेदान्त के अनुसार शरीरेन्द्रिय का अध्यक्ष, कर्मफल का भोक्ता एवं अविद्यामूलक अहंकार से युक्त पुरुष ही जीव है। सांख्य का प्रकृतिबद्ध पुरुष ही जीव है। योग ने जीवात्मा और परात्पर पुरुष के मध्य ईश्वर को नहीं भुलाया। न्याय ने आत्मा को शरीरेन्द्रियादि से पृथक् तत्त्व ही माना।[7] तर्कपरक होते हुए भी शरीर, इन्द्रिय, विषय, ज्ञान सम्बन्धी तथा सुख-दुःख नामक इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक

---

१. वही २।२।८, २।३।८ श्वे० ३।८,९,१२
२. अथर्व ५।१।७
३. ऋक् ६।७५।१
४. ऐतरेय अध्याय ८
५. द्रष्टव्य-शांखायन श्रौतसूत्र।
६. तर्क भाषा-पृ० २३२
७. न्या० १।१।९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवृत्ति को ही अपवर्ग कहा। वैशेषिक तो आत्मेतर पदार्थों के ज्ञान पर ही आत्मा के ज्ञान को निर्भर मानता है। इन सभी दर्शनों ने आत्मा को चेतन तत्त्व ही मान कर उसका विवेचन किया है। भौतिकवादी चार्वाकों ने शरीर को ही सब कुछ मानते हुए भी 'चैतन्य विशिष्ट-कायः पुरुषः' चेतन तत्त्व को अस्वीकार नहीं किया है। जैन दर्शन ने भी सांख्य की भाँति कर्मास्रव लिप्त जीव की पृथक्-पृथक् सत्ता ही मानी है। बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद भी चेतना-प्रवाह का अस्तित्व स्वीकार करता है। अत्यन्त परवर्ती काल का शैव-दर्शन भी चिति के विराट् पुरुष शिव को ही महत्ता प्रदान करता है। प्रायः सभी दर्शनों का जीव चैतन्य-विशेष है। परम चेतन की स्थिति-प्राप्ति को ही वह कैवल्य या मुक्ति या परम पुरुषार्थ मानता है। इन सभी दर्शनों का लक्ष्य एक ऐसी स्थिति के अन्वेषण का प्रयत्न करना है जहाँ सांसारिक दुःख सह्य एवं उपेक्षणीय बन सके। संघर्ष जन्य दुःखों को वह खिलाड़ी की भाँति उत्साह के साथ झेल सके। इसके लिए उसे पुनः पुरुष के चैतन्य-स्वरूप को ही आधार बनाना पड़ा। सभी जीवों के लिए समान आधार पर समान निदान का निर्देश किसी तात्त्विक-साम्य के बिना संभव भी नहीं था। पृथक्-पृथक् शरीर के निदान की अपेक्षा उन्होंने सर्वव्यापक चैतन्य को पकड़ कर दुःख निवृत्ति का समवेत उपाय बताना अधिक सुकर समझा। जीव की स्वचैतन्य में स्थिति या चैतन्य-बोध एक ऐसी उपलब्धि है जिसमें सांसारिक भिन्नताएँ एवं बाधाएँ अवरोध नहीं उत्पन्न कर सकतीं। वेदान्त का जीवन्मुक्त और गीता का अनासक्त एक ऐसी स्थिति-प्राप्त व्यक्तित्व है, ऐसी ही स्थिति की उपलब्धि बुद्ध और जिन भी करते हैं। यह स्थिति जीव का साध्य है। स्वयं के महत् चैतन्य या विराट पुरुषत्व का बोध प्रथम स्तर था और उस स्वरूप की उपलब्धि एवं उसमें स्थिति द्वितीय या सिद्धि-स्तर था।

गीता ने क्षर और अक्षर अथवा जीवात्मा और परमात्मा या पुरुष और पुरुषोत्तम के रूप में पुरुष के द्विविध रूप को स्वीकार किया है। पुरुष के स्वभाव का विश्लेषण करते हुए गीता ने उसे भी दैव और आसुर स्वभावनिष्ठ वर्ग में विभाजित किया है।[1] पुरुष श्रद्धामय है,[2] गुण, प्रवृत्ति और स्वभावगत वैषम्य ही उसे भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों में श्रद्धालु बनाते हैं। गीता के अर्जुन का विषाद पौरुष के आवृत रूप को ही व्यक्त करता है। उसके विषाद के मूल में लोक-संग्रही भाव का अभाव था। वह राज्य-सत्ता को अपने और अपने परिजनों के लिए सुखोपलब्धि का साधन मानता था।[3] श्रीकृष्ण ने 'विराट-पुरुष' का दर्शन कराकर अर्जुन की ससीमता को और अधिक स्पष्ट कर दिया है।[4] गीता ने 'विराट-पुरुष' को ही 'पुरुषोत्तम' विशेषण दिया है, इस रूप के अव्यक्त होते ही स्वयं श्रीकृष्ण के स्वरूप को गीता ने भी 'मनुष्य' ही कहा।[5]

आदि कवि वाल्मीकि को उत्तम पुरुष की खोज थी, जिससे वह एक आदर्श-चरित्र का निर्माण कर सकें। नारद से उन्होंने पूछा कि इस लोक में गुणवान् और वीर्यवान् कौन है।[6] नारद ने संक्षेप में राम का जो चरित्र प्रस्तुत किया,[7] वह एक तत्कालीन उत्तम पुरुष का चरित्र था। उत्तम पुरुष की धारणा राम के चरित में व्यक्त हुई है। ऐसा पुरुष गम्भीरता में समुद्र और धैर्य में हिमवान् होता है। उसके समस्त गुण उदात्त होते हैं और वह बलवान् तथा पराक्रमी होता है। वह यशस्वी होता है, जिसकी यशःगाथा कवियों के गान का विषय बने।[8] लोक-संग्रही होने के कारण ही राम को

१. गीता १५।१६-१९
२. वही १६।६
३. वही १७।३
४. वही १।३३
५. गीता-अ० ११
६. वही ११।५१
७. वाल्मीकि रामायण १।१।३-१६
८. वही १।१।१७-९८
९. वही १।२।४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैथिली तक का त्याग करना पड़ा।[1]

पुरुषार्थ का स्वरूप रामायण काल से महाभारत काल तक कितना परिवर्तित हो चुका था यह दोनों के अन्तर से प्रतीत होता है। रामायण काल में राज्य-सत्ता का उद्देश्य लोक कल्याण था जब कि महाभारत काल में वह व्यक्तिगत सुखोपलब्धि का साधन बन गई थी। ऐसे स्वार्थ-परायण युग में भी व्यास को यह विस्मृत नहीं हुआ था कि इस धरा पर मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।[2]

राम वैदिक परम्परा के कर्मशील पुरुष श्रेष्ठ थे। जिन विरक्त परम्परा के थे। बुद्ध मध्यमार्गी थे, परन्तु कृष्ण ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वयकर्त्ता थे; गीता से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। राज-सत्ता, राजा एवं प्रजा के साथ उनके सम्बन्धों का जो विकास परवर्ती काल में हुआ, उसका आधार-स्रोत रामायण वर्णित व्यवस्था थी। बुद्ध से प्रभावित अशोक स्वयं चक्रवर्तित्व में विश्वास रखता था। सामन्तवादी-व्यवस्था से उसका शासन भिन्न नहीं था। राजा के प्रति सैनिकों एवं प्रजा का भाव उसे दिव्य-पुरुष मानना अस्वीकार कर चुका था, अन्यथा कौटिल्य को राजा के लिए न लड़ने वाले व्यक्तियों या सैनिकों को नरक का भय न दिखाना पड़ता।[3] राजा भर्त्ता या स्वामी मात्र रह गया था। राजा का पुरुषार्थ, यश एवं पराक्रम उसका व्यक्तिगत विषय था। प्रजा उसमें अपनी समवेत शक्ति का विराट रूप देखने में असमर्थ हो चुकी थी,यही कारण है कि वीरता-प्रदर्शन भी व्यक्तिगत विषय बन गया था।

श्री अरविन्द घोष ने वाल्मीकि, व्यास और कालिदास को प्राचीन भारत के इतिहास का अमृत-स्रोत कहा है। इनकी दृष्टि में कालिदास राष्ट्रीयता के सूत्रधार थे[4]। वाल्मीकि को आदर्श-चरित राम में मिला और कालिदास को रघुवंशियों में। कालिदास के अनुसार वे दान करने के लिए धन-संग्रह करते थे, मितभाषी थे, यश के लिए विजय की कामना करने थे, शैशव में विद्या का अभ्यास करते थे, यौवन में संसार के भोगों का आनन्द लेते थे, बुढ़ापे में तप करते थे और अन्त में योग से शरीर त्याग करते थे। विवाह का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति ही समझते थे[5]। ये श्रेष्ठ पुरुषों के गुण थे। इन गुणों से युक्त रघुवंश के विविध राजाओं का चरित्र उन्होंने प्रस्तुत किया, किन्तु जब वे विलासी अग्निवर्ण का वर्णन करने लगे तो संभवतः उन्हें उस मूल प्रेरणा का स्मरण हो आया, और रघुवंश काव्य की समाप्ति हो गई।[6]

कालिदास की दृष्टि में भी हरि ही एक मात्र पुरुषोत्तम थे।[7] इनका स्मरण मात्र ही पवित्र करने वाला है।[8] कालिदास ने केवल दशरथ को पुरुष और राम को पुरातन पुरुष कहा है।[9] राम को ही वह हरि भी कहते हैं। शेष सभी रघुवँशियों को वह क्षितीश, नृप, नृपति, राजा, पार्थिव, ईश्वर आदि शब्दों से ही व्यक्त करते हैं, पुरुष या पुरुषोत्तम शब्द से नहीं। ये सभी यश और धन के इच्छुक हैं। दिलीप तक को अपने यशःशरीर की अधिक चिन्ता है।[10]

पुरुषार्थ प्रवर्तिनी प्रकृति होती है और उस प्रकृति को देखने पहचानने वाला ही पुरुष है।[11] काम की उक्तियाँ कालिदास ने जन-विलासिता की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रस्तुत की हैं।[12] शिव जैसे जितेन्द्रिय का तप भी काम ने भंग कर दिया था। रूप-गर्विता पार्वती को भग्न-मनोरथा दिखाकर भी कालिदास ने उसे मनस्विनी कह कर फलोदय तक प्रयत्नशील प्रस्तुत किया है। वस्तुतः

---

१. वही उ० ।९७।४
२. न हि मानुषात्श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्। म० भा०
३. कौटिल्य १०।१३ 'नवंशरावं...'
४. राष्ट्रकवि कालिदास-पृ० २५
५. रघुवंश १।७-८
६. द्रष्टव्य-रघुवंश सर्ग १९
७. रघुवंश ३।४९
८. रघु० १०।२९
९. वही ९।१६,११।८५
१०. वही-२।५७
११. कुमार संभव २।१३
१२. वही ३।३-१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईप्सितार्थ के लिए कृत-निश्चय मनुष्य ही मनीषी या मनस्विनी है।[1] पुरुष और पुरुषार्थ के स्थान पर मनस्वी और मनस्विता का प्रयोग धारणा-परिवर्तन का ही द्योतक है। धर्म और मोक्ष का साधक पुरुषार्थी है तथा अर्थ और काम का साधक मनस्वी। मन की प्रवृत्ति निम्नाभिमुखी हो सकती है जैसे जल की। दृढ़-संकल्प उत्तम और अधम दोनों प्रकार के लक्ष्य के लिए हो सकता है। मनोरथ के लिए अवरोध तो है ही नहीं।[2]

गीता में मनुष्य के दो रूप कहे गये हैं—श्रेष्ठ और लोक। एक अनुकरणीय है दूसरा अनुकर्त्ता। मनुष्यों में पौरुष ही विराट पुरुष का प्रतीक था।[3] कालिदास के समय इस पौरुष का प्रतीक था—समुद्रवसना पृथ्वी और नारी।[4] षष्ठांशवृत्ति राजा का कार्य शान्तिकाल में दुष्टों को दण्ड, विवाद का निवटारा और प्रजा का रक्षण था। सत्पुरुष बनने का अर्थ था परोपकार करना मात्र या सद्वस्तु का आदर करना। यद्यपि सामान्य-जन का लक्ष्य श्रद्धा (पत्नी), धन (पुत्र) और क्रिया (पति) मात्र था, पर बुद्धिवाद का अभ्युदय कालिदास-युग की विशेषता थी।[5] इस बुद्धिवाद की स्वाभाविक परिणति अर्थ और काम की सिद्धि के लिए ही होती है। फलस्वरूप पुरुष का एक 'नायक' स्वरूप उभरा जो सुन्दरी नारी के चरणों में पड़ा उसका दास प्रतीत होता है।[6] काम के साथ प्रीति, कृत्रिम-प्रेम, दूती, कातरता तथा प्रणय-निराशा में आत्महत्या का घनिष्ठ सम्बन्ध है।[7] राजा का पुरुषार्थ युद्ध-विजय और नारी-हरण था तो प्रजा का जातिगत कर्त्तव्य-निभाना।[8] डाका डालना भी एक वर्ग का कार्य बन गया था और राज्य में शान्ति इसलिए काम्य बन गई थी, जिससे ऐश्वर्य मत्त एवं विकार-मूर्छित काम-सिद्धि कर सकें।[9] लोकानुग्रह श्लाघनीय अवश्य था पर राजा और वित्तेश प्रजा का मूल लक्ष्य पुरुषार्थों में काम ही रह गया था।[10] नायक का यह रूप मधु-लोलुप मधुकर का ही था। पर-पुरुष संकीर्तन के श्रवण को भी अयुक्त मानने वाले भास की नारी से भिन्न स्थिति थी कालिदास के नारी की भी। लोकवाद कितना[11] उपेक्षणीय बन गया था, यह कालिदास की सीता के कथन से स्पष्ट है।[12]

कालिदास के बाद किसी भी कवि ने चक्रवर्तित्व की कल्पना नहीं की; रामचरित प्रस्तुत करने वालों में उसकी ध्वनि नहीं, प्रतिध्वनि मात्र है। कवियों ने स्पृहणीय गुणों से युक्त महात्माओं के चरित-वर्णन में मन भले ही लगाया हो।[13] सातवीं शती के अन्त में विद्यमान भट्टनारायण ने 'मदायत्तं तु पौरुषम्' जैसी कर्ण की उक्तियों में जाति एवं कुल से परे व्यक्तिगत पौरुष को खूब उभारा है।[14] हर्ष के बाद भारत में कोई विशाल राज्य था नहीं। सामंतवादी व्यवस्था में सम्राट् या चक्रवर्ती की

---

१. वही ५।५
२. वही ५।६४
३. गीता- ३।२१,७८
४. शाकुन्तला ३।१८
५. वही ५।८,५।१२,विक्रमो० १।२ शकु० ७।२९ माल० १।२
६. माल० ४।१४, विक्र० ४।६८, माल० ३।२०, शकु. १।२०,३।१० विक्र० २।३।, ३।७, माल० ३।२२, ४।१० आदि।
७. ऋतु० ३।२८, उ० मेघ ५५, माल० ३।३, ३।१४, ४।५, ३।५
८. माल० ५।२, शाकु० ६।१
९. माल० ५।१०, ५।२०, शाकु० ५।१८, विक्र० ५।२५ ऋतु० २।२९
१०. शाकु० ७।३४-३५, ३।१०
११. वासवदत्ता, भास नाटक चक्रम पृ० १८ अन्य स्थल-प्रतिज्ञा यौगन्धरायणं १।११ चारुदत्त भा० ना० च० पृ० १९७
१२. रघु० १४।३१
१३. किरातार्जनीय २।३४
१४. वेणीसंहार ३।३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पना की अपेक्षा पौरुष के नये मानदण्डों की स्थापना सरल थी। भागवत का 'मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्'[1] पुरुषादर्श कालिदास द्वारा स्थापित आदर्श से भिन्न नहीं है। योद्धाओं में योद्धा, मनुष्यों में राजा और स्त्रियों में मूर्तिमान् कामदेव; यह था वैदिक विराट पुरुष का सामन्ती व्यवस्था में रूप।

काम कथा रत व्यक्तियों के लिए धर्मकथा कुनैन से भी कड़वी लगती है। धर्मोपदेशकों के लिए यह एक बड़ी समस्या थी। वसुदेव हिण्डीकार ने शृंङ्गार कथा के आवरण में धर्म कथा का समावेश कर जनता को आकृष्ट करने का प्रयास किया।[2] प्राकृत एवं अपभ्रंश कथा-काव्यों ने इसी परम्परा का अनुसरण किया, क्योंकि ये अधिकतर जैन धर्म से संबद्ध हैं। कादम्बरी, नैषध और नलचम्पू जैसी संस्कृत कृतियां रस-कथा प्रस्तुत करती हैं,[3] जबकि कुवलयमाला, लीलावती कथा जैसी प्राकृत-कृतियाँ कामोत्थ-धर्मोत्थ होने के कारण संकीर्ण कथायें हैं।[4] सामन्तवादी व्यवस्था के ये सभी सुपुरुष चरित हैं;[5] कालिदास के अनुसार ये सभी उदात्त नायक हैं। जम्बु-चरिय कर्त्तव्याकर्तव्य के ज्ञाता को ही पुरुष मान लेता है।[6]

स्वयंभू ने पउमचरिउ में सामन्तवादी पुरुष के युद्धवीर एवं धर्मवीर रूप को ही उभारा है। रण रस लोभी अनावृत यश, यशलोभी रावण, 'कलि-कलुष-सलिल षोषक पतङ्ग' लक्ष्मण, जैसी उक्तियों से पुरुष के उदात्त रूप के दूसरे पक्ष को प्रमुखता दी है।[7]

जैन-रास परम्परा में सुपुरुष वह है, जो गुरु से बोध प्राप्त करे, सत्य बोले, परिवाद से दूर एवं उसे नष्ट करने वाला हो, मोक्ष-मार्ग का वक्ता एवं श्रोता हो।[8] जैन-परम्परा ने चार आर्य-सत्यों के ज्ञाता को ही त्रिभुवन में महाभट माना और निर्ग्रन्थ को ही महावीर। सिद्धि के लिए किया जाने वाला संघर्ष ही महारण है और सिद्धि-प्राप्ति ही महा विजय। ऐसा सिद्ध ही पुरुष है।[9] इस दृष्टि में कभी परिवर्तन नहीं हुआ।

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक काल भी सामन्तवादी था। राहुलजी ने सिद्धों और सामन्तों के द्विविध दृष्टि-कोणों के आधार पर ही इस काल को सिद्ध-सामन्तकाल कहा है। चंद का 'पृथ्वीराज रासो' चली आती हुई 'पुरुष' सम्बन्धी धारणाओं को ही व्यक्त करता है। चंद की दृष्टि में पृथ्वीराज सामंतसूरों में अद्वितीय और आदर्श पुरुष थे। सामंती आदर्श के अनुसार पुरुष को वीर, राजा और कामदेव का अवतार होना चाहिए—

सामंत सूर प्रथिराज सम भयो न को रवि-चक्क तर।
पृ० रा० १६।२४८

अवतार भूप प्रथिराज पहु। पृ० रा० १।६
कामदेव अवतार हुअ। पद्मावती समयो।

इस रासो के तैंतीसवे समयो में पृथ्वीराज के सौन्दर्य का भी वर्णन हुआ है।

चंद ने सामन्ती व्यवस्था में निहित राजा, सामंत और सैनिकों के आदर्श को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। महाभारत, कौटिल्य-व्यवस्था और कुछ पौराणिक तथ्य ही उनके प्रेरक स्रोत थे। इन्हीं के आधार पर उन्होंने स्वामि-धर्म की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया था।[10] राष्ट्रीयता के अभाव में उन्होंने सामंत-सैनिकों के

---

१. भागवत ७।४३।ट०
२. प्राकृत साहित्य का इतिहास पृ० ३६४
३. कादम्बरी कथा मुख ८, नैषद १।२, नलचम्पू १।२५
४. कुवलयमाला पृ० ४ लीला० पृ० १।२
५. सुव्वह सुपुरिस चरियं.....कु० मा० पृ० ४
६. कज्जाकज्जाइं जाणई पुरिसो। ज० च० २।३२।२६
७. पउमचरिउ ६।८।२।३७।१।१, १५।१०।६, २२।४।४
८. उपदेश रसायन रास, ४
९. मयण पराजय चरिउ २।५, २।१
१०. द्रष्टव्य—मेरा लेख—पृथ्वीराज रासो एक पौराणिक महाकाव्य—कुरुक्षेत्र युनिवर्सिटी रिसर्च जरनल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समक्ष यही आदर्श उपस्थित किया और रण-मरण की प्रेरणा दी—

जीविते लभ्यते लक्ष्मी मृते चापि सुराङ्गना ।
क्षणे विध्वंसिनी काया का चिन्ता मरणे रणे ।

इस आदर्श पर चन्द ने 'श्रेष्ठ पुरुष' की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है, उनमें अल्प-जीवन एवं कीर्ति को ही प्रमुखता दी है—

मरना जीना हक्क है, जुग्ग रहेगी गल्हां ।
सा पुरुषां का जीवना, थोड़ा ही है भल्हां ।।
पृ० रा० ६४।१६८

संसार अथिर सामंत मत । पृ०रा० ६६।६८३ पद

विद्यापति ने कीर्तिलता और कीर्ति पताका में 'पुरुष' की कहानी ही कही है ।[1] कीर्तिलता में उन्होंने वीर पुरुष का लक्षण बताते हुए कहा है कि वह लब्ध-कीर्ति, संग्राम में सूर, धर्म परायण, अदीन, सानन्द होता है । जिसकी सम्पत्ति का उपभोग सुजन करते हैं, वह गुप्त दानी होता है । वैसे तो पुरुषोत्तम सदृश ही पुरुष होता है, केवल जन्म मात्र से नहीं । यशस्वी, यशार्जन में सक्षम ही पुरुष है ।[2]

विद्यापति की पदावली यद्यपि मुक्तक एवं शृंगारी रचना है, परन्तु उसका नायक तो 'सुपुरुष' है, अतः अनेक स्थलों पर उनकी पुरुष सम्बन्धी धारणा व्यक्त हुई है—

(क) सुपुरुष वचन पषान क रेह । पदा० ८०।।
पुरुष लाख एक लखवा पारिअ ।। पदा० ७६ ।
वैभव गेला रहत विवेक । तैसन पुरुष लाख मँह एक।
पदा० १४६ ।

सुपुरुष सञो नेह विद्यापति ओल धरि हो निरबाहे ।
पदा० २३१।

(ख) पुरुषक चंचल सहज सुभाव । पदा० ६२।।
एके मधुयामिनि सुपुरुष संग । पदा० ८०।।
सुपुरुषे पाओल सुमुखि सुनारि रे । पदा० १०।।[3]

विद्यापति के 'सुपुरुष' का जो प्रणयी रूप उनकी पदावली में व्यक्त हुआ है, उसमें भी वह लाखों में एक, वचन का पक्का, नागर और भागवत के अनुसार ही स्त्रियों के मध्य कामदेव है ।

चिन्तन एवं शोध का यह भी एक आनन्ददायक विषय हो सकता है कि गृह त्यागी सिद्धों एवं सन्तों की वाणी में पुरुष तो रव-सम ठीक ही रहा, पर जीव ने पतिव्रता नारी का रूप कैसे प्राप्त कर लिया ? किस सीमा तक सूफियों का प्रभाव है और किस सीमा तक सामन्ती-धारणाओं का ? विद्यापति की प्रणय-कथा भी अकथ-कथा है और कबीर की प्रेम कथा भी ।[4] विद्यापति की नारी चंचला भी है और कुल कामिनी भी, पर कबीर की यह नारी पतिव्रता और सदा सुहागिन है ।[5] सन्तों में भी पुरुष, प्रिय एवं प्रेम का विषय बन ही गया है ।

सूफी कवि जायसी ने तो 'पुरुष' के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा का यथातथ्य वर्णन करते हुए इसके व्यक्तित्व

---

१. सुपुरिस कहनी हौं कहउँ । की० ल० १ । पंक्ति ३६.
२. कीर्तिलता—१। पं० २७-३३
३. पद संख्या—विद्यापति पदावली, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना—की हैं ।
नागर-नागरी रूप के लिए द्रष्टव्य पद—२१,७१,७७ ८८, १६४ आदि ।
४. पाछिलि कथा अकथ कथा । पदा० २१
अकथ कहाणी प्रेम की । कबीर ग्रन्थावली पृ० १२०
बरउदे दिलम नबाख्त यक जमजमां इश्क ।
जां जमजमा अमजे पाये ता सर हम इश्क ।। जामी ।
ईरान के सूफी कवि—पृ० ४००
५. जो पै पतिव्रता है नारी ।
कैसे ही रहौ सो पियहि पियारी ।
तन मन जीवन सौंपि सरीरा ।
ताहि सुहागिन कहै कबीरा ।।
कबीर ग्रं० पृ० ११५ ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को स्पष्ट आकार दे दिया है। पुरुष या सुपुरुष सम्बन्धी उनके विचार सारे पद्मावत में बिखरे पड़े हैं—

साहस जहाँ सिद्धि तँह होई। पद्मा० १४।१।३।
राजै दीन्ह कटक कंह बीरा। सुपुरुष होहु करहु मन धीरा।
प० १५।८।१

धन्नि पुरुष अस नवै न नाए। औ सुपुरुष होइ देस पराए।
प० २६।४।७

एक ही स्थल पर पुरुष की अनेक विशेषताओं का उल्लेख करते हुए जायसी ने कहा है कि उच्च हृदय एवं साहस के साथ उन्नति पथ पर अग्रसर होने वाला ही पुरुष है और बार बार फिसलने पर भी उन्नति का पथ नहीं छोड़ता—

पुरुषहिं चाहिय ऊँच हियाऊ। दिन दिन राखै ऊंचै पाऊ॥
सदा ऊँच पै सेइय बारा। ऊँचे सो कीजिय बेवहारा॥
ऊँचै चढ़ै ऊँच खंड सूझा। ऊँचे पास ऊँच कति बूझा॥
ऊँचै संग संगति नित कीजै। ऊँचै काज जीव पुनि दीजै॥
दिन दिन ऊँचे होइ सो, जेहि ऊँचे पर चाउ।
ऊँचे चढ़ता जो खसि परे, ऊँच न छाड़िय काउ।
पद्मा० १६।५

हिन्दी के पूर्व मध्यकाल में प्रकृति और पुरुष के प्रेम का जो रूप विद्यापति ने प्रस्तुत किया उसमें कुपुरुष के लिए भी अवकाश मिल गया।[1] सुपुरुष वह है जिसका प्रेम सोने की भांति खरा हो, कुपुरुष वह जिसका प्रेम खोटे सिक्के की भांति है।[2] पुरुष छैला बन गया और उसका नया नामकरण हुआ 'नागर' और नारी बनी 'नागरी'। ये नागर-नागरी चौसठ कला मर्मज्ञ थे और कान्ह तो अतिनागर थे ही।[3] नागर-नागरी के रूप में पुरुष और प्रकृति का जो रूप उभरा उसने पुरुषोत्तम कान्ह और प्रकृति-शक्ति राधा का रीतिकालीन रूप प्रस्तुत किया। प्रेमा भक्ति की प्रतिष्ठा इन सम्बन्धों को एक दार्शनिक धरातल प्रदान करना था।[4]

सौलहवीं शती के अभिनव कालिदास ने अपने भागवत चम्पू में कृष्ण का जो रूप प्रस्तुत किया है, वही मानो भागवत का रीतिकालीन अवतरण है। कृष्ण पुरुषोत्तम तो हैं किन्तु 'मायिक मनुष्यवेषभृत्' होने के कारण ही वे 'जारनाथ' बन गये हैं। गोपियां 'जारदयिता' बन गई हैं। कृष्ण 'भोगिनाथ' हैं और गोपियां 'भोगिन्यः'[5] कवि ने इसे 'कृष्ण वर्त्म' कहा है और उसका उत्तान-शृंगार-वर्णन रीतिकालीन कवियों को बहुत पीछे छोड़ गया है। भागवत की भी मर्यादा संभवतः यहां टूट गई हैं।[6] उषा-अनिरूद्ध के प्रणय को लेकर वाणासुर के साथ होने वाले युद्ध के समय कवि ने कहा है कि 'माहेश्वर ज्वरं हन्तुं भगवान वैष्णव ज्वरं। विनिर्ममेतयो रासीद् युद्धमद्भुत कर्मणोः।'[7] यह 'कृष्ण वर्त्म' वैष्णव ज्वर था और रीति-साहित्य वैष्णव-ज्वराक्रान्त 'पुरुष'-पथिक की कृष्ण वर्त्म पर नागर बन कर यात्रा थी।

तुलसीदास ने रामचरित मानस में राम को पुरुषोत्तम

---

१. प्रकृति परेषिअ सुपुरुष प्रेम। पदा० २२
२. सुपुरुष पेम हेम अनुमानि। पदा० ९६,
हृदय कपट मुखेकरहिं पिरीति। पदा० १३४
सपनेहुजनु होहु कुपुरुष संग। पदा० ११२
जउ कुपुरि भत्तारू। रस-विलास ३१
३. तोहर छैलपन निन्दत आन। पदा ११३
नागर हो से हेरितहि जान,
चौसठि कला क जाहि गिआन। पं० १४।
से अति नागर गोकुल कान्ह। पदा० १०९।
नागर गुणे नागरि रति बाढ़ी। पदा० ७१।
४. सर्वथा ध्वंस रहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद् भाव बन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तिताः।
उज्जवल नीलमणि, पृ० ४१८।
५. भागवत चम्पू ३। ४३,३।९३,६।१३१, स भोगिचूड़ा-मणि रेष नाथो वयं च भोगिन्य इति प्रतीतिः।
भा० च० २।७८
६. भाग० च० ४।४७, ३।५०-११५ तुलनीय भागवत १०।३३ के वर्णनों से।
७. भाग० च० ५।३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म के रूप में ही सामने रखा। सती-मोह के प्रसंग को उन्होंने सतर्कता के लिए ही प्रस्तुत किया था[1]। राम की नर-तनु-लीला से कोई भ्रान्ति न उत्पन्न हो जाय अतः वे बार-बार उनके 'ब्रह्मत्व' का स्मरण कराते रहते हैं। तुलसी के 'रामचरित मानस' की लोकप्रियता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि वैदिक-विराट-पुरुष की उसमें पुनः अवतारणा हुई और सामान्य-जनता को यह अनुभूति हुई कि उसे उसका खोया हुआ रूप प्राप्त होगया। इससे उसका आत्मबल जागा। राम के पुरुषोत्तम रूप का दर्शन धनुष यज्ञ के समय दिखाई पड़ता है। वहां 'जाकी रही भावना जैसी' में उनका विराट रूप व्यक्त हुआ है।

गंग कवि ने 'मति विना मर्द अरु नूर विना नारी कहा'[2] तथा 'ग्वाली के रसिक कान्ह काली के दवन जू'[3] में सामन्ती धारणा को ही व्यक्त किया है। कृष्ण-वर्त्मानुयायी कवियों 'किहिं रस रसिक ढरै'[4] और चतुर्भुज दास तो रसिक गोपाल को रस के वश में ही मानते हैं।[5] विद्यापति की भांति परमानन्द भी प्रेम-कथा को ही 'अकथ-कथा' कहते हैं।[6] 'नागर' पुरुष परवर्ती रीतिकाल में 'रसिक' पुरुष बन गया। 'कृष्ण वर्त्म' को कवियों ने इतना अधिक आकर्षक पाया कि कुछ ने राम को भी रसिक बनाने में कसर नहीं छोड़ी।

आधुनिक काल का पूर्वार्ध राष्ट्रीयता का और उत्तरार्ध अन्तर्राष्ट्रीयता का है। राष्ट्रीयता में विराट पुरुष का स्वरूप 'राष्ट्र-पुरुष' बना और अन्तर्राष्ट्रीयता में 'विश्व-मानव'। राष्ट्रपुरुष के स्वरूप की अभिव्यक्ति सब से अधिक माखन लाल चतुर्वेदी की कविताओं में हुई। दिनकर की कविताओं में भी राष्ट्रपुरुष की विराटता के दर्शन की ललक है। राष्ट्र-धर्म धर्म का, राष्ट्र-प्रेम काम का, राष्ट्र-समृद्धि अर्थ का और राष्ट्र-मुक्ति, मुक्ति का प्रतीक बन कर पुरुष के पुरुषार्थ को स्पष्ट करते हैं। विश्व-धर्म, विश्व-काम, विश्व-समृद्धि और विश्व-मुक्ति अभी मानव के साध्य हैं। बौद्धिक युग के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के साथ साथ उसके विराट स्वरूप की उपलब्धि का आधार व्यक्ति ही हो सकती है। हिन्दी के एक मात्र प्रसाद जी ने ही वैदिक विराट पुरुष को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में शैव-दर्शन के आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कामायनी में किया है।

यद्यपि 'कृष्णवर्त्म' के प्रेम का आध्यात्मिक पक्ष धूमिल पड़ गया था, किन्तु प्रसाद जी ने शैव दर्शन के माध्यम से उसे पुनः महत्त्व प्रदान किया। नर-शक्ति-शिव का त्रिक कामायनी में अधिक स्पष्ट हुआ है, यह जीव-ब्रह्म की अद्वैतवादी उपनिषद् परम्परा से भिन्न नहीं है। शिव ही चेतन पुरातन पुरुष है, भेद बुद्धिपरक जीव ही नर है, श्रद्धा ही अनुग्रह स्वाभावा पराशक्ति है, वही पूर्ण काम की प्रतिमा है।[7] प्रेम से ही हृदय जाग्रत होता है। पराये में भी अपने पन की अभेद भावना जागती है; यह भेद में

---

१. ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥
रा० च० मा०॥

२. गंग कवित्त ३९६

३. वही १२

४. सूर सागर भाग २ पद ३५

५. रसिक गोपाल रसिक रस रिझवत।
चतु० पद २९६।

६. परमानन्द स्वामी की लीला अकथ कथा नहिं जानी।
परमानन्द सागर ३३७।
परमानन्द प्रेम कथा सबहिन ते न्यारी।
प० सा० १३१२।

७. वह चेतन पुरुष पुरातन, निज शक्ति तरंगायित था।
कामायनी पृ० ७७। तंत्रालोक भाग २ आ० ३।६८
उस ज्योति मयी को देव कहो, कैसे कोई नर पाता है।
का० पृ० ७७
थी पूर्ण काम की प्रतिमा। का० पृ० २९०
तत्र भेद प्रधानो नरः, भेदाभेद प्रधाना शक्तिः,
केवलमभेद प्रधानः शिव इति। परात्रिंशिका विवरण
पृ० ७३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति कराने वाली शक्ति है।[1] चेतन शिव के लीला-विलास को ही विश्व समझ लेने वाले के लिए विश्व-प्रेम और विश्व-कल्याण की ओर उन्मुख हो जाना सरल है। व्यिष्ट से समष्टि-प्रेम की ओर बढ़ना, शिवत्व एवं अपने आनन्दमय स्वरूप की उपलब्धि के लिए आरोहण करना ही है।[2] प्रसाद जी न संसार को दुःखमय मानते थे और न दुःख-नाश के उपाय सोचने को पुरुषार्थ; दुःख-सुख तो इस आनन्दमय विश्व के धूप-छांह मात्र हैं।[3] यह विश्व कर्म रंगस्थल है और दुःख सुख भूमा का मधुमय दान।[4] भेद बुद्धि का त्याग न करने वाला ही शैव दर्शन का पशु है, जिसे शिव की वामाशक्ति जकड़ लेती है।[5]

निष्कर्ष—

इन तथ्यों को ध्यान में रख कर कहा जा सकता है कि वैदिक 'पुरुष' कल्याण-पथ का पथिक, श्रेमाण और गतिशील था, किन्तु उत्तरोत्तर उसका विराट रूप वामन बनता चला गया है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् काल में पुत्र, वित्त और लोकैषणा ने उसे आधा, गृहस्थी, यथाक्रतु तो बना ही दिया है, वह 'अंगुष्ठ-पुरुष' मात्र रह गया है। बौनी प्रजा, राजा में ही अपने विराट स्वरूप का दर्शन करने लगी है। सूत्र काल में पुरुष का सामान्य रूप जीव, भौतिक विराट रूप ईश्वर या राजा तथा स्मरणीय रूप दिव्य पुरुष या ब्रह्म रह गया है। वह यज्ञ-मय होकर रह गया है। जीव दुखी है, वह कर्म फल का भोक्ता है, आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति ही पुरुषार्थ है; साधन कोई भी हो जीवन्मुक्ति ही साध्य है; दर्शनों की इस धारणा ने कर्मजन्य पौरुष का ह्रास कर पुरुष को संसार से पलायन की ओर उन्मुख किया। रामायण में वाल्मीकि ने राजा का उदात्त, गुणवान्, वीर्यवान् और लोक-संग्रही रूप प्रस्तुत कर तत्कालीन समाज के समक्ष एक बार पुनः वैदिक पुरुष के उत्तम रूप को प्रस्तुत किया। महाभारत तक आते आते पुरुष के भौतिक विराट रूप राजा का स्वरूप भी मलिन हो गया। राज्य-सत्ता व्यक्तिगत सुखोपभोग का साधन बन कर रह गयी थी और त्यागपूर्वक भोग का आदर्श ही नहीं लुप्त हो गया था अपितु अर्जुन जैसा वीर भी दिशा एवं लक्ष्य हीन बन कर रह गया था। गीता ने एक बार पुनः विराट पुरुष और मनुष्य के वास्तविक सम्बन्ध को उजागर किया। क्षर-अक्षर, लोक और श्रेष्ठ में भी उसने क्षर और लोक के देव और असुर रूप में दो वर्ग बना दिए। 'नृषु पौरुषम्' ही दिव्य पुरुष के बोध का प्रतीक रह गया। कौटिल्य ने राजा को 'भर्त्ता' बना दिया, फिर सामान्य जीव स्वाभाविक रूप से सेवक मात्र रह गया।

कालिदास की दृष्टि में हरि ही पुरुषोत्तम हैं, शेष क्षितीष, नृपति आदि। पुरुष का रूप 'मनस्वी' बना जो चार पुरुषार्थों में केवल अर्थ और काम का साधक रह गया। समुद्रवसना पृथ्वी और नारी की प्राप्ति ही पुरुषार्थ था, लोक-संग्रही रूप विलुप्त हो गया। जाति, वर्ण एवं सामन्तवादी व्यवस्था से पीड़ित पुरुष का स्वर सातवीं शती में 'दैवायत्तं कुले जन्ममदायत्तं तु पौरुषम्' के रूप में उभरता अवश्य है, पर सामन्ती-व्यवस्था ने इसे व्यक्ति-गत वीरता का प्रतीक बना कर अपने अनुकूल ढाल लिया।

सामान्ती व्यवस्था में आदर्श पुरुष वह था, जो योद्धा, राजा और मूर्तिमान् काम हो। विरक्त वर्ग का आदर्श सिद्ध था। स्वयंभू से विद्यापति तक पुरुष का यही रूप

---

१. प्रति फलित हुई सब आँखें, उस प्रेम ज्योति विमला से।
सब पहचाने से लगते, अपनी ही एक कला से॥
कामा० आनन्द०।
प्रेम-प्रेम सों होय, प्रेम सो पारहि जैए।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैए।
भ्रमर गीत १७। सूर

२. शिव समष्टि का होता है क्योंकि विश्वमय है
विश्वेश रहस्य प्रेम के ये उसके। प्रेम पथिक पृ० २६

३. एक घूंट, पृ० १६, कामायनी पृ० २४१

४. कामा० पृ० ७५, श्रद्धा सर्ग।
यो वौ भूमा तत्सुखम्। छान्दो० ७।२३।
शिवशक्ति सामरस्यमय जगदानन्द रूपम्।
तन्त्रालोक टीका पृ० ८४

५. तन्त्रालोक भा० ८। आ १३।३१४-१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्त हुआ है। विद्यापति के समय पुरुष नागर, नारी नागरी और प्रेमकथा, अकथ कथा बनी। प्रेम में कपटी के लिए 'कुपुरुष' भी प्रयुक्त हुआ। सन्त और सूफी भी इस अकथ-कथा से अप्रभावित नहीं रहे। जायसी ने साहस को, उच्चारोहण को पुरुष के पौरुष का प्रतीक अवश्य माना। तुलसी ने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप को सामने अवश्य रखा। यह निगमागम का प्रभाव था।

'कृष्ण वर्त्म' ने पुरुषोत्तम को मायिक मनुष्य वेशभृत् मान कर पुरुष को भोगिनाथ और नारी को भोगिन्यः बना दिया। इसने पुरुष को रसिक और नारी को रसिकनी बना दिया। माया के आवरण ने पुरुष के आलोकमय रूप को आवृत कर लिया।

आधुनिक काल 'राष्ट्रपुरुष' और विश्व मानव की धारणा को लेकर चला। प्रसाद ने प्रथम बार शिव को पुरातन पुरुष, जगत को उसकी लीला, भेद बुद्धि वाले को नर, आनन्द शक्ति को श्रद्धा या कामायनी तथा श्रद्धाविहीन को पशु रूप में चित्रित किया। शैव दर्शन के आधार पर उन्होंने प्रेम कला और काम कला को हृदय के विस्तार की प्रेरणाशक्ति के रूप में प्रस्तुत कर उसका रीतिकाल से भिन्न रूप दिखलाया। शिव ही विश्वेश और विश्व मानव है, और शिवत्व की उपलब्धि ही पुरुषार्थ है। प्रसाद का 'पुरुष आलोकमय, मंगलमय, चेतनामय, समरस, अखंड, इच्छा-क्रिया-ज्ञान का केन्द्र बिन्दु और आनन्द वेश है। वही कह सकता है—

हम केवल एक हमी हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो,
जिसमें कुछ कमी नहीं है। कामा० पृ २८७
'दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव कहरे! यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता॥
कामा० २८९, अष्टम संस्करण।

प्रसाद ने जिस आरोहणशील पुरुष की अवतारणा की है, वह राष्ट्रीयता की संकीर्ण सीमा से आबद्ध नहीं विश्वमानवता की व्यापक सीमा में व्याप्त वैदिक विराट पुरुष ही है।

हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में चेतना के धरातल पर इस विराट पुरुष के अवतरण के बाद भी यह प्रक्रिया मन्द नहीं पड़ी है। आत्म स्वार्थ और लोक क्षेत्र में ही नहीं राष्ट्र-स्वार्थ और विश्व-कल्याण में अब भी संघर्ष चल रहा है तथा पुरुष की द्विविध प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। पुरुष गतिशील तो है, पर उसकी गति अधः और ऊर्ध्व दोनों ओर ही है। पन्त ने अपने काव्य में इन दोनों प्रवृत्तियों का अत्यन्त स्पष्ट चित्रण किया है। पुरुष को अपने विराट स्वरूप को प्राप्त करने के लिए मनु की तरह प्रचुर संघर्ष करना है। पन्त के ही शब्दों में—

जाति वर्ण गौरव से पीड़ित वर्ग राष्ट्र स्वार्थों में सीमित।
जन समुद्र रे आज अचेतन अधः प्रवेगों से आन्दोलित॥
वार्धक्य।

फ्रायड के से नर-नारी, गत रीति-काव्य में मूर्तित।
उपमन कुंजों में करके, निज काम ग्रंथियां मुंचित॥
लोकायतन पृ. १५२

अचेतन उपचेतन के चित्र, मात्र अति वैयक्तिक उच्छ्वास।
रेंगती कला पंक कृमि तुल्य, अधोमुख कुत्सित बुद्धि विलास॥
लोका० २७८

जाति, वर्ण, वर्ग, राष्ट्र के स्वार्थों से जन-समुद्र पीड़ित है। फ्रायड के अनुयायी कवियों ने अचेतन, उपचेतन के चित्र अंकित करने प्रारम्भ कर दिए हैं। काम ग्रंथियों को कला का रूप देना अधोमुखी बुद्धि-विलास की ही अभिव्यक्ति है। कुण्ठा, संत्रास आदि को पुरुष का पौरुष क्यों सहेगा। आज का मानव नभ-ग्रह चारी बन कर धरा से ऊपर ब्रह्माण्ड के विविध छोरों को स्पर्श करने लगा है। सारा विश्व ही तीव्रता से गतिशील है—

बदलता रभस वेग से विश्व,
मनुज के तन, मन, जीवन, प्राण।
महत् युग चित्रपटी में वेग,
चेतना का अजेय आख्यान॥ लोका० पृ.२५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तो मानव की गति-मति पर निर्भर करता है कि कि वह देव या दनुज बने—

यह मानव मति गति पर निर्भर,
वह हो देव दनुज के आश्रित।

आत्म हीन मानवता त्यों ही,
दानवता की प्रतिमा कुत्सित ।। नव निर्माण ।।

चेतना के धरातल पर ही विराट पुरुष के विराट रूप को प्रस्तुत करना प्राथमिक आवश्यकता है। मानव और मानवता-प्रेमी ही दिव्य-चेतना का सन्देश सुना सकता है।[1] सत्य और अहिंसा ही मानवीय स्पर्श भर सकते हैं; इस लिए पन्त ने महात्मा गाँधी को पुराण पुरुष के रूप में चित्रित किया है—

तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण हे चिर नवीन
पट पर पट उठा दिए मन से
कर नर चरित्र का नवोत्थान।
आए तुम मुक्त पुरुष कहने—
मिथ्या जड़ बन्धन, राम सत्य;
नानृतं जयति सत्यं, मा भैः,
जय ज्ञान-ज्योति तुमको प्रणाम ।।बापू के प्रति।

गा गा एकोऽहं बहुस्याम। बापू के प्रति।

इस नव-पुराण पुरुष ने सत्य अहिंसा का जो पथ दिखलाया, वही शिवत्व की ओर जाता है। आज का सत्याग्रह यही है कि मानवता में देश और जाति लीन हो जाँय।[2] पन्त ने 'प्रेमलय' और 'शक्तिपात' के प्रयोग द्वारा शिवत्व सिद्धि को ही पुरुषार्थ माना है—

जगत नहीं, मैं नहीं,
प्रेमलय में ईश्वर साकार। किरण वीणा।
जब भू मानव होगा संस्कृत,
शक्तिपात से मनः शिराएं होंगी झंकृत ।।
पौ फटने से पहले।

कवि का लक्ष्य सौन्दर्य में सत्य और सत्य में शिव की प्रतिष्ठा ही है। इसी से भू मानव संस्कृत होगा। इस सुसंस्कृत भू मानव से ही विराट पुरुष साकार होगा। समस्त विश्व एक मन्दिर बन जाएगा। सर्वक्षेम की तभी स्थिति आयेगी। पुरुष की गति का लक्ष्य भी यही है—

एक मनुज हो, एक धरा हो,
यही भागवत जीवन निश्चित। नव निर्माण।

अणु-संत्रस्त मानव के लिए कोई गति नहीं है और हिन्दी सहित सभी भारतीय कवियों को अपनी महती सांस्कृतिक देन को सामने रख कर ही विश्व मानव की प्रतिष्ठा करनी है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग भी नहीं है—

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।'

रीडर, हिन्दी-विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय।

---

१. मैं मानव प्रेमी। मैं दिव्य-चेतना का संदेश सुनाता।
गीत विहग। पन्त !

२. नव-निर्माण। पन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्यप्रदेश की प्रागैतिहासिक संस्कृति

डा० कृष्णदत्त वाजपेयी

आधुनिक अनुसंधानों के आधार पर भारतीय पुरावृत्त को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया गया है :

१. प्राक् ऐतिहासिक काल (ईसवी पूर्व चतुर्थ सहस्राब्दी के पहले का युग),

२. आद्यऐतिहासिक काल (ई० पू० चतुर्थ सहस्राब्दी से लेकर ई० पूर्व सातवीं शती तक का युग),

३. ऐतिहासिक काल (ई० पू० सातवीं शती से लेकर परवर्ती युग)।

उक्त तीनों कालों में से द्वितीय एवं अपेक्षाकृत तृतीय के बारे में विशेष जानकारी उपलब्ध है। पिछले सवा सौ वर्षों में देश के विभिन्न भागों में उत्खनन तथा शोध के जो कार्य किए गए हैं उनसे इन दोनों युगों की संस्कृति की जानकारी के लिए पुष्ट प्रमाण प्राप्त हुए हैं। उनके आधार पर देश के प्राचीन भूगोल, राजनीतिक इतिहास, धर्म, भाषा, साहित्य, कला और लोकजीवन पर प्रभूत प्रकाश पड़ा है।

जहाँ तक प्रागैतिहासिक संस्कृति का सम्बन्ध है, उसके बारे में हमारा ज्ञान अपर्याप्त है। इसका मुख्य कारण यह है कि उस युग के विषय में आधारभूत प्रमाण बहुत कम प्राप्त हुए हैं। उनके आधार पर ही प्रागैतिहासिक भारतीय संस्कृति की झांकी प्रस्तुत करने का प्रयास विद्वानों द्वारा किया गया है।

मध्यप्रदेश अपने नामानुसार भारत के बीच में स्थित है। इस प्रदेश के बड़े भाग पर विंध्य पर्वत अपनी शृंखलाएं फैलाए हुए है। इस प्रदेश की मुख्य नदी नर्मदा है, जिसके दक्षिण के भूभाग पर महादेव तथा सतपुड़ा नामक पर्वतमालाएं हैं। सतपुड़ा का एक प्राचीन नाम ऋक्ष पर्वत था।

नर्मदा के अतिरिक्त मध्यप्रदेश की अन्य बड़ी नदियां चंबल; सिंध, बेतवा, धसान, केन, टोंस, सोन और महा नदी हैं। पर्वत-मालाओं तथा नदियों के अतिरिक्त मध्य-प्रदेश-क्षेत्र का अधिकांश प्राचीन काल में जंगलों से ढका हुआ था। यहाँ न उत्कट गर्मी थी, न अधिक सर्दी। अतः यहाँ पशु-पक्षी बड़ी संख्या में रहते थे।

मानव ने भी आदिम काल से मध्यप्रदेश के भूभाग को निवास के लिए सुविधाजनक पाया। प्रागैतिहासिक युग में यहाँ मानव वस्ती का आरम्भ कब हुआ, यह निश्चित रूप से कहना सम्भव नहीं। अनुमानतः अब से, आठ या सात हजार वर्ष पहले यहाँ मनुष्य ने बसना प्रारम्भ किया। मानव के लिए यहाँ की जलवायु अनुकूल थी। साथ ही जीविका के लिए पशु-पक्षी तथा कंदमूल-फल बड़ी संख्या में इस क्षेत्र में उपलब्ध थे। प्रागैतिहासिक मानव के लिए प्राचीन साहित्य में शबर, निषाद आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं। इन मानवों के कुछ शरीर-अवशेष उन पर्वत-गुफाओं में मिले हैं जहाँ वे रहते थे। रायसेन जिला के खरवई नामक स्थान की गुफाओं में आदिम जनों की कई खोपड़ियां प्राप्त हुई हैं।

प्राचीन मध्यप्रदेश में आदिम जन घने वृक्षों के नीचे या उनकी शाखाओं पर अथवा पहाड़ों की कंदराओं (शिलाश्रयों) में रहते थे। अपना उदर-पोषण वे प्रायः शिकार से करते थे। शिलाश्रयों में रहने वाले लोग कभी-कभी गुफाओं की भीतरी छतों और दीवारों पर अनेक ढंग की रोचक चित्र-रचना करते थे। उनके द्वारा बनाए गए चित्र भारत में सबसे अधिक मध्यप्रदेश में प्राप्त हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। मंदसौर, शिवपुरी, नरसिंहगढ़, सीहोर, रायसेन, होशंगाबाद, सागर, छतरपुर, पन्ना, रीवा, अम्बिकापुर तथा रायगढ़ जिलों के अनेक स्थानों में इन आदिम जनों के निवास के अवशेष मिले हैं। इनमें पत्थर के अनेक प्रकार के औजार तथा मिट्टी के बर्तन भी हैं। उन लोगों के बनाए हुए चित्रों में से बहुत से आज भी उनके द्वारा सैकड़ों वर्ष पूर्व आवासित गुफाओं में सुरक्षित हैं। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर तथा बांदा जिलों के कई पर्वतीय स्थानों में भी ऐसे अनेक गुफा-चित्र उपलब्ध हैं।

मध्यप्रदेश में उल्लेखनीय गुफा-चित्र निम्नलिखित स्थानों से मिले हैं :

होशंगाबाद जिला में आदमगढ़, पचमढ़ी तथा बोररानी; सीहौर में बरखेड़ा और भोपाल; रायसेन जिला में खरवई, हाथीपोल एवं पुतलीकरार; सागर में आबचंद, नरयावली तथा बरौदा छतरपुर में देवरा और रायगढ़ जिला में सिंहनपुर एवं कबरापहाड़।

इन स्थानों में बहुसंख्यक मनोरंजक गुफाचित्र मिले हैं। कहीं-कहीं उनके पुराने चटकीले रंग आज भी सुरक्षित हैं। कुछ पर बाद के युगों में रंग चढ़ाए गए और परवर्ती चितेरों ने इस प्रकार पुराने चित्रों पर अपनी कारीगरी दिखाई।

अधिकांश गुफा-चित्रों में लाल, सफेद, काला, नीला या पीला रंग प्रयोग में लाया गया। कई जगह भित्तियों पर पहले लाल या सफेद रंग की पृष्ठभूमि देकर उस पर चित्र उरेहे गए। प्राचीन गुफा-चित्रों से वहाँ निवास करने वाले लोगों की जीवन-चर्या तथा रुचि का पता चलता है। मुख्यतया जो दृश्य इन चित्रों में मिलते हैं वे हैं : विविध आयुधों से पशु-पक्षियों का शिकार, जानवरों की लड़ाई, मानवों में पारस्परिक युद्ध, पशुओं पर सवारी, गीत, नृत्य, पूजन, मधु-संचय तथा घरेलू जीवन सम्बन्धी अनेक दृश्य मिलते हैं। जिन जानवरों का शिकार किया जाता था वे बाघ, हिरण, भैंसा, बैल, हाथी, गैंडा, शूकर आदि थे। ये जानवर मध्यप्रदेश के गुफा-चित्रों में विशेष रूप से मिलते हैं। इनके अतिरिक्त रीछ, कुत्ता, बकरी, बन्दर, मोर आदि भी मिले हैं।

जिन गुफाओं में आदिमजन रहते थे वहाँ अनेक पशु-पक्षियों की हड्डियां भी मिली हैं। मिर्जापुर की गुफाओं में सुअर के शिकार के कई रोचक चित्र हैं। शिकार तथा रक्षा के लिए जिन आयुधों का प्रयोग किया जाता था उनमें भाला या बरछा, धनुष-बाण, चक्र, तलवार तथा ढाल मुख्य हैं। कुछ चित्रों में युद्ध करते हुए लोगों को एक हाथ में मूंठदार तलवार तथा दूसरे में ढाल लिए हुए प्रदर्शित किया गया है। परवर्ती काल के कुछ चित्रों में युद्ध के ऐसे दृश्य मिले हैं जिनमें घोड़ों पर सवार सरदार अपने सिर के ऊपर छत्र लगाए जा रहे हैं। उनके आगे-पीछे अन्य लोग हाथों में तलवार आदि आयुध लिए हुए पैदल चल रहे हैं। कई जगह शिकारियों और योद्धाओं के विचित्र पहनावे मिले हैं। बरोदा गाँव (जिला सागर) के समीप एक गुफा-चित्र में एक योद्धा शकों-जैसी ऊंची टोपी और लम्बा कोट पहने दिखाया गया है। अनेक चित्रों पर हाथी पर सवार लोग दिखाए गए हैं। व्याघ्रों (बाघों) के चित्र मध्यप्रदेश की अनेक गुफाओं में बड़ी संख्या में मिलते हैं। इस प्रदेश में बाघ बहुत थे। आबचन्द में एक स्थान पर चार भयंकर बाघ खड़े दिखाए गए हैं। उनके बीच एक पुरुष खड़ा है। दो बाघों की आपस में लड़ाई भी कई स्थानों पर चित्रित है। एक चित्र में दो हाथियों का युद्ध दिखाया गया है।

उक्त चित्रों से पता चलता है कि प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक परम्परा प्रारंभिक इतिहास-युग में भी जारी रही। लोकजीवन की यह धारा इस प्रदेश में दीर्घ-काल तक प्रवाहित होती रही।

बरखेड़ा, खरवई, रायसेन, पचमढ़ी आदि की गुफाओं में विविध पशु-पक्षियों के मनोरंजक चित्रण मिले हैं। इनमें से कुछ पालतू बना लिए गए थे। आबचन्द में एक स्थान पर एक व्यक्ति बैल को रस्सी से खींचता हुआ दिखाया गया है। लम्बी सींग वाले अरना (आरण्यक) भैंसे तथा विविध प्रकार के मृगों के चित्रण अधिक मिलते हैं। होशंगाबाद के समीप आदमगढ़ गुफा में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशालकाय अरना भैंसा चित्रित है। भैंसे का इतना बड़ा चित्र अन्यत्र नहीं मिला।

आमोद-प्रमोद तथा घरेलू जीवन-सम्बन्धी विविध दृश्य इन चित्रों में मिलते हैं। लोगों में नृत्य और संगीत का शोक था। पचमढ़ी-वर्ग के चित्रों तथा रायगढ़ और सागर जिलों के गुफा-चित्रों में कई स्त्री या पुरुष एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए नृत्य की मुद्रा में खड़े दिखाए गए हैं। कई स्थानों पर नृत्य-मुद्रा में सात स्त्रियों या पुरुषों का आलेखन है। सात की संख्या का प्राचीन चित्रकारों के लिए विशेष महत्व जान पड़ता है। वाद्य-यंत्रों में बड़ी और छोटी ढोलकें, बांसुरी, सितार आदि मिले हैं। पचमढ़ी तथा रायगढ़ के चित्रों में मधुमक्खियों को भगा कर मधु इकट्ठा करने के दृश्य हैं। बनियावेरी (पचमढ़ी) की एक गुफा में शाखाओं पर खेल करते हुए शाखामृग (बन्दर) दिखाए गए हैं। नरयावली (जिला सागर) के एक गुफाचित्र में नटों को अनेक करतब दिखाते हुए अंकित किया गया है। वर्तन, भांड़े, डलिया, मोढ़े आदि के आलेखन कई प्राचीन गुफा-चित्रों में मिले हैं। कुछ चित्रों में कल्पवृक्ष, सूर्य, चंद्र, स्वस्तिक आदि प्रतीक प्रदर्शित हैं। बरखेड़ा में यज्ञ, शिव, गणेश, कार्तिकेय, देवी आदि के चित्र उल्लेखनीय हैं। इनमें से कई प्रारंभिक ऐतिहासिक युग के हैं। मध्य-प्रदेश के ये प्राचीन गुफा-चित्र यहाँ के आदिम वासियों की जीवन की कितनी ही मनोरंजक गाथाएं आज तक संजोए हुए हैं।

नर्मदा, चंबल, वेतवा, सोन आदि नदियों तथा उनकी सहायिकाओं के तटों से पाषाण तथा धातु के बहुसंख्यक उपकरण मिले हैं। विभिन्न शैलियों के आधार पर इन उपकरणों को पूर्व, मध्य तथा नव पाषाण-युगों का माना गया है। इनका उपयोग आयुध रूप में तथा दैनिक जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता था। प्राचीन शैलगृहों से भी ऐसे उपकरण मिले हैं।

इन उपकरणों की बहुत बड़ी संख्या इस बात का प्रमाण है कि मध्यप्रदेश में अनेक भागों में प्रागैतिहासिक तथा आद्यैतिहासिक युगों में लोग रहते थे। द्वितीय काल में लोगों को कृषि तथा पशुपालन का ज्ञान हो गया था। पत्थर के बेडौल तथा सुगढ़ औजारों के अतिरिक्त इस काल में मानव को तांबे का ज्ञान भी हो गया था। तांबे के बहुसंख्यक उपकरण मध्यप्रदेश के बालाघाट जिले में गुंगेरिया नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं। इतनी बड़ी संख्या में तांबे के प्रागैतिहासिक हथियार तथा औजार भारत में अन्यत्र नहीं मिले।

प्राचार्य तथा अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृत तथा पुरातत्व विभाग,
सागर विश्व विद्यालय,
सागर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छायानाट्य विमर्श

डा० रामजी उपाध्याय

संस्कृत के जिन नाटकों में आवश्यकतानुसार वास्तविक पात्र के स्थान पर उसकी छाया का समावेश किया है, उन्हें तेरहवीं शती से छायानाटक नाम देने की रीति चली। पात्रों की छाया से तात्पर्य उनकी परछाई नहीं है, अपितु बनावटी पात्र हैं, जिन्हें छायापात्र या मायापात्र कहना समीचीन है। छायापात्र पांच प्रकार के होते थे—

१. माया (इन्द्रजाल) के द्वारा किसी पात्र के सदृश पात्र बनाकर उसे रंगमंच पर मूल पात्र की भाँति आचरण कराया जाता था, जैसे दूतांगद में सीता के स्थान पर मायामैथिली।

२. मूल पात्र के स्थान पर उसकी ऐसी मूर्ति रंगमंच पर रख देना, जिसे दर्शक ही नहीं, रंगमंच के पात्र भी यह न समझ सकें कि यह मूल पात्र से भिन्न है। जैसे धर्माभ्युदय में संन्यास लेने के पश्चात् राजा दशार्णभद्र के स्थान पर उसकी मूर्ति।

३. मूलपात्र या पात्रों का चित्र। यह उनसे सम्बद्ध किसी घटना का चित्रपट पर आलेखन होता था। यथा उल्लाघराघव के सप्तम अंक में वृकमुख राम और लक्ष्मण का स्वरूप चित्रपट पर अंकित करके उसके नीचे राम, सुग्रीव, विभीषण और जाम्बवान् का संवाद लिखकर कार्पटिक को पढ़ने के लिए देता है, जिसे वह रंगमंच पर प्रेक्षकों को पढ़कर सुनाता है।

४. मूल पात्र का अपनी वेशभूषा परिवर्तित करके अपना नाम, गोत्रादि बदलकर प्रायः अज्ञात रहकर कार्य करना। यथा सुभद्रापरिणयन में अर्जुन तीर्थयात्रा करते हुए प्रच्छन्न रह कर सुभद्रा का अपहरण करता है।

५. अमानव की भूमिका में मानव पात्रों का रंगमंच पर आना। यथा शामामृत में हरिणादि पशुओं की भूमिका में मनुष्य-पात्रों का संवाद में भाग लेना।

दूतांगद, धर्माभ्युदय, उल्लाघराघव, सुभद्रा परिणयन और शामामृत के लेखकों ने अपनी-अपनी कृतियों को छाया नाटक कहा है। क्यों? यह गत पचास वर्षों से विवादास्पद प्रश्न रहा है, जिसका समाधान प्रस्तुत है।

अब तक प्रायः विद्वानों ने छाया-नाटकों में छायात्मक (परछाई का) अभिनय ढूँढ़ने का प्रयास किया है और निराधार प्रमाणों से त्रुटिपूर्ण सुझाव दिए हैं। कतिपय विद्वान् छाया को सार या संक्षिप्त संस्करण समझकर दूतांगदादि को बड़े नाटकों का सारभूत बताते हैं। ये मत अप्रामाणिक और निराधार हैं।[1]

डा० कीथ का मत है—

It is natural to suggest, as did Pischal that the Dutanganda of Subhata, which is styled a Chayanataka, really was a shadow. On the other hand, Rajendralalamitra suggested that the drama was perhaps simply intended as an enteracte, and this may be justified on the interpretation of the term of drama in the from of a shadow, i.e. reduced to the minimum for representation in such a form. Sanskrit Drama. P. 269.

डा० डे का मत है—

While the connotation of the term Chayanataka itself is extremely dubious, the shadow-play theory, however, appears to be entirely uncalled for and without foundation, and there is hardly any characteristic feature which is not otherwise intelligible by purely historical and literary considerations. History of Skt. Lit. P. 501.

If we leave aside the self-adopted title of Chayanataka, these plays do not differ in any respect from the ordinary play. Ibid P. 504.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छाया क्या है—यह समझने के लिए नीचे लिखी विवस्वान् और सरण्यू (संज्ञा) की कथायें उपादेय हैं—

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद्यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ।।

ऋग्वेद १०-१७-२

सृष्ट्वा मर्तुः परोक्षं तु सरण्यूः सदशीं स्त्रियम् ।
निक्षिप्य मिथुनं तस्यामश्वा मूत्वोपचक्रमे ।।

बृहद्देवता ७-७-१

ततस्तेजोमेयं रूहमसहन्ती विवस्वतः ।
नारीमुत्पादयामास स्वशरीरादनिन्दिताम् ।।
ततस्तेजोमयं रूपमसहन्ती विवस्वतः ।।
नारीमुत्पादयामास स्वशरीरादनिन्दिताम् ।
त्वाष्टीस्वरूपेण नाम्ना छायेति भामिनी तदा ।।
किंकरोमीति पुरतः स्थितां तामभ्यभाषत ।
छाये त्वं मम भर्तारमस्मदीयं वरानने ।।
अपत्यानि मदीयानि मातृस्नेहेन पालय ।
तथेत्युक्तवा तु सा देवमगमत् कापि सुव्रता ।।
कामयामास देवोऽपि संज्ञेयमिति चादरात् ।
जनयामास तास्यां तु पुत्रं च मनुरूपिणम् ।।

मत्स्यपुराण ११-४-८

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद की सवर्णा, बृहद्देवता की सदृशी स्त्री और मत्स्य पुराण की छाया समानार्थ हैं और छाया का अभिप्राय समान स्त्री या पुरुष है, जो माया (इन्द्रजाल) द्वारा बनाया गया हो ।

छाया का उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग हरिवंश में नीचे लिखे पद्य में मिलता है—

माययास्य प्रतिच्छाया दृश्यते हि नटालये
देहार्धेन तु कौरव्य सिषेवेऽसौ प्रभावतीम्

विष्णुपर्व ९४-३०

अर्थात् माया के द्वारा प्रद्युम्न की प्रतिच्छाया उस भवन में दिखाई देती थी, जहाँ वह नटों के साथ रह चुका था । वास्तविक शरीर से वह प्रभावती के साथ रहता था ।

आरम्भ में छाया का मत्स्यपुराणीय अर्थ छायानाटक नाम रखने में ग्रहण किया गया है । शनैः शनैः किसी भी प्रकार के सादृश्य से लक्षित पात्रों, मूर्तियों या चित्रों वाले नाटकों को छायानाटक नाम दिया गया, जैसा इस निबन्ध के आरम्भ में लिखा गया है ।

संविधानक

संस्कृत नाटकों के नाम उनके संविधानक के नाम पर भी रखने की रीति रही है । इस नामकरण पद्धति का उल्लेख कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में इस प्रकार किया है—

अद्भुतं पुनिरिदं यत् सारस्वत-संविधानकलक्षण—साक्षरेण नाना सुनिवेश्यते । यथा—अभिज्ञान शाकुन्तल—मुद्राराक्षस—प्रतिमानिरुद्ध—मायापुष्पक—कृत्यारावण—छलितराम—पुष्पदूषितकादीनि नामानि ।

वक्रोक्तिजीवित पृष्ठ २२५

छायानाटकों में छाया संविधानक है । वास्तव में छायानाटक एक कोटि है । नाटकों के नाम तो कुछ और ही हैं ।

नाटकों में अनेक संविधानक रहते हैं । प्रायः प्रत्येक अंक में एक संविधानक होता है, जिसके अनुसार उस अंक का नाम रखा जाता है ।

भवभूति ने उत्तररामचरित के प्रत्येक अंक का नाम उसके संविधानक के अनुसार रखा है । इस नाटक का तृतीय अंक छायाअंक है । अनेक संविधानकों में से किसी एक को कवि कलात्मक दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानकर उसके अनुसार नाटक का नाम रख देता है ।

भास ने प्रतिमा को प्रमुख संविधानक मानकर राम-चरित-विषयक नाटक का नाम प्रतिमा रखा, वैसे ही सीता की छाया (माया मैथिली) को संविधानक मानकर सुभट ने दूतांगद का छायानाटक कहा है ।

कूटघटना तथा छायापात्र

कूटघटना के प्रसंग में छायापात्र प्रायः प्रयुक्त किये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते हैं। जहाँ किसी काम को करने के लिए किसी पात्र की अपने मौलिक रूप में असमर्थता होती है, वहाँ उस पात्र के स्थान पर छायापात्र का प्रयोग देखा जाता है। दूतांगद में वास्तविक सीता अंगद से इस प्रकार की बातें नहीं कर सकती थी, जैसी मायामैथिली ने की।

कूट घटनाओं के लिए भास ने स्वप्नवासवदत्त में वासवदत्ता और यौगन्धरायण को प्रथम अंक से प्रायः अन्त तक छायापात्र बनाकर रखा है। किरातार्जुनीय में शिव का किरात बनना सुविदित है। कूट घटना के लिए रामचन्द्र के सत्यहरिश्चन्द्र में अनेक पात्रों का छाया पात्र बनना प्रत्यक्ष है। मुद्राराक्षस के अन्तिम अंक में चाणम्य ने राक्षस से बताया कि जिन्हें तुम चाण्डाल समझते हो, वे वस्तुतः सिद्धार्थक और समिद्धार्थक हैं।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेणी-संहार-नाटक एक मूल्यांकन

डा० ठक्कन मिश्र

सस्कृत साहित्य में नाटकों का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' 'नाटकान्तं कवित्वम्' इत्यादि वाक्यों में इसका महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। भरत मुनि ने नाट्य को 'नाट्य वेद' कह कर इसका महत्त्व वेदों के समान स्वीकार किया।

संस्कृत नाटकों का विकास-क्रम तथा वेणीसंहार का स्थान:

संस्कृत नाटकों का आरम्भ कब से हुआ इस सम्बन्ध में कोई भी सर्वसम्मत विचार निश्चित नहीं हो सका है। नाटकों के सम्बन्ध में प्राचीनतम ग्रन्थ भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' माना जाता है। इसमें रूपक के भेदोपभेदों तथा मंच आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। लक्ष्य-ग्रन्थों के निर्माण के बाद ही लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण होता है। अतः भरत मुनि के समय तक अनेक नाटकों का लिखा जाना तथा मंच पर उनका अभिनीत होना निश्चित है।

आदि काव्य वाल्मीकि-रामायण में नट, नर्तक आदि शब्दों का उल्लेख देखा जाता है। श्रीमद्भागवत में भी इसकी सत्ता का परिचय प्राप्त होता है। अग्निपुराण में तो 'नाटक निरूपणम्' नामक एक पृथक् अध्याय ही विद्यमान है। वहाँ रूपक के १० तथा उपरूपक के १८ भेदों का, सन्धियों, कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों का, विदूषक आदि नाटकीय पात्रों की स्थिति, वेष-भूषा आदि का भी विशद वर्णन किया गया है। इन वर्णनों से निश्चित है कि इस समय तक नाटक रचना तथा उनके अभिनय की परम्परा प्रचलित हो चुकी थी।

हरिवंश पुराण की एक कथा के अनुसार वज्रनाभ दैत्य की कन्या प्रभावती को प्राप्त करने के लिये श्रीकृष्ण की अनुमति से यादव लोग वज्रपुर में गये हैं। वहाँ उन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथावस्तु का अभिनय किया है। इस अभिनय को देखकर दैत्यगण अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं। उन्होंने अनेक प्रकार के वस्त्राभरण आदि यादवों को प्रदान किये। किस यादव ने किस पात्र का अभिनय किया था यह उल्लेख भी यहाँ वर्तमान है। हरिवंश पुराण की इस कथा से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियाँ भी अभिनय में भाग लेती थीं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुसार शिलालिन् नामक नटसूत्रकार हो चुके थे। इनका नाटकों के अभिनय की परिपाटी के सम्बन्ध में अपना विशिष्ट सम्प्रदाय था। महाभाष्यकार पतंजलि के उल्लेखानुसार 'कंसवध' तथा 'बलिवध' नामक नाटकों का अभिनय इस समय तक हो चुका था।

वात्स्यायन मुनि ने अपने 'कामसूत्र' में ६४ कलाओं का उल्लेख करते हुए २० वीं कला के रूप में नाटक को स्वीकार किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी नट, नर्तक, गायक, वादक आदि का उल्लेख वर्तमान है[1]।

उल्लिखित विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृत में नाटकरचना तथा उनके अभिनय की प्राचीनता असन्दिग्ध है। परन्तु उल्लिखित वर्णनों में निर्दिष्ट कोई भी नाटक आज उपलब्ध नहीं है। इन नाटकों के लेखकों का नाम भी आज ज्ञात नहीं है।

---

१. नट नर्तक गायक वादक वाग्जीवन कुशीलव शौभिका वा पूर्णप्रणिहिताः परमुपतिष्ठेरन्।।—कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, अधिकरण ७, अ० १७, प्रकरण १२२-२३, पृ० १८६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्ध कृतियों के आधार पर अधिकांश विद्वानों ने संस्कृत का प्रथम नाटककार 'भास' को स्वीकार किया है। कालक्रमानुसार संस्कृत नाटककारों में विशाखदत्त के पश्चात् भट्टनारायण का नाम आता है। महाभारत की सभी प्रमुख घटनाओं को इन्होंने अपने इस नाटक में समाविष्ट किया है।

कथावस्तु का मूलाधार तथा मूलकथा में परिवर्तन :

वेणीसंहार नाटक की कथावस्तु का मूल आधार महाभारत है। नाटकीय उपयोगिता को ध्यान में रखकर लेखक ने इसकी कथावस्तु तथा पात्रों के चरित्र में यत्र तत्र कुछ परिवर्तन भी किये हैं। इस नाटक के दुर्योधन की प्रणय-क्रीड़ा का प्रदर्शन, कर्ण-अश्वत्थामा-वाक्कलह, चार्वाक राक्षस का प्रपंच, आदि कुछ कथांश कवि-कल्पित हैं।

नाटक का नामकरण :

नाटक का नाम शास्त्र-सम्मत है। "नाटक का नाम तद्गत प्रमुख कथावस्तु का प्रकाशक होना चाहिये[1]।" 'वेणीसंहार' नाम ही स्पष्ट करता है कि इस नाटक में द्रौपदी-वेणी-बन्धन की कथा की प्रमुखता है। 'शब्द कल्पद्रुम' नामक कोष में इसे ७ अंकों का नाटक कहा गया है।[2] "हिन्दी विश्वकोष" में भी इसे ७ अंकों का ही नाटक माना गया है। वेणीसंहार की सभी मुद्रित तथा हस्तलिखित प्रतियों में सम्प्रति ६ अंक ही विद्यमान हैं। कहा नहीं जा सकता कि "शब्द कल्पद्रुम" जैसे प्रामाणिक कोष में ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है। कुछ विद्वानों ने 'वेणीसंहार' का अर्थ 'वेणीमोक्षण' स्वीकार किया है। किन्तु 'संहार' का बन्धन अर्थ ही उपयुक्त है। एक पाण्डुलिपि में इस नाटक का नाम 'वेणीसंवरणं नाम नाटकम्' लिखा हुआ है।

शास्त्रीय नियमों का निर्वाह :

प्रस्तुत नाटक में शास्त्रीय नियमों का अधिकांशतः निर्वाह हुआ है। रूपक के भेदों में से इसे नाटक की श्रेणी में माना जायगा। नाटक के लिये निर्दिष्ट सभी लक्षणों की चरितार्थता इसमें देखी जा सकती है।

प्रस्तुत नाटक में वीर रस की प्रमुखता है। प० चन्द्रशेखर शास्त्री ने "संस्कृत साहित्य की रूप-रेखा" में विवेचन करते हुए इस नाटक में करुण रस की प्रधानता मानी है तथा इस नाटक का नायक दुर्योधन को स्वीकार किया है। श्री गजेन्द्र गदकर ने भी शास्त्री जी के मत का समर्थन किया है। अन्य सभी विद्वानों ने इसमें वीर रस की प्रमुखता स्वीकार की है एवं इसका नायक युधिष्ठिर को स्वीकार किया है। वस्तुतः राज्यप्राप्ति रूपी फल का अधिकारी होने के कारण युधिष्ठिर ही शास्त्र-सम्मत इस नाटक के नायक कहे जायंगे। नायक के लिये निर्दिष्ट प्रायः सभी गुण युधिष्ठिर के चरित्र में वर्तमान हैं। इस नाटक के सभी पात्रों के चरित्र का विकास स्वाभाविक रूप में हुआ है। इसमें सन्धियों, कार्यावस्थाओं का निर्वाह भी शास्त्रीय-लक्षणानुसार हुआ है। अतएव नाट्यदर्पण, दशरूपक, साहित्यदर्पण आदि नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अधिकांशतः सन्ध्यंगों के उदाहरण वेणीसंहार नाटक से उद्धृत किये गये हैं।

वेणीसंहार नाटक में संकलन-त्रय का निर्वाह भी यथार्थ रूप में हुआ है। इसमें केवल १८ दिनों की घटनाओं का ही समावेश हुआ है। स्थान भी रण-भूमि, कौरव पाण्डव-शिविर तथा रण-भूमि के समीप में वर्तमान वह न्यग्रोध वृक्ष है जहां आहत अवस्था में दुर्योधन ने विश्राम किया था। दोनों पक्षों के शिविर तथा न्यग्रोध वृक्ष भी रण-भूमि के इतने निकट हैं कि वहाँ से रण-कोलाहल स्पष्ट सुनाई पड़ता है।

नाटककार का संक्षिप्त परिचय :

वेणीसंहार नाटक के रचयिता भट्टनारायण का मूल निवास स्थान कन्नौज था। चार अन्य ब्राह्मणों के साथ यह बंगाल में आकर रहने लगे थे। बंगाल के राजा

---

१. नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशनम्॥—साहित्यदर्पण ६।३३०।

२. वेणीसंहार : पुं० (वेण्याः द्रौपदीवेणिकायाः संहारो भीमेन मारितदुर्योधनशोणितेन मोचनं यत्र।) भट्टनारायण-कृत सप्तांकयुक्तः नाटकविशेषः शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थकाण्ड, पृ० ४६५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदिशूर या वीरसेन ने इन्हें यज्ञ-सम्पादनार्थ बुलाया था। उल्लिखित तथ्य को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महेशचन्द्र प्रसाद आदि प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। भट्ट-नारायण के १६ पुत्र हुए थे। इनमें से पाँचवा पुत्र निपु सम्पत्ति का अधिकारी बना था। भट्टनारायण को राजा आदिशूर ने कई गांव दिये तथा स्वयं भी थोड़े मूल्य से ही अनेक गांव इन्होंने खरीदे। इनका भी राजवंश चलता रहा। "क्षितीश वंशावली चरितम्" में इस वंश के राजाओं के नाम, राज्यकाल तथा अद्भुत कार्यों का वर्णन दिया गया है।

भट्टनारायण जाति से ब्राह्मण तथा गोत्र से शाण्डिल्य थे। इनकी जाति-सूचक उपाधि 'भट्ट' थी। 'मृगराज' उपाधि योग्यता-सूचक, राजप्रदत्त थी।

रचना-काल :

भट्टनारायण के स्थिति-काल के सम्बन्ध में विचारकों में बहुत मतभेद देखा गया है। ७ वीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर ११ वीं शताब्दी के अन्त तक इनका काल विद्वानों ने माना है। इतनी लम्बी सीमा किसी कवि के काल-निर्धारण के लिये उपयुक्त नहीं कही जा सकती है। ८ वीं शताब्दी में होने वाले वामन के ग्रन्थ में वेणीसंहार नाटक का श्लोक उदाहृत होने से भट्टनारायण के स्थिति-काल की परावधि ८५० ई० तक होनी चाहिये। इसी प्रकार ७ वीं शताब्दी से पूर्व के किसी काव्यकार के द्वारा भट्टनारायण अथवा उसके नाटक की चर्चा न होने के कारण इनके स्थिति-काल की पूर्वावधि ७५० ई० मानी जानी चाहिये। इस प्रकार वेणीसंहार कर्ता भट्टनारायण का स्थिति-काल ई० सन् ७५० से ८५० के मध्य में स्वीकार करना तर्क-संगत कहा जा सकता है। काल-निर्धारण के सम्बन्ध में 'अवन्ति सुन्दरी कथा' जिसे दण्डी-कृत कहा जाता है, का श्लोक[1] प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है। इनकी कृति एकमात्र 'वेणीसंहार नाटक' ही उपलब्ध हुई है। भट्टनारायण, नारायण भट्ट आदि के नाम से उपलब्ध ग्रन्थ तथा सुभाषित ग्रन्थों में संगृहीत सूक्तियां वेणीसंहार-कर्ता भट्टनारायण-कृत नहीं माने जा सकते।

भाषा-शैली, प्रकृति-चित्रण :

प्रस्तुत नाटक की भाषा-शैली नाटक की अपेक्षा श्रव्य-काव्य की दृष्टि से अधिक सफल हुई है। इसमें गौड़ी रीति को नाटककार ने प्रश्रय दिया है। युद्ध-मय वातावरण होने के कारण प्रकृति-चित्रण का यहाँ अवसर नहीं आया है। केवल द्वितीय अंक में वालोद्यान वर्णन में प्रकृति के सौम्य रूप का तथा यहीं वात्या-वर्णन में उसके कराल रूप का संक्षिप्त चित्रण देखा जाता है। अभिनय की दृष्टि से भी इस नाटक के अधिकांश स्थल सफल हैं।

अलंकार-योजना :

अलंकारों की योजना भी इस नाटक में सफल रही है। यद्यपि काव्य-शास्त्रियों ने 'नाटक में अलंकारों का स्थान' इस प्रश्न पर पृथक् विचार नहीं किया है। 'काव्य में अलंकारों का स्थान' इस विषय पर रोचक एवं तर्क-संगत ढंग से उन्होंने विचार किया है। परन्तु काव्य के भेद—श्रव्य-काव्य तथा दृश्य-काव्य में से नाटक दृश्य-काव्य के अन्तर्गत स्वीकृत होने से इस प्रश्न पर पृथक् विवेचन की आवश्यकता ही सम्भवतः उन्हें नहीं प्रतीत हुई। काव्य में अलंकारों का जो स्थान है, नाटकों में भी उनका वही स्थान काव्य-शास्त्रियों को सम्भवतः मान्य था। कालिदास, भवभूति आदि के नाटकों में भी अलंकारों की योजना वर्तमान है।

भरत मुनि ने नाटकाश्रय के रूप में उपमा, रूपक, यमक, दीपक, ये चार अलंकार स्वीकार किये हैं।[2] अतः नाटकों में अलंकारों का समावेश शास्त्र-सम्मत कहा जायगा। प्रस्तुत नाटक में उपमा, रूपक तथा काव्यलिंग

---

१. व्याप्तुं पदत्रयेणापि यशशक्तो भुवनत्रयम्।
तस्य काव्यत्रयव्याप्तौ चित्रं नारायणस्यकिम्॥
अवन्तिसुन्दरी कथा, श्लोक १७, पृ० २

२. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥
नाट्यशास्त्र, अध्याय १७, श्लोक ४३, पृ० २०६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलंकारों की योजना अधिक हुई है। वीर रसानुकूल उपमानों के चयन से भाव सशक्त तथा मूर्तिमान् बन गये हैं। युद्ध-वर्णन के अवसर पर गद्य में सांगरूपक की विशद योजना हुई है। ऐसे कुछ स्थल सामाजिकों को थकाने वाले प्रतीत होते हैं। किन्तु सामूहिक रूप से अलंकारों की योजना सफल हुई है। कतिपय स्थलों के अतिरिक्त अधिकांशतः अलंकार शोभाधायक बने हैं। उपमानों के चयन में कवि ने लिंग, वचन, विभक्ति आदि के साम्य का भी प्रायः ध्यान रखा है।

विभिन्न मान्यताएँ :

कवि अपने काल का प्रतिनिधि होता है। उसकी रचनाओं पर उस काल की मान्यताओं का प्रभाव भी प्रायः पड़ता ही है। परन्तु यह प्रभाव विशेषतः वहीं पड़ता है जहाँ वह कथावस्तु के क्षेत्र में स्वतन्त्र रहता है। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथावस्तु के आधार पर लिखे गये काव्य या नाटक में अपने काल की मान्यताओं को वह अधिक स्पष्ट रूप से चित्रित न करके यत्र-तत्र किंचित् संकेत मात्र दे पाता है।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु भी महाभारत से ली गयी है। कवि ने महाभारत ग्रन्थ में लिखित मान्यताओं का ही अधिकतर चित्रण किया है। अतः कुछ अधिक निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि इस नाटक में प्रदर्शित मान्यताओं का सम्बन्ध सर्वथा महाभारत से ही हैं अथवा भट्टनारायण के काल से भी।

महाभारत काल में प्रायेण द्वन्द्व युद्ध होता था। वैसे इसमें अपवाद भी आने लगे थे। अभिमन्यु का वध अनेक महारथियों ने मिल कर किया था। परन्तु ऐसे युद्ध निन्दा की दृष्टि से देखे जाते थे। प्रतिपक्षी को ललकार कर, सावधान बनाकर युद्ध किया जाता था। आहत, मूर्च्छित योद्धा पर प्रहार नहीं किया जाता था। वीर लोग प्रतिज्ञा-पूर्वक युद्ध किया करते थे।

प्रहार से अंगों की रक्षा के लिये सैनिक कवच, हस्तावाप, शिरस्त्राण आदि धारण करते थे। प्रत्येक योद्धा के रथ में विशिष्ट चिन्ह युक्त अपनी ध्वजा लगी रहती थी। इसी ध्वज चिन्ह के कारण अर्जुन कपि-ध्वज कहाते थे। युद्ध के आरम्भ तथा विराम की घोषणा राजा की ओर से की जाती थी। प्रस्तुत नाटक में प्रथम अंक में युधिष्ठिर ने युद्ध की घोषणा की है। पंचम अंक में भी युधिष्ठिर ने सायंकाल हो जाने के कारण युद्ध-विराम की घोषणा की है।

सेनापति के मारे जाने पर सैनिक युद्ध से लौट आते थे। पुनः अन्य सेनापति के अभिषिक्त हो जाने पर वे युद्ध में जाते थे। सच्ची वीरता की प्रशंसा शत्रु भी करते थे। वृषसेन के युद्ध-कौशल की प्रशंसा सबने की है। ऐसे युद्ध के अवसर पर दोनों पक्षों के योद्धा अपना-अपना युद्ध छोड़कर दर्शक बन जाते थे। वीरगति की महत्ता मान्य थी। सम्भवतः ब्राह्मण अवध्य माने जाते थे। परन्तु यह नियम भी सर्वत्र नहीं चरितार्थ था। ब्राह्मण द्रोणाचार्य का वध भी हुआ ही है। प्रतिपक्षी चुनने की स्वतन्त्रता सबको दी जाती थी।

इस समय समाज में द्यूत-प्रथा का प्रचलन था। द्यूत के दाव पर सम्पत्ति, बान्धव, यहाँ तक कि पत्नी को भी लोग लगा देते थे। ब्राह्मणधर्म की देश में या गौड़ देश में प्रतिष्ठा थी। स्वप्न के फलाफल पर जनता का विशेषतः स्त्रियों का विश्वास था। अंगस्पन्दन, विशेषेणअक्षिस्पन्दन के शुभाशुभ फल पर भी लोगों का विश्वास था। अरिष्ट-शान्ति के शास्त्रीय उपायों पर भी विश्वास किया जाता था। शाप तथा वरदान पर भी लोगों का विश्वास था। श्राद्ध-तर्पण आदि पितृकर्म में भी लोगों का विश्वास था।

भट्टनारायण की अन्य किसी कृति की उपलब्धि नहीं हुई। लेखक ने किसी नयी परम्परा को प्रश्रय नहीं दिया है। परन्तु नाटक के लिये निर्दिष्ट शास्त्रीय नियमों का निर्वाह इसमें अवश्य हुआ है। अतः शास्त्रीय-लक्षण-सम्पन्न वीररसप्रधान नाटकों में वेणीसंहार नाटक का महत्त्वपूर्ण स्थान कहा जा सकता है।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
एस० एम० जे० एन० कालिज,
हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेद के वृषभ और उक्षन् शब्दों का अर्थविचार

डा० रामनाथ वेदालंकार

वैयाकरणों के अनुसार वृषभ शब्द सेचनार्थक वृषु धातु से उणादि अभच्[1] प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इसमें प्रत्यय के किद्वत् होने से गुणाभाव तथा चित् होने से अन्तोदात्त स्वर रहते हैं। उक्षन् शब्द सेचनार्थक उक्ष धातु से उणादि कनिन्[2] प्रत्ययान्त निपातित होता है। लोक में इनका बैल अर्थ तो प्रसिद्ध ही है, इसके अतिरिक्त कोई भी पुंपशु, युवा पुरुष, श्रेष्ठ, ओषधिविशेष आदि अर्थों में भी ये प्रयुक्त होते हैं। ऋग्वेद में वृषभ शब्द विभिन्न विभक्तियों में कुल मिला कर १८३ वार तथा उक्षन् शब्द ३२ वार प्रयुक्त हुआ है।

बैल

बैल अर्थ में ये दोनों शब्द ऋग्वेद में आते तो हैं, पर अधिक नहीं। अग्नि को कहा गया है कि तुम्हारा शब्द वृषभ के समान है[3]। इन्द्र को वृषभ के समान भीम[4] कहा है। उषा का आगमन वृषभ के शब्द से जाना जाता है[5]। अग्नि अपनी ज्वालाओं को ऐसे ही प्रकम्पित करता है, जैसे वृषभ सींगों को[6]। इन्द्र तीक्ष्ण शृंगों वाले वृषभ के समान गर्जना करता है[7]। सिन्धु वृषभ के समान शब्द करती हुई बहती है[8]। वृषभ (बैल) तथा द्रुघण (लकड़ी की गदा) की सहायता से शत्रुसेनाओं को जीतने का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है[9]। अश्वियुगल जब अभीष्ट फल प्रदानार्थ दिवोदास के घर जाते हैं तब उनके रथ में वृषभ तथा शिशुमार वाहन रूप में नियुक्त रहते हैं[10]। प्लायोगि आसंग की दानस्तुति में कहा है कि वह दश सहस्र उक्षा दान में देता है[11]। इसी प्रकार प्रस्कण्व द्वारा दान में दिये गये सौ श्वेत उक्षाओं के विषय में वर्णन है कि वे ऐसे चमकते हैं, जैसे आकाश में तारे[12]। इन सब प्रसंगों में वृषभ तथा उक्षा शब्दों का स्थूल अर्थ बैल ही है।

अग्नि

ऋग्वेद में लगभग २० स्थलों में अग्नि को वृषभ कहा गया है। ३ स्थलों में उसे उक्षा नाम से भी स्मरण किया गया है। वृषभ या उक्षन् शब्द प्रायः अग्नि के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जिसका अर्थ है वर्षक अग्नि। कहीं-कहीं अग्नि को केवल 'वृषभ' न कह कर 'चर्षणीनां वृषभः'[13], 'स्तियानां वृषभः'[14] या 'क्षितीनां वृषभः'[15] कहा गया है, अर्थात् मनुष्यों पर अभिमत फलादि की वर्षा

---

१. ऋषिवृषिभ्यां कित्। उ० ३.४०३
२. श्वन्नुक्षन्पूषन्०। उ० १.१५७
३. १.९४.१०
४. ७.१९.१ तथा १०.१०३.१
५. ७.७९.४
६. ८.६०.१३
७. १०.८६.१५
८. १०.७५.३
९. १०.१०२
१०. १.११६.१८
११. ८.१.३३
१२. ८.५५.२
१३. ३.६.५
१४. ७.५.२
१५. १०.१८७.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाला, ओलों की वर्षा करने वाला, तथा भूमियों या प्रजाओं पर जल या सुखादि की वृष्टि करने वाला। अग्नि को सहस्र सींगों वाला वृषभ[1] तथा बहुत सी ग्रीवाओं वाला वृषभ[2] भी कहा गया है। इसे घृतपृष्ठ उक्षा[3] के रूप में भी चित्रित किया गया है।

यह वृषभ या उक्षा अग्नि पार्थिव यज्ञाग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय वैद्युताग्नि तथा द्युस्थानीय सूर्याग्नि तीनों के रूप में व्याख्यात किया गया हैं।। परमात्माग्नि, जीवात्माग्नि, प्राणाग्नि, संकल्पाग्नि आदि रूपों में भी इसकी व्याख्यायें होती हैं। वृषभ अग्नि के चित्रण के निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं :

यज्ञाग्नि :

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनि-
र्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम।
अनुष्वधमावह मादयस्व
स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्।।ऋग् २.३।११

"इस यज्ञाग्नि में मैं घृत का सिंचन करता हूँ। घृत इसका कारण है, उत्पन्न होकर यह घृत के ही आश्रय से रहता है, घृत ही इसका धाम है। हे वृषभ, तू हमारी प्रत्येक हवि के प्रति देवों का आवाहन कर, हमें आनन्दित कर, स्वाहापूर्वक दिए गए हमारे हव्य का वहन कर।"

समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तव श्रियम्।
वृषभो द्युम्नवाँ असि समध्वरेष्विध्यसे।।
ऋग् ५.२८.४

"हे यज्ञाग्नि, समिद्ध हुए तुझ तेजस्वी की श्री की मैं स्तुति करता हूँ। तू वृषभ है, तू यशस्वी है, तू यज्ञों में प्रदीप्त किया जाता है।"

वैद्युताग्नि या सूर्याग्नि :

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं
यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ
अधूनोत् काष्ठा अव शम्बरं भेत्।।
ऋग् १.५९.६

"वृषभ अग्नि के महत्त्व का मैं वर्णन करता हूँ जिस मेघसंहारक का मानवगण सेवन करते हैं। वह वैश्वानर अग्नि दस्यु को मार देता है, जलों को प्रकम्पित कर देता है, तथा मेघरूप शम्बरासुर का भेदन कर देता है।"

अग्निसूक्त के निम्न मन्त्र में एक महान् उक्षा का वर्णन किया गया है :

उक्षा महाँ अभि ववक्ष एने
अजरस्तस्थावितऊतिर्ऋष्वः।
उर्व्याः पदो निदधाति सानौ
रिहन्त्यूधो अरुषासो अस्य।।
ऋग् १.१४६.२

"एक महान् उक्षा (विशाल बैल) ने इन द्यावापृथिवी दोनों को अपने ऊपर उठाया हुआ है, तो भी वह जीर्ण नहीं होता तथा दर्शनीय बना हुआ खड़ा रहता है। वह पृथिवी के ऊर्ध्वप्रदेश (वेदि) में अपने पैरों को रखे है तथा इसकी लाल-लाल जिह्वायें ऊधस् (अन्तरिक्ष) को चाट रही हैं।" अग्निसूक्त में पठित होने से यह महान् उक्षा अग्नि ही है।

इन्द्र

ऋग्वेद में इन्द्र के लिए लगभग ६५ वार वृषभ शब्द प्रयुक्त हुआ है। उक्षा साक्षात् रूप से इन्द्र के लिए नहीं आया, यद्यपि एक स्थान पर सायण ने उक्षा का अर्थ इन्द्र किया है।[4] वृषभ कहीं इन्द्र का विशेषण बन कर आया है तथा कहीं स्वतन्त्र रूप से इन्द्र के पर्यायवाची के रूप में। कहीं-कहीं इन्द्र को 'जनानां वृषभः'[5], 'सतां वृषभः',[6]

---

१. ५.१.८
२. ५.२.१२
३. १०.१२२.४
४. द्रष्टव्य : ९.८९.३ का सायणभाष्य
५. १.१७७.१
६. २.१.३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतीनां वृषभः'[1], 'कृष्टीनां वृषभः'[2], 'क्षितीनां वृषभः'[3] तथा 'चर्षणीनां वृषभः'[4] भी कहा गया है। जल, सुख, मनोवांछित फल आदि का ववर्षक होने से तथा पशुओं में बैल के समान देवों में श्रेष्ठ होने से इन्द्र का वृषभ नाम है। इन्द्र स्वयं भी वृषभ है तथा वृषभ (बैल) के समान भीम भी।[5] इस इन्द्र रूपी वृषभ ने भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों लोकों को धारण किया हुआ है और यह अन्तरिक्ष से जलों को भी बरसाता है :

नि सामनामिषिरामिन्द्र भूमि
महीमपारां सदने ससत्थ ।
अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षम्
अर्षन्त्वापस्त्वयेह प्रसूताः ।। ऋग् ३.३०.९

भूमि के बैल के सींग पर टिके होने का पौराणिक विचार यहीं से लिया गया प्रतीत होता है।[6] अदिति द्वारा इन्द्र के जन्म का वृत्त वृषभ की पहेली के रूप में ऋग्वेद में इस रूप में वर्णित हुआ है :

गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागा-
मनाधृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम् ।
अरीळं वत्सं चरथाय माता
स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम् ।। ऋग् ४.१८.१०

अर्थात् "सकृत्प्रसूता गौ (गृष्टि) ने एक बैल को को जन्म दिया है जो बल में प्रवृद्ध है, अपराजेय है, मोटा-ताजा है, शत्रुओं से अनभिभूत है, तो भी वत्स है।" यह बूढ़ा बैल इन्द्र ही है।

इन्द्र के सम्बन्ध में एक विचित्र बात यह है कि वह केवल स्वयं ही वृषभ, वृषा या वृष नहीं है, अपितु उसका वज्र भी वृषा है, उसका रथ भी वृषा है, उसके वाहन हरि भी वृषा या वृषभ हैं, उसके आयुध भी वृषभ हैं, उसका पेय सोमरस भी वृषभ है और सोमरस के पान से चढ़ने वाला मद भी वृषा या वृषभ है :

वृषा ते वज्र उत ते वृषा रथो
वृषणा हरी वृषभाण्यायुधा ।
वृष्णो मदस्य वृषभ त्वमीशिषे
इन्द्र सोमस्य वृषभस्य तृप्णुहि ।। ऋग् २.१६.६

साथ ही इन्द्र का सोमपान का साथी अग्नि भी वृषभ है,[7] जिनसे सोमरस पीसा जाता है वे सिल-बट्टे (ग्रावा) भी वृषभ हैं, सोमरस को पीसने वाले अध्वर्यु भी वृषभ हैं, इन्द्र का अन्न भी वृषभ है,[8] इन्द्र के घोड़ों की रासें (रश्मियां) भी वृषभ हैं,[9] और इन्द्र का बल भी वृषभ है।[10]

सोम

ऋग्वेद में ११ वार स्पष्ट रूप से सोम को वृषभ कहा गया है। वृषभ सोम का रेतस् (रस) पाकर वत्स की मातृभूत धीतियाँ शब्दायमान हो जाती है।[11] जैसे भयंकर वृषभ बल दिखाने की इच्छा से अपने शृंगों को तीक्ष्ण करता हुआ दहाड़ता है, वैसे ही सोमरूप वृषभ भी अपने डंठल रूपी हरे-हरे सींगों को सिल-बट्टों पर तीक्ष्ण करता हुआ शब्द करता है।[12] जैसे वृषभ गोयूथ में जाता है, वैसे

---

१. ६.१७.२
२. ७.२६.५
३. ७.९८.१
४. ८.९६.४ तथा १८
५. १०.१०३.१
६. तुलनीय : उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ९.८३.३, उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति १०.३१.८, अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम् । अथर्व. ४.११.१
७. २.१६.४
८. २.१६.५
९. ६.४४.१९
१०. ६.१९.९
११. ९.१९.४
१२. ९.७०.७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही सोमरूपी वृषभ 'आपः' के समीप जाता है।[1] दस अंगुलियां ग्रावाओं द्वारा वृषभ सोम को जलों में दुहती हैं।[2] यह सोम सहस्र धारों से बहने वाला वृषभ है, जो ऋतजात है :

सहस्रधारं बृषभं पयोवृधं
प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे
राजा देव ऋतं बृहत् ॥ ऋग् ९.१०८.८

सोम उक्षा भी है। ऋग्वेद में ५ वार सोम-सूक्तों में में उसके लिए उक्षा शब्द आया है। उक्षा सोम जब निचोड़े जाने पर शब्द करता है, तब धेनुएँ (प्रीणयित्री स्तुतियाँ या आपः) उसके समीप जाती हैं।[3] इस पर्वतनिवासी (गिरिष्ठा) उक्षा को बुद्धिमान् लोग ऊर्ध्व स्थानों पर दुहते हैं।[4] यह सोम सिंधु की उत्ताल तरंगों में लहराने वाला उक्षा पशु है :

अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते
क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं
हिरण्यपावाः पशुमासु गृभ्णते ॥ ऋग् ९.८६.४३

पर्जन्य

ऋग्वेद में तीन स्थलों में पर्जन्य को वृषभ कहा गया है।[5] ये तीनों स्थल पर्जन्य-सूक्तों के ही हैं। एक अन्य मन्त्र में वात के साथ युगलरूप में पर्जन्य को वृषभ कहा गया है।[6] सायण ने कुछ अन्य स्थलों पर भी जिनमें देवता यद्यपि पर्जन्य नहीं है, वृषभ का अर्थ मेघ या पर्जन्य किया है।[7] एक स्थल में वह उक्षा का अर्थ भी पर्जन्य करता है।[8] पर्जन्य वर्षा करने के कारण या ओषधि रूप गौओं में रेतस् का आधान करने के कारण वृषभ कहलाता है। इस पर्जन्य रूपी वृषभ का आश्रय होने के कारण ही वेद में अन्तरिक्ष को 'वृषभस्य नीडः' कहा गया है।[9] पर्जन्य वृषभ का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है :

अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः
स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास।
कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू
रेतो दधात्योषधीषु गर्भम् ॥ ऋग् ५.८३.१

वायु और आदित्य

एक मन्त्र में सरस्वान् को वृषभ कहा गया है।[10] वहां सरस्वान् का अर्थ सायण ने जलकणों से युक्त वायु किया है। वात तो स्पष्ट रूप से ही वृषभ नाम से कथित हुआ है।[11] एक स्थल पर वायु के अश्वों को उक्षा कहा गया है, जो वायु को द्यावापृथिवी के मध्य में संचार कराते हैं तथा जिनकी गति मरुभूमि में भी अपहृत नहीं होती।[12] ऋग्वेद के अनुसार तीनों लोकों में एक-एक वृषभ स्थित है[13], जिसकी व्याख्या सायण ने इस रूप में की है कि पृथ्वी लोक का वृषभ अग्नि, अन्तरिक्ष का वृषभ वायु तथा द्युलोक का वृषभ आदित्य है। एक प्रकरण में एक ऐसे सहस्र-शृंग वृषभ का वर्णन है जो समुद्र में से उदित हुआ

---

१. ९.७६.५
२. ९.८०.५
३. ९.६९.४
४. ९.९५.४
५. ५.८३.१, ७.१०१. १ तथा ६
६. ६.४९.६
७. १.७९.२, ३.५५.१७, ४.१.११ तथा १२, ५.५८.६, ७.३६.३
८. ४.५६.१
९. ४.१.११
१०. ७.९५.३
११. १०.६५.९
१२. १.१३५.९
१३. ५.६९.२
१४. ७.५५.७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है।[14] व्याख्याकारों के अनुसार यह आदित्य ही है। उक्षा नाम से सूर्य का निम्न चित्रण बड़ा ही रोचक है :

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः
पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा
विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ।। ऋग् ५.४७.३

"सूर्य रूपी उक्षा है, जो तेज का समुद्र है, आरोचमान है, रश्मि रूपी सुन्दर पंखों वाला है, पूर्वदिग्वर्ती पिता आकाश के घर में प्रविष्ट हुआ है, मध्याह्न में आकाश के बीचोबीच स्थित हो जाता है, उसका नाम पृश्नि और अश्मा भी है, वह चङ्क्रमण करता रहता है और दिन के दोनों प्रान्तों उषा और सन्ध्या की पालना करता है।"

बृहस्पति, रुद्र और मरुत्

५ स्थलों में बृहस्पति[1] के लिए तथा ५ ही स्थलों में रुद्र[2] के लिए ऋग्वेद में वृषभ शब्द प्रयुक्त हुआ है। तीन स्थलों में मरुतों[3] को उक्षा कहा गया है। बृहस्पति रूप वृषभ का निम्न प्रसंग द्रष्टव्य है :

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा
बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न
आ रोदसी वृषभो रोरवीति ।। ऋग् ६.७३.१

"जो पर्वत (मेघ) को तोड़ डालने वाला है, प्रथम प्रसिद्ध है, सत्यमय है, अंगारों से उत्पन्न हुआ है, हवि ग्रहण करने वाला है, दोनों लोकों में निर्बाध संचार करने वाला है, तप्त यज्ञ में स्थित है, हमारा पिता है, वह वृषभ बृहस्पति द्यावापृथिवी में गर्ज रहा है।"

रुद्र वृषभ का नमूना भी देखिए :

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्
त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम्।
घृणीवच्छायामरपा अशीया
विवासेयं रुद्रस्य सुम्नम् ।। ऋग् २.३३.६

"मरुतों सहित वृषभ रुद्र ने मुझ प्रार्थी को तेजोमय गति से आनन्दित कर दिया है। जैसे सूर्य की धूप से व्याकुल मनुष्य छाया का सेवन करता है, वैसे ही मैं उस वृषभ की छाया (शरण) का सेवन करूं, मैं रुद्र के सुख को अपनाऊँ।"

मरुत् रूपी उक्षाओं का निम्न वर्णन भी कैसा चामत्कारिक है :

ते जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो
रुद्रस्य मर्या असुरा अरेपसः।
पावकासः शुचयः सूर्या इव
सात्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पसः ।। ऋग् १.६४.२

वे मरुत रूपी उक्षा आकाश से उत्पन्न हुए हैं, रुद्र के पुत्र हैं, असुर (प्राणदायक) हैं, पापरहित हैं, पावक हैं, सूर्य के समान पवित्र हैं, पुरुषों के समान एक ओर तो उदकबिन्दुओं वाले (दयालु) हैं, दूसरी ओर घोर रूप वाले हैं।"

इतर अर्थ

अन्य भी कतिपय अर्थों में ऋग्वेद के उक्षा तथा वृषभ शब्द प्रयुक्त उपलब्ध होते हैं। एक मन्त्र में आकाश में स्थित पाँच उक्षाओं का उल्लेख आया है।[4] ये वृषभ राशि के नक्षत्रपुंज के पाँच प्रमुख तारे प्रतीत होते हैं, यद्यपि सायण ने ये पाँच उक्षा इन्द्र, वरुण, अग्नि, अर्यमा तथा सविता अथवा अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत् बतलाये हैं। एक स्थान पर सायण ने उक्षा का अर्थ सेक्ता स्तोतृजन किया है।[5] सायण एक मन्त्र में उक्षा का वैकल्पिक अर्थ अश्व लेते हैं।[6] एक स्थल में उषाओं के वाहन अरुणी गौओं के लिए उक्षा शब्द का प्रयोग

१. १.१९०.१ तथा ८, ३.६२.६, ६.७३.१, १०.९२.१०
२. २.३३.४, ६, ७, ८, १५
३. १.६४.२, १.१६८.२, ५.५२.३
४. अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः। १.१०५.१०
५. ३.७.७
६. ६..६४.५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है[1]। एक प्रसंग में जहां द्यावापृथिवी के धारण का वर्णन है, सायण ने उक्षा का अर्थ हिरण्यगर्भ किया है।[2]

वृषभ एक मन्त्र में कुत्स[3] का विशेषण तथा एक मन्त्र में श्वित्र्य[4] का विशेषण बन कर आया है। मित्रावरुण को भी वृषभ कहा गया है[5]। सायण ने वृषभ के अर्थ यज्ञ[6], द्युलोक[7], प्रधान[8], रेतःसेक्ता पति[9], संवत्सर[10], स्तोत्र[11], दानी[12] तथा विक्रान्त कर्म[13] भी किये हैं। वृषभ पुंजाति[14] के लिए भी आता है।

एक अद्भुत वृषभ

ऋग्वेद में एक अद्भुत वृषभ का वर्णन आया है, जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं और सात हाथ हैं। वह तीन खूंटों से बंधा हुआ डकरा रहा है। वह महान् देव है, जो सब मनुष्यों के अन्दर आकर प्रविष्ट है। यह वर्णन यजुर्वेद में भी है[15]।

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥ ऋग् ४.५८.३

यास्कीय निरुक्त[16] के अनुसार यह वृषभ यज्ञ है। चार वेद ही उसके चार सींग हैं, प्रातः मध्याह्न तथा सायं के तीन सवन ही तीन पैर हैं। प्रायणीय तथा उदयनीय उसके दो सिर हैं। गायत्र्यादि सात छन्द हाथ हैं। वह यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण तथा कल्प इन तीन खूंटों से बंधा हुआ है। यज्ञ में होने वाला मन्त्रपाठ ही उस वृषभ का बोलना है। महाभाष्यकार पतंजलि के मत में यह वृषभ शब्द है। शब्द के चार भेद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ही इसके चार सींग हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान काल तीन पैर हैं। सुप् और तिङ् दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ सात हाथ हैं। उरस्, कण्ठ और सिर इन तीनों स्थानों में बंधा हुआ वह बोल रहा है, यतः तीनों स्थानों की सहायता से उच्चारित होता है।

सायण का कथन है कि इस सूक्त के अग्नि, सूर्य, अप्, गो तथा घृत ये पांच देवता होने से यह मन्त्र पंचधा व्याख्यात हो सकता है। यज्ञाग्नि तथा सूर्य के पक्ष में उसने व्याख्या प्रदर्शित भी की है। यज्ञपरक व्याख्यान प्रायः निरुक्त का ही अनुसरण करता है। सूर्यपरक व्याख्या के अनुसार चार दिशाएं सींग हैं, तीन वेद तीन पैर हैं, अहोरात्र दो सिर हैं, सात रश्मियां अथवा छः विलक्षण ऋतुएं तथा एक साधारण ऋतु सात हाथ हैं, तीन क्षित्यादि लोकों में अग्न्यादि रूप से संबद्ध है, अथवा ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त इन तीन द्वारा तीन रूपों में बद्ध है। वर्षक होने से वृषभ है तथा वृष्ट्यादि द्वारा शब्द भी करता है। प्राण, आत्मा, ब्रह्म, काव्यपुरुष, राष्ट्र आदि विषयक भी इसकी व्याख्यायें की गई हैं।

वृषभ-पाक

ऋग्वेद के दो स्थलों में वृषभ-पाक[17] का तथा अन्य दो स्थलों में उक्षा-पाक[18] का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग् १.१६४.४३ में कहीं दूर पर गोबर के उपले का धुआं दिखाई देने की चर्चा है। उसके विषय में कहा गया है कि वीरों ने उक्षा पृश्नि (चितकबरे बैल) को पकाया

---

१. ७.७९.१
२. १०.३१.८
३. १.३३.१४
४. १.३३.१५
५. ५.६३.३
६. १.१६६.१
७. १.१६०.३
८. २.३०.८
९ २.१६.८, १०.१०.१०, १०.४०.११
१०. ३.५६.३
११. ७.७९.४
१२. ८.९३.१ तथा ७
१३. १०..२८.३
१४. १०.५.७
१५. यजुः मा. वा. सं. १७.९१
१६. निरुक्तम १३.७
१७. १०.२७.२, २८.३
१८. १.१६४.४३, १०.८६.१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, उसी का यह धुआं है :

शकमयं धूममारादपश्यं
विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।।

सायण यहां वीर का अर्थ विविध विधियां करने-कराने वाले ऋत्विग् या देव तथा उक्षा का अर्थ सोमवल्ली करते हैं । प्रमाण रूप में उन्होंने एक वचन भी उद्धृत किया है[1] । उक्षा-पाक विषयक दूसरा मन्त्र १०म मण्डल के इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद में उपलब्ध होता है । वहां इन्द्र कहता है कि मेरे लिए याज्ञिक लोग पन्द्रह और बीस उक्षाओं को पकाते हैं तथा उन परिपक्व उक्षाओं से वे मेरी दोनों कुक्षियों को भर देते है, उससे मैं खूब मोटा हो गया हूँ :

उक्षणो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमस्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।। ऋग् १०.८६.१४

इससे पूर्व के मन्त्र में भी इन्द्र द्वारा उक्षाओं के खाये जाने का संकेत है[2], जहाँ सायण ने सेचनसमर्थ पशुओं (सांडों) के भक्षण का ही भाव लिया है[3] । प्रस्तुत मन्त्र में भी वह उक्षा का अर्थ पशु ही लेता है[4] । पर वस्तुतः यहां भी प्रकरणानुसार उक्षा का अर्थ सोम ही संगत ठहरता है । सूक्त के प्रारंभ में इन्द्र की पुत्रवधू वृषाकपायी ने इस बात पर रोष व्यक्त किया है कि याज्ञिक लोग सोमरस तो खूब अभिषुत करते हैं, पर उसे वे इन्द्र को नहीं पिलाते, जबकि वृषाकपि सोम पीकर आकण्ठ तृप्त हो जाता है[5] । १३वें मन्त्र में वृषाकपायी की उसी आपत्ति का उत्तर दिया गया है कि तुम चिन्ता न करो, अब तुम्हारे श्वसुर इन्द्र को बहुत से सोमरस (उक्षा) पान करने मिलेंगे ।[6] अतः १४वें मन्त्र में इन्द्र जिन १५ और २० पके हुए उक्षाओं को खाने की बात कर रहा है, वे सांड नहीं, प्रत्युत परिपक्व सोम के ही १५ और २० पात्र हैं । अन्यथा आपत्ति तो हो सोमरस न मिलने की और उसका परिहार किया जाये सांड खिलाकर, यह सर्वथा विसंगत प्रतीत होता है । अतः जैसे सायणाचार्य पूर्वोल्लिखित प्रसंग में उक्षा पृश्नि का अर्थ सोमवल्ली करते हैं, वैसे ही यहां भी करना उचित है । ऋग् ९.८६.४३ में तो 'उक्षणं पशुम्' शब्द आये हैं, तो भी सायण ने वहाँ बैल या सांड अर्थ न लेकर सोम अर्थ ही किया है, भले ही वहां उसे पशु का अर्थ द्रष्टा करना पड़ा है ।

निम्न मन्त्र में वृषभ के पाक का प्रसंग है । वसुक्र इन्द्र से कह रहा है कि जब मैं शरीर से पुष्ट होते हुए अदेवयु (अयाज्ञिक) लोगों को युद्ध के लिए ललकारूंगा तब आपके लिए मैं मोटा-ताजा वृषभ पकाऊंगा और उसमें तीव्र अभिषुत पन्द्रहवें सोम को भी सिंचित करूंगा :

यदीदहं युधये संनयानि
अदेवयून् तन्वा शूशुजानान् ।
अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि
तीव्रं सुतं पञ्चदशं निषिञ्चम् ।।
ऋग् १०.२७.२

यहाँ भी सायण ने वृषभ का अर्थ सेचनसमर्थ पुंपशु (सांड) किया है । किन्तु वस्तुतः यह वृषभ भी सोम ही है । चौदह सोमपात्रों का एक पात्र में एकत्र किया हुआ सोम 'वृषभ' है, जिसे पकाया जाता है तथा उसमें पन्द्रहवें पात्र का सोमरस भी निषिक्त कर दिया जाता है ।

अगले ही सूक्त में फिर वृषभ-पाक आता है :

अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान्
सुन्वन्ति सोमान् पिबसि त्वमेषाम् ।
पचन्ति ते वृषभां अत्सि तेषां
पृक्षेण यन्मघवन् हूयमानः ।। ऋग् १०.२८.३

वसुक्र इन्द्र से कह रहा है कि यजमान आपके लिए

---

१. सोम उक्षाभवत् पूर्वं तं देवाः शकृतापचन् ।
यज्ञार्थे तद्भवो धूमो मेघ आसीत् तदुच्यते ।।
२. घसत् त इन्द्र उक्षणः । १०.८६.१३
३. इन्द्रः उक्षणः सेचनसमर्थान्···पशून् घसत् प्राश्नातु ।
सायण
४. उक्षणः वृषभान् । सायण
५. विहि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा ।।
६. वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविः ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मदजनक त्वरित सोमों को ग्रावाओं से अभिषुत करते हैं तथा आप उनका पान करते हैं। वे आपके लिए वृषभ पकाते हैं तथा आप उनका भक्षण करते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में वसुक्रपत्नी ने ये उद्गार प्रकट किए हैं कि यज्ञ में अन्य सब देव तो आ गये, किन्तु मेरे श्वसुर इन्द्र नहीं आये, यदि वे आते तो धाना (भुने जौ) खाते और सोम पीते तथा पूर्णतः तृप्त हो कर घर जाते[1]। वे बैल या सांड खाते, ऐसा उसने नहीं कहा है। इतने में ही इन्द्र आ जाता है। तब वसुक्र ने उक्त तृतीय मंत्र का उच्चारण किया है कि आपके लिए सोमरस तथा वृषभ तैयार हैं। इस प्रसंग को देखते हुए यहाँ वृषभ का अर्थ धाना (यव) लेना ही उचित है। इन्द्र के अन्न का भी वृषभ नाम है, यह हम पहले देख चुके हैं। एवं 'पचन्ति ते वृषभान्' का अर्थ होगा कि आपके लिए यवों को भूनते हैं। अथवा पूर्ववत् वृषभ का अर्थ सोमवल्ली भी ले सकते हैं। इन्द्र सोमपान करता है तथा सोमवल्ली की पकाई हुई डंठलों का भक्षण करता है। इसी सूक्त में ११वें मन्त्र में उक्षा-भक्षण का उल्लेख आया है—'सिम उक्षणोऽवसृष्टाँ अदन्ति', जहाँ सायण ने उक्षा का सोम अर्थ ही लिया है[2]।

यह भी द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही इन्द्र का भोज्य धाना (भुने जौ), करम्भ (दही मिश्रित सत्तू) और पुरोडाश (अपूप) है तथा पेय सोमरस है[3], बैल उसका भोजन नहीं है। अतः वृषभ तथा उक्षा शब्दों को देखते ही तुरन्त बैल को पकाने की कल्पना कर लेना वेद के प्रति न्याय नहीं होगा। इन्द्र जिन परिपक्व वृषभों तथा उक्षाओं को खाता है वे भुने जौ, पुरोडाश या सोम ही हैं, बैल का मांस नहीं। वेद में इन्द्र को पुरोडाश तथा परिपक्व सोम भेंट करने की ही महिमा लिखी है[4], बैल खिलाने की नहीं।

उक्षा की आहुति

ऋग्वेद में चार बार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अग्नि में उक्षाओं की आहुति का उल्लेख आता है[5]। निम्न मन्त्र विशेषतः द्रष्टव्य है :

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो
वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे
हृदा मतिं जनये चारुमग्नये॥ ऋग् १०.९१.१४

यहाँ अश्व, वृषभ, वशा और मेष पशुओं के साथ उक्षा भी उल्लिखित है, और अग्नि का विशेषण सोमपृष्ठ पृथक् पठित होने से यहां उक्षा का अर्थ सोम भी नहीं हो सकता। परन्तु वस्तुतः इन पशुओं की अग्नि में आहुति अभिप्रेत नहीं है, अपितु ये पशु अग्नि को समर्पित कर सार्वजनिक हित के लिए उत्सर्ग कर दिए जाते हैं। मन्त्र में पठित 'अवसृष्टासः' पद इसी बात का ज्ञापक है। एक मन्त्र में यह भी कहा गया है कि अग्नि के लिए जो हम मन्त्रपूर्वक हृदय से संस्कृत हवियाँ देते हैं वे ही उक्षा, वृषभ और वशा हैं[6]। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि अग्नि केवल पार्थिव अग्नि ही नहीं है, अपितु उत्तर ज्योतियाँ विद्युत् और आदित्य भी अग्नि हैं[7]। सूर्य रूपी अग्नि के लोक द्यौ में अश्व, वृषभ, मेष आदि नामों वाले नक्षत्रपुंज आहुत करके छोड़े हुए हैं, यह भी मन्त्र का आशय हो सकता है। वेद में अग्नि का भोजन अश्व, वृषभ आदि पशु नहीं हैं, किन्तु समिधा और घृत ही

---

१. विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम ममेदह श्वसुरो नाजगाम। जक्षीयाद् धाना उत सोमं पपीयात् स्वाशितः पुनरस्तं जगायात्॥ १०.२८.१

२. उक्षणः अवसृष्टान् इन्द्रेण निसृष्टाननुज्ञातान् हविर्भूतान् सोमान् यज्ञेषु अदन्ति भक्षयन्ति। सायण

३. द्रष्टव्य : ऋग् ३.५२, जिसमें तीनों सवनों का पृथक्-पृथक् इन्द्र का भोज्य उल्लिखित है।

४. ऋग् ८.३१.१-४

५. २.७.५, ६.१४.४७, ८.४३.११, १०.९१.१४

६. ६.१६.४७

७. अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते। निरुक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है[1]। अतः अग्नि में पशुओं का होम करना निःसन्देह अवैदिक है।

उपसंहार

इस प्रकार हमने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद के वृषभ और उक्षन् शब्द, जो लोक में प्रायः बैल अर्थ को देते हैं, कितने विभिन्न अर्थों को अपने अन्दर गृहीत किये हुए हैं। अधिकतर हमने इस लेख में ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही विचार किया है। स्वयं ऋग्वेद ही जिन अग्नि, इन्द्र, सोम, सूर्य आदि को स्पष्ट रूप से वृषभ या उक्षा कहता है, उन्हीं को हमने लिया है। ये वृषभ या उक्षा शब्द से वाच्य अग्नि, इन्द्र आदि कौन हैं, इस विषय को यहाँ नहीं छेड़ा गया है। इन अग्नि, इन्द्र आदि की आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से व्याख्यायें करने पर उनके लिए प्रयुक्त वृषभ और उक्षा शब्दों के अर्थ भी तदनुसार हो सकते हैं। जो स्थिति वृषभ एवं उक्षा शब्दों की है वही बैलवाची वृष, अनड्वान्, वृषभ आदि शब्दों की भी है। अथर्ववेद में प्राण को अनड्वान् कहा गया है[2]। अनड्वान् द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष को तथा छहों दिशाओं को एवं सम्पूर्ण भुवन तक को धारण करता है, यह भी वर्णित हुआ है[3]। यह कार्य साधारण बैल पशु नहीं कर सकता। एवं वैदिक शब्द अपने अन्दर अनेक विशिष्ट अर्थों को गृहीत किये हुए हैं। वेदव्याख्याकार को वैदिक शब्दों का यह वैशिष्ट्य अवश्य ध्यान में रखना होगा। अन्यथा वह वेद के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। वृषभ-पाक तथा वृषभ-होम की चर्चा अभी की जा चुकी है। वैदिक शब्दों के रहस्य को न समझने से उन प्रकरणों का कैसा अनर्थ किया गया है। वैदिक शब्द-प्रयोग की शैली से अनभिज्ञ होने का ही यह परिणाम है कि आज अनेक पाश्चात्त्य तथा एतद्देशीय विद्वत्कोटि के व्यक्ति भी वेदों के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण विचार रखते हैं। इस लेख में वृषभ और उक्षा शब्दों के अर्थ पर विचार कर हम इसी बात पर प्रकाश डालना चाहते हैं कि वेद के किसी शब्द का क्या अर्थ है इस विषय में सर्वप्रथम प्रमाण स्वयं वेद ही है। वेद में कोई शब्द कहाँ-कहाँ किस अर्थ में आया है, इसका विचार करते हुए यदि हम वैदिक शब्दों का तथा वैदिक प्रकरणों का अर्थानुसन्धान करेंगे तभी वेद के साथ समुचित न्याय हो सकता है।

रीडर, संस्कृत-विभाग
गुरुकुल विश्वविद्यालय
हरिद्वार

—|—

१. द्रष्टव्य : २.७६, ७.३.१, १०.६९.२
२. अथर्व. ११.४.१३
३. अथर्व. ४.११.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर की दार्शनिक मान्यताएँ

डा० विष्णुदत्त राकेश

पुष्टि सम्प्रदाय में सम्मिलित होने से पूर्व सूरदास शैव थे या हरिदासी सम्प्रदाय के सखी भावोपासक भक्त, प्रामाणिक रूप से कह सकना कठिन है। किन्तु वार्ता सम्प्रदाय तथा बल्लभ सम्प्रदाय सम्बन्धी साहित्य के अनुशीलन द्वारा यह असन्दिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि वह पुष्टि मार्ग के जहाज थे। पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैत दर्शन सूर के जीवन काल का ख्याति लब्ध दर्शन था। इसका प्रमाण १५६५ वि० में सम्पन्न होने वाले विद्यानगर शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने पर राजा कृष्ण देवराय द्वारा आचार्य श्री का कनकाभिषेक वाला वृत्तान्त है। इसी शास्त्रार्थ में आचार्य बल्लभ ने शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद का प्रतिपादन करते हुए मायावाद का खण्डन किया। इस अभूतपूर्व ख्याति लाभ के उपरान्त दक्षिण यात्रा से लौटते हुए १५६८ वि० के लगभग आचार्य बल्लभ से सूरदास का साक्षात्कार हुआ। इसी भेंट में उन्होंने दीक्षा प्राप्त की। दीक्षा के बाद सूर की भक्ति पद्धति स्थिर हुई और वह सगुण स्वरूप के समर्थक तथा भगवदनुग्रह पद्धति के प्रबल पोषक हो गये। उनकी दार्शनिक मान्यताओं और भक्ति पद्धति पर आचार्य वल्लभ की गहरी छाप पड़ी और अपने अभिनिवेश के कारण अष्ट छाप के कवियों में शुद्धाद्वैत दर्शन के वह प्रथम अग्रदूत सिद्ध होते हैं।

पुष्टिमार्गी सेवा पद्धति तथा शुद्धाद्वैत दर्शनः,

आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म सूत्र तथा श्री मद्भागवत् पर क्रमशः अणुभाष्य एवं सुबोधिनी लिखकर सगुण भक्ति समर्थक विष्णु स्वामी सम्प्रदाय तथा निर्गुण साधना मूलक अनुग्रह सम्प्रदाय की समंजस सेवा भक्ति का प्रवर्तन किया। ब्रह्म सम्बन्ध को लेकर ब्रह्म सूत्रों के वैष्णव भाष्यों में एक विलक्षण तत्त्व चिन्तन का प्रभाव आचार्य वल्लभ पर दिखाई देता है। औपनिषद् परतत्त्ववाचक ब्रह्म, वेदान्ताभिमत तथा सांख्याभिमत दोनों हैं। इस संबंध में ब्रह्मसूत्रकार का समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। आचार्य वल्लभ ने स्वरूपतः केवल परतत्त्व ब्रह्म को ही एक मात्र तत्त्व माना है। वही अपने को जगद्रूप में परिणत करता है। परतत्त्व सच्चिदानन्द है। अतः "आनंदमयोऽभ्यासात्"[1] जैसे सूत्र की व्याख्या करते हुए आनन्दमय को आनन्द का हेतु कहा गया है। आनन्दमय आनन्द का विकार नहीं अपितु आनन्द का मूल होने के कारण प्रचुरानन्द पूर्ण है। आनन्दमय इतर जीव नहीं हो सकता। परतत्त्व सच्चिदानन्द ही जब अपने एक अंश में आनन्द का तिरोभाव कर देता है तब उक्त अंश को चिदंश या जीव समष्टि कहते हैं और जब दूसरे अंश में आनन्द और चित् दोनों का तिरोभाव कर देता है तब वह अंश जड़ तत्त्व हो जाता है। इस प्रकार परतत्व ही स्वयं चेतनाचेतनात्मक जगत् के रूप में परिणत होने के कारण जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।[2] तात्पर्य यह है कि माया सम्बन्ध रहित और जगत् के अद्वैत के कारण एक मात्र तत्त्व ब्रह्म है और जड़ जीवात्मक जगद्रूप कार्य भी ब्रह्म है। अतः दोनों का अद्वैत है। ब्रह्म जीवभाव को अविद्या या माया के कारण प्राप्त नहीं हुआ। वह अपनी इच्छा

---

१. ब्रह्म सूत्र १।१।१३,

२. ब्रह्म सूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, डा० रामकृष्णआचार्य पृष्ठ २१६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से चित् और आनन्द भाव का तिरोधान कर जड़ और जीव का हेतु बनता है। वह जब चाहे जड़ और जीव में उक्त गुणों का अविर्भाव कर सकता है। अविकृत परिणाम्वाद की कल्पना वल्लभ ने यहीं की। परब्रह्म के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रूप स्वीकार करते हुए उन्होंने एक ओर आध्यात्मिक रूप में अक्षर ब्रह्म स्वरूप की कल्पना की तथा उसे ज्ञान लभ्य और ज्ञानि-प्राप्य बताया तो दूसरी ओर आधिदैविक रूप को साकार पुरुषोत्तमरूप, भक्तिलभ्य तथा भक्त-सेव्य बताया। सूरदास ने सारावली में ब्रह्म का निरूपण इसी साम्प्रदायिक मान्यता के आधार पर किया है—

सोभा अमित अपार अखण्डित आप आतमाराम,
पूरन ब्रह्म प्रगट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम।
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प आहार,
ओंकार आदि वेद असुरहन निर्गुण सगुन अपार।
अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनाशी,
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक विलासी।
सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल,
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सब है अंश गुपाल।

ब्रह्म का आधिदैविक रूप ही सगुण लीला रूप है। श्रीमद्भागवतोक्त लीलातत्त्व पौराणिक तत्त्व है जिसे वैष्णव भक्ति साहित्य में सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ है। लीलावतार में विभिन्न रूपों में भगवान का दर्शन लाभ होता है, लीला की प्रमुखता का एक हेतु यह भी है, उनकी लीला अमोघ है। लीला से ही संसार की रचना, पोषण और संहार होता है। इतने पर भी लीलावतारी उसमें लिप्त नहीं होते।[1] आचार्य वल्लभ के उपास्य श्री कृष्ण एक ओर स्वधामगत् नित्य लीला करते हैं तो दूसरी ओर अवतार कालीन जगत्प्रवत्ति रूप बाह्य लीलायें भी करते हैं। श्री कृष्ण का उज्ज्वल रस मण्डित रूप लीलातत्त्व की समग्रता को प्रकाशित कर सकने के कारण ही ग्राह्य है।[2] इन लीलाओं के साधनागत हेतुओं पर विचार करते हुए आचार्य वल्लभ ने सुवोधिनी रास प्रकरण में स्पष्ट लिखा है—

ब्रह्मानन्दात्समुध्दृत्य भजनानंद योजने,
लीलायायुज्यते सम्यक् सातुर्येविनिरुप्यते।।

समग्र जगत् को परमात्मा की बाह्य लीला मानकर, अन्तरंग लीलाधाम में रमने वाले भक्तों के लिये लीलातत्त्व का महत्त्व व्याख्या से परे है। इसीलिये महात्मा सूर विनय की सामान्य भक्ति को छोड़कर सारावली में लीलागान के लिये प्रतिश्रुत हुए।

श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौं, लीला भेद बतायौ
तादिन ते हरिलीला गाई एक लक्ष पद बन्ध।

इस प्रकार अन्तरंग लीलातत्त्व उनके आनन्द रूप की अभिव्यक्ति के कारण वैष्णव सम्प्रदाय में मान्य हुआ है। परमानन्द के नित्य विलास का पृथ्वी पर अवतरण इसी माध्यम से होता है। आधुनिक विद्वान् लीलातत्त्व के प्रतीकार्थ की अनेक व्याख्या करते हैं। पर चिदंश और सदंश के अभावगुण आनदांशं की अभिव्यक्ति के लिये ही लीलातत्त्व की प्रतिष्ठा की गई है। सारावली का साक्ष्य भी है—

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप,
कोटि कल्प बीतत नहिं, जानत विहरत युगलस्वरूप।

भगवान का लीलाधाम उसका स्वरूपगत अंश होने के कारण माया शक्तिजन्य संसार के गुणात्मक रूप से भिन्न होता है। अन्य माधुर्य रस निरूपक आचार्यों से सूर का वृन्दावन धाम व्रजधाम का तात्पर्यवाची होकर पृथक् रूप में आया है। स्वयं वल्लभ ने अणु भाष्य ४।२।१५ में गोकुल को वैकुण्ठ से अधिक महत्त्व दिया है—

---

१. सवा इदं विश्वममोघलीलः, सृजत्य वत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्। श्रीमद्भागवत् १।३।३६

२. आनन्द मात्र कर पाद मुखोदराधिः। तत्त्वार्थ दीप निबन्ध पृष्ठ ८५,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूरसागर के दशम् स्कन्ध में लिखा है—

वृन्दावन व्रज को महतु कापै बरन्यो जाई,
चतुरानन पग परसि के लोक गयो सुखपाई।

वल्लभ सम्प्रदाय के गंभीर अन्वेषक डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार भी व्रजभूमि रस रूप भगवान के लीला-धाम गोलोक या गोकुल का ही अवतार है।[1] वृन्दावन बिहारी की लीला भूमि के प्रति अगाध आसक्ति का निरूपण इसी प्रकल्पना के कारण सूर ने सूरसागर की इन पंक्तियों में किया है—

नैननि की छवि यहै चतुर सोइ जो मुकुन्द दरसन हित धावै।
करतेई जु स्याम को सेवै चरननि चलि वृन्दावन जावै॥

ब्रह्म के अतिरिक्त शुद्धाद्वैत दर्शन में जीव को चिदंश होने के कारण सत्य माना गया है। अग्नि से विच्छुरित होने वाली चिंगारी की तरह जीव में भी ब्रह्म की सत्ता रहती है। जीव अणु है व्यापक विभु नहीं। तिरोहितानंद होने के कारण अज्ञान गम्य है। कर्म सापेक्षता के आधार पर जीव कोटियां निर्धारित होती हैं—सूरसागर कार के शब्दों में—

जिय करि कर्म जन्म बहुपावै,-फिरत फिरत बहुतै श्रम आवै।
ज्ञानी सदा एक रस जानै, तन के भेद भेद यहि मानै।
आत्म अजन्म सदा अविनासी, ताको देह मोह बड़ फांसी।

अविद्या ग्रस्त जीव संसारी अवस्था में कष्ट उठाते हैं पर पुष्टि मार्गी जीव भगवत्कृपा से ब्रह्मभाव के उदय पर व्यापकत्व पा जाते हैं। सूत्रकार ने यद्यपि जीव का परतत्त्व से स्वरूप भेद प्रतिपादित किया है तथा रामानुज, निम्बार्क एवं बलदेव ने भी अंशतत्त्व की व्याख्या इसी आलोक में की है। किन्तु वल्लभ का जीव विषयक मत अनुग्रह सिद्धान्त की कल्पना के कारण भक्ति तत्त्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है, दार्शनिक दृष्टिसे भले ही वह वैमत्य का विषय हो। जीवोपकरणों में इन्द्रिय, प्राण और मन को भी आचार्य वल्लभ स्वरूपतः उत्पन्न नहीं मानते। "यावद् विकारं तु विभागोलोकवत्" की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्वरूपतः सब कुछ ब्रह्म ही माना है तथा जीवतत्त्व और जड़ तत्त्व को परतत्त्व के आधीन माना है। कारण और कार्य वह दोनों है—सूर की निम्न पंक्तियों में इसी आशय की अभिव्यक्ति हुई है—

प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद बतायो
गोपी ग्वाल कान्ह दुइ नाही ये कहुं नेक न न्यारे।

ब्रह्म और जीव के अतिरिक्त आचार्य वल्लभ ने जगत् के स्वरूप पर भी विचार किया है। तैत्तरीयोपनिषद् के साक्ष्य पर वह जगत् का कारण भी आनन्द को मानते हैं। जगत् ईश्वरेच्छा जन्य है और जीव की अविद्या रचना संसार है। जगत् नित्य है संसार अनित्य। तत्त्वार्थ दीप निबन्ध में कहा गया है।—

"तस्माध्देतोरस्य भगवतः शक्त्या अविद्यया जीव संसार उच्यते न तु जायते, अभिमत्यात्मकत्वात्, असत्त-वेनास्यगणनात्। अज्ञानं, श्रमः आदित्यादिशब्दा अहमे-तिरूपे संसारे एव प्रवर्तन्त न तु प्रपंच इत्यर्थः तस्य ब्रह्मात्मत्कवात्।"

महाकवि सूर ने जगत् और संसार का यह सम्प्रदाय सिद्ध भेद अपने सामने रखा है। ब्रह्म रूप जगत् विषयक उनकी उक्ति है—

खेलत-खेलत चित में आई सृष्टि करन विस्तार,
अपनु आपु करि प्रगट कियो है हरि पुरुष अवतार।
कीने तत्व प्रगट ते ही छन सवै अष्ट अरु बीस।

ममतात्मक संसार की कल्पित सत्ता के सम्बन्ध में उनका दृढ़ मत है—

मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया,
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि विसराया।

ब्रह्म सूत्र में परमनिः श्रेयस या मुक्ति को अन्तिम लक्ष्य स्वीकार कर उसकी प्राप्ति का उपाय ब्रह्म विद्या

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—पृष्ठ ४०५,
२. विस्फुलिलंगा इवाग्नेर्हि जड़ जीवा विनिर्गताः। अणुभाष्य-२।३।१६।४३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बताया गया है। आचार्य जैमिनी के मत का प्रतिवाद करते हुए सूत्रकार ने विद्या को कर्मांग न मानकर स्वतन्त्र साधन माना है एवं "विकल्पो विशिष्ट फलत्वात्" (३।३।५७) की व्याख्या में उसके व्याख्याकारों ने सर्वथा भिन्न दृष्टि अपनाई है। आचार्य वल्लभ ने भी मर्यादा मार्ग तथा पुष्टि मार्ग के भेद से नई व्यवस्था की है। पुष्टि मार्गीय भक्ति में ब्रह्म सम्बन्ध अथवा आत्म निवेदन का प्रमुख स्थान है। इसमें आचार मार्ग का निरूपण है, अनुग्रह तत्त्व की प्रतिष्ठा है तथा सेवा परिचर्या की प्रमुखता है। भक्त की स्वत्व सहित सर्वात्मना समर्पित चेतना का प्रकटीकरण ही इसका लक्ष्य है। गोस्वामी हरिराय जी ने पुष्टिमार्ग-लक्षणानि शीर्षक श्लोकों में स्पष्ट कहा है—

अनुग्रहणैव सिद्धिलौकिकी यत्र वैदिकी,
न यत्नातन्यथा विघ्नः पुष्टि मार्गः सकथ्यते।

महाकवि सूर ने भी अष्टयाम सेवा तथा अनुग्रह मार्ग पर पर्याप्त छन्द लिखे। यहाँ पर पुष्टि भाव के पोषणार्थ "चरन कमल बन्दौ हरिराई" तथा "जापर दीनानाथ ढरै" जैसी छन्दों की शीर्ष पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं।

आचार्य वल्लभ ने जीवों के आनन्द भोग में ब्रह्म का आनन्द भोग माना है। यह आनन्द की उपलब्धि पुष्टि मार्गीय भक्तों को ही होती है, ज्ञान मार्गी भक्तों को नहीं।[1] आनन्द भोग की प्रक्रिया में भगवदनुग्रह से पुष्टि की प्राप्ति तथा लीलामय भगवत्साक्षात्कार की प्राप्ति की चर्चा उन्होंने की है। विभूतिमय विग्रह के दर्शन से भक्त प्रेम रूपा तीव्ररति का अनुभव करता है। भगवत्कर्तृक भोग्य लीला के अनुप्रवेश से भक्त रसास्वाद करता है, इन्द्रिय सुख का स्पर्श यहाँ नहीं होता।[2] लीलामय कृष्ण की रसमयता का साक्षात्कार ही मुक्ति है। महाकवि सूर ने कालमायातीत लीलारस की महत्ता का निरूपण करते हुए कहा है—

"मायाकाल कहूं नहि व्यापै यह रस रीति सो जानै"

मुक्ति के स्वरूप भेद पर भी सूरदास ने विचार किया है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य जैसे चार भेदों की चर्चा उन्होंने सिद्धान्ततः तथा व्यवहारतः की है। लीलाधाम निरूपण के प्रसंग में सालोक्य, चरणारविन्द लाभ के उछाह में सामीप्य, शृंगार-छवि-निरूपण में सारूप्य तथा विविध वियोग दशाओं में सायुज्य की व्यावहारिक व्यंजना महाकवि सूर ने कराई है। निम्न पद में गोपी के विरह भाव में मुक्ति के चारों प्रभेदों का विनियोग हमारे कथन को पुष्ट करता है।

ऊधो सूधौ नैकुं तिहारौ।
हम अबलनि को सिखवन आए सुन्यो सयान तिहारौ।
निरगुन कहो कहा कहियत है, तुम निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौ मुक्ति लही हम चारी।
हम सालोक्य सरूप सायुजो रहति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरै तुम अलि बड़े अदाई।

वल्लभ दर्शन में उपास्य भाव तथा रस-तत्व :

आचार्य वल्लभ ने भक्ति-भाव के परिप्रेक्ष्य में ही अपनी दार्शनिक मान्यतायें स्थिर की। अवतारवाद और हरिलीला तत्त्व के अनुप्रवेश से वैष्णव भक्ति-साधना ब्रह्मभाव की सिद्धि में निर्गुण भाव की अपेक्षा अधिक उपयोगी और सार्वजनीन सिद्ध हुई। यही कारण है कि आचार्य श्री ने भक्ति के प्रचलित सभी प्रकारों का विचार बिना किसी आग्रह बद्ध दृष्टि से किया। उपासना क्रम में गृहीत भाव वैविध्य के औचित्य-निरूपण के मूल में भी यही उदारवादी धारणा काम कर रही थी। डा० हरवंशलाल शर्मा ने परमानन्द सागर की भूमिका पृष्ठ २३ पर वल्लभ सम्प्रदाय का उपास्य भाव वात्सल्य माना है,

---

१. ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेनाक्षर ब्रह्माप्राप्तिः पुष्टि-मार्गीयस्य भक्तस्य तु सोश्नुत इत्यनेनोक्ता पर प्राप्तिरिति। अणु भाष्य ४।४।५।११.

२. लीलाया कालमायाद्यतीतत्वेप्न प्राकृतं जगत् दूरतरमितोपि हेतोर्न तत्संभवः। अणुभाष्य ४।४।५।१७.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु सख्य और माधुर्य का आत्यन्तिक निषेध भी यहाँ नहीं है। प्रभुदयाल मीतल ने अष्टछाप परिचय पृष्ठ १३१ पर स्पष्ट लिखा है कि सख्य वात्सल्य की तरह कान्ता भक्ति भी वल्लभाचार्य को मान्य थी। राधाभाव की पूर्ण प्रकल्पना के अभाव में यद्यपि माधुर्य की वैसी प्रतिष्ठा वल्लभ सम्प्रदाय में नहीं हो पाई जैसी अन्य सखी भावोपासना प्रधान साधना पद्धतियों में रही। गुसाँई विट्ठलनाथ कृत "गुप्त रस ग्रन्थ" में बाल भाव और माधुर्य भाव का गुणीभूत रूप इसीलिये परिलक्षित होता है, वैष्णवाचार्यों के द्वारा पुराणोपजीवी साहित्य साधना को स्वीकृति मिल जाने पर गोपीतत्त्व, सम्प्रदाय और साहित्य दोनों ही धाराओं में अपनाया गया। लीलास्मरण की उपासना भी पुराण सम्मत है।[1] विद्वन्मंडन नामक ग्रन्थ में वल्लभ के लिये गोपीपति रतिमार्ग प्रवर्तक विशेषण का उपपन्न होना इसी तथ्य का पोषक है। श्री बालकृष्ण भट्ट ने प्रमेय रत्नार्णव में गोपियों के आचार-भाव की विविध भूमिकाओं का पुष्टिमार्ग की २० परिभाषाओं में संश्लेष प्रस्तुत किया है। अतः मधुरलीला विषयक भावोपासना तथा तत्सम्बन्धी साहित्य प्रणेता अष्ट छाप के कवियों में मधुरभाव विषयक पदों का आधिक्य देखकर उसे सम्प्रदायेतर वस्तु नहीं समझना चाहिये। डा० देवीशंकर अवस्थी का यह मन्तव्य इस संबंध में अधिक सही है कि वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के बाल रूप की प्रतिष्ठा अवश्य है एवं सूर ने वात्सल्य सम्बन्धी प्रचुर एवं उत्तम साहित्य की रचना भी की परन्तु फिर भी वल्लभ सम्प्रदाय में (हरिदासी प्रभाव के कारण) मधुर भाव की साधना ही बढ़ती गई। स्वयं सूर ने अपने अन्तिम पद में युगलरूप में ही अपनी चित्त वृत्ति के रमे रहने का संकेत किया है।[2]

अष्टछाप के कवियों का वृन्दावन की रसोपासना से प्रभावित होने का विवरण 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'निजमत सिद्धान्त' जैसे ग्रन्थों से भी हो जाता है। सूर की "हरिरस वृन्दावन ते आया" उक्ति उक्त प्रभाव की अन्तः साखी भरती है किन्तु यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वल्लभ सम्प्रदाय का गोपीभाव सूर के साधनामत उत्कर्ष का बीजभाव है जो बालभाव की परिधि में ही स्फुरित हुआ है। श्रीकृष्ण की ब्रज-लीलाओं के प्रामुख्य के कारण राधा के कैंकर्य की अपेक्षा यहाँ सम्पोषित सखा साम्य कोटि का माधुर्य है। इसीलिये सहचरी भाव प्रधान नित्य संयोग सुख की अपेक्षा विरह प्रधान व्याकुलता का उत्कठारस ही यहाँ सर्वत्र दिखाई पड़ता है। भ्रमर गीत विषयक पदों का व्यावहारिक साधनागत बीज भाव यही है और पलकान्तर का वियोग-जन्य उत्ताप न सह सकने वाली अन्तः परिशोषित लतिका गोपी से सूर के साधक कवि के अनन्य एकात्मभाव का रहस्य भी यही है। डा० शरण बिहारी गोस्वामी ने सेवा और अधिकार भाव के भेद से वल्लभ सम्प्रदाय के सखी भाव को गोपीभाव का ही व्यापक रूप स्वीकार किया हैं। उनका कथन है कि "ब्रजलीलाओं के आधार के कारण इस सम्प्रदाय का गोपीभाव व्यापक हो गया है। सूर प्रारम्भ में तो वल्लभाचार्य के सम्पर्क में थे तब तक बाललीला का वर्णन विशेष रूप से करते रहे परन्तु बाद में वृन्दावन का रंग लगने पर उन्होंने अपने को सखीभाव के कवियों के रूप में ढाल दिया। इन कवियों के अन्तिम जीवन की रचनायें प्रायः राधा की प्रधानता को सिद्ध करने वाली सखी भाव सम्बन्धी रचनायें हैं। यह उनके जीवन का एक विकास क्रम है जो महत्वपूर्ण है।"[3] अस्तु निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भक्ति साधना में पुरुष भाव के भंग हो जाने पर सहज नारी भाव की उत्पत्ति ब्रह्मभाव साधन का सर्वोपरि अंग कहा जा सकता है। साधन-क्रम में यह भावातिरेकपूर्ण चर्या है जहाँ प्रेम के स्फुरण से देह भाव बिसर जाता है। रस रीति की प्रक्रिया यहीं से प्रारम्भ होती है। जिसकी कोई अवधि

---

१. अनुग्रहस्य भक्तानां मानुषं देहमास्थितः,
भजते तादृशीं क्रीड़ायां स्मृत्वा तत्परो भवेत्।
श्रीमद्भागवत् १०।३३।३७.

२. १८ वीं शती के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति पृष्ठ १०७

३. कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव पृष्ठ ६५०,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है जिस पर काल का कोई नियंत्रण नहीं है। सारावली और सूरसागर के माधुर्य बोझिल अधिकांश पद इसी प्रक्रिया के समर्थन में लिखे गये हैं। सूर सागर के इस पद में श्रुतियों को रस रूप कृष्ण से उपदेश दिलाते हुए भक्त सूर ने भी मानो अपनी स्वीकृति की अन्तिम छाप लगा दी है—

तबै ऋचा है गोपिका हरि सो कियौ विहार,
जो कोई भरता भाव करि हरि पद ध्यावै।
नारि पुरुष कोउ होय सोइ श्रुति ऋचा गति पावै।
तिनकी पद रज जो कोउ वृन्दावन भुवि माहीं,
परसै सो गोपिका गति लहै संसै नाहीं।

अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ब्रह्मसूत्र की सांख्याभिमत परम्परा के प्रभाव के कारण सूर के प्रेरणा स्रोत आचार्य वल्लभ ने प्रकृति-पुरुष की एकात्म भावना को भागवतोक्त गोपीभाव में भक्तिवाद के आग्रह के कारण पुरस्सरित किया। गोपीभाव से गोपीदेह प्राप्ति के सूत्र भी विष्णुपुराण, पद्मपुराण तथा वृहद वामन पुराण से प्राप्त हुए। यामुनाचार्य के "आगम प्रमाण्य सिद्धि के फलस्वरूप" तन्त्र साहित्य की युग्म पूजा का प्रभाव भी भक्ति निरूपक आचार्यों पर पड़ा। इसी आलोक में रुद्रयामल, कृष्णयामल तथा गौतमीतन्त्र का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी योषितभाव की सिद्धि के लिये उत्तरदायी माना जाना चाहिये। यही कारण है कि ब्रह्मसूत्र के निः श्रेयस अभ्युदय आचार निरूपक सूत्रों की व्याख्या में वल्लभ कृत पुष्टिमार्ग का समर्थन मूल ग्रन्थकार तथा अन्य वैष्णवाचार्यों के भाष्य से मेल नहीं खाता। औपनिषदिक् मधु-विद्या की परम्परा तथा शक्ति-शक्तिमान् की सांख्याभिमत परम्परा का सम्मिश्रण यहीं हुआ। अतः सूर और उनके सम्प्रदायगत सिद्धान्त और उपास्य भाव की मीमांसा करते हुए हमें ब्रह्म सूत्र के अणुभाष्य की प्रक्रिया तथा पुराण सम्मत लीलातत्व का गंभीर अनुशीलन करना चाहिये तभी हम वल्लभ और सूर द्वारा प्रस्तुत ब्रह्म परतत्त्व अवतारवाद तथा लीलारस की धारणा में संगति बैठा सकेंगे।

हिन्दी-विभाग
गुरुकुल विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगन्मिथ्यात्ववाद और ब्रेडले के आभास सम्बन्धी विचार

डॉ० अभेदानन्द

ब्रेडले प्रतीयमान वस्तुओं को आभास या मिथ्या कहते हैं। प्रतीयमान वस्तुओं के अधिष्ठानरूप से जो सत्ता है उसे ब्रेडले सत् कहते हैं। ब्रेडले ने अपनी पुस्तक "एपीयरेन्स एण्ड रियलिटी" के प्रथम खण्ड में सभी प्रतीयमान वस्तुओं को तर्कों और युक्तिओं द्वारा आभास सिद्ध किया है। तार्किक बुद्धि से विचार करने पर वस्तुयें सत्य सिद्ध नहीं हो पातीं। ब्रेडले के अनुसार पूर्ण सत् कभी भी अपने में स्वव्याघातक नहीं होता।[1] इसका अर्थ ब्रेडले के अनुसार हुआ—सत् यदि सत् है तो असत् नहीं हो सकता। वह सत् ही है। यदि सत् अपने स्वरूप से विलग हो सकता तब वह सत् ही नहीं कहा जायेगा। इसके विपरीत आभास अपने अस्तित्त्व को बनाये नहीं रख पाते, कारण यह है कि आभास का अपना कोई स्वरूप नहीं है। उनका स्वरूप भी सत् का ही स्वरूप है। आभास अपने अस्तित्व से तादात्म्य नहीं रख पाते।[2]

ब्रेडले ने प्रतीयमान वस्तुओं को आभास सिद्ध करने के लिये प्रधान-अप्रधान गुण, द्रव्य और विशेषण, सम्बन्ध और गुण, दिक् और काल, गति और परिवर्तन, कारण और क्रिया, वस्तुयें अपने में, यहां तक कि आत्मा का भी विचार करके सभी को स्वव्याघातक सिद्धि किया है। उनके अनुसार ये सभी आभास हैं, न कि सत्। अप्रधान गुणों के विषय में उनके विचार हैं कि रूप रंग आदि अप्रधान गुण वस्तुगत नहीं हैं, वे अहं सापेक्ष हैं। इन्द्रियों के बिना अप्रधान गुणों की सत्ता नहीं सिद्ध हो पाती। वे वस्तुतः वस्तुओं में न होकर विषयी में हैं, अतः आभास हैं। ब्रेडले स्वतन्त्र सत्ता को ही सत् कहते हैं। अप्रधान गुण स्वतन्त्र नहीं हैं, अतः सत् न होकर आभास हैं।[3] इसी प्रकार प्रधान गुण भी सापेक्ष हैं। वे भी अपने आप में स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान नहीं हैं, अतः वे भी आभास ही हैं।[4] गुण-गुणी का सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। ब्रेडले ने शक्कर खण्ड का उदाहरण देकर समझाया है कि शक्कर मीठा है, ठोस है, श्वेत है, इन गुणों से वह विशिष्ट है, किन्तु मीठा, ठोस आदि ही शक्कर नहीं हैं। मीठा स्वयं एक गुण है, वह ठोस नहीं है श्वेत स्वयं एक गुण है, ठोस का प्रयोग श्वेत में भी नहीं हो सकता। शक्कर इन गुणों की समष्टिमात्र भी नहीं। तब वह है क्या ?[5] इस प्रकार तार्किक विश्लेषण करने पर वस्तुयें न विशेषणरूप होतीं हैं, न उनसे भिन्न रूप से सिद्ध हैं। "शक्कर श्वेत है" इस वाक्य में हम शक्कर को श्वेत कैसे कह सकते हैं ? शक्कर को उद्देश्य करके श्वेत का विधान करने पर उद्देश्य शक्कर के विषय में हमने कुछ भी कथन नहीं किया। और यदि उद्देश्य को ही विधेय में कहा जाय तब भी कुछ नहीं कहा जायेगा। इस प्रकार उभयतः पाश है। ब्रेडले के शब्दों में "यदि उद्देश्य का विधेय उससे भिन्न रखा जाय तो उद्देश्य को ऐसा बताया जायेगा जैसा

---

1. Ultimate reality is such that it doees not contradict itself. Appearance and Reality—P.120.Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).
2. Ibid.p.—165.
3. (Appearance and Reality) p. 10. Bradley (9th Ed., oxford 1930)
4. Ibid.—p. 15.
5. Ibid.—p. 16

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः नहीं है। इसके विपरीत यदि "विधेय उद्देश्य से भिन्न हो तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'उद्देश्य के विषय में कुछ कहा ही नहीं गया।"[1]

ब्रेडले के अनुसार विश्व में सभी वस्तुयें किसी न किसी रूप में सम्बन्धों से युक्त हैं और सम्बन्धित वस्तुओं का स्वरूप वह नहीं होता जोकि सम्बन्धावस्था में प्रतीत होता है। उन वस्तुओं का स्वरूप सम्बन्धों से परे परमसत् है। वह परमसत् सम्बन्धातीत है। फिर भी इन वस्तुओं का वही स्वरूप है।

अद्वैत वेदान्त में जिस प्रकार चित्सुखाचार्य ने तत्व-प्रदीपिका में और श्री हर्ष ने खण्डन में न्याय वैशेषिक द्वारा स्वीकृत प्रमाण प्रमेयादि का प्रत्याख्यान किया है और अनिर्वचनीयतासर्वस्व की स्थापना की है, उसी प्रकार ब्रेडले ने भी उसी पद्धति से प्रातीतिक वस्तु गुण-गुणी विशेषण-विशेष्यादि का प्रत्याख्यान किया है। इनमें उनके अनुसार किसी प्रकार की भी संगति नहीं है। जो स्वयं किसी सम्बन्ध पर निर्भरशील है उसकी सत्ता सत् न होकर प्रातीतिक है। ब्रेडले ने गुण-गुणी में सम्बन्ध के लिये जिस प्रकार सम्बन्धांतर की शृंखलारूपी अनवस्था-दोष दिखाया है,[2] उसी प्रकार अद्वैताचार्यों ने न्यायवैशेषिक के समवाय के प्रत्याख्यान में सम्बन्ध परम्परा की अनवस्था का दोष दिखाया है।[3]

ब्रेडले प्रतीयमान वस्तुओं को उक्त प्रकार से आभास सिद्ध करते हैं, और कहते हैं कि "सम्बन्ध-गुण-विशिष्ट सत् वास्तविक सत् नहीं है, अपितु आभास है।"[4] सम्बन्धों के बिना गुण नहीं पाये जाते, गुणों के बिना सम्बन्धों का अस्तित्व नहीं मिलता। इस प्रकार सभी निर्भरशील हैं, अतः स्वसत्ता से रहित, मात्र प्रातीतिक हैं।

ब्रेडले बाह्य वस्तुओं को विचार की दृष्टि से सत्ता से च्युत करके आन्तर वस्तु आत्मा (Ego) को भी प्रतीयमान कहते हैं। शरीर और आत्मा दोनों ही ब्रेडले के अनुसार आभास हैं।[5] आत्मा को जिस रूप में जानते हैं वह सम्बन्धों से विशिष्ट आत्मा है। सम्बन्धों से विशिष्ट वस्तु स्वयं सत्तावान नहीं होती, अतः इस कारण आत्मा भी आभास है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी शरीर इन्द्रिय मनोयुक्त तथाकथित सम्बन्धित आत्मा वस्तुतः अध्यस्त है। अध्यस्त आत्मा मिथ्या है।[6] स्वस्वरूप आत्मा शरीरेन्द्रियान्तः करण धर्मों से परे है जो कि ब्रह्मरूप है। जहां तक अहं की आत्मा होने की बात है वह विशुद्ध चेतनांश में आत्मा या विशुद्ध चेतन है, किन्तु अहन्तांश अध्यस्त एवं मिथ्या है, अद्वैताचार्यों ने कहा है कि कार्यस्वरूप से सदसद्रूप से निर्वचनीय नहीं है। कारणात्मना ही उसका निर्वचन सम्भव है; इसलिये कारण की ही सत्ता है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है "कारण सत्तैव कार्यस्य सत्ता न ततोऽन्या"[7] इसी प्रकार ब्रेडले के अनुसार भी सत् की सत्ता के बिना आभास की सत्ता सम्भव नहीं। आभास के विषय में 'अस्ति' का कथन भी सत् के कारण ही सम्भव है। सत् आभास नहीं, किन्तु सत् के बाहर आभास नहीं है। सत् एक होकर सर्वत्र अनुस्यूत है, अतः नानात्व को अपने में आत्मसात् किया हुआ है।[8] वेदान्त सिद्धान्तमुक्तावलीकार का भी यही कहना है कि आत्मा सत्ता ही द्वैत की सत्ता है। इसी कारण आत्मा को जान लेने पर कारण रूप से द्वैत को भी

---

1. Ibid.—p. 17.
2. Appearance and Reality—p.18. Bradley (9th. Ed., Oxford, 1930).
3. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य भामती कल्पतरु परिमल। पृ० ५११, ५१२ निर्णयसागर, १९३८।
4. The reality so characterized, is not True reality, but is appearance—Appearance and Reality—p. 21. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930.)
5. That neither body nor soul can be more than appearance.—Appearance and Reality p. 262. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).
6. पंचपादिका। पृ० ३२। मद्रास १९५८।
7. भामती। पृ० ४४६। निर्णयसागर १९३८।
8. Appearance and Reality—p. 213. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जान लिया जाता है।[1] ब्रेडले अद्वैत के ही समान यह मानते हैं कि सत् के बिना आभास सम्भव नहीं।[2] आभास की जब सत्ता है ही नहीं तब वह बिना सत् के किसका आभास होगा ? अतः सत् की सत्ता ही आभास की सत्ता है। अभास सत् की सत्ता से सत्तावान् है, इसलिये कहा जा सकता है कि जो कुछ भी है सभी सत्य है। अद्वैत वेदान्त की "सर्वं-खल्विदं ब्रह्म" की व्याख्या भी यही सिद्ध करती है कि सत् सर्वत्र व्याप्त है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जहां पर ब्रह्म नहीं हो, क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त मिथ्या की सत्ता पृथक्‌रूप से स्वीकार करने का अर्थ है द्वैतापत्ति।

सापेक्षसत्य इन वस्तुओं को पूर्ण सत् मान लेना ही ब्रेडले के अनुसार भ्रम है।[3] अद्वैत वेदान्त के अध्यास विवेचन में स्पष्ट दिखाया है कि किस प्रकार भ्रमस्थल में जो वस्तु नहीं उसी को वहीं पर सत्य मान लिया जाता है; इसीलिये उक्त स्थल की वस्तु और ज्ञान दोनों मिथ्या हैं। इसी प्रकार जगत् की वस्तुयें ब्रह्म में आरोपित हैं जो कि अधिष्ठान की सत्ता से सत्तावान् हैं, किन्तु उन वस्तुओं को पृथक् रूप से सत्तावान् मानना ही जगद्भ्रम है। अद्वैत के ही समान ब्रेडले भी सत् में नानात्व का निषेध करते हैं। उनका कहना है कि स्वतन्त्र सत्ता के नाना सत् सम्भव नहीं हैं।[4] नाना सत् होने पर स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र सत् होंगे। परतन्त्र सत् का अर्थ सत् न होकर आभास ही हुआ। वस्तुयें अपने स्वरूप में सत् हैं और सत् में एकीभूत हैं, फिर भी बुद्धि में स्वव्याघाती एवं नाना प्रतीत होती हैं।[5] अद्वैत के अनुसार नानात्व दर्शन अध्यासजन्य है। ब्रेडले भी नानात्व दर्शन, सत् को पूर्ण रूप से ग्रहण न कर सकने के कारण, कहते हैं। बुद्धि द्वारा सत् को पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता।[6] बुद्धि जब भी सत् को जानना चाहेगी उसे आभास के रूप में विखण्डित करके ही जानेगी। सत् को जानने के लिए सत् होना पड़ेगा। अद्वैत में "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" माना गया है, उसी प्रकार ब्रेडले सत् को सत् होकर ही जाना जा सकता है, ऐसा कहते हैं।

हमने ऊपर ब्रेडले के दर्शन में जगत्-प्रपंच की स्थिति का एक संक्षिप्त विवरण दिया है। अद्वैत में स्वीकृत मिथ्यात्व के साथ ब्रेडले द्वारा प्रदर्शित आभास की तुलना की जा सकती है। चित्सुखाचार्य, मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों ने मिथ्यात्वानुमान में दृश्यत्वादि हेतु प्रदर्शित किये हैं। अतः स्पष्ट है कि अद्वैतवेदान्ती दृश्य वस्तुओं को ज्ञान विषय होने के कारण मिथ्या कहते हैं। ब्रेडले भी हमारी बुद्धि में प्रतीयमान वस्तुओं को आभास की संज्ञा देते हैं। ब्रेडले के अनुसार सत् एक है, अतः नानात्व आभास है। ब्रेडले के अनुसार सत् निरंशी है, अतः जो भी अंशी या नाना हैं आभास हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिथ्यात्व में जो हेतु अद्वैत्तचार्य देते हैं, उन्हीं हेतुओं के समान बातें ब्रडले भी आभास के के लिए कहते हैं। वस्तुतः अद्वैत के अनुसार भी सत् "एकमेवाद्वितीयम्" है। ब्रेडले के अनुसार भी सत् एकमेवाद्वित्तीय है। इसी कारण सदतिरिक्त वस्तुयें आभास हैं। अद्वैत के अनुसार भी सत् ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वेन सर्व मिथ्या है।

ब्रेडले के अनुसार सत् का मापदण्ड 'अविरोध' है और आभास का मापदण्ड विरोध है। सत् कभी भी सत्ता से पृथक् नहीं हो सकता। सत् होकर सत्ता से पृथक् होना "विरोध" माना जायेगा। जिसमें उस प्रकार की बातें

---

१. आत्मसत्तैवद्वैत्तस्य सत्ता नाऽन्या यतस्तत आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्।
—वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली
पृ० १६४, प्रकाशानन्द अच्युतग्रन्थमाला।

2. Appearnce without reality would be impossible. Appearance and Reality—p. 432. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).

3. Ibid.—p. 431

4. The absolute is not many, there are no independent reals. Appearance and Reality p. 127. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

5. Ibid.—p. 505.

6. Truely to realize the existence of the absolute is for finite beings impossible. Appearance and Reality—p. 140. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हों वह आभास होगा न कि सत्। अद्वैत के अनुसार भी सत् त्रिकालाबाध्य है। अबाधित होना ही सत् का मापदण्ड है। जो बाधित होता है वह सत् न होकर मिथ्या है।[1] जो आदि में भी नहीं था, अन्त में भी न होगा, वह सत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उत्पत्ति विनाशशील वस्तुयें अबाधित नहीं हो सकतीं। उत्पत्ति से पूर्व भी जिसकी सत्ता नहीं और विनाश के बाद भी जिसकी सत्ता नहीं, वह अबाध्य नहीं रहा। ब्रेडले के अनुसार वह स्वव्याघाती हुआ, क्योंकि कोई भी वस्तु जब अपनी स्वसत्ता को छोड़ देती है तब वह सत्ताहीन हो जाती है। यदि वह स्वसत्ता से युक्त होती तो उसकी सत्ता उससे विलग नहीं हो सकती थी। उसकी सत्ता सत् से प्राप्त होने के कारण किसी भी समय वह सत्ताहीन हो जाती है, अतः वह वस्तु आभास है। एक ही वस्तु-घट में भाव अभावादि विरोधी बातें हैं, अतः व्याघातपूर्ण हैं। आज घट है, कल नष्ट होने पर नहीं रहेगा, उत्पत्ति के पूर्व भी घट नहीं होता, इस कारण अर्थात् भावाभावादि विरोधी बातों के कारण ही घट अद्वैत के अनुसार मिथ्या है। इस देश में घट है, अन्य देश में नहीं है, इस प्रकार भावाभाव दैशिक दृष्टि से भी घट में हैं, अतः घट सत्ताव्याभिचारी है। अद्वैतवेदान्त में परिच्छिन्न हेतु से जो मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है, उसका तात्पर्य भी यही है। देशकाल और वस्तुगत परिच्छेद वस्तुओं में सीमा खींच देता है। वस्तु देशकाल और वस्तु के परिच्छेद से स्वसत्ताव्याभिचारी हो जाती है। इसी कारण वस्तुओं का बाध हो जाता है। ब्रेडले के अनुसार भी नाना वस्तुओं में सत्ता होने पर भी वह आंशिक सत्ता है, क्योंकि वस्तुयें नाना रूप से सत् नहीं हो सकतीं। सत् निरपेक्ष होता है, अर्थात् सत्ता के लिए ज्ञान के लिए वह निरपेक्ष है, किन्तु वस्तुयें सत्ता और ज्ञान के लिये सापेक्ष हैं, अतः सापेक्षतया भी वे आभास हैं।

ब्रेडले ने आभास का मापदण्ड विरोध या व्याघात को व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है, क्योंकि जहां पर भी सम्बन्धादि की सिद्धि तार्किक विश्लेषण द्वारा नहीं कर पाये, ब्रेडले ने वहीं पर विरोध का प्रयोग करके उससे आभास कह दिया है। अद्वैत वेदान्त के "व्यावर्तमानत्व", "परिच्छिन्नत्व", "अवयवित्व", "जड़त्व", "दृश्यत्व" आदि मिथ्यात्व अनुमान के हेतु ब्रेडले के "विरोध" शब्द के अन्तर्भूत हैं। ब्रेडले ने विरोध का प्रयोग उक्त सभी अर्थों में किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्त स्वीकृत मिथ्यात्व का मापदण्ड ब्रेडले द्वारा स्वीकृत विरोध के समान है।

ब्रेडले ने प्रतीयमान वस्तुओं को आभास अवश्य कहा है, किन्तु उन्हें असत् नहीं कहा है। वस्तुयें आभास हैं—का अर्थ सापेक्ष सत् हैं। यद्यपि सत् वस्तु एक ही है, फिर भी आभास बिना सत्ता के सम्भव न होने के कारण सापेक्ष सत् है। सभी मिथ्या हैं फिर भी अंशतः सत्य हैं। इस प्रकार सभी प्रतीयमान वस्तुओं में कुछ सत्ता अवश्य होती है।[2] व्यावहारिक दृष्टि से ब्रेडले आभास को भी सत्य मानते हैं। यद्यपि सभी प्रतीयमान वस्तुओं को आभास कहा गया है, फिर भी व्यवहार में सत्य मिथ्या का अन्तर है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीयमान वस्तुयें सभी सत्य हैं।[3] ब्रेडले आभास को अद्वैत के मिथ्या के समान ही एक सर्वभौम व्यावहारिक सत्य मानते हैं। जहां पर ज्ञान के अनुकूल वस्तुयें नहीं प्राप्त होती वही भ्रम है। प्रतीयमान जागरिक वस्तु विषयक भ्रम उक्त भ्रम से भिन्न हैं।[4] प्रातीतिक वस्तुयें सापेक्ष सत् हैं। हमारे दैनिक व्यवहार में ये वस्तुयें मिथ्या नहीं हैं।

1. The Idealist thought of India—p. 102 P.T. Raju, London, 1953.
2. Every phenomena is somehow real. Appearance and Reality—p. 127. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)
3. From the relative point of view a truth is wholly true.—The Chief Currents of Contemporary Philosophy—Datta p. 74. 2nd Ed., Calcutta, 1961.
4. Appearance and Reality-p. 486. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सापेक्ष सत्य के बिना हमारा जीवन नहीं चल सकता।[1] प्रातीतिक ज्ञानों में जो ज्ञान सफल प्रवृत्तिजनक न हो, वह भ्रम है। जैसे सीपी में चांदी को देखने पर लेने के लिये प्रवृत्ति होने पर, वहां चांदी मिलती नहीं, इस कारण वह भ्रम ज्ञान है। भ्रमज्ञान का विषय भी भ्रम है,[2] किन्तु पुस्तक को देखने पर पुस्तक लेने की प्रवृत्ति दशा में पुस्तक की प्राप्ति होती है, अतः पुस्तक का ज्ञान सत्य-ज्ञान है। इस प्रकार ब्रेडले के अनुसार भी व्यवहार में सत्य मिथ्या का विभाजन किया गया है। वस्तुतः ब्रेडले के अनुसार सत्ताभेद नहीं है। सत् में सत्ताभेद सम्भव नहीं, क्योंकि सत् पूर्ण है। इसी कारण अन्य सत्ता, अधिक सत्ता, आदि बातें या अल्प-पूर्ण, अधिक-पूर्ण आदि बातें, वस्तुतः सत् में सम्भव नहीं।[3] सत् में सत्ता-भेद की कल्पना प्रातीतिक है।

अद्वैत वेदान्त में व्यवहार और परमार्थ का भेद हमने दिखाया है। अवगति पर्यन्त व्यावहारिक जगत् प्रमाण-प्रमेय-भाव, सब सत्य ही हैं; किन्तु बाध होने पर मिथ्या हैं। इस प्रकार अद्वैत का मिथ्या सदसदनिर्वचनीय है, ब्रेडले का आभास सापेक्ष सत् है। दोनों ही एक पूर्ण सत् की दृष्टि में जगत्-प्रपंच की व्याख्या देते हैं।

रीडर, दर्शन-विभाग,
गुरुकुल विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

1. The Chief Currents of Contemporary Philosophy—p.75. Datta, 2nd. Ed., Calcutta, 1961.
2. Ibid—p. 76.
Appearance and Reality—p. 319.Br adley (9th Ed., Oxford, 1930).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरतपुर में महाकवि देव

—लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

मानव-स्वभाव अपने परिवेश के साँचे में आकार ग्रहण करता है। यह बात सामान्य जनों की भाँति कवियों पर भी घटित होती है। हम कह सकते हैं कि कवि औरों की अपेक्षा अपने प्राप्त परिवेश से विशेष प्रभावित होता है। प्राचीन से लेकर अधुनातन तक सभी कवियों को हम इसी नियम का अनुवर्ती पाते हैं। कवि प्रकृति-परिवेश और सामाजिक परिवेश दोनों से समान रूप में प्रभावित होता है। उसमें परिवेश-परिवर्तन के साथ स्वभाव-परिवर्तन भी होता रहता है। उत्तर मध्यकाल के हिंदी-कवियों में से कतिपय को हम इस परिवेश या वातावरण से आश्चर्य-जनक ढंग से प्रभावित पाते हैं। आश्चर्यजनक इसलिये कि उन्होंने नया वातावरण पाकर अपने परंपरागत काव्य की राह कुछ देर के लिये छोड़ दी। जीवन भर शृंगार-परक रचना करने वाले कवि ने भी अपनी नई राह में वीर रस के कवियों से होड़ की। ऐसे कवियों में से एक महाकवि मतिराम भी हैं। इन्होंने अपने अग्रज महाकवि भूषण के आश्रय दाता छत्रपति महाराज शिवाजी और महाराज महाराज छत्रसाल बुंदेले के यहाँ यात्रा की थी। यह तथ्य है कि मतिराम शृंगार रस के अनुपम कवि थे। उनका रसपरक ग्रंथ 'रसराज' बहुत दिनों तक सर्वाधिक समादृत ग्रंथ रहा है। इन्होंने उपर्युक्त दोनों जननायकों के संपर्क में आकार वीर रस की श्रेष्ठ कविताएँ रच डाली थीं। याज्ञिक-बंधुओं (मयाशंकर याज्ञिक, जीवन शंकर याज्ञिक और भवानीशंकर याज्ञिक) ने माधुरी' पत्रिका के जुलाई, १९२४ के अंक में 'मतिराम और भूषण' नामक लेख में सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया था। नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय के कतिपय हस्तलेखों में मुझे भी कई छंद ऐसे मिल गए जिन्हें पाकर मुझे आश्चर्य-सम्मिश्र हर्ष हुआ। यहाँ मतिराम-रचित शिवाजी की प्रशंसा का एक छंद उद्धृत करके मैं प्रस्तुत विषय पर आ जाना चाहूँगा। छंद इस प्रकार है—

बान अरजुन के बखानियत मतिराम,
गदा भीमसैन की सदा ही सुभ साज की।
बासव को ब्रज, बलदेव को मुसल बासु—
देव जू ओ चक्र सुर कीरति इलाज की।
दंड दंडधर औ अदंडन के दंडिबे कौं,
नखन की पाँति नरसिंह सिरताज की।
सिव कौ त्रिसूल औ कुठार जामदग्नि औ ज्यौं
सिवा की सकति, समसेर सिवराज की॥

इसी प्रकार महाकवि देव एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने शृंगार को ही एकमात्र रस माना था—

'भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल सिंगार।'

और ये उसी रस के सिद्ध कवि माने जाते हैं। बहुतेरे राजाओं और रईसों के दरबारों में टक्कर खाने के बाद प्रतिक्रिया स्वरूप इनके मन में निर्वेद उत्पन्न हुआ था और वह जीवन के अंतिम दिनों में, जब इनकी वाणी अनायास फूट पड़ी थी—

ऐसो जौ हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ पाँय तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नट सों निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतों 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुंह मोरतो।
भारो प्रेम पाथर, नगारौ दै, गरे सों बाँधि,
राधावर बिरद के बारिधि मैं बोरतो॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी निर्विण्णता की स्थिति में इन्होंने वैराग्य और तत्त्व चिंतन परक चार पचीसियाँ लिख डाली थीं। अपनी वृद्धावस्था में देव काफी समय तक भरतपुर राज्य के आश्रित रहे। वहाँ के नरेशों की प्रशंसा में लिखे गए इनके छंद बहुत दिनों तक लोगों को अज्ञात रहे और बहुतों को तो आज भी उनका पता नहीं है। किसी हिन्दी साहित्य के इतिहासकार ने भी तत्परता के साथ खोज़ करने का कष्ट नहीं उठाया। इसीलिये हिंदी साहित्य के जो इतिहास इधर लिखे गए हैं, उनमें भी देव के भरतपुर राज्य के आश्रित होने का कहीं विवरण नहीं है। 'मत्स्य देश की हिंदी साहित्य को देन' नामक पुस्तक में देव का भरतपुर जाना उल्लिखित है, किंतु उसमें कहा गया है कि किसी सरदार के बार-बार आग्रह करने पर भी देव ने यही कहा कि सरस्वती मुझे कुछ कहने की आज्ञा नहीं दे रही है।

माधुरी नामक मासिक पत्रिका के वर्ष ३, खं० १६, संख्या चार के पृष्ठ ५३४ पर पं० मदनलाल जी मिश्र का एक लघु लेख 'महाकवि देव और भरतपुर राज्य' छपा है। इसमें याज्ञिक बंधुओं के कथन का खंडन करते हुए एक अनुश्रुत किंवदन्ती का उल्लेख किया गया है। वे लिखते हैं—

"मैंने कतिपय वयोवृद्धों से देव के विषय में यह एक किंवदंती सुनी है कि महाराज सूरजमल जी के दरबार में देव जी का आना समय-समय पर हुआ करता था। एक समय देव जी महाराज के दरबार में पधारे। उस समय कविवर घनआनंद जी भी उपस्थित थे। कविद्वय में वार्तालाप होते समय महाकवि देव जी ने कहा—"घनआनंद जी, आपकी कविता में जो चमत्कार और हृदयग्राहकता है वह हमारी कविता में क्यों नहीं आती?" इस पर घनानंद जी बोले—"महाराज, आप वर्तमान समय के कवि शिरोमणि और उत्कृष्ट पंडित हैं, परंतु इस दास की और श्रीमान् की कविता में जो अंतर है, उसका कारण एक रहस्य से पूर्ण है। वह यही कि आप जो वर्णन करते हैं, वह दूसरों पर बीती का, और यह दास अपने ऊपर बीती बात कहता है। जैसे कोई-व्यक्ति किसी के यहाँ मृत्यु होने पर शोक प्रदर्शित करने जाय तो उस समय उसको वैसा दुःख का अनुभव नहीं होता, जैसा जिसके घर मृत्यु हो गई हो, उसको होता है।"

इस किंवदंती का उल्लेख कई लेखकों ने अपने ग्रन्थों में किया है। पं० मदन लालजी मिश्र ने उसी लेख के अन्त में यह भी कहा है, "उन छः छन्दों के अतिरिक्त जवाहिर सिंह जी के विषय के कुछ छन्द देव के कहे और भी हैं।" किन्तु वे 'कुछ छन्द और भी' कौन से हैं उन्हें मिश्र जी ने उद्धृत नहीं किया और उन्हें उस समय यह भ्रम भी था कि वे छन्द प्रसिद्ध महाकवि देव के न होकर किसी और देव नामा कवि के हैं। इस भ्रम का खन्डन अपने एक लेख में याज्ञिक बधुओं ने बाद में कर दिया था। इधर मुझे प्राचीन हस्तलेखों को देखते समय कविवर देव के तीन छन्द और मिले हैं। इन तीनों कवित्तों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें से एक में महाराज सूरज मल्ल की युद्ध वीरता वर्णन है और शेष दो में महाराज जवाहर सिंह की प्रशंसा है। एक में उनकी युद्ध वीरता का उल्लेख है और दूसरे में उनके होली खेलने का रसमय वर्णन है। इससे यह बात साफ हो जाती है कि कविवर देव महाराज सूरजमल्ल के राज्यकाल में भरतपुर गए ही थे। बाद में उनके तेजस्वी पुत्र के राजत्वकाल में भी वहाँ पधारे थे और दोनों ही नरेशों ने उनका यथोचित सम्मान भी किया था। महाराज सूरजमल्ल के युद्ध का छन्द पहले देखें—

दुहूँ दल मार-मार मच्यौ घमासान और
नाचत-मसान जहाँ नाग गन छ्वै गयौ।
चल्यौ आसमान भान सहित बिमान जहाँ
चल्यौ मेरु मति औ सिथिल ससि ह्वै गयौ।
सोनित ओ नद चल्यौ, नन्दी तहाँ बहि चल्यौ,
सिव चल्यौ सहमि सिवाहू उर छ्वै गयौ।
बीर मद मत्ता तहाँ हाथ गहै कत्ता 'देव'
हल्यौ न चकत्ता लत्ता-लत्ता तन ह्वै गयौ॥

यह दिल्ली के उस युद्ध का वर्णन है, जिसमें महाराज सूरज मल्ल ने वीर गति पाई थी। शेष दोनों छन्द इस प्रकार हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूलैगो कतल जातें सुतल बितल काँप्यौ,
भूलैगो दिली मैं साति नादर को आयबौ।
भूलैगो रे भाऊरम्य भाज्यौ संसार जातें,
भूलैगो सुजान को जु सुरपुर जायबौ॥
ह्वै करि सकुद्ध उद्ध जुद्ध महा जैपुर को
जीत्यौ रजपूतन को गरब गरायबौ।
भूलैगो न जग मैं जवाहर नरिंद तेरौ
सिंघन बुलायबौ पौहौकर को न्हायबौ॥
ब्रज सिरताज श्री जवाहर नरेंद्र आज
होरी के समाज गज चढ़ि चहुँ ओर पर।
आनन्द उमंग प्रेम रस की तरंग भरि,
केसरि के रंग पिचकारिन झकोर पर॥
सुन्दर नवेली अलबेलिन के आनन पै
बरसैं सुगन्ध बारि मदन मरोर पर।
मानौं उदयाचल तै मारतन्ड मन्डल की
छूटीं लाल किरनैं कलानिधि की कोर पर॥

परम्परानुसार प्रचन्ड पराक्रमी महाराज जवाहर सिंह की वीरता और संस्कृति-प्रेम-जन्य उनकी रसिकता का वर्णन करके उनकी सर्वतोभावेन पूर्णता का निदर्शन कविवर देव ने कर दिया है।

जिन प्राचीन हस्तलेखों से मैंने ये छन्द प्राप्त किए हैं, उनमें सैकड़ों ज्ञात और बहुतेरे अज्ञात कवियों की उत्तम रचनाएँ संकलित हैं। यदि इन हस्तलेखों का प्रकाशन हो जाय तो मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का वह भाग जो अंधकाराच्छन्न है, बहुत कुछ प्रकाश में आ जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी साहित्य और दयानन्द युग

कृष्णकुमार कौशिक

सन् १७५७ ईसवी में प्लासी के युद्ध ने बंगाल में ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रमुख प्रभुत्व स्थापित कर दिया। इसके सात वर्ष बाद अर्थात् १७६४ ई० में बक्सर की लड़ाई के उपरान्त अवध पर भी कंपनी का झन्डा फहराने लगा। १८०० ईसवी तक इस देश का बहुत बड़ा भाग कंपनी के अधिकार में आ चुका था। थोड़ा बहुत जो शेष रह गया था उसकी पूर्ति १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम ने (जिसे अंग्रेज इतिहासकारों ने गदर या सिपाही विद्रोह का नाम दिया था) कर दी।

इस तथाकथित विद्रोह के समाप्त हो जाने के बाद कम्पनी के काले शासन का भी अन्त होगया। शासन सत्ता कम्पनी के हाथों सेनिकल कर महारानी विक्टोरिया के पास चली गयी। दूसरे शब्दों में एक विदेशी शासन के विरुद्ध जनता के हृदय में सुलगने वाली आग कुछ समय के लिए शांत हो गयी। इस प्रकार सन् १७५७ ईसवी से लेकर १८५७ ईसवी तक के इन १०० वर्षों में अंगरेजों ने सम्पूर्ण भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था।

अंगरेजी रहन सहन तथा बोलचाल उस समय के भारतीय युवकों के लिए आकर्षण की वस्तु थी। धार्मिक मुसलमान और हिन्दू दोनों ही देश के नवयुवकों को पाश्चात्य के प्रभाव से प्रभावित होते हुए देखकर चिंतित थे। ऐसी दशा में सारे देश में दो विरोधी विचार धाराओं में संघर्ष छिड़ना आवश्यक था। राजा राममोहनराय और सर सैयद अहमद खां उसे दूरदर्शी नेता अंगरेजी शिक्षा और विलायती भाषा का समर्थन करके युग का नेतृत्व कर रहे ये।

यद्यपि ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी में ईसाई धर्म प्रचारकों ने दक्षिण भारत में ईसाई धर्म का झण्डा गाड़ दिया था पर अंग्रेजों के शासनकाल में उन्हें अपने धर्म प्रचार की खुली छुट्टी मिल गयी, अंग्रेजी रहन सहन को अपना कर लोग शरीर से ही अंगरेज बन रहे थे पर ईसाई पादरी इस देश की आत्मा को भी बदल देना चाहते थे। ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने इस देश की भाषाएं सीखी। और सभी भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद किए। उस समय तक देशी भाषाओं का एक भी व्याकरण नहीं था। उन्हें विदेशी होने के कारण इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता थी। अतः उन्होंने यहाँ की भाषाओं की व्याकरण की रचना करके एक ऐसा महत्त्व पूर्ण कार्य किया जिसने आगे चलकर भाषा विज्ञान तथा भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन को जन्म दिया। हिन्दी भाषा में बाइबिल का अनुवाद जार्ज विलियम कैरे ने किया। इस अनुवाद में उन्होंने इस देश की भोली भाली तथा साधारण पढ़ी लिखी जनता को प्रभावित करने के लिए भाषा कथावाचक पंडितों जैसी रखी। बाईबिल के पुराने धर्म नियम में से इसका एक उदाहरण दिया जाता है।

"सारी पृथ्वी पर एक ही भाषा और एक ही बोली थी उस समय लोग पूर्व की ओर चलते-चलते शिनार देश में मैदान पाकर उसमें बस गये। तब वे आपस में कहने लगे कि आओ हम ईंटे बनाकर भली-भाँति आग में पकाएं और उन्होंने पत्थर के स्थान में ईंट से और चूने के स्थान में मिट्टी के गारे से काम लिया। फिर उन्होंने कहा आओ हम एक नगर गुम्बद बना ले जिसकी चोटी आकाश से बातें करे।

जब लोग नगर और गुम्बद बनाने लगे तब इन्हें देखने के लिए यहोबा उतर आया और यहोबा ने कहा सब एक ही दल के है और भाषा भी उन सबकी एक ही है।

इसलिए आओ हम उतर के उनकी भाषा में गड़बड़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डालदें कि वे एक दूसरे की बोली न समझ सकें। इस प्रकार यहोवा ने उन्हें वहाँ से सारी पृथ्वी के ऊपर फैला दिया।

इस कारण उस नगर का नाम बाबुल पड़ा क्योंकि सारी पृथ्वी की भाषा में जो गड़बड़ी है सो यहोवा ने यहीं से डाली।' उत्पन्ती पर्व ११

प्रचार की दृष्टि से लिखी गयी बाईबिल की भाषा को साहित्यिक नहीं कहा जा सकता। उसमें एक प्रकार का अखड़पन भी मिलता है तथा साथ ही साथ उनकी भाषाओं में शब्दों के अनगढ़ रूपों को देखने से जान पड़ता है कि उसमें गंवारूपन तथा कथावाचक पंडितों की कथा वाचने की शैली का समावेश जानबूझ कर किया गया है। यदि वह चाहते तो इस दिशा में अच्छा कदम भी उठा सकते थे साधारण पढ़े। लिखे हिन्दुओं को धर्म विमुख करने के लिए वह मेलों में जाजा कर ऐसे ट्रैक्ट भी बाँटा करते थे जिनमें वेद शास्त्रों की कड़ी आलोचना होती थी सत मत निरूपण, धर्म तुला, सतगुरु की खोज, आदि ट्रैक्ट जिन्हें अब भी ईसाई धर्म प्रचारक मेले-ठेलों में बांटा करते हैं उन्हें यदि ध्यान से पढ़ा जाय तो ऐसी बहुत सी बातें मिलेंगी जिनका उद्देश्य धार्मिक महा पुरुषों की निन्दा करके भोली भाली जनता को धर्म विमुख बनाना ही जान पड़ता है। सतगुरु निरूपण से एक उदाहरण लीजिए:—

वह सोचेगा कि मैं पाप से काहे को भयभीत होऊं मैं बुरा तो हूं परन्तु देवताओं से बुरा तो नहीं हूं वरन् उनसे कहीं भला हूँ। शिव के समान जाति से अप्रतिष्ठित तो नहीं हुआ ब्रह्मा की नाई कामातुर होके अपनी कन्या से कुकर्म नहीं किया। विष्णु के समान स्त्री को नहीं ठगा। इन्द्र के समान अपने गुरु की पत्नी को भ्रष्ट नहीं किया।

ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने सारे भारत में मिशन स्कूलों का जाल बिछा दिया। जिनमें इसी देश की देशी भाषाओं में अनिवार्य रूप से बाइबिल की शिक्षा भी दी जाती थी। उन्होंने पाठ्य विषयों को उन विद्यालयों के छात्रों को पढ़वाने के लिए यहाँ की देशी भाषाओं में पाठ्य पुस्तकों की रचना भी कराई थी।

हिन्दी के कुछ विद्वानों का यह कहना कि ईसाईयों ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा मानकर उसे अपने धर्म प्रचार का माध्यम बनाया था कुछ उचित नहीं जान पढ़ता क्योंकि उन्होंने जहाँ उत्तर प्रदेश के कुछ भाग में प्रचार करने के लिए हिन्दी को प्रचार का माध्यम बनाया वहां वहाँ उन्होंने बंगला, मराठी, पंजाबी, उर्दू, राजस्थानी, नेपाली, गुजराती, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं को प्रचार का माध्यम बनाया था। शायद भारत की कोई भाषा होगी जिसमें इसाई धर्म प्रचारकों ने बाईबिल का अनुवाद नहीं किया होगा।

ईसाई पादरियों के इस धार्मिक प्रचार के प्रभाव से तो इतने नहीं पर नये शासकों की बिरादरी में शामिल होने के लोभ से माईकिल मधुसूदन दत्त जैसे सुशिक्षित हिन्दू भी ईसाई धर्म में दीक्षित हो रहे थे। समुद्र पार जाने को धर्म विरुद्ध समझने वाले धार्मिक हिन्दुओं की कट्टरता के कारण बहुत से विलायत से शिक्षा प्राप्त करके लौटकर आने वाले हिन्दू विवश होकर शासकों का धर्म स्वीकार कर रहे थे।

यह परिस्थितियाँ थी जिन्होंने युग पुरुष दयानन्द के लिए कार्य क्षेत्र तैयार कर दिया था। अपनी लेखनी के द्वारा जो कार्य उन्होंने किया था, वही योरप में वहाँ की धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार मार्टिन लूथर ने किया था।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने वाले विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ सम्वत् १९०० में माना है इसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने आगे चलकर सम्वत् १९२५ से १९५० तक प्रथम उत्थान; १९५० से ७५ तक द्वितीय उत्थान १९७४ से अब तक तृतीय उत्थान मानकर इन तीन भागों में इस समस्तकाल को बांट दिया है। इन तीनों उत्थानों को अब हिन्दी के विद्वान् भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावादी युग का नाम, प्रदान करते हैं परन्तु १९२५ से पहले २५ वर्षों के युग को क्या कहा जाय यह एक प्रश्न हमारे सामने अभी तक बना हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे विचार में यही काल वास्तव में हिन्दी का प्रथम उत्पादन काल है। इसकी भूमिका ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने खण्डन मन्डनात्मक ट्रैक्टों के द्वारा आरम्भ करदी दी थी। ईसाई पादरी कबीर के समान जिस लक्कड़ भाषा में खण्डन, मन्डन कर रहे थे उसका उत्तर स्वामी जी ने जिस भाषा में दिया उसे हम ईंट का जवाब पत्थर से देना ही कहेंगे। हिन्दी के विद्वान स्वामी जी की गद्यशैली की समीक्षा करते हुए उसके खण्डनात्मक रूप को ही लेते हैं। इस समीक्षा में वह सत्यार्थ प्रकाश से आगे नहीं बढ़ पाते। सत्यार्थ प्रकाश में भी केवल खण्डन मण्डन वाले प्रकरणों को लेकर स्वामी जी की गद्य शैली की समीक्षा करके रह जाते हैं।

कितना अच्छा होता यदि यह विद्यवान स्वामी जी के अन्य ग्रन्थों ऋग्वेद आदि भाष्यभूमि का तथा संस्कार विधि आदि पर भी एक दृष्टि डाल लेते। स्वामीजी के वेद भाष्य की भाषा का भी अध्ययन कर लेते। एक ही विद्वान् जब विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रकट करता है तो उसकी शैली भी विषयों के अनुरूप बदलती चली जाती है। यदि यह सत्य है तो स्वामी जी की भाषा शैली के भी सभी समीक्षकों को उनकी समस्त रचनाओं को सम्मुख रखकर उस पर अपना सही निर्णय देना पड़ेगा।

स्वामी जी को केवल एक धर्म प्रचारक मानकर उनकी गद्य शैली की समीक्षा करते समय उसकी उपेक्षा करना एक संकुचित दृष्टि कोण ही कहा जायगा। वास्तव में जिस गद्य शैली का प्रतिष्ठापक लोग भारतेन्दु को बताते हैं उसका शिलान्यास स्वामीजी ने ही किया था। यदि साहित्य, उपन्यास, नाटक कहानी, निबन्ध, आदि विद्याओं का श्रीगणेश भारतेन्दु तथा उनके युग के लेखकों द्वारा हुआ तो शास्त्रीय पद्धति से समीक्षा और व्याख्या करने की पद्धति का आरम्भ स्वामी जी और उनके युग के लेखकों के द्वारा हुआ। इस निर्विवाद सत्य को कौन नहीं स्वीकार करेगा।

स्वामी जी की लेखनी ने धार्मिक क्षेत्र में जो क्रान्ति की थी उसने भारतीय चिन्तन परम्परा को सर्वथा बदल दिया। उससे पूर्व ईसाई पादरी अपनी कठोर भाषा में वेदों तथा पुराणों की आलोअना करके भारतीय जनता के धार्मिक विश्वास को चोट पहुंचा रहे थे। संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण जनता उनके कुतर्कों का उत्तर दे सकने में असमर्थ थी। अतः समय की मांग थी कि कोई विद्वान् संस्कृत में लिखे गये हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों को बोलचाल की भाषा में समझा कर सर्व साधारण के लिए उनका अध्ययन सुलभ कर सके।

साथ ही एक प्रश्न यह भी था कि वह भाषा क्या हो? हमारा भारत जहां मराठी, बंगला, गुजराती, मलयालम तेलगू, कन्नड आदि सैकड़ों भाषाऐं बोली जाती हैं वहां इस भाषा सम्बन्धी समस्या को हल करना सुगम नहीं था। अपने प्रचार कार्य का श्री गणेश राष्ट्र भाषा हिन्दी में करके युग पुरुष दयानन्द ने युग को एक नई दिशा दिखाकर जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया उसके लिए उनका नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिए था। अपनी मातृ भाषा गुजराती होते हुए भी उनका हिन्दी में ग्रन्थ रचना करना यह स्पष्ट कर देता है कि वह हिन्दी को राष्ट्र भाषा के स्वर्ण सिंहासन पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उनका उद्देश्य केवल ग्रन्थ रचना ही नहीं था बल्कि समूचे भारत की बिखरी हुई कड़ियों को जोड़कर श्रृंखला का रूप देना भी था एक देश एक वेष, एक भाषा, एक धर्म, एक संस्कृति का जो मधुर स्वप्न उन्होंने देखा था वह उनके ग्रन्थों में ही मिल सकता है। अपने इस स्वप्न को साकार करने के लिए उन्होंने हिन्दी में ही ग्रन्थ रचना की।

एक ओर तो उनकी मातृ भाषा गुजराती थी और दूसरी ओर उनके पठन की भाषा संस्कृत थी ऐसी दशा में जितनी सुगमता से वह इन दोनों भाषाओं में लिख सकते थे उतनी सुगमता से हिन्दी में लिख सकना उनके लिए कठिन था फिर भी उन्होंने इन दोनों भाषाओं में रचना न करके हिन्दी के प्रचार व प्रसार में जो महत्त्व पूर्ण कार्य किया वह हमारे सामने है। हिन्दी भाषा को आर्य भाषा का नाम देकर देश की भावात्मक एकता की आधार शिला सर्व प्रथम उन्होंने ही रक्खी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी जी की क्रान्तिकारी लेखनी ने दो महत्वपूर्ण कार्य किए जिनमें एक था विपक्षियों का खण्डन दूसरा था प्राचीन संस्कृति की सुरक्षा। प्राचीन संस्कृत साहित्य के विविधि क्षेत्रों में जो आज अनुसन्धान सम्बन्धी कार्य हिन्दी भाषा के माध्ययम से हो रहे हैं उसका आरम्भ स्वामी जी की लेखनी के द्वारा ही हुआ था।

उनकी शैली की समीक्षा करते समय हमें यह भी ध्यान में रखना है कि उनके पीछे एक युग अभी तक चला आ रहा है। ऐसी स्थिति में स्वामीजी की गद्य शैली को समीक्षा करते समय केवल इतना कह देने से काम नहीं चलेगा कि वे एक धर्म प्रचारक थे : इसलिए उनका गद्य साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। यदि उदार दृष्टिकोण से हम उनकी शैली की समीक्षा करें तो हमें हिन्दी गद्य शैली को वर्तमान रूप देने वाले लेखकों में स्वामी जी को प्रथम स्थान देना पड़ेगा। प्राचीन संस्कृत वांङ्मय को जनता की भाषा में रखने वालों में स्वामी जी ही पहले भारतीय विद्वान् हैं। क्या यह हमारे लिए कम लज्जा की बात नही है कि इस कार्य को बहुत पहले विदेशी भाषाओं में मैक्समूलर, कीथ तथा मैग डानल जैसे विद्वान् प्रारम्भ कर चुके थे। स्वामी जी के कार्य क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व संस्कृत विद्वान् हिन्दी में कुछ लिखना भी अपमान समझते थे। अतः वे इस कार्य का श्रीगणेश कैसे कर सकते थे। हमारे प्राचीन ग्रन्थ दीमकों के भोजन बनते जा रहे थे। पश्चिमी देशों के विद्या प्रेमी विद्वान् दुर्लभ ग्रन्थ रत्नों की पांडुलिपियाँ मुंह मांगे दामों में खरीद कर अपने ग्रन्थागारों का गौरव बढ़ा रहे थे। स्वामी जी के वेद भाष्य छप जाने पर भारतीय विद्वानों में भी इन अमुद्रित ग्रन्थों को छपवाने तथा संग्रह करने की ओर रुचि उत्पन्न होना स्वाभाविक था। उनसे प्रेरणा पाकर भारतीय विद्वान् इस क्षेत्र में आगे बढ़े आज तो सभी विद्वान् यह स्वीकार कर रहे हैं कि हिन्दी के माध्यम से संस्कृत साहित्य के अध्ययन को सर्व सुलभ बनाने के सम्बन्ध में अब तक जितना भी कार्य हुआ है उसके पथ प्रर्दशक केवल स्वामी दयानन्द ही हैं। स्वराज का स्वप्न देखने वाले युग पुरुष दयानन्द के हृदय के भीतर भारत को स्वतन्त्र देखने की जो भावना काम कर रही थी उसका आभास उनकी इन पंक्तियों में मिल जाता है:—

यह आर्यवर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है इसलिए इस भूमि का नाम स्वर्णभूमि है। पारस मणि पत्थर सुना जाता है वह बात झूँठी है परन्तु आर्यवर्त देश ही सच्चा पारस मणि है जिसका लोहे रूपी दरिद्र विदेशी देश छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।

विषय को बोध गम्य तथा स्पष्ट करने के लिए स्वामीजी ते सर्वत्र इसी शैली का प्रयोग किया है विरोधियों का खण्डन करते समय उनकी भाषा अवश्य ही कठोर हो गयी है परन्तु यह सब होते हुए भी स्वामी जी की इस शैली को पंडितों की कथा वार्ता की भाषा कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता उसकी भी अपनी ही विशेषता है।

इस प्रकार स्वामी जी की शैली को हम प्रतिपादनात्मक, निर्वचनात्मक, वादात्मक इन तीन शैलियों में विभक्त कर सकते हैं। वेद मन्त्रों की व्याख्या जिस शैली में है वह निर्वचनात्मक शैली का उत्तम उदाहरण है। वह इस क्षेत्र में इस शैली के जन्मदाता कहे जायेंगे क्योंकि उनसे पूर्व किसी ने किसी भी भारतीय भाषा में यह कार्य सम्पादित नहीं किया था। प्रतिपादनात्मक शैली में उन्होंने अपने विषय को संस्कृत निष्ठ हिन्दी में सर्व साधारण के सम्मुख रखने का सफल प्रयत्न किया है। जबकि उनकी उनकी मातृ भाषा हिन्दी नहीं थी। वादात्मक शैली का प्रयोग उन्होंने विपक्षियों का खण्डन मण्डन करते समय किया है। इसमें उनके पथ प्रदर्शक ईसाई धर्म प्रचारक रहे हैं। फिर भी स्वामीजी की शैली ईसाई धर्म प्रचारकों की भाषा की अपेक्षा अधिक परिमार्जित और परिष्कृत है।

लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी इसमें प्रचुर मात्रा में मिलता है। उनकी इस शैली में भाषा की वक्रता और लाक्षणिकता देखते ही बनती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या गोसाईं तुलसीदास बलिया के भूमिहार थे?

डा० किशोरीलाल गुप्त

तुलसी जयंती सं० २०२९ के अवसर पर 'गोस्वामी तुलसीदास जीवन वृत्त और व्यक्तित्व' नामक ६८८ बड़े पृष्ठों की एक विशाल पोथी प्रकाशित हुई है। इसके लेखक हैं लिलकर जिला बलिया निवासी श्री कुलदोषी नारायण राय 'झड़प', मुद्रक हैं श्री कमला प्रसाद राय, जनता प्रेस, ४२ पथरिया घाट स्ट्रीट, कलकत्ता-६ तथा प्रकाशक हैं अ० भा० ब्रा० परिषद (बंग) ५० राम-कृष्णपुर लेन हवड़ा। ग्रंथ का मूल्य है ३१ रु० इस विशाल ग्रंथ का प्रतिपाद्य है—तुलसीदास जी को बलिया जिले के गंगा तट-स्थित एक गाँव राजापुर का रहने वाला भूमिहार ब्राह्मण सिद्ध करना। प्रासंगिक प्रति-पाद्य विषय हैं—स्वामी रामानन्द, प्रसिद्ध अष्टछापी कवि नंद-दास एवं महाकवि सेनापति को भी भूमिहार ब्राह्मण सिद्ध करना। झड़प जी द्वारा प्रस्तुत तर्क इस ग्रंथ में दिए तुलसी दास के जीवन वृत्त को प्रामाणिक बनाने में असमर्थ हैं। उनमें कोई दम नहीं है। हाँ, इस ग्रंथ से भूमिहारों के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी अवश्य प्राप्त हो जाती है। प्रस्तुत निबन्ध दो खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में जन्म स्थान पर विचार किया गया है और दूसरे खण्ड में जाति पर। पहले खण्ड में झड़प जी ने जो उपशीर्षक लगाए हैं, उन्हींके अन्तर्गत क्रमशः विचार प्रस्तुत किया गया है। दूसरे खण्ड में उन उपशीर्षकों को त्यक्त कर दिया गया है और चालीस विचार बिन्दु प्रस्तुत किये गये हैं। यह न समझा जाय कि ये तर्क इतने ही हैं। झड़प जी ने अपने विषय पर पर्याप्त विचार किया है, यह दूसरी बात है कि इन विचारों से लोक-मत सहमत न हो।

(क) जन्म-स्थान विचार

(१) जन्मस्थान गंगातटस्थित राजापुर बलिया

१. यह भरत खण्ड समीप सुरसरि,
थल भलो संगति भली

२. बरु बारहिं बार सरीर धरौं,
रघुवीर को है तव तीर रहौंगो
भागीरथी बिनवौ कर जोरि,
बहोरि न खोरि लगै, सो कहौंगों

३. तुलसी तव तीर तीर, सुमिरत रघुवंश वीर,
बिचरत मति देहि मोह-महिप-कालिका

४. सिय सुरसरिहिं कहेउ कर जोरी
मातु, मनोरथ पुरवबि मोरी

५. धन्य सो देश जहाँ सुरसरी

६. सरित गंभीर वानीर दुहुँ तीर वर,
मध्य धारा विशद विश्व अभिरामिनी।
हरित पयंक पर शयित सर्पेश जनु,
सहस सीसावली स्रोत सुर स्वामिनी॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७. चेरो राम राय को, सुजस सुनि तेरो हर,
पायँ तर आइ रह्यों सुरसरि-तीर हौं ।

ये सभी अंश झड़प जी द्वारा उद्धृत हैं और इनसे यह निकालने का प्रयत्न किया गया है कि तुलसीदास का जन्म गंगा-तट पर हुआ था और यह गंगा-तट काशी के पूर्व में बलिया वाला है । छठे उद्धरण के 'सहस सीसावली स्रोत' का अर्थ किया गया है कि तुलसीदास के समय में बलिया के पास गंगा जी की सहस्र धाराएँ थीं । उक्त उद्धरण में गंगा के किसी एक खण्ड-विशेष का चित्र नहीं है, समग्र गंगा का चित्र है । गंगा की धारा गहरी है, दोनों ओर वानीर (वेंत, प्रतीक रूप में) है । बीच में गंगा की धारा हैं । लगता है नीली शय्या पर शेष नाग सो रहे हैं । शेष का रंग श्वेत है । सागर में जहाँ गंगा मिलती है, उसे गंगा सागर कहते हैं । यहां गंगा की सहस्र धाराएँ मानी जाती हैं । गंगा सागर में गिरने वाली गंगा की यही सहस्र धाराएँ शेष नाग के सहस्र शीश हैं । इनके अतिरिक्त तुलसीदास के बलिया में गंगा-तट पर जन्मने के सम्बन्ध में और भी कुछ लचर प्रमाण दिए गए हैं, यथा—

१. 'आक जवास पात विनु भयऊ' । झड़प जी के अनुसार यह दृश्य बलिया शाहाबाद में गंगा-सरयू के कछार में ही देखा जाता है । तुलसी के इस सर्वदेशीय कथन को एकदेशीय करना ठीक नहीं ।

२. तुलसी तृन जल कूल को, निरबल निपट निकाज
कै राखै कै सँग चलै, बाँह गहे की लाज ।
दोहावली ५४४.

झड़प जी के अनुसार 'तुलसीदास ने किसी ऐसी बड़ी नदी के तट पर बाल्यावस्था बिताई थी, जिसका कगार ऊँचा होगा एक कगार की भूमि कँकरीली पथरीली अथवा बहुत कड़ी न होगी । ऐसी स्थिति बक्सर के पूरब में ही गंगा नदी की है । उधर गंगा का विस्तार भी शेषनाग के हजारों फणों के समान सुविस्तृत हो जाता है ।'

क्या इस दोहे के आधार पर बलिया जिले के किसी राजापुर गाँव को तुलसी के जन्म स्थान होने का गौरव दिया जा सकता है ?

तुलसीदास जी हिंदू होने के नाते गंगा भक्त थे। काशी में उनके जीवन का अधिकांश बीता । अतः गंगा के प्रति उनका सामान्य हिन्दू-प्रेम विशेष-भक्त-प्रेम में बदल गया । आजतक किसी ने नहीं कहा कि तुलसीदास का जन्म गंगा जी के किनारे स्थित किसी गाँव में हुआ । झड़प जी ने जो दलीलें दी हैं, उनमें कोई तत्त्व नहीं । सातवे उद्धरण से तो स्पष्ट है कि तुलसीदास शिव की प्रशंसा सुन, उनकी चरण शरण में आकर, सुरसरि-तीर पर, काशी में रहने लगे थे, वे गंगा तट पर जन्मे नहीं थे ।

गोसाईं जी गंगाजी के भक्त हैं । इससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि उनका जन्म गंगा तट पर स्थित किसी गाँव में हुआ था । गंगा का प्रेमी तो हर हिंदू है ।

(२) शिव पीठ की निकटता

इस प्रकरण में झड़प जी का कहना है कि गोसाईं जी अनन्य राम-भक्त होकर भी परम शिव भक्त थे । इससे स्पष्ट है कि उनका जन्म किसी ऐसे कुल में हुआ जो शैव था । हमें इससे इनकार नहीं कि गोसाईं जी राम-भक्त के साथ-साथ परम शिव भक्त भी थे । पर हम उनके इस मत से सहमत नहीं कि तुलसी की जन्म-भूमि का सोरों, राजापुर, (बाँदा) और अयोध्या में होने की अपेक्षा भोजपुरी प्रदेश में होना अधिक संगत प्रतीत होता है, जहाँ काँट ब्रम्हपुर (शाहाबाद), छितौनी असेगा (बलिया) और मेंहदार ढोढ (सारन) में भगवान शिव के प्राचीन मन्दिर हैं । हिंदुस्तान का शायद ही कोई अभागा गाँव होगा जहाँ शिवालय न हो । जहाँ शिवालय नहीं हैं, वहाँ भी किसी नीम या पीपल के पेड़ के नीचे किसी पत्थर पर दो चार शिव लिंग अवश्य हैं और उन पर जल भी चढ़ाया ही जाता है । मन्दिरों में प्रायः शिव, गणेश, पार्वती, हनुमान जी की मूर्तियाँ एक साथ मिलती हैं, जो उदार विचार-धारा का ही प्रतीक हैं । तुलसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ भी पैदा हुए रहे होगें, वहाँ शिवालय का अभाव नहीं रहा होगा।

(३) भीतरी झलक

(१) हाथी हथि सारें जरे घोरे घोरसारही

—कवितावली सुन्दरकांड २३

झड़प जी के अनुसार हाथी, हथिसारें, घोरसारही, घोरे सभी भोजपुरी शब्द हैं और किसी राजा की विपत्ति का विवरण देते समय भोजपुरी लोककथाओं में इनका प्रयोग किया जाता है।

मैं अवधी भाषा-भाषी हूँ और ऐसी लोककथाएँ मैंने भी लड़कपन में सुनी हैं। ये सभी शब्द समान रूप से अवध में भी प्रचलित हैं।

(२) 'तेरी मरजी तें चलें चिंचिनी चियाँ रें'

इमली की चियाँ सभी जगह होती है। हमारे यहाँ भी इमली के बीज को 'चीयाँ' ही कहते हैं। बलिया में यह सिक्के की तरह चलता है क्या? जहाँ तक बटुवलिया पैसे की बात है, हमने भी लड़कपन में इसे चालू सिक्के के रूप में देखा था—इसे गोरखपुरी पैसा या मोटका पैसा कहा जाता था।

(३) नाम राम रावरे तो चाम की सलाई है

—कवितावली उत्तर कांड ७४

झड़प जी का कहना है कि चौसा के पास हुंमायूं को एक भिश्ती ने मशक पर चढ़ाकर गंगा पार उतारा था। हुमायूँ ने प्रसन्न हो कर उसे एक दिन की बादशाहत दे दी थी और उसने चमड़े का सिक्का चलाया था। तुलसी दास बलिया वासी थे, इसीलिए उन्हें यह घटना मालूम थी और उन्होंने चाम का दाम चलाने की बात का उल्लेख किया है।

भिश्ती के चमड़े का सिक्का चलाने की बात ऐतिहासिक तथ्य है। यह अद्भुत कथा तो सारे हिंदुस्तान में वन की आग की तरह फैल गई होगी, और इस तथ्य को जानने के लिए तुलसी के बलिया में जन्म लेने की कोई आवश्यकता नहीं, वह भारत के हिन्दी भाषा भाषी किसी प्रदेश में जन्म लेकर यह बात जान सकते थे। वस्तुतः यहाँ इतिहास प्रसिद्ध इस घटना की ओर संकेत नहीं है। यह मुहावरा मात्र है। रीतिकालीन कवियों ने तो रूपगर्विता नायिकाओं के लिए चाम के दाम लगने की बात बराबर कही है। वे शृंगारी प्रयोग हैं, तुलसी का प्रयोग शांत-परक है।

(४) 'एक पूजें बाहु बल मूल तोरि फूल हैं'

—कवितावली सुंदरकांड ३०

झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी के जन्म के प्रायः पचास वर्ष पहले बलिया के राजा कर्णदेव ने सिकंदर लोदी से युद्ध कर हिंदू जनता को उसके अत्याचारों से बचाया था। तब हिंदू नेताओं ने उनकी बाँहों की पूजा की थी। बलिया में जन्म लेने के कारण तुलसी इस कथा से परिचित थे, इसीलिए उन्होंने सीता का पता लगाकर वापस आने पर हनुमान की बाँहों की पूजा उनके साथियों से कराई है।

यह भी झड़प जी का शुद्ध भ्रम है। वीरों की पूजा की यह एक सामान्य पद्धति ही थी। गोवर्धन धारण के पश्चात श्री कृष्ण की भी पूजा हुई है। तो क्या यह कंसोपाटन (बलिया) के कर्णदेव की बाहु-पूजा के आधार पर हुई है?

सूरदास जी लिखते हैं—

सबै मिलि पूजौ हरि की बहियाँ
जौ नहिं लेत उठाइ गोवर्धन, को बाँचत व्रज महियाँ
'कोमल कर गिरि धरयो घोष पर; सरद कमल की छहियाँ
'सूरदास' प्रभु तुम दरसन सौं, आनँद है सब कहियाँ

—सूरसागर पद १५८८

देव ने भी गोवर्धन-धारण के पश्चात् ग्वाल बालों द्वारा बलवीर की बाहों के भेंटने का वर्णन किया है—

तीर धरयो जु गहीर गुहा,
गिरि धीर धर्‌यो सु अधीर महा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूँछती पीर भरे दृग नीर,
त्यों एकै समीर करैं और सराहैं
छोर मिजै यक पोंछती चीर लै,
राधे रहैं तिरछो करि छाहैं
भेंटती भीर अहीरन की,
वर वीरज की बलबीर की बांहैं

—देवसुधा ४

(५) क गोंड़ गँवार नृपाल महि जवन महा महिपाल

—दोहावली

ख वेद धर्म दूरि गये, भूमिचोर भूप भए

—कवितावली उत्तर कांड १७७

झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी का संबंध ऐसे राज्य से अवश्य था, जहाँ गोंड, गँवार, नृपाल का राज्य था, जो चोरी चोरी राजा बन गया था। बलिया में उस समय हल्दी में ऐसा ही राज्य था, जो गोंडवाना से आया था और हल्दी की ब्राम्हण रानी को धोखा देकर राज्य छीन लिया था।

हल्दी का राज्य तो एक जमींदारी मात्र रहा होगा, जो इतिहास की दृष्टि से नगण्य है। तुलसी के ही समय में मध्य प्रदेश के एक विशाल भू-भाग गोंडवाना पर गोंड़ों का राज्य था। प्रसिद्ध गोंड रानी दुर्गावती अकबर बादशाह एवं गोसाईं तुलसी दास की समकालीन थी। तुलसी को निश्चय ही इसका पता रहा होगा।

(६) पुनः झड़प जी कहते हैं—

"यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो तुलसीदास जी ने अपने को आरा बलिया का निवासी होने की ओर स्पष्ट संकेत भी किया है। तुलसीदास जनकपुर की यात्रा में श्रीरामचन्द्र जी के साथ दिखाई देते हैं और उनकी अनन्य निष्ठा देख श्री रामचन्द्र जी उन पर अपनी कृपा दृष्टि डालते हैं—

सनमुख सबहिं बिलोकत सबहिं नीके।
कृपा से हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं॥

—गीतावली, बालकांड ७१

जिसे झड़प जी ने स्पष्ट संकेत कहा है, वह अत्यन्त दुर्बल है और स्पष्ट क्या अस्पष्ट संकेत तक नहीं है। भक्त सदैव अपने को इसी प्रकार अपने प्रभु के निकट रखना चाहता एवं कृपा पाना चाहता है। सीता जी के कहने पर राम जी ने तुलसी की विनय पत्रिका पर अपनी सही कर दी—क्या झड़प जी इसे ऐतिहासिक तथ्य कहना पसंद करेंगे ?

'तुलसीदास' अनुराग अवध आनंद अनुभवत तब को सो अवहुँ अघाई

—गीतावली बालकांड ३०

क्या इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने राम के बाल्यकाल के आनंद का अनुभव किया था और अब भी अयोध्या में रहकर उस आनंद का अनुभव कर रहे हैं तथा अयोध्यावासी हैं ?

अपने इष्ट से नैकट्य स्थापित करने के ही लिए तुलसीदास ने राम को स्थान स्थान पर तुलसी के प्राण पिआरे, तुलसी के जीवन धन, तुलसीदास के ईस आदि कहा है—

१. अवलोके भरि नयन आज तुलसी के प्रानपियारे

—गीतावली, बालकांड ६६

२. सकल सुकृत फल माता पिता के, जीवन धन तुलसी के

वही बालकान्ड ५६

३. सकल तनय चिरजीवहु, तुलसीदास के ईस

—राम चरित मानस बालकांड १९६

शृंगारी कविताओं में भी इसी प्रकार रीतिकालीन कविन्दों ने अनेक स्थलों पर जहाँ कवि छाप दी है, अपने पर नायकत्व का भी आरोप कर लिया है। उदाहरणार्थ केवल एक छंद उद्धृत किया जा रहा है—

चूमत पी को कपोल तिया,
तिय को पियहूँ अधरा रस चाखै।
अंक गहै 'हरिऔध' को कामिनि,
पी नवला को भुजा भरि भाखै।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपने जीवन प्रान समान,
लला को लली करिबे अभिलाखै।
लालहू नेहमयी नव बाल को,
आँखिन की पुतरी करि राखै।

रस कलस, पृष्ठ ६

(४) संप्रदाय और समाज

इस प्रकरण में झड़प जी का कहना है रामानंद जी ने अपने पंथ का प्रसार काशी में रहकर किया और उनके मत का व्यापक प्रसार केवल भोजपुरी प्रदेश में हुआ। सारन आदि जिलों में रामानंदी संप्रदाय के अन्तर्गत एक चतुर्भुजी उपवर्ग है, जो तुलसी संप्रदाय भी कहा जाता है। भोजपुरी क्षेत्र में रामानंद और रामनंदन नामों की अधिकता है। अतः रामानंद जी भोजपुरी क्षेत्र के ही निवासी थे।

स्वामी रामानंद जी का जन्म स्थान प्रयाग है, यह स्थापित सत्य है। फिर उन्हें भोजपुरी प्रदेश का निवासी कहना कहाँ तक ठीक है? रामानंदी संप्रदाय केवल भोजपुरी प्रदेश में व्यापक रूप से फैला, यह भी ठीक नहीं। अयोध्या रामानंदियों का गढ़ है। अयोध्या के ही मुसलमानों तक को रामानंद जी ने हिन्दू बना लिया था, जो संजोगी कहे गये। तो क्या यह धर्म-परिवर्तन बिना प्रभाव के ही हुआ था?

झड़प जी का मत है कि तुलसीदास का जन्म ऐसे क्षेत्र में हुआ था, जहाँ राम की उपासना का व्यापक प्रचार था, जहाँ शिव, हनुमान, दुर्गा आदि को भी महत्त्व देते थे। ऐसा प्रदेश भोजपुरी क्षेत्र ही है, जिसके विषय में तुलसीदास की जन्मभूमि होने की सम्भावना की जा सकती है।

इस संबंध में निवेदन करना है कि संपूर्ण भारत भूमि में राम का व्यापक प्रभाव है। यहाँ तक कि व्रजमंडल में भी लोग परस्पर मिलने पर अभिवादन के लिए 'राम राम साव' (साहब)' ही कहते हैं।

झड़प जी के अन्य प्रमाण हैं—

(१) भोजपुरी प्रदेश में ही पुरोहिती को निंद्य वृत्ति माना गया है।

(२) भोजपुरी प्रदेश के ब्राह्मणों में ही सहिष्णुता और उदारता है और धार्मिक असहिष्णुता एवं छुआछूत संबंधी संकीर्णता कम मिलती है।

(३) भोजपुरी प्रदेश में राजा के लिए 'महता' और मंत्री के लिए 'प्रधान' शब्द प्रयुक्त होता है। इन शब्दों का प्रयोग रामानंद एवं कबीर ने इन्हीं अर्थों में किया है।

इन प्रमाणों की प्रामाणिकता पर प्रामाणिक लोग स्वयं विचार करें। मुझे तो इनमें कोई भी वास्तविकता नहीं दिखाई देती।

(५) भावना

झड़प जी के अनुसार भोजपुरी भावना और विचारों की छाप तुलसीदास जी की रचनाओं में प्रायः सब कहीं पाई जाती है। जिन्हें उन्होंने भोजपुरी भावना और विचार समझा है, वस्तुतः वे उतने सीमित दायरे में ही नहीं संकुचित हैं। वे अवध में भी व्याप्त हैं और अन्यत्र भी व्याप्त हो सकते हैं। इस प्रकरण में झड़प जी ने निम्नांकित उदाहरण दिये हैं—

(क) रामहि राम रटन करु जिभिया

इसे लड़कपन में मैंने भी अपने यहाँ अवध प्रांत में बराबर सुना है।

(ख) एक भोजपुरी गीत में रावण का आतंक एवं ऐश्वर्य वर्णन। मंदोदरी रावण को समझाती है। ऐसे कथन अन्यत्र भी हैं।

(ग) भोजपुरी प्रदेश में सबेरे उठने पर घड़ी रात रहते प्रभाती गाने का प्रचलन है—

'जागीं ए सिव शंकर सबेरे उठि'। मेरे पिता जी भी सबेरे उठकर नित्य गाते थे। यह गीत वे यों गाते थे—'सबेरे उठि जागऽहो बंभोला'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) भोजपुरी प्रदेश में गंगा जी सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाली मानी जाती हैं। उन्हें पियरी चढ़ाई जाती है और गंगा जी के गीत गाए जाते हैं। यह भोजपुरी प्रदेश की ही विशेषता नहीं है। अन्यत्र भी लोग गंगा के गीत गाते हैं और मनौती पूरी होने पर रोट और पियरी चढ़ाते हैं।

(ङ) एक भोजपुरी गीत में भक्त चिंतित है कि भगवान को क्या चढ़ाए, क्योंकि सभी चीजें जूठी हैं। यह भाव भी अन्यत्र खड़ी बोली में सुलभ है। "अजब हैरान हूँ भगवन्, तुम्हें कैसे रिझाऊँ मैं।"

(च) एक भोजपुरी शिव स्तुति—

"अपने भिखारी वन पतई चबाई ले
आन के देवे के धन कहां से ले आई ले।'

ऐसी शिव स्तुतियां भोजपुरी प्रदेश के बाहर भी प्रचलित हैं।

(छ) सीता का रूप वर्णन एक भोजपुरी गीत में। ऐसे रूप वर्णन हर प्रांत के लोक गीतों में मिलेंगे।

(ज) भोजपुरी प्रदेश में कूटि कहने का विशेष प्रचलन रहा है, इसी से तुलसी ने भी लिखा—

'तुलसी तेहि औसर लावनिता,
दस चारि नौ तीन इकीस सबै।'

सूर ने कूटों की एक पोथी ही 'साहित्य लहरी' नाम से रच दी। झड़प जी के इस तर्क के अनुसार सूर को निश्चित रूप से भोजपुरी प्रदेश में पैदा होना चाहिए।

(झ) सीता-हरण के पश्चात तुलसी के राम वन के पशु पक्षियों से सीता का पता पूछते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी
तुम देखी सीता मृग नयनी

झड़प जी ने एक भोजपुरी लोककथा दी है और कहा है कि उसी कथा के आधार पर तुलसी ने राम से यह पृच्छाएँ कराई हैं।

तुलसी के सामने भोजपुर की यह लोककथा रही हो, चाहे न रही हो—महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशी के पुरुरवा का विलाप अवश्य था।

(ञ) भोजपुरी प्रांत में बहुधा गुरु, गौ और जनेऊ की शपथ लेने का प्रचलन है। यह प्रचलन भोजपुरी प्रदेश के बाहर भी यत्र तत्र सर्वत्र है।

(ट) भोजपुरी प्रांत की स्त्रियाँ प्रायः कौवे से प्रवासी के आगमन के संबंध में सगुन कराती हैं। हिंदी भाषा भाषी प्रदेश की सभी स्त्रियाँ इस दृष्टि से समान हैं। भोजपुरी प्रांत को ही यह गौरव क्यों दिया जाय ?

(ठ) भोजपुरी प्रदेश में प्रातःकाल लोग सूम का नाम नहीं लेते। यह बात भी सर्वत्र है। सूम ही नाम क्या, बुरे गाँव का भी नाम नहीं लेते।

(ड) भोजपुरी प्रदेश में काशीफल को कोंहड़ा कहा जाता है। हमारे यहाँ अवधी-भाषी-प्रदेश में भी। कुम्हड़ बतिया के तर्जनी देखते ही मुरझा जाने वाली बात भी प्रचलित है।

(ढ) भोजपुरी प्रदेश में स्त्रियाँ शीतलाष्टमी और शिशुओं की छठी आदि के अवसर पर दाहिने हाथ से दीवाल पर सात छाप लगाकर ऐपन बनाकर पूजा करती हैं। यह प्रक्रिया अन्यत्र भी है। मेरे पिता जी शीतला जी के सेवकिया थे, वे भी दीवार पर हाथ से ऐसे ऐपन बनाते थे।

(ण) विनय पत्रिका में गणेश की स्तुति के बाद सूर्य की स्तुति है। इसके संबंध में झड़प जी का यह मत है कि यह भोजपुर एवं बिहार में प्रचलित कार्तिक शुक्ल षष्ठी के सूर्यव्रत के प्रभाव स्वरूप है। सूर्य तो इतने जाग्रत देवता हैं कि इन्हें सूर्य नारायण कहा जाता है और प्रत्येक भक्त हिन्दू स्नानोपरांत सूर्य को अर्ध्य देता है। अतः इस आधार पर तुलसी को बलिया का भोजपुरिया नहीं सिद्ध किया जा सकता।

(ग) तुलसी हनुमान के भक्त हैं। झड़प जी के अनुसार भोजपुरी प्रदेश में हनुमान जी की पूजा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम प्रचलन है। विशेषकर भूमिहारों में। हनुमान जी भारत वर्ष में सर्वत्र पूजनीय हैं। भोजपुरी प्रदेश के भूमिहारों में ही नहीं।

६. आचार व्यवहार

झड़प जी के अनुसार राम चरित मानस आदि ग्रंथों के अनुशीलन से विदित होता है कि उनमें जिस प्रकार के आचार व्यवहार का वर्णन है, वे प्रायः भोजपुरी प्रदेश के आचार व्यवहार के अनुसार ही हैं। हास-परिहास, नातेदारों के भोजनकाल में मनोरंजनार्थ गाली गाना, पंचकौर निकालना, नहछू, बरात की तैयारी, विवाहोत्सव, पुत्रोत्सव, भोज आदि की विधियाँ भी सब वैसी ही हैं।

(क) बरात में दही चिउरा और मछली भेजने का उल्लेख रामचरित मानस में है।

झड़प जी के अनुसार यह भोजपुरी रिवाज हैं। झड़प जी यह भी मानते हैं कि यह रिवाज मिथिला में भी है। यह रिवाज मेरे अपने क्षेत्र में नहीं है।

(ख) भोजपुरी प्रदेश में कन्या पक्ष की ओर से बरातियों के पैर धुलाने की प्रथा है। रामचरित मानस में जनक ने दशरथ आदि के पैर धोए हैं। यह प्रथा हमारे यहाँ भी रही है। पर पैर धोने का काम नाई करता रहा है। अब इस प्रथा का उठान-सा हो गया है।

(ग) भोजपुरी प्रदेश में मछली की सौगात देना, मछली का दर्शन करना शुभ माना जाता है। मछली का शकुन तो प्रायः सर्वत्र माना जाता है। झड़प जी कहते हैं—तुलसीदास की जन्म-भूमि ऐसे प्रदेश में थी, जहाँ बड़े लोग मनोरंजनार्थ वंशी द्वारा मछली का शिकार करते हैं। कटिया में चारा लगाकर मछली फँसाने का काम सर्वत्र होता है, केवल भोजपुर में नहीं।

(घ) भोजपुरी प्रदेश में कुलीन ब्राह्मणों में पर्दा का प्रचार है, बुंदेलखंड एवं पश्चिम के ब्राह्मणों में नहीं। पर्दा मुसलमानी प्रभाव है और हिंदी भाषा-भाषी प्रदेश में प्रायः सभी बड़े लोगों में रहा है और अब भी है।

(ङ) भोजपुरी प्रदेश और बिहार में ही संबोधनार्थ 'बाबू' शब्द का व्यवहार होता रहा है। गोस्वामी जी ने भी 'बाबू' शब्द का व्यवहार साधुओं से कराया है यथा—

'आयसु, आदेश, बाबू'

—कवितावली उत्तरकांड १४०।

उक्त छंद में 'बाबू' नहीं है, 'बाबा' है।

(च) भोजपुरी प्रदेश में स्त्रियाँ दिए को आंचल से बुझाती हैं और आँचल पसार कर ही आशीर्वाद लेती देती हैं।

आँचल से दिया बचाने और दिया बुझाने दोनों का काम अन्यत्र सर्वत्र होता रहा है दिल्ली आगरा वाले रहीम भी यह जानते थे—

जो रहीम दीपक दसा, तिय राखत पट ओट
समय परे ते होत है, वाही पट की चोट।

हमारे यहाँ भी बहुएँ अपनी सासुओं एवं सासु तुल्या अन्यों के पैर आँचल पसार कर छूती हैं और आशीर्वाद लेती हैं। आँचर पसार कर आशीर्वाद देने की प्रथा भोजपुरी की विशेषता होगी ?

(छ) 'सदा सुहागिन होहु तुम' और 'अचल होय अहिवात तुम्हारा' कहकर आशीर्वाद देने का ढग भी भोजपुरी ही है। क्या यह तथ्य है ? अन्यत्र ऐसा आशीर्वाद नहीं दिया जाता ?

(ज) बनारस प्रांत और बिहार बंगाल में ब्रह्म हत्या घोर सामाजिक अपराध है। क्या हिंदुस्तान के किसी कोने में ब्राह्मण हत्या सामाजिक पुण्य है ? भारत भूमि में ब्राह्मण सर्वत्र पूज्य हैं।

(झ) जे वर्णाधम तेलि कुम्हारा।
सुपच किरात कोल कलवारा।

झड़प जी के अनुसार ए जातियाँ भोजपुर में अधम मानी जाती हैं। इसीलिए तुलसी ने लिखा। अन्यत्र भी सर्वत्र नहीं, ए जातियाँ अधम मानी जाती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ञ) भोजपुरी प्रदेश में लोग रात में किसी स्थान पर बैठकर इतिहास पुराण कथावार्ता सुनते थे। यह स्थिति अन्यत्र भी है । रात में ही किसानों को फुरसत मिलती है।

(ट) भोजपुरी प्रदेश में पुत्री के घर एवं गांव का अन्न जल ग्रहण करना उचित नहीं। यह बात अन्यत्र भी है।

(ठ) भोजपुर में अधिक अधीनता प्रकट करने के लिए कहा जाता है कि मैं आपके जूते तर का हूँ। बड़ों के पैर छूकर प्रणाम करने की परिपाटी है । स्त्रियाँ बड़ों के चरणों पर अंचल रोपती हैं। ये बातें सर्वत्र हैं, केवल भोजपुर में नहीं।

(ड) गोस्वामी जी द्वारा गोंड़ऊ शैली में पद-रचना तथा उसमें भोजपुरी शब्दों और प्रयोगों की अधिकता इस बात की सूचक है कि गोस्वामी जी की बाल्यावस्था भोजपुरी प्रदेश में व्यतीत हुई थी । गोंड और कहार अन्यत्र भी हैं और कहरवा प्रसिद्ध लोक गीत है, जो अवध में भी प्रचलित है।

(ढ) होली पर गधे की सवारी के जलूस भोजपुरी प्रदेश में निकाले जाते हैं। ऐसी मजाकिया चीजें अन्यत्र भी होती रही हैं। मेरे गाँव में भी काजल चूना पोतकर गधे की सवारी करने वाले के दर्शन होली पर किए जा सकते हैं।

(ण) भर जाति का केन्द्र भोजपुरी प्रदेश है। ऐसा नहीं माना जा सकता। यदि भर शब्द भार शिव से बना है, तो भारशिवों का राज्य विन्ध्याचल में था, जो भोजपुरी प्रदेश के बाहर है और अवधी भाषी क्षेत्र में है। हमारे भी क्षेत्र में भरों की पुरानी कोटें मिलती हैं।

(त) झड़प जी के अनुसार बैल लादने का प्रचार विशेष रूप से भोजपुरी प्रदेश में रहा है। बैलों पर वाणिज्य का कार्य बहुत होता था और संपूर्ण भारत में होता था। अब भी यत्र तत्र होता है। बरेली में तो धोबी बैल पर लादी लादते हैं—अन्यत्र गधे पर।

(थ) राय और साहि भोजपुरी प्रदेश में भूमिहारों के नामांत में प्रायः प्रयोग में आते हैं। पर ये दोनों राजा के सूचक शब्द हैं और अन्यत्र भी प्रयुक्त होते हैं।

(द) काहि जय जीअ बैठ सिर नाई

जय जीअ भोजपुरी प्रदेश के आशीर्वाद शब्द हैं ऐसा झड़प जी का कहना है। हमारे यहाँ भी ये शब्द 'जय हो', 'जीअऽ' (जियो) रूप में प्रचलित हैं।

(ध) तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत संवादों में स्पष्ट रूप से भोजपुरी प्रकृति की विशेषता है । शालीन के साथ शालीनता का एवं अधम के साथ अधमता का व्यवहार भोजपुरिया करता है। यह विशेषता केवल भोजपुरियों की नहीं।

(न) झड़प जी के अनुसार भोजपुरी प्रदेश में जन्म पर बधावा बजाने वाले स्वयं आते हैं, अवध में बुलाये जाते हैं। ऐसी कोई बात नहीं। वे व्यक्ति के हैसियत के अनुसार आते भी हैं और बुलाये भी जाते हैं।

(प) नहछू बरात के घर से चलने के समय होता है। यजोपवीत पर भी होता है और भोजपुर से बाहर के क्षेत्रों में भी होता है। हल्दी चढ़ना, कलस स्थापना, तेल चढ़ना, सभी बातें अवध में भी होती हैं। गाली भी प्रायः सर्वत्र गाई जाती है। इन बातों को भोजपुरी क्षेत्र की विशेषता मानना और इनके आधार पर तुलसी को बलिया में पैदा हुआ कहना समीचीन नहीं।

७. कृषि और खानपान

तुलसी ने एक दोहे में 'पाही खेती' का उल्लेख किया है—

पाही खेती, लगन बट, रिन कुब्याज, मग खेत
बैर बड़े सों आपने किए, पाँच दुख देत
—दोहावली ४७८

झड़प जी ने पाही खेती को पकड़ा है और बलिया जिले के गंगा सरयू के दियारे की खेती के कष्टों का वर्णन किया है तथा तुलसीदास को बलिया वाला बनाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और पाही बलिया का वैशिष्टय नहीं है। पाही खेती वह खेती है, जिसका किसान दूसरे दूर के गाँव में रहता है। हमारे यहाँ की एक लोकोक्ति है—

घर घोसिया मड़ियाहू पाही
लड़िका मरि गए आवाजाही

घोसिया माधोसिंह स्टेशन के पास वाराणसी जिले में कालीन का प्रसिद्ध निर्माण केन्द्र है और मड़ियाहूँ, जौनपुर जिले की तहसील है। स्पष्ट है इस पाही खेती से तुलसी को गंगा सरजू के संगम के निकट का निवासी नहीं सिद्ध किया जा सकता।

झड़प जी ने तुलसी की निम्नांकित उक्तियां उद्धृत की हैं और इनके सहारे इन्हें भोजपुरी प्रदेश का निवासी बनाने की कृपा की है—

१. तुलसी अति नीचे सुखाद,
ऊख नन्न अरु धान
अति ऊँचे भूधरन पर,
भुजगनि हो को थान
—दोहावली

२. ऐसी हठ जैसी गाँठ पानी परे सन की
—क० उत्तरकांड

३. आपनो चना चबाइ हाथ चाटियतु है—क० उ०

४. मानत हौं चारि फल चारि ही चनक को
—क० उ०

५. फरइ कि कोदव बालि सुसाली—राम चरित मानस

६. सूखत धान परा जनु पानी—राम चरित मानस

७. सुचि सुन्दर साालि सकेली—क० उ०

८- होइहि जब कर कीट अभागा—राम चरित मानस

९. विविध विधान धान जरत बखारहीं—
क० सुन्दरकांड

क्या इनसे तुलसी किसी प्रकार भोजपुरिया बनाए जा सकते हैं ?

इसी प्रकार झड़प जी ने भाँग, सेतुआ, पीने का भी निरर्थक सहारा लिया है। भाँग तराई इलाके में स्वतः होता है। सारन जिले में ही नहीं, मैंने इसके पौधे मुजफ्फरपुर जिले में देखा हैं, साथ ही हरिद्वार में भी।

८. भाषा

पृष्ठ १७६-९९ तक झड़प जी ने तुलसी की भाषा में भोजपुरी वैशिष्ट्य दिखाने का प्रयास किया है, जो व्यर्थ है क्योंकि जितनी भी बातें कही गई हैं, वे सभी अवधी में भी पाई जाती हैं। अतः इस प्रकरण पर तूल देना व्यर्थ है।

९. झलक

इस प्रकरण में निम्नांक्ति कथन हैं :—

१. संवादों में तुलसीदास की मातृ भाषा भोजपुरी की झलक है।

२. तुलसीदास कुलक्षणी थे, अतः 'मुलहा' कहे जाने लगे थे। इस प्रयोग के आधार पर इनका निवास स्थान काशी और बलिया के मध्य कहीं होना चाहिए।

३. राम बोला और हुलसी गुणपरक नाम भोजपुरी प्रदेश को विशेषता है। अतः तुलसी पूर्वीय भोजपुरी प्रदेश केनिवासी थे।

४. राम चरित मानस का रूपक प्रस्तुत करते हुए गोसाईं जी ने गंगा सरयू एवं सोन संगम का वर्णन किया है, जो इनके जन्म स्थान का सूचक है।

५. राम और तुलसी दोनों का गोत्र वसिष्ठ था। सीता और तुलसी की माता हुलसी का गोत्र गौतम था। इसी लिए तुलसी ने कहा है—

तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को।

६. राम ने कहा है—

जन्म भूमि मम पुरी सुहावनि
उत्तर दिसि सरजू बह पावनि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झड़प जी के अनुसार प्रकारांतर से यदि इसे तुलसी की भी जन्म भूमि का संकेत मानें, तो सरयू जी बलिया से उत्तर को बहती है।

इन सब तर्कों में कितना बल है, इसपर पाठक स्वयं विचार कर लें।

१०. हुलसी-स्थान

किसी हुलसी सती का स्थान बलियानगर से ६मील पूरब गंगा तट पर स्थित है। यह हल्दी के पास है। झड़प जी का अनुमान है कि यह तुलसीदास की माँ का स्थान है, जो तुलसी के पिता के निधन होने पर सती हो गई थीं।

अवधी और भोजपुरी में ईकारांत स्त्रीलिंग व्यक्ति-वाचक संज्ञाएं जब संबोधित की जाती है, तो आदरार्थ उन्हें आकारान्त कर दिया जाता है। ईकारान्त संबोधन में कुछ अनादर की सी भ्रांति होती है। जैसे हे सजनी, न कहकर लोग हे सजना कह देते हैं। उसी प्रकार हुलसी का आदरार्थक रूप हुलसा होगा। हुलसी से हुलसा होगा, न कि हुलासो।

झड़प जी के इस हुलासो सती वाले विवेचन में भी मुझे कोई सार नहीं दिखाई देता

(ख) जाति विचार

तुलसीदास जी ब्राह्मण हैं। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी एक मत हैं। वे कौन से ब्राह्मण हैं—इसी में मतभेद है। उन्हें कान्यकुब्ज, सनाढ्य एवं सरयूपारीण कहा जाता है। बहुमत उनको सरयूपारीण ब्राह्मण मानता है। श्री कुलदीप नारायण राय 'झड़प' ने अपनी पोथी के पंचम अध्याय (पृ० २४५-३५६) में इन्हें भूमिहार ब्राम्हण सिद्ध करने का प्रयास किया है। झड़प जी का कहना है कि आदि काल में ही ब्राम्हणों के दो वर्ग रहे हैं। एक वर्ग वह जो पुरोहिती करता था और दूसरा वर्ग जो पुरोहिती को हीन वृत्ति मान कर उससे घृणा करता था। एक दान लेने वाला था, दूसरा दान न लेने वाला था। एक दीन हीन था, दूसरा वैभव-संपन्न। एक प्रतिग्राही था, दूसरा अप्रतिग्राही। एक निर्धन विपन्न किसान था, दूसरा संपन्न जमीदार। गोसाईं तुलसीदास जी इसी दूसरे वर्ग में उत्पन्न हुए थे और भूमिहार थे।

इस सम्बन्ध में मेरा कहना है कि सामान्यतया जिसको ब्राम्हण कहा जाता है, वह भूमिहार से सर्वथा अलग है। भूमिहार लोग ठाकुर कहे जाते हैं और उनके संस्कार ब्राम्हणों के कम, राजपूतों के अधिक हैं। बहुत पहले यह विभेद संभवतः नहीं था। चाणक्य ब्राम्हण माने जाते हैं, हैं वह भूमिहार। इनके वंशज बिहार में चनकिया बाभन कहे जाते हैं। बिहार में 'बाभन' और 'ब्राह्मण' दो वर्ग हैं। 'बाभन' भूमिहार का द्योतक है। ब्राह्मण और बाभन का या भूमिहार का यह विभेद मुस्लिम काल से प्रारम्भ होता है, जब मुस्लिम संपर्क के कारण भूमिहारों में ब्राह्मणों से विभिन्न संस्कृति का, रहन-सहन का, बोलचाल का विकास होने लगा। यहाँ तक कि भूमिहारों का ब्राम्हणों से अलग एक वर्ग ही हो गया और भूमिहार अब्राम्हण माने जाने लगे। यह तो आधुनिक युग में स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने, जो स्वयं भूमिहार थे, भूमिहारों को ब्राह्मण कहने का आन्दोलन चलाया और नामों के अन्त में शर्मा लगाने की चाल चलाई तथा भूमिहार लोग अपने को ब्राम्हण कहने लगे। तुलसीदास के युग में भूमिहारों की स्थिति क्या थी, राम जाने, वे ब्राम्हण कहलाते थे, या आज की ही तरह एक अन्य ब्राम्हणेतर जाति कहे जाते थे। हाँ, उनके मान, वैभव, ऐश्वर्य, संपन्नता में कभी भी कमी नहीं थी। न तब, न अब।

मुझे दूसरी बात यह कहनी है कि झड़प जी ब्राम्हणों की जो दो श्रेणियाँ मानते हैं—प्रतिग्राही और अप्रतिग्राही, वह भूमिहारों को अलग कर देने पर भी अपनी जगह पर ठीक है। भूमिहार तो अप्रतिग्राही हैं ही, ब्राह्मणों में भी अधिकांश अप्रतिग्राही ही हैं। झड़प जी ने प्रतिग्राही ब्राह्मणों को पुरोहित भी कहा है। ब्राह्मणों की संख्या बहुत है और उनमें से बहुत कम पौरोहित्य करते हैं। यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी ब्राम्हण केवल पौरोहित्य करने लगें, तो वे खाए बिना मर जायँ। अस्तु, भूमिहारों को अलग कर देने पर भी, ब्राह्मणों में दो वर्ग हैं—प्रतिग्राही और अप्रतिग्राही—ऐसे ही अप्रतिग्राही, संपन्न ब्राह्मण परिवार में तुलसी ने जन्म लिया, यह मानने में मुझे आपत्ति नहीं है। जिस अप्रतिग्राही, संपन्न, जमींदार ब्राह्मण वंश में, तुलसी ने जन्म लिया, वह ब्राम्हण वंश ही था, भूमिहार वंश नहीं, झड़प जी के सारे तर्क यही सिद्ध करने में लगे हैं कि तुलसी ने जिस कुल में जन्म लिया, वह अप्रतिग्राही जमीदार ब्राह्मण कुल था। ब्राह्मणों में से अधिकांश अप्रतिग्राही हैं—पुरोहित नहीं हैं—साथ ही ब्राह्मणों में भी बहुत से जमींदार हैं, संपन्न हैं। इसके उलटे सभी भूमिहार जमींदार नहीं हैं और न सभी एक से संपन्न ही। उनमें भी निर्धन एवं भूमिहीन लोग हैं। किसी युग में इनके पुरखा जमींदार रहे होंगे। यह विशाल भूमि न जाने कितनी बार टुकड़ों में बँटती चली आयी है और जो भूमि किसी युग में एक के आधीन थी, वही आज उसके वंशजों में हजार-हजार टुकड़ों में बँट गई है। अस्तु, झड़प जी ने तुलसी को भूमिहार सिद्ध करने के जो तर्क दिए हैं, वे ठीक नहीं। उनसे तुलसी भूमिहार नहीं सिद्ध होते। अप्रतिग्राही संपन्न ब्राह्मण मात्र सिद्ध होते हैं।

झड़प जी ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, उन्हें भी यहाँ संक्षेप में एक एक बार देख लेना असंगत न होगा। उनकी आलोचना करना भी व्यर्थ ही है।

(१) तुलसी प्राकृत जन का गुण गान अनुचित मानते थे। अतः वे किसी के चाटुकार नहीं थे और पुरोहित स्वभाव की कसौटी पर नहीं उतरते। उनका स्वभाव अप्रतिग्राही ब्राह्मणों के अनुवंशिक स्वभाव से मिलता है। निर्भीकता और स्पष्टवादिता उनकी विशेषता है।

(२) तुलसी ने स्पष्ट रूप से पुरोहिती की निन्दा की है। दान लेने की निन्दा में तो उन्होंने यहाँ तक कहा है—

तुलसी दान जो देत है, जल में हाथ उठाय
प्रतिग्राही जीवै नही, दाता नरके जाय।
—दोहावली ५३३।

अतः वे पुरोहित वर्ग के नहीं थे।

(३) विनय पत्रिका में तुलसी ने अपना पेशा निम्नांकित प्रकार बताया है—

मध्य वयस धन हेतु गँवाई,
कृषी बनिज नाना उपाय।

स्पष्ट है तुलसी का पेशा कृषी था, जो भूमिहारों का प्रमुख पेशा है।

(४) तुलसीदास ने ऐसे अनेक शब्दों का व्यवहार किया है, जो जमींदारों और कृषकों के यहाँ ही व्यवहार में आते हैं—यथा—मिलिक, कारनिक, नापजोख, खेत का धोखा।

(५) पुरोहित वर्ग का ब्राह्मण शिकार-प्रिय नहीं होता। तुलसी ने रामचन्द्र के मृगया विहार के जो स्पष्ट चित्र अंकित किए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वे कभी न कभी शिकार खेलने वालों की मंडली में अवश्य सम्मिलित हुए थे और उसे भलीभाँति देखा था। शिकार एवं शिकारियों की प्रकृति और व्यवहार से वे पूर्ण परिचित थे।

(६) अनुचित बातों पर उत्तेजित हो उठना जमींदार ब्राह्मणों का गुण है। तुलसी परम उदार थे, फिर भी उनमें यह जातीय गुण है—

हम लखि, हमहिँ हमार लखि,
हम हमार के बीच
तुलसी अलखहिँ का लखै,
राम नाम जपु नीच

(७) जमींदार ब्राह्मणों की एक विशेषता अच्छी व्यवस्था-'बुद्धि और राजनीति में पटु होना भी है। इसी को भूइँहरई' कहते हैं। सारे संसार को सियाराम मय देखने वाले तुलसी ने भी राजनीतिक व्यवहार में कूटनीति को बुद्धिमानी कहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्रु सयानो सलिल ज्यों,
राखि सीस रिपु नाव
बूड़त लखि, पग डगत लखि,
चपरि चहूँ दिसि घाव
—दोहावली ५२०

तुलसी केवल सरलता को दोष मानते हैं।

(८) तुलसी के आराध्य इष्टदेव अस्त्रशस्त्र धारी, कानन-चारी, लोकमर्यादा की रक्षा में तत्पर तपस्वी वेषधारी असुरारी राम हैं। बोल को अटल, बाँह को पगारु, दूबरे को दानी, दिबोई भावै, मारि कै मार थप्यो, भट ठाकुर की रीझि आदि के द्वारा गोस्वामी जी ने अपने वंश परमंरागत गुणों का ही दर्शन कराया है।

(९) दान के विषय में तुलसी का मत है कि जैसे तैसे देना ही चाहिए। जो दान देने में असमर्थ है, उसे भी चाहिए कि वह किसी से कुछ न ले। अप्रति-ग्राही ब्राह्मण वर्ग में प्रायः यह प्रवृत्ति आज भी पाई जाती है।

(भड़प जी को शायद जानकारी नहीं है कि तीर्थराज प्रयाग के सारे पंडे जो प्रयागवाल कहलाते हैं और दान लेते हैं, भूमिहार ही हैं)।

(१०) भूमिहार ब्राह्मणों के मूलस्थान धर्मारण्य (कान्य-कुब्ज प्रदेश का मदारपुर) में ही प्राचीन काल से गणेश, सूर्य, धर्मराज, देवी, हनुमान, नृसिंह आदि देवताओं की पूजा प्रचलित थी। इसीलिए यदि तुलसीदास ने विनय पत्रिका में सर्व प्रथम क्रमशः गणेश, सूर्य, देवी, हनुमान, गंगा और जमुना के व्याज से धर्मराज आदि देवताओं की वंदना की है, तो इसका अभिप्राय यह है कि इसका सम्बन्ध उनके परपंरागत (भूमिहार)—कुलाचार से है।

(इन देवी देवताओं की पूजा तो समस्त हिन्दुओं द्वारा होती है—भूमिहार ही इनकी पूजा नहीं करते।)

(११) तुलसी ने पार्वती मंगल, जानकी मंगल नामक मंगल ग्रंथों की रचना भूमिहार कुलाचार से प्रेरित होकर स्त्रियों के निमित्त की। भड़प जी के अनुसार भूमिहारों में विवाह के अवसर पर सर्व प्रथम शिव विवाह के ही गीत गाए जाते हैं।

(शिव और गौरी समस्त हिन्दुओं के पूज्य देव हैं और इनके गीत किस हिन्दू समाज में मांगलिक अवसर पर नहीं गाए जाते ?)

(१२) भड़प जी के अनुसार तुलसी वर्णित विवाह की पद्धति एवं आचार भूमिहार ब्राह्मणों के आचार एवं पद्धति के मेल में है, अतः तुलसी भूमिहार थे। भड़प जी ने इन आचारों का कुछ विस्तार से वर्णन किया है, जिसकी चर्चा यहाँ व्यर्थ है। ये आचार प्रायः सभी उच्च वर्गीय हिन्दुओं के यहाँ विवाह काल में देखे जा सकते हैं।

(१३) गो० तुलसीदास ने स्पृश्यास्पृश्य के संबंध में अपनी रचनाओं में जैसे उदार भाव व्यक्त किए हैं, उससे भी उनके पुरोहित वर्गीय ब्राह्मण होने का मेल नहीं बैठता। तुलसी ने वशिष्ठ द्वारा निषाद को गले लगवाया है, शबरी द्वारा राम का—आतिथ्य कराया है। गृद्ध की अंत्येष्ठि कराई है, ब्राह्मण द्वारा शूद्र को शिक्षा दिलाई है। स्वयं तुलसी ने श्वपच को गले लगाया और गौ—हत्यारे के हाथ भोजन किया।

(१४) परंपरागत कुलाचार का पालन जमींदार ब्राह्मणों की विशेषता है और तुलसी ने परंपरागत कुला-चारों का पालन कराया है।

(१५) भूमिहार ब्राह्मणों में परदा है : तुलसी में भी—
सीस उघारन किन कहयो—दोहावली २५४

(१६) राम के बन चले जाने पर अयोध्या की दशा—

लागति अवध भयावनि भारी
मनहूँ काल राति अँधियारी

यहाँ 'कालराति' का अर्थ प्रलय की रात्रि नहीं है, भादों की अमावस्या है। बिहार में शाहाबाद और सारन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिलों के मनेरिया और एकसरिया भूमिहार बाभनों के यहाँ कालरात्रि की पूजा का विशेष रूप से प्रचार है, जो उक्त तिथि को होती है, ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि तुलसी का सामान्यतया भूमिहार ब्राह्मण समाज से घनिष्ठ संबंध था।

(१७) भूमिहार ब्राह्मण परंपरा या रामोपासक थे तथा हनुमतपूजक भी, इसीलिए तुलसी रामोपासक एवं हनुमत पूजक हुए।

(राम और हनुमान समस्त हिंदुओं में पूजित हैं)

(१८) धूत कहौ, अवधूत कहौ,
रजपूत कहौ,जोलहा कहौ
कोई काहू की बेटी से बेटा न ब्याहब,
काहु की जाति बिगार न सोऊ।

झड़प जी के अनुसार ये सारे गुण भूमिहारों के हैं—धूत=धूर्तता या मुंइहरई। अवधूत=रामानंदी संप्रदाय का वैरागी, जो सैनिक भी होता था, रामानन्द स्वतः भूमिहार थे। रजपूत=सैनिक वृत्ति। जोलहा=मुसलमान, मुसलमानों से संपर्क रखनेवाला। किसी की बेटी से अपना बेटा ब्याहना=सरयूपारीण ब्राह्मणों की बेटियाँ भूमिहारों में आती हैं। अतः स्पष्ट है कि तुलसीदास रामानंदी परंपरा के जमींदार भूमिहार ब्राह्मण थे।

(१९) पुराहित वर्ग के ब्राह्मण अरबी फारसी पढ़ते थे, न इन भाषाओं के शब्दों का उच्चारण करते थे, जन-भाषा में रचना करना अपनी हेठी समझते थे। इसके विपरीत जमींदार वर्ग के ब्राह्मण मुसलमान शासकों के सम्पर्क में थे, अतः फारसी पढ़ते थे और इनकी भाषा में अरबी फारसी के शब्दों का मिश्रण हो जाता था।

तुलसीदास की भाषा में अरबी फारसी के शब्द हैं, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२०) राम चरित मानस में परशुराम लक्ष्मण संवाद, हनुमान रावण संवाद, अंगद रावण संवाद में जिस हाजिर जवाबी, निर्भीक कथनशैली और वाक्पटुता का दर्शन होता है, वह जमींदार ब्राह्मणों की जातीय विशेषता के अनुसार है।

(२१) तुलसी-शिष्य रामू द्विवेदी ने 'प्रेम रामायण', में तुलसी को 'कुल शील सीमा' कहा है। झड़प जी के अनुसार यह कुल-शील-सीमा' भूमिहारों में ही सीमित है, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२२) घट रामायण के रचयिता तुलसी साहब ने गोसाईं तुलसीदास को कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहा है। पूर्व में कान्यकुब्ज ब्राह्मण नहीं होते। पूर्व के भूमिहार ही मूलतः कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। अतः तुलसी कान्यकुब्ज अर्थात भूमिहार ब्राह्मण थे। 'भक्त कल्पदुम' में राजा प्रताप सिंह द्वारा तुलसी को कान्यकुब्ज लिखने का भी यही रहस्य है।

(२३) हिन्दू संस्कृति ब्राह्मण संस्कृति है। गोसाईं जी भी सबसे पहले ब्राह्मण की,—महिसुर की, वन्दना करने-वालों में है। ब्रह्मशक्ति समाज की पोषक है। इसमें क्षात्र-शक्ति का समन्वय भी उचित है। गोस्वामी जी ने ब्रह्म-तेज और क्षात्रशक्ति का जो समन्वय कर उसका लोक कल्याणकारी रूप प्रस्तुत किया है, उससे ऐसी वंश-परम्परा के प्रति आकर्षण प्रकट होता है, जो इन दोनों शक्तियों से युक्त है—

सापत ताड़प परूष कहंता
विप्र पूज्य अस गावहिं संता

'शापादपि शरादिप' दोनों की शक्ति भूमिहार में ही है, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२४) भूमिहारों को जो पत्र लिखे जाते रहे हैं, उनके सिरनाये हैं—

"स्वति श्री·····सर्व उपमा योग्य नाम उदित, परम पुनीत, नीति निपुण, सामर्थ्य, भार गुन गरिष्ट, मर्यादा सागर, गऊ ब्राह्मण के रछपालक, धर्मावतार' आदि। झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी ने राम-स्तुति में जो 'गो द्विज हितकारी' 'श्रुति सेतु पालक' आदि विशेषण रखे हैं, वे भूमिहारों के पत्रों में लिखी जाने वाली सिरनामे की प्रशस्तियों से ही प्रेरित हैं।

(२५) 'जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागि बस,
खाए अन्न सब के विदित बात दुनी सो।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि तुलसीदास सामान्य या पुरोहित वर्ग के ब्राह्मण होते, तो उन्हें स्वजाति और सुजाति क्या, कुजाति का भी अन्न खाने में ग्लानि न होती, अतः वे किसी विशिष्ट कुलीन जमींदार ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे।

(२६) राम कथा का समापन करते हुए गोस्वामी जी ने काकभुशुंड द्वारा भक्ति का महत्त्व बतलाते हुए जिस आदर्श—चरित्र का विवरण दिया है, वह जमींदार-ब्राह्मण आदर्श के अनुरूप ही है—

सोइ सर्वज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता
सोइ महि मंडित पंडित दाता

महि मुडित=स्कन्द पुराण का 'महि मन्ड'=लक्ष्मणाचार्य का भूमि-भूषण=भूमिहार।

(२७) गोस्वामी जी ने मंडप की सजावट, बरात का ठाटबाट, पुत्र-जन्मोत्सव, दान दहेज, उत्तर-प्रत्युत्तर और युद्धों का जैसा सजीव वर्णन किया है, उससे वे जमींदार वर्ग के ही ब्राह्मण सिद्ध होते हैं।

(२८) कै जूझिबो कि बूझिबो, दान कि काय कलेस
चारि चारू परलोक पथ, जथा जोग उपदेस
—दोहावली ४५१

इस दोहे में बूझिबो के पहले जूझिबो आया है, अतः तुलसी भूमिहार या जमींदार वर्ग के थे।

(२९) सब अंग हीन, सब साधन विहीन,
मन वचन मलीन, हीन कुल करतूति हौं
बुधि-बल-हीन, भाव-भगति-विहीन,
हीन-गुन, ज्ञान-हीन, भाग ही विभूति हौं।
—कवितावली उत्तरकान्ड ६९

वैभव रहित होने के कारण कुलाचार में विरोध पड़ने की बात जमींदार ब्राह्मण ही कह सकता है, क्योंकि उसी के कुलाचारों का सम्बन्ध वैभव पर अवलंबित है।
(औरों के कुलाचार क्या फोकट में हो जाते हैं?)

(३०) [क] बार-बार लालच धरनि धन-धाम की
—कवितावली उत्तरकाण्ड १३४
[ख] जाय तो न जरनि धरनि धन धाम की
—वही, ११९

इस कथन से साफ प्रकट है कि गोस्वामी जी का जन्म एक भूम्याधिकारी, संपत्तिशाली और प्रतिष्ठित वंश में हुआ था, किन्तु इनका सब कुछ दूसरों ने ले लिया था, जिसका क्षोभ साधु होने पर भी उनके मन से दूर नहीं हो पाता था।

(३१) राम सोहातो तोहिं जो, तू सबहि सोहातो
काल कर्म कुल कारनी कोंऊ न कोंहातो
—विनय पत्रिका १५१

गोस्वामी जी का जन्म एक परम्परागत जमींदार परिवार में हुआ था। यहाँ कारनी (कार्णिक=जमींदारी का पट्टा देने वाला रजिस्ट्रार) का उल्लेख इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर देता है।

(३२) 'हाथी स्वान लेवादेई' का सम्बन्ध जमींदार को छोड़ और किससे हो सकता है?

(३३) कृष्ण गीतावली के पद ३२ में मिलिक, बैरख, नकीब आदि शब्द सरकार सम्बन्धी हैं। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग जमींदार ब्राह्मणों द्वारा होना ही सम्भव है, क्योंकि उनका राजकाज से सम्बन्ध था।

(३४) तुलसी की माता 'हुलसी सती' कस्तुवार भूमिहार ब्राह्मण वंश की बताई जाती हैं।

(३५) तुलसी की ससुराल इलाहाबाद जिले में टोंस और गंगा के संगम पर स्थिति पनासा के हीरापुरी पाण्डेय वंश में थी, जो भूमिहार वंश है।

(३६) तुलसी का भदैनी (काशी) के टोडर से नाता-रिश्ते का घनिष्ट सम्बन्ध था। उक्त टोडर भूमिहार थे।

(३७) गो० तुलसीदास को जमींदार ब्राह्मणों ने आश्रय दिया, उनकी रामायण और रामलीला का प्रचार किया कराया तथा उनके द्वारा श्री हनुमान जी के विग्रह स्थापित कराए। यहाँ तक नहीं, उनके नाम पर स्मारक खड़े करने वाले, उनकी स्मृति में ग्रन्थ रचना करने वाले इसी समाज के लोग हैं। श्री तुलसीदास की निवास भूमि अयोध्या, काशी, चित्रकूट, राजापुर आदि में इसी समाज के लोगों ने अनेक कृतियाँ खड़ी कीं। उक्त स्थानों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी समाज के लोग आज भी आच्छादित किए हुए हैं, जबकि वे प्रायः (काशी छोड़कर) उन क्षेत्रों के निवासी नहीं हैं। प्रायः तुलसीदास द्वारा राजापुर का मन्दिर भी काशिराज द्वारा निर्मित कराया गया कहा जाता है। स्पष्ट है कि तुलसीदास से भूमिहार—ब्राह्मणों का कुछ विशेष लगाव और अपनत्व रहा है; जो वंशगत होना सिद्ध है। स्वजातौ परमा प्रीतिः।

(३८) गीतावली में राम राज्यभिषेक का वर्णन है—

वेद पुरान विचारि लगन सुभ,
महाराज अभिषेक कियो
'तुलसीदास' जिय जानि सुअवसर;
भगति-दान तब माँगि लियो।

झड़प जी के अनुसार "तुलसीदास ने वेद पुराण को विधि से शुभ लग्न में (राम का) राज्याभिषेक किया"।

स्पष्ट है कि तुलसीदास अपने को वसिष्ट का प्रतिनिधि अर्थात वंश परम्परा में होना मानते हैं अर्थात् वशिष्ट गोत्रीय हैं।

'तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को,

के अनुसार भी तुलसी वशिष्ट गोत्रीय थे।

(३९) तुलसी वशिष्ट गोत्रीय थे, उनकी ननिहाल गौतम गोत्र में थी और ससुराल भरद्वाज गोत्र में। इन सभी भूमिहार कुलों के कुलदेवता शिव हैं, अस्तु तुलसी की शिव-भक्ति उनकी कुल-परम्परा से सम्बन्धित है।

(४०) गोस्वामी जी की वंशगत उपाधि ठाकुर रही होगी। इसके लिए दो उद्धरण झड़प जी ने दिए हैं—

१. ठाकुर महेश ठकुराइन उदासी जहाँ
—कवितावली उत्तरकांड

२. ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो
—विनय पत्रिका

अपने मित्र टोडर को भी गोस्वामी जी ने ठाकुर कहा है। इससे ठाकुर आस्पद के प्रति इनकी आस्था प्रकट होती है और अपनत्व भी। यह ठाकुर तीन अर्थ देता है, ब्राह्मण, नाई और राजपूत—

ठाकुर ठाकुर तीन ठाकुर
बाभन ठाकुर, नाऊ ठाकुर, ठाकुर ठाकुर

तो तुलसी बाभन (भूमिहार) ठाकुर थे।

उपसंहार

झड़प जी ने ९ शीर्षकों में तुलसीदास के जन्म-स्थान पर विचार किया है। उनके निष्कर्ष कई हैं—

१. तुलसीदास का जन्म भोजपुरी प्रदेश में कहीं हुआ।
२. तुलसीदास का जन्म काशी और बलिया के बीच कहीं हुआ।
३. तुलसीदास का जन्म पूर्वीय भोजपुरी प्रदेश में हुआ।
४. तुलसीदास का जन्म गंगा सरयू संगम के निकट कहीं हुआ।
५. तुलसीदास की जन्मभूमि गंगातट-स्थित राजापुर गंगौली (गंगा तट का गाँव) है, जो बलिया नगर से नौ मील पूरब है।

बलिया के इस राजापुर के लिए कोई विशेष प्रमाण जुटाने की आवश्यकता नहीं समझी गई है। बाँदा जिले के राजापुर नाम को ही आधार मानकर इस राजापुर को तुलसी की जन्मभूमि मानने की कष्ट—कल्पना की गई है। बाँदा का राजापुर तुलसी की जन्मभूमि माना जाता रहा है। अतः तुलसी की वास्तविक जन्मभूमि का नाम राजापुर होना चाहिए। यह विचार धारा झड़प जी के मन में है। भरत-भूमि विशाल है। इसमें सैकड़ों राजापुर एवं सैकड़ों तुलसीपुर हो सकते हैं और हैं। वे सभी राजापुर न तो तुलसी के बसाये हुए हैं और न तुलसी की स्मृति में तुलसीपुर ही अन्यों द्वारा बसाये गये हैं।

जहाँ तक जाति वाली बात है, तुलसीदास ब्राह्मण थे, अप्रतिग्राही ब्राह्मण थे, जमींदार ब्राह्मण थे, पुरोहित वर्ग के नहीं थे—सब ठीक, पर वे भूमिहार ब्राह्मण थे यह प्रबल रूप से सिद्ध नहीं किया जा सका है।

झड़प जी ने अपुष्ट, उपहासास्पद, दुर्बल तर्क पचासों दिए हैं। अच्छा होता दो ही चार तर्क दिए होते, जो परम पुष्ट होते और जो लोगों को इस दिशा में सोचने के लिए विवश कर देते।

० ० ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Technical Heritage of Ancient early and medieval India - a new light

By Dr. D.N. Shukla

Vedic Foundations—Upa-Vedas, the Founders of Technical Sciences :

In India there was hardly any line of demarcation between Science and Art, and Science without philosophy had no meaning for us. Hence our lore was an integrated whole. As there were Vedas, there were also Upa-Vedas and these Upa-Vedas were the founders of the Technical Sciences and Fine Arts in India. Let me briefly enunciate this proposition.

While Vedic studies relating to the four Saṁhitās, their Brāhmaṇas, Upaniṣads and the Auxilliary Sciences, the Vedāṅgas Śikṣā, recitation (articulation and pronunciation); Chandas, metrical science or the science of ryhthms; Vyākaraṇa, Grammar; Kalpa, ritual;Nirukta hermeneutics, etymology; Astronomy-astrology have born fruitful investigations in realm of Oriental Studies in India and abroad, no serious and concentrated study has ever been bestowed upon our Upa-Vedas. There are numerous references to Upa-Vedas like Dhanurveda, Military Science; Gandharva-Veda, Science of Music; Artha-Veda and Sthāpatya-Veda, etc. etc. in the literature, but where are their texts and treatises ? Are we to suppose that they are all consumed to oblivion due to the neglected study of this technical heritage ?

In military Science, besides immortal classic of Kauṭilya, there are certain later treatises also like Kodaṇḍamaṇḍana, Ornament of the Bow, the Dhanu, the science and art of archery written by the Encyclopaedic and reputed author, King Bhojadeva of Dhara who is credited to have exhausted practically all the main branches of literature, Grammar, Rhetoric, Aesthetics, Architectures, Medicine and Philosophy—vide more than 3 dozen of massive treatises on these subjects attributed to his authorship. As regards the later technical treatises on Music, Dance Śilpa Drama, Kalās,[1] Kama, Astronomy and Medicine they are well known to us. My purpose, therefore, is to make a passionate plea to start investigations into this branch of knowledge which is not only very appropriate in the present misunderstanding if Ancient India had ever a material culture depending upon the material sciences, positive, technical and pure.

Brajendra Nath Seal took a lead in writing a monumental monograph "The Positive Sciences of the Ancient Hindus", but his investigations, as he himself claims relate to rather post-Vedic period 500 B. C. to 500 A.D. As regards the technical sciences like Vāstu and Śilpa, my humble contributions are also known to the scholars.

My contention is that if there were Vedas representing ritual, religion and philosophy, there were also Upa-Vedas, founding the material sciences—technical as well as positive. Hindus had founded both the Vidyās, the Parā and the Aparā. Every Veda has an Upaveda. Āyurveda, the science of medicine (including Chemistry, Botany and Physiology) was attached to Ṛgveda. Similarly, Dhanurveda, the Military Science was attached to Yajurveda, Gandharva-Veda and Sthāpatya-cum-Artha-Veda to Sāma & Atharva respectively. This Artha-Upaveda represents Social organisation and State-craft. We know of the Arthaśāstra of Kauṭilya, the most reputed treatise on polity and war-strategy. Thus our

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Vedas and Upa-Vedas have given composite content to make our life perfect in both the aspects the spiritual and the material. How could otherwise we have evolved the definition of Dharma as :

यतोऽभ्युदयनिःश्रेससिद्धिः सधर्मः ।।

Dharma does not mean dogma or ritual ; it means the sustaining factor of life in its most complete aspect. Abhyudaya stands for material prosperity and Niśśreyasa for Mokṣa, the release of the soul from bondage. These are cardinal postulates which have prefected our culture. Thus we can appreciate the balancing of Materialism and Spritualism in our culture.

Āyurveda : The two Upavedas namely Āyurveda and Sthāpatyaveda being very intimately related to the very existence and living of man, naturally were very popular and their culture, studies systematisation, propogation as well as incorporations found appropriate codification in later literature. The founders of these two sciences belong to a hoary past as ancient as Vedic times. Though much has been written on Āyurveda, its study on profounder scientific foundations needs revival so that the modern Positive Science like Chemistry, Physics, Physiology and Botany may come to their own. The health ideals of the Nation need be based on the ideals of living, cutlure and civilization.

Hindu achievements in the fileld of Medicine and Surgery, Chemistry and Mathematics have been well known. Hindu contributions in the fileld of Botany, Zoology and Veterinary Sciences are equally profound and their scientific investigations need be taken up, as there is still misconception in the minds of our own scientists about them. Botanical and Zoological data in a voluminous treatise the Mānasollāsa or Abhilaṣitārtha-Cintāmaṇi of the later Chalukyan king Someśvara III, presupposes very early begmings. Similarly the treatment of Veterinary sciences in this treatise and others like Śukranīti, Śālihotra, Aśvaśāstra, Vāji-praśaṅsā, Hariharacaturanga, Nakula's Aśva-śāstra, Jayadatta's Aśva-Vaidyaka, Sāra Sindhu (a referred text by Nakula) etc., alongwith Mātanga-līlā, Hastyāyurveda, Gaja-Cikitsā and a host of others fully corroborate this technical heritage of ancient India. Classifications—botanical, medical and dietatic; morphology; Physiology (stems, roots, flowers, leaves, plants), Heredity, Ecology of Plants, Plant-Pathology and breeding etc. were well known to our ancient scientists. Further India being an agricultural country could not have afforded to neglect the Veterinary Sciences.

The pure race-culture was based on 'Trayi'. The later tradition of 'Catvāro Vedāh' is non-Aryan contribution with comingling of cultures. The Atharva-Veda the fourth veda is an illustration. This Veda is a store house of medical foundations which is the gift of the Rgveda as already noticed.

Sthapatya-Veda : This Upaveda gave rise to to two most technical sciences—Vāstuśāstra and Śilpaśāstra. They may be rendered as Science of Architecture including Engineering and Town-planning alongwith the Canons of Iconography-Sculpture including painting and other allied arts. The textbooks of Vāstuśāstra, the Science of Architecture, are records of oral tradition which go back to an undefined past. The testimony of the Bṛhatsamhitā of the 6th Centuary A. D. in this context also supports this antiquity. Varahamihira himself proclaims the authority of the master architect acharyas like Garg and Manu on this lore. Matsyapurāṇa enumerates the eighteen preceptors of vāstuśāstra :

भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा ।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः ।।
ब्रह्मकुमारो नन्दीशः शौनकी गर्ग एव च ।
वासदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती ।।
अष्टादशैते विख्याताः शिल्पशास्त्रोपदेशकाः ।।

and most of these were Vedic Ṛsis.

Hence The Vedic Foundations of Vāstuśāstra cannot be said to be over-estimated. The conception of Vāstu, its Mandala and its p

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

siding lord Puruṣa are equally as ancient as Vedic Times. The very Mantra of Vāstu-Purusa is based on the analogy of the Vedic Vāstoṣpati. The foundations of the building construction whether an altar of a shed of initiation or of sacrifice, a residential house or the abode of deity, all go back to the Sutra-period as practically all important Sutra works have detailed expatiations on this side of the Science.

The word 'Śilpa' though comparatively later than 'Vāstu' as per its genesis of ornamentaion and varied and rich motifs, is also as old as Vedic Times. The Aitreya Brāhmaṇa VI.5.27 is a valuable testimony on this subject : 'Śilpāni-works of art, are an imitation of divine forms; by employing their rhythms, a material reconstitution is effected of the limited human personality. Similarly Śulva-Sūtra are a clear development in the science of Architecture, the Sthapatyā-Veda. The Śrauta-Sūtras belonging to the 2000-1500 B.C., contain the rules for rites ordained by the Veda. Each Śrauta-Sūtra seems to have had its own Śulva-Sūtra or section dealing with the measurements and the 'geometry' of the altar. The Vedi is the sacred ground measured out for the Yajña and this Vedi is the mother of Hindu Temple, the richest, the profile development of the art. Science, philosophy, ritual, religion and metaphysics have each contributed to evolve a meeting of Macrocosm and microcosm in Prāsāda, the Hindu Temple. Prāsāda is thus designated as Prāsāda-Puruṣa and Vimāna, the body corporate. Thus this Sthāpatya-Veda contributed a vast literature in the Purānās, Āgamas, Tantras, Pratiṣṭhāpaddhati and Vāstu Śilpa texts proper for the later codifications and enrichments.

Artha-Veda : This Upa-veda gave rise to all the later literature dealing with social organisation, Polity and war. Arthaśātra dominated all thinkers of ancient India. It deals with the totality of social, political and economic relationship and indicates how they are to be properly organised and integrated with one another. All relationship, says Usanas, is rooted in the Daṇḍanīti (Mah XII. 62, 28-9). Manu goes to the extent of declaring that it is Danda who is the real king, the real leader and the real protector.

"धर्मं दण्डं विदुर्बुधाः"

The rules about the functions and duties of the king and the welfare of the state were therefore naturally called Daṇḍanīti. No truly ancient Indian Aryan thinker has ever subscribed or surrendered or relegated the fundamental strategy of diplomacy to the socalled canons of morality and religion. The Promulgator and Preserver, the Defender of the world is Yama, who is not only Yamaraja but also Dharmaraja and the first king on the arch, Prthu was the prototype of Yamaraj and Dharmaraja both, who gave the name of this earth Prithvi. According to Parāśara, wealth is the root of virtue (Dharma) and pleasure (Kama) and this indicates the strong tendency towards a materialistic view of human ends especially the notions and conceptions of Government.

The sum and substance of early predecessors of Kauṭilya like Bhāradvaja and Vātavyādhi was the security not only of the person of the administrator and the state as a whole by all means. Should Kautilya's ever-shining light the 'Arthaśāstra' be not a manual of polity, even to-day ? The ancient Indian Aryans, who were lovers of the nature and are said to have evolved the whole culture and civilization in midst of forests and on the banks of rivers, are the strongest advocates of the fortification of frontiers. Kauṭilya himself precribed the first duty of the state to establish the Durgas, the Forts, not only all around the territories but also in midst of the territories. Himalaya has been our greatest frontier and fortification and in the terminology of Kautilya Durg-varieties, the Pārvata-Durga (Mountain Fort) and the Daiva-Durga (the Celestial Fort) are very important and should these ranges, especially our North-West Frontiers not have been considered to be the most impor-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

tant subject of fortification ? This is the elementary prescription for the security of the State.

Gandharva-Veda : The science of Music, no doubt, is as old as any of these Upavedas and there are abundant references to its antiquity in the later literature on Music, but unfortunately, this branch of technical lore is also hidden from the stand-point of systematic and scientific exposition. Much has been done in the preservation of folk-lore in an intimate relationship with Dance, Drama and Instrumental Music but its codifications, as are found in ancient, early medieval and later medieaval literature, need a projected planning of research. South Indian Musicians, Sangita-Panditas, Nṛtta-Nāṭya-kovidas have done a remarkable service in the preservation of this lore, but Sanskrit scholars especially the Vedists, the experts of Sāma, may take up the lost thread to reconstruct the whole science.

Science of Music is intimately related with Metaphysics. The whole cosmology is based on Icchā and Nāda and the concepts of Nāda-Brahma and Śabda-Brahma are well known. The ancient music aimed at sound in pure form or Brahman, now it is conceived as a means of aesthetic enjoyment. The non-Aryan contributions in the realm of ancient music especially the pre-Vedic times were the real contents. Then followed the period of Hymns of the Ārcikā period or more appropriately the Gāthā period or the period of Tune or the Sāman. It was on the basis of the three Svaras, Udātta etc. that seven notes were discovered in Indian Music. This development may be termed as religious culture. Secular music was also gradually asserting itself. Various types of regional music developed in different regions of the land, sung for the communal entertainment and enjoyment. Epics, Puranas and other ancient literature all corroborate this culture. Ancient authors like Five Bharatas—Nandi, Kohala, Dattila, Bharata and Matanga are the first promulgators. Narada's Sangitamakaranda is another landmark.

The Buddhist period is also noted for the exhuberance in musical authorship as referred by Abhinava-gupta, Śāradatanaya, Nānyabhūpala, Pārśvadeva and Śārangadeva the 10-12th centuary writers. Some of these celebratries are Āstika, Apisali, Uttara, Umāpati, Katyāyana, Kāmadeva, Kumbhodbhava, Ghantaka, Chatraka Datta, Devara, Drauhini, Dhenuka, Priyatithi, Binduraja, Brhat-Kasyapa. Several Bhaṭṭas (as many as six), Rahul, Vena, Vyasa, Vraspati, Sakaligarbha, Surya and Suresvara.

The 3rd period of Indian Music begins with the Hindu Revival after the decline of Buddhism. Most of the treatises are lost, the writers can only be reconstructed from the references and the modest list is : Udbhata, Lollata, Sankuka, Utpaladeva, Nrsimhagupta, Abhinavagupta the reputed author of Abhinavbharati, Bhojadeva, Simhana, Abhayadeva, Mammata (different from Kavyaprakasakara), Rudrasena, Somesvara III (the author of Mansollasa), Locanakavi (Rajatarangani). Paramardi, Devendra (Sangitmuktavali), Somesvaradeva (Sangitaratnavali), Saradatanaya (Bhavaprakasa), Nanyabhupala (Sarasvatihrdayalankara).

In this limited time and space it is not possible to dilate upon the massive treatment of this fascinating science with special reference to the classification of Rāgas—Śuddha, Bhinna and Sādhārana etc. and their Jātis, Nomenclature. However, a note may be struck that King Someśvara's, Mānsollasa, is a store house for some rare information in regard to Non-aryan influence vide Velavulli melody mentioned in it. Hence in the development of Indian Music, the two distinct styles, Northern and Southern styles cannot be under-estimated. Prabandhas or Musical compositions are also a notable development in the technique of the Indian Music.

As regards musical instruments, it is equally a formidable subject. The references go to the earliest times, even to pre-Vedic or pre-Aryan age. The varied instruments found in Mohenjodaro and Harappa excavations include a seven-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

keyed flute which denotes seven note-places, and a stringed musical instrument resembling the Vīṇā. Vīṇā and Mṛidaṅga were current in Vedic times and the types of the Vīṇā as referred in later literature are as many as fifteen to eighteen. Duṅdubhi and Bhūmi are also referred in Samhitās. The Nāradīya-Sikṣā mentions both the Vīṇā and the Veṇu connecting former with Vedic music and the latter with Gandharva or popular music. The Viṣṇudharmottara devotes one full chapter on musical instruments entitled 'Ātodya-vidhi' and here the four types of traditional musical instruments, Ghana, i. e. metallic instruments and Avanaddha, i. e. stretched instruments like drum.

Someśvara's Mānsollasa also incorporates further deveopments in this art along with so many varieties and sub-varieties of the principal classes of musical instrument. Kinnarī Veeṇā may be said to represent Kinnaragāna and Yaksagāna still prevalent in South India.

Characterstics of the Technical Science and Fine Arts in India :

After this brief enunication of the Foundation of Technical Sciences and Fine Arts let me now proceed with the character and characterstics of this technical heritage. The most important characterstics of our technical sciences especially the Hindu Science of Architecture are : Philosophical back-ground particularly the Philosophy of Vāstu-Brahma, the Aesthetic ideals and symbolism. Among these I may leave the first on which I am dwelling at length in my volume entitled Śilpaśāstra 'Philosophy of Vāstu-Brahma' and its impact on Temple Architecture.

Aesthetic Ideal of our Fine Arts : Art in India is Iconography. The Viṣṇu-Dharmottara has remarkable contribution on this score and Raja Bhoja in his celebrated treatise, the Samarāṅ gaṇasūtradhāra, has simply cannonised this aspect of Indian Art, which distinguishes it from the Greek Art and provides a Philosophy for Art which is its genesis and genious.

Iconography is both a Science and Art. For an artistic perfection of an image, it has to be accomplished in such a way as to arouse in us the aesthetic experience akin to one as we get from poetry and music. According to the Indian aestheticians, the main purpose of a poetical composition is to arouse pleasure, the 'Āsvāda' what is called 'Rasāsvāda'. And this Rasāsvāda is extolled as 'Brahmānanda-Sahodara'. It is from this fundamental stand point of Indian aestheticism that we do not have tragedies in our dramatic literature. The Indian view or more appropriately the Hindu view of life is one of unbounden faith in eternity, a profound sense of optimism and a sublime outlook of life, coloured by the pneumal existence and heavenly bliss, both Svarga and Apavarga. Naturally, therefore, all arts, be it poetry or music, painting or dance, are to be viewed from this lofty idealism of aestheticism.

In nearly all the phases of Indian art, the Rasa (or impassioned feeling) has played a very prominent role. The Indian belief is that the Supreme Being is Rasa-svarupa (cf. the Indian theory of Rasa-Brahmavada (रसो वै सः) Again image-worship for which icons used to be made of the manifold materials with manifold symbols to be worthy of desired end has to be done in a manner of accomplished art. In dance and drama there is an identification of the spectator with the Naṭa, the actor. A similar identification is essential between the worshipper and the worshipped. This is possible only through the arousing of rasa, the aestheticism, in art. The sculptural monuments in our possession do corroborate this dictum and there we find a number of different 'Rasas' which the artists endeavoured to chisel upon in the dry stones and metals.

Thus aesthticism in art becomes instrumental in producing the भावव्यक्ति and this भावव्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

is dependent on the rasas or rasadrstis cf. the following lines of the Samarangana :—

रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीनामिह लक्षणम् ।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते ।।

Here Citra can stand both for the pictorial images as well as the sculptural ones. Hence according to the Samarāñgana it is the supreme achievement of the image-maker or the sculptor to see to this side of aestheticism in art, the 'bhāva-vyakti'. This aesthetic ideal is really one of the major contributions of Indian Canons of Art as prpounded in the texts like Viṣṇudharmottara and the Samarāñgaṇasūtradhāra, to give a distinct and unique character of Fine Arts in India. The oft-quoted aphorism ब्रह्मानन्द सहोदरो रसः is not without significance and high meaning. It aims at annobling life. Even birds and beasts, the socalled brutes, when characterized with these different sentiments in accordance with the different situations if can go higher up, men and women imbuded with them simply become divine. Further more this aesthetic element in Indian Art pre-supposes the ideal of 'Beautiful' in its real perspective. The beautiful is not only to be viewed in anatomical perspective, but also in the inner manifestation, the sole criterion of the beautiful, the 'Sundara' from the Hindu view of life. Beautiful internally, in its turn, presupposes the truthful the 'Satya' both internally and externally and the art which is both Satya and Sundara, that alone becomes the Beneficient, the 'Śiva' the supreme ideal of life. It is this 'God' of the humanity at large that the Indian seers have always aimed at. Any creation, unless it is condusive to the well being of life, unless inspiring to annobling it and unless high enough for creative urge, is not worth the ideal. It is from this fundamental angle that aestheticism in iconographical art is to be viewed and purviewed.

The following lines from the Samarāñgana Sūtradhara will suffice to illustrate this theme :

हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन् ।
सजीव इव दृश्येत सर्वाभिनयदर्शनात् ।।
आंगिके चैव चित्रे च इदं साधनमुच्यते ।
.....तस्मादनयोश्चित्रमात्रितम् ।।

विना तु नृत्यशास्त्रेण etc. the Visnudharmottara lines especially 'त एव चित्रे विज्ञेया नृतं चित्रं परं मतम्' etc. also propound the same truth.

The Samarāñgana Sūtradhāra recognises as many as eleven Rasas adding Prema etc. and Eighteen Rasadrstis, Lalitā, Hṛṣṭā Vikasitā etc.

The important points in relation to the aesthetics in the pictorial art still need to be expounded. Firstly all these rasas, though characterstics of only human beings, men, women and children and in their likeness the anthropomorphic forms of the gods and demi-gods and demons, they have an application to all sentiment creations 'मानुषानि पुरस्कृत्य सर्वसत्वेषु योजयेत् ।' This statement goes to the very core of the art and shows that if birds and animals in paints could be shown manifesting the sentiments, it is really the master-piece, the supreme achievement of the artist. It becomes a new creation, a superior creation to that of Brahma, the Primordial Creator Himself. If it is through the symbolism of Mudrās, hand poses, bodily poses and the postures of the leges that the mute gods speak to us giving vent to the sublimest of thoughts and noblest of expressions, these so-called brutes can also become our co-shares in the aesthetic experience. It is neither extraordinary nor supernatural about it. It is the marvel of the art. If poetry can create an idealistic world, full of beauty and bliss, the painting, her sister must also follow the suit.

Thus a perusal of the sections on painting in the Viṣṇudharmottara and Bhoja's Samarāñgana Sūtradhāra will show how Citra is based on the canons of Nāṭya. For them Citra is only one scene of Nāṭya and Nāṭya a succession of Citras. The Viṣṇudharmottara says that Citra is

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

as much the art of immitation (anukaraṇa) as Natya. The poses, the hands of dance called Nṛtyahastas and the Rasadṛṣṭis—these are studied elaboratly in Nātya and this study is absolutely necessary for, and is fully utilized in painting.

What the hand-poses have implicity expressed (cf. manifold hand poses, like Varada Vyākhyāna Jñaña, Yoga etc. Mudras and 64 Hast postures), the rasas and the rasa-dṛṣṭis make that explicit. Thus the images are bestowed life movement through the symbolism of gesticulation, the very essence of dramatics both put together (Sarvābhinayadarśanāt). Therefore, this delineation of the rasas and rasa-dṛṣṭis and their representation thereof, constitute the fundamental background both in Āṅgika (Drama) and the Citra (Painting) arts. The Science of Painting is dependent on the Science of Aesthetics (Dramatics included).

Symbolism in Indian Art : Symbolism in art is a very very profound and massive subject and it is impossible for me to do any justice here owing to the paucity of the time. However, in this regard I have a thesis to propound that Mudrās should be taken in a wider sense to denote the whole kingdom of symbolism associated with the images of divinities.

So far we have been treating Mudras in a traditionally accepted sense, this view of the previous writers, however, is not correct. Mudrās, the symbols should not be taken only in their subjective, i. e. mental and spiritual attitude manifesting themselves in the bodily poses, they should also be extended in an objective manner, otherwise, the implications of the lakṣaṇas and lāñchanas in Brahmanic images have no meaning. There is a multitude of terms which denote the costume ornaments and headgear in which images are represented together with the objects which images of gods are shown to bear in their hands, such as weapons, implements, musical instruments, animals, birds etc.

I have maintained the thesis that Mudras should not be taken only to denote the poses of hands, body and legs and feet alone, but they are also the symbolic representation of the characterstic emblems of the divinities. In this sense all the symbols characterstic of a particular deity can stand for Mudras. Mudras the poses of hands, etc. as current in literature are more intimately connected with Buddhist images. The Brahmanic images being full of their characterstic emblems like dresses, ornaments, seats and conveyance have not shown so many intricacies of the Mudras as they are generally understood by the Indian artists.

It may, however, be again remarked that in orthodox Hindu Literature, the Mudras are symbolic manifestations and reproductions of the characterstic emblems of the divinities and not generally speaking, the peculiar positions of hands, fingers or feet and body as those of Buddhist and Jain figures. The reason why these so called Mudras are less important in Orthodox Hindu art, may be explained by the presence of their substitutes in great number of weapons and attributes held by Brahmanic deities and these too are Mudras. This contention is borne out by the following quotation.

एकोनविंशतिर्मुद्राः विष्णोरुक्ता मनीषिभिः ।
शंखचक्रगदापद्म·····वेणुश्रीवत्सकौस्तुभः ।।
·····शिवस्य दशमुद्रिकाः ।
लिंगयोनित्रिशूलाख्या मालेष्टाभीमृगाह्वयाः ।।
सूर्यस्यैकैव पद्माख्या सप्तमुद्रा गणेशितुः ।
लक्ष्मीमुद्राचने लक्ष्म्या वाग्वादिन्याश्च पूजने ।।
अक्षमाला तथा वीणा व्याख्या-पुस्तक-मुद्रिकाः
सप्रजिह्वाह्वया मुद्रा विज्ञेया वह्नि पूजने ।

Thus nineteen mudras are known to be of Viṣṇu, some of them being Śaṅkha, Cakra, Gadā, Padma, Śrīvatsa, Kaustubha, Vanamālā etc. Śiva has ten mudras sacred to him i.e. the lingam or the phyllic symbol, the trident, the rosary damaru etc. Sūrya or the sun has only one mudra namely the lotus, Ganesa has seven mudras some of which are the tusk, the goad, the axe, the rice-ball etc. The mudras for Saraswaṭi are

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

are the lute, the book and the rosary. Similarly the mudras of Agni is seven flames.

The symbols of mudras in the broad sense of the term which have been introduced by me for the first time in contemporary studies on Indian Art, are really accessories to the main figure, the conductors, as it were, between the image and the idea. Thus the observation of the elephant in the image of Indra, brings back the whole idea of Royality of which an elephant used to be fundamental emblem. The bull, in India, is a symbol of Dharma and was thus used as the Vehicle of Śiva, the Great Yogi. Symbolism in India is the key-note of its culture and philosophy.

Contribution that Our Technical heritage can make in present day National Reconstruction.

With this brief account of the characrter and content of the Technical science and Fine Arts in ancient India, let me come to my fundamental proposition viz, their place in the present day National Reconstruction.

Sanskrit Language Literature and Civilization was the real bed rock, on which our National Integration was founded. Study of Sanskrit in the past was not confined to a department, as we do today. Sanskrit in the past was a full fledged faculty where different branches of learning including Medicine, Town-planning, Arts, Astronomy, Military Science, Polity, strategy of war and State craft consituted a modest curriculum. The ancient Universities like Nalanda, Taksasila, Vikramasila were all noted for this fundamental organisation of Sanskrit learning in the past. Because we have relegated the study of Sanskrit just as classical languages we are unable to do anything in the reconstruction of the modern India. Modern India needs planning which may bring about national integration based on cultural heritage and its revival. We always see to the West and imitate their pattern. There is a rich literature in Sanskrit on all these branches, study and researches on which can certainly unfold fascinating ideas and practical working in all these sphperes. Let me just take only one branch which is my specialised field, i.e. Ancient Hindu Canon of Architecture including civil engineering, the erudite and scientific treatises like the Mānasāra, Mayamata Śilparatna, Samarāṅganasūtradhāra, Aparājitapṛcchā etc. etc. and the most sublime and remarkable archaeological remains in the realm of town-planning and architecture, we still think that all this is worthy of incorporation.

The Indus valley civilisation and Harappa culture were beginnings in the advanced technique of town-planning. The Vedic village was an ideal habitation. The later onslaughts are a living history of our art and architecture. Who contributed all this ? It is the Sthapatis (the ancient architects and their guildes) and the Sthāpakas the presiding Ācharyas together with the patrons of the art and architecture, the ruling dynasties, Guptas, Pratiharas, Chandellas, Kesaris, Chalukyas, Pallavas, Rastrakutas, Pandyas, Nayakas etc. etc. who could devotedly and dedicatedly surrender all their wealth in the establishments of huge Cathedral temples, the greatest and the largest of the Prasadas, the Hindu temples throughout the length and breadth of this vast sub-continent, the north and the south, the east and the west and the Daccan. Some of the temples like Lingaraja[1] at Bhuvanesvara, Sun Temple at Konark Kandariya Mahadeva at Khajuraho, Minaksi-Sundaresvara at Madura, Siva Temples at Tanjore and Rameswaram and a host of them at such famous sites as Mamallapuram, Kanchipuram, Chiddambaram, Aiohole, Badami, Pattadakal in the South and Udaipur, Modhera, Mount Abu in the north are a testimony of this great artistic upsurge. This could not have been possible if we did not have a systematised body of knowledge of art and architecture and the learned, trained devoted architects. I admit that we are not going to revive our architectural policy of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Temple-building in the modern age, we cannot afford to lavishly spend our national wealth on the construction of temples. We need to found new town-ship, replacing the existing town and build residential houses, construct factories, laboratories, plan out secretariats, offices, embassies, bridges, dams and the like. This is our need. These are our national requirements. Are we not competent to re-orientiate our architectural policy on the fundamentals of ancient Indian canons of architecture. If we could do this, we can certainly have our nationality, otherwise, we merge in this great ocean of imitation. We need influence and not merging. This can be done by the study of technical literature in Sanskrit, the erudite and scientific treatises on art and architecture. A western engineer or architect is familiar with the treatise of Virtuvius but our Indian architects are quite ignoratnt of even names of Manasara, Mayamata, Samarangana and Visvakarma. We have founded so many colleges of architecture. Is there any place for these treatises in the curriculam ? Let me briefly cite some striking contributions. *Sthapati and Sthāpatya* the role of an architect. In our tradition Sthāpatya is four fold from the stand point of a Sthapati, i.e. his equipment and it is eight fold from the stand point of his art. According to the Samarāṅganasūtradhara an architect must possess the four fold equipment of Śāstra (knowledge of the Science and its allies like Mathematics and Astronomy etc.) Karma; the skill in art craftmanship; Prajñā, the initiative and the genius of mind and intellect which must help him at the time of the operation because sometimes new situations demand immediate handling of the operations and Śila, the character above reproach. This last qualification is very important in the present day national reconstruction. The following quotation will be very interesting to help us realise the importance of Sanskrit lore even in the education of modern Engineers and Architects :

यस्तु शास्त्रमविज्ञाय प्रयोक्ता स्थपतिर्भवेत् ।
हन्तव्यः स स्वयं राज्ञा मृत्युवद् राजहिंसकः ॥
यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुह्यति क्रियाकाले दृष्ट्वा भीरुरिवाहवम् ॥
केवलं कर्म यो वेत्ति शास्त्रार्थं नाधिगच्छति ।
सोऽचक्षुरिव नीयेत विवशो न्येन वर्त्मसु ॥
शास्त्रकर्मसमर्थोऽपि स्थपतिः प्रज्ञया विना ।
फलेषु कर्मभिरन्याभिः(?)ख्यान्निर्मद इव द्विपः ॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्यः स्याद् वाहकः स्थपतिस्तथा ।
कर्मकाले न मुह्येत स प्रज्ञानेनोपबृंहितः ॥
अप्रज्ञेयं दुरालोकं गूढार्थं बहुविस्तरम् ।
प्रज्ञपोतं समारुह्य प्राज्ञो वास्तुनिधिं तरेत् ॥
ज्ञानवांश्च तथा वाग्मी कर्मस्वपि च निष्ठितः ।
एवं युक्तोऽपि न श्रेयान् यदि शीलविवर्जितः ॥
रोषाद् द्वेषात् तथा लोभान्मोहाद् रागात् तथैव च ।
अनन्यचिन्त्यतत्वमायाति दुःशीलानामविक्षयात् (?)॥
शीलवान् सर्वकर्मार्हः शीलवान् प्रियदर्शनः ।
शीलाधाने परं यत्नमाधिष्ठेत् स्थपतिः सदा ॥
ततः कर्माणि सिध्यन्ति जनयन्ति शुभानि च ।

This is the Caturdhā Sthāpatya. As regards Aṣṭāṅga Sthāpatya, the following quotations from the Samarāṅganasūtradhāra, the most representative and standard medieval manual on Architecture will give you a peep into our most systematised science of architeture :

प्रोक्तं चतुर्धा स्थापत्यं वास्तुतत्वस्य सिद्धये ।
डूमस्त्रदेव वेदानीमंगैः संयुक्तमष्टाभिः ॥
तेष्वंगः प्रथमं प्रोक्तं वास्तुपुंसो-विकल्पना ।
पुरस्य विनिवेशस्तु द्वितीयं द्वारकर्म च ॥
रथ्याविभागः प्राकारनिवेशोऽट्टालकस्य च ।
विनिवेशः प्रतोलीनां विभागास्थानकानि च ॥
प्रासादश्च तृतीयं स्याच्चतुर्थं च ध्वजोच्छ्रितिः ।
पंचमं नृपतेर्वेश्म स्थानान्तरविभक्ति च ॥
चातुर्वर्ण्यविभागश्च गृहभागश्च षष्ठकम् ।
सप्तमं यजमानस्य शालायां मानमीरितम् ॥
यज्ञवेदीप्रमाणं च कोटिहोमविधिस्तथा ।
अष्टमं राजशिविरनिवेशो दुर्गकर्म च ॥
यो वेत्यंगान्यमून्यष्टौ सोऽत्र स्थपतिसत्तमः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यशो मानं स लभते पूज्यते न नराधिपैः ।।
अशास्त्रज्ञमकर्मज्ञं स्थपतिं यः प्रयोजयेत् ।
न तस्य वास्तु सिद्धयेत सिद्धमप्यसुखावहम् ।।
तस्मात् कर्म च शास्त्रं च यो वेत्ति द्वितयं नरः ।
अष्टांगमपि यो वेत्ति स राज्ञः स्थपतिर्भवेत् ।।

Genesis and Genius of a residential house : Our Purāṇas and Āgamas proclaim शिलास्तम्भ शिलाकुड्यं नरावासे न योजयेत्' what is its implication ? Our climate is hot for the major part of the year. Can we afford to live in a hot house ? Shall this heat not terribly tell upon our health, Longivity and stature ? Were our fore-fathers fools or half-civilized to live in thatched houses or Śāla-Houses (a wooden-cum-mud structure) to ward off the heat of the sun ? While they could build soaring edifices for gods and goddeses, they preferred the mud houses for their own. Samarāṅgana's main contribution is the Civil Architecture which is accompanied with a scientific code of residential house. The very title denotes and connotes its character, i. e. architect of human dwellings, and gives its major contribution in the art of Town-planning and residential houses.

Code of masonary, the building Bye-laws and House-Plans : All these fully perfected in this standard compendium on art and architecture. The twenty good qualities of masonary विंशतिश्चयगुणाः and the procedure in laying the bricks चयविधिः with the aid of the eightfold measure of sutrāṣṭakam are our eye-opener in the advanced technique of civil architecture in ancient India. Other details have been studied and brought out in my work Vastusastra Vol. I—Hindu Science of Architecture with esp. ref. to Bhoja's Samarangana Sutradhara.

Fundamental Canons : This Subject demands that we should know something of the fundamental postulates on which the great edifice of this science stands. These fundamental postulates or canons, I may term as pillars. We know that the central post was the prime regulator of house-construction in India. It was as fundamental as the trunk of a tree. Tree-model was the primordial model of a house-plan (cf. the story of the birth of human home—the Śāla-house as related in Purāṇas and the S.S.) and the abundant application of pillars was one of the chief features of an Indian building whether a residential house or a palace, or a Sabha or a temple or a temple-pavilion. Naturally we cannot say which pillars are more basic than others But if you ponder over the problem and visualise the basic importance of the structure you must come to the conclusion that as many as five pillars carry cardinal worth. These are four Cardinal and one central posts. Similarly sustaining the analogy to my mind there are the following five fundamental pillars of the stable edifice of our Science and we can call them the fundamental canons :

1. Diṅnirṇaya, Doctrine of Orientation. 2. Vāstu-pada-Vinyāsa the Site-planning. 3. Māna (Hasta-lakṣaṇa), the proportionate measurements of a structure. 4. Āyādi-sadvarga, the six Canons of Hindu Architecture 5. Patākādi-ṣaṭ-Chandas, the character of the building (its aspects and prospects etc.). I cannot elaborate all these here due to the paucity of time.

Vāstupada-Vinyāsas is a strereotyped institution in India. It has been in practice since the Vedic times. Now it is no more than a ritual. We do call a priest and an astrologer when we start a building but do we understand the scientific and technical implications of this fundamental canon as adumberate above like Diṅnirṇaya of Prācīsādhana ? Vāstupada-Vinyāsas a most scientific device in determining the site of a building or a town, has now been relegated to a paper device of just a ritual. Vāstupadas-Vinyāsa is a site-plan in the language of the modern architecture. The allotment of the padas to the deities was a very far sighted working of the minds of our ancient Acharyas. The Vāstupada-Vinyāsa is a technical device in a chart. Among

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

the host of the deities occupying the different padas or plots of the diagram, three are very important. The Central square is always reserved for Brahma. He is the central lord the creator lord. The north-east corner of the chart starts with Īśāna which corresponds to the *ultravoilet segment* of the solar spectrum and it has a variety of attributes which need to be studied properly. Similarly the south-east corner of the chart represents Agni. It coresponds to the *infra-red segment* of the solar spectrum. If properly and scientifically studied this device would be a revelation to the modern scientific world. We must pay a tribute to the genius of the ancient thinkers who, without any modern appliances, could study the properties of the Sun. All these deities really stand for the rays of the sun to be regulated in such a scientific manner as to ensure eastern frontage. This is the sum and substance of the Doctrine of Orientation, the most important canon of our Civil Architecture.

Professor,
Head of the Department of Sanskrit
Punjab University,
Chandigarh-14.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Problem of Two Besnagar Garuda Pillar Inscriptions

By B. C. Sinha

The successor of vasumitra is called Bhadraka in the Bhagavata Purana, Ardraka in the Vayu and Antaka in the Matsya Purana.[1] Dr. K.P. Jayaswal identified him with Udaka, a name occuring in Pabhosa inscription No. 904.

He has given good reason for supposing that the original form, from which all these varieties are derived was Odraka.[2] But we must recognise that an error has crept into the text of the Puranas, which as they stand assign either two or seven years to this king.[3] The Pabhosa epigraph has been translated thus : "By Asadhsena, the Son of Gopali Vaihidari and maternal uncle of king Bahasatimitra, Son of Gopali, a cave was caused to be made in the tenth year of Udaka for the use of the Kassapia Arhats." We learn from another Pabhosa inscription that Asadhasena belonged to the royal family of Ahichhatra, the capital of North Panchala.— Dr. Jayaswal held that Odraka was the paramount Sunga sovereign, while the family of Asadhsena was feudatory to the Sungas. The identification of Odraka with Udaka has no solid basis. Is it not possible that this Udaka might have been a ruler of Ahichhatra and Asadhasena was his near relative ? Pabhosa inscription only says that Asadhasena belonged to the royal family of Ahichhatra. Dr. Barua[4] points out that in the absence of the word rajno preceding Udaka, it is difficult to say at once whether Udaka is the personal name of a king, or the local name of a place, where the cave was excavated.

Sir John Marshall[5] on the other hand identified the so called fifth Sunga king with Kasiputra Bhagabhadra mentioned in a Garuda Pillar inscription found in the old city of Vidisa. Dr. Jayaswal identified Bhagabhadra with the ninth Sunga king Bhagavata of the Puranas. But this theory has to be given up in view of the discovery of another Besnagar Garuda Pillar inscription of the 12th year after the installation of Maharaja Bhagavata. It proves that there was at Vidisa, a king named Bhagavata apart from Kasiputra Bhagabhadra. In the absence of clear evidence connecting "Udaka" with Vidisa, it cannot be confidently assented that he belonged to the house of Agnimitra and Bhagavata.[6] In fact the so called fifth, sixth and seventh Sunga monarchs were Andhra rulers. The fourth Sunga king Vasumitra took up the life of ease and pleasure. The result was that the Sunga empire began to disintegrate. Bana tells us that he was killed by some Muladeva while enjoying a concert. Taking advantage of the murder of Vasumitra Andhras occupied the throne at Pataliputra. Andhraka, Pulindaka and Ghosha these three appear to be extraneous to the Sunga dynasty as their inclusion creates a chronological anomaly. The Puranas assign a total duration of 112 years to the Sunga dynasty. But if we add up the period of these three kings, the total comes to 120 years. By excluding their period of 8 years we arrive at the true figure of 112 years.

At the time of Andhra occupation of Pataliputra Bhagabhdra the local viceroy of Vidisa maintained his position against the Andhras. He might have been a close relation of the Sungas. We further assume that he was appointed viceroy of Vidisa, during the reign of Vasumitra Vasumitra was ruling at Pataliputra and after

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

his murder Bhagabhadra declared himself the king of Vidisa.

But it has to be remembered that he always remained loyal to the Sunga family. In order to strengthen his position against the Andhras he sought friendly alliance with the Indo-Greeks. This alliance was in the interest of both the parties. We learn from Besnagar Inscription of the reign of Bhagabhadra that Maharaja Antialkidas of Taxila sent his ambassador Heliodoros to Vidisa when king Bhagabhadra was prospering in the fourteenth year of his reign. It was with the help of Bhagabhadra that the Sungas regained their position after 8 years of the Andhra rule. Vajramitra might have been the son of Vasumitra. Now there in no difficulty about the other Besnagar Garud Pillar Inscription of the Twelfth year after the installation of Maharaja Bhagavata. He appears to be the nint Sunga king according to the Puranic List, who had a long reign of 32 years.

References :

1 H. Raychaudhari, Political History of Ancient India, P. 328.
2. Cambridge History of India, p. 469.
3. K.P. Jayaswal, JBORS, 1917, pp. 473-5.
4. IHQ.—1930, P. 23.
5. A Guide to Sanchi—P. 11.
6. Political History of Ancient India, p. 329.

Reader
Ancient Indian History,
Culture & Archaeology
Department
Gurukula Kangri University
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Yoga Approach Towards Abnormal Human Behaviour

Dr. H.G. Singh

1. Definition and types of yoga : Yoga is much talked over topic of the present century with its popularity irrespective of caste, religion and continent amongst the orthodox as well as the ultra fashionable hippies of the world. Existing from the times of Vedas the word Yoga has been used in multifarious ways. Out of these it can be defined in two ways—general and specific. In general literal sense Yoga means union or connection. It also denotes any means or ways by which something apart is achieved or united with. During Vedic, Brahmanic, and Upanishadic times the word Yoga has been used for different ways to achieve something though mostly higher self. But Yoga in specific meaning came into existence in about 2nd century B.C. by the existence of "Yoga Sutra" of Patanjali and now Yoga specifically means the system of "Chitta-Vrittinirodh" of Patanjali. As a method Yoga is non-religious, practical and scientific.

Types of Yoga Schools : According to broad definition there are innumerable Yogas, as there are ways of union. But most important are Hatha, Raja, Gyan, Bhakti, Karam, Mantra, Tantra, Laya, Jaina, and Buddhist Yogas. All these yogas can be classified into different theoretical approaches as shown in the following diagram :

DIAGRAM SHOWING THE APPROACHES OF DIFFERENT YOGAS

Human Personality

Yoga

- Physiological approach Hath Yoga (Use of physical exercises for union)
- Psychological approach
  - (A) Whole psyche Raja Yoga. (Use of psychic exercises and Sadhna for union)
  - (B) Different psychic functions :
    1. Gyan Yoga (Use of intelect i.e. "cognition" for union).
    2. Bhakti Yoga (Use of eros i.e. "effection" for union).
    3. Karam Yoga (Use of volition i.e. "conation" for union).
- Psychophysical approach
  - (A) Mantra Yoga (Use of Psyche and sound for union)
  - (B) Tantra Yoga (Use of psychic and Physical cosmic elements for union)
  - (C) Laya Yoga : (Use of psychophysical assimilation with cosmic self for union)
- Atheistic approach
  - (A) Jain Yoga
  - (B) Buddhist Yoga

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

These are like the differnt roads which reach the same destination. Yoga systems believe in the functional unity not only in human personality but also in cosmic universe. The somatic, psychic and psychophysical approaches in their individuality lead to the same end. It also reflects that the broad mental functions of cognition, affection and conation have their own individual potentiality of compensating for and controlling not only the other two functions but the whole personality and further leading it to the union with universal self. Out of these schools only Hath Yoga and Raja Yoga have been most popular and Raja Yoga assimilates the best of Hath Yoga. The only approach of Raja Yoga of Patanjali being directly psychological is of utmost interest to the seekers of Psychology. Later Yogies of the Patanjali school widely applied Yoga to solve problems of human behaviour and here the approach of Yoga i.e. Raja Yoga towards abnormal human behaviour is being seen.

2. Theoretical Foundations

(a) Concept of normality and abnormality : We have already seen that the subject matter of Yoga is human behaviour and Raja Yoga specifically deals with mind and its functions. Kovoor T. Behanan rightly says, "Doctrine of Yoga assumes that the mind, by training, could be made to function at higher levels." Human personality according to Yoga is composed of Purush and Prakriti. Purush apart from Prakriti is pure being but by the admixture of Prakriti it begins to function as personality. Prakriti has there Gunas—Sattav, Rajas and Tamas. When Purush is in Sattav Guna it is pure and uncorrupt but as soon further mixture of Rajas and Tamas of Prakriti is added, the mind begins its function and gives rise to abnormal human behaviour. Patanjali takes a very wide view of abnormality and every human behaviour is abnormal which is the output of Rajas and Tamas Gunas. The Rajas and Tamas Gunas of Patanjali reminds of Eros and Thanatos of Freud. Purush or Atma in itself does not act or behave and upto Sattav Guna it is pure being, but actual behaviour begins with its mixture with Rajas and Tamas and that is all abnormal. So all human behaviour is abnormal because of its being initiated by Rajas and Tamas Gunas which give rise to five kinds of Vrittis. There is no true synonym for Vritti in English but we can very nearly translate it as channels of mental functions or natural motivating flow of behaviour or to some extent instinctual behaviour.

The Vrittis are five. The first is Praman (perception of all kinds). It is the natural Vritti of the mind to get affected by perceptual knowledge and make reactions to it. The second Vritti is Viparyaya (illusion) the effect of which is inevitable. The third Vritti is Vikalp (effective imagination). The fourth Vritti is Nidra (sleep) and the fifth is Smriti (memory) or the heap of past stored up ideas, which work as dynamic disposition of mind. The dynamic effect of these five Vrittis on mind is inevitable and they motivate the mind for behaviour and that is abnormality. The aim of Yoga is the removal of these Vrittis of mind by negating their effect. This is called, "Yogas-chittavrittinirodh". On the contrary the normality is the state of Purush remaining with Sattav Guna only. It is pure being without any of the Vrittis. Hence in wide definition concentration of mind and Samadhi is normality and Vrittis i.e. modification of mind and destruction of Samadhi is abnormality.

(b) Nosology and Symptomatology of Abnormalities : The nosology of disorders as we find in Atharva Veda and Ayurvedic literature is not found in Yoga. In a sense the above five Vrittis are the forms of abnormalities but their approach and nature is totally different from what we see in other therapeutic literature. Yoga is not limited to therapy of diseases. The area of Yoga is very vast and much inclusive. Due to its basic approach it covers all the aspects of human behaviour. No problem or attainment

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

of human life is spared for which its application is not made. Felix Guyot rightly says, "Freud brings everything back to sexual 'complex' where as Yoga psychoanalysis deals with all the complexes." We can broadly classify Yoga approach to personality modification in three categories. Firstly, it deals with health and hygiene programme of personality including cure and prevention of diseases and health improvements. Secondly, it deals with attainment of supernatural mental powers. Thirdly, it teaches how to attain Samadhi — the state of pure being. These three categories further have classifications. Yoga approach is psychological and practical to all these categories. Out of the above three categories we are dealing with the health and hygiene programme of personality. In it the Yoga methods are applied for the cure and prevention of diseases and attainment of health. Kovoor T. Behanan emphasises it like this, "What we have said so far about Yoga will, we hope, convince the reader that it too is a way of life a 'Prescription' for mental ills." Yoga is client centred, semi-directive and autotherapy hence psychotics cannot take it. So the abnormalities for which it is practical can broadly be classified as neuroses, mild ailments and mental ill-health.

(c) General etiology and diagnosis of abnormal behaviour : The behavioural abnormality arises by Prakriti getting mixed with Purush. Upto the time Purush is alone, there is no abnormality but as soon the Rajas and Tamas Gunas of Prakriti unite with Purush, the mind with the five Vrittis constitute abnormality. So we conclude that Rajas and Tamas Gunas of Prakriti are the causes of abnormality. Sattav Guna never gives rise to abnormality. The Yoga system of diagnosis is scientific and has clinical tests. Felix Guyot has very well commended Yoga diagnostic methods and tests for different mental abnormalities. He has illustrated so many tests as given in Hath Yoga and we shall explain two of them by way of example. The first test diagnoses whether a patient is suffering from morbid unconscious...impulsiveness and the second test is to diagnose if the patient is having nervous debility.

Test I—Trace a straight line on the ground in the direction of the sun. The client should stand with heels together at one end of the line in such a way that the line divides the shadow in two parts through the head and he should look at his shadow constantly. After a few minutes the shadow of the head will be seen deviated from the straight line either to the right or left in the case of abnormals. The experiment should be repeated several times during a fortenight. Each time the direction of deviation should be noted. In order to take more better results the test can be carried out in a room with a lamp or an electric bulb, instead of sun, which should be behind the subject. The projection to the left reveals morbid unconscious fears and that to the right an unconscious impulsiveness.

Test II—The position of the client's standing is the same as in the first test. But further the experimenter traces the outline of the shadow with a piece of chalk on the ground while he is motionless. Then the client must look attentively on the shadow. The abnormal having nervous debility will soon get tired and his head will oscillate and the shadow will not correspond with the tracing. The direction and extent of oscillations will help diagnosing the unconscious fears and impulsiveness as in the above test. But greater the extent of oscillations and lesser the time of first fatigue appearance, the more is the nervous debility. Again for the tests of differnt complexes Felix Guyot says, "Hath Yoga psychoanalysis unearths these complexes by means of short tales and stories of immemorial origin that Indian doctors have handed down from generation to generation."

The above two tests shown by way of example, are quite technical to be called at par

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

with modern clinical tests. So we conclude that Yoga method of diagnosis may be called scientific.

3. Psychotherapeutic Techniques of Yoga

(a) **Meaning and Object :** Yoga has two forms—general and applied. In its general form like a science it shows the what and how of psychic chittavrittinirodh from the very beginning to the highest end of Samadhi, the state of pure being. In the applied form it is applied to so many different purposes and the meaning & aim of applied Yoga differs according to the purpose it is applied for. Leaving the other purposes aside when its techniques are applied to cure Psychic disorders then it is Yoga Psychotherapy. Rajas and Tamas Vrittis create all behavioural deviations, so the suspension of these Vrittis and the establishment of required psychic equilibrium, is the aim of Yoga Psychotherapy. The degree of suspension of these Vrittis differ from case to case and purpose to purpose. In the case of a Sadhu it must be complete suspension, but in the case of worldly persons like us, a certain equilibrium in the forces of Rajas and Tamas is required. For example in the case of an architect more of Rajas, the constructive Vritti, and in a warrior at field more of Tamas, the distructive Vritti is required. Lord Krishna, the greatest Yogi analysed Arjun at the battle field and maintained proper warrior like equilibrium of Tamas i.e. destruction and decreased the Rajas i.e. familial erotic Vritti, in Arjun.

(b) **Classification of Yoga Psychotherapeutic Techniques :** Yoga is rich in methodology. For the same aim to be achieved several techniques have been prescribed according to the nature of client, situation and technique. Yoga believes in the functional unity of human personality along with cosmic unity. So due to this unity starting with any one function we can come to the same end. Yoga has numerous techniques but we take here only those which are used for therapeutic and hygienic purposes in the case of psychic disorders. The techniques are classified as follows :

1. Yama
2. Niyama

} I) Psychic disciplinary exercises.

3. Asana & Mudra
4. Pranayama

} II) Psychosomatic energising exercises.

5. Pratyahar } III) Psychic sublimating exsrcises.

6. Dharna
7. Dhyana
8. Samadhi

} IV) Psychic super normal attainment (Siddhi) exercises.

(c) **Descriptions and applications**

I. The first technique of psychic disciplinary exercises is Yama and Niyama. Yama are negative and Niyama are positive preliminary codes of behaviour. The Yamas are five i.e. abstain from (1) Himsa (killing), (2) Asatya (Falsehood), (3) Parigarh (greediness). The Niyamas are also five i.e. observe (1) Shauch (purity), (2) Santosh (contentment), (3) Tapas (mortification), (4) Suadhyaya (study), and (5) Ishwar Pranidhan (resignation to Supreme being). Regarding Yama and Niyama, Kovoor T. Behanan says, "we may now summarise the first two stages as the ethical code of Yoga by which a moral transformation involving important psychological changes or redirection of mental set, is brought about, marking the beginning of a veritable uphill climb in mental training." These are meant for the adjustment of super ego or the moral part of the self.

II. The second technique of psychosomatic energising exercises is Asanas (postures) and Pranayama (breathing). These are the most technical methods of Hath Yoga which in milder forms have been adopted by Patanjali. These are

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

based on psychosomatic functions of the personality and by their practice psychosomatic energy is charged. According to Gherand Samhita as taught by lord Shiva the asanas are eighty-four lakhs corresponding with the number of species of the universe, and the Mudras (postures) are twenty-five. Some of these Asanas and Mudras are, in the opinions of a few experts who have prescribed different Asanas and Mudras, useful for mental cures and hygiene. Shivanand says, that Shirshasan improves memory admirably and thus cures amnesia. Yogendra says that Sarvangasan, Shirshasan, Dhanurvakrasan, Paschimothanasan, Ardhmatsyendrasan and Shavasan impart health to brain and nervous system. Acharya Bhadrasen prescribes Ardhsarwangasan, Matsyasan, Halasan and Chakrasan for mental debility, Shirshasan and Sarvangasan for epilepsy and insanity and Uttanpadasan, Pavanmuktasan, Ardh-Aatsyadasan, Padangusthasan, Tadasan, Nabhyasan, Halasan, Sarvangasan and Shirshasan for nervous weakness. V.C. Vasu prescribes Vajrasan for psychic powers, Shavasan for quietening the agitation of mind, Padamasan, Simhasan, Matsyasana, Bhujangasan, Mahanmudrasan, Nabhumudra, Khechri Mudra for distroying all diseases. Mahavedha Mudra, Agneyi Mudra Destroy thanatophobia (fear of death). Ambasi Mudra destroys hydrophobia (fear of water) and Yonimudra destroys mortal and venal sins.

Pranayama (Breathing exercises) : Kovoor T. Behanan gives the word meaning of Pranayama as, "Prana means breath and Ayama, means pause" hence the compound pranayama literally means "a cessation or pause in the movement of breath." Shivanand defines Pranayama as, "Pranayama is the control of the Prana and the vital forces of the body. It is regulation of breath." Pranayama is the Hath Yoga par excellence which consists of breathing exercises. The chief aim of Pranayama is to unite the Prana with the Apana and take the united Prana-Apan slowly upwards to the head thus awakening the sleeping Kundalini. Shivanand describes the energy of Pranayamaas, "If you can control the Prana you can completely control all the forces of the universe, mental and physical." According to Yoga Pran, and Mana (breath and mind) are most close and exist together. Increase and decrease in one effects the other. If we control breath which is physical and easy to do we can control mind and its movements. These psychophysical energising exercises of Asana and Pranayama work in two ways. On the one hand they energise the soma and on the other hand indirectly they train and energise psyche. As we have seen Asana and Mudra energise body physiology and Pranayama energises nerves. The ego in maintaining Asana and Mudra and praticing Pranayama has to practice control and command over body and nervous system, which he becomes able to do in due course. In doing so the ego gets indirect training of Command, and control and gets self-confidence and energy. Ego getting thus energetic becomes ready to practice Pratyahar, the psychic sublimating exercises.

III. Psychic sublimating exercises (Pratyahar)—Now comes that method which is purely psychological and at the same time very advanced. The Pratyahar is the withdrawal of mind from all senses. Practically it is the complete mastery over the senses. It is done in two ways i.e. neither the senses should be affected by the stimulus nor they should disturb the mind by their sensations. But Pratyahar is not the incapacity of the senses. They (senses) remaining healthy, it is the complete mastery of psyche over them. Psyche must not be effected by them but whenever required psyche must be able to use them. Pratyahar is very useful in the field of psychopathology for breaking learned and conditioned responses and doing sublimation. The whole unconscious is cleared up by it. The Rajas and Tamas Vrittis become powerless. Yogic approach is semi-auto and directed so Pratyahar a technique of self analysis, free association

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

learning and sublimation can be practiced by any patient who is able to do them i.e. mild neurotics, mildly distrubed and those requiring mental health, under a psychotherapist. But the patient can do so only when he has already attained energy through undergoing earlier psychic disciplinary and psychological exercises. Pratyahar on the somatic side is the mastery over senses and on psychic side it is the clearing up of unconsciousness.

IV. Psychic supernormal attainment (Siddhi) exercises (Dharna, Dhyan and Samadhi)—Psychic supernormal attainment exercises of Dharna, Dhyan and Samadhi, usually used for the attainment of supernormal siddhis, mostly concern with Yogies and saints. The techniques of Yoga for general therapeutic purposes go usually upto Pratyahar but recently meditation for psychotherapeutic purposes is emphasised by Assagioli of Italy. Though the use of Yoga techniques for functional disorders, exist from Vedic times in India but recently trained Psychiatrists, Psychotherapists and Yogies have evaluated and used them with promising results. For instance Hans Jacobs, Kovoor T. Behanan, Felix Guyot, H.G. Singh, Geraldine Coster, Akhilanand, Schmitz, Aurobindo, Shivanand, and Yogendra, have high Psycho-therapeutic opinion about Yoga and some of these even evaluate Yoga better than Psychoanalysis.

4. Conclusions

In the field of psychotherapy some points in favour of Yoga are found. Although psychic diseases damage the whole personality but the most of destruction is done to ego's strength in psychic field. Ego becomes weak and unable to cope with reality, id and super ego. The main problem of psychotherapy is how to make ego energetic so that it can face these three and take charge of behaviour from which it has withdrawn. The controlling and administrative capacities of ego are finished. Yoga knows well that ego is weak and withdrawn in the psychological field so it gives it indirect training in the field of physiology. Yoga believes in the psychophysical unity of personality and that the action may start from any corner but it will ultimately effect the whole personality. That is why it lets ego withdrawn from psychic field and puts it on physiological field for practising Asana and Pranayama. In doing Asana and Pranayama ego has to put resistance and endurance to bodily functions and thus gains self confidence and controlling capacity. At the same time by these practices the physiological side of personality also gets toned up. Pranayama exercises give special energy to nerves. So by these Yogic exercises there is improvement in body nerves. When in due course ego has gained much self confidence and controlling capacity and physiological strength too, then the stage of Pratyahar is reached and ego is again brought to psychic field. Remaining withdrawn and inattentive from psychic problems and dealings for a long time, psychic field becomes more clean and quiet. By the practices of Pratyahar after sometime ego becomes successful in coping with the problems of psychic field and disease is removed. Thus Yoga psychotherapy is triple action. It treats body, nerves and psyche i.e. the whole personality while psychoanalysis treats only the psyche. Because it treats whole personality, therefore, the effects are more lasting and promising. Lesser time consumption is another advantage. Because Yoga takes aid of three things or rather applies therapeutic measures from three sides, therefore, it is able to control the disorder in lesser time.

Bibliography

1. Hans Jacobs,—Western Psychotherapy & Hindu Sadhna—(George Allen & Unwin Ltd., London, 1961).

2. Sri Yogendra, "Yoga Magazine" Yoga Institute, Bombay (Jan. 1934).

3. Felix Guyot—Yoga : The Science of Health —(Rider & Co. London).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. Pavitranand,—Common Sense About Yoga —(Mayavati Advita Ashram, Almora).

5. Kovoor T. Behanan—Yoga : A Scientific Evaluation—(Dover Publications Inc. New York, 1937).

6. Sri Aurobindo—On Yoga I—(Aurobindo Ashram Pondicherry).

7. T.V. Kapali Shastri,—Further Lights—The Veda and The Tantra—(Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1951).

8. Geraldine Coster—Yoga and Western Psychology—(Oxford University Press, London, 1957).

9. Sri Shivanand—Practical Guide for Students of Yoga—(The Divine Life Society, Hong Kong, 1957).

10. Swami Akhilanand—Mental Health and Hindu Psychology—(George Allen & Unwin Ltd., London, 1952).

11. H.G. Singh,—A Study of Indian Psychotherapeutic Practices (Agra University Ph. D. Thesis 1970, Unpublished).

(Paper read in the section of Psychology and Educational sciences, Indian Science Congress, Diamond Jubilee Session, Chandigarh, January 1973).

Dr. H. G. Singh,
Department of Psychology,
Gurukul Kangri University,
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Indian Sensibility in T.S. Eliot's Poetry

Amar Nath Dwivedi

With the introduction of Kalidasa's Shakuntalam to the West by Sir William Jones in 1789, an atmosphere was created in which the East and the West began to accommodate each other. The age-old concept 'East is East and West is West, And never the twain shall meet' became out-dated and out-fashioned. Immense possibilities of collaboration and mutual adjustment in different spheres of life and letters were in sight. As a natural result, many European and American scholars turned to a study of the vast, fathomless literary heritage of India. Breaking upon the Georgian literary scene, T.S. Eliot presented the credentials of a wide-ranging poetic sensibility by incorporating into his poetry not only the 'best' of European culture and literature but also of Indian thought and tradition.

As a serious scholar of philosophy at Harvard, T.S. Eliot applied himself to the study of Sanskrit and Pali for two years. In this matter he was helped and guided by Charles R. Lanman. Going through Eliot's poetry one may mark his irresistible fascination for the profound wisdom of ancient India. His was a troubled time and peace was then but 'a wandering fire'. The ideals of the Hindu Scriptures could restore 'calm of mind' in the otherwise 'burning' world,—Eliot was quite sure of it. In his poetry, therefore, references exist to show that he had some knowledge of the *Vedas*, the *Upanishads*, the *Bhagavadgita* and Patanjali's *Yoga Sutras*. He was well-versed in Buddhistic lore and literature too. The use of 'Shantih shantih shantih' by Eliot in *The Waste Land* is both Vedic in origin and Upanishadic in content. In the same poem the poet has drawn upon the *Brihadaranyaka-Upanishad* (5,1) in the three-fold message of the Thunder.[1] The *Gita*, which is mostly held as the 'New Testament' for the Hindus, was so dear to him that he calls it "the next philosophical poem to the *Divine Comedy* within my experience."[2] Under the supervision of Mr. J.H. Woods, Eliot learnt Patanjali's metaphysics which left him "in a state of enlightened mustification"[3] Buddhism also left its indelible marks upon the poet Eliot; this is to be gathered from *The Waste Land* and *Four Quartets*.

Like Somerset Maugham, Eliot also believed in; "The East has more to teach the West than the West conceives."[4] He has made overt references to the Hindu philosophy and ethics in *The Waste Land*, the *Quartets* and *To the Indians Who Died in Africa* in poetry and in *The Cocktail Party* in drama. But even elsewhere the Indian traces are not wholly wanting. It appears from the bulk of Eliot's poetry that he was ever haunted by the vision of nightmarish dilemma, the acutest of modern maladies, the escape from which was possible only through the sagacious sayings and broodings of the Hindu sages embodied in our Scriptures. Right from *The Love Song of J. Alfred Prufrock* to the *Quartets*, and on to the poetic plays, Eliot has tried his best to underline the spiritual discipline and rigorous asceticism, so conspicuous a feature of our rich tradition.

The Waste Land (1922) brought recognition to the poet. It is here that he comes out as a "universal poet".[5] With no fewer than six languages employed in the poem, the Indian touches are so obvious in it. In Part III, 'The Fire Sermon', the collocation of the two great representatives of eastern and western asceticism (i.e. Lord Buddha and St. Augustine) is "not an

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

accident."[6] Eliot likens the Buddha's Fire Sermon to the Sermon on the Mount. From Mr. Henry Clarke Warren's translation[7] the poet picked up the following :

"To Carthage then I came
Burning burning burning burning
O Lord Thou pluckest me out
O Lord Thou pluckest
burning."[8]

(11.308-311).

The next Part, 'Death by Water', is as significant as the futile, fruitless quest of Tiresias, who in person represents the entire humanity, in Part V. Equally significant is the quester's approach to the Chapel Perilous, the decay of which denotes the 'present decay of eastern Europe.' At this juncture, the poet refers to the Ganga and the Himavant. Then the message of the Thunder is delivered thrice: 'Da Da Da'. It is an important thing in itself that the poet looks at India to break through the barrenness of his own land. Who can dare deny the deliberate inclusion of the Hindu Scriptures by the poet, particularly at this point ? 'Datta', 'Dayadhvani' 'Damyata' (i.e. Give, Sympathise, Control) are the words directly drawn from the *Upanishad.* The poet takes a further recourse to the sacred wisdom of of India at the close of the poem :

Datta. Dayadhvam. Damyata.
Shantih shantih shantih

(11. 433-434).

While the first line is the repetition of the Thunder and has been cited here for emphasis-sake, the second one is a new introduction altogether. According to the poet, this is 'a formal ending to an Upanishad.' But, to my thinking, this is of an earlier date in origin and occurs in the *Yajurveda.* Nobody will, however, deny that this is a part of the *Upanishads* too.

The *Quartets* (1943) is a series of four poems that appeared from time-to-time. These poems are named after different proper places. The most explicit note of Hinduism strikes us in *The Dry Salvages* (1941). In the second movement of the poem occurs "Time the destroyer is time the preserver", which verily recounts the Hindu concept of time in relation to timelessness.[9] It is a clear-cut clue to Shiva and Vishnu of the Hindu Trinity. Herein lies an exposition of the idea contained in the beginning of *Burnt Norton* where the continued flow of time has been highlighted :

"Time present and time past
Are both perhaps present in time future,
And time future contained in time past.
If all time is eternally present
All time is unredeemable".

(*Burni Norton*, 11.1-5).

In the third movement of *The Dry Salvages*, the teachings of Lord Krishna directed to enlighten Arjuna and to bring him out of the feelings of meum have been introduced. On the battlefield Krishna tells Arjuna "I am the Time Spirit"[10] and exhorts him further :

"You shall not think 'the past is finished'
Or 'the future is before us',"

(11.144—145)

and again :

"....., consider the future
And the past with an equal mind."

(11.153—155)

All time is centred in the Lord; the entire universe is His creation. Time which is Death finally merges into timelessness which is Immortality. So none should be afraid of time or death, and should perform one's duty unruffledly.

The following extract from *The Dry Salvages* is identical with the sixth stanza of Chapter VIII in the *Gita* :

".....'on whatever sphere of being
The mind of a man may be intent
At the time of death'."

(11.156—158)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Towards the close of the movement, the poet takes up the theme of Karma ('action'). The *Gita* stresses throughout the importance of Karmayoga, which is the performance of one's duty with a sense of devotion and detachment. The 'selfless action', according to the *Gita*, is the highest and easiest kind of Yoga :

"And do not think of the fruit of action".[11]

The desire of getting 'the fruit of action' binds the soul ('jiva') to the body, whereas the duty done in perfect detachment liberates it for good. And the end of Yoga is liberation from the human bondage :

"The inner freedom from the practical desire,
The release from action and suffering, release
from the inner
And the outer compulsion,"

(*Burnt Norton*, II,11.70—72)

This is the sum and substance of Lord Krishna's admonition to Arjuna when he says :

"Not fare well,
But fare forward, voyagers".

(11.168—169)

The beautiful phrase in *The New Testament*—'carelessness for the morrow'—has the self-same idea. Its echo may be heard even in *The Rock* (1934) :

"I say to you : Make perfect your will
I say : take no thought of the harvest,
But only of proper sowing."

(Chorus I).

Eliot's remote poem, *To the Indians Who Died in Africa*, is a reversion to the same theme. In it he referred pointedly to the Hindu doctrine of Karma :

"Let those who go home tell the same story
of you :
Of action with a common purpose, action
None the less fruitful if neither you nor I
Know, until the judgment after death,
What is the fruit of action."[12]

Despite the adverse opinion of western critics like Miss Helen Gardner regarding the introduction of the 'great' Hindu Scriptures in the third movement of *The Dry Salvages*, the truth remains that neither the poet has made a new 'introduction' here, nor is it out of 'consonance with the poem's theme of annuntiations', nor does it destroy 'the imaginative harmony of the poem', as she puts it.

The world has become a single unit today; the distinction of East and West has been outgrown. There are "obvious points of contact between Eastern and Western thought."[13] People of different nations, tongues, and cultures have come closer than ever before. None should, therefore, get alarmed at the statement that T.S. Eliot, who lived, walked and talked among us, has at times justifiably drawn upon the Hindu Scriptures to soothe the restless soul of the seething time. The poet himself has confessed that his poetry "shows the influence of Indian thought and sensibility."[14]

REFERENCES

1. T.S. Eliot, *The Waste Land*, Part V, 11. 402—422.
2. T.S. Eliot, 'Dante', *Selected Essays* p. 258.
3. T.S. Eliot, *After Strange Gods*, p. 40.
4. S. Maugham, *The Razor's Edge*, ch. 6.
5. Octavio Paz, *T.S. Eliot: Papers and Proceedings of a Seminar*, p. 2.
6. T.S. Eliot, *Notes on 'The Waste Land'*, line 309.
7. H.C. Warren, *Buddhism in Translation*, Harvard Oriental Series, Vol. III, first published in 1896.
8. Cf. the text of 'The Fire Sermon' in Mr. Warren's work (Student's ed., 1953), pp. 351—353.
9. Vide the *Bhagavadgita*, VII, 26; IX, 7 ; X,20; X, 33.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. Ibid., XI, 32.
11. Cf. the *Bhagavadgita*, II, 47—51; although elsewhere too the theme of Karma recurs therein every now and then.
12. *Queen Mary's Book for India* (1943), p. 61
13. K. Smidt., *Poetry and Belief in the Work of T.S. Eliot*, p. 182.
14. T.S. Eliot, *Notes towards the Definition of Culture* (1948), p. 113.

Amar Nath Dwivedi,
Department of English,
Gurukul Kangri University,
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Christopher Fry's Language and Verse

Dr. R. L. Varshney

Fry occupies a place next only to that of Eliot. And like Eliot's Fry's achievement as a poet dramatist has been the subject of a critical controversy. Most of the critics have attested to the opposite extremes of partiality and prejudice. We have been informed that his language is almost that of Shakespeare or that of a merchant of ginger beer. To the one he appears to be "a panoplied bard"; to the other a sort of "effervescent coster." Those who hold an adverse opinion of his language and verse have drawn a very dismal picture of Fry. Stephen Spender makes a parody of Fry's manner :

> Rhythmically, it is extremely easy to write.
> You just go on making loose pentametres.
> Which, as everyone knows, is easier than writing prose.
> Then occasionally you introduce a gleaming line
> Eloquent as light around the horizon
> Of hills which are a background for your puns,
> And an occasional internal rhyme.[1]

Denis Donoghue in his essay, "Christopher Fry's Theatre of Words"[2] accuses Fry of "verbal flippancy," of a "self-regarding" style. He writes : To think of other writers in association with Mr. Fry is to realise that his peculiar weakness, even in "The Dark is Light Enough", is that he writes as if the lessons of Stendhal, Flaubert, Henry James, Eliot and Ford had eluded him; as if nothing of significance had happened in European literature between Southey and J.C. Squire. Mr. Fry's language has a soft centre, even where Flaubertian bone is urgently required. Its typical effect is not to concentrate feeling and thinking into the word, but to diffuse these activities over a broad verbal area. Indeed, there are few writers and fewer dramatists who yield so readily to the lyric moment. Where ideas are involved, Mr. Fry uses them to make verbal show-cases, rather than, like Shaw, to start dialectical battles. Frequently, Mr. Fry's language seems perversely designed to smooth away any conflict inherent in the situation. The picture of Fry which emerges from the press cuttings is that of "a man reeling intoxicated with words; they flow in a golden —or perhaps pinchbeck—stream from his mouth : they start out at his ears; they burst like rockets and jumping crackers and catherine-wheels round his head; they spring in wanton sport at his feet and trip him; but trip him or not, he loves them : let them all come, go where they may; let them strangle sense, flood the stage, break the dams of form : facility shall have its day. His typewriter continues to chatter long after it has been put back in its case. Words will grow out of him, like finger-nails, some time after his death."[3]

Thus the main charges against Fry's language are flippancy and verbosity, lack of distinction

1 The Spectator, CL XXXIV (March 31-April, 1950), p.364. Also see Stephen Spender, "Christopher Fry", Discussion (March 31, April 17, 1950), pp 37-49.

2. See Essays in Criticism, IX (Jan. 1959), pp 37-49.

3. Fry, An Experience of Critics (Oxford : New York, 1953), p. 23. Cue title An Experience.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

between the language of one character and the other, lack of suitable action to match words, lengthy sentences and a surfeit of similies and metaphors. Some critics are of the opinion that his plays are merely a treasury of beautiful words, and that his verse is a mere paper decoration and sheer bombast. Their judgement has a resemblance to that of Justice Tappercoom in *The Lady's not for Burning* :

> The whole thing's a lot of amphigourious
> Stultiloquential fiddle-faddle.[4]

But the defence by the Chaplain is equally appropriate :

> . . . . And what may seem nonsensical
> To men of affairs like yourselves might not seem so
> To me, since everything astonishes me
> Myself most of all.....[5]

Fry himself has answered some of these charges. He states :

> So many words, for instance. We know this criticism doesn't precisely mean what it says. There are the same number of words as in any other play; you have only to count them. It means, I think, that I dont't use the same words often enough; or else, or as well, that the words are an ornament on the meaning and not the meaning itself. That is certainly sometimes—perhaps often—true in the comedies, though almost as often I have meant the ornament to be, dramatically or comedically, an essential part of the meaning; and in my more sanguine moments I think the words are as exact to my purppse as I could make them at the time of writing.
>
> And then the question of relevance. The question is, relevance to what ? The relevance of one kind of play is not necessarily the relevance of another...what I am most anxious to do here is to ask that criticism should look more deeply into the nature of a play, and to pursue the reason for its nature, rather than to try to force it into a category to which it doesn't belong.[6]

If we judge his plays in accordance with their nature, we will find that Fry never writes 'pretentious nonsense', nor is his language unsuitable for dramatic action. Its use is purposive, functional and reasonable. The criticism of Fry on the ground of using fifty words where five would do, in fact, betrays a failure to distinguish between eloquence and empty bombast.

To the charge that his people talk alike, Fry cheerfully answers, "According to the custom of men, they should, we do." Regarding long sentences, he explains in the introduction to *The Lady's not for Burning* how long a sentence should end is no body's business but his own. Perpetua's long speech in *Venus Observed* seems to be a reply to his detractors on this point.

So far as the suitability of words and deeds is concerned, Fry states that "words and actions are not unrelated. One illuminates the other; and the full significance of action can be explored only by words. If we compare the murder of Maria Marten in the Red Barn, with the murder of Duncan in Macbeth's castle, we see that in each the physical action is roughly the same, but the significance of the action is entirely different. The one is merely done, the other is experienced, and the experience is in the words. What is more, the experience is the true nature of the action. The experience ultimately is the action."[7]

These charges seem to have been based on the assumption, first, that the language of a play should be closely related to its structure, secondly that if the language becomes autonomous at any point the decorum of the play should be such as to

4. The Lady's not for Burning, p. 38. Cue title Lady.
5. Ibid, p. 41.
6. An Experience. pp 24-25.
7. "Why Verse"?, Vogue. CXXV (March 1, 1955), p. 166. Cue title "Why Verse ?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

support this autonomy for a special dramatic purpose. But such assumptions are unfounded for plays dealing not with action but with moods and seasons, man's spiritual problems, and his estrangement in the present-day world. Here we will have to view the matter strictly on merit with a view to encouraging fresh things on the stage. Viewed this way the main weakness of anti-Fry criticism is that it is carried on at a level higher than the lowly boards of the stage, and it is clear that in Mr. Spender's article on Christopher Fry the stage is nowhere in sight. Moreover, the detracting criticism of Fry misrepresents him in as much as it points to his main powers as his chief weaknesses. In *Curtmantle*, Fry perhaps has in his mind his severe critics when he makes Eleanor say :

I know your world, where an acid wit
Is valued higher than the mind hurt by it,
Where rules dictate how a man should move,
or love,
Or cough, or betray, or do nothing :
The unexceptional dance of what
Has withered within. Where every syllable's
Up for valuation by the code
Of the best poets, and nothing speaks from
goodwill.
I have understood at last the truth of the text :
A man's enemies are the men of his own
house.[8]

The most remarkable feature about Fry's language is its rich and motely vocabulary. Fry is interested in developing a powerful phraseology. He knows full well the importance of words in a play as they express a wide and proferred experience, and help in conveying sense, feeling, tone, mood, intention, thought and idea. He himself says, "Words give us a larger, or deeper experience of action." [9] That is why he prays through a character in *Venus Observed* :

God give me a few
Lithontriptical words[10]

perhaps because

the word is an arrow
Of larksong, shot from the earth's bow, and
falling
In a stillborn sunrise.[11]

Words have a compelling interest for him as they had for Shakespeare; they flow from his mouth like a torrent of gold; they often seem to brighten in his hands as jewels. Sometimes the words themselves are extended into images of a brilliant, even exotic daring, e.g. 'mesh of God',[12] 'dank rumour'.[13]

Fry often writes in heightened speech, in words that 'glow and ring', that colour page after page and 'the writing becomes jewelled with words, as a lawn with water drops in a summer dawn.'[14] Like O' Casey he is ready to make gold embroidery out of dancing words. We have only to quote the lines :

1. The Lanterns, Rosabel. They'll be very pale
Compared with the foment of wild flamboyant rose
We have in the sky to-night....[15]
2. Horses..., the caves of their nostrils
blowing
Bright clouds of breath, a foaming sea
Breaks against their mouths, their flanks
are smoking
Like Abel's fire to heaven....[16]
3. ...I, as unlaborious
As a laburnum tree, hang in caresses of
gold.[17]

8. Curtmantle, p. 81.
9. "Why Verses?" p.166.
10. Venus, Observed, p. 42. Cue title Venus.
11. Lady, p. 87.
12. The Firstborn, p. 84.
13. Ibid. p. 58.
14. Ed. Martin Browne, Introduction to Four Modern Verse. Plays (Penguin Plays, London, 1957) p.11.
15. Venus, p.80.
16. Ibid. p. 55.
17. Ibid, p. 53.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. Our English sun, convalescent after passing
Through the valley of the shadow of the moon.[18]

5. ...the river
Where the water gives those girlish giggles around
The ford....[19]

6. I, the little heretic as he thinks,
The all unhallows Eve to his poor Adam....[20]

7. Such white doves were paddling in the sunshine
And the trees were as bright as a shower
of broken glass. [21]

8. .....I've an April blindness.
You're hidden in a cloud of crimson catherine-wheels.[22]

9. .....those long jowls, my jewel,
Those ruminating thundercoloured bulls
Your brothers : and our pastry-pallid sons...[23]

"The foment of wild flamboyant rose", "the caves of their [horses'] nostrils blowing bright clouds of breath," "as unlaborious as a laburnum tree," "the girlish giggles" of water, "a shower of broken glass," "a cloud of crimson catherine-wheels," "the convolutions of convolvulus"[24] are but a few of the phrases that evince Fry's poetic gifts and his creative and evocative imagery. From the illustrations like these one can easily understand that Fry "can let down his bucket into a sea of dazzling verbal invention where he wishes, and bring it up brimming."[25] E.D. O'Brien has rightly observed, "for here was a phenomenon, a poet-playwright who used words as Shakespeare used them, to whom, as with Shakespeare, were open "all the realms of nature, all the mines of fancy," who possessed a gigantic treasure-chest of words into which he plunged his arms up to the elbows and let the lovely glittering, glowing things trickle through his fingers like the jewels they were."[26]

Fry has used a new and startling phraseology for love :

1. Having seen the beautiful teenagar Alizon Richard cries :
Is life sending a flame to nest in my flax ?[27]

2. TEGEUS. O Dynamene,
Let me unload something of my lips' longing
On to yours receiving. Oh, when I cross
Like this the hurt of the little space between us
I come a journey from the wrenching ice
To walk in the sun. That is the feeling.[28]

3. DYNAMENE .....Chromis, it's terrible
To be susceptible to two conflicting nor hs.
I have the constitution of a whirlpool.
Am I actually twirling, or is it just sensations:

4. TEGEUS.....To night I need to kiss you,
Dynamene. Let's see what the whirlpool does
Between, my arms; let it whirl on my breast
O love,
Come in.
DYNAMENE...I am there before I reach you; my body
Only follows to join my longing which
Is holding you already—Now I am
All one again.
TEGEUS. I feel as the gods feel :
This is their sensation of life, not a man's :
Their suspension of immortality, to enrich

18. Ibid, p. 26.
19. Lady, p. 20.
20. Ibid, p. 70.
21. Ibid, p. 4.
22. Ibid, p. 4.
23. Thor, p. 6.
24. Lady, p. 33.
25. Quoted from a Review in the New Statesman and Nation by Raymond Williams in Drama from Ibsen to Eliot (London, 1965), p. 265.
26. "The Poet in the Theatre", The Illustrated London News, Aug. 11, 1951, p. 228.
27. Lady, p.4.
28. A phoenix Too Freqment, p. 30. cue title phoenix

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Themselves with time. O life, O death, O body,
O spirit, O Dynamene.

DYNAMENE. O all
In myself; it so covets all in you,
My care, my Chromis. Then I shall be
Creation.

TEGEUS. You have the skies already;
Out of them you are buffeting me with your gales
Of beauty. Can we be made of dust, as they tell us ?
What ! dust with dust releasing such a light
And such an apparition of the world
Within one body ? A thread of your hair has stung me.[29]

5. TEGEUS. Hush, smile of my soul,
My sprig, my sovereign: this is to hold your eyes,
I sign my lips on them both; this is to keep
Your forehead—do you feel the clai.n of my kiss
Falling into your thought ? And now your throat
Is a white branch and my lips two singing birds....[30]

6 ELEANOR. Nevertheless consider
The nature of love. In love a man and woman
Are newly minted as in the beginning of the world,
Creating themselves out of each other's eyes.
But in marriage, whatever world is made,
Has the bones of the woman walled up in the foundations,
No air to breathe, nor any light to move in.[31]

Hence to call his theatre 'the Theatre of Words' is an honour, and not an insult, because his theatre is not the theatre of superfluous, meaningless, or useless words, but of words that are not only heard but also seen through the eyes and experienced through the mind. There is, in fact, a kind of suave and Apollonian splendour in Fry which modifies the ardour of his thought. He has put into practice what he preaches so well in one of his speeches :

A poet wishing to write objectively, to create an act of poetry; to make that act of poetry, and also, an act of life; not only to represent other beings out of his own nature, but to share their creation with other men the actors; to attempt completely to exteriorize his will to sing, to make his inward search for truth an outward fact. To do this he must have a particular relationship to his poetry. He must wish it to come towards him not wish to impart it. He must be surprised into it by an imagined action. And for this reason it cannot be self-conscious. It may be artful, rhetorical, severely controlled, but it must be able to live its own life in a way that is neither necessary nor desirable in non-dramatic poetry. That is why a very experimental form is likely to be a dead-end, and why the first bridge to be crossed by any poet-dramatist should be the way to reconcile his poetry to common speech, not only by the avoidance of obvious poetical inversions and excisions, but by the method of metaphor and similie, by the way symbolic language is presented, and above all by the speech rhythms, which have to overcome the tone of written literature."[32]

It is in order to reconcile his language and verse to the common speech that we find a valley of metaphors and similies in his plays. They are to him of a vital significance, as they have been in drama since ancient times. Aristotle says, "But

29. Ibid, pp 31-32.
30. Ibid, p. 34.
31. Curtmantle, p.79.
32. Fry, "Poetry in the Theatre", Saturday Review, XXXVI, March 21, 1953, 18-19.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

far the greatest thing is a gift for metaphor. For this cannot be learnt from others, and is a sign of inborn power."[33] It is through metaphor that the language achieves its rich suggestiveness, and becomes the matching place for the wit of the reader and the wit of the writer. Hence it is something more than an amusing literary device; it is a continual play of wit, an illuminating double entendre, nimble magic. Metaphors often act to enrich reality, even to heighten it. "Living metaphor", says F.L. Lucas, "is a kind of two-headed Janus, looking two ways at once and making us see two things almost simultaneously,"[34] and that "a style without metaphor and simile is to me like a day without sun, or a woodland without birds."[35]

Metaphors and similes can give strength, clarity, and speed; they can add wit, humour, individuality, and poeticality. Sanskrit scholars went a step further and called drama "a metaphor." It is for these reasons that the hero in *The Lady's not for Burning* cries : "What a wonderful thing is a metaphor"[36]. Plainly enough Mr. Fry agrees with him. He has rather "invited straphangers, accustomed to travelling on the sunway, to take a ride on Pegasus."[37] Fry uses metaphors most effectively and wonderfully; but they are his slaves, not his master.

Another device by which he makes his verse nearer common speech is abusive language which is part of man's everyday life. Our daily language is also, occasionally, and among some people frequently, full of vituperations, oaths, abuse, swear-words, hyperbolic epithets, and interjections. Fry's people also use this natural medium naturally:

REEDBECK. You're a vain, vexing, incomprehensible, crimping, constipated duffer.....You grovelling little Gobemouche.....You spigoted, bigoted, operculated prig.[38]

In Thor with Angels the first page of the play is full of this beautiful rather regardful language :

QUICHELM. Colgrin,
You scrawny old scurfscratcher, is that you ?

COLGRIN. Frog-man, fen-fiend, werewolf, oul, elf.....

QUICHELM. Runt of an old sow's litter, you slop-headed
Pot-scourer, come here, you buckle-backed
Gutsack, come out of there'...[39]

In *The Lady's not for Burning* this type of idiom is full of hilarious amusement and is the source of delight :

1. NICHOLAS (to Richard) You canter off...
What shall I do
With this nattering wheygoose, Alizon ?
Shall I knock him down...[40]

2. NICHOLAS (to Humphrey), You slaway poodle, you tike,
You crapulous puddering pipsqueak.
Do I have to kill you a second time ?...
O blastoderm of injustice
You multiplication of double-crossing ![41]

---

33. Aristotle, Poetics, XXXII
34. F.L, Lucas, Style (Collier Books, New York, 1962). p. 186
35. Lady, p. 168
36. Lady, p. 3
36. John Mason Browne, "Poets and Players" Dramatist Personae (London, Hamish Hamilton, 1963), p. 245; this essay was first published in 1950
38. Venus, p.42
39. Thor, with Angels, p.1. Cue title Thor
40. Lady, p.8
41. Ibid, pp. 14-15

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. THOMAS (to Tyson). You bubble-mouthing, fog-blathering,
Chin-chuntering, chap-flapping, liturgical,
Turgidical, base old man."[42]

Phrases like "vein, vexing, incomprehensible, crimping, constipated duffer," "grovelling little Gobemouche" "spigoted, bigoted, operculated prig" "strappling, ice-cold, donkey-witted douche tasteless writer," "buckle-backed gustsack" "nattering wheygoose", "bubble-mouthing, fog, blathering, chin-chuntering, chap-flapping, liturgical, turgidical, base old man" exhibit Fry's flair for inventive abuse and neologisms of vilification. They are the intellectual acrobatics of a writer whose aim is to show the futility of man's existence in a very pleasing and amusing manner.

Another example of this delight in verbal gymnastics is to be found in Tegeus' oath-speech :

I swear, I swear by Horkos and the Styx,
I swear by the nine acres of Tityos,
I swear the Hypnotic oath, by all the Titans
By Koeos, Krios, Iapetos, Kronos, and so on.
By the three Hekatoncheires, by the insomnia
Of Tisiphone, by Jove, by jove and the dew
On the feet of my boyhood, I am innocent
Of mocking you...[43]

Such names can be used only by a person well-versed in classical mythology. Fry frequently uses classical names and allusions, Greek and Latin phrases and proverbs. Such usages help him in creating the needed atmosphere, and are an aid to local colour.

Fry can use nouns as adjectives, e.g. "There is something shipwreck, about you"[44] or "My Pollen fingers."[45] 'His choice of verbs is more vigorous, more Shakespearean, than that of any other poet'.[46] Below are cited a few of Fry's verbs which he uses to 'activise' his language :

1. Is life sending a flame to *uest* in my flax.[47]
2. The sphere *churned* on.....[48]
3. And when I found my hands *crowded* him
Into my breast, he *buried* like a burr...[49]
4. All the court *flew-up* and *buzzed*
But what could they do ? Not even my
Pharaoh-father
Could sting him out of my arms...[50]
5. The flowers were *schooled*
With salemanders .....[51]
6. I'll *fume*
with feeling..... [52]
7. I thought that was why
We were *mooning* around celebrating...[53]
8. .....a blue sky *buffaloed*
by cloud.....[54]
9. The sun has *mooned*
Away half its light, already...[55]
10. Rosabel, where have you *mooning*
All the long afternoon ..[56]

Fry's coinages are comic, e.g. 'vastiness lusted'...[57] 'overwhelming solitude'[58] 'decontaminating life',[59] 'congenital generator, your nephew'[60] 'rumpled idiot-boy'[61] 'mumping pub',[62] and so on. Fry will use 'larceny' for theft,

42. Iblid, p. 27
43. Phoenix, p. 16
44. The Firstborn, p. 17
45. Ibid, p. 37
46. Derek Stanford. Christopher Fry : An Appreciation (London, 1951), p. 200. Cue title Appreciation.
47. Lady, p . 40
48. Ibid, p. 33
49. The Firstborn, p.4
50. Ibid, p. 4
51. Ibid, p. 37
52. Phoenix, p.29
53. Lady, p.65
54. Venus, p. 5
55. Ibid, p. 14
56. Ibid, p. 56
57. Lady, p. 32
58. Ibid, p. 32
59. Ibid, p. 26
60. Ibid, p. 28
61. Ibid, p. 41
62. Ibid, p. 18

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'abacation' for the theft of animals, 'peculation' for embezzlement, and 'incendiarism' for causing fire.[63]

His language contains within itself all the expected furnishings of verse, such as imagery, metaphor, simile, onomatopoeia, alliteration, and the like. As an example of onomatopoeia, we can cite the following passage :

> Burst in among us, blashpheming against
> Woden,
> Broke his sword in the air—he swore it broke
> Against a staggering light—and stood roaring,
> Swaying in a sweat of wax, bestraddled
> Over the fallen Briton.....[64]

And below are given a few samples of his alliterations :

1. ...Who's awake ? Where's
   The welcome of women for wayfarers ?
   Where's my Wodenfearing mother ?[65]
2. ...as bright and bristling
   As Barney the boarhound...[66]
3. To doom and a damned journey into dust ..[67]
4. You should be crouching craven in a cave...[68]

Fry's love of and his skill in the use of paradox and anti-thesis can be illustrated from the following passages :

1. ..Joy is nothing
   But the parent of doom.[69]
2. Death is a new interest in life...[70]
3. ...What is my freedom becomes
   Another person's compulsion...[71]
4. Shall we live in mystery and yet
   Conduct ourselves as though everything were
   known ?[72]
5. In the belly of our misfortune
   We find our hope.[73]
6. I followed a light into a blindness.[74]
7. Nothing has any truth and anything is true.[75]

And here is an example of Fry's pun :

DUKE — And I, as unlaborious
As a laburnum tree, hang in
caresses of gold,

EDGAR. — And what do I hang in ?

DUKE. — You hang in abeyance, Edgar...[76]

His plays, thus contain something of the intellectual acrobatics of the metaphysicals. There are far-fetched images which are spell-binding, the similes and metaphors that startle us, the puns that remind us of Janus, the play of engaging words that reminds us sometimes of Anouilh, sometimes of O'Casey, and at other times of the Elizabethans. His wit descends from the Restoration dramatists through Oscar Wilde. And while there is much exquisite grace of expression there is also the earthy salt of colloquialisms. One could fill a whole anthology with brief or copious extracts from his plays, demonstrating his varied use and employment of it as a comic agent, in paronomasia and other forms of word-play; his amazingly inventive powers of abuse; his gay neologisms and polysylabic clowning; or, again, on the serious side, his flair for giving to metaphysics the valid and immediate impact of metaphor; his creation of fresh vernacular of wooing; and his art as an 'inner portrait painter.'

Fry lays the acceptance of poetry in the theatre to two things :

63, See Lady, p. 36
64. Thor, p.4
65. Ibid, p. 1
66. Ibid p. 2
67. Ibid, p. 7
68. Ibid, p. 19
69. Phoenix, p. 33
70. Ibid, p. 4.
71. Venus, p. 96
72. The Firstborn, p. 46
73. Ibid, p. 31
74. Ibid, p. 31
75. Ibid, p. 48
76. Venus, p. 53

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

> One's the reaction to the long hold of surface realism. The other is that the world seems rather cut down a bit...and poetry provides something people lack, and wish for a richness and reaffirmation.[77]

At another place he states :

> The use of verse in the modern theatre... comes, I think, from a certain spiritual searching which is part of our troubled times.[78]

He regards poetry as the language of reality, of economy, and of correctness. It is not unnatural. On the contrary, it is 'the reason itself'.[79] The pursuit of poetry or the creation of its works, in Fry's opinion, is "an apprehension of truth beyond the power of rational thought." In his defence he says, "Well if we have to be born into a world as wildly unprosaic as this one is, what else can be done, if we mean to be realistic ?"[80]

Fry has demonstrated over and over again that poetry preserves its force as a universal language, significant and immensely enjoyable. It has the privilege of showing us several planes of reality at once—sensuous, logical, psychological and spiritual. It is the language of emotion and power; it 'moves like an athelete over hurdles to perform the most most economically'.[81] Moreover, it is 'the central functionary of the play, the spring of all action, potent, shaping, and informing'. It has several advantages over prose. Certain experiences can be better experienced in and expressed through it; 'in prose we convey the eccentricity of things; in poetry, their concentricity.[81]' It is as natural as one of our senses. Moreover, it is an 'unrolling exploration' and 'the humility of language.' All our actions in Fry's view are the actions of poetry. He argues :

> Poetry is the language in which man explores his own amazement. It is the language in which he sees heaven and earth in one word. It is the language in which he speaks to himself and his predicament as though for the first time. It has the virtue of being able to say twice as much as prose in half the time, and the drawback, if you do not happen to give it your full attention, of seeming to say half as much in twice the time . . . We can say that poetry is the language of reality.[82]

Poetry to Fry, therefore, is a sign of man's vitality. 'Fear of it, or lack of it, is the dead-end of his material needs.' In his theatre poetry is action and action is poetry. He is not a poet and a playwright separately : he is all the time a poet-playwright. He holds with Wordsworth's theory that poetry is something "felt in the blood, and felt along the heart."[83] He summarises his theory of verse as follows :

> A verse play is not a prose play which happens to be written in verse. It has its own language. In a talk on *Poetry and the Theatre*, I tried saying something more about this, in these words : "The dramatist must view the world of his play, and the people of that world, with great precision : the poet-dramatist with the greatest poetic precision. The whole structure depends upon it, what scene follows another, what character goes and what character enters, where description or landscape becomes

77. Ed. Stanley J. Kunitz, Twentieth Century Authors: A Biographical Dictionary (New York, 1955), p. 355
78. Fry's letter to M P. Sanghal. pub. in his Christopher Fry and T.S. Eliot (Brij. Prakashan, Meerut, India, 1968). p. 127, originally a thesis submitted to Agra University.
79. "Why Verse?" p. 137.
80. Quoted by Denis Donogue, Essays in Criticism, IX, 38
81. "Why Verse?" p. 137.
82. "A Playwright Speaks", p. 332
83. Quoted by Fry from Wordsworth's 'Tintern Abbey' (1798) in "Why Verse", p. 166.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

part of the action, or where it needs a bare exchange. The poetry and the construction are inseparate. Who understands the poetry understands the construction, who understands the construction understands the poetry, for the poetry is the action and the action — even apart from the words — is the figure of poetry.....[84]

What Fry wants is that 'in exploring and recreating life in terms of the stage we should use language as fully charged and as plient as we can make it.' [85] So poetry should be used in the theatre to satisfy the spiritual needs of our age, to include the greater reality, to express the superstitions and the supernatural, to enact a mood or state of mind, to portray a character, to demonstrate the human dilemma, and above all, to achieve a union of word, action, character, tradition and discovery. "No event," observes Fry, "is understandable in a prose sense alone. Its eventual meaning... is a poetic meaning."[86] But Fry does not consider poetic drama to be something opposed to prose drama. In an interview with Lewis Nicholas, he said :

> I find it a pity to divide drama into verse and prose, for it's a false division. Each play shouldn't have to be forced into one category or the other. it happens that only poetry is for me, and I have never written a prose piece of my own. But the division is growing less. Tennessee Williams, for example, has written both.[87]

In another talk he points out :

> What reason is there for limiting the theatre to one form of communication ? It is even believed that the prose play and the verse play are in opposition : or that the one precludes the other : there appears to be a kind of colour bar in the matter. Such rivalry is nonsense. Indeed prose and verse existing side by side counter each other's dangers. If they pass altogether out of reach of each other's, they cease to be themselves : becoming on the one hand journalese, official cant, or any other string of sentences : and on the other a vagueness, an abstraction, a preciousness.[88]

The inter-play of prose and poetry to Fry is like "men and women dancing the Grand Chain,"[88] and it is this dance that keeps each in its own state of grade. So he shelves this debate between the poetic and the prosaic in the following manner :

> I have no answers to satisfy you if you believe that human nature, or human personality, is divided into two parts, of whatever proportion, the prosaic and the poetic. I think we always live with a foot in each camp, or rather, that there is no moment when we can safely say that even our apparently most insignificant actions have not a significance greatly beyond ourselves.[89]

Fry's plays live up to this compromise. Some of them—*The Boy with a Cart* and *Curtmantle*—use both verse and prose.

Fry's verse has its distinctive mark. William Arrowsmith has compared Fry's verse with Marlowe's. "There is," says he, "the same verbal impatience, the same laddering of effects towards an over-all tonal-roof, and the exuberance of the autonomous language."[90] But another critic, Mauris Bewley differs with Mr. Arrowsmith. Commenting on the same speech which Mr. Arrowsmith chose for Fry's appreciation, Mr. Bewley remarks, "The colours of this speech flake and fade, and the outline of its image grows misty. There is very

84. Christopher Fry, An Experience of Critics (Oxford), 1953, pp. 26-27. Hereafter referred to as An Experience.
85. "A Playwright Speaks", The Listener (Feb. 23, 1950), 332.
86. "Why Verse?" p. 162.
87. The New York Times, Sunday, 27 April, 1958, Sec. II, IX.
88. "Why Verse?" p. 166,
89. Ibid, p. 168.
90. See "Notes on English Verse Drama", Hudson Review, Summer, 1950, III, 213-16.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

little or concrete immediacy behind it, an even 'bryony, sloes, rosehipe' suggest second-hand literary gleanings rather than a genuine response to the real things, or even to the experience or words."[91] Mr. Bewley's other charges against Fry's verse are ironic over-statement, and a cynicism too youthful and exhibitionistic. But most of these charges again are a by-product of the modern antipoetic tendency. Mr. Bewley seems to undermine the fact that any piece of real art when it comes to public notice automatically becomes exhibitionistic, and that if Fry's pages are charged with a little extravagant wrath and vigour, they should not appear to any of us as full of 'cynicism'. In fact Fry's comedies are not the comedies of situations or characters ; here the action lies not in events and situations, but in the very words. So the critic does not need to bewilder himself by Fry's buyoant flights of imagery and this sometimes baroque rhetoric. Such effects are not interruptive. The most imaginative passages, instead of standing isolated as poems to be recited by the actors reinforce characterization and energize plot. Even the forty-eight line speech of Merlin in *Thor, with Angels,* and the forty-three line eloquence of Perpetua in *Venus Observed*, which have been the subject of adverse criticism are relevant to the meaning of the play concerned.

The most notable feature of Fry's verse is its dramatic quality. His poetry is dramatic enough to vivify character and energise plot. His plays are moving poetry. Like Bottomley's his lyricism is there not by accident but by design, because he is resolved to create a poetic drama in the true sense, a drama where the action is the poetry and the poetry is the action. "In Fry, then, as I have attempted to show, poetry and drama are not at war ; the first diminishing the sense of situation, the second detracting from the beauties of speech."[92] So "it would be wrong to think that the poetry is merely a spangled cloth, a number of yards of verbal tinsel, wherewith the author disguises or positively enhances the basic banality of his drama."[93] Hence to estimate Fry's success accurately we must see his plays "not so much as an achievement in poetic drama, as an original application of verse to familiar theatrical ends.[94] poetry is "the central functionary in the play, the spring of all action, potent, shaping and informing."[95]

He uses verse in a way that will enable actors, unused to such dialogues, to benefit by it instead of making them feel embarassed by it. His verse is very easy, chastened, melodious, and full of apt phrases, metaphors and similitudes. It has a dynamic structure and steadily moves towards a climax, and at the same time it is studded with pointed, witty and paradoxical statements and sentences. It rouses and shocks the mind and keeps it perpetually expectant, and gratified. He has the double gift of the musician and the rhetorician, which is clearly reflected in his verse-dialogue, where aptness and precision of phrasing, balance, economy and adjustment of part with part, of illustration and a veritable hail of pelting end sparkling witticisms and paradox abound.

Fry has been able to free himself from the fetters of the Elizabethan blank verse which sucked the vital lifeblood of the plays of Flecker. Like a hag his plays also emphasize the growing awareness of the necessity of simplification or the blending of the colloquial and the poetical for infusing the energy of real life into poetic drama. He has successfully created his medium—verse without any specifically poetic language or rhythm, fit

91. Mauris Bewley, "The Verse of Coristopher Fry," Scrutiny, XVIII (June, 1951), p. 79.
92. Appreciation, p. 48.
93. Ibid. p. 19.
94. Raymond Williams, op. cit., p. 262.
95. "Why Verse?" p. 137.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

for prosaic contexts, but also able to enhance dramatic tension by its precise and suggestive poetic condensation. It helps rather than hinders the audience. It has a burning energy and a splendid diction. Fry can switch over directly or indirectly to prose whenever he wishes to do so. Almost all his plays contain scenes in prose or in verse which is near prose.

Fry's verse, however, is not the prevalent staccato drives, 'the gutter-bred language polished to crest stone heights', nor the 'telegraphic lingo that passes for alive dramatic speech' but the singing and flowing of the English tongue, and to use J.C. Trewin's phrase, 'the singing of gold'. He is indeed, 'the freshest, and most singing voice that had sung in the dusty recess of the theatre'.[96] He is all the time "a silvery singer", a sort of Siamese Twin, in which the attributes of the muse of song and the muse of drama are featured together."[97] Derek Stanford has rightly called him "the 'pocket' Caruso[98] of contemporary stage-verse."[99]

Fry does not employ the ten-syllabled line with regularity; he uses much freer forms. He is a man with lively fancy. Fry's rhymes, when compared to Shakespeare's seem to be comparatively limp because he cannot fall back upon a standard of regularity from which any departure provides a rhythmic meaning to the ear. His rhythm is colloquial, easy, matter-of-fact, compounded of daily speech patterns. There is a tinge of monologue in some of his dialogues. We do not find in his verse that rhythmic woodenness and linguistic poverty which the Victorian poet-dramatist had. Fry is always rich and copious in his style. His rhythms and metres often resemble those of the Miracles, and the Morality and Mystery plays of the Middle Ages, notably *Everyman* (about 1490), If need be, he can repeat the rhythms to heighten the effect (for example, "But am I sure" in *Venus Observed* p. 95).

When we trace the development of Fry's style and medium we find that *The Boy With a Cart* reflects Fry's indecision about the choice of his medium. He appeared to waver between Eliot and Williams, and also between the prosaic and the poetic. He knew not whether to choose a florid language or a simple colloquial idiom. In fact, he appears to have expounded with both prose and verse. Much of the play, therefore, is written in prose, and the real poetry in the play is found in the lyrical utterances of the Chorus. But he was soon convinced that his powers lay between Shakespeare and Eliot. In *The Firstborn* his idoim is highly chiselled and finished. Although this play is not remarkable for the splendour of his comedies, yet it shows Fry's wonderful mastery of dialogue. Here the language is neither artful nor pompous, but simple and consistent :

> We're not enemies so much
> As creatures of division—you and I,
> Ramesses, like money in a purse,
> Ring together only to be spent
> For different reasons....[100]
>
> OR
>
> We're not concerned with hope,
> Or with despair ; our need is something different ;
> To confront ourselves, to create within ourselves
> Existence which cannot fail to be fulfilled.[101]

There is in this play minimum decoration. The language has a remarkable economy and precision. In comparison with the language of comedies the language in his tragedies is suddued and controlled, yet it is not dead; it has its usual freshness, vigour and the singing quality.

In his comedies the language is typically Fryian. It has a wonderful store of figures of speech ; its imagery is of a very intense order ; it is like sea-foam or lightening without its terrific thunder. It has a continual sweet murmur. Whereas the comedies have a

96. New York Times, Nov. 8 1959, p. 87.
97. Appreciation, p. 12.
98. Enrico Caruso (1873-1921), a celebrated singer.
99. Appreciation, p. 12.
100. The Firstborn, p. 26,
101. Ibid, p. 31.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

bubbling spontaniety and flow of words, tragedies use them in a restrained manner. We may assign the reason of this simplicity to the severe criticism of his critics. But above and over this consideration are the theme and atmosphere of the tragedies. It is in accordance with the demand of the action, that Fry uses language. In short, whereas the language of the comedies (*A yard of Sun* is an exception) is florid, the language of the tragedies and later festival plays is subdued.

Fry's style may appear too mannered but, it comes to him naturally. He has violated the calendar in both directions, utilising the modern idiom in depicting the Middle Ages, and 'elevated' diction in realistic modern scenes. The diction of his verse ranges from the cockney in *A Phoenix Too Frequent* to the vulgar tongue of enlisted men in *A Sleep of Prisoners,* from the homely modern terms put into the mouth of St. Cuthman in *The Boy with a Cart* to the suave epigrams of *Curtmantle*. His gift for idiomatic usage has been equalled by no other contemporary poet-dramatist. He can make an effective use of slang and colloquialism, e g. 'swiggty', 'oblit' (for obliterate). There is often an euphemistic touch in his style : "I think I see little phoebuses/rising and setting in your eyes." His is a melodious and picturesque style. One cannot but marvel at the amazing vocabulary and those flippant classical allusions which are a part of his style. "Fantasy, eloquence, rhetoric, and wit, when taken together combine to produce a remarkably high-spirited verbal compound. Such a component we have in Fry's plays."[102] His style is, therefore, both original and inimitable. That is why he has hardly any disciples.

To conclude, Fry's verse, has adaptability and flexibility. It has a dramatic function ; it relies on the potency of words and not on the urgency of action. He has a particular gift for describing, with his amplitude of similes and delicate fabric of language, the sounds, sights and smells of the English countryside. It possesses to a great extent sensibility, power, wit, humour, pun, paradox, a flood of figures of speech, artistic insight and imagination. "His Verse", says J. C. Trewin "is a foam, a sea, a walter of conceits. Wit flashes from it like a heliograph in sunlight.[103] Again it is for his uninterrupted raillery and horse-play, his striking untraditional, saucy images, vigorous metaphors, and vaunted wit that Fry is most popular among the contemporary audiences. Fry's verse is further notable for its burning energy, its splendour of diction, its sensuous richness, its variety of space, and its responsiveness to the demands of varying emotions. Fry's dialogue, in its mingled gaiety and melancholy, sweetness and irony, allusions to real things and kinship with a romantic world, has an altogether indefinable magic. He has created a personal style of his own; a mixture of the sublime, the simple and beautiful, the mysterious, the grotesque, the learned, and the unexpected. As one of his characters says, "I have done nothing monosyllabic. A spade is a spade ?"[104] Fry has rightly removed much of the monotony of the dull prosaic stage of the twentieth century, and has contributed a lot of literary drama without damaging its stageability. Colgrin in *Thor, with Angels* rightly summarises Fry's achievement :

There's not a devil
In the length of the land could pick such a posy of words
And not swoon smelling it.[105]

Dr. R.L. VARSHNEY
Department of English
University of Gurukul Kangri, Hardwar

102. Appreciation, p. 211.
103. J. C. Trewin, Drama : 1945-50 (Longman, 1951), p. 26.
104. Venus, p. 36.
105. Thor, pp. 1-2.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PRINTED AT S. NARAYAN & SONS, DELHI.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोध भारती

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की अनुसन्धान पत्रिका)

सम्पादक

डा० रामनाथ वेदालङ्कार

डा० विष्णुदत्त राकेश

वर्ष १, अंक १

जनवरी १९७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोध भारती

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की अनुसन्धान पत्रिका)

श्री चौहान जी
को
सादर भेंट

सम्पादक
डा० रामनाथ वेदालङ्कार
डा० विष्णुदत्त राकेश

वर्ष १, अंक १

जनवरी १९७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

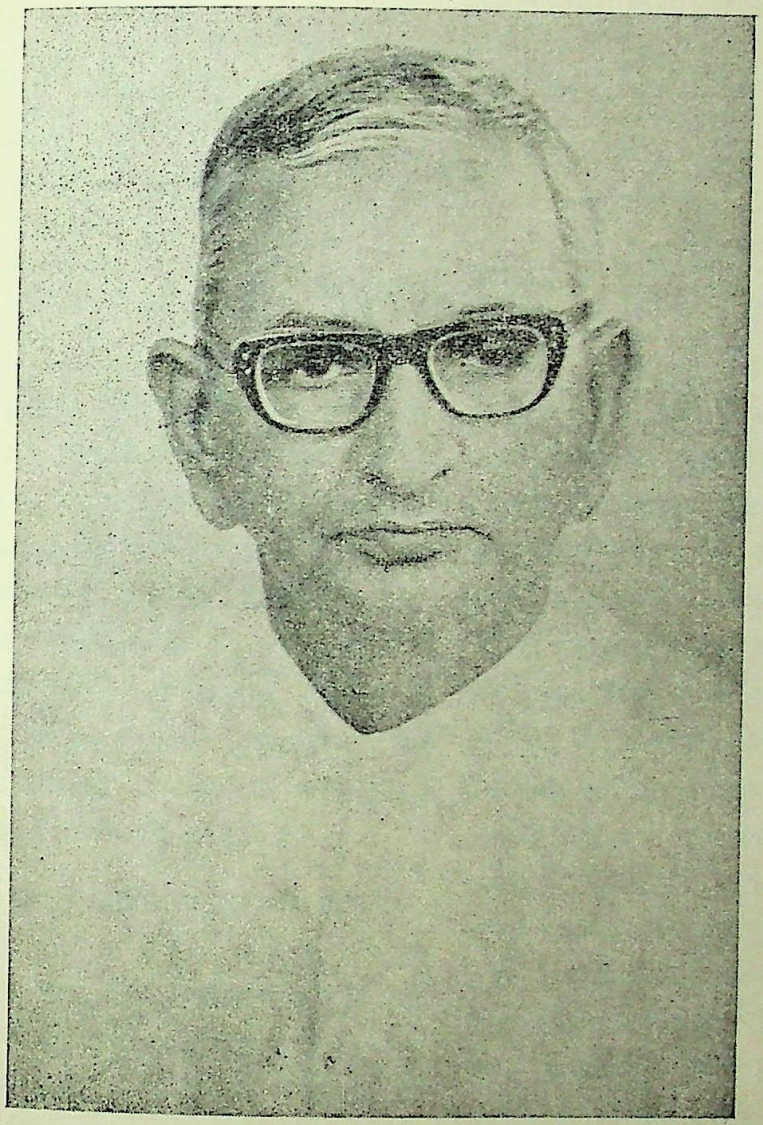

वैदिक साहित्य, इतिहास तथा दर्शन के

प्रकाण्ड विद्वान्

आचार्य रघुवीर सिंह शास्त्री

कुलपति

जिनके जीवन्त कर्त्तृत्व तथा गतिशील नेतृत्व का संस्पर्श पाकर

विश्वविद्यालय का शैक्षणिक स्तर संवर्द्धित

हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

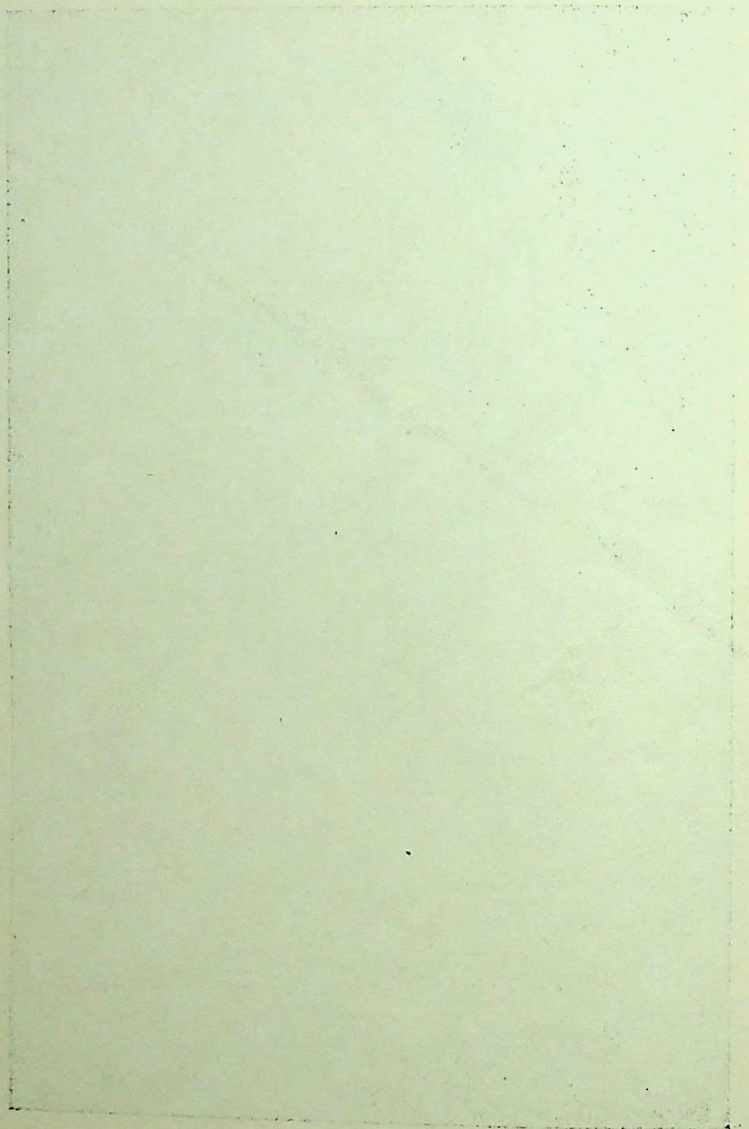

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

७३ वर्ष के प्रौढ़ किन्तु नित्य यौवन छवि से दीप्त, सक्रिय तथा संस्फूर्त्त गुरुकुल विश्वविद्यालय कुलगुरु स्वामी श्रद्धानन्दजी के आदर्शों पर भारतीय साहित्य, संस्कृति, दर्शन, इतिहास तथा वेदांगों के क्षेत्रों में प्रचलित विश्वविद्यालयीय परिपाटी से भिन्न शिक्षा-मूल्यों का सामयिक परिप्रेक्ष्य में गतिशील प्रयोग करता रहा है। उसकी प्राच्य विद्या-संरक्षणगत उपलब्धियों का राष्ट्र के प्रबुद्ध विचारक वर्ग ने स्वागत किया है। अन्य उच्चस्तरीय शिक्षण संस्थाओं से उसकी यह मौलिकता भारतीय शिक्षा के इतिहास में अनिवार्य महत्त्व की साक्षी है।

गुरुकुल संस्था नहीं, विचारधारा है। परिपाटी नहीं, प्रयोग है। स्थिरता नहीं, गति है, चेतना है और है शाश्वत सांस्कृतिक मूल्य बोध। गुरुकुल परिसर में छात्र तथा शिक्षक प्रकृति के सुरम्य परिवेश में एक रचनात्मक उद्देश्य के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की प्रगति का परिचय प्राप्त करते हैं। वेद, दर्शन, मनोविज्ञान, गणित, विज्ञान, पुरातत्त्व, हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी साहित्य तथा आयुर्वेद जैसे विषयों का उच्चस्तरीय अध्यापन तथा शोध कार्य यहाँ व्यवस्थित रूप से हो रहा है। विश्वविद्यालय के समकक्ष मान्यता मिल जाने पर अपने मौलिक रूप की रक्षा करते हुए अन्य विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम, शोधस्तर तथा अध्यापन-परिपाटी के समस्तरीय रूप ग्रहण से इसने नव जीवन प्राप्त किया है। विद्वत् समिति, शिक्षा पटल, व्याख्यान-माला तथा पाठ्यक्रम समितियों के व्याज से देश के मूर्धन्य विद्वानों तथा शिक्षा शास्त्रियों के उपयोगी विचारों तथा परामर्शों से इसका पथ प्रशस्त हुआ है। शिक्षाविदों की दृष्टि गुरुकुल पर कृपापूर्ण रही है और उनकी आशाओं-आकांक्षाओं को साकार करने में यह निरन्तर सचेष्ट है। मास्को विश्वविद्यालय के प्राच्य-संस्थान के निदेशक डा० ई० चेलिश्शेव तथा भारत की माननीया प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इस सत्र में विश्वविद्यालय में पधारकर इसकी प्रगति पर सन्तोष का अनुभव किया है। सीमित साधनों तथा शक्तियों के होते हुए भी विश्वविद्यालय के अधिकारी, प्राध्यापक तथा छात्र बद्ध परिकर हो अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं। संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान्, कुशल प्रशासक तथा प्रमुख शिक्षाशास्त्री आचार्य रघुवीरसिंह शास्त्री के कुलपतित्व में विश्वविद्यालय में शान्ति, अध्यापन, शोध तथा रचनात्मक प्रवृत्तियों को जैसा संरक्षण-संवर्द्धन मिला है, तोड़फोड़ तथा विघटनात्मक गतिविधियों के केन्द्र अन्य शिक्षण-संस्थानों के लिए यह स्पृहा की वस्तु है। श्री शास्त्री जी की प्रेरणा से ही विश्वविद्यालय की यह शोध-पत्रिका प्रकाशित हो रही है। प्रवेशांक आप सुधी-पाठकों के सामने है। हम आपके सक्रिय सहयोग, परामर्श और आशीर्वाद के आकांक्षी हैं।

अनुसन्धान एक दुरुह प्रक्रिया है। उसके मूल तत्त्वों का निरुपण यहाँ अभिप्रेत नहीं है। आत्म सजगता के साथ सम्पन्न होने वाला कार्य महत्त्वपूर्ण होता है, इस आशय से संकलित इन शोध-निबन्धों से नये संकेत की क्षमता पाठकों को अवश्य मिलेगी, इसका पूर्ण विश्वास है। परम्परा और विचारधारा संशय की दरार से टूटती है किन्तु जीवन बोध और महनीय सत्य का साक्षात्कार भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न चिन्हों के साथ ही उजागर होता है। सृजनात्मक साहित्य और आलोचना शोध के परिवृत्त में बंधकर ही विश्वसनीय बनते हैं, उनकी आयुकाल व्यापिनी होती है। वय का अनुमान और ठीक-ठीक मूल्याङ्कन आँखों की स्वस्थता का सूचक है। इस संकलन के निबन्ध शोध और आलोचना की नई दृष्टि से सम्पन्न हैं, यदि विषय-मर्मज्ञों को इससे सन्तोष मिल सका तो हम अपने श्रम को सफल मानेंगे। अन्त में जिन विद्वानों ने अपने मौलिक निबन्ध सरस्वती-प्रीत्यर्थ प्रकाशनार्थ देकर 'शोध-भारती' को भारती भवन में प्रवेश दिलाने का सुअवसर प्रदान किया है उनके प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। भविष्य में भी हमें इन मनीषियों का अधिक से अधिक सहयोग मिलता रहेगा, इस आशा के साथ प्रस्तुत अंक सहृदय पाठकों के कर कमलों में सौंप रहे हैं।

"यह मनुज ब्रह्माण्ड का सब से सुरम्य प्रकाश,
कुछ छिपा सकते न जिससे भूमि या आकाश।"

—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचरित के तीन गायक और उनकी काव्यकृतियाँ

वाल्मीकि, अज्ञातनाम कवि,और तुलसीदास कृतियाँ

—आचार्य किशोरीदासवाजपेयी

पौलस्त्यवध, वाल्मीकीय रामायण, और रामचरित मानस इनमें से एक (पौलस्त्यवध) नाटक है, और शेष दोनों महाकाव्य। 'महाकाव्य' की जो परिभाषा अर्वाचीन साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दी गई है, उसमें यदि वाल्मीकीय रामायण तथा 'रामचरित-मानस, गृहीत नहीं होते, तो यह 'परिभाषा' बनाने वालों का दोष है कि वे अपनी परिभाषा में इन महाकाव्यों को न ला सके। यह भी संभव है कि उनके सामने 'महाकाव्य' संस्कृत के ही रहे हों और 'मानस' पर उनका ध्यान न गया हो; या 'परिभाषा' बनाने तक 'मानस' का अवतरण न हुआ हो और वाल्मीकीय रामायण को वे साधारण महाकाव्यों में न रखना चाहते हों। वह तो 'आदिकाव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। तब 'महाकाव्य' की अर्वाचीन परिभाषा में वह कैसे आए !

वाल्मीकि रामचरित के आदि गायक हैं। उन्होंने करुण रसात्मक 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा था, जिसका पता वाल्मीकीय रामायण के आरंभिक चार सर्गों से चलता है। प्रारंभिक सर्ग उस अज्ञातनाम महाकवि ने भूमिका के रूप में लिखे हैं, और फिर पाँचवें सर्ग से महाकाव्य की कथा आरंभ होती है।

'वाल्मीकीय रामायण' नाम इसलिए प्रचलित हो गया; क्योंकि महाकवि ने आरंभ के चार सर्गों में बताया कि रामायण (रामचरित) के प्रथम गायक वाल्मीकि हैं, और फिर अन्त में कृतज्ञापूर्वक कहा—

'आदिकाव्यमिदं चार्षम्,
पुरा वाल्मीकिनो 'कृतम्'

'पुरा' अति प्राचीन काल में मुनि वाल्मीकि ने इस आर्षकाव्य की—'रामायण' की रचना की थी। नाटक दृश्य काव्य है, और वाल्मीकि का 'पौलस्त्यवध' नाटक था, जिसे 'रामायण' नाम से प्रसिद्धि मिली। रामायण का रामचरित का—निबन्धन 'पौलस्त्यवध' में होने के कारण उसे 'रामायण' लोग कहने लगे। पहले 'राम-चरित' के अर्थ में 'रामायण' का प्रयोग होता था। वाल्मीकी रामायण के प्रौढ़ टीकाकार श्रीमान् राम महोदय ने लिखा है—रामस्य अयनम्, चरितम्—'रामायणम्'। यानी 'रामायण' तब तक काव्यविशेष की संज्ञा न थी। आगे चलकर 'रामायण' शब्द का प्रयोग उन काव्य-विशेषों के लिए होने लगा, जिनमें राम-चरित (रामायण) का निबन्धन हुआ हो—अध्यात्मरामायण' आदि। यहाँ तक कि तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' की भी 'तुलसीकृत रामायण' नाम से ही अधिक प्रसिद्धि है।

सो, वाल्मीकि के 'पौलस्त्यवध' नाटक को 'रामायण' नाम मिला और फिर रामायण (रामचरित) को लेकर जब किसी महाकवि ने एक महाकाव्य की रचना की तो उसे भी 'रामायण' नाम मिला और वह वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस महाकाव्य को भी पौलस्त्यवध (रावण-वध) तक ही रखा गया था। 'युद्धकाण्ड' (लंका-काण्ड) के अन्त में ही राम का, अयोध्या-आगमन और राज्य-भार ग्रहण करने का वर्णन है और यहीं 'फल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुति' आदि है, जो ग्रन्थ की समाप्ति पर ही लिखी जाती है। 'उत्तरकाण्ड' उत्तर कालीन प्रक्षेप है। यह सब आगे बताया जायगा।

रामचरित के तीसरे प्रमुख गायक हैं जो स्वामी 'तुलसीदास' जिनका 'रामचरित - मानस' तुलसीकृत 'रामायण' नाम से देश भर में तथा विदेशों में भी गुंजित हो रहा है। जितना व्यापक प्रचार इस महान् काव्य का हुआ, उतना अन्य किसी भी ग्रन्थ का नहीं। इस लोकोत्तर लोक काव्य ने भारतीय जनता को काव्यानन्द के साथ-साथ आत्मबल तथा सदाचार की भी शिक्षा दी है। अपढ़-निरक्षर से लेकर बड़े से बड़े विद्वान् भी तुलसी के शब्दों का आनन्द लेते रहेंगे। यह काव्य पाञ्चाली और अवधी में है। ये दोनों भाषाएं 'हिन्दी संघ' की प्रमुख भाषाएं हैं। परन्तु कहा यही जाता है कि 'रामचरित-मानस' अवधी भाषा का काव्य है।

ये तीन रामचरित के प्रमुख गायक हैं। इनका तथा इनकी काव्य-कृतियों का विशद विवेचन इस छोटे से लेख में क्या होगा! संक्षेप में आगे परिचय दिया जाएगा।

वाल्मीकि और उनका "पौलस्त्यवध काव्य"

'वाल्मीकीय रामायण' के प्रमुख टीकाकार श्रीमान् राम महोदय ने लिखा है कि वाल्मीक नाम के कोई ऋषि थे। उनके पुत्र 'वाल्मीकि'। यों 'वाल्मीकि' नाम नहीं, नाम का विशेषण ठहरता है, जैसे—'दाशरथि'। परन्तु यह विशेषण ही नाम के रूप में चल पड़ा, और नाम लोग भूल ही गए! बादशाह अकबर का नाम कितने लोग जानते हैं? 'अकबर' तो उनके महत्त्व के लिए लगाया गया शब्द है। नाम था-'जलालुद्दीन,' जो प्रायः लुप्त ही हो गया। हिन्दी के महाकवि भूषण का नाम भी लुप्त है। 'कवि-भूषण' की पदवी उन्हें दी गई थी। फिर 'कवि-भूषण' लोग कहने लगे। जैसे 'भूषण' नाम, और 'कवि' उसका विशेषण, आगे 'भूषण' ही नाम प्रसिद्ध हो गया। बस, कुछ यही स्थिति 'वाल्मीकि' मुनि की है।

सरस्वती उपासक मुनियों में केवल वाल्मीकि का ही नाम अमर है, शेष सब लुप्त हो गए। भरतमुनि तो बहुत बाद के हैं। इसी तरह असुर-कवियों में 'उशना' का नाम लिया जाता है—'कवीनामुशनाः कविः'। 'उशनाः शुक्रः'। शुक्र (असुरों के गुरु, नेता तथा महाकवि) का नाम 'उशना' था। वे वीर-भाव (वीर्य वीरता) के पुंज थे, अपनी मृतसंजीवनी काव्य-शक्ति के कारण। इसलिए उन्हें 'शुक्र कवि' कहा गया। कालान्तर में 'शुक्र कवि' ही प्रसिद्ध हो गए और उनका नाम (उशना) भी कृष्ण-जैसे वीरता-प्रेरकों की ही जानकारी तक रह गया। नाम भर वाल्मीकि की कृति का शेष है; पर शुक्रकवि की कृति का नाम भी लुप्त हो गया।

एक दूसरे वाल्मीकि भक्त हुए हैं द्वापर में, जिन्हें युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में भगवान् श्री कृष्ण ने उजागर किया, और सर्वोपरि महत्त्व दिया। ये भक्त वाल्मीकि सफाई का काम करने वाले हरिजन (भंगी) परिवार में पैदा हुए थे। इनका वर्णन नाभा जी ने 'भक्त माल' में किया है। यह नाम के एक होने के कारण कुछ लोग द्वापर के भक्त वाल्मीकि को ही रामगायक मुनि वाल्मीकि समझ बैठे हैं।

वाल्मीकि मुनि में साहित्यिक प्रवृत्ति थी। वे कोई ऐसा काव्य लिखना चाहते थे, जो आदर्श वीरता का प्रेरक हो। इस के लिए उन्हें मुनिवर नारद से प्रेरणा मिली कि राम ही एक आदर्श पुरुष हैं। उन्हें ही काव्य का नायक बनाओ। इस के बाद ब्रह्मा जी वाल्मीकि से मिले। ब्रह्मा जी नाट्य-शास्त्र के आद्याचार्य हैं। उन्होंने ही कदाचित् 'दृश्य काव्य' लिखने की सलाह दी हो; क्योंकि 'श्राव्य काव्य' की अपेक्षा 'दृश्य काव्य' में अधिक प्रेरकता होती है! अपढ़-कुपढ़ भी दृश्य काव्य (नाटक आदि) में बराबर आनन्द लेते हैं और (लिपि- माध्यम के बिना ही) सीधे कवि की वाणी सुनते हैं, उन अभिनेताओं के द्वारा, जो राम, सीता, हनुमान आदि की भूमिका में आकर अभिनय करते हैं। सो वाल्मीकि को यह बात अच्छी लगी। उन्होंने 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा। रामायण-महाकाव्य के रचयिता ने भूमिकात्मक (बाल काण्ड के आरम्भ में) चौथे सर्ग में लिखा है—

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।
पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामायणम्—रामचरितम् 'पौलस्त्यवधमित्येवम्'-पौलस्त्यवधनामकम् ।

कृत्स्नम्-सम्पूर्णम् । वस्तुतः 'पौलस्त्य-वध' में सम्पूर्ण रामचरित आ जाता है । वन-गमन के प्रकरण में अयोध्या आ गई, और फिर विजय कर के अयोध्या लौटने पर राज-काज सँभालना । 'सीतायाश्चरितं महत्' तो 'पौलस्त्यवध' का बीज ही है ।

सो, पौलस्त्य-वध' काव्य महर्षि 'वाल्मीकि ने लिखा, यह स्पष्ट हुआ । पता नहीं, 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने 'पौलस्त्यवध' काव्य देखा भी था; या विद्वत्परम्परा से प्राप्त कथा भर सुनी थी । परन्तु यह पक्की बात है कि वाल्मीकि ने 'पौलस्त्यवध' काव्य लिखा था ।

अब यह देखना है कि यह काव्य किस वर्ग का था । हम ने लिखा है कि यह 'दृश्य काव्य' या नाटक था । इस में आप प्रमाण मांगेंगे । प्रमाण में हम 'वाल्मीकीय रामायण' के भूमिका-सर्गों को ही सामने रखेंगे । वहाँ लिखा है कि वाल्मीकि 'पौलस्त्यवध' लिख कर इस चिन्ता में थे कि—

'को न्वेतत्प्रयुञ्जीयात् !'

अब इस का 'प्रयोग' कौन करे ! 'प्रयोग' 'दृश्य काव्य' का ही होता है । श्राव्यकाव्य तो पढ़ा जाता है । कौन इसे 'पढ़ेगा,' यह चिन्ता तो थी ही नहीं, क्योंकि मुनि-समाज में तथा उस समय के साधारण जन-समाज में सब निरक्षर तो होंगे ही नहीं ! हाँ, नाटक आदि का 'प्रयोग' करने वाले कलाकार (नट, कुशीलव) दुर्लभ होंगे । आज भी अच्छे नाट्य कलाकार बहुत कम हैं । कोई भी नाटककार यह सोचता है, कामना करता है कि मेरे नाटक का कहीं गुणग्राही समाज में कुशल नाट्य-कलाकारों के द्वारा 'प्रयोग' हो—मेरा नाटक रंगमंच पर 'खेला जाए' । अँगूठी की शोभा बढ़िया नग से होती है और नग की अँगूठी से । काव्य-रचना—नाटक का निर्माण—एक कला है और उस का 'प्रयोग' रंगमंच पर करना दूसरी कला । एक चीज कवि की है, दूसरी कुशीलवों की—नाट्यकला-विशारदों की । कभी-कभी कवि भी कुशीलव का काम करता है । महाकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने नाटकों के 'प्रयोग' में पात्र विशेष की भूमिका ग्रहण करके मंच पर अभिनय किया करते थे । परन्तु ये अपने ही नाटकों के प्रयोग में पात्र-विशेष की भूमिका ग्रहण करते थे; इस लिए कुशीलव नहीं, कवि ही कहे जाएँगे । कुशीलवों की कला का बहुत सम्मान था और राज-परिवार के जन भी इस क्षेत्र में आते थे ।

सो, जब वाल्मीकि 'पौलस्त्य-वध' के प्रयोग की चिन्ता में थे, तभी

तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
अगृहीतां ततः पादौ मुनिवेशौ कुशीलवौ ।।

—जब मुनि उस तरह नाटक के प्रयोग की चिन्ता में थे, तभी दो कुशीलव सीधे सादे वेश में वहाँ पहुँचे और मुनि की चरण-वन्दना की । उस समय मुनि का मन नाटक-प्रयोग के बारे में भावना विभोर हो रहा था ।

जैसे कवि कुशीलवों की खोज करता है, उसी तरह कुशीलव भी उत्तम नवीन नाटक की खोज में रहते हैं । पता लगा होगा कि वाल्मीकि ने 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा है; सो पहुँच गए । एक 'सूत्रधार' और दूसरा उस का प्रमुख सहचर-सहयोगी 'पारिपार्श्विक' थ। ।

इन दोनों कुशीलवों के बारे में कहा है—

कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ ।

'आश्रमवासिनौ'—जब कुछ दिन आश्रम में दोनों कुशीलव रहे, तब ज्ञात हुआ कि वे दोनों मुनि वेश में हैं; पर राजपुत्र हैं; सगे भाई हैं; उन का स्वर सराहनीय है और (अपनी कला में) बहुत यश प्राप्त कर चुके हैं । यह भी लिखा है कि संगीत-विद्या में दोनों बहुत निपुण थे । वाल्मीकि ऐसे न थे कि किसी ऐरे-गैरे को नाटक सौंप देते । खूब ठोक-बजा कर देख लिया, तब —'अग्रायत प्रभुः'—अपना नाटक उन्हें सौंप दिया ।

इस के अनन्तर उन कुशीलवों ने नाटक का अध्ययन किया; अपनी मंडली बुलाई; प्रयोग की तैयारी की; जिस पात्र का अभिनय जिस को सौंपा गया, उस ने उस में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दक्षता प्राप्त की और फिर मुनि-समाज में ही 'पौलस्त्य-वध' नाटक का प्रथम प्रयोग हुआ। नाटक देख कर मुनि जन मुग्ध हो गए और आवाज उठी—

'चिरनिर्वृत्तमप्येतत्,
प्रत्यक्षमिव दर्शितम्'

जो घटना बहुत पहले घटी थी, उसे आँखों के सामने ला दिया! ऐसा जान पड़ा कि वह सब हमारे सामने ही हुआ!

मुनियों ने फिर कुशीलवों को उपहार में तरह-तरह की वस्तुएँ भेंट की, जो उन के पास थीं। वे 'राजकुमार' थे कुशीलव; तो भी मुनिजनों के दिए हुए ये (वल्कल आदि) उपहार सम्मान-पूर्वक ग्रहण किए।

इस के बाद वे कुशीलव नाटक लेकर चले गए।

'कुशीलव' और 'कुशलव'

वाल्मीकीय रामायण के टीकाकारों ने 'कुशीलवौ' को 'कुशलवौ' समझ लिया है! लिखा है कि 'कुशलवौ' का आर्ष-प्रयोग है—'कुशीलवौ।' कितना भ्रम! आर्ष-प्रयोग जो ऐसे हुए हैं, उन में स्वर दीर्घ भर हुआ है, स्वर-परिवर्तन नहीं। 'अ' को 'आ' रूप मिल गया है—'सूर्यचन्द्रमसौ' का 'सूर्याचन्द्रमसौ' और 'इन्द्रवरुणौ' का 'इन्द्रावरुणौ' प्रयोग आर्ष है। 'अ' को कहीं भी 'ई' रूप नहीं मिला है।

फिर, यदि कुश-लव नाट्यकलाकार थे और उन के आश्रम में ही थे, तो फिर मुनि चिन्ता में क्यों पड़े कि 'कोन्वेतत्प्रयुञ्जीत'—इस नाटक का प्रयोग कौन करेगा! क्या अपने आश्रम के कलाकारों को कोई नहीं जान पाता? और फिर उन कुशीलवों को 'राजपुत्रौ' कहा गया है; एक जगह नहीं, बीसों जगह। यदि कुश-लव होते, तो 'राजपुत्रौ' की जगह 'रामपुत्रौ' विशेषण होता।

वस्तुतः 'प्रयुञ्जीत' तथा 'कुशीलवौ' का अर्थ ही लोग नहीं समझे?

२. अज्ञात महाकवि का महाकाव्य 'वाल्मीकीय रामायण'

'पौलस्त्य-वध' का 'रस'

'पौलस्त्य-वध' इस नाम से आभास मिलता है कि वह नाटक वीररस-प्रधान रहा होगा। परन्तु लोक-विश्रुति यह है कि वाल्मीकि की वह रचना करुण रस से ओत-प्रोत थी। इस पर विचार करना चाहिए।

कुशल कुशीलव ऐसा ही दृश्यकाव्य पसन्द करते हैं, जिसका प्रयोग पांच-छः घंटे में सम्पन्न हो जाए, और चतुर नाटककार कुशीलवों की इस रुचि का ध्यान रखते हैं। ऐसी स्थिति में सरलता से समझा जा सकता है कि 'पौलस्त्य वध' के लिए वाल्मीकि ने राम-चरित का कितना अंश लिया होगा। पाँच छह घंटे में सुकर-प्रयोग नाटक को पाँच-छह अंकों में विभक्त किया जा सकता है। निश्चय ही राम-निर्वासन से ही नाटक का श्रीगणेश हुआ होगा। 'आदौ रामतपोवनाधि गमनम्'। प्रथम अंक में अयोध्या से राम का निर्वासन और उस समय राज-परिवार की दशा का चित्रण मर्मस्पर्शी रहा होगा। दूसरे अंक में राम की वन में स्थिति, सीता का वह वन्य जीवन चित्रित हुआ होगा, जिसे देखकर दर्शकों के हृदय द्रवीभूत हो जाते होंगे। तीसरे अंक में सीता-अपहरण का कारुणिक दृश्य दर्शकों को रुला देता होगा। चौथे अंक में सीता के वियोग में राम की क्या दशा हुई, इस का चित्रण कवि ने किया होगा। पाँचवें अंक में लंका-स्थित सीता का विरह-सन्ताप चित्रित हुआ होगा और छठे अंक में किसी प्रमुख पात्र के मुख से सीता को सूचना मिली होगी कि भयंकर युद्ध में पौलस्त्य मारा गया और राम की विजय हो गई है। इस समाचार से सीता का पुनरुज्जीवन—'सूखत धान परा जनु पानी' की तरह दर्शकों को आह्लादित करता होगा। फिर राम और सीता का पुनर्मिलन। यों सुखान्त नाटक रहा होगा।

इस अन्तिम अंश (छठे अंक) को छोड़, शेष पूरे नाटक में करुणात्मक दृश्य और एक से एक बढ़कर दिल दहलाने वाले। तो, प्रधानता करुण रस की स्पष्ट ही है।

युद्ध रंगमंच पर दिखाया नहीं जा सकता; इसलिए उसकी सूचना किसी ढंग से दे दी जाती है। तो फिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीर रस में परिणति होने पर भी उसका परिपाक तो नहीं हुआ न ! दर्शकों के मन तो करुण रस से भरे हुए। उन में पौलस्त्य-वध की सूचना से सुख-संचार होने पर भी वह करुण दृश्यावली ही जमी रहना स्वाभाविक है और इसी लिए 'पौलस्त्य-वध' में करुण रस प्रधान रहा।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है। अर्वाचीन काव्य-विवेचकों ने पारिभाषिक 'करुण' रस की जो परिभाषा दी है, वह अधूरी है। उसके अनुसार तो किसी की मृत्यु हो गई हो, तभी वह 'करुण रस' की परिधि में आता है।

हाँ, 'पौलस्त्य-वध' के अंक-विभाजन की जो बात मैंने कही है, उस पर पाश्चात्य आलोचक और उनके भारतीय चेले कहेंगे कि "उस अति प्राचीन युग में 'लिखने' की कोई बात ही नहीं; क्यों कि तब तक लिपि का निर्माण आर्यों में हुआ ही न था और इसीलिए 'वेद' को 'श्रुति' कहा जाता था। सुनते-सुनाते वह चलता था।"

ऐसे मूर्खों को कैसे बताया जाए कि "कालिदास ने 'रघुवंश' में और तुलसीदास ने 'रामचरित-मानस' में कहा है—।" क्या इन के युग में भी लिपि न थी ? आज कल 'श्रव्य काव्य' ही अधिक लिखे जाते हैं। इस का क्या मतलब ? क्या आज भी लिपि नहीं है ? फिर 'श्रव्य काव्य' 'लिखे जाते हैं'; यह क्या ? इन्हें कैसे समझाया जाए कि 'लिखना-पढ़ना' भी (लिपि के माध्यम से) कहना-बोलना ही है। संसार के सब से प्राचीन साहित्य 'ऋग्वेद' के भी 'मण्डल' तथा 'सूक्त' रूपों में परिच्छेद हैं। तब उसके बहुत दिन बाद वाल्मीकि ने अपने दृश्य काव्य का विभाजन अंकों में किया, तो शंका किस बात की ?

वाल्मीकि के समय दृश्य काव्यों का प्रयोग करने के लिए रंगमंच की भी उत्तम व्यवस्था रही होगी और अभिजात वर्ग के विद्वान् कलाकार अपने को 'कुशीलव' कहलाने में गर्व का अनुभव करते होंगे। तभी तो दो राजकुमार कुशीलव वाल्मीकि की सेवा में जा कर हाजिर हुए थे।

एक बात और ! वह क्रौंच पक्षी की हत्या वाली बात कुछ जमती नहीं है और वाल्मीकि के प्रस्तुत करुण काव्य से मेल भी नहीं खाती। महाकवि निराला के सामने ही, उन की प्रकृति बताने के लिए, लोग कहानियाँ गढ़ लेते थे और मेरे सामने ही (मेरे दिल्ली-अभिनन्दन पर) अनेक विद्वान् मित्रों ने मेरी प्रकृति बतलाने के लिए कई कल्पित प्रसंग उपस्थित किए थे। अन्यत्र भी ऐसा होता है। सो, वाल्मीकि की मनोदशा को वैसे काव्य की रचना के अनुकूल बनाने के लिए वह क्रौंच पक्षी की हत्या वाली कहानी गढ़ी गई है; जो जमती नही है।

'पौलस्त्य-वध' से पहले और बाद में

'पौलस्त्य-वध' से पहले और उसके बाद संस्कृत में कितना साहित्य अवतरित हुआ होगा, इसका अनुमान कोई लगा नहीं सकता। यह हो नहीं सकता कि अचानक 'पौलस्त्य-वध' कूद पड़ा हो, उसके पहले कोई साहित्य प्रकट न हुआ हो ! अन्यविध साहित्य के अतिरिक्त दृश्यकाव्य भी काफी बन चुके होंगे और उनके प्रयोग करने वाले कुशीलवों की कला का विकास भी हो चुका होगा। अन्यथा, एकदम वे कुशीलव कहाँ से टपक पड़ते, जो वाल्मीकि के आश्रम में नवीन नाटक की प्राप्ति के लिए पहुँचे थे ? हाँ, यह हो सकता है कि रामचरित को लेकर वह पहला ही नाटक हो, जिसकी चर्चा 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने की है। उसे तो अपनी परम्परा से मतलब। यह भी हो सकता है कि रामचरित को लेकर भी काव्य-रचना हुई हो, जो 'पौलस्त्य-वध' के उदय से अस्त हो गई हो ! पाणिनि से पहले जो व्याकरणकार हुए, उनके नाम तो 'अष्टाध्यायी' से मालूम हैं, उनके मत भी थोड़ा-बहुत मालूम हैं; पर उनके ग्रन्थों का कहीं पता नहीं। इसी तरह यास्क ने अपने 'निरुक्त' में जिन भाषाविज्ञानियों के नामों का और उनके मतों का उल्लेख किया है, सामने हैं। परन्तु उनके ग्रन्थों का पता नहीं ! पाणिनी की 'अष्टाध्यायी' के बाद पहले के सब व्याकरण ग्रन्थ अस्त हो गए और यास्क के 'निरुक्त' ने पहले के सभी निरुक्तीय (भाषावैज्ञानिक) ग्रन्थों को निरस्त-अस्त कर दिया। पाणिनि तथा यास्क के समय अन्य विषयों का भी साहित्य होगा; अन्यथा व्याकरण तथा निरुक्त का प्रदुर्भाव ही संभव न था। परन्तु अपने-अपने विषय के ही पूर्वाचार्यों के नाम और मत दोनों आचार्यों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्र-तत्र प्रकट कर दिए हैं। इसी तरह 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने वाल्मीकि तथा उनकी कृति 'पौलस्त्य-वध' की चर्चा कर दी है। वही सर्वोत्कृष्ट जँचा होगा।

संभव है, 'पौलस्त्य-वध' के बाद भी रामचरित पर साहित्य बना हो, पर नगण्य रहा हो और इसी लिए उस की चर्चा अनावश्यक समझी गई हो। पं० कामता प्रसाद 'गुरु' के हिन्दी-व्याकरण के बाद भी सैकड़ों हिन्दी-व्याकरण बने, पर 'हिन्दी शब्दानुशासन' में केवल 'गुरु' जी का ही उल्लेख है। इस निबन्ध में रामचरित के तीन 'गायक' निर्दिष्ट हैं, परन्तु उनकी संख्या तीन ही तो नहीं है न! तीन पर हमें विचार करना था।

'लिपि का उल्लेख'

लोग यह भी कहते हैं कि वैदिक साहित्य में कहीं 'लिपि' का उल्लेख नहीं है; जिस से स्पष्ट है कि उस समय 'लिखने' की व्यवस्था न थी!

इन लोगों को यह भी कहना चाहिए कि "चालीस वर्ष पहले तक हिन्दी में 'लिखने' की व्यवस्था न थी; क्योंकि अंग्रेजी के 'स्पेलिंग' और उर्दू के 'हिज्जे' की तरह हिन्दी साहित्य में कोई वैसा शब्द नहीं मिलता। हिन्दी में 'वर्तनी' शब्द चले अभी बहुत थोड़े दिन हुए हैं। यदि पहले हिन्दी में लिखने की व्यवस्था होती तो 'वर्तनी' शब्द जरूर मिलता।"

बस, और अधिक क्या कहा जाए। 'वाल्मीकीय रामायण' महाकाव्य जिस महाकवि ने लिखा, उसके नाम-धाम का कुछ पता नहीं। यह भी पता नहीं कि वे कब हुए और कब अपने इस महाकाव्य की रचना की। इतनी ही बात पक्की है कि यह 'वाल्मीकीय रामायण' अति प्राचीन रचना है।

शुक्र तथा मुनि वाल्मीकि का नाम कवि-रूप से सबको विदित है; पर उनके काव्य लुप्त हो गए और इस महा-कवि की रचना सामने है; पर नाम लुप्त हो गया। महा-कवि का नाम 'वाल्मीकि' में अन्तर्हित हो गया।

'वाल्मीकीय रामायण' ऊँचे दर्जे की काव्य-रचना है। इसमें प्रकृति का तथा मानव-प्रकृति का जैसा सजीव वर्णन हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। महाकवि पर अपने युग के समाज का भी प्रभाव पड़ा है। प्रसिद्धि थी—'लंका में सीता की अग्नि-परीक्षा हो गई और उसमें वे खरी उतरीं'। वैसी भयंकर स्थिति में अपना सतीत्व सुरक्षित रखना भयंकर अग्नि-परीक्षा में खरा उतरना है। लोग इसका मतलब यह समझने लगे थे कि परीक्षा के लिए बहुत बड़ी चिता बनाई गई और सीता जी उस धधकती हुई चिता में कूद पड़ीं और फिर अपने सतीत्व के प्रभाव से ज्यों की त्यों, दमकते हुए कुन्दन की तरह, प्रकट हुईं।' महाकवि भी ऐसा ही समझे और यह भी कल्पना की होगी कि वाल्मीकि ने भी अपने रामचरित (रामायण) काव्य 'पौलस्त्यवध' में सीता जी के ऐसे ही अग्नि-प्रवेश का वर्णन किया होगा! वह कैसा कारुणिक दृश्य रहा होगा! महाकवि को इस प्रसंग ने अत्यधिक प्रभावित किया और उनकी यह भावना बनी कि 'पौलस्त्य-वध' इसी घटना के कारण 'करुण रस' का कहा जाएगा; इसी की संगति के लिए कहाकवि ने अपने महाकाव्य के आरम्भिक (भूमिकात्मक) सर्गों में और सब लिखते हुए क्रौंच पक्षियों की कल्पना-प्रसूत कथा लिखी।

महाकवि ने अपने महाकाव्य (वाल्मीकीय रामायण) में सीता के अग्नि-प्रवेश का अत्यन्त करुणात्मक वर्णन किया है। उसे पढ़ने वाले के मन में (सीता के प्रति वैसी कटूक्तियाँ सबके सामने कहते हुए) राम के प्रति असद्-भावना पैदा न हो, यह सम्भव नहीं और वहीं पाठक का सिर माता सीता के चरणों पर झुक जाता है। लोकोत्तर शील, संयम और शालीनता के दर्शन हैं।

जो भी हो, महाकवि का यह वर्णन अद्वितीय है। राम का वैसा रूप वर्णन करके भी महाकवि उन्हें 'धर्मज्ञ' कहता है; यह लोक-लीक! निरपराध सीता का अग्नि-प्रवेश वर्णन भी लोक-लीक का ही पीटना है; अन्यथा, महाकवि की पूर्ण सहानुभूति माता सीता की ओर है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को निरपराध देश-भक्त समझते हुए भी न्यायाधीश ने उन्हें दण्ड दिया था। दण्ड देना पड़ा था। वह कानून से बंधा हुआ था। इसी तरह महाकवि लोक-लीक से चिपका हुआ था। उसे वैसा वर्णन करना पड़ा और खूब किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर काण्ड का प्रक्षेप

'वाल्मीकीय रामायण' युद्ध-काण्ड (लंका-काण्ड) पर ही समाप्त है। सातवाँ काण्ड बहुत बाद का प्रक्षेप है; यह उसके नाम से ही स्पष्ट है—'उत्तर काण्ड'—बाद का जोड़ा हुआ काण्ड। महाकाव्य के असली छहों काण्डों के नाम स्थान या घटनाओं को लेकर हैं—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, और युद्धकाण्ड। 'वाल्मीकीय रामायण' का अंग यह सातवां काण्ड होता, तो नाम होता—राज्यपालन काण्ड, या सीतानिर्वासन काण्ड।

दुनिया कितनी विचित्र है! कैसे-कैसे क्रूर राक्षस यहाँ पैदा होते हैं। सीता की उस 'अग्नि-परीक्षा' से भी सन्तोष न हुआ और तब 'उत्तर काण्ड' रच डाला। इसी काण्ड में तपस्वी शम्बूक की हत्या राम के द्वारा कराई गई है। और भी बहुत-सी ऐसी ही कहानियाँ हैं; परन्तु सबसे क्रूर कल्पना सीता-निर्वासन की है। निरपराध, अबला, गर्भवती और फिर उसकी वह दुर्गति! बियाबान जंगल में हिंस्र जानवरों को चीर-फाड़ कर खा जाने के लिए उसे छोड़ आना! फिर, कहा क्या गया है—अपने वंश की मर्यादा, अपनी कीर्ति तथा धर्म की रक्षा के लिए वैसा करना पड़ा! यदि यही बात होती, तो धर्मज्ञ राम स्वयं प्रायश्चित करते और वैसा कोई दण्ड स्वयं भुगतते; क्योंकि दोषी वे ही ठहरते हैं। वे सीता जी को पुष्पक-विमान में लंका से अयोध्या लाए और राजभवन में सम्मान के साथ रखा। तब प्रजा ने किसको दोषी समझा होगा?

पत्नी का परित्याग आगे दुष्यन्त ने जो किया, वह सच्ची घटना है; कल्पित नहीं। दुष्यन्त ने शोहदेपन से मुनि-आश्रम की एक बालिका को अपने जाल में फँसा लिया और फिर अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए उसे अपमानित करके भगा दिया कि यह मुझे कलंकित करके रानी बनने के लिए राँड़ कहाँ से आ पहुँची! शोहदे ऐसा करते ही हैं और जो लड़कियाँ गुरुजनों के परामर्श-अनुमति के बिना वैसा 'प्रेम-विवाह' कर लेती हैं, उनमें से अधिकांश प्रायः पछताती ही देखी जाती हैं। परन्तु दुष्यन्त ने शकुन्तला को पकड़वा कर बियाबान जंगल में नहीं छुड़वाया।

'सीता-निर्वासन' की क्रूर कल्पना हृदय दहलाने वाली है और इसके जोड़ की केवल एक ही और क्रूर कल्पना मिलती है, जो राजा मयूरध्वज की कथा है। कुछ ठिकाना है। एक साधु को प्रसन्न करने के लिए, उसके जानवर के लिए, माता और पिता अपने हाथों आरे से अपने पुत्र को चीर दें। सुनते ही रोम खड़े हो जाते हैं। सीता-निर्वासन के जोड़ की केवल यही एक क्रूरतम कल्पना और है। अन्य सब कुत्सित कल्पनाएँ इनके बाद हैं।

खैर, अधिक कहने को मन नहीं करता—'कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः'। चाहिए था कि किसी मधुर प्रसंग से इस प्रकरण की समाप्ति की जाती। परन्तु सामने यह बीभत्स नारकीय प्रसंग आ गया! आँखें बन्द करके सब भुला दो।

३. गोस्वामी तुलसीदास और 'रामचरित मानस'

ऊपर रामचरित के दो प्रमुख गायकों की चर्चा हुई, जिनके काव्य संस्कृत में बने। तीसरे महाकवि हमारे गोस्वामी तुलसीदास जी हैं, जिनकी 'भाषाभनिति' है—'रामचरित मानस'। यह महाकाव्य 'तुलसीकृत रामायण' नाम से अधिक प्रसिद्ध है। परन्तु इधर हिन्दी के जागरूक विद्वानों के सम्पादकत्व में जो संस्करण प्रकाशित हुए हैं, वे 'रामचरित मानस' नाम से ही अलंकृत हैं; तो भी कथापरिच्छेदों के नाम 'काण्ड' ही रखे गए हैं। गोस्वामी जी ने अपने 'मानस' के सात 'सोपान' रखे थे—'सप्त सोपान'। सातवें 'सोपान' का नाम लोगों ने 'उत्तर काण्ड' रख लिया; परन्तु इसमें वाल्मीकीय रामायण के 'उत्तर-काण्ड' की क्रूरता नहीं है। न यहाँ 'सीता निर्वासन' की चर्चा है; न किसी तपस्वी की हत्या ही राम जी से कराई गई है। इस 'सोपान' या 'उत्तरकाण्ड' को कृति का उत्तमाङ्ग कहना चाहिए; 'उत्तरकाण्ड' यह 'उत्तमकाण्ड' है। सीता और लक्ष्मण के साथ राम का अयोध्या-आगमन, राज्याभिषेक, अपने (लंका-युद्ध के) सहयोगी सुग्रीव, अंगद, हनूमान आदि का कृतज्ञता-पूर्वक सम्मान, प्रजा की सुख-समृद्धि का वर्द्धन, धर्म-स्थापन आदि का वर्णन है और फिर विविध कथा-प्रसंगों में भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि का विशद वर्णन है तथा सर्वोपरि राम-भक्ति का प्रतिष्ठापन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यानी इस सातवें 'सोपान' को गोस्वामी जी ने लोक तथा परलोक, दोनों का आदर्श 'आदर्श' (दर्पण) बना दिया है—अपना हृदय प्रकट कर दिया है।

'आठवां काण्ड'

वाल्मीकीय रामायण छह काण्डों में है और उसमें सातवाँ 'उत्तरकाण्ड' प्रक्षिप्त है। गोस्वामी तुलसीदास का 'मानस' सात सोपानों में पूर्ण है। परन्तु लोगों ने एक आठवाँ 'काण्ड' गढ़ कर 'लव-कुश काण्ड' नाम से इसमें जोड़ दिया था, जिसमें वे सब क्रूर-कथाएँ तथा ऊल-जलूल निरर्थक कथाएँ भर दी गईं, जिनसे गोस्वामी तुलसीदास बहुत उद्विग्न थे। बीच-बीच में, अन्य सभी काण्डों में 'क्षेपक' भर दिए गए। ऐसे 'क्षेपकों' सहित, तुलसीकृत रामायण, आठों काण्ड' छाप-छाप कर लोगों ने खूब धन कमाया। यह धमाचौकड़ी देख कर हिन्दी के विद्वान् सजग हुए और सभी 'क्षेपक' हटा कर तथा अठवाँ 'लव-कुश काण्ड' काट कर पुनः 'मानस' को अपने निज रूप में कर दिया। अब उन क्षेपकों का तथा आठवें 'लवकुश काण्ड' का कहीं पता-ठिकाना नहीं है।

तुलसी ने एक कुंजी दे दी है

गोस्वामी तुलसीदास ने राम-चरित समझने के लिए विद्वानों के दिमागों पर लगे संशय-संदेहों के कपाट खोल दिए हैं। जड़ता का ताला खोलने की उनकी कुन्जी यह है—

'कलप-भेद हरि-चरित सुहाए,
भाँति अनेक मुनीसन गाए'

गोस्वामी जी ने लिखा है कि राम जी के चरित्र में जो यह भिन्नता है, वह 'कल्प-भेद' से है। प्रत्येक 'कल्प' में राम जी का नवीन अवतार होता है और यों कथा-भेद होता है। राम एक ही हैं।

निश्चय ही 'कल्प-भेद' का मतलब 'कल्पना-भेद' है, कवि सब तरह के होते हैं। वे अपने मन से कल्पना करते हैं। जो जैसा हुआ, उसने वैसी ही कल्पना कर ली। यह कल्पना ही काव्य को 'सुकाव्य' या 'कुकाव्य' बना देती है। समाज की स्थिति तथा मान्यता में भी परिवर्तन होते रहते हैं। कविजन अपने समय की सामाजिक स्थिति से प्रभावित होते हैं और उसी के अनुसार काव्य-कल्पना कर लेते हैं। सो, राम-चरित में जो तरह-तरह के वर्णन-प्रसंग देश-विदेश में मिलते हैं, वे सब कवि-कल्पनाओं की सृष्टि हैं। उन कल्पनाओं को विवेक-दृष्टि से देखना चाहिए कि मर्यादा-पुरुषोत्तम राम से इसका कोई साम-ञ्जस्य-मेल है भी कि नहीं! राम से भी क्या कोई ऐसा क्रूर तथा अन्यायपूर्ण कृत्य संभव है? इस तरह विवेक के सूप से फटकने पर असार तत्त्व उड़ कर दूर जा पड़ेंगे और सार तत्त्व पास रह जाएगा।

'हरि-चरित सुहाय' जो चरित जिसे सुहाया-मन-भाया, उसी को राम के माथे थोप दिया।

'मुनीसन गाए' में 'मुनीसन' शब्द बड़े काम का है। कुत्सित कल्पना करने वाले भी 'मुनास'। खबीस भी 'मुनीस'! 'कथिता पुण्यजना निशाचराः'। राक्षसों का एक नाम 'पुण्यजन' भी है। यही बात कुकवि जनों को 'मुनीस' कहने में है। और, सुकवि रामगायक तो 'मुनीस' हैं ही; मुनीश वाल्मीकि की परम्परा में हैं; इसीलिए सब 'मुनीस'। साधारण सिख को भी आदर से 'सरदार' कहा जाता है। सो राम-चरित के सभी गायक 'मुनीस' हैं, तुलसी की दृष्टि में।

मैं समझता हूँ, 'कल्प-भेद से रामचरित में भिन्नता' बतलाकर तुलसीदास ने हमें एक ऐसी कुन्जी दे दी है, जिससे हम न केवल रामचरित-काव्यों को ही वरन सभी काव्यपुराण-कल्पना कथाओं को साफ-साफ देख सकते हैं। किसी क्रूर के लिए क्रूर चरित की कल्पना ठीक हो सकती है, परन्तु दयालु धर्मात्मा के लिए नहीं। कभी-कभी अपने काव्य-नायक की प्रतिष्ठा बचाने के लिए भी कविजन कल्पना कर लेते हैं, परन्तु किसी दुश्चरित्र के समाज विरोधी आचरण को कल्पना-बल से छिपाना सामाजिक अपराध है जो महाकवि कालीदास से भी हो गया है। दुष्यन्त के शकुन्तला के प्रति किए दुर्व्यवहार पर मुनि-शाप की कल्पना ऐसी ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मानव मूल्य

और

आधुनिक हिन्दी काव्य'

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

इतिहासविदों ने भारत और यूरोपीय संस्कृति के सम्पर्क काल को आधुनिक युग के नाम से अभिहित किया है और भारत में यूरोपीय संस्कृति का वचन-काल उन्नीसवीं शताब्दी है। इस शताब्दी में भारतीय जीवन मध्ययुगीन पौराणिक वातावरण में डूबा हुआ था और यह जीवन मन्द गति-पूर्ण और विस्तार भार से लदा हुआ था। इस प्रकृति के दर्शन उस समय की सबीह तथा चित्रकला के अन्य रूपों, शिल्प की पच्चीकारी तथा सजावट और हिन्दी की रीति कालीन कविता में होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में जब यूरोपीय उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद अपनी पूरी शक्ति के साथ देश में आया तो यदि एक ओर राजनीतिक और आर्थिक दृष्टियों से देश अधोगति को प्राप्त हुआ, तो दूसरी ओर वैज्ञानिक आविष्कारों और नवीन शिक्षा के प्रचार से देश के बौद्धिक और भावनात्मक जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित हुआ, देश के बुद्धिजीवियों का पाश्चात्य विचार-परम्परा और साहित्य के साथ सम्पर्क स्थापित होने के फलस्वरूप और साथ ही देश के अतीत गौरव के स्मरण से नवोत्थान की लहर फैलने में विलम्ब न हुआ। देश वासियों में नवीन साहित्यिक,कलात्मक और शासन संबंधी आकांक्षाएँ उत्पत्न हुई। यह बात विशेषरूप से ध्यान देने की है कि जहाँ देश में एक ओर पाश्चात्य प्रभाव अत्यन्त तीव्रता के साथ बढ़ रहा था, वहाँ दूसरी ओर अपनी प्राचीन साँस्कृतिक परम्पराओं से देश का ध्यान अपने प्राचीन गौरव की ओर गया। भारत के बुद्धिजीवियों को यह देश 'विश्व-गुरु' के रूप में दृष्टिगोचर होने लगा, एक ऐसे देश के रूप में दृष्टि गोचर होने लगा जिसका अपना एक ऐसा सन्देश था जिससे मानव का कल्याण हो सकता था; जहाँ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' जैसे स्वरों का उद्घोष हो चुका था। यहीं से देश में 'पूर्व' और पश्चिम' का संघर्ष प्रारम्भ होता है। यह एक विचित्र ऐतिहासिक घटना है कि आधुनिकता के जन्म के समय से ही आधुनिक भारत का निर्माण स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे महापुरुषों द्वारा हुआ जो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित होते हुए भी भारतीय आध्यात्मिक गरिमा और सन्देश को भूले नहीं थे। यह भारतीय नवोत्थान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रथम चरण था जिसके फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी देश के बौद्धिक एवं साँस्कृतिक जीवन में एक नितान्त नूतन मोड़ प्रस्तुत करती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय जीवन में अभिव्यक्त यह प्रक्रिया उस महान् ऐतिहासिक क्रम का एक अंग थी जो समस्त एशिया के जीवन को स्पन्दित कर रहा था। वास्तव में कोपर्निकस, मिल, मोर्ले तथा अन्य यूरोपीय चिन्तकों और विचारकों ने भारतीय मध्ययुगीन जीवन की जड़ हिलादी। यही उन्नसवीं शताब्दी का वास्तविक महत्त्व है, अन्यथा राजनीतिक उत्थान-पतन तो पहले भी हो चुके थे। इस नवीन ज्ञान के प्रकाश में जीवन का फिर से संस्कार किया जाने लगा।

अत: वैचारिक स्तर पर उन्नीसवीं शताब्दी एक नई संक्राँति का काल था। पश्चिमी समस्यता एवं संस्कृति के साथ टकराव फलस्वरूप लोगों का दृष्टिकोण बदला, प्रजा-तंत्र की नींव पड़ी और अनेस प्रकार की विषमताओं और वर्जनाओं का जीवन व्यतीत करते हुए भी एक नए युग का सूत्रपात हुआ और जड़ जीवन-पद्धतियों एवं निष्क्रियता के बीच नवीन उत्साह, सक्रियता एवं आत्म-विश्वास की भावना का उदय हुआ जिसकी अन्तिम परिणति बीसवीं शताब्दी में स्वतंत्रता-प्राप्ति में दृष्टिगोचर होती है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लगभग १५०-१७५ वर्ष की दासता के अभिशाप को भुगतते हुए और उसके मध्य भारत में अनेक अधुनातन विचारधाराओं का जन्म एवं विकास हुआ। इसलिए जब आधुनिक काव्य के सन्दर्भ में मानव-मूल्यों की बातें उठाई जाती हैं तो उसका सीधा अर्थ समाजिक परिवेश एवं सामयिक जीवन की गति के भीतर उभरते हुए एवं स्वरूप ग्रहण करते हुए प्रगतिशील तत्त्वों से है। इसलिए आधुनिक काव्य और मानव-मूल्यों का अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित हो जाता है।

एक समय वह था जब हिन्दी कविता परिपाटी विहित और रूढ़िग्रस्त राधा-कृष्ण की लीलाओं और नायक-नायिकाओं के कल्पित ऐश्वर्य और विलास में डूबी हुई थी। इन भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवियों के पास उपयुक्त साधन थे। परन्तु पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क में आने से हमारे कवियों का ध्यान प्राचीन काव्य-परम्परा के निर्वाह के अतिरिक्त नवीन भावों और विचारों और अपने चारों ओर की दुनिया की ओर भी जाने लगा। कविता दरबारों से निकल कर सड़क पर आगई। एक ओर तो रूढ़ियों और परम्पराओं ने, और दूसरी ओर अंगरेजी-शासन के कर्मचारियों ने साधारण जन को ऐसा दबोच रखा था कि उसे उभरने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो रहा था। हिन्दी के कवियों ने पहली बार देश की सामूहिक भलाई की ओर ध्यान दिया और मनुष्य को मनुष्य समझा। उन्होंने लोकहित की ओर ध्यान दिया। शताब्दियों से पीड़ित मानव का उद्धार करना चाहा। अंगरेजी राज्य के अन्तर्गत नवजात और नवशिक्षित मध्यम वर्ग ने इस दृष्टि से अग्रगण्य भाग लिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, बालमुकुन्द गुप्त, बद्रीनारायण चौधरी, 'प्रेमधन, श्रीधर पाठक आदि कवियों ने अपने समय के मनुष्य को उसके सामाजिक एवं राजनीतिक सन्दर्भों में, पूरी समग्रता के साथ मूल्याँकित करने का प्रयास किया और मानव को अपने चिन्तन का आधार बनाया। यदि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की सारी आधुनिक कविताओं को एक स्थान पर संकलित किया जाय तो उस समय के भारतीय मानस के समूचे जीवन का एक अच्छा चित्रफलक उपस्थित हो सकता है। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी कवियों की दृष्टि देश की दीनहीन दशा की ओर गई और ब्रिटिश शासनान्तर्गत घूमते हुए नर-कंकालों के प्रति सहानुभूति उमड़ी। जब वे भूख से पीड़ित, अर्द्ध-नग्न और आशिक्षित भारतवासी को देखते थे, जब वे उसे तरह-तरह की रूढ़ियों में ग्रस्त देखते थे, तो उनकी आत्मा कलप उठती थी। वे उसके सारे अभाव दूर कर उसे परिष्कृत और समृद्ध मानव के रूप में देखना चाहते थे। 'प्रेमधन' ने कहा भी था:—

'नहिं विद्या नहिं बाहुबल, नहिं खरचन को दाम'

भारतेन्दु का भावावेग भी ऐसे देशवासियों के प्रति उभरा जिनके घरों में भूंजी भाँग भी नहीं थी, महंगी के कारण जो उदर-पोषण भी न कर पाते थे, जो फाके मस्ती करते थे, जिनके पास बुद्धि नहीं थी और जिनके संबंध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा:—

'दीन दसा अँसुअन पिचकारिन सब लिलार भिजयोरी।' उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हुए बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा था:—

'भारत घोर मसान है, तू आप मसानी।
भारतवासी प्रेत से डोलहिं कल्यानी।
हाड़ माँस नर रक्त है भूतन की सेवा।
यहाँ कहाँ मा पाइये चन्दन घी मेवा ?

अथवा—

'पेट भरनहित फिरें हाय कूकर से दर दर।
चारिहिं ताकें पैर लपकि मारहिं जो ठोकर॥
तुम्हीं बताओ राम तुम्हें हम कैसे जानैं।
कैसे तुम्हरी महिमा कलुषित हिय महं आनैं॥

इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में जब हिन्दी कविता ने करवट बदली तो वह मानवा-भमुख हुई।

किन्तु, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, उन्नीसवीं-शताब्दी की यह मानवोन्मुखी कविता उस व्यापक भारतीय मानवतावाद का अंग थी जो हमें अपने प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है। आधुनिक हिन्दी कविता में प्रारम्भ से हमें एक ऐसी निष्ठा मिलती है जिसमें अन्तरात्मा की शक्ति है, जिसमें परम्परागत मानव-मूल्यों को नवीन विज्ञान और समाज-संगठन के बीच पारस्परिक संबंध स्थापित कर फिर से खोजने का पुनीत प्रयास मिलता है। इस परम्परागत भारतीय मानवतावाद का परिवेश अत्यन्त व्यापक था। उसने शताब्दियों तक भारतीय चेतना को प्रभावित किया। जब हमारे यहां यह कहा गया कि विश्व के सभी मानव सुखी हों, सभी रोग मुक्त, सभी कल्याणकारी कार्यों का अवलोकन करें और कोई भी दुःख का भागी न बने, अपने-पराये की संकुचित भावना से सभी दूर रहें और उदार चरित वालों के लिए यह संपूर्ण धरती ही कुटुम्ब-सदृश है, तो वह मानव-मंगलापेक्षी भावनाओं से प्रेरित होकर ही कहा गया था। सहिष्णुता, समर्पण, प्रेम, अहिंसा, सद्भावना, करुणा, सहानुभूति, समानता, निःस्वार्थभाव, अन्तःकरण की शुद्धता, न्याय, आत्म-तुष्टि, त्याग, अंहकार विसर्जन, परोपकार आदि भारतीय मानवतावाद के प्रमुख तत्त्व हैं। मानव-जीवन को हमारे पूर्वजों ने अशोभन नहीं माना। वह तो अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने का एक पवित्र साधन है। भारतेन्दु-युगीन आधुनिक कविता का मानव-प्रेम इसी परम्परागत आदर्श का पोषण करने वाला है। किन्तु वह भावुकतापूर्ण अधिक और विचार-प्रधान कम था। कोई निश्चित परम्परा और स्पष्ट दिशा न होने के कारण इन मानव-मूल्यों में केवल मानव के प्रति प्रेम है, विचार-प्रसूत निश्चित दिशा देने का प्रयास नहीं है। जीवन के सत्व का अन्वेषण करना और उसके मानवीय पक्ष पर बल देना उनका प्रधान लक्ष्य था।

यह तो सर्व विदित है कि आर्य समाज ने एक विशेष शास्त्रीय और तार्किक प्रणाली को जन्म दिया था। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के समन्वय से इस प्रणाली ने तथा विवेकानन्द द्वारा प्रचलित वेदान्त द्वारा प्रचलित वेदान्त ज्ञान ने और भी अधिक व्यापक रूप धारण किया। स्वर्गीय विपिनचन्द्र पाल ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि इस प्रवृत्ति ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि जिन सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं की कुछ वर्ष पूर्व विगर्हणा की जाती थी, उनका बुद्धि और यूरोपीय ज्ञान के आधार पर समर्थन किया जाने लगा और यह बात सिद्ध की जाने की चेष्टा होने लगी कि भारतीय मनीषा से प्राप्त उत्तराधिकार गंभीर सत्य पर आधारित था, उसके कारण विदेशियों के सामने लज्जित होने की आवश्यकता नहीं। इस प्रवृत्ति से यद्यपि प्रतिगामी शक्तियों को भी बल प्राप्त हुआ, तो भी व्यापक दृष्टि से समाज में गतानुगतिकता के पीछे सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक बीस-पच्चीस वर्षों में इस प्रवृति ने काफी प्रमुखता प्राप्त कर ली थी। वैज्ञानिकता की प्रेरणा के कारण, ज्ञान की पिपासा और जिज्ञासा शान्त करने की दृष्टि से व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रत्येक बात का कारण जानने और उसके प्रकाश में किसी विशेष समस्या के उचित-अनुचित, स्वस्थ-अस्वस्थ रूप का विश्लेषण कर अपना मत निर्धारित करने की आकांक्षा जाग्रत हुई। विवेक का प्रयोग किए बिना अब वह कोई बात स्वीकार करने के लिए तैयार नही था। इस तर्क बुद्धिवाद में भावुकता के स्थान पर नीर-क्षीर-विवेक था। इस सन्देश के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति के आन्तरिक रूप पर बल दिया गया—यहाँ तक कि देवी-देवताओं और ईश्वर सेवा का रूप भी बदलने लगा। पौराणिक कथाओं और पात्रों की कथाएँ प्रस्तुत अवश्य की गईं, किन्तु उनमें मानव-जीवन का कोई-न-कोई सत्य अन्वेषित किया गया। शंका-पूर्ण स्थलों का खण्डन कर उन्हें आधुनिक और मानव-सापेक्ष रूप देने की चेष्टा की गई। कवियों को किसी अपार्थिव, अलौकिक और अतिमानवी रूप के प्रति अब कोई मोह नहीं रह गया था।

तर्क बुद्धिवाद द्वारा सम्मत हिन्दी कवियों के मानव-वादी दृष्टिकोण ने यदि राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में जनवादी रूप धारण किया, तो सामाजिक क्षेत्र में उसने दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया। दोनों रूप नवीन चेतना के प्रतीक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आधार बने। भौतिक दृष्टि से जनसाधारण के जीवन को सुखमय बनाना जनवाद की मूल भावना थी। इससे जनता के अधिकारों की रक्षा की बात सोची गई। राज्य-सत्ता और जन-हित का संघर्ष उसमें निहित था। भारतवर्ष जब स्वतंत्रता-संग्राम में रत था, एक जबर-दस्त साम्राज्यवादी शक्ति से संघर्ष ले रहा था और जब उसके जीवन में कर्मठता, आत्मोत्सर्ग की भावना और देश के प्रति अनुराग की आवश्यकता थी, तो कवियों में एक विशिष्ट मानववादी दृष्टिकोण का जन्म होना स्वाभाविक था। उनका मुख्य उद्देश्य अपार जन-समूह को पशुवत् जीवन के गर्त से निकाल कर मनुष्य के धरातल पर लाने का प्रयास था। गाँधी जी ने भी भौतिक आवश्यकताओं से ऊपर आध्यात्मिकता पर ही अधिक बल दिया। छायावादी-रहस्यवादी कवियों में सांस्कृतिक चेतना का उदय तो अवश्य हुआ था, किन्तु अधिकतर ये कवि वायवी लोक में ही अधिक विचरण करते रहे। स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म में उन्होंने एकात्मता का अनुभव अधिक किया। उसमें सात्विक उल्लास था, मानव के प्रति कल्याण-कामना भी थी, किन्तु उसका नैतिक-व्यावहारिक रुप हमारे समाने नहीं आता। राष्ट्रीयता परक काव्यधारा में भारत माता के साथ-साथ भारत-संतान के प्रति प्रत्यक्ष प्रेम था। जीवन के अभाव और लघुता उनके सामने स्पष्ट थी। तो भी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के फल-स्वरूप उत्पन्न कविता ने मानव-जीवन के आदर्श पक्ष पर ही अधिक बल दिया। उस समय की वैचारिक ईकाई थी—आदर्शवादिता (जो स्वतंत्रता-संग्राम-रत देश में स्वाभाविक था)। तत्कालीन कविता में आदर्श मानव-परक जो मूल्य उभरे उनके प्रति लोगों का रागात्मक संबंध था और देश की सामूहिक बुद्धि एक धार्मिक-नैतिक और सामाजिक परम्परा की पृष्ठभूमि पर किसी कृत्य का, किसी आचार-विचार का मूल्यांकन कर लेती थी। स्वतंत्रता-संग्राम ने कुछ सिद्धान्त स्थापित किए थे जो कालांतर में मूल्य के रूप में परिवर्तित हो गए। राजनीति के क्षेत्र में मनुष्य को मनुष्य के रूप में पहचानने की प्रवृत्ति ने जो दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया उसमें विवेकानन्द का अद्वैत-दर्शन था, साहित्य में 'प्रसाद' द्वारा गृहीत करुणा के सन्देश द्वारा 'विश्वात्मा' के दर्शन करना था, सब प्राणियों में समभाव रखते हुए कर्त्तव्य-पालन, अहिंसा, सहनशीलता, क्षमा-शीलता स्नेह, सहानुभूति आदि को जीवन में स्थान देना था, गरीब की सेवा में ही ईश्वर सेवा का रूप देखना था, मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर में ईश्वर का निवास न देखकर उसे गरीब की झोंपड़ी में देखना था। मानव-जीवन के इसी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक धरातल पर सब धर्मों की समानता, सामाजिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष की समानता और अछूतोद्धार और धार्मिक क्षेत्र में सबको ईश्वर की उपासना करने के अधिकार की घोषणा की गई। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक पच्चीस-तीस वर्षों में हिन्दी काव्य अधिकाधिक जीवन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सापेक्ष्य भाव-भूमि पर स्थित हुआ। 'प्रसाद' की इड़ा के साथ श्रद्धा का समन्वय स्थापित हुआ। निस्सन्देह जीवन के ये आध्यात्मिक एवं दार्शनिक मूल्य भारतेन्दु युगीन जीवन-मूल्यों से कहीं अधिक व्यापक थे। भारत वर्ष का सनातन आदर्श—विश्व-बन्धुत्व—फिर से लोगों के सामने आया। मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' आदि अनेक कवियों की रचनाओं में सामान्य मानव में 'विश्वात्मा' के दर्शन कराए गए हैं, मानव के समष्टि रूप के लिए व्यष्टि रूप के उत्सर्ग की उच्च भावना व्यक्त हुई है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जीवन के इन मानव-मूल्यों की स्थापना में विवेकानन्द और फिर महात्मा गाँधी के विचारों का प्रभाव भी कम मात्रा में नहीं पड़ा। मानव-मूल्यों के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक और जनवादी पक्षों ने सामाज में आदर्शवाद की स्थापना की, अर्थात्, जीवन के एक उदात्त और उत्कृष्ट रूप की पुनः स्थापना और जीवन का निर्माण एक नैतिक धरातल पर करना, क्योंकि पराधीन भारत के सामने जीवन के अभाव और लघुता स्पष्ट थी। कवियों ने उस आदर्श को ग्रहण किया जिसमें प्राचीन और नवीन का अद्‌भुत सम्मिश्रण था। कवियों ने 'राम' की विजय 'रावण' पर देखनी चाही। उन्होंने लघुत्व के भीतर महत्त्व की स्थापना की। दूसरे शब्दों में, भारतीय आत्मा की खोज की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से गया। उनकी रचनाएँ सत, शिव और सुन्दर की मनोरम कल्पनाओं से अनुरंजित है। उन्होंने सीमा का अतिक्रमण भी किया, किन्तु आदर्शवाद को तो यह स्वाभाविक गति है। इस समय ऐसे आदर्श परक जीवन-मूल्य स्थापित किए गए जो सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, राष्ट्रीय आदि क्षेत्रों में सभी प्रकार विगर्हणा दूर कर जीवन को औदात्य और स्वातंत्र्य की ओर अग्रसर करने वाले थे। कहना चाहें तो हम यह कह सकते हैं कि उस समय के जीवन-मूल्यों का संबंध राष्ट्रवाद से था। यहाँ तक कि स्वच्छन्दतावादी काव्य का लक्ष्य भी जीवन को नवीन स्तर पर स्थापित करना था। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण शास्त्रगत नहीं, वरन् व्यक्ति की स्वतंत्र अनुभूति द्वारा उत्पन्न हुआ था। प्रत्यक्षतः उसका संबंध तर्क बुद्धिवाद से था, और अन्त तोगत्वा आदर्शवाद से भी। राष्ट्रीयता और स्वच्छन्दता-वाद दोनों ने उस नवजागरण काल में अपनी-अपनी भूमिकाओं का निर्वाह किया और जीवन में ज्ञान, कर्त्तव्य, कर्मठता, सदाचार आदि का स्वर भरा। ये मूल्य राष्ट्र और व्यक्ति दोनों को सुख, कल्याण और समृद्धि की ओर ले जाने के लिए थे। भारत का मानवी-करण, या कहना चाहिए, दैवीकरण भी इसी उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए हुआ था और महात्मा गांधी का सत्य और अहिंसा का दर्शन भी इन्हीं जीवन-मूल्यों में से प्रस्फुटित हुआ था।

१९३० के आसपास हिन्दी कविता में प्रगतिवाद का जन्म हुआ—अर्थात् उस काव्य-धारा का जो कम्यूनिज़्म से प्रभावित थी। एक प्रकार से कम्यूनिज़्म का यह साहित्यिक मोर्चा था। राजनीति के क्षेत्र में इस काव्य-धारा ने गांधी वादी जीवन-मूल्यों का विरोध किया, तो साहित्य के क्षेत्र में छायावादी वायवी एवं रोमानी प्रवृत्तियों का और यथार्थवाद का आश्रय ग्रहण कर सर्व हारा वर्ग के अधिनायकत्व का स्वर उच्च किया। उन्हें लाल क्रान्ति में विश्वास था। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि प्रगतिवाद को न तो साधन और साध्य की पवित्रता में विश्वास था और न भौतिक जगत् के आतिरिक्त अन्य किसी सत्ता में। स्पष्ट है ऐसी विचार धारा को जीवन के आदर्शपरक मूल्यों में विश्वास नहीं हो सकता था। उनका समाज-दर्शन भी परम्परागत भारतीय समाज-दर्शन से भिन्न था। ऐतिहासिक दृष्टि से निस्सन्देह प्रगतिवाद ने हिन्दी कविता को एक नया आयाम प्रदान किया। किन्तु द्वितीय महा युद्ध के समाप्त होते-होते यह काव्य धारा समाप्त हो गई। भाषा, भाव, छन्द आदि की दृष्टि से प्रगतिवाद ने कुछ नाविन्य भी प्रकट किया। तो भी जहाँ तक जीवन-मूल्यों से संबंध है प्रगतिवादी काव्य-धारा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा की भाँति कोई विशेष दृष्टिकोण प्रदान न कर सकी। न तो उसने जीवन किसी एक विशेष दिशा की ओर मोड़ा, न उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सक्रिय बनाया। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा में जीवन को एक उदात्त और परिष्कृत रूप प्राप्त हुआ था, उसमें एक नई शक्ति आई थी। प्रगतिवादी काव्य-धारा ने व्यापक जीवन को प्रभावित करने के स्थान पर, एक सीमित संख्या के लोगों को नया दृष्टिकोण और नई आस्था प्रदान की। किन्तु जीवन में कोई नए मूल्य स्थापित न किए। उसने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा के सात्विक मूल्यों की उपेक्षा की और साथ ही कोई आध्यात्मिक या दार्शनिक या मानसिक संस्कार भी प्रदान न किया। अपनी संकीर्णता के कारण वह न तो हिन्दी साहित्य का प्रमुख अंग बन पाई और न अधिक दिन जीवित रही। उसने मूर्द्धन्य कोटि का कोई कवि भी न दिया। उसने अपनी सारी शक्ति परम्परागत जीवन-संस्कारों को झुठलाने में लगा दी और कुरूपता एवं विद्रूपता की सृष्टि की। यथार्थपरक होते हुए भी यह काव्यधारा जीवन की यथार्थता को संतुलित अभिव्यक्ति प्रदान न कर सकी। अतः जहाँ तक जीवन-मूल्यों की स्थापना से संबंध है, प्रगतिवादी काव्य-धारा के पोषक दावा चाहे जितना लम्बा-चौड़ा भरें, वस्तुस्थिति यह है कि वह बहुत कम सफलता प्राप्त कर सकी।

और महात्मा गाँधी 'राम-राज्य' का अपना सपना लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ संघर्षरत रहे। द्वितीय महायुद्ध भी समाप्त हो चुका था, किन्तु भीषण ज्वाला से संसार को संतप्त कर गया था। ऐसे ही माहौल में १५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भारत में न तो 'राम-राज्य' की स्थापना हुई और न द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार में शान्ति। इन दोनों कारणों से हमारा आज का जीवन बहुत बिखरा-बिखरा-सा हो गया है। प्रत्येक दिशा में खण्डित मर्यादाएं हैं और विच्छिन्न मूल्यों की अस्त-व्यस्त परम्परा है। इसका तात्कालिक परिणाम एक ओर सामाजिक एवं वैयक्तिक सीमाओं का टूटना तथा दूसरी ओर नैतिक मान्यताओं की विकृति है। इन दोनों के मध्य मानव-जीवन में अनास्था एवं कुण्ठाओं की ऊंची मीनारें उठ रही हैं तथा मानव-मूल्य की मर्यादा शंकालु बनती जा रही है। यह प्रवृत्ति बहुत कुछ विध्वंसात्मक है और ऐसी परिस्थिति में कवि का दायित्व बढ़ जाता है। वह नए उभरने वाले मानव-मूल्यों का अन्वेषण करता है तथा मानव जीवन के विविध प्रसंगों के सन्दर्भ में सहानुभूतिपरक दृष्टिकोण लेकर उन्हें अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है। मनुष्य अपने परिवेश, इतिहास-क्रम तथा काल-प्रवाह के सन्दर्भ में क्या स्थिति महत्त्व नहीं रखती कविता इस ओर इंगित करके जीवन के नए प्रतिमानों का निर्माण करती है।

वास्तव में स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद मनुष्य के सामने एक मोह-भंग की स्थिति उभर आई है। जब-जब परिस्थितियों में परिवर्तन होता है तब-तब मानव जीवन के सारे सम्बन्धों पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो हो जाता है। बदले हुए सम्बन्ध पूर्व-निर्धारित मूल्यों के लिए चुनौती बन जाते हैं। उस स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि परिवर्तन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आयामों को पहचाना जाए। हमारा आधुनिक काल ऐसा था, जहाँ एक बहुत बड़ा समुदाय अपने मूल्यों एवं आस्थाओं के खण्डित होने से बदहवासी की हालत में था और पराजय की गहन अनुभूति से जर्जर हो गया था। विभाजन में हत्याएं, बलात्कार तथा निर्मम अत्याचार ही नहीं हुए थे, बल्कि समग्रता के मोह में डूबा हुआ व्यक्ति भीतर से पूरी तरह से विच्छिन्न हो गया था और उसकी सारी आस्थाएँ तथा मूल्य-मर्यादा शून्यता के प्रवाह में विलीन हो गई थीं।

यह मानवीय संकट केवल यहीं का नहीं था, बल्कि समूचे विश्व का था। परिस्थितियों के सन्दर्भ हर राष्ट्र में चाहे भिन्न-भिन्न हों, लेकिन हर स्थान पर मानवीय संकट गहरा होता जा रहा था। मूल्य-मर्यादाएँ टूट रहीं थीं और मोह-भंग की स्थिति जड़ता उत्पन्न करती जा रही थी। कविता इस मानवीय संकट की उपेक्षा नहीं कर सकती थी, क्योंकि सभी साहित्यिक विधाओं की तुलना में वह मानव जीवन को अधिक समग्रता तथा सूक्ष्मता से आत्मसात् ही नहीं करती, वरन् जीवन-सदृश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सूक्ष्म चित्रफलक पर उसे अभिव्यक्त भी करती है।

अरवन्दि ने भी स्वीकार किया है कि विकास की स्वाभाविक परम्परा में जैसे पशुता से मनुष्य की स्थिति आई है, ठीक उसी प्रकार हम इस स्थिति से भी आगे जाएंगे। वस्तुतः हमें यह स्वीकार लेना चाहिए कि जब तक मनुष्य को उसकी समग्रता में देखने की चेष्टा नहीं होगी, मानवीय पक्ष कविता में उभर ही नहीं सकता और मानवीय संकट निरन्तर गहरा ही होता जाएगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानवतावादी दृष्टिकोण का विस्तार उस व्यापक परिवेश में होता है, जहाँ तक इस सृष्टि का विस्तार है। कविता में अभिव्यक्त की जाने वाली सभी अधुनातन विचारधाराओं में मानवतावादी दृष्टिकोण का सर्वाधिक महत्त्व है तथा वह हमारे रचनाकारों को विभिन्न स्तरों पर प्रभावित करता रहा है।

जैसा की अभी-अभी कहा जा चुका है, आज संसार में चारों तरफ गहन संकट छाया हुआ है और सम्पूर्ण मानव-जाति का अस्तित्त्व खतरे में पड़ गया है। आज का संसार पहले से बहुत भिन्न है और हमें आज की तकनीकी क्रान्ति के साथ सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है। आज की सबसे बड़ी समस्या यह है कि मनुष्य जाति कैसे सुरक्षित रहे। आज दासता तथा स्वतन्त्रता का प्रश्न उतना नहीं है, जितना हमारी सभ्यता एवं संस्कृति के जीवन एवं मृत्यु का। मानवतावाद का उदय इन्हीं परिस्थितियों के सन्दर्भ में हुआ है। मानवतावादी विचारधारा हमें आधुनिक संकटग्रस्त जीवन की संक्रान्तियों को एक नए दृष्टिकोण से समझने में सहायता देती है। इससे आज की उलझी हुई मानव अनुभूति के अनेक उल्लेखनीय प्रसंगों को स्पष्टतया समझा जा सकता है। मानवतावाद का प्रमुख लक्ष्य इस सृष्टि में मनुष्य की वास्तविक स्थिति का अन्वेषण है। साथ ही यह भी कि, क्या प्राप्त करना उसके लिए वाछंनीय है और क्या अवांछनीय मानवतावाद इस प्रकार मानव उद्देश्यों, मूल्यों एवं आदर्शों को स्पष्ट करने के साथ-साथ उसे सम्पुष्ट भी बनाता है तथा उसे अपने आसपास के परिवेश, जीवन, समाज तथा विश्व-व्यवस्था के अधिक निकट लाकर अपने पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त करने में सहायता देता है।

विज्ञानवाद तथा मानवतावाद परस्पर विरोधी मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। विज्ञानवाद मनुष्य को भौतिक परिस्थितियों की तुलना में सर्वोपरि सिद्ध करके उसे स्वयं अपने ही ऊपर श्रेष्ठ सिद्ध करने और अपने द्वारा मनुष्यों का संहार करने के लिए प्रयोग करने पर बल देता है। इसके विपरीत मानवतावाद मनुष्यों को स्वतन्त्र करके उसकी मानवीयता के अन्वेषण एवं प्रतिष्ठापन पर बल देता है। वह मनुष्य को असीमित समाज एवं मानव भावनाओं के साथ समन्वय की दिशा में गतिशील करता है। इस प्रकार मानवतावाद मानव-सेवा को ही सर्वोच्च धर्म मानता है। वह उत्तम जीवन, सामंजस्य, सन्तुलन तथा उदारता में विश्ववास करता है। मानवतावाद एक जीवन पद्धति है, जो विश्व-परिवार एवं सद्भावना की स्थापना तथा हमारी दृष्टि के विस्तार में सहायता देती है।

सम्पूर्ण मानव इतिहास में न जाने कितने मानवतावादी विचार आए और गए, लेकिन स्थायी रूप से केवल तीन मानवतावादी दृष्टिकोण—भारतीय, चीनी तथा पश्चिमी—अपने शाश्वत मूल्यों के कारण जीवित रहे हैं। प्रत्येक ऐतिहासिक सभ्यता में मनुष्य और समाज के लिए सार्वभौमिक तथा उत्कर्षशील मूल्यों एवं सम्भावनाओं का मार्ग प्रशस्त करने के कारण ही ये तीनों विचारधाएं इतनी मूल्यवान सिद्ध हुई हैं। तीनों ने मानव-व्यक्तित्व की अनिवार्य आवश्यकताओं और सामाजिक व्यवस्था के समन्वय को सार्वजनीन रुप में ग्रहण किया है। तीनों ने ही मनुष्य और समाज की प्रादेशिक एवं वर्गगत सीमाओं को तोड़कर 'सम्पूर्ण विश्व एक है' की भावना को आत्मसात् करने की चेष्टा की है। सभी ने ऐतिहासिक सत्य, मूल्य एवं पौराणिकता के मध्य समन्वय स्थापित करने का यत्न किया है। यद्यपि आज चीनी तथा पश्चिमी मानदतावाद की अनेक सीमाएं बन गई हैं, और वे आज की मानव आवश्यकताओं के सन्दर्भ में अनुपयुक्त सी प्रतीत होती हैं, फिर भी इससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं हो जाता।

जीवन के प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण के विकास ने पश्चिमी मानवतावाद को दो रूपों में प्रभावित किया। एक तो यह यथार्थ से दूर पड़ गया, क्योंकि वहाँ के अधिकांश लोगों के लिए जीवन की समग्रता लगभग असम्भव प्रतीत होती है। दूसरे आर्थिक व्यवस्था तथा संस्थाओं के अन्याय तथा शोषण के प्रति विरोध एवं घृणा बौद्धिक विचार धारा के लिए एक सामान्य बात हो गई। चीनी मानवतावाद अनिवार्यतः प्राकृतिक, सामाजिक तथा ऐहिक है। उसके अनुसार कोई सिद्धान्त परम्परा द्वारा अनुमोदित होना चाहिए, न कि ज्ञान द्वारा। वह मानता है कि मानव अपनी वास्तविक विशिष्टता ठोस मानव-सम्बन्धों के माध्यम से ही प्राप्त कर सकता है।

मानवतावाद की स्थिति परम्परा तथा आधुनिकता के मध्य अत्यन्त विचित्र है। उसे फैशन की झोंक में पुरातनवादी होने का प्रतीक समझ लिया जाता है। आधुनिक पश्चिमी मानवतावादी विचारधारा में धार्मिक या आध्यात्मिक मनोवृत्तियों के प्रति सन्देह भाव पाया जाता है। इतिहास में एक लम्बे समय तक धर्म सभी संस्कृतियों का आधार स्वीकार किया जाता रहा। लेकिन धीरे-धीरे धर्म की तथाकथित महत्ता एवं समग्रता के प्रति आधुनिक विचारकों द्वारा सन्देह प्रकट किया जाने लगा, फलतः धर्म की उपयोगिता मानव और समाज के सन्दर्भ में विचारी जाने लगी। द्वितीय महायुद्ध ने मनुष्य को आमने-सामने खड़ा कर दिया है। वे अनुभव करने लगे हैं कि उनके सामने दो विकल्प हैं। या तो मानवता की रक्षा करें या मानव एवं सभ्यता का विध्वंस करें। यही कारण है कि धर्म की तुलना में आज विज्ञान कहीं अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। लेकिन यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि धर्म की रूढ़ियों का तिरस्कार किया जाता है, समूचे धर्म का नहीं। बिना आध्यात्मिक आधार के कोई नैतिक अनुशासन या मानवता के प्रतिमान स्थापित नहीं किए जा सकते।

मानवतावाद सेक्स के सम्बन्ध में भी यही धारणा रखता है कि किसी को भी हम 'उपभोग' की वस्तु न समझें, वरन् मानवीय स्तर पर लें। आधुनिक काल में मानवतावाद प्रजातन्त्र का विकास जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहता है। मानव का वास्तविक उद्देश्य उत्तरदायित्व-पूर्ण स्वतन्त्रता है, प्रजातन्त्र इस नैतिक सिद्धान्त की राजनीतिक अभिव्यक्ति है। इन परिस्थितियों में ही एक सार्वभौमिक परिवेश निर्मित होने की आशाएं बलवती होती हैं। यह एक प्रकार का विश्व मानवतावाद है।

मानवतावादी विचारधारा के विभिन्न तत्त्व इसी सन्दर्भ में अन्वेषित किए जा सकते हैं। भारतीय मानवतावाद में सहिष्णुता, समभौता, सहयोग, अहिंसा, बन्धुत्व-भावना, सभी के प्रति करुणा एवं सहानुभूति, समताभाव, शुद्धता, आत्म-संतोष, स्वत्व के यथार्थ, ईश्वर या ब्राह्मण के प्रति पूर्ण समर्पण भाव, परोपकार, अहं का हनन तथा स्वयं का प्रसार, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रति आत्मीय भाव, क्षमाशीलता तथा आत्म-निग्रह आदि तत्त्वों पर बल दिया गया है। आधुनिक हिन्दी काव्य के सन्दर्भ में इन बातों की ओर पीछे संकेत किया जा चुका है।

काव्य में जब मानवतावादी तत्त्वों का अन्वेषण किया जाता है, तो मुख्य रूप से उनका स्वर भावुकतापूर्ण हो जाता है। कला या शिल्प के प्रतिमानों से सम्बद्ध होकर मानवतावादी तत्त्व चर्च, मन्दिरों या धर्म-सम्प्रदायों में घोषित किए जाने वाले स्पष्ट उपदेशों की भांति नहीं आते, वरन् अनुभूति के रूप में अन्तर्निहित होते हैं। दृष्टिकोण का वैभिन्य उनमें चाहे जितना हो, लेकिन सबके मूल में केवल एक ही सत्य है कि मनुष्य अपने अर्थ की वास्तविक गरिमा प्राप्त करे। वह न तो सामाजिक शोषण के अन्तर्गत अपनी महत्ता खोए और न धार्मिक तथा राजनीतिक अत्याचार के नीचे उसकी आत्मा का हनन हो।

मानव के सन्दर्भ में मूल्य का अर्थ एक ऐसी धारणा या दृष्टि है जो मूलतः व्यक्ति के जीवन में पनपती है, किन्तु जिसका विकास समाज की ओर होता है, जो समाज में आचरण-व्यवहार-संबंधी मान्यताओं, विश्वासों और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिलाषाओं को तोलती है, उनका मानदण्ड बनती है। यह धारणा या दृष्टि मानवी व्यवहार का नियमन करती है, जिसके आधार पर हम समाज में व्यक्ति या उसके आचरण को उत्कृष्ट या निकृष्ट, उचित या अनुचित, अच्छा या बुरा, घोषित करते हैं। और क्योंकि समाज परिवर्तनशील है, सामाजिक मान्यताएँ आर्थिक तथा अन्य कारणों से बदलती रहती हैं, मान्यताओं के बदलने के साथ-साथ नैतिकता और सामाजिक वातावरण बदलता है, इसलिए मूल्यों में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है।

पीछे मैंने प्रगतिवाद का उल्लेख किया था। उसके बाद की काव्य-धारा ने जिसे प्रयोगवाद के नाम से अभिहित किया जाता है, जीवन की यथार्थता की गहराई में प्रवेश किया और युगानुकूल मानव-मूल्यों का अन्वेषण किया। छायावाद-रहस्यवाद में सामाजिक चेतना का अभाव था, तो प्रगतिवाद समाज के बाह्यरूप पर ही अटक गया। प्रयोगवाद ने सामाजिक चेतना व्यक्त करने के साथ-साथ व्यक्ति की स्वतंत्रता टटोलने का भी प्रयास किया। प्रयोगवाद ने ही जब नई कविता का रूप धारण किया तो वह मनुष्य की वर्जनाओं और कुण्ठाओं और रूढ़ियों को तोड़ कर व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित कर दोनों का जीवन गहराई से देखने और अनेक उलझी हुई अनुभूतियों के विभिन्न आयामों को बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से चित्रित करने की ओर अग्रसर हुई। छठे दशक की कविता ने नई कविता का केंचुल छोड़कर नया रूप धारण किया है। प्रयोगवाद और नई कविता का युग-बोध अब, परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार, पुराना पड़ गया है। जो कुछ भी हो, प्रयोगवाद से लेकर साठोत्तरी कविता तक के कवियों ने मनुष्य के अस्तित्व का अर्थ समझने की चेष्टा की है और इस बात को समझने की चेष्टा की है कि समाज में रहते हुए व्यक्ति अपनी स्वतंत्र सत्ता कैसे बनाए रख सकता है—विशेषतः जब कि आज के युग में वह भय, संत्रास, कुण्ठा, ऊब, अकेलेपन की अनुभूति आदि तथा अन्य राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक संकटों से त्रस्त है और मानव के अस्तित्व पर ही प्रश्नसूचक चिह्न लग गया है। जीवन की इस स्थिति के प्रति सामयिक कवियों ने विभिन्न रूपों में अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं—समाजवादी, अस्तित्ववादी, व्यक्तिवादी, मानवतावाद आदि के रूप में—और जीवन की व्यर्थता, अराजकता, मृत्यु-भय, निस्संगता, विसंगतियों, विद्रूपताओं आदि पक्षों की ओर गम्भीर संकेत किए हैं। इसलिए सामयिक कविता का महत्त्व विशुद्ध साहित्यिक या सौन्दर्यात्मक दृष्टि से तो है ही, साथ ही जीवन की समस्याओं के प्रति कवि का क्या दृष्टिकोण है, यह भी विचारणीय है। स्वयं उसकी अपनी अध्यांतरिक समस्याएँ बहुत-कुछ बाह्य ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर हैं। यहाँ तक कि वह राजनीति से भी अपने को असंपृक्त नहीं रख सकता। स्टीफेन स्वेंडर के शब्दों में कवि या लेखक को वर्तमान की परिस्थिति में पूर्णतः डूब जाना चाहिए, नहीं तो उसके सामयिक संसार के लिए उसका कोई महत्त्व नहीं रह जाएगा। आज कवि जीवन को अन्दर से देख ही नहीं रहा, वरन् भावुकता और धार्मिकता के स्थान पर बुद्धि और वैज्ञानिकता के आश्रय से जीवन देख रहा है। वह जीवन के प्रति सतर्क है और वर्तमान परिस्थिति की संकटपूर्ण अवस्था को भली भाँति पहचान रहा है। उसके लिए अतीत अस्तित्व ही नहीं रखता, वर्तमान अराजकतापूर्ण है और भविष्य अन्धकार और भयावह आशंकाओं से पूर्ण। इसलिए उसके कवि-कर्म का आज उद्देश्य है व्यक्ति में आत्मविश्वास की भावना पैदा करना, क्योंकि वह देख रहा है कि व्यक्ति लड़खड़ा रहा है, वह भीड़ में खींचा जा रहा है और सभी शक्तियाँ उसके व्यक्तित्व को कुतरने में लगी हुई हैं। विघटित होते हुए मूल्यों के स्थान पर वह नए मूल्य, जीवन के प्रति नया उत्साह, नई आस्था देखना चाहता है। विज्ञान, प्रजातंत्र, व्यक्ति-स्वातंत्र्य के आश्रय से वह नए मानव-मूल्य खोजने में लगा है—ऐसे मूल्य जिनसे मनुष्य का जीवन झाड़-झंखाड़ रहित सुखपूर्ण हो, उसके व्यक्तित्व का ऐसा स्वतंत्र विकास हो जिसकी अन्तिम परिणति समाज के साथ समन्वय में हो। मानव सम्बन्धों को वह शोषण-विहीन और गरिमामय रूप में देखना चाहता है। परस्पर राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता रओ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीषण संहारक अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ के बीच वह मृत्यु की मँडराती हुई छाया से इन्सान को बचाने के लिए व्याकुल है। मृत्यु और विनाश ही मनुष्य की नियति नहीं है, और न वह मुट्ठी भर सत्ताधारियों के हाथ में कठपुतली की तरह है। उसे अपना जीवन अपने ढंग से जीने का हक है। संक्षेप में आज का कवि सभी प्रकार के शोषणों, बन्धनों, आतंकों, भग्नाशाओं, विद्रूपताओं एवं विसंगतियों से मानव मात्र की मुक्ति की कामना करता है, नाना प्रकार की वर्जनाओं से उबार कर उसके जीवन में नया प्रकाश भरना चाहता है। परम्परागत मानवी-संबन्धों के स्थान पर वह परिवर्तित परिस्थितियों के प्रकाश में, आधुनिकता के बोध के साथ, नए आन्तरिक संबंध स्थापित करने के लिए उत्सुक है। सामयिक कविता मानव-जीवन के सही परिप्रेक्ष्य खोज रही है। कवि आत्मोपलब्धि के साथ-साथ मानव-अस्तित्व का सही अर्थ बूझना-बुझाना चाहता है। संकटपूर्ण परिस्थिति में रहते हुए वह संकट दूर करना चाहता है। जिन जीवन-मूल्यों की ओर मैंने संकेत किया है वे कवियों की रचनाओं से अप्रत्यक्ष रूप से निःसृत होते हैं। अन्यथा कविगण अकेलेपन, शून्यता, अजनबीपन, आतंक, संत्रास, कुण्ठा आदि की अभिव्यक्ति में लगे रहते हैं।

किन्तु प्रश्न उठता है कि सामयिक कविता में जो जीवन-दृष्टि पनप रही है, जिस भोगे हुए क्षण का, जीवन की जिस घुटन और टूटन, अन्तर्विरोधों और असंगतियों एवं विडंबनाओं को युवा पीढ़ी का कवि अभिव्यक्ति प्रदान करता है, उनका भारतीय जीवन के परिवेश से कहाँ तक सच्चा सम्बन्ध है, क्योंकि इन जीवन मूल्यों की सार्थकता, उनकी वास्तविकता तभी सिद्ध हो सकती है जबकि उनका जीवन के सही परिवेश से घनिष्ठ सम्बन्ध हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टता व्याप्त हो गई है और जीवन सुखी न होकर अभिशप्त है। किन्तु युवा पीढ़ी के कवियों ने जो अनुभूतियाँ व्यक्त की हैं वे बहुत-कुछ उधार ली हुई और जबरदस्ती ओढ़ी हुई हैं, क्योंकि न तो हमारे देश में एटमबम का विस्फोट हुआ और न युद्धजनित उन यातनाओं का ही यहाँ के कवियों को अनुभव है जिनका अनुभव यूरोप के कवियों को प्राप्त हुआ और जिसके फलस्वरूप वहाँ अस्तित्ववादी चिन्तन का प्रचार हुआ। विज्ञान और टेकनोलोजी के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों का भी उन्हें अनुभव नहीं है। अतः सामयिक कविता की प्रवृत्तियाँ बहुत-कुछ किताबी ज्ञान के फलस्वरूप हैं। विविध बन्धनों और वर्जनाओं से मानव की मुक्ति की बात जब वे करते हैं तो उनमें अतिरंजना का अंश ही अधिक रहता है।

निष्कर्षतः, आज मानव-मूल्य केवल वैयक्तिक अनुभव ही हैं। किन्तु उनका समग्र मानव-प्रकृति से सहज संवेदनात्मक तादात्म्य भी आवश्यक है। व्यक्ति-विशेष की स्वतः स्फूर्त, परम्परा-विहित, वातावरण-जन्य द्वन्द्वात्मकता के परिवेश में स्थान एवं काल के अनुसार क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तनशील गति की नियति ही मूल्य बन जाता है। और इस प्रकार जितने कवि हैं उनके द्वारा उतने ही मानव-मूल्यों का निर्धारण संभाव्य है। मूल्य-बोध और मूल्य-निर्धारण का संकट न केवल आधुनिक हिन्दी काव्य एवं अत्यानुधिक पाश्चात्य काव्य-कृतित्व के परिप्रेक्ष्य में, वरन् हर नई संभावना, संश्लिष्टि और साहित्य-सर्जना में स्वयमेव अनुस्यूत रहता है। आज, जहाँ एक ओर विविध काव्य-विधाओं की भीड़ है, वहीं आधुनिकता के अर्थ-बोध का अनुकल्पन विवादास्पद है। आधुनिकता, जीवन-क्रम के प्रत्येक परिवर्तन के साथ जागरूक प्रतिक्रिया का उच्छ्वास है। और, हमने आधुनिक हिन्दी काव्य की विभिन्न धाराओं में अन्तर्भूत मानव-मूल्यों का विश्लेषण भी इसी आधार-पीठिका पर किया है।

इधर, वर्षों से मेरे मन में पिछले तीन दशकों की अनेकशः नामाभिधेय और विविध वादों से युक्त कविता के प्रति शंकाएँ रही हैं जिन्हें सामाजिक उहापोहों, सांस्कृतिक असंगतियों और युगजनीन परिस्थितियों की अभिव्यक्तिमात्र नहीं कहा जा सकता। कहीं ऐसा तो नहीं है कि आत्यंतिक अहं के विस्फोट, अधकचरे समष्टिगत विन्यास और उधार लिए गए प्रतीकवाद, बिम्बवाद, दादावाद, अतियथार्थवाद और फ्रायडवाद के 'फैशनेबुल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यञ्जन में मानव-मूल्यों का सहज संवेदनात्मक स्वरूप ही बिखर रहा हो ? अनुकरण किन्हीं परिस्थितियों में मान्य हो सकता है, किन्तु पाश्चात्य के प्रति अन्ध-भक्ति केवल प्रतिभा-शून्यता और वैचारिक गुलामी की ही प्रतीक मानी जाएगी। नित्य नवोन्मेष और नए प्रयोग 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' के केन्द्र-बिन्दु पर श्लाघ्य होंगे। लेकिन शर्त यही है कि मानव-घाती मूल्यों की वर्जना हो, अन्यथा तरह-तरह के वादों-प्रतिवादों और नामों-नारेबाजियों की भस्मासुरी भँवरों में स्वयंभू कवि और काव्य खुद-ब-खुद डूब जाएँगे। इस प्रकार के तथाकथित काव्य की क्या परिणति हो सकती है जिसे केवल उच्चवर्गीय या मध्यमवर्गीय एक-दो प्रतिशत नफ़ासत-नजाकतपूर्ण निठल्लू पाठक-श्रोता ही समझ सकें और वह तब, जबकि उसका विस्तृत भाष्य स्वतः रचयिता को ही प्रस्तुत करना पड़े ? हमें भय है कि कहीं यह तीन-चार दर्जन नामों से पुकारी जाने वाली तथाकथित तरह-तरह की कविता-कुण्डलियाँ अपने पूर्वज देशों, अमेरिका-इंगलैण्ड जैसी ही सामाजिक अरुचि की पात्र न बन जाएँ ?

मेरी दृष्टि में, नव्य-भव्य और उदात्त मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा का काव्य कृत्रिम नहीं होता, वह कोरे बौद्धिक वितण्डावाद की परिधि में नहीं समाता और न प्रयोगों के लिए प्रयोग के नाम पर 'सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्' का ही परित्याग करता है। आखिर, भावना, ज्ञान और कर्म का समवाय ही तो मानव है। इसी समवाय का अविरल गत्यात्मक सन्तुलन और जीवन्त संयोजन, अधुनातन मानव-मूल्य है और अनुभूतिपरक मानव-मूल्यों का सम्यक् स्वर ही काव्य है। तात्पर्य यह कि वादों के दायरे से मुक्त और गुटनिरपेक्ष मानवीय काव्य-सृष्टि का उन्मेष तमाम विषमताओं के बीच करना ही होगा। आधुनिकता और नवीनता के सम्मोहक-सूत्रधार कहीं अमेरिका, इंगलैण्ड, जर्मनी और रूस में न बैठें। कविता केवल कठपुतलियों की 'कें-कें' न बन जाय। 'मानव', मानव है, न लघुमानव, न महामानव और न बौना या विद्रूप-विकृत माँसलपिण्ड। कविता, कविता है। न नई, न पुरानी और न भूखी-नंगी या ताज़ी-बासी। लोक वृत्यात्मक, मज़दूरों-मजलूमों और फाकाकशों का रुग्ण संगीत काफ़ी-हाउस और कनॉट-प्लेस में नहीं बल्कि खानों, खदानों और खेतों-खलिहानों में खपकर ही गाया जा सकेगा। अन्यथा मन-मस्तिष्क के कुहासों में, व्यक्ति-अभिषेक का अनुरणन—घोर वैयक्तिकता का आत्म-प्रदर्शन और सर्वनाशी मानव-मूल्यों का कथ्य बन जाएगा।

अस्तु, आवश्यकता है कि अधुनातन काव्य बौद्धिक-व्यायाम बन्द करे। अतिवादी यौनेषणा, अनियन्त्रित-ऊट-पटाँग-अभिव्यक्ति, सम्पूर्ण आस्था-विगलित अनास्था, आरोपित कुरूपता, क्लीव-चिन्तन और पतनोन्मुख मानव-मूल्य-संहतियों का पटाक्षेप करके; 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' से सम्पृक्त भारतीय संस्कृति की ज्योतिर्मय मूल-संचितना से आपूरित हो। राहों के अन्वेषी पथभ्रष्ट होकर न रह जाएँ। तमाम सामाजिक संकट, कच्छपीय-बुद्धि-संकुलता के मूर्त्तरूप न बनें। अनेकशः अन्तर्विरोधों के बीच भी, शाश्वत मानव-मूल्यों का अन्तर्बोध—कवि का अपना दायित्व है; और यदि यह मूल्य-चेतना जन-मानस में स्पन्दित नहीं होती, तो आधुनातन काव्य-कला की विविध बाँकी अदाएँ भी कूड़े के ढेर से ज्यादा सौन्दर्य-तत्त्व नहीं संजोएंगी। इसके लिए नए काव्य को न तो अधिनायकवाद का ढिंढोरची ही बनाना है और न पूँजीवादी व्यवस्था के ध्वंसावशेषों का सुनियोजित रक्षा-प्रयास। अतः मानव-मूल्यों की ठोस स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि आधुनिक और नवीन युगबोध यथार्थ की ही धरती पर उतरे, न कि परिकल्पित वायव्य गगन में विहार करने लगे।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषा-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानस की दार्शनिक मान्यताएं अभिनव पक्ष

—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

परम्परागत मान्यताओं और तर्क के आधार पर मेरी यह निश्चित धारणा है कि मध्यकालीन आध्यात्मिक आचार और विचार 'आगम' से पूर्णतः प्रभावित हैं—प्रभावित ही नहीं, बहुत दूर तक वे तन्मूलक भी हैं। यह अवश्य है कि उस समय तो निश्चय ही कोई भी आचार और विचार भारत की धरा पर पनप नहीं सकते थे—जब तक वे अपने को श्रौत परम्परा से संबद्ध न कर लें। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रस्थान त्रयी का भाष्य इस तथ्य का साक्षी है। इसीलिए यदि समस्त तुलसी साहित्य को निगमागमकल्पतरु का परिणतफल कहा जाय—तो उसमें कोई त्रुटि न होगी। वैसे तो उन्हीं ने 'मानस' को 'नानापुराणनिगमागम-कल्पितं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' कहा ही है।

निगमागमकल्पितरु के परिणत-फल तुलसी-साहित्य के 'रस' रूप में 'भक्ति' की ही प्रतिष्ठा है। अतः इसकी दार्शनिक मान्यताओं पर विचार 'भक्ति' को ही केन्द्र में मानकर किया जा सकता है। तुलसी अपने समूचे आचार और विचार का लक्ष्य 'भक्ति' को ही मानते हैं। 'भक्ति' ही उनके लिए 'साध्य' है। मध्यकालीन 'भक्ति' के आचार्यों ने 'भक्ति' को पंचम पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्ठित किया है। मधुसूदन सरस्वती का यही पक्ष है। गोस्वामी जी भी 'मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने' कहकर इसी पक्ष का उपोद्वलन कर रहे हैं। वैसे तुलसी के भक्त पात्रों में 'सार्ष्टि' को छोड़कर अवशिष्ट अन्य द्वैत मुक्तियों—सालोक्य, सायुज्य तथा सामीप्य—का उल्लेख मिलता है। पर यह तो भेद-भगति का फल है। संतवर गोस्वामीजी 'अभेद-भगति' को सबसे बड़ा मानते हैं। 'अभेद-भगति' ज्ञानोत्तरा भक्ति है। ज्ञानोत्तरा भक्ति शांकर आत्म-साक्षात्कार के अनन्तर आरम्भ होती है। शांकर आत्म-साक्षात्कार के सोपान जो अद्वैत वेदांत सम्मत हैं—मानस में उपक्षिप्त हैं। 'सोऽहमस्मि इतिवृत्ति अखण्डा'—द्वारा जिस 'सोऽहमस्मि' इत्याकारक अखण्डाकार विद्यात्मिका मायीय वृत्ति का उपक्षेप किया गया है—वह 'श्रवण' तथा 'मनन' की विधियों का परिणाम है। उपनिषद् का कहना है—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मान्तव्यो निदिध्यासितव्यः" आत्मा ही द्रष्टव्य है और तदर्थ श्रवण, मनन और निदिध्यासन अपेक्षित हैं। किन्तु श्रवण का पात्र बनने से पहले मुमुक्षादि साधन चतुष्टय की सम्पत्ति आवश्यक है। मुमक्षादि की प्राप्ति, अन्तःकरण का शोधन "श्रुति-संमत हरिभक्ति पथ संयुतविरति विवेक"—से ही संभव है—वैधी भक्ति से ही संभव है—दास्य भक्ति से ही संभव है। 'विनय पत्रिका'—जो तुलसी की व्यक्ति-साधना का मार्मिक और सहज गीतात्मक समुच्छलन है—का 'विनय' शब्द ही आराध्य के प्रति 'माहात्म्य बोध' और स्व के प्रति लघुता बोध का प्रमाण है। द्वैतभूमि की यह वैधी भक्ति अन्तःकरण को शोधित कर श्रवण-बीज का भव्य क्षेत्र बनाती है। महावाक्यों या महावाक्य का श्रवण एवं मनन साधक को इस योग्य बना देता है कि वह आत्म साक्षात्कार कर सके। आत्मा तो सदैव अपरोक्ष है—अनादि आविधाजन्य मल या आवरण के कारण वह परोक्ष-सा लगता है। इसी आवरण का क्षय श्रवण तथा मनन द्वारा होता है। श्रुत का मनन करते-करते वृत्ति तदाकार हो जाती है और यह 'सोऽहमस्मि' रुपा विद्या-त्मिका-वृत्ति आविधिक वृत्ति का उच्छेद कर डालती है। 'कतकर जो न्याय' से अन्ततः मायीय होने के कारण वह स्वयं भी उच्छिन्न हो जाती है। इस प्रकार प्रारब्ध कर्म भोग का निमित्त मात्र अविद्या शेष रह जाती है, शेष अविद्या का क्षय हो जाता है। इस प्रकार अन्यथा दर्शन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कराने वाली भेदजननी माया-निवृत्ति से आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। गोस्वामीजी की साधना यहीं नहीं रुकती। उनकी दृढ़ धारणा है कि द्रवशील प्रकृति के साधकों में आत्म साक्षात्कार के बाद भी एक आभ्यंतर मल शेष रह जाता है—जो ज्ञानोत्तरा भक्ति से निवर्त्य है। यह मल भी मल ही है—वह दूसरी बात है कि वह आत्म-सुख होने से शुद्ध मल कहा जाता है। महायानी बौद्धों में यही 'शुद्ध वासना' है—जिसकी निवृत्ति बोधिसत्व की प्रक्रिया से 'बुद्धत्वोपलब्धि' में है। गोस्वामीजी ने इसी के लिए कहा है—

"प्रेम भगति जल बिनु अन्हवाये।
अभिअन्तर मल कबहुं न जाये॥"

मेरी निजी धारणा है कि यह प्रेम भगति ज्ञानोत्तरा आत्म-रति है—अभेद-भगति है। शास्त्रों में कहा गया है—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक्, जाते बोधे **मनीषया**।
भक्तयर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

आत्मबोध से पहले का द्वैत—अनात्मबोध मोहकारी होता है—फलतः दुःख-संतति का प्रसवकारी है। पर विधात्मिका वृत्ति से आविधिक वृत्तियों का क्षय हो जाने के अनन्तर आत्म-साक्षात्कार—अद्वैत बोध के बाद का कल्पित द्वैतबोध—जो भक्ति के लिए है—अद्वैतबोध से भी सुन्दर और आनन्दमय है। इसका मतलब यह हुआ कि यहाँ का भजनीय, भजन तथा भक्त-तत्वतः हैं—अभिन्न ही, केवल 'भजन' के लिए त्रिधा कल्पित हैं। अर्थात् भक्ति भक्त, भगवंत ही नहीं, 'गुरु' भी—चतुर नाम किन्तु वपु एक ही हैं। भगवंत और गुरु में कोई भेद नहीं है। 'वैराग्यसंदीपनी' में कहा है—

तन करि मन करि वचन करि काहू दूषत नाहिं
तुलसी ऐसे संतजन, रामरूप जग माहिं।

राम स्वयं अपने और भक्ति के बीच 'गुरु' को सन्त कहते हैं—

भगति तात अनुपम सुख मूला।
मिलहिं जो संत होहिं अनुकूला॥

कहने का अभिप्राय यह है कि अद्वैत भक्ति के धरातल पर भक्ति, भगवान और भजनीय कल्पित भेद हैं—नाम मात्र का—अर्थ का नहीं। अर्थतः सभी एक ही हैं। यदि अर्थतः सभी एक हैं—तो इसका अर्थ यह है कि 'भगति' भी तत्वतः चिदानन्दमय है—भजनीय तो है ही। भक्त भी अभेद भूमि पर वही है। भाव का पूरा सुख कल्पित अभाववश ही मिल सकता है। कल्पित या स्वेच्छाधीन अभाव सुखकर तो हो सकता है—पर दुःखकर नहीं हो सकता।

अब, यह देखना चाहिए कि 'भक्ति' के इस रूप की कल्पना का उत्स क्या है—निगम या आगम या क्वचिदन्य? 'निगम' के ज्ञानकांड और कर्मकांड में तो 'भक्ति' का यह रूप है ही नहीं, उपासना कांड में भी यह रुप नहीं है। शांकरधारा में आत्म-रति या निर्गुणोपास्ति की बात पंचदशीकार ने यद्यपि सविस्तार उठाई है और कहा है कि जो आत्मा—'वेदन' का विषय बन सकता है, वह 'उपासन' का भी विषय बन सकता है। जिस भी रुप में वह वेदन का विषय है—उसी रुप की प्रत्यावृत्ति उपासना भी कही जा सकती है। इस 'अहंग्रहोपासना' का मध्यकालीन वैष्णवों की 'साध्य पंचम पुरुषार्थ रुपा भक्ति' से तालमेल बिल्कुल नहीं बैठता। कारण, वह सब आत्मसाक्षात्कार के लिए है और प्रक्रान्त भक्ति आत्मसाक्षात्कार के बाद की है—अतः पूर्ववर्ती से परवर्ती की एकरूपता का सवाल ही नहीं खड़ा होता। जो अहंग्रहोपासना साधन है—उसका भगवदभिन्न भक्ति से एकरूपता किस प्रकार? 'भक्ति' की यह कल्पना विशुद्ध आगमिक है। आगमिक परम्परा में 'भक्ति' मायिक अन्तःकरण की एक वृत्ति विशेष नहीं है—बल्कि उसके माध्यम से प्रकाशित होने वाली ह्लादिनी शक्ति की ही एक वृत्ति है—तरंग है—उच्छलन है। आत्मा की चिदानन्दमयी शक्ति की ही एक वृत्ति है—इसीलिए वह बोधमयी भी है और आनन्दमयी भी। तुलसी के "ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा" को इसी भूमिका पर परखा जा सकता है। चित् ही अनुकूल होकर आनन्द है—आनन्दरूपा ही भक्ति है। यही साध्य है—पर इसका आस्वाद कल्पित भेद की भूमि पर ही संभव है। एतदर्थ 'ज्ञानोत्तरा भक्ति' की बात कही जाती है। इस प्रकार भक्ति भगवान् की ही आत्मशक्ति की एक वृत्ति विशेष है। तुलसी को भक्ति का यही रूप अभीष्ट है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति के इस रूप की संगति के अनुरूप ही भजनीय चरमतत्व की कल्पना करनी पड़ेगी। गोस्वामीजी चरम परमतत्व को 'राम' नाम से अभिहित करते हैं—पर वे 'राम' शांकर-ब्रह्म की भाँति 'शक्ति' शून्य नहीं हैं—शक्तिमान् हैं। 'सिया' उनकी ऐसी शक्ति हैं—जो उनसे गिरा—अर्थ और जलवीचिवत् न एकांततः भिन्न ही कही जा सकती है और न एकान्ततः अभिन्न ही। बात यह है कि कहना वही और उतना ही सम्भव है जितना 'बुद्धि' में आ सके। 'बुद्धि' स्वयं सापेक्ष और सीमित है—अतः उसमें जो कुछ भी आयेगा—वह भी सापेक्ष और सीमित होगा—अतः बुद्धिपूर्वक समस्त कथन भी और कथ्य भी सापेक्ष और सीमित होगा—अतः बुद्धि की परिधि में समग्रतः न आ सकने वाले तत्त्व के विषय में निरपेक्ष कथन सम्भव ही नहीं है। फलतः चरमतत्व के विषय में सारा कथन एकांततः सत्य नहीं है। वह समस्त संभावनाओं का आगार है—अतः सारी संभावनाएँ संभावनाओं के रूप में ही कही जा सकती है—उसमें भेद की भी सम्भावना है और अभेद की भी—उभय की भी और अनुभय की भी, निषेध की भी और विधान की भी दोनों की और किसी की भी नहीं। इस प्रकार तुलसी की दृष्टि में चरमतत्व ऐसा ही है। आगमिक अद्वयवादी यही मानते हैं। शांकर अद्वैत तुलसी को यदि अभीष्ट होता, तो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर तक की ही कल्पना करने वाले शांकर अद्वैतियों की भाँति ये भी 'चिदानन्दमय देह' की बात न करते। चिदानंदमय शाक्त देह की कल्पना केवल अद्वैतवादी आगमिक ही मानते हैं। गोस्वामीजी ने परमतत्वज्ञ वाल्मीकि द्वारा कहलवाया है—"चिदानन्दमय देह तुम्हारी"। भगवद्रूप की इस बोधस्वातंत्र्यमय-चिदानन्दमय कल्पना के आलोक में ही गोस्वामीजी की 'भक्ति' का रूप समझा जा सकता है।

चरमतत्व विषयक दार्शनिक मान्यता के स्पष्टीकरण के अनन्तर उसकी अवरोहणात्मक या जागतिक स्थिति का निरूपण प्रसंग प्राप्त है। शांकर अद्वैत वेदांत सृष्टि को माया शक्ति का परिणाम मानता है और माया को स्वतंत्र मानता है—ईशाधीन नहीं। इसीलिए उनके यहाँ 'षड-स्माकमनादयः' कहा गया है। तत्वतः अद्वैत सत्ता को स्वीकार करके भी चित्, अचित्, जीव, जीवेशभेद आदि को अनादि कह दिया गया है। 'लीला' दर्शन की सारी सम्भावनायें शांकर अद्वैत में निःशेष हो जाती हैं। ये आगम ही हैं, जो ईश्वर की स्वातंत्र्य शक्ति की लीला रूप में सृष्टि का समर्थन करते हैं। गोस्वामीजी ने अनेकत्र माया को ईशाधीन कहा है। इस प्रकार जहाँ एक ओर गोस्वामीजी माया को ईशाधीन कहकर शांकर प्रस्थान से अपने को पृथक् कर लेते हैं—वहीं दूसरी ओर 'सत्ख्याति' या 'आत्मख्याति' द्वारा भ्रम का आत्यंतिक उच्छेद मानने वाले विशिष्टाद्वैतवादियों से भी अपने को अलग कर लेते हैं। परतत्व आनन्दमय स्वरूप का अनुभव आत्मशक्तिवश जगदात्मक आत्मप्रसार द्वारा भी पा लेता है और स्वात्म-विश्रांति द्वारा भी। गोस्वामीजी भी अद्वयवादी आगमिकों की भांति मानते हैं कि समूची सृष्टि चरमतत्व का ही प्रसार है। वे कहते ही हैं—

"सियाराममय सब जग जानी"

समस्त जगत शक्ति शक्तिमान् के अद्वय रूप की ही परिणति है। यही कारण है कि चरमतत्व की द्वयात्मकता के अनुरूप सारा जगत् "स्थितिगत्यात्मक" है। राम 'स्थिति' हैं और 'सिया'—गति। द्वयात्मकता में वे 'स्थिति-गत्यात्मक' हैं और अद्वयात्मकता में उभयातीत। इस दृष्टि से चरमतत्व विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी। चाहे अणु-परमाणुमय जड़ जगत् को लें या जीवकोश रूप चेतन को—उभयत्र पुंस्त्व तथा स्त्रीत्व 'राम' और 'सिया' के प्रतिनिधि में संलग्न हैं। अणु-परमाणु में ऋणात्मक तथा धनात्मक शक्तियाँ हैं और जीवकोश में डी० एन० ए० तथा आर० एन० ए० हैं। अध्यात्म ही नहीं, विज्ञान भी इसे स्वीकार करता है।

अवरोहण के अनन्तर आरोहण की प्रक्रिया आती है—प्रत्यावर्तन का प्रसंग आता है। प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया भगवदनुग्रह से ही संभव है। गोस्वामीजी उपनिषदों की

"यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः"

की भाषा में कहते हैं—

"सोई जानै जेहि देहु जनाई।
जानत तुमहि तुमहि होई जाई॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यावर्तन उसी की इच्छा से संभव है। यही इच्छा जीवन-विषयक होने से शक्तिपातात्मक अनुग्रह है। शक्तिपात की आनुपातिक मात्रा में 'गुरु' लभ्य 'दीक्षा' आती है। गोस्वामीजी की दृढ़ धारणा है "गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई।" 'विनयपत्रिका' भी कहती है—

"तुलसीदास हरि गुरु करुना बिनु..."

गुरु दीक्षा में 'नाम' देता है और नाम साधना साधक द्वारा सम्पादित की जाती है। गोस्वामीजी ने कहा है—

"नाम निरूपन नाम जतन तें।
जिमि प्रगटत अनमोल रतन तें॥"

तुलसीदास ने नाम निरूपन की बात तो बहुत की है—पर 'नाम जतन'—नाम विषयक अभ्यास की बात कम। एक स्थल पर यह अवश्य कहा गया है—

"जोग जंत्र जप मंत्र उपाऊ।
फलै तबहिं जब करिय दुराऊ॥

संभव है मंत्रात्मक (बीज मंत्र जेहि जपत महेसू) उपाय का दुराव किया हो। उपाय के नाम पर दो बातें ही मिलती हैं—एक तो उसे जीह देहरी पर रखना अर्थात् नामोच्चारण और दूसरे—

"रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा।"

श्वास प्रतिश्वास नाम की रट। क्या इस 'प्रतिस्वाशा' के माध्यम से गोस्वामीजी संतों की भांति श्वास प्रश्वासमय सहज जप की ओर तो संकेत नहीं कर रहे हैं? एक संत ने ठीक कहा है कि मुख से जप करना वैसा ही है जैसे नौकर-चाकर से पूजा करवाना। वास्तव में मुक्त होना या भक्तिरस का आस्वाद पाना लक्ष्य है—जीव को और साधन करें—जीवेतर—यह संगत भी नहीं लगता। साधना तो ऐसी होनी चाहिए जो जीव ही करता हो। इसीलिए मानस जप अथवा सहज जप को जप परम्परा में महत्व दिया गया है। कविराज श्री गोपीनाथ ने नाम साधना द्विविध कही है—रस पर्यवसायी तथा नादपर्यवसायी। निश्चय ही 'भक्ति' रस को साध्य मानने वाले गोस्वामीजी की नाम साधना 'रसपर्यवसायी' ही होनी चाहिए। "रामनाम कला मणि मंजूषा"—नाम की कृति को आधार बनाकर कविराज जी ने इनकी नामसाधना या 'नामजतन' का निरूपण किया है—पर परम्परा इस कृति को प्रामाणिक नहीं मानती। कहा गया है कि नाम के जाग्रत होने से सद्गुरु की और उनके प्रभाव से इष्टमंत्ररूपी विशुद्धबीज की प्राप्ति हो सकती है। बीज के प्रभाव से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है—फलतः देह और मत की मलिनता हटती है। भजन या नामजप की स्वाभाविक स्थिति इस मातृगर्भ संभूत मायिक देह से संभव नहीं है—तदर्थ भाव देह की अपेक्षा है। वास्तव में इसी भाव देह में स्वाभाविक भजन होता है। वैध-मार्ग तब तक के ही लिए उपादेय है जब तक मंत्र चैतन्य नहीं होता। मंत्र चैतन्य के बाद, विधि मार्ग की सार्थकता जाती रहती है। भाव देह के विकास के साथ-साथ भावरञ्जित दृष्टि के समक्ष इष्ट देवता का ज्योतिर्मय धाम प्रकट होता है। भजन के ही प्रभाव से भाव प्रेम में परिणत होता है और भाव के प्रेम रूप में परिणत होते ही उस ज्योतिर्मय धाम में इष्ट देवता का प्रत्यक्ष होता है। इसके पश्चात् भक्त और भगवंत का द्वैत विगलित हो जाता है। इस दशा में भक्त की शुद्ध वासनात्मक स्थायी भाव के अनुरूप अनन्तविध लीला का प्राकट्य होता है। भक्ति की यही सिद्ध दशा है। इस प्रकार नाम ही रसात्मक परिणति पाता है।

प्रसिद्धि है कि गोस्वामीजी को देहत्याग से कुछ ही समय पूर्व महावीरजी ने रामनाम का रहस्य बताया था। कहा था कि रामनाम का विश्लेषण करने पर उसमें पांच कलाओं का पता लगता है—ताटक, दण्डक, कुण्डल, अर्धचन्द्र तथा बिंदु। साधक नामसाधना वश क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण तथा कैवल्य देह का उक्त कलाओं में विलयन करता जाता है। बिंदु 'सिया' हैं और उनका भेद किए बिना रेफ रूप राम का संधान पाना कठिन है। महावीरजी के उपदेश का निष्कृष्ट अर्थ यही है कि बिंदु रूपा सीता का आश्रय लिए बिना निष्कल ब्रह्म की ओर नहीं बढ़ा जा सकता। विनयपत्रिका में भी सीता के माध्यम से राम की ओर बढ़ने में यही रहस्य इंगित है।

इस प्रकार नाम साधना से साध्य चिदानंदमय भक्ति का कल्पित द्वैतमय भूमिका पर आस्वाद लिया जाता है। गोस्वामीजी के अनुसार प्रत्यावर्तन की यही प्रक्रिया है। संक्षेप में गोस्वामीजी की मेरी धारणा के अनुसार ये ही मान्यताएं हैं।

(राममूर्ति त्रिपाठी)
आवास क्रमांक-२, कोठी रोड,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुष-सम्बन्धी युग-धारणाएँ एक शोध दृष्टि

—डॉ० छविनाथ त्रिपाठी

"पुरुष" के सम्बन्ध में युगानुकूल भिन्न-भिन्न धारणायें बनती रही हैं। किसी शब्द-विशेष के साथ जब एक विशेष प्रकार की धारणा सम्बद्ध हो जाती है, तब वह शब्द, सामान्य-शब्द की श्रेणी से ऊपर उठकर एक विशिष्ट अर्थ का बोधक बन जाता है। जब कोई कवि उस शब्द का प्रयोग करता है, तो उसके मानस-पटल पर युगानुरूप अर्थ का ही बिम्ब उभरता है और उसे आशा रहती है कि काव्य श्रोता या पाठक के मानस में भी वही बिम्ब उभरेगा। यह बिम्ब-निर्माण शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ मात्र से ही नहीं होता, अपितु उन धारणाओं के द्वारा भी होता है, जिन्हें लोक-मानस उस शब्द के साथ संबद्ध कर लेता है। 'पुरुष' शब्द के साथ रूप, गुण और व्यक्तित्व सम्बन्धी अनेक धारणायें सदा संबद्ध रही हैं। ये धाराणायें युग-परिवर्तन के साथ बदलती रही हैं, फल-स्वरूप अर्थ-विधान की उसकी क्षमता और बिम्ब-निर्माण सम्बन्धी उसकी स्पष्टता और व्यापकता में भी परिवर्तन होता रहा है।

अध्यात्म और धर्म-प्रधान वैदिक-युग में एक मन्त्र-द्रष्टा ऋषि ने 'पुरुष सूक्त' में 'पुरुष' को इतनी महत्ता प्रदान की है कि वह भूत और भविष्य का नियंता, अमृतत्व का स्वामी, सम्पूर्ण विश्व में अबाधित गति वाला, श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण भूमि और नगरों का अति-क्रान्ता मान मान लिया गया है।[1] पुरुष सूक्त के सोलह मन्त्रों में 'पुरुष' की जिस महनीयता का वर्णन हुआ है, उससे उसका आदर्श-व्यक्तित्व परमात्मा के समकक्ष पहुँच जाता है। वैदिक-युग का 'पुरुष' इन सम्पूर्ण धारणाओं का बिम्ब उभारने में समर्थ था। वायु-अन्तरिक्ष, वीर-वीर्य, मृत्यु-अमृत, अमृत, सत्य-अनृत तथा भूत और भव्य जब न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, तब यह 'पुरुष-प्राण' ही क्यों डरे।[2] वह तो कल्याण-पथ का निर्भीक पथिक है।[3]

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् काल में वैदिक 'पुरुष' का विराट-स्वरूप सर्वथा खो नहीं गया था, फिर भी भौतिक-जीवन की ओर अत्यधिक उन्मुख होने के कारण संकुचित अवश्य हो गया था। ऐतरेय ब्राह्मण में 'चरैवेति' की अनुगूंज अवश्य सुनाई पड़ती है, परन्तु

१. ऋक् १०।९०।२,३,५
२. शौनक-संहिता २।१५।२,६,११-१३ ॥
३. अथर्व १९।९।१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपदेश रूप में ही; सूर्य-सदृश श्रम और गतिशीलता उसमें नहीं रह गई थी।[1] वह पुरुष, पुरः या शरीर में ही आबद्ध होकर रह गया था। गृहस्थ-जीवन की महत्ता बढ़ने के कारण 'शतपथ ब्राह्मण' ने 'पुरुष' को आधा मान कर पत्नी को उसका अर्ध-भाग कहा।[2] अपत्नीक को अयज्ञीय समझा जाने लगा[3] और पुत्रहीन के लिए तो यह लोक ही निरर्थक बन गया।[4] नारी का गौरव ही गृहस्थ-जीवन का गौरव है, वह जाया और सखा है[5], उसका सौन्दर्य आकर्षण का विषय है[6], इस धारणा ने पुत्रैषणा को बढ़ाया और सन्तानोत्पत्ति के लिए अनेक विवाह को भी विहित घोषित कर दिया गया।[7]

जब आरण्यकों के समय पुत्र-वित्त और लोकैषणाओं ने पुरुष को पूरी तरह बाँध लिया तो इनकी प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप इनके त्याग पर बल दिया जाने लगा।[8] 'पुरुष' का यह आबद्ध-रूप इतना सशक्त बन चुका था कि त्याग के सहस्रों उपदेश भी उसके अस्तित्व को उखाड़ फेंकने में असफल रहे।

'द्वा सुपर्णा'[9] से यह आभास तो मिलता ही है कि 'पुरुष' द्विमुखी बन गया था। या तो वह सांसारिक सुख की लालसा में मोह-शोक और चिन्ताग्रस्त था या इनके परे वीत शोक। 'यथाक्रतु' सांसारिक पुरुष ही था।[10] सैकड़ों हाथों से एकत्र करो और हजारों हाथों से वितरण,[11] जैसे आदेश, आसक्ति और त्याग के समन्वय को ही व्यक्त करते हैं। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'[12] का स्वर मुखरित करने वाला ईशावास्य भी यह स्वीकार करता है कि हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख ढँक गया है।[13] भोग-संलग्न आडम्बरपूर्ण जीवन को जीने वाले पुरुष की आयु भी कम हो गई। सौ या सौ वर्ष से भी अधिक जीने वाला 'पुरुष' वैदिक पुरुष था,[14] ऐसा पुरुष भोगासक्त होकर 'मनुष्य' मात्र रह गया।[15] इस 'नाति दीर्घ' जीवन के प्रति, उसके भोगों के प्रति, विरति का स्वर नचिकेता ने मुखरित किया था।

उपनिषद-काल के 'पुरुष' के दोनों रूपों को स्वीकृति प्राप्त हो गई। वैदिक विराट् पुरुष को 'परात्पर दिव्य पुरुष' मान लिया गया और तत्कालीन 'पुरुष' को नाम-रूप युक्त 'अंगुष्ठ-पुरुष'।[16] कर्म, प्रेय, अज्ञान और अमुक्त का सम्बन्ध अंगुष्ठ पुरुष से हो गया और त्याग, श्रेय, ज्ञान तथा मुक्त का सम्बन्ध विराट् पुरुष से। पुरुष के इस बौने रूप को महत्तम एवं विराट् रूप में उभारने का प्रयास ही उपनिषद् ग्रन्थ करते हैं। सारा मुण्डक उपनिषद् कर्मबद्ध पुरुष के मुक्त पुरुष तक आरोहण की कथा है। सारे ही उपनिषद् ससीम को असीम बनने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इन्द्र ने माया द्वारा पुरुष को यह ससीम रूप दे दिया था,[17] पर इस माया से मुक्ति सरल न थी। 'पुरुषान्न परं किंचित्'[18] में पुरुष-महिमा को ही पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु न तो यह कार्य सरल था न सर्वजन बुद्धि-गम्य। इस अंगुष्ठ मात्र पुरुष का बोध भी ज्ञानियों के लिए ही

---

१. ऐतरेय ३३।३।१५
२. शतपथ ५।१।६।१०, ५।२, १।१०
३. तैत्तिरीय २।२।२।१, ३।३।३।५
४. ऐतरेय ७।१३
५. वही ४।२७।५,६
६. शत० १३।१।६।६, ३।५।१।११, ६।५।१।१० आदि
७. ऐत० ३।२३, गोपथ २।३।१६
८. वृहदारण्यक ४।४।२२
९. श्वेता० ४।६
१०. वही ४।७
११. अथर्व ३।२४।५
१२. ईशा० १
१३. वही १५
१४. कौषीतकी ११।७, शत० १।६।३।१६
१५. कठ १।२।३
१६. मुण्डक ३।२।८, श्वे० ३।१६, कठ २।१।१२, २।३।१७
१७. वृह० उ० २।५।१६
१८. कठ १।३।११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभव रह गया। वे ही विराट् के इस बौने रूप को देख सकते थे। इसका ज्ञान-मात्र ही मुक्ति का साधन बन गया।[1] तात्त्विक-एकत्व-बोध मात्र से ही तो वामन, विराट् नहीं बन सकता था।

जिस प्रकार पुरुष और दिव्य-पुरुष का सम्बन्ध, लघु और महत् के सम्बन्ध का द्योतक बना, उसी प्रकार नर-राष्ट्र के भौतिक स्वरूप में प्रजा और राजा का सम्बन्ध भी लघु-महत् आधार पर प्रतिष्ठित हुआ। अंगुष्ठ पुरुष की महत्ता दिव्य पुरुष के साथ एकात्मता में है, अतः प्रजा की महत्ता राजा और राष्ट्र के साथ एकात्मता स्थापन में विहित हो गई। राजा और राष्ट्र जितने महान् एवं विराट् हैं उसकी प्रजा भी उतनी ही महान् और विराट् होगी, औपनिषदिक दर्शन का यह राजनैतिक रूप उत्तरोत्तर विकसित होता गया। यह तथ्य अधिक महत्त्व-पूर्ण नहीं बन सका कि राजा कैसे चुना या बनाया जाता था, उसे क्या-क्या प्रतिज्ञायें करनी पड़ती थीं, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह उभरा कि पुरुष के विराट् रूप का लौकिक प्रतीक राजा बन गया, उसे 'महती देवता' कहा गया तथा वह अपने विराट् स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ का आश्रय लेने लगा। ब्रह्मचर्य और तप[2] द्वारा राजा राष्ट्र की रक्षा अवश्य करता था, किन्तु उसके पौरुष का दर्शन[3] तो युद्ध में दिखाई पड़ता था। पौरुष के विराट् स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए ही वह साम्राज्य और सार्वभौम राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील एवं लक्ष्य-निष्ठ रहता था।[4] प्रजा का ससीम पौरुष राजा के असीम पौरुष में पुंजीभूत होकर विराट् का लौकिक रूप व्यक्त करता था।

सूत्र काल में श्रौत, पाक एवं संस्कार सहित महायज्ञों द्वारा यज्ञ को भी जीवन-व्याप्त विराट् आकार प्रदान किया गया। पुरुष 'यज्ञमयोऽयं पुरुषः' बन गया। श्रौत, गृह्य एवं धर्म सूत्रों ने ससीम पुरुष को सामाजिक, नियम-बद्ध, अनुशासित एवं पूर्णतः लौकिक पुरुष में ढाल दिया। यज्ञों का विराट् स्वरूप विशाल जनसामाज को प्रभावित कर सकता था।[5] पौरुष के विराट् स्वरूप को व्यक्त करने के लिए ही साधकों में महावीर और बुद्ध ने आरम्भ में कृच्छ्र-तप द्वारा जनसमाज के समक्ष त्याग और तप का उदाहरण प्रस्तुत किया था। लोकासक्त और लोक-विरक्त 'पुरुष' के द्विविध विराट् रूपों की तत्कालीन अभिव्यक्ति औपनिषदिक आरोहण कथा से भिन्न नहीं है। पुरुष की मनुष्य रूप में परिणति उसके और परिसीमन की कथा है। विधि-निषेध का पालक 'पुरुष' भ्रम, प्रमाद, इन्द्रिय-दोष और विप्रलिप्सा से युक्त होने के कारण और भी अप्रामाणिक तथा संकुचित बन गया। 'पुरुष' का यह रूप एक तीसरे और निम्न-स्तर तक पहुँच गया और विविध दर्शनों ने उसका वर्गीकरण—जीव, ईश्वर और दिव्य-पुरुष (ब्रह्म) के रूप में करते हुए 'जीव' को उस निम्न-स्तर की संज्ञा प्रदान की।

सांसारिक कर्म (संघर्ष)-निरत एवं उससे उत्पन्न कर्म फल का भोक्ता जीव तो दुःखी होता ही है। दुःखानुषंगी होने के कारण सांसारिक सुख भी दुःखमय है।[6] अतः दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति के अन्वेषण में ही भारतीय दर्शनों का विकास हुआ। दर्शन की इस चिन्तन-धारा से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि जीव-स्तरीय पुरुष अत्यन्त दुःखी था। वेदान्त के अनुसार शरीरेन्द्रिय का अध्यक्ष, कर्मफल का भोक्ता एवं अविद्यामूलक अहंकार से युक्त पुरुष ही जीव है। सांख्य का प्रकृतिबद्ध पुरुष ही जीव है। योग ने जीवात्मा और परात्मा पुरुष के मध्य ईश्वर को नहीं भुलाया। न्याय ने आत्मा को शरीरेन्द्रियादि से पृथक् तत्त्व ही माना।[7] तर्कपरक होते हुए भी शरीर, इन्द्रिय, विषय, ज्ञान सम्बन्धी तथा सुख-दुःख नामक इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक

१. वही २।२।८, २।३।८ श्वे० ३।८,९,१२
२. अथर्व ५।१।७
३. ऋक् ६।७५।१
४. ऐतरेय अध्याय ८
५. द्रष्टव्य-शांखायन श्रौतसूत्र।
६. तर्क भाषा-पृ० २३२
७. न्या० १।१।९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवृत्ति को ही अपवर्ग कहा। वैशेषिक तो आत्मेतर पदार्थों के ज्ञान पर ही आत्मा के ज्ञान को निर्भर मानता है। इन सभी दर्शनों ने आत्मा को चेतन तत्त्व ही मान कर उसका विवेचन किया है। भौतिकवादी चार्वाकों ने शरीर को ही सब कुछ मानते हुए भी 'चैतन्य विशिष्ट-कायः पुरुषः' चेतन तत्त्व को अस्वीकार नहीं किया है। जैन दर्शन ने भी सांख्य की भाँति कर्मास्रव लिप्त जीव की पृथक्-पृथक् सत्ता ही मानी है। बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद भी चेतना-प्रवाह का अस्तित्व स्वीकार करता है। अत्यन्त परवर्ती काल का शैव-दर्शन भी चिति के विराट् पुरुष शिव को ही महत्ता प्रदान करता है। प्रायः सभी दर्शनों का जीव चैतन्य-विशेष है। परम चेतन की स्थिति-प्राप्ति को ही वह कैवल्य या मुक्ति या परम पुरुषार्थ मानता है। इन सभी दर्शनों का लक्ष्य एक ऐसी स्थिति के अन्वेषण का प्रयत्न करना है जहाँ सांसारिक दुःख सह्य एवं उपेक्षणीय बन सके। संघर्ष जन्य दुःखों को वह खिलाड़ी की भाँति उत्साह के साथ झेल सके। इसके लिए उसे पुनः पुरुष के चैतन्य-स्वरूप को ही आधार बनाना पड़ा। सभी जीवों के लिए समान आधार पर समान निदान का निर्देश किसी तात्त्विक-साम्य के बिना संभव भी नहीं था। पृथक्-पृथक् शरीर के निदान की अपेक्षा उन्होंने सर्वव्यापक चैतन्य को पकड़ कर दुःख निवृत्ति का समवेत उपाय बताना अधिक सुकर समझा। जीव की स्वचैतन्य में स्थिति या चैतन्य-बोध एक ऐसी उपलब्धि है जिसमें सांसारिक भिन्नताएँ एवं बाधाएँ अवरोध नहीं उत्पन्न कर सकतीं। वेदान्त का जीवन्मुक्त और गीता का अनासक्त एक ऐसी स्थिति-प्राप्त व्यक्तित्व है, ऐसी ही स्थिति की उपलब्धि बुद्ध और जिन भी करते हैं। यह स्थिति जीव का साध्य है। स्वयं के महत् चैतन्य या विराट पुरुषत्व का बोध प्रथम स्तर था और उस स्वरूप की उपलब्धि एवं उसमें स्थिति द्वितीय या सिद्धि-स्तर था।

गीता ने क्षर और अक्षर अथवा जीवात्मा और परमात्मा या पुरुष और पुरुषोत्तम के रूप में पुरुष के द्विविध रूप को स्वीकार किया है। पुरुष के स्वभाव का विश्लेषण करते हुए गीता ने उसे भी दैव और आसुर स्वभावनिष्ठ वर्ग में विभाजित किया है।[1] पुरुष श्रद्धामय है,[2] गुण, प्रवृत्ति और स्वभावगत वैषम्य ही उसे भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों में श्रद्धालु बनाते हैं। गीता के अर्जुन का विषाद पौरुष के आवृत रूप को ही व्यक्त करता है। उसके विषाद के मूल में लोक-संग्रही भाव का अभाव था। वह राज्य-सत्ता को अपने और अपने परिजनों के लिए सुखोपलब्धि का साधन मानता था।[3] श्रीकृष्ण ने 'विराट-पुरुष' का दर्शन कराकर अर्जुन की ससीमता को और अधिक स्पष्ट कर दिया है।[4] गीता ने 'विराट-पुरुष' को ही 'पुरुषोत्तम' विशेषण दिया है, इस रूप के अव्यक्त होते ही स्वयं श्रीकृष्ण के स्वरूप को गीता ने भी 'मनुष्य' ही कहा।[5]

आदि कवि वाल्मीकि को उत्तम पुरुष की खोज थी, जिससे वह एक आदर्श-चरित्र का निर्माण कर सकें। नारद से उन्होंने पूछा कि इस लोक में गुणवान् और वीर्यवान् कौन है।[6] नारद ने संक्षेप में राम का जो चरित्र प्रस्तुत किया,[7] वह एक तत्कालीन उत्तम पुरुष का चरित्र था। उत्तम पुरुष की धारणा राम के चरित में व्यक्त हुई है। ऐसा पुरुष गम्भीरता में समुद्र और धैर्य में हिमवान् होता है। उसके समस्त गुण उदात्त होते हैं और वह बलवान् तथा पराक्रमी होता है। वह यशस्वी होता है, जिसकी यशःगाथा कवियों के गान का विषय बने।[8] लोक-संग्रही होने के कारण ही राम को

१. गीता १५।१६-१९
२. वही १६।६
३. वही १७।३
४. वही १।३३
५. गीता-अ० ११
६. वही ११।५१
७. वाल्मीकि रामायण १।१।३-१६
८. वही १।१।१७-९८
९. वही १।२।४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैथिली तक का त्याग करना पड़ा।[1]

पुरुषार्थ का स्वरूप रामायण काल से महाभारत काल तक कितना परिवर्तित हो चुका था यह दोनों के अन्तर से प्रतीत होता है। रामायण काल में राज्य-सत्ता का उद्देश्य लोक कल्याण था जब कि महाभारत काल में वह व्यक्तिगत सुखोपलब्धि का साधन बन गई थी। ऐसे स्वार्थ-परायण युग में भी व्यास को यह विस्मृत नहीं हुआ था कि इस धरा पर मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।[2]

राम वैदिक परम्परा के कर्मशील पुरुष श्रेष्ठ थे। जिन विरक्त परम्परा के थे। बुद्ध मध्यमार्गी थे, परन्तु कृष्ण ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वयकर्त्ता थे; गीता से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। राज-सत्ता, राजा एवं प्रजा के साथ उनके सम्बन्धों का जो विकास परवर्ती काल में हुआ, उसका आधार-स्रोत रामायण वर्णित व्यवस्था थी। बुद्ध से प्रभावित अशोक स्वयं चक्रवर्तित्व में विश्वास रखता था। सामन्तवादी-व्यवस्था से उसका शासन भिन्न नहीं था। राजा के प्रति सैनिकों एवं प्रजा का भाव उसे दिव्य-पुरुष मानना अस्वीकार कर चुका था, अन्यथा कौटिल्य को राजा के लिए न लड़ने वाले व्यक्तियों या सैनिकों को नरक का भय न दिखाना पड़ता।[3] राजा भर्त्ता या स्वामी मात्र रह गया था। राजा का पुरुषार्थ, यश एवं पराक्रम उसका व्यक्तिगत विषय था। प्रजा उसमें अपनी समवेत शक्ति का विराट रूप देखने में असमर्थ हो चुकी थी, यही कारण है कि वीरता-प्रदर्शन भी व्यक्तिगत विषय बन गया था।

श्री अरविन्द घोष ने वाल्मीकि, व्यास और कालिदास को प्राचीन भारत के इतिहास का अमृत-स्रोत कहा है। इनकी दृष्टि में कालिदास राष्ट्रीयता के सूत्रधार थे[4]। वाल्मीकि को आदर्श-चरित राम में मिला और कालिदास को रघुवंशियों में। कालिदास के अनुसार वे दान करने के लिए धन-संग्रह करते थे, मितभाषी थे, यश के लिए विजय की कामना करने थे, शैशव में विद्या का अभ्यास करते थे, यौवन में संसार के भोगों का आनन्द लेते थे, बुढ़ापे में तप करते थे और अन्त में योग से शरीर त्याग करते थे। विवाह का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति ही समझते थे[5]। ये श्रेष्ठ पुरुषों के गुण थे। इन गुणों से युक्त रघुवंश के विविध राजाओं का चरित्र उन्होंने प्रस्तुत किया, किन्तु जब वे विलासी अग्निवर्ण का वर्णन करने लगे तो संभवतः उन्हें उस मूल प्रेरणा का स्मरण हो आया, और रघुवंश काव्य की समाप्ति हो गई।[6]

कालिदास की दृष्टि में भी हरि ही एक मात्र पुरुषोत्तम थे।[7] इनका स्मरण मात्र ही पवित्र करने वाला है।[8] कालिदास ने केवल दशरथ को पुरुष और राम को पुरातन पुरुष कहा है।[9] राम को ही वह हरि भी कहते हैं। शेष सभी रघुवंशियों को वह क्षितीश, नृप, नृपति, राजा, पार्थिव, ईश्वर आदि शब्दों से ही व्यक्त करते हैं, पुरुष या पुरुषोत्तम शब्द से नहीं। ये सभी यश और धन के इच्छुक हैं। दिलीप तक को अपने यशःशरीर की अधिक चिन्ता है।[10]

पुरुषार्थ प्रवर्तिनी प्रकृति होती है और उस प्रकृति को देखने पहचानने वाला ही पुरुष है।[11] काम की उक्तियाँ कालिदास ने जन-विलासिता की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रस्तुत की हैं।[12] शिव जैसे जितेन्द्रिय का तप भी काम ने भंग कर दिया था। रूप-गर्विता पार्वती को भग्न-मनोरथा दिखाकर भी कालिदास ने उसे मनस्विनी कह कर फलोदय तक प्रयत्नशील प्रस्तुत किया है। वस्तुतः

---

१. वही उ० ।९७।४
२. न हि मानुषात्श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्। म० भा०
३. कौटिल्य १०।१३ 'नवंशरावं...'
४. राष्ट्रकवि कालिदास-पृ० २५
५. रघुवंश १।७-८
६. द्रष्टव्य-रघुवंश सर्ग १९
७. रघुवंश ३।४९
८. रघु० १०।२९
९. वही ९।१६,११।८५
१०. वही-२।५७
११. कुमार संभव २।१३
१२. वही ३।३-१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईप्सितार्थ के लिए कृत-निश्चय मनुष्य ही मनीषी या मनस्विनी है।[1] पुरुष और पुरुषार्थ के स्थान पर मनस्वी और मनस्विता का प्रयोग धारणा-परिवर्तन का ही द्योतक है। धर्म और मोक्ष का साधक पुरुषार्थी है तथा अर्थ और काम का साधक मनस्वी। मन की प्रवृत्ति निम्नाभिमुखी हो सकती है जैसे जल की। दृढ़-संकल्प उत्तम और अधम दोनों प्रकार के लक्ष्य के लिए हो सकता है। मनोरथ के लिए अवरोध तो है ही नहीं।[2]

गीता में मनुष्य के दो रूप कहे गये हैं—श्रेष्ठ और लोक। एक अनुकरणीय है दूसरा अनुकर्त्ता। मनुष्यों में पौरुष ही विराट पुरुष का प्रतीक था।[3] कालिदास के समय इस पौरुष का प्रतीक था—समुद्रवसना पृथ्वी और नारी।[4] षष्ठांशवृत्ति राजा का कार्य शान्तिकाल में दुष्टों को दण्ड, विवाद का निबटारा और प्रजा का रक्षण था। सत्पुरुष बनने का अर्थ था परोपकार करना मात्र या सद्वस्तु का आदर करना। यद्यपि सामान्य-जन का लक्ष्य श्रद्धा (पत्नी), धन (पुत्र) और क्रिया (पति) मात्र था, पर बुद्धिवाद का अभ्युदय कालिदास-युग की विशेषता थी।[5] इस बुद्धिवाद की स्वाभाविक परिणति अर्थ और काम की सिद्धि के लिए ही होती है। फलस्वरूप पुरुष का एक 'नायक' स्वरूप उभरा जो सुन्दरी नारी के चरणों में पड़ा उसका दास प्रतीत होता है।[6] काम के साथ प्रीति, कृत्रिम-प्रेम, दूती, कातरता तथा प्रणय-निराशा में आत्महत्या का घनिष्ठ सम्बन्ध है।[7] राजा का पुरुषार्थ युद्ध-विजय और नारी-हरण था तो प्रजा का जातिगत कर्त्तव्य-निभाना।[8] डाका डालना भी एक वर्ग का कार्य बन गया था और राज्य में शान्ति इसलिए काम्य बन गई थी, जिससे ऐश्वर्य मत्त एवं विकार-मूर्छित काम-सिद्धि कर सकें।[9] लोकानुग्रह श्लाघनीय अवश्य था पर राजा और वित्तेश प्रजा का मूल लक्ष्य पुरुषार्थों में काम ही रह गया था।[10] नायक का यह रूप मधु-लोलुप मधुकर का ही था। पर-पुरुष संकीर्तन के श्रवण को भी अयुक्त मानने वाले भास की नारी से भिन्न स्थिति थी कालिदास के नारी की भी। लोकवाद कितना[11] उपेक्षणीय बन गया था, यह कालिदास की सीता के कथन से स्पष्ट है।[12]

कालिदास के बाद किसी भी कवि ने चक्रवर्तित्व की कल्पना नहीं की; रामचरित प्रस्तुत करने वालों में उसकी ध्वनि नहीं, प्रतिध्वनि मात्र है। कवियों ने स्पृहणीय गुणों से युक्त महात्माओं के चरित-वर्णन में मन भले ही लगाया हो।[13] सातवीं शती के अन्त में विद्यमान भट्ट-नारायण ने 'मदायत्तं तु पौरुषम्' जैसी कर्ण की उक्तियों में जाति एवं कुल से परे व्यक्तिगत पौरुष को खूब उभारा है।[14] हर्ष के बाद भारत में कोई विशाल राज्य था नहीं। सामंतवादी व्यवस्था में सम्राट् या चक्रवर्ती की

---

१. वही ५।५
२. वही ५।६४
३. गीता- ३।२१,७८
४. शाकुन्तला ३।१८
५. वही ५।८,५।१२,विक्रमो० १।२ शकु० ७।२९ माल० १।२
६. माल० ४।१४, विक्र० ४।६८, माल० ३।२०, शकु. १।२०,३।१० विक्र० २।३।, ३।७, माल० ३।२२, ४।१० आदि।
७. ऋतु० ३।२८, उ० मेघ ५५, माल० ३।३, ३।१४, ४।५, ३।५
८. माल० ५।२, शाकु० ६।१
९. माल० ५।१०, ५।२०, शाकु० ५।१८, विक्र० ५।२५ ऋतु० २।२९
१०. शाकु० ७।३४-३५, ३।१०
११. वासवदत्ता, भास नाटक चक्रम पृ० १८ अन्य स्थल-प्रतिज्ञा यौगन्धरायणं १।११ चारुदत्त भा० ना० च० पृ० १९७
१२. रघु० १४।३१
१३. किरातार्जनीय २।३४
१४. वेणीसंहार ३।३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पना की अपेक्षा पौरुष के नये मानदण्डों की स्थापना सरल थी। भागवत का 'मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्'[1] पुरुषादर्श कालिदास द्वारा स्थापित आदर्श से भिन्न नहीं है। योद्धाओं में योद्धा, मनुष्यों में राजा और स्त्रियों में मूर्तिमान् कामदेव; यह था वैदिक विराट पुरुष का सामन्ती व्यवस्था में रूप।

काम कथा रत व्यक्तियों के लिए धर्मकथा कुनैन से भी कड़वी लगती है। धर्मोपदेशकों के लिए यह एक बड़ी समस्या थी। वसुदेव हिण्डीकार ने शृंङ्गार कथा के आवरण में धर्म कथा का समावेश कर जनता को आकृष्ट करने का प्रयास किया।[2] प्राकृत एवं अपभ्रंश कथा-काव्यों ने इसी परम्परा का अनुसरण किया, क्योंकि ये अधिकतर जैन धर्म से संबद्ध हैं। कादम्बरी, नैषध और नलचम्पू जैसी संस्कृत कृतियां रस-कथा प्रस्तुत करती हैं,[3] जबकि कुवलयमाला, लीलावती कथा जैसी प्राकृत-कृतियाँ कामोत्थ-धर्मोत्थ होने के कारण संकीर्ण कथायें हैं।[4] सामन्तवादी व्यवस्था के ये सभी सुपुरुष चरित हैं;[5] कालिदास के अनुसार ये सभी उदात्त नायक हैं। जम्बु-चरिय कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञाता को ही पुरुष मान लेता है।[6]

स्वयंभू ने पउमचरिउ में सामन्तवादी पुरुष के युद्धवीर एवं धर्मवीर रूप को ही उभारा है। रण रस लोभी अनावृत यश, यशलोभी रावण, 'कलि-कलुष-सलिल षोषक पतङ्ग' लक्ष्मण, जैसी उक्तियों से पुरुष के उदात्त रूप के दूसरे पक्ष को प्रमुखता दी है।[7]

जैन-रास परम्परा में सुपुरुष वह है, जो गुरु से बोध प्राप्त करे, सत्य बोले, परिवाद से दूर एवं उसे नष्ट करने वाला हो, मोक्ष-मार्ग का वक्ता एवं श्रोता हो।[8] जैन-परम्परा ने चार आर्य-सत्यों के ज्ञाता को ही त्रिभुवन में महाभट माना और निर्ग्रन्थ को ही महावीर। सिद्धि के लिए किया जाने वाला संघर्ष ही महारण है और सिद्धि-प्राप्ति ही महा विजय। ऐसा सिद्ध ही पुरुष है।[9] इस दृष्टि में कभी परिवर्तन नहीं हुआ।

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक काल भी सामन्तवादी था। राहुलजी ने सिद्धों और सामन्तों के द्विविध दृष्टि-कोणों के आधार पर ही इस काल को सिद्ध-सामन्तकाल कहा है। चंद का 'पृथ्वीराज रासो' चली आती हुई 'पुरुष' सम्बन्धी धारणाओं को ही व्यक्त करता है। चंद की दृष्टि में पृथ्वीराज सामंतसूरों में अद्वितीय और आदर्श पुरुष थे। सामंती आदर्श के अनुसार पुरुष को वीर, राजा और कामदेव का अवतार होना चाहिए—

सामंत सूर प्रथिराज सम भयो न को रवि-चक्क तर।
पृ० रा० १६।२४८

अवतार भूप प्रथिराज पहु। पृ० रा० १।६
कामदेव अवतार हुअ। पद्मावती समयो।

इस रासो के तैंतीसवे समयो में पृथ्वीराज के सौन्दर्य का भी वर्णन हुआ है।

चंद ने सामन्ती व्यवस्था में निहित राजा, सामंत और सैनिकों के आदर्श को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। महाभारत, कौटिल्य-व्यवस्था और कुछ पौराणिक तथ्य ही उनके प्रेरक स्रोत थे। इन्हीं के आधार पर उन्होंने स्वामि-धर्म की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया था।[10] राष्ट्रीयता के अभाव में उन्होंने सामंत-सैनिकों के

---

१. भागवत ७।४३।८०
२. प्राकृत साहित्य का इतिहास पृ० ३६४
३. कादम्बरी कथा मुख ८, नैषद १।२, नलचम्पू १।२५
४. कुवलयमाला पृ० ४ लीला० पृ० १।२
५. सुव्वह सुपुरिस चरियं.....कु० मा० पृ० ४
६. कज्जाकज्जाइं जाणई पुरिसो। ज० च० २।३२।२६
७. पउमचरिउ ६।८।२।३७।१।१, १५।१०।६, २२।४।४
८. उपदेश रसायन रास, ४
९. मयण पराजय चरिउ २।५, २।१
१०. द्रष्टव्य—मेरा लेख—पृथ्वीराज रासो एक पौराणिक महाकाव्य—कुरुक्षेत्र युनिवर्सिटी रिसर्च जरनल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समक्ष यही आदर्श उपस्थित किया और रण-मरण की प्रेरणा दी—

जीविते लभ्यते लक्ष्मी मृते चापि सुराङ्गना ।
क्षणे विध्वंसिनी काया का चिन्ता मरणे रणे ।

इस आदर्श पर चन्द ने 'श्रेष्ठ पुरुष' की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है, उनमें अल्प-जीवन एवं कीर्ति को ही प्रमुखता दी है—

मरना जीना हक्क है, जुग्ग रहेगी गल्हां ।
सा पुरुषां का जीवना, थोड़ा ही है भल्हां ।।
पृ० रा० ६४।१६८

संसार अथिर सामंत मत । पृ०रा० ६६।६८३ पद

विद्यापति ने कीर्तिलता और कीर्ति पताका में 'पुरुष' की कहानी ही कही है ।[1] कीर्तिलता में उन्होंने वीर पुरुष का लक्षण बताते हुए कहा है कि वह लब्ध-कीर्ति, संग्राम में सूर, धर्म परायण, अदीन, सानन्द होता है । जिसकी सम्पत्ति का उपभोग सुजन करते हैं, वह गुप्त दानी होता है। वैसे तो पुरुषोत्तम सदृश ही पुरुष होता है, केवल जन्म मात्र से नहीं। यशस्वी, यशार्जन में सक्षम ही पुरुष है ।[2]

विद्यापति की पदावली यद्यपि मुक्तक एवं शृंगारी रचना है, परन्तु उसका नायक तो 'सुपुरुष' है, अतः अनेक स्थलों पर उनकी पुरुष सम्बन्धी धारणा व्यक्त हुई है—

(क) सुपुरुष वचन पषान क रेह । पदा० ८०।।
पुरुष लाख एक लखवा पारिअ ।। पदा० ७६ ।
वैभव गेला रहत विवेक । तैसन पुरुष लाख मँह एक।
पदा० १४६ ।

सुपुरुष सञो नेह विद्यापति ओल धरि हो निरबाहे ।
पदा० २३१।

(ख) पुरुषक चंचल सहज सुभाव । पदा० ६२।।
एके मधुयामिनि सुपुरुष संग । पदा० ८०।।
सुपुरुषे पाओल सुमुखि सुनारि रे । पदा० १०।।[3]

विद्यापति के 'सुपुरुष' का जो प्रणयी रूप उनकी पदावली में व्यक्त हुआ है, उसमें भी वह लाखों में एक, वचन का पक्का, नागर और भागवत के अनुसार ही स्त्रियों के मध्य कामदेव है ।

चिन्तन एवं शोध का यह भी एक आनन्ददायक विषय हो सकता है कि गृह त्यागी सिद्धों एवं सन्तों की वाणी में पुरुष तो रव-सम ठीक ही रहा, पर जीव ने पतिव्रता नारी का रूप कैसे प्राप्त कर लिया ? किस सीमा तक सूफियों का प्रभाव है और किस सीमा तक सामन्ती-धारणाओं का ? विद्यापति की प्रणय-कथा भी अकथ-कथा है और कबीर की प्रेम कथा भी ।[4] विद्यापति की नारी चंचला भी है और कुल कामिनी भी, पर कबीर की यह नारी पतिव्रता और सदा सुहागिन है ।[5] सन्तों में भी पुरुष, प्रिय एवं प्रेम का विषय बन ही गया है ।

सूफी कवि जायसी ने तो 'पुरुष' के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा का यथातथ्य वर्णन करते हुए इसके व्यक्तित्व

---

१. सुपुरिस कहनी हौं कहउँ । की० लं० १ । पंक्ति ३६.
२. कीर्तिलता—१। पं० २७-३३
३. पद संख्या—विद्यापति पदावली, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना—की हैं ।
नागर-नागरी रूप के लिए द्रष्टव्य पद—२१,७१,७७ ८८, १६४ आदि ।
४. पाछिलि कथा अकथ कथा । पदा० २१
अकथ कहाणी प्रेम की । कबीर ग्रन्थावली पृ० १२०
बरउदे दिलम नबाख्त यक जमजमां इश्क ।
जां जमजमा अमजे पाये ता सर हम इश्क ।। जामी ।
ईरान के सूफी कवि—पृ० ४००
५. जो पै पतिव्रता है नारी ।
कैसे ही रहौ सो पियहि पियारी ।
तन मन जीवन सौंपि सरीरा ।
ताहि सुहागिन कहै कबीरा ।।
कबीर ग्रं० पृ० ११५ ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को स्पष्ट आकार दे दिया है। पुरुष या सुपुरुष सम्बन्धी उनके विचार सारे पद्मावत में बिखरे पड़े हैं—

साहस जहाँ सिद्धि तँह होई। पद्मा० १४।१।३।
राजै दीन्ह कटक कंह बीरा। सुपुरुष होहु करहु मन धीरा।
प० १५।८।१

धन्नि पुरुष अस नवै न नाए। औ सुपुरुष होइ देस पराए।
प० २६।४।७

एक ही स्थल पर पुरुष की अनेक विशेषताओं का उल्लेख करते हुए जायसी ने कहा है कि उच्च हृदय एवं साहस के साथ उन्नति पथ पर अग्रसर होने वाला ही पुरुष है और बार बार फिसलने पर भी उन्नति का पथ नहीं छोड़ता—

पुरुषहिं चाहिय ऊँच हियाऊ। दिन दिन राखै ऊंचै पाऊ॥
सदा ऊँच पै सेइय बारा। ऊँचे सो कीजिय बेवहारा॥
ऊँचै चढ़ै ऊँच खंड सूझा। ऊँचे पास ऊँच कति बूझा॥
ऊँचै संग संगति नित कीजै। ऊँचै काज जीव पुनि दीजै॥
दिन दिन ऊँचे होइ सो, जेहि ऊँचे पर चाउ।
ऊँचे चढ़ता जो खसि परे, ऊँच न छाड़िय काउ।
पद्मा० १६।५

हिन्दी के पूर्व मध्यकाल में प्रकृति और पुरुष के प्रेम का जो रूप विद्यापति ने प्रस्तुत किया उसमें कुपुरुष के लिए भी अवकाश मिल गया।[1] सुपुरुष वह है जिसका प्रेम सोने की भांति खरा हो, कुपुरुष वह जिसका प्रेम खोटे सिक्के की भांति है।[2] पुरुष छैला बन गया और उसका नया नामकरण हुआ 'नागर' और नारी बनी 'नागरी'। ये नागर-नागरी चौसठ कला मर्मज्ञ थे और कान्ह तो अतिनागर थे ही।[3] नागर-नागरी के रूप में पुरुष और प्रकृति का जो रूप उभरा उसने पुरुषोत्तम कान्ह और प्रकृति-शक्ति राधा का रीतिकालीन रूप प्रस्तुत किया। प्रेमा भक्ति की प्रतिष्ठा इन सम्बन्धों को एक दार्शनिक धरातल प्रदान करना था।[4]

सौलहवीं शती के अभिनव कालिदास ने अपने भागवत चम्पू में कृष्ण का जो रूप प्रस्तुत किया है, वही मानो भागवत का रीतिकालीन अवतरण है। कृष्ण पुरुषोत्तम तो हैं किन्तु 'मायिक मनुष्यवेषभृत्' होने के कारण ही वे 'जारनाथ' बन गये हैं। गोपियां 'जारदयिता' बन गई हैं। कृष्ण 'भोगिनाथ' हैं और गोपियां 'भोगिन्यः'[5] कवि ने इसे 'कृष्ण वर्त्म' कहा है और उसका उत्तान-शृंगार-वर्णन रीतिकालीन कवियों को बहुत पीछे छोड़ गया है। भागवत की भी मर्यादा संभवतः यहां टूट गई हैं।[6] उषा-अनिरूद्ध के प्रणय को लेकर वाणासुर के साथ होने वाले युद्ध के समय कवि ने कहा है कि 'माहेश्वर ज्वरं हन्तुं भगवान वैष्णव ज्वरं। विनिर्ममेतयो रासीद् युद्धमद्भुत कर्मणोः।'[7] यह 'कृष्ण वर्त्म' वैष्णव ज्वर था और रीति-साहित्य वैष्णव-ज्वराक्रान्त 'पुरुष'-पथिक की कृष्ण वर्त्म पर नागर बन कर यात्रा थी।

तुलसीदास ने रामचरित मानस में राम को पुरुषोत्तम

---

१. प्रकृति परेषिअ सुपुरुष प्रेम। पदा० २२
२. सुपुरुष पेम हेम अनुमानि। पदा० ९६,
हृदय कपट मुखेकरहिं पिरीति। पदा० १३४
सपनेहुजनु होहु कुपुरुष संग। पदा० ११२
जउ कुपुरि भत्तारू। रस-विलास ३१
३. तोहर छैलपन निन्दत आन। पदा ११३
नागर हो से हेरितहि जान,
चौसठि कला क जाहि गिआन। पं० १४।
से अति नागर गोकुल कान्ह। पदा० १०९।
नागर गुणे नागरि रति बाढ़ी। पदा० ७१।
४. सर्वथा ध्वंस रहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद् भाव बन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः।
उज्जवल नीलमणि, पृ० ४१८।
५. भागवत चम्पू ३। ४३,३।९३,६।१३१, स भोगिचूड़ा-
मणि रेष नाथो वयं च भोगिन्य इति प्रतीतिः।
भा० च० २।७८
६. भाग० च० ४।४७, ३।५०-११५ तुलनीय भागवत
१०।३३ के वर्णनों से।
७. भाग० च० ५।३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म के रूप में ही सामने रखा। सती-मोह के प्रसंग को उन्होंने सतर्कता के लिए ही प्रस्तुत किया था[1]। राम की नर-तनु-लीला से कोई भ्रान्ति न उत्पन्न हो जाय अत: वे बार-बार उनके 'ब्रह्मत्व' का स्मरण कराते रहते हैं। तुलसी के 'रामचरित मानस' की लोकप्रियता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि वैदिक-विराट-पुरुष की उसमें पुन: अवतारणा हुई और सामान्य-जनता को यह अनुभूति हुई कि उसे उसका खोया हुआ रूप प्राप्त होगया। इससे उसका आत्मबल जागा। राम के पुरुषोत्तम रूप का दर्शन धनुष यज्ञ के समय दिखाई पड़ता है। वहां 'जाकी रही भावना जैसी' में उनका विराट रूप व्यक्त हुआ है।

गंग कवि ने 'मति विना मर्द अरु नूर विना नारी कहा'[2] तथा 'ग्वाली के रसिक कान्ह काली के दवन जू'[3] में सामन्ती धारणा को ही व्यक्त किया है। कृष्ण-वर्त्मानुयायी कवियों 'किहि रस रसिक ढरै'[4] और चतुर्भुज दास तो रसिक गोपाल को रस के वश में ही मानते हैं।[5] विद्यापति की भांति परमानन्द भी प्रेम-कथा को ही 'अकथ-कथा' कहते हैं।[6] 'नागर' पुरुष परवर्ती रीतिकाल में 'रसिक' पुरुष बन गया। 'कृष्ण वर्त्म' को कवियों ने इतना अधिक आकर्षक पाया कि कुछ ने राम को भी रसिक बनाने में कसर नहीं छोड़ी।

आधुनिक काल का पूर्वार्ध राष्ट्रीयता का और उत्तरार्ध अन्तर्राष्ट्रीयता का है। राष्ट्रीयता में विराट पुरुष का स्वरूप 'राष्ट्र-पुरुष' बना और अन्तर्राष्ट्रीयता में 'विश्व-मानव'। राष्ट्रपुरुष के स्वरूप की अभिव्यक्ति सब से अधिक माखन लाल चतुर्वेदी की कविताओं में हुई। दिनकर की कविताओं में भी राष्ट्रपुरुष की विराटता के दर्शन की ललक है। राष्ट्र-धर्म धर्म का, राष्ट्र-प्रेम काम का, राष्ट्र-समृद्धि अर्थ का और राष्ट्र-मुक्ति, मुक्ति का प्रतीक बन कर पुरुष के पुरुषार्थ को स्पष्ट करते हैं। विश्व-धर्म, विश्व-काम, विश्व-समृद्धि और विश्व-मुक्ति अभी मानव के साध्य हैं। बौद्धिक युग के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के साथ साथ उसके विराट स्वरूप की उपलब्धि का आधार व्यक्ति ही हो सकता है। हिन्दी के एक मात्र प्रसाद जी ने ही वैदिक विराट पुरुष को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में शैव-दर्शन के आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कामायनी में किया है।

यद्यपि 'कृष्णवर्त्म' के प्रेम का आध्यात्मिक पक्ष धूमिल पड़ गया था, किन्तु प्रसाद जी ने शैव दर्शन के माध्यम से उसे पुन: महत्त्व प्रदान किया। नर-शक्ति-शिव का त्रिक कामायनी में अधिक स्पष्ट हुआ है, यह जीव-ब्रह्म की अद्वैतवादी उपनिषद् परम्परा से भिन्न नहीं है। शिव ही चेतन पुरातन पुरुष है, भेद बुद्धिपरक जीव ही नर है, श्रद्धा ही अनुग्रह स्वाभावा पराशक्ति है, वही पूर्ण काम की प्रतिमा है।[7] प्रेम से ही हृदय जाग्रत होता है। पराये में भी अपने पन की अभेद भावना जागती है; यह भेद में

---

१. ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥
रा० च० मा०॥

२. गंग कवित्त ३९६

३. वही १२

४. सूर सागर भाग २ पद ३५

५. रसिक गोपाल रसिक रस रिझवत।
चतु० पद २९६।

६. परमानन्द स्वामी की लीला अकथ कथा नहिं जानी।
परमानन्द सागर ३३७।
परमानन्द प्रेम कथा सबहिन ते न्यारी।
प० सा० १३१२।

७. वह चेतन पुरुष पुरातन, निज शक्ति तरंगायित था।
कामायनी पृ० ७७। तंत्रालोक भाग २ आ० ३।६८
उस ज्योति मयी को देव कहो, कैसे कोई नर पाता है।
का० पृ० ७७
थी पूर्ण काम की प्रतिमा। का० पृ० २९०
तत्र भेद प्रधानो नर:, भेदाभेद प्रधाना शक्ति:,
केवलमभेद प्रधान: शिव इति। परात्रिंशिका विवरण
पृ० ७३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति कराने वाली शक्ति है।[1] चेतन शिव के लीला-विलास को ही विश्व समझ लेने वाले के लिए विश्व-प्रेम और विश्व-कल्याण की ओर उन्मुख हो जाना सरल है। व्यिष्ट से समष्टि-प्रेम की ओर बढ़ना, शिवत्व एवं अपने आनन्दमय स्वरूप की उपलब्धि के लिए आरोहण करना ही है।[2] प्रसाद जी न संसार को दुःखमय मानते थे और न दुःख-नाश के उपाय सोचने को पुरुषार्थ; दुःख-सुख तो इस आनन्दमय विश्व के धूप-छांह मात्र हैं।[3] यह विश्व कर्म रंगस्थल है और दुःख सुख भूमा का मधुमय दान।[4] भेद बुद्धि का त्याग न करने वाला ही शैव दर्शन का पशु है, जिसे शिव की वामाशक्ति जकड़ लेती है।[5]

निष्कर्ष—

इन तथ्यों को ध्यान में रख कर कहा जा सकता है कि वैदिक 'पुरुष' कल्याण-पथ का पथिक, श्रेमाण और गतिशील था, किन्तु उत्तरोत्तर उसका विराट रूप वामन बनता चला गया है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् काल में पुत्र, वित्त और लोकैषणा ने उसे आधा, गृहस्थी, यथाक्रतु तो बना ही दिया है, वह 'अंगुष्ठ-पुरुष' मात्र रह गया है। बौनी प्रजा, राजा में ही अपने विराट स्वरूप का दर्शन करने लगी है। सूत्र काल में पुरुष का सामान्य रूप जीव, भौतिक विराट रूप ईश्वर या राजा तथा स्मरणीय रूप दिव्य पुरुष या ब्रह्म रह गया है। वह यज्ञ-मय होकर रह गया है। जीव दुखी है, वह कर्म फल का भोक्ता है, आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति ही पुरुषार्थ है; साधन कोई भी हो जीवन्मुक्ति ही साध्य है; दर्शनों की इस धारणा ने कर्मजन्य पौरुष का ह्रास कर पुरुष को संसार से पलायन की ओर उन्मुख किया। रामायण में वाल्मीकि ने राजा का उदात्त, गुणवान्, वीर्यवान् और लोक-संग्रही रूप प्रस्तुत कर तत्कालीन समाज के समक्ष एक बार पुनः वैदिक पुरुष के उत्तम रूप को प्रस्तुत किया। महाभारत तक आते आते पुरुष के भौतिक विराट रूप राजा का स्वरूप भी मलिन हो गया। राज्य-सत्ता व्यक्तिगत सुखोपभोग का साधन बन कर रह गयी थी और त्यागपूर्वक भोग का आदर्श ही नहीं लुप्त हो गया था अपितु अर्जुन जैसा वीर भी दिशा एवं लक्ष्य हीन बन कर रह गया था। गीता ने एक बार पुनः विराट पुरुष और मनुष्य के वास्तविक सम्बन्ध को उजागर किया। क्षर-अक्षर, लोक और श्रेष्ठ में भी उसने क्षर और लोक के देव और असुर रूप में दो वर्ग बना दिए। 'नृषु पौरुषम्' ही दिव्य पुरुष के बोध का प्रतीक रह गया। कौटिल्य ने राजा को 'भर्त्ता' बना दिया, फिर सामान्य जीव स्वाभाविक रूप से सेवक मात्र रह गया।

कालिदास की दृष्टि में हरि ही पुरुषोत्तम हैं, शेष क्षितीष, नृपति आदि। पुरुष का रूप 'मनस्वी' बना जो चार पुरुषार्थों में केवल अर्थ और काम का साधक रह गया। समुद्रवसना पृथ्वी और नारी की प्राप्ति ही पुरुषार्थ था, लोक-संग्रही रूप विलुप्त हो गया। जाति, वर्ण एवं सामन्तवादी व्यवस्था से पीड़ित पुरुष का स्वर सातवीं शती में 'दैवायत्तं कुले जन्ममदायत्तं तु पौरुषम्' के रूप में उभरता अवश्य है, पर सामन्ती-व्यवस्था ने इसे व्यक्ति-गत वीरता का प्रतीक बना कर अपने अनुकूल ढाल लिया।

सामान्ती व्यवस्था में आदर्श पुरुष वह था, जो योद्धा, राजा और मूर्तिमान् काम हो। विरक्त वर्ग का आदर्श सिद्ध था। स्वयंभू से विद्यापति तक पुरुष का यही रूप

---

१. प्रति फलित हुई सब आँखें, उस प्रेम ज्योति विमला से।
सब पहचाने से लगते, अपनी ही एक कला से॥
कामा० आनन्द०।

प्रेम-प्रेम सों होय, प्रेम सो पारहि जैए।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैए।
भ्रमर गीत १७। सूर

२. शिव समष्टि का होता है क्योंकि विश्वमय है
विश्वेश रहस्य प्रेम के ये उसके। प्रेम पथिक पृ० २९

३. एक घूंट, पृ० १६, कामायनी पृ० २४१

४. कामा० पृ० ७५, श्रद्धा सर्ग।
यो वौ भूमा तत्सुखम्। छान्दो० ७।२३।
शिवशक्ति सामरस्यमय जगदानन्द रूपम्।
तन्त्रालोक टीका पृ० ८४

५. तन्त्रालोक भा० ८। आ १३।३१४-१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्त हुआ है। विद्यापति के समय पुरुष नागर, नारी नागरी और प्रेमकथा, अकथ कथा बनी। प्रेम में कपटी के लिए 'कुपुरुष' भी प्रयुक्त हुआ। सन्त और सूफी भी इस अकथ-कथा से अप्रभावित नहीं रहे। जायसी ने साहस को, उच्चारोहण को पुरुष के पौरुष का प्रतीक अवश्य माना। तुलसी ने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप को सामने अवश्य रखा। यह निगमागम का प्रभाव था।

'कृष्ण वर्त्म' ने पुरुषोत्तम को मायिक मनुष्य वेशभृत् मान कर पुरुष को भोगिनाथ और नारी को भोगिन्यः बना दिया। इसने पुरुष को रसिक और नारी को रसिकनी बना दिया। माया के आवरण ने पुरुष के आलोकमय रूप को आवृत कर लिया।

आधुनिक काल 'राष्ट्रपुरुष' और विश्व मानव की धारणा को लेकर चला। प्रसाद ने प्रथम बार शिव को पुरातन पुरुष, जगत को उसकी लीला, भेद बुद्धि वाले को नर, आनन्द शक्ति को श्रद्धा या कामायनी तथा श्रद्धा-विहीन को पशु रूप में चित्रित किया। शैव दर्शन के आधार पर उन्होंने प्रेम कला और काम कला को हृदय के विस्तार की प्रेरणाशक्ति के रूप में प्रस्तुत कर उसका रीतिकाल से भिन्न रूप दिखलाया। शिव ही विश्वेश और विश्व मानव है, और शिवत्व की उपलब्धि ही पुरुषार्थ है। प्रसाद का 'पुरुष आलोकमय, मंगलमय, चेतनामय, समरस, अखंड, इच्छा-क्रिया-ज्ञान का केन्द्र विन्दु और आनन्द वेश है। वही कह सकता है—

हम केवल एक हमी हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो,
जिसमें कुछ कमी नहीं है। कामा० पृ २८७
'दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव कहरे! यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता॥
कामा० २८९, अष्टम संस्करण।

प्रसाद ने जिस आरोहणशील पुरुष की अवतारणा की है, वह राष्ट्रीयता की संकीर्ण सीमा से आबद्ध नहीं विश्वमानवता की व्यापक सीमा में व्याप्त वैदिक विराट पुरुष ही है।

हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में चेतना के धरातल पर इस विराट पुरुष के अवतरण के बाद भी यह प्रक्रिया मन्द नहीं पड़ी है। आत्म स्वार्थ और लोक क्षेत्र में ही नहीं राष्ट्र-स्वार्थ और विश्व-कल्याण में अब भी संघर्ष चल रहा है तथा पुरुष की द्विविध प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। पुरुष गतिशील तो है, पर उसकी गति अधः और ऊर्ध्व दोनों ओर ही है। पन्त ने अपने काव्य में इन दोनों प्रवृत्तियों का अत्यन्त स्पष्ट चित्रण किया है। पुरुष को अपने विराट स्वरूप को प्राप्त करने के लिए मनु की तरह प्रचुर संघर्ष करना है। पन्त के ही शब्दों में—

जाति वर्ण गौरव से पीड़ित वर्ग राष्ट्र स्वार्थों में सीमित।
जन समुद्र रे आज अचेतन अधः प्रवेगों से आन्दोलित॥
वार्धक्य।

फ्रायड के से नर-नारी, गत रीति-काव्य में मूर्तित।
उपमन कुंजों में करके, निज काम ग्रंथियां मुंचित॥
लोकायतन पृ. १५२

अचेतन उपचेतन के चित्र, मात्र अति वैयक्तिक उच्छ्वास।
रेंगती कला पंक कृमि तुल्य, अधोमुख कुत्सित बुद्धि विलास॥
लोका० २७८

जाति, वर्ण, वर्ग, राष्ट्र के स्वार्थों से जन-समुद्र पीड़ित है। फ्रायड के अनुयायी कवियों ने अचेतन, उपचेतन के चित्र अंकित करने प्रारम्भ कर दिए हैं। काम ग्रंथियों को कला का रूप देना अधोमुखी बुद्धि-विलास की ही अभिव्यक्ति है। कुण्ठा, संत्रास आदि को पुरुष का पौरुष क्यों सहेगा। आज का मानव नभ-ग्रह चारी बन कर धरा से ऊपर ब्रह्माण्ड के विविध छोरों को स्पर्श करने लगा है। सारा विश्व ही तीव्रता से गतिशील है—

बदलता रभस वेग से विश्व,
मनुज के तन, मन, जीवन, प्राण।
महत् युग चित्रपटी में वेग,
चेतना का अजेय आख्यान॥ लोका० पृ.२५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तो मानव की गति-मति पर निर्भर करता है कि कि वह देव या दनुज बने—

यह मानव मति गति पर निर्भर,
वह हो देव दनुज के आश्रित।

आत्म हीन मानवता त्यों ही,
दानवता की प्रतिमा कुत्सित ।। नव निर्माण ।।

चेतना के धरातल पर ही विराट पुरुष के विराट रूप को प्रस्तुत करना प्राथमिक आवश्यकता है। मानव और मानवता-प्रेमी ही दिव्य-चेतना का सन्देश सुना सकता है।[1] सत्य और अहिंसा ही मानवीय स्पर्श भर सकते हैं; इस लिए पन्त ने महात्मा गाँधी को पुराण पुरुष के रूप में चित्रित किया है—

तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण हे चिर नवीन
पट पर पट उठा दिए मन से
कर नर चरित्र का नवोत्थान।
आए तुम मुक्त पुरुष कहने—
मिथ्या जड़ बन्धन, राम सत्य;
नानृतं जयति सत्यं, मा भैः,
जय ज्ञान-ज्योति तुमको प्रणाम ।।बापू के प्रति।

गा गा एकोऽहं बहुस्याम। बापू के प्रति।

इस नव-पुराण पुरुष ने सत्य अहिंसा का जो पथ दिखलाया, वही शिवत्व की ओर जाता है। आज का सत्याग्रह यही है कि मानवता में देश और जाति लीन हो जाँय।[2] पन्त ने 'प्रेमलय' और 'शक्तिपात' के प्रयोग द्वारा शिवत्व सिद्धि को ही पुरुषार्थ माना है—

जगत नहीं, मैं नहीं,
प्रेमलय में ईश्वर साकार। किरण वीणा।
जब भू मानव होगा संस्कृत,
शक्तिपात से मनः शिराएं होंगी झंकृत ।।
पौ फटने से पहले।

कवि का लक्ष्य सौन्दर्य में सत्य और सत्य में शिव की प्रतिष्ठा ही है। इसी से भू मानव संस्कृत होगा। इस सुसंस्कृत भू मानव से ही विराट पुरुष साकार होगा। समस्त विश्व एक मन्दिर बन जाएगा। सर्वक्षेम की तभी स्थिति आयेगी। पुरुष की गति का लक्ष्य भी यही है—

एक मनुज हो, एक धरा हो,
यही भागवत जीवन निश्चित। नव निर्माण।

अणु-संत्रस्त मानव के लिए कोई गति नहीं है और हिन्दी सहित सभी भारतीय कवियों को अपनी महती सांस्कृतिक देन को सामने रख कर ही विश्व मानव की प्रतिष्ठा करनी है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग भी नहीं है—

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।'

रीडर, हिन्दी-विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय।

---

१. मैं मानव प्रेमी। मैं दिव्य-चेतना का संदेश सुनाता।
गीत विहग। पन्त !

२. नव-निर्माण। पन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्यप्रदेश की प्रागैतिहासिक संस्कृति

डा० कृष्णदत्त वाजपेयी

आधुनिक अनुसंधानों के आधार पर भारतीय पुरावृत्त को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया गया है :

१. प्राक् ऐतिहासिक काल (ईसवी पूर्व चतुर्थ सहस्राब्दी के पहले का युग),

२. आद्यऐतिहासिक काल (ई० पू० चतुर्थ सहस्राब्दी से लेकर ई० पूर्व सातवीं शती तक का युग),

३. ऐतिहासिक काल (ई० पू० सातवीं शती से लेकर परवर्ती युग)।

उक्त तीनों कालों में से द्वितीय एवं अपेक्षाकृत तृतीय के बारे में विशेष जानकारी उपलब्ध है। पिछले सवा सौ वर्षों में देश के विभिन्न भागों में उत्खनन तथा शोध के जो कार्य किए गए हैं उनसे इन दोनों युगों की संस्कृति की जानकारी के लिए पुष्ट प्रमाण प्राप्त हुए हैं। उनके आधार पर देश के प्राचीन भूगोल, राजनीतिक इतिहास, धर्म, भाषा, साहित्य, कला और लोकजीवन पर प्रभूत प्रकाश पड़ा है।

जहाँ तक प्रागैतिहासिक संस्कृति का सम्बन्ध है, उसके बारे में हमारा ज्ञान अपर्याप्त है। इसका मुख्य कारण यह है कि उस युग के विषय में आधारभूत प्रमाण बहुत कम प्राप्त हुए हैं। उनके आधार पर ही प्रागैतिहासिक भारतीय संस्कृति की झांकी प्रस्तुत करने का प्रयास विद्वानों द्वारा किया गया है।

मध्यप्रदेश अपने नामानुसार भारत के बीच में स्थित है। इस प्रदेश के बड़े भाग पर विंध्य पर्वत अपनी शृंखलाएं फैलाए हुए है। इस प्रदेश की मुख्य नदी नर्मदा है, जिसके दक्षिण के भूभाग पर महादेव तथा सतपुड़ा नामक पर्वतमालाएं हैं। सतपुड़ा का एक प्राचीन नाम ऋक्ष पर्वत था।

नर्मदा के अतिरिक्त मध्यप्रदेश की अन्य बड़ी नदियां चंबल, सिंध, बेतवा, धसान, केन, टोंस, सोन और महा नदी हैं। पर्वत-मालाओं तथा नदियों के अतिरिक्त मध्य-प्रदेश-क्षेत्र का अधिकांश प्राचीन काल में जंगलों से ढका हुआ था। यहाँ न उत्कट गर्मी थी, न अधिक सर्दी। अतः यहाँ पशु-पक्षी बड़ी संख्या में रहते थे।

मानव ने भी आदिम काल से मध्यप्रदेश के भूभाग को निवास के लिए सुविधाजनक पाया। प्रागैतिहासिक युग में यहाँ मानव बस्ती का आरम्भ कब हुआ, यह निश्चित रूप से कहना सम्भव नहीं। अनुमानतः अब से, आठ या सात हजार वर्ष पहले यहाँ मनुष्य ने बसना प्रारम्भ किया। मानव के लिए यहाँ की जलवायु अनुकूल थी। साथ ही जीविका के लिए पशु-पक्षी तथा कंदमूल-फल बड़ी संख्या में इस क्षेत्र में उपलब्ध थे। प्रागैतिहासिक मानव के लिए प्राचीन साहित्य में शबर, निषाद आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं। इन मानवों के कुछ शरीर-अवशेष उन पर्वत-गुफाओं में मिले हैं जहाँ वे रहते थे। रायसेन जिला के खरवई नामक स्थान की गुफाओं में आदिम जनों की कई खोपड़ियां प्राप्त हुई हैं।

प्राचीन मध्यप्रदेश में आदिम जन घने वृक्षों के नीचे या उनकी शाखाओं पर अथवा पहाड़ों की कंदराओं (शिलाश्रयों) में रहते थे। अपना उदर-पोषण वे प्रायः शिकार से करते थे। शिलाश्रयों में रहने वाले लोग कभी-कभी गुफाओं की भीतरी छतों और दीवारों पर अनेक ढंग की रोचक चित्र-रचना करते थे। उनके द्वारा बनाए गए चित्र भारत में सबसे अधिक मध्यप्रदेश में प्राप्त हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। मंदसौर, शिवपुरी, नरसिंहगढ़, सीहोर, रायसेन, होशंगाबाद, सागर, छतरपुर, पन्ना, रीवा, अम्बिकापुर तथा रायगढ़ जिलों के अनेक स्थानों में इन आदिम जनों के निवास के अवशेष मिले हैं। इनमें पत्थर के अनेक प्रकार के औजार तथा मिट्टी के बर्तन भी हैं। उन लोगों के बनाए हुए चित्रों में से बहुत से आज भी उनके द्वारा सैकड़ों वर्ष पूर्व आवासित गुफाओं में सुरक्षित हैं। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर तथा बांदा जिलों के कई पर्वतीय स्थानों में भी ऐसे अनेक गुफा-चित्र उपलब्ध हैं।

मध्यप्रदेश में उल्लेखनीय गुफा-चित्र निम्नलिखित स्थानों से मिले हैं :

होशंगाबाद जिला में आदमगढ़, पचमढ़ी तथा बोररानी; सीहौर में बरखेड़ा और भोपाल; रायसेन जिला में खरवई, हाथीपोल एवं पुतलीकरार; सागर में आबचंद, नरयावली तथा बरौदा छतरपुर में देवरा और रायगढ़ जिला में सिंहनपुर एवं कबरापहाड़।

इन स्थानों में बहुसंख्यक मनोरंजक गुफाचित्र मिले हैं। कहीं-कहीं उनके पुराने चटकीले रंग आज भी सुरक्षित हैं। कुछ पर बाद के युगों में रंग चढ़ाए गए और परवर्ती चितेरों ने इस प्रकार पुराने चित्रों पर अपनी कारीगरी दिखाई।

अधिकांश गुफा-चित्रों में लाल, सफेद, काला, नीला या पीला रंग प्रयोग में लाया गया। कई जगह भित्तियों पर पहले लाल या सफेद रंग की पृष्ठभूमि देकर उस पर चित्र उरेहे गए। प्राचीन गुफा-चित्रों से वहाँ निवास करने वाले लोगों की जीवन-चर्या तथा रुचि का पता चलता है। मुख्यतया जो दृश्य इन चित्रों में मिलते हैं वे हैं : विविध आयुधों से पशु-पक्षियों का शिकार, जानवरों की लड़ाई, मानवों में पारस्परिक युद्ध, पशुओं पर सवारी, गीत, नृत्य, पूजन, मधु-संचय तथा घरेलू जीवन सम्बन्धी अनेक दृश्य मिलते हैं। जिन जानवरों का शिकार किया जाता था वे बाघ, हिरण, भैंसा, बैल, हाथी, गैंडा, शूकर आदि थे। ये जानवर मध्यप्रदेश के गुफा-चित्रों में विशेष रूप से मिलते हैं। इनके अतिरिक्त रीछ, कुत्ता, बकरी, बन्दर, मोर आदि भी मिले हैं।

जिन गुफाओं में आदिमजन रहते थे वहाँ अनेक पशु-पक्षियों की हड्डियां भी मिली हैं। मिर्जापुर की गुफाओं में सुअर के शिकार के कई रोचक चित्र हैं। शिकार तथा रक्षा के लिए जिन आयुधों का प्रयोग किया जाता था उनमें भाला या बरछा, धनुष-बाण, चक्र, तलवार तथा ढाल मुख्य हैं। कुछ चित्रों में युद्ध करते हुए लोगों को एक हाथ में मूंठदार तलवार तथा दूसरे में ढाल लिए हुए प्रदर्शित किया गया है। परवर्ती काल के कुछ चित्रों में युद्ध के ऐसे दृश्य मिले हैं जिनमें घोड़ों पर सवार सरदार अपने सिर के ऊपर छत्र लगाए जा रहे हैं। उनके आगे-पीछे अन्य लोग हाथों में तलवार आदि आयुध लिए हुए पैदल चल रहे हैं। कई जगह शिकारियों और योद्धाओं के विचित्र पहनावे मिले हैं। बरोदा गाँव (जिला सागर) के समीप एक गुफा-चित्र में एक योद्धा शकों-जैसी ऊंची टोपी और लम्बा कोट पहने दिखाया गया है। अनेक चित्रों पर हाथी पर सवार लोग दिखाए गए हैं। व्याघ्रों (बाघों) के चित्र मध्यप्रदेश की अनेक गुफाओं में बड़ी संख्या में मिलते हैं। इस प्रदेश में बाघ बहुत थे। आबचन्द में एक स्थान पर चार भयंकर बाघ खड़े दिखाए गए हैं। उनके बीच एक पुरुष खड़ा है। दो बाघों की आपस में लड़ाई भी कई स्थानों पर चित्रित है। एक चित्र में दो हाथियों का युद्ध दिखाया गया है।

उक्त चित्रों से पता चलता है कि प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक परम्परा प्रारंभिक इतिहास-युग में भी जारी रही। लोकजीवन की यह धारा इस प्रदेश में दीर्घ-काल तक प्रवाहित होती रही।

बरखेड़ा, खरवई, रायसेन, पचमढ़ी आदि की गुफाओं में विविध पशु-पक्षियों के मनोरंजक चित्रण मिले हैं। इनमें से कुछ पालतू बना लिए गए थे। आबचन्द में एक स्थान पर एक व्यक्ति बैल को रस्सी से खींचता हुआ दिखाया गया है। लम्बी सींग वाले अरना (आरण्यक) भैंसे तथा विविध प्रकार के मृगों के चित्रण अधिक मिलते हैं। होशंगाबाद के समीप आदमगढ़ गुफा में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशालकाय अरना भैंसा चित्रित है। भैंसे का इतना बड़ा चित्र अन्यत्र नहीं मिला।

आमोद-प्रमोद तथा घरेलू जीवन-सम्बन्धी विविध दृश्य इन चित्रों में मिलते हैं। लोगों में नृत्य और संगीत का शोक था। पचमढ़ी-वर्ग के चित्रों तथा रायगढ़ और सागर जिलों के गुफा-चित्रों में कई स्त्री या पुरुष एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए नृत्य की मुद्रा में खड़े दिखाए गए हैं। कई स्थानों पर नृत्य-मुद्रा में सात स्त्रियों या पुरुषों का आलेखन है। सात की संख्या का प्राचीन चित्रकारों के लिए विशेष महत्व जान पड़ता है। वाद्य-यंत्रों में बड़ी और छोटी ढोलकें, बांसुरी, सितार आदि मिले हैं। पचमढ़ी तथा रायगढ़ के चित्रों में मधुमक्खियों को भगा कर मधु इकट्ठा करने के दृश्य हैं। बनियावेरी (पचमढ़ी) की एक गुफा में शाखाओं पर खेल करते हुए शाखामृग (बन्दर) दिखाए गए हैं। नरयावली (जिला सागर) के एक गुफाचित्र में नटों को अनेक करतब दिखाते हुए अंकित किया गया है। बर्तन, भांड़े, डलिया, मोढ़े आदि के आलेखन कई प्राचीन गुफा-चित्रों में मिले हैं। कुछ चित्रों में कल्पवृक्ष, सूर्य, चंद्र, स्वस्तिक आदि प्रतीक प्रदर्शित हैं। बरखेड़ा में यज्ञ, शिव, गणेश, कार्तिकेय, देवी आदि के चित्र उल्लेखनीय हैं। इनमें से कई प्रारंभिक ऐतिहासिक युग के हैं। मध्य-प्रदेश के ये प्राचीन गुफा-चित्र यहाँ के आदिम वासियों की जीवन की कितनी ही मनोरंजक गाथाएं आज तक संजोए हुए हैं।

नर्मदा, चंबल, बेतवा, सोन आदि नदियों तथा उनकी सहायिकाओं के तटों से पाषाण तथा धातु के बहुसंख्यक उपकरण मिले हैं। विभिन्न शैलियों के आधार पर इन उपकरणों को पूर्व, मध्य तथा नव पाषाण-युगों का माना गया है। इनका उपयोग आयुध रूप में तथा दैनिक जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता था। प्राचीन शैलगृहों से भी ऐसे उपकरण मिले हैं।

इन उपकरणों की बहुत बड़ी संख्या इस बात का प्रमाण है कि मध्यप्रदेश में अनेक भागों में प्रागैतिहासिक तथा आद्यैतिहासिक युगों में लोग रहते थे। द्वितीय काल में लोगों को कृषि तथा पशुपालन का ज्ञान हो गया था। पत्थर के बेडौल तथा सुगढ़ औजारों के अतिरिक्त इस काल में मानव को तांबे का ज्ञान भी हो गया था। तांबे के बहुसंख्यक उपकरण मध्यप्रदेश के बालाघाट जिले में गुंगेरिया नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं। इतनी बड़ी संख्या में तांबे के प्रागैतिहासिक हथियार तथा औजार भारत में अन्यत्र नहीं मिले।

प्राचार्य तथा अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृत तथा पुरातत्व विभाग,
सागर विश्व विद्यालय,
सागर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छायानाट्य विमर्श

डा० रामजी उपाध्याय

संस्कृत के जिन नाटकों में आवश्यकतानुसार वास्तविक पात्र के स्थान पर उसकी छाया का समावेश किया है, उन्हें तेरहवीं शती से छायानाटक नाम देने की रीति चली। पात्रों की छाया से तात्पर्य उनकी परछाई नहीं है, अपितु बनावटी पात्र हैं, जिन्हें छायापात्र या मायापात्र कहना समीचीन है। छायापात्र पांच प्रकार के होते थे—

१. माया (इन्द्रजाल) के द्वारा किसी पात्र के सदृश पात्र बनाकर उसे रंगमंच पर मूल पात्र की भाँति आचरण कराया जाता था, जैसे दूतांगद में सीता के स्थान पर मायामैथिली।

२. मूल पात्र के स्थान पर उसकी ऐसी मूर्ति रंगमंच पर रख देना, जिसे दर्शक ही नहीं, रंगमंच के पात्र भी यह न समझ सकें कि यह मूल पात्र से भिन्न है। जैसे धर्माभ्युदय में संन्यास लेने के पश्चात् राजा दशार्णभद्र के स्थान पर उसकी मूर्ति।

३. मूलपात्र या पात्रों का चित्र। यह उनसे सम्बद्ध किसी घटना का चित्रपट पर आलेखन होता था। यथा उल्लाघराघव के सप्तम अंक में वृकमुख राम और लक्ष्मण का स्वरूप चित्रपट पर अंकित करके उसके नीचे राम, सुग्रीव, विभीषण और जाम्बवान् का संवाद लिखकर कार्पटिक को पढ़ने के लिए देता है, जिसे वह रंगमंच पर प्रेक्षकों को पढ़कर सुनाता है।

४. मूल पात्र का अपनी वेशभूषा परिवर्तित करके अपना नाम, गोत्रादि बदलकर प्रायः अज्ञात रहकर कार्य करना। यथा सुभद्रापरिणयन में अर्जुन तीर्थयात्रा करते हुए प्रच्छन्न रह कर सुभद्रा का अपहरण करता है।

५. अमानव की भूमिका में मानव पात्रों का रंगमंच पर आना। यथा शामामृत में हरिणादि पशुओं की भूमिका में मनुष्य-पात्रों का संवाद में भाग लेना।

दूतांगद, धर्माभ्युदय, उल्लाघराघव, सुभद्रा परिणयन और शामामृत के लेखकों ने अपनी-अपनी कृतियों को छाया नाटक कहा है। क्यों? यह गत पचास वर्षों से विवादास्पद प्रश्न रहा है, जिसका समाधान प्रस्तुत है।

अब तक प्रायः विद्वानों ने छाया-नाटकों में छायात्मक (परछाई का) अभिनय ढूँढ़ने का प्रयास किया है और निराधार प्रमाणों से त्रुटिपूर्ण सुझाव दिए हैं। कतिपय विद्वान् छाया को सार या संक्षिप्त संस्करण समझकर दूतांगदादि को बड़े नाटकों का सारभूत बताते हैं। ये मत अप्रामाणिक और निराधार हैं।[1]

डा० कीथ का मत है—

It is natural to suggest, as did Pischal that the Dutanganda of Subhata, which is styled a Chayanataka, really was a shadow. On the other hand, Rajendralalamitra suggested that the drama was perhaps simply intended as an enteracte, and this may be justified on the interpretation of the term of drama in the from of a shadow, i.e. reduced to the minimum for representation in such a form. Sanskrit Drama. P. 269.

डा० डे का मत है—

While the connotation of the term Chayanataka itself is extremely dubious, the shadow-play theory, however, appears to be entirely uncalled for and without foundation, and there is hardly any characteristic feature which is not otherwise intelligible by purely historical and literary considerations. History of Skt. Lit. P. 501.

If we leave aside the self-adopted title of Chayanataka, these plays do not differ in any respect from the ordinary play.
Ibid P. 504.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छाया क्या है—यह समझने के लिए नीचे लिखी विवस्वान् और सरण्यू (संज्ञा) की कथायें उपादेय हैं—

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद्यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ।।

ऋग्वेद १०-१७-२

सृष्ट्वा मर्तुः परोक्षं तु सरण्यूः सदृशीं स्त्रियम् ।
निक्षिप्य मिथुनं तस्यामश्वा भूत्वोपचक्रमे ।।

बृहद्देवता ७-७-१

ततस्तेजोमेयं रूहमसहन्ती विवस्वतः ।
नारीमुत्पादयामास स्वशरीरादनिन्दिताम् ।।
ततस्तेजोमयं रूपमसहन्ती विवस्वतः ।।
नारीमुत्पादयामास स्वशरीरादनिन्दिताम् ।
त्वाष्टीस्वरूपेण नाम्ना छायेति भामिनी तदा ।।
किंकरोमीति पुरतः स्थितां तामभ्यभाषत ।
छाये त्वं मम भर्तारमस्मदीयं वरानने ।।
अपत्यानि मदीयानि मातृस्नेहेन पालय ।
तथेत्युक्तवा तु सा देवमगमत् कापि सुव्रता ।।
कामयामास देवोऽपि संज्ञेयमिति चादरात् ।
जनयामास तास्यां तु पुत्रं च मनुरूपिणम् ।।

मत्स्यपुराण ११-४-८

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद की सवर्णा, बृहद्देवता की सदृशी स्त्री और मत्स्य पुराण की छाया समानार्थ हैं और छाया का अभिप्राय समान स्त्री या पुरुष है, जो माया (इन्द्रजाल) द्वारा बनाया गया हो।

छाया का उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग हरिवंश में नीचे लिखे पद्य में मिलता है—

मायया स्य प्रतिच्छाया दृश्यते हि नटालये
देहार्धेन तु कौरव्य सिषेवेऽसौ प्रभावतीम्

विष्णुपर्व ९४-३०

अर्थात् माया के द्वारा प्रद्युम्न की प्रतिच्छाया उस भवन में दिखाई देती थी, जहाँ वह नटों के साथ रह चुका था। वास्तविक शरीर से वह प्रभावती के साथ रहता था।

आरम्भ में छाया का मत्स्यपुराणीय अर्थ छायानाटक नाम रखने में ग्रहण किया गया है। शनैः शनैः किसी भी प्रकार के सादृश्य से लक्षित पात्रों, मूर्तियों या चित्रों वाले नाटकों को छायानाटक नाम दिया गया, जैसा इस निबन्ध के आरम्भ में लिखा गया है।

संविधानक

संस्कृत नाटकों के नाम उनके संविधानक के नाम पर भी रखने की रीति रही है। इस नामकरण पद्धति का उल्लेख कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में इस प्रकार किया है—

अद्भुतं पुनिरिदं यत् सारस्वत-संविधानकलक्षण—साक्षरेण नाना सुनिवेश्यते। यथा—अभिज्ञान शाकुन्तल—मुद्राराक्षस—प्रतिमानिरुद्ध—मायापुष्पक—कृत्यारावण—छलितराम—पुष्पदूषितकादीनि नामानि।

वक्रोक्तिजीवित पृष्ठ २२५

छायानाटकों में छाया संविधानक है। वास्तव में छायानाटक एक कोटि है। नाटकों के नाम तो कुछ और ही हैं।

नाटकों में अनेक संविधानक रहते हैं। प्रायः प्रत्येक अंक में एक संविधानक होता है, जिसके अनुसार उस अंक का नाम रखा जाता है।

भवभूति ने उत्तररामचरित के प्रत्येक अंक का नाम उसके संविधानक के अनुसार रखा है। इस नाटक का तृतीय अंक छायाअंक है। अनेक संविधानकों में से किसी एक को कवि कलात्मक दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानकर उसके अनुसार नाटक का नाम रख देता है।

भास ने प्रतिमा को प्रमुख संविधानक मानकर राम-चरित-विषयक नाटक का नाम प्रतिमा रखा, वैसे ही सीता की छाया (माया मैथिली) को संविधानक मानकर सुभट ने दूतांगद का छायानाटक कहा है।

कूटघटना तथा छायापात्र

कूटघटना के प्रसंग में छायापात्र प्रायः प्रयुक्त किये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते हैं। जहाँ किसी काम को करने के लिए किसी पात्र की अपने मौलिक रूप में असमर्थता होती है, वहाँ उस पात्र के स्थान पर छायापात्र का प्रयोग देखा जाता है। दूतांगद में वास्तविक सीता अंगद से इस प्रकार की बातें नहीं कर सकती थी, जैसी मायामैथिली ने की।

कूट घटनाओं के लिए भास ने स्वप्नवासवदत्त में वासवदत्ता और यौगन्धरायण को प्रथम अंक से प्रायः अन्त तक छायापात्र बनाकर रखा है। किरातार्जुनीय में शिव का किरात बनना सुविदित है। कूट घटना के लिए रामचन्द्र के सत्यहरिश्चन्द्र में अनेक पात्रों का छाया पात्र बनना प्रत्यक्ष है। मुद्राराक्षस के अन्तिम अंक में चाणक्य ने राक्षस से बताया कि जिन्हें तुम चाणक्य समझते हो, वे वस्तुतः सिद्धार्थक और समिद्धार्थक हैं।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेणी-संहार-नाटक एक मूल्यांकन

डा० ठक्कन मिश्र

संस्कृत साहित्य में नाटकों का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' 'नाटकान्तं कवित्वम्' इत्यादि वाक्यों में इसका महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। भरत मुनि ने नाट्य को 'नाट्य वेद' कह कर इसका महत्त्व वेदों के समान स्वीकार किया।

संस्कृत नाटकों का विकास-क्रम तथा वेणीसंहार का स्थान :

संस्कृत नाटकों का आरम्भ कब से हुआ इस सम्बन्ध में कोई भी सर्वसम्मत विचार निश्चित नहीं हो सका है। नाटकों के सम्बन्ध में प्राचीनतम ग्रन्थ भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' माना जाता है। इसमें रूपक के भेदोपभेदों तथा मंच आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। लक्ष्य-ग्रन्थों के निर्माण के बाद ही लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण होता है। अतः भरत मुनि के समय तक अनेक नाटकों का लिखा जाना तथा मंच पर उनका अभिनीत होना निश्चित है।

आदि काव्य वाल्मीकि-रामायण में नट, नर्तक आदि शब्दों का उल्लेख देखा जाता है। श्रीमद्भागवत में भी इसकी सत्ता का परिचय प्राप्त होता है। अग्निपुराण में तो 'नाटक निरूपणम्' नामक एक पृथक् अध्याय ही विद्यमान है। वहाँ रूपक के १० तथा उपरूपक के १८ भेदों का, सन्धियों, कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों का, विदूषक आदि नाटकीय पात्रों की स्थिति, वेष-भूषा आदि का भी विशद वर्णन किया गया है। इन वर्णनों से निश्चित है कि इस समय तक नाटक रचना तथा उनके अभिनय की परम्परा प्रचलित हो चुकी थी।

हरिवंश पुराण की एक कथा के अनुसार वज्रनाभ दैत्य की कन्या प्रभावती को प्राप्त करने के लिये श्रीकृष्ण की अनुमति से यादव लोग वज्रपुर में गये हैं। वहाँ उन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथावस्तु का अभिनय किया है। इस अभिनय को देखकर दैत्यगण अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं। उन्होंने अनेक प्रकार के वस्त्राभरण आदि यादवों को प्रदान किये। किस यादव ने किस पात्र का अभिनय किया था यह उल्लेख भी यहाँ वर्तमान है। हरिवंश पुराण की इस कथा से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियाँ भी अभिनय में भाग लेती थीं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुसार शिलालिन् नामक नटसूत्रकार हो चुके थे। इनका नाटकों के अभिनय की परिपाटी के सम्बन्ध में अपना विशिष्ट सम्प्रदाय था। महाभाष्यकार पतंजलि के उल्लेखानुसार 'कंसवध' तथा 'बलिवध' नामक नाटकों का अभिनय इस समय तक हो चुका था।

वात्स्यायन मुनि ने अपने 'कामसूत्र' में ६४ कलाओं का उल्लेख करते हुए २० वीं कला के रूप में नाटक को स्वीकार किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी नट, नर्तक, गायक, वादक आदि का उल्लेख वर्तमान है[1]।

उल्लिखित विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृत में नाटकरचना तथा उनके अभिनय की प्राचीनता असन्दिग्ध है। परन्तु उल्लिखित वर्णनों में निर्दिष्ट कोई भी नाटक आज उपलब्ध नहीं है। इन नाटकों के लेखकों का नाम भी आज ज्ञात नहीं है।

---

१. नट नर्तक गायक वादक वाग्जीवन कुशीलव शौभिका वा पूर्णप्रणिहिताः परमुपतिष्ठेरन् ।।—कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, अधिकरण ७, अ० १७, प्रकरण १२२-२३, पृ० १८९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्ध कृतियों के आधार पर अधिकांश विद्वानों ने संस्कृत का प्रथम नाटककार 'भास' को स्वीकार किया है। कालक्रमानुसार संस्कृत नाटककारों में विशाखदत्त के पश्चात् भट्टनारायण का नाम आता है। महाभारत की सभी प्रमुख घटनाओं को इन्होंने अपने इस नाटक में समाविष्ट किया है।

कथावस्तु का मूलाधार तथा मूलकथा में परिवर्तन :

वेणीसंहार नाटक की कथावस्तु का मूल आधार महाभारत है। नाटकीय उपयोगिता को ध्यान में रखकर लेखक ने इसकी कथावस्तु तथा पात्रों के चरित्र में यत्र तत्र कुछ परिवर्तन भी किये हैं। इस नाटक के दुर्योधन की प्रणय-क्रीड़ा का प्रदर्शन, कर्ण-अश्वत्थामा-वाक्कलह, चार्वाक राक्षस का प्रपंच, आदि कुछ कथांश कवि-कल्पित हैं।

नाटक का नामकरण :

नाटक का नाम शास्त्र-सम्मत है। "नाटक का नाम तद्गत प्रमुख कथावस्तु का प्रकाशक होना चाहिये[1]।" 'वेणीसंहार' नाम ही स्पष्ट करता है कि इस नाटक में द्रौपदी-वेणी-बन्धन की कथा की प्रमुखता है। 'शब्द कल्पद्रुम' नामक कोष में इसे ७ अंकों का नाटक कहा गया है।[2] "हिन्दी विश्वकोष" में भी इसे ७ अंकों का ही नाटक माना गया है। वेणीसंहार की सभी मुद्रित तथा हस्तलिखित प्रतियों में सम्प्रति ६ अंक ही विद्यमान हैं। कहा नहीं जा सकता कि "शब्द कल्पद्रुम" जैसे प्रामाणिक कोष में ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है। कुछ विद्वानों ने 'वेणीसंहार' का अर्थ 'वेणीमोक्षण' स्वीकार किया है। किन्तु 'संहार' का बन्धन अर्थ ही उपयुक्त है। एक पाण्डुलिपि में इस नाटक का नाम 'वेणीसंवरणं नाम नाटकम्' लिखा हुआ है।

शास्त्रीय नियमों का निर्वाह :

प्रस्तुत नाटक में शास्त्रीय नियमों का अधिकांशतः निर्वाह हुआ है। रूपक के भेदों में से इसे नाटक की श्रेणी में माना जायगा। नाटक के लिये निर्दिष्ट सभी लक्षणों की चरितार्थता इसमें देखी जा सकती है।

प्रस्तुत नाटक में वीर रस की प्रमुखता है। प० चन्द्रशेखर शास्त्री ने "संस्कृत साहित्य की रूप-रेखा" में विवेचन करते हुए इस नाटक में करुण रस की प्रधानता मानी है तथा इस नाटक का नायक दुर्योधन को स्वीकार किया है। श्री गजेन्द्र गदकर ने भी शास्त्री जी के मत का समर्थन किया है। अन्य सभी विद्वानों ने इसमें वीर रस की प्रमुखता स्वीकार की है एवं इसका नायक युधिष्ठिर को स्वीकार किया है। वस्तुतः राज्यप्राप्ति रूपी फल का अधिकारी होने के कारण युधिष्ठिर ही शास्त्र-सम्मत इस नाटक के नायक कहे जायंगे। नायक के लिये निर्दिष्ट प्रायः सभी गुण युधिष्ठिर के चरित्र में वर्तमान हैं। इस नाटक के सभी पात्रों के चरित्र का विकास स्वाभाविक रूप में हुआ है। इसमें सन्धियों, कार्यावस्थाओं का निर्वाह भी शास्त्रीय-लक्षणानुसार हुआ है। अतएव नाट्यदर्पण, दशरूपक, साहित्यदर्पण आदि नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अधिकांशतः सन्ध्यंगों के उदाहरण वेणीसंहार नाटक से उद्धृत किये गये हैं।

वेणीसंहार नाटक में संकलन-त्रय का निर्वाह भी यथार्थ रूप में हुआ है। इसमें केवल १८ दिनों की घटनाओं का ही समावेश हुआ है। स्थान भी रण-भूमि, कौरव पाण्डव-शिविर तथा रण-भूमि के समीप में वर्तमान वह न्यग्रोध वृक्ष है जहां आहत अवस्था में दुर्योधन ने विश्राम किया था। दोनों पक्षों के शिविर तथा न्यग्रोध वृक्ष भी रण-भूमि के इतने निकट हैं कि वहाँ से रण-कोलाहल स्पष्ट सुनाई पड़ता है।

नाटककार का संक्षिप्त परिचय :

वेणीसंहार नाटक के रचयिता भट्टनारायण का मूल निवास स्थान कन्नौज था। चार अन्य ब्राह्मणों के साथ यह बंगाल में आकर रहने लगे थे। बंगाल के राजा

---

१. नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशनम्॥—साहित्यदर्पण ६।३३०।

२. वेणीसंहार : पुं० (वेण्याः द्रौपदीवेणिकायाः संहारो भीमेन मारितदुर्योधनशोणितेन मोचनं यत्र। भट्टनारायण-कृत सप्तांकयुक्तः नाटकविशेषः शब्द कल्पद्रुम, चतुर्थकाण्ड, पृ० ४९५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदिशूर या वीरसेन ने इन्हें यज्ञ-सम्पादनार्थ बुलाया था। उल्लिखित तथ्य को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महेशचन्द्र प्रसाद आदि प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। भट्ट-नारायण के १६ पुत्र हुए थे। इनमें से पाँचवा पुत्र निपु सम्पत्ति का अधिकारी बना था। भट्टनारायण को राजा आदिशूर ने कई गांव दिये तथा स्वयं भी थोड़े मूल्य से ही अनेक गांव इन्होंने खरीदे। इनका भी राजवंश चलता रहा। "क्षितीश वंशावली चरितम्" में इस वंश के राजाओं के नाम, राज्यकाल तथा अद्भुत कार्यों का वर्णन दिया गया है।

भट्टनारायण जाति से ब्राह्मण तथा गोत्र से शाण्डिल्य थे। इनकी जाति-सूचक उपाधि 'भट्ट' थी। 'मृगराज' उपाधि योग्यता-सूचक, राजप्रदत्त थी।

रचना-काल :

भट्टनारायण के स्थिति-काल के सम्बन्ध में विचारकों में बहुत मतभेद देखा गया है। ७ वीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर ११ वीं शताब्दी के अन्त तक इनका काल विद्वानों ने माना है। इतनी लम्बी सीमा किसी कवि के काल-निर्धारण के लिये उपयुक्त नहीं कही जा सकती है। ८ वीं शताब्दी में होने वाले वामन के ग्रन्थ में वेणीसंहार नाटक का श्लोक उदाहृत होने से भट्टनारायण के स्थिति-काल की परावधि ८५० ई० तक होनी चाहिये। इसी प्रकार ७ वीं शताब्दी से पूर्व के किसी काव्यकार के द्वारा भट्टनारायण अथवा उसके नाटक की चर्चा न होने के कारण इनके स्थिति-काल की पूर्वावधि ७५० ई० मानी जानी चाहिये। इस प्रकार वेणीसंहार कर्ता भट्टनारायण का स्थिति-काल ई० सन् ७५० से ८५० के मध्य में स्वीकार करना तर्क-संगत कहा जा सकता है। काल-निर्धारण के सम्बन्ध में 'अवन्ति सुन्दरी कथा' जिसे दण्डी-कृत कहा जाता है, का श्लोक[1] प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है। इनकी कृति एकमात्र 'वेणीसंहार नाटक' ही उपलब्ध हुई है। भट्टनारायण, नारायण भट्ट आदि के नाम से उपलब्ध ग्रन्थ तथा सुभाषित ग्रन्थों में संगृहीत सूक्तियां वेणीसंहार-कर्ता भट्टनारायण-कृत नहीं माने जा सकते।

भाषा-शैली, प्रकृति-चित्रण :

प्रस्तुत नाटक की भाषा-शैली नाटक की अपेक्षा श्रव्य-काव्य की दृष्टि से अधिक सफल हुई है। इसमें गौड़ी रीति को नाटककार ने प्रश्रय दिया है। युद्ध-मय वातावरण होने के कारण प्रकृति-चित्रण का यहाँ अवसर नहीं आया है। केवल द्वितीय अंक में वालोद्यान वर्णन में प्रकृति के सौम्य रूप का तथा यहीं वात्या-वर्णन में उसके कराल रूप का संक्षिप्त चित्रण देखा जाता है। अभिनय की दृष्टि से भी इस नाटक के अधिकांश स्थल सफल हैं।

अलंकार-योजना :

अलंकारों की योजना भी इस नाटक में सफल रही है। यद्यपि काव्य-शास्त्रियों ने 'नाटक में अलंकारों का स्थान' इस प्रश्न पर पृथक् विचार नहीं किया है। 'काव्य में अलंकारों का स्थान' इस विषय पर रोचक एवं तर्क-संगत ढंग से उन्होंने विचार किया है। परन्तु काव्य के भेद—श्रव्य-काव्य तथा दृश्य-काव्य में से नाटक दृश्य-काव्य के अन्तर्गत स्वीकृत होने से इस प्रश्न पर पृथक् विवेचन की आवश्यकता ही सम्भवतः उन्हें नहीं प्रतीत हुई। काव्य में अलंकारों का जो स्थान है, नाटकों में भी उनका वही स्थान काव्य-शास्त्रियों को सम्भवतः मान्य था। कालिदास, भवभूति आदि के नाटकों में भी अलंकारों की योजना वर्तमान है।

भरत मुनि ने नाटकाश्रय के रूप में उपमा, रूपक, यमक, दीपक, ये चार अलंकार स्वीकार किये हैं।[2] अतः नाटकों में अलंकारों का समावेश शास्त्र-सम्मत कहा जायगा। प्रस्तुत नाटक में उपमा, रूपक तथा काव्यलिंग

---

१. व्याप्तुं पदत्रयेणापि यश्शक्तो भुवनत्रयम्।
तस्य काव्यत्रयव्याप्तौ चित्रं नारायणस्यकिम्॥
अवन्तिसुन्दरी कथा, श्लोक १७, पृ० २

२. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥
नाट्यशास्त्र, अध्याय १७, श्लोक ४३, पृ० २०६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलंकारों की योजना अधिक हुई है। वीर रसानुकूल उपमानों के चयन से भाव सशक्त तथा मूर्तिमान् बन गये हैं। युद्ध-वर्णन के अवसर पर गद्य में सांगरूपक की विशद योजना हुई है। ऐसे कुछ स्थल सामाजिकों को थकाने वाले प्रतीत होते हैं। किन्तु सामूहिक रूप से अलंकारों की योजना सफल हुई है। कतिपय स्थलों के अतिरिक्त अधिकांशतः अलंकार शोभाधायक बने हैं। उपमानों के चयन में कवि ने लिंग, वचन, विभक्ति आदि के साम्य का भी प्रायः ध्यान रखा है।

विभिन्न मान्यताएँ :

कवि अपने काल का प्रतिनिधि होता है। उसकी रचनाओं पर उस काल की मान्यताओं का प्रभाव भी प्रायः पड़ता ही है। परन्तु यह प्रभाव विशेषतः वहीं पड़ता है जहाँ वह कथावस्तु के क्षेत्र में स्वतन्त्र रहता है। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथावस्तु के आधार पर लिखे गये काव्य या नाटक में अपने काल की मान्यताओं को वह अधिक स्पष्ट रूप से चित्रित न करके यत्र-तत्र किंचित् संकेत मात्र दे पाता है।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु भी महाभारत से ली गयी है। कवि ने महाभारत ग्रन्थ में लिखित मान्यताओं का ही अधिकतर चित्रण किया है। अतः कुछ अधिक निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि इस नाटक में प्रदर्शित मान्यताओं का सम्बन्ध सर्वथा महाभारत से ही है अथवा भट्टनारायण के काल से भी।

महाभारत काल में प्रायेण द्वन्द्व युद्ध होता था। वैसे इसमें अपवाद भी आने लगे थे। अभिमन्यु का वध अनेक महारथियों ने मिल कर किया था। परन्तु ऐसे युद्ध निन्दा की दृष्टि से देखे जाते थे। प्रतिपक्षी को ललकार कर, सावधान बनाकर युद्ध किया जाता था। आहत, मूर्च्छित योद्धा पर प्रहार नहीं किया जाता था। वीर लोग प्रतिज्ञा-पूर्वक युद्ध किया करते थे।

प्रहार से अंगों की रक्षा के लिये सैनिक कवच, हस्तावाप, शिरस्त्राण आदि धारण करते थे। प्रत्येक योद्धा के रथ में विशिष्ट चिन्ह युक्त अपनी ध्वजा लगी रहती थी। इसी ध्वज चिन्ह के कारण अर्जुन कपि-ध्वज कहाते थे। युद्ध के आरम्भ तथा विराम की घोषणा राजा की ओर से की जाती थी। प्रस्तुत नाटक में प्रथम अंक में युधिष्ठिर ने युद्ध की घोषणा की है। पंचम अंक में भी युधिष्ठिर ने सायंकाल हो जाने के कारण युद्ध-विराम की घोषणा की है।

सेनापति के मारे जाने पर सैनिक युद्ध से लौट आते थे। पुनः अन्य सेनापति के अभिषिक्त हो जाने पर वे युद्ध में जाते थे। सच्ची वीरता की प्रशंसा शत्रु भी करते थे। वृषसेन के युद्ध-कौशल की प्रशंसा सबने की है। ऐसे युद्ध के अवसर पर दोनों पक्षों के योद्धा अपना-अपना युद्ध छोड़कर दर्शक बन जाते थे। वीरगति की महत्ता मान्य थी। सम्भवतः ब्राह्मण अवध्य माने जाते थे। परन्तु यह नियम भी सर्वत्र नहीं चरितार्थ था। ब्राह्मण द्रोणाचार्य का वध भी हुआ ही है। प्रतिपक्षी चुनने की स्वतन्त्रता सबको दी जाती थी।

इस समय समाज में द्यूत-प्रथा का प्रचलन था। द्यूत के दाव पर सम्पत्ति, बान्धव, यहाँ तक कि पत्नी को भी लोग लगा देते थे। ब्राह्मणधर्म की देश में या गौड़ देश में प्रतिष्ठा थी। स्वप्न के फलाफल पर जनता का विशेषतः स्त्रियों का विश्वास था। अंगस्पन्दन, विशेषेण अक्षिस्पन्दन के शुभाशुभ फल पर भी लोगों का विश्वास था। अरिष्ट-शान्ति के शास्त्रीय उपायों पर भी विश्वास किया जाता था। शाप तथा वरदान पर भी लोगों का विश्वास था। श्राद्ध-तर्पण आदि पितृकर्म में भी लोगों का विश्वास था।

भट्टनारायण की अन्य किसी कृति की उपलब्धि नहीं हुई। लेखक ने किसी नयी परम्परा को प्रश्रय नहीं दिया है। परन्तु नाटक के लिये निर्दिष्ट शास्त्रीय नियमों का निर्वाह इसमें अवश्य हुआ है। अतः शास्त्रीय-लक्षण-सम्पन्न वीररसप्रधान नाटकों में वेणीसंहार नाटक का महत्त्वपूर्ण स्थान कहा जा सकता है।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
एस० एम० जे० एन० कालिज,
हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेद के वृषभ और उक्षन् शब्दों का अर्थविचार

डा० रामनाथ वेदालंकार

वैयाकरणों के अनुसार वृषभ शब्द सेचनार्थक वृषु धातु से उणादि अभच्[1] प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इसमें प्रत्यय के किद्वत् होने से गुणाभाव तथा चित् होने से अन्तोदात्त स्वर रहते हैं। उक्षन् शब्द सेचनार्थक उक्ष धातु से उणादि कनिन्[2] प्रत्ययान्त निपातित होता है। लोक में इनका बैल अर्थ तो प्रसिद्ध ही है, इसके अतिरिक्त कोई भी पुंपशु, युवा पुरुष, श्रेष्ठ, ओषधिविशेष आदि अर्थों में भी ये प्रयुक्त होते हैं। ऋग्वेद में वृषभ शब्द विभिन्न विभक्तियों में कुल मिला कर १८३ वार तथा उक्षन् शब्द ३२ वार प्रयुक्त हुआ है।

बैल

बैल अर्थ में ये दोनों शब्द ऋग्वेद में आते तो हैं, पर अधिक नहीं। अग्नि को कहा गया है कि तुम्हारा शब्द वृषभ के समान है[3]। इन्द्र को वृषभ के समान भीम[4] कहा है। उषा का आगमन वृषभ के शब्द से जाना जाता है[5]। अग्नि अपनी ज्वालाओं को ऐसे ही प्रकम्पित करता है, जैसे वृषभ सींगों को[6]। इन्द्र तीक्ष्ण शृंगों वाले वृषभ के समान गर्जना करता है[7]। सिन्धु वृषभ के समान शब्द करती हुई बहती है[8]। वृषभ (बैल) तथा द्रुघण (लकड़ी की गदा) की सहायता से शत्रुसेनाओं को जीतने का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है[9]। अश्वियुगल जब अभीष्ट फल प्रदानार्थ दिवोदास के घर जाते हैं तब उनके रथ में वृषभ तथा शिशुमार वाहन रूप में नियुक्त रहते हैं[10]। प्लायोगि आसंग की दानस्तुति में कहा है कि वह दश सहस्र उक्षा दान में देता है[11]। इसी प्रकार प्रस्कण्व द्वारा दान में दिये गये सौ श्वेत उक्षाओं के विषय में वर्णन है कि वे ऐसे चमकते हैं, जैसे आकाश में तारे[12]। इन सब प्रसंगों में वृषभ तथा उक्षा शब्दों का स्थूल अर्थ बैल ही है।

अग्नि

ऋग्वेद में लगभग २० स्थलों में अग्नि को वृषभ कहा गया है। ३ स्थलों में उसे उक्षा नाम से भी स्मरण किया गया है। वृषभ या उक्षन् शब्द प्रायः अग्नि के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जिसका अर्थ है वर्षक अग्नि। कहीं-कहीं अग्नि को केवल 'वृषभ' न कह कर 'चर्षणीनां वृषभः'[13], 'स्तियानां वृषभः'[14] या 'क्षितीनां वृषभः'[15] कहा गया है, अर्थात् मनुष्यों पर अभिमत फलादि की वर्षा

१. ऋषिवृषिभ्यां कित्। उ० ३.४०३
२. श्वन्नुक्षन्पूषन्०। उ० १.१५७
३. १.६४.१०
४. ७.१९.१ तथा १०.१०३.१
५. ७.७९.४
६. ८.६०.१३
७. १०.८६.१५
८. १०.७५.३
९. १०.१०२
१०. १.११६.१८
११. ८.१.३३
१२. ८.५५.२
१३. ३.६.५
१४. ७.५.२
१५. १०.१८७.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाला, ओलों की वर्षा करने वाला, तथा भूमियों या प्रजाओं पर जल या सुखादि की वृष्टि करने वाला। अग्नि को सहस्र सींगों वाला वृषभ[1] तथा बहुत सी ग्रीवाओं वाला वृषभ[2] भी कहा गया है। इसे घृतपृष्ठ उक्षा[3] के रूप में भी चित्रित किया गया है।

यह वृषभ या उक्षा अग्नि पार्थिव यज्ञाग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय वैद्युताग्नि तथा द्युस्थानीय सूर्याग्नि तीनों के रूप में व्याख्यात किया गया है।। परमात्माग्नि, जीवात्माग्नि, प्राणाग्नि, संकल्पाग्नि आदि रूपों में भी इसकी व्याख्यायें होती हैं। वृषभ अग्नि के चित्रण के निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं :

यज्ञाग्नि :

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनि-
र्घृते श्रितो घृतमस्य धाम।
अनुष्वधमावह मादयस्व
स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्॥ऋग् २.३।११

"इस यज्ञाग्नि में मैं घृत का सिंचन करता हूँ। घृत इसका कारण है, उत्पन्न होकर यह घृत के ही आश्रय से रहता है, घृत ही इसका धाम है। हे वृषभ, तू हमारी प्रत्येक हवि के प्रति देवों का आवाहन कर, हमें आनन्दित कर, स्वाहापूर्वक दिए गए हमारे हव्य का वहन कर।"

समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तव श्रियम्।
वृषभो द्युम्नवाँ असि समध्वरेष्विध्यसे॥
ऋग् ५.२८.४

"हे यज्ञाग्नि, समिद्ध हुए तुझ तेजस्वी की श्री की मैं स्तुति करता हूँ। तू वृषभ है, तू यशस्वी है, तू यज्ञों में प्रदीप्त किया जाता है।"

वैद्युताग्नि या सूर्याग्नि :

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं
यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ
अधूनोत् काष्ठा अव शम्बरं भेत्॥
ऋग् १.५९.६

"वृषभ अग्नि के महत्त्व का मैं वर्णन करता हूँ जिस मेघसंहारक का मानवगण सेवन करते हैं। वह वैश्वानर अग्नि दस्यु को मार देता है, जलों को प्रकम्पित कर देता है, तथा मेघरूप शम्बरासुर का भेदन कर देता है।"

अग्निसूक्त के निम्न मन्त्र में एक महान् उक्षा का वर्णन किया गया है :

उक्षा महाँ अभि ववक्ष एने
अजरस्तस्थावितऊतिर्ऋष्वः।
उर्व्याः पदो निदधाति सानौ
रिहन्त्यूधो अरुषासो अस्य॥
ऋग् १.१४६.२

"एक महान् उक्षा (विशाल बैल) ने इन द्यावापृथिवी दोनों को अपने ऊपर उठाया हुआ है, तो भी वह जीर्ण नहीं होता तथा दर्शनीय बना हुआ खड़ा रहता है। वह पृथिवी के ऊर्ध्वप्रदेश (वेदि) में अपने पैरों को रखे है तथा इसकी लाल-लाल जिह्वायें ऊधस् (अन्तरिक्ष) को चाट रही हैं।" अग्निसूक्त में पठित होने से यह महान् उक्षा अग्नि ही है।

इन्द्र

ऋग्वेद में इन्द्र के लिए लगभग ६५ वार वृषभ शब्द प्रयुक्त हुआ है। उक्षा साक्षात् रूप से इन्द्र के लिए नहीं आया, यद्यपि एक स्थान पर सायण ने उक्षा का अर्थ इन्द्र किया है।[4] वृषभ कहीं इन्द्र का विशेषण बन कर आया है तथा कहीं स्वतन्त्र रूप से इन्द्र के पर्यायवाची के रूप में। कहीं-कहीं इन्द्र को 'जनानां वृषभः'[5], 'सतां वृषभः'[6]

१. ५.१.८
२. ५.२.१२
३. १०.१२२.४
४. द्रष्टव्य : ९.८९.३ का सायणभाष्य
५. १.१७७.१
६. २.१.३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतीनां वृषभः'[1], 'कृष्टीनां वृषभः'[2], 'क्षितीनां वृषभः[3] तथा 'चर्षणीनां वृषभः'[4] भी कहा गया है। जल, सुख, मनोवांछित फल आदि का ववर्षक होने से तथा पशुओं में बैल के समान देवों में श्रेष्ठ होने से इन्द्र का वृषभ नाम है। इन्द्र स्वयं भी वृषभ है तथा वृषभ (बैल) के समान भीम भी।[5] इस इन्द्र रूपी वृषभ ने भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों लोकों को धारण किया हुआ है और यह अन्तरिक्ष से जलों को भी बरसाता है :

नि सामनामिषिरामिन्द्र भूमिं
महीमपारां सदने ससत्थ ।
अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षम्
अर्षन्त्वापस्त्वयेह प्रसूताः ।। ऋग् ३.३०.९

भूमि के बैल के सींग पर टिके होने का पौराणिक विचार यहीं से लिया गया प्रतीत होता है।[6] अदिति द्वारा इन्द्र के जन्म का वृत्त वृषभ की पहेली के रूप में ऋग्वेद में इस रूप में वर्णित हुआ है :

गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागा-
मनाधृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम् ।
अरीळं वत्सं चरथाय माता
स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम् ।। ऋग् ४.१८.१०

अर्थात् "सकृत्प्रसूता गौ (गृष्टि) ने एक बैल को को जन्म दिया है जो बल में प्रवृद्ध है, अपराजेय है, मोटा-ताजा है, शत्रुओं से अनभिभूत है, तो भी वत्स है।" यह बूढ़ा बैल इन्द्र ही है।

इन्द्र के सम्बन्ध में एक विचित्र बात यह है कि वह केवल स्वयं ही वृषभ, वृषा या वृष नहीं है, अपितु उसका वज्र भी वृषा है, उसका रथ भी वृषा है, उसके वाहन हरि भी वृषा या वृषभ हैं, उसके आयुध भी वृषभ हैं, उसका पेय सोमरस भी वृषभ है और सोमरस के पान से चढ़ने वाला मद भी वृषा या वृषभ है :

वृषा ते वज्रं उत ते वृषा रथो
वृषणा हरी वृषभाण्यायुधा ।
वृष्णो मदस्य वृषभ त्वमीशिषे
इन्द्र सोमस्य वृषभस्य तृप्णुहि ।। ऋग् २.१६.६

साथ ही इन्द्र का सोमपान का साथी अग्नि भी वृषभ है,[7] जिनसे सोमरस पीसा जाता है वे सिल-बट्टे (ग्रावा) भी वृषभ हैं, सोमरस को पीसने वाले अध्वर्यु भी वृषभ हैं, इन्द्र का अन्न भी वृषभ है,[8] इन्द्र के घोड़ों की रासें (रश्मियां) भी वृषभ हैं,[9] और इन्द्र का बल भी वृषभ है।[10]

सोम

ऋग्वेद में ११ वार स्पष्ट रूप से सोम को वृषभ कहा गया है। वृषभ सोम का रेतस् (रस) पाकर वत्स की मातृभूत धीतियाँ शब्दायमान हो जाती है।[11] जैसे भयंकर वृषभ बल दिखाने की इच्छा से अपने शृंगों को तीक्ष्ण करता हुआ दहाड़ता है, वैसे ही सोमरूप वृषभ भी अपने डंठल रूपी हरे-हरे सींगों को सिल-बट्टों पर तीक्ष्ण करता हुआ शब्द करता है।[12] जैसे वृषभ गोयूथ में जाता है, वैसे

---

१. ६.१७.२
२. ७.२६.५
३. ७.९८.१
४. ८.९६.४ तथा १८
५. १०.१०३.१
६. तुलनीय : उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ९.८३.३, उक्षा स द्यावापृथिवी विभर्ति १०.३१.८, अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम् । अथर्व. ४.११.१
७. २.१६.४
८. २.१६.५
९. ६.४४.१९
१०. ६.१९.९
११. ९.१९.४
१२. ९.७०.७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही सोमरूपी वृषभ 'आपः' के समीप जाता है।[1] दस अंगुलियां ग्रावाओं द्वारा वृषभ सोम को जलों में दुहती हैं।[2] यह सोम सहस्र धारों से बहने वाला वृषभ है, जो ऋतजात है :

सहस्रधारं बृषभं पयोवृधं
प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे
राजा देव ऋतं बृहत्॥ ऋग् ९.१०८.८

सोम उक्षा भी है। ऋग्वेद में ५ वार सोम-सूक्तों में में उसके लिए उक्षा शब्द आया है। उक्षा सोम जब निचोड़े जाने पर शब्द करता है, तब धेनुएँ (प्रीणयित्री स्तुतियाँ या आपः) उसके समीप जाती हैं।[3] इस पर्वतनिवासी (गिरिष्ठा) उक्षा को बुद्धिमान् लोग ऊर्ध्व स्थानों पर दुहते हैं।[4] यह सोम सिंधु की उत्ताल तरंगों में लहराने वाला उक्षा पशु है :

अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते
ऋतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं
हिरण्यपावाः पशुमासु गृभ्णते॥ ऋग् ९.८६.४३

पर्जन्य

ऋग्वेद में तीन स्थलों में पर्जन्य को वृषभ कहा गया है।[5] ये तीनों स्थल पर्जन्य-सूक्तों के ही हैं। एक अन्य मन्त्र में वात के साथ युगलरूप में पर्जन्य को वृषभ कहा गया है।[6] सायण ने कुछ अन्य स्थलों पर भी जिनमें देवता यद्यपि पर्जन्य नहीं है, वृषभ का अर्थ मेघ या पर्जन्य किया है।[7] एक स्थल में वह उक्षा का अर्थ भी पर्जन्य करता है।[8] पर्जन्य वर्षा करने के कारण या ओषधि रूप गौओं में रेतस् का आधान करने के कारण वृषभ कहलाता है। इस पर्जन्य रूपी वृषभ का आश्रय होने के कारण ही वेद में अन्तरिक्ष को 'वृषभस्य नीडः' कहा गया है।[9] पर्जन्य वृषभ का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है :

अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः
स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास।
कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू
रेतो दधात्योषधीषु गर्भम्॥ ऋग् ५.८३.१

वायु और आदित्य

एक मन्त्र में सरस्वान् को वृषभ कहा गया है।[10] वहां सरस्वान् का अर्थ सायण ने जलकणों से युक्त वायु किया है। वात तो स्पष्ट रूप से ही वृषभ नाम से कथित हुआ है।[11] एक स्थल पर वायु के अश्वों को उक्षा कहा गया है, जो वायु को द्यावापृथिवी के मध्य में संचार कराते हैं तथा जिनकी गति मरुभूमि में भी अपहृत नहीं होती।[12] ऋग्वेद के अनुसार तीनों लोकों में एक-एक वृषभ स्थित है[13], जिसकी व्याख्या सायण ने इस रूप में की है कि पृथ्वी लोक का वृषभ अग्नि, अन्तरिक्ष का वृषभ वायु तथा द्युलोक का वृषभ आदित्य है। एक प्रकरण में एक ऐसे सहस्र-शृंग वृषभ का वर्णन है जो समुद्र में से उदित हुआ

---

१. ९.७६.५
२. ९.८०.५
३. ९.६९.४
४. ९.९५.४
५. ५.८३.१, ७.१०१. १ तथा ६
६. ६.४९.६
७. १.७९.२, ३.५५.१७, ४.१.११ तथा १२, ५.५८.६, ७.३६.३
८. ४.५६.१
९. ४.१.११
१०. ७.९५.३
११. १०.६५.९
१२. १.१३५.९
१३. ५.६९.२
१४. ७.५५.७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है।[14] व्याख्याकारों के अनुसार यह आदित्य ही है। उक्षा नाम से सूर्य का निम्न चित्रण बड़ा ही रोचक है :

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः
पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा
विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ॥ ऋग् ५.४७.३

"सूर्य रूपी उक्षा है, जो तेज का समुद्र है, आरोचमान है, रश्मि रूपी सुन्दर पंखों वाला है, पूर्वदिग्वर्ती पिता आकाश के घर में प्रविष्ट हुआ है, मध्याह्न में आकाश के बीचोबीच स्थित हो जाता है, उसका नाम पृश्नि और अश्मा भी है, वह चङ्क्रमण करता रहता है और दिन के दोनों प्रान्तों उषा और सन्ध्या की पालना करता है।"

बृहस्पति, रुद्र और मरुत्

५ स्थलों में बृहस्पति[1] के लिए तथा ५ ही स्थलों में रुद्र[2] के लिए ऋग्वेद में वृषभ शब्द प्रयुक्त हुआ है। तीन स्थलों में मरुतों[3] को उक्षा कहा गया है। बृहस्पति रूप वृषभ का निम्न प्रसंग द्रष्टव्य है :

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा
बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न
आ रोदसी वृषभो रोरवीति ॥ ऋग् ६.७३.१

"जो पर्वत (मेघ) को तोड़ डालने वाला है, प्रथम प्रसिद्ध है, सत्यमय है, अंगारों से उत्पन्न हुआ है, हवि ग्रहण करने वाला है, दोनों लोकों में निर्बाध संचार करने वाला है, तप्त यज्ञ में स्थित है, हमारा पिता है, वह वृषभ बृहस्पति द्यावापृथिवी में गर्ज रहा है।"

रुद्र वृषभ का नमूना भी देखिए :

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्
त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम्।
घृणीवच्छायामरपा अशीया
विवासेयं रुद्रस्य सुम्नम् ॥ ऋग् २.३३.६

"मरुतों सहित वृषभ रुद्र ने मुझ प्रार्थी को तेजोमय गति से आनन्दित कर दिया है। जैसे सूर्य की धूप से व्याकुल मनुष्य छाया का सेवन करता है, वैसे ही मैं उस वृषभ की छाया (शरण) का सेवन करूं, मैं रुद्र के सुख को अपनाऊँ।"

मरुत् रूपी उक्षाओं का निम्न वर्णन भी कैसा चामत्कारिक है :

ते जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो
रुद्रस्य मर्या असुरा अरेपसः।
पावकासः शुचयः सूर्या इव
सात्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पसः ॥ ऋग् १.६४.२

वे मरुत रूपी उक्षा आकाश से उत्पन्न हुए हैं, रुद्र के पुत्र हैं, असुर (प्राणदायक) हैं, पापरहित हैं, पावक हैं, सूर्य के समान पवित्र हैं, पुरुषों के समान एक ओर तो उदकबिन्दुओं वाले (दयालु) हैं, दूसरी ओर घोर रूप वाले हैं।"

इतर अर्थ

अन्य भी कतिपय अर्थों में ऋग्वेद के उक्षा तथा वृषभ शब्द प्रयुक्त उपलब्ध होते हैं। एक मन्त्र में आकाश में स्थित पाँच उक्षाओं का उल्लेख आया है।[4] ये वृषभ राशि के नक्षत्रपुंज के पाँच प्रमुख तारे प्रतीत होते हैं, यद्यपि सायण ने ये पाँच उक्षा इन्द्र, वरुण, अग्नि, अर्यमा तथा सविता अथवा अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत् बतलाये हैं। एक स्थान पर सायण ने उक्षा का अर्थ सेक्ता स्तोतृजन किया है।[5] सायण एक मन्त्र में उक्षा का वैकल्पिक अर्थ अश्व लेते हैं।[6] एक स्थल में उषाओं के वाहन अरुणी गौओं के लिए उक्षा शब्द का प्रयोग

१. १.१९०.१ तथा ८, ३.६२.६, ६.७३.१, १०.९२.१०
२. २.३३.४, ६, ७, ८, १५
३. १.६४.२, १.१६८.२, ५.५२.३
४. अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः। १.१०५.१०
५. ३.७.७
६. ६..६४.५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है[1]। एक प्रसंग में जहां द्यावापृथिवी के धारण का वर्णन है, सायण ने उक्षा का अर्थ हिरण्यगर्भ किया है।[2]

वृषभ एक मन्त्र में कुत्स[3] का विशेषण तथा एक मन्त्र में श्वित्र्य[4] का विशेषण बन कर आया है। मित्रावरुण को भी वृषभ कहा गया है[5]। सायण ने वृषभ के अर्थ यज्ञ[6], द्युलोक[7], प्रधान[8], रेतःसेक्ता पति[9], संवत्सर[10], स्तोत्र[11], दानी[12] तथा विक्रान्त कर्म[13] भी किये हैं। वृषभ पुंजाति[14] के लिए भी आता है।

एक अद्भुत वृषभ

ऋग्वेद में एक अद्भुत वृषभ का वर्णन आया है, जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं और सात हाथ हैं। वह तीन खूंटों से बंधा हुआ डकरा रहा है। वह महान् देव है, जो सब मनुष्यों के अन्दर आकर प्रविष्ट है। यह वर्णन यजुर्वेद में भी है[15]।

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥ ऋग् ४.५८.३

यास्कीय निरुक्त[16] के अनुसार यह वृषभ यज्ञ है। चार वेद ही उसके चार सींग हैं, प्रातः मध्याह्न तथा सायं के तीन सवन ही तीन पैर हैं। प्रायणीय तथा उदयनीय उसके दो सिर हैं। गायत्र्यादि सात छन्द हाथ हैं। वह यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण तथा कल्प इन तीन खूंटों से बंधा हुआ है। यज्ञ में होने वाला मन्त्रपाठ ही उस वृषभ का बोलना है। महाभाष्यकार पतंजलि के मत में यह वृषभ शब्द है। शब्द के चार भेद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ही इसके चार सींग हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान काल तीन पैर हैं। सुप् और तिङ् दो सिर हैं। सात विभक्तियां सात हाथ हैं। उरस्, कण्ठ और सिर इन तीनों स्थानों में बंधा हुआ वह बोल रहा है, यतः तीनों स्थानों की सहायता से उच्चारित होता है।

सायण का कथन है कि इस सूक्त के अग्नि, सूर्य, अप्, गो तथा घृत ये पांच देवता होने से यह मन्त्र पंचधा व्याख्यात हो सकता है। यज्ञाग्नि तथा सूर्य के पक्ष में उसने व्याख्या प्रदर्शित भी की है। यज्ञपरक व्याख्यान प्रायः निरुक्त का ही अनुसरण करता है। सूर्यपरक व्याख्या के अनुसार चार दिशाएं सींग हैं, तीन वेद तीन पैर हैं, अहोरात्र दो सिर हैं, सात रश्मियां अथवा छः विलक्षण ऋतुएं तथा एक साधारण ऋतु सात हाथ हैं, तीन क्षित्यादि लोकों में अग्न्यादि रूप से संबद्ध है, अथवा ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त इन तीन द्वारा तीन रूपों में बद्ध है। वर्षक होने से वृषभ है तथा वृष्ट्यादि द्वारा शब्द भी करता है। प्राण, आत्मा, ब्रह्म, काव्यपुरुष, राष्ट्र आदि विषयक भी इसकी व्याख्यायें की गई हैं।

वृषभ-पाक

ऋग्वेद के दो स्थलों में वृषभ-पाक[17] का तथा अन्य दो स्थलों में उक्षा-पाक[18] का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग् १.१६४.४३ में कहीं दूर पर गोबर के उपले का धुआं दिखाई देने की चर्चा है। उसके विषय में कहा गया है कि वीरों ने उक्षा पृश्नि (चितकबरे बैल) को पकाया

---

१. ७.७९.१
२. १०.३१.८
३. १.३३.१४
४. १.३३.१५
५. ५.६३.३
६. १.१६६.१
७. १.१६०.३
८. २.३०.८
९ २.१६.८, १०.१०.१०, १०.४०.११
१०. ३.५६.३
११. ७.७९.४
१२. ८.९३.१ तथा ७
१३. १०..२८.३
१४. १०.५.७
१५. यजुः मा. वा. सं. १७.९१
१६. निरुक्त १३.७
१७. १०.२७.२, २८.३
१८. १.१६४.४३, १०.८६.१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, उसी का यह धुआं है :

शकमयं धूममारादपश्यं
विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।।

सायण यहां वीर का अर्थ विविध विधियां करने-कराने वाले ऋत्विग् या देव तथा उक्षा का अर्थ सोमवल्ली करते हैं। प्रमाण रूप में उन्होंने एक वचन भी उद्धृत किया है[1]। उक्षा-पाक विषयक दूसरा मन्त्र १०म मण्डल के इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद में उपलब्ध होता है। वहां इन्द्र कहता है कि मेरे लिए याज्ञिक लोग पन्द्रह और बीस उक्षाओं को पकाते हैं तथा उन परिपक्व उक्षाओं से वे मेरी दोनों कुक्षियों को भर देते है, उससे मैं खूब मोटा हो गया हूँ :

उक्षणो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमस्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।। ऋग् १०.८६.१४

इससे पूर्व के मन्त्र में भी इन्द्र द्वारा उक्षाओं के खाये जाने का संकेत है[2], जहाँ सायण ने सेचनसमर्थ पशुओं (सांडों) के भक्षण का ही भाव लिया है[3]। प्रस्तुत मन्त्र में भी वह उक्षा का अर्थ पशु ही लेता है[4]। पर वस्तुतः यहां भी प्रकरणानुसार उक्षा का अर्थ सोम ही संगत ठहरता है। सूक्त के प्रारंभ में इन्द्र की पुत्रवधू वृषाकपायी ने इस बात पर रोष व्यक्त किया है कि याज्ञिक लोग सोमरस तो खूब अभिषुत करते हैं, पर उसे वे इन्द्र को नहीं पिलाते, जबकि वृषाकपि सोम पीकर आकण्ठ तृप्त हो जाता है[5]। १३वें मन्त्र में वृषाकपायी की उसी आपत्ति का उत्तर दिया गया है कि तुम चिन्ता न करो, अब तुम्हारे श्वसुर इन्द्र को बहुत से सोमरस (उक्षा) पान करने मिलेंगे।[6] अतः १४वें मन्त्र में इन्द्र जिन १५ और २० पके हुए उक्षाओं को खाने की बात कर रहा है, वे सांड नहीं, प्रत्युत परिपक्व सोम के ही १५ और २० पात्र हैं। अन्यथा आपत्ति तो हो सोमरस न मिलने की और उसका परिहार किया जाये सांड खिलाकर, यह सर्वथा विसंगत प्रतीत होता है। अतः जैसे सायणाचार्य पूर्वोल्लिखित प्रसंग में उक्षा पृश्नि का अर्थ सोमवल्ली करते हैं, वैसे ही यहां भी करना उचित है। ऋग् ९.८६.४३ में तो 'उक्षणं पशुम्' शब्द आये हैं, तो भी सायण ने वहाँ बैल या सांड अर्थ न लेकर सोम अर्थ ही किया है, भले ही वहां उसे पशु का अर्थ द्रष्टा करना पड़ा है।

निम्न मन्त्र में वृषभ के पाक का प्रसंग है। वसुक्र इन्द्र से कह रहा है कि जब मैं शरीर से पुष्ट होते हुए अदेवयु (अयाज्ञिक) लोगों को युद्ध के लिए ललकारूंगा तब आपके लिए मैं मोटा-ताजा वृषभ पकाऊंगा और उसमें तीव्र अभिषुत पन्द्रहवें सोम को भी सिंचित करूंगा :

यदीदहं युधये संनयानि
अदेवयून् तन्वा शूशुजानान् ।
अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि
तीव्रं सुतं पञ्चदशं निषिञ्चम् ।।
ऋग् १०.२७.२

यहाँ भी सायण ने वृषभ का अर्थ सेचनसमर्थ पुंपशु (सांड) किया है। किन्तु वस्तुतः यह वृषभ भी सोम ही है। चौदह सोमपात्रों का एक पात्र में एकत्र किया हुआ सोम 'वृषभ' है, जिसे पकाया जाता है तथा उसमें पन्द्रहवें पात्र का सोमरस भी निषिक्त कर दिया जाता है।

अगले ही सूक्त में फिर वृषभ-पाक आता है :

अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान्
सुन्वन्ति सोमान् पिबसि त्वमेषाम् ।
पचन्ति ते वृषभां अत्सि तेषां
पृक्षेण यन्मघवन् हूयमानः ।। ऋग् १०.२८.३

वसुक्र इन्द्र से कह रहा है कि यजमान आपके लिए

---

१. सोम उक्षाभवत् पूर्वं तं देवाः शकृतापचन् ।
यज्ञार्थे तद्भवो धूमो मेघ आसीत् तदुच्यते ।।

२. घसत् त इन्द्र उक्षणः । १०.८६.१३

३. इन्द्रः उक्षणः सेचनसमर्थान्···पशून् घसत् प्राश्नातु ।
सायण

४. उक्षणः वृषभान् । सायण

५. विहि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा ।।

६. वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविः ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मदजनक त्वरित सोमों को ग्रावाओं से अभिषुत करते हैं तथा आप उनका पान करते हैं। वे आपके लिए वृषभ पकाते हैं तथा आप उनका भक्षण करते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में वसुक्रपत्नी ने ये उद्गार प्रकट किए हैं कि यज्ञ में अन्य सब देव तो आ गये, किन्तु मेरे श्वसुर इन्द्र नहीं आये, यदि वे आते तो धाना (भुने जौ) खाते और सोम पीते तथा पूर्णतः तृप्त हो कर घर जाते[1]। वे बैल या सांड खाते, ऐसा उसने नहीं कहा है। इतने में ही इन्द्र आ जाता है। तब वसुक्र ने उक्त तृतीय मंत्र का उच्चारण किया है कि आपके लिए सोमरस तथा वृषभ तैयार हैं। इस प्रसंग को देखते हुए यहाँ वृषभ का अर्थ धाना (यव) लेना ही उचित है। इन्द्र के अन्न का भी वृषभ नाम है, यह हम पहले देख चुके हैं। एवं 'पचन्ति ते वृषभान्' का अर्थ होगा कि आपके लिए यवों को भूनते हैं। अथवा पूर्ववत् वृषभ का अर्थ सोमवल्ली भी ले सकते हैं। इन्द्र सोमपान करता है तथा सोमवल्ली की पकाई हुई डंठलों का भक्षण करता है। इसी सूक्त में ११वें मन्त्र में उक्षा-भक्षण का उल्लेख आया है—'सिम उक्षणोऽवसृष्टाँ अदन्ति', जहाँ सायण ने उक्षा का सोम अर्थ ही लिया है[2]।

यह भी द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही इन्द्र का भोज्य धाना (भुने जौ), करम्भ (दही मिश्रित सत्तू) और पुरोडाश (अपूप) है तथा पेय सोमरस है[3], बैल उसका भोजन नहीं है। अतः वृषभ तथा उक्षा शब्दों को देखते ही तुरन्त बैल को पकाने की कल्पना कर लेना वेद के प्रति न्याय नहीं होगा। इन्द्र जिन परिपक्व वृषभों तथा उक्षाओं को खाता है वे भुने जौ, पुरोडाश या सोम ही हैं, बैल का मांस नहीं। वेद में इन्द्र को पुरोडाश तथा परिपक्व सोम भेंट करने की ही महिमा लिखी है[4], बैल खिलाने की नहीं।

उक्षा की आहुति

ऋग्वेद में चार बार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अग्नि में उक्षाओं की आहुति का उल्लेख आता है[5]। निम्न मन्त्र विशेषतः द्रष्टव्य है :

> यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो
> वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।
> कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे
> हृदा मतिं जनये चारुमग्नये॥ ऋग् १०.९१.१४

यहाँ अश्व, वृषभ, वशा और मेष पशुओं के साथ उक्षा भी उल्लिखित है, और अग्नि का विशेषण सोमपृष्ठ पृथक् पठित होने से यहां उक्षा का अर्थ सोम भी नहीं हो सकता। परन्तु वस्तुतः इन पशुओं की अग्नि में आहुति अभिप्रेत नहीं है, अपितु ये पशु अग्नि को समर्पित कर सार्वजनिक हित के लिए उत्सर्ग कर दिए जाते हैं। मन्त्र में पठित 'अवसृष्टासः' पद इसी बात का ज्ञापक है। एक मन्त्र में यह भी कहा गया है कि अग्नि के लिए जो हम मन्त्रपूर्वक हृदय से संस्कृत हवियाँ देते हैं वे ही उक्षा, वृषभ और वशा हैं[6]। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि अग्नि केवल पार्थिव अग्नि ही नहीं है, अपितु उत्तर ज्योतियाँ विद्युत् और आदित्य भी अग्नि हैं[7]। सूर्य रूपी अग्नि के लोक द्यौ में अश्व, वृषभ, मेष आदि नामों वाले नक्षत्रपुंज आहुत करके छोड़े हुए हैं, यह भी मन्त्र का आशय हो सकता है। वेद में अग्नि का भोजन अश्व, वृषभ आदि पशु नहीं हैं, किन्तु समिधा और घृत ही

---

१. विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम ममेदह श्वसुरो नाजगाम। जक्षीयाद् धाना उत सोमं पपीयात् स्वाशितः पुनरस्तं जगायात्॥ १०.२८.१

२. उक्षणः अवसृष्टान् इन्द्रेण निसृष्टाननुज्ञातान् हविर्भूतान् सोमान् यज्ञेषु अदन्ति भक्षयन्ति। सायण

३. द्रष्टव्य : ऋग् ३.५२, जिसमें तीनों सवनों का पृथक् पृथक् इन्द्र का भोज्य उल्लिखित है।

४. ऋग् ८.३१.१-४

५. २.७.५, ६.१४.४७, ८.४३.११, १०.९१.१४

६. ६.१६.४७

७. अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते। निरुक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है[1]। अतः अग्नि में पशुओं का होम करना निःसन्देह अवैदिक है।

उपसंहार

इस प्रकार हमने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद के वृषभ और उक्षन् शब्द, जो लोक में प्रायः बैल अर्थ को देते हैं, कितने विभिन्न अर्थों को अपने अन्दर गृहीत किये हुए हैं। अधिकतर हमने इस लेख में ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही विचार किया है। स्वयं ऋग्वेद ही जिन अग्नि, इन्द्र, सोम, सूर्य आदि को स्पष्ट रूप से वृषभ या उक्षा कहता है, उन्हीं को हमने लिया है। ये वृषभ या उक्षा शब्द से वाच्य अग्नि, इन्द्र आदि कौन हैं, इस विषय को यहाँ नहीं छेड़ा गया है। इन अग्नि, इन्द्र आदि की आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से व्याख्यायें करने पर उनके लिए प्रयुक्त वृषभ और उक्षा शब्दों के अर्थ भी तदनुसार हो सकते हैं। जो स्थिति वृषभ एवं उक्षा शब्दों की है वही बैलवाची वृष, अनड्वान्, वृषभ आदि शब्दों की भी है। अथर्ववेद में प्राण को अनड्वान् कहा गया है[2]। अनड्वान् द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष को तथा छहों दिशाओं को एवं सम्पूर्ण भुवन तक को धारण करता है, यह भी वर्णित हुआ है[3]। यह कार्य साधारण बैल पशु नहीं कर सकता। एवं वैदिक शब्द अपने अन्दर अनेक विशिष्ट अर्थों को गृहीत किये हुए हैं। वेदव्याख्याकार को वैदिक शब्दों का यह वैशिष्ट्य अवश्य ध्यान में रखना होगा। अन्यथा वह वेद के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। वृषभ-पाक तथा वृषभ-होम की चर्चा अभी की जा चुकी है। वैदिक शब्दों के रहस्य को न समझने से उन प्रकरणों का कैसा अनर्थ किया गया है। वैदिक शब्द-प्रयोग की शैली से अनभिज्ञ होने का ही यह परिणाम है कि आज अनेक पाश्चात्त्य तथा एतद्देशीय विद्वत्कोटि के व्यक्ति भी वेदों के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण विचार रखते हैं। इस लेख में वृषभ और उक्षा शब्दों के अर्थ पर विचार कर हम इसी बात पर प्रकाश डालना चाहते हैं कि वेद के किसी शब्द का क्या अर्थ है इस विषय में सर्वप्रथम प्रमाण स्वयं वेद ही है। वेद में कोई शब्द कहाँ-कहाँ किस अर्थ में आया है, इसका विचार करते हुए यदि हम वैदिक शब्दों का तथा वैदिक प्रकरणों का अर्थानुसन्धान करेंगे तभी वेद के साथ समुचित न्याय हो सकता है।

रीडर, संस्कृत-विभाग
गुरुकुल विश्वविद्यालय
हरिद्वार

—|—

१. द्रष्टव्य : २.७६, ७.३.१, १०.६९.२
२. अथर्व. ११.४.१३
३. अथर्व. ४.११.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर की दार्शनिक मान्यताएँ

डा० विष्णुदत्त राकेश

पुष्टि सम्प्रदाय में सम्मिलित होने से पूर्व सूरदास शैव थे या हरिदासी सम्प्रदाय के सखी भावोपासक भक्त, प्रामाणिक रूप से कह सकना कठिन है। किन्तु वार्ता सम्प्रदाय तथा वल्लभ सम्प्रदाय सम्बन्धी साहित्य के अनुशीलन द्वारा यह असन्दिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि वह पुष्टि मार्ग के जहाज थे। पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैत दर्शन सूर के जीवन काल का ख्याति लब्ध दर्शन था। इसका प्रमाण १५६५ वि० में सम्पन्न होने वाले विद्यानगर शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने पर राजा कृष्ण देवराय द्वारा आचार्य श्री का कनकाभिषेक वाला वृत्तान्त है। इसी शास्त्रार्थ में आचार्य बल्लभ ने शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद का प्रतिपादन करते हुए मायावाद का खण्डन किया। इस अभूतपूर्व ख्याति लाभ के उपरान्त दक्षिण यात्रा से लौटते हुए १५६८ वि० के लगभग आचार्य बल्लभ से सूरदास का साक्षात्कार हुआ। इसी भेंट में उन्होंने दीक्षा प्राप्त की। दीक्षा के बाद सूर की भक्ति पद्धति स्थिर हुई और वह सगुण स्वरूप के समर्थक तथा भगवदनुग्रह पद्धति के प्रबल पोषक हो गये। उनकी दार्शनिक मान्यताओं और भक्ति पद्धति पर आचार्य वल्लभ की गहरी छाप पड़ी और अपने अभिनिवेश के कारण अष्ट छाप के कवियों में शुद्धाद्वैत दर्शन के वह प्रथम अग्रदूत सिद्ध होते हैं।

पुष्टिमार्गी सेवा पद्धति तथा शुद्धाद्वैत दर्शनः,

आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म सूत्र तथा श्री मद्भागवत् पर क्रमशः अणुभाष्य एवं सुबोधिनी लिखकर सगुण भक्ति समर्थक विष्णु स्वामी सम्प्रदाय तथा निर्गुण साधना मूलक अनुग्रह सम्प्रदाय की समंजस सेवा भक्ति का प्रवर्तन किया। ब्रह्म सम्बन्ध को लेकर ब्रह्म सूत्रों के वैष्णव भाष्यों में एक विलक्षण तत्त्व चिन्तन का प्रभाव आचार्य वल्लभ पर दिखाई देता है। औपनिषद् परतत्त्ववाचक ब्रह्म, वेदान्ताभिमत तथा सांख्याभिमत दोनों हैं। इस संबंध में ब्रह्मसूत्रकार का समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। आचार्य वल्लभ ने स्वरूपतः केवल परतत्त्व ब्रह्म को ही एक मात्र तत्त्व माना है। वही अपने को जगद्रूप में परिणत करता है। परतत्त्व सच्चिदानन्द है। अतः "आनंदमयोऽभ्यासात्"[1] जैसे सूत्र की व्याख्या करते हुए आनन्दमय को आनन्द का हेतु कहा गया है। आनन्दमय आनन्द का विकार नहीं अपितु आनन्द का मूल होने के कारण प्रचुरानन्द पूर्ण है। आनन्दमय इतर जीव नहीं हो सकता। परतत्त्व सच्चिदानन्द ही जब अपने एक अंश में आनन्द का तिरोभाव कर देता है तब उक्त अंश को चिदंश या जीव समष्टि कहते हैं और जब दूसरे अंश में आनन्द और चित् दोनों का तिरोभाव कर देता है तब वह अंश जड़ तत्त्व हो जाता है। इस प्रकार परतत्व ही स्वयं चेतनाचेतनात्मक जगत् के रूप में परिणत होने के कारण जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।[2] तात्पर्य यह है कि माया सम्बन्ध रहित और जगत् के अद्वैत के कारण एक मात्र तत्त्व ब्रह्म है और जड़ जीवात्मक जगद्रूप कार्य भी ब्रह्म है। अतः दोनों का अद्वैत है। ब्रह्म जीवभाव को अविद्या या माया के कारण प्राप्त नहीं हुआ। वह अपनी इच्छा

१. ब्रह्म सूत्र १।१।१३,

२. ब्रह्म सूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, डा० रामकृष्णआचार्य पृष्ठ २१६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से चित् और आनन्द भाव का तिरोधान कर जड़ और जीव का हेतु बनता है। वह जब चाहे जड़ और जीव में उक्त गुणों का अविर्भाव कर सकता है। अविकृत परिणाम्वाद की कल्पना वल्लभ ने यहीं की। परब्रह्म के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रूप स्वीकार करते हुए उन्होंने एक ओर आध्यात्मिक रूप में अक्षर ब्रह्म स्वरूप की कल्पना की तथा उसे ज्ञान लभ्य और ज्ञानि-प्राप्य बताया तो दूसरी ओर आधिदैविक रूप को साकार पुरुषोत्तमरूप, भक्तिलभ्य तथा भक्त-सेव्य बताया। सूरदास ने सारावली में ब्रह्म का निरूपण इसी साम्प्रदायिक मान्यता के आधार पर किया है—

सोभा अमित अपार अखण्डित आप आतमाराम,
पूरन ब्रह्म प्रगट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम।
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प आहार,
ओंकार आदि वेद असुरहन निर्गुण सगुन अपार।
अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनाशी,
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक विलासी।
सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल,
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सब है अंश गुपाल।

ब्रह्म का आधिदैविक रूप ही सगुण लीला रूप है। श्रीमद्भागवतोक्त लीलातत्त्व पौराणिक तत्त्व है जिसे वैष्णव भक्ति साहित्य में सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ है। लीलावतार में विभिन्न रूपों में भगवान का दर्शन लाभ होता है, लीला की प्रमुखता का एक हेतु यह भी है, उनकी लीला अमोघ है। लीला से ही संसार की रचना, पोषण और संहार होता है। इतने पर भी लीलावतारी उसमें लिप्त नहीं होते।[1] आचार्य वल्लभ के उपास्य श्री कृष्ण एक ओर स्वधामगत् नित्य लीला करते हैं तो दूसरी ओर अवतार कालीन जगत्प्रवत्ति रूप बाह्य लीलायें भी करते हैं। श्री कृष्ण का उज्ज्वल रस मण्डित रूप लीलातत्त्व की समग्रता को प्रकाशित कर सकने के कारण ही ग्राह्य है।[2] इन लीलाओं के साधनागत हेतुओं पर विचार करते हुए आचार्य वल्लभ ने सुवोधिनी रास प्रकरण में स्पष्ट लिखा है—

ब्रह्मानन्दात्समुध्दृत्य भजनानंद योजने,
लीलायायुज्यते सम्यक् सातुर्येविनिरुप्यते ।।

समग्र जगत् को परमात्मा की बाह्य लीला मानकर, अन्तरंग लीलाधाम में रमने वाले भक्तों के लिये लीलातत्त्व का महत्त्व व्याख्या से परे है। इसीलिये महात्मा सूर विनय की सामान्य भक्ति को छोड़कर सारावली में लीलागान के लिये प्रतिश्रुत हुए।

श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौं, लीला भेद बतायौ
तादिन ते हरिलीला गाई एक लक्ष पद बन्ध।

इस प्रकार अन्तरंग लीलातत्त्व उनके आनन्द रूप की अभिव्यक्ति के कारण वैष्णव सम्प्रदाय में मान्य हुआ है। परमानन्द के नित्य विलास का पृथ्वी पर अवतरण इसी माध्यम से होता है। आधुनिक विद्वान् लीलातत्त्व के प्रतीकार्थ की अनेक व्याख्या करते हैं। पर चिदंश और सदंश के अभावगुण आनदांशं की अभिव्यक्ति के लिये ही लीलातत्त्व की प्रतिष्ठा की गई है। सारावली का साक्ष्य भी है—

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप,
कोटि कल्प बीतत नहिं, जानत विहरत युगलस्वरूप।

भगवान का लीलाधाम उसका स्वरूपगत अंश होने के कारण माया शक्तिजन्य संसार के गुणात्मक रूप से भिन्न होता है। अन्य माधुर्य रस निरूपक आचार्यों से सूर का वृन्दावन धाम व्रजधाम का तात्पर्यवाची होकर पृथक् रूप में आया है। स्वयं वल्लभ ने अणु भाष्य ४।२।१५ में गोकुल को वैकुण्ठ से अधिक महत्त्व दिया है—

---

१. सवा इदं विश्वममोघलीलः, सृजत्य वत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्। श्रीमद्भागवत् १।३।३६

२. आनन्द मात्र कर पाद मुखोदराधिः।
तत्त्वार्थ दीप निबन्ध पृष्ठ ८५,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूरसागर के दशम् स्कन्ध में लिखा है—

वृन्दावन व्रज को महतु कापै बरन्यो जाई,
चतुरानन पग परसि के लोक गयो सुखपाई।

वल्लभ सम्प्रदाय के गंभीर अन्वेषक डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार भी व्रजभूमि रस रूप भगवान के लीला-धाम गोलोक या गोकुल का ही अवतार है।[1] वृन्दावन बिहारी की लीला भूमि के प्रति अगाध आसक्ति का निरूपण इसी प्रकल्पना के कारण सूर ने सूरसागर की इन पंक्तियों में किया है—

नैननि की छवि यहै चतुर सोइ जो मुकुन्द दरसन हित धावै।
करतेई जु स्याम को सेवै चरननि चलि वृन्दावन जावै॥

ब्रह्म के अतिरिक्त शुद्धाद्वैत दर्शन में जीव को चिदंश होने के कारण सत्य माना गया है। अग्नि से विच्छुरित होने वाली चिंगारी की तरह जीव में भी ब्रह्म की सत्ता रहती है। जीव अणु है व्यापक विभु नहीं। तिरोहितानंद होने के कारण अज्ञान गम्य है। कर्म सापेक्षता के आधार पर जीव कोटियां निर्धारित होती हैं—सूरसागर कार के शब्दों में—

जिय करि कर्म जन्म बहुपावै,-फिरत फिरत बहुतै श्रम आवै।
ज्ञानी सदा एक रस जानै, तन के भेद भेद यहि मानै।
आत्म अजन्म सदा अविनासी, ताको देह मोह बड़ फांसी।

अविद्या ग्रस्त जीव संसारी अवस्था में कष्ट उठाते हैं पर पुष्टि मार्गी जीव भगवत्कृपा से ब्रह्मभाव के उदय पर व्यापकत्व पा जाते हैं। सूत्रकार ने यद्यपि जीव का परतत्त्व से स्वरूप भेद प्रतिपादित किया है तथा रामानुज, निम्बार्क एवं बलदेव ने भी अंशतत्त्व की व्याख्या इसी आलोक में की है। किन्तु वल्लभ का जीव विषयक मत अनुग्रह सिद्धान्त की कल्पना के कारण भक्ति तत्त्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है, दार्शनिक दृष्टिसे भले ही वह वैमत्य का विषय हो। जीवोपकरणों में इन्द्रिय, प्राण और मन को भी आचार्य वल्लभ स्वरूपतः उत्पन्न नहीं मानते। "यावद् विकारं तु विभागोलोकवत्" की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्वरूपतः सब कुछ ब्रह्म ही माना है तथा जीवतत्त्व और जड़ तत्त्व को परतत्त्व के आधीन माना है। कारण और कार्य वह दोनों है—सूर की निम्न पंक्तियों में इसी आशय की अभिव्यक्ति हुई है—

प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद बतायो।
गोपी ग्वाल कान्ह दुइ नाही ये कहुं नेक न न्यारे।

ब्रह्म और जीव के अतिरिक्त आचार्य वल्लभ ने जगत् के स्वरूप पर भी विचार किया है। तैत्तरीयोपनिषद् के साक्ष्य पर वह जगत् का कारण भी आनन्द को मानते हैं। जगत् ईश्वरेच्छा जन्य है और जीव की अविद्या रचना संसार है। जगत् नित्य है संसार अनित्य। तत्त्वार्थ दीप निबन्ध में कहा गया है।—

"तस्माध्देतोरस्य भगवतः शक्त्या अविद्यया जीव संसार उच्यते न तु जायते, अभिमत्यात्मकत्वात्, असत्त्वेनास्यगणनात्। अज्ञानं, श्रमः आदित्यादिशब्दा अहमेतिरूपे संसारे एव प्रवर्तन्त न तु प्रपंच इत्यर्थः तस्य ब्रह्मात्मत्कवात्।"

महाकवि सूर ने जगत् और संसार का यह सम्प्रदाय सिद्ध भेद अपने सामने रखा है। ब्रह्म रूप जगत् विषयक उनकी उक्ति है—

खेलत-खेलत चित में आई सृष्टि करन विस्तार,
अपनु आपु करि प्रगट कियो है हरि पुरुष अवतार।
कीने तत्व प्रगट ते ही छन सबै अष्ट अरु बीस।

ममतात्मक संसार की कल्पित सत्ता के सम्बन्ध में उनका दृढ़ मत है—

मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया,
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि विसराया।

ब्रह्म सूत्र में परमनिः श्रेयस या मुक्ति को अन्तिम लक्ष्य स्वीकार कर उसकी प्राप्ति का उपाय ब्रह्म विद्या

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—पृष्ठ ४०५, अणुभाष्य-२।३।१६।४३
२. विस्फुलिलंगा इवाग्नेर्हि जड़ जीवा विनिर्गताः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बताया गया है। आचार्य जैमिनी के मत का प्रतिवाद करते हुए सूत्रकार ने विद्या को कर्माग न मानकर स्वतन्त्र साधन माना है एवं "विकल्पो विशिष्ट फलत्वात्" (३।३।५७) की व्याख्या में उसके व्याख्याकारों ने सर्वथा भिन्न दृष्टि अपनाई है। आचार्य वल्लभ ने भी मर्यादा मार्ग तथा पुष्टि मार्ग के भेद से नई व्यवस्था की है। पुष्टि मार्गीय भक्ति में ब्रह्म सम्बन्ध अथवा आत्म निवेदन का प्रमुख स्थान है। इसमें आचार मार्ग का निरूपण है, अनुग्रह तत्व की प्रतिष्ठा है तथा सेवा परिचर्या की प्रमुखता है। भक्त की स्वत्व सहित सर्वात्मना समर्पित चेतना का प्रकटीकरण ही इसका लक्ष्य है। गोस्वामी हरिराय जी ने पुष्टिमार्ग-लक्षणानि शीर्षक श्लोकों में स्पष्ट कहा है—

अनुग्रहणैव सिद्धिलौकिकी यत्र वैदिकी,
न यत्नातन्यथा विघ्नः पुष्टि मार्गः सकथ्यते।

महाकवि सूर ने भी अष्टयाम सेवा तथा अनुग्रह मार्ग पर पर्याप्त छन्द लिखे। यहाँ पर पुष्टि भाव के पोषणार्थ "चरन कमल बन्दौ हरिराई" तथा "जापर दीनानाथ ढरै" जैसी छन्दों की शीर्ष पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं।

आचार्य वल्लभ ने जीवों के आनन्द भोग में ब्रह्म का आनन्द भोग माना है। यह आनन्द की उपलब्धि पुष्टि मार्गीय भक्तों को ही होती है, ज्ञान मार्गी भक्तों को नहीं।[1] आनन्द भोग की प्रक्रिया में भगवदनुग्रह से पुष्टि की प्राप्ति तथा लीलामय भगवत्साक्षात्कार की प्राप्ति की चर्चा उन्होंने की है। विभूतिमय विग्रह के दर्शन से भक्त प्रेम रूपा तीव्ररति का अनुभव करता है। भगवत्कर्तृक भौम्य लीला के अनुप्रवेश से भक्त रसास्वाद करता है, इन्द्रिय सुख का स्पर्श यहाँ नहीं होता।[2] लीलामय कृष्ण की रसमयता का साक्षात्कार ही मुक्ति है। महाकवि सूर ने कालमायातीत लीलारस की महत्ता का निरूपण करते हुए कहा है—

"माया काल कहूं नहि व्यापै यह रस रीति सो जानै"

मुक्ति के स्वरूप भेद पर भी सूरदास ने विचार किया है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य जैसे चार भेदों की चर्चा उन्होंने सिद्धान्ततः तथा व्यवहारतः की है। लीलाधाम निरूपण के प्रसंग में सालोक्य, चरणारविन्द लाभ के उछाह में सामीप्य, शृंगार-छवि-निरूपण में सारूप्य तथा विविध वियोग दशाओं में सायुज्य की व्यावहारिक व्यंजना महाकवि सूर ने कराई है। निम्न पद में गोपी के विरह भाव में मुक्ति के चारों प्रभेदों का विनियोग हमारे कथन को पुष्ट करता है।

ऊधो सूधौ नैकुं तिहारौ।
हम अबलनि को सिखवन आए सुन्यो सयान तिहारौ।
निरगुन कहो कहा कहियत है, तुम निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौ मुक्ति लहीं हम चारी।
हम सालोक्य सरूप सायुजो रहति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरै तुम अलि बड़े अदाई।

वल्लभ दर्शन में उपास्य भाव तथा रस-तत्व :

आचार्य वल्लभ ने भक्ति-भाव के परिप्रेक्ष्य में ही अपनी दार्शनिक मान्यतायें स्थिर की। अवतारवाद और हरिलीला तत्त्व के अनुप्रवेश से वैष्णव भक्ति-साधना ब्रह्मभाव की सिद्धि में निर्गुण भाव की अपेक्षा अधिक उपयोगी और सार्वजनीन सिद्ध हुई। यही कारण है कि आचार्य श्री ने भक्ति के प्रचलित सभी प्रकारों का विचार बिना किसी आग्रह बद्ध दृष्टि से किया। उपासना क्रम में गृहीत भाव वैविध्य के औचित्य-निरूपण के मूल में भी यही उदारवादी धारणा काम कर रही थी। डा० हरवंशलाल शर्मा ने परमानन्द सागर की भूमिका पृष्ठ २३ पर वल्लभ सम्प्रदाय का उपास्य भाव वात्सल्य माना है,

१. ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेनाक्षर ब्रह्माप्राप्तिः पुष्टि-मार्गीयस्य भक्तस्य तु सोश्नुत इत्यनेनोक्ता पर प्राप्तिरिति। अणु भाष्य ४।४।५।११.

२. लीलाया कालमायाद्यतीतत्वेप्न प्राकृतं जगत् दूरतरमितोपि हेतोर्न तत्संभवः। अणुभाष्य ४।४।५।१७.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु सख्य और माधुर्य का आत्यन्तिक निषेध भी यहाँ नहीं है। प्रभुदयाल मीतल ने अष्टछाप परिचय पृष्ठ १३१ पर स्पष्ट लिखा है कि सख्य वात्सल्य की तरह कान्ता भक्ति भी वल्लभाचार्य को मान्य थी। राधाभाव की पूर्ण प्रकल्पना के अभाव में यद्यपि माधुर्य की वैसी प्रतिष्ठा वल्लभ सम्प्रदाय में नहीं हो पाई जैसी अन्य सखी भावोपासना प्रधान साधना पद्धतियों में रही। गुसाँई विट्ठलनाथ कृत "गुप्त रस ग्रन्थ" में बाल भाव और माधुर्य भाव का गुणीभूत रूप इसीलिये परिलक्षित होता है, वैष्णवाचार्यों के द्वारा पुराणोपजीवी साहित्य साधना को स्वीकृति मिल जाने पर गोपीतत्त्व, सम्प्रदाय और साहित्य दोनों ही धाराओं में अपनाया गया। लीलास्मरण की उपासना भी पुराण सम्मत है।[1] विद्वन्मंडन नामक ग्रन्थ में वल्लभ के लिये गोपीपति रतिमार्ग प्रवर्तक विशेषण का उपपन्न होना इसी तथ्य का पोषक है। श्री बालकृष्ण भट्ट ने प्रमेय रत्नार्णव में गोपियों के आचार-भाव की विविध भूमिकाओं का पुष्टिमार्ग की २० परिभाषाओं में संश्लेष प्रस्तुत किया है। अतः मधुरलीला विषयक भावोपासना तथा तत्सम्बन्धी साहित्य प्रणेता अष्ट छाप के कवियों में मधुरभाव विषयक पदों का आधिक्य देखकर उसे सम्प्रदायेतर वस्तु नहीं समझना चाहिये। डा० देवीशंकर अवस्थी का यह मन्तव्य इस संबंध में अधिक सही है कि वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के बाल रूप की प्रतिष्ठा अवश्य है एवं सूर ने वात्सल्य सम्बन्धी प्रचुर एवं उत्तम साहित्य की रचना भी की परन्तु फिर भी वल्लभ सम्प्रदाय में (हरिदासी प्रभाव के कारण) मधुर भाव की साधना ही बढ़ती गई। स्वयं सूर ने अपने अन्तिम पद में युगलरूप में ही अपनी चित्त वृत्ति के रमे रहने का संकेत किया है।[2]

अष्टछाप के कवियों का वृन्दावन की रसोपासना से प्रभावित होने का विवरण 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'निजमत सिद्धान्त' जैसे ग्रन्थों से भी हो जाता है। सूर की "हरिरस वृन्दावन ते आया" उक्ति उक्त प्रभाव की अन्तः साखी भरती है किन्तु यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वल्लभ सम्प्रदाय का गोपीभाव सूर के साधनामत उत्कर्ष का बीजभाव है जो बालभाव की परिधि में ही स्फुरित हुआ है। श्रीकृष्ण की ब्रज-लीलाओं के प्रामुख्य के कारण राधा के कैंकर्य की अपेक्षा यहाँ सम्पोषित सखा साम्य कोटि का माधुर्य है। इसीलिये सहचरी भाव प्रधान नित्य संयोग सुख की अपेक्षा विरह प्रधान व्याकुलता का उत्कठारस ही यहाँ सर्वत्र दिखाई पड़ता है। भ्रमर गीत विषयक पदों का व्यावहारिक साधनागत बीज भाव यही है और पलकान्तर का वियोग-जन्य उत्ताप न सह सकने वाली अन्तः परिशोषित लतिका गोपी से सूर के साधक कवि के अनन्य एकात्मभाव का रहस्य भी यही है। डा० शरण बिहारी गोस्वामी ने सेवा और अधिकार भाव के भेद से वल्लभ सम्प्रदाय के सखी भाव को गोपीभाव का ही व्यापक रूप स्वीकार किया है। उनका कथन है कि "ब्रजलीलाओं के आधार के कारण इस सम्प्रदाय का गोपीभाव व्यापक हो गया है। सूर प्रारम्भ में तो वल्लभाचार्य के सम्पर्क में थे तब तक बाललीला का वर्णन विशेष रूप से करते रहे परन्तु बाद में वृन्दावन का रंग लगने पर उन्होंने अपने को सखीभाव के कवियों के रूप में ढाल दिया। इन कवियों के अन्तिम जीवन की रचनायें प्रायः राधा की प्रधानता को सिद्ध करने वाली सखी भाव सम्बन्धी रचनायें हैं। यह उनके जीवन का एक विकास क्रम है जो महत्वपूर्ण है।"[3] अस्तु निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भक्ति साधना में पुरुष भाव के भंग हो जाने पर सहज नारी भाव की उत्पत्ति ब्रह्मभाव साधन का सर्वोपरि अंग कहा जा सकता है। साधन-क्रम में यह भावातिरेकपूर्ण चर्या है जहाँ प्रेम के स्फुरण से देह भाव बिसर जाता है। रस रीति की प्रक्रिया यहीं से प्रारम्भ होती है। जिसकी कोई अवधि

---

१. अनुग्रहस्य भक्तानां मानुषं देहमस्थितः,
भजते तादृशीं क्रीड़ायां स्मृत्वा तत्परो भवेत्।
श्रीमद्भागवत् १०।३३।३७.

२. १८ वीं शती के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति पृष्ठ १०७

३. कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव पृष्ठ ६५०,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है जिस पर काल का कोई नियंत्रण नहीं है। सारावली और सूरसागर के माधुर्य बोझिल अधिकांश पद इसी प्रक्रिया के समर्थन में लिखे गये हैं। सूर सागर के इस पद में श्रुतियों को रस रूप कृष्ण से उपदेश दिलाते हुए भक्त सूर ने भी मानो अपनी स्वीकृति की अन्तिम छाप लगा दी है—

तबै ऋचा है गोपिका हरि सो कियौ विहार,
जो कोई भरता भाव करि हरि पद ध्यावै।
नारि पुरुष कोउ होय सोइ श्रुति ऋचा गति पावै।
तिनकी पद रज जो कोउ वृन्दावन भुवि माहीं,
परसै सो गोपिका गति लहै संसै नाहीं।

अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ब्रह्मसूत्र की सांख्याभिमत परम्परा के प्रभाव के कारण सूर के प्रेरणा स्रोत आचार्य वल्लभ ने प्रकृति-पुरुष की एकात्म भावना को भागवतोक्त गोपीभाव में भक्तिवाद के आग्रह के कारण पुरस्सरित किया। गोपीभाव से गोपीदेह प्राप्ति के सूत्र भी विष्णुपुराण, पद्मपुराण तथा वृहद वामन पुराण से प्राप्त हुए। यामुनाचार्य के "आगम प्रमाण्य सिद्धि के फलस्वरूप" तन्त्र साहित्य की युग्म पूजा का प्रभाव भी भक्ति निरूपक आचार्यों पर पड़ा। इसी आलोक में रुद्रयामल, कृष्णयामल तथा गौतमीतन्त्र का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी योषितभाव की सिद्धि के लिये उत्तरदायी माना जाना चाहिये। यही कारण है कि ब्रह्मसूत्र के निः श्रेयस अभ्युदय आचार निरूपक सूत्रों की व्याख्या में वल्लभ कृत पुष्टिमार्ग का समर्थन मूल ग्रन्थकार तथा अन्य वैष्णवाचार्यों के भाष्य से मेल नहीं खाता। औपनिषदिक् मधु-विद्या की परम्परा तथा शक्ति-शक्तिमान् की सांख्याभिमत परम्परा का सम्मिश्रण यहीं हुआ। अतः सूर और उनके सम्प्रदायगत सिद्धान्त और उपास्य भाव की मीमांसा करते हुए हमें ब्रह्म सूत्र के अणुभाष्य की प्रक्रिया तथा पुराण सम्मत लीलातत्व का गंभीर अनुशीलन करना चाहिये तभी हम वल्लभ और सूर द्वारा प्रस्तुत ब्रह्म परतत्त्व अवतारवाद तथा लीलारस की धारणा में संगति बैठा सकेंगे।

हिन्दी-विभाग
गुरुकुल विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगन्मिथ्यात्ववाद और ब्रेडले के आभास सम्बन्धी विचार

डॉ० अभेदानन्द

ब्रेडले प्रतीयमान वस्तुओं को आभास या मिथ्या कहते हैं। प्रतीयमान वस्तुओं के अधिष्ठानरूप से जो सत्ता है उसे ब्रेडले सत् कहते हैं। ब्रेडले ने अपनी पुस्तक "एपीयरेन्स एण्ड रियलिटी" के प्रथम खण्ड में सभी प्रतीयमान वस्तुओं को तर्कों और युक्तिओं द्वारा आभास सिद्ध किया है। तार्किक बुद्धि से विचार करने पर वस्तुयें सत्य सिद्ध नहीं हो पातीं। ब्रेडले के अनुसार पूर्ण सत् कभी भी अपने में स्वव्याघातक नहीं होता।[1] इसका अर्थ ब्रेडले के अनुसार हुआ—सत् यदि सत् है तो असत् नहीं हो सकता। वह सत् ही है। यदि सत् अपने स्वरूप से विलग हो सकता तब वह सत् ही नहीं कहा जायेगा। इसके विपरीत आभास अपने अस्तित्त्व को बनाये नहीं रख पाते, कारण यह है कि आभास का अपना कोई स्वरूप नहीं है। उनका स्वरूप भी सत् का ही स्वरूप है। आभास अपने अस्तित्व से तादात्म्य नहीं रख पाते।[2]

ब्रेडले ने प्रतीयमान वस्तुओं को आभास सिद्ध करने के लिये प्रधान-अप्रधान गुण, द्रव्य और विशेषण, सम्बन्ध और गुण, दिक् और काल, गति और परिवर्तन, कारण और क्रिया, वस्तुयें अपने में, यहां तक कि आत्मा का भी विचार करके सभी को स्वव्याघातक सिद्धि किया है। उनके अनुसार ये सभी आभास हैं, न कि सत्। अप्रधान गुणों के विषय में उनके विचार हैं कि रूप रंग आदि अप्रधान गुण वस्तुगत नहीं हैं, वे अहं सापेक्ष हैं। इन्द्रियों के बिना अप्रधान गुणों की सत्ता नहीं सिद्ध हो पाती। वे वस्तुतः वस्तुओं में न होकर विषयी में हैं, अतः आभास हैं। ब्रेडले स्वतन्त्र सत्ता को ही सत् कहते हैं। अप्रधान गुण स्वतन्त्र नहीं हैं, अतः सत् न होकर आभास हैं।[3] इसी प्रकार प्रधान गुण भी सापेक्ष हैं। वे भी अपने आप में स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान नहीं हैं, अतः वे भी आभास ही हैं।[4] गुण-गुणी का सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। ब्रेडले ने शक्कर खण्ड का उदाहरण देकर समझाया है कि शक्कर मीठा है, ठोस है, श्वेत है, इन गुणों से वह विशिष्ट है किन्तु मीठा, ठोस आदि ही शक्कर नहीं हैं। मीठा स्वयं एक गुण है, वह ठोस नहीं है श्वेत स्वयं एक गुण है, ठोस का प्रयोग श्वेत में भी नहीं हो सकता। शक्कर इन गुणों की समष्टिमात्र भी नहीं। तब वह है क्या ?[5] इस प्रकार तार्किक विश्लेषण करने पर वस्तुयें न विशेषणरूप होतीं हैं, न उनसे भिन्न रूप से सिद्ध हैं। "शक्कर श्वेत है" इस वाक्य में हम शक्कर को श्वेत कैसे कह सकते हैं ? शक्कर को उद्देश्य करके श्वेत का विधान करने पर उद्देश्य शक्कर के विषय में हमने कुछ भी कथन नहीं किया। और यदि उद्देश्य को ही विधेय में कहा जाय तब भी कुछ नहीं कहा जायेगा। इस प्रकार उभयतः पाश है। ब्रेडले के शब्दों में "यदि उद्देश्य का विधेय उससे भिन्न रखा जाय तो उद्देश्य को ऐसा बताया जायेगा जैसा

1. Ultimate reality is such that it doees not contradict itself. Appearance and Reality—P.120.Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).
2. Ibid.p.—165.
3. (Appearance and Reality) p. 10. Bradley (9th Ed., oxford 1930)
4. Ibid.—p. 15.
5. Ibid.—p. 16

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः नहीं है। इसके विपरीत यदि "विधेय उद्देश्य से भिन्न हो तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'उद्देश्य के विषय में कुछ कहा ही नहीं गया।"[1]

ब्रेडले के अनुसार विश्व में सभी वस्तुयें किसी न किसी रूप में सम्बन्धों से युक्त हैं और सम्बन्धित वस्तुओं का स्वरूप वह नहीं होता जोकि सम्बन्धावस्था में प्रतीत होता है। उन वस्तुओं का स्वरूप सम्बन्धों से परे परमसत् है। वह परमसत् सम्बन्धातीत है। फिर भी इन वस्तुओं का वही स्वरूप है।

अद्वैत वेदान्त में जिस प्रकार चित्सुखाचार्य ने तत्व-प्रदीपिका में और श्री हर्ष ने खण्डन में न्याय वैशेषिक द्वारा स्वीकृत प्रमाण प्रमेयादि का प्रत्याख्यान किया है और अनिर्वचनीयतासर्वस्व की स्थापना की है, उसी प्रकार ब्रेडले ने भी उसी पद्धति से प्रातीतिक वस्तु गुण-गुणी विशेषण-विशेष्यादि का प्रत्याख्यान किया है। इनमें उनके अनुसार किसी प्रकार की भी संगति नहीं है। जो स्वयं किसी सम्बन्ध पर निर्भरशील है उसकी सत्ता सत् न होकर प्रातीतिक है। ब्रेडले ने गुण-गुणी में सम्बन्ध के लिये जिस प्रकार सम्बन्धांतर की शृंखलारूपी अनवस्था-दोष दिखाया है,[2] उसी प्रकार अद्वैताचार्यों ने न्यायवैशेषिक के समवाय के प्रत्याख्यान में सम्बन्ध परम्परा की अनवस्था का दोष दिखाया है।[3]

ब्रेडले प्रतीयमान वस्तुओं को उक्त प्रकार से आभास सिद्ध करते हैं, और कहते हैं कि "सम्बन्ध-गुण-विशिष्ट सत् वास्तविक सत् नहीं है, अपितु आभास है।"[4] सम्बन्धों के बिना गुण नहीं पाये जाते, गुणों के बिना सम्बन्धों का अस्तित्व नहीं मिलता। इस प्रकार सभी निर्भरशील हैं, अतः स्वसत्ता से रहित, मात्र प्रातीतिक हैं।

ब्रेडले बाह्य वस्तुओं को विचार की दृष्टि से सत्ता से च्युत करके आन्तर वस्तु आत्मा (Ego) को भी प्रतीयमान कहते हैं। शरीर और आत्मा दोनों ही ब्रेडले के अनुसार आभास हैं।[5] आत्मा को जिस रूप में जानते हैं वह सम्बन्धों से विशिष्ट आत्मा है। सम्बन्धों से विशिष्ट वस्तु स्वयं सत्ताक्रान्त नहीं होती, अतः इस कारण आत्मा भी आभास है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी शरीर इन्द्रिय मनोयुक्त तथाकथित सम्बन्धित आत्मा वस्तुतः अध्यस्त है। अध्यस्त आत्मा मिथ्या है।[6] स्वस्वरूप आत्मा शरीरेन्द्रियान्तः करण धर्मों से परे है जो कि ब्रह्मरूप है। जहां तक अहं की आत्मा होने की बात है वह विशुद्ध चेतनांश में आत्मा या विशुद्ध चेतन है, किन्तु अहन्तांश अध्यस्त एवं मिथ्या है, अद्वैताचार्यों ने कहा है कि कार्यस्वरूप से सदसद्रूप से निर्वचनीय नहीं है। कारणात्मना ही उसका निर्वचन सम्भव है; इसलिये कारण की ही सत्ता है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है "कारणं सत्त्वेव कार्यस्य सत्ता न ततोऽन्या"[7] इसी प्रकार ब्रेडले के अनुसार भी सत् की सत्ता के बिना आभास की सत्ता सम्भव नहीं। आभास के विषय में 'अस्ति' का कथन भी सत् के कारण ही सम्भव है। सत् आभास नहीं, किन्तु सत् के बाहर आभास नहीं है। सत् एक होकर सर्वत्र अनुस्यूत है, अतः नानात्व को अपने में आत्मसात् किया हुआ है।[8] वेदान्त सिद्धान्तमुक्तावलीकार का भी यही कहना है कि आत्मा सत्ता ही द्वैत की सत्ता है। इसी कारण आत्मा को जान लेने पर कारण रूप से द्वैत को भी

1. Ibid—p. 17.
2. Appearance and Reality—p.18. Bradley (9th. Ed., Oxford, 1930).
3. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य भामती कल्पतरु परिमल। पृ० ५११, ५१२ निर्णयसागर, १९३८।
4. The reality so characterized, is not True reality, but is appearance—Appearance and Reality—p. 21. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930.)
5. That neither body nor soul can be more than appearance.—Appearance and Reality p. 262. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).
6. पंचपादिका। पृ० ३२। मद्रास १९५८।
7. भामती। पृ० ४४६। निर्णयसागर १९३८।
8. Appearance and Reality—p. 213. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जान लिया जाता है।[1] ब्रेडले अद्वैत के ही समान यह मानते हैं कि सत् के बिना आभास सम्भव नहीं।[2] आभास की जब सत्ता है ही नहीं तब वह बिना सत् के किसका आभास होगा ? अतः सत् की सत्ता ही आभास की सत्ता है। अभास सत् की सत्ता से सत्तावान् है, इसलिये कहा जा सकता है कि जो कुछ भी है सभी सत्य है। अद्वैत वेदान्त की "सर्वं-खल्विदं ब्रह्म" की व्याख्या भी यही सिद्ध करती है कि सत् सर्वत्र व्याप्त है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जहां पर ब्रह्म नहीं हो, क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त मिथ्या की सत्ता पृथक्रूप से स्वीकार करने का अर्थ है द्वैतापत्ति।

सापेक्षसत्य इन वस्तुओं को पूर्ण सत् मान लेना ही ब्रेडले के अनुसार भ्रम है।[3] अद्वैत वेदान्त के अध्यास विवेचन में स्पष्ट दिखाया है कि किस प्रकार भ्रमस्थल में जो वस्तु नहीं उसी को वहीं पर सत्य मान लिया जाता है; इसीलिये उक्त स्थल की वस्तु और ज्ञान दोनों मिथ्या हैं। इसी प्रकार जगत् की वस्तुयें ब्रह्म में आरोपित हैं जो कि अधिष्ठान की सत्ता से सत्तावान् हैं, किन्तु उन वस्तुओं को पृथक् रूप से सत्तावान् मानना ही जगद्भ्रम है। अद्वैत के ही समान ब्रेडले भी सत् में नानात्व का निषेध करते हैं। उनका कहना है कि स्वतन्त्र सत्ता के नाना सत् सम्भव नहीं हैं।[4] नाना सत् होने पर स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र सत् होंगे। परतन्त्र सत् का अर्थ सत् न होकर आभास ही हुआ। वस्तुयें अपने स्वरूप में सत् हैं और सत् में एकीभूत हैं, फिर भी बुद्धि में स्वव्याघाती एवं नाना प्रतीत होती हैं।[5] अद्वैत के अनुसार नानात्व दर्शन अध्यासजन्य है। ब्रेडले भी नानात्व दर्शन, सत् को पूर्ण रूप से ग्रहण न कर सकने के कारण, कहते हैं। बुद्धि द्वारा सत् को पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता।[6] बुद्धि जब भी सत् को जानना चाहेगी उसे आभास के रूप में विखण्डित करके ही जानेगी। सत् को जानने के लिए सत् होना पड़ेगा। अद्वैत में "ब्रह्म वेद ब्रहैव भवति" माना गया है, उसी प्रकार ब्रेडले सत् को सत् होकर ही जाना जा सकता है, ऐसा कहते हैं।

हमने ऊपर ब्रेडले के दर्शन में जगत्-प्रपंच की स्थिति का एक संक्षिप्त विवरण दिया है। अद्वैत में स्वीकृत मिथ्यात्व के साथ ब्रेडले द्वारा प्रदर्शित आभास की तुलना की जा सकती है। चित्सुखाचार्य, मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों ने मिथ्यात्वानुमान में दृश्यत्वादि हेतु प्रदर्शित किये हैं। अतः स्पष्ट है कि अद्वैतवेदान्ती दृश्य वस्तुओं को ज्ञान विषय होने के कारण मिथ्या कहते हैं। ब्रेडले भी हमारी बुद्धि में प्रतीयमान वस्तुओं को आभास की संज्ञा देते हैं। ब्रेडले के अनुसार सत् एक है, अतः नानात्व आभास है। ब्रेडले के अनुसार सत् निरंशी है, अतः जो भी अंशी या नाना हैं आभास हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिथ्यात्व में जो हेतु अद्वैताचार्य देते हैं, उन्हीं हेतुओं के समान बातें ब्रडले भी आभास के के लिए कहते हैं। वस्तुतः अद्वैत के अनुसार भी सत् "एकमेवाद्वितीयम्" है। ब्रेडले के अनुसार भी सत् एकमेवाद्वित्तीय है। इसी कारण सदतिरिक्त वस्तुयें आभास हैं। अद्वैत के अनुसार भी सत् ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वेन सर्व मिथ्या है।

ब्रेडले के अनुसार सत् का मापदण्ड 'अविरोध' है और आभास का मापदण्ड विरोध है। सत् कभी भी सत्ता से पृथक् नहीं हो सकता। सत् होकर सत्ता से पृथक् होना "विरोध" माना जायेगा। जिसमें उस प्रकार की बातें

---

१. आत्मसत्तैवद्वैत्तस्य सत्ता नाऽन्या यतस्तत आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्।
—वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली
पृ० १६४, प्रकाशानन्द अच्युतग्रन्थमाला।

2. Appearnce without reality would be impossible. Appearance and Reality—p. 432. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).

3. Ibid.—p. 431

4. The absolute is not many, there are no independent reals. Appearance and Reality p. 127. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

5. Ibid.—p. 505.

6. Truely to realize the existence of the absolute is for finite beings impossible. Appearance and Reality—p. 140. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हों वह आभास होगा न कि सत्। अद्वैत के अनुसार भी सत् त्रिकालाबाध्य है। अबाधित होना ही सत् का मापदण्ड है। जो बाधित होता है वह सत् न होकर मिथ्या है।[1] जो आदि में भी नहीं था, अन्त में भी न होगा, वह सत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उत्पत्ति विनाशशील वस्तुयें अबाधित नहीं हो सकतीं। उत्पत्ति से पूर्व भी जिसकी सत्ता नहीं और विनाश के बाद भी जिसकी सत्ता नहीं, वह अबाध्य नहीं रहा। ब्रेडले के अनुसार वह स्वव्याघाती हुआ, क्योंकि कोई भी वस्तु जब अपनी स्वसत्ता को छोड़ देती है तब वह सत्ताहीन हो जाती है। यदि वह स्वसत्ता से युक्त होती तो उसकी सत्ता उससे विलग नहीं हो सकती थी। उसकी सत्ता सत् से प्राप्त होने के कारण किसी भी समय वह सत्ताहीन हो जाती है, अतः वह वस्तु आभास है। एक ही वस्तु-घट में भाव अभावादि विरोधी बातें हैं, अतः व्याघातपूर्ण हैं। आज घट है, कल नष्ट होने पर नहीं रहेगा, उत्पत्ति के पूर्व भी घट नहीं होता, इस कारण अर्थात् भावाभावादि विरोधी बातों के कारण ही घट अद्वैत के अनुसार मिथ्या है। इस देश में घट है, अन्य देश में नहीं है, इस प्रकार भावाभाव दैशिक दृष्टि से भी घट में हैं, अतः घट सत्ताव्याभिचारी है। अद्वैतवेदान्त में परिच्छिन्न हेतु से जो मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है, उसका तात्पर्य भी यही है। देशकाल और वस्तुगत परिच्छेद वस्तुओं में सीमा खींच देता है। वस्तु देशकाल और वस्तु के परिच्छेद से स्वसत्ताव्याभिचारी हो जाती है। इसी कारण वस्तुओं का बाध हो जाता है। ब्रेडले के अनुसार भी नाना वस्तुओं में सत्ता होने पर भी वह आंशिक सत्ता है, क्योंकि वस्तुयें नाना रूप से सत् नहीं हो सकतीं। सत् निरपेक्ष होता है, अर्थात् सत्ता के लिए ज्ञान के लिए वह निरपेक्ष है, किन्तु वस्तुयें सत्ता और ज्ञान के लिये सापेक्ष हैं, अतः सापेक्षतया भी वे आभास हैं।

ब्रेडले ने आभास का मापदण्ड विरोध या व्याघात को व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है, क्योंकि जहां पर भी सम्बन्धादि की सिद्धि तार्किक विश्लेषण द्वारा नहीं कर पाये, ब्रेडले ने वहीं पर विरोध का प्रयोग करके उससे आभास कह दिया है। अद्वैत वेदान्त के "व्यावर्तमानत्व", "परिच्छिन्नत्व", "अवयवित्व", "जड़त्व", "दृश्यत्व" आदि मिथ्यात्व अनुमान के हेतु ब्रेडले के "विरोध" शब्द के अन्तर्भूत हैं। ब्रेडले ने विरोध का प्रयोग उक्त सभी अर्थों में किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्त स्वीकृत मिथ्यात्व का मापदण्ड ब्रेडले द्वारा स्वीकृत विरोध के समान है।

ब्रेडले ने प्रतीयमान वस्तुओं को आभास अवश्य कहा है, किन्तु उन्हें असत् नहीं कहा है। वस्तुयें आभास हैं—का अर्थ सापेक्ष सत् हैं। यद्यपि सत् वस्तु एक ही है, फिर भी आभास बिना सत्ता के सम्भव न होने के कारण सापेक्ष सत् है। सभी मिथ्या हैं फिर भी अंशतः सत्य हैं। इस प्रकार सभी प्रतीयमान वस्तुओं में कुछ सत्ता अवश्य होती है।[2] व्यावहारिक दृष्टि से ब्रेडले आभास को भी सत्य मानते हैं। यद्यपि सभी प्रतीयमान वस्तुओं को आभास कहा गया है, फिर भी व्यवहार में सत्य मिथ्या का अन्तर है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीयमान वस्तुयें सभी सत्य हैं।[3] ब्रेडले आभास को अद्वैत के मिथ्या के समान ही एक सर्वभौम व्यावहारिक सत्य मानते हैं। जहां पर ज्ञान के अनुकूल वस्तुयें नहीं प्राप्त होती वही भ्रम है। प्रतीयमान जागरिक वस्तु विषयक भ्रम उक्त भ्रम से भिन्न हैं।[4] प्रातीतिक वस्तुयें सापेक्ष सत् हैं। हमारे दैनिक व्यवहार में ये वस्तुयें मिथ्या नहीं हैं।

1. The Idealist thought of India—p. 102 P.T. Raju, London, 1953.
2. Every phenomena is somehow real. Appearance and Reality—p. 127. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)
3. From the relative point of view a truth is wholly true.—The Chief Currents of Contemporary Philosophy—Datta p. 74. 2nd Ed., Calcutta, 1961.
4. Appearance and Reality-p. 486. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सापेक्ष सत्य के बिना हमारा जीवन नहीं चल सकता।[1] प्रातीतिक ज्ञानों में जो ज्ञान सफल प्रवृत्तिजनक न हो, वह भ्रम है। जैसे सीपी में चांदी को देखने पर लेने के लिये प्रवृत्ति होने पर, वहां चांदी मिलती नहीं, इस कारण वह भ्रम ज्ञान है। भ्रमज्ञान का विषय भी भ्रम है,[2] किन्तु पुस्तक को देखने पर पुस्तक लेने की प्रवृत्ति दशा में पुस्तक की प्राप्ति होती है, अतः पुस्तक का ज्ञान सत्य-ज्ञान है। इस प्रकार ब्रेडले के अनुसार भी व्यवहार में सत्य मिथ्या का विभाजन किया गया है। वस्तुतः ब्रेडले के अनुसार सत्ताभेद नहीं है। सत् में सत्ताभेद सम्भव नहीं, क्योंकि सत् पूर्ण है। इसी कारण अन्य सत्ता, अधिक सत्ता, आदि बातें या अल्प-पूर्ण, अधिक-पूर्ण आदि बातें, वस्तुतः सत् में सम्भव नहीं।[3] सत् में सत्ता-भेद की कल्पना प्रातीतिक है।

अद्वैत वेदान्त में व्यवहार और परमार्थ का भेद हमने दिखाया है। अवगति पर्यन्त व्यावहारिक जगत् प्रमाण-प्रमेय-भाव, सब सत्य ही हैं; किन्तु बाध होने पर मिथ्या हैं। इस प्रकार अद्वैत का मिथ्या सदसदनिर्वचनीय है, ब्रेडले का आभास सापेक्ष सत् है। दोनों ही एक पूर्ण सत् की दृष्टि में जगत्-प्रपंच की व्याख्या देते हैं।

रीडर, दर्शन-विभाग,
गुरुकुल विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

1. The Chief Currents of Contemporary Philosophy—p.75. Datta, 2nd. Ed., Calcutta, 1961.
2. Ibid—p. 76.
Appearance and Reality—p. 319.Br adley (9th Ed., Oxford, 1930).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरतपुर में महाकवि देव

—लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

मानव-स्वभाव अपने परिवेश के साँचे में आकार ग्रहण करता है। यह बात सामान्य जनों की भाँति कवियों पर भी घटित होती है। हम कह सकते हैं कि कवि औरों की अपेक्षा अपने प्राप्त परिवेश से विशेष प्रभावित होता है। प्राचीन से लेकर अधुनातन तक सभी कवियों को हम इसी नियम का अनुवर्ती पाते हैं। कवि प्रकृति-परिवेश और सामाजिक परिवेश दोनों से समान रूप में प्रभावित होता है। उसमें परिवेश-परिवर्तन के साथ स्वभाव-परिवर्तन भी होता रहता है। उत्तर मध्यकाल के हिंदी-कवियों में से कतिपय को हम इस परिवेश या वातावरण से आश्चर्य-जनक ढंग से प्रभावित पाते हैं। आश्चर्यजनक इसलिये कि उन्होंने नया वातावरण पाकर अपने परंपरागत काव्य की राह कुछ देर के लिये छोड़ दी। जीवन भर शृंगार-परक रचना करने वाले कवि ने भी अपनी नई राह में वीर रस के कवियों से होड़ की। ऐसे कवियों में से एक महाकवि मतिराम भी हैं। इन्होंने अपने अग्रज महाकवि भूषण के आश्रय दाता छत्रपति महाराज शिवाजी और महाराज महाराज छत्रसाल बुंदेले के यहाँ यात्रा की थी। यह तथ्य है कि मतिराम शृंगार रस के अनुपम कवि थे। उनका रसपरक ग्रंथ 'रसराज' बहुत दिनों तक सर्वाधिक समादृत ग्रंथ रहा है। इन्होंने उपर्युक्त दोनों जननायकों के संपर्क में आकार वीर रस की श्रेष्ठ कविताएँ रच डाली थीं। याज्ञिक-बंधुओं (मयाशंकर याज्ञिक, जीवन शंकर याज्ञिक और भवानीशंकर याज्ञिक) ने माधुरी' पत्रिका के जुलाई, १९२४ के अंक में 'मतिराम और भूषण' नामक लेख में सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया था। नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय के कतिपय हस्तलेखों में मुझे भी कई छंद ऐसे मिल गए जिन्हें पाकर मुझे आश्चर्य-सम्मिश्र हर्ष हुआ। यहाँ मतिराम-रचित शिवाजी की प्रशंसा का एक छंद उद्धृत करके मैं प्रस्तुत विषय पर आ जाना चाहूँगा। छंद इस प्रकार है—

बान अरजुन के बखानियत मतिराम,
गदा भीमसैन की सदा ही सुभ साज की।
बासव को ब्रज, बलदेव को मुसल बासु—
देव जू ओ चक्र सुर कीरति इलाज की।
दंड दंडधर औ अदंडन के दंडिबे कौं,
नखन की पाँति नरसिंह सिरताज की।
सिव कौ त्रिसूल औ कुठार जामदग्नि औ ज्यौं
सिवा की सकति, समसेर सिवराज की॥

इसी प्रकार महाकवि देव एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने शृंगार को ही एकमात्र रस माना था—

'भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल सिंगार।'

और ये उसी रस के सिद्ध कवि माने जाते हैं। बहुतेरे राजाओं और रईसों के दरबारों में टक्कर खाने के बाद प्रतिक्रिया स्वरूप इनके मन में निर्वेद उत्पन्न हुआ था और वह जीवन के अंतिम दिनों में, जब इनकी वाणी अनायास फूट पड़ी थी—

ऐसो जौ हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ पाँय तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नट सों निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतों 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुंह मोरतो।
भारो प्रेम पाथर, नगारौ दै, गरे सों बाँधि,
राधावर बिरद के बारिधि मैं बोरतो॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी निर्विण्णता की स्थिति में इन्होंने वैराग्य और तत्त्व चिंतन परक चार पचीसियाँ लिख डाली थीं। अपनी वृद्धावस्था में देव काफी समय तक भरतपुर राज्य के आश्रित रहे। वहाँ के नरेशों की प्रशंसा में लिखे गए इनके छंद बहुत दिनों तक लोगों को अज्ञात रहे और बहुतों को तो आज भी उनका पता नहीं है। किसी हिन्दी साहित्य के इतिहासकार ने भी तत्परता के साथ खोज करने का कष्ट नहीं उठाया। इसीलिये हिंदी साहित्य के जो इतिहास इधर लिखे गए हैं, उनमें भी देव के भरतपुर राज्य के आश्रित होने का कहीं विवरण नहीं है। 'मत्स्य देश की हिंदी साहित्य को देन' नामक पुस्तक में देव का भरतपुर जाना उल्लिखित है, किंतु उसमें कहा गया है कि किसी सरदार के बार-बार आग्रह करने पर भी देव ने यही कहा कि सरस्वती मुझे कुछ कहने की आज्ञा नहीं दे रही है।

माधुरी नामक मासिक पत्रिका के वर्ष ३, खं० १९, संख्या चार के पृष्ठ ५३४ पर पं० मदनलाल जी मिश्र का एक लघु लेख 'महाकवि देव और भरतपुर राज्य' छपा है। इसमें याज्ञिक बंधुओं के कथन का खंडन करते हुए एक अनुश्रुत किंवदन्ती का उल्लेख किया गया है। वे लिखते हैं—

"मैंने कतिपय वयोवृद्धों से देव के विषय में यह एक किंवदंती सुनी है कि महाराज सूरजमल जी के दरबार में देव जी का आना समय-समय पर हुआ करता था। एक समय देव जी महाराज के दरबार में पधारे। उस समय कविवर घनआनंद जी भी उपस्थित थे। कविद्वय में वार्तालाप होते समय महाकवि देव जी ने कहा—"घनआनंद जी, आपकी कविता में जो चमत्कार और हृदयग्राहकता है वह हमारी कविता में क्यों नहीं आती?" इस पर घनानंद जी बोले—"महाराज, आप वर्तमान समय के कवि शिरोमणि और उत्कृष्ट पंडित हैं, परंतु इस दास की और श्रीमान् की कविता में जो अंतर है, उसका कारण एक रहस्य से पूर्ण है। वह यही कि आप जो वर्णन करते हैं, वह दूसरों पर बीती का, और यह दास अपने ऊपर बीती बात कहता है। जैसे कोई-व्यक्ति किसी के यहाँ मृत्यु होने पर शोक प्रदर्शित करने जाय तो उस समय उसको वैसा दुःख का अनुभव नहीं होता, जैसा जिसके घर मृत्यु हो गई हो, उसको होता है।"

इस किंवदंती का उल्लेख कई लेखकों ने अपने ग्रन्थों में किया है। पं० मदन लालजी मिश्र ने उसी लेख के अन्त में यह भी कहा है, "उन छः छन्दों के अतिरिक्त जवाहिर सिंह जी के विषय के कुछ छन्द देव के कहे और भी हैं।" किन्तु वे 'कुछ छन्द और भी' कौन से हैं उन्हें मिश्र जी ने उद्धृत नहीं किया और उन्हें उस समय यह भ्रम भी था कि वे छन्द प्रसिद्ध महाकवि देव के न होकर किसी और देव नामा कवि के हैं। इस भ्रम का खन्डन अपने एक लेख में याज्ञिक बधुओं ने बाद में कर दिया था। इधर मुझे प्राचीन हस्तलेखों को देखते समय कविवर देव के तीन छन्द और मिले हैं। इन तीनों कवित्तों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें से एक में महाराज सूरज मल्ल की युद्ध वीरता वर्णन है और शेष दो में महाराज जवाहर सिंह की प्रशंसा है। एक में उनकी युद्ध वीरता का उल्लेख है और दूसरे में उनके होली खेलने का रसमय वर्णन है। इससे यह बात साफ हो जाती है कि कविवर देव महाराज सूरजमल्ल के राज्यकाल में भरतपुर गए ही थे। बाद में उनके तेजस्वी पुत्र के राजत्वकाल में भी वहाँ पधारे थे और दोनों ही नरेशों ने उनका यथोचित सम्मान भी किया था। महाराज सूरजमल्ल के युद्ध का छन्द पहले देखें—

दुहूँ दल मार-मार मच्यौ घमासान और
नाचत-मसान जहाँ नाग गन छ्वै गयौ।
चल्यौ आसमान भान सहित बिमान जहाँ
चल्यौ मेरु मति औ सिथिल ससि ह्वै गयौ।
सोनित ओ नद चल्यौ, नन्दी तहाँ बहि चल्यौ,
सिव चल्यौ सहमि सिवाहू उर छ्वै गयौ।
बीर मद मत्ता तहाँ हाथ गहै कत्ता 'देव'
हल्यौ न चकत्ता लत्ता-लत्ता तन ह्वै गयौ॥

यह दिल्ली के उस युद्ध का वर्णन है, जिसमें महाराज सूरज मल्ल ने वीर गति पाई थी। शेष दोनों छन्द इस प्रकार हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूलैगो कतल जातें सुतल बितल काँप्यौ,
भूलैगो दिली मैं साति नादर को आयबौ।
भूलैगो रे भाऊरम्य भाज्यौ संसार जातें,
भूलैगो सुजान को जु सुरपुर जायबौ॥
ह्वै करि सकुद्ध उद्ध जुद्ध महा जैपुर को
जीत्यौ रजपूतन को गरब गरायबौ।
भूलैगो न जग मैं जवाहर नरिंद तेरौ
सिंधन बुलायबौ पौहौकर को न्हायबौ॥
ब्रज सिरताज श्री जवाहर नरेंद्र आज
होरी के समाज गज चढ़ि चहुँ ओर पर।
आनन्द उमंग प्रेम रस की तरंग भरि,
केसरि के रंग पिचकारिन झकोर पर॥
सुन्दर नवेली अलबेलिन के आनन पै
बरसैं सुगन्ध बारि मदन मरोर पर।
मानौं उदयाचल तैं मारतन्ड मन्डल की
छूटीं लाल किरनैं कलानिधि की कोर पर॥

परम्परानुसार प्रचन्ड पराक्रमी महाराज जवाहर सिंह की वीरता और संस्कृति-प्रेम-जन्य उनकी रसिकता का वर्णन करके उनकी सर्वतोभावेन पूर्णता का निदर्शन कवि-वर देव ने कर दिया है।

जिन प्राचीन हस्तलेखों से मैंने ये छन्द प्राप्त किए हैं, उनमें सैकड़ों ज्ञात और बहुतेरे अज्ञात कवियों की उत्तम रचनाएँ संकलित हैं। यदि इन हस्तलेखों का प्रकाशन हो जाय तो मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का वह भाग जो अंधकाराच्छन्न है, बहुत कुछ प्रकाश में आ जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी साहित्य और दयानन्द युग

कृष्णकुमार कौशिक

सन् १७५७ ईसवी में प्लासी के युद्ध ने बंगाल में ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रमुख प्रभुत्व स्थापित कर दिया। इसके सात वर्ष बाद अर्थात् १७६४ ई० में बक्सर की लड़ाई के उपरान्त अवध पर भी कंपनी का झण्डा फहराने लगा। १८०० ईसवी तक इस देश का बहुत बड़ा भाग कंपनी के अधिकार में आ चुका था। थोड़ा बहुत जो शेष रह गया था उसकी पूर्ति १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम ने (जिसे अंग्रेज इतिहासकारों ने गदर या सिपाही विद्रोह का नाम दिया था) कर दी।

इस तथाकथित विद्रोह के समाप्त हो जाने के बाद कम्पनी के काले शासन का भी अन्त होगया। शासन सत्ता कम्पनी के हाथों सेनिकल कर महारानी विक्टोरिया के पास चली गयी। दूसरे शब्दों में एक विदेशी शासन के विरुद्ध जनता के हृदय में सुलगने वाली आग कुछ समय के लिए शांत हो गयी। इस प्रकार सन् १७५७ ईसवी से लेकर १८५७ ईसवी तक के इन १०० वर्षों में अंगरेजों ने सम्पूर्ण भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था।

अंगरेजी रहन सहन तथा बोलचाल उस समय के भारतीय युवकों के लिए आकर्षण की वस्तु थी। धार्मिक मुसलमान और हिन्दू दोनों ही देश के नवयुवकों को पाश्चात्य के प्रभाव से प्रभावित होते हुए देखकर चिंतित थे। ऐसी दशा में सारे देश में दो विरोधी विचार धाराओं में संघर्ष छिड़ना आवश्यक था। राजा राममोहनराय और सर सैयद अहमद खां उसे दूरदर्शी नेता अंगरेजी शिक्षा और विलायती भाषा का समर्थन करके युग का नेतृत्व कर रहे थे।

यद्यपि ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी में ईसाई धर्म प्रचारकों ने दक्षिण भारत में ईसाई धर्म का झण्डा गाड़ दिया था पर अंग्रेजों के शासनकाल में उन्हें अपने धर्म प्रचार की खुली छुट्टी मिल गयी, अंग्रेजी रहन सहन को अपना कर लोग शरीर से ही अंगरेज बन रहे थे पर ईसाई पादरी इस देश की आत्मा को भी बदल देना चाहते थे। ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने इस देश की भाषाएं सीखी। और सभी भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद किए। उस समय तक देशी भाषाओं का एक भी व्याकरण नहीं था। उन्हें विदेशी होने के कारण इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता थी। अतः उन्होंने यहाँ की भाषाओं की व्याकरण की रचना करके एक ऐसा महत्त्व पूर्ण कार्य किया जिसने आगे चलकर भाषा विज्ञान तथा भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन को जन्म दिया। हिन्दी भाषा में बाइबिल का अनुवाद जार्ज विलियम कैरे ने किया। इस अनुवाद में उन्होंने इस देश की भोली भाली तथा साधारण पढ़ी लिखी जनता को प्रभावित करने के लिए भाषा कथावाचक पंडितों जैसी रखी। बाईबिल के पुराने धर्म नियम में से इसका एक उदाहरण दिया जाता है।

"सारी पृथ्वी पर एक ही भाषा और एक ही बोली थी उस समय लोग पूर्व की ओर चलते-चलते शिनार देश में मैदान पाकर उसमें बस गये। तब वे आपस में कहने लगे कि आओ हम ईंटे बनाकर भली-भाँति आग में पकाऐं और उन्होंने पत्थर के स्थान में ईंट से और चूने के स्थान में मिट्टी के गारे से काम लिया। फिर उन्होंने कहा आओ हम एक नगर गुम्बद बना ले जिसकी चोटी आकाश से बातें करे।

जब लोग नगर और गुम्बद बनाने लगे तब इन्हें देखने के लिए यहोवा उतर आया और यहोवा ने कहा सब एक ही दल के है और भाषा भी उन सबकी एक ही है।

इसलिए आओ हम उतर के उनकी भाषा में गड़बड़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डालदें कि वे एक दूसरे की बोली न समझ सकें। इस प्रकार यहोवा ने उन्हें वहाँ से सारी पृथ्वी के ऊपर फैला दिया।

इस कारण उस नगर का नाम बाबुल पड़ा क्योंकि सारी पृथ्वी की भाषा में जो गड़बड़ी है सो यहोवा ने वहीं से डाली।' उत्पन्ती पर्व ११

प्रचार की दृष्टि से लिखी गयी बाईबिल की भाषा को साहित्यिक नहीं कहा जा सकता। उसमें एक प्रकार का अखड़पन भी मिलता है तथा साथ ही साथ उनकी भाषाओं में शब्दों के अनगढ़ रूपों को देखने से जान पड़ता है कि उसमें गंवारूपन तथा कथावाचक पंडितों की कथा वाचने की शैली का समावेश जानबूझ कर किया गया है। यदि वह चाहते तो इस दिशा में अच्छा कदम भी उठा सकते थे साधारण पढ़े। लिखे हिन्दुओं को धर्म विमुख करने के लिए वह मेलों में जाजा कर ऐसे ट्रैक्ट भी बाँटा करते थे जिनमें वेद शास्त्रों की कड़ी आलोचना होती थी मत मत निरूपण, धर्म तुला, सतगुरु की खोज, आदि ट्रैक्ट जिन्हें अब भी ईसाई धर्म प्रचारक मेले-ठेलों में बांटा करते हैं उन्हें यदि ध्यान से पढ़ा जाय तो ऐसी बहुत सी बातें मिलेंगी जिनका उद्देश्य धार्मिक महा पुरुषों की निन्दा करके भोली भाली जनता को धर्म विमुख बनाना ही जान पड़ता है। सतगुरु निरूपण से एक उदाहरण लीजिए:—

वह सोचेगा कि मैं पाप से काहे को भयभीत होऊं मैं बुरा तो हूं परन्तु देवताओं से बुरा तो नहीं हूं वरन् उनसे कहीं भला हूँ। शिव के समान जाति से अप्रतिष्ठित तो नहीं हुआ ब्रह्मा की नाई कामातुर होके अपनी कन्या से कुकर्म नहीं किया। विष्णु के समान स्त्री को नहीं ठगा। इन्द्र के समान अपने गुरु की पत्नी को भ्रष्ट नहीं किया।

ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने सारे भारत में मिशन स्कूलों का जाल बिछा दिया। जिनमें इसी देश की देशी भाषाओं में अनिवार्य रूप से बाइबिल की शिक्षा भी दी जाती थी। उन्होंने पाठ्य विषयों को उन विद्यालयों के छात्रों को पढ़वाने के लिए यहाँ की देशी भाषाओं में पाठ्य पुस्तकों की रचना भी कराई थी।

हिन्दी के कुछ विद्वानों का यह कहना कि ईसाईयों ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा मानकर उसे अपने धर्म प्रचार का माध्यम बनाया था कुछ उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि उन्होंने जहाँ उत्तर प्रदेश के कुछ भाग में प्रचार करने के लिए हिन्दी को प्रचार का माध्यम बनाया वहां वहाँ उन्होंने बंगला, मराठी, पंजाबी, उर्दू, राजस्थानी, नेपाली, गुजराती, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं को प्रचार का माध्यम बनाया था। शायद भारत की कोई भाषा होगी जिसमें इसाई धर्म प्रचारकों ने बाईबिल का अनुवाद नहीं किया होगा।

ईसाई पादरियों के इस धार्मिक प्रचार के प्रभाव से तो इतने नहीं पर नये शासकों की बिरादरी में शामिल होने के लोभ से माईकिल मधुसूदन दत्त जैसे सुशिक्षित हिन्दू भी ईसाई धर्म में दीक्षित हो रहे थे। समुद्र पार जाने को धर्म विरुद्ध समझने वाले धार्मिक हिन्दुओं की कट्टरता के कारण बहुत से विलायत से शिक्षा प्राप्त करके लौटकर आने वाले हिन्दू विवश होकर शासकों का धर्म स्वीकार कर रहे थे।

यह परिस्थितियाँ थी जिन्होंने युग पुरुष दयानन्द के लिए कार्य क्षेत्र तैयार कर दिया था। अपनी लेखनी के द्वारा जो कार्य उन्होंने किया था, वही योरप में वहाँ की धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार मार्टिन लूथर ने किया था।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने वाले विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ सम्वत् १९०० में माना है इसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने आगे चलकर सम्वत् १९२५ से १९५० तक प्रथम उत्थान; १९५० से ७५ तक द्वितीय उत्थान १९७४ से अब तक तृतीय उत्थान मानकर इन तीन भागों में इस समस्तकाल को बांट दिया है। इन तीनों उत्थानों को अब हिन्दी के विद्वान् भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावादी युग का नाम, प्रदान करते हैं परन्तु १९२५ से पहले २५ वर्षों के युग को क्या कहा जाय यह एक प्रश्न हमारे सामने अभी तक बना हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे विचार में यही काल वास्तव में हिन्दी का प्रथम उत्पादन काल है। इसकी भूमिका ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने खण्डन मन्डनात्मक ट्रैक्टों के द्वारा आरम्भ करदी दी थी। ईसाई पादरी कबीर के समान जिस लक्कड़ भाषा में खण्डन, मन्डन कर रहे थे उसका उत्तर स्वामी जी ने जिस भाषा में दिया उसे हम ईंट का जवाब पत्थर से देना ही कहेंगे। हिन्दी के विद्वान स्वामी जी की गद्यशैली की समीक्षा करते हुए उसके खण्डनात्मक रूप को ही लेते हैं। इस समीक्षा में वह सत्यार्थ प्रकाश से आगे नहीं बढ़ पाते। सत्यार्थ प्रकाश में भी केवल खण्डन मण्डन वाले प्रकरणों को लेकर स्वामी जी की गद्य शैली की समीक्षा करके रह जाते हैं।

कितना अच्छा होता यदि यह विद्यवान स्वामी जी के अन्य ग्रन्थों ऋग्वेद आदि भाष्यभूमि का तथा संस्कार विधि आदि पर भी एक दृष्टि डाल लेते। स्वामीजी के वेद भाष्य की भाषा का भी अध्ययन कर लेते। एक ही विद्वान् जब विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रकट करता है तो उसकी शैली भी विषयों के अनुरूप बदलती चली जाती है। यदि यह सत्य है तो स्वामी जी की भाषा शैली के भी सभी समीक्षकों को उनकी समस्त रचनाओं को सम्मुख रखकर उस पर अपना सही निर्णय देना पड़ेगा।

स्वामी जी को केवल एक धर्म प्रचारक मानकर उनकी गद्य शैली की समीक्षा करते समय उसकी उपेक्षा करना एक संकुचित दृष्टि कोण ही कहा जायगा। वास्तव में जिस गद्य शैली का प्रतिष्ठापक लोग भारतेन्दु को बताते हैं उसका शिलान्यास स्वामीजी ने ही किया था। यदि साहित्य, उपन्यास, नाटक कहानी, निबन्ध, आदि विद्याओं का श्रीगणेश भारतेन्दु तथा उनके युग के लेखकों द्वारा हुआ तो शास्त्रीय पद्धति से समीक्षा और व्याख्या करने की पद्धति का आरम्भ स्वामी जी और उनके युग के लेखकों के द्वारा हुआ। इस निर्विवाद सत्य को कौन नहीं स्वीकार करेगा।

स्वामी जी की लेखनी ने धार्मिक क्षेत्र में जो क्रान्ति की थी उसने भारतीय चिन्तन परम्परा को सर्वथा बदल दिया। उससे पूर्व ईसाई पादरी अपनी कठोर भाषा में वेदों तथा पुराणों की आलोअना करके भारतीय जनता के धार्मिक विश्वास को चोट पहुंचा रहे थे। संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण जनता उनके कुतर्कों का उत्तर दे सकने में असमर्थ थी। अतः समय की मांग थी कि कोई विद्वान् संस्कृत में लिखे गये हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों को बोलचाल की भाषा में समझा कर सर्व साधारण के लिए उनका अध्ययन सुलभ कर सके।

साथ ही एक प्रश्न यह भी था कि वह भाषा क्या हो? हमारा भारत जहां मराठी, बंगला, गुजराती, मलयालम, तेलगू, कन्नड आदि सैकड़ों भाषाऐं बोली जाती हैं वहां इस भाषा सम्बन्धी समस्या को हल करना सुगम नहीं था। अपने प्रचार कार्य का श्री गणेश राष्ट्र भाषा हिन्दी में करके युग पुरुष दयानन्द ने युग को एक नई दिशा दिखाकर जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया उसके लिए उनका नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिए था। अपनी मातृ भाषा गुजराती होते हुए भी उनका हिन्दी में ग्रन्थ रचना करना यह स्पष्ट कर देता है कि वह हिन्दी को राष्ट्र भाषा के स्वर्ण सिंहासन पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उनका उद्देश्य केवल ग्रन्थ रचना ही नहीं था बल्कि समूचे भारत की बिखरी हुई कड़ियों को जोड़कर श्रृंखला का रूप देना भी था एक देश एक भाषा, एक धर्म, एक संस्कृति का जो मधुर स्वप्न उन्होंने देखा था वह उनके ग्रन्थों में ही मिल सकता है। अपने इस स्वप्न को साकार करने के लिए उन्होंने हिन्दी में ही ग्रन्थ रचना की।

एक ओर तो उनकी मातृ भाषा गुजराती थी और दूसरी ओर उनके पठन की भाषा संस्कृत थी ऐसी दशा में जिस सुगमता से वह इन दोनों भाषाओं में लिख सकते थे उतनी सुगमता से हिन्दी में लिख सकना उनके लिए कठिन था फिर भी उन्होंने इन दोनों भाषाओं में रचना न करके हिन्दी के प्रचार व प्रसार में जो महत्त्व पूर्ण कार्य किया वह हमारे सामने है। हिन्दी भाषा को राष्ट्र भाषा का नाम देकर देश की भावात्मक एकता की आधार शिला सर्व प्रथम उन्होंने ही रक्खी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी जी की क्रान्तिकारी लेखनी ने दो महत्वपूर्ण कार्य किए जिनमें एक था विपक्षियों का खण्डन दूसरा था प्राचीन संस्कृति की सुरक्षा। प्राचीन संस्कृत साहित्य के विविधि क्षेत्रों में जो आज अनुसन्धान सम्बन्धी कार्य हिन्दी भाषा के माध्यम से हो रहे हैं उसका आरम्भ स्वामी जी की लेखनी के द्वारा ही हुआ था।

उनकी शैली की समीक्षा करते समय हमें यह भी ध्यान में रखना है कि उनके पीछे एक युग अभी तक चला आ रहा है। ऐसी स्थिति में स्वामीजी की गद्य शैली को समीक्षा करते समय केवल इतना कह देने से काम नहीं चलेगा कि वे एक धर्म प्रचारक थे : इसलिए उनका गद्य साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। यदि उदार दृष्टिकोण से हम उनकी शैली की समीक्षा करें तो हमें हिन्दी गद्य शैली को वर्तमान रूप देने वाले लेखकों में स्वामी जी को प्रथम स्थान देना पड़ेगा। प्राचीन संस्कृत वांङ्मय को जनता की भाषा में रखने वालों में स्वामी जी ही पहले भारतीय विद्वान् हैं। क्या यह हमारे लिए कम लज्जा की बात नही है कि इस कार्य को बहुत पहले विदेशी भाषाओं में मैक्समूलर, कीथ तथा मैग डानल जैसे विद्वान् प्रारम्भ कर चुके थे। स्वामी जी के कार्य क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व संस्कृत विद्वान् हिन्दी में कुछ लिखना भी अपमान समझते थे। अतः वे इस कार्य का श्रीगणेश कैसे कर सकते थे। हमारे प्राचीन ग्रन्थ दीमकों के भोजन बनते जा रहे थे। पश्चिमी देशों के विद्या प्रेमी विद्वान् दुर्लभ ग्रन्थ रत्नों की पांडुलिपियाँ मुंह मांगे दामों में खरीद कर अपने ग्रन्थागारों का गौरव बढ़ा रहे थे। स्वामी जी के वेद भाष्य छप जाने पर भारतीय विद्वानों में भी इन अमुद्रित ग्रन्थों को छपवाने तथा संग्रह करने की ओर रुचि उत्पन्न होना स्वाभाविक था। उनसे प्रेरणा पाकर भारतीय विद्वान् इस क्षेत्र में आगे बढ़े आज तो सभी विद्वान् यह स्वीकार कर रहे हैं कि हिन्दी के माध्यम से संस्कृत साहित्य के अध्ययन को सर्व सुलभ बनाने के सम्बन्ध में अब तक जितना भी कार्य हुआ है उसके पथ प्रर्दशक केवल स्वामी दयानन्द ही हैं। स्वराज का स्वप्न देखने वाले युग पुरुष दयानन्द के हृदय के भीतर भारत को स्वतन्त्र देखने की जो भावना काम कर रही थी उसका आभास उनकी इन पंक्तियों में मिल जाता है:—

यह आर्यवर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है इसलिए इस भूमि का नाम स्वर्णभूमि है। पारस मणि पत्थर सुना जाता है वह बात झूंठी है परन्तु आर्यवर्त देश ही सच्चा पारस मणि है जिसका लोहे रूपी दरिद्र विदेशी देश छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।

विषय को बोध गम्य तथा स्पष्ट करने के लिए स्वामीजी ते सर्वत्र इसी शैली का प्रयोग किया है विरोधियों का खण्डन करते समय उनकी भाषा अवश्य ही कठोर हो गयी है परन्तु यह सब होते हुए भी स्वामी जी की इस शैली को पंडितों की कथा वार्ता की भाषा कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता उसकी भी अपनी ही विशेषता है।

इस प्रकार स्वामी जी की शैली को हम प्रतिपादनात्मक, निर्वचनात्मक, वादात्मक इन तीन शैलियों में विभक्त कर सकते हैं। वेद मन्त्रों की व्याख्या जिस शैली में है वह निर्वचनात्मक शैली का उत्तम उदाहरण है। वह इस क्षेत्र में इस शैली के जन्मदाता कहे जायेंगे क्योंकि उनसे पूर्व किसी ने किसी भी भारतीय भाषा में यह कार्य सम्पादित नहीं किया था। प्रतिपादनात्मक शैली में उन्होंने अपने विषय को संस्कृत निष्ठ हिन्दी में सर्व साधारण के सम्मुख रखने का सफल प्रयत्न किया है। जबकि उनकी उनकी मातृ भाषा हिन्दी नहीं थी। वादात्मक शैली का प्रयोग उन्होंने विपक्षियों का खण्डन मण्डन करते समय किया है। इसमें उनके पथ प्रदर्शक ईसाई धर्म प्रचारक रहे हैं। फिर भी स्वामीजी की शैली ईसाई धर्म प्रचारकों की भाषा की अपेक्षा अधिक परिमार्जित और परिष्कृत है।

लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी इसमें प्रचुर मात्रा में मिलता है। उनकी इस शैली में भाषा की वक्रता और लाक्षणिकता देखते ही बनती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या गोसाईं तुलसीदास बलिया के भूमिहार थे?

डा० किशोरीलाल गुप्त

तुलसी जयंती सं० २०२९ के अवसर पर 'गोस्वामी तुलसीदास जीवन वृत्त और व्यक्तित्व' नामक ६८८ बड़े पृष्ठों की एक विशाल पोथी प्रकाशित हुई है। इसके लेखक हैं लिलकर जिला बलिया निवासी श्री कुलदीपी नारायण राय 'भड़प', मुद्रक हैं श्री कमला प्रसाद राय, जनता प्रेस, ४२ पथरिया घाट स्ट्रीट, कलकत्ता-६ तथा प्रकाशक हैं अ० भा० ब्रा० परिषद (बंग) ५० राम-कृष्णपुर लेन हवड़ा। ग्रंथ का मूल्य है ३१ रु० इस विशाल ग्रंथ का प्रतिपाद्य है—तुलसीदास जी को बलिया जिले के गंगा तट-स्थित एक गाँव राजापुर का रहने वाला भूमिहार ब्राह्मण सिद्ध करना। प्रासंगिक प्रति-पाद्य विषय हैं—स्वामी रामानन्द, प्रसिद्ध अष्टछापी कवि नंद-दास एवं महाकवि सेनापति को भी भूमिहार ब्राह्मण सिद्ध करना। भड़प जी द्वारा प्रस्तुत तर्क इस ग्रंथ में दिए तुलसी दास के जीवन वृत्त को प्रामाणिक बनाने में असमर्थ हैं। उनमें कोई दम नहीं है। हाँ, इस ग्रंथ से भूमिहारों के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी अवश्य प्राप्त हो जाती है। प्रस्तुत निबन्ध दो खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में जन्म स्थान पर विचार किया गया है और दूसरे खण्ड में जाति पर। पहले खण्ड में भड़प जी ने जो उपशीर्षक लगाए हैं, उन्हीके अन्तर्गत क्रमशः विचार प्रस्तुत किया गया है। दूसरे खण्ड में उन उपशीर्षकों को त्यक्त कर दिया गया है और चालीस विचार विन्दु प्रस्तुत किये गये हैं। यह न समझा जाय कि ये तर्क इतने ही हैं। भड़प जी ने अपने विषय पर पर्याप्त विचार किया है, यह दूसरी बात है कि इन विचारों से लोक-मत सहमत न हो।

(क) जन्म-स्थान विचार

(१) जन्मस्थान गंगातटस्थित राजापुर बलिया

१. यह भरत खण्ड समीप सुरसरि,
थल भलो संगति भली

२. बरु बारहिं बार सरीर धरौं,
रघुवीर को है तव तीर रहौंगो
भागीरथी बिनवौ कर जोरि,
बहोरि न खोरि लगै, सो कहौंगों

३. तुलसी तव तीर तीर, सुमिरत रघुवंश वीर,
बिचरत मति देहि मोह-महिप-कालिका

४. सिय सुरसरिहिं कहेउ कर जोरी
मातु, मनोरथ पुरवबि मोरी

५. धन्य सो देश जहाँ सुरसरी

६. सरित गंभीर वानीर दुहुँ तीर वर,
मध्य धारा विशद विश्व अभिरामिनी।
हरित पयंक पर शयित सर्वेश जनु,
सहस सीसावली स्रोत सुर स्वामिनी॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७. चेरो राम राय को, सुजस सुनि तेरो हर,
पायँ तर आइ रह्यों सुरसरि-तीर हौं ।

ये सभी अंश झड़प जी द्वारा उद्धृत हैं और इनसे यह निकालने का प्रयत्न किया गया है कि तुलसीदास का जन्म गंगा-तट पर हुआ था और यह गंगा-तट काशी के पूर्व में बलिया वाला है। छठे उद्धरण के 'सहस सीसा-वली स्रोत' का अर्थ किया गया है कि तुलसीदास के समय में बलिया के पास गंगा जी की सहस्र धाराएँ थीं। उक्त उद्धरण में गंगा के किसी एक खण्ड-विशेष का चित्र नहीं है, समग्र गंगा का चित्र है। गंगा की धारा गहरी है, दोनों ओर वानीर (वेंत, प्रतीक रूप में) है। बीच में गंगा की धारा हैं। लगता है नीली शय्या पर शेष नाग सो रहे हैं। शेष का रंग श्वेत है। सागर में जहाँ गंगा मिलती है, उसे गंगा सागर कहते हैं। यहां गंगा की सहस्र धाराएँ मानी जाती हैं। गंगा सागर में गिरने वाली गंगा की यही सहस्र धाराएँ शेष नाग के सहस्र शीश हैं। इनके अतिरिक्त तुलसीदास के बलिया में गंगा-तट पर जन्मने के सम्बन्ध में और भी कुछ लचर प्रमाण दिए गए हैं, यथा—

१. 'आक जवास पात विनु भयऊ'। झड़प जी के अनुसार यह दृश्य बलिया शाहाबाद में गंगा-सरयू के कछार में ही देखा जाता है। तुलसी के इस सर्वदेशीय कथन को एकदेशीय करना ठीक नहीं।

२. तुलसी तृन जल कूल को, निरबल निपट निकाज
कै राखै कै सँग चलै, बाँह गहे की लाज ।
दोहावली ५४४.

झड़प जी के अनुसार 'तुलसीदास ने किसी ऐसी बड़ी नदी के तट पर बाल्यावस्था बिताई थी, जिसका कगार ऊँचा होगा एक कगार की भूमि कँकरीली पथरीली अथवा बहुत कड़ी न होगी। ऐसी स्थिति बक्सर के पूरब में ही गंगा नदी की है। उधर गंगा का विस्तार भी शेषनाग के हजारों फणों के समान सुविस्तृत हो जाता है।'

क्या इस दोहे के आधार पर बलिया जिले के किसी राजापुर गाँव को तुलसी के जन्म स्थान होने का गौरव दिया जा सकता है ?

तुलसीदास जी हिंदू होने के नाते गंगा भक्त थे। काशी में उनके जीवन का अधिकांश बीता। अतः गंगा के प्रति उनका सामान्य हिन्दू-प्रेम विशेष-भक्त-प्रेम में बदल गया। आजतक किसी ने नहीं कहा कि तुलसीदास का जन्म गंगा जी के किनारे स्थित किसी गाँव में हुआ। झड़प जी ने जो दलीलें दी हैं, उनमें कोई तत्त्व नहीं। सातवे उद्धरण से तो स्पष्ट है कि तुलसीदास शिव की प्रशंसा सुन, उनकी चरण शरण में आकर, सुरसरि-तीर पर, काशी में रहने लगे थे, वे गंगा तट पर जन्मे नहीं थे।

गोसाईं जी गंगाजी के भक्त हैं। इससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि उनका जन्म गंगा तट पर स्थित किसी गाँव में हुआ था। गंगा का प्रेमी तो हर हिंदू है।

(२) शिव पीठ की निकटता

इस प्रकरण में झड़प जी का कहना है कि गोसाईं जी अनन्य राम-भक्त होकर भी परम शिव भक्त थे। इससे स्पष्ट है कि उनका जन्म किसी ऐसे कुल में हुआ जो शैव था। हमें इससे इनकार नहीं कि गोसाईं जी राम-भक्त के साथ-साथ परम शिव भक्त भी थे। पर हम उनके इस मत से सहमत नहीं कि तुलसी की जन्म-भूमि का सोरों, राजापुर, (बाँदा) और अयोध्या में होने की अपेक्षा भोजपुरी प्रदेश में होना अधिक संगत प्रतीत होता है, जहाँ काँट ब्रम्हपुर (शाहाबाद), छितौनी असेगा (बलिया) और मेंहदार ढोढ (सारन) में भगवान शिव के प्राचीन मन्दिर हैं। हिंदुस्तान का शायद ही कोई अभागा गाँव होगा जहाँ शिवालय न हो। जहाँ शिवालय नहीं हैं, वहाँ भी किसी नीम या पीपल के पेड़ के नीचे किसी पत्थर पर दो चार शिव लिंग अवश्य हैं और उन पर जल भी चढ़ाया ही जाता है। मन्दिरों में प्रायः शिव, गणेश, पार्वती, हनुमान जी की मूर्तियाँ एक साथ मिलती हैं, जो उदार विचार-धारा का ही प्रतीक हैं। तुलसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ भी पैदा हुए रहे होगें, वहाँ शिवालय का अभाव नहीं रहा होगा।

(३) **भीतरी झलक**

(१) हाथी हथि सारें जरे घोरे घोरसारही

—कवितावली सुन्दरकांड २३

झड़प जी के अनुसार हाथी, हथिसारें, घोरसारही, घोरे सभी भोजपुरी शब्द हैं और किसी राजा की विपत्ति का विवरण देते समय भोजपुरी लोककथाओं में इनका प्रयोग किया जाता है।

मैं अवधी भाषा-भाषी हूँ और ऐसी लोककथाएँ मैंने भी लड़कपन में सुनी हैं। ये सभी शब्द समान रूप से अवध में भी प्रचलित हैं।

(२) 'तेरी मरजी तें चलें चिचिनी चियाँ रें'

इमली की चियाँ सभी जगह होती है। हमारे यहाँ भी इमली के बीज को 'चीयाँ' ही कहते हैं। बलिया में यह सिक्के की तरह चलता है क्या? जहाँ तक बटुवलिया पैसे की बात है, हमने भी लड़कपन में इसे चालू सिक्के के रूप में देखा था—इसे गोरखपुरी पैसा या मोटका पैसा कहा जाता था।

(३) नाम राम रावरे तो चाम की सलाई है

—कवितावली उत्तर कांड ७४

झड़प जी का कहना है कि चौसा के पास हुंमायूं को एक भिश्ती ने मशक पर चढ़ाकर गंगा पार उतारा था। हुमायूँ ने प्रसन्न हो कर उसे एक दिन की बादशाहत दे दी थी और उसने चमड़े का सिक्का चलाया था। तुलसी दास बलिया वासी थे, इसीलिए उन्हें यह घटना मालूम थी और उन्होंने चाम का दाम चलाने की बात का उल्लेख किया है।

भिश्ती के चमड़े का सिक्का चलाने की बात ऐतिहासिक तथ्य है। यह अद्भुत कथा तो सारे हिंदुस्तान में वन की आग की तरह फैल गई होगी, और इस तथ्य को जानने के लिए तुलसी के बलिया में जन्म लेने की कोई आवश्यकता नहीं, वह भारत के हिन्दी भाषा भाषी किसी प्रदेश में जन्म लेकर यह बात जान सकते थे। वस्तुतः यहाँ इतिहास प्रसिद्ध इस घटना की ओर संकेत नहीं है। यह मुहावरा मात्र है। रीतिकालीन कवियों ने तो रूपगर्विता नायिकाओं के लिए चाम के दाम लगने की बात बराबर कही है। वे शृंगारी प्रयोग हैं, तुलसी का प्रयोग शांत-परक है।

(४) 'एक पूजें बाहु बल मूल तोरि फूल हैं'

—कवितावली सुंदरकांड ३०

झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी के जन्म के प्रायः पचास वर्ष पहले बलिया के राजा कर्णदेव ने सिकंदर लोदी से युद्ध कर हिंदू जनता को उसके अत्याचारों से बचाया था। तब हिंदू नेताओं ने उनकी बाँहों की पूजा की थी। बलिया में जन्म लेने के कारण तुलसी इस कथा से परिचित थे, इसीलिए उन्होंने सीता का पता लगाकर वापस आने पर हनुमान की बाँहों की पूजा उनके साथियों से कराई है।

यह भी झड़प जी का शुद्ध भ्रम है। वीरों की पूजा की यह एक सामान्य पद्धति ही थी। गोवर्धन धारण के पश्चात श्री कृष्ण की भी पूजा हुई है। तो क्या यह कंसोपाटन (बलिया) के कर्णदेव की बाहु-पूजा के आधार पर हुई है?

सूरदास जी लिखते हैं—

सबै मिलि पूजौ हरि की बहियाँ
जौ नहिं लेत उठाइ गोवर्धन, को बाँचत ब्रज महियाँ
'कोमल कर गिरि धरयो घोष पर; सरद कमल की छहियाँ
'सूरदास' प्रभु तुम दरसन सौं, आनँद है सब कहियाँ

—सूरसागर पद १५८८

देव ने भी गोवर्धन-धारण के पश्चात् ग्वाल बालों द्वारा बलवीर की बाहों के भेंटने का वर्णन किया है—

तीर धरयो जु गहीर गुहा,
गिरि धीर धर्‌यो सु अधीर महा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूँछती पीर भरे दृग नीर,
त्यों एकै समीर करैं और सराहैं
छोर मिजै यक पोंछती चीर लै,
राधे रहैं तिरछो करि छाहैं
भेंटती भीर अहीरन की,
वर वीरज की बलबीर की बाँहैं

—देवसुधा ४

(५) क गोंड़ गँवार नृपाल महि जवन महा महिपाल

—दोहावली

ख वेद धर्म दूरि गये, भूमिचोर भूप भए

—कवितावली उत्तर कांड १७७

झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी का संबंध ऐसे राज्य से अवश्य था, जहाँ गोंड, गँवार, नृपाल का राज्य था, जो चोरी चोरी राजा बन गया था। बलिया में उस समय हल्दी में ऐसा ही राज्य था, जो गोंडवाना से आया था और हल्दी की ब्राम्हण रानी को धोखा देकर राज्य छीन लिया था।

हल्दी का राज्य तो एक जमींदारी मात्र रहा होगा, जो इतिहास की दृष्टि से नगण्य है। तुलसी के ही समय में मध्य प्रदेश के एक विशाल भू-भाग गोंडवाना पर गोंड़ों का राज्य था। प्रसिद्ध गोंड रानी दुर्गावती अकबर बादशाह एवं गोसाईं तुलसी दास की समकालीन थी। तुलसी को निश्चय ही इसका पता रहा होगा।

(६) पुनः झड़प जी कहते हैं—

"यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो तुलसीदास जी ने अपने को आरा बलिया का निवासी होने की ओर स्पष्ट संकेत भी किया है। तुलसीदास जनकपुर की यात्रा में श्रीरामचन्द्र जी के साथ दिखाई देते हैं और उनकी अनन्य निष्ठा देख श्री रामचन्द्र जी उन पर अपनी कृपा दृष्टि डालते हैं—

सनमुख सबहिं बिलोकत सबहिं नीके।
कृपा से हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं॥

—गीतावली, बालकांड ७१

जिसे झड़प जी ने स्पष्ट संकेत कहा है, वह अत्यन्त दुर्बल है और स्पष्ट क्या अस्पष्ट संकेत तक नहीं है। भक्त सदैव अपने को इसी प्रकार अपने प्रभु के निकट रखना चाहता एवं कृपा पाना चाहता है। सीता जी के कहने पर राम जी ने तुलसी की विनय पत्रिका पर अपनी सही कर दी—क्या झड़प जी इसे ऐतिहासिक तथ्य कहना पसंद करेंगे ?

'तुलसीदास' अनुराग अवध आनंद अनुभवत तब को सो अबहुँ अघाई

—गीतावली बालकांड ३०

क्या इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने राम के बाल्यकाल के आनंद का अनुभव किया था और अब भी अयोध्या में रहकर उस आनंद का अनुभव कर रहे हैं तथा अयोध्यावासी हैं ?

अपने इष्ट से नैकट्य स्थापित करने के ही लिए तुलसीदास ने राम को स्थान स्थान पर तुलसी के प्राण पिआरे, तुलसी के जीवन धन, तुलसीदास के ईस आदि कहा है—

१. अवलोके भरि नयन आज तुलसी के प्रानपियारे

—गीतावली, बालकांड ६६

२. सकल सुकृत फल माता पिता के, जीवन धन तुलसी के

वही बालकान्ड ५६

३. सकल तनय चिरजीवहु, तुलसीदास के ईस

—राम चरित मानस बालकांड १९६

शृंगारी कविताओं में भी इसी प्रकार रीतिकालीन कविन्दों ने अनेक स्थलों पर जहाँ कवि छाप दी है, अपने पर नायकत्व का भी आरोप कर लिया है। उदाहरणार्थ केवल एक छंद उद्धृत किया जा रहा है—

चूमत पी को कपोल तिया,
तिय को पियहूँ अधरा रस चाखै।
अंक गहै 'हरिऔध' को कामिनि,
पी नवला को भुजा भरि भाखै।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपने जीवन प्रान समान,
लला को लली करिबे अभिलाखै।
लालहू नेहमयी नव बाल को,
आँखिन की पुतरी करि राखै।
रस कलस, पृष्ठ ६

(४) संप्रदाय और समाज

इस प्रकरण में झड़प जी का कहना है रामानंद जी ने अपने पंथ का प्रसार काशी में रहकर किया और उनके मत का व्यापक प्रसार केवल भोजपुरी प्रदेश में हुआ। सारन आदि जिलों में रामानंदी संप्रदाय के अन्तर्गत एक चतुर्भुजी उपवर्ग है, जो तुलसी संप्रदाय भी कहा जाता है। भोजपुरी क्षेत्र में रामानंद और रामनंदन नामों की अधिकता है। अतः रामानंद जी भोजपुरी क्षेत्र के ही निवासी थे।

स्वामी रामानंद जी का जन्म स्थान प्रयाग है, यह स्थापित सत्य है। फिर उन्हें भोजपुरी प्रदेश का निवासी कहना कहाँ तक ठीक है? रामानंदी संप्रदाय केवल भोजपुरी प्रदेश में व्यापक रूप से फैला, यह भी ठीक नहीं। अयोध्या रामानंदियों का गढ़ है। अयोध्या के ही मुसलमानों तक को रामानंद जी ने हिन्दू बना लिया था, जो संजोगी कहे गये। तो क्या यह धर्म-परिवर्तन बिना प्रभाव के ही हुआ था?

झड़प जी का मत है कि तुलसीदास का जन्म ऐसे क्षेत्र में हुआ था, जहाँ राम की उपासना का व्यापक प्रचार था, जहाँ शिव, हनुमान, दुर्गा आदि को भी महत्त्व देते थे। ऐसा प्रदेश भोजपुरी क्षेत्र ही है, जिसके विषय में तुलसीदास की जन्मभूमि होने की सम्भावना की जा सकती है।

इस संबंध में निवेदन करना है कि संपूर्ण भारत भूमि में राम का व्यापक प्रभाव है। यहाँ तक कि व्रजमंडल में भी लोग परस्पर मिलने पर अभिवादन के लिए 'राम राम साब' (साहब)' ही कहते हैं।

झड़प जी के अन्य प्रमाण हैं—

(१) भोजपुरी प्रदेश में ही पुरोहिती को निंद्य वृत्ति माना गया है।

(२) भोजपुरी प्रदेश के ब्राह्मणों में ही सहिष्णुता और उदारता है और धार्मिक असहिष्णुता एवं छुआछूत संबंधी संकीर्णता कम मिलती है।

(३) भोजपुरी प्रदेश में राजा के लिए 'महता' और मंत्री के लिए 'प्रधान' शब्द प्रयुक्त होता है। इन शब्दों का प्रयोग रामानंद एवं कबीर ने इन्हीं अर्थों में किया है।

इन प्रमाणों की प्रामाणिकता पर प्रामाणिक लोग स्वयं विचार करें। मुझे तो इनमें कोई भी वास्तविकता नहीं दिखाई देती।

(५) भावना

झड़प जी के अनुसार भोजपुरी भावना और विचारों की छाप तुलसीदास जी की रचनाओं में प्रायः सब कहीं पाई जाती है। जिन्हें उन्होंने भोजपुरी भावना और विचार समझा है, वस्तुतः वे उतने सीमित दायरे में ही नहीं संकुचित हैं। वे अवध में भी व्याप्त हैं और अन्यत्र भी व्याप्त हो सकते हैं। इस प्रकरण में झड़प जी ने निम्नांकित उदाहरण दिये हैं—

(क) रामहि राम रटन करु जिभिया

इसे लड़कपन में मैंने भी अपने यहाँ अवध प्रांत में बराबर सुना है।

(ख) एक भोजपुरी गीत में रावण का आतंक एवं ऐश्वर्य वर्णन। मंदोदरी रावण को समझाती है। ऐसे कथन अन्यत्र भी हैं।

(ग) भोजपुरी प्रदेश में सबेरे उठने पर घड़ी रात रहते प्रभाती गाने का प्रचलन है—

'जागीं ए सिव शंकर सबेरे उठिं'। मेरे पिता जी भी सबेरे उठकर नित्य गाते थे। यह गीत वे यों गाते थे—'सबेरे उठि जागऽहो बंभोला'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) भोजपुरी प्रदेश में गंगा जी सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाली मानी जाती हैं। उन्हें पियरी चढ़ाई जाती है और गंगा जी के गीत गाए जाते हैं। यह भोजपुरी प्रदेश की ही विशेषता नहीं है। अन्यत्र भी लोग गंगा के गीत गाते हैं और मनौती पूरी होने पर रोट और पियरी चढ़ाते हैं।

(ङ) एक भोजपुरी गीत में भक्त चिंतित है कि भगवान को क्या चढ़ाए, क्योंकि सभी चीजें जूठी हैं। यह भाव भी अन्यत्र खड़ी बोली में सुलभ है। "अजब हैरान हूँ भगवन्, तुम्हें कैसे रिझाऊँ मैं।"

(च) एक भोजपुरी शिव स्तुति—

"अपने भिखारी वन पतई चबाई ले
आन के देवे के धन कहां से ले आई ले।'

ऐसी शिव स्तुतियां भोजपुरी प्रदेश के बाहर भी प्रचलित हैं।

(छ) सीता का रूप वर्णन एक भोजपुरी गीत में। ऐसे रूप वर्णन हर प्रांत के लोक गीतों में मिलेंगे।

(ज) भोजपुरी प्रदेश में कूटि कहने का विशेष प्रचलन रहा है, इसी से तुलसी ने भी लिखा—

'तुलसी तेहि औसर लावनिता,
दस चारि नौ तीन इकीस सबै।'

सूर ने कूटों की एक पोथी ही 'साहित्य लहरी' नाम से रच दी। झड़प जी के इस तर्क के अनुसार सूर को निश्चित रूप से भोजपुरी प्रदेश में पैदा होना चाहिए।

(झ) सीता-हरण के पश्चात तुलसी के राम वन के पशु पक्षियों से सीता का पता पूछते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी
तुम देखी सीता मृग नयनी

झड़प जी ने एक भोजपुरी लोककथा दी है और कहा है कि उसी कथा के आधार पर तुलसी ने राम से यह पृच्छाएँ कराई हैं।

तुलसी के सामने भोजपुर की यह लोककथा रही हो, चाहे न रही हो—महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशी के पुरुरवा का विलाप अवश्य था।

(ञ) भोजपुरी प्रांत में बहुधा गुरु, गौ और जनेऊ की शपथ लेने का प्रचलन है। यह प्रचलन भोजपुरी प्रदेश के बाहर भी यत्र तत्र सर्वत्र है।

(ट) भोजपुरी प्रांत की स्त्रियाँ प्रायः कौवे से प्रवासी के आगमन के संबंध में सगुन कराती हैं। हिंदी भाषा भाषी प्रदेश की सभी स्त्रियाँ इस दृष्टि से समान हैं। भोजपुरी प्रांत को ही यह गौरव क्यों दिया जाय?

(ठ) भोजपुरी प्रदेश में प्रातःकाल लोग सूम का नाम नहीं लेते। यह बात भी सर्वत्र है। सूम ही नाम क्या, बुरे गाँव का भी नाम नहीं लेते।

(ड) भोजपुरी प्रदेश में काशीफल को कोंहड़ा कहा जाता है। हमारे यहाँ अवधी-भाषी-प्रदेश में भी। कुम्हड़ बतिया के तर्जनी देखते ही मुरझा जाने वाली बात भी प्रचलित है।

(ढ) भोजपुरी प्रदेश में स्त्रियाँ शीतलाष्टमी और शिशुओं की छठी आदि के अवसर पर दाहिने हाथ से दीवाल पर सात छाप लगाकर ऐपन बनाकर पूजा करती हैं। यह प्रक्रिया अन्यत्र भी है। मेरे पिता जी शीतला जी के सेवकिया थे, वे भी दीवार पर हाथ से ऐसे ऐपन बनाते थे।

(ण) विनय पत्रिका में गणेश की स्तुति के बाद सूर्य की स्तुति है। इसके संबंध में झड़प जी का यह मत है कि यह भोजपुर एवं बिहार में प्रचलित कार्तिक शुक्ल षष्ठी के सूर्यव्रत के प्रभाव स्वरूप है। सूर्य तो इतने जाग्रत देवता हैं कि इन्हें सूर्य नारायण कहा जाता है और प्रत्येक भक्त हिन्दू स्नानोपरांत सूर्य को अर्घ्य देता है। अतः इस आधार पर तुलसी को बलिया का भोजपुरिया नहीं सिद्ध किया जा सकता।

(ग) तुलसी हनुमान के भक्त हैं। झड़प जी के अनुसार भोजपुरी प्रदेश में हनुमान जी की पूजा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम प्रचलन है। विशेषकर भूमिहारों में। हनुमान जी भारत वर्ष में सर्वत्र पूजनीय हैं। भोजपुरी प्रदेश के भूमिहारों में ही नहीं।

६. आचार व्यवहार

झड़प जी के अनुसार राम चरित मानस आदि ग्रंथों के अनुशीलन से विदित होता है कि उनमें जिस प्रकार के आचार व्यवहार का वर्णन है, वे प्रायः भोजपुरी प्रदेश के आचार व्यवहार के अनुसार ही हैं। हास-परिहास, नातेदारों के भोजनकाल में मनोरंजनार्थ गाली गाना, पंचकौर निकालना, नहछू, बरात की तैयारी, विवाहोत्सव, पुत्रोत्सव, भोज आदि की विधियाँ भी सब वैसी ही हैं।

(क) बरात में दही चिउरा और मछली भेजने का उल्लेख रामचरित मानस में है।

झड़प जी के अनुसार यह भोजपुरी रिवाज हैं। झड़प जी यह भी मानते हैं कि यह रिवाज मिथिला में भी है। यह रिवाज मेरे अपने क्षेत्र में नहीं है।

(ख) भोजपुरी प्रदेश में कन्या पक्ष की ओर से बरातियों के पैर धुलाने की प्रथा है। रामचरित मानस में जनक ने दशरथ आदि के पैर धोए हैं। यह प्रथा हमारे यहाँ भी रही है। पर पैर धोने का काम नाई करता रहा है। अब इस प्रथा का उठान-सा हो गया है।

(ग) भोजपुरी प्रदेश में मछली की सौगात देना, मछली का दर्शन करना शुभ माना जाता है। मछली का शकुन तो प्रायः सर्वत्र माना जाता है। झड़प जी कहते हैं—तुलसीदास की जन्म-भूमि ऐसे प्रदेश में थी, जहाँ बड़े लोग मनोरंजनार्थ वंशी द्वारा मछली का शिकार करते हैं। कटिया में चारा लगाकर मछली फँसाने का काम सर्वत्र होता है, केवल भोजपुर में नहीं।

(घ) भोजपुरी प्रदेश में कुलीन ब्राह्मणों में पर्दा का प्रचार है, बुंदेलखंड एवं पश्चिम के ब्राह्मणों में नहीं। पर्दा मुसलमानी प्रभाव है और हिंदी भाषा-भाषी प्रदेश में प्रायः सभी बड़े लोगों में रहा है और अब भी है।

(ङ) भोजपुरी प्रदेश और बिहार में ही संबोधनार्थ 'बाबू' शब्द का व्यवहार होता रहा है। गोस्वामी जी ने भी 'बाबू' शब्द का व्यवहार साधुओं से कराया है यथा—

'आयसु, आदेश, बाबू'

—कवितावली उत्तरकांड १४०।

उक्त छंद में 'बाबू' नहीं है, 'बाबा' है।

(च) भोजपुरी प्रदेश में स्त्रियाँ दिए को आंचल से बुझाती हैं और आँचल पसार कर ही आशीर्वाद लेती देती हैं।

आँचल से दिया बचाने और दिया बुझाने दोनों का काम अन्यत्र सर्वत्र होता रहा है दिल्ली आगरा वाले रहीम भी यह जानते थे—

जो रहीम दीपक दसा, तिय राखत पट ओट
समय परे ते होत है, वाही पट की चोट।

हमारे यहाँ भी बहुएँ अपनी सासुओं एवं सासु तुल्या अन्यों के पैर आँचल पसार कर छूती हैं और आशीर्वाद लेती हैं। आँचर पसार कर आशीर्वाद देने की प्रथा भोजपुरी की विशेषता होगी ?

(छ) 'सदा सुहागिन होहु तुम' और 'अचल होय अहिवात तुम्हारा' कहकर आशीर्वाद देने का ढंग भी भोजपुरी ही है। क्या यह तथ्य है ? अन्यत्र ऐसा आशीर्वाद नहीं दिया जाता ?

(ज) बनारस प्रांत और बिहार बंगाल में ब्रह्म हत्या घोर सामाजिक अपराध है। क्या हिंदुस्तान के किसी कोने में ब्राह्मण हत्या सामाजिक पुण्य है ? भारत भूमि में ब्राह्मण सर्वत्र पूज्य हैं।

(झ) जे वर्णाधम तेलि कुम्हारा।
सुपच बिरात कोल कलवारा।

झड़प जी के अनुसार ए जातियाँ भोजपुर में अधम मानी जाती हैं। इसीलिए तुलसी ने लिखा। अन्यत्र सर्वत्र नहीं, ए जातियाँ अधम मानी जाती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ञ) भोजपुरी प्रदेश में लोग रात में किसी स्थान पर बैठकर इतिहास पुराण कथावार्ता सुनते थे। यह स्थिति अन्यत्र भी है। रात में ही किसानों को फुरसत मिलती है।

(ट) भोजपुरी प्रदेश में पुत्री के घर एवं गांव का अन्न जल ग्रहण करना उचित नहीं। यह बात अन्यत्र भी है।

(ठ) भोजपुर में अधिक अधीनता प्रकट करने के लिए कहा जाता है कि मैं आपके जूते तर का हूँ। बड़ों के पैर छूकर प्रणाम करने की परिपाटी है। स्त्रियाँ बड़ों के चरणों पर अंचल रोपती हैं। ये बातें सर्वत्र हैं, केवल भोजपुर में नहीं।

(ड) गोस्वामी जी द्वारा गोंड़ऊ शैली में पद-रचना तथा उसमें भोजपुरी शब्दों और प्रयोगों की अधिकता इस बात की सूचक है कि गोस्वामी जी की बाल्यावस्था भोजपुरी प्रदेश में व्यतीत हुई थी। गोंड और कहार अन्यत्र भी हैं और कहरवा प्रसिद्ध लोक गीत है, जो अवध में भी प्रचलित है।

(ढ) होली पर गधे की सवारी के जलूस भोजपुरी प्रदेश में निकाले जाते हैं। ऐसी मजाकिया चीजें अन्यत्र भी होती रही हैं। मेरे गाँव में भी काजल चूना पोतकर गधे की सवारी करने वाले के दर्शन होली पर किए जा सकते हैं।

(ण) भर जाति का केन्द्र भोजपुरी प्रदेश है। ऐसा नहीं माना जा सकता। यदि भर शब्द भार शिव से बना है, तो भारशिवों का राज्य विन्ध्याचल में था, जो भोजपुरी प्रदेश के बाहर है और अवधी भाषी क्षेत्र में है। हमारे भी क्षेत्र में भरों की पुरानी कोटें मिलती हैं।

(त) झड़प जी के अनुसार बैल लादने का प्रचार विशेष रूप से भोजपुरी प्रदेश में रहा है। बैलों पर वाणिज्य का कार्य बहुत होता था और संपूर्ण भारत में होता था। अब भी यत्र तत्र होता है। बरेली में तो धोबी बैल पर लादी लादते हैं—अन्यत्र गधे पर।

(थ) राय और साहि भोजपुरी प्रदेश में भूमिहारों के नामांत में प्रायः प्रयोग में आते हैं। पर ये दोनों राजा के सूचक शब्द हैं और अन्यत्र भी प्रयुक्त होते हैं।

(द) काहि जय जीअ बैठ सिर नाई

जय जीअ भोजपुरी प्रदेश के आशीर्वाद शब्द हैं ऐसा झड़प जी का कहना है। हमारे यहाँ भी ये शब्द 'जय हो', 'जीअऽ' (जियो) रूप में प्रचलित हैं।

(ध) तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत संवादों में स्पष्ट रूप से भोजपुरी प्रकृति की विशेषता है। शालीन के साथ शालीनता का एवं अधम के साथ अधमता का व्यवहार भोजपुरिया करता है। यह विशेषता केवल भोजपुरियों की नहीं।

(न) झड़प जी के अनुसार भोजपुरी प्रदेश में जन्म पर बधावा बजाने वाले स्वयं आते हैं, अवध में बुलाये जाते हैं। ऐसी कोई बात नहीं। वे व्यक्ति के हैसियत के अनुसार आते भी हैं और बुलाये भी जाते हैं।

(प) नहछू बरात के घर से चलने के समय होता है। यजोपवीत पर भी होता है और भोजपुर से बाहर के क्षेत्रों में भी होता है। हल्दी चढ़ना, कलस स्थापना, तेल चढ़ना, सभी बातें अवध में भी होती हैं। गाली भी प्रायः सर्वत्र गाई जाती है। इन बातों को भोजपुरी क्षेत्र की विशेषता मानना और इनके आधार पर तुलसी को बलिया में पैदा हुआ कहना समीचीन नहीं।

७. कृषि और खानपान

तुलसी ने एक दोहे में 'पाही खेती' का उल्लेख किया है—

पाही खेती, लगन बट, रिन कुब्याज, मग खेत
बैर बड़े सों आपने किए, पाँच दुख देत
—दोहावली ४७८

झड़प जी ने पाही खेती को पकड़ा है और बलिया जिले के गंगा सरयू के दियारे की खेती के कष्टों का वर्णन किया है तथा तुलसीदास को बलिया वाला बनाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और पाही बलिया का वैशिष्टय नहीं है। पाही खेती वह खेती है, जिसका किसान दूसरे दूर के गाँव में रहता है। हमारे यहाँ की एक लोकोक्ति है—

घर घोसिया मड़ियाहू पाही
लड़िका मरि गए आवाजाही

घोसिया माधोसिंह स्टेशन के पास वाराणसी जिले में कालीन का प्रसिद्ध निर्माण केन्द्र है और मड़ियाहूँ, जौनपुर जिले की तहसील है। स्पष्ट है इस पाही खेती से तुलसी को गंगा सरजू के संगम के निकट का निवासी नहीं सिद्ध किया जा सकता।

झड़प जी ने तुलसी की निम्नांकित उक्तियां उद्धृत की हैं और इनके सहारे इन्हें भोजपुरी प्रदेश का निवासी बनाने की कृपा की है—

१. तुलसी अति नीचे सुखाद,
ऊख नन्न अरु धान
अति ऊँचे भूधरन पर,
भुजगनि हो को थान
—दोहावली

२. ऐसी हठ जैसी गाँठ पानी परे सन की
—क० उत्तरकांड

३. आपनो चना चबाइ हाथ चाटियतु है—क० उ०

४. मानत हौं चारि फल चारि ही चनक को
—क० उ०

५. फरइ कि कोदव बालि सुसाली—राम चरित मानस

६. सूखत धान परा जनु पानी—राम चरित मानस

७. सुचि सुन्दर सालि सकेली—क० उ०

८- होइहि जब कर कीट अभागा—राम चरित मानस

९. विविध विधान धान जरत बखारहीं—
क० सुन्दरकांड

क्या इनसे तुलसी किसी प्रकार भोजपुरिया बनाए जा सकते हैं ?

इसी प्रकार झड़प जी ने भाँग, सेतुआ, पीने का भी निरर्थक सहारा लिया है। भाँग तराई इलाके में स्वतः होता है। सारन जिले में ही नहीं, मैंने इसके पौधे मुजफ्फरपुर जिले में देखा हैं, साथ ही हरिद्वार में भी।

८. भाषा

पृष्ठ १७६-९९ तक झड़प जी ने तुलसी की भाषा में भोजपुरी वैशिष्ट्य दिखाने का प्रयास किया है, जो व्यर्थ है क्योंकि जितनी भी बातें कही गई हैं, वे सभी अवधी में भी पाई जाती हैं। अतः इस प्रकरण पर तूल देना व्यर्थ है।

९. झलक

इस प्रकरण में निम्नांक्ति कथन हैं :—

१. संवादों में तुलसीदास की मातृ भाषा भोजपुरी की झलक है।

२. तुलसीदास कुलक्षणी थे, अतः 'मुलहा' कहे जाने लगे थे। इस प्रयोग के आधार पर इनका निवास स्थान काशी और बलिया के मध्य कहीं होना चाहिए।

३.राम बोला और हुलसी गुणपरक नाम भोजपुरी प्रदेश को विशेषता है। अतः तुलसी पूर्वीय भोजपुरी प्रदेश केनिवासी थे।

४. राम चरित मानस का रूपक प्रस्तुत करते हुए गोसाईं जी ने गंगा सरयू एवं सोन संगम का वर्णन किया है, जो इनके जन्म स्थान का सूचक है।

५. राम और तुलसी दोनों का गोत्र वसिष्ठ था। सीता और तुलसी की माता हुलसी का गोत्र गौतम था। इस लिए तुलसी ने कहा है—

तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को।

६. राम ने कहा है—

जन्म भूमि मम पुरी सुहावनि
उत्तर दिसि सरजू बह पावनि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झड़प जी के अनुसार प्रकारांतर से यदि इसे तुलसी की भी जन्म भूमि का संकेत मानें, तो सरयू जी बलिया से उत्तर को बहती है।

इन सब तर्कों में कितना बल है, इसपर पाठक स्वयं विचार कर लें।

१०. हुलसी-स्थान

किसी हुलसी सती का स्थान बलियानगर से ६मील पूरब गंगा तट पर स्थित है। यह हल्दी के पास है। झड़प जी का अनुमान है कि यह तुलसीदास की माँ का स्थान है, जो तुलसी के पिता के निधन होने पर सती हो गई थीं।

अवधी और भोजपुरी में ईकारांत स्त्रीलिंग व्यक्ति-वाचक संज्ञाएं जब संबोधित की जाती है, तो आदरार्थ उन्हें आकारान्त कर दिया जाता है। ईकारान्त संबोधन में कुछ अनादर की सी भ्रांति होती है। जैसे हे सजनी, न कहकर लोग हे सजना कह देते हैं। उसी प्रकार हुलसी का आदरार्थक रूप हुलसा होगा। हुलसी से हुलसा होगा, न कि हुलासो।

झड़प जी के इस हुलासो सती वाले विवेचन में भी मुझे कोई सार नहीं दिखाई देता

(ख) जाति विचार

तुलसीदास जी ब्राह्मण हैं। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी एक मत हैं। वे कौन से ब्राह्मण हैं—इसी में मतभेद है। उन्हें कान्यकुब्ज, सनाढ्य एवं सरयूपारीण कहा जाता है। बहुमत उनको सरयूपारीण ब्राह्मण मानता है। श्री कुलदीप नारायण राय 'झड़प' ने अपनी पोथी के पंचम अध्याय (पृ० २४५-३५६) में इन्हें भूमिहार ब्राम्हण सिद्ध करने का प्रयास किया है। झड़प जी का कहना है कि आदि काल में ही ब्राम्हणों के दो वर्ग रहे हैं। एक वर्ग वह जो पुरोहिती करता था और दूसरा वर्ग जो पुरोहिती को हीन वृत्ति मान कर उससे घृणा करता था। एक दान लेने वाला था, दूसरा दान न लेने वाला था। एक दीन हीन था, दूसरा वैभव-संपन्न। एक प्रतिग्राही था, दूसरा अप्रतिग्राही। एक निर्धन विपन्न किसान था, दूसरा संपन्न जमीदार। गोसाईं तुलसीदास जी इसी दूसरे वर्ग में उत्पन्न हुए थे और भूमिहार थे।

इस सम्बन्ध में मेरा कहना है कि सामान्यतया जिसको ब्राम्हण कहा जाता है, वह भूमिहार से सर्वथा अलग है। भूमिहार लोग ठाकुर कहे जाते हैं और उनके संस्कार ब्राम्हणों के कम, राजपूतों के अधिक हैं। बहुत पहले यह विभेद संभवतः नहीं था। चाणक्य ब्राम्हण माने जाते हैं, हैं वह भूमिहार। इनके वंशज बिहार में चनकिया बाभन कहे जाते हैं। बिहार में 'बाभन' और 'ब्राह्मण' दो वर्ग हैं। 'बाभन' भूमिहार का द्योतक है। ब्राह्मण और बाभन का या भूमिहार का यह विभेद मुस्लिम काल से प्रारम्भ होता है, जब मुस्लिम संपर्क के कारण भूमिहारों में ब्राह्मणों से विभिन्न संस्कृति का, रहन-सहन का, बोलचाल का विकास होने लगा। यहाँ तक कि भूमिहारों का ब्राम्हणों से अलग एक वर्ग ही हो गया और भूमिहार अब्राम्हण माने जाने लगे। यह तो आधुनिक युग में स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने, जो स्वयं भूमिहार थे, भूमिहारों को ब्राह्मण कहने का आन्दोलन चलाया और नामों के अन्त में शर्मा लगाने की चाल चलाई तथा भूमिहार लोग अपने को ब्राम्हण कहने लगे। तुलसीदास के युग में भूमिहारों की स्थिति क्या थी, राम जाने, वे ब्राम्हण कहलाते थे, या आज की ही तरह एक अन्य ब्राम्हणेतर जाति कहे जाते थे। हाँ, उनके मान, वैभव, ऐश्वर्य, संपन्नता में कभी भी कमी नहीं थी। न तब, न अब।

मुझे दूसरी बात यह कहनी है कि झड़प जी ब्राम्हणों की जो दो श्रेणियाँ मानते हैं—प्रतिग्राही और अप्रतिग्राही, वह भूमिहारों को अलग कर देने पर भी अपनी जगह पर ठीक है। भूमिहार तो अप्रतिग्राही हैं ही, ब्राह्मणों में भी अधिकांश अप्रतिग्राही ही हैं। झड़प जी ने प्रतिग्राही ब्राह्मणों को पुरोहित भी कहा है। ब्राह्मणों की संख्या बहुत है और उनमें से बहुत कम पौरोहित्य करते हैं। यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी ब्राम्हण केवल पौरोहित्य करने लगें, तो वे खाए बिना मर जायँ। अस्तु, भूमिहारों को अलग कर देने पर भी, ब्राह्मणों में दो वर्ग हैं—प्रतिग्राही और अप्रतिग्राही—ऐसे ही अप्रतिग्राही, संपन्न ब्राह्मण परिवार में तुलसी ने जन्म लिया, यह मानने में मुझे आपत्ति नहीं है। जिस अप्रतिग्राही, संपन्न, जमींदार ब्राह्मण वंश में, तुलसी ने जन्म लिया, वह ब्राम्हण वंश ही था, भूमिहार वंश नहीं, झड़प जी के सारे तर्क यही सिद्ध करने में लगे हैं कि तुलसी ने जिस कुल में जन्म लिया, वह अप्रतिग्राही जमीदार ब्राह्मण कुल था। ब्राह्मणों में से अधिकांश अप्रतिग्राही हैं—पुरोहित नहीं हैं—साथ ही ब्राह्मणों में भी बहुत से जमींदार हैं, संपन्न हैं। इसके उलटे सभी भूमिहार जमींदार नहीं हैं और न सभी एक से संपन्न ही। उनमें भी निर्धन एवं भूमिहीन लोग हैं। किसी युग में इनके पुरखा जमींदार रहे होंगे। यह विशाल भूमि न जाने कितनी बार टुकड़ों में बँटती चली आयी है और जो भूमि किसी युग में एक के आधीन थी, वही आज उसके वंशजों में हजार-हजार टुकड़ों में बँट गई है। अस्तु, झड़प जी ने तुलसी को भूमिहार सिद्ध करने के जो तर्क दिए हैं, वे ठीक नहीं। उनसे तुलसी भूमिहार नहीं सिद्ध होते। अप्रतिग्राही संपन्न ब्राह्मण मात्र सिद्ध होते हैं।

झड़प जी ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, उन्हें भी यहाँ संक्षेप में एक एक बार देख लेना असंगत न होगा। उनकी आलोचना करना भी व्यर्थ ही है।

(१) तुलसी प्राकृत जन का गुण गान अनुचित मानते थे। अतः वे किसी के चाटुकार नहीं थे और पुरोहित स्वभाव की कसौटी पर नहीं उतरते। उनका स्वभाव अप्रतिग्राही ब्राह्मणों के अनुवंशिक स्वभाव से मिलता है। निर्भीकता और स्पष्टवादिता उनकी विशेषता है।

(२) तुलसी ने स्पष्ट रूप से पुरोहिती की निन्दा की है। दान लेने की निन्दा में तो उन्होंने यहाँ तक कहा है—

तुलसी दान जो देत है, जल में हाथ उठाय
प्रतिग्राही जीवै नही, दाता नरके जाय।
—दोहावली ५३३।

अतः वे पुरोहित वर्ग के नहीं थे।

(३) विनय पत्रिका में तुलसी ने अपना पेशा निम्नांकित प्रकार बताया है—

मध्य वयस धन हेतु गँवाई,
कृषी बनिज नाना उपाय।

स्पष्ट है तुलसी का पेशा कृषी था, जो भूमिहारों का प्रमुख पेशा है।

(४) तुलसीदास ने ऐसे अनेक शब्दों का व्यवहार किया है, जो जमींदारों और कृषकों के यहाँ ही व्यवहार में आते हैं—यथा—मिलिक, कारनिक, नापजोख, खेत का धोखा।

(५) पुरोहित वर्ग का ब्राह्मण शिकार-प्रिय नहीं होता। तुलसी ने रामचन्द्र के मृगया विहार के जो स्पष्ट चित्र अंकित किए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वे कभी न कभी शिकार खेलने वालों की मंडली में अवश्य सम्मिलित हुए थे और उसे भलीभाँति देखा था। शिकार एवं शिकारियों की प्रकृति और व्यवहार से वे पूर्ण परिचित थे।

(६) अनुचित बातों पर उत्तेजित हो उठना जमींदार ब्राह्मणों का गुण है। तुलसी परम उदार थे, फिर भी उनमें यह जातीय गुण है—

हम लखि, हमहिँ हमार लखि,
हम हमार के बीच
तुलसी अलखहिँ का लखै,
राम नाम जपु नीच

(७) जमींदार ब्राह्मणों की एक विशेषता अच्छी व्यवस्था-'बुद्धि और राजनीति में पटु होना भी है। इसी को भूइँहरई' कहते हैं। सारे संसार को सियाराम मय देखने वाले तुलसी ने भी राजनीतिक व्यवहार में कूटनीति को बुद्धिमानी कहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्रु सयानो सलिल ज्यों,
राखि सीस रिपु नाव
बूड़त लखि, पग डगत लखि,
चपरि चहूँ दिसि घाव
—दोहावली ५२०

तुलसी केवल सरलता को दोष मानते हैं।

(८) तुलसी के आराध्य इष्टदेव अस्त्रशस्त्र धारी, कानन-चारी, लोकमर्यादा की रक्षा में तत्पर तपस्वी वेषधारी असुरारी राम हैं। बोल को अटल, बाँह को पगारु, दूबरे को दानी, दिबोई भावै, मारि कै मार थप्यो, भट ठाकुर की रीझि आदि के द्वारा गोस्वामी जी ने अपने वंश परमंरागत गुणों का ही दर्शन कराया है।

(९) दान के विषय में तुलसी का मत है कि जैसे तैसे देना ही चाहिए। जो दान देने में असमर्थ है, उसे भी चाहिए कि वह किसी से कुछ न ले। अप्रति-ग्राही ब्राह्मण वर्ग में प्रायः यह प्रवृत्ति आज भी पाई जाती है।

(भड़प जी को शायद जानकारी नहीं है कि तीर्थराज प्रयाग के सारे पंडे जो प्रयागवाल कहलाते हैं और दान लेते हैं, भूमिहार ही हैं)।

(१०) भूमिहार ब्राह्मणों के मूलस्थान धर्मारण्य (कान्य-कुब्ज प्रदेश का मदारपुर) में ही प्राचीन काल से गणेश, सूर्य, धर्मराज, देवी, हनुमान, नृसिंह आदि देवताओं की पूजा प्रचलित थी। इसीलिए यदि तुलसीदास ने विनय पत्रिका में सर्व प्रथम क्रमशः गणेश, सूर्य, देवी, हनुमान, गंगा और जमुना के व्याज से धर्मराज आदि देवताओं की वंदना की है, तो इसका अभिप्राय यह है कि इसका सम्बन्ध उनके परपंरागत (भूमिहार)—कुलाचार से है।

(इन देवी देवताओं की पूजा तो समस्त हिन्दुओं द्वारा होती है—भूमिहार ही इनकी पूजा नहीं करते।)

(११) तुलसी ने पार्वती मंगल, जानकी मंगल नामक मंगल ग्रंथों की रचना भूमिहार कुलाचार से प्रेरित होकर स्त्रियों के निमित्त की। भड़प जी के अनुसार भूमिहारों में विवाह के अवसर पर सर्व प्रथम शिव विवाह के ही गीत गाए जाते हैं।

(शिव और गौरी समस्त हिन्दुओं के पूज्य देव हैं और इनके गीत किस हिन्दू समाज में मांगलिक अवसर पर नहीं गाए जाते?)

(१२) भड़प जी के अनुसार तुलसी वर्णित विवाह की पद्धति एवं आचार भूमिहार ब्राह्मणों के आचार एवं पद्धति के मेल में है, अतः तुलसी भूमिहार थे। भड़प जी ने इन आचारों का कुछ विस्तार से वर्णन किया है, जिसकी चर्चा यहाँ व्यर्थ है। ये आचार प्रायः सभी उच्च वर्गीय हिन्दुओं के यहाँ विवाह काल में देखे जा सकते हैं।

(१३) गो० तुलसीदास ने स्पृश्यास्पृश्य के संबंध में अपनी रचनाओं में जैसे उदार भाव व्यक्त किए हैं, उससे भी उनके पुरोहित वर्गीय ब्राह्मण होने का मेल नहीं बैठता। तुलसी ने वशिष्ठ द्वारा निषाद को गले लगवाया है, शबरी द्वारा राम का—आतिथ्य कराया है। गृद्ध की अंत्येष्ठि कराई है, ब्राह्मण द्वारा शूद्र को शिक्षा दिलाई है। स्वयं तुलसी ने श्वपच को गले लगाया और गौ—हत्यारे के हाथ भोजन किया।

(१४) परंपरागत कुलाचार का पालन जमींदार ब्राह्मणों की विशेषता है और तुलसी ने परंपरागत कुला-चारों का पालन कराया है।

(१५) भूमिहार ब्राह्मणों में परदा है: तुलसी में भी—
सीस उघारन किन कहयो—दोहावली २५४

(१६) राम के बन चले जाने पर अयोध्या की दशा—

लागति अवध भयावनि भारी
मनहूँ काल राति अँधियारी

यहाँ 'कालराति' का अर्थ प्रलय की रात्रि नहीं है, भादों की अमावस्या है। बिहार में शाहाबाद और सारन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिलों के मनेरिया और एकसरिया भूमिहार बाभनों के यहाँ कालरात्रि की पूजा का विशेष रूप से प्रचार है, जो उक्त तिथि को होती है, ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि तुलसी का सामान्यतया भूमिहार ब्राह्मण समाज से घनिष्ठ संबंध था।

(१७) भूमिहार ब्राह्मण परंपरा या रामोपासक थे तथा हनुमतपूजक भी, इसीलिए तुलसी रामोपासक एवं हनुमत पूजक हुए।

(राम और हनुमान समस्त हिंदुओं में पूजित हैं)

(१८) धूत कहौ, अवधूत कहौ,
रजपूत कहौ,जोलहा कहौ
कोई काहू की बेटी से बेटा न ब्याहब,
काहु की जाति बिगार न सोऊ।

झड़प जी के अनुसार ये सारे गुण भूमिहारों के हैं—धूत=धूर्तता या मुंइहरई। अवधूत=रामानंदी संप्रदाय का वैरागी, जो सैनिक भी होता था, रामानन्द स्वतः भूमिहार थे। रजपूत=सैनिक वृत्ति। जोलहा=मुसलमान, मुसलमानों से संपर्क रखनेवाला। किसी की बेटी से अपना बेटा ब्याहना=सरयूपारीण ब्राह्मणों की बेटियाँ भूमिहारों में आती हैं। अतः स्पष्ट है कि तुलसीदास रामानंदी परंपरा के जमींदार भूमिहार ब्राह्मण थे।

(१९) पुरोहित वर्ग के ब्राह्मण अरबी फारसी पढ़ते थे, न इन भाषाओं के शब्दों का उच्चारण करते थे, जन-भाषा में रचना करना अपनी हेठी समझते थे। इसके विपरीत जमींदार वर्ग के ब्राह्मण मुसलमान शासकों के सम्पर्क में थे, अतः फारसी पढ़ते थे और इनकी भाषा में अरबी फारसी के शब्दों का मिश्रण हो जाता था।

तुलसीदास की भाषा में अरबी फारसी के शब्द हैं, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२०) राम चरित मानस में परशुराम लक्ष्मण संवाद, हनुमान रावण संवाद, अंगद रावण संवाद में जिस हाजिर जवाबी, निर्भीक कथनशैली और वाक्पटुता का दर्शन होता है, वह जमींदार ब्राह्मणों की जातीय विशेषता के अनुसार है।

(२१) तुलसी-शिष्य रामू द्विवेदी ने 'प्रेम रामायण' में तुलसी को 'कुल शील सीमा' कहा है। झड़प जी के अनुसार यह कुल-शील-सीमा' भूमिहारों में ही सीमित है, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२२) घट रामायण के रचयिता तुलसी साहब ने गोसाईं तुलसीदास को कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहा है। पूर्व में कान्यकुब्ज ब्राह्मण नहीं होते। पूर्व के भूमिहार ही मूलतः कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। अतः तुलसी कान्यकुब्ज अर्थात भूमिहार ब्राह्मण थे। 'भक्त कल्पद्रुम' में राजा प्रताप सिंह द्वारा तुलसी को कान्यकुब्ज लिखने का भी यही रहस्य है।

(२३) हिन्दू संस्कृति ब्राह्मण संस्कृति है। गोसाईं जी भी सबसे पहले ब्राह्मण की,—महिसुर की, वन्दना करने-वालों में है। ब्रह्मशक्ति समाज की पोषक है। इसमें क्षात्र-शक्ति का समन्वय भी उचित है। गोस्वामी जी ने ब्रह्म-तेज और क्षात्रशक्ति का जो समन्वय कर उसका लोक कल्याणकारी रूप प्रस्तुत किया है, उससे ऐसी वंश-परम्परा के प्रति आकर्षण प्रकट होता है, जो इन दोनों शक्तियों से युक्त है—

सापत ताड़प परूष कहंता
विप्र पूज्य अस गावहिं संता

'शापादपि शरादपि' दोनों की शक्ति भूमिहार में ही है, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२४) भूमिहारों को जो पत्र लिखे जाते रहे हैं, उनके सिरनाये हैं—

"स्वति श्री·····सर्व उपमा योग्य नाम उदित, परम पुनीत, नीति निपुण, सामर्थ्य, भार गुन गरिष्ट, मर्यादा सागर, गऊ ब्राह्मण के रछपालक, धर्मावतार' आदि। झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी ने राम-स्तुति में जो 'गो द्विज हितकारी' 'श्रुति सेतु पालक' आदि विशेषण रखे हैं, वे भूमिहारों के पत्रों में लिखी जाने वाली सिरनामे की प्रशस्तियों से ही प्रेरित हैं।

(२५) 'जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागि बस,
खाए अन्न सब के विदित बात दुनी सो।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि तुलसीदास सामान्य या पुरोहित वर्ग के ब्राह्मण होते, तो उन्हें स्वजाति और सुजाति क्या, कुजाति का भी अन्न खाने में ग्लानि न होती, अतः वे किसी विशिष्ट कुलीन जमींदार ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे।

(२६) राम कथा का समापन करते हुए गोस्वामी जी ने काकभुशुंड द्वारा भक्ति का महत्त्व बतलाते हुए जिस आदर्श—चरित्र का विवरण दिया है, वह जमींदार-ब्राह्मण आदर्श के अनुरूप ही है—

सोइ सर्वज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता
सोइ महि मंडित पंडित दाता

महि मुडित=स्कन्द पुराण का 'महि मन्ड'=लक्ष्मणाचार्य का भूमि-भूषण=भूमिहार।

(२७) गोस्वामी जी ने मंडप की सजावट, बरात का ठाटबाट, पुत्र-जन्मोत्सव, दान दहेज, उत्तर-प्रत्युत्तर और युद्धों का जैसा सजीव वर्णन किया है, उससे वे जमींदार वर्ग के ही ब्राह्मण सिद्ध होते हैं।

(२८) कै जूझिबो कि बूझिबो, दान कि काय कलेस
चारि चारू परलोक पथ, जथा जोग उपदेस
—दोहावली ४५१

इस दोहे में बूझिबो के पहले जूझिबो आया है, अतः तुलसी भूमिहार या जमींदार वर्ग के थे।

(२९) सब अंग हीन, सब साधन विहीन,
मन वचन मलीन, हीन कुल करतूति हौं
बुधि-बल-हीन, भाव-भगति-विहीन,
हीन-गुन, ज्ञान-हीन, भाग ही विभूति हौं।
—कवितावली उत्तरकान्ड ६९

वैभव रहित होने के कारण कुलाचार में विरोध पड़ने की बात जमींदार ब्राह्मण ही कह सकता है, क्योंकि उसी के कुलाचारों का सम्बन्ध वैभव पर अवलंबित है। (औरों के कुलाचार क्या फोकट में हो जाते हैं?)

(३०) [क] बार-बार लालच धरनि धन-धाम की
—कवितावली उत्तरकाण्ड १३४
[ख] जाय तो न जरनि धरनि धन धाम की
—वही, ११९

इस कथन से साफ प्रकट है कि गोस्वामी जी का जन्म एक भूम्याधिकारी, संपत्तिशाली और प्रतिष्ठित वंश में हुआ था, किन्तु इनका सब कुछ दूसरों ने ले लिया था, जिसका क्षोभ साधु होने पर भी उनके मन से दूर नहीं हो पाता था।

(३१) राम सोहातो तोहिं जो, तू सबहि सोहातो
काल कर्म कुल कारनी कोंऊ न कोंहातो
—विनय पत्रिका १५१

गोस्वामी जी का जन्म एक परम्परागत जमींदार परिवार में हुआ था। यहाँ कारनी (कार्णिक=जमींदारी का पट्टा देने वाला रजिस्ट्रार) का उल्लेख इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर देता है।

(३२) 'हाथी स्वान लेवादेई' का सम्बन्ध जमींदार को छोड़ और किससे हो सकता है?

(३३) कृष्ण गीतावली के पद ३२ में मिलिक, बैरख, नकीब आदि शब्द सरकार सम्बन्धी हैं। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग जमींदार ब्राह्मणों द्वारा होना ही सम्भव है, क्योंकि उनका राजकाज से सम्बन्ध था।

(३४) तुलसी की माता 'हुलसी सती' कस्तुवार भूमिहार ब्राह्मण वंश की बताई जाती हैं।

(३५) तुलसी की समुराल इलाहाबाद जिले में टोंस और गंगा के संगम पर स्थिति पनासा के हीरापुरी पाण्डेय वंश में थी, जो भूमिहार वंश है।

(३६) तुलसी का भदैनी (काशी) के टोडर से नाता-रिश्ते का घनिष्ट सम्बन्ध था। उक्त टोडर भूमिहार थे।

(३७) गो० तुलसीदास को जमींदार ब्राह्मणों ने आश्रय दिया, उनकी रामायण और रामलीला का प्रचार किया कराया तथा उनके द्वारा श्री हनुमान जी के विग्रह स्थापित कराए। यहाँ तक नहीं, उनके नाम पर स्मारक खड़े करने वाले, उनकी स्मृति में ग्रन्थ रचना करने वाले इसी समाज के लोग हैं। श्री तुलसीदास की निवास भूमि अयोध्या, काशी, चित्रकूट, राजापुर आदि में इसी समाज के लोगों ने अनेक कृतियाँ खड़ी कीं। उक्त स्थानों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी समाज के लोग आज भी आच्छादित किए हुए हैं, जबकि वे प्रायः (काशी छोड़कर) उन क्षेत्रों के निवासी नहीं हैं। प्रायः तुलसीदास द्वारा राजापुर का मन्दिर भी काशिराज द्वारा निर्मित कराया गया कहा जाता है। स्पष्ट है कि तुलसीदास से भूमिहार—ब्राह्मणों का कुछ विशेष लगाव और अपनत्व रहा है; जो वंशगत होना सिद्ध है। स्वजातौ परमा प्रीतिः।

(३८) गीतावली में राम राज्यभिषेक का वर्णन है—

वेद पुरान विचारि लगन सुभ,
महाराज अभिषेक कियो
'तुलसीदास' जिय जानि सुअवसर;
भगति-दान तब माँगि लियो।

झड़प जी के अनुसार "तुलसीदास ने वेद पुराण को विधि से शुभ लग्न में (राम का) राज्याभिषेक किया"।

स्पष्ट है कि तुलसीदास अपने को वसिष्ट का प्रतिनिधि अर्थात वंश परम्परा में होना मानते हैं अर्थात् वशिष्ट गोत्रीय हैं।

'तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को,
के अनुसार भी तुलसी वशिष्ट गोत्रीय थे।

(३९) तुलसी वशिष्ट गोत्रीय थे, उनकी ननिहाल गौतम गोत्र में थी और ससुराल भरद्वाज गोत्र में। इन सभी भूमिहार कुलों के कुलदेवता शिव हैं, अस्तु तुलसी की शिव-भक्ति उनकी कुल-परम्परा से सम्बन्धित है।

(४०) गोस्वामी जी की वंशगत उपाधि ठाकुर रही होगी। इसके लिए दो उद्धरण झड़प जी ने दिए हैं—

१. ठाकुर महेश ठकुराइन उदासी जहाँ
—कवितावली उत्तरकांड

२. ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो
—विनय पत्रिका

अपने मित्र टोडर को भी गोस्वामी जी ने ठाकुर कहा है। इससे ठाकुर आस्पद के प्रति इनकी आस्था प्रकट होती है और अपनत्व भी। यह ठाकुर तीन अर्थ देता है, ब्राह्मण, नाई और राजपूत—

ठाकुर ठाकुर तीन ठाकुर
बाभन ठाकुर, नाऊ ठाकुर, ठाकुर ठाकुर
तो तुलसी बाभन (भूमिहार) ठाकुर थे।

उपसंहार

झड़प जी ने ९ शीर्षकों में तुलसीदास के जन्म-स्थान पर विचार किया है। उनके निष्कर्ष कई हैं—

१. तुलसीदास का जन्म भोजपुरी प्रदेश में कहीं हुआ।
२. तुलसीदास का जन्म काशी और बलिया के बीच कहीं हुआ।
३. तुलसीदास का जन्म पूर्वीय भोजपुरी प्रदेश में हुआ।
४. तुलसीदास का जन्म गंगा सरयू संगम के निकट कहीं हुआ।
५. तुलसीदास की जन्मभूमि गंगातट-स्थित राजापुर गंगौली (गंगा तट का गाँव) है, जो बलिया नगर से नौ मील पूरब है।

बलिया के इस राजापुर के लिए कोई विशेष प्रमाण जुटाने की आवश्यकता नहीं समझी गई है। बाँदा जिले के राजापुर नाम को ही आधार मानकर इस राजापुर को तुलसी की जन्मभूमि मानने की कष्ट—कल्पना की गई है। बाँदा का राजापुर तुलसी की जन्मभूमि माना जाता रहा है। अतः तुलसी की वास्तविक जन्मभूमि का नाम राजापुर होना चाहिए। यह विचार धारा झड़प जी के मन में है। भरत-भूमि विशाल है। इसमें सैकड़ों राजापुर एवं सैकड़ों तुलसीपुर हो सकते हैं और हैं। वे सभी राजापुर न तो तुलसी के बसाये हुए हैं और न तुलसी की स्मृति में तुलसीपुर ही अन्यों द्वारा बसाये गये हैं।

जहाँ तक जाति वाली बात है, तुलसीदास ब्राह्मण थे, अप्रतिग्राही ब्राह्मण थे, जमींदार ब्राह्मण थे, पुरोहित वर्ग के नहीं थे—सब ठीक, पर वे भूमिहार ब्राह्मण थे यह प्रबल रूप से सिद्ध नहीं किया जा सका है।

झड़प जी ने अपुष्ट, उपहासास्पद, दुर्बल तर्क पचासों दिए हैं। अच्छा होता दो ही चार तर्क दिए होते, जो परम पुष्ट होते और जो लोगों को इस दिशा में सोचने के लिए विवश कर देते।

...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Technical Heritage of Ancient early and medieval India - a new light

By Dr. D.N. Shukla

Vedic Foundations—Upa-Vedas, the Founders of Technical Sciences :

In India there was hardly any line of demarcation between Science and Art, and Science without philosophy had no meaning for us. Hence our lore was an integrated whole. As there were Vedas, there were also Upa-Vedas and these Upa-Vedas were the founders of the Technical Sciences and Fine Arts in India. Let me briefly enunciate this proposition.

While Vedic studies relating to the four Saṁhitās, their Brāhmaṇas, Upaniṣads and the Auxilliary Sciences, the Vedāṅgas Śikṣā, recitation (articulation and pronunciation); Chandas, metrical science or the science of ryhthms; Vyākaraṇa, Grammar; Kalpa, ritual;Nirukta hermeneutics, etymology; Astronomy-astrology have born fruitful investigations in realm of Oriental Studies in India and abroad, no serious and concentrated study has ever been bestowed upon our Upa-Vedas. There are numerous references to Upa-Vedas like Dhanurveda, Military Science; Gandharva-Veda, Science of Music; Artha-Veda and Sthāpatya-Veda, etc. etc. in the literature, but where are their texts and treatises ? Are we to suppose that they are all consumed to oblivion due to the neglected study of this technical heritage ?

In military Science, besides immortal classic of Kauṭilya, there are certain later treatises also like Kodaṇḍamaṇḍana, Ornament of the Bow, the Dhanu, the science and art of archery written by the Encyclopaedic and reputed author, King Bhojadeva of Dhara who is credited to have exhausted practically all the main branches of literature, Grammar, Rhetoric, Aesthetics, Architectures, Medicine and Philosophy—vide more than 3 dozen of massive treatises on these subjects attributed to his authorship. As regards the later technical treatises on Music, Dance Śilpa Drama, Kalās,[1] Kama, Astronomy and Medicine they are well known to us. My purpose, therefore, is to make a passionate plea to start investigations into this branch of knowledge which is not only very appropriate in the present misunderstanding if Ancient India had ever a material culture depending upon the material sciences, posititve, technical and pure.

Brajendra Nath Seal took a lead in writing a monumental monograph "The Positive Sciences of the Ancient Hindus", but his investigations, as he himself claims relate to rather post-Vedic period 500 B. C. to 500 A.D. As regards the technical sciences like Vāstu and Śilpa, my humble contributions are also known to the scholars.

My contention is that if there were Vedas representing ritual, religion and philosophy, there were also Upa-Vedas, founding the material sciences—technical as well as positive. Hindus had founded both the Vidyās, the Parā and the Aparā. Every Veda has an Upaveda. Āyurveda, the science of medicine (including Chemistry, Botany and Physiology) was attached to Ṛgveda. Similarly, Dhanurveda, the Military Science was attached to Yajurveda, Gandharva-Veda and Sthāpatya-cum-Artha-Veda to Sāma & Atharva respectively. This Artha-Upaveda represents Social organisation and State-craft. We know of the Arthaśāstra of Kauṭilya, the most reputed treatise on polity and war-strategy. Thus our

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Vedas and Upa-Vedas have given composite content to make our life perfect in both the aspects the spiritual and the material. How could otherwise we have evolved the definition of Dharma as :

यतोऽभ्युदयनिःश्रेससिद्धिः सधर्मः ।।

Dharma does not mean dogma or ritual ; it means the sustaining factor of life in its most complete aspect. Abhyudaya stands for material prosperity and Niśśreyasa for Mokṣa, the release of the soul from bondage. These are cardinal postulates which have prefected our culture. Thus we can appreciate the balancing of Materialism and Spritualism in our culture.

Āyurveda : The two Upavedas namely Āyurveda and Sthāpatyaveda being very intimately related to the very existence and living of man, naturally were very popular and their culture, studies systematisation, propogation as well as incorporations found appropriate codification in later literature. The founders of these two sciences belong to a hoary past as ancient as Vedic times. Though much has been written on Āyurveda, its study on profounder scientific foundations needs revival so that the modern Positive Science like Chemistry, Physics, Physiology and Botany may come to their own. The health ideals of the Nation need be based on the ideals of living, cutlure and civilization.

Hindu achievements in the fileld of Medicine and Surgery, Chemistry and Mathematics have been well known. Hindu contributions in the fileld of Botany, Zoology and Veterinary Sciences are equally profound and their scientific investigations need be taken up, as there is still misconception in the minds of our own scientists about them. Botanical and Zoological data in a voluminous treatise the Mānasollāsa or Abhilaṣitārtha-Cintāmaṇi of the later Chalukyan king Someśvara III, presupposes very early begmings. Similarly the treatment of Veterinary sciences in this treatise and others like Śukranīti, Śālihotra, Aśvaśāstra, Vāji-praśaṅsā, Hariharacaturanga, Nakula's Aśva-śāstra, Jayadatta's Aśva-Vaidyaka, Sāra Sindhu (a referred text by Nakula) etc. alongwith Mātanga-līlā, Hastyāyurveda, Gaja-Cikitsā and a host of others fully corroborate this technical heritage of ancient India. Classifications—botanical, medical and dietatic; morphology; Physiology (stems, roots, flowers, leaves, plants), Heredity, Ecology of Plants, Plant-Pathology and breeding etc. were well known to our ancient scientists. Further India being an agricultural country could not have afforded to neglect the Veterinary Sciences.

The pure race-culture was based on 'Trayi'. The later tradition of 'Catvāro Vedāh' is non-Aryan contribution with comingling of cultures. The Atharva-Veda the fourth veda is an illustration. This Veda is a store house of medical foundations which is the gift of the Rgveda as already noticed.

Sthapatya-Veda : This Upaveda gave rise to to two most technical sciences—Vāstuśāstra and Śilpaśāstra. They may be rendered as Science of Architecture including Engineering and Town-planning alongwith the Canons of Iconography-Sculpture including painting and other allied arts. The textbooks of Vāstuśāstra, the Science of Architecture, are records of oral tradition which go back to an undefined past. The testimony of the Bṛhatsamhitā of the 6th Centuary A. D. in this context also supports this antiquity. Varahamihira himself proclaims the authority of the master architect acharyas like Garg and Manu on this lore. Matsyapurāna enumerates the eighteen preceptors of vāstuśāstra :

भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा ।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः ।।
ब्रह्मकुमारो नन्दीशः शौनकी गर्ग एव च ।
वासदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती ।।
अष्टादशैते विख्याताः शिल्पशास्त्रोपदेशकाः ।।

and most of these were Vedic Ṛsis.

Hence The Vedic Foundations of Vāstuśāstra cannot be said to be over-estimated. The conception of Vāstu, its Mandala and its pre-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

siding lord Puruṣa are equally as ancient as Vedic Times. The very Mantra of Vāstu-Purusa is based on the analogy of the Vedic Vāstoṣpati. The foundations of the building construction whether an altar of a shed of initiation or of sacrifice, a residential house or the abode of deity, all go back to the Sutra-period as practically all important Sutra works have detailed expatiations on this side of the Science.

The word 'Śilpa' though comparatively later than 'Vāstu' as per its genesis of ornamentaion and varied and rich motifs, is also as old as Vedic Times. The Aitreya Brāhmaṇa VI.5.27 is a valuable testimony on this subject : 'Śilpāni-works of art, are an imitation of divine forms; by employing their rhythms, a material reconstitution is effected of the limited human personality. Similarly Śulva-Sūtra are a clear development in the science of Architecture, the Sthapatyā-Veda. The Śrauta-Sūtras belonging to the 2000-1500 B.C., contain the rules for rites ordained by the Veda. Each Śrauta-Sūtra seems to have had its own Śulva-Sūtra or section dealing with the measurements and the 'geometry' of the altar. The Vedi is the sacred ground measured out for the Yajña and this Vedi is the mother of Hindu Temple, the richest, the profile development of the art. Science, philosophy, ritual, religion and metaphysics have each contributed to evolve a meeting of Macrocosm and microcosm in Prāsāda, the Hindu Temple. Prāsāda is thus designated as Prāsāda-Puruṣa and Vimāna, the body corporate. Thus this Sthāpatya-Veda contributed a vast literature in the Purānās, Āgamas, Tantras, Pratiṣṭhāpaddhati and Vāstu Śilpa texts proper for the later codifications and enrichments.

Artha-Veda : This Upa-veda gave rise to all the later literature dealing with social organisation, Polity and war. Arthaśātra dominated all thinkers of ancient India. It deals with the totality of social, political and economic relationship and indicates how they are to be properly organised and integrated with one another. All relationship, says Usanas, is rooted in the Daṇḍanīti (Mah XII. 62, 28-9). Manu goes to the extent of declaring that it is Danda who is the real king, the real leader and the real protector.

"धर्मं दण्डं विदुर्बुधाः"

The rules about the functions and duties of the king and the welfare of the state were therefore naturally called Daṇḍanīti. No truly ancient Indian Aryan thinker has ever subscribed or surrendered or relegated the fundamental strategy of diplomacy to the socalled canons of morality and religion. The Promulgator and Preserver, the Defender of the world is Yama, who is not only Yamaraja but also Dharmaraja and the first king on the arch, Prthu was the prototype of Yamaraj and Dharmaraja both, who gave the name of this earth Prithvi. According to Parāśara, wealth is the root of virtue (Dharma) and pleasure (Kama) and this indicates the strong tendency towards a materialistic view of human ends especially the notions and conceptions of Government.

The sum and substance of early predecessors of Kauṭilya like Bhāradvaja and Vātavyādhi was the security not only of the person of the administrator and the state as a whole by all means. Should Kautilya's ever-shining light the 'Arthaśāstra' be not a manual of polity, even to-day ? The ancient Indian Aryans, who were lovers of the nature and are said to have evolved the whole culture and civilization in midst of forests and on the banks of rivers, are the strongest advocates of the fortification of frontiers. Kauṭilya himself precribed the first duty of the state to establish the Durgas, the Forts, not only all around the territories but also in midst of the territories. Himalaya has been our greatest frontier and fortification and in the terminology of Kautilya Durg-varieties, the Pārvata-Durga (Mountain Fort) and the Daiva-Durga (the Celestial Fort) are very important and should these ranges, especially our North-West Frontiers not have been considered to be the most impor-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

tant subject of fortification ? This is the elementary prescription for the security of the State.

Gandharva-Veda : The science of Music, no doubt, is as old as any of these Upavedas and there are abundant references to its antiquity in the later literature on Music, but unfortunately, this branch of technical lore is also hidden from the stand-point of systematic and scientific exposition. Much has been done in the preservation of folk-lore in an intimate relationship with Dance, Drama and Instrumental Music but its codifications, as are found in ancient, early medieval and later medieaval literature, need a projected planning of research. South Indian Musicians, Sangita-Panditas, Nṛtta-Nāṭya-kovidas have done a remarkable service in the preservation of this lore, but Sanskrit scholars especially the Vedists, the experts of Sāma, may take up the lost thread to reconstruct the whole science.

Science of Music is intimately related with Metaphysics. The whole cosmology is based on Icchā and Nāda and the concepts of Nāda-Brahma and Śabda-Brahma are well known. The ancient music aimed at sound in pure form or Brahman, now it is conceived as a means of aesthetic enjoyment. The non-Aryan contributions in the realm of ancient music especially the pre-Vedic times were the real contents. Then followed the period of Hymns of the Ārcikā period or more appropriately the Gāthā period or the period of Tune or the Sāman. It was on the basis of the three Svaras, Udātta etc. that seven notes were discovered in Indian Music. This development may be termed as religious culture. Secular music was also gradually asserting itself. Various types of regional music developed in different regions of the land, sung for the communal entertainment and enjoyment. Epics, Puranas and other ancient literature all corroborate this culture. Ancient authors like Five Bharatas—Nandi, Kohala, Dattila, Bharata and Matanga are the first promulgators. Narada's Sangitamakaranda is another landmark.

The Buddhist period is also noted for the exhuberance in musical authorship as referred by Abhinava-gupta, Śāradatanaya, Nānyabhūpala, Pārśvadeva and Śārangadeva the 10-12th centuary writers. Some of these celebratries are Āstika, Apisali, Uttara, Umāpati, Katyāyana, Kāmadeva, Kumbhodbhava, Ghantaka, Chatraka Datta, Devara, Drauhini, Dhenuka, Priyatithi, Binduraja, Brhat-Kasyapa. Several Bhaṭṭas (as many as six), Rahul, Vena, Vyasa, Vraspati, Sakaligarbha, Surya and Suresvara.

The 3rd period of Indian Music begins with the Hindu Revival after the decline of Buddhism. Most of the treatises are lost, the writers can only be reconstructed from the references and the modest list is : Udbhata, Lollata, Sankuka, Utpaladeva, Nrsimhagupta, Abhinavagupta the reputed author of Abhinavbharati, Bhojadeva, Simhana, Abhayadeva, Mammata (different from Kavyaprakasakara), Rudrasena, Somesvara III (the author of Mansollasa), Locanakavi (Rajatarangani). Paramardi, Devendra (Sangitmuktavali), Somesvaradeva (Sangitaratnavali), Saradatanaya (Bhavaprakasa), Nanyabhupala (Sarasvatihrdayalankara).

In this limited time and space it is not possible to dilate upon the massive treatment of this fascinating science with special reference to the classification of Rāgas—Śuddha, Bhinna and Sādhārana etc. and their Jātis, Nomenclature. However, a note may be struck that King Someśvara's, Mānsollasa, is a store house for some rare information in regard to Non-aryan influence vide Velavulli melody mentioned in it. Hence in the development of Indian Music, the two distinct styles, Northern and Southern styles cannot be under-estimated. Prabandhas or Musical compositions are also a notable development in the technique of the Indian Music.

As regards musical instruments, it is equally a formidable subject. The references go to the earliest times, even to pre-Vedic or pre-Aryan age. The varied instruments found in Mohenjodaro and Harappa excavations include a sever-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

keyed flute which denotes seven note-places, and a stringed musical instrument resembling the Viṇā. Viṇā and Mṛidaṅga were current in Vedic times and the types of the Viṇā as referred in later literature are as many as fifteen to eighteen. Duṅdubhi and Bhūmi are also referred in Samhitās. The Nāradīya-Sikṣā mentions both the Viṇā and the Veṇu connecting former with Vedic music and the latter with Gandharva or popular music. The Viṣṇudharmottara devotes one full chapter on musical instruments entitled 'Ātodya-vidhi' and here the four types of traditional musical-instruments, Ghana, i. e. metallic instruments and Avanaddha, i. e. stretched instruments like drum.

Someśvara's Mānsollasa also incorporates further deveopments in this art along with so many varieties and sub-varieties of the principal classes of musical instrument. Kinnarī Veeṇā may be said to represent Kinnaragāna and Yaksagāna still prevalent in South India.

Characterstics of the Technical Science and Fine Arts in India :

After this brief enunication of the Foundation of Technical Sciences and Fine Arts let me now proceed with the character and characterstics of this technical heritage. The most important characterstics of our technical sciences especially the Hindu Science of Architecture are : Philosophical back-ground particularly the Philosophy of Vāstu-Brahma, the Aesthetic ideals and symbolism. Among these I may leave the first on which I am dwelling at length in my volume entitled Śilpaśāstra 'Philosophy of Vāstu-Brahma' and its impact on Temple Architecture.

Aesthetic Ideal of our Fine Arts : Art in India is Iconography. The Viṣṇu-Dharmottara has remarkable contribution on this score and Raja Bhoja in his celebrated treatise, the Samarāṅ gaṇasūtradhāra, has simply cannonised this aspect of Indian Art, which distinguishes it from the Greek Art and provides a Philosophy for Art which is its genesis and genious.

Iconography is both a Science and Art. For an artistic perfection of an image, it has to be accomplished in such a way as to arouse in us the aesthetic experience akin to one as we get from poetry and music. According to the Indian aestheticians, the main purpose of a poetical composition is to arouse pleasure, the 'Āsvāda' what is called 'Rasāsvāda'. And this Rasāsvāda is extolled as 'Brahmānanda-Sahodara'. It is from this fundamental stand point of Indian aestheticism that we do not have tragedies in our dramatic literature. The Indian view or more appropriately the Hindu view of life is one of unbounden faith in eternity, a profound sense of optimism and a sublime outlook of life, coloured by the pneumal existence and heavenly bliss, both Svarga and Apavarga. Naturally, therefore, all arts, be it poetry or music, painting or dance, are to be viewed from this lofty idealism of aestheticism.

In nearly all the phases of Indian art, the Rasa (or impassioned feeling) has played a very prominent role. The Indian belief is that the Supreme Being is Rasa-svarupa (cf. the Indian theory of Rasa-Brahmavada (रसो वै सः) Again image-worship for which icons used to be made of the manifold materials with manifold symbols to be worthy of desired end has to be done in a manner of accomplished art. In dance and drama there is an identification of the spectator with the Naṭa, the actor. A similar identification is essential between the worshipper and the worshipped. This is possible only through the arousing of rasa, the aestheticism, in art. The sculptural monuments in our possession do corroborate this dictum and there we find a number of different 'Rasas' which the artists endeavoured to chisel upon in the dry stones and metals.

Thus aesthticism in art becomes instrumental in producing the भावव्यक्ति and this भावव्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

is dependent on the rasas or rasadrstis cf. the following lines of the Samarangana :—

रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीनामिह लक्षणम् ।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते ।।

Here Citra can stand both for the pictorial images as well as the sculptural ones. Hence according to the Samarāñgana it is the supreme achievement of the image-maker or the sculptor to see to this side of aestheticism in art, the 'bhāva-vyakti'. This aesthetic ideal is really one of the major contributions of Indian Canons of Art as prpounded in the texts like Viṣṇudharmottara and the Samarāñgaṇasūtradhāra, to give a distinct and unique character of Fine Arts in India. The oft-quoted aphorism ब्रह्मानन्द सहोदरो रसः is not without significance and high meaning. It aims at annobling life. Even birds and beasts, the socalled brutes, when characterized with these different sentiments in accordance with the different situations if can go higher up, men and women imbuded with them simply become divine. Further more this aesthetic element in Indian Art pre-supposes the ideal of 'Beautiful' in its real perspective. The beautiful is not only to be viewed in anatomical perspective, but also in the inner manifestation, the sole criterion of the beautiful, the 'Sundara' from the Hindu view of life. Beautiful internally, in its turn, presupposes the truthful the 'Satya' both internally and externally and the art which is both Satya and Sundara, that alone becomes the Beneficient, the 'Śiva' the supreme ideal of life. It is this 'God' of the humanity at large that the Indian seers have always aimed at. Any creation, unless it is condusive to the well being of life, unless inspiring to annobling it and unless high enough for creative urge, is not worth the ideal. It is from this fundamental angle that aestheticism in iconographical art is to be viewed and purviewed.

The following lines from the Samarāñgana Sūtradhara will suffice to illustrate this theme :

हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन् ।
सजीव इव दृश्येत सर्वाभिनयदर्शनात् ।।
आंगिके चैव चित्रे च इदं साधनमुच्यते ।
.....तस्मादनयोश्चित्रमात्रितम् ।।

विना तु नृत्यशास्त्रेण etc. the Visnudharmottara lines especially 'त एव चित्रे विज्ञेया नृतं चित्रं परं मतम्' etc. also propound the same truth.

The Samarāñgana Sūtradhāra recognises as many as eleven Rasas adding Prema etc. and Eighteen Rasadrstis, Lalitā, Hṛṣṭā Vikasitā etc.

The important points in relation to the aesthetics in the pictorial art still need to be expounded. Firstly all these rasas, though characterstics of only human beings, men, women and children and in their likeness the anthropomorphic forms of the gods and demi-gods and demons, they have an application to all sentiment creations 'मानुषानि पुरस्कृत्य सर्वसत्वेषु योजयेत्।' This statement goes to the very core of the art and shows that if birds and animals in paints could be shown manifesting the sentiments, it is really the master-piece, the supreme achievement of the artist. It becomes a new creation, a superior creation to that of Brahma, the Primordial Creator Himself. If it is through the symbolism of Mudrās, hand poses, bodily poses and the postures of the leges that the mute gods speak to us giving vent to the sublimest of thoughts and noblest of expressions, these so-called brutes can also become our co-shares in the aesthetic experience. It is neither extraordinary nor supernatural about it. It is the marvel of the art. If poetry can create an idealistic world, full of beauty and bliss, the painting, her sister must also follow the suit.

Thus a perusal of the sections on painting in the Viṣṇudharmottara and Bhoja's Samarāñgana Sūtradhāra will show how Citra is based on the canons of Nāṭya. For them Citra is only one scene of Nāṭya and Nāṭya a succession of Citras. The Viṣṇudharmottara says that Citra is

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

as much the art of immitation (anukaraṇa) as Natya. The poses, the hands of dance called Nṛtyahastas and the Rasadṛṣṭis—these are studied elaboratly in Nātya and this study is absolutely necessary for, and is fully utilized in painting.

What the hand-poses have implicity expressed (cf. manifold hand poses, like Varada Vyākhyāna Jñaña, Yoga etc. Mudras and 64 Hast postures), the rasas and the rasa-dṛṣṭis make that explicit. Thus the images are bestowed life movement through the symbolism of gesticulation, the very essence of dramatics both put together (Sarvābhinayadarśanāt). Therefore, this delineation of the rasas and rasa-dṛṣṭis and their representation thereof, constitute the fundamental background both in Āṅgika (Drama) and the Citra (Painting) arts. The Science of Painting is dependent on the Science of Aesthetics (Dramatics included).

Symbolism in Indian Art : Symbolism in art is a very very profound and massive subject and it is impossible for me to do any justice here owing to the paucity of the time. However, in this regard I have a thesis to propound that Mudrās should be taken in a wider sense to denote the whole kingdom of symbolism associated with the images of divinities.

So far we have been treating Mudras in a traditionally accepted sense, this view of the previous writers, however, is not correct. Mudrās, the symbols should not be taken only in their subjective, i. e. mental and spiritual attitude manifesting themselves in the bodily poses, they should also be extended in an objective manner, otherwise, the implications of the lakṣaṇas and lāñchanas in Brahmanic images have no meaning. There is a multitude of terms which denote the costume ornaments and headgear in which images are represented together with the objects which images of gods are shown to bear in their hands, such as weapons, implements, musical instruments, animals, birds etc.

I have maintained the thesis that Mudras should not be taken only to denote the poses of hands, body and legs and feet alone, but they are also the symbolic representation of the characterstic emblems of the divinities. In this sense all the symbols characterstic of a particular deity can stand for Mudras. Mudras the poses of hands, etc. as current in literature are more intimately connected with Buddhist images. The Brahmanic images being full of their characterstic emblems like dresses, ornaments, seats and conveyance have not shown so many intricacies of the Mudras as they are generally understood by the Indian artists.

It may, however, be again remarked that in orthodox Hindu Literature, the Mudras are symbolic manifestations and reproductions of the characterstic emblems of the divinities and not generally speaking, the peculiar positions of hands, fingers or feet and body as those of Buddhist and Jain figures. The reason why these so called Mudras are less important in Orthodox Hindu art, may be explained by the presence of their substitutes in great number of weapons and attributes held by Brahmanic deities and these too are Mudras. This contention is borne out by the following quotation.

एकोनविंशतिर्मुद्राः विष्णोरुक्ता मनीषिभिः ।
शंखचक्रगदापद्म.....वेणुश्रीवत्सकौस्तुभः ।।
.....शिवस्य दशमुद्रिकाः ।
लिंगयोनित्रिशूलाख्या मालेष्टाभीमृगाह्वयाः ।।
सूर्यस्यैकैव पद्माख्या सप्तमुद्रा गणेशितुः ।
लक्ष्मीमुद्राचने लक्ष्म्या वाग्वादिन्याश्च पूजने ।।
अक्षमाला तथा वीणा व्याख्या-पुस्तक-मुद्रिकाः
सप्रजिह्वाह्वया मुद्रा विज्ञेया वह्नि पूजने ।

Thus nineteen mudras are known to be of Viṣṇu, some of them being Śaṅkha, Cakra, Gadā, Padma, Śrīvatsa, Kaustubha, Vanamālā etc. Śiva has ten mudras sacred to him i.e. the lingam or the phyllic symbol, the trident, the rosary damaru etc. Sūrya or the sun has only one mudra namely the lotus, Ganesa has seven mudras some of which are the tusk, the goad, the axe, the rice-ball etc. The mudras for Saraswati are

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

are the lute, the book and the rosary. Similarly the mudras of Agni is seven flames.

The symbols of mudras in the broad sense of the term which have been introduced by me for the first time in contemporary studies on Indian Art, are really accessories to the main figure, the conductors, as it were, between the image and the idea. Thus the observation of the elephant in the image of Indra, brings back the whole idea of Royality of which an elephant used to be fundamental emblem. The bull, in India, is a symbol of Dharma and was thus used as the Vehicle of Śiva, the Great Yogi. Symbolism in India is the key-note of its culture and philosophy.

Contribution that Our Technical heritage can make in present day National Reconstruction.

With this brief account of the characrter and content of the Technical science and Fine Arts in ancient India, let me come to my fundamental proposition viz, their place in the present day National Reconstruction.

Sanskrit Language Literature and Civilization was the real bed rock, on which our National Integration was founded. Study of Sanskrit in the past was not confined to a department, as we do today. Sanskrit in the past was a full fledged faculty where different branches of learning including Medicine, Town-planning, Arts, Astronomy, Military Science, Polity, strategy of war and State craft consituted a modest curriculum. The ancient Universities like Nalanda, Taksasila, Vikramasila were all noted for this fundamental organisation of Sanskrit learning in the past. Because we have relegated the study of Sanskrit just as classical languages we are unable to do anything in the reconstruction of the modern India. Modern India needs planning which may bring about national integration based on cultural heritage and its revival. We always see to the West and imitate their pattern. There is a rich literature in Sanskrit on all these branches, study and researches on which can certainly unfold fascinating ideas and practical working in all these sphperes. Let me just take only one branch which is my specialised field, i.e. Ancient Hindu Canon of Architecture including civil engineering, the erudite and scientific treatises like the Mānasāra, Mayamata Śilparatna, Samarāṅganasūtradhāra, Aparājitapṛcchā etc. etc. and the most sublime and remarkable archaeological remains in the realm of town-planning and architecture, we still think that all this is worthy of incorporation.

The Indus valley civilisation and Harappa culture were beginnings in the advanced technique of town-planning. The Vedic village was an ideal habitation. The later onslaughts are a living history of our art and architecture. Who contributed all this ? It is the Sthapatis (the ancient architects and their guildes) and the Sthāpakas the presiding Ācharyas together with the patrons of the art and architecture, the ruling dynasties, Guptas, Pratiharas, Chandellas, Kesaris, Chalukyas, Pallavas, Rastrakutas, Pandyas, Nayakas etc. etc. who could devotedly and dedicatedly surrender all their wealth in the establishments of huge Cathedral temples, the greatest and the largest of the Prasadas, the Hindu temples throughout the length and breadth of this vast sub-continent, the north and the south, the east and the west and the Daccan. Some of the temples like Lingaraja[1] at Bhuvaneswara, Sun Temple at Konark Kandariya Mahadeva at Khajuraho, Minaksi-Sundaresvara at Madura, Siva Temples at Tanjore and Rameswaram and a host of them at such famous sites as Mamallapuram, Kanchipuram, Chiddambaram, Aiohole, Badami, Pattadakal in the South and Udaipur, Modhera, Mount Abu in the north are a testimony of this great artistic upsurge. This could not have been possible if we did not have a systematised body of knowledge of art and architecture and the learned trained devoted architects. I admit that we are not going to revive our architectural policy o

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Temple-building in the modern age, we cannot afford to lavishly spend our national wealth on the construction of temples. We need to found new town-ship, replacing the existing town and build residential houses, construct factories, laboratories, plan out secretariats, offices, embassies, bridges, dams and the like. This is our need. These are our national requirements. Are we not competent to re-orientiate our architectural policy on the fundamentals of ancient Indian canons of architecture. If we could do this, we can certainly have our nationality, otherwise, we merge in this great ocean of imitation. We need influence and not merging. This can be done by the study of technical literature in Sanskrit, the erudite and scientific treatises on art and architecture. A western engineer or architect is familiar with the treatise of Virtuvius but our Indian architects are quite ignoratnt of even names of Manasara, Mayamata, Samarangana and Visvakarma. We have founded so many colleges of architecture. Is there any place for these treatises in the curriculam ? Let me briefly cite some striking contributions. *Sthapati and Sthāpatya* the role of an architect. In our tradition Sthāpatya is four fold from the stand point of a Sthapati, i.e. his equipment and it is eight fold from the stand point of his art. According to the Samarāṅganasūtradhara an architect must possess the four fold equipment of Śāstra (knowledge of the Science and its allies like Mathematics and Astronomy etc.) Karma, the skill in art craftmanship; Prajñā, the initiative and the genius of mind and intellect which must help him at the time of the operation because sometimes new situations demand immediate handling of the operations and Śīla, the character above reproach. This last qualification is very important in the present day national reconstruction. The following quotation will be very interesting to help us realise the importance of Sanskrit lore even in the education of modern Engineers and Architects ;

यस्तु शास्त्रमविज्ञाय प्रयोक्ता स्थपतिभवेत् ।
हन्तव्यः स स्वयं राज्ञा मृत्युवद् राजहिंसकः ॥
यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुह्यति क्रियाकाले दृष्ट्वा भीरुरिवाहवम् ॥
केवलं कर्म यो वेत्ति शास्त्रार्थं नाधिगच्छति ।
सोऽचक्षुरिव नीयेत विवशो न्येन वर्त्मसु ॥
शास्त्रकर्मसमर्थोऽपि स्थपतिः प्रज्ञया विना ।
फलेयु कर्मभिरन्याभिः(?)ख्यान्निर्मद इव द्विपः ॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्यः स्याद् वाहकः स्थपतिस्तथा ।
कर्मकाले न मुह्येत स प्रज्ञानेनोपबृंहितः ॥
अप्रज्ञेयं दुरालोकं गूढार्थं बहुविस्तरम् ।
प्रज्ञपोतं समारुह्य प्राज्ञो वास्तुनिधि तरेत् ॥
ज्ञानावांश्च तथा वाग्मी कर्मस्वपि च निष्ठितः ।
एवं युक्तोऽपि न श्रेयान् यदि शीलविवर्जितः ॥
रोषाद् द्वेषात् तथा लोभान्मोहाद् रागात् तथैव च ।
अनन्यचिन्त्यतत्वमायाति दुःशीलानामविक्षयात् (?)॥
शीलवान् सर्वकर्मार्हः शीलवान् प्रियदर्शनः ।
शीलाधाने परं यत्नमाधिष्ठेत् स्थपितः सदा ॥
ततः कर्माणि सिध्यन्ति जनयन्ति शुभानि च ।

This is the Caturdhā Sthāpatya. As regards Aṣṭāṅga Sthāpatya, the following quotations from the Samarāṅganasūtradhāra, the most representative and standard medieval manual on Architecture will give you a peep into our most systematised science of architeture :

प्रोक्तं चतुर्धा स्थापत्यं वास्तुतत्वस्य सिद्धये ।
डूमस्तदेव वेदानीमंगैः संयुक्तमष्टाभिः ॥
तेष्वंगः प्रथमं प्रोक्तं वास्तुपुंसो-विकल्पना ।
पुरस्य विनिवेशस्तु द्वितीयं द्वारकर्म च ॥
रथ्याविभागः प्राकारनिवेशोऽट्टालकस्य च ।
विनिवेशः प्रतोलीनां विभागास्थानकानि च ॥
प्रासादश्च तृतीयं स्याच्चतुर्थं च ध्वजोच्छ्रितिः ।
पंचमं नृपतेर्वेश्म स्थानान्तरविभक्ति च ॥
चातुर्वर्ण्यविभागश्च गृहभागश्च षष्ठकम् ।
सप्तमं यजमानस्य शालायां मानमीरितम् ॥
यज्ञवेदीप्रमाणं च कोटिहोमविधिस्तथा ।
अष्टमं राजशिविरनिवेशो दुर्गकर्म च ॥
यो वेत्यंगान्यमून्यष्टौ सोऽत्र स्थपतिसत्तमः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यशो मानं स लमते पूज्यते न नराधिपैः ॥
अशास्त्रज्ञमकर्मज्ञं स्थपतिं यः प्रयोजयेत् ।
न तस्य वास्तु सिद्धयेत सिद्धमप्यसुखावहम् ॥
तस्मात् कर्म च शास्त्रं च यो वेत्ति द्वितयं नरः ।
अष्टांगमपि यो वेत्ति स राज्ञः स्थपतिर्भवेत् ॥

Genesis and Genius of a residential house : Our Purāṇas and Āgamas proclaim शिलास्तम्भ शिलाकुड्यं नरावासे न योजयेत्' what is its implication ? Our climate is hot for the major part of the year. Can we afford to live in a hot house ? Shall this heat not terribly tell upon our health, Longivity and stature ? Were our fore-fathers fools or half-civilized to live in thatched houses or Śāla-Houses (a wooden-cum-mud structure) to ward off the heat of the sun ? While they could build soaring edifices for gods and goddesses, they preferred the mud houses for their own. Samarāṅgana's main contribution is the Civil Architecture which is accompanied with a scientific code of residential house. The very title denotes and connotes its character, i. e. architect of human dwellings, and gives its major contribution in the art of Town-planning and residential houses.

Code of masonary, the building Bye-laws and House-Plans : All these fully perfected in this standard compendium on art and architecture. The twenty good qualities of masonary विंशतिश्चयगुणाः and the procedure in laying the bricks चयविधिः with the aid of the eightfold measure of sutrāṣṭakam are our eye-opener in the advanced technique of civil architecture in ancient India. Other details have been studied and brought out in my work Vastusastra Vol. I—Hindu Science of Architecture with esp. ref. to Bhoja's Samarangana Sutradhara.

Fundamental Canons : This Subject demands that we should know something of the fundamental postulates on which the great edifice of this science stands. These fundamental postulates or canons, I may term as pillars. We know that the central post was the prime regulator of house-construction in India. It was as fundamental as the trunk of a tree. Tree-model was the primordial model of a house-plan (cf. the story of the birth of human home—the Śāla-house as related in Purāṇas and the S.S.) and the abundant application of pillars was one of the chief features of an Indian building whether a residential house or a palace, or a Sabha or a temple or a temple-pavilion. Naturally we cannot say which pillars are more basic than others But if you ponder over the problem and visualise the basic importance of the structure you must come to the conclusion that as many as five pillars carry cardinal worth. These are four Cardinal and one central posts. Similarly sustaining the analogy to my mind there are the following five fundamental pillars of the stable edifice of our Science and we can call them the fundamental canons :

1. Diṅnirṇaya, Doctrine of Orientation. 2. Vāstu-pada-Vinyāsa the Site-planning. 3. Māna (Hasta-lakṣaṇa), the proportionate measurements of a structure. 4. Āyādi-sadvarga, the six Canons of Hindu Architecture 5. Paṭākādi-ṣaṭ-Chandas, the character of the building (its aspects and prospects etc.). I cannot elaborate all these here due to the paucity of time.

Vāstupada-Vinyāsas is a strereotyped institution in India. It has been in practice since the Vedic times. Now it is no more than a ritual. We do call a priest and an astrologer when we start a building but do we understand the scientific and technical implications of this fundamental canon as adumberate above like Diṅnirṇaya or Prācīsādhana ? Vāstupada-Vinyāsas a most scientific device in determining the site of a building or a town, has now been relegated to a paper device of just a ritual. Vāstupadas-Vinyāsa is a site-plan in the language of the modern architecture. The allotment of the padas to the deities was a very far sighted working of the minds of our ancient Acharyas. The Vāstupada-Vinyāsa is a technical device in a chart. An

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

the host of the deities occupying the different padas or plots of the diagram, three are very important. The Central square is always reserved for Brahma. He is the central lord the creator lord. The north-east corner of the chart starts with Īśāna which corresponds to the *ultravoilet segment* of the solar spectrum and it has a variety of attributes which need to be studied properly. Similarly the south-east corner of the chart represents Agni. It coresponds to the *infra-red segment* of the solar spectrum. If properly and scientifically studied this device would be a revelation to the modern scientific world. We must pay a tribute to the genius of the ancient thinkers who, without any modern appliances, could study the properties of the Sun. All these deities really stand for the rays of the sun to be regulated in such a scientific manner as to ensure eastern frontage. This is the sum and substance of the Doctrine of Orientation, the most important canon of our Civil Architecture.

Professor,
Head of the Department of Sanskrit
Punjab University,
Chandigarh-14.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Problem of Two Besnagar Garuda Pillar Inscriptions

By B. C. Sinha

The successor of vasumitra is called Bhadraka in the Bhagavata Purana, Ardraka in the Vayu and Antaka in the Matsya Purana.[1] Dr. K.P. Jayaswal identified him with Udaka, a name occuring in Pabhosa inscription No. 904.

He has given good reason for supposing that the original form, from which all these varieties are derived was Odraka.[2] But we must recognise that an error has crept into the text of the Puranas, which as they stand assign either two or seven years to this king.[3] The Pabhosa epigraph has been translated thus : "By Asadhsena, the Son of Gopali Vaihidari and maternal uncle of king Bahasatimitra, Son of Gopali, a cave was caused to be made in the tenth year of Udaka for the use of the Kassapia Arhats." We learn from another Pabhosa inscription that Asadhasena belonged to the royal family of Ahichhatra, the capital of North Panchala.— Dr. Jayaswal held that Odraka was the paramount Sunga sovereign, while the family of Asadhsena was feudatory to the Sungas. The identification of Odraka with Udaka has no solid basis. Is it not possible that this Udaka might have been a ruler of Ahichhatra and Asadhasena was his near relative ? Pabhosa inscription only says that Asadhasena belonged to the royal family of Ahichhatra. Dr. Barua[4] points out that in the absence of the word rajno preceding Udaka, it is difficult to say at once whether Udaka is the personal name of a king, or the local name of a place, where the cave was excavated.

Sir John Marshall[5] on the other hand identified the so called fifth Sunga king with Kasiputra Bhagabhadra mentioned in a Garuda Pillar inscription found in the old city of Vidisa. Dr. Jayaswal identified Bhagabhadra with the ninth Sunga king Bhagavata of the Puranas. But this theory has to be given up in view of the discovery of another Besnagar Garuda Pillar inscription of the 12th year after the installation of Maharaja Bhagavata. It proves that there was at Vidisa, a king named Bhagavata apart from Kasiputra Bhagabhadra. In the absence of clear evidence connecting "Udaka" with Vidisa, it cannot be confidently assented that he belonged to the house of Agnimitra and Bhagavata.[6] In fact the so called fifth, sixth and seventh Sunga monarchs were Andhra rulers. The fourth Sunga king Vasumitra took up the life of ease and pleasure. The result was that the Sunga empire began to disintegrate. Bana tells us that he was killed by some Muladeva while enjoying a concert. Taking advantage of the murder of Vasumitra Andhras occupied the throne at Pataliputra. Andhraka, Pulindaka and Ghosha these three appear to be extraneous to the Sunga dynasty as their inclusion creates a chronological anomaly. The Puranas assign a total duration of 112 years to the Sunga dynasty. But if we add up the period of these three kings, the total comes to 120 years. By excluding their period of 8 years we arrive at the true figure of 112 years.

At the time of Andhra occupation of Pataliputra Bhagabhdra the local viceroy of Vidisa maintained his position against the Andhras. He might have been a close relation of the Sungas. We further assume that he was appointed viceroy of Vidisa, during the reign of Vasumitra. Vasumitra was ruling at Pataliputra and after

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

his murder Bhagabhadra declared himself the king of Vidisa.

But it has to be remembered that he always remained loyal to the Sunga family. In order to strengthen his position against the Andhras he sought friendly alliance with the Indo-Greeks. This alliance was in the interest of both the parties. We learn from Besnagar Inscription of the reign of Bhagabhadra that Maharaja Antialkidas of Taxila sent his ambassador Heliodoros to Vidisa when king Bhagabhadra was prospering in the fourteenth year of his reign. It was with the help of Bhagabhadra that the Sungas regained their position after 8 years of the Andhra rule. Vajramitra might have been the son of Vasumitra. Now there in no difficulty about the other Besnagar Garud Pillar Inscription of the Twelfth year after the installation of Maharaja Bhagavata. He appears to be the nint Sunga king according to the Puranic List, who had a long reign of 32 years.

References :

1 H. Raychaudhari, Political History of Ancient India, P. 328.
2. Cambridge History of India, p. 469.
3. K.P. Jayaswal, JBORS, 1917, pp. 473-5.
4. IHQ.—1930, P. 23.
5. A Guide to Sanchi—P. 11.
6. Political History of Ancient India, p. 329.

Reader
Ancient Indian History,
Culture & Archaeology
Department
Gurukula Kangri University
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Yoga Approach Towards Abnormal Human Behaviour

Dr. H.G. Singh

1. Definition and types of yoga : Yoga is much talked over topic of the present century with its popularity irrespective of caste, religion and continent amongst the orthodox as well as the ultra fashionable hippies of the world. Existing from the times of Vedas the word Yoga has been used in multifarious ways. Out of these it can be defined in two ways—general and specific. In general literal sense Yoga means union or connection. It also denotes any means or ways by which something apart is achieved or united with. During Vedic, Brahmanic, and Upanishadic times the word Yoga has been used for different ways to achieve something though mostly higher self. But Yoga in specific meaning came into existence in about 2nd century B.C. by the existence of "Yoga Sutra" of Patanjali and now Yoga specifically means the system of "Chitta-Vrittinirodh" of Patanjali. As a method Yoga is non-religious, practical and scientific.

Types of Yoga Schools : According to broad definition there are innumerable Yogas, as there are ways of union. But most important are Hatha, Raja, Gyan, Bhakti, Karam, Mantra, Tantra, Laya, Jaina, and Buddhist Yogas. All these yogas can be classified into different theoretical approaches as shown in the following diagram :

DIAGRAM SHOWING THE APPROACHES OF DIFFERENT YOGAS

Human Personality

Yoga

- Physiological approach
  Hath Yoga
  (Use of physical exercises for union)
- Psychological approach
  - (A) Whole psyche Raja Yoga. (Use of psychic exercises and Sadhna for union)
  - (B) Different psychic functions :
    1. Gyan Yoga (Use of intelect i.e. "cognition" for union).
    2. Bhakti Yoga (Use of eros i.e. "effection" for union).
    3. Karam Yoga (Use of volition i.e. "conation" for union).
- Psychophysical approach
  - (A) Mantra Yoga (Use of Psyche and sound for union)
  - (B) Tantra Yoga (Use of psychic and Physical cosmic elements for union)
  - (C) Laya Yoga : (Use of psychophysical assimilation with cosmic self for union)
- Atheistic approach
  - (A) Jain Yoga
  - (B) Buddhist Yoga

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

These are like the differnt roads which reach the same destination. Yoga systems believe in the functional unity not only in human personality but also in cosmic universe. The somatic, psychic and psychophysical approaches in their individuality lead to the same end. It also reflects that the broad mental functions of cognition, affection and conation have their own individual potentiality of compensating for and controlling not only the other two functions but the whole personality and further leading it to the union with universal self. Out of these schools only Hath Yoga and Raja Yoga have been most popular and Raja Yoga assimilates the best of Hath Yoga. The only approach of Raja Yoga of Patanjali being directly psychological is of utmost interest to the seekers of Psychology. Later Yogies of the Patanjali school widely applied Yoga to solve problems of human behaviour and here the approach of Yoga i.e. Raja Yoga towards abnormal human behaviour is being seen.

2. Theoretical Foundations

(a) Concept of normality and abnormality : We have already seen that the subject matter of Yoga is human behaviour and Raja Yoga specifically deals with mind and its functions. Kovoor T. Behanan rightly says, "Doctrine of Yoga assumes that the mind, by training, could be made to function at higher levels." Human personality according to Yoga is composed of Purush and Prakriti. Purush apart from Prakriti is pure being but by the admixture of Prakriti it begins to function as personality. Prakriti has there Gunas—Sattav, Rajas and Tamas. When Purush is in Sattav Guna it is pure and uncorrupt but as soon further mixture of Rajas and Tamas of Prakriti is added, the mind begins its function and gives rise to abnormal human behaviour. Patanjali takes a very wide view of abnormality and every human behaviour is abnormal which is the output of Rajas and Tamas Gunas. The Rajas and Tamas Gunas of Patanjali reminds of Eros and Thanatos of Freud. Purush or Atma in itself does not act or behave and upto Sattav Guna it is pure being, but actual behaviour begins with its mixture with Rajas and Tamas and that is all abnormal. So all human behaviour is abnormal because of its being initiated by Rajas and Tamas Gunas which give rise to five kinds of Vrittis. There is no true synonym for Vritti in English but we can very nearly translate it as channels of mental functions or natural motivating flow of behaviour or to some extent instinctual behaviour.

The Vrittis are five. The first is Praman (perception of all kinds). It is the natural Vritti of the mind to get affected by perceptual knowledge and make reactions to it. The second Vritti is Viparyaya (illusion) the effect of which is inevitable. The third Vritti is Vikalp (effective imagination). The fourth Vritti is Nidra (sleep) and the fifth is Smriti (memory) or the heap of past stored up ideas, which work as dynamic disposition of mind. The dynamic effect of these five Vrittis on mind is inevitable and they motivate the mind for behaviour and that is abnormality. The aim of Yoga is the removal of these Vrittis of mind by negating their effect. This is called, "Yogas-chittavrittinirodh". On the contrary the normality is the state of Purush remaining with Sattav Guna only. It is pure being without any of the Vrittis. Hence in wide definition concentration of mind and Samadhi is normality and Vrittis i.e. modification of mind and destruction of Samadhi is abnormality.

(b) Nosology and Symptomatology of Abnormalities : The nosology of disorders as we find in Atharva Veda and Ayurvedic literature is not found in Yoga. In a sense the above five Vrittis are the forms of abnormalities but their approach and nature is totally different from what we see in other therapeutic literature. Yoga is not limited to therapy of diseases. The area of Yoga is very vast and much inclusive. Due to its basic approach it covers all the aspects of human behaviour. No problem or attainment

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

of human life is spared for which its application is not made. Felix Guyot rightly says, "Freud brings everything back to sexual 'complex' where as Yoga psychoanalysis deals with all the complexes." We can broadly classify Yoga approach to personality modification in three categories. Firstly, it deals with health and hygiene programme of personality including cure and prevention of diseases and health improvements. Secondly, it deals with attainment of supernatural mental powers. Thirdly, it teaches how to attain Samadhi — the state of pure being. These three categories further have classifications. Yoga approach is psychological and practical to all these categories. Out of the above three categories we are dealing with the health and hygiene programme of personality. In it the Yoga methods are applied for the cure and prevention of diseases and attainment of health. Kovoor T. Behanan emphasises it like this, "What we have said so far about Yoga will, we hope, convince the reader that it too is a way of life a 'Prescription' for mental ills." Yoga is client centred, semi-directive and autotherapy hence psychotics cannot take it. So the abnormalities for which it is practical can broadly be classified as neuroses, mild ailments and mental ill-health.

(c) **General etiology and diagnosis of abnormal behaviour :** The behavioural abnormality arises by Prakriti getting mixed with Purush. Upto the time Purush is alone, there is no abnormality but as soon the Rajas and Tamas Gunas of Prakriti unite with Purush, the mind with the five Vrittis constitute abnormality. So we conclude that Rajas and Tamas Gunas of Prakriti are the causes of abnormality. Sattav Guna never gives rise to abnormality. The Yoga system of diagnosis is scientific and has clinical tests. Felix Guyot has very well commended Yoga diagnostic methods and tests for different mental abnormalities. He has illustrated so many tests as given in Hath Yoga and we shall explain two of them by way of example. The first test diagnoses whether a patient is suffering from morbid unconscious...impulsiveness and the second test is to diagnose if the patient is having nervous debility.

Test I—Trace a straight line on the ground in the direction of the sun. The client should stand with heels together at one end of the line in such a way that the line divides the shadow in two parts through the head and he should look at his shadow constantly. After a few minutes the shadow of the head will be seen deviated from the straight line either to the right or left in the case of abnormals. The experiment should be repeated several times during a fortenight. Each time the direction of deviation should be noted. In order to take more better results the test can be carried out in a room with a lamp or an electric bulb, instead of sun, which should be behind the subject. The projection to the left reveals morbid unconscious fears and that to the right an unconscious impulsiveness.

Test II—The position of the client's standing is the same as in the first test. But further the experimenter traces the outline of the shadow with a piece of chalk on the ground while he is motionless. Then the client must look attentively on the shadow. The abnormal having nervous debility will soon get tired and his head will oscillate and the shadow will not correspond with the tracing. The direction and extent of oscillations will help diagnosing the unconscious fears and impulsiveness as in the above test. But greater the extent of oscillations and lesser the time of first fatigue appearance, the more is the nervous debility. Again for the tests of differnt complexes Felix Guyot says, "Hath Yoga psychoanalysis unearths these complexes by means of short tales and stories of immemorial origin that Indian doctors have handed down from generation to generation."

The above two tests shown by way of example, are quite technical to be called at par

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

with modern clinical tests. So we conclude that Yoga method of diagnosis may be called scientific.

3. Psychotherapeutic Techniques of Yoga

(a) **Meaning and Object :** Yoga has two forms—general and applied. In its general form like a science it shows the what and how of psychic chittavrittinirodh from the very beginning to the highest end of Samadhi, the state of pure being. In the applied form it is applied to so many different purposes and the meaning & aim of applied Yoga differs according to the purpose it is applied for. Leaving the other purposes aside when its techniques are applied to cure Psychic disorders then it is Yoga Psychotherapy. Rajas and Tamas Vrittis create all behavioural deviations, so the suspension of these Vrittis and the establishment of required psychic equilibrium, is the aim of Yoga Psychotherapy. The degree of suspension of these Vrittis differ from case to case and purpose to purpose. In the case of a Sadhu it must be complete suspension, but in the case of worldly persons like us, a certain equilibrium in the forces of Rajas and Tamas is required. For example in the case of an architect more of Rajas, the constructive Vritti, and in a warrior at field more of Tamas, the distructive Vritti is required. Lord Krishna, the greatest Yogi analysed Arjun at the battle field and maintained proper warrior like equilibrium of Tamas i.e. destruction and decreased the Rajas i.e. familial erotic Vritti, in Arjun.

(b) **Classification of Yoga Psychotherapeutic Techniques :** Yoga is rich in methodology. For the same aim to be achieved several techniques have been prescribed according to the nature of client, situation and technique. Yoga believes in the functional unity of human personality along with cosmic unity. So due to this unity starting with any one function we can come to the same end. Yoga has numerous techniques but we take here only those which are used for therapeutic and hygienic purposes in the case of psychic disorders. The techniques are classified as follows :

1. Yama
2. Niyama

} I) Psychic disciplinary exercises.

3. Asana & Mudra
4. Pranayama

} II) Psychosomatic energising exercises.

5. Pratyahar } III) Psychic sublimating exsrcises.

6. Dharna
7. Dhyana
8. Samadhi

} IV) Psychic super normal attainment (Siddhi) exercises.

(c) **Descriptions and applications**

I. The first technique of psychic disciplinary exercises is Yama and Niyama. Yama are negative and Niyama are positive preliminary codes of behaviour. The Yamas are five i.e. abstain from (1) Himsa (killing), (2) Asatya (Falsehood), (3) Parigarh (greediness). The Niyamas are also five i.e. observe (1) Shauch (purity), (2) Santosh (contentment), (3) Tapas (mortification), (4) Suadhyaya (study), and (5) Ishwar Pranidhan (resignation to Supreme being). Regarding Yama and Niyama, Kovoor T. Behanan says, "we may now summarise the first two stages as the ethical code of Yoga by which a moral transformation involving important psychological changes or redirection of mental set, is brought about, marking the beginning of a veritable uphill climb in mental training." These are meant for the adjustment of super ego or the moral part of the self.

II. The second technique of psychosomatic energising exercises is Asanas (postures) and Pranayama (breathing). These are the most technical methods of Hath Yoga which in milder forms have been adopted by Patanjali. These are

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

based on psychosomatic functions of the personality and by their practice psychosomatic energy is charged. According to Gherand Samhita as taught by lord Shiva the asanas are eighty-four lakhs corresponding with the number of species of the universe, and the Mudras (postures) are twenty-five. Some of these Asanas and Mudras are, in the opinions of a few experts who have prescribed different Asanas and Mudras, useful for mental cures and hygiene. Shivanand says, that Shirshasan improves memory admirably and thus cures amnesia. Yogendra says that Sarvangasan, Shirshasan, Dhanurvakrasan, Paschimothanasan, Ardhmatsy-endrasan and Shavasan impart health to brain and nervous system. Acharya Bhadrasen prescribes Ardhsarwangasan, Matsyasan, Halasan and Chakrasan for mental debility, Shirshasan and Sarvangasan for epilepsy and insanity and Uttanpadasan, Pavanmuktasan, Ardh-Aatsyad-asan, Padangusthasan, Tadasan, Nabhyasan, Halasan, Sarvangasan and Shirshasan for nervous weakness. V.C. Vasu prescribes Vajrasan for psychic powers, Shavasan for quietening the agitation of mind, Padamasan, Simhasan, Matsyasana, Bhujangasan, Mahanmudrasan, Nabhumudra, Khechri Mudra for distroying all diseases. Mahavedha Mudra, Agneyi Mudra Destroy thanatophobia (fear of death). Ambasi Mudra destroys hydrophobia (fear of water) and Yonimudra destroys mortal and venal sins.

Pranayama (Breathing exercises) : Kovoor T. Behanan gives the word meaning of Pranayama as, "Prana means breath and Ayama, means pause" hence the compound pranayama literally means "a cessation or pause in the movement of breath." Shivanand defines Pranayama as, "Pranayama is the control of the Prana and the vital forces of the body. It is regulation of breath." Pranayama is the Hath Yoga par excellence which consists of breathing exercises. The chief aim of Pranayama is to unite the Prana with the Apana and take the united Prana-Apan slowly upwards to the head thus awakening the sleeping Kundalini. Shivanand describes the energy of Pranayamaas, "If you can control the Prana you can completely control all the forces of the universe, mental and physical." According to Yoga Pran, and Mana (breath and mind) are most close and exist together. Increase and decrease in one effects the other. If we control breath which is physical and easy to do we can control mind and its movements. These psychophysical energising exercises of Asana and Pranayama work in two ways. On the one hand they energise the soma and on the other hand indirectly they train and energise psyche. As we have seen Asana and Mudra energise body physiology and Pranayama energises nerves. The ego in maintaining Asana and Mudra and praticing Pranayama has to practice control and command over body and nervous system, which he becomes able to do in due course. In doing so the ego gets indirect training of Command, and control and gets self-confidence and energy. Ego getting thus energetic becomes ready to practice Pratyahar, the psychic sublimating exercises.

III. Psychic sublimating exercises (Pratya-har)—Now comes that method which is purely psychological and at the same time very advanced. The Pratyahar is the withdrawal of mind from all senses. Practically it is the complete mastery over the senses. It is done in two ways i.e. neither the senses should be affected by the stimulus nor they should disturb the mind by their sensations. But Pratyahar is not the incapacity of the senses. They (senses) remaining healthy, it is the complete mastery of psyche over them. Psyche must not be effected by them but whenever required psyche must be able to use them. Pratyahar is very useful in the field of psychopathology for breaking learned and condi-tioned responses and doing sublimation. The whole unconscious is cleared up by it. The Rajas and Tamas Vrittis become powerless. Yogic approach is semi-auto and directed so Pratyahar a technique of self analysis, free association,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

learning and sublimation can be practiced by any patient who is able to do them i.e. mild neurotics, mildly distrubed and those requiring mental health, under a psychotherapist. But the patient can do so only when he has already attained energy through undergoing earlier psychic disciplinary and psychological exercises. Pratyahar on the somatic side is the mastery over senses and on psychic side it is the clearing up of unconsciousness.

IV. **Psychic supernormal attainment (Siddhi) exercises (Dharna, Dhyan and Samadhi)**—Psychic supernormal attainment exercises of Dharna, Dhyan and Samadhi, usually used for the attainment of supernormal siddhis, mostly concern with Yogies and saints. The techniques of Yoga for general therapeutic purposes go usually upto Pratyahar but recently meditation for psychotherapeutic purposes is emphasised by Assagioli of Italy. Though the use of Yoga techniques for functional disorders, exist from Vedic times in India but recently trained Psychiatrists, Psychotherapists and Yogies have evaluated and used them with promising results. For instance Hans Jacobs, Kovoor T. Behanan, Felix Guyot, H.G. Singh, Geraldine Coster, Akhilanand, Schmitz, Aurobindo, Shivanand, and Yogendra, have high Psycho-therapeutic opinion about Yoga and some of these even evaluate Yoga better than Psychoanalysis.

4. Conclusions

In the field of psychotherapy some points in favour of Yoga are found. Although psychic diseases damage the whole personality but the most of destruction is done to ego's strength in psychic field. Ego becomes weak and unable to cope with reality, id and super ego. The main problem of psychotherapy is how to make ego energetic so that it can face these three and take charge of behaviour from which it has withdrawn. The controlling and administrative capacities of ego are finished. Yoga knows well that ego is weak and withdrawn in the psychological field so it gives it indirect training in the field of physiology. Yoga believes in the psychophysical unity of personality and that the action may start from any corner but it will ultimately effect the whole personality. That is why it lets ego withdrawn from psychic field and puts it on physiological field for practising Asana and Pranayama. In doing Asana and Pranayama ego has to put resistance and endurance to bodily functions and thus gains self confidence and controlling capacity. At the same time by these practices the physiological side of personality also gets toned up. Pranayama exercises give special energy to nerves. So by these Yogic exercises there is improvement in body nerves. When in due course ego has gained much self confidence and controlling capacity and physiological strength too, then the stage of Pratyahar is reached and ego is again brought to psychic field. Remaining withdrawn and inattentive from psychic problems and dealings for a long time, psychic field becomes more clean and quiet. By the practices of Pratyahar after sometime ego becomes successful in coping with the problems of psychic field and disease is removed. Thus Yoga psychotherapy is triple action. It treats body, nerves and psyche i.e. the whole personality while psychoanalysis treats only the psyche. Because it treats whole personality, therefore, the effects are more lasting and promising. Lesser time consumption is another advantage. Because Yoga takes aid of three things or rather applies therapeutic measures from three sides, therefore, it is able to control the disorder in lesser time.

Bibliography

1. Hans Jacobs,—Western Psychotherapy & Hindu Sadhna—(George Allen & Unwin Ltd., London, 1961).
2. Sri Yogendra, "Yoga Magazine" Yoga Institute, Bombay (Jan. 1934).
3. Felix Guyot—Yoga : The Science of Health —(Rider & Co. London).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. Pavitranand,—Common Sense About Yoga —(Mayavati Advita Ashram, Almora).

5. Kovoor T. Behanan—Yoga : A Scientific Evaluation—(Dover Publications Inc. New York, 1937).

6. Sri Aurobindo—On Yoga I—(Aurobindo Ashram Pondicherry).

7. T.V. Kapali Shastri,—Further Lights—The Veda and The Tantra—(Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1951).

8. Geraldine Coster—Yoga and Western Psychology—(Oxford University Press, London, 1957).

9. Sri Shivanand—Practical Guide for Students of Yoga—(The Divine Life Society, Hong Kong, 1957).

10. Swami Akhilanand—Mental Health and Hindu Psychology—(George Allen & Unwin Ltd., London, 1952).

11. H.G. Singh,—A Study of Indian Psychotherapeutic Practices (Agra University Ph. D. Thesis 1970, Unpublished).

(Paper read in the section of Psychology and Educational sciences, Indian Science Congress, Diamond Jubilee Session, Chandigarh, January 1973).

Dr. H. G. Singh,
Department of Psychology,
Gurukul Kangri University,
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Indian Sensibility in T.S. Eliot's Poetry

Amar Nath Dwivedi

With the introduction of Kalidasa's Shakuntalam to the West by Sir William Jones in 1789, an atmosphere was created in which the East and the West began to accommodate each other. The age-old concept 'East is East and West is West, And never the twain shall meet' became out-dated and out-fashioned. Immense possibilities of collaboration and mutual adjustment in different spheres of life and letters were in sight. As a natural result, many European and American scholars turned to a study of the vast, fathomless literary heritage of India. Breaking upon the Georgian literary scene, T.S. Eliot presented the credentials of a wide-ranging poetic sensibility by incorporating into his poetry not only the 'best' of European culture and literature but also of Indian thought and tradition.

As a serious scholar of philosophy at Harvard, T.S. Eliot applied himself to the study of Sanskrit and Pali for two years. In this matter he was helped and guided by Charles R. Lanman. Going through Eliot's poetry one may mark his irresistible fascination for the profound wisdom of ancient India. His was a troubled time and peace was then but 'a wandering fire'. The ideals of the Hindu Scriptures could restore 'calm of mind' in the otherwise 'burning' world,—Eliot was quite sure of it. In his poetry, therefore, references exist to show that he had some knowledge of the *Vedas*, the *Upanishads*, the *Bhagavadgita* and Patanjali's *Yoga Sutras*. He was well-versed in Buddhistic lore and literature too. The use of 'Shantih shantih shantih' by Eliot in *The Waste Land* is both Vedic in origin and Upanishadic in content. In the same poem the poet has drawn upon the *Brihadaranyaka-Upanishad* (5,1) in the three-fold message of the Thunder.[1] The *Gita*, which is mostly held as the 'New Testament' for the Hindus, was so dear to him that he calls it "the next philosophical poem to the *Divine Comedy* within my experience."[2] Under the supervision of Mr. J.H. Woods, Eliot learnt Patanjali's metaphysics which left him "in a state of enlightened mustification"[3] Buddhism also left its indelible marks upon the poet Eliot; this is to be gathered from *The Waste Land* and *Four Quartets*.

Like Somerset Maugham, Eliot also believed in; "The East has more to teach the West than the West conceives."[4] He has made overt references to the Hindu philosophy and ethics in *The Waste Land*, the *Quartets* and *To the Indians Who Died in Africa* in poetry and in *The Cocktail Party* in drama. But even elsewhere the Indian traces are not wholly wanting. It appears from the bulk of Eliot's poetry that he was ever haunted by the vision of nightmarish dilemma, the acutest of modern maladies, the escape from which was possible only through the sagacious sayings and broodings of the Hindu sages embodied in our Scriptures. Right from *The Love Song of J. Alfred Prufrock* to the *Quartets*, and on to the poetic plays, Eliot has tried his best to underline the spiritual discipline and rigorous asceticism, so conspicuous a feature of our rich tradition.

The Waste Land (1922) brought recognition to the poet. It is here that he comes out as a "universal poet".[5] With no fewer than six languages employed in the poem, the Indian touches are so obvious in it. In Part III, 'The Fire Sermon', the collocation of the two great representatives of eastern and western asceticism (i.e. Lord Buddha and St. Augustine) is "not an

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

accident."[6] Eliot likens the Buddha's Fire Sermon to the Sermon on the Mount. From Mr. Henry Clarke Warren's translation[7] the poet picked up the following :

"To Carthage then I came
Burning burning burning burning
O Lord Thou pluckest me out
O Lord Thou pluckest
burning."[8]

(11.308-311).

The next Part, 'Death by Water', is as significant as the futile, fruitless quest of Tiresias, who in person represents the entire humanity, in Part V. Equally significant is the quester's approach to the Chapel Perilous, the decay of which denotes the 'present decay of eastern Europe.' At this juncture, the poet refers to the Ganga and the Himavant. Then the message of the Thunder is delivered thrice: 'Da Da Da'. It is an important thing in itself that the poet looks at India to break through the barrenness of his own land. Who can dare deny the deliberate inclusion of the Hindu Scriptures by the poet, particularly at this point? 'Datta', 'Dayadhvani' 'Damyata' (i.e. Give, Sympathise, Control) are the words directly drawn from the *Upanishad*. The poet takes a further recourse to the sacred wisdom of of India at the close of the poem :

Datta. Dayadhvam. Damyata.
Shantih shantih shantih

(11. 433-434).

While the first line is the repetition of the Thunder and has been cited here for emphasis-sake, the second one is a new introduction altogether. According to the poet, this is 'a formal ending to an Upanishad.' But, to my thinking, this is of an earlier date in origin and occurs in the *Yajurveda*. Nobody will, however, deny that this is a part of the *Upanishads* too.

The *Quartets* (1943) is a series of four poems that appeared from time-to-time. These poems are named after different proper places. The most explicit note of Hinduism strikes us in *The Dry Salvages* (1941). In the second movement of the poem occurs "Time the destroyer is time the preserver", which verily recounts the Hindu concept of time in relation to timelessness.[9] It is a clear-cut clue to Shiva and Vishnu of the Hindu Trinity. Herein lies an exposition of the idea contained in the beginning of *Burnt Norton* where the continued flow of time has been highlighted :

"Time present and time past
Are both perhaps present in time future,
And time future contained in time past.
If all time is eternally present
All time is unredeemable".

(*Burni Norton*, 11.1-5).

In the third movement of *The Dry Salvages*, the teachings of Lord Krishna directed to enlighten Arjuna and to bring him out of the feelings of meum have been introduced. On the battlefield Krishna tells Arjuna "I am the Time Spirit"[10] and exhorts him further :

"You shall not think 'the past is finished'
Or 'the future is before us',"

(11.144—145)

and again :

"....., consider the future
And the past with an equal mind."

(11.153—155)

All time is centred in the Lord; the entire universe is His creation. Time which is Death finally merges into timelessness which is Immortality. So none should be afraid of time or death, and should perform one's duty unrufflledly.

The following extract from *The Dry Salvages* is identical with the sixth stanza of Chapter VIII in the *Gita* :

".....'on whatever sphere of being
The mind of a man may be intent
At the time of death'."

(11.156—158)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Towards the close of the movement, the poet takes up the theme of Karma ('action'). The *Gita* stresses throughout the importance of Karmayoga, which is the performance of one's duty with a sense of devotion and detachment. The 'selfless action', according to the *Gita*, is the highest and easiest kind of Yoga :

"And do not think of the fruit of action".[11]

The desire of getting 'the fruit of action' binds the soul ('jiva') to the body, whereas the duty done in perfect detachment liberates it for good. And the end of Yoga is liberation from the human bondage :

"The inner freedom from the practical desire,
The release from action and suffering, release
from the inner
And the outer compulsion,"
(*Burnt Norton*, II,11.70—72)

This is the sum and substance of Lord Krishna's admonition to Arjuna when he says :

"Not fare well,
But fare forward, voyagers".
(11.168—169)

The beautiful phrase in *The New Testament*—'carelessness for the morrow'—has the self-same idea. Its echo may be heard even in *The Rock* (1934) :

"I say to you : Make perfect your will
I say : take no thought of the harvest,
But only of proper sowing."
(Chorus I).

Eliot's remote poem, *To the Indians Who Died in Africa*, is a reversion to the same theme. In it he referred pointedly to the Hindu doctrine of Karma :

"Let those who go home tell the same story
of you :
Of action with a common purpose, action
None the less fruitful if neither you nor I
Know, until the judgment after death,
What is the fruit of action."[12]

Despite the adverse opinion of western critics like Miss Helen Gardner regarding the introduction of the 'great' Hindu Scriptures in the third movement of *The Dry Salvages*, the truth remains that neither the poet has made a new 'introduction' here, nor is it out of 'consonance with the poem's theme of annuntiations', nor does it destroy 'the imaginative harmony of the poem', as she puts it.

The world has become a single unit today; the distinction of East and West has been outgrown. There are "obvious points of contact between Eastern and Western thought."[13] People of different nations, tongues, and cultures have come closer than ever before. None should, therefore, get alarmed at the statement that T.S. Eliot, who lived, walked and talked among us, has at times justifiably drawn upon the Hindu Scriptures to soothe the restless soul of the seething time. The poet himself has confessed that his poetry "shows the influence of Indian thought and sensibility."[14]

REFERENCES

1. T.S. Eliot, *The Waste Land*, Part V, 11. 402—422.
2. T.S. Eliot, 'Dante', *Selected Essays* p. 258.
3. T.S. Eliot, *After Strange Gods*, p. 40.
4. S. Maugham, *The Razor's Edge*, ch. 6.
5. Octavio Paz, *T.S. Eliot: Papers and Proceedings of a Seminar*, p. 2.
6. T.S. Eliot, *Notes on 'The Waste Land'*, line 309.
7. H.C. Warren, *Buddhism in Translation*, Harvard Oriental Series, Vol. III, first published in 1896.
8. Cf. the text of 'The Fire Sermon' in Mr. Warren's work (Student's ed., 1953), pp. 351—353.
9. Vide the *Bhagavadgita*, VII, 26; IX, 7 ; X,20; X, 33.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. Ibid., XI, 32.
11. Cf. the *Bhagavadgita*, II, 47—51; although elsewhere too the theme of Karma recurs therein every now and then.
12. *Queen Mary's Book for India* (1943), p. 61
13. K. Smidt., *Poetry and Belief in the Work of T.S. Eliot*, p. 182.
14. T.S. Eliot, *Notes towards the Definition of Culture* (1948), p. 113.

Amar Nath Dwivedi,
Department of English,
Gurukul Kangri University,
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Christopher Fry's Language and Verse

Dr. R. L. Varshney

Fry occupies a place next only to that of Eliot. And like Eliot's Fry's achievement as a poet dramatist has been the subject of a critical controversy. Most of the critics have attested to the opposite extremes of partiality and prejudice. We have been informed that his language is almost that of Shakespeare or that of a merchant of ginger beer. To the one he appears to be "a panoplied bard"; to the other a sort of "effervescent coster." Those who hold an adverse opinion of his language and verse have drawn a very dismal picture of Fry. Stephen Spender makes a parody of Fry's manner :

> Rhythmically, it is extremely easy to write.
> You just go on making loose pentametres.
> Which, as everyone knows, is easier than writing prose.
> Then occasionally you introduce a gleaming line
> Eloquent as light around the horizon
> Of hills which are a background for your puns,
> And an occasional internal rhyme.[1]

Denis Donoghue in his essay, "Christopher Fry's Theatre of Words"[2] accuses Fry of "verbal flippancy," of a "self-regarding" style. He writes : To think of other writers in association with Mr. Fry is to realise that his peculiar weakness, even in "The Dark is Light Enough", is that he writes as if the lessons of Stendhal, Flaubert, Henry James, Eliot and Ford had eluded him; as if nothing of significance had happened in European literature between Southey and J.C. Squire. Mr. Fry's language has a soft centre, even where Flaubertian bone is urgently required. Its typical effect is not to concentrate feeling and thinking into the word, but to diffuse these activities over a broad verbal area. Indeed, there are few writers and fewer dramatists who yield so readily to the lyric moment. Where ideas are involved, Mr. Fry uses them to make verbal show-cases, rather than, like Shaw, to start dialectical battles. Frequently, Mr. Fry's language seems perversely designed to smooth away any conflict inherent in the situation. The picture of Fry which emerges from the press cuttings is that of "a man reeling intoxicated with words; they flow in a golden —or perhaps pinchbeck—stream from his mouth : they start out at his ears; they burst like rockets and jumping crackers and catherine-wheels round his head; they spring in wanton sport at his feet and trip him; but trip him or not, he loves them : let them all come, go where they may; let them strangle sense, flood the stage, break the dams of form : facility shall have its day. His typewriter continues to chatter long after it has been put back in its case. Words will grow out of him, like finger-nails, some time after his death."[3]

Thus the main charges against Fry's language are flippancy and verbosity, lack of distinction

1 The Spectator, CL XXXIV (March 31-April, 1950), p.364. Also see Stephen Spender, "Christopher Fry", Discussion (March 31, April 17, 1950), pp 37-49.

2. See Essays in Criticism, IX (Jan. 1959), pp 37-49.

3. Fry, An Experience of Critics (Oxford : New York, 1953), p. 23. Cue title An Experience,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

between the language of one character and the other, lack of suitable action to match words, lengthy sentences and a surfeit of similies and metaphors. Some critics are of the opinion that his plays are merely a treasury of beautiful words, and that his verse is a mere paper decoration and sheer bombast. Their judgement has a resemblance to that of Justice Tappercoom in *The Lady's not for Burning* :

> The whole thing's a lot of amphigourious
> Stultiloquential fiddle-faddle.[4]

But the defence by the Chaplain is equally appropriate :

> . . . . And what may seem nonsensical
> To men of affairs like yourselves might not seem so
> To me, since everything astonishes me
> Myself most of all.....[5]

Fry himself has answered some of these charges. He states :

> So many words, for instance. We know this criticism doesn't precisely mean what it says. There are the same number of words as in any other play; you have only to count them. It means, I think, that I dont't use the same words often enough; or else, or as well, that the words are an ornament on the meaning and not the meaning itself. That is certainly sometimes—perhaps often—true in the comedies, though almost as often I have meant the ornament to be, dramatically or comedically, an essential part of the meaning; and in my more sanguine moments I think the words are as exact to my purppse as I could make them at the time of writing.
>
> And then the question of relevance. The question is, relevance to what ? The relevance of one kind of play is not necessarily the relevance of another...what I am most anxious to do here is to ask that criticism should look more deeply into the nature of a play, and to pursue the reason for its nature, rather than to try to force it into a category to which it doesn't belong.[6]

If we judge his plays in accordance with their nature, we will find that Fry never writes 'pretentious nonsense', nor is his language unsuitable for dramatic action. Its use is purposive, functional and reasonable. The criticism of Fry on the ground of using fifty words where five would do, in fact, betrays a failure to distinguish between eloquence and empty bombast.

To the charge that his people talk alike, Fry cheerfully answers, "According to the custom of men, they should, we do." Regarding long sentences, he explains in the introduction to *The Lady's not for Burning* how long a sentence should end is no body's business but his own. Perpetua's long speech in *Venus Observed* seems to be a reply to his detractors on this point.

So far as the suitability of words and deeds is concerned, Fry states that "words and actions are not unrelated. One illuminates the other; and the full significance of action can be explored only by words. If we compare the murder of Maria Marten in the Red Barn, with the murder of Duncan in Macbeth's castle, we see that in each the physical action is roughly the same, but the significance of the action is entirely different. The one is merely done, the other is experienced, and the experience is in the words. What is more, the experience is the true nature of the action. The experience ultimately is the action."[7]

These charges seem to have been based on the assumption, first, that the language of a play should be closely related to its structure, second, that if the language becomes autonomous at any point the decorum of the play should be such as to

4. The Lady's not for Burning, p. 38. Cue title Lady.
5. Ibid, p. 41.
6. An Experience. pp 24-25.
7. "Why Verse"?, Vogue. CXXV (March 1, 1955) p. 166. Cue title "Why Verse ?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

support this autonomy for a special dramatic purpose. But such assumptions are unfounded for plays dealing not with action but with moods and seasons, man's spiritual problems, and his estrangement in the present-day world. Here we will have to view the matter strictly on merit with a view to encouraging fresh things on the stage. Viewed this way the main weakness of anti-Fry criticism is that it is carried on at a level higher than the lowly boards of the stage, and it is clear that in Mr. Spender's article on Christopher Fry the stage is nowhere in sight. Moreover, the detracting criticism of Fry misrepresents him in as much as it points to his main powers as his chief weaknesses. In *Curtmantle*, Fry perhaps has in his mind his severe critics when he makes Eleanor say :

I know your world, where an acid wit
Is valued higher than the mind hurt by it,
Where rules dictate how a man should move,
or love,
Or cough, or betray, or do nothing :
The unexceptional dance of what
Has withered within. Where every syllable's
Up for valuation by the code
Of the best poets, and nothing speaks from
goodwill.
I have understood at last the truth of the text :
A man's enemies are the men of his own
house.[8]

The most remarkable feature about Fry's language is its rich and motely vocabulary. Fry is interested in developing a powerful phraseology. He knows full well the importance of words in a play as they express a wide and proferred experience, and help in conveying sense, feeling, tone, mood, intention, thought and idea. He himself says, "Words give us a larger, or deeper experience of action." [9] That is why he prays through a character in *Venus Observed* :

God give me a few
Lithontriptical words[10]

perhaps because

the word is an arrow
Of larksong, shot from the earth's bow, and
falling
In a stillborn sunrise.[11]

Words have a compelling interest for him as they had for Shakespeare; they flow from his mouth like a torrent of gold; they often seem to brighten in his hands as jewels. Sometimes the words themselves are extended into images of a brilliant, even exotic daring, e.g. 'mesh of God',[12] 'dank rumour'.[13]

Fry often writes in heightened speech, in words that 'glow and ring', that colour page after page and 'the writing becomes jewelled with words, as a lawn with water drops in a summer dawn.'[14] Like O' Casey he is ready to make gold embroidery out of dancing words. We have only to quote the lines :

1. The Lanterns, Rosabel. They'll be very pale
Compared with the foment of wild flamboyant rose
We have in the sky to-night....[15]

2. Horses..., the caves of their nostrils
blowing
Bright clouds of breath, a foaming sea
Breaks against their mouths, their flanks
are smoking
Like Abel's fire to heaven....[16]

3. ...I, as unlaborious
As a laburnum tree, hang in caresses of
gold.[17]

8. Curtmantle, p. 81.
9. "Why Verses?", p.166.
10. Venus, Observed, p. 42. Cue title Venus.
11. Lady, p. 87.
12. The Firstborn, p. 84.
13. Ibid. p. 58.
14. Ed. Martin Browne, Introduction to Four Modern Verse. Plays (Penguin Plays, London, 1957) p.11.
15. Venus, p.80.
16. Ibid. p. 55.
17. Ibid, p. 53.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. Our English sun, convalescent after passing
Through the valley of the shadow of the moon.[18]

5. ...the river
Where the water gives those girlish giggles around
The ford....[19]

6. I, the little heretic as he thinks,
The all unhallows Eve to his poor Adam....[20]

7. Such white doves were paddling in the sunshine
And the trees were as bright as a shower of broken glass. [21]

8. .....I've an April blindness.
You're hidden in a cloud of crimson catherine-wheels.[22]

9. .....those long jowls, my jewel,
Those ruminating thundercoloured bulls
Your brothers : and our pastry-pallid sons...[23]

"The foment of wild flamboyant rose", "the caves of their [horses'] nostrils blowing bright clouds of breath," "as unlaborious as a laburnum tree," "the girlish giggles" of water, "a shower of broken glass," "a cloud of crimson catherine-wheels," "the convolutions of convolvulus"[24] are but a few of the phrases that evince Fry's poetic gifts and his creative and evocative imagery. From the illustrations like these one can easily understand that Fry "can let down his bucket into a sea of dazzling verbal invention where he wishes, and bring it up brimming."[25] E.D. O'Brien has rightly observed, "for here was a phenomenon, a poet-playwright who used words as Shakespeare used them, to whom, as with Shakespeare, were open "all the realms of nature, all the mines of fancy," who possessed a gigantic treasure-chest of words into which he plunged his arms up to the elbows and let the lovely glittering, glowing things trickle through his fingers like the jewels they were."[26]

Fry has used a new and startling phraseology for love :

1. Having seen the beautiful teenagar Alizon Richard cries :
Is life sending a flame to nest in my flax ?[27]

2. TEGEUS. O Dynamene,
Let me unload something of my lips' longing
On to yours receiving. Oh, when I cross
Like this the hurt of the little space between us
I come a journey from the wrenching ice
To walk in the sun. That is the feeling.[28]

3. DYNAMENE.....Chromis, it's terrible
To be susceptible to two conflicting norths.
I have the constitution of a whirlpool.
Am I actually twirling, or is it just sensations?

4. TEGEUS.....To night I need to kiss you,
Dynamene. Let's see what the whirlpool does
Between, my arms; let it whirl on my breast.
O love,
Come in.
DYNAMENE...I am there before I reach you; my body
Only follows to join my longing which
Is holding you already—Now I am
All one again.
TEGEUS. I feel as the gods feel :
This is their sensation of life, not a man's :
Their suspension of immortality, to enrich

18. Ibid, p. 26.
19. Lady, p. 20.
20. Ibid, p. 70.
21. Ibid, p. 4.
22. Ibid, p. 4.
23. Thor, p. 6.
24. Lady, p. 33.
25. Quoted from a Review in the New Statesman and Nation by Raymond Williams in Drama from Ibsen to Eliot (London, 1965), p. 265.
26. "The Poet in the Theatre", The Illustrated London News, Aug. 11, 1951, p. 228.
27. Lady, p.4.
28. A phoenix Too Freqment, p. 30. cue title phoenix

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Themselves with time. O life, O death, O body,
O spirit, O Dynamene.

DYNAMENE. O all
In myself; it so covets all in you,
My care, my Chromis. Then I shall be
Creation.

TEGEUS. You have the skies already;
Out of them you are buffeting me with your gales
Of beauty. Can we be made of dust, as they tell us ?
What ! dust with dust releasing such a light
And such an apparition of the world
Within one body ? A thread of your hair has stung me.[29]

5. TEGEUS. Hush, smile of my soul,
My sprig, my sovereign: this is to hold your eyes,
I sign my lips on them both; this is to keep
Your forehead—do you feel the claim of my kiss
Falling into your thought ? And now your throat
Is a white branch and my lips two singing birds....[30]

6 ELEANOR. Nevertheless consider
The nature of love. In love a man and woman
Are newly minted as in the beginning of the world,
Creating themselves out of each other's eyes.
But in marriage, whatever world is made,
Has the bones of the woman walled up in the foundations,
No air to breathe, nor any light to move in.[31]

Hence to call his theatre 'the Theatre of Words' is an honour, and not an insult, because his theatre is not the theatre of superfluous, meaningless, or useless words, but of words that are not only heard but also seen through the eyes and experienced through the mind. There is, in fact, a kind of suave and Apollonian splendour in Fry which modifies the ardour of his thought. He has put into practice what he preaches so well in one of his speeches :

A poet wishing to write objectively, to create an act of poetry; to make that act of poetry, and also, an act of life; not only to represent other beings out of his own nature, but to share their creation with other men the actors; to attempt completely to exteriorize his will to sing, to make his inward search for truth an outward fact. To do this he must have a particular relationship to his poetry. He must wish it to come towards him not wish to impart it. He must be surprised into it by an imagined action. And for this reason it cannot be self-conscious. It may be artful, rhetorical, severely controlled, but it must be able to live its own life in a way that is neither necessary nor desirable in non-dramatic poetry. That is why a very experimental form is likely to be a dead-end, and why the first bridge to be crossed by any poet-dramatist should be the way to reconcile his poetry to common speech, not only by the avoidance of obvious poetical inversions and excisions, but by the method of metaphor and similie, by the way symbolic language is presented, and above all by the speech rhythms, which have to overcome the tone of written literature."[32]

It is in order to reconcile his language and verse to the common speech that we find a valley of metaphors and similies in his plays. They are to him of a vital significance, as they have been in drama since ancient times. Aristotle says, "But

29. Ibid, pp 31-32.
30. Ibid, p. 34.
31. Curtmantle, p.79.
32. Fry, "Poetry in the Theatre", Saturday Review, XXXVI, March 21, 1953, 18-19.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

far the greatest thing is a gift for metaphor. For this cannot be learnt from others, and is a sign of inborn power."[33] It is through metaphor that the language achieves its rich suggestiveness, and becomes the matching place for the wit of the reader and the wit of the writer. Hence it is something more than an amusing literary device; it is a continual play of wit, an illuminating double entendre, nimble magic. Metaphors often act to enrich reality, even to heighten it. "Living metaphor", says F.L. Lucas, "is a kind of two-headed Janus, looking two ways at once and making us see two things almost simultaneously,'[34] and that "a style without metaphor and simile is to me like a day without sun, or a woodland without birds."[35]

Metaphors and similes can give strength, clarity, and speed; they can add wit, humour, individuality, and poeticality. Sanskrit scholars went a step further and called drama "a metaphor." It is for these reasons that the hero in *The Lady's not for Burning* cries : "What a wonderful thing is a metaphor"[36]. Plainly enough Mr. Fry agrees with him. He has rather "invited straphangers, accustomed to travelling on the sunway, to take a ride on Pegasus."[37] Fry uses metaphors most effectively and wonderfully; but they are his slaves, not his master.

Another device by which he makes his verse nearer common speech is abusive language which is part of man's everyday life. Our daily language is also, occasionally, and among some people frequently, full of vituperations, oaths, abuse, swear-words, hyperbolic epithets, and interjections. Fry's people also use this natural medium naturally:

REEDBECK. You're a vain, vexing, incomprehensible, crimping, constipated duffer.....You grovelling little Gobemouche.....You spigoted, bigoted, operculated prig.[38]

In Thor with Angels the first page of the play is full of this beautiful rather regardful language :

QUICHELM. Colgrin,
You scrawny old scurfscratcher, is that you ?

COLGRIN. Frog-man, fen-fiend, werewolf, oul, elf.....

QUICHELM. Runt of an old sow's litter, you slop-headed
Pot-scourer, come here, you buckle-backed
Gutsack, come out of there'...[39]

In *The Lady's not for Burning* this type of idiom is full of hilarious amusement and is the source of delight :

1. NICHOLAS (to Richard) You canter off...
What shall I do
With this nattering wheygoose, Alizon ?
Shall I knock him down...[40]

2. NICHOLAS (to Humphrey), You slaway poodle, you tike,
You crapulous puddering pipsqueak.
Do I have to kill you a second time ?...
O blastoderm of injustice
You multiplication of double-crossing ![41]

33. Aristotle, Poetics, XXXII
34. F.L. Lucas, Style (Collier Books, New York, 1962). p. 186
35. Lady, p. 168
36. Lady, p. 3
36. John Mason Browne, "Poets and Players" Dramatist Personae (London, Hamish Hamilton, 1963), p. 245; this essay was first published in 1950
38. Venus, p.42
39. Thor, with Angels, p.1. Cue title Thor
40. Lady, p.8
41. Ibid, pp. 14-15

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. THOMAS (to Tyson). You bubble-mouthing, fog-blathering,
Chin-chuntering, chap-flapping, liturgical,
Turgidical, base old man."[42]

Phrases like "vein, vexing, incomprehensible, crimping, constipated duffer," "grovelling little Gobemouche" "spigoted, bigoted, operculated prig" "strappling, ice-cold, donkey-witted douche tasteless writer," "buckle-backed gustsack" "nattering wheygoose", "bubble-mouthing, fog, blathering, chin-chuntering, chap-flapping, liturgical, turgidical, base old man" exhibit Fry's flair for inventive abuse and neologisms of vilification. They are the intellectual acrobatics of a writer whose aim is to show the futility of man's existence in a very pleasing and amusing manner.

Another example of this delight in verbal gymnastics is to be found in Tegeus' oath-speech :

I swear, I swear by Horkos and the Styx,
I swear by the nine acres of Tityos,
I swear the Hypnotic oath, by all the Titans
By Koeos, Krios, Iapetos, Kronos, and so on.
By the three Hekatoncheires, by the insomnia
Of Tisiphone, by Jove, by jove and the dew
On the feet of my boyhood, I am innocent
Of mocking you...[43]

Such names can be used only by a person well-versed in classical mythology. Fry frequently uses classical names and allusions, Greek and Latin phrases and proverbs. Such usages help him in creating the needed atmosphere, and are an aid to local colour.

Fry can use nouns as adjectives, e.g. "There is something shipwreck, about you"[44] or "My Pollen fingers."[45] 'His choice of verbs is more vigorous, more Shakespearean, than that of any other poet'.[46] Below are cited a few of Fry's verbs which he uses to 'activise' his language :

1. Is life sending a flame to *uest* in my flax.[47]
2. The sphere *churned* on.....[48]
3. And when I found my hands *crowded* him
Into my breast, he *buried* like a burr...[49]
4. All the court *flew-up* and *buzzed*
But what could they do ? Not even my
Pharaoh-father
Could sting him out of my arms...[50]
5. The flowers were *schooled*
With salemanders.....[51]
6. I'll *fume*
with feeling.....[52]
7. I thought that was why
We were *mooning* around celebrating...[53]
8. .....a blue sky *buffaloed*
by cloud.....[54]
9. The sun has *mooned*
Away half its light, already...[55]
10. Rosabel, where have you *mooning*
All the long afternoon...[56]

Fry's coinages are comic, e.g. 'vastiness lusted'...[57] 'overwhelming solitude'[58] 'decontaminating life',[59] 'congenital generator, your nephew'[60] 'rumpled idiot-boy'[61] 'mumping pub',[62] and so on. Fry will use 'larceny' for theft,

42. Iblid, p. 27
43. Phoenix, p. 16
44. The Firstborn, p. 17
45. Ibid, p. 37
46. Derek Stanford. Christopher Fry : An Appreciation (London, 1951), p. 200. Cue title Appreciation.
47. Lady, p. 40
48. Ibid, p. 33
49. The Firstborn, p.4
50. Ibid, p. 4
51. Ibid, p. 37
52. Phoenix, p.29
53. Lady, p.65
54. Venus, p. 5
55. Ibid, p. 14
56. Ibid, p. 56
57. Lady, p. 32
58. Ibid, p. 32
59. Ibid, p. 26
60. Ibid, p. 28
61. Ibid, p. 41
62. Ibid, p. 18

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'abacation' for the theft of animals, 'peculation' for embezzlement, and 'incendiarism' for causing fire.[63]

His language contains within itself all the expected furnishings of verse, such as imagery, metaphor, simile, onomatopoeia, alliteration, and the like. As an example of onomatopoeia, we can cite the following passage :

Burst in among us, blashpheming against
Woden,
Broke his sword in the air—he swore it broke
Against a staggering light—and stood roaring,
Swaying in a sweat of wax, bestraddled
Over the fallen Briton.....[64]

And below are given a few samples of his alliterations :

1. ...Who's awake ? Where's
The welcome of women for wayfarers ?
Where's my Wodenfearing mother ?[65]
2. ...as bright and bristling
As Barney the boarhound...[66]
3. To doom and a damned journey into dust...[67]
4. You should be crouching craven in a cave...[68]

Fry's love of and his skill in the use of paradox and anti-thesis can be illustrated from the following passages :

1. ..Joy is nothing
But the parent of doom.[69]
2. Death is a new interest in life...[70]
3. ...What is my freedom becomes
Another person's compulsion...[71]
4. Shall we live in mystery and yet
Conduct ourselves as though everything were known ?[72]
5. In the belly of our misfortune
We find our hope.[73]
6. I followed a light into a blindness.[74]
7. Nothing has any truth and anything is true.[75]

And here is an example of Fry's pun :

DUKE — And I, as unlaborious
As a laburnum tree, hang in
caresses of gold.

EDGAR. — And what do I hang in ?

DUKE. — You hang in abeyance, Edgar...[76]

His plays, thus contain something of the intellectual acrobatics of the metaphysicals. There are far-fetched images which are spell-binding, the similes and metaphors that startle us, the puns that remind us of Janus, the play of engaging words that reminds us sometimes of Anouilh, sometimes of O'Casey, and at other times of the Elizabethans. His wit descends from the Restoration dramatists through Oscar Wilde. And while there is much exquisite grace of expression there is also the earthy salt of colloquialisms. One could fill a whole anthology with brief or copious extracts from his plays, demonstrating his varied use and employment of it as a comic agent, in paronomasia and other forms of word-play; his amazingly inventive powers of abuse; his gay neologisms and polysylabic clowning; or, again, on the serious side, his flair for giving to metaphysics the valid and immediate impact of metaphor; his creation of fresh vernacular of wooing; and his art as an 'inner portrait painter.'

Fry lays the acceptance of poetry in the theatre to two things :

63, See Lady, p. 36
64. Thor, p.4
65. Ibid, p. 1
66. Ibid p. 2
67. Ibid, p. 7
68. Ibid, p. 19
69. Phoenix, p. 33
70. Ibid, p. 4.
71. Venus, p. 96
72. The Firstborn, p. 46
73. Ibid, p. 31
74. Ibid, p. 31
75. Ibid, p. 48
76. Venus, p. 53

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

One's the reaction to the long hold of surface realism. The other is that the world seems rather cut down a bit...and poetry provides something people lack, and wish for a richness and reaffirmation.[77]

At another place he states :

The use of verse in the modern theatre... comes, I think, from a certain spiritual searching which is part of our troubled times.[78]

He regards poetry as the language of reality, of economy, and of correctness. It is not unnatural. On the contrary, it is 'the reason itself'.[79] The pursuit of poetry or the creation of its works, in Fry's opinion, is "an apprehension of truth beyond the power of rational thought." In his defence he says, "Well if we have to be born into a world as wildly unprosaic as this one is, what else can be done, if we mean to be realistic ?"[80]

Fry has demonstrated over and over again that poetry preserves its force as a universal language, significant and immensely enjoyable. It has the privilege of showing us several planes of reality at once—sensuous, logical, psychological and spiritual. It is the language of emotion and power; it 'moves like an athelete over hurdles to perform the most most economically'.[81] Moreover, it is 'the central functionary of the play, the spring of all action, potent, shaping, and informing'. It has several advantages over prose. Certain experiences can be better experienced in and expressed through it; 'in prose we convey the eccentricity of things; in poetry, their concentricity.[81]' It is as natural as one of our senses. Moreover, it is an 'unrolling exploration' and 'the humility of language.' All our actions in Fry's view are the actions of poetry. He argues :

Poetry is the language in which man explores his own amazement. It is the language in which he sees heaven and earth in one word. It is the language in which he speaks to himself and his predicament as though for the first time. It has the virtue of being able to say twice as much as prose in half the time, and the drawback, if you do not happen to give it your full attention, of seeming to say half as much in twice the time . . . We can say that poetry is the language of reality.[82]

Poetry to Fry, therefore, is a sign of man's vitality. 'Fear of it, or lack of it, is the dead-end of his material needs.' In his theatre poetry is action and action is poetry. He is not a poet and a playwright separately : he is all the time a poet-playwright. He holds with Wordsworth's theory that poetry is something "felt in the blood, and felt along the heart."[83] He summarises his theory of verse as follows :

A verse play is not a prose play which happens to be written in verse. It has its own language. In a talk on *Poetry and the Theatre*, I tried saying something more about this, in these words : "The dramatist must view the world of his play, and the people of that world, with great precision : the poet-dramatist with the greatest poetic precision. The whole structure depends upon it, what scene follows another, what character goes and what character enters, where description or landscape becomes

77. Ed. Stanley J. Kunitz, Twentieth Century Authors: A Biographical Dictionary (New York, 1955), p. 355
78. Fry's letter to M P. Sanghal. pub. in his Christopher Fry and T.S. Eliot (Brij. Prakashan, Meerut, India, 1968). p. 127, originally a thesis submitted to Agra University.
79. "Why Verse?" p. 137.
80. Quoted by Denis Donogue, Essays in Criticism, IX, 38
81. "Why Verse?" p. 137.
82. "A Playwright Speaks", p. 332
83. Quoted by Fry from Wordsworth's 'Tintern Abbey' (1798) in "Why Verse", p. 166.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

part of the action, or where it needs a bare exchange. The poetry and the construction are inseparate. Who understands the poetry understands the construction, who understands the construction understands the poetry, for the poetry is the action and the action — even apart from the words — is the figure of poetry.....[84]

What Fry wants is that 'in exploring and recreating life in terms of the stage we should use language as fully charged and as plient as we can make it.'[85] So poetry should be used in the theatre to satisfy the spiritual needs of our age, to include the greater reality, to express the superstitions and the supernatural, to enact a mood or state of mind, to portray a character, to demonstrate the human dilemma, and above all, to achieve a union of word, action, character, tradition and discovery. "No event," observes Fry, "is understandable in a prose sense alone. Its eventual meaning... is a poetic meaning."[86] But Fry does not consider poetic drama to be something opposed to prose drama. In an interview with Lewis Nicholas, he said :

> I find it a pity to divide drama into verse and prose, for it's a false division. Each play shouldn't have to be forced into one category or the other, it happens that only poetry is for me, and I have never written a prose piece of my own. But the division is growing less. Tennessee Williams, for example, has written both.[87]

In another talk he points out :

> What reason is there for limiting the theatre to one form of communication ? It is even believed that the prose play and the verse play are in opposition : or that the one precludes the other : there appears to be a kind of colour bar in the matter. Such rivalry is nonsense. Indeed prose and verse existing side by side counter each other's dangers. If they pass altogether out of reach of each other's, they cease to be themselves : becoming on the one hand journalese, official cant, or any other string of sentences : and on the other a vagueness, an abstraction, a preciousness.[88]

The inter-play of prose and poetry to Fry is like "men and women dancing the Grand Chain,"[88] and it is this dance that keeps each in its own state of grade. So he shelves this debate between the poetic and the prosaic in the following manner :

> I have no answers to satisfy you if you believe that human nature, or human personality, is divided into two parts, of whatever proportion, the prosaic and the poetic. I think we always live with a foot in each camp, or rather, that there is no moment when we can safely say that even our apparently most insignificant actions have not a significance greatly beyond ourselves.[89]

Fry's plays live up to this compromise. Some of them—*The Boy with a Cart* and *Curtmantle*—use both verse and prose.

Fry's verse has its distinctive mark. William Arrowsmith has compared Fry's verse with Marlowe's. "There is," says he, "the same verbal impatience, the same laddering of effects towards an over-all tonal-roof, and the exuberance of the autonomous language."[90] But another critic, Mauris Bewley differs with Mr. Arrowsmith. Commenting on the same speech which Mr. Arrowsmith chose for Fry's appreciation, Mr. Bewley remarks, "The colours of this speech flake and fade, and the outline of its image grows misty. There is very

84. Christopher Fry, An Experience of Critics (Oxford), 1953, pp. 26-27. Hereafter referred to as An Experience.
85. "A Playwright Speaks", The Listener (Feb. 23, 1950), 332.
86. "Why Verse?" p. 162.
87. The New York Times, Sunday, 27 April, 1958, Sec. II, IX.
88. "Why Verse?" p. 166,
89. Ibid, p. 168.
90. See "Notes on English Verse Drama", Hudson Review, Summer, 1950, III, 213-16.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

little or concrete immediacy behind it, an even 'bryony, sloes, rosehipe' suggest second-hand literary gleanings rather than a genuine response to the real things, or even to the experience or words."[91] Mr. Bewley's other charges against Fry's verse are ironic over-statement, and a cynicism too youthful and exhibitionistic. But most of these charges again are a by-product of the modern antipoetic tendency. Mr. Bewley seems to undermine the fact that any piece of real art when it comes to public notice automatically becomes exhibitionistic, and that if Fry's pages are charged with a little extravagant wrath and vigour, they should not appear to any of us as full of 'cynicism'. In fact Fry's comedies are not the comedies of situations or characters ; here the action lies not in events and situations, but in the very words. So the critic does not need to bewilder himself by Fry's buyoant flights of imagery and this sometimes baroque rhetoric. Such effects are not interruptive. The most imaginative passages, instead of standing isolated as poems to be recited by the actors reinforce characterization and energize plot. Even the forty-eight line speech of Merlin in *Thor, with Angels,* and the forty-three line eloquence of Perpetua in *Venus Observed*, which have been the subject of adverse criticism are relevant to the meaning of the play concerned.

The most notable feature of Fry's verse is its dramatic quality. His poetry is dramatic enough to vivify character and energise plot. His plays are moving poetry. Like Bottomley's his lyricism is there not by accident but by design, because he is resolved to create a poetic drama in the true sense, a drama where the action is the poetry and the poetry is the action. "In Fry, then, as I have attempted to show, poetry and drama are not at war ; the first diminishing the sense of situation, the second detracting from the beauties of speech."[92] So "it would be wrong to think that the poetry is merely a spangled cloth, a number of yards of verbal tinsel, wherewith the author disguises or positively enhances the basic banality of his drama."[93] Hence to estimate Fry's success accurately we must see his plays "not so much as an achievement in poetic drama, as an original application of verse to familiar theatrical ends.[94] poetry is "the central functionary in the play, the spring of all action, potent, shaping and informing."[95]

He uses verse in a way that will enable actors, unused to such dialogues, to benefit by it instead of making them feel embarassed by it. His verse is very easy, chastened, melodious, and full of apt phrases, metaphors and similitudes. It has a dynamic structure and steadily moves towards a climax, and at the same time it is studded with pointed, witty and paradoxical statements and sentences. It rouses and shocks the mind and keeps it perpetually expectant, and gratified. He has the double gift of the musician and the rhetorician, which is clearly reflected in his verse-dialogue, where aptness and precision of phrasing, balance, economy and adjustment of part with part, of illustration and a veritable hail of pelting end sparkling witticisms and paradox abound.

Fry has been able to free himself from the fetters of the Elizabethan blank verse which sucked the vital lifeblood of the plays of Flecker. Like a hag his plays also emphasize the growing awareness of the necessity of simplification or the blending of the colloquial and the poetical for infusing the energy of real life into poetic drama. He has successfully created his medium—verse without any specifically poetic language or rhythm, fit

91. Mauris Bewley, "The Verse of Coristopher Fry," Scrutiny, XVIII (June, 1951), p. 79.
92. Appreciation, p. 48.
93. Ibid. p. 19.
94. Raymond Williams, op. cit., p. 262.
95. "Why Verse?" p. 137.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

for prosaic contexts, but also able to enhance dramatic tension by its precise and suggestive poetic condensation. It helps rather than hinders the audience. It has a burning energy and a splendid diction. Fry can switch over directly or indirectly to prose whenever he wishes to do so. Almost all his plays contain scenes in prose or in verse which is near prose.

Fry's verse, however, is not the prevalent staccato drives, 'the gutter-bred language polished to crest stone heights', nor the 'telegraphic lingo that passes for alive dramatic speech' but the singing and flowing of the English tongue, and to use J.C. Trewin's phrase, 'the singing of gold'. He is indeed, 'the freshest, and most singing voice that had sung in the dusty recess of the theatre'.[96] He is all the time "a silvery singer", a sort of Siamese Twin, in which the attributes of the muse of song and the muse of drama are featured together."[97] Derek Stanford has rightly called him "the 'pocket' Caruso[98] of contemporary stage-verse."[99]

Fry does not employ the ten-syllabled line with regularity; he uses much freer forms. He is a man with lively fancy. Fry's rhymes, when compared to Shakespeare's seem to be comparatively limp because he cannot fall back upon a standard of regularity from which any departure provides a rhythmic meaning to the ear. His rhythm is colloquial, easy, matter-of-fact, compounded of daily speech patterns. There is a tinge of monologue in some of his dialogues. We do not find in his verse that rhythmic woodenness and linguistic poverty which the Victorian poet-dramatist had. Fry is always rich and copious in his style. His rhythms and metres often resemble those of the Miracles, and the Morality and Mystery plays of the Middle Ages, notably *Everyman* (about 1490), If need be, he can repeat the rhythms to heighten the effect (for example, "But am I sure" in *Venus Observed* p. 95).

When we trace the development of Fry's style and medium we find that *The Boy With a Cart* reflects Fry's indecision about the choice of his medium. He appeared to waver between Eliot and Williams, and also between the prosaic and the poetic. He knew not whether to choose a florid language or a simple colloquial idiom. In fact, he appears to have expounded with both prose and verse. Much of the play, therefore, is written in prose, and the real poetry in the play is found in the lyrical utterances of the Chorus. But he was soon convinced that his powers lay between Shakespeare and Eliot. In *The Firstborn* his idoim is highly chiselled and finished. Although this play is not remarkable for the splendour of his comedies, yet it shows Fry's wonderful mastery of dialogue. Here the language is neither artful nor pompous, but simple and consistent :

> We're not enemies so much
> As creatures of division—you and I,
> Ramesses, like money in a purse,
> Ring together only to be spent
> For different reasons....[100]
>
> OR
>
> We're not concerned with hope,
> Or with despair ; our need is something different ;
> To confront ourselves, to create within ourselves
> Existence which cannot fail to be fulfilled.[101]

There is in this play minimum decoration. The language has a remarkable economy and precision. In comparison with the language of comedies the language in his tragedies is suddued and controlled, yet it is not dead; it has its usual freshness, vigour and the singing quality.

In his comedies the language is typically Fryian. It has a wonderful store of figures of speech ; its imagery is of a very intense order ; it is like sea-foam or lightening without its terrific thunder. It has a continual sweet murmur. Whereas the comedies have a

96. New York Times, Nov. 8 1959, p. 87.
97. Appreciation, p. 12.
98. Enrico Caruso (1873-1921), a celebrated singer.
99. Appreciation, p. 12.
100. The Firstborn, p. 26,
101. Ibid, p. 31.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

bubbling spontaniety and flow of words, tragedies use them in a restrained manner. We may assign the reason of this simplicity to the severe criticism of his critics. But above and over this consideration are the theme and atmosphere of the tragedies. It is in accordance with the demand of the action, that Fry uses language. In short, whereas the language of the comedies (*A yard of Sun* is an exception) is florid, the language of the tragedies and later festival plays is subdued.

Fry's style may appear too mannered but, it comes to him naturally. He has violated the calendar in both directions, utilising the modern idiom in depicting the Middle Ages, and 'elevated' diction in realistic modern scenes. The diction of his verse ranges from the cockney in *A Phoenix Too Frequent* to the vulgar tongue of enlisted men in *A Sleep of Prisoners*, from the homely modern terms put into the mouth of St. Cuthman in *The Boy with a Cart* to the suave epigrams of *Curtmantle*. His gift for idiomatic usage has been equalled by no other contemporary poet-dramatist. He can make an effective use of slang and colloquialism, e.g. 'swiggty', 'oblit' (for obliterate). There is often an euphemistic touch in his style : "I think I see little phoebuses/rising and setting in your eyes." His is a melodious and picturesque style. One cannot but marvel at the amazing vocabulary and those flippant classical allusions which are a part of his style. "Fantasy, eloquence, rhetoric, and wit, when taken together combine to produce a remarkably high-spirited verbal compound. Such a component we have in Fry's plays."[102] His style is, therefore, both original and inimitable. That is why he has hardly any disciples.

To conclude, Fry's verse, has adaptability and flexibility. It has a dramatic function ; it relies on the potency of words and not on the urgency of action. He has a particular gift for describing, with his amplitude of similes and delicate fabric of language, the sounds, sights and smells of the English countryside. It possesses to a great extent sensibility, power, wit, humour, pun, paradox, a flood of figures of speech, artistic insight and imagination. "His Verse", says J. C. Trewin "is a foam, a sea, a walter of conceits. Wit flashes from it like a heliograph in sunlight.[103] Again it is for his uninterrupted raillery and horse-play, his striking untraditional, saucy images, vigorous metaphors, and vaunted wit that Fry is most popular among the contemporary audiences. Fry's verse is further notable for its burning energy, its splendour of diction, its sensuous richness, its variety of space, and its responsiveness to the demands of varying emotions. Fry's dialogue, in its mingled gaiety and melancholy, sweetness and irony, allusions to real things and kinship with a romantic world, has an altogether indefinable magic. He has created a personal style of his own; a mixture of the sublime, the simple and beautiful, the mysterious, the grotesque, the learned, and the unexpected. As one of his characters says, "I have done nothing monosyllabic. A spade is a spade ?"[104] Fry has rightly removed much of the monotony of the dull prosaic stage of the twentieth century, and has contributed a lot of literary drama without damaging its stageability. Colgrin in *Thor, with Angels* rightly summarises Fry's achievement :

There's not a devil
In the length of the land could pick such a posy of words
And not swoon smelling it.[105]

Dr. R.L. VARSHNEY
Department of English
University of Gurukul Kangri, Hardwar

102. Appreciation, p. 211.
103. J. C. Trewin, Drama : 1945-50 (Longman, 1951), p. 26.
104. Venus, p. 36.
105. Thor, pp. 1-2.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PRINTED AT S. NARAYAN & SONS, DELHI.
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोध भारती

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की अनुसन्धान पत्रिका)

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

सम्पादक

डा० रामनाथ वेदालङ्कार

डा० विष्णुदत्त राकेश

वर्ष १, अंक १

जनवरी १९७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोध भारती

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की अनुसन्धान पत्रिका)

सम्पादक

डा० रामनाथ वेदालङ्कार

डा० विष्णुदत्त राकेश

वर्ष १, अंक १

जनवरी १९७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैदिक साहित्य, इतिहास तथा दर्शन के

प्रकाण्ड विद्वान्

आचार्य रघुवीर सिंह शास्त्री

कुलपति

जिनके जीवन्त कर्त्तृत्व तथा गतिशील नेतृत्व का संस्पर्श पाकर

विश्वविद्यालय का शैक्षणिक स्तर संवर्द्धित

हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

७३ वर्ष के प्रौढ़ किन्तु नित्य यौवन छवि से दीप्त, सक्रिय तथा संस्फूर्त्त गुरुकुल विश्वविद्यालय कुलगुरु स्वामी श्रद्धानन्दजी के आदर्शों पर भारतीय साहित्य, संस्कृति, दर्शन, इतिहास तथा वेदांगों के क्षेत्रों में प्रचलित विश्वविद्यालयीय परिपाटी से भिन्न शिक्षा-मूल्यों का सामयिक परिप्रेक्ष्य में गतिशील प्रयोग करता रहा है। उसकी प्राच्य विद्या-संरक्षणगत उपलब्धियों का राष्ट्र के प्रबुद्ध विचारक वर्ग ने स्वागत किया है। अन्य उच्चस्तरीय शिक्षण संस्थाओं से उसकी यह मौलिकता भारतीय शिक्षा के इतिहास में अनिवार्य महत्त्व की साक्षी है।

गुरुकुल संस्था नहीं, विचारधारा है। परिपाटी नहीं, प्रयोग है। स्थिरता नहीं, गति है, चेतना है और है शाश्वत सांस्कृतिक मूल्य बोध। गुरुकुल परिसर में छात्र तथा शिक्षक प्रकृति के सुरम्य परिवेश में एक रचनात्मक उद्देश्य के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की प्रगति का परिचय प्राप्त करते हैं। वेद, दर्शन, मनोविज्ञान, गणित, विज्ञान, पुरातत्त्व, हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी साहित्य तथा आयुर्वेद जैसे विषयों का उच्चस्तरीय अध्यापन तथा शोध कार्य यहाँ व्यवस्थित रूप से हो रहा है। विश्वविद्यालय के समकक्ष मान्यता मिल जाने पर अपने मौलिक रूप की रक्षा करते हुए अन्य विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम, शोधस्तर तथा अध्यापन-परिपाटी के समस्तरीय रूप ग्रहण से इसने नव जीवन प्राप्त किया है। विद्वत् समिति, शिक्षा पटल, व्याख्यान-माला तथा पाठ्यक्रम समितियों के व्याज से देश के मूर्धन्य विद्वानों तथा शिक्षा शास्त्रियों के उपयोगी विचारों तथा परामर्शों से इसका पथ प्रशस्त हुआ है। शिक्षाविदों की दृष्टि गुरुकुल पर कृपापूर्ण रही है और उनकी आशाओं-आकांक्षाओं को साकार करने में यह निरन्तर सचेष्ट है। मास्को विश्वविद्यालय के प्राच्य-संस्थान के निदेशक डा० ई० चेलिश्शेव तथा भारत की माननीया प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इस सत्र में विश्वविद्यालय में पधारकर इसकी प्रगति पर सन्तोष का अनुभव किया है। सीमित साधनों तथा शक्तियों के होते हुए भी विश्वविद्यालय के अधिकारी, प्राध्यापक तथा छात्र बद्ध परिकर हो अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं। संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान्, कुशल प्रशासक तथा प्रमुख शिक्षाशास्त्री आचार्य रघुवीरसिंह शास्त्री के कुलपतित्व में विश्वविद्यालय में शान्ति, अध्यापन, शोध तथा रचनात्मक प्रवृत्तियों को जैसा संरक्षण-संवर्द्धन मिला है, तोड़फोड़ तथा विघटनात्मक गतिविधियों के केन्द्र अन्य शिक्षण-संस्थानों के लिए यह स्पृहा की वस्तु है। श्री शास्त्री जी की प्रेरणा से ही विश्वविद्यालय की यह शोध-पत्रिका प्रकाशित हो रही है। प्रवेशांक आप सुधी-पाठकों के सामने है। हम आपके सक्रिय सहयोग, परामर्श और आशीर्वाद के आकांक्षी हैं।

अनुसन्धान एक दुरुह प्रक्रिया है। उसके मूल तत्त्वों का निरुपण यहाँ अभिप्रेत नहीं है। आत्म सजगता के साथ सम्पन्न होने वाला कार्य महत्त्वपूर्ण होता है, इस आशय से संकलित इन शोध-निबन्धों से नये संकेत की क्षमता पाठकों को अवश्य मिलेगी, इसका पूर्ण विश्वास है। परम्परा और विचारधारा संशय की दरार से टूटती है किन्तु जीवन बोध और महनीय सत्य का साक्षात्कार भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न चिन्हों के साथ ही उजागर होता है। सृजनात्मक साहित्य और आलोचना शोध के परिवृत्त में बंधकर ही विश्वसनीय बनते हैं, उनकी आयुकाल व्यापिनी होती है। वय का अनुमान और ठीक-ठीक मूल्याङ्कन आँखों की स्वस्थता का सूचक है। इस संकलन के निबन्ध शोध और आलोचना की नई दृष्टि से सम्पन्न हैं, यदि विषय-मर्मज्ञों को इससे सन्तोष मिल सका तो हम अपने श्रम को सफल मानेंगे। अन्त में जिन विद्वानों ने अपने मौलिक निबन्ध सरस्वती-प्रीत्यर्थ प्रकाशनार्थ देकर 'शोध-भारती' को भारती भवन में प्रवेश दिलाने का सुअवसर प्रदान किया है उनके प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। भविष्य में भी हमें इन मनीषियों का अधिक से अधिक सहयोग मिलता रहेगा, इस आशा के साथ प्रस्तुत अंक सहृदय पाठकों के कर कमलों में सौंप रहे हैं।

"यह मनुज ब्रह्माण्ड का सब से सुरम्य प्रकाश,
कुछ छिपा सकते न जिससे भूमि या आकाश।"

—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचरित के तीन गायक और उनकी काव्यकृतियाँ

वाल्मीकि, अज्ञातनाम कवि,और तुलसीदास कृतियाँ

—आचार्य किशोरीदासवाजपेयी

पौलस्त्यवध, वाल्मीकीय रामायण, और रामचरित मानस इनमें से एक (पौलस्त्यवध) नाटक है, और शेष दोनों महाकाव्य। 'महाकाव्य' की जो परिभाषा अर्वाचीन साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दी गई है, उसमें यदि वाल्मीकीय रामायण तथा 'रामचरित-मानस, गृहीत नहीं होते, तो यह 'परिभाषा' बनाने वालों का दोष है कि वे अपनी परिभाषा में इन महाकाव्यों को न ला सके। यह भी संभव है कि उनके सामने 'महाकाव्य' संस्कृत के ही रहे हों और 'मानस' पर उनका ध्यान न गया हो; या 'परिभाषा' बनाने तक 'मानस' का अवतरण न हुआ हो और वाल्मीकीय रामायण को वे साधारण महाकाव्यों में न रखना चाहते हों। वह तो 'आदिकाव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। तब 'महाकाव्य' की अर्वाचीन परिभाषा में वह कैसे आए!

वाल्मीकि रामचरित के आदि गायक हैं। उन्होंने करुण रसात्मक 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा था, जिसका पता वाल्मीकीय रामायण के आरंभिक चार सर्गों से चलता है। प्रारंभिक सर्ग उस अज्ञातनाम महाकवि ने भूमिका के रूप में लिखे हैं, और फिर पाँचवें सर्ग से महाकाव्य की कथा आरंभ होती है।

'वाल्मीकीय रामायण' नाम इसलिए प्रचलित हो गया; क्योंकि महाकवि ने आरंभ के चार सर्गों में बताया कि रामायण (रामचरित) के प्रथम गायक वाल्मीकि हैं, और फिर अन्त में कृतज्ञापूर्वक कहा—

'आदिकाव्यमिदं चार्षम्,
पुरा वाल्मीकिनो 'कृतम्'

'पुरा' अति प्राचीन काल में मुनि वाल्मीकि ने इस आर्षकाव्य की—'रामायण' की रचना की थी। नाटक दृश्य काव्य है, और वाल्मीकि का 'पौलस्त्यवध' नाटक था, जिसे 'रामायण' नाम से प्रसिद्धि मिली। रामायण का रामचरित का—निबन्धन 'पौलस्त्यवध' में होने के कारण उसे 'रामायण' लोग कहने लगे। पहले 'राम-चरित' के अर्थ में 'रामायण' का प्रयोग होता था। वाल्मीकी रामायण के प्रौढ़ टीकाकार श्रीमान् राम महोदय ने लिखा है—रामस्य अयनम्, चरितम्—'रामायणम्'। यानी 'रामायण' तब तक काव्यविशेष की संज्ञा न थी। आगे चलकर 'रामायण' शब्द का प्रयोग उन काव्य-विशेषों के लिए होने लगा, जिनमें राम-चरित (रामायण) का निबन्धन हुआ हो—अध्यात्मरामायण' आदि। यहाँ तक कि तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' की भी 'तुलसीकृत रामायण' नाम से ही अधिक प्रसिद्धि है।

सो, वाल्मीकि के 'पौलस्त्यवध' नाटक को 'रामायण' नाम मिला और फिर रामायण (रामचरित) को लेकर जब किसी महाकवि ने एक महाकाव्य की रचना की तो उसे भी 'रामायण' नाम मिला और वह वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस महाकाव्य को भी पौलस्त्यवध (रावण-वध) तक ही रखा गया था। 'युद्धकाण्ड' (लंका-काण्ड) के अन्त में ही राम का, अयोध्या-आगमन और राज्य-भार ग्रहण करने का वर्णन है और यहीं 'फल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुति' आदि है, जो ग्रन्थ की समाप्ति पर ही लिखी जाती है। 'उत्तरकाण्ड' उत्तर कालीन प्रक्षेप है। यह सब आगे बताया जायगा।

रामचरित के तीसरे प्रमुख गायक हैं जो स्वामी 'तुलसीदास' जिनका 'रामचरित - मानस' तुलसीकृत 'रामायण' नाम से देश भर में तथा विदेशों में भी गुंजित हो रहा है। जितना व्यापक प्रचार इस महान् काव्य का हुआ, उतना अन्य किसी भी ग्रन्थ का नहीं। इस लोकोत्तर लोक काव्य ने भारतीय जनता को काव्यानन्द के साथ-साथ आत्मबल तथा सदाचार की भी शिक्षा दी है। अपढ़-निरक्षर से लेकर बड़े से बड़े विद्वान् भी तुलसी के शब्दों का आनन्द लेते रहेंगे। यह काव्य पाञ्चाली और अवधी में है। ये दोनों भाषाएं 'हिन्दी संघ' की प्रमुख भाषाएं हैं। परन्तु कहा यही जाता है कि 'रामचरित-मानस' अवधी भाषा का काव्य है।

ये तीन रामचरित के प्रमुख गायक हैं। इनका तथा इनकी काव्य-कृतियों का विशद विवेचन इस छोटे से लेख में क्या होगा! संक्षेप में आगे परिचय दिया जाएगा।

वाल्मीकि और उनका "पौलस्त्यवध काव्य"

'वाल्मीकीय रामायण' के प्रमुख टीकाकार श्रीमान् राम महोदय ने लिखा है कि वाल्मीक नाम के कोई ऋषि थे। उनके पुत्र 'वाल्मीकि'। यों 'वाल्मीकि' नाम नहीं, नाम का विशेषण ठहरता है, जैसे—'दाशरथि'। परन्तु यह विशेषण ही नाम के रूप में चल पड़ा, और नाम लोग भूल ही गए! बादशाह अकबर का नाम कितने लोग जानते हैं? 'अकबर' तो उनके महत्त्व के लिए लगाया गया शब्द है। नाम था-'जलालुद्दीन,' जो प्रायः लुप्त ही हो गया। हिन्दी के महाकवि भूषण का नाम भी लुप्त है। 'कवि-भूषण' की पदवी उन्हें दी गई थी। फिर 'कवि-भूषण' लोग कहने लगे। जैसे 'भूषण' नाम, और 'कवि' उसका विशेषण, आगे 'भूषण' ही नाम प्रसिद्ध हो गया। बस, कुछ यही स्थिति 'वाल्मीकि' मुनि की है।

सरस्वती उपासक मुनियों में केवल वाल्मीकि का ही नाम अमर है, शेष सब लुप्त हो गए। भरतमुनि तो बहुत बाद के हैं। इसी तरह असुर-कवियों में 'उशना' का नाम लिया जाता है—'कवीनामुशनाः कविः'। 'उशनाः शुक्रः'। शुक्र (असुरों के गुरु, नेता तथा महाकवि) का नाम 'उशना' था। वे वीर-भाव (वीर्य वीरता) के पुंज थे अपनी मृतसंजीवनी काव्य-शक्ति के कारण। इसलिए उन्हें 'शुक्र कवि' कहा गया। कालान्तर में 'शुक्र कवि' ही प्रसिद्ध हो गए और उनका नाम (उशना) भी कृष्ण-जैसे वीरता-प्रेरकों की ही जानकारी तक रह गया। नाम भी वाल्मीकि की कृति का शेष है; पर शुक्रकवि की कृति का नाम भी लुप्त हो गया।

एक दूसरे वाल्मीकि भक्त हुए हैं द्वापर में, जिन्हें युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में भगवान् श्री कृष्ण ने उजागर किया, और सर्वोपरि महत्त्व दिया। ये भक्त वाल्मीकि सफाई का काम करने वाले हरिजन (भंगी) परिवार में पैदा हुए थे। इनका वर्णन नाभा जी ने 'भक्त माल' में किया है। यह नाम के एक होने के कारण कुछ लोग द्वापर के भक्त वाल्मीकि को ही रामगायक मुनि वाल्मीकि समझ बैठे हैं।

वाल्मीकि मुनि में साहित्यिक प्रवृत्ति थी। वे कोई ऐसा काव्य लिखना चाहते थे, जो आदर्श वीरता का प्रेरक हो। इस के लिए उन्हें मुनिवर नारद से प्रेरणा मिली कि राम ही एक आदर्श पुरुष हैं। उन्हें ही काव्य का नायक बनाओ। इस के बाद ब्रह्मा जी वाल्मीकि को मिले। ब्रह्मा जी नाट्य-शास्त्र के आद्याचार्य हैं। उन्हों ने ही कदाचित् 'दृश्य काव्य' लिखने की सलाह दी हो क्योंकि 'श्राव्य काव्य' की अपेक्षा 'दृश्य काव्य' में अधिक प्रेरकता होती है! अपढ़-कुपढ़ भी दृश्य काव्य (नाटक आदि) में बराबर आनन्द लेते हैं और (लिपि- माध्यम के बिना ही) सीधे कवि की वाणी सुनते हैं, अभिनेताओं के द्वारा, जो राम, सीता, हनुमान आदि की भूमिका में आकर अभिनय करते हैं। सो वाल्मीकि को यह बात अच्छी लगी। उन्होंने 'पौलस्त्यवध' नाम लिखा। रामायण-महाकाव्य के रचयिता ने भूमिकाल्प (बाल काण्ड के आरम्भ में) चौथे सर्ग में लिखा है—

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।
पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामायणम्—रामचरितम् 'पौलस्त्यवधमित्येवम्' पौलस्त्यवधनामकम् ।

कृत्स्नम्-सम्पूर्णम् । वस्तुतः 'पौलस्त्य-वध' में सम्पूर्ण रामचरित आ जाता है । वन-गमन के प्रकरण में अयोध्या आ गई, और फिर विजय कर के अयोध्या लौटने पर राज-काज सँभालना । 'सीतायाश्चरितं महत्' तो 'पौलस्त्यवध' का बीज ही है ।

सो, पौलस्त्य-वध' काव्य महर्षि 'वाल्मीकि ने लिखा, यह स्पष्ट हुआ । पता नहीं, 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने 'पौलस्त्यवध' काव्य देखा भी था; या विद्वत्परम्परा से प्राप्त कथा भर सुनी थी । परन्तु यह पक्की बात है कि वाल्मीकि ने 'पौलस्त्यवध' काव्य लिखा था ।

अब यह देखना है कि यह काव्य किस वर्ग का था । हम ने लिखा है कि यह 'दृश्य काव्य' या नाटक था । इस में आप प्रमाण मांगेंगे । प्रमाण में हम 'वाल्मीकीय रामायण' के भूमिका-सर्गों को ही सामने रखेंगे । वहाँ लिखा है कि वाल्मीकि 'पौलस्त्यवध' लिख कर इस चिन्ता में थे कि—

'को न्वेतत्प्रयुञ्जीयात् !'

अब इस का 'प्रयोग' कौन करे ! 'प्रयोग' 'दृश्य काव्य' का ही होता है । श्राव्यकाव्य तो पढ़ा जाता है । कौन इसे 'पढ़ेगा,' यह चिन्ता तो थी ही नहीं, क्योंकि मुनि-समाज में तथा उस समय के साधारण जन-समाज में सब निरक्षर तो होंगे ही नहीं ! हाँ, नाटक आदि का 'प्रयोग' करने वाले कलाकार (नट, कुशीलव) दुर्लभ होंगे । आज भी अच्छे नाट्य कलाकार बहुत कम हैं । कोई भी नाटककार यह सोचता है, कामना करता है कि मेरे नाटक का कहीं गुणग्राही समाज में कुशल नाट्य-कलाकारों के द्वारा 'प्रयोग' हो—मेरा नाटक रंगमंच पर 'खेला जाए' । अँगूठी की शोभा बढ़िया नग से होती है और नग की अँगूठी से । काव्य-रचना—नाटक का निर्माण—एक कला है और उस का 'प्रयोग' रंगमंच पर करना दूसरी कला । एक चीज कवि की है, दूसरी कुशीलवों की—नाट्यकला-विशारदों की । कभी-कभी कवि भी कुशीलव का काम करता है । महाकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने नाटकों के 'प्रयोग' में पात्र विशेष की भूमिका ग्रहण करके मंच पर अभिनय किया करते थे । परन्तु ये अपने ही नाटकों के प्रयोग में पात्र-विशेष की भूमिका ग्रहण करते थे; इस लिए कुशीलव नहीं, कवि ही कहे जाएँगे । कुशीलवों की कला का बहुत सम्मान था और राज-परिवार के जन भी इस क्षेत्र में आते थे ।

सो, जब वाल्मीकि 'पौलस्त्य-वध' के प्रयोग की चिन्ता में थे, तभी

तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
अगृह्णीतां ततः पादौ मुनिवेशौ कुशीलवौ ।।

—जब मुनि उस तरह नाटक के प्रयोग की चिन्ता में थे, तभी दो कुशीलव सीधे सादे वेश में वहाँ पहुँचे और मुनि की चरण-वन्दना की । उस समय मुनि का मन नाटक-प्रयोग के बारे में भावना विभोर हो रहा था ।

जैसे कवि कुशीलवों की खोज करता है, उसी तरह कुशीलव भी उत्तम नवीन नाटक की खोज में रहते हैं । पता लगा होगा कि वाल्मीकि ने 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा है; सो पहुँच गए । एक 'सूत्रधार' और दूसरा उस का प्रमुख सहचर-सहयोगी 'पारिपार्श्विक' थे ।

इन दोनों कुशीलवों के बारे में कहा है—

कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ ।

'आश्रमवासिनौ'—जब कुछ दिन आश्रम में दोनों कुशीलव रहे, तब ज्ञात हुआ कि वे दोनों मुनि वेश में हैं; पर राजपुत्र हैं; सगे भाई हैं; उन का स्वर सराहनीय है और (अपनी कला में) बहुत यश प्राप्त कर चुके हैं । यह भी लिखा है कि संगीत-विद्या में दोनों बहुत निपुण थे । वाल्मीकि ऐसे न थे कि किसी ऐरे-गैरे को नाटक सौंप देते । खूब ठोक-बजा कर देख लिया, तब —'अग्रायत प्रभुः'—अपना नाटक उन्हें सौंप दिया ।

इस के अनन्तर उन कुशीलवों ने नाटक का अध्ययन किया; अपनी मंडली बुलाई; प्रयोग की तैयारी की; जिस पात्र का अभिनय जिस को सौंपा गया, उस ने उस में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दक्षता प्राप्त की और फिर मुनि-समाज में ही 'पौलस्त्य-वध' नाटक का प्रथम प्रयोग हुआ। नाटक देख कर मुनि जन मुग्ध हो गए और आवाज उठी—

'चिरनिर्वृत्तमप्येतत्,
प्रत्यक्षमिव दर्शितम्'

जो घटना बहुत पहले घटी थी, उसे आँखों के सामने ला दिया! ऐसा जान पड़ा कि वह सब हमारे सामने ही हुआ!

मुनियों ने फिर कुशीलवों को उपहार में तरह-तरह की वस्तुएँ भेंट की, जो उन के पास थीं। वे 'राजकुमार' थे कुशीलव; तो भी मुनिजनों के दिए हुए ये (वल्कल आदि) उपहार सम्मान-पूर्वक ग्रहण किए।

इस के बाद वे कुशीलव नाटक लेकर चले गए।

'कुशीलव' और 'कुशलव'

वाल्मीकीय रामायण के टीकाकारों ने 'कुशीलवौ' को 'कुशलवौ' समझ लिया है! लिखा है कि 'कुशलवौ' का आर्ष-प्रयोग है—'कुशीलवौ।' कितना भ्रम! आर्ष-प्रयोग जो ऐसे हुए हैं, उन में स्वर दीर्घ भर हुआ है, स्वर-परिवर्तन नहीं। 'अ' को 'आ' रूप मिल गया है—'सूर्यचन्द्रमसौ' का 'सूर्याचन्द्रमसौ' और 'इन्द्रवरुणौ' का 'इन्द्रावरुणौ' प्रयोग आर्ष है। 'अ' को कहीं भी 'ई' रूप नहीं मिला है।

फिर, यदि कुश-लव नाट्यकलाकार थे और उन के आश्रम में ही थे, तो फिर मुनि चिन्ता में क्यों पड़े कि 'कोन्वेतत्प्रयुञ्जीत'—इस नाटक का प्रयोग कौन करेगा! क्या अपने आश्रम के कलाकारों को कोई नहीं जान पाता? और फिर उन कुशीलवों को 'राजपुत्रौ' कहा गया है; एक जगह नहीं, बीसों जगह। यदि कुश-लव होते, तो 'राजपुत्रौ' की जगह 'रामपुत्रौ' विशेषण होता।

वस्तुतः 'प्रयुञ्जीत' तथा 'कुशीलवौ' का अर्थ ही लोग नहीं समझे?

२. अज्ञात महाकवि का महाकाव्य 'वाल्मीकीय रामायण'

'पौलस्त्य-वध' का 'रस'

'पौलस्त्य-वध' इस नाम से आभास मिलता है कि वह नाटक वीररस-प्रधान रहा होगा। परन्तु लोक-विश्रुति यह है कि वाल्मीकि की वह रचना करुण रस से ओत-प्रोत थी। इस पर विचार करना चाहिए।

कुशल कुशीलव ऐसा ही दृश्यकाव्य पसन्द करते हैं जिसका प्रयोग पांच-छः घंटे में सम्पन्न हो जाए, और चतुर नाटककार कुशीलवों की इस रुचि का ध्यान रखते हैं। ऐसी स्थिति में सरलता से समझा जा सकता है कि 'पौलस्त्य वध' के लिए वाल्मीकि ने राम-चरित का कितना अंश लिया होगा। पाँच छह घंटे में सुकर-प्रयोग नाटक को पाँच-छह अंकों में विभक्त किया जा सकता है। निश्चय ही राम-निर्वासन से ही नाटक का श्रीगणेश हुआ होगा। 'आदौ रामतपोवनाधि गमनम्'। प्रथम अंक में अयोध्या से राम का निर्वासन और उस समय राज-परिवार की दशा का चित्रण मर्मस्पर्शी रहा होगा। दूसरे अंक में राम की वन में स्थिति, सीता का वह वन्य जीवन चित्रित हुआ होगा, जिसे देखकर दर्शकों के हृदय द्रवीभूत हो जाते होंगे। तीसरे अंक में सीता-अपहरण का कारुणिक दृश्य दर्शकों को रुला देता होगा। चौथे अंक में सीता के वियोग में राम की क्या दशा हुई इस का चित्रण कवि ने किया होगा। पाँचवें अंक में लंका-स्थित सीता का विरह-सन्ताप चित्रित हुआ होगा। छठे अंक में किसी प्रमुख पात्र के मुख से सीता को सूचना मिली होगी कि भयंकर युद्ध में पौलस्त्य मारा गया और राम की विजय हो गई है। इस समाचार से सीता का पुनरुज्जीवन—'सूखत धान परा जनु पानी' की तरह दर्शकों को आह्लादित करता होगा। फिर राम और सीता का पुनर्मिलन। यों सुखान्त नाटक रहा होगा।

इस अन्तिम अंश (छठे अंक) को छोड़, शेष नाटक में करुणात्मक दृश्य और एक से एक बढ़ कर दिल दहलाने वाले। तो, प्रधानता करुण रस की ही है।

युद्ध रंगमंच पर दिखाया नहीं जा सकता; इसकी उसकी सूचना किसी ढंग से दे दी जाती है। तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीर रस में परिणति होने पर भी उसका परिपाक तो नहीं हुआ न ! दर्शकों के मन तो करुण रस से भरे हुए । उन में पौलस्त्य-वध की सूचना से सुख-संचार होने पर भी वह करुण दृश्यावली ही जमी रहना स्वाभाविक है और इसी लिए 'पौलस्त्य-वध' में करुण रस प्रधान रहा ।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है । अर्वाचीन काव्य-विवेचकों ने पारिभाषिक 'करुण' रस की जो परिभाषा दी है, वह अधूरी है । उसके अनुसार तो किसी की मृत्यु हो गई हो, तभी वह 'करुण रस' की परिधि में आता है ।

हाँ, 'पौलस्त्य-वध' के अंक-विभाजन की जो बात मैंने कही है, उस पर पाश्चात्य आलोचक और उनके भारतीय चेले कहेंगे कि "उस अति प्राचीन युग में 'लिखने' की कोई बात ही नहीं; क्यों कि तब तक लिपि का निर्माण आर्यों में हुआ ही न था और इसीलिए 'वेद' को 'श्रुति' कहा जाता था । सुनते-सुनाते वह चलता था ।"

ऐसे मूर्खों को कैसे बताया जाए कि "कालिदास ने 'रघुवंश' में और तुलसीदास ने 'रामचरित-मानस' में कहा है—।" क्या इन के युग में भी लिपि न थी ? आज कल 'श्रव्य काव्य' ही अधिक लिखे जाते हैं । इस का क्या मतलब ? क्या आज भी लिपि नहीं है ? फिर 'श्रव्य काव्य' 'लिखे जाते हैं'; यह क्या ? इन्हें कैसे समझाया जाए कि 'लिखना-पढ़ना' भी (लिपि के माध्यम से) कहना-बोलना ही है । संसार के सब से प्राचीन साहित्य 'ऋग्वेद' के भी 'मण्डल' तथा 'सूक्त' रूपों में परिच्छेद हैं । तब उसके बहुत दिन बाद वाल्मीकि ने अपने दृश्य काव्य का विभाजन अंकों में किया, तो शंका किस बात की ?

वाल्मीकि के समय दृश्य काव्यों का प्रयोग करने के लिए रंगमंच की भी उत्तम व्यवस्था रही होगी और अभिजात वर्ग के विद्वान् कलाकार अपने को 'कुशीलव' कहलाने में गर्व का अनुभव करते होंगे । तभी तो दो राजकुमार कुशीलव वाल्मीकि की सेवा में जा कर हाजिर हुए थे ।

एक बात और ! वह क्रौंच पक्षी की हत्या वाली बात कुछ जमती नहीं है और वाल्मीकि के प्रस्तुत करुण काव्य से मेल भी नहीं खाती । महाकवि निराला के सामने ही, उन की प्रकृति बताने के लिए, लोग कहानियाँ गढ़ लेते थे और मेरे सामने ही (मेरे दिल्ली-अभिनन्दन पर) अनेक विद्वान् मित्रों ने मेरी प्रकृति बतलाने के लिए कई कल्पित प्रसंग उपस्थित किए थे । अन्यत्र भी ऐसा होता है । सो, वाल्मीकि की मनोदशा को वैसे काव्य की रचना के अनुकूल बनाने के लिए वह क्रौंच पक्षी की हत्या वाली कहानी गढ़ी गई है; जो जमती नहीं है ।

'पौलस्त्य-वध' से पहले और बाद में

'पौलस्त्य-वध' से पहले और उसके बाद संस्कृत में कितना साहित्य अवतरित हुआ होगा, इसका अनुमान कोई लगा नहीं सकता । यह हो नहीं सकता कि अचानक 'पौलस्त्य-वध' कूद पड़ा हो, उसके पहले कोई साहित्य प्रकट न हुआ हो ! अन्यविध साहित्य के अतिरिक्त दृश्यकाव्य भी काफी बन चुके होंगे और उनके प्रयोग करने वाले कुशीलवों की कला का विकास भी हो चुका होगा । अन्यथा, एकदम वे कुशीलव कहाँ से टपक पड़ते, जो वाल्मीकि के आश्रम में नवीन नाटक की प्राप्ति के लिए पहुँचे थे ? हाँ, यह हो सकता है कि रामचरित को लेकर वह पहला ही नाटक हो, जिसकी चर्चा 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने की है । उसे तो अपनी परम्परा से मतलब । यह भी हो सकता है कि रामचरित को लेकर भी काव्य-रचना हुई हो, जो 'पौलस्त्य-वध' के उदय से अस्त हो गई हो ! पाणिनि से पहले जो व्याकरणकार हुए, उनके नाम तो 'अष्टाध्यायी' से मालूम हैं, उनके मत भी थोड़ा-बहुत मालूम हैं; पर उनके ग्रन्थों का कहीं पता नहीं । इसी तरह यास्क ने अपने 'निरुक्त' में जिन भाषाविज्ञानियों के नामों का और उनके मतों का उल्लेख किया है, सामने हैं । परन्तु उनके ग्रन्थों का पता नहीं ! पाणिनी की 'अष्टाध्यायी' के बाद पहले के सब व्याकरण ग्रन्थ अस्त हो गए और यास्क के 'निरुक्त' ने पहले के सभी निरुक्तीय (भाषावैज्ञानिक) ग्रन्थों को निरस्त-अस्त कर दिया । पाणिनि तथा यास्क के समय अन्य विषयों का भी साहित्य होगा; अन्यथा व्याकरण तथा निरुक्त का प्रदुर्भाव ही संभव न था । परन्तु अपने-अपने विषय के ही पूर्वाचार्यों के नाम और मत दोनों आचार्यों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्र-तत्र प्रकट कर दिए हैं। इसी तरह 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने वाल्मीकि तथा उनकी कृति 'पौलस्त्य-वध' की चर्चा कर दी है। वही सर्वोत्कृष्ट जँचा होगा।

संभव है, 'पौलस्त्य-वध' के बाद भी रामचरित पर साहित्य बना हो, पर नगण्य रहा हो और इसी लिए उस की चर्चा अनावश्यक समझी गई हो। पं० कामता प्रसाद 'गुरु' के हिन्दी-व्याकरण के बाद भी सैकड़ों हिन्दी-व्याकरण बने, पर 'हिन्दी शब्दानुशासन' में केवल 'गुरु' जी का ही उल्लेख है। इस निबन्ध में रामचरित के तीन 'गायक' निर्दिष्ट हैं, परन्तु उनकी संख्या तीन ही तो नहीं है न! तीन पर हमें विचार करना था।

'लिपि का उल्लेख'

लोग यह भी कहते हैं कि वैदिक साहित्य में कहीं 'लिपि' का उल्लेख नहीं है; जिस से स्पष्ट है कि उस समय 'लिखने' की व्यवस्था न थी!

इन लोगों को यह भी कहना चाहिए कि "चालीस वर्ष पहले तक हिन्दी में 'लिखने' की व्यवस्था न थी; क्योंकि अंग्रेजी के 'स्पेलिंग' और उर्दू के 'हिज्जे' की तरह हिन्दी साहित्य में कोई वैसा शब्द नहीं मिलता। हिन्दी में 'वर्तनी' शब्द चले अभी बहुत थोड़े दिन हुए हैं। यदि पहले हिन्दी में लिखने की व्यवस्था होती तो 'वर्तनी' शब्द जरूर मिलता।"

बस, और अधिक क्या कहा जाए। 'वाल्मीकीय रामायण' महाकाव्य जिस महाकवि ने लिखा, उसके नाम-धाम का कुछ पता नहीं। यह भी पता नहीं कि वे कब हुए और कब अपने इस महाकाव्य की रचना की। इतनी ही बात पक्की है कि यह 'वाल्मीकीय रामायण' अति प्राचीन रचना है।

शुक्र तथा मुनि वाल्मीकि का नाम कवि-रूप से सबको विदित है; पर उनके काव्य लुप्त हो गए और इस महाकवि की रचना सामने है; पर नाम लुप्त हो गया। महाकवि का नाम 'वाल्मीकि' में अन्तर्हित हो गया।

'वाल्मीकीय रामायण' ऊँचे दर्जे की काव्य-रचना है। इसमें प्रकृति का तथा मानव-प्रकृति का जैसा सजीव वर्णन हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। महाकवि पर अपने युग के समाज का भी प्रभाव पड़ा है। प्रसिद्धि थी—'लंका में सीता की अग्नि-परीक्षा हो गई और उसमें वे खरी उतरीं'। वैसी भयंकर स्थिति में अपना सतीत्व सुरक्षित रखना भयंकर अग्नि-परीक्षा में खरा उतरना है। लोग इसका मतलब यह समझने लगे थे कि परीक्षा के लिए बहुत बड़ी चिता बनाई गई और सीता जी उस धधकती हुई चिता में कूद पड़ीं और फिर अपने सतीत्व के प्रभाव से ज्यों की त्यों, दमकते हुए कुन्दन की तरह, प्रकट हुईं।' महाकवि भी ऐसा ही समझे और यह भी कल्पना की होगी कि वाल्मीकि ने भी अपने रामचरित (रामायण) काव्य 'पौलस्त्यवध' में सीता जी के ऐसे ही अग्नि-प्रवेश का वर्णन किया होगा! वह कैसा कारुणिक दृश्य रहा होगा! महाकवि को इस प्रसंग ने अत्यधिक प्रभावित किया और उनकी यह भावना बनी कि 'पौलस्त्य-वध' इसी घटना के कारण 'करुण रस' का कहा जाएगा; इसी की संगति के लिए कहाकवि ने अपने महाकाव्य के आरम्भिक (भूमिकात्मक) सर्गों में और सब लिखते हुए क्रौंच पक्षियों की कल्पना-प्रसूत कथा लिखी।

महाकवि ने अपने महाकाव्य (वाल्मीकीय रामायण) में सीता के अग्नि-प्रवेश का अत्यन्त करुणात्मक वर्णन किया है। उसे पढ़ने वाले के मन में (सीता के प्रति वैसी कटूक्तियाँ सबके सामने कहते हुए) राम के प्रति असद्-भावना पैदा न हो, यह सम्भव नहीं और वहीं पाठक का सिर माता सीता के चरणों पर झुक जाता है। लोकोत्तर शील, संयम और शालीनता के दर्शन हैं।

जो भी हो, महाकवि का यह वर्णन अद्वितीय है। राम का वैसा रूप वर्णन करके भी महाकवि उन्हें 'धर्मज्ञ' कहता है; यह लोक-लीक! निरपराध सीता का अग्नि-प्रवेश वर्णन भी लोक-लीक का ही पीटना है; अन्यथा, महाकवि की पूर्ण सहानुभूति माता सीता की ओर है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को निरपराध देश-भक्त समझते हुए भी न्यायाधीश ने उन्हें दण्ड दिया था। दण्ड देना पड़ा था। वह कानून से बंधा हुआ था। इसी तरह महाकवि लोक-लीक से चिपका हुआ था। उसे वैसा वर्णन करना पड़ा और खूब किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर काण्ड का प्रक्षेप

'वाल्मीकीय रामायण' युद्ध-काण्ड (लंका-काण्ड) पर ही समाप्त है। सातवाँ काण्ड बहुत बाद का प्रक्षेप है; यह उसके नाम से ही स्पष्ट है—'उत्तर काण्ड'—बाद का जोड़ा हुआ काण्ड। महाकाव्य के असली छहों काण्डों के नाम स्थान या घटनाओं को लेकर हैं—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, और युद्धकाण्ड। 'वाल्मीकीय रामायण' का अंग यह सातवाँ काण्ड होता, तो नाम होता—राज्यपालन काण्ड, या सीतानिर्वासन काण्ड।

दुनिया कितनी विचित्र है! कैसे-कैसे क्रूर राक्षस यहाँ पैदा होते हैं। सीता की उस 'अग्नि-परीक्षा' से भी सन्तोष न हुआ और तब 'उत्तर काण्ड' रच डाला। इसी काण्ड में तपस्वी शम्बूक की हत्या राम के द्वारा कराई गई है। और भी बहुत-सी ऐसी ही कहानियाँ हैं; परन्तु सबसे क्रूर कल्पना सीता-निर्वासन की है। निरपराध, अबला, गर्भवती और फिर उसकी वह दुर्गति! बियाबान जंगल में हिंस्र जानवरों को चीर-फाड़ कर खा जाने के लिए उसे छोड़ आना! फिर, कहा क्या गया है—अपने वंश की मर्यादा, अपनी कीर्ति तथा धर्म की रक्षा के लिए वैसा करना पड़ा! यदि यही बात होती, तो धर्मज्ञ राम स्वयं प्रायश्चित करते और वैसा कोई दण्ड स्वयं भुगतते; क्योंकि दोषी वे ही ठहरते हैं। वे सीता जी को पुष्पक-विमान में लंका से अयोध्या लाए और राजभवन में सम्मान के साथ रखा। तब प्रजा ने किसको दोषी समझा होगा? पत्नी का परित्याग आगे दुष्यन्त ने जो किया, वह सच्ची घटना है; कल्पित नहीं। दुष्यन्त ने शोहदेपन से मुनि-आश्रम की एक बालिका को अपने जाल में फँसा लिया और फिर अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए उसे अपमानित करके भगा दिया कि यह मुझे कलंकित करके रानी बनने के लिए राँड़ कहाँ से आ पहुँची! शोहदे ऐसा करते ही हैं और जो लड़कियाँ गुरुजनों के परामर्श-अनुमति के बिना वैसा 'प्रेम-विवाह' कर लेती हैं, उनमें से अधिकांश प्रायः पछताती ही देखी जाती हैं। परन्तु दुष्यन्त ने शकुन्तला को पकड़वा कर बियाबान जंगल में नहीं छुड़वाया।

'सीता-निर्वासन' की क्रूर कल्पना हृदय दहलाने वाली है और इसके जोड़ की केवल एक ही और क्रूर कल्पना मिलती है, जो राजा मयूरध्वज की कथा है। कुछ ठिकाना है। एक साधु को प्रसन्न करने के लिए, उसके जानवर के लिए, माता और पिता अपने हाथों आरे से अपने पुत्र को चीर दें। सुनते ही रोम खड़े हो जाते हैं। सीता-निर्वासन के जोड़ की केवल यही एक क्रूरतम कल्पना और है। अन्य सब कुत्सित कल्पनाएँ इनके बाद हैं।

खैर, अधिक कहने को मन नहीं करता—'कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः'। चाहिए था कि किसी मधुर प्रसंग से इस प्रकरण की समाप्ति की जाती। परन्तु सामने यह वीभत्स नारकीय प्रसंग आ गया! आँखें बन्द करके सब भुला दो।

३. गोस्वामी तुलसीदास और 'रामचरित मानस'

ऊपर रामचरित के दो प्रमुख गायकों की चर्चा हुई, जिनके काव्य संस्कृत में बने। तीसरे महाकवि हमारे गोस्वामी तुलसीदास जी हैं, जिनकी 'भाषाभनिति' है—'रामचरित मानस'। यह महाकाव्य 'तुलसीकृत रामायण' नाम से अधिक प्रसिद्ध है। परन्तु इधर हिन्दी के जागरूक विद्वानों के सम्पादकत्व में जो संस्करण प्रकाशित हुए हैं, वे 'रामचरित मानस' नाम से ही अलंकृत हैं; तो भी कथापरिच्छेदों के नाम 'काण्ड' ही रखे गए हैं। गोस्वामी जी ने अपने 'मानस' के सात 'सोपान' रखे थे—'सप्त सोपान'। सातवें 'सोपान' का नाम लोगों ने 'उत्तर काण्ड' रख लिया; परन्तु इसमें वाल्मीकीय रामायण के 'उत्तर-काण्ड' की क्रूरता नहीं है। न यहाँ 'सीता निर्वासन' की चर्चा है; न किसी तपस्वी की हत्या ही राम जी से कराई गई है। इस 'सोपान' या 'उत्तरकाण्ड' को कृति का उत्तमाङ्ग कहना चाहिए; 'उत्तरकाण्ड' यह 'उत्तमकाण्ड' है। सीता और लक्ष्मण के साथ राम का अयोध्या-आगमन, राज्याभिषेक, अपने (लंका-युद्ध के) सहयोगी सुग्रीव, अंगद, हनूमान आदि का कृतज्ञता-पूर्वक सम्मान, प्रजा की सुख-समृद्धि का वर्द्धन, धर्म-स्थापन आदि का वर्णन है और फिर विविध कथा-प्रसंगों में भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि का विशद वर्णन है तथा सर्वोपरि राम-भक्ति का प्रतिष्ठापन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यानी इस सातवें 'सोपान' को गोस्वामी जी ने लोक तथा परलोक, दोनों का आदर्श 'आदर्श' (दर्पण) बना दिया है—अपना हृदय प्रकट कर दिया है।

'आठवां काण्ड'

वाल्मीकीय रामायण छह काण्डों में है और उसमें सातवाँ 'उत्तरकाण्ड' प्रक्षिप्त है। गोस्वामी तुलसीदास का 'मानस' सात सोपानों में पूर्ण है। परन्तु लोगों ने एक आठवाँ 'काण्ड' गढ़ कर 'लव-कुश काण्ड' नाम से इसमें जोड़ दिया था, जिसमें वे सब क्रूर-कथाएँ तथा ऊल-जलूल निरर्थक कथाएँ भर दी गईं, जिनसे गोस्वामी तुलसीदास बहुत उद्विग्न थे। बीच-बीच में, अन्य सभी काण्डों में 'क्षेपक' भर दिए गए। ऐसे 'क्षेपकों' सहित, तुलसीकृत रामायण, आठों काण्ड' छाप-छाप कर लोगों ने खूब धन कमाया। यह धमाचौकड़ी देख कर हिन्दी के विद्वान् सजग हुए और सभी 'क्षेपक' हटा कर तथा अठवाँ 'लव-कुश काण्ड' काट कर पुनः 'मानस' को अपने निज रूप में कर दिया। अब उन क्षेपकों का तथा आठवें 'लवकुश काण्ड' का कहीं पता-ठिकाना नहीं है।

तुलसी ने एक कुंजी दे दी है

गोस्वामी तुलसीदास ने राम-चरित समझने के लिए विद्वानों के दिमागों पर लगे संशय-संदेहों के कपाट खोल दिए हैं। जड़ता का ताला खोलने की उनकी कुन्जी यह है—

'कलप-भेद हरि-चरित सुहाए,
भाँति अनेक मुनीसन गाए'

गोस्वामी जी ने लिखा है कि राम जी के चरित्र में जो यह भिन्नता है, वह 'कल्प-भेद' से है। प्रत्येक 'कल्प' में राम जी का नवीन अवतार होता है और यों कथा-भेद होता है। राम एक ही हैं।

निश्चय ही 'कल्प-भेद' का मतलब 'कल्पना-भेद' है, कवि सब तरह के होते हैं। वे अपने मन से कल्पना करते हैं। जो जैसा हुआ, उसने वैसी ही कल्पना कर ली। यह कल्पना ही काव्य को 'सुकाव्य' या 'कुकाव्य' बना देती है। समाज की स्थिति तथा मान्यता में भी परिवर्तन होते रहते हैं। कविजन अपने समय की सामाजिक स्थिति से प्रभावित होते हैं और उसी के अनुसार काव्य-कल्पना कर लेते हैं। सो, राम-चरित में जो तरह-तरह के वर्णन-प्रसंग देश-विदेश में मिलते हैं, वे सब कवि-कल्पनाओं की सृष्टि हैं। उन कल्पनाओं को विवेक-दृष्टि से देखना चाहिए कि मर्यादा-पुरुषोत्तम राम से इसका कोई साम-ञ्जस्य-मेल है भी कि नहीं! राम से भी क्या कोई ऐसा क्रूर तथा अन्यायपूर्ण कृत्य संभव है? इस तरह विवेक के सूप से फटकने पर असार तत्त्व उड़ कर दूर जा पड़ेंगे और सार तत्त्व पास रह जाएगा।

'हरि-चरित सुहाय' जो चरित जिसे सुहाया-मन-भाया, उसी को राम के माथे थोप दिया।

'मुनीसन गाए' में 'मुनीसन' शब्द बड़े काम का है। कुत्सित कल्पना करने वाले भी 'मुनास'। खबीस भी 'मुनीस'! 'कथिता पुण्यजना निशाचराः'। राक्षसों का एक नाम 'पुण्यजन' भी है। यही बात कुकवि जनों को 'मुनीस' कहने में है। और, सुकवि रामगायक तो 'मुनीस' हैं ही; मुनीश वाल्मीकि की परम्परा में हैं; इसीलिए सब 'मुनीस'। साधारण सिख को भी आदर से 'सरदार' कहा जाता है। सो राम-चरित के सभी गायक 'मुनीस' हैं, तुलसी की दृष्टि में।

मैं समझता हूँ, 'कल्प-भेद से रामचरित में भिन्नता' बतलाकर तुलसीदास ने हमें एक ऐसी कुन्जी दे दी है, जिससे हम न केवल रामचरित-काव्यों को ही वरन सभी काव्यपुराण-कल्पना कथाओं को साफ-साफ देख सकते हैं। किसी क्रूर के लिए क्रूर चरित की कल्पना ठीक हो सकती है, परन्तु दयालु धर्मात्मा के लिए नहीं। कभी-कभी अपने काव्य-नायक की प्रतिष्ठा बचाने के लिए भी कविजन कल्पना कर लेते हैं, परन्तु किसी दुश्चरित्र के समाज विरोधी आचरण को कल्पना-बल से छिपाना सामाजिक अपराध है जो महाकवि कालीदास से भी हो गया है। दुष्यन्त के शकुन्तला के प्रति किए दुर्व्यवहार पर मुनि-शाप की कल्पना ऐसी ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मानव मूल्य

और

आधुनिक हिन्दी काव्य'

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

इतिहासविदों ने भारत और यूरोपीय संस्कृति के सम्पर्क काल को आधुनिक युग के नाम से अभिहित किया है और भारत में यूरोपीय संस्कृति का वचन-काल उन्नीसवीं शताब्दी है। इस शताब्दी में भारतीय जीवन मध्ययुगीन पौराणिक वातावरण में डूबा हुआ था और यह जीवन मन्द गति-पूर्ण और विस्तार भार से लदा हुआ था। इस प्रकृति के दर्शन उस समय की सवीह तथा चित्रकला के अन्य रूपों, शिल्प की पच्चीकारी तथा सजावट और हिन्दी की रीति कालीन कविता में होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में जब यूरोपीय उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद अपनी पूरी शक्ति के साथ देश में आया तो यदि एक ओर राजनीतिक और आर्थिक दृष्टियों से देश अधोगति को प्राप्त हुआ, तो दूसरी ओर वैज्ञानिक आविष्कारों और नवीन शिक्षा के प्रचार से देश के बौद्धिक और भावनात्मक जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित हुआ, देश के बुद्धिजीवियों का पाश्चात्य विचार-परम्परा और साहित्य के साथ सम्पर्क स्थापित होने के फलस्वरूप और साथ ही देश के अतीत गौरव के स्मरण से नवोत्थान की लहर फैलने में विलम्ब न हुआ। देश वासियों में नवीन साहित्यिक,कलात्मक और शासन संबंधी आकांक्षाएँ उत्पन्न हुई। यह बात विशेषरूप से ध्यान देने की है कि जहाँ देश में एक और पाश्चात्य प्रभाव अत्यन्त तीव्रता के साथ बढ़ रहा था, वहाँ दूसरी ओर अपनी प्राचीन साँस्कृतिक परम्पराओं से देश का ध्यान अपने प्राचीन गौरव की ओर गया। भारत के बुद्धिजीवियों को यह देश 'विश्व-गुरु' के रूप में दृष्टिगोचर होने लगा, एक ऐसे देश के रूप में दृष्टि गोचर होने लगा जिसका अपना एक ऐसा सन्देश था जिससे मानव का कल्याण हो सकता था; जहाँ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' जैसे स्वरों का उद्घोष हो चुका था। यहीं से देश में 'पूर्व' और पश्चिम' का संघर्ष प्रारम्भ होता है। यह एक विचित्र ऐतिहासिक घटना है कि आधुनिकता के जन्म के समय से ही आधुनिक भारत का निर्माण स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे महापुरुषों द्वारा हुआ जो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित होते हुए भी भारतीय आध्यात्मिक गरिमा और सन्देश को भूले नहीं थे। यह भारतीय नवोत्थान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रथम चरण था जिसके फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी देश के बौद्धिक एवं साँस्कृतिक जीवन में एक नितान्त नूतन मोड़ प्रस्तुत करती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय जीवन में अभिव्यक्त यह प्रक्रिया उस महान् ऐतिहासिक क्रम का एक अंग थी जो समस्त एशिया के जीवन को स्पन्दित कर रहा था। वास्तव में कोपर्निकस, मिल, मोर्ले तथा अन्य यूरोपीय चिन्तकों और विचारकों ने भारतीय मध्ययुगीन जीवन की जड़ हिलादी। यही उन्नसवीं शताब्दी का वास्तविक महत्त्व है, अन्यथा राजनीतिक उत्थान-पतन तो पहले भी हो चुके थे। इस नवीन ज्ञान के प्रकाश में जीवन का फिर से संस्कार किया जाने लगा।

अतः वैचारिक स्तर पर उन्नीसवीं शताब्दी एक नई संक्राँति का काल था। पश्चिमी समस्यता एवं संस्कृति के साथ टकराव फलस्वरूप लोगों का दृष्टिकोण बदला, प्रजातंत्र की नींव पड़ी और अनेस प्रकार की विषमताओं और वर्जनाओं का जीवन व्यतीत करते हुए भी एक नए युग का सूत्रपात हुआ और जड़ जीवन-पद्धतियों एवं निष्क्रियता के बीच नवीन उत्साह, सक्रियता एवं आत्म-विश्वास की भावना का उदय हुआ जिसकी अन्तिम परिणति बीसवीं शताब्दी में स्वतंत्रता-प्राप्ति में दृष्टिगोचर होती है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लगभग १५०-१७५ वर्ष की दासता के अभिशाप को भुगतते हुए और उसके मध्य भारत में अनेक अधुनातन विचारधाराओं का जन्म एवं विकास हुआ। इसलिए जब आधुनिक काव्य के सन्दर्भ में मानव-मूल्यों की बातें उठाई जाती हैं तो उसका सीधा अर्थ समाजिक परिवेश एवं सामयिक जीवन की गति के भीतर उभरते हुए एवं स्वरूप ग्रहण करते हुए प्रगतिशील तत्त्वों से है। इसलिए आधुनिक काव्य और मानव-मूल्यों का अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित हो जाता है।

एक समय वह था जब हिन्दी कविता परिपाटी विहित और रूढ़िग्रस्त राधा-कृष्ण की लीलाओं और नायक-नायिकाओं के कल्पित ऐश्वर्य और विलास में डूबी हुई थी। इन भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवियों के पास उपयुक्त साधन थे। परन्तु पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क में आने से हमारे कवियों का ध्यान प्राचीन काव्य-परम्परा के निर्वाह के अतिरिक्त नवीन भावों और विचारों और अपने चारों ओर की दुनिया की ओर भी जाने लगा। कविता दरबारों से निकल कर सड़क पर आगई। एक ओर तो रूढ़ियों और परम्पराओं ने, और दूसरी ओर अंगरेजी-शासन के कर्मचारियों ने साधारण जन को ऐसा दबोच रखा था कि उसे उभरने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो रहा था। हिन्दी के कवियों ने पहली बार देश की सामूहिक भलाई की ओर ध्यान दिया और मनुष्य को मनुष्य समझा। उन्होंने लोकहित की ओर ध्यान दिया। शताब्दियों से पीड़ित मानव का उद्धार करना चाहा। अंगरेजी राज्य के अन्तर्गत नवजात और नवशिक्षित मध्यम वर्ग ने इस दृष्टि से अग्रगण्य भाग लिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, बालमुकुन्द गुप्त, बद्रीनारायण चौधरी, 'प्रेमधन, श्रीधर पाठक आदि कवियों ने अपने समय के मनुष्य को उसके सामाजिक एवं राजनीतिक सन्दर्भों में, पूरी समग्रता के साथ मूल्याँकित करने का प्रयास किया और मानव को अपने चिन्तन का आधार बनाया। यदि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की सारी आधुनिक कविताओं को एक स्थान पर संकलित किया जाय तो उस समय के भारतीय मानव के समूचे जीवन का एक अच्छा चित्रफलक उपस्थित हो सकता है। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी कवियों की दृष्टि देश की दीनहीन दशा की ओर गई और ब्रिटिश शासनान्तर्गत घूमते हुए नर-कंकालों के प्रति सहानुभूति उमड़ी। जब वे भूख से पीड़ित, अर्द्ध-नग्न और आशिक्षित भारतवासी को देखते थे, जब वे उसे तरह-तरह की रूढ़ियों में ग्रस्त देखते थे, तो उनकी आत्मा कलप उठती थी। वे उसके सारे अभाव दूर कर उसे परिष्कृत और समृद्ध मानव के रूप में देखना चाहते थे। 'प्रेमधन' ने कहीं भी था:—

'नहिं विद्या नहिं बाहुबल, नहिं खरचन को दाम'

भारतेन्दु का भावावेग भी ऐसे देशवासियों के प्रति उभरा जिनके घरों में भूंजी भाँग भी नहीं थी, मंहगी के कारण जो उदर-पोषण भी न कर पाते थे, जो फाके मस्ती करते थे, जिनके पास बुद्धि नहीं थी और जिनके संबंध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा:—

'दीन दसा अँसुअन पिचकारिन सब लिलार भिजयोरी।' उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हुए बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा था:—

'भारत घोर मसान है, तू आप मसानी।
भारतवासी प्रेत से डोलहिं कल्यानी।
हाड़ माँस नर रक्त है भूतन की सेवा।
यहाँ कहाँ मा पाइये चन्दन घी मेवा ?

अथवा—

'पेट भरनहित फिरें हाय कूकर से दर दर।
चारहिं ताकें पैर लपकि मारहिं जो ठोकर॥
तुम्हीं बताओ राम तुम्हें हम कैसे जानैं।
कैसे तुम्हरी महिमा कलुषित हिय महं आनैं॥

इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में जब हिन्दी कविता ने करवट बदली तो वह मानवा-भमुख हुई।

किन्तु, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, उन्नीसवीं-शताब्दी की यह मानवोन्मुखी कविता उस व्यापक भारतीय मानवतावाद का अंग थी जो हमें अपने प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है। आधुनिक हिन्दी कविता में प्रारम्भ से हमें एक ऐसी निष्ठा मिलती है जिसमें अन्तरात्मा की शक्ति है, जिसमें परम्परागत मानव-मूल्यों को नवीन विज्ञान और समाज-संगठन के बीच पारस्परिक संबंध स्थापित कर फिर से खोजने का पुनीत प्रयास मिलता है। इस परम्परागत भारतीय मानवतावाद का परिवेश अत्यन्त व्यापक था। उसने शताब्दियों तक भारतीय चेतना को प्रभावित किया। जब हमारे यहां यह कहा गया कि विश्व के सभी मानव सुखी हों, सभी रोग मुक्त, सभी कल्याणकारी कार्यों का अवलोकन करें और कोई भी दुःख का भागी न बने, अपने-पराये की संकुचित भावना से सभी दूर रहें और उदार चरित वालों के लिए यह संपूर्ण धरती ही कुटुम्ब-सदृश है, तो वह मानव-मंगलापेक्षी भावनाओं से प्रेरित होकर ही कहा गया था। सहिष्णुता, समर्पण, प्रेम, अहिंसा, सद्भावना, करुणा, सहानुभूति, समानता, निःस्वार्थभाव, अन्तःकरण की शुद्धता, न्याय, आत्म-तुष्टि, त्याग, अंहकार विसर्जन, परोपकार आदि भारतीय मानवतावाद के प्रमुख तत्त्व हैं। मानव-जीवन को हमारे पूर्वजों ने अशोभन नहीं माना। वह तो अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने का एक पवित्र साधन है। भारतेन्दु-युगीन आधुनिक कविता का मानव-प्रेम इसी परम्परागत आदर्श का पोषण करने वाला है। किन्तु वह भावुकतापूर्ण अधिक और विचार-प्रधान कम था। कोई निश्चित परम्परा और स्पष्ट दिशा न होने के कारण इन मानव-मूल्यों में केवल मानव के प्रति प्रेम है, विचार-प्रसूत निश्चित दिशा देने का प्रयास नहीं है। जीवन के सत्व का अन्वेषण करना और उसके मानवीय पक्ष पर बल देना उनका प्रधान लक्ष्य था।

यह तो सर्व विदित है कि आर्य समाज ने एक विशेष शास्त्रीय और तार्किक प्रणाली को जन्म दिया था। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के समन्वय से इस प्रणाली ने तथा विवेकानन्द द्वारा प्रचलित वेदान्त द्वारा प्रचलित वेदान्त ज्ञान ने और भी अधिक व्यापक रूप धारण किया। स्वर्गीय विपिनचन्द्र पाल ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि इस प्रवृत्ति ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि जिन सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं की कुछ वर्ष पूर्व विगर्हणा की जाती थी, उनका बुद्धि और यूरोपीय ज्ञान के आधार पर समर्थन किया जाने लगा और यह बात सिद्ध की जाने की चेष्टा होने लगी कि भारतीय मनीषा से प्राप्त उत्तराधिकार गंभीर सत्य पर आधारित था, उसके कारण विदेशियों के सामने लज्जित होने की आवश्यकता नहीं। इस प्रवृत्ति से यद्यपि प्रतिगामी शक्तियों को भी बल प्राप्त हुआ, तो भी व्यापक दृष्टि से समाज में गतानुगतिकता के पीछे सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक बीस-पच्चीस वर्षों में इस प्रवृति ने काफ़ी प्रमुखता प्राप्त कर ली थी। वैज्ञानिकता की प्रेरणा के कारण, ज्ञान की पिपासा और जिज्ञासा शान्त करने की दृष्टि से व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रत्येक बात का कारण जानने और उसके प्रकाश में किसी विशेष समस्या के उचित-अनुचित, स्वस्थ-अस्वस्थ रूप का विश्लेषण कर अपना मत निर्धारित करने की आकांक्षा जाग्रत हुई। विवेक का प्रयोग किए बिना अब वह कोई बात स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। इस तर्क बुद्धिवाद में भावुकता के स्थान पर नीर-क्षीर-विवेक था। इस सन्देश के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति के आन्तरिक रूप पर बल दिया गया—यहाँ तक कि देवी-देवताओं और ईश्वर सेवा का रूप भी बदलने लगा। पौराणिक कथाओं और पात्रों की कथाएँ प्रस्तुत अवश्य की गईं, किन्तु उनमें मानव-जीवन का कोई-न-कोई सत्य अन्वेषित किया गया। शंका-पूर्ण स्थलों का खण्डन कर उन्हें आधुनिक और मानव-सापेक्ष रूप देने की चेष्टा की गई। कवियों को किसी अपार्थिव, अलौकिक और अतिमानवी रूप के प्रति अब कोई मोह नहीं रह गया था।

तर्क बुद्धिवाद द्वारा सम्मत हिन्दी कवियों के मानववादी दृष्टिकोण ने यदि राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में जनवादी रूप धारण किया, तो सामाजिक क्षेत्र में उसने दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया। दोनों रूप नवीन चेतना के प्रतीक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आधार बने। भौतिक दृष्टि से जनसाधारण के जीवन को सुखमय बनाना जनवाद की मूल भावना थी। इससे जनता के अधिकारों की रक्षा की बात सोची गई। राज्य-सत्ता और जन-हित का संघर्ष उसमें निहित था। भारतवर्ष जब स्वतंत्रता-संग्राम में रत था, एक जबरदस्त साम्राज्यवादी शक्ति से संघर्ष ले रहा था और जब उसके जीवन में कर्मठता, आत्मोत्सर्ग की भावना और देश के प्रति अनुराग की आवश्यकता थी, तो कवियों में एक विशिष्ट मानववादी दृष्टिकोण का जन्म होना स्वाभाविक था। उनका मुख्य उद्देश्य अपार जन-समूह को पशुवत् जीवन के गर्त से निकाल कर मनुष्य के धरातल पर लाने का प्रयास था। गाँधी जी ने भी भौतिक आवश्यकताओं से ऊपर आध्यात्मिकता पर ही अधिक बल दिया। छायावादी-रहस्यवादी कवियों सांस्कृतिक चेतना का उदय तो अवश्य हुआ था, किन्तु अधिकतर ये कवि वायवी लोक में ही अधिक विचरण करते रहे। स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म में उन्होंने एकात्मता का अनुभव अधिक किया। उसमें सात्विक उल्लास था, मानव के प्रति कल्याण-कामना भी थी, किन्तु उसका नैतिक-व्यावहारिक रूप हमारे समाने नहीं आता। राष्ट्रीयता परक काव्यधारा में भारत माता के साथ-साथ भारत-संतान के प्रति प्रत्यक्ष प्रेम था। जीवन के अभाव और लघुता उनके सामने स्पष्ट थी। तो भी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के फल-स्वरूप उत्पन्न कविता ने मानव-जीवन के आदर्श पक्ष पर ही अधिक बल दिया। उस समय की वैचारिक ईकाई थी—आदर्शवादिता (जो स्वतंत्रता-संग्राम-रत देश में स्वाभाविक था)। तत्कालीन कविता में आदर्श मानव-परक जो मूल्य उभरे उनके प्रति लोगों का रागात्मक संबंध था और देश की सामूहिक बुद्धि एक धार्मिक-नैतिक और सामाजिक परम्परा की पृष्ठभूमि पर किसी कृत्य का, किसी आचार-विचार का मूल्यांकन कर लेती थी। स्वतंत्रता-संग्राम ने कुछ सिद्धान्त स्थापित किए थे जो कालांतर में मूल्य के रूप में परिवर्तित हो गए। राजनीति के क्षेत्र में मनुष्य को मनुष्य के रूप में पहचानने की प्रवृत्ति ने जो दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया उसमें विवेकानन्द का अद्वैत-दर्शन था, साहित्य में 'प्रसाद' द्वारा गृहीत करुणा के सन्देश द्वारा 'विश्वात्मा' के दर्शन करना था, सब प्राणियों में समभाव रखते हुए कर्त्तव्य-पालन, अहिंसा, सहनशीलता, क्षमा-शीलता स्नेह, सहानुभूति आदि को जीवन में स्थान देना था, गरीब की सेवा में ही ईश्वर सेवा का रूप देखना था, मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर में ईश्वर का निवास न देखकर उसे गरीब की झोंपड़ी में देखना था। मानव-जीवन के इसी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक धरातल पर सब धर्मों की समानता, सामाजिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष की समानता और अछूतोद्धार और धार्मिक क्षेत्र में सबको ईश्वर की उपासना करने के अधिकार की घोषणा की गई। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक पच्चीस-तीस वर्षों में हिन्दी काव्य अधिकाधिक जीवन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सापेक्ष्य भाव-भूमि पर स्थित हुआ। 'प्रसाद' की इड़ा के साथ श्रद्धा का समन्वय स्थापित हुआ। निस्सन्देह जीवन के ये आध्यात्मिक एवं दार्शनिक मूल्य भारतेन्दु युगीन जीवन-मूल्यों से कहीं अधिक व्यापक थे। भारत वर्ष का सनातन आदर्श—विश्व-बन्धुत्व—फिर से लोगों के सामने आया। मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' आदि अनेक कवियों की रचनाओं में सामान्य मानव में 'विश्वात्मा' के दर्शन कराए गए हैं, मानव के समष्टि रूप के लिए व्यष्टि रूप के उत्सर्ग की उच्च भावना व्यक्त हुई है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जीवन के इन मानव-मूल्यों की स्थापना में विवेकानन्द और फिर महात्मा गांधी के विचारों का प्रभाव भी कम मात्रा में नहीं पड़ा। मानव-मूल्यों के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक और जनवादी पक्षों ने सामाज में आदर्शवाद की स्थापना की, अर्थात्, जीवन के एक उदात्त और उत्कृष्ट रूप की पुनः स्थापना और जीवन का निर्माण एक नैतिक धरातल पर करना, क्योंकि पराधीन भारत के सामने जीवन के अभाव और लघुता स्पष्ट थी। कवियों ने उस आदर्श को ग्रहण किया जिसमें प्राचीन और नवीन का अद्भुत सम्मिश्रण था। कवियों ने 'राम' की विजय 'रावण' पर देखनी चाही। उन्होंने लघुत्व के भीतर महत्त्व की स्थापना की। दूसरे शब्दों में, भारतीय आत्मा की खोज की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से गया। उनकी रचनाएँ सत, शिव और सुन्दर की मनोरम कल्पनाओं से अनुरंजित है। उन्होंने सीमा का अतिक्रमण भी किया, किन्तु आदर्शवाद को तो यह स्वाभाविक गति है। इस समय ऐसे आदर्श परक जीवन-मूल्य स्थापित किए गए जो सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, राष्ट्रीय आदि क्षेत्रों में सभी प्रकार विगर्हणा दूर कर जीवन को औदात्य और स्वातंत्र्य की ओर अग्रसर करने वाले थे। कहना चाहें तो हम यह कह सकते हैं कि उस समय के जीवन-मूल्यों का संबंध राष्ट्रवाद से था। यहाँ तक कि स्वच्छन्दतावादी काव्य का लक्ष्य भी जीवन को नवीन स्तर पर स्थापित करना था। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण शास्त्रगत नहीं, वरन् व्यक्ति की स्वतंत्र अनुभूति द्वारा उत्पन्न हुआ था। प्रत्यक्षतः उसका संबंध तर्क बुद्धिवाद से था, और अन्ततोगत्वा आदर्शवाद से भी। राष्ट्रीयता और स्वच्छन्दतावाद दोनों ने उस नवजागरण काल में अपनी-अपनी भूमिकाओं का निर्वाह किया और जीवन में ज्ञान, कर्त्तव्य, कर्मठता, सदाचार आदि का स्वर भरा। ये मूल्य राष्ट्र और व्यक्ति दोनों को सुख, कल्याण और समृद्धि की ओर ले जाने के लिए थे। भारत का मानवीकरण, या कहना चाहिए, दैवीकरण भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ था और महात्मा गांधी का सत्य और अहिंसा का दर्शन भी इन्हीं जीवन-मूल्यों में से प्रस्फुटित हुआ था।

१९३० के आसपास हिन्दी कविता में प्रगतिवाद का जन्म हुआ—अर्थात् उस काव्य-धारा का जो कम्यूनिज़्म से प्रभावित थी। एक प्रकार से कम्यूनिज़्म का यह साहित्यिक मोर्चा था। राजनीति के क्षेत्र में इस काव्य-धारा ने गांधी वादी जीवन-मूल्यों का विरोध किया, तो साहित्य के क्षेत्र में छायावादी वायवी एवं रोमानी प्रवृत्तियों का और यथार्थवाद का आश्रय ग्रहण कर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का स्वर उच्च किया। उन्हें लाल क्रान्ति में विश्वास था। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि प्रगतिवाद को न तो साधन और साध्य की पवित्रता में विश्वास था और न भौतिक जगत् के आतिरिक्त अन्य किसी सत्ता में। स्पष्ट है ऐसी विचार धारा को जीवन के आदर्शपरक मूल्यों में विश्वास नहीं हो सकता था। उनका समाज-दर्शन भी परम्परागत भारतीय समाज-दर्शन से भिन्न था। ऐतिहासिक दृष्टि से निस्सन्देह प्रगतिवाद ने हिन्दी कविता को एक नया आयाम प्रदान किया। किन्तु द्वितीय महा युद्ध के समाप्त होते-होते यह काव्य धारा समाप्त हो गई। भाषा, भाव, छन्द आदि की दृष्टि से प्रगतिवाद ने कुछ नाविन्य भी प्रकट किया। तो भी जहाँ तक जीवन-मूल्यों से संबंध है प्रगतिवादी काव्य-धारा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा की भाँति कोई विशेष दृष्टिकोण प्रदान न कर सकी। न तो उसने जीवन किसी एक विशेष दिशा की ओर मोड़ा, न उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सक्रिय बनाया। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा में जीवन को एक उदात्त और परिष्कृत रूप प्राप्त हुआ था, उसमें एक नई शक्ति आई थी। प्रगतिवादी काव्य-धारा ने व्यापक जीवन को प्रभावित करने के स्थान पर, एक सीमित संख्या के लोगों को नया दृष्टिकोण और नई आस्था प्रदान की। किन्तु जीवन में कोई नए मूल्य स्थापित न किए। उसने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा के सात्विक मूल्यों की उपेक्षा की और साथ ही कोई आध्यात्मिक या दार्शनिक या मानसिक संस्कार भी प्रदान न किया। अपनी संकीर्णता के कारण वह न तो हिन्दी साहित्य का प्रमुख अंग बन पाई और न अधिक दिन जीवित रही। उसने मूर्द्धन्य कोटि का कोई कवि भी न दिया। उसने अपनी सारी शक्ति परम्परागत जीवन-संस्कारों को झुठलाने में लगा दी और कुरूपता एवं विद्रूपता की सृष्टि की। यथार्थपरक होते हुए भी यह काव्यधारा जीवन की यथार्थता को संतुलित अभिव्यक्ति प्रदान न कर सकी। अतः जहाँ तक जीवन-मूल्यों की स्थापना से संबंध है, प्रगतिवादी काव्य-धारा के पोषक दावा चाहे जितना लम्बा-चौड़ा भरें, वस्तुस्थिति यह है कि वह बहुत कम सफलता प्राप्त कर सकी।

और महात्मा गाँधी 'राम-राज्य' का अपना सपना लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ संघर्षरत रहे। द्वितीय महायुद्ध भी समाप्त हो चुका था, किन्तु भीषण ज्वाला से संसार को संतप्त कर गया था। ऐसे ही माहौल में १५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भारत में न तो 'राम-राज्य' की स्थापना हुई और न द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार में शान्ति। इन दोनों कारणों से हमारा आज का जीवन बहुत बिखरा-बिखरा-सा हो गया है। प्रत्येक दिशा में खण्डित मर्यादाएं हैं और विच्छिन्न मूल्यों की अस्त-व्यस्त परम्परा है। इसका तात्कालिक परिणाम एक ओर सामाजिक एवं वैयक्तिक सीमाओं का टूटना तथा दूसरी ओर नैतिक मान्यताओं की विकृति है। इन दोनों के मध्य मानव-जीवन में अनास्था एवं कुण्ठाओं की ऊंची मीनारें उठ रही हैं तथा मानव-मूल्य की मर्यादा शंकालु होती जा रही है। यह प्रवृत्ति बहुत कुछ विध्वंसात्मक है और ऐसी परिस्थिति में कवि का दायित्व बढ़ जाता है। वह नए उभरने वाले मानव-मूल्यों का अन्वेषण करता है तथा मानव जीवन के विविध प्रसंगों के सन्दर्भ में सहानुभूतिपरक दृष्टिकोण लेकर उन्हें अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है। मनुष्य अपने परिवेश, इतिहास-क्रम तथा काल-प्रवाह के सन्दर्भ में क्या स्थिति महत्व नहीं रखती कविता इस ओर इंगित करके जीवन के नए प्रतिमानों का निर्माण करती है।

वास्तव में स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद मनुष्य के सामने एक मोह-भंग की स्थिति उभर आई है। जब-जब परिस्थितियों में परिवर्तन होता है तब-तब मानव जीवन के सारे सम्बन्धों पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो हो जाता है। बदले हुए सम्बन्ध पूर्व-निर्धारित मूल्यों के लिए चुनौती बन जाते हैं। उस स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि परिवर्तन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आयामों को पहचाना जाए। हमारा आधुनिक काल ऐसा था, जहां एक बहुत बड़ा समुदाय अपने मूल्यों एवं आस्थाओं के खण्डित होने से बदहवासी की हालत में था और पराजय की गहन अनुभूति से जर्जर हो गया था। विभाजन में हत्याएं, बलात्कार तथा निर्मम अत्याचार ही नहीं हुए थे, बल्कि समग्रता के मोह में डूबा हुआ व्यक्ति भीतर से पूरी तरह से विच्छिन्न हो गया था और उसकी सारी आस्थाएँ तथा मूल्य-मर्यादा शून्यता के प्रवाह में विलीन हो गई थीं।

यह मानवीय संकट केवल यहीं का नहीं था, बल्कि समूचे विश्व का था। परिस्थितियों के सन्दर्भ हर राष्ट्र में चाहे भिन्न-भिन्न हों, लेकिन हर स्थान पर मानवीय संकट गहरा होता जा रहा था। मूल्य-मर्यादाएँ टूट रहीं थीं और मोह-भंग की स्थिति जड़ता उत्पन्न करती जा रही थी। कविता इस मानवीय संकट की उपेक्षा नहीं कर सकती थी, क्योंकि सभी साहित्यिक विधाओं की तुलना में वह मानव जीवन को अधिक समग्रता तथा सूक्ष्मता से आत्मसात् ही नहीं करती, वरन् जीवन-सत्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सूक्ष्म चित्रफलक पर उसे अभिव्यक्त भी करती है।

अरविन्द ने भी स्वीकार किया है कि विकास की स्वाभाविक परम्परा में जैसे पशुता से मनुष्य की स्थिति आई है, ठीक उसी प्रकार हम इस स्थिति से भी आगे जाएंगे। वस्तुतः हमें यह स्वीकार लेना चाहिए कि जब तक मनुष्य को उसकी समग्रता में देखने की चेष्टा नहीं होगी, मानवीय पक्ष कविता में उभर ही नहीं सकता और मानवीय संकट निरन्तर गहरा ही होता जाएगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानवतावादी दृष्टिकोण का विस्तार उस व्यापक परिवेश में होता है, जहाँ तक इस सृष्टि का विस्तार है। कविता में अभिव्यक्त की जाने वाली सभी अधुनातन विचारधाराओं में मानवतावादी दृष्टिकोण का सर्वाधिक महत्त्व है तथा वह हमारे रचनाकारों को विभिन्न स्तरों पर प्रभावित करता रहा है।

जैसा की अभी-अभी कहा जा चुका है, आज संसार में चारों तरफ गहन संकट छाया हुआ है और सम्पूर्ण मानव-जाति का अस्तित्त्व खतरे में पड़ गया है। आज का संसार पहले से बहुत भिन्न है और हमें आज की तकनीकी क्रान्ति के साथ सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है। आज की सबसे बड़ी समस्या यह है कि मनुष्य जाति कैसे सुरक्षित रहे। आज दासता तथा स्वतन्त्रता का प्रश्न उतना नहीं है, जितना हमारी सभ्यता एवं संस्कृति के जीवन एवं मृत्यु का। मानवतावाद का उदय इन्हीं परिस्थितियों के सन्दर्भ में हुआ है। मानवतावादी विचारधारा हमें आधुनिक संकटग्रस्त जीवन की संक्रान्तियों को एक नए दृष्टिकोण से समझने में सहायता देती है। इससे आज की उलझी हुई मानव अनुभूति के अनेक उल्लेखनीय प्रसंगों को स्पष्टतया समझा जा सकता है। मानवतावाद का प्रमुख लक्ष्य इस सृष्टि में मनुष्य की वास्तविक स्थिति का अन्वेषण है। साथ ही यह भी कि, क्या प्राप्त करना उसके लिए वाछंनीय है और क्या अवांछनीय मानवतावाद इस प्रकार मानव उद्देश्यों, मूल्यों एवं आदर्शों को स्पष्ट करने के साथ-साथ उसे सम्पुष्ट भी बनाता है तथा उसे अपने आसपास के परिवेश, जीवन, समाज तथा विश्व-व्यवस्था के अधिक निकट लाकर अपने पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त करने में सहायता देता है।

विज्ञानवाद तथा मानवतावाद परस्पर विरोधी मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। विज्ञानवाद मनुष्य को भौतिक परिस्थितियों की तुलना में सर्वोपरि सिद्ध करके उसे स्वयं अपने ही ऊपर श्रेष्ठ सिद्ध करने और अपने द्वारा मनुष्यों का संहार करने के लिए प्रयोग करने पर बल देता है। इसके विपरीत मानवतावाद मनुष्यों को स्वतन्त्र करके उसकी मानवीयता के अन्वेषण एवं प्रतिष्ठापन पर बल देता है। वह मनुष्य को असीमित समाज एवं मानव भावनाओं के साथ समन्वय की दिशा में गतिशील करता है। इस प्रकार मानवतावाद मानव-सेवा को ही सर्वोच्च धर्म मानता है। वह उत्तम जीवन, सामंजस्य, सन्तुलन तथा उदारता में विश्ववास करता है। मानवतावाद एक जीवन पद्धति है, जो विश्व-परिवार एवं सद्भावना की स्थापना तथा हमारी दृष्टि के विस्तार में सहायता देती है।

सम्पूर्ण मानव इतिहास में न जाने कितने मानवतावादी विचार आए और गए, लेकिन स्थायी रूप से केवल तीन मानवतावादी दृष्टिकोण—भारतीय, चीनी तथा पश्चिमी—अपने शाश्वत मूल्यों के कारण जीवित रहे हैं। प्रत्येक ऐतिहासिक सभ्यता में मनुष्य और समाज के लिए सार्वभौमिक तथा उत्कर्षशील मूल्यों एवं सम्भावनाओं का मार्ग प्रशस्त करने के कारण ही ये तीनों विचारधाएं इतनी मूल्यवान सिद्ध हुई हैं। तीनों ने मानव-व्यक्तित्व की अनिवार्य आवश्यकताओं और सामाजिक व्यवस्था के समन्वय को सार्वजनीन रूप में ग्रहण किया है। तीनों ने ही मनुष्य और समाज की प्रादेशिक एवं वर्गगत सीमाओं को तोड़कर 'सम्पूर्ण विश्व एक है' की भावना को आत्मसात् करने की चेष्टा की है। सभी ने ऐतिहासिक सत्य, मूल्य एवं पौराणिकता के मध्य समन्वय स्थापित करने का यत्न किया है। यद्यपि आज चीनी तथा पश्चिमी मानवतावाद की अनेक सीमाएं बन गई हैं, और वे आज की मानव आवश्यकताओं के सन्दर्भ में अनुपयुक्त सी प्रतीत होती हैं, फिर भी इससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं हो जाता।

जीवन के प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण के विकास ने पश्चिमी मानवतावाद को दो रूपों में प्रभावित किया। एक तो यह यथार्थ से दूर पड़ गया, क्योंकि वहाँ के अधिकांश लोगों के लिए जीवन की समग्रता लगभग असम्भव प्रतीत होती है। दूसरे आर्थिक व्यवस्था तथा संस्थाओं के अन्याय तथा शोषण के प्रति विरोध एवं घृणा बौद्धिक विचार धारा के लिए एक सामान्य बात हो गई। चीनी मानवतावाद अनिवार्यतः प्राकृतिक, सामाजिक तथा ऐहिक है। उसके अनुसार कोई सिद्धान्त परम्परा द्वारा अनुमोदित होना चाहिए, न कि ज्ञान द्वारा। वह मानता है कि मानव अपनी वास्तविक विशिष्टता ठोस मानव-सम्बन्धों के माध्यम से ही प्राप्त कर सकता है।

मानवतावाद की स्थिति परम्परा तथा आधुनिकता के मध्य अत्यन्त विचित्र है। उसे फैशन की झोंक में पुरातनवादी होने का प्रतीक समझ लिया जाता है। आधुनिक पश्चिमी मानवतावादी विचारधारा में धार्मिक या आध्यात्मिक मनोवृत्तियों के प्रति सन्देह भाव पाया जाता है। इतिहास में एक लम्बे समय तक धर्म सभी संस्कृतियों का आधार स्वीकार किया जाता रहा। लेकिन धीरे-धीरे धर्म की तथाकथित महत्ता एवं समग्रता के प्रति आधुनिक विचारकों द्वारा सन्देह प्रकट किया जाने लगा, फलतः धर्म की उपयोगिता मानव और समाज के सन्दर्भ में विचारी जाने लगी। द्वितीय महायुद्ध ने मनुष्य को आमने-सामने खड़ा कर दिया है। वे अनुभव करने लगे हैं कि उनके सामने दो विकल्प हैं। या तो मानवता की रक्षा करें या मानव एवं सभ्यता का विध्वंस करें। यही कारण है कि धर्म की तुलना में आज विज्ञान कहीं अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। लेकिन यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि धर्म की रूढ़ियों का तिरस्कार किया जाता है, समूचे धर्म का नहीं। बिना आध्यात्मिक आधार के कोई नैतिक अनुशासन या मानवता के प्रतिमान स्थापित नहीं किए जा सकते।

मानवतावाद सेक्स के सम्बन्ध में भी यही धारणा रखता है कि किसी को भी हम 'उपभोग' की वस्तु न समझें, वरन् मानवीय स्तर पर लें। आधुनिक काल में मानवतावाद प्रजातन्त्र का विकास जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहता है। मानव का वास्तविक उद्देश्य उत्तरदायित्व-पूर्ण स्वतन्त्रता है, प्रजातन्त्र इस नैतिक सिद्धान्त की राजनीतिक अभिव्यक्ति है। इन परिस्थितियों में ही एक सार्वभौमिक परिवेश निर्मित होने की आशाएं बलवती होती हैं। यह एक प्रकार का विश्व मानवतावाद है।

मानवतावादी विचारधारा के विभिन्न तत्त्व इसी सन्दर्भ में अन्वेषित किए जा सकते हैं। भारतीय मानवतावाद में सहिष्णुता, समझौता, सहयोग, अहिंसा, बन्धुत्व भावना, सभी के प्रति करुणा एवं सहानुभूति, समताभाव, शुद्धता, आत्म-संतोष, स्वत्व के यथार्थ, ईश्वर या ब्रह्म के प्रति पूर्ण समर्पण भाव, परोपकार, अहं का हनन तथा स्वयं का प्रसार, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रति आत्मीय भाव, क्षमाशीलता तथा आत्म-निग्रह आदि तत्त्वों पर बल दिया गया है। आधुनिक हिन्दी काव्य के सन्दर्भ में इन बातों की ओर पीछे संकेत किया जा चुका है।

काव्य में जब मानवतावादी तत्त्वों का अन्वेषण किया जाता है, तो मुख्य रूप से उनका स्वर भावुकतापूर्ण हो जाता है। कला या शिल्प के प्रतिमानों से सम्बद्ध होने मानवतावादी तत्त्व चर्च, मन्दिरों या धर्म-सम्प्रदायों घोषित किए जाने वाले स्पष्ट उपदेशों की भांति न आते, वरन् अनुभूति के रूप में अन्तर्निहित होते दृष्टिकोण का वैभिन्य उनमें चाहे जितना हो, सबके मूल में केवल एक ही सत्य है कि मनुष्य अपने की वास्तविक गरिमा प्राप्त करे। वह न तो सामाजि शोषण के अन्तर्गत अपनी महत्ता खोए और न धार्मि तथा राजनीतिक अत्याचार के नीचे उसकी आत्मा हनन हो।

मानव के सन्दर्भ में मूल्य का अर्थ एक ऐसी धा या दृष्टि है जो मूलतः व्यक्ति के जीवन में पनपत किन्तु जिसका विकास समाज की ओर होता है, जो में आचरण-व्यवहार-संबंधी मान्यताओं, विश्वासों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिलाषाओं को तोलती है, उनका मानदण्ड बनती है। यह धारणा या दृष्टि मानवी व्यवहार का नियमन करती है, जिसके आधार पर हम समाज में व्यक्ति या उसके आचरण को उत्कृष्ट या निकृष्ट, उचित या अनुचित, अच्छा या बुरा, घोषित करते हैं। और क्योंकि समाज परिवर्तनशील है, सामाजिक मान्यताएँ आर्थिक तथा अन्य कारणों से बदलती रहती हैं, मान्यताओं के बदलने के साथ-साथ नैतिकता और सामाजिक वातावरण बदलता है, इसलिए मूल्यों में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है।

पीछे मैंने प्रगतिवाद का उल्लेख किया था। उसके बाद की काव्य-धारा ने जिसे प्रयोगवाद के नाम से अभिहित किया जाता है, जीवन की यथार्थता की गहराई में प्रवेश किया और युगानुकूल मानव-मूल्यों का अन्वेषण किया। छायावाद-रहस्यवाद में सामाजिक चेतना का अभाव था, तो प्रगतिवाद समाज के बाह्यरूप पर ही अटक गया। प्रयोगवाद ने सामाजिक चेतना व्यक्त करने के साथ-साथ व्यक्ति की स्वतंत्रता टटोलने का भी प्रयास किया। प्रयोगवाद ने ही जब नई कविता का रूप धारण किया तो वह मनुष्य की वर्जनाओं और कुण्ठाओं और रूढ़ियों को तोड़ कर व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित कर दोनों का जीवन गहराई से देखने और अनेक उलझी हुई अनुभूतियों के विभिन्न आयामों को बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से चित्रित करने की ओर अग्रसर हुई। छठे दशक की कविता ने नई कविता का केंचुल छोड़कर नया रूप धारण किया है। प्रयोगवाद और नई कविता का युग-बोध अब, परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार, पुराना पड़ गया है। जो कुछ भी हो, प्रयोगवाद से लेकर साठोत्तरी कविता तक के कवियों ने मनुष्य के अस्तित्व का अर्थ समझने की चेष्टा की है और इस बात को समझने की चेष्टा की है कि समाज में रहते हुए व्यक्ति अपनी स्वतंत्र सत्ता कैसे बनाए रख सकता है—विशेषतः जब कि आज के युग में वह भय, संत्रास, कुण्ठा, ऊब, अकेलेपन की अनुभूति आदि तथा अन्य राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक संकटों से त्रस्त है और मानव के अस्तित्व पर ही प्रश्न-सूचक चिह्न लग गया है। जीवन की इस स्थिति के प्रति सामयिक कवियों ने विभिन्न रूपों में अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं—समाजवादी, अस्तित्ववादी, व्यक्तिवादी, मानवतावाद आदि के रूप में—और जीवन की व्यर्थता, अराजकता, मृत्यु-भय, निस्संगता, विसंगतियों, विद्रूपताओं आदि पक्षों की ओर गम्भीर संकेत किए हैं। इसलिए सामयिक कविता का महत्त्व विशुद्ध साहित्यिक या सौन्दर्यात्मक दृष्टि से तो है ही, साथ ही जीवन की समस्याओं के प्रति कवि का क्या दृष्टिकोण है, यह भी विचारणीय है। स्वयं उसकी अपनी अध्यांतरिक समस्याएँ बहुत-कुछ बाह्य ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर हैं। यहाँ तक कि वह राजनीति से भी अपने को असंपृक्त नहीं रख सकता। स्टीफेन स्वेंडर के शब्दों में कवि या लेखक को वर्तमान की परिस्थिति में पूर्णतः डूब जाना चाहिए, नहीं तो उसके सामयिक संसार के लिए उसका कोई महत्त्व नहीं रह जाएगा। आज कवि जीवन को अन्दर से देख ही नहीं रहा, वरन् भावुकता और धार्मिकता के स्थान पर बुद्धि और वैज्ञानिकता के आश्रय से जीवन देख रहा है। वह जीवन के प्रति सतर्क है और वर्तमान परिस्थिति की संकटपूर्ण अवस्था को भली भाँति पहचान रहा है। उसके लिए अतीत अस्तित्व ही नहीं रखता, वर्तमान अराजकतापूर्ण है और भविष्य अन्धकार और भयावह आशंकाओं से पूर्ण। इसलिए उसके कवि-कर्म का आज उद्देश्य है व्यक्ति में आत्मविश्वास की भावना पैदा करना, क्योंकि वह देख रहा है कि व्यक्ति लड़खड़ा रहा है, वह भीड़ में खींचा जा रहा है और सभी शक्तियाँ उसके व्यक्तित्व को कुतरने में लगी हुई हैं। विघटित होते हुए मूल्यों के स्थान पर वह नए मूल्य, जीवन के प्रति नया उत्साह, नई आस्था देखना चाहता है। विज्ञान, प्रजातंत्र, व्यक्ति-स्वातंत्र्य के आश्रय से वह नए मानव-मूल्य खोजने में लगा है—ऐसे मूल्य जिनसे मनुष्य का जीवन झाड़-झंखाड़ रहित सुखपूर्ण हो, उसके व्यक्तित्व का ऐसा स्वतंत्र विकास हो जिसकी अन्तिम परिणति समाज के साथ समन्वय में हो। मानव सम्बन्धों को वह शोषण-विहीन और गरिमामय रूप में देखना चाहता है। परस्पर राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता रओ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीषण संहारक अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ के बीच वह मृत्यु की मँडराती हुई छाया से इन्सान को बचाने के लिए व्याकुल है। मृत्यु और विनाश ही मनुष्य की नियति नहीं है, और न वह मुट्ठी भर सत्ताधारियों के हाथ में कठपुतली की तरह है। उसे अपना जीवन अपने ढंग से जीने का हक है। संक्षेप में आज का कवि सभी प्रकार के शोषणों, बन्धनों, आतंकों, भग्नाशाओं, विद्रूपताओं एवं विसंगतियों से मानव मात्र की मुक्ति की कामना करता है, नाना प्रकार की वर्जनाओं से उबार कर उसके जीवन में नया प्रकाश भरना चाहता है। परम्परागत मानवी-संबन्धों के स्थान पर वह परिवर्तित परिस्थितियों के प्रकाश में, आधुनिकता के बोध के साथ, नए आन्तरिक संबंध स्थापित करने के लिए उत्सुक है। सामयिक कविता मानव-जीवन के सही परिप्रेक्ष्य खोज रही है। कवि आत्मोपलब्धि के साथ-साथ मानव-अस्तित्व का सही अर्थ बूझना-बुझाना चाहता है। संकटपूर्ण परिस्थिति में रहते हुए वह संकट दूर करना चाहता है। जिन जीवन-मूल्यों की ओर मैंने संकेत किया है वे कवियों की रचनाओं से अप्रत्यक्ष रूप से निःसृत होते हैं। अन्यथा कविगण अकेलेपन, शून्यता, अजनबीपन, आतंक, संत्रास, कुण्ठा आदि की अभिव्यक्ति में लगे रहते हैं।

किन्तु प्रश्न उठता है कि सामयिक कविता में जो जीवन-दृष्टि पनप रही है, जिस भोगे हुए क्षण का, जीवन की जिस घुटन और टुटन, अन्तर्विरोधों और असंगतियों एवं विडंबनाओं को युवा पीढ़ी का कवि अभिव्यक्ति प्रदान करता है, उनका भारतीय जीवन के परिवेश से कहाँ तक सच्चा सम्बन्ध है, क्योंकि इन जीवन मूल्यों की सार्थकता, उनकी वास्तविकता तभी सिद्ध हो सकती है जबकि उनका जीवन के सही परिवेश से घनिष्ठ सम्बन्ध हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टता व्याप्त हो गई है और जीवन सुखी न होकर अभिशप्त है। किन्तु युवा पीढ़ी के कवियों ने जो अनुभूतियाँ व्यक्त की हैं वे बहुत-कुछ उधार ली हुई और जबरदस्ती ओढ़ी हुई हैं, क्योंकि न तो हमारे देश में एटमबम का विस्फोट हुआ और न युद्धजनित उन यातनाओं का ही यहाँ के कवियों को अनुभव है जिनका अनुभव यूरोप के कवियों को प्राप्त हुआ और जिसके फलस्वरूप वहाँ अस्तित्ववादी चिन्तन का प्रचार हुआ। विज्ञान और टेकनोलोजी के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों का भी उन्हें अनुभव नहीं है। अतः सामयिक कविता की प्रवृत्तियाँ बहुत-कुछ किताबी ज्ञान के फलस्वरूप हैं। विविध बन्धनों और वर्जनाओं से मानव की मुक्ति की बात जब वे करते हैं तो उनमें अतिरंजना का अंश ही अधिक रहता है।

निष्कर्षतः, आज मानव-मूल्य केवल वैयक्तिक अनुभव ही हैं। किन्तु उनका समग्र मानव-प्रकृति से सहज संवेदनात्मक तादात्म्य भी आवश्यक है। व्यक्ति-विशेष की स्वतः स्फूर्त, परम्परा-विहित, वातावरण-जन्य द्वन्द्वात्मकता के परिवेश में स्थान एवं काल के अनुसार क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तनशील गति की नियति ही मूल्य बन जाता है। और इस प्रकार जितने कवि हैं उनके द्वारा उतने ही मानव-मूल्यों का निर्धारण संभाव्य है। मूल्य-बोध और मूल्य-निर्धारण का संकट न केवल आधुनिक हिन्दी काव्य एवं अत्यानुधिक पाश्चात्य काव्य-कृतित्व के परिप्रेक्ष्य में वरन् हर नई संभावना, संश्लिष्टि और साहित्य-सर्जना में स्वयमेव अनुस्यूत रहता है। आज, जहाँ एक ओर विविध काव्य-विधाओं की भीड़ है, वहीं आधुनिकता के अर्थ-बोध का अनुकल्पन विवादास्पद है। आधुनिकता, जीवन-क्रम के प्रत्येक परिवर्तन के साथ जागरूक प्रतिक्रिया का उच्छ्वास है। और, हमने आधुनिक हिन्दी काव्य की विविध धाराओं में अन्तर्भूत मानव-मूल्यों का विश्लेषण भी इसी आधार-पीठिका पर किया है।

इधर, वर्षों से मेरे मन में पिछले तीन दशकों की अनेकशः नामाभिधेय और विविध वादों से युक्त कविता के प्रति शंकाएँ रही हैं जिन्हें सामाजिक उहापोहों, सांस्कृतिक असंगतियों और युगजनीन परिस्थितियों की अभिव्यक्तिमात्र नहीं कहा जा सकता। कहीं ऐसा तो नहीं कि आत्यंतिक अहं के विस्फोट, अधकचरे समष्टि-विन्यास और उधार लिए गए प्रतीकवाद, बिम्बवाद, दादावाद, अतियथार्थवाद और फ्रायडवाद के 'फैशनों'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यञ्जन में मानव-मूल्यों का सहज संवेदनात्मक स्व[illegible] ही बिखर रहा हो ? अनुकरण किन्हीं परिस्थितियों मान्य हो सकता है, किन्तु पाश्चात्य के प्रति अन्ध-भक्ति केवल प्रतिभा-शून्यता और वैचारिक गुलामी की ही प्रतीक मानी जाएगी। नित्य नवोन्मेष और नए प्रयो 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' के केन्द्र-बिन्दु पर श्लाघ्य होंगे। लेकिन शर्त यही है कि मानव-घाती मूल्यों की वर्जना हो, अन्यथा तरह-तरह के वादों-प्रतिवादों और नामों-नारेबाजियों की भस्मासुरी भँवरों में स्वयंभू कवि और काव्य खुद-ब-खुद डूब जाएँगे। इस प्रकार के तथा-कथित काव्य की क्या परिणति हो सकती है जिसे केवल उच्चवर्गीय या मध्यमवर्गीय एक-दो प्रतिशत नफ़ासत-नजाकतपूर्ण निठल्लू पाठक-श्रोता ही समझ सकें और वह तब, जबकि उसका विस्तृत भाष्य स्वतः रचयिता को ही प्रस्तुत करना पड़े ? हमें भय है कि कहीं यह तीन-चार दर्जन नामों से पुकारी जाने वाली तथाकथित तरह-तरह की कविता-कुण्डलियाँ अपने पूर्वज देशों, अमेरिका-इंगलैण्ड जैसी ही सामाजिक अरुचि की पात्र न बन जाएँ ?

मेरी दृष्टि में, नव्य-भव्य और उदात्त मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा का काव्य कृत्रिम नहीं होता, वह कोरे बौद्धिक वितण्डावाद की परिधि में नहीं समाता और न प्रयोगों के लिए प्रयोग के नाम पर 'सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्' का ही परित्याग करता है। आखिर, भावना, ज्ञान और कर्म का समवाय ही तो मानव है। इसी समवाय का अविरल गत्यात्मक सन्तुलन और जीवन्त संयोजन, अधुनातन मानव-मूल्य है और अनुभूतिपरक मानव-मूल्यों का सम्यक् स्वर ही काव्य है। तात्पर्य यह कि वादों के दायरे से मुक्त और गुटनिरपेक्ष मानवीय काव्य-सृष्टि का उन्मेष तमाम विषम-ताओं के बीच करना ही होगा। आधुनिकता और नवीनता के सम्मोहक-सूत्रधार कहीं अमेरिका, इंगलैण्ड, जर्मनी और रूस में न बैठें। कविता केवल कठपुतलियों की 'कें-कें' न बन जाय। 'मानव', मानव है, न लघुमानव, न महामानव और न बौना या विद्रूप-विकृत मांसलपिण्ड। कविता, कविता है। न नई, न पुरानी और न भूखी-नंगी या तोज़ी-बासी। लोक वृत्यात्मक, मज़दूरों-मजलूमों और फाकाकशों का रुग्ण संगीत काफ़ी-हाउस और कनॉट-प्लेस में नहीं बल्कि खानों, खदानों और खेतों-खलिहानों में खपकर ही गाया जा सकेगा। अन्यथा मन-मस्तिष्क के कुहासों में, व्यक्ति-अभिषेक का अनुरणन—घोर वैयक्ति-कता का आत्म-प्रदर्शन और सर्वनाशी मानव-मूल्यों का कथ्य बन जाएगा।

अस्तु, आवश्यकता है कि अधुनातन काव्य बौद्धिक-व्यायाम बन्द करे। अतिवादी यौनेषणा, अनियन्त्रित-ऊट-पटाँग-अभिव्यक्ति, सम्पूर्ण आस्था-विगलित अनास्था, आरोपित कुरूपता, क्लीव-चिन्तन और पतनोन्मुख मानव-मूल्य-संहतियों का पटाक्षेप करके; 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' से सम्पृक्त भारतीय संस्कृति की ज्योतिर्मय मूल-संचितना से आपूरित हो। राहों के अन्वेषी पथभ्रष्ट होकर न रह जाएँ। तमाम सामाजिक संकट, कच्छपीय-बुद्धि-संकुलता के मूर्त्तरूप न बनें। अनेकशः अन्तर्विरोधों के बीच भी, शाश्वत मानव-मूल्यों का अन्तर्बोध—कवि का अपना दायित्व है; और यदि यह मूल्य-चेतना जन-मानस में स्पन्दित नहीं होती, तो आधुनातन काव्य-कला की विविध बाँकी अदाएँ भी कूड़े के ढेर से ज्यादा सौन्दर्य-तत्त्व नहीं संजोएंगी। इसके लिए नए काव्य को न तो अधि-नायकवाद का ढिंढोरची ही बनाना है और न पूँजीवादी व्यवस्था के ध्वंसावशेषों का सुनियोजित रक्षा-प्रयास। अतः मानव-मूल्यों की ठोस स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि आधुनिक और नवीन युगबोध यथार्थ की ही धरती पर उतरे, न कि परिकल्पित वायव्य गगन में विहार करने लगे।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषा-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानस की दार्शनिक मान्यताएं अभिनव पक्ष

—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

परम्परागत मान्यताओं और तर्क के आधार पर मेरी यह निश्चित धारणा है कि मध्यकालीन आध्यात्मिक आचार और विचार 'आगम' से पूर्णतः प्रभावित हैं—प्रभावित ही नहीं, बहुत दूर तक वे तन्मूलक भी हैं। यह अवश्य है कि उस समय तो निश्चय ही कोई भी आचार और विचार भारत की धरा पर पनप नहीं सकते थे—जब तक वे अपने को श्रौत परम्परा से संबद्ध न कर लें। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रस्थान त्रयी का भाष्य इस तथ्य का साक्षी है। इसीलिए यदि समस्त तुलसी साहित्य को निगमागमकल्पतरु का परिणतफल कहा जाय—तो उसमें कोई त्रुटि न होगी। वैसे तो उन्हीं ने 'मानस' को 'नानापुराणनिगमागम-कल्पितं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' कहा ही है।

निगमागमकल्पितरु के परिणत-फल तुलसी-साहित्य के 'रस' रूप में 'भक्ति' की ही प्रतिष्ठा है। अतः इसकी दार्शनिक मान्यताओं पर विचार 'भक्ति' को ही केन्द्र में मानकर किया जा सकता है। तुलसी अपने समूचे आचार और विचार का लक्ष्य 'भक्ति' को ही मानते हैं। 'भक्ति' ही उनके लिए 'साध्य' है। मध्यकालीन 'भक्ति' के आचार्यों ने 'भक्ति' को पंचम पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्ठित किया है। मधुसूदन सरस्वती का यही पक्ष है। गोस्वामी जी भी 'मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने' कहकर इसी पक्ष का उपोद्वलन कर रहे हैं। वैसे तुलसी के भक्त पात्रों में 'सार्ष्टि' को छोड़कर अवशिष्ट अन्य द्वैत मुक्तियों—सालोक्य, सायुज्य तथा सामीप्य—का उल्लेख मिलता है। पर यह तो भेद-भगति का फल है। संतवर गोस्वामीजी 'अभेद-भगति' को सबसे बड़ा मानते हैं। 'अभेद-भगति' ज्ञानोत्तरा भक्ति है। ज्ञानोत्तरा भक्ति शांकर आत्म-साक्षात्कार के अनन्तर आरम्भ होती है। शांकर आत्म-साक्षात्कार के सोपान जो अद्वैत वेदांत सम्मत हैं—मानस में उपक्षिप्त हैं। 'सोऽहमस्मि इतिवृत्ति अखण्डा'—द्वारा जिस 'सोऽहमस्मि' इत्याकारक अखण्डाकार विद्यात्मिका मायीय वृत्ति का उपक्षेप किया गया है—वह 'श्रवण' तथा 'मनन' की विधियों का परिणाम है। उपनिषद् का कहना है—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मान्तव्यो निदिध्यासितव्यः" आत्मा ही द्रष्टव्य है और तदर्थ- श्रवण, मनन और निदिध्यासन अपेक्षित हैं। किन्तु श्रवण का पात्र बनने से पहले मुमुक्षादि साधन चतुष्टय की सम्पत्ति आवश्यक है। मुमक्षादि की प्राप्ति, अन्तःकरण का शोधन "श्रुति-संमत हरिभक्ति पथ संयुतविरति विवेक"—से ही संभव है—वैधी भक्ति से ही संभव है—दास्य भक्ति से ही संभव है। 'विनय पत्रिका'—जो तुलसी की व्यक्ति-साधना का मार्मिक और सहज गीतात्मक समुच्छलन है—का 'विनय' शब्द ही आराध्य के प्रति 'माहात्म्य बोध' और स्व के प्रति लघुता बोध का प्रमाण है। द्वैतभूमि की यह वैधी भक्ति अन्तःकरण को शोधित कर श्रवण-बीज का भव्य क्षेत्र बनाती है। महावाक्यों या महावाक्य का श्रवण एवं मनन साधक को इस योग्य बना देता है कि वह आत्म-साक्षात्कार कर सके। आत्मा तो सदैव अपरोक्ष है—अनादि आविधाजन्य मल या आवरण के कारण वह परोक्ष-सा लगता है। इसी आवरण का क्षय श्रवण तथा मनन द्वारा होता है। श्रुत का मनन करते-करते वृत्ति तदाकार हो जाती है और यह 'सोऽहमस्मि' रूपा विद्यात्मिका-वृत्ति आविधिक वृत्ति का उच्छेद कर डालती है। 'कतकर जो न्याय' से अन्ततः मायीय होने के कारण वह स्वयं भी उच्छिन्न हो जाती है। इस प्रकार प्रारब्ध का भोग का निमित्त मात्र अविद्या शेष रह जाती है, और अविद्या का क्षय हो जाता है। इस प्रकार अन्यथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कराने वाली भेदजननी माया-निवृत्ति से आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। गोस्वामीजी की साधना यहीं नहीं रुक जाती। उनकी दृढ़ धारणा है कि द्रवशील प्रकृति के साधकों में आत्म साक्षात्कार के बाद भी एक आभ्यंतर मल शेष रह जाता है—जो ज्ञानोत्तरा भक्ति से निवर्त्य है। यह मल भी मल ही है—वह दूसरी बात है कि वह आत्म-मुक्त होने से शुद्ध मल कहा जाता है। महायानी बौद्धों में यह 'शुद्ध वासना' है—जिसकी निवृत्ति बोधिसत्व की प्रक्रिया से 'बुद्धत्वोपलब्धि' में है। गोस्वामीजी ने इसी के लिए कहा है—

"प्रेम भगति जल बिनु अन्हवाये।
अभिअन्तर मल कबहुं न जाये॥"

मेरी निजी धारणा है कि यह प्रेम भगति ज्ञानोत्तरा आत्म-रति है—अभेद-भगति है। शास्त्रों में कहा गया है—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक्, जाते बोधे **मनीषया**।
भक्तयर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

आत्मबोध से पहले का द्वैत—अनात्मबोध मोहकारी होता है—फलतः दुःख-संतति का प्रसवकारी है। पर विद्यात्मिका वृत्ति से आविद्यिक वृत्तियों का क्षय हो जाने के अनन्तर आत्म-साक्षात्कार—अद्वैत बोध के बाद का कल्पित द्वैतबोध—जो भक्ति के लिए है—अद्वैतबोध से भी सुन्दर और आनन्दमय है। इसका मतलब यह हुआ कि यहाँ का भजनीय, भजन तथा भक्त-तत्वतः हैं—अभिन्न ही, केवल 'भजन' के लिए त्रिधा कल्पित हैं। अर्थात् भक्ति भक्त, भगवंत ही नहीं, 'गुरु' भी—चतुर नाम किन्तु वपु एक ही हैं। भगवंत और गुरु में कोई भेद नहीं है। 'वैराग्यसंदीपनी' में कहा है—

तन करि मन करि वचन करि काहू दूषत नाहिं
तुलसी ऐसे संतजन, रामरूप जग माहिं।

राम स्वयं अपने और भक्ति के बीच 'गुरु' को सन्त कहते हैं—

भगति तात अनुपम सुख मूला।
मिलहिं जो संत होहिं अनुकूला॥

कहने का अभिप्राय यह है कि अद्वैत भक्ति के धरातल पर भक्ति, भगवान और भजनीय कल्पित भेद हैं—नाम मात्र का—अर्थ का नहीं। अर्थतः सभी एक ही हैं। यदि अर्थतः सभी एक हैं—तो इसका अर्थ यह है कि 'भगति' भी तत्वतः चिदानन्दमय है—भजनीय तो है ही। भक्त भी अभेद भूमि पर वही है। भाव का पूरा सुख कल्पित अभाववश ही मिल सकता है। कल्पित या स्वेच्छाधीन अभाव सुखकर तो हो सकता है—पर दुःखकर नहीं हो सकता।

अब, यह देखना चाहिए कि 'भक्ति' के इस रूप की कल्पना का उत्स क्या है—निगम या आगम या क्वचिदन्य? 'निगम' के ज्ञानकांड और कर्मकांड में तो 'भक्ति' का यह रूप है ही नहीं, उपासना कांड में भी यह रुप नहीं है। शांकरधारा में आत्म-रति या निर्गुणोपास्ति की बात पंचदशीकार ने यद्यपि सविस्तार उठाई है और कहा है कि जो आत्मा—'वेदन' का विषय बन सकता है, वह 'उपासन' का भी विषय बन सकता है। जिस भी रुप में वह वेदन का विषय है—उसी रुप की प्रत्यावृत्ति उपासना भी कही जा सकती है। इस 'अहंग्रहोपासना' का मध्यकालीन वैष्णवों की 'साध्य पंचम पुरुषार्थ रुपा भक्ति' से तालमेल बिल्कुल नहीं बैठता। कारण, वह सब आत्मसाक्षात्कार के लिए है और प्रक्रान्त भक्ति आत्मसाक्षात्कार के बाद की है—अतः पूर्ववर्ती से परवर्ती की एकरूपता का सवाल ही नहीं खड़ा होता। जो अहंग्रहोपासना साधन है—उसका भगवदभिन्न भक्ति से एकरूपता किस प्रकार? 'भक्ति' की यह कल्पना विशुद्ध आगमिक है। आगमिक परम्परा में 'भक्ति' मायिक अन्तःकरण की एक वृत्ति विशेष नहीं है—बल्कि उसके माध्यम से प्रकाशित होने वाली ह्लादिनी शक्ति की ही एक वृत्ति है—तरंग है—उच्छलन है। आत्मा की चिदानन्दमयी शक्ति की ही एक वृत्ति है—इसीलिए वह बोधमयी भी है और आनन्दमयी भी। तुलसी के "ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा" को इसी भूमिका पर परखा जा सकता है। चित् ही अनुकूल होकर आनन्द है—आनन्दरूपा ही भक्ति है। यही साध्य है—पर इसका आस्वाद कल्पित भेद की भूमि पर ही संभव है। एतदर्थ 'ज्ञानोत्तरा भक्ति' की बात कही जाती है। इस प्रकार भक्ति भगवान् की ही आत्मशक्ति की एक वृत्ति विशेष है। तुलसी को भक्ति का यही रूप अभीष्ट है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति के इस रूप की संगति के अनुरूप ही भजनीय चरमतत्व की कल्पना करनी पड़ेगी। गोस्वामीजी चरम परमतत्व को 'राम' नाम से अभिहित करते हैं—पर ये 'राम' शांकर-ब्रह्म की भाँति 'शक्ति' शून्य नहीं हैं—शक्तिमान् हैं। 'सिया' उनकी ऐसी शक्ति हैं—जो उनसे गिरा—अर्थ और जलवीचिवत् न एकांततः भिन्न ही कही जा सकती है और न एकान्ततः अभिन्न ही। बात यह है कि कहना वही और उतना ही सम्भव है जितना 'बुद्धि' में आ सके। 'बुद्धि' स्वयं सापेक्ष और सीमित है—अतः उसमें जो कुछ भी आयेगा—वह भी सापेक्ष और सीमित होगा—अतः बुद्धिपूर्वक समस्त कथन भी और कथ्य भी सापेक्ष और सीमित होगा—अतः बुद्धि की परिधि में समग्रतः न आ सकने वाले तत्त्व के विषय में निरपेक्ष कथन सम्भव ही नहीं है। फलतः चरमतत्व के विषय में सारा कथन एकांततः सत्य नहीं है। वह समस्त संभावनाओं का आगार है—अतः सारी संभावनाएँ संभावनाओं के रूप में ही कही जा सकती है—उसमें भेद की भी सम्भावना है और अभेद की भी—उभय की भी और अनुभय की भी, निषेध की भी और विधान की भी दोनों की और किसी की भी नहीं। इस प्रकार तुलसी की दृष्टि में चरमतत्व ऐसा ही है। आगमिक अद्वयवादी यही मानते हैं। शांकर अद्वैत तुलसी को यदि अभीष्ट होता, तो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर तक की ही कल्पना करने वाले शांकर अद्वैतियों की भाँति ये भी 'चिदानन्दमय देह' की बात न करते। चिदानंदमय शाक्त देह की कल्पना केवल अद्वैतवादी आगमिक ही मानते हैं। गोस्वामीजी ने परमतत्वज्ञ वाल्मीकि द्वारा कहलवाया है—"चिदानन्दमय देह तुम्हारी"। भगवद्रूप की इस बोधस्वातंत्र्यमय-चिदानन्दमय कल्पना के आलोक में ही गोस्वामीजी की 'भक्ति' का रूप समझा जा सकता है।

चरमतत्व विषयक दार्शनिक मान्यता के स्पष्टीकरण के अनन्तर उसकी अवरोहणात्मक या जागतिक स्थिति का निरूपण प्रसंग प्राप्त है। शांकर अद्वैत वेदांत सृष्टि को माया शक्ति का परिणाम मानता है और माया को स्वतंत्र मानता है—ईशाधीन नहीं। इसीलिए उनके यहाँ 'षडस्माकमनादयः' कहा गया है। तत्वतः अद्वैत सत्ता को स्वीकार करके भी चित्, अचित्, जीव, जीवेशभेद आदि को अनादि कह दिया गया है। 'लीला' दर्शन की सारी सम्भावनायें शांकर अद्वैत में निःशेष हो जाती हैं। ये आगम ही हैं, जो ईश्वर की स्वातंत्र्य शक्ति की लीला रूप में सृष्टि का समर्थन करते हैं। गोस्वामीजी ने अनेकत्र माया को ईशाधीन कहा है। इस प्रकार जहाँ एक ओर गोस्वामीजी माया को ईशाधीन कहकर शांकर प्रस्थान से अपने को पृथक् कर लेते हैं—वहीं दूसरी ओर 'सत्ख्याति' या 'आत्मख्याति' द्वारा भ्रम का आत्यंतिक उच्छेद मानने वाले विशिष्टाद्वैतवादियों से भी अपने को अलग कर लेते हैं। परतत्व आनन्दमय स्वरूप का अनुभव आत्मशक्तिवश जगदात्मक आत्मप्रसार द्वारा भी पा लेता है और स्वात्मविश्रांति द्वारा भी। गोस्वामीजी भी अद्वयवादी आगमिकों की भांति मानते हैं कि समूची सृष्टि चरमतत्व का ही प्रसार है। वे कहते ही हैं—

"सियाराममय सब जग जानी"

समस्त जगत शक्ति शक्तिमान् के अद्वय रूप की ही परिणति है। यही कारण है कि चरमतत्व की द्वयात्मकता के अनुरूप सारा जगत् "स्थितिगत्यात्मक" है। राम 'स्थिति' हैं और 'सिया'—गति। द्वयात्मकता में वे 'स्थितिगत्यात्मक' हैं और अद्वयात्मकता में उभयातीत। इस दृष्टि से चरमतत्व विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी। चाहे अणु-परमाणुमय जड़ जगत् को लें या जीवकोश रूप चेतन को—उभयत्र पुंस्त्व तथा स्त्रीत्व 'राम' और 'सिया' के प्रतिनिधि में संलग्न हैं। अणु-परमाणु में ऋणात्मक तथा धनात्मक शक्तियाँ हैं और जीवकोश में डी० एन० ए० तथा आर० एन० ए० हैं। अध्यात्म ही नहीं, विज्ञान भी इसे स्वीकार करता है।

अवरोहण के अनन्तर आरोहण की प्रक्रिया आती है—प्रत्यावर्तन का प्रसंग आता है। प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया भगवदनुग्रह से ही संभव है। गोस्वामीजी उपनिषदों की

"यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः"

की भाषा में कहते हैं—

"सोई जानै जेहि देहु जनाई।
जानत तुमहि तुमहि होई जाई॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यावर्तन उसी की इच्छा से संभव है। यही इ... जीवन-विषयक होने से शक्तिपातात्मक अनुग्रह है। शक्ति... पात की आनुपातिक मात्रा में 'गुरु' लभ्य 'दीक्षा' आ... है। गोस्वामीजी की दृढ़ धारणा है "गुरु बिनु भवनि... तरै न कोई।" 'विनयपत्रिका' भी कहती है—

"तुलसीदास हरि गुरु करुना बिनु..."

गुरु दीक्षा में 'नाम' देता है और नाम साधना साधक द्वारा सम्पादित की जाती है। गोस्वामीजी ने कहा है—

"नाम निरूपन नाम जतन तें।
जिमि प्रगटत अनमोल रतन तें॥"

तुलसीदास ने नाम निरूपन की बात तो बहुत की है—पर 'नाम जतन'—नाम विषयक अभ्यास की बात कम। एक स्थल पर यह अवश्य कहा गया है—

"जोग जंत्र जप मंत्र उपाऊ।
फलै तबहिं जब करिय दुराऊ॥

संभव है मंत्रात्मक (बीज मंत्र जेहि जपत महेसू) उपाय का दुराव किया हो। उपाय के नाम पर दो बातें ही मिलती हैं—एक तो उसे जीह देहरी पर रखना अर्थात् नामोच्चारण और दूसरे—

"रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा।"

श्वास प्रतिश्वास नाम की रट। क्या इस 'प्रतिस्वाशा' के माध्यम से गोस्वामीजी संतों की भांति श्वास प्रश्वासमय सहज जप की ओर तो संकेत नहीं कर रहे हैं? एक संत ने ठीक कहा है कि मुख से जप करना वैसा ही है जैसे नौकर-चाकर से पूजा करवाना। वास्तव में मुक्त होना या भक्तिरस का आस्वाद पाना लक्ष्य है—जीव को और साधन करें—जीवेतर—यह संगत भी नहीं लगता। साधना तो ऐसी होनी चाहिए जो जीव ही करता हो। इसीलिए मानस जप अथवा सहज जप को जप परम्परा में महत्व दिया गया है। कविराज श्री गोपीनाथ ने नाम साधना द्विविध कही है—रस पर्यवसायी तथा नादपर्यवसायी। निश्चय ही 'भक्ति' रस को साध्य मानने वाले गोस्वामीजी की नाम साधना 'रसपर्यवसायी' ही होनी चाहिए। "रामनाम कला मणि मंजूषा"—नाम की कृति को आधार बनाकर कविराज जी ने इनकी नामसाधना या 'नामजतन' का निरूपण किया है—पर परम्परा इस कृति को प्रामाणिक नहीं मानती। कहा गया है कि नाम के जाग्रत होने से सद्गुरु की और उनके प्रभाव से इष्टमंत्ररूपी विशुद्धबीज की प्राप्ति हो सकती है। बीज के प्रभाव से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है—फलतः देह और मत की मलिनता हटती है। भजन या नामजप की स्वाभाविक स्थिति इस मातृगर्भ संभूत मायिक देह से संभव नहीं है—तदर्थ भाव देह की अपेक्षा है। वास्तव में इसी भाव देह में स्वाभाविक भजन होता है। वैध-मार्ग तब तक के ही लिए उपादेय है जब तक मंत्र चैतन्य नहीं होता। मंत्र चैतन्य के बाद, विधि मार्ग की सार्थकता जाती रहती है। भाव देह के विकास के साथ-साथ भावरञ्जित दृष्टि के समक्ष इष्ट देवता का ज्योतिर्मय धाम प्रकट होता है। भजन के ही प्रभाव से भाव प्रेम में परिणत होता है और भाव के प्रेम रूप में परिणत होते ही उस ज्योतिर्मय धाम में इष्ट देवता का प्रत्यक्ष होता है। इसके पश्चात् भक्त और भगवंत का द्वैत विगलित हो जाता है। इस दशा में भक्त की शुद्ध वासनात्मक स्थायी भाव के अनुरूप अनन्तविध लीला का प्राकट्य होता है। भक्ति की यही सिद्ध दशा है। इस प्रकार नाम ही रसात्मक परिणति पाता है।

प्रसिद्धि है कि गोस्वामीजी को देहत्याग से कुछ ही समय पूर्व महावीरजी ने रामनाम का रहस्य बताया था। कहा था कि रामनाम का विश्लेषण करने पर उसमें पांच कलाओं का पता लगता है—ताटक, दण्डक, कुण्डल, अर्धचन्द्र तथा बिंदु। साधक नामसाधना दश क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण तथा कैवल्य देह का उक्त कलाओं में विलयन करता जाता है। बिंदु 'सिया' हैं और उनका भेद किए बिना रेफ रूप राम का संधान पाना कठिन है। महावीरजी के उपदेश का निष्कृष्ट अर्थ यही है कि बिंदु रूपा सीता का आश्रय लिए बिना निष्कल ब्रह्म की ओर नहीं बढ़ा जा सकता। विनयपत्रिका में भी सीता के माध्यम से राम की ओर बढ़ने में यही रहस्य इंगित है।

इस प्रकार नाम साधना से साध्य चिदानंदमय भतकि का कल्पित द्वैतमय भूमिका पर आस्वाद लिया जाता है। गोस्वामीजी के अनुसार प्रत्यावर्तन की यही प्रक्रिया है। संक्षेप में गोस्वामीजी की मेरी धारणा के अनुसार ये ही मान्यताएं हैं।

(रामसूति त्रिपाठी)
आवास क्रमांक-२, कोठी रोड,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुष-सम्बन्धी युग-धारणाएँ एक शोध दृष्टि

—डॉ० छविनाथ त्रिपाठी

"पुरुष" के सम्बन्ध में युगानुकूल भिन्न-भिन्न धारणायें बनती रही हैं। किसी शब्द-विशेष के साथ जब एक विशेष प्रकार की धारणा सम्बद्ध हो जाती है, तब वह शब्द, सामान्य-शब्द की श्रेणी से ऊपर उठकर एक विशिष्ट अर्थ का बोधक बन जाता है। जब कोई कवि उस शब्द का प्रयोग करता है, तो उसके मानस-पटल पर युगानुरूप अर्थ का ही बिम्ब उभरता है और उसे आशा रहती है कि काव्य श्रोता या पाठक के मानस में भी वही बिम्ब उभरेगा। यह बिम्ब-निर्माण शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ मात्र से ही नहीं होता, अपितु उन धारणाओं के द्वारा भी होता है, जिन्हें लोक-मानस उस शब्द के साथ संबद्ध कर लेता है। 'पुरुष' शब्द के साथ रूप, गुण और व्यक्तित्व सम्बन्धी अनेक धारणायें सदा संबद्ध रही हैं। ये धाराणायें युग-परिवर्तन के साथ बदलती रही हैं, फल-स्वरूप अर्थ-विधान की उसकी क्षमता और बिम्ब-निर्माण सम्बन्धी उसकी स्पष्टता और व्यापकता में भी परिवर्तन होता रहा है।

अध्यात्म और धर्म-प्रधान वैदिक-युग में एक मन्त्र-द्रष्टा ऋषि ने 'पुरुष सूक्त' में 'पुरुष' को इतनी महत्ता प्रदान की है कि वह भूत और भविष्य का नियंता, अमृतत्व का स्वामी, सम्पूर्ण विश्व में अबाधित गति वाला, श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण भूमि और नगरों का अति-क्रान्ता मान लिया गया है।[1] पुरुष सूक्त के सोलह मन्त्रों में 'पुरुष' की जिस महनीयता का वर्णन हुआ है, उससे उसका आदर्श-व्यक्तित्व परमात्मा के समकक्ष पहुँच जाता है। वैदिक-युग का 'पुरुष' इन सम्पूर्ण धारणाओं का बिम्ब उभारने में समर्थ था। वायु-अन्तरिक्ष, वीर-वीर्य, मृत्यु-अमृत, अमृत, सत्य-अनृत तथा भूत और भव्य जब न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, तब यह 'पुरुष-प्राण' ही क्यों डरे।[2] वह तो कल्याण-पथ का निर्भीक पथिक है।[3]

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् काल में वैदिक 'पुरुष' का विराट-स्वरूप सर्वथा खो नहीं गया था, फिर भी भौतिक-जीवन की ओर अत्यधिक उन्मुख होने के कारण संकुचित अवश्य हो गया था। ऐतरेय ब्राह्मण में 'चरैवेति' की अनुगूंज अवश्य सुनाई पड़ती है, परन्तु

१. ऋक् १०।९०।२,३,५
२. शौनक-संहिता २।१५।२,९,११-१३ ॥
३. अथर्व १९।९।१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपदेश रूप में ही; सूर्य-सदृश श्रम और गतिशीलता उसमें नहीं रह गई थी।[1] वह पुरुष, पुरः या शरीर में ही आबद्ध होकर रह गया था। गृहस्थ-जीवन की महत्ता बढ़ने के कारण 'शतपथ ब्राह्मण' ने 'पुरुष' को आधा मान कर पत्नी को उसका अर्ध-भाग कहा।[2] अपत्नीक को अयज्ञीय समझा जाने लगा[3] और पुत्रहीन के लिए तो यह लोक ही निरर्थक बन गया।[4] नारी का गौरव ही गृहस्थ-जीवन का गौरव है, वह जाया और सखा है[5], उसका सौन्दर्य आकर्षण का विषय है[6], इस धारणा ने पुत्रैषणा को बढ़ाया और सन्तानोत्पत्ति के लिए अनेक विवाह को भी विहित घोषित कर दिया गया।[7]

जब आरण्यकों के समय पुत्र-वित्त और लोकैषणाओं ने पुरुष को पूरी तरह बाँध लिया तो इनकी प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप इनके त्याग पर बल दिया जाने लगा।[8] 'पुरुष' का यह आबद्ध-रूप इतना सशक्त बन चुका था कि त्याग के सहस्रों उपदेश भी उसके अस्तित्व को उखाड़ फेंकने में असफल रहे।

'द्वा सुपर्णा'[9] से यह आभास तो मिलता ही है कि 'पुरुष' द्विमुखी बन गया था। या तो वह सांसारिक सुख की लालसा में मोह-शोक और चिन्ताग्रस्त था या इनके परे वीत शोक। 'यथाक्रतु' सांसारिक पुरुष ही था।[10] सैकड़ों हाथों से एकत्र करो और हजारों हाथों से वितरण,[11] जैसे आदेश, आसक्ति और त्याग के समन्वय को ही व्यक्त करते हैं। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'[12] का स्वर मुखरित करने वाला ईशावास्य भी यह स्वीकार करता है कि हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख ढँक गया है।[13] भोग-संलग्न आडम्बरपूर्ण जीवन को जीने वाले पुरुष की आयु भी कम हो गई। सौ या सौ वर्ष से भी अधिक जीने वाला 'पुरुष' वैदिक पुरुष था,[14] ऐसा पुरुष भोगासक्त होकर 'मनुष्य' मात्र रह गया।[15] इस 'नाति दीर्घ' जीवन के प्रति, उसके भोगों के प्रति, विरति का स्वर नचिकेता ने मुखरित किया था।

उपनिषद-काल के 'पुरुष' के दोनों रूपों को स्वीकृति प्राप्त हो गई। वैदिक विराट् पुरुष को 'परात्पर दिव्य पुरुष' मान लिया गया और तत्कालीन 'पुरुष' को नाम-रूप युक्त 'अंगुष्ठ-पुरुष'।[16] कर्म, प्रेय, अज्ञान और अमुक्त का सम्बन्ध अंगुष्ठ पुरुष से हो गया और त्याग, श्रेय, ज्ञान तथा मुक्त का सम्बन्ध विराट् पुरुष से। पुरुष के इस बौने रूप को महत्तम एवं विराट् रूप में उभारने का प्रयास ही उपनिषद् ग्रन्थ करते हैं। सारा मुण्डक उपनिषद् कर्मबद्ध पुरुष के मुक्त पुरुष तक आरोहण की कथा है। सारे ही उपनिषद् ससीम को असीम बनने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इन्द्र ने माया द्वारा पुरुष को यह ससीम रूप दे दिया था,[17] पर इस माया से मुक्ति सरल न थी। 'पुरुषान्न परं किंचित्'[18] में पुरुष-महिमा को ही पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु न तो यह कार्य सरल था न सर्वजन बुद्धि-गम्य। इस अंगुष्ठ मात्र पुरुष का बोध भी ज्ञानियों के लिए ही

---

१. ऐतरेय ३३।३।१५
२. शतपथ ५।१।६।१०, ५।२, १।१०
३. तैत्तिरीय २।२।२।१, ३।३।३।५
४. ऐतरेय ७।१३
५. वही ४।२७।५,६
६. शत० १३।१।६।६, ३।५।१।११, ६।५।१।१० आदि
७. ऐत० ३।२३, गोपथ २।३।१६
८. बृहदारण्यक ४।४।२२
९. श्वेता० ४।६
१०. वही ४।७
११. अथर्व ३।२४।५
१२. ईशा० १
१३. वही १५
१४. कौषीतकी ११।७, शत० १।६।३।१६
१५. कठ १।२।३
१६. मुण्डक ३।२।८, श्वे० ३।१६, कठ २।१।१२, २।३।१७
१७. बृह० उ० २।५।१६
१८. कठ १।३।११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभव रह गया। वे ही विराट् के इस बौने रूप को देख सकते थे। इसका ज्ञान-मात्र ही मुक्ति का साधन बन गया।[1] तात्त्विक-एकत्व-बोध मात्र से ही तो वामन, विराट् नहीं बन सकता था।

जिस प्रकार पुरुष और दिव्य-पुरुष का सम्बन्ध, लघु और महत् के सम्बन्ध का द्योतक बना, उसी प्रकार नर-राष्ट्र के भौतिक स्वरूप में प्रजा और राजा का सम्बन्ध भी लघु-महत् आधार पर प्रतिष्ठित हुआ। अंगुष्ठ पुरुष की महत्ता दिव्य पुरुष के साथ एकात्मता में है, अतः प्रजा की महत्ता राजा और राष्ट्र के साथ एकात्मता स्थापन में विहित हो गई। राजा और राष्ट्र जितने महान् एवं विराट् हैं उसकी प्रजा भी उतनी ही महान् और विराट् होगी, औपनिषदिक दर्शन का यह राजनैतिक रूप उत्तरोत्तर विकसित होता गया। यह तथ्य अधिक महत्त्व-पूर्ण नहीं बन सका कि राजा कैसे चुना या बनाया जाता था, उसे क्या-क्या प्रतिज्ञायें करनी पड़ती थीं, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह उभरा कि पुरुष के विराट् रूप का लौकिक प्रतीक राजा बन गया, उसे 'महती देवता' कहा गया तथा वह अपने विराट् स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ का आश्रय लेने लगा। ब्रह्मचर्य और तप[2] द्वारा राजा राष्ट्र की रक्षा अवश्य करता था, किन्तु उसके पौरुष का दर्शन[3] तो युद्ध में दिखाई पड़ता था। पौरुष के विराट् स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए ही वह साम्राज्य और सार्वभौम राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील एवं लक्ष्य-निष्ठ रहता था।[4] प्रजा का ससीम पौरुष राजा के असीम पौरुष में पुंजीभूत होकर विराट् का लौकिक रूप व्यक्त करता था।

सूत्र काल में श्रौत, पाक एवं संस्कार सहित महायज्ञों द्वारा यज्ञ को भी जीवन-व्याप्त विराट् आकार प्रदान किया गया। पुरुष 'यज्ञमयोऽयं पुरुषः' बन गया। श्रौत, गृह्य एवं धर्म सूत्रों ने ससीम पुरुष को सामाजिक, नियम-बद्ध, अनुशासित एवं पूर्णतः लौकिक पुरुष में ढाल दिया। यज्ञों का विराट् स्वरूप विशाल जनसमाज को प्रभावित कर सकता था।[5] पौरुष के विराट् स्वरूप को व्यक्त करने के लिए ही साधकों में महावीर और बुद्ध ने आरम्भ में कृच्छ्र-तप द्वारा जनसमाज के समक्ष त्याग और तप का उदाहरण प्रस्तुत किया था। लोकासक्त और लोक-विरक्त 'पुरुष' के द्विविध विराट् रूपों की तत्कालीन अभिव्यक्ति औपनिषदिक आरोहण कथा से भिन्न नहीं है। पुरुष की मनुष्य रूप में परिणति उसके और परिसीमन की कथा है। विधि-निषेध का पालक 'पुरुष' भ्रम, प्रमाद इन्द्रिय-दोष और विप्रलिप्सा से युक्त होने के कारण और भी अप्रामाणिक तथा संकुचित बन गया। 'पुरुष' का यह रूप एक तीसरे और निम्न-स्तर तक पहुँच गया और विविध दर्शनों ने उसका वर्गीकरण—जीव, ईश्वर और दिव्य-पुरुष (ब्रह्म) के रूप में करते हुए 'जीव' को उस निम्न-स्तर की संज्ञा प्रदान की।

सांसारिक कर्म (संघर्ष)-निरत एवं उससे उत्पन्न कर्म फल का भोक्ता जीव तो दुःखी होता ही है। दुःख-नुषंगी होने के कारण सांसारिक सुख भी दुःखमय है। अतः दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति के अन्वेषण में ही भारतीय दर्शनों का विकास हुआ। दर्शन की इस चिन्तन-धारा से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि जीव-स्तर का पुरुष अत्यन्त दुःखी था। वेदान्त के अनुसार शरीरेन्द्रिय का अध्यक्ष, कर्मफल का भोक्ता एवं अविद्यानुगत अहंकार से युक्त पुरुष ही जीव है। सांख्य का प्रकृतिबद्ध पुरुष ही जीव है। योग ने जीवात्मा और परमात्म पुरुष के मध्य ईश्वर को नहीं भुलाया। न्याय ने आत्मा को शरीरेन्द्रियादि से पृथक् तत्त्व ही माना।[6] तर्कभाषा होते हुए भी शरीर, इन्द्रिय, विषय, ज्ञान सम्बन्धी सुख-दुःख नामक इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्ति

१. वही २।२।८, २।३।८ श्वे० ३।८,९,१२
२. अथर्व ५।१।७
३. ऋक् ६।७५।१
४. ऐतरेय अध्याय ८
५. द्रष्टव्य-शांखायन श्रौतसूत्र।
६. तर्क भाषा-पृ० २३२
७. न्या० १।१।९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवृत्ति को ही अपवर्ग कहा। वैशेषिक तो आत्मेत पदार्थों के ज्ञान पर ही आत्मा के ज्ञान को निर्भर मानता है। इन सभी दर्शनों ने आत्मा को चेतन तत्त्व ही मान कर उसका विवेचन किया है। भौतिकवादी चार्वाकों ने शरीर को ही सब कुछ मानते हुए भी 'चैतन्य विशिष्ट-कायः पुरुषः' चेतन तत्त्व को अस्वीकार नहीं किया है। जैन दर्शन ने भी सांख्य की भाँति कर्मास्रव लिप्त जीव की पृथक्-पृथक् सत्ता ही मानी है। बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद भी चेतना-प्रवाह का अस्तित्व स्वीकार करता है। अत्यन्त परवर्ती काल का शैव-दर्शन भी चिति के विराट् पुरुष शिव को ही महत्ता प्रदान करता है। प्रायः सभी दर्शनों का जीव चैतन्य-विशेष है। परम चेतन की स्थिति-प्राप्ति को ही वह कैवल्य या मुक्ति या परम पुरुषार्थ मानता है। इन सभी दर्शनों का लक्ष्य एक ऐसी स्थिति के अन्वेषण का प्रयत्न करना है जहाँ सांसारिक दुःख सह्य एवं उपेक्षणीय बन सके। संघर्ष जन्य दुःखों को वह खिलाड़ी की भाँति उत्साह के साथ झेल सके। इसके लिए उसे पुनः पुरुष के चैतन्य-स्वरूप को ही आधार बनाना पड़ा। सभी जीवों के लिए समान आधार पर समान निदान का निर्देश किसी तात्त्विक-साम्य के बिना संभव भी नहीं था। पृथक्-पृथक् शरीर के निदान की अपेक्षा उन्होंने सर्वव्यापक चैतन्य को पकड़ कर दुःख निवृत्ति का समवेत उपाय बताना अधिक सुकर समझा। जीव की स्वचैतन्य में स्थिति या चैतन्य-बोध एक ऐसी उपलब्धि है जिसमें सांसारिक भिन्नताएँ एवं बाधाएँ अवरोध नहीं उत्पन्न कर सकतीं। वेदान्त का जीवन्मुक्त और गीता का अनासक्त एक ऐसी स्थिति-प्राप्त व्यक्तित्व है, ऐसी ही स्थिति की उपलब्धि बुद्ध और जिन भी करते हैं। यह स्थिति जीव का साध्य है। स्वयं के महत् चैतन्य या विराट पुरुषत्व का बोध प्रथम स्तर था और उस स्वरूप की उपलब्धि एवं उसमें स्थिति द्वितीय या सिद्धि-स्तर था।

गीता ने क्षर और अक्षर अथवा जीवात्मा और परमात्मा या पुरुष और पुरुषोत्तम के रूप में पुरुष के द्विविध रूप को स्वीकार किया है। पुरुष के स्वभाव का विश्लेषण करते हुए गीता ने उसे भी दैव और आसुर स्वभावनिष्ठ वर्ग में विभाजित किया है।[1] पुरुष श्रद्धामय है,[2] गुण, प्रवृत्ति और स्वभावगत वैषम्य ही उसे भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों में श्रद्धालु बनाते हैं। गीता के अर्जुन का विषाद पौरुष के आवृत रूप को ही व्यक्त करता है। उसके विषाद के मूल में लोक-संग्रही भाव का अभाव था। वह राज्य-सत्ता को अपने और अपने परिजनों के लिए सुखोपलब्धि का साधन मानता था।[3] श्रीकृष्ण ने 'विराट-पुरुष' का दर्शन कराकर अर्जुन की ससीमता को और अधिक स्पष्ट कर दिया है।[4] गीता ने 'विराट-पुरुष' को ही 'पुरुषोत्तम' विशेषण दिया है, इस रूप के अव्यक्त होते ही स्वयं श्रीकृष्ण के स्वरूप को गीता ने भी 'मनुष्य' ही कहा।[5]

आदि कवि वाल्मीकि को उत्तम पुरुष की खोज थी, जिससे वह एक आदर्श-चरित्र का निर्माण कर सकें। नारद से उन्होंने पूछा कि इस लोक में गुणवान् और वीर्यवान् कौन है।[6] नारद ने संक्षेप में राम का जो चरित्र प्रस्तुत किया,[7] वह एक तत्कालीन उत्तम पुरुष का चरित्र था। उत्तम पुरुष की धारणा राम के चरित में व्यक्त हुई है। ऐसा पुरुष गम्भीरता में समुद्र और धैर्य में हिमवान् होता है। उसके समस्त गुण उदात्त होते हैं और वह बलवान् तथा पराक्रमी होता है। वह यशस्वी होता है, जिसकी यशःगाथा कवियों के गान का विषय बने।[8] लोक-संग्रही होने के कारण ही राम को

१. गीता १५।१६-१९
२. वही १६।६
३. वही १७।३
४. वही १।३३
५. गीता-अ० ११
६. वही ११।५१
७. वाल्मीकि रामायण १।१।३-१६
८. वही १।१।१७-९८
९. वही १।२।४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैथिली तक का त्याग करना पड़ा।[1]

पुरुषार्थ का स्वरूप रामायण काल से महाभारत काल तक कितना परिवर्तित हो चुका था यह दोनों के अन्तर से प्रतीत होता है। रामायण काल में राज्य-सत्ता का उद्देश्य लोक कल्याण था जब कि महाभारत काल में वह व्यक्तिगत सुखोपलब्धि का साधन बन गई थी। ऐसे स्वार्थ-परायण युग में भी व्यास को यह विस्मृत नहीं हुआ था कि इस धरा पर मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।[2]

राम वैदिक परम्परा के कर्मशील पुरुष श्रेष्ठ थे। जिन विरक्त परम्परा के थे। बुद्ध मध्यमार्गी थे, परन्तु कृष्ण ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वयकर्त्ता थे; गीता से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। राज-सत्ता, राजा एवं प्रजा के साथ उनके सम्बन्धों का जो विकास परवर्ती काल में हुआ, उसका आधार-स्रोत रामायण वर्णित व्यवस्था थी। बुद्ध से प्रभावित अशोक स्वयं चक्रवर्तित्व में विश्वास रखता था। सामन्तवादी-व्यवस्था से उसका शासन भिन्न नहीं था। राजा के प्रति सैनिकों एवं प्रजा का भाव उसे दिव्य-पुरुष मानना अस्वीकार कर चुका था, अन्यथा कौटिल्य को राजा के लिए न लड़ने वाले व्यक्तियों या सैनिकों को नरक का भय न दिखाना पड़ता।[3] राजा भर्त्ता या स्वामी मात्र रह गया था। राजा का पुरुषार्थ, यश एवं पराक्रम उसका व्यक्तिगत विषय था। प्रजा उसमें अपनी समवेत शक्ति का विराट रूप देखने में असमर्थ हो चुकी थी,यही कारण है कि वीरता-प्रदर्शन भी व्यक्तिगत विषय बन गया था।

श्री अरविन्द घोष ने वाल्मीकि, व्यास और कालिदास को प्राचीन भारत के इतिहास का अमृत-स्रोत कहा है। इनकी दृष्टि में कालिदास राष्ट्रीयता के सूत्रधार थे[4]। वाल्मीकि को आदर्श-चरित राम में मिला और कालिदास को रघुवंशियों में। कालिदास के अनुसार वे दान करने के लिए धन-संग्रह करते थे, मितभाषी थे, यश के लिए विजय की कामना करने थे, शैशव में विद्या का अभ्यास करते थे, यौवन में संसार के भोगों का आनन्द लेते थे, बुढ़ापे में तप करते थे और अन्त में योग से शरीर त्याग करते थे। विवाह का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति ही समझते थे[5]। ये श्रेष्ठ पुरुषों के गुण थे। इन गुणों से युक्त रघुवंश के विविध राजाओं का चरित्र उन्होंने प्रस्तुत किया, किन्तु जब वे विलासी अग्निवर्ण का वर्णन करने लगे तो संभवतः उन्हें उस मूल प्रेरणा का स्मरण हो आया, और रघुवंश काव्य की समाप्ति हो गई।[6]

कालिदास की दृष्टि में भी हरि ही एक मात्र पुरुषोत्तम थे।[7] इनका स्मरण मात्र ही पवित्र करने वाला है। कालिदास ने केवल दशरथ को पुरुष और राम को पुरातन पुरुष कहा है।[8] राम को ही वह हरि भी कहते हैं। शेष सभी रघुवंशियों को वह क्षितीश, नृप, नृपति, राजा, पार्थिव, ईश्वर आदि शब्दों से ही व्यक्त करते हैं, पुरुष या पुरुषोत्तम शब्द से नहीं। ये सभी यश और धन के इच्छुक हैं। दिलीप तक को अपने यशःशरीर की अधिक चिन्ता है।[10]

पुरुषार्थ प्रवर्तिनी प्रकृति होती है और उस प्रकृति को देखने पहचानने वाला ही पुरुष है।[11] काम की उक्तियाँ कालिदास ने जन-विलासिता की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रस्तुत की हैं।[12] शिव जैसे जितेन्द्रिय का तप भी काम ने भंग कर दिया था। रूप-गर्विता पार्वती को भग्न-मनोरथा दिखाकर भी कालिदास ने उसे मनस्विनी कह कर फलोदय तक प्रयत्नशील प्रस्तुत किया है। वस्तुतः

---

१. वही उ० ।९७।४
२. न हि मानुषात्श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्। म० भा०
३. कौटिल्य १०।१३ 'नवंशरावं...'
४. राष्ट्रकवि कालिदास-पृ० २५
५. रघुवंश १।७-८
६. द्रष्टव्य-रघुवंश सर्ग १९
७. रघुवंश ३।४९
८. रघु० १०।२९
९. वही ९।१६,११।८५
१०. वही-२।५७
११. कुमार संभव २।१३
१२. वही ३।३-१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईप्सितार्थ के लिए कृत-निश्चय मनुष्य ही मनीषा या मनस्विनी है।[1] पुरुष और पुरुषार्थ के स्थान पर मनीषा और मनस्विता का प्रयोग धारणा-परिवर्तन का ही द्योतक है। धर्म और मोक्ष का साधक पुरुषार्थी है तथा अर्थ और काम का साधक मनस्वी। मन की प्रवृत्ति निम्नाभिमुखी हो सकती है जैसे जल की। दृढ़-संकल्प उत्तम और अधम दोनों प्रकार के लक्ष्य के लिए हो सकता है। मनोरथ के लिए अवरोध तो है ही नहीं।[2]

गीता में मनुष्य के दो रूप कहे गये हैं—श्रेष्ठ और लोक। एक अनुकरणीय है दूसरा अनुकर्त्ता। मनुष्यों में पौरुष ही विराट पुरुष का प्रतीक था।[3] कालिदास के समय इस पौरुष का प्रतीक था—समुद्रवसना पृथ्वी और नारी।[4] षष्ठांशवृत्ति राजा का कार्य शान्तिकाल में दुष्टों को दण्ड, विवाद का निबटारा और प्रजा का रक्षण था। सत्पुरुष बनने का अर्थ था परोपकार करना मात्र या सद्वस्तु का आदर करना। यद्यपि सामान्य-जन का लक्ष्य श्रद्धा (पत्नी), धन (पुत्र) और क्रिया (पति) मात्र था, पर बुद्धिवाद का अभ्युदय कालिदास-युग की विशेषता थी।[5] इस बुद्धिवाद की स्वाभाविक परिणति अर्थ और काम की सिद्धि के लिए ही होती है। फलस्वरूप पुरुष का एक 'नायक' स्वरूप उभरा जो सुन्दरी नारी के चरणों में पड़ा उसका दास प्रतीत होता है।[6] काम के साथ प्रीति, कृत्रिम-प्रेम, दूती, कातरता तथा प्रणय-निराशा में आत्महत्या का घनिष्ठ सम्बन्ध है।[7] राजा का पुरुषार्थ युद्ध-विजय और नारी-हरण था तो प्रजा का जातिगत कर्त्तव्य-निभाना।[8] डाका डालना भी एक वर्ग का कार्य बन गया था और राज्य में शान्ति इसलिए काम्य बन गई थी, जिससे ऐश्वर्य मत्त एवं विकार-मूर्छित काम-सिद्धि कर सकें।[9] लोकानुग्रह श्लाघनीय अवश्य था पर राजा और वित्तेश प्रजा का मूल लक्ष्य पुरुषार्थों में काम ही रह गया था।[10] नायक का यह रूप मधु-लोलुप मधुकर का ही था। पर-पुरुष संकीर्तन के श्रवण को भी अयुक्त मानने वाले भास की नारी से भिन्न स्थिति थी कालिदास के नारी की भी। लोकवाद कितना[11] उपेक्षणीय बन गया था, यह कालिदास की सीता के कथन से स्पष्ट है।[12]

कालिदास के बाद किसी भी कवि ने चक्रवर्तित्व की कल्पना नहीं की; रामचरित प्रस्तुत करने वालों में उसकी ध्वनि नहीं, प्रतिध्वनि मात्र है। कवियों ने स्पृहणीय गुणों से युक्त महात्माओं के चरित-वर्णन में मन भले ही लगाया हो।[13] सातवीं शती के अन्त में विद्यमान भट्ट-नारायण ने 'मदायत्तं तु पौरुषम्' जैसी कर्ण की उक्तियों में जाति एवं कुल से परे व्यक्तिगत पौरुष को खूब उभारा है।[14] हर्ष के बाद भारत में कोई विशाल राज्य था नहीं। सामंतवादी व्यवस्था में सम्राट् या चक्रवर्ती की

---

१. वही ५।५
२. वही ५।६४
३. गीता- ३।२१,७८
४. शाकुन्तला ३।१८
५. वही ५।८,५।१२,विक्रमो० १।२ शकु० ७।२९ माल० १।२
६. माल० ४।१४, विक्र० ४।६८, माल० ३।२०, शकु. १।२०,३।१० विक्र० २।३।, ३।७, माल० ३।२२, ४।१० आदि।
७. ऋतु० ३।२८, उ० मेघ ५५, माल० ३।३, ३।१४, ४।५, ३।५
८. माल० ५।२, शाकु० ६।१
९. माल० ५।१०, ५।२०, शाकु० ५।१८, विक्र० ५।२५ ऋतु० २।२९
१०. शाकु० ७।३४-३५, ३।१०
११. वासवदत्ता, भास नाटक चक्रम पृ० १८ अन्य स्थल-प्रतिज्ञा यौगन्धरायणं १।११ चारुदत्त भा० ना० च० पृ० १९७
१२. रघु० १४।३१
१३. किरातार्जनीय २।३४
१४. वेणीसंहार ३।३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पना की अपेक्षा पौराणिक के नये मानदण्डों की स्थापना सरल थी। भागवत का 'मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्'[1] पुरुषादर्श कालिदास द्वारा स्थापित आदर्श से भिन्न नहीं है। योद्धाओं में योद्धा, मनुष्यों में राजा और स्त्रियों में मूर्तिमान् कामदेव; यह था वैदिक विराट पुरुष का सामन्ती व्यवस्था में रूप।

काम कथा रत व्यक्तियों के लिए धर्मकथा कुनैन से भी कड़वी लगती है। धर्मोपदेशकों के लिए यह एक बड़ी समस्या थी। वसुदेव हिण्डीकार ने शृंङ्गार कथा के आवरण में धर्म कथा का समावेश कर जनता को आकृष्ट करने का प्रयास किया।[2] प्राकृत एवं अपभ्रंश कथा-काव्यों ने इसी परम्परा का अनुसरण किया, क्योंकि ये अधिकतर जैन धर्म से संबद्ध हैं। कादम्बरी, नैषध और नलचम्पू जैसी संस्कृत कृतियां रस-कथा प्रस्तुत करती हैं,[3] जबकि कुवलयमाला, लीलावती कथा जैसी प्राकृत-कृतियाँ कामोत्थ-धर्मोत्थ होने के कारण संकीर्ण कथायें हैं।[4] सामन्तवादी व्यवस्था के ये सभी सुपुरुष चरित हैं;[5] कालिदास के अनुसार ये सभी उदात्त नायक हैं। जम्बु-चरिय कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञाता को ही पुरुष मान लेता है।[6]

स्वयंभू ने पउमचरिउ में सामन्तवादी पुरुष के युद्धवीर एवं धर्मवीर रूप को ही उभारा है। रण रस लोभी अनावृत यश, यशलोभी रावण, 'कलि-कलुष-सलिल षोषक पतङ्ग' लक्ष्मण, जैसी उक्तियों से पुरुष के उदात्त रूप के दूसरे पक्ष को प्रमुखता दी है।[7]

जैन-रास परम्परा में सुपुरुष वह है, जो गुरु से बोध प्राप्त करे, सत्य बोले, परिवाद से दूर एवं उसे नष्ट करने वाला हो, मोक्ष-मार्ग का वक्ता एवं श्रोता हो।[8] इस परम्परा ने चार आर्य-सत्यों के ज्ञाता को ही त्रिभुवन में जेठाभट माना और निर्ग्रन्थ को ही महावीर। सिद्धि के लिए किया जाने वाला संघर्ष ही महारण है और सिद्धि-प्राप्ति ही महा विजय। ऐसा सिद्ध ही पुरुष है।[9] इस दृष्टि में कभी परिवर्तन नहीं हुआ।

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक काल भी सामन्तवादी था। राहुलजी ने सिद्धों और सामन्तों के द्विविध दृष्टि-कोणों के आधार पर ही इस काल को सिद्ध-सामन्तकाल कहा है। चंद का 'पृथ्वीराज रासो' चली आती हुई 'पुरुष' सम्बन्धी धारणाओं को ही व्यक्त करता है। चंद की दृष्टि में पृथ्वीराज सामंतसूरों में अद्वितीय और आदर्श पुरुष थे। सामंती आदर्श के अनुसार पुरुष को वीर, राजा और कामदेव का अवतार होना चाहिए—

सामंत सूर प्रथिराज सम भयो न को रवि-चक्क तर।
पृ० रा० १६।२४८

अवतार भूप प्रथिराज पहु। पृ० रा० १।६
कामदेव अवतार हुअ। पद्मावती समयो।

इस रासो के तैंतीसवे समयो में पृथ्वीराज के सौन्दर्य का भी वर्णन हुआ है।

चंद ने सामन्ती व्यवस्था में निहित राजा, सामंत और सैनिकों के आदर्श को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। महाभारत, कौटिल्य-व्यवस्था और कुछ पौराणिक तथ्य ही उनके प्रेरक स्रोत थे। इन्हीं के आधार पर उन्होंने स्वामि-धर्म की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया था।[10] राष्ट्रीयता के अभाव में उन्होंने सामंत-सैनिकों के

---

१. भागवत ७।४३।८०
२. प्राकृत साहित्य का इतिहास पृ० ३६४
३. कादम्बरी कथा मुख ८, नैषद १।२, नलचम्पू १।२५
४. कुवलयमाला पृ० ४ लीला० पृ० १।२
५. सुव्वह सुपुरिस चरियं.....कु० मा० पृ० ४
६. कज्जाकज्जाइं जाणई पुरिसो। ज० च० २।३२।२६
७. पउमचरिउ ६।८।२।३७।१।१, १५।१०।६, २२।४।४
८. उपदेश रसायन रास, ४
९. मयण पराजय चरिउ २।५, २।१
१०. द्रष्टव्य—मेरा लेख—पृथ्वीराज रासो एक पौराणिक महाकाव्य—कुरुक्षेत्र युनिवर्सिटी रिसर्च जरनल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समक्ष यही आदर्श उपस्थित किया और रण-मर[illegible] की प्रेरणा दी—

जीविते लभ्यते लक्ष्मी मृते चापि सुराङ्गना ।
क्षणे विध्वंसिनी काया का चिन्ता मरणे रणे ।

इस आदर्श पर चन्द ने 'श्रेष्ठ पुरुष' की [illegible] विशेषताओं का उल्लेख किया है, उनमें अल्प-जीवन एवं कीर्ति को ही प्रमुखता दी है—

मरना जीना हक्क है, जुग्ग रहेगी गल्हां ।
सा पुरुषां का जीवना, थोड़ा ही है भल्हां ।।
पृ० रा० ६४।१६८

संसार अथिर सामंत मत । पृ०रा० ६६।६८३ पद

विद्यापति ने कीर्तिलता और कीर्ति पताका में 'पुरुष' की कहानी ही कही है ।[1] कीर्तिलता में उन्होंने वीर पुरुष का लक्षण बताते हुए कहा है कि वह लब्ध-कीर्ति, संग्राम में सूर, धर्म परायण, अदीन, सानन्द होता है । जिसकी सम्पत्ति का उपभोग सुजन करते हैं, वह गुप्त दानी होता है । वैसे तो पुरुषोत्तम सदृश ही पुरुष होता है, केवल जन्म मात्र से नहीं । यशस्वी, यशार्जन में सक्षम ही पुरुष है ।[2]

विद्यापति की पदावली यद्यपि मुक्तक एवं शृंगारी रचना है, परन्तु उसका नायक तो 'सुपुरुष' है, अतः अनेक स्थलों पर उनकी पुरुष सम्बन्धी धारणा व्यक्त हुई है—

(क) सुपुरुष वचन पषान क रेह । पदा० ८०।।
पुरुष लाख एक लखवा पारिअ ।। पदा० ७६ ।
वैभव गेला रहत विवेक । तैसन पुरुष लाख मँह एक ।
पदा० १४६ ।

सुपुरुष सञो नेह विद्यापति ओल धरि हो निरबाहे ।
पदा० २३१।

(ख) पुरुषक चंचल सहज सुभाव । पदा० ६२।।
एके मधुयामिनि सुपुरुष संग । पदा० ८०।।
सुपुरुषे पाओल सुमुखि सुनारि रे । पदा० १०।।[3]

विद्यापति के 'सुपुरुष' का जो प्रणयी रूप उनकी पदावली में व्यक्त हुआ है, उसमें भी वह लाखों में एक, वचन का पक्का, नागर और भागवत के अनुसार ही स्त्रियों के मध्य कामदेव है ।

चिन्तन एवं शोध का यह भी एक आनन्ददायक विषय हो सकता है कि गृह त्यागी सिद्धों एवं सन्तों की वाणी में पुरुष तो रव-सम ठीक ही रहा, पर जीव ने पतिव्रता नारी का रूप कैसे प्राप्त कर लिया ? किस सीमा तक सूफियों का प्रभाव है और किस सीमा तक सामन्ती-धारणाओं का ? विद्यापति की प्रणय-कथा भी अकथ-कथा है और कबीर की प्रेम कथा भी ।[4] विद्यापति की नारी चंचला भी है और कुल कामिनी भी, पर कबीर की यह नारी पतिव्रता और सदा सुहागिन है ।[5] सन्तों में भी पुरुष, प्रिय एवं प्रेम का विषय बन ही गया है ।

सूफी कवि जायसी ने तो 'पुरुष' के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा का यथातथ्य वर्णन करते हुए इसके व्यक्तित्व

---

१. सुपुरिस कहनी हौं कहउँ । की० ल० १ । पंक्ति ३६.
२. कीर्तिलता—१। पं० २७-३३
३. पद संख्या—विद्यापति पदावली, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना—की हैं ।
नागर-नागरी रूप के लिए द्रष्टव्य पद—२१,७१,७७ ८८, १६४ आदि ।
४. पाछिलि कथा अकथ कथा । पदा० २१
अकथ कहाणी प्रेम की । कबीर ग्रन्थावली पृ० १२०
बरउदे दिलम नबाख्त यक जमजमां इश्क ।
जां जमजमा अमजे पाये ता सर हम इश्क ।। जामी ।
ईरान के सूफी कवि—पृ० ४००
५. जो पै पतिव्रता है नारी ।
कैसे ही रहौ सो पियहि पियारी ।
तन मन जीवन सौंपि सरीरा ।
ताहि सुहागिन कहै कबीरा ।।
कबीर ग्रं० पृ० ११५ ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को स्पष्ट आकार दे दिया है। पुरुष या सुपुरुष सम्बन्धी उनके विचार सारे पद्मावत में बिखरे पड़े हैं—

साहस जहाँ सिद्धि तँह होई। पद्मा० १४।१।३।
राजै दीन्ह कटक कंह बीरा। सुपुरुष होहु करहु मन धीरा।
प० १५।८।१

धन्नि पुरुष अस नवै न नाए। औ सुपुरुष होइ देस पराए।
प० २६।४।७

एक ही स्थल पर पुरुष की अनेक विशेषताओं का उल्लेख करते हुए जायसी ने कहा है कि उच्च हृदय एवं साहस के साथ उन्नति पथ पर अग्रसर होने वाला ही पुरुष है और बार बार फिसलने पर भी उन्नति का पथ नहीं छोड़ता—

पुरुषहिं चाहिय ऊँच हियाऊ। दिन दिन राखै ऊंचै पाऊ॥
सदा ऊँच पै सेइय बारा। ऊँचे सो कीजिय बेवहारा॥
ऊँचै चढ़ै ऊँच खंड सूझा। ऊँचे पास ऊँच कति बूझा॥
ऊँचै संग संगति नित कीजै। ऊँचै काज जीव पुनि दीजै॥
दिन दिन ऊँचे होइ सो, जेहि ऊँचे पर चाउ।
ऊँचे चढ़ता जो खसि परे, ऊँच न छाड़िय काउ।
पद्मा० १६।५

हिन्दी के पूर्व मध्यकाल में प्रकृति और पुरुष के प्रेम का जो रूप विद्यापति ने प्रस्तुत किया उसमें कुपुरुष के लिए भी अवकाश मिल गया।[1] सुपुरुष वह है जिसका प्रेम सोने की भांति खरा हो, कुपुरुष वह जिसका प्रेम खोटा सिक्के की भांति है।[2] पुरुष छैला बन गया और उसका नया नामकरण हुआ 'नागर' और नारी बनी 'नागरी'। ये नागर-नागरी चौसठ कला मर्मज्ञ थे और कान्ह तो अतिनागर थे ही।[3] नागर-नागरी के रूप में पुरुष और प्रकृति का जो रूप उभरा उसने पुरुषोत्तम कान्ह और प्रकृति-शक्ति राधा का रीतिकालीन रूप प्रस्तुत किया। प्रेमा भक्ति की प्रतिष्ठा इन सम्बन्धों को एक दार्शनिक धरातल प्रदान करना था।[4]

सौलहवीं शती के अभिनव कालिदास ने अपने भागवत चम्पू में कृष्ण का जो रूप प्रस्तुत किया है, वही मानो भागवत का रीतिकालीन अवतरण है। कृष्ण पुरुषोत्तम तो हैं किन्तु 'मायिक मनुष्यवेषभृत्' होने के कारण ही वे 'जारनाथ' बन गये हैं। गोपियां 'जारदयिता' बन गई हैं। कृष्ण 'भोगिनाथ' हैं और गोपियां 'भोगिन्यः'[5] कवि ने इसे 'कृष्ण वर्त्म' कहा है और उसका उत्तान-शृंगार-वर्णन रीतिकालीन कवियों को बहुत पीछे छोड़ गया है। भागवत की भी मर्यादा संभवतः यहां टूट गई हैं।[6] उषा-अनिरूद्ध के प्रणय को लेकर बाणासुर के साथ होने वाले युद्ध के समय कवि ने कहा है कि 'माहेश्वर ज्वरं हन्तुं भगवान वैष्णव ज्वरं। विनिर्ममेतयो रासीद् युद्धमद्भुत कर्मणोः।'[7] यह 'कृष्ण वर्त्म' वैष्णव ज्वर था और रीति-साहित्य वैष्णव-ज्वराक्रान्त 'पुरुष'-पथिक की कृष्ण वर्त्म पर नागर बन कर यात्रा थी।

तुलसीदास ने रामचरित मानस में राम को पुरुषोत्तम

---

१. प्रकृति परेपिअ सुपुरुष प्रेम। पदा० २२
२. सुपुरुष पेम हेम अनुमानि। पदा० ९६,
हृदय कपट मुखेकरहिं पिरीति। पदा० १३४
सपनेहुजनु होहु कुपुरुष संग। पदा० ११२
जउ कुपुरि भत्तारू। रस-विलास ३१
३. तोहर छैलपन निन्दत आन। पदा ११३
नागर हो से हेरितहि जान,
चौसठि कला क जाहि गिआन। पं० १४।
से अति नागर गोकुल कान्ह। पदा० १०९।
नागर गुणे नागरि रति बाढ़ी। पदा० ७१।
४. सर्वथा ध्वंस रहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद् भाव बन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः।
उज्जवल नीलमणि, पृ० ४१८।
५. भागवत चम्पू ३। ४३,३।९३,६।१३१, स भोगिचूड़ा-
मणि रेष नाथो वयं च भोगिन्य इति प्रतीतिः।
भा० च० २।७८
६. भाग० च० ४।४७, ३।५०-११५ तुलनीय भागवत
१०।३३ के वर्णनों से।
७. भाग० च० ५।३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म के रूप में ही सामने रखा। सती-मोह के प्रसंग उन्होंने सतर्कता के लिए ही प्रस्तुत किया था[1]। राम के नर-तनु-लीला से कोई भ्रान्ति न उत्पन्न हो जाय अतः वे बार-बार उनके 'ब्रह्मत्व' का स्मरण कराते रहते हैं। तुलसी के 'रामचरित मानस' की लोकप्रियता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि वैदिक-विराट-पुरुष की उसमें पुनः अवतारणा हुई और सामान्य-जनता को यह अनुभूति हुई कि उसे उसका खोया हुआ रूप प्राप्त होगया। इससे उसका आत्मबल जागा। राम के पुरुषोत्तम रूप का दर्शन धनुष यज्ञ के समय दिखाई पड़ता है। वहां 'जाकी रही भावना जैसी' में उनका विराट रूप व्यक्त हुआ है।

गंग कवि ने 'मति विना मर्द अरु नूर विना नारी कहा'[2] तथा 'ग्वाली के रसिक कान्ह काली के दवन जू'[3] में सामन्ती धारणा को ही व्यक्त किया है। कृष्ण-वर्त्मानुयायी कवियों 'किहिं रस रसिक ढरै'[4] और चतुर्भुज दास तो रसिक गोपाल को रस के वश में ही मानते हैं।[5] विद्यापति की भांति परमानन्द भी प्रेम-कथा को ही 'अकथ-कथा' कहते हैं।[6] 'नागर' पुरुष परवर्ती रीतिकाल में 'रसिक' पुरुष बन गया। 'कृष्ण वर्त्म' को कवियों ने इतना अधिक आकर्षक पाया कि कुछ ने राम को भी रसिक बनाने में कसर नहीं छोड़ी।

आधुनिक काल का पूर्वार्ध राष्ट्रीयता का और उत्तरार्ध अन्तर्राष्ट्रीयता का है। राष्ट्रीयता में विराट पुरुष का स्वरूप 'राष्ट्र-पुरुष' बना और अन्तर्राष्ट्रीयता में 'विश्व-मानव'। राष्ट्रपुरुष के स्वरूप की अभिव्यक्ति सब से अधिक माखन लाल चतुर्वेदी की कविताओं में हुई। दिनकर की कविताओं में भी राष्ट्रपुरुष की विराटता के दर्शन की ललक है। राष्ट्र-धर्म धर्म का, राष्ट्र-प्रेम काम का, राष्ट्र-समृद्धि अर्थ का और राष्ट्र-मुक्ति, मुक्ति का प्रतीक बन कर पुरुष के पुरुषार्थ को स्पष्ट करते हैं। विश्व-धर्म, विश्व-काम, विश्व-समृद्धि और विश्व-मुक्ति अभी मानव के साध्य हैं। बौद्धिक युग के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के साथ साथ उसके विराट स्वरूप की उपलब्धि का आधार व्यक्ति ही हो सकता है। हिन्दी के एक मात्र प्रसाद जी ने ही वैदिक विराट पुरुष को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में शैव-दर्शन के आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कामायनी में किया है।

यद्यपि 'कृष्णवर्त्म' के प्रेम का आध्यात्मिक पक्ष धूमिल पड़ गया था, किन्तु प्रसाद जी ने शैव दर्शन के माध्यम से उसे पुनः महत्त्व प्रदान किया। नर-शक्ति-शिव का त्रिक कामायनी में अधिक स्पष्ट हुआ है, यह जीव-ब्रह्म की अद्वैतवादी उपनिषद् परम्परा से भिन्न नहीं है। शिव ही चेतन पुरातन पुरुष है, भेद बुद्धिपरक जीव ही नर है, श्रद्धा ही अनुग्रह स्वाभावा पराशक्ति है, वही पूर्ण काम की प्रतिमा है।[7] प्रेम से ही हृदय जाग्रत होता है। पराये में भी अपने पन की अभेद भावना जागती है; यह भेद में

---

१. ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥
रा० च० मा०॥

२. गंग कवित्त ३९६

३. वही १२

४. सूर सागर भाग २ पद ३५

५. रसिक गोपाल रसिक रस रिझवत।
चतु० पद २९६।

६. परमानन्द स्वामी की लीला अकथ कथा नहिं जानी।
परमानन्द सागर ३३७।
परमानन्द प्रेम कथा सबहिन ते न्यारी।
प० सा० १३१२।

७. वह चेतन पुरुष पुरातन, निज शक्ति तरंगायित था।
कामायनी पृ० ७७। तंत्रालोक भाग २ आ० ३।६८
उस ज्योति मयी को देव कहो, कैसे कोई नर पाता है।
का० पृ० ७७
थी पूर्ण काम की प्रतिमा। का० पृ० २९०
तत्र भेद प्रधानो नरः, भेदाभेद प्रधाना शक्तिः,
केवलमभेद प्रधानः शिव इति। परात्रिंशिका विवरण
पृ० ७३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति कराने वाली शक्ति है।[1] चेतन शिव के लीला-विलास को ही विश्व समझ लेने वाले के लिए विश्व-प्रेम और विश्व-कल्याण की ओर उन्मुख हो जाना सरल है। व्यिष्ट से समष्टि-प्रेम की ओर बढ़ना, शिवत्व एवं अपने आनन्दमय स्वरूप की उपलब्धि के लिए आरोहण करना ही है।[2] प्रसाद जी न संसार को दुःखमय मानते थे और न दुःख-नाश के उपाय सोचने को पुरुषार्थ; दुःख-सुख तो इस आनन्दमय विश्व के धूप-छांह मात्र हैं।[3] यह विश्व कर्म रंगस्थल है और दुःख सुख भूमा का मधुमय दान।[4] भेद बुद्धि का त्याग न करने वाला ही शैव दर्शन का पशु है, जिसे शिव की वामाशक्ति जकड़ लेती है।[5]

निष्कर्ष —

इन तथ्यों को ध्यान में रख कर कहा जा सकता है कि वैदिक 'पुरुष' कल्याण-पथ का पथिक, श्रेमाण और गतिशील था, किन्तु उत्तरोत्तर उसका विराट रूप वामन बनता चला गया है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् काल में पुत्र, वित्त और लोकैषणा ने उसे आधा, गृहस्थी, यथाक्रतु तो बना ही दिया है, वह 'अंगुष्ठ-पुरुष' मात्र रह गया है। बौनी प्रजा, राजा में ही अपने विराट स्वरूप का दर्शन करने लगी है। सूत्र काल में पुरुष का सामान्य रूप जीव, भौतिक विराट रूप ईश्वर या राजा तथा स्मरणीय रूप दिव्य पुरुष या ब्रह्म रह गया है। वह यज्ञ-मय होकर रह गया है। जीव दुखी है, वह कर्म फल का भोक्ता है, आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति ही पुरुषार्थ है; साधन कोई भी हो जीवन्मुक्ति ही साध्य है; दर्शनों की इस धारणा ने कर्मजन्य पौरुष का ह्रास कर पुरुष को संसार से पलायन की ओर उन्मुख किया। रामायण में वाल्मीकि राजा का उदात्त, गुणवान्, वीर्यवान् और लोक-संग्रही रूप प्रस्तुत कर तत्कालीन समाज के समक्ष एक बार पुनः वैदिक पुरुष के उत्तम रूप को प्रस्तुत किया। महाभारत तक आते आते पुरुष के भौतिक विराट रूप राजा का स्वरूप भी मलिन हो गया। राज्य-सत्ता व्यक्तिगत सुखोपभोग का साधन बन कर रह गयी थी और त्यागपूर्वक भोग का आदर्श ही नहीं लुप्त हो गया था अपितु अर्जुन जैसा वीर भी दिशा एवं लक्ष्य हीन बन कर रह गया था। गीता ने एक बार पुनः विराट पुरुष और मनुष्य के वास्तविक सम्बन्ध को उजागर किया। क्षर-अक्षर, लोक और श्रेष्ठ में भी उसने क्षर और लोक के देव और असुर रूप में दो वर्ग बना दिए। 'नृपु पौरुषम्' ही दिव्य पुरुष के बोध का प्रतीक रह गया। कौटिल्य ने राजा को 'भर्त्ता' बना दिया, फिर सामान्य जीव स्वाभाविक रूप से सेवक मात्र रह गया।

कालिदास की दृष्टि में हरि ही पुरुषोत्तम हैं, शेष क्षितीष, नृपति आदि। पुरुष का रूप 'मनस्वी' बना जो चार पुरुषार्थों में केवल अर्थ और काम का साधक रह गया। समुद्रवसना पृथ्वी और नारी की प्राप्ति ही पुरुषार्थ था, लोक-संग्रही रूप विलुप्त हो गया। जाति, वर्ण एवं सामन्तवादी व्यवस्था से पीड़ित पुरुष का स्वर सातवीं शती में 'दैवायत्तं कुले जन्ममदायत्तं तु पौरुषम्' के रूप में उभरता अवश्य है, पर सामन्ती-व्यवस्था ने इसे व्यक्तिगत वीरता का प्रतीक बना कर अपने अनुकूल ढाल लिया।

सामान्ती व्यवस्था में आदर्श पुरुष वह था, जो योद्धा, राजा और मूर्तिमान् काम हो। विरक्त वर्ग का आदर्श सिद्ध था। स्वयंभू से विद्यापति तक पुरुष का यही रूप

---

१. प्रति फलित हुई सब आँखें, उस प्रेम ज्योति विमला से।
सब पहचाने से लगते, अपनी ही एक कला से॥
कामा० आनन्द०।

प्रेम-प्रेम सों होय, प्रेम सो पारहि जैए।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैए।
भ्रमर गीत १७। सूर

२. शिव समष्टि का होता है क्योंकि विश्वमय है विश्वेश रहस्य प्रेम के ये उसके। प्रेम पथिक पृ० ३१

३. एक घूंट, पृ० १६, कामायनी पृ० २४१

४. कामा० पृ० ७५, श्रद्धा सर्ग।
यो वौ भूमा तत्सुखम्। छान्दो० ७।२३।
शिवशक्ति सामरस्यमय जगदानन्द रूपम्।
तन्त्रालोक टीका पृ० ८४

५. तन्त्रालोक भा० ८। आ १३।३१४-१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्त हुआ है। विद्यापति के समय पुरुष नागर, ना[illegible] नागरी और प्रेमकथा, अकथ कथा बनी। प्रेम में कपट के लिए 'कुपुरुष' भी प्रयुक्त हुआ। सन्त और सूफी भी इस अकथ-कथा से अप्रभावित नहीं रहे। जायसी ने साहस को, उच्चारोहण को पुरुष के पौरुष का प्रतीक अवश्य माना। तुलसी ने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप को सामने अवश्य रखा। यह निगमागम का प्रभाव था।

'कृष्ण वर्त्म' ने पुरुषोत्तम को मायिक मनुष्य वेशभृत् मान कर पुरुष को भोगिनाथ और नारी को भोगिन्य: बना दिया। इसने पुरुष को रसिक और नारी को रसिकनी बना दिया। माया के आवरण ने पुरुष के आलोकमय रूप को आवृत कर लिया।

आधुनिक काल 'राष्ट्रपुरुष' और विश्व मानव की धारणा को लेकर चला। प्रसाद ने प्रथम बार शिव को पुरातन पुरुष, जगत को उसकी लीला, भेद बुद्धि वाले को नर, आनन्द शक्ति को श्रद्धा या कामायनी तथा श्रद्धाविहीन को पशु रूप में चित्रित किया। शैव दर्शन के आधार पर उन्होंने प्रेम कला और काम कला को हृदय के विस्तार की प्रेरणाशक्ति के रूप में प्रस्तुत कर उसका रीतिकाल से भिन्न रूप दिखलाया। शिव ही विश्वेश और विश्व मानव है, और शिवत्व की उपलब्धि ही पुरुषार्थ है। प्रसाद का 'पुरुष आलोकमय, मंगलमय, चेतनामय, समरस, अखंड, इच्छा-क्रिया-ज्ञान का केन्द्र बिन्दु और आनन्द वेश है। वही कह सकता है—

हम केवल एक हमी हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो,
जिसमें कुछ कमी नहीं है। कामा० पृ २८७
'दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव कहरे! यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता॥
कामा० २८९, अष्टम संस्करण।

प्रसाद ने जिस आरोहणशील पुरुष की अवतारणा की है, वह राष्ट्रीयता की संकीर्ण सीमा से आबद्ध नहीं विश्वमानवता की व्यापक सीमा में व्याप्त वैदिक विराट पुरुष ही है।

हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में चेतना के धरातल पर इस विराट पुरुष के अवतरण के बाद भी यह प्रक्रिया मन्द नहीं पड़ी है। आत्म स्वार्थ और लोक क्षेत्र में ही नहीं राष्ट्र-स्वार्थ और विश्व-कल्याण में अब भी संघर्ष चल रहा है तथा पुरुष की द्विविध प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। पुरुष गतिशील तो है, पर उसकी गति अधः और ऊर्ध्व दोनों ओर ही है। पन्त ने अपने काव्य में इन दोनों प्रवृत्तियों का अत्यन्त स्पष्ट चित्रण किया है। पुरुष को अपने विराट स्वरूप को प्राप्त करने के लिए मनु की तरह प्रचुर संघर्ष करना है। पन्त के ही शब्दों में—

जाति वर्ण गौरव से पीड़ित वर्ग राष्ट्र स्वार्थों में सीमित।
जन समुद्र रे आज अचेतन अधः प्रवेगों से आन्दोलित॥
वार्धक्य।

फ्रायड के से नर-नारी, गत रीति-काव्य में मूर्तित।
उपमन कुंजों में करके, निज काम ग्रंथियां मुंचित॥
लोकायतन पृ. १५२

अचेतन उपचेतन के चित्र, मात्र अति वैयक्तिक उच्छ्वास।
रेंगती कला पंक कृमि तुल्य, अधोमुख कुत्सित बुद्धि विलास॥
लोका० २७८

जाति, वर्ण, वर्ग, राष्ट्र के स्वार्थों से जन-समुद्र पीड़ित है। फ्रायड के अनुयायी कवियों ने अचेतन, उपचेतन के चित्र अंकित करने प्रारम्भ कर दिए हैं। काम ग्रंथियों को कला का रूप देना अधोमुखी बुद्धि-विलास की ही अभिव्यक्ति है। कुण्ठा, संत्रास आदि को पुरुष का पौरुष क्यों सहेगा। आज का मानव नभ-ग्रह चारी बन कर धरा से ऊपर ब्रह्माण्ड के विविध छोरों को स्पर्श करने लगा है। सारा विश्व ही तीव्रता से गतिशील है—

बदलता रभस वेग से विश्व,
मनुज के तन, मन, जीवन, प्राण।
महत् युग चित्रपटी में वेग,
चेतना का अजेय आख्यान॥ लोका० पृ.२५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तो मानव की गति-मति पर निर्भर करता है कि वह देव या दनुज बने—

यह मानव मति गति पर निर्भर,
वह हो देव दनुज के आश्रित।

आत्म हीन मानवता त्यों ही,
दानवता की प्रतिमा कुत्सित ।। नव निर्माण ।।

चेतना के धरातल पर ही विराट पुरुष के विराट रूप को प्रस्तुत करना प्राथमिक आवश्यकता है। मानव और मानवता-प्रेमी ही दिव्य-चेतना का सन्देश सुना सकता है।[1] सत्य और अहिंसा ही मानवीय स्पर्श भर सकते हैं; इस लिए पन्त ने महात्मा गाँधी को पुराण पुरुष के रूप में चित्रित किया है—

तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण हे चिर नवीन
पट पर पट उठा दिए मन से
कर नर चरित्र का नवोत्थान।
आए तुम मुक्त पुरुष कहने—
मिथ्या जड़ बन्धन, राम सत्य;
नानृतं जयति सत्यं, मा भैः;
जय ज्ञान-ज्योति तुमको प्रणाम ।।बापू के प्रति।

गा गा एकोऽहं बहुस्याम। बापू के प्रति।

इस नव-पुराण पुरुष ने सत्य अहिंसा का जो पथ दिखलाया, वही शिवत्व की ओर जाता है। आज का सत्याग्रह यही है कि मानवता में देश और जाति लीन हो जाँय।[2] पन्त ने 'प्रेमलय' और 'शक्तिपात' के प्रयोग द्वारा शिवत्व सिद्धि को ही पुरुषार्थ माना है—

जगत नहीं, मैं नहीं,
प्रेमलय में ईश्वर साकार। किरण वीणा।
जब भू मानव होगा संस्कृत,
शक्तिपात से मनः शिराएं होंगी झंकृत ।।
पौ फटने से पहले।

कवि का लक्ष्य सौन्दर्य में सत्य और सत्य में शिव की प्रतिष्ठा ही है। इसी से भू मानव संस्कृत होगा। इस सुसंस्कृत भू मानव से ही विराट पुरुष साकार होगा। समस्त विश्व एक मन्दिर बन जाएगा। सर्वक्षेम की तभी स्थिति आयेगी। पुरुष की गति का लक्ष्य भी यही है—

एक मनुज हो, एक धरा हो,
यही भागवत जीवन निश्चित। नव निर्माण।

अणु-संत्रस्त मानव के लिए कोई गति नहीं है और हिन्दी सहित सभी भारतीय कवियों को अपनी महती सांस्कृतिक देन को सामने रख कर ही विश्व मानव की प्रतिष्ठा करनी है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग भी नहीं है—

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।'

रीडर, हिन्दी-विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय।

---

१. मैं मानव प्रेमी। मैं दिव्य-चेतना का संदेश सुनाता।
गीत विहग। पन्त !

२. नव-निर्माण। पन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्यप्रदेश की प्रागैतिहासिक संस्कृति

डा० कृष्णदत्त वाजपेयी

आधुनिक अनुसंधानों के आधार पर भारतीय पुरावृत्त को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया गया है :

१. प्राक् ऐतिहासिक काल (ईसवी पूर्व चतुर्थ सहस्राब्दी के पहले का युग),

२. आद्यऐतिहासिक काल (ई० पू० चतुर्थ सहस्राब्दी से लेकर ई० पूर्व सातवीं शती तक का युग),

३. ऐतिहासिक काल (ई० पू० सातवीं शती से लेकर परवर्ती युग)।

उक्त तीनों कालों में से द्वितीय एवं अपेक्षाकृत तृतीय के बारे में विशेष जानकारी उपलब्ध है। पिछले सवा सौ वर्षों में देश के विभिन्न भागों में उत्खनन तथा शोध के जो कार्य किए गए हैं उनसे इन दोनों युगों की संस्कृति की जानकारी के लिए पुष्ट प्रमाण प्राप्त हुए हैं। उनके आधार पर देश के प्राचीन भूगोल, राजनीतिक इतिहास, धर्म, भाषा, साहित्य, कला और लोकजीवन पर प्रभूत प्रकाश पड़ा है।

जहाँ तक प्रागैतिहासिक संस्कृति का सम्बन्ध है, उसके बारे में हमारा ज्ञान अपर्याप्त है। इसका मुख्य कारण यह है कि उस युग के विषय में आधारभूत प्रमाण बहुत कम प्राप्त हुए हैं। उनके आधार पर ही प्रागैतिहासिक भारतीय संस्कृति की झांकी प्रस्तुत करने का प्रयास विद्वानों द्वारा किया गया है।

मध्यप्रदेश अपने नामानुसार भारत के बीच में स्थित है। इस प्रदेश के बड़े भाग पर विंध्य पर्वत अपनी शृंखलाएं फैलाए हुए है। इस प्रदेश की मुख्य नदी नर्मदा है, जिसके दक्षिण के भूभाग पर महादेव तथा सतपुड़ा नामक पर्वतमालाएं हैं। सतपुड़ा का एक प्राचीन नाम ऋक्ष पर्वत था।

नर्मदा के अतिरिक्त मध्यप्रदेश की अन्य बड़ी नदियां चंबल, सिंध, बेतवा, धसान, केन, टोंस, सोन और महा नदी हैं। पर्वत-मालाओं तथा नदियों के अतिरिक्त मध्य-प्रदेश-क्षेत्र का अधिकांश प्राचीन काल में जंगलों से ढका हुआ था। यहाँ न उत्कट गर्मी थी, न अधिक सर्दी। अतः यहाँ पशु-पक्षी बड़ी संख्या में रहते थे।

मानव ने भी आदिम काल से मध्यप्रदेश के भूभाग को निवास के लिए सुविधाजनक पाया। प्रागैतिहासिक युग में यहाँ मानव बस्ती का आरम्भ कब हुआ, यह निश्चित रूप से कहना सम्भव नहीं। अनुमानतः अब से, आठ या सात हजार वर्ष पहले यहाँ मनुष्य ने बसना प्रारम्भ किया। मानव के लिए यहाँ की जलवायु अनुकूल थी। साथ ही जीविका के लिए पशु-पक्षी तथा कंदमूल-फल बड़ी संख्या में इस क्षेत्र में उपलब्ध थे। प्रागैतिहासिक मानव के लिए प्राचीन साहित्य में शबर, निषाद आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं। इन मानवों के कुछ शरीर-अवशेष उन पर्वत-गुफाओं में मिले हैं जहाँ वे रहते थे। रायसेन जिला के खरवई नामक स्थान की गुफाओं में आदिम जनों की कई खोपड़ियां प्राप्त हुई हैं।

प्राचीन मध्यप्रदेश में आदिम जन घने वृक्षों के नीचे या उनकी शाखाओं पर अथवा पहाड़ों की कंदराओं (शिलाश्रयों) में रहते थे। अपना उदर-पोषण वे प्रायः शिकार से करते थे। शिलाश्रयों में रहने वाले लोग कभी-कभी गुफाओं की भीतरी छतों और दीवारों पर अनेक ढंग की रोचक चित्र-रचना करते थे। उनके द्वारा बनाए गए चित्र भारत में सबसे अधिक मध्यप्रदेश में प्राप्त हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। मंदसौर, शिवपुरी, नरसिंहगढ़, सीहोर, रायसेन, होशंगाबाद, सागर, छतरपुर, पन्ना, रीवा, अम्बिकापुर तथा रायगढ़ जिलों के अनेक स्थानों में इन आदिम जनों के निवास के अवशेष मिले हैं। इनमें पत्थर के अनेक प्रकार के औजार तथा मिट्टी के बर्तन भी हैं। उन लोगों के बनाए हुए चित्रों में से बहुत से आज भी उनके द्वारा सैकड़ों वर्ष पूर्व आवासित गुफाओं में सुरक्षित हैं। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर तथा बांदा जिलों के कई पर्वतीय स्थानों में भी ऐसे अनेक गुफा-चित्र उपलब्ध हैं।

मध्यप्रदेश में उल्लेखनीय गुफा-चित्र निम्नलिखित स्थानों से मिले हैं :

होशंगाबाद जिला में आदमगढ़, पचमढ़ी तथा बोररानी; सीहौर में बरखेड़ा और भोपाल; रायसेन जिला में खरवई, हाथीपोल एवं पुतलीकरार; सागर में आवचंद, नरयावली तथा बरौदा छतरपुर में देवरा और रायगढ़ जिला में सिंहनपुर एवं कबरापहाड़।

इन स्थानों में बहुसंख्यक मनोरंजक गुफाचित्र मिले हैं। कहीं-कहीं उनके पुराने चटकीले रंग आज भी सुरक्षित हैं। कुछ पर बाद के युगों में रंग चढ़ाए गए और परवर्ती चितेरों ने इस प्रकार पुराने चित्रों पर अपनी कारीगरी दिखाई।

अधिकांश गुफा-चित्रों में लाल, सफेद, काला, नीला या पीला रंग प्रयोग में लाया गया। कई जगह भित्तियों पर पहले लाल या सफेद रंग की पृष्ठभूमि देकर उस पर चित्र उरेहे गए। प्राचीन गुफा-चित्रों से वहाँ निवास करने वाले लोगों की जीवन-चर्या तथा रुचि का पता चलता है। मुख्यतया जो दृश्य इन चित्रों में मिलते हैं वे हैं : विविध आयुधों से पशु-पक्षियों का शिकार, जानवरों की लड़ाई, मानवों में पारस्परिक युद्ध, पशुओं पर सवारी, गीत, नृत्य, पूजन, मधु-संचय तथा घरेलू जीवन सम्बन्धी अनेक दृश्य मिलते हैं। जिन जानवरों का शिकार किया जाता था वे बाघ, हिरण, भैंसा, बैल, हाथी, गैंडा, शूकर आदि थे। ये जानवर मध्यप्रदेश के गुफा-चित्रों में विशेष रूप से मिलते हैं। इनके अतिरिक्त [illegible], कुत्ता, बकरी, बन्दर, मोर आदि भी मिले हैं।

जिन गुफाओं में आदिमजन रहते थे वहाँ अनेक पशु-पक्षियों की हड्डियां भी मिली हैं। मिर्जापुर की गुफाओं में सुअर के शिकार के कई रोचक चित्र हैं। शिकार तथा रक्षा के लिए जिन आयुधों का प्रयोग किया जाता था उनमें भाला या बरछा, धनुष-बाण, चक्र, तलवार तथा ढाल मुख्य हैं। कुछ चित्रों में युद्ध करते हुए लोगों को एक हाथ में मूंठदार तलवार तथा दूसरे में ढाल लिए हुए प्रदर्शित किया गया है। परवर्ती काल के कुछ चित्रों में युद्ध के ऐसे दृश्य मिले हैं जिनमें घोड़ों पर सवार सरदार अपने सिर के ऊपर छत्र लगाए जा रहे हैं। उनके आगे-पीछे अन्य लोग हाथों में तलवार आदि आयुध लिए हुए पैदल चल रहे हैं। कई जगह शिकारियों और योद्धाओं के विचित्र पहनावे मिले हैं। बरोदा गांव (जिला सागर) के समीप एक गुफा-चित्र में एक योद्धा शकों-जैसी ऊंची टोपी और लम्बा कोट पहने दिखाया गया है। अनेक चित्रों पर हाथी पर सवार लोग दिखाए गए हैं। व्याघ्रों (बाघों) के चित्र मध्यप्रदेश की अनेक गुफाओं में बड़ी संख्या में मिलते हैं। इस प्रदेश में बाघ बहुत थे। आवचन्द में एक स्थान पर चार भयंकर बाघ खड़े दिखाए गए हैं। उनके बीच एक पुरुष खड़ा है। दो बाघों की आपस में लड़ाई भी कई स्थानों पर चित्रित है। एक चित्र में दो हाथियों का युद्ध दिखाया गया है।

उक्त चित्रों से पता चलता है कि प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक परम्परा प्रारंभिक इतिहास-युग में भी जारी रही। लोकजीवन की यह धारा इस प्रदेश में दीर्घ-काल तक प्रवाहित होती रही।

बरखेड़ा, खरवई, रायसेन, पचमढ़ी आदि की गुफाओं में विविध पशु-पक्षियों के मनोरंजक चित्रण मिले हैं। इनमें से कुछ पालतू बना लिए गए थे। आवचन्द में एक स्थान पर एक व्यक्ति बैल को रस्सी से खींचता हुआ दिखाया गया है। लम्बी सींग वाले अरना (आरण्यक) भैंसे तथा विविध प्रकार के मृगों के चित्रण अधिक मिलते हैं। होशंगाबाद के समीप आदमगढ़ गुफा में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशालकाय अरना भैंसा चित्रित है। भैंसे का इतना [illegible] चित्र अन्यत्र नहीं मिला।

आमोद-प्रमोद तथा घरेलू जीवन-सम्बन्धी विविध दृश्य इन चित्रों में मिलते हैं। लोगों में नृत्य और संगीत का शोक था। पचमढ़ी-वर्ग के चित्रों तथा रायगढ़ और सागर जिलों के गुफा-चित्रों में कई स्त्री या पुरुष एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए नृत्य की मुद्रा में खड़े दिखाए गए हैं। कई स्थानों पर नृत्य-मुद्रा में सात स्त्रियों या पुरुषों का आलेखन है। सात की संख्या का प्राचीन चित्रकारों के लिए विशेष महत्व जान पड़ता है। वाद्य-यंत्रों में बड़ी और छोटी ढोलकें, बांसुरी, सितार आदि मिले हैं। पचमढ़ी तथा रायगढ़ के चित्रों में मधुमक्खियों को भगा कर मधु इकट्ठा करने के दृश्य हैं। वनियावेरी (पचमढ़ी) की एक गुफा में शाखाओं पर खेल करते हुए शाखामृग (बन्दर) दिखाए गए हैं। नरयावली (जिला सागर) के एक गुफाचित्र में नटों को अनेक करतब दिखाते हुए अंकित किया गया है। बर्तन, भांड़े, डलिया, मोढ़े आदि के आलेखन कई प्राचीन गुफा-चित्रों में मिले हैं। कुछ चित्रों में कल्पवृक्ष, सूर्य, चंद्र, स्वस्तिक आदि प्रतीक प्रदर्शित हैं। बरखेड़ा में यज्ञ, शिव, गणेश, कार्तिकेय, देवी आदि के चित्र उल्लेखनीय हैं। इनमें से कई प्रारंभिक ऐतिहासिक युग के हैं। मध्य-प्रदेश के ये प्राचीन गुफा-चित्र यहाँ के आदिम वासियों की जीवन की कितनी ही मनोरंजक गाथाएं आज तक संजोए हुए हैं।

नर्मदा, चंबल, बेतवा, सोन आदि नदियों तथा उनकी सहायिकाओं के तटों से पाषाण तथा धातु के बहुसंख्यक उपकरण मिले हैं। विभिन्न शैलियों के आधार पर इन उपकरणों को पूर्व, मध्य तथा नव पाषाण-युगों का माना गया है। इनका उपयोग आयुध रूप में तथा दैनिक जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता था। प्राचीन शैलगृहों से भी ऐसे उपकरण मिले हैं।

इन उपकरणों की बहुत बड़ी संख्या इस बात का प्रमाण है कि मध्यप्रदेश में अनेक भागों में प्रागैतिहासिक तथा आद्यैतिहासिक युगों में लोग रहते थे। द्वितीय काल में लोगों को कृषि तथा पशुपालन का ज्ञान हो गया था। पत्थर के बेडौल तथा सुगढ़ औजारों के अतिरिक्त इस काल में मानव को तांबे का ज्ञान भी हो गया था। तांबे के बहुसंख्यक उपकरण मध्यप्रदेश के बालाघाट जिले में गुंगेरिया नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं। इतनी बड़ी संख्या में तांबे के प्रागैतिहासिक हथियार तथा औजार भारत में अन्यत्र नहीं मिले।

प्राचार्य तथा अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृत तथा पुरातत्व विभाग,
सागर विश्व विद्यालय,
सागर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छायानाट्य विमर्श

डा० रामजी उपाध्याय

संस्कृत के जिन नाटकों में आवश्यकतानुसार वास्तविक पात्र के स्थान पर उसकी छाया का समावेश किया है, उन्हें तेरहवीं शती से छायानाटक नाम देने की रीति चली। पात्रों की छाया से तात्पर्य उनकी परछाई नहीं है, अपितु बनावटी पात्र हैं, जिन्हें छायापात्र या मायापात्र कहना समीचीन है। छायापात्र पांच प्रकार के होते थे—

१. माया (इन्द्रजाल) के द्वारा किसी पात्र के सदृश पात्र बनाकर उसे रंगमंच पर मूल पात्र की भाँति आचरण कराया जाता था, जैसे दूतांगद में सीता के स्थान पर मायामैथिली।

२. मूल पात्र के स्थान पर उसकी ऐसी मूर्ति रंगमंच पर रख देना, जिसे दर्शक ही नहीं, रंगमंच के पात्र भी यह न समझ सकें कि यह मूल पात्र से भिन्न है। जैसे धर्माभ्युदय में संन्यास लेने के पश्चात् राजा दशार्णभद्र के स्थान पर उसकी मूर्ति।

३. मूलपात्र या पात्रों का चित्र। यह उनसे सम्बद्ध किसी घटना का चित्रपट पर आलेखन होता था। यथा उल्लाघराघव के सप्तम अंक में वृकमुख राम और लक्ष्मण का स्वरूप चित्रपट पर अंकित करके उसके नीचे राम, सुग्रीव, विभीषण और जाम्बवान् का संवाद लिखकर कार्पटिक को पढ़ने के लिए देता है, जिसे वह रंगमंच पर प्रेक्षकों को पढ़कर सुनाता है।

४. मूल पात्र का अपनी वेशभूषा परिवर्तित करके अपना नाम, गोत्रादि बदलकर प्रायः अज्ञात रहकर कार्य करना। यथा सुभद्रापरिणयन में अर्जुन तीर्थयात्रा करते हुए प्रच्छन्न रह कर सुभद्रा का अपहरण करता है।

५. अमानव की भूमिका में मानव पात्रों का रंगमंच पर आना। यथा शामामृत में हरिणादि पशुओं की भूमिका में मनुष्य-पात्रों का संवाद में भाग लेना।

दूतांगद, धर्माभ्युदय, उल्लाघराघव, सुभद्रा परिणयन और शामामृत के लेखकों ने अपनी-अपनी कृतियों को छाया नाटक कहा है। क्यों? यह गत पचास वर्षों से विवादास्पद प्रश्न रहा है, जिसका समाधान प्रस्तुत है।

अब तक प्रायः विद्वानों ने छाया-नाटकों में छायात्मक (परछाई का) अभिनय ढूँढ़ने का प्रयास किया है और निराधार प्रमाणों से त्रुटिपूर्ण सुझाव दिए हैं। कतिपय विद्वान् छाया को सार या संक्षिप्त संस्करण समझकर दूतांगदादि को बड़े नाटकों का सारभूत बताते हैं। ये मत अप्रामाणिक और निराधार हैं।[१]

डा० कीथ का मत है—

It is natural to suggest, as did Pischal that the Dutanganda of Subhata, which is styled a Chayanataka, really was a shadow. On the other hand, Rajendralalamitra suggested that the drama was perhaps simply intended as an enteracte, and this may be justified on the interpretation of the term of drama in the from of a shadow, i.e. reduced to the minimum for representation in such a form. Sanskrit Drama. P. 269.

डा० डे का मत है—

While the connotation of the term Chayanataka itself is extremely dubious, the shadow-play theory, however, appears to be entirely uncalled for and without foundation, and there is hardly any characteristic feature which is not otherwise intelligible by purely historical and literary considerations. History of Skt. Lit. P. 501.

If we leave aside the self-adopted title of Chayanataka, these plays do not differ in any respect from the ordinary play. Ibid P. 504.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छाया क्या है—यह समझने के लिए नीचे लिखे विवस्वान् और सरण्यू (संज्ञा) की कथायें उपादेय हैं—

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद्यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ।।
ऋग्वेद १०-१७-२

सृष्ट्वा मर्तुः परोक्षं तु सरण्यूः सदशीं स्त्रियम् ।
निक्षिप्य मिथुनं तस्यामश्वा भूत्वोपचक्रमे ।।
बृहद्देवता ७-७-१

ततस्तेजोमेयं रूहमसहन्ती विवस्वतः ।
नारीमुत्पादयामास स्वशरीरादनिन्दिताम् ।।
ततस्तेजोमयं रूपमसहन्ती विवस्वतः ।।
नारीमुत्पादयामास स्वशरीरादनिन्दिताम् ।
त्वाष्टीस्वरूपेण नाम्ना छायेति भामिनी तदा ।।
किंकरोमीति पुरतः स्थितां तामभ्यभाषत ।
छाये त्वं मम भर्तारमस्मदीयं वरानने ।।
अपत्यानि मदीयानि मातृस्नेहेन पालय ।
तथेत्युक्तवा तु सा देवमगमत् कापि सुव्रता ।।
कामयामास देवोऽपि संज्ञेयमिति चादरात् ।
जनयामास तास्यां तु पुत्रं च मनुरूपिणम् ।।
मत्स्यपुराण ११-४-८

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद की सवर्णा, बृहद्देवता की सदृशी स्त्री और मत्स्य पुराण की छाया समानार्थ हैं और छाया का अभिप्राय समान स्त्री या पुरुष है, जो माया (इन्द्रजाल) द्वारा बनाया गया हो।

छाया का उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग हरिवंश में नीचे लिखे पद्य में मिलता है—

मायया स्य प्रतिच्छाया दृश्यते हि नटालये
देहार्धेन तु कौरव्य सिषेवेऽसौ प्रभावतीम्
विष्णुपर्व ९४-३०

अर्थात् माया के द्वारा प्रद्युम्न की प्रतिच्छाया उस भवन में दिखाई देती थी, जहाँ वह नटों के साथ रह चुका था। वास्तविक शरीर से वह प्रभावती के साथ रहता था।

आरम्भ में छाया का मत्स्यपुराण प्रोक्त अर्थ छायानाटक नाम रखने में ग्रहण किया गया है। शनैः शनैः किसी भी प्रकार के सादृश्य से लक्षित पात्रों, मूर्तियों या चित्रों वाले नाटकों को छायानाटक नाम दिया गया, जैसा इस निबन्ध के आरम्भ में लिखा गया है।

संविधानक

संस्कृत नाटकों के नाम उनके संविधानक के नाम पर भी रखने की रीति रही है। इस नामकरण पद्धति का उल्लेख कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में इस प्रकार किया है—

अद्भुतं पुनिरिदं यत् सारस्वत-संविधानकलक्षण—साक्षरेण नाना सुनिवेश्यते। यथा—अभिज्ञान शाकुन्तल—मुद्राराक्षस—प्रतिमानिरुद्ध—मायापुष्पक—कृत्यारावण—छलितराम—पुष्पदूषितकादीनि नामानि।
वक्रोक्तिजीवित पृष्ठ २२५

छायानाटकों में छाया संविधानक है। वास्तव में छायानाटक एक कोटि है। नाटकों के नाम तो कुछ और ही हैं।

नाटकों में अनेक संविधानक रहते हैं। प्रायः प्रत्येक अंक में एक संविधानक होता है, जिसके अनुसार उस अंक का नाम रखा जाता है।

भवभूति ने उत्तररामचरित के प्रत्येक अंक का नाम उसके संविधानक के अनुसार रखा है। इस नाटक का तृतीय अंक छायाअंक है। अनेक संविधानकों में से किसी एक को कवि कलात्मक दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानकर उसके अनुसार नाटक का नाम रख देता है।

भास ने प्रतिमा को प्रमुख संविधानक मानकर रामचरित-विषयक नाटक का नाम प्रतिमा रखा, वैसे ही सीता की छाया (माया मैथिली) को संविधानक मानकर सुभट ने दूतांगद का छायानाटक कहा है।

कूटघटना तथा छायापात्र

कूटघटना के प्रसंग में छायापात्र प्रायः प्रयुक्त किये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते हैं। जहाँ किसी काम को करने के लिए किसी पात्र की अपने मौलिक रूप में असमर्थता होती है, वहाँ उस पात्र के स्थान पर छायापात्र का प्रयोग देखा जाता है। दूतांगद में वास्तविक सीता अंगद से इस प्रकार की बातें नहीं कर सकती थी, जैसी मायामैथिली ने की।

कूट घटनाओं के लिए भास ने स्वप्नवासवदत्त में वासवदत्ता और यौगन्धरायण को प्रथम अंक से प्रायः अन्त तक छायापात्र बनाकर रखा है। किरातार्जुनीय में शिव का किरात बनना सुविदित है। कूट घटना के लिए रामचन्द्र के सत्यहरिश्चन्द्र में अनेक पात्रों का छाया पात्र बनना प्रत्यक्ष है। मुद्राराक्षस के अन्तिम अंक में चाणक्य ने राक्षस से बताया कि जिन्हें तुम चाण्डाल समझते हो, वे वस्तुतः सिद्धार्थक और समिद्धार्थक हैं।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेणी-संहार-नाटक एक मूल्यांकन

डा० ठक्कन मिश्र

संस्कृत साहित्य में नाटकों का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' 'नाटकान्तं कवित्वम्' इत्यादि वाक्यों में इसका महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। भरत मुनि ने नाट्य को 'नाट्य वेद' कह कर इसका महत्त्व वेदों के समान स्वीकार किया।

संस्कृत नाटकों का विकास-क्रम तथा वेणीसंहार का स्थान :

संस्कृत नाटकों का आरम्भ कब से हुआ इस सम्बन्ध में कोई भी सर्वसम्मत विचार निश्चित नहीं हो सका है। नाटकों के सम्बन्ध में प्राचीनतम ग्रन्थ भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' माना जाता है। इसमें रूपक के भेदोपभेदों तथा मंच आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। लक्ष्य-ग्रन्थों के निर्माण के बाद ही लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण होता है। अतः भरत मुनि के समय तक अनेक नाटकों का लिखा जाना तथा मंच पर उनका अभिनीत होना निश्चित है।

आदि काव्य वाल्मीकि-रामायण में नट, नर्तक आदि शब्दों का उल्लेख देखा जाता है। श्रीमद्भागवत में भी इसकी सत्ता का परिचय प्राप्त होता है। अग्निपुराण में तो 'नाटक निरूपणम्' नामक एक पृथक् अध्याय ही विद्यमान है। वहाँ रूपक के १० तथा उपरूपक के १८ भेदों का, सन्धियों, कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों का, विदूषक आदि नाटकीय पात्रों की स्थिति, वेष-भूषा आदि का भी विशद वर्णन किया गया है। इन वर्णनों से निश्चित है कि इस समय तक नाटक रचना तथा उनके अभिनय की परम्परा प्रचलित हो चुकी थी।

हरिवंश पुराण की एक कथा के अनुसार वज्रनाभ दैत्य की कन्या प्रभावती को प्राप्त करने के लिये श्रीकृष्ण की अनुमति से यादव लोग वज्रपुर में गये हैं। वहाँ उन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथावस्तु का अभिनय किया है। इस अभिनय को देखकर दैत्यगण अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं। उन्होंने अनेक प्रकार के वस्त्राभरण आदि यादवों को प्रदान किये। किस यादव ने किस पात्र का अभिनय किया था यह उल्लेख भी यहाँ वर्तमान है। हरिवंश पुराण की इस कथा से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियाँ भी अभिनय में भाग लेती थीं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुसार शिलालिन् नामक नटसूत्रकार हो चुके थे। इनका नाटकों के अभिनय की परिपाटी के सम्बन्ध में अपना विशिष्ट सम्प्रदाय था। महाभाष्यकार पतंजलि के उल्लेखानुसार 'कंसवध' तथा 'बलिवध' नामक नाटकों का अभिनय इस समय तक हो चुका था।

वात्स्यायन मुनि ने अपने 'कामसूत्र' में ६४ कलाओं का उल्लेख करते हुए २० वीं कला के रूप में नाटक को स्वीकार किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी नट, नर्तक, गायक, वादक आदि का उल्लेख वर्तमान है[1]।

उल्लिखित विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृत में नाटकरचना तथा उनके अभिनय की प्राचीनता असन्दिग्ध है। परन्तु उल्लिखित वर्णनों में निर्दिष्ट कोई भी नाटक आज उपलब्ध नहीं है। इन नाटकों के लेखकों का नाम भी आज ज्ञात नहीं है।

---

१. नट नर्तक गायक वादक वाग्जीवन कुशीलव शौभिका वा पूर्णप्रणिहिताः परमुपतिष्ठेरन् ।।—कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, अधिकरण ७, अ० १७, प्रकरण १२२-२३, पृ० १८६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्ध कृतियों के आधार पर अधिकांश विद्वानों ने संस्कृत का प्रथम नाटककार 'भास' को स्वीकार किया है। कालक्रमानुसार संस्कृत नाटककारों में विशाखदत्त के पश्चात् भट्टनारायण का नाम आता है। महाभारत की सभी प्रमुख घटनाओं को इन्होंने अपने इस नाटक में समाविष्ट किया है।

कथावस्तु का मूलाधार तथा मूलकथा में परिवर्तन :

वेणीसंहार नाटक की कथावस्तु का मूल आधार महाभारत है। नाटकीय उपयोगिता को ध्यान में रखकर लेखक ने इसकी कथावस्तु तथा पात्रों के चरित्र में यत्र तत्र कुछ परिवर्तन भी किये हैं। इस नाटक के दुर्योधन की प्रणय-क्रीड़ा का प्रदर्शन, कण-अश्वत्थामा-वाक्कलह, चार्वाक राक्षस का प्रपंच, आदि कुछ कथांश कवि-कल्पित हैं।

नाटक का नामकरण :

नाटक का नाम शास्त्र-सम्मत है। "नाटक का नाम तद्गत प्रमुख कथावस्तु का प्रकाशक होना चाहिये[1]।" 'वेणीसंहार' नाम ही स्पष्ट करता है कि इस नाटक में द्रौपदी-वेणी-बन्धन की कथा की प्रमुखता है। 'शब्द कल्पद्रुम' नामक कोष में इसे ७ अंकों का नाटक कहा गया है।[2] "हिन्दी विश्वकोष" में भी इसे ७ अंकों का ही नाटक माना गया है। वेणीसंहार की सभी मुद्रित तथा हस्तलिखित प्रतियों में सम्प्रति ६ अंक ही विद्यमान हैं। कहा नहीं जा सकता कि "शब्द कल्पद्रुम" जैसे प्रामाणिक कोष में ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है। कुछ विद्वानों ने 'वेणीसंहार' का अर्थ 'वेणीमोक्षण' स्वीकार किया है। किन्तु 'संहार' का बन्धन अर्थ ही उपयुक्त है। एक पाण्डुलिपि में इस नाटक का नाम 'वेणीसंवरणं नाम नाटकम्' लिखा हुआ है।

शास्त्रीय नियमों का निर्वाह :

प्रस्तुत नाटक में शास्त्रीय नियमों का अधिकांशतः निर्वाह हुआ है। रूपक के भेदों में से इसे नाटक की श्रेणी में माना जायगा। नाटक के लिये निर्दिष्ट सभी लक्षणों की चरितार्थता इसमें देखी जा सकती है।

प्रस्तुत नाटक में वीर रस की प्रमुखता है। प० चन्द्रशेखर शास्त्री ने "संस्कृत साहित्य की रूप-रेखा" में विवेचन करते हुए इस नाटक में करुण रस की प्रधानता मानी है तथा इस नाटक का नायक दुर्योधन को स्वीकार किया है। श्री गजेन्द्र गदकर ने भी शास्त्री जी के मत का समर्थन किया है। अन्य सभी विद्वानों ने इसमें वीर रस की प्रमुखता स्वीकार की है एवं इसका नायक युधिष्ठिर को स्वीकार किया है। वस्तुतः राज्यप्राप्ति रूपी फल का अधिकारी होने के कारण युधिष्ठिर ही शास्त्र-सम्मत इस नाटक के नायक कहे जायंगे। नायक के लिये निर्दिष्ट प्रायः सभी गुण युधिष्ठिर के चरित्र में वर्तमान हैं। इस नाटक के सभी पात्रों के चरित्र का विकास स्वाभाविक रूप में हुआ है। इसमें सन्धियों, कार्यावस्थाओं का निर्वाह भी शास्त्रीय-लक्षणानुसार हुआ है। अतएव नाट्यदर्पण, दशरूपक, साहित्यदर्पण आदि नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अधिकांशतः सन्ध्यंगों के उदाहरण वेणीसंहार नाटक से उद्धृत किये गये हैं।

वेणीसंहार नाटक में संकलन-त्रय का निर्वाह भी यथार्थ रूप में हुआ है। इसमें केवल १८ दिनों की घटनाओं का ही समावेश हुआ है। स्थान भी रण-भूमि, कौरव पाण्डव-शिविर तथा रण-भूमि के समीप में वर्तमान वह न्यग्रोध वृक्ष है जहां आहत अवस्था में दुर्योधन ने विश्राम किया था। दोनों पक्षों के शिविर तथा न्यग्रोध वृक्ष भी रण-भूमि के इतने निकट हैं कि वहाँ से रण-कोलाहल स्पष्ट सुनाई पड़ता है।

नाटककार का संक्षिप्त परिचय :

वेणीसंहार नाटक के रचयिता भट्टनारायण का मूल निवास स्थान कन्नौज था। चार अन्य ब्राह्मणों के साथ यह बंगाल में आकर रहने लगे थे। बंगाल के राजा

---

१. नामकार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशनम्॥—साहित्यदर्पण ६।३३०।

२. वेणीसंहार : पुं० (वेण्याः द्रौपदीवेणिकायाः संहारो भीमेन मारितदुर्योधनशोणितेन मोचनं यत्र। भट्टनारायण-कृत सप्तांकयुक्तः नाटकविशेषः शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थकाण्ड, पृ० ४६५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदिशूर या वीरसेन ने इन्हें यज्ञ-सम्पादनार्थ बुलाया था। उल्लिखित तथ्य को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महेशचन्द्र प्रसाद आदि प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। भट्ट-नारायण के १६ पुत्र हुए थे। इनमें से पाँचवा पुत्र निपु सम्पत्ति का अधिकारी बना था। भट्टनारायण को राजा आदिशूर ने कई गांव दिये तथा स्वयं भी थोड़े मूल्य से ही अनेक गांव इन्होंने खरीदे। इनका भी राजवंश चलता रहा। "क्षितीश वंशावली चरितम्" में इस वंश के राजाओं के नाम, राज्यकाल तथा अद्भुत कार्यों का वर्णन दिया गया है।

भट्टनारायण जाति से ब्राह्मण तथा गोत्र से शाण्डिल्य थे। इनकी जाति-सूचक उपाधि 'भट्ट' थी। 'मृगराज' उपाधि योग्यता-सूचक, राजप्रदत्त थी।

रचना-काल :

भट्टनारायण के स्थिति-काल के सम्बन्ध में विचारकों में बहुत मतभेद देखा गया है। ७ वीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर ११ वीं शताब्दी के अन्त तक इनका काल विद्वानों ने माना है। इतनी लम्बी सीमा किसी कवि के काल-निर्धारण के लिये उपयुक्त नहीं कही जा सकती है। ८ वीं शताब्दी में होने वाले वामन के ग्रन्थ में वेणीसंहार नाटक का श्लोक उदाहृत होने से भट्टनारायण के स्थिति-काल की परावधि ८५० ई० तक होनी चाहिये। इसी प्रकार ७ वीं शताब्दी से पूर्व के किसी काव्यकार के द्वारा भट्टनारायण अथवा उसके नाटक की चर्चा न होने के कारण इनके स्थिति-काल की पूर्वावधि ७५० ई० मानी जानी चाहिये। इस प्रकार वेणीसंहार कर्ता भट्टनारायण का स्थिति-काल ई० सन् ७५० से ८५० के मध्य में स्वीकार करना तर्क-संगत कहा जा सकता है। काल-निर्धारण के सम्बन्ध में 'अवन्ति सुन्दरी कथा' जिसे दण्डी-कृत कहा जाता है, का श्लोक[1] प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है। इनकी कृति एकमात्र 'वेणीसंहार नाटक' ही उपलब्ध हुई है। भट्टनारायण, नारायण भट्ट आदि के नाम से उपलब्ध ग्रन्थ तथा उद्धृत ग्रन्थों में संगृहीत सूक्तियां वेणीसंहार-कर्ता भट्टनारायण-कृत नहीं माने जा सकते।

भाषा-शैली, प्रकृति-चित्रण :

प्रस्तुत नाटक की भाषा-शैली नाटक की अपेक्षा श्रव्य-काव्य की दृष्टि से अधिक सफल हुई है। इसमें गौड़ी रीति को नाटककार ने प्रश्रय दिया है। युद्ध-मय वातावरण होने के कारण प्रकृति-चित्रण का यहाँ अवसर नहीं आया है। केवल द्वितीय अंक में वालोद्यान वर्णन में प्रकृति के सौम्य रूप का तथा यहीं वात्या-वर्णन में उसके कराल रूप का संक्षिप्त चित्रण देखा जाता है। अभिनय की दृष्टि से भी इस नाटक के अधिकांश स्थल सफल हैं।

अलंकार-योजना :

अलंकारों की योजना भी इस नाटक में सफल रही है। यद्यपि काव्य-शास्त्रियों ने 'नाटक में अलंकारों का स्थान' इस प्रश्न पर पृथक् विचार नहीं किया है। 'काव्य में अलंकारों का स्थान' इस विषय पर रोचक एवं तर्क-संगत ढंग से उन्होंने विचार किया है। परन्तु काव्य के भेद—श्रव्य-काव्य तथा दृश्य-काव्य में से नाटक दृश्य-काव्य के अन्तर्गत स्वीकृत होने से इस प्रश्न पर पृथक् विवेचन की आवश्यकता ही सम्भवतः उन्हें नहीं प्रतीत हुई। काव्य में अलंकारों का जो स्थान है, नाटकों में भी उनका वही स्थान काव्य-शास्त्रियों को सम्भवतः मान्य था। कालिदास, भवभूति आदि के नाटकों में भी अलंकारों की योजना वर्तमान है।

भरत मुनि ने नाटकाश्रय के रूप में उपमा, रूपक, यमक, दीपक, ये चार अलंकार स्वीकार किये हैं।[2] अतः नाटकों में अलंकारों का समावेश शास्त्र-सम्मत कहा जायगा। प्रस्तुत नाटक में उपमा, रूपक तथा काव्यलिंग

---

१. व्याप्तुं पदत्रयेणापि यश्शक्तो भुवनत्रयम्।
तस्य काव्यत्रयव्याप्तौ चित्रं नारायणस्यकिम्॥
अवन्तिसुन्दरी कथा, श्लोक १७, पृ० २

२. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥
नाट्यशास्त्र, अध्याय १७, श्लोक ४३, पृ० २०६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलंकारों की योजना अधिक हुई है। वीर रसानुकूल उपमानों के चयन से भाव अधिक शक्त तथा मूर्तिमान् बन गये हैं। युद्ध-वर्णन के अवसर पर गद्य में सांगरूपक की विशद योजना हुई है। ऐसे कुछ स्थल सामाजिकों को थकाने वाले प्रतीत होते हैं। किन्तु सामूहिक रूप से अलंकारों की योजना सफल हुई है। कतिपय स्थलों के अतिरिक्त अधिकांशतः अलंकार शोभाधायक बने हैं। उपमानों के चयन में कवि ने लिंग, वचन, विभक्ति आदि के साम्य का भी प्रायः ध्यान रखा है।

विभिन्न मान्यताएँ :

कवि अपने काल का प्रतिनिधि होता है। उसकी रचनाओं पर उस काल की मान्यताओं का प्रभाव भी प्रायः पड़ता ही है। परन्तु यह प्रभाव विशेषतः वहीं पड़ता है जहाँ वह कथावस्तु के क्षेत्र में स्वतन्त्र रहता है। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथावस्तु के आधार पर लिखे गये काव्य या नाटक में अपने काल की मान्यताओं को वह अधिक स्पष्ट रूप से चित्रित न करके यत्र-तत्र किंचित् संकेत मात्र दे पाता है।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु भी महाभारत से ली गयी है। कवि ने महाभारत ग्रन्थ में लिखित मान्यताओं का ही अधिकतर चित्रण किया है। अतः कुछ अधिक निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि इस नाटक में प्रदर्शित मान्यताओं का सम्बन्ध सर्वथा महाभारत से ही है अथवा भट्टनारायण के काल से भी।

महाभारत काल में प्रायेण द्वन्द्व युद्ध होता था। वैसे इसमें अपवाद भी आने लगे थे। अभिमन्यु का वध अनेक महारथियों ने मिल कर किया था। परन्तु ऐसे युद्ध निन्दा की दृष्टि से देखे जाते थे। प्रतिपक्षी को ललकार कर, सावधान बनाकर युद्ध किया जाता था। आहत, मूर्च्छित योद्धा पर प्रहार नहीं किया जाता था। वीर लोग प्रतिज्ञा-पूर्वक युद्ध किया करते थे।

प्रहार से अंगों की रक्षा के लिये सैनिक कवच, हस्तावाप, शिरस्त्राण आदि धारण करते थे। प्रत्येक योद्धा के रथ में विशिष्ट चिन्ह युक्त अपनी ध्वजा लगी रहती थी। इसी ध्वज चिन्ह के कारण अर्जुन कपि-ध्वज कहे जाते थे। युद्ध के आरम्भ तथा विराम की घोषणा राजा की ओर से की जाती थी। प्रस्तुत नाटक में प्रथम अंक में युधिष्ठिर ने युद्ध की घोषणा की है। पंचम अंक में भी युधिष्ठिर ने सायंकाल हो जाने के कारण युद्ध-विराम की घोषणा की है।

सेनापति के मारे जाने पर सैनिक युद्ध से लौट आते थे। पुनः अन्य सेनापति के अभिषिक्त हो जाने पर वे युद्ध में जाते थे। सच्ची वीरता की प्रशंसा शत्रु भी करते थे। वृषसेन के युद्ध-कौशल की प्रशंसा सबने की है। ऐसे युद्ध के अवसर पर दोनों पक्षों के योद्धा अपना-अपना युद्ध छोड़कर दर्शक बन जाते थे। वीरगति की महत्ता मान्य थी। सम्भवतः ब्राह्मण अवध्य माने जाते थे। परन्तु यह नियम भी सर्वत्र नहीं चरितार्थ था। ब्राह्मण द्रोणाचार्य का वध भी हुआ ही है। प्रतिपक्षी चुनने की स्वतन्त्रता सबको दी जाती थी।

इस समय समाज में द्यूत-प्रथा का प्रचलन था। द्यूत के दाव पर सम्पत्ति, बान्धव, यहाँ तक कि पत्नी को भी लोग लगा देते थे। ब्राह्मणधर्म की देश में या गौड़ देश में प्रतिष्ठा थी। स्वप्न के फलाफल पर जनता का विशेषतः स्त्रियों का विश्वास था। अंगस्पन्दन, विशेषेण अक्षिस्पन्दन के शुभाशुभ फल पर भी लोगों का विश्वास था। अरिष्ट-शान्ति के शास्त्रीय उपायों पर भी विश्वास किया जाता था। शाप तथा वरदान पर भी लोगों का विश्वास था। श्राद्ध-तर्पण आदि पितृकर्म में भी लोगों का विश्वास था।

भट्टनारायण की अन्य किसी कृति की उपलब्धि नहीं हुई। लेखक ने किसी नयी परम्परा को प्रश्रय नहीं दिया है। परन्तु नाटक के लिये निर्दिष्ट शास्त्रीय नियमों का निर्वाह इसमें अवश्य हुआ है। अतः शास्त्रीय-लक्षण-सम्पन्न वीररसप्रधान नाटकों में वेणीसंहार नाटक का महत्त्वपूर्ण स्थान कहा जा सकता है।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
एस० एम० जे० एन० कालिज,
हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेद के वृषभ और उक्षन् शब्दों का अर्थविचार

डा० रामनाथ वेदालंकार

वैयाकरणों के अनुसार वृषभ शब्द सेचनार्थक वृषु धातु से उणादि अभच्[1] प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इसमें प्रत्यय के कित्वत् होने से गुणाभाव तथा चित् होने से अन्तोदात्त स्वर रहते हैं। उक्षन् शब्द सेचनार्थक उक्ष धातु से उणादि कनिन्[2] प्रत्ययान्त निपातित होता है। लोक में इनका बैल अर्थ तो प्रसिद्ध ही है, इसके अतिरिक्त कोई भी पुंपशु, युवा पुरुष, श्रेष्ठ, ओषधिविशेष आदि अर्थों में भी ये प्रयुक्त होते हैं। ऋग्वेद में वृषभ शब्द विभिन्न विभक्तियों में कुल मिला कर १८३ वार तथा उक्षन् शब्द ३२ वार प्रयुक्त हुआ है।

बैल

बैल अर्थ में ये दोनों शब्द ऋग्वेद में आते तो हैं, पर अधिक नहीं। अग्नि को कहा गया है कि तुम्हारा शब्द वृषभ के समान है[3]। इन्द्र को वृषभ के समान भीम[4] कहा है। उषा का आगमन वृषभ के शब्द से जाना जाता है[5]। अग्नि अपनी ज्वालाओं को ऐसे ही प्रकम्पित करता है, जैसे वृषभ सींगों को[6]। इन्द्र तीक्ष्ण शृंगों वाले वृषभ के समान गर्जना करता है[7]। सिन्धु वृषभ के समान शब्द करती हुई बहती है[8]। वृषा (बैल) तथा द्रुघण (लकड़ी की गदा) की सहायता से शत्रुसेनाओं को जीतने का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है[9]। अश्वियुगल जब अभीष्ट फल प्रदानार्थ दिवोदास के घर जाते हैं तब उनके रथ में वृषभ तथा शिशुमार वाहन रूप में नियुक्त रहते हैं[10]। प्लायोगि आसंग की दानस्तुति में कहा है कि वह दश सहस्र उक्षा दान में देता है[11]। इसी प्रकार प्रस्कण्व द्वारा दान में दिये गये सौ श्वेत उक्षाओं के विषय में वर्णन है कि वे ऐसे चमकते हैं, जैसे आकाश में तारे[12]। इन सब प्रसंगों में वृषभ तथा उक्षा शब्दों का स्थूल अर्थ बैल ही है।

अग्नि

ऋग्वेद में लगभग २० स्थलों में अग्नि को वृषभ कहा गया है। ३ स्थलों में उसे उक्षा नाम से भी स्मरण किया गया है। वृषभ या उक्षन् शब्द प्रायः अग्नि के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जिसका अर्थ है वर्षक अग्नि। कहीं-कहीं अग्नि को केवल 'वृषभ' न कह कर 'चर्षणीनां वृषभः'[13], 'स्तियानां वृषभः'[14] या 'क्षितीनां वृषभः'[15] कहा गया है, अर्थात् मनुष्यों पर अभिमत फलादि की वर्षा

१. ऋषिवृषिभ्यां कित्। उ० ३.४०३
२. श्वन्नुक्षन्नूषन्०। उ० १.१५७
३. १.६४.१०
४. ७.१९.१ तथा १०.१०३.१
५. ७.७९.४
६. ८.६०.१३
७. १०.८६.१५
८. १०.७५.३
९. १०.१०२
१०. १.११६.१८
११. ८.१.३३
१२. ८.५५.२
१३. ३.६.५
१४. ७.५.२
१५. १०.१८७.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाला, ओलों की वर्षा करने वाला, तथा भूमियों या प्रजाओं पर जल या अन्नादि की वृष्टि करने वाला। अग्नि को सहस्र सींगों वाला वृषभ[1] तथा बहुत सी ग्रीवाओं वाला वृषभ[2] भी कहा गया है। इसे घृतपृष्ठ उक्षा[3] के रूप में भी चित्रित किया गया है।

यह वृषभ या उक्षा अग्नि के पार्थिव यज्ञाग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय वैद्युताग्नि तथा द्युस्थानीय सूर्याग्नि तीनों के रूप में व्याख्यात किया गया है। परमात्माग्नि, जीवात्माग्नि, प्राणाग्नि, संकल्पाग्नि आदि रूपों में भी इसकी व्याख्यायें होती हैं। वृषभ अग्नि के चित्रण के निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं :

यज्ञाग्नि :

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनि-
र्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम।
अनुष्वधमावह मादयस्व
स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्॥ऋग् २.३।११

"इस यज्ञाग्नि में मैं घृत का सिंचन करता हूँ। घृत इसका कारण है, उत्पन्न होकर यह घृत के ही आश्रय से रहता है, घृत ही इसका धाम है। हे वृषभ, तू हमारी प्रत्येक हवि के प्रति देवों का आवाहन कर, हमें आनन्दित कर, स्वाहापूर्वक दिए गए हमारे हव्य का वहन कर।"

समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तव श्रियम्।
वृषभो द्युम्नवाँ असि समध्वरेष्विध्यसे॥
ऋग् ५.२८.४

"हे यज्ञाग्नि, समिद्ध हुए तुझ तेजस्वी की श्री की मैं स्तुति करता हूँ। तू वृषभ है, तू यशस्वी है, तू यज्ञों में प्रदीप्त किया जाता है।"

वैद्युताग्नि या सूर्याग्नि :

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं
यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ
अधूनोत् काष्ठा अव शम्बरं भेत्॥
ऋग् १.५९.६

"वृषभ अग्नि के महत्त्व का मैं वर्णन करता हूँ जिस मेघसंहारक का मानवगण सेवन करते हैं। वह वैश्वानर अग्नि दस्यु को मार देता है, जलों को प्रकम्पित कर देता है, तथा मेघरूप शम्बरासुर का भेदन कर देता है।"

अग्निसूक्त के निम्न मन्त्र में एक महान् उक्षा का वर्णन किया गया है :

उक्षा महाँ अभि ववक्ष एने
अजरस्तस्थावितऊतिर्ऋष्वः।
उर्व्याः पदो निदधाति सानौ
रिहन्त्यूधो अरुषासो अस्य॥
ऋग् १.१४६.२

"एक महान् उक्षा (विशाल बैल) ने इन द्यावापृथिवी दोनों को अपने ऊपर उठाया हुआ है, तो भी वह जीर्ण नहीं होता तथा दर्शनीय बना हुआ खड़ा रहता है। वह पृथिवी के ऊर्ध्वप्रदेश (वेदि) में अपने पैरों को रखे है तथा इसकी लाल-लाल जिह्वायें ऊधस् (अन्तरिक्ष) को चाट रही हैं।" अग्निसूक्त में पठित होने से यह महान् उक्षा अग्नि ही है।

इन्द्र

ऋग्वेद में इन्द्र के लिए लगभग ६५ वार वृषभ शब्द प्रयुक्त हुआ है। उक्षा साक्षात् रूप से इन्द्र के लिए नहीं आया, यद्यपि एक स्थान पर सायण ने उक्षा का अर्थ इन्द्र किया है।[4] वृषभ कहीं इन्द्र का विशेषण बन कर आया है तथा कहीं स्वतन्त्र रूप से इन्द्र के पर्यायवाची के रूप में। कहीं-कहीं इन्द्र को 'जनानां वृषभः'[5], 'सतां वृषभः'[6]

१. ५.१.८
२. ५.२.१२
३. १०.१२२.४
४. द्रष्टव्य : ९.८९.३ का सायणभाष्य
५. १.१७७.१
६. २.१.३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतीनां वृषभः'[1], 'कृष्टीनां वृषभः'[2], 'क्षितीनां वृषभः'[3] तथा 'चर्षणीनां वृषभः'[4] भी कहा गया है। जल, सुख, मनोवांछित फल आदि का ववर्षक होने से तथा पशुओं में बैल के समान देवों में श्रेष्ठ होने से इन्द्र का वृषभ नाम है। इन्द्र स्वयं भी वृषभ है तथा वृषभ (बैल) के समान भीम भी।[5] इस इन्द्र रूपी वृषभ ने भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों लोकों को धारण किया हुआ है और यह अन्तरिक्ष से जलों को भी बरसाता है :

नि सामनामिषिरामिन्द्र भूमिं
महीमपारां सदने ससत्थ ।
अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षम्
अर्षन्त्वापस्त्वयेह प्रसूताः ॥ ऋग् ३.३०.९

भूमि के बैल के सींग पर टिके होने का पौराणिक विचार यहीं से लिया गया प्रतीत होता है।[6] अदिति द्वारा इन्द्र के जन्म का वृत्त वृषभ की पहेली के रूप में ऋग्वेद में इस रूप में वर्णित हुआ है :

गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागा-
मनाधृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम् ।
अरीळं वत्सं चरथाय माता
स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम् ॥ ऋग् ४.१८.१०

अर्थात् "सकृत्प्रसूता गौ (गृष्टि) ने एक बैल को को जन्म दिया है जो बल में प्रवृद्ध है, अपराजेय है, मोटा-ताजा है, शत्रुओं से अनभिभूत है, तो भी वत्स है।" यह बूढ़ा बैल इन्द्र ही है।

इन्द्र के सम्बन्ध में एक विचित्र उक्ति यह है कि वह केवल स्वयं ही वृषभ, वृषा या वृष नहीं है, अपितु उसका वज्र भी वृषा है, उसका रथ भी वृषा है, उसके वाहन हरि भी वृषा या वृषभ हैं, उसके आयुध भी वृषभ हैं, उसका पेय सोमरस भी वृषभ है, और सोमरस के पान से चढ़ने वाला मद भी वृषा या वृषभ है :

वृषा ते वज्र उत ते वृषा रथो
वृषणा हरी वृषभाण्यायुधा ।
वृष्णो मदस्य वृषभ त्वमीशिषे
इन्द्र सोमस्य वृषभाय तृप्णुहि ॥ ऋग् २.१६.६

साथ ही इन्द्र का सोमपान का साथी अग्नि भी वृषभ है,[7] जिनसे सोमरस पीसा जाता है वे सिल-बट्टे (ग्रावा) भी वृषभ हैं, सोमरस को पीसने वाले अध्वर्यु भी वृषभ हैं, इन्द्र का अन्न भी वृषभ है,[8] इन्द्र के घोड़ों की रासें (रश्मियां) भी वृषभ हैं,[9] और इन्द्र का बल भी वृषभ है।[10]

सोम

ऋग्वेद में ११ वार स्पष्ट रूप से सोम को वृषभ कहा गया है। वृषभ सोम का रेतस् (रस) पाकर वत्स की मातृभूत धीतियाँ शब्दायमान हो जाती है।[11] जैसे भयंकर वृषभ बल दिखाने की इच्छा से अपने शृंगों को तीक्ष्ण करता हुआ दहाड़ता है, वैसे ही सोमरूप वृषभ भी अपने डंठल रूपी हरे-हरे सींगों को सिल-बट्टों पर तीक्ष्ण करता हुआ शब्द करता है।[12] जैसे वृषभ गोयूथ में जाता है, वैसे

---

१. ६.१७.२
२. ७.२६.५
३. ७.९८.१
४. ८.९६.४ तथा १८
५. १०.१०३.१
६. तुलनीय : उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ९.८३.३, उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति १०.३१.८, अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम् । अथर्व. ४.११.१
७. २.१६.४
८. २.१६.५
९. ६.४४.१९
१०. ६.१९.९
११. ९.१९.४
१२. ९.७०.७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही सोमरूपी वृषभ 'आपः' के समीप जाता है।[1] दस अंगुलियां ग्रावाओं द्वारा वृषभ सोम को जलों में दुहती हैं।[2] यह सोम सहस्र धारों से बहने वाला वृषभ है, जो ऋतजात है :

सहस्रधारं वृषभं पयोवृधं
प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे
राजा देव ऋतं बृहत् ॥ ऋग् ९.१०८.८

सोम उक्षा भी है। ऋग्वेद में ५ वार सोम-सूक्तों में में उसके लिए उक्षा शब्द आया है। उक्षा सोम जब निचोड़े जाने पर शब्द करता है, तो धेनुएँ (प्रीणयित्री स्तुतियाँ या आपः) उसके समीप जाती हैं।[3] इस पर्वतनिवासी (गिरिष्ठा) उक्षा को बुद्धिमान् लोग ऊर्ध्व स्थानों पर दुहते हैं।[4] यह सोम सिंधु की उत्ताल तरंगों में लहराने वाला उक्षा पशु है :

अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते
क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं
हिरण्यपावाः पशुमासु गृभ्णते ॥ ऋग् ९.८६.४३

पर्जन्य

ऋग्वेद में तीन स्थलों में पर्जन्य को वृषभ कहा गया है।[5] ये तीनों स्थल पर्जन्य-सूक्तों के ही हैं। एक अन्य मन्त्र में वात के साथ युगलरूप में पर्जन्य को वृषभ कहा गया है।[6] सायण ने कुछ अन्य स्थलों पर भी जिनमें देवता यद्यपि पर्जन्य नहीं है, वृषभ का अर्थ मेघ या पर्जन्य किया है।[7] एक स्थल में वह उक्षा का अर्थ भी पर्जन्य करता है।[8] पर्जन्य वर्षा करने के कारण या ओषधि रूप गौओं में रेतस् का आधान करने के कारण वृषभ कहलाता है। इस पर्जन्य रूपी वृषभ का आश्रय होने के कारण ही वेद में अन्तरिक्ष को 'वृषभस्य नीडः' कहा गया है।[9] पर्जन्य वृषभ का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है :

अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः
स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास।
कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू
रेतो दधात्योषधीषु गर्भम् ॥ ऋग् ५.८३.१

वायु और आदित्य

एक मन्त्र में सरस्वान् को वृषभ कहा गया है।[10] यहां सरस्वान् का अर्थ सायण ने जलकणों से युक्त वायु किया है। वात तो स्पष्ट रूप से ही वृषभ नाम से कथित हुआ है।[11] एक स्थल पर वायु के अश्वों को उक्षा कहा गया है, जो वायु को द्यावापृथिवी के मध्य में संचार कराते हैं तथा जिनकी गति मरुभूमि में भी अपहृत नहीं होती।[12] ऋग्वेद के अनुसार तीनों लोकों में एक-एक वृषभ स्थित है[13], जिसकी व्याख्या सायण ने इस रूप में की है कि पृथ्वी लोक का वृषभ अग्नि, अन्तरिक्ष का वृषभ वायु तथा द्युलोक का वृषभ आदित्य है। एक प्रकरण में एक ऐसे सहस्र-शृंग वृषभ का वर्णन है जो समुद्र में से उदित हुआ

---

१. ९.७६.५
२. ९.८०.५
३. ९.६९.४
४. ९.९५.४
५. ५.८३.१, ७.१०१. १ तथा ६
६. ६.४९.६
७. १.७९.२, ३.५५.१७, ४.१.११ तथा १२, ५.५८.६, ७.३६.३
८. ४.५६.१
९. ४.१.११
१०. ७.९५.३
११. १०.६५.९
१२. १.१३५.९
१३. ५.६९.२
१४. ७.५५.७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है।[1४] व्याख्याकारों के अनुसार यह आदित्य ही है। उक्षा नाम से सूर्य का निम्न चित्रण बड़ा ही रोचक है :

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः
पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा
विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ॥ ऋग् ५.४७.३

"सूर्य रूपी उक्षा है, जो तेज का समुद्र है, आरोचमान है, रश्मि रूपी सुन्दर पंखों वाला है, पूर्वदिग्वर्ती पिता आकाश के घर में प्रविष्ट हुआ है, मध्याह्न में आकाश के बीचोबीच स्थित हो जाता है, उसका नाम पृश्नि और अश्मा भी है, वह चङ्क्रमण करता रहता है और दिन के दोनों प्रान्तों उषा और सन्ध्या की पालना करता है।"

बृहस्पति, रुद्र और मरुत्

५ स्थलों में बृहस्पति[1] के लिए तथा ५ ही स्थलों में रुद्र[2] के लिए ऋग्वेद में वृषभ शब्द प्रयुक्त हुआ है। तीन स्थलों में मरुतों[3] को उक्षा कहा गया है। बृहस्पति रूप वृषभ का निम्न प्रसंग द्रष्टव्य है :

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा
बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न
आ रोदसी वृषभो रोरवीति ॥ ऋग् ६.७३.१

"जो पर्वत (मेघ) को तोड़ डालने वाला है, प्रथम प्रसिद्ध है, सत्यमय है, अंगारों से उत्पन्न हुआ है, हवि ग्रहण करने वाला है, दोनों लोकों में निर्बाध संचार करने वाला है, तप्त यज्ञ में स्थित है, हमारा पिता है, वह वृषभ बृहस्पति द्यावापृथिवी में गर्ज रहा है।"

रुद्र वृषभ का नमूना भी देखिए :

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्
त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम्।
घृणीवच्छायामरपा अशीया
विवासेयं रुद्रस्य सुम्नम् ॥ ऋग् २.३३.६

"मरुतों सहित वृषभ रुद्र ने मुझ प्रार्थी को तेजोमय गति से आनन्दित कर दिया है। जैसे सूर्य की धूप से व्याकुल मनुष्य छाया का सेवन करता है, वैसे ही मैं उस वृषभ की छाया (शरण) का सेवन करूं, मैं रुद्र के सुख को अपनाऊँ।"

मरुत् रूपी उक्षाओं का निम्न वर्णन भी कैसा चामत्कारिक है :

ते जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो
रुद्रस्य मर्या असुरा अरेपसः।
पावकासः शुचयः सूर्या इव
सात्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पसः ॥ ऋग् १.६४.२

वे मरुत रूपी उक्षा आकाश से उत्पन्न हुए हैं, रुद्र के पुत्र हैं, असुर (प्राणदायक) हैं, पापरहित हैं, पावक हैं, सूर्य के समान पवित्र हैं, पुरुषों के समान एक ओर तो उदकबिन्दुओं वाले (दयालु) हैं, दूसरी ओर घोर रूप वाले हैं।"

इतर अर्थ

अन्य भी कतिपय अर्थों में ऋग्वेद के उक्षा तथा वृषभ शब्द प्रयुक्त उपलब्ध होते हैं। एक मन्त्र में आकाश में स्थित पाँच उक्षाओं का उल्लेख आया है।[4] ये वृषभ राशि के नक्षत्रपुंज के पाँच प्रमुख तारे प्रतीत होते हैं, यद्यपि सायण ने ये पाँच उक्षा इन्द्र, वरुण, अग्नि, अर्यमा तथा सविता अथवा अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत् बतलाये हैं। एक स्थान पर सायण ने उक्षा का अर्थ सेक्ता स्तोतृजन किया है।[5] सायण एक मन्त्र में उक्षा का वैकल्पिक अर्थ अश्व लेते हैं।[6] एक स्थल में उषाओं के वाहन अरुणी गौओं के लिए उक्षा शब्द का प्रयोग

१. १.१९०.१ तथा ८, ३.६२.६, ६.७३.१, १०.९२.१०
२. २.३३.४, ६, ७, ८, १५
३. १.६४.२, १.१६८.२, ५.५२.३
४. अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः। १.१०५.१०
५. ३.७.७
६. ६..६४.५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है[1]। एक प्रसंग में जहां द्यावापृथिवी के धारण का वर्णन है, सायण ने उक्षा का अर्थ हिरण्यगर्भ किया है।[2]

वृषभ एक [illegible] कुत्स[3] का विशेषण तथा एक मन्त्र में शिवत्र्य[4] का विशेषण बन कर आया है। मित्रावरुण को भी वृषभ कहा गया है[5]। सायण ने वृषभ के अर्थ यज्ञ[6], द्युलोक[7], प्रधी[8], रेतःसेक्ता पति[9], संवत्सर[10], स्तोत्र[11], दानी[12] तथा [illegible] कर्म[13] भी किये हैं। वृषभ पुंजाति[14] के लिए भी अ[illegible]।

एक अद्भुत वृषभ

ऋग्वेद में एक अद्भुत[15] वृषभ का वर्णन आया है, जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं और सात हाथ हैं। वह तीन खूंटों से बंधा हुआ डकरा रहा है। वह महान् देव है, जो सब मनुष्यों के अन्दर आकर प्रविष्ट है। यह वर्णन यजुर्वेद में भी है[15]।

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥ ऋग् ४.५८.३

यास्कीय निरुक्त[16] के अनुसार यह वृषभ यज्ञ है। चार वेद ही उसके चार सींग हैं, प्रातः मध्याह्न तथा सायं के तीन सवन ही तीन पैर हैं। प्रायणीय तथा उदयनीय उसके दो सिर हैं। गायत्र्यादि सात छन्द हाथ हैं। वह यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण तथा कल्प इन तीन खूंटों से बंधा हुआ है। यज्ञ में होने वाला मन्त्रपाठ ही उस वृषभ का बोलना है। महाभाष्यकार पतंजलि के मत में यह वृषभ शब्द है। शब्द के चार भेद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ही इसके चार सींग हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान काल तीन पैर हैं। सुप् और तिङ् दो सिर हैं। सात विभक्तियां सात हाथ हैं। उरस्, कण्ठ और सिर इन तीनों स्थानों में बंधा हुआ वह बोल रहा है, यतः तीनों स्थानों की सहायता से उच्चारित होता है।

सायण का कथन है कि इस सूक्त के अग्नि, सूर्य, आप, गो तथा घृत ये पांच देवता होने से यह मन्त्र पंचधा व्याख्यात हो सकता है। यज्ञाग्नि तथा सूर्य के पक्ष में उसने व्याख्या प्रदर्शित भी की है। यज्ञपरक व्याख्या प्रायः निरुक्त का ही अनुसरण करता है। सूर्यपरक व्याख्या के अनुसार चार दिशाएं सींग हैं, तीन वेद तीन पैर हैं, अहोरात्र दो सिर हैं, सात रश्मियां अथवा छः विलक्षण ऋतुएं तथा एक साधारण ऋतु सात हाथ हैं, तीन क्षित्यादि लोकों में अग्न्यादि रूप से संबद्ध है, अथवा ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त इन तीन द्वारा तीन रूपों में बद्ध है। वर्षक होने से वृषभ है तथा वृष्ट्यादि द्वारा शब्द भी करता है। प्राण, आत्मा, ब्रह्म, काव्यपुरुष, राष्ट्र आदि विषयक भी इसकी व्याख्यायें की गई हैं।

वृषभ-पाक

ऋग्वेद के दो स्थलों में वृषभ-पाक[17] का तथा अन्य दो स्थलों में उक्षा-पाक[18] का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग् १.१६४.४३ में कहीं दूर पर गोबर के उपले की धुआं दिखाई देने की चर्चा है। उसके विषय में कहा गया है कि वीरों ने उक्षा पृश्नि (चितकबरे बैल) को पकाया

---

१. ७.७९.१
२. १०.३१.८
३. १.३३.१४
४. १.३३.१५
५. ५.६३.३
६. १.१६६.१
७. १.१६०.३
८. २.३०.८
९ २.१६.८, १०.१०.१०, १०.४०.११
१०. ३.५६.३
११. ७.७९.४
१२. ८.९३.१ तथा ७
१३. १०..२८.३
१४. १०.५.७
१५. यजुः मा. वा. सं. १७.९१
१६. निरुक्तम १३.७
१७. १०.२७.२, २८.३
१८. १.१६४.४३, १०.८६.१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, उसी का यह धुआं है :

शकमयं धूममारादपश्यं
विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।।

सायण यहां वीर का अर्थ विविध विधियां करने-कराने वाले ऋत्विग् या देव तथा उक्षा का अर्थ सोमवल्ली करते हैं। प्रमाण रूप में उन्होंने एक वचन भी उद्धृत किया है[1]। उक्षा-पाक विषयक दूसरा मन्त्र १०म मण्डल के इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद में उपलब्ध होता है। वहां इन्द्र कहता है कि मेरे लिए याज्ञिक लोग पन्द्रह और बीस उक्षाओं को पकाते हैं तथा उन परिपक्व उक्षाओं से वे मेरी दोनों कुक्षियों को भर देते है, उससे मैं खूब मोटा हो गया हूँ :

उक्षणो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमस्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।। ऋग् १०.८६.१४

इससे पूर्व के मन्त्र में भी इन्द्र द्वारा उक्षाओं के खाये जाने का संकेत है[2], जहाँ सायण ने सेचनसमर्थ पशुओं (सांडों) के भक्षण का ही भाव लिया है[3]। प्रस्तुत मन्त्र में भी वह उक्षा का अर्थ पशु ही लेता है[4]। पर वस्तुतः यहां भी प्रकरणानुसार उक्षा का अर्थ सोम ही संगत ठहरता है। सूक्त के प्रारंभ में इन्द्र की पूत्रवधू वृषाकपायी ने इस बात पर रोष व्यक्त किया है कि याज्ञिक लोग सोमरस तो खूब अभिषुत करते हैं, पर उसे वे इन्द्र को नहीं पिलाते, जबकि वृषाकपि सोम पीकर आकण्ठ तृप्त हो जाता है[5]। १३वें मन्त्र में वृषाकपायी की उसी आपत्ति का उत्तर दिया गया है कि तुम चिन्ता न करो, अब तुम्हारे श्वसुर इन्द्र को बहुत से सोमरस (उक्षा) पान करने मिलेंगे।[6] अतः १४वें मन्त्र में इन्द्र जिन १५ और २० पके हुए उक्षाओं को खाने की बात कर रहा है, वे सांड नहीं, प्रत्युत परिपक्व सोम [illegible] ही १५ और २० पात्र हैं। अन्यथा आपत्ति तो हो [illegible]न मिलने की और उसका परिहार किया जाये सां[illegible]लाकर, यह सर्वथा विसंगत प्रतीत होता है। अत[illegible] सायणाचार्य पूर्वोल्लिखित प्रसंग में उक्षा पृश्नि [illegible] अर्थ सोमवल्ली करते हैं, वैसे ही यहां भी करना [illegible]त है। ऋग् ९.८६.४३ में तो 'उक्षणं पशुम्' शब्द [illegible] हैं, तो भी सायण ने वहाँ बैल या सांड अर्थ न लेकर [illegible] सोम अर्थ ही किया है, भले ही वहां उसे पशु का अर्थ [illegible]ष्टा करना पड़ा है।

निम्न मन्त्र में वृषभ [illegible] पाक का प्रसंग है। वसुक्र इन्द्र से कह रहा है कि जब मैं [illegible]रीर से पुष्ट होते हुए अदेवयु (अयाज्ञिक) लोगों को युद्ध के लिए ललकारूंगा तब आपके लिए मैं मोटा-ताजा वृषभ पकाऊंगा और उसमें तीव्र अभिषुत पन्द्रहवें सोम को भी सिंचित करूंगा :

यदीदहं युधये संनयानि
अदेवयून् तन्वा शूशुजानान् ।
अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि
तीव्रं सुतं पञ्चदशं निषिञ्चम् ।।
ऋग् १०.२७.२

यहाँ भी सायण ने वृषभ का अर्थ सेचनसमर्थ पुंपशु (सांड) किया है। किन्तु वस्तुतः यह वृषभ भी सोम ही है। चौदह सोमपात्रों का एक पात्र में एकत्र किया हुआ सोम 'वृषभ' है, जिसे पकाया जाता है तथा उसमें पन्द्रहवें पात्र का सोमरस भी निषिक्त कर दिया जाता है।

अगले ही सूक्त में फिर वृषभ-पाक आता है :

अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान्
सुन्वन्ति सोमान् पिबसि त्वमेषाम् ।
पचन्ति ते वृषभां अत्सि तेषां
पृक्षेण यन्मघवन् हूयमानः ।। ऋग् १०.२८.३

वसुक्र इन्द्र से कह रहा है कि यजमान आपके लिए

---

१. सोम उक्षाभवत् पूर्वं तं देवाः शकृतापचन् ।
यज्ञार्थे तद्भवो धूमो मेघ आसीत् तदुच्यते ।।

२. घसत् त इन्द्र उक्षणः । १०.८६.१३

३. इन्द्रः उक्षणः सेचनसमर्थान्···पशून् घसत् प्राश्नातु ।
सायण

४. उक्षणः वृषभान् । सायण

५. विहि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा ।।

६. वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविः ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मदजनक त्वरित सो[illegible] को ग्रावाओं से अभिषुत करते हैं तथा आप उनका प[illegible] हैं। वे आपके लिए वृषभ पकाते हैं तथा आप उनका [illegible] करते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ [illegible] सुकपत्नी ने ये उद्गार प्रकट किए हैं कि यज्ञ में अन्य [illegible] देव तो आ गये, किन्तु मेरे श्वसुर इन्द्र नहीं आये, य[illegible] आते तो धाना (भुने जौ) खाते और सोम [illegible] तथा पू[illegible]तः तृप्त हो कर घर जाते[1]। वे बैल या सांड़ खाते, ऐसा इसने नहीं कहा है। इतने में ही इन्द्र आ जाता है। तब सूक्त ने उक्त तृतीय मंत्र का उच्चारण किया है कि आपके लिए सोमरस तथा वृषभ तैयार हैं। इस प्रसंग को देखते हुए यहाँ वृषभ का अर्थ धाना (यव) लेना ही उचित है। इन्द्र के अन्न का भी वृषभ नाम है, यह हम पहले देख चुके हैं। एवं 'पचन्ति ते वृषभान्' का अर्थ होगा कि आपके लिए यवों को भूनते हैं। अथवा पूर्ववत् वृषभ का अर्थ सोमवल्ली भी ले सकते हैं। इन्द्र सोमपान करता है तथा सोमवल्ली की पकाई हुई डंठलों का भक्षण करता है। इसी सूक्त में ११वें मन्त्र में उक्षा-भक्षण का उल्लेख आया है—'सिम उक्षणोऽवसृष्टाँ अदन्ति', जहाँ सायण ने उक्षा का सोम अर्थ ही लिया है[2]।

यह भी द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही इन्द्र का भोज्य धाना (भुने जौ), करम्भ (दही मिश्रित सत्तू) और पुरोडाश (अपूप) है तथा पेय सोमरस है[3], बैल उसका भोजन नहीं है। अतः वृषभ तथा उक्षा शब्दों को देखते ही तुरन्त बैल को पकाने की कल्पना कर लेना वेद के प्रति न्याय नहीं होगा। इन्द्र जिन परिपक्व वृषभों तथा उक्षाओं को खाता है वे भुने जौ, पुरोडाश या सोम ही हैं, बैल का मांस नहीं। वेद में इन्द्र को पुरोडाश तथा परिपक्व सोम भेंट करने की ही महिमा लिखी है[4], बैल खिलाने की नहीं।

उक्षा की आहुति

ऋग्वेद में चार बार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अग्नि में उक्षाओं की आहुति का उल्लेख आता है[5]। निम्न मन्त्र विशेषतः द्रष्टव्य है :

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो
वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे
हृदा मतिं जनये चारुमग्नये॥ ऋग् १०.९१.१४

यहाँ अश्व, वृषभ, वशा और मेष पशुओं के साथ उक्षा भी उल्लिखित है, और अग्नि का विशेषण सोमपृष्ठ पृथक् पठित होने से यहां उक्षा का अर्थ सोम भी नहीं हो सकता। परन्तु वस्तुतः इन पशुओं की अग्नि में आहुति अभिप्रेत नहीं है, अपितु ये पशु अग्नि को समर्पित कर सार्वजनिक हित के लिए उत्सर्ग कर दिए जाते हैं। मन्त्र में पठित 'अवसृष्टासः' पद इसी बात का ज्ञापक है। एक मन्त्र में यह भी कहा गया है कि अग्नि के लिए जो हम मन्त्रपूर्वक हृदय से संस्कृत हवियाँ देते हैं वे ही उक्षा, वृषभ और वशा हैं[6]। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि अग्नि केवल पार्थिव अग्नि ही नहीं है, अपितु उत्तर ज्योतियाँ विद्युत् और आदित्य भी अग्नि हैं[7]। सूर्य रूपी अग्नि के लोक द्यौ में अश्व, वृषभ, मेष आदि नामों वाले नक्षत्रपुंज आहुत करके छोड़े हुए हैं, यह भी मन्त्र का आशय हो सकता है। वेद में अग्नि का भोजन अश्व, वृषभ आदि पशु नहीं हैं, किन्तु समिधा और घृत हैं

---

१. विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम ममेदह श्वसुरो नाजगाम। जक्षीयाद् धाना उत सोमं पपीयात् स्वाशितः पुनरस्तं जगायात्॥ १०.२८.१

२. उक्षणः अवसृष्टान् इन्द्रेण निसृष्टाननुज्ञातान् हविर्भूतान् सोमान् यज्ञेषु अदन्ति भक्षयन्ति। सायण

३. द्रष्टव्य : ऋग् ३.५२, जिसमें तीनों सवनों का पृथक् पृथक् इन्द्र का भोज्य उल्लिखित है।

४. ऋग् ८.३१.१-४

५. २.७.५, ६.१४.४७, ८.४३.११, १०.९१.१४

६. ६.१६.४७

७. अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते। निरुक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है[1]। अतः अग्नि में पशुओं का होम करना निःसन्देह अवैदिक है।

उपसंहार

इस प्रकार हमने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद के वृषभ और उक्षन् शब्द, जो लोक में प्रायः बैल अर्थ को देते हैं, कितने विभिन्न अर्थों को अपने अन्दर गृहीत किये हुए हैं। अधिकतर हमने इस लेख में ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही विचार किया है। स्वयं ऋग्वेद ही जिन अग्नि, इन्द्र, सोम, सूर्य आदि को स्पष्ट रूप से वृषभ या उक्षा कहता है, उन्हीं को हमने लिया है। ये वृषभ या उक्षा शब्द से वाच्य अग्नि, इन्द्र आदि कौन हैं, इस विषय को यहाँ नहीं छेड़ा गया है। इन अग्नि, इन्द्र आदि की आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से व्याख्यायें करने पर उनके लिए प्रयुक्त वृषभ और उक्षा शब्दों के अर्थ भी तदनुसार हो सकते हैं। जो स्थिति वृषभ एवं उक्षा शब्दों की है वही बैलवाची वृष, अनड्वान्, वृषभ आदि शब्दों की भी है। अथर्ववेद में प्राण को अनड्वान् कहा गया है[2]। अनड्वान् द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष को तथा छहों दिशाओं को एवं सम्पूर्ण भुवन तक को धारण करता है, यह भी वर्णित हुआ है[3]। यह कार्य साधारण बैल नहीं कर सकता। एवं वैदिक शब्द अपने अन्दर अ[illegible] वैशिष्ट अर्थों को गृहीत किये हुए हैं। वेदव्याख्याकार को वैदिक शब्दों का यह वैशिष्ट्य अवश्य ध्यान में रखना [illegible]। अन्यथा वह वेद के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। वृषभ-[illegible]ाक तथा वृषभ-होम की चर्चा अभी की जा चुकी है। वैदिक शब्दों के रहस्य को न समझने से उन [illegible] प्रकरणों का कैसा अनर्थ किया गया है। वैदिक शब्द-प्रयोग की शैली से अनभिज्ञ होने का ही यह परिणाम है कि आज अनेक पाश्चात्त्य तथा एतद्देशीय विद्वत्कोटि के व्यक्ति भी वेदों के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण विचार रखते हैं। इस लेख में वृषभ और उक्षा शब्दों के अर्थ पर विचार करके हम इसी बात पर प्रकाश डालना चाहते हैं कि वेद के किसी शब्द का क्या अर्थ है इस विषय में सर्वप्रथम प्रमाण स्वयं वेद ही है। वेद में कोई शब्द कहाँ-कहाँ किस अर्थ में आया है, इसका विचार करते हुए यदि हम वैदिक शब्दों का तथा वैदिक प्रकरणों का अर्थानुसन्धान करेंगे तभी वेद के साथ समुचित न्याय हो सकता है।

रीडर, संस्कृत-विभाग
गुरुकुल विश्वविद्यालय
हरिद्वार

—|—

१. द्रष्टव्य : २.७६, ७.३.१, १०.६९.२
२. अथर्व. ११.४.१३
३. अथर्व. ४.११.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर की दार्शनिक मान्यताएँ

डा० विष्णुदत्त राकेश

पुष्टि सम्प्रदाय में सम्मिलित होने से पूर्व सूरदास शैव थे या हरिदासी सम्प्रदाय के सखी भावोपासक भक्त, प्रामाणिक रूप से कह सकना कठिन है। किन्तु वार्ता सम्प्रदाय तथा वल्लभ सम्प्रदाय सम्बन्धी साहित्य के अनुशीलन द्वारा यह असन्दिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि वह पुष्टि मार्ग के जहाज थे। पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैत दर्शन सूर के जीवन काल का ख्याति लब्ध दर्शन था। इसका प्रमाण १५६५ वि० में सम्पन्न होने वाले विद्यानगर शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने पर राजा कृष्ण देवराय द्वारा आचार्य श्री का कनकाभिषेक वाला वृत्तान्त है। इसी शास्त्रार्थ में आचार्य बल्लभ ने शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद का प्रतिपादन करते हुए मायावाद का खण्डन किया। इस अभूतपूर्व ख्याति लाभ के उपरान्त दक्षिण यात्रा से लौटते हुए १५६८ वि० के लगभग आचार्य वल्लभ से सूरदास का साक्षात्कार हुआ। इसी भेंट में उन्होंने दीक्षा प्राप्त की। दीक्षा के बाद सूर की भक्ति पद्धति स्थिर हुई और वह सगुण स्वरूप के समर्थक तथा भगवदनुग्रह पद्धति के प्रबल पोषक हो गये। उनकी दार्शनिक मान्यताओं और भक्ति पद्धति पर आचार्य वल्लभ की गहरी छाप पड़ी और अपने अभिनिवेश के कारण अष्ट छाप के कवियों में शुद्धाद्वैत दर्शन के वह प्रथम अग्रदूत सिद्ध होते हैं।

पुष्टिमार्गी सेवा पद्धति तथा शुद्धाद्वैत दर्शन:,

आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म सूत्र तथा श्री मद्भागवत् पर क्रमशः अणुभाष्य एवं सुबोधिनी लिखकर सगुण भक्ति समर्थक विष्णु स्वामी सम्प्रदाय तथा निर्गुण साधना मूलक अनुग्रह सम्प्रदाय की समंजस सेवा भक्ति का प्रवर्तन किया। ब्रह्म सम्बन्ध को लेकर ब्रह्म सूत्रों के वैष्णव भाष्यों में एक विलक्षण तत्त्व चिन्तन का प्रभाव आचार्य वल्लभ पर दिखाई देता है। औपनिषद् परतत्त्ववाचक ब्रह्म, वेदान्ताभिमत तथा सांख्याभिमत दोनों हैं। इस संबंध में ब्रह्मसूत्रकार का समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। आचार्य वल्लभ ने स्वरूपतः केवल परतत्त्व ब्रह्म को ही एक मात्र तत्त्व माना है। वही अपने को जगद्रूप में परिणत करता है। परतत्त्व सच्चिदानन्द है। अतः "आनंदमयोऽभ्यासात्"[1] जैसे सूत्र की व्याख्या करते हुए आनन्दमय को आनन्द का हेतु कहा गया है। आनन्दमय आनन्द का विकार नहीं अपितु आनन्द का मूल होने के कारण प्रचुरानन्द पूर्ण है। आनन्दमय इतर जीव नहीं हो सकता। परतत्त्व सच्चिदानन्द ही जब अपने एक अंश में आनन्द का तिरोभाव कर देता है तब उक्त अंश को चिदंश या जीव समष्टि कहते हैं और जब दूसरे अंश में आनन्द और चित् दोनों का तिरोभाव कर देता है तब वह अंश जड़ तत्त्व हो जाता है। इस प्रकार परतत्व ही स्वयं चेतनाचेतनात्मक जगत् के रूप में परिणत होने के कारण जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।[2] तात्पर्य यह है कि माया सम्बन्ध रहित और जगत् के अद्वैत के कारण एक मात्र तत्त्व ब्रह्म है और जड़ जीवात्मक जगद्रूप कार्य भी ब्रह्म है। अतः दोनों का अद्वैत है। ब्रह्म जीवभाव को अविद्या या माया के कारण प्राप्त नहीं हुआ। वह अपनी इच्छा

१. ब्रह्म सूत्र १।१।१३,

२. ब्रह्म सूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, डा० रामकृष्णआचार्य पृष्ठ २१६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से चित् और आनन्द भाव का तिरोधान कर जड़ और जीव का हेतु बनता है। वह जब चाहे जड़ और जीव में उक्त गुणों का अविर्भाव कर सकता है। अविकृत परिणाम्वाद की कल्पना वल्लभ ने यहीं की। परब्रह्म के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रूप स्वीकार करते हुए उन्होंने एक ओर आध्यात्मिक रूप में अक्षर ब्रह्म स्वरूप की कल्पना की तथा उसे ज्ञान लभ्य और ज्ञानि-प्राप्य बताया तो दूसरी ओर आधिदैविक रूप को साकार पुरुषोत्तमरूप, भक्तिलभ्य तथा भक्त-सेव्य बताया। सूरदास ने सारावली में ब्रह्म का निरूपण इसी साम्प्रदायिक मान्यता के आधार पर किया है—

सोभा अमित अपार अखण्डित आप आतमाराम,
पूरन ब्रह्म प्रगट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम।
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प आहार,
ओंकार आदि वेद असुरहन निर्गुण सगुन अपार।
अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनाशी,
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक विलासी।
सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल,
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सब है अंश गुपाल।

ब्रह्म का आधिदैविक रूप ही सगुण लीला रूप है। श्रीमद्भागवतोक्त लीलातत्त्व पौराणिक तत्त्व है जिसे वैष्णव भक्ति साहित्य में सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ है। लीलावतार में विभिन्न रूपों में भगवान का दर्शन लाभ होता है, लीला की प्रमुखता का एक हेतु यह भी है, उनकी लीला अमोघ है। लीला से ही संसार की रचना, पोषण और संहार होता है। इतने पर भी लीलावतारी उसमें लिप्त नहीं होते।[1] आचार्य वल्लभ के उपास्य श्री कृष्ण एक ओर स्वधामगत् नित्य लीला करते हैं तो दूसरी ओर अवतार कालीन जगत्प्रवत्ति रूप बाह्य लीलायें भी करते हैं। श्री कृष्ण का उज्ज्वल रस मण्डित रूप लीलातत्त्व की समग्रता को प्रकाशित कर सकने के कारण ही ग्राह्य है।[2] इन लीलाओं के साधनागत [illegible] पर विचार करते हुए आचार्य वल्लभ ने सुवोधिनी [illegible] प्रकरण में स्पष्ट लिखा है—

ब्रह्मानन्दात्समुध्दृत्य [illegible]जानंद योजने,
लीलायायुज्यते सम्यक्[illegible]तुर्येवि[illegible]रुप्यते ॥

समग्र जगत् को [illegible]मात्मा की बाह्य लीला मानकर, अन्तरंग लीलाधाम में रमने वाले भक्तों के [illegible]ये लीलातत्त्व का महत्त्व व्याख्या से परे है। इसीलिये महात्मा सूर विनय की सामान्य भक्ति को छोड़कर सारावली में लीलागान के लिये प्रतिश्रुत हुए।

श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौं, लीला भेद बतायौ
तादिन ते हरिलीला गाई एक लक्ष पद बन्ध।

इस प्रकार अन्तरंग लीलातत्त्व उनके आनन्द रूप की अभिव्यक्ति के कारण वैष्णव सम्प्रदाय में मान्य हुआ है। परमानन्द के नित्य विलास का पृथ्वी पर अवतरण इसी माध्यम से होता है। आधुनिक विद्वान् लीलातत्त्व के प्रतीकार्थ की अनेक व्याख्या करते हैं। पर चिदंश और सदंश के अभावगुण आनदांशं की अभिव्यक्ति के लिये ही लीलातत्त्व की प्रतिष्ठा की गई है। सारावली का साक्ष्य भी है—

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप,
कोटि कल्प बीतत नहिं, जानत विहरत युगलस्वरूप।

भगवान का लीलाधाम उसका स्वरूपगत अंश होने के कारण माया शक्तिजन्य संसार के गुणात्मक रूप से भिन्न होता है। अन्य माधुर्य रस निरूपक आचार्यों से सूर का वृन्दावन धाम व्रजधाम का तात्पर्यवाची होकर पृथक् रूप में आया है। स्वयं वल्लभ ने अणु भाष्य ४।२।१५ में गोकुल को वैकुण्ठ से अधिक महत्त्व दिया है—

---

१. सवा इदं विश्वममोघलीलः, सृजत्य वत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्। श्रीमद्भागवत् १।३।३६

२. आनन्द मात्र कर पाद मुखोदराधिः। तत्त्वार्थ दीप निबन्ध पृष्ठ ८५,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूरसागर के दशम् [illegible] में लिखा है—

वृन्दावन व्रज [illegible] महतु कापै बरन्यो जाई,
चतुरानन पग [illegible] के लोक गयो सुखपाई।

वल्लभ सम्प्रदाय [illegible] गंभीर अन्वेषक डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार [illegible] व्रज [illegible] रस रूप भगवान के लीला-धाम गोलोक या गोकुल [illegible] अवतार है।[1] वृन्दावन बिहारी की लीला भूमि [illegible] अगाध आसक्ति का निरूपण इसी [illegible] कल्पना के कारण सूर ने सूरसागर की इन पंक्तियों में [illegible]या है—

नैननि की छवि यहै चतुर सो जो मुकुन्द दरसन हित धावै।
करतेई जु स[illegible]म को सेवै च[illegible]ननि चलि वृन्दावन जावै॥

ब्रह्म के अतिरिक्त शुद्धाद्वैत दर्शन में जीव को चिदंश होने के कारण सत्य माना गया है। अग्नि से विच्छुरित होने वाली चिंगारी की तरह जीव में भी ब्रह्म की सत्ता रहती है। जीव अणु है व्यापक विभु नहीं। तिरोहितानंद होने के कारण अज्ञान गम्य है। कर्म सापेक्षता के आधार पर जीव कोटियां निर्धारित होती हैं—सूरसागर कार के शब्दों में—

जिय करि कर्म जन्म बहुपावै,-फिरत फिरत बहुतै श्रम आवै।
ज्ञानी सदा एक रस जानै, तन के भेद भेद यहि मानै।
आत्म अजन्म सदा अविनासी; ताको देह मोह बड़ फांसी।

अविद्या ग्रस्त जीव संसारी अवस्था में कष्ट उठाते हैं पर पुष्टि मार्गी जीव भगवत्कृपा से ब्रह्मभाव के उदय पर व्यापकत्व पा जाते हैं। सूत्रकार ने यद्यपि जीव का परतत्त्व से स्वरूप भेद प्रतिपादित किया है तथा रामानुज, निम्बार्क एवं बलदेव ने भी अंशतत्त्व की व्याख्या इसी आलोक में की है। किन्तु वल्लभ का जीव विषयक मत अनुग्रह सिद्धान्त की कल्पना के कारण भक्ति तत्त्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है, दार्शनिक दृष्टिसे भले ही वह वैमत्य का विषय हो। जीवोपकरणों में इन्द्रिय, प्राण और मन को भी आचार्य वल्लभ स्वरूपतः उत्पन्न नहीं मानते। "यावद् विकारं तु विभागोलोकवत्" की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्वरूपतः सब कुछ ब्रह्म ही माना है तथा जीवतत्त्व और जड़ तत्त्व को परतत्त्व के आधीन माना है। कारण और कार्य वह दोनों है—सूर की निम्न पंक्तियों में इसी आशय की अभिव्यक्ति हुई है—

प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद बतायो
गोपी ग्वाल कान्ह दुइ नाही ये कहुं नेक न न्यारे।

ब्रह्म और जीव के अतिरिक्त आचार्य वल्लभ ने जगत् के स्वरूप पर भी विचार किया है। तैत्तरीयोपनिषद् के साक्ष्य पर वह जगत् का कारण भी आनन्द को मानते हैं। जगत् ईश्वरेच्छा जन्य है और जीव की अविद्या रचना संसार है। जगत् नित्य है संसार अनित्य। तत्त्वार्थ दीप निबन्ध में कहा गया है।—

"तस्माध्देतोरस्य भगवतः शक्त्या अविद्यया जीव संसार उच्यते न तु जायते, अभिमत्यात्मकत्वात्, असत्त-वेनास्यगणनात्। अज्ञानं, श्रमः आदित्यादिशब्दा अहमे-तिरूपे संसारे एव प्रवर्तन्त न तु प्रपंच इत्यर्थः तस्य ब्रह्मात्मत्कवात्।"

महाकवि सूर ने जगत् और संसार का यह सम्प्रदाय सिद्ध भेद अपने सामने रखा है। ब्रह्म रूप जगत् विषयक उनकी उक्ति है—

खेलत-खेलत चित में आई सृष्टि करन विस्तार,
अपनु आपु करि प्रगट कियो है हरि पुरुष अवतार।
कीने तत्व प्रगट ते ही छन सवै अष्ट अरु बीस।

ममतात्मक संसार की कल्पित सत्ता के सम्बन्ध में उनका दृढ़ मत है—

मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया,
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि विसराया।

ब्रह्म सूत्र में परमनिः श्रेयस या मुक्ति को अन्तिम लक्ष्य स्वीकार कर उसकी प्राप्ति का उपाय ब्रह्म विद्या

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—पृष्ठ ४०५,
२. विस्फुलिलंगा इवाग्नेर्हि जड़ जीवा विनिर्गताः। अणुभाष्य-२।३।१६।४३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बताया गया है। आचार्य जैमिनी के मत का प्रतिवाद करते हुए सूत्रकार ने विद्या को कर्मांग न मानकर स्वतन्त्र साधन माना है एवं "विकल्पो विशिष्ट फलत्वात्" (३।३।५७) की व्याख्या में उसके व्याख्याकारों ने सर्वथा भिन्न दृष्टि अपनाई है। आचार्य वल्लभ ने भी मर्यादा मार्ग तथा पुष्टि मार्ग के भेद से नई व्यवस्था की है। पुष्टि मार्गीय भक्ति में ब्रह्म सम्बन्ध अथवा आत्म निवेदन का प्रमुख स्थान है। इसमें आचार मार्ग का निरूपण है, अनुग्रह तत्त्व की प्रतिष्ठा है तथा सेवा परिचर्या की प्रमुखता है। भक्त की स्वत्व सहित सर्वात्मना समर्पित चेतना का प्रकटीकरण ही इसका लक्ष्य है। गोस्वामी हरिराय जी ने पुष्टिमार्ग-लक्षणानि शीर्षक श्लोकों में स्पष्ट कहा है—

अनुग्रहणैव सिद्धिलौकिकी यत्र वैदिकी,
न यत्नातन्यथा विघ्नः पुष्टि मार्गः सकथ्यते।

महाकवि सूर ने भी अष्टयाम सेवा तथा अनुग्रह मार्ग पर पर्याप्त छन्द लिखे। यहाँ पर पुष्टि भाव के पोषणार्थ "चरन कमल बन्दौ हरिराई" तथा "जापर दीनानाथ ढरै" जैसी छन्दों की शीर्ष पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं।

आचार्य वल्लभ ने जीवों के आनन्द भोग में ब्रह्म का आनन्द भोग माना है। यह आनन्द की उपलब्धि पुष्टि मार्गीय भक्तों को ही होती है, ज्ञान मार्गी भक्तों को नहीं।[1] आनन्द भोग की प्रक्रिया में भगवदनुग्रह से पुष्टि की प्राप्ति तथा लीलामय भगवत्साक्षात्कार की प्राप्ति की चर्चा उन्होंने की है। विभूतिमय विग्रह के दर्शन से भक्त प्रेम रूपा तीव्ररति का अनुभव करता है। भगवत्कर्तृक भोग्य लीला के अनुप्रवेश से भक्त रसास्वाद करता है, इन्द्रिय सुख का स्पर्श यहाँ नहीं होता।[2] लीलामय कृष्ण की रसमयता का साक्षात्कार ही मुक्ति है। महाकवि सूर ने कालमायातीत लीलारस की [illegible]त्ता का निरूपण करते हुए कहा है—

"मायाकाल कहूं नहि व्यापै य[illegible] रीति सो जानै"

मुक्ति के स्वरूप भेद पर [illegible] सूरदास ने विचार किया है। सालोक्य, सामीप्य, [illegible]प्य तथा सायुज्य जैसे चार भेदों की चर्चा उन्होंने [illegible] सिद्धान्ततः तथा व्यवहारतः की है। लीलाधाम निरूपण के प्रसंग में सालोक्य, चरणारविन्द लाभ के उछाह में सामीप्य, श्रृंगार-छवि-निरूपण में सारूप्य तथा विविध वियोग दशाओं में सायुज्य की व्यावहारिक व्यंजना महाकवि सूर ने कराई है। निम्न पद में गोपी के विरह भाव में मुक्ति के चारों प्रभेदों का विनियोग हमारे कथन को पुष्ट करता है।

ऊधो सूधौ नैकुं तिहारौ।
हम अबलनि को सिखवन आए सुन्यो सयान तिहारौ।
निरगुन कहो कहा कहियत है, तुम निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौ मुक्ति लही हम चारी।
हम सालोक्य सरूप सायुजो रहति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की और तुम अलि बड़े अदाई।

वल्लभ दर्शन में उपास्य भाव तथा रस-तत्व :

आचार्य वल्लभ ने भक्ति-भाव के परिप्रेक्ष्य में ही अपनी दार्शनिक मान्यतायें स्थिर की। अवतारवाद और हरिलीला तत्त्व के अनुप्रवेश से वैष्णव भक्ति-साधना ब्रह्मभाव की सिद्धि में निर्गुण भाव की अपेक्षा अधिक उपयोगी और सार्वजनीन सिद्ध हुई। यही कारण है कि आचार्य श्री ने भक्ति के प्रचलित सभी प्रकारों का विचार बिना किसी आग्रह बद्ध दृष्टि से किया। उपासना क्रम में गृहीत भाव वैविध्य के औचित्य-निरूपण के मूल में भी यही उदारवादी धारणा काम कर रही थी। डा० हरवंशलाल शर्मा ने परमानन्द सागर की भूमिका पृष्ठ २३ पर वल्लभ सम्प्रदाय का उपास्य भाव वात्सल्य माना है,

१. ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेनाक्षर ब्रह्माप्राप्तिः पुष्टि-मार्गीयस्य भक्तस्य तु सोश्नुत इत्यनेनोक्ता पर प्राप्तिरिति। अणु भाष्य ४।४।५।११.

२. लीलाया कालमायाद्यतीतत्वेप्न प्राकृतं जगत् दूरतरमितोपि हेतोर्न तत्संभवः। अणुभाष्य ४।४।५।१७.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु सख्य और माधुर्य का आत्यन्तिक निषेध भी यहाँ नहीं है। प्रभुदयाल मीतल ने अष्टछाप परिचय पृष्ठ १३१ पर स्पष्ट लिखा है कि सख्य वात्सल्य की तरह कान्ता भक्ति भी वल्लभाचार्य को मान्य थी। राधाभाव की पूर्ण प्रकल्पना के अभाव में यद्यपि माधुर्य की वैसी प्रतिष्ठा वल्लभ सम्प्रदाय में नहीं है, गाई जैसी अन्य सखी भावोपासना प्रधान साधना वल्लभों में रही। गुसाँई विट्ठलनाथ कृत "गुप्त रस" ग्रन्थ में बाल भाव और माधुर्य भाव का गुणीभूत रूप इसीलिये परिलक्षित होता है, वैष्णवाचार्यों के द्वारा पुराणोपजीवी साहित्य साधना को स्वीकृति मिल जाने पर गोपीतत्त्व, सम्प्रदाय और साहित्य दोनों ही धाराओं में अपनाया गया। लीलास्मरण की उपासना भी पुराण सम्मत है।[1] विद्वन्मंडन नामक ग्रन्थ में वल्लभ के लिये गोपीपति रतिमार्ग प्रवर्तक विशेषण का उपपन्न होना इसी तथ्य का पोषक है। श्री बालकृष्ण भट्ट ने प्रमेय रत्नार्णव में गोपियों के आचार-भाव की विविध भूमिकाओं का पुष्टिमार्ग की २० परिभाषाओं में संश्लेष प्रस्तुत किया है। अतः मधुरलीला विषयक भावोपासना तथा तत्सम्बन्धी साहित्य प्रणेता अष्ट छाप के कवियों में मधुरभाव विषयक पदों का आधिक्य देखकर उसे सम्प्रदायेतर वस्तु नहीं समझना चाहिये। डा० देवीशंकर अवस्थी का यह मन्तव्य इस संबंध में अधिक सही है कि वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के बाल रूप की प्रतिष्ठा अवश्य है एवं सूर ने वात्सल्य सम्बन्धी प्रचुर एवं उत्तम साहित्य की रचना भी की परन्तु फिर भी वल्लभ सम्प्रदाय में (हरिदासी प्रभाव के कारण) मधुर भाव की साधना ही बढ़ती गई। स्वयं सूर ने अपने अन्तिम पद में युगलरूप में ही अपनी चित्त वृत्ति के रमे रहने का संकेत किया है।[2]

अष्टछाप के कवियों का वृन्दावन की रसोपासना से प्रभावित होने का विवरण 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'निजमत सिद्धान्त' जैसे ग्रन्थों से भी हो जाता है। सूर की "हरिरस वृन्दावन ते आया" उक्ति उक्त प्रभाव की अन्तः साखी भरती है किन्तु यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वल्लभ सम्प्रदाय का गोपीभाव सूर के साधनामत उत्कर्ष का बीजभाव है जो बालभाव की परिधि में ही स्फुरित हुआ है। श्रीकृष्ण की व्रज-लीलाओं के प्रामुख्य के कारण राधा के कैंकर्य की अपेक्षा यहाँ सम्पोषित सखा साम्य कोटि का माधुर्य है। इसीलिये सहचरी भाव प्रधान नित्य संयोग सुख की अपेक्षा विरह प्रधान व्याकुलता का उत्कठारस ही यहाँ सर्वत्र दिखाई पड़ता है। भ्रमर गीत विषयक पदों का व्यावहारिक साधनागत बीज भाव यही है और पलकान्तर का वियोग-जन्य उत्ताप न सह सकने वाली अन्तः परिशोषित लतिका गोपी से सूर के साधक कवि के अनन्य एकात्मभाव का रहस्य भी यही है। डा० शरण बिहारी गोस्वामी ने सेवा और अधिकार भाव के भेद से वल्लभ सम्प्रदाय के सखी भाव को गोपीभाव का ही व्यापक रूप स्वीकार किया है। उनका कथन है कि "व्रजलीलाओं के आधार के कारण इस सम्प्रदाय का गोपीभाव व्यापक हो गया है। सूर प्रारम्भ में तो वल्लभाचार्य के सम्पर्क में थे तब तक बाललीला का वर्णन विशेष रूप से करते रहे परन्तु बाद में वृन्दावन का रंग लगने पर उन्होंने अपने को सखीभाव के कवियों के रूप में ढाल दिया। इन कवियों के अन्तिम जीवन की रचनायें प्रायः राधा की प्रधानता को सिद्ध करने वाली सखी भाव सम्बन्धी रचनायें हैं। यह उनके जीवन का एक विकास क्रम है जो महत्वपूर्ण है।"[3] अस्तु निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भक्ति साधना में पुरुष भाव के भंग हो जाने पर सहज नारी भाव की उत्पत्ति ब्रह्मभाव साधन का सर्वोपरि अंग कहा जा सकता है। साधन-क्रम में यह भावातिरेकपूर्ण चर्या है जहाँ प्रेम के स्फुरण से देह भाव बिसर जाता है। रस रीति की प्रक्रिया यहीं से प्रारम्भ होती है। जिसकी कोई अवधि

---

१. अनुग्रहस्य भक्तानां मानुषं देहमस्थितः,
भजते तादृशीं क्रीड़ायां स्मृत्वा तत्परो भवेत्।
श्रीमद्भागवत् १०।३३।३७.

२. १८ वीं शती के व्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति पृष्ठ १०७

३. कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव पृष्ठ ६५०,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है जिस पर काल का कोई नियंत्रण नहीं है। सारावली और सूरसागर के माधुर्य बोझिल अधिकांश पद इसी प्रक्रिया के समर्थन में लिखे गये हैं। सूर सागर के इस पद में श्रुतियों को रस रूप कृष्ण से उपदेश दिलाते हुए भक्त सूर ने भी मानो अपनी स्वीकृति की अन्तिम छाप लगा दी है—

तबै ऋचा है गोपिका हरि सो कियौ विहार,
जो कोई भरता भाव करि हरि पद ध्यावै।
नारि पुरुष कोउ होय सोइ श्रुति ऋचा गति पावै।
तिनकी पद रज जो कोउ वृन्दावन भुवि माहीं,
परसै सो गोपिका गति लहै संसै नाहीं।

अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ब्रह्मसूत्र की सांख्याभिमत परम्परा के प्रभाव के कारण सूर के प्रेरणा स्रोत आचार्य वल्लभ ने प्रकृति-पुरुष की एकात्म भावना को भागवतोक्त गोपीभाव में भक्तिवाद के आग्रह के कारण पुरस्सरित किया। गोपीभाव से गोपीदेह प्राप्ति के सूत्र भी विष्णुपुराण, पद्मपुराण तथा वृहद वामन पुराण से प्राप्त हुए। यामुनाचार्य के "आगम प्रमाण्य सिद्धि के फलस्वरूप" तत्कालीन साहित्य की युग्म पूजा का प्रभाव भी भक्ति निरूपक आचार्यों पर पड़ा। इसी आलोक में रुद्रयामल, कृष्णयामल तथा गौतमीतन्त्र का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी योषित् [illegible] की सिद्धि के लिये उत्तरदायी माना जाना चाहिए। यही कारण है कि ब्रह्मसूत्र के निः श्रेयस अभ्युदय [illegible] आचार [illegible] रूपक सूत्रों की व्याख्या में वल्लभ कृत [illegible] का समर्थन मूल ग्रन्थकार तथा अन्य वैष्णवाचार्यों के भाष्यों से मेल नहीं खाता। औपनिषदिक् मधु-विद्या की परम्परा तथा शक्ति-शक्तिमान् की सांख्याभिमत परम्परा का सम्मिश्रण यहीं हुआ। अतः सूर और उनके सम्प्रदायगत सिद्धान्त और उपास्य भाव की मीमांसा करते हुए हमें ब्रह्म सूत्र के अणुभाष्य की प्रक्रिया तथा पुराण सम्मत लीलातत्व का गंभीर अनुशीलन करना चाहिये तभी हम वल्लभ और सूर द्वारा प्रस्तुत ब्रह्म परतत्त्व अवतारवाद तथा लीलारस की धारणा में संगति बैठा सकेंगे।

हिन्दी-विभाग
गुरुकुल विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगन्मिथ्यात्ववाद और ब्रेडले के आभास सम्बन्धी विचार

डॉ० अभेदानन्द

ब्रेडले प्रतीयमान वस्तुओं को आभास या मिथ्या कहते हैं। प्रतीयमान वस्तुओं के अधिष्ठानरूप से जो सत्ता है उसे ब्रेडले सत् कहते हैं। ब्रेडले ने अपनी पुस्तक "एपीयरेन्स एण्ड रियलिटी" के प्रथम खण्ड में सभी प्रतीयमान वस्तुओं को तर्क और युक्तिओं द्वारा आभास सिद्ध किया है। तार्किक बुद्धि से विचार करने पर वस्तुयें सत्य सिद्ध नहीं हो पातीं। ब्रेडले के अनुसार पूर्ण सत् कभी भी अपने में स्वव्याघातक नहीं होता।[1] इसका अर्थ ब्रेडले के अनुसार हुआ—सत् यदि सत् है तो असत् नहीं हो सकता। वह सत् ही है। यदि सत् अपने स्वरूप से विलग हो सकता तब वह सत् ही नहीं कहा जायेगा। इसके विपरीत आभास अपने अस्तित्त्व को बनाये नहीं रख पाते, कारण यह है कि आभास का अपना कोई स्वरूप नहीं है। उनका स्वरूप भी सत् का ही स्वरूप है। आभास अपने अस्तित्व से तादात्म्य नहीं रख पाते।[2]

ब्रेडले ने प्रतीयमान वस्तुओं को आभास सिद्ध करने के लिये प्रधान-अप्रधान गुण, द्रव्य और विशेषण, सम्बन्ध और गुण, दिक् और काल, गति और परिवर्तन, कारण और क्रिया, वस्तुयें अपने में, यहां तक कि आत्मा का भी विचार करके सभी को स्वव्याघातक सिद्धि किया है। उनके अनुसार ये सभी आभास हैं, न कि सत्। अप्रधान गुणों के विषय में उनके विचार हैं कि रूप रंग आदि अप्रधान गुण वस्तुगत नहीं हैं, वे अहं सापेक्ष हैं। इन्द्रियों के बिना अप्रधान गुणों की सत्ता नहीं सिद्ध हो पाती। वे वस्तुगत वस्तुओं में न होकर विषयी में हैं, अतः आभास हैं। ब्रेडले स्वतन्त्र सत्ता को ही सत् कहते हैं। अप्रधान गुण स्वतन्त्र नहीं हैं, अतः सत् न होकर आभास हैं।[3] इसी प्रकार प्रधान गुण भी सापेक्ष हैं। वे भी अपने आप में स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान नहीं हैं, अतः वे भी आभास ही हैं।[4] गुण-गुणी का सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। ब्रेडले ने शक्कर खण्ड का उदाहरण देकर समझाया है कि शक्कर मीठा है, ठोस है, श्वेत है, इन गुणों से वह विशिष्ट है, किन्तु मीठा, ठोस आदि ही शक्कर नहीं हैं। मीठा स्वयं एक गुण है, वह ठोस नहीं है श्वेत स्वयं एक गुण है, ठोस का प्रयोग श्वेत में भी नहीं हो सकता। शक्कर इन गुणों की समष्टिमात्र भी नहीं। तब वह है क्या ?[5] इस प्रकार तार्किक विश्लेषण करने पर वस्तुयें विशेषणरूप होतीं हैं, न उनसे भिन्न रूप से सिद्ध हैं। "शक्कर श्वेत है" इस वाक्य में हम शक्कर को श्वेत कह सकते हैं ? शक्कर को उद्देश्य करके श्वेत का विधान करने पर उद्देश्य शक्कर के विषय में हमने कुछ भी कहा नहीं किया। और यदि उद्देश्य को ही विधेय में कहा जाय तब भी कुछ नहीं कहा जायेगा। इस प्रकार उभयतः पाश है। ब्रेडले के शब्दों में "यदि उद्देश्य का विधेय उससे भिन्न रखा जाय तो उद्देश्य को ऐसा बताया जायेगा जैसा

1. Ultimate reality is such that it doees not contradict itself. Appearance and Reality—P.120.Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).
2. Ibid.p.—165.
3. (Appearance and Reality) p. 10. Bradley (9th Ed., oxford 1930)
4. Ibid.—p. 15.
5. Ibid.—p. 16

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः नहीं है। इसके विपरीत यदि "विधेय उद्देश्य से भिन्न हो तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'उद्देश्य के विषय में कुछ कहा ही नहीं गया।"[1]

ब्रेडले के अनुसार विश्व में सभी वस्तुयें किसी न किसी रूप में सम्बन्धों से युक्त हैं और सम्बन्धित वस्तुओं का स्वरूप वह नहीं होता जोकि सम्बन्धावस्था में प्रतीत होता है। उन वस्तुओं का स्वरूप सम्बन्धों से परे परमसत् है। वह परमसत् सम्बन्धातीत है। फिर भी इन वस्तुओं का वही स्वरूप है।

अद्वैत वेदान्त में जिस प्रकार चित्सुखाचार्य ने तत्व-प्रदीपिका में और श्री हर्ष ने खण्डन में न्याय वैशेषिक द्वारा स्वीकृत प्रमाण प्रमेयादि का प्रत्याख्यान किया है और अनिर्वचनीयतासर्वस्व की स्थापना की है, उसी प्रकार ब्रेडले ने भी उसी पद्धति से प्रातीतिक वस्तु गुण-गुणी विशेषण-विशेष्यादि का प्रत्याख्यान किया है। इनमें उनके अनुसार किसी प्रकार की भी संगति नहीं है। जो स्वयं किसी सम्बन्ध पर निर्भरशील है उसकी सत्ता सत् न होकर प्रातीतिक है। ब्रेडले ने गुण-गुणी में सम्बन्ध के लिये जिस प्रकार सम्बन्धांतर की शृंखलारूपी अनवस्था-दोष दिखाया है,[2] उसी प्रकार अद्वैताचार्यों ने न्यायवैशेषिक के समवाय के प्रत्याख्यान में सम्बन्ध परम्परा की अनवस्था का दोष दिखाया है।[3]

ब्रेडले प्रतीयमान वस्तुओं को उक्त प्रकार से आभास सिद्ध करते हैं, और कहते हैं कि "सम्बन्ध-गुण-विशिष्ट सत् वास्तविक सत् नहीं है, अपितु आभास है।"[4] सम्बन्धों के बिना गुण नहीं पाये जाते, गुणों के बिना सम्बन्धों का अस्तित्व नहीं मिलता। इस प्रकार सभी निर्भरशील हैं, अतः स्वसत्ता से रहित, मात्र प्रातीतिक हैं।

ब्रेडले बाह्य वस्तुओं को वि[illegible] की दृष्टि से सत्ता से च्युत करके आन्तर वस्तु आत्मा (Ego) को भी प्रतीयमान कहते हैं। शरीर और आत्मा दोनों ही ब्रेडले के अनुसार आभास हैं।[5] आत्मा जिस रूप में जानते हैं वह सम्बन्धों से विशिष्ट आत्मा है। सम्बन्धों से विशिष्ट वस्तु स्वयं सत्तावान नहीं होती, अतः सकारण आत्मा भी आभास है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी शरीर इन्द्रिय मनोयुक्त तथाकथित सम्बन्धित आत्मा वस्तुतः अध्यस्त है। अध्यस्त आत्मा मिथ्या है।[6] स्वस्वरूप आत्मा शरीरेन्द्रियान्तः करण धर्मों से परे है जो कि ब्रह्मरूप है। जहां तक अहं की आत्मा होने की बात है वह विशुद्ध चेतनांश में आत्मा या विशुद्ध चेतन है, किन्तु अहन्तांश अध्यस्त एवं मिथ्या है, अद्वैताचार्यों ने कहा है कि कार्यस्वरूप से सदसद्रूप से निर्वचनीय नहीं है। कारणात्मना ही उसका निर्वचन सम्भव है; इसलिये कारण की ही सत्ता है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है "कारण सत्तैव कार्यस्य सत्ता न ततोऽन्या"[7] इसी प्रकार ब्रेडले के अनुसार भी सत् की सत्ता के बिना आभास की सत्ता सम्भव नहीं। आभास के विषय में 'अस्ति' का कथन भी सत् के कारण ही सम्भव है। सत् आभास नहीं, किन्तु सत् के बाहर आभास नहीं है। सत् एक होकर सर्वत्र अनुस्यूत है, अतः नानात्व को अपने में आत्मसात् किया हुआ है।[8] वेदान्त सिद्धान्तमुक्तावलीकार का भी यही कहना है कि आत्मा सत्ता ही द्वैत की सत्ता है। इसी कारण आत्मा को जान लेने पर कारण रूप से द्वैत को भी

---

1. Ibid.—p. 17.
2. Appearance and Reality—p.18. Bradley (9th. Ed., Oxford, 1930).
3. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य भामती कल्पतरु परिमल। पृ० ५११, ५१२ निर्णयसागर, १९३८।
4. The reality so characterized, is not True reality, but is appearance—Appearance and Reality—p. 21. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930.)
5. That neither body nor soul can be more than appearance.—Appearance and Reality p. 262. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).
6. पंचपादिका। पृ० ३२। मद्रास १९५८।
7. भामती। पृ० ४४६। निर्णयसागर १९३८।
8. Appearance and Reality—p. 213. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जान लिया जाता है।[1] ब्रेडले अद्वैत के ही समान यह मानते हैं कि [illegible] बिना आभास सम्भव नहीं।[2] आभास की जब सम्भावना ही नहीं तब वह बिना सत् के किसका आभास होगा। अतः सत् की सत्ता ही आभास की सत्ता है। आभास भी सत् की सत्ता से सत्तावान् है, इसलिये कहा जा सकता है कि जो कुछ भी है सभी सत्य है। अद्वैत वेदान्त की "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" की व्याख्या भी यही सिद्ध करता है कि सत् सर्वत्र व्याप्त है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जहां पर ब्रह्म नहीं हो, क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त मिथ्या की सत्ता पृथक्रूप से स्वीकार करने का अर्थ है द्वैतापत्ति।

सापेक्षतया इन वस्तुओं को पूर्ण सत् मान लेना ही ब्रेडले के अनुसार भ्रम है।[3] अद्वैत वेदान्त के अध्यास विवेचन में स्पष्ट दिखाया है कि किस प्रकार भ्रमस्थल में जो वस्तु नहीं उसी को वहीं पर सत्य मान लिया जाता है; इसीलिये उक्त स्थल की वस्तु और ज्ञान दोनों मिथ्या हैं। इसी प्रकार जगत् की वस्तुयें ब्रह्म में आरोपित हैं जो कि अधिष्ठान की सत्ता से सत्तावान् हैं, किन्तु उन वस्तुओं को पृथक् रूप से सत्तावान् मानना ही जगद्भ्रम है। अद्वैत के ही समान ब्रेडले भी सत् में नानात्व का निषेध करते हैं। उनका कहना है कि स्वतन्त्र सत्ता के नाना सत् सम्भव नहीं हैं।[4] नाना सत् होने पर स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र सत् होंगे। परतन्त्र सत् का अर्थ सत् न होकर आभास ही हुआ। वस्तुयें अपने स्वरूप में सत् हैं और सत् में एकीभूत हैं, फिर भी बुद्धि में स्वव्याघाती एवं नाना प्रतीत होती हैं।[5] अद्वैत के अनुसार नानात्व दर्शन अध्यासजन्य है। ब्रेडले भी नानात्व दर्शन, सत् को पूर्ण रूप से ग्रहण न कर सकने के कारण, कहते हैं। बुद्धि द्वारा सत् को पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता।[6] बुद्धि जब भी सत् को जानना चाहेगी उसे आभास के रूप में विखण्डित करके ही जानेगी। सत् को जानने के लिए सत् होना पड़ेगा। अद्वैत में "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" माना गया है, उसी प्रकार ब्रेडले सत् को सत् होकर ही जाना जा सकता है, ऐसा कहते हैं।

हमने ऊपर ब्रेडले के दर्शन में जगत्-प्रपंच की स्थिति का एक संक्षिप्त विवरण दिया है। अद्वैत में स्वीकृत मिथ्यात्व के साथ ब्रेडले द्वारा प्रदर्शित आभास की तुलना की जा सकती है। चित्सुखाचार्य, मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों ने मिथ्यात्वानुमान में दृश्यत्वादि हेतु प्रदर्शित किये हैं। अतः स्पष्ट है कि अद्वैतवेदान्ती दृश्य वस्तुओं को ज्ञान विषय होने के कारण मिथ्या कहते हैं। ब्रेडले भी हमारी बुद्धि में प्रतीयमान वस्तुओं को आभास की संज्ञा देते हैं। ब्रेडले के अनुसार सत् एक है, अतः नानात्व आभास है। ब्रेडले के अनुसार सत् निरंशी है, अतः जो भी अंशी या नाना हैं आभास हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिथ्यात्व में जो हेतु अद्वैताचार्य देते हैं, उन्हीं हेतुओं के समान बातें ब्रडले भी आभास के के लिए कहते हैं। वस्तुतः अद्वैत के अनुसार भी सत् "एकमेवाद्वितीयम्" है। ब्रेडले के अनुसार भी सत् एकमेवाद्वित्तीय है। इसी कारण सदतिरिक्त वस्तुयें आभास हैं। अद्वैत के अनुसार भी सत् ब्रह्मव्यतिरिक्ततया सर्व मिथ्या है।

ब्रेडले के अनुसार सत् का मापदण्ड 'अविरोध' है और आभास का मापदण्ड विरोध है। सत् कभी भी सत्ता से पृथक् नहीं हो सकता। सत् होकर सत्ता से पृथक् होना "विरोध" माना जायेगा। जिसमें उस प्रकार की बातें

---

१. आत्मसत्तैवद्वैतस्य सत्ता नाऽन्या यतस्तत आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्।
—वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली पृ० १६४, प्रकाशानन्द अच्युतग्रन्थमाला।

2. Appearnce without reality would be impossible. Appearance and Reality—p. 432. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).

3. Ibid.—p. 431

4. The absolute is not many, there are no independent reals. Appearance and Reality p. 127. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

5. Ibid.—p. 505.

6. Truely to realize the existence of the absolute is for finite beings impossible. Appearance and Reality—p. 140. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हों वह आभास होगा न कि सत्। अद्वैत के अनुसार भी सत् त्रिकालाबाध्य है। अबाधित होना ही सत् का मापदण्ड है। जो बाधित होता है वह सत् न होकर मिथ्या है।[1] जो आदि में भी नहीं था, अन्त में भी न होगा, वह सत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उत्पत्ति विनाशशील वस्तुयें अबाधित नहीं हो सकतीं। उत्पत्ति से पूर्व भी जिसकी सत्ता नहीं और विनाश के बाद भी जिसकी सत्ता नहीं, वह अबाध्य नहीं रहा। ब्रेडले के अनुसार वह स्वव्याघाती हुआ, क्योंकि कोई भी वस्तु जब अपनी स्वसत्ता को छोड़ देती है तब वह सत्ताहीन हो जाती है। यदि वह स्वसत्ता से युक्त होती तो उसकी सत्ता उससे विलग नहीं हो सकती थी। उसकी सत्ता सत् से प्राप्त होने के कारण किसी भी समय वह सत्ताहीन हो जाती है, अतः वह वस्तु आभास है। एक ही वस्तु-घट में भाव अभावादि विरोधी बातें हैं, अतः व्याघातपूर्ण हैं। आज घट है, कल नष्ट होने पर नहीं रहेगा, उत्पत्ति के पूर्व भी घट नहीं होता, इस कारण अर्थात् भावाभावादि विरोधी बातों के कारण ही घट अद्वैत के अनुसार मिथ्या है। इस देश में घट है, अन्य देश में नहीं है, इस प्रकार भावाभाव दैशिक दृष्टि से भी घट में हैं, अतः घट सत्ताव्याभिचारी है। अद्वैतवेदान्त में परिच्छिन्न हेतु से जो मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है, उसका तात्पर्य भी यही है। देशकाल और वस्तुगत परिच्छेद वस्तुओं में सीमा खींच देता है। वस्तु देशकाल और वस्तु के परिच्छेद से स्वसत्ताव्याभिचारी हो जाती है। इसी कारण वस्तुओं का बाध हो जाता है। ब्रेडले के अनुसार भी नाना वस्तुओं में सत्ता होने पर भी वह आंशिक सत्ता है, क्योंकि वस्तुयें नाना रूप से सत् नहीं हो सकतीं। सत् निरपेक्ष होता है, अर्थात् सत्ता के लिए ज्ञान के लिए वह निरपेक्ष है, किन्तु वस्तुयें सत्ता और ज्ञान के लिये सापेक्ष हैं, अतः सापेक्षतया भी वे आभास हैं।

ब्रेडले ने आभास का मापदण्ड विरोध या व्याघात को व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है, क्योंकि जहां पर भी सम्बन्धादि की सिद्धि तार्किक विश्लेषण द्वारा नहीं कर पाये, ब्रेडले ने वहीं पर विरोध का प्रयोग करके उससे आभास कह दिया है। अद्वैतवेदान्त के "व्यावर्तमानत्व", "परिच्छिन्नत्व", "अवयवित्व", "जड़त्व", "दृश्यत्व" आदि मिथ्यात्व अनुमान के हेतु ब्रेडले के "विरोध" शब्द के अन्तर्भूत हैं। ब्रेडले ने विरोध का प्रयोग उक्त सभी अर्थों में किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्त स्वीकृत मिथ्यात्व का मापदण्ड ब्रेडले द्वारा स्वीकृत विरोध के समान है।

ब्रेडले ने प्रतीयमान वस्तुओं को आभास अवश्य कहा है, किन्तु उन्हें असत् नहीं कहा है। वस्तुयें आभास हैं—का अर्थ सापेक्ष सत् हैं। यद्यपि सत् वस्तु एक ही है, फिर भी आभास बिना सत्ता के सम्भव न होने के कारण सापेक्ष सत् है। सभी मिथ्या हैं फिर भी अंशतः सत्य हैं। इस प्रकार सभी प्रतीयमान वस्तुओं में कुछ सत्ता अवश्य होती है।[2] व्यावहारिक दृष्टि से ब्रेडले आभास को भी सत्य मानते हैं। यद्यपि सभी प्रतीयमान वस्तुओं को आभास कहा गया है, फिर भी व्यवहार में सत्य मिथ्या का अन्तर है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीयमान वस्तुयें सभी सत्य हैं।[3] ब्रेडले आभास को अद्वैत के मिथ्या के समान ही एक सर्वभौम व्यावहारिक सत्य मानते हैं। जहां पर ज्ञान के अनुकूल वस्तुयें नहीं प्राप्त होती वही भ्रम है। प्रतीयमान जागरिक वस्तु विषयक भ्रम उक्त भ्रम से भिन्न हैं।[4] प्रातीतिक वस्तुयें सापेक्ष सत् हैं। हमारे दैनिक व्यवहार में ये वस्तुयें मिथ्या नहीं हैं।

1. The Idealist thought of India—p. 102 P.T. Raju, London, 1953.
2. Every phenomena is somehow real. Appearance and Reality—p. 127. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)
3. From the relative point of view a truth is wholly true.—The Chief Currents of Contemporary Philosophy—Datta p. 74. 2nd Ed., Calcutta, 1961.
4. Appearance and Reality-p. 486. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सापेक्ष सत्य के बिना हमारा जीवन नहीं चल सकता।[1] प्रातीतिक ज्ञानों में [illegible] सफल प्रवृत्तिजनक न हो, वह भ्रम है। जैसे सीपि[illegible]चांदी को देखने पर लेने के लिये प्रवृत्ति होने पर, वहां [illegible] मिलती नहीं, इस कारण वह भ्रम ज्ञान है। भ्रम ज्ञान [illegible] विषय भी भ्रम है,[2] किन्तु पुस्तक को देखने पर पुस्त[illegible] लेने की प्रवृत्ति दशा में पुस्तक की प्राप्ति होती है, अतः पुस्तक का ज्ञान सत्य-ज्ञान है। इस प्रकार ब्रेडले के अनुसार भी व्यवहार में सत्य मिथ्या का विभाजन किया गया है। वस्तुतः ब्रेडले के अनुसार सत्ताभेद नहीं है। सत् में सत्ताभेद सम्भव नहीं, क्योंकि सत् पूर्ण है। इसी कारण अन्य सत्ता, अधिक सत्ता आदि बातें या अल्प-पूर्ण, अधिक-पूर्ण आदि बातें, वस्तुतः सत् में सम्भव नहीं।[3] सत् में सत्ता-भेद की कल्पना प्रातीतिक है।

अद्वैत वेदान्त में व्यवहार और परमार्थ का भेद हमने दिखाया है। अवगति पर्यन्त व्यावहारिक जगत् प्रमाण-प्रमेय-भाव, सब सत्य ही हैं; किन्तु बाध होने पर मिथ्या हैं। इस प्रकार अद्वैत का मिथ्या सदसदनिर्वचनीय है, ब्रेडले का आभास सापेक्ष सत् है। दोनों ही एक पूर्ण सत् की दृष्टि में जगत्-प्रपंच की व्याख्या देते हैं।

रीडर, दर्शन-विभाग,
गुरुकुल विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

1. The Chief Currents of Contemporary Philosophy—p.75. Datta, 2nd. Ed., Calcutta, 1961.
2. Ibid—p. 76.
Appearance and Reality—p. 319.Br adley (9th Ed., Oxford, 1930).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरतपुर में महाकवि देव

—लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

मानव-स्वभाव अपने परिवेश के साँचे में आकार ग्रहण करता है। यह बात सामान्य जनों की भाँति कवियों पर भी घटित होती है। हम कह सकते हैं कि कवि औरों की अपेक्षा अपने प्राप्त परिवेश से विशेष प्रभावित होता है। प्राचीन से लेकर अधुनातन तक सभी कवियों को हम इसी नियम का अनुवर्ती पाते हैं। कवि प्रकृति-परिवेश और सामाजिक परिवेश दोनों से समान रूप में प्रभावित होता है। उसमें परिवेश-परिवर्तन के साथ स्वभाव-परिवर्तन भी होता रहता है। उत्तर मध्यकाल के हिंदी-कवियों में से कतिपय को हम इस परिवेश या वातावरण से आश्चर्य-जनक ढंग से प्रभावित पाते हैं। आश्चर्यजनक इसलिये कि उन्होंने नया वातावरण पाकर अपने परंपरागत काव्य की राह कुछ देर के लिये छोड़ दी। जीवन भर श्रृंगार-परक रचना करने वाले कवि ने भी अपनी नई राह में वीर रस के कवियों से होड़ की। ऐसे कवियों में से एक महाकवि मतिराम भी हैं। इन्होंने अपने अग्रज महाकवि भूषण के आश्रय दाता छत्रपति महाराज शिवाजी और महाराज महाराज छत्रसाल बुंदेले के यहाँ यात्रा की थी। यह तथ्य है कि मतिराम श्रृंगार रस के अनुपम कवि थे। उनका रसपरक ग्रंथ 'रसराज' बहुत दिनों तक सर्वाधिक समाहत ग्रंथ रहा है। इन्होंने उपर्युक्त दोनों जननायकों के संपर्क में आकार वीर रस की श्रेष्ठ कविताएँ रच डाली थीं। याज्ञिक-बंधुओं (मयाशंकर याज्ञिक, जीवन शंकर याज्ञिक और भवानीशंकर याज्ञिक) ने माधुरी' पत्रिका के जुलाई, १९२४ के अंक में 'मतिराम और भूषण' नामक लेख में सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया था। नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय के कतिपय हस्तलेखों में मुझे भी कई छंद ऐसे मिल गए जिन्हें पाकर मुझे आश्चर्य-सम्मिश्र हर्ष हुआ। यहाँ मतिराम-रचित शिवाजी की प्रशंसा का एक छंद उद्धृत करके मैं प्रस्तुत विषय पर आ जाना चाहूँगा। छंद इस प्रकार है—

बान अरजुन के खानियत मतिराम,
गदा भीमसैन की सदा ही सुभ साज की।
बासव को ब्रज, बलदेव को मुसल बासु—
देव जू ओ चक्र सुर कीरति इलाज की।
दंड दंडधर औ अदंडन के दंडिबे कौं,
नखन की पाँति नरसिंह सिरताज की।
सिव कौ त्रिसूल औ कुठार जामदग्नि औ ज्यौं
सिवा की सकति, समसेर सिवराज की॥

इसी प्रकार महाकवि देव एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने श्रृंगार को ही एकमात्र रस माना था—

'भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल सिंगार।'

और ये उसी रस के सिद्ध कवि माने जाते हैं। बहुतेरे राजाओं और रईसों के दरबारों में टक्कर खाने के बाद प्रतिक्रिया स्वरूप इनके मन में निर्वेद उत्पन्न हुआ था और वह जीवन के अंतिम दिनों में, जब इनकी वाणी अनायास फूट पड़ी थी—

ऐसो जौ हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ पाँय तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नट सों निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतों 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुंह मोरतो।
भारो प्रेम पाथर, नगारौ दै, गरे सों बाँधि,
राधावर बिरद के बारिधि मैं बोरतो॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी निर्विण्णता की स्थिति में इन्होंने वैराग्य और तत्त्व चिंतन परक च[illegible]सियाँ लिख डाली थीं। अपनी वृद्धावस्था में देव [illegible] समय तक भरतपुर राज्य के आश्रित रहे। वहाँ [illegible] शों की प्रशंसा में लिखे गए इनके छंद बहुत दि[illegible]ं ती[illegible] लोगों को अज्ञात रहे और बहुतों को तो आज [illegible]ती उनक[illegible]ता नहीं है। किसी हिन्दी साहित्य के इतिहासकार ने [illegible] तत्परता के साथ खोज करने का कष्ट नहीं उठाया। इसीलिये हिंदी साहित्य के जो इतिहास इधर लिखे गए हैं, उनमें भी देव के भरतपुर राज्य के आश्रित होने का कहीं विवरण नहीं है। 'मत्स्य देश की हिंदी साहित्य को देन' नामक पुस्तक में देव का भरतपुर जाना उल्लिखित है, किंतु उसमें कहा गया है कि किसी सरदार के बार-बार आग्रह करने पर भी देव ने यही कहा कि सरस्वती मुझे कुछ कहने की आज्ञा नहीं दे रही है।

माधुरी नामक मासिक पत्रिका के वर्ष ३, खं० १९, संख्या चार के पृष्ठ ५३४ पर पं० मदनलाल जी मिश्र का एक लघु लेख 'महाकवि देव और भरतपुर राज्य' छपा है। इसमें याज्ञिक बंधुओं के कथन का खंडन करते हुए एक अनुश्रुत किंवदन्ती का उल्लेख किया गया है। वे लिखते हैं—

"मैंने कतिपय वयोवृद्धों से देव के विषय में यह एक किंवदंती सुनी है कि महाराज सूरजमल जी के दरबार में देव जी का आना समय-समय पर हुआ करता था। एक समय देव जी महाराज के दरबार में पधारे। उस समय कविवर घनआनंद जी भी उपस्थित थे। कविद्वय में वार्तालाप होते समय महाकवि देव जी ने कहा—"घनआनंद जी, आपकी कविता में जो चमत्कार और हृदयग्राहकता है वह हमारी कविता में क्यों नहीं आती?" इस पर घनानंद जी बोले—"महाराज, आप वर्तमान समय के कवि शिरोमणि और उत्कृष्ट पंडित हैं, परंतु इस दास की और श्रीमान् की कविता में जो अंतर है, उसका कारण एक रहस्य से पूर्ण है। वह यही कि आप जो वर्णन करते हैं, वह दूसरों पर बीती का, और यह दास अपने ऊपर बीती बात कहता है। जैसे कोई-व्यक्ति किसी के यहाँ मृत्यु होने पर शोक प्रदर्शित करने जाय तो उस समय उसको वैसा दुःख का अनुभव नहीं होता, जैसा जिसके घर मृत्यु हो गई हो, उसको होता है।"

इस किंवदंती का उल्लेख कई लेखकों ने अपने ग्रन्थों में किया है। पं० मदन लालजी मिश्र ने उसी लेख के अन्त में यह भी कहा है, "उन छः छन्दों के अतिरिक्त जवाहिर सिंह जी के विषय के कुछ छन्द देव के कहे और भी हैं।" किन्तु वे 'कुछ छन्द और भी' कौन से हैं उन्हें मिश्र जी ने उद्धृत नहीं किया और उन्हें उस समय यह भ्रम भी था कि वे छन्द प्रसिद्ध महाकवि देव के न होकर किसी और देव नामा कवि के हैं। इस भ्रम का खन्डन अपने एक लेख में याज्ञिक बधुओं ने बाद में कर दिया था। इधर मुझे प्राचीन हस्तलेखों को देखते समय कविवर देव के तीन छन्द और मिले हैं। इन तीनों कवित्तों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें से एक में महाराज सूरज मल्ल की युद्ध वीरता वर्णन है और शेष दो में महाराज जवाहर सिंह की प्रशंसा है। एक में उनकी युद्ध वीरता का उल्लेख है और दूसरे में उनके होली खेलने का रसमय वर्णन है। इससे यह बात साफ हो जाती है कि कविवर देव महाराज सूरजमल्ल के राज्यकाल में भरतपुर गए ही थे। बाद में उनके तेजस्वी पुत्र के राजत्वकाल में भी वहाँ पधारे थे और दोनों ही नरेशों ने उनका यथोचित सम्मान भी किया था। महाराज सूरजमल्ल के युद्ध का छन्द पहले देखें—

दुहूँ दल मार-मार मच्यौ घमासान और
नाचत-मसान जहाँ नाग गन छ्वै गयौ।
चल्यौ आसमान भान सहित बिमान जहाँ
चल्यौ मेरु मति औ सिथिल ससि ह्वै गयौ।
सोनित ओ नद चल्यौ, नन्दी तहाँ बहि चल्यौ,
सिव चल्यौ सहमि सिवाहू उर छ्वै गयौ।
वीर मद मत्ता तहाँ हाथ गहै कत्ता 'देव'
हल्यौ न चकत्ता लत्ता-लत्ता तन ह्वै गयौ॥

यह दिल्ली के उस युद्ध का वर्णन है, जिसमें महाराज सूरज मल्ल ने वीर गति पाई थी। शेष दोनों छन्द इस प्रकार हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूलैंगो कतल जातें सुतल बितल काँप्यौ,
भूलैंगो दिली मैं साति नादर को आयबौ।
भूलैंगो रे भाऊरम्य भाज्यौ संसार जातें,
भूलैंगो सुजान को जु सुरपुर जायबौ॥
ह्वै करि सकुद्ध उद्ध जुद्ध महा जैपुर को
जीत्यौ रजपूतन को गरब गरायबौ।
भूलैंगो न जग मैं जवाहर नरिंद तेरौ
सिंधन बुलायबौ पौहौकर को न्हायबौ॥
ब्रज सिरताज श्री जवाहर नरेंद्र आज
होरी के समाज गज चढ़ि चहुँ ओर पर।
आनन्द उमंग प्रेम रस की तरंग भरि,
केसरि के रंग पिचकारिन झकोर पर॥
सुन्दर नवेली अलबेलिन के आनन पै
बरसैं सुगन्ध बारि मदन मरोर पर।
मानौं उदयाचल तै मारतन्ड अरुन की
छूटीं लाल किरनैं कलानिधि दिवाकर पर॥

परम्परानुसार प्रचन्ड पराक्रमी [illegible]ज जवाहर सिंह की वीरता और संस्कृति-प्रेम-जन्य उनकी रसिकता का वर्णन करके उनकी सर्वतोभावेन सम्पन्नता का निदर्शन कविवर देव ने कर दिया है।

जिन प्राचीन हस्तलेखों से मैंने ये छन्द प्राप्त किए हैं, उनमें सैकड़ों ज्ञात और बहुतेरे अज्ञात कवियों की उत्तम रचनाएँ संकलित हैं। यदि इन हस्तलेखों का प्रकाशन हो जाय तो मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का वह भाग जो अंधकाराच्छन्न है, बहुत कुछ प्रकाश में आ जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी साहित्य और दयानन्द युग

कृष्णकुमार कौशि

सन् १७५७ ईसवी में प्लासी के युद्ध ने बंगाल में ईस्ट इंडिया कंपनी का मुख प्रभुत्व स्थापित कर दिया। इसके सत्तर वर्ष बाद अर्थात् १७६४ ई० में बक्सर की लड़ाई के उपरान्त अवध पर भी कंपनी का झन्डा फहराने लगा। १८०० ईसवी तक इस देश का बहुत बड़ा भाग कंपनी के अधिकार में आ चुका था। थोड़ा बहुत जो शेष रह गया था उसकी पूर्ति १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम ने (जिसे अंग्रेज इतिहासकारों ने गदर या सिपाही विद्रोह का नाम दिया था) कर दी।

इस तथाकथित विद्रोह के समाप्त हो जाने के बाद कम्पनी के काले शासन का भी अन्त होगया। शासन सत्ता कम्पनी के हाथों सेनिकल कर महारानी विक्टोरिया के पास चली गयी। दूसरे शब्दों में एक विदेशी शासन के विरुद्ध जनता के हृदय में सुलगने वाली आग कुछ समय के लिए शांत हो गयी। इस प्रकार सन् १७५७ ईसवी से लेकर १८५७ ईसवी तक के इन १०० वर्षों में अंगरेजों ने सम्पूर्ण भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था।

अंगरेजी रहन सहन तथा बोलचाल उस समय के भारतीय युवकों के लिए आकर्षण की वस्तु थी। धार्मिक मुसलमान और हिन्दू दोनों ही देश के नवयुवकों को पाश्चात्य के प्रभाव से प्रभावित होते हुए देखकर चिंतित थे। ऐसी दशा में सारे देश में दो विरोधी विचार धाराओं में संघर्ष छिड़ना आवश्यक था। राजा राममोहनराय और सर सैयद अहमद खां उसे दूरदर्शी नेता अंगरेजी शिक्षा और विलायती भाषा का समर्थन करके युग का नेतृत्व कर रहे ये।

यद्यपि ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी में ईसाई धर्म प्रचारकों ने दक्षिण भारत में ईसाई धर्म का झण्डा गाड़ दिया था पर अंग्रेजों के शासनकाल में उन्हें अपने धर्म प्रचार की खुली छुट्टी मिल गयी, अंग्रेजी रहन सहन को अपना कर लोग शरीर से ही अंगरेज बन रहे थे पर ईसाई पादरी इस देश की आत्मा को भी बदल देना चाहते थे। ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने इस देश की भाषाएं सीखी। और सभी भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद किए। उस समय तक देशी भांपाओं का एक भी व्याकरण नहीं था। उन्हें विदेशी होने के कारण इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता थी। अतः उन्होंने यहाँ की भाषाओं की व्याकरण की रचना करके एक ऐसा महत्त्व पूर्ण कार्य किया जिसने आगे चलकर भाषा विज्ञान तथा भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन को जन्म दिया। हिन्दी भाषा में बाइबिल का अनुवाद जार्ज विलियम कैरे ने किया। इस अनुवाद में उन्होंने इस देश की भोली भाली तथा साधारण पढ़ी लिखी जनता को प्रभावित करने के लिए भाषा कथावाचक पंडितों जैसी रखी। बाईबिल के पुराने धर्म नियम में से इसका एक उदाहरण दिया जाता है।

"सारी पृथ्वी पर एक ही भाषा और एक ही बोली थी उस समय लोग पूर्व की ओर चलते-चलते शिनार देश में मैदान पाकर उसमें बस गये। तब वे आपस में कहने लगे कि आओ हम ईंटे बनाकर भली-भाँति आग में पकाऐं और उन्होंने पत्थर के स्थान में ईंट से और गारे के स्थान में मिट्टी के गारे से काम लिया। फिर उन्होंने कहा आओ हम एक नगर गुम्बद बना लें जिसकी चोटी आकाश से बातें करे।

जब लोग नगर और गुम्बद बनाने लगे तब यहोवा उतर देखने के लिए आया और यहोवा ने कहा सब एक ही दल के है और भाषा भी उन सबकी एक ही है।

इसलिए आओ हम उतर के उनकी भाषा में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डालदें कि वे एक दूसरे की बोली न समझ सकें। इस प्रकार यहोवा ने उन्हें वहाँ से सारी पृथ्वी के ऊपर फैला दिया।

इस कारण उस नगर का नाम बाबुल पड़ा क्योंकि सारी पृथ्वी की भाषा में जो गड़बड़ी है सो यहोवा ने वहीं से डाली।' उत्पन्ती पर्व ११

प्रचार की दृष्टि से लिखी गयी बाईबिल की भाषा को साहित्यिक नहीं कहा जा सकता। उसमें एक प्रकार का अखड़पन भी मिलता है तथा साथ ही साथ उनकी भाषाओं में शब्दों के अनगढ़ रूपों को देखने से जान पड़ता है कि उसमें गंवारूपन तथा कथावाचक पंडितों की कथा वाचने की शैली का समावेश जानबूझ कर किया गया है। यदि वह चाहते तो इस दिशा में अच्छा कदम भी उठा सकते थे साधारण पढ़े। लिखे हिन्दुओं को धर्म विमुख करने के लिए वह मेलों में जाजा कर ऐसे ट्रैक्ट भी बाँटा करते थे जिनमें वेद शास्त्रों की कड़ी आलोचना होती थी सत मत निरूपण, धर्म तुला, सतगुरु की खोज, आदि ट्रैक्ट जिन्हें अब भी ईसाई धर्म प्रचारक मेले-ठेलों में बांटा करते हैं उन्हें यदि ध्यान से पढ़ा जाय तो ऐसी बहुत सी बातें मिलेंगी जिनका उद्देश्य धार्मिक महा पुरुषों की निन्दा करके भोली भाली जनता को धर्म विमुख बनाना ही जान पड़ता है। सतगुरु निरूपण से एक उदाहरण लीजिए:—

वह सोचेगा कि मैं पाप से काहे को भयभीत होऊं मैं बुरा तो हूं परन्तु देवताओं से बुरा तो नहीं हूं वरन् उनसे कहीं भला हूँ। शिव के समान जाति से अप्रतिष्ठित तो नहीं हुआ ब्रह्मा की नाईं कामातुर होके अपनी कन्या से कुकर्म नहीं किया। विष्णु के समान स्त्री को नहीं ठगा। इन्द्र के समान अपने गुरु की पत्नी को भ्रष्ट नहीं किया।

ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने सारे भारत में मिशन स्कूलों का जाल बिछा दिया। जिनमें इसी देश की देशी भाषाओं में अनिवार्य रूप से बाइबिल की शिक्षा भी दी जाती थी। उन्होंने पाठ्य विषयों को उन विद्यालयों के छात्रों को पढ़वाने के लिए यहाँ की देशी भाषाओं में पाठ्य पुस्तकों की रचना भी कराई थी।

हिन्दी के कुछ विद्वानों का यह मानना कि ईसाईयों ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा मानकर इसके द्वारा ने धर्म प्रचार का माध्यम बनाया था कुछ उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि उन्होंने जहाँ उत्तर प्रदेश के कुछ भाग में प्रचार करने के लिए हिन्दी को प्रचार का माध्यम बनाया वहां वहाँ उन्होंने बंगला, मराठी, पंजाबी, उर्दू, राजस्थानी, नेपाली, गुजराती, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं को प्रचार का माध्यम बनाया था। शायद भारत की कोई भाषा होगी जिसमें इसाई धर्म प्रचारकों ने बाईबिल का अनुवाद नहीं किया होगा।

ईसाई पादरियों के इस धार्मिक प्रचार के प्रभाव से तो इतने नहीं पर नये शासकों की बिरादरी में शामिल होने के लोभ से माईकिल मधुसूदन दत्त जैसे सुशिक्षित हिन्दू भी ईसाई धर्म में दीक्षित हो रहे थे। समुद्र पार जाने को धर्म विरुद्ध समझने वाले धार्मिक हिन्दुओं की कट्टरता के कारण बहुत से विलायत से शिक्षा प्राप्त करके लौटकर आने वाले हिन्दू विवश होकर शासकों का धर्म स्वीकार कर रहे थे।

यह परिस्थितियाँ थी जिन्होंने युग पुरुष दयानन्द के लिए कार्य क्षेत्र तैयार कर दिया था। अपनी लेखनी के द्वारा जो कार्य उन्होंने किया था, वही योरप में वहाँ की धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार मार्टिन लूथर ने किया था।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने वाले विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ सम्वत् १९०० में माना है इसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने आगे चलकर सम्वत् १९२५ से १९५० तक प्रथम उत्थान; १९५० से ७५ तक द्वितीय उत्थान १९७४ से अब तक तृतीय उत्थान मानकर इन तीन भागों में इस समस्तकाल को बांट दिया है। इन तीनों उत्थानों को अब हिन्दी के विद्वान् भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावादी युग का नाम, प्रदान करते हैं परन्तु १९२५ से पहले २५ वर्षों के युग को क्या कहा जाय यह एक प्रश्न हमारे सामने अभी तक बना हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे विचार में यही काल वास्तव में हिन्दी का प्रथम उत्पादन काल है। इसकी भूमिका ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने खण्डन मण्डन परक ट्रैक्टों के द्वारा आरम्भ करदी दी थी। ईसाई पादरी कबीर के समान जिस लक्कड़ भाषा में खण्डन, मन्डन कर रहे थे उसका उत्तर स्वामी जी ने जिस भाषा में दिया वह पे हम ईंट का जवाब पत्थर से देना ही कहेंगे। हिन्दी के विद्वान स्वामी जी की गद्यशैली की समीक्षा करते हुए उसके खण्डनात्मक रूप को ही लेते हैं। इस समीक्षा में वह सत्यार्थ प्रकाश से आगे नहीं बढ़ पाते। सत्यार्थ प्रकाश में भी केवल खण्डन मण्डन वाले प्रकरणों को लेकर स्वामी जी की गद्य शैली की समीक्षा करके रह जाते हैं।

कितना अच्छा होता यदि यह विद्यवान स्वामी जी के अन्य ग्रन्थों ऋग्वेद आदि भाष्यभूमि का तथा संस्कार विधि आदि पर भी एक दृष्टि डाल लेते। स्वामीजी के वेद भाष्य की भाषा का भी अध्ययन कर लेते। एक ही विद्वान् जब विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रकट करता है तो उसकी शैली भी विषयों के अनुरूप बदलती चली जाती है। यदि यह सत्य है तो स्वामी जी की भाषा शैली के भी सभी समीक्षकों को उनकी समस्त रचनाओं को सम्मुख रखकर उस पर अपना सही निर्णय देना पड़ेगा।

स्वामी जी को केवल एक धर्म प्रचारक मानकर उनकी गद्य शैली की समीक्षा करते समय उसकी उपेक्षा करना एक संकुचित दृष्टि कोण ही कहा जायगा। वास्तव में जिस गद्य शैली का प्रतिष्ठापक लोग भारतेन्दु को बताते हैं उसका शिलान्यास स्वामीजी ने ही किया था। यदि साहित्य, उपन्यास, नाटक कहानी, निबन्ध, आदि विद्याओं का श्रीगणेश भारतेन्दु तथा उनके युग के लेखकों द्वारा हुआ तो शास्त्रीय पद्धति से समीक्षा और व्याख्या करने की पद्धति का आरम्भ स्वामी जी और उनके युग के लेखकों के द्वारा हुआ। इस निर्विवाद सत्य को कौन नहीं स्वीकार करेगा।

स्वामी जी की लेखनी ने धार्मिक क्षेत्र में जो क्रान्ति की थी उसने भारतीय चिन्तन परम्परा को सर्वथा बदल दिया। उससे पूर्व ईसाई पादरी अपनी कठोर भाषा में वेदों तथा पुराणों की आलोचना करके भारतीय जनता के धार्मिक विश्वास को चोट पहुंचा रहे थे। संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण जनता उनके कुतर्कों का उत्तर दे सकने में असमर्थ थी। अतः समय की मांग थी कि कोई विद्वान् संस्कृत में लिखे गये हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों को बोलचाल की भाषा में समझा कर सर्व साधारण के लिए उनका अध्ययन सुलभ कर सके।

साथ ही एक प्रश्न यह भी था कि वह भाषा क्या हो? हमारा भारत जहां मराठी, बंगला, गुजराती, मलयालम, तेलगू, कन्नड आदि सैकड़ों भाषाएं बोली जाती हैं वहां इस भाषा सम्बन्धी समस्या को हल करना सुगम नहीं था। अपने प्रचार कार्य का श्री गणेश राष्ट्र भाषा हिन्दी में करके युग पुरुष दयानन्द ने युग को एक नई दिशा दिखाकर जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया उसके लिए उनका नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिए था। अपनी मातृ भाषा गुजराती होते हुए भी उनका हिन्दी में ग्रन्थ रचना करना यह स्पष्ट कर देता है कि वह हिन्दी को राष्ट्र भाषा के स्वर्ण सिंहासन पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उनका उद्देश्य केवल ग्रन्थ रचना ही नहीं था बल्कि समूचे भारत की बिखरी हुई कड़ियों को जोड़कर शृंखला का रूप देना भी था एक देश एक वेष, एक भाषा, एक धर्म, एक संस्कृति का जो मधुर स्वप्न उन्होंने देखा था वह उनके ग्रन्थों में ही मिल सकता है। अपने इस स्वप्न को साकार करने के लिए उन्होंने हिन्दी में ही ग्रन्थ रचना की।

एक ओर तो उनकी मातृ भाषा गुजराती थी और दूसरी ओर उनके पठन की भाषा संस्कृत थी ऐसी दशा में जितनी सुगमता से वह इन दोनों भाषाओं में लिख सकते थे उतनी सुगमता से हिन्दी में लिख सकना उनके लिए कठिन था फिर भी उन्होंने इन दोनों भाषाओं में रचना न करके हिन्दी के प्रचार व प्रसार में जो महत्त्व पूर्ण कार्य किया वह हमारे सामने है। हिन्दी भाषा को आर्य भाषा का नाम देकर देश की भावात्मक एकता की आधार शिला सर्व प्रथम उन्होंने ही रक्खी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी जी की क्रान्तिकारी लेखनी ने दो महत्वपूर्ण कार्य किए जिनमें एक था विपक्षियों का खण्डन दूसरा था प्राचीन संस्कृति की सुरक्षा। प्राचीन संस्कृत साहित्य के विविधि क्षेत्रों में जो आज अनुसन्धान सम्बन्धी कार्य हिन्दी भाषा के माध्ययम से हो रहे हैं उसका आरम्भ स्वामी जी की लेखनी के द्वारा ही हुआ था।

उनकी शैली की समीक्षा करते समय हमें यह भी ध्यान में रखना है कि उनके पीछे एक युग अभी तक चला आ रहा है। ऐसी स्थिति में स्वामीजी की गद्य शैली को समीक्षा करते समय केवल इतना कह देने से काम नहीं चलेगा कि वे एक धर्म प्रचारक थे : इसलिए उनका गद्य साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। यदि उदार दृष्टिकोण से हम उनकी शैली की समीक्षा करें तो हमें हिन्दी गद्य शैली को वर्तमान रूप देने वाले लेखकों में स्वामी जी को प्रथम स्थान देना पड़ेगा। प्राचीन संस्कृत वांङ्मय को जनता की भाषा में रखने वालों में स्वामी जी ही पहले भारतीय विद्वान् हैं। क्या यह हमारे लिए कम लज्जा की बात नही है कि इस कार्य को बहुत पहले विदेशी भाषाओं में मैक्समूलर, कीथ तथा मैग डानल जैसे विद्वान् प्रारम्भ कर चुके थे। स्वामी जी के कार्य क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व संस्कृत विद्वान् हिन्दी में कुछ लिखना भी अपमान समझते थे। अतः वे इस कार्य का श्रीगणेश कैसे कर सकते थे। हमारे प्राचीन ग्रन्थ दीमकों के भोजन बनते जा रहे थे। पश्चिमी देशों के विद्या प्रेमी विद्वान् दुर्लभ ग्रन्थ रत्नों की पांडुलिपियाँ मुंह मांगे दामों में खरीद कर अपने ग्रन्थागारों का गौरव बढ़ा रहे थे। स्वामी जी के वेद भाष्य छप जाने पर भारतीय विद्वानों में भी इन अमुद्रित ग्रन्थों को छपवाने तथा संग्रह करने की ओर रुचि उत्पन्न होना स्वाभाविक था। उनसे प्रेरणा पाकर भारतीय विद्वान् इस क्षेत्र में आगे बढ़े आज तो सभी विद्वान् यह स्वीकार कर रहे हैं कि हिन्दी के माध्यम से संस्कृत साहित्य के अध्ययन को सर्व सुलभ बनाने के सम्बन्ध में अब तक जितना भी कार्य हुआ है उसके पथ प्रर्दशक केवल स्वामी दयानन्द ही हैं। स्वराज का स्वप्न देखने वाले युग पुरुष दयानन्द के हृदय के भीतर भारत को स्वतन्त्र देखने की जो भावना काम कर रही थी उसका आभास उनकी इन पंक्तियों में मिल जाता है:—

यह आर्यवर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है इसलिए इस भूमि का नाम स्वर्णभूमि है। पारस मणि पत्थर सुना जाता है वह बात झूँठी है परन्तु आर्यवर्त देश ही सच्चा पारस मणि है जिसका लोहे रूपी दरिद्र विदेशी देश छूते ही साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।

विषय को बोध गम्य तथा स्पष्ट करने के लिए स्वामीजी ते सर्वत्र इसी शैली का प्रयोग किया है विरोधियों का खण्डन करते समय उनकी भाषा अवश्य ही कठोर हो गयी है परन्तु यह सब होते हुए भी स्वामी जी की इस शैली को पंडितों की कथा वार्ता की भाषा कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता उसकी भी अपनी ही विशेषता है।

इस प्रकार स्वामी जी की शैली को हम प्रतिपादनात्मक, निर्वचनात्मक, वादात्मक इन तीन शैलियों में विभक्त कर सकते हैं। वेद मन्त्रों की व्याख्या जिस शैली में है वह निर्वचनात्मक शैली का उत्तम उदाहरण है। वह इस क्षेत्र में इस शैली के जन्मदाता कहे जायेंगे क्योंकि उनसे पूर्व किसी ने किसी भी भारतीय भाषा में यह कार्य सम्पादित नहीं किया था। प्रतिपादनात्मक शैली में उन्होंने अपने विषय को संस्कृत निष्ठ हिन्दी में सर्व साधारण के सम्मुख रखने का सफल प्रयत्न किया है। जबकि उनकी उनकी मातृ भाषा हिन्दी नहीं थी। वादात्मक शैली का प्रयोग उन्होंने विपक्षियों का खण्डन मण्डन करते समय किया है। इसमें उनके पथ प्रदर्शक ईसाई धर्म प्रचारक रहे हैं। फिर भी स्वामीजी की शैली ईसाई धर्म प्रचारकों की भाषा की अपेक्षा अधिक परिमार्जित और परिष्कृत है।

लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी इसमें प्रचुर मात्रा में मिलता है। उनकी इस शैली में भाषा की वक्रता और लाक्षणिकता देखते ही बनती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या गोसाईं तुलसीदास बलिया के भूमिहार थे?

डा० किशोरीलाल गुप्त

तुलसी जयंती सं० २०२९ के अवसर पर 'गोस्वामी तुलसीदास जीवन वृत्त और व्यक्तित्व' नामक ६८८ बड़े पृष्ठों की एक विशाल पोथी प्रकाशित हुई है। इसके लेखक हैं लिलकर जिला बलिया निवासी श्री कुलदीपी नारायण राय 'झड़प', मुद्रक हैं श्री कमला प्रसाद राय, जनता प्रेस, ४२ पथरिया घाट स्ट्रीट, कलकत्ता-६ तथा प्रकाशक हैं अ० भा० ब्रा० परिषद (बंग) ५० राम-कृष्णपुर लेन हवड़ा। ग्रंथ का मूल्य है ३१ रु० इस विशाल ग्रंथ का प्रतिपाद्य है—तुलसीदास जी को बलिया जिले के गंगा तट-स्थित एक गाँव राजापुर का रहने वाला भूमिहार ब्राह्मण सिद्ध करना। प्रासंगिक प्रति-पाद्य विषय हैं—स्वामी रामानन्द, प्रसिद्ध अष्टछापी कवि नंद-दास एवं महाकवि सेनापति को भी भूमिहार ब्राह्मण सिद्ध करना। झड़प जी द्वारा प्रस्तुत तर्क इस ग्रंथ में दिए तुलसी दास के जीवन वृत्त को प्रामाणिक बनाने में असमर्थ हैं। उनमें कोई दम नहीं है। हाँ, इस ग्रंथ से भूमिहारों के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी अवश्य प्राप्त हो जाती है। प्रस्तुत निबन्ध दो खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में जन्म स्थान पर विचार किया गया है और दूसरे खण्ड में जाति पर। पहले खण्ड में झड़प जी ने जो उपशीर्षक लगाए हैं, उन्हींके अन्तर्गत क्रमशः विचार प्रस्तुत किया गया है। दूसरे खण्ड में उन उपशीर्षकों को त्यक्त कर दिया गया है और चालीस विचार बिन्दु प्रस्तुत किये गये हैं। यह न समझा जाय कि ये तर्क इतने ही हैं। झड़प जी ने अपने विषय पर पर्याप्त विचार किया है, यह दूसरी बात है कि इन विचारों से लोक-मत सहमत न हो।

(क) जन्म-स्थान विचार

(१) जन्मस्थान गंगातटस्थित राजापुर बलिया

१. यह भरत खण्ड समीप सुरसरि,
थल भलो संगति भली

२. बरु बारहिं बार सरीर धरौं,
रघुवीर को है तव तीर रहौंगो
भागीरथी बिनवौ कर जोरि,
बहोरि न खोरि लगै, सो कहौंगों

३. तुलसी तव तीर तीर, सुमिरत रघुवंश वीर,
बिचरत मति देहि मोह-महिप-कालिका

४. सिय सुरसरिहिं कहेउ कर जोरी
मातु, मनोरथ पुरवबि मोरी

५. धन्य सो देश जहाँ सुरसरी

६. सरित गंभीर वानीर दुहुँ तीर वर,
मध्य धारा विशद विश्व अभिरामिनी।
हरित पयंक पर शयित सर्पेश जनु,
सहस सीसावली स्रोत सुर स्वामिनी॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७. चेरो राम राय को, सुजस सुनि तेरो हर,
पायँ तर आइ रह्यों सुरसरि-तीर हौं।

ये सभी अंश झड़प जी द्वारा उद्धृत हैं और इनसे यह निकालने का प्रयत्न किया गया है कि तुलसीदास का जन्म गंगा-तट पर हुआ था और यह गंगा-तट काशी के पूर्व में बलिया वाला है। छठे उद्धरण के 'सहस सीसा-वली स्रोत' का अर्थ किया गया है कि तुलसीदास के समय में बलिया के पास गंगा जी की सहस्र धाराएँ थीं। उक्त उद्धरण में गंगा के किसी एक खण्ड-विशेष का चित्र नहीं है, समग्र गंगा का चित्र है। गंगा की धारा गहरी है, दोनों ओर वानीर (वेंत, प्रतीक रूप में) है। बीच में गंगा की धारा हैं। लगता है नीली शय्या पर शेष नाग सो रहे हैं। शेष का रंग श्वेत है। सागर में जहाँ गंगा मिलती है, उसे गंगा सागर कहते हैं। यहां गंगा की सहस्र धाराएँ मानी जाती हैं। गंगा सागर में गिरने वाली गंगा की यही सहस्र धाराएँ शेष नाग के सहस्र शीश हैं। इनके अतिरिक्त तुलसीदास के बलिया में गंगा-तट पर जन्मने के सम्बन्ध में और भी कुछ लचर प्रमाण दिए गए हैं, यथा—

१. 'आक जवास पात विनु भयऊ'। झड़प जी के अनुसार यह दृश्य बलिया शाहाबाद में गंगा-सरयू के कछार में ही देखा जाता है। तुलसी के इस सर्वदेशीय कथन को एकदेशीय करना ठीक नहीं।

२. तुलसी तृन जल कूल को, निरबल निपट निकाज
कै राखै कै सँग चलै, बाँह गहे की लाज।
दोहावली ५४४.

झड़प जी के अनुसार 'तुलसीदास ने किसी ऐसी बड़ी नदी के तट पर बाल्यावस्था बिताई थी, जिसका कगार ऊँचा होगा एक कगार की भूमि कँकरीली पथरीली अथवा बहुत कड़ी न होगी। ऐसी स्थिति बक्सर के पूरब में ही गंगा नदी की है। उधर गंगा का विस्तार भी शेषनाग के हजारों फणों के समान सुविस्तृत हो जाता है।'

क्या इस दोहे के आधार पर बलिया जिले के किसी राजापुर गाँव को तुलसी के जन्म स्थान होने का गौरव दिया जा सकता है?

तुलसीदास जी हिंदू होने के नाते गंगा भक्त थे। काशी में उनके जीवन का अधिकांश बीता। अतः गंगा के प्रति उनका सामान्य हिन्दू-प्रेम विशेष-भक्त-प्रेम में बदल गया। आजतक किसी ने नहीं कहा कि तुलसीदास का जन्म गंगा जी के किनारे स्थित किसी गाँव में हुआ। झड़प जी ने जो दलीलें दी हैं, उनमें कोई तत्त्व नहीं। सातवें उद्धरण से तो स्पष्ट है कि तुलसीदास शिव की प्रशंसा सुन, उनकी चरण शरण में आकर, सुरसरि-तीर पर, काशी में रहने लगे थे, वे गंगा तट पर जन्मे नहीं थे।

गोसाईं जी गंगाजी के भक्त हैं। इससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि उनका जन्म गंगा तट पर स्थित किसी गाँव में हुआ था। गंगा का प्रेमी तो हर हिंदू है।

(२) शिव पीठ की निकटता

इस प्रकरण में झड़प जी का कहना है कि गोसाईं जी अनन्य राम-भक्त होकर भी परम शिव भक्त थे। इससे स्पष्ट है कि उनका जन्म किसी ऐसे कुल में हुआ जो शैव था। हमें इससे इनकार नहीं कि गोसाईं जी राम-भक्त के साथ-साथ परम शिव भक्त भी थे। पर हम उनके इस मत से सहमत नहीं कि तुलसी की जन्म-भूमि का सोरों, राजापुर, (बाँदा) और अयोध्या में होने की अपेक्षा भोजपुरी प्रदेश में होना अधिक संगत प्रतीत होता है, जहाँ काँट ब्रम्हपुर (शाहाबाद), छितौनी असेगा (बलिया) और मेंहदार ढोढ (सारन) में भगवान शिव के प्राचीन मन्दिर हैं। हिंदुस्तान का शायद ही कोई अभागा गाँव होगा जहाँ शिवालय न हो। जहाँ शिवालय नहीं हैं, वहाँ भी किसी नीम या पीपल के पेड़ के नीचे किसी पत्थर पर दो चार शिव लिंग अवश्य हैं और उन पर जल भी चढ़ाया ही जाता है। मन्दिरों में प्रायः शिव, गणेश, पार्वती, हनुमान जी की मूर्तियाँ एक साथ मिलती हैं, जो उदार विचार-धारा का ही प्रतीक हैं। तुलसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ भी पैदा हुए रहे होगें, वहाँ शिवालय का अभाव नहीं रहा होगा।

(३) भीतरी झलकियाँ

(१) हाथी हथ सारें जरे घोरे घोरसारही

—कवितावली सुन्दरकांड २३

झड़प जी के अनुसार हाथी, हथिसारें, घोरसारही, घोरे सभी भोजपुरी शब्द हैं और किसी राजा की विपत्ति का विवरण देते समय भोजपुरी लोककथाओं में इनका प्रयोग किया जाता है।

मैं अवधी भाषा-भाषी हूँ और ऐसी लोककथाएँ मैंने भी लड़कपन में सुनी हैं। ये सभी शब्द समान रूप से अवध में भी प्रचलित हैं।

(२) 'तेरी मरजी तें चलें चिचिनी चियाँ रें'

इमली की चियाँ सभी जगह होती है। हमारे यहाँ भी इमली के बीज को 'चीयाँ' ही कहते हैं। बलिया में यह सिक्के की तरह चलता है क्या? जहाँ तक बटुबलिया पैसे की बात है, हमने भी लड़कपन में इसे चालू सिक्के के रूप में देखा था—इसे गोरखपुरी पैसा या मोटका पैसा कहा जाता था।

(३) नाम राम रावरे तो चाम की सलाई है

—कवितावली उत्तर कांड ७४

झड़प जी का कहना है कि चौसा के पास हुमायूं को एक भिश्ती ने मशक पर चढ़ाकर गंगा पार उतारा था। हुमायूँ ने प्रसन्न हो कर उसे एक दिन की बादशाहत दे दी थी और उसने चमड़े का सिक्का चलाया था। तुलसी दास बलिया वासी थे, इसीलिए उन्हें यह घटना मालूम थी और उन्होंने चाम का दाम चलाने की बात का उल्लेख किया है।

भिश्ती के चमड़े का सिक्का चलाने की बात ऐतिहासिक तथ्य है। यह अद्भुत कथा तो सारे हिंदुस्तान में वन की आग की तरह फैल गई होगी, और इस तथ्य को जानने के लिए तुलसी के बलिया में जन्म लेने की कोई आवश्यकता नहीं, वह भारत के हिन्दी भाषा भाषी किसी प्रदेश में जन्म लेकर यह बात जान सकते थे। वस्तुतः यहाँ इतिहास प्रसिद्ध इस घटना की ओर संकेत नहीं है। यह मुहावरा मात्र है। रीतिकालीन कवियों ने तो रूपगर्विता नायिकाओं के लिए चाम के दाम लगने की बात बराबर कही है। वे शृंगारी प्रयोग हैं, तुलसी का प्रयोग शांत-परक है।

(४) 'एक पूजें बाहु बल मूल तोरि फूल हैं'

—कवितावली सुंदरकांड ३०

झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी के जन्म के प्रायः पचास वर्ष पहले बलिया के राजा कर्णदेव ने सिकंदर लोदी से युद्ध कर हिंदू जनता को उसके अत्याचारों से बचाया था। तब हिंदू नेताओं ने उनकी बाँहों की पूजा की थी। बलिया में जन्म लेने के कारण तुलसी इस कथा से परिचित थे, इसीलिए उन्होंने सीता का पता लगाकर वापस आने पर हनुमान की बाँहों की पूजा उनके साथियों से कराई है।

यह भी झड़प जी का शुद्ध भ्रम है। वीरों की पूजा की यह एक सामान्य पद्धति ही थी। गोवर्धन धारण के पश्चात श्री कृष्ण की भी पूजा हुई है। तो क्या यह कंसोपाटन (बलिया) के कर्णदेव की बाहु-पूजा के आधार पर हुई है?

सूरदास जी लिखते हैं—

सबै मिलि पूजौ हरि की बहियाँ
जौ नहिं लेत उठाइ गोवर्धन, को बाँचत ब्रज महियाँ
'कोमल कर गिरि धरयो घोष पर; सरद कमल की छहियाँ
'सूरदास' प्रभु तुम दरसन सौं, आनँद है सब कहियाँ

—सूरसागर पद १५८८

देव ने भी गोवर्धन-धारण के पश्चात् ग्वाल बालों द्वारा बलवीर की बाहों के भेंटने का वर्णन किया है—

तीर धरयो जु गहीर गुहा,
गिरि धीर धर्‌यो सु अधीर महा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूँछती पीर भरे दृग नीर,
त्यों एकै समीर करैं और सराहैं
छोर मिजै यक पोंछती चीर लै,
राधे रहैं तिरछो करि छाहैं
भेंटती भीर अहीरन की,
वर वीरज की बलवीर की बाहैं

—देवसुधा ४

(५) क गोंड़ गँवार नृपाल महि जवन महा महिपाल
—दोहावली

ख वेद धर्म दूरि गये, भूमिचोर भूप भए
—कवितावली उत्तर कांड १७७

झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी का संबंध ऐसे राज्य से अवश्य था, जहाँ गोंड, गँवार, नृपाल का राज्य था, जो चोरी चोरी राजा बन गया था। बलिया में उस समय हल्दी में ऐसा ही राज्य था, जो गोंडवाना से आया था और हल्दी की ब्राम्हण रानी को धोखा देकर राज्य छीन लिया था।

हल्दी का राज्य तो एक जमींदारी मात्र रहा होगा, जो इतिहास की दृष्टि से नगण्य है। तुलसी के ही समय में मध्य प्रदेश के एक विशाल भू-भाग गोंडवाना पर गोंड़ों का राज्य था। प्रसिद्ध गोंड रानी दुर्गावती अकबर बादशाह एवं गोसाईं तुलसी दास की समकालीन थी। तुलसी को निश्चय ही इसका पता रहा होगा।

(६) पुनः झड़प जी कहते हैं—

"यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो तुलसीदास जी ने अपने को आरा बलिया का निवासी होने की ओर स्पष्ट संकेत भी किया है। तुलसीदास जनकपुर की यात्रा में श्रीरामचन्द्र जी के साथ दिखाई देते हैं और उनकी अनन्य निष्ठा देख श्री रामचन्द्र जी उन पर अपनी कृपा दृष्टि डालते हैं—

सनमुख सबहिं बिलोकत सबहिं नीके।
कृपा से हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं॥
—गीतावली, बालकांड ७१

जिसे झड़प जी ने स्पष्ट संकेत कहा है, वह अत्यन्त दुर्बल है और स्पष्ट क्या अस्पष्ट संकेत तक नहीं है। भक्त सदैव अपने को इसी प्रकार अपने प्रभु के निकट रखना चाहता एवं कृपा पाना चाहता है। सीता जी के कहने पर राम जी ने तुलसी की विनय पत्रिका पर अपनी सही कर दी—क्या झड़प जी इसे ऐतिहासिक तथ्य कहना पसंद करेंगे?

'तुलसीदास' अनुराग अवध आनंद अनुभवत तब को सो अवहुँ अघाई

—गीतावली बालकांड ३०

क्या इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने राम के बाल्यकाल के आनंद का अनुभव किया था और अब भी अयोध्या में रहकर उस आनंद का अनुभव कर रहे हैं तथा अयोध्यावासी हैं?

अपने इष्ट से नैकट्य स्थापित करने के ही लिए तुलसीदास ने राम को स्थान स्थान पर तुलसी के प्राण पिआरे, तुलसी के जीवन धन, तुलसीदास के ईस आदि कहा है—

१. अवलोके भरि नयन आज तुलसी के प्रानपियारे
—गीतावली, बालकांड ६६

२. सकल सुकृत फल माता पिता के, जीवन धन तुलसी के
वही बालकान्ड ५६

३. सकल तनय चिरजीवहु, तुलसीदास के ईस
—राम चरित मानस बालकांड १९६

शृंगारी कविताओं में भी इसी प्रकार रीतिकालीन कविन्दों ने अनेक स्थलों पर जहाँ कवि छाप दी है, अपने पर नायकत्व का भी आरोप कर लिया है। उदाहरणार्थ केवल एक छंद उद्धृत किया जा रहा है—

चूमत पी को कपोल तिया,
तिय को पियहूँ अधरा रस चाखै।
अंक गहै 'हरिऔध' को कामिनि,
पी नवला को भुजा भरि भाखै।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपने जीवन प्रान समान,
लला को लली करिबे अभिलाखै ।
लालहू नेहमयी नव बाल को,
आँखिन की पुतरी करि राखै ।

रस कलस, पृष्ठ ६

(४) संप्रदाय और समाज

इस प्रकरण में झड़प जी का कहना है रामानंद जी ने अपने पंथ का प्रसार काशी में रहकर किया और उनके मत का व्यापक प्रसार केवल भोजपुरी प्रदेश में हुआ। सारन आदि जिलों में रामानंदी संप्रदाय के अन्तर्गत एक चतुर्भुजी उपवर्ग है, जो तुलसी संप्रदाय भी कहा जाता है। भोजपुरी क्षेत्र में रामानंद और रामनंदन नामों की अधिकता है। अतः रामानंद जी भोजपुरी क्षेत्र के ही निवासी थे।

स्वामी रामानंद जी का जन्म स्थान प्रयाग है, यह स्थापित सत्य है। फिर उन्हें भोजपुरी प्रदेश का निवासी कहना कहाँ तक ठीक है? रामानंदी संप्रदाय केवल भोजपुरी प्रदेश में व्यापक रूप से फैला, यह भी ठीक नहीं। अयोध्या रामानंदियों का गढ़ है। अयोध्या के ही मुसलमानों तक को रामानंद जी ने हिन्दू बना लिया था, जो संजोगी कहे गये। तो क्या यह धर्म-परिवर्तन बिना प्रभाव के ही हुआ था?

झड़प जी का मत है कि तुलसीदास का जन्म ऐसे क्षेत्र में हुआ था, जहाँ राम की उपासना का व्यापक प्रचार था, जहाँ शिव, हनुमान, दुर्गा आदि को भी महत्त्व देते थे। ऐसा प्रदेश भोजपुरी क्षेत्र ही है, जिसके विषय में तुलसीदास की जन्मभूमि होने की सम्भावना की जा सकती है।

इस संबंध में निवेदन करना है कि संपूर्ण भारत भूमि में राम का व्यापक प्रभाव है। यहाँ तक कि व्रजमंडल में भी लोग परस्पर मिलने पर अभिवादन के लिए 'राम राम साव' (साहब)' ही कहते हैं।

झड़प जी के अन्य प्रमाण हैं—

(१) भोजपुरी प्रदेश में ही पुरोहिती को निंद्य वृत्ति माना गया है।

(२) भोजपुरी प्रदेश के ब्राह्मणों में ही सहिष्णुता और उदारता है और धार्मिक असहिष्णुता एवं छुआछूत संबंधी संकीर्णता कम मिलती है।

(३) भोजपुरी प्रदेश में राजा के लिए 'महता' और मंत्री के लिए 'प्रधान' शब्द प्रयुक्त होता है। इन शब्दों का प्रयोग रामानंद एवं कबीर ने इन्हीं अर्थों में किया है।

इन प्रमाणों की प्रामाणिकता पर प्रामाणिक लोग स्वयं विचार करें। मुझे तो इनमें कोई भी वास्तविकता नहीं दिखाई देती।

(५) भावना

झड़प जी के अनुसार भोजपुरी भावना और विचारों की छाप तुलसीदास जी की रचनाओं में प्रायः सब कहीं पाई जाती है। जिन्हें उन्होंने भोजपुरी भावना और विचार समझा है, वस्तुतः वे उतने सीमित दायरे में ही नहीं संकुचित हैं। वे अवध में भी व्याप्त हैं और अन्यत्र भी व्याप्त हो सकते हैं। इस प्रकरण में झड़प जी ने निम्नांकित उदाहरण दिये हैं—

(क) रामहि राम रटन करु जिभिया

इसे लड़कपन में मैंने भी अपने यहाँ अवध प्रांत में बराबर सुना है।

(ख) एक भोजपुरी गीत में रावण का आतंक एवं ऐश्वर्य वर्णन। मंदोदरी रावण को समझाती है। ऐसे कथन अन्यत्र भी हैं।

(ग) भोजपुरी प्रदेश में सबेरे उठने पर घड़ी रात रहते प्रभाती गाने का प्रचलन है—

'जागीं ए सिव शंकर सबेरे उठि'। मेरे पिता जी भी सबेरे उठकर नित्य गाते थे। यह गीत वे यों गाते थे—'सबेरे उठि जागऽहो बंभोला'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) भोजपुरी प्रदेश में गंगा जी सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाली मानी जाती हैं। उन्हें पियरी चढ़ाई जाती है और गंगा जी के गीत गाए जाते हैं। यह भोजपुरी प्रदेश की ही विशेषता नहीं है। अन्यत्र भी लोग गंगा के गीत गाते हैं और मनौती पूरी होने पर रोट और पियरी चढ़ाते हैं।

(ङ) एक भोजपुरी गीत में भक्त चिंतित है कि भगवान को क्या चढ़ाए, क्योंकि सभी चीजें जूठी हैं। यह भाव भी अन्यत्र खड़ी बोली में सुलभ है। "अजब हैरान हूँ भगवन्, तुम्हें कैसे रिझाऊँ मैं।"

(च) एक भोजपुरी शिव स्तुति—

"अपने भिखारी वन पतई चबाई ले
आन के देवे के धन कहां से ले आई ले।'

ऐसी शिव स्तुतियां भोजपुरी प्रदेश के बाहर भी प्रचलित हैं।

(छ) सीता का रूप वर्णन एक भोजपुरी गीत में। ऐसे रूप वर्णन हर प्रांत के लोक गीतों में मिलेंगे।

(ज) भोजपुरी प्रदेश में कूटि कहने का विशेष प्रचलन रहा है, इसी से तुलसी ने भी लिखा—

'तुलसी तेहि औसर लावनिता,
दस चारि नौ तीन इकीस सबै।'

सूर ने कूटों की एक पोथी ही 'साहित्य लहरी' नाम से रच दी। झड़प जी के इस तर्क के अनुसार सूर को निश्चित रूप से भोजपुरी प्रदेश में पैदा होना चाहिए।

(झ) सीता-हरण के पश्चात तुलसी के राम वन के पशु पक्षियों से सीता का पता पूछते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी
तुम देखी सीता मृग नयनी

झड़प जी ने एक भोजपुरी लोककथा दी है और कहा है कि उसी कथा के आधार पर तुलसी ने राम से यह पृच्छाएँ कराई हैं।

तुलसी के सामने भोजपुर की यह लोककथा रही हो, चाहे न रही हो—महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशी के पुरुरवा का विलाप अवश्य था।

(ञ) भोजपुरी प्रांत में बहुधा गुरु, गौ और जनेऊ की शपथ लेने का प्रचलन है। यह प्रचलन भोजपुरी प्रदेश के बाहर भी यत्र तत्र सर्वत्र है।

(ट) भोजपुरी प्रांत की स्त्रियाँ प्रायः कौवे से प्रवासी के आगमन के संबंध में सगुन कराती हैं। हिंदी भाषा भाषी प्रदेश की सभी स्त्रियाँ इस दृष्टि से समान हैं। भोजपुरी प्रांत को ही यह गौरव क्यों दिया जाय?

(ठ) भोजपुरी प्रदेश में प्रातःकाल लोग सूम का नाम नहीं लेते। यह बात भी सर्वत्र है। सूम ही नाम क्या, बुरे गाँव का भी नाम नहीं लेते।

(ड) भोजपुरी प्रदेश में काशीफल को कोंहड़ा कहा जाता है। हमारे यहाँ अवधी-भाषी-प्रदेश में भी। कुम्हड़ बतिया के तर्जनी देखते ही मुरझा जाने वाली बात भी प्रचलित है।

(ढ) भोजपुरी प्रदेश में स्त्रियाँ शीतलाष्टमी और शिशुओं की छठी आदि के अवसर पर दाहिने हाथ से दीवाल पर सात छाप लगाकर ऐपन बनाकर पूजा करती हैं। यह प्रक्रिया अन्यत्र भी है। मेरे पिता जी शीतला जी के सेवकिया थे, वे भी दीवार पर हाथ से ऐसे ऐपन बनाते थे।

(ण) विनय पत्रिका में गणेश की स्तुति के बाद सूर्य की स्तुति है। इसके संबंध में झड़प जी का यह मत है कि यह भोजपुर एवं बिहार में प्रचलित कार्तिक शुक्ल षष्ठी के सूर्यव्रत के प्रभाव स्वरूप है। सूर्य तो इतने जाग्रत देवता हैं कि इन्हें सूर्य नारायण कहा जाता है और प्रत्येक भक्त हिन्दू स्नानोपरांत सूर्य को अर्ध्य देता है। अतः इस आधार पर तुलसी को बलिया का भोजपुरिया नहीं सिद्ध किया जा सकता।

(त) तुलसी हनुमान के भक्त हैं। झड़प जी के अनुसार भोजपुरी प्रदेश में हनुमान जी की पूजा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम प्रचलन है। विशेषकर भूमिहारों में। हनुमान जी भारत वर्ष में सर्वत्र पूजनीय हैं। भोजपुरी प्रदेश के भूमिहारों में ही नहीं।

६. आचार व्यवहार

झड़प जी के अनुसार राम चरित मानस आदि ग्रंथों के अनुशीलन से विदित होता है कि उनमें जिस प्रकार के आचार व्यवहार का वर्णन है, वे प्रायः भोजपुरी प्रदेश के आचार व्यवहार के अनुसार ही हैं। हास-परिहास, नातेदारों के भोजनकाल में मनोरंजनार्थ गाली गाना, पंचकौर निकालना, नहछू, बरात की तैयारी, विवाहोत्सव, पुत्रोत्सव, भोज आदि की विधियाँ भी सब वैसी ही हैं।

(क) बरात में दही चिउँरा और मछली भेजने का उल्लेख रामचरित मानस में है।

झड़प जी के अनुसार यह भोजपुरी रिवाज हैं। झड़प जी यह भी मानते हैं कि यह रिवाज मिथिला में भी है। यह रिवाज मेरे अपने क्षेत्र में नहीं है।

(ख) भोजपुरी प्रदेश में कन्या पक्ष की ओर से बरातियों के पैर धुलाने की प्रथा है। रामचरित मानस में जनक ने दशरथ आदि के पैर धोए हैं। यह प्रथा हमारे यहाँ भी रही है। पर पैर धोने का काम नाई करता रहा है। अब इस प्रथा का उठान-सा हो गया है।

(ग) भोजपुरी प्रदेश में मछली की सौगात देना, मछली का दर्शन करना शुभ माना जाता है। मछली का शकुन तो प्रायः सर्वत्र माना जाता है। झड़प जी कहते हैं—तुलसीदास की जन्म-भूमि ऐसे प्रदेश में थी, जहाँ बड़े लोग मनोरंजनार्थ वंशी द्वारा मछली का शिकार करते हैं। कटिया में चारा लगाकर मछली फँसाने का काम सर्वत्र होता है, केवल भोजपुर में नहीं।

(घ) भोजपुरी प्रदेश में कुलीन ब्राह्मणों में पर्दा का प्रचार है, बुंदेलखंड एवं पश्चिम के ब्राह्मणों में नहीं। पर्दा मुसलमानी प्रभाव हैं और हिंदी भाषा-भाषी प्रदेश में प्रायः सभी बड़े लोगों में रहा है और अब भी है।

(ङ) भोजपुरी प्रदेश और बिहार में ही संबोधनार्थ 'बाबू' शब्द का व्यवहार होता रहा है। गोस्वामी जी ने भी 'बाबू' शब्द का व्यवहार साधुओं से कराया है यथा—

'आयसु, आदेश, बाबू'

—कवितावली उत्तरकांड १४०।

उक्त छंद में 'बाबू' नहीं है, 'बाबा' है।

(च) भोजपुरी प्रदेश में स्त्रियाँ दिए को आंचल से बुझाती हैं और आँचल पसार कर ही आशीर्वाद लेती देती हैं।

आँचल से दिया बचाने और दिया बुझाने दोनों का काम अन्यत्र सर्वत्र होता रहा है दिल्ली आगरा वाले रहीम भी यह जानते थे—

जो रहीम दीपक दसा, तिय राखत पट ओट
समय परे ते होत है, वाही पट की चोट।

हमारे यहाँ भी बहुएँ अपनी सासुओं एवं सासु तुल्या अन्यों के पैर आँचल पसार कर छूती हैं और आशीर्वाद लेती हैं। आँचर पसार कर आशीर्वाद देने की प्रथा भोजपुरी की विशेषता होगी?

(छ) 'सदा सुहागिन होहु तुम' और 'अचल होय अहिवात तुम्हारा' कहकर आशीर्वाद देने का ढंग भी भोजपुरी ही है। क्या यह तथ्य है? अन्यत्र ऐसा आशीर्वाद नहीं दिया जाता?

(ज) बनारस प्रांत और बिहार बंगाल में ब्रह्म हत्या घोर सामाजिक अपराध है। क्या हिंदुस्तान के किसी कोने में ब्राह्मण हत्या सामाजिक पुण्य है? भारत भूमि में ब्राह्मण सर्वत्र पूज्य हैं।

(झ) जे वर्णाधम तेलि कुम्हारा।
सुपच किरात कोल कलवारा।

झड़प जी के अनुसार ए जातियाँ भोजपुर में अधम मानी जाती हैं। इसीलिए तुलसी ने लिखा। अन्यत्र ऐसी सर्वत्र नहीं, ए जातियाँ अधम मानी जाती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ञ) भोजपुरी प्रदेश में लोग रात में किसी स्थान पर बैठकर इतिहास पुराण कथावार्ता सुनते थे। यह स्थिति अन्यत्र भी है। रात में ही किसानों को फुरसत मिलती है।

(ट) भोजपुरी प्रदेश में पुत्री के घर एवं गांव का अन्न जल ग्रहण करना उचित नहीं। यह बात अन्यत्र भी है।

(ठ) भोजपुर में अधिक अधीनता प्रकट करने के लिए कहा जाता है कि मैं आपके जूते तर का हूँ। बड़ों के पैर छूकर प्रणाम करने की परिपाटी है। स्त्रियाँ बड़ों के चरणों पर अंचल रोपती हैं। ये बातें सर्वत्र हैं, केवल भोजपुर में नहीं।

(ड) गोस्वामी जी द्वारा गोंड़ऊ शैली में पद-रचना तथा उसमें भोजपुरी शब्दों और प्रयोगों की अधिकता इस बात की सूचक है कि गोस्वामी जी की बाल्यावस्था भोजपुरी प्रदेश में व्यतीत हुई थी। गोंड और कहार अन्यत्र भी हैं और कहरवा प्रसिद्ध लोक गीत है, जो अवध में भी प्रचलित है।

(ढ) होली पर गधे की सवारी के जलूस भोजपुरी प्रदेश में निकाले जाते हैं। ऐसी मजाकिया चीजें अन्यत्र भी होती रही हैं। मेरे गाँव में भी काजल चूना पोतकर गधे की सवारी करने वाले के दर्शन होली पर किए जा सकते हैं।

(ण) भर जाति का केन्द्र भोजपुरी प्रदेश है। ऐसा नहीं माना जा सकता। यदि भर शब्द भार शिव से बना है, तो भारशिवों का राज्य विन्ध्याचल में था, जो भोजपुरी प्रदेश के बाहर है और अवधी भाषी क्षेत्र में है। हमारे भी क्षेत्र में भरों की पुरानी कोटें मिलती हैं।

(त) झड़प जी के अनुसार बैल लादने का प्रचार विशेष रूप से भोजपुरी प्रदेश में रहा है। बैलों पर वाणिज्य का कार्य बहुत होता था और संपूर्ण भारत में होता था। अब भी यत्र तत्र होता है। बरेली में तो धोबी बैल पर लादी लादते हैं—अन्यत्र गधे पर।

(थ) राय और साहि भोजपुरी प्रदेश में भूमिहारों के नामांत में प्रायः प्रयोग में आते हैं। पर ये दोनों राजा के सूचक शब्द हैं और अन्यत्र भी प्रयुक्त होते हैं।

(द) काहि जय जीअ बैठ सिर नाई

जय जीअ भोजपुरी प्रदेश के आशीर्वाद शब्द हैं ऐसा झड़प जी का कहना है। हमारे यहाँ भी ये शब्द 'जय हो', 'जीअऽ' (जियो) रूप में प्रचलित हैं।

(ध) तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत संवादों में स्पष्ट रूप से भोजपुरी प्रकृति की विशेषता है। शालीन के साथ शालीनता का एवं अधम के साथ अधमता का व्यवहार भोजपुरिया करता है। यह विशेषता केवल भोजपुरियों की नहीं।

(न) झड़प जी के अनुसार भोजपुरी प्रदेश में जन्म पर बधावा बजाने वाले स्वयं आते हैं, अवध में बुलाये जाते हैं। ऐसी कोई बात नहीं। वे व्यक्ति के हैसियत के अनुसार आते भी हैं और बुलाये भी जाते हैं।

(प) नहछू बरात के घर से चलने के समय होता है। यजोपवीत पर भी होता है और भोजपुर से बाहर के क्षेत्रों में भी होता है। हल्दी चढ़ना, कलस स्थापना, तेल चढ़ना, सभी बातें अवध में भी होती हैं। गाली भी प्रायः सर्वत्र गाई जाती है। इन बातों को भोजपुरी क्षेत्र की विशेषता मानना और इनके आधार पर तुलसी को बलिया में पैदा हुआ कहना समीचीन नहीं।

७. कृषि और खानपान

तुलसी ने एक दोहे में 'पाही खेती' का उल्लेख किया है—

पाही खेती, लगन बट, रिन कुब्याज, मग खेत
बैर बड़े सों आपने किए, पाँच दुख देत
—दोहावली ४७८

झड़प जी ने पाही खेती को पकड़ा है और बलिया जिले के गंगा सरयू के दियारे की खेती के कष्टों का वर्णन किया है तथा तुलसीदास को बलिया वाला बनाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और पाही बलिया का वैशिष्टय नहीं है। पाही खेती वह खेती है, जिसका किसान दूसरे दूर के गाँव में रहता है। हमारे यहाँ की एक लोकोक्ति है—

घर घोसिया मड़ियाहू पाही
लड़िका मरि गए आवाजाही

घोसिया माधोसिंह स्टेशन के पास वाराणसी जिले में कालीन का प्रसिद्ध निर्माण केन्द्र है और मड़ियाहूँ, जौनपुर जिले की तहसील है। स्पष्ट है इस पाही खेती से तुलसी को गंगा सरजू के संगम के निकट का निवासी नहीं सिद्ध किया जा सकता।

झड़प जी ने तुलसी की निम्नांकित उक्तियां उद्धृत की हैं और इनके सहारे इन्हें भोजपुरी प्रदेश का निवासी बनाने की कृपा की है—

१. तुलसी अति नीचे सुखाद,
ऊख नन्न अरु धान
अति ऊँचे भूधरन पर,
भुजगनि हो को थान
—दोहावली

२. ऐसी हठ जैसी गाँठ पानी परे सन की
—क० उत्तरकांड

३. आपनो चना चबाइ हाथ चाटियतु है—क० उ०

४. मानत हौं चारि फल चारि ही चनक को
—क० उ०

५. फरइ कि कोदव बालि सुसाली—राम चरित मानस

६. सूखत धान परा जनु पानी—राम चरित मानस

७. सुचि सुन्दर साालि सकेली—क० उ०

८- होइहि जब कर कीट अभागा—राम चरित मानस

९. विविध विधान धान जरत बखारहीं—
क० सुन्दरकांड

क्या इनसे तुलसी किसी प्रकार भोजपुरिया बनाए जा सकते हैं ?

इसी प्रकार झड़प जी ने भाँग, सेतुआ, पीने का भी निरर्थक सहारा लिया है। भाँग तराई इलाके में स्वतः होता है। सारन जिले में ही नहीं, मैंने इसके पौधे मुजफ्फरपुर जिले में देखा हैं, साथ ही हरिद्वार में भी।

८. भाषा

पृष्ठ १७६-९९ तक झड़प जी ने तुलसी की भाषा में भोजपुरी वैशिष्ट्य दिखाने का प्रयास किया है, जो व्यर्थ है क्योंकि जितनी भी बातें कही गई हैं, वे सभी अवधी में भी पाई जाती हैं। अतः इस प्रकरण पर तूल देना व्यर्थ है।

९. झलक

इस प्रकरण में निम्नांक्ति कथन हैं :—

१. संवादों में तुलसीदास की मातृ भाषा भोजपुरी की झलक है।

२. तुलसीदास कुलक्षणी थे, अतः 'मुलहा' कहे जाने लगे थे। इस प्रयोग के आधार पर इनका निवास स्थान काशी और बलिया के मध्य कहीं होना चाहिए।

३.राम बोला और हुलसी गुणपरक नाम भोजपुरी प्रदेश को विशेषता है। अतः तुलसी पूर्वीय भोजपुरी प्रदेश केनिवासी थे।

४. राम चरित मानस का रूपक प्रस्तुत करते हुए गोसाईं जी ने गंगा सरयू एवं सोन संगम का वर्णन किया है, जो इनके जन्म स्थान का सूचक है।

५. राम और तुलसी दोनों का गोत्र वसिष्ठ था। सीता और तुलसी की माता हुलसी का गोत्र गौतम था। इस लिए तुलसी ने कहा है—

तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को।

६. राम ने कहा है—

जन्म भूमि मम पुरी सुहावनि
उत्तर दिसि सरजू बह पावनि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झड़प जी के अनुसार प्रकारांतर से यदि इसे तुलसी की भी जन्म भूमि का संकेत मानें, तो सरयू जी बलिया से उत्तर को बहती है।

इन सब तर्कों में कितना बल है, इसपर पाठक स्वयं विचार कर लें।

१०. हुलसी-स्थान

किसी हुलसी सती का स्थान बलियानगर से ९मील पूरब गंगा तट पर स्थित है। यह हल्दी के पास है। झड़प जी का अनुमान है कि यह तुलसीदास की माँ का स्थान है, जो तुलसी के पिता के निधन होने पर सती हो गई थीं।

अवधी और भोजपुरी में ईकारांत स्त्रीलिंग व्यक्ति-वाचक संज्ञाएं जब संबोधित की जाती है, तो आदरार्थ उन्हें आकारान्त कर दिया जाता है। ईकारान्त संबोधन में कुछ अनादर की सी भ्रांति होती है। जैसे हे सजनी, न कहकर लोग हे सजना कह देते हैं। उसी प्रकार हुलसी का आदरार्थक रूप हुलसा होगा। हुलसी से हुलसा होगा, न कि हुलासो।

झड़प जी के इस हुलासो सती वाले विवेचन में भी मुझे कोई सार नहीं दिखाई देता

(ख) जाति विचार

तुलसीदास जी ब्राह्मण हैं। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी एक मत हैं। वे कौन से ब्राह्मण हैं—इसी में मतभेद है। उन्हें कान्यकुब्ज, सनाढ्य एवं सरयूपारीण कहा जाता है। बहुमत उनको सरयूपारीण ब्राह्मण मानता है। श्री कुलदीप नारायण राय 'झड़प' ने अपनी पोथी के पंचम अध्याय (पृ० २४५-३५६) में इन्हें भूमिहार ब्राम्हण सिद्ध करने का प्रयास किया है। झड़प जी का कहना है कि आदि काल में ही ब्राम्हणों के दो वर्ग रहे हैं। एक वर्ग वह जो पुरोहिती करता था और दूसरा वर्ग जो पुरोहिती को हीन वृत्ति मान कर उससे घृणा करता था। एक दान लेने वाला था, दूसरा दान न लेने वाला था। एक दीन हीन था, दूसरा वैभव-संपन्न। एक प्रतिग्राही था, दूसरा अप्रतिग्राही। एक निर्धन विपन्न किसान था, दूसरा संपन्न जमीदार। गोसाईं तुलसीदास जी इसी दूसरे वर्ग में उत्पन्न हुए थे और भूमिहार थे।

इस सम्बन्ध में मेरा कहना है कि सामान्यतया जिसको ब्राम्हण कहा जाता है, वह भूमिहार से सर्वथा अलग है। भूमिहार लोग ठाकुर कहे जाते हैं और उनके संस्कार ब्राम्हणों के कम, राजपूतों के अधिक हैं। बहुत पहले यह विभेद संभवतः नहीं था। चाणक्य ब्राम्हण माने जाते हैं, हैं वह भूमिहार। इनके वंशज बिहार में चनकिया बाभन कहे जाते हैं। बिहार में 'बाभन' और 'ब्राह्मण' दो वर्ग हैं। 'बाभन' भूमिहार का द्योतक है। ब्राह्मण और बाभन का या भूमिहार का यह विभेद मुस्लिम काल से प्रारम्भ होता है, जब मुस्लिम संपर्क के कारण भूमिहारों में ब्राह्मणों से विभिन्न संस्कृति का, रहन-सहन का, बोलचाल का विकास होने लगा। यहाँ तक कि भूमिहारों का ब्राम्हणों से अलग एक वर्ग ही हो गया और भूमिहार अब्राम्हण माने जाने लगे। यह तो आधुनिक युग में स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने, जो स्वयं भूमिहार थे, भूमिहारों को ब्राह्मण कहने का आन्दोलन चलाया और नामों के अन्त में शर्मा लगाने की चाल चलाई तथा भूमिहार लोग अपने को ब्राम्हण कहने लगे। तुलसीदास के युग में भूमिहारों की स्थिति क्या थी, राम जाने, वे ब्राम्हण कहलाते थे, या आज की ही तरह एक अन्य ब्राम्हणेतर जाति कहे जाते थे। हाँ, उनके मान, वैभव, ऐश्वर्य, संपन्नता में कभी भी कमी नहीं थी। न तब, न अब।

मुझे दूसरी बात यह कहनी है कि झड़प जी ब्राम्हणों की जो दो श्रेणियाँ मानते हैं—प्रतिग्राही और अप्रतिग्राही, वह भूमिहारों को अलग कर देने पर भी अपनी जगह पर ठीक है। भूमिहार तो अप्रतिग्राही हैं ही, ब्राह्मणों में भी अधिकांश अप्रतिग्राही ही हैं। झड़प जी ने प्रतिग्राही ब्राह्मणों को पुरोहित भी कहा है। ब्राह्मणों की संख्या बहुत है और उनमें से बहुत कम पौरोहित्य करते हैं। यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी ब्राम्हण केवल पौरोहित्य करने लगें, तो वे खाए बिना मर जायँ। अस्तु, भूमिहारों को अलग कर देने पर भी, ब्राह्मणों में दो वर्ग हैं—प्रतिग्राही और अप्रतिग्राही—ऐसे ही अप्रतिग्राही, संपन्न ब्राह्मण परिवार में तुलसी ने जन्म लिया, यह मानने में मुझे आपत्ति नहीं है। जिस अप्रतिग्राही, संपन्न, जमींदार ब्राह्मण वंश में, तुलसी ने जन्म लिया, वह ब्राम्हण वंश ही था, भूमिहार वंश नहीं, झड़प जी के सारे तर्क यही सिद्ध करने में लगे हैं कि तुलसी ने जिस कुल में जन्म लिया, वह अप्रतिग्राही जमीदार ब्राह्मण कुल था। ब्राह्मणों में से अधिकांश अप्रतिग्राही हैं—पुरोहित नहीं हैं—साथ ही ब्राह्मणों में भी बहुत से जमींदार हैं, संपन्न हैं। इसके उलटे सभी भूमिहार जमींदार नहीं हैं और न सभी एक से संपन्न ही। उनमें भी निर्धन एवं भूमिहीन लोग हैं। किसी युग में इनके पुरखा जमींदार रहे होंगे। यह विशाल भूमि न जाने कितनी बार टुकड़ों में बँटती चली आयी है और जो भूमि किसी युग में एक के आधीन थी, वही आज उसके वंशजों में हजार-हजार टुकड़ों में बँट गई है। अस्तु, झड़प जी ने तुलसी को भूमिहार सिद्ध करने के जो तर्क दिए हैं, वे ठीक नहीं। उनसे तुलसी भूमिहार नहीं सिद्ध होते। अप्रतिग्राही संपन्न ब्राह्मण मात्र सिद्ध होते हैं।

झड़प जी ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, उन्हें भी यहाँ संक्षेप में एक एक बार देख लेना असंगत न होगा। उनकी आलोचना करना भी व्यर्थ ही है।

(१) तुलसी प्राकृत जन का गुण गान अनुचित मानते थे। अतः वे किसी के चाटुकार नहीं थे और पुरोहित स्वभाव की कसौटी पर नहीं उतरते। उनका स्वभाव अप्रतिग्राही ब्राह्मणों के अनुवंशिक स्वभाव से मिलता है। निर्भीकता और स्पष्टवादिता उनकी विशेषता है।

(२) तुलसी ने स्पष्ट रूप से पुरोहिती की निन्दा की है। दान लेने की निन्दा में तो उन्होंने यहाँ तक कहा है—

तुलसी दान जो देत है, जल में हाथ उठाय
प्रतिग्राही जीवै नही, दाता नरके जाय।
—दोहावली ५३३।

अतः वे पुरोहित वर्ग के नहीं थे।

(३) विनय पत्रिका में तुलसी ने अपना पेशा निम्नांकित प्रकार बताया है—

मध्य वयस धन हेतु गँवाई,
कृषी बनिज नाना उपाय।

स्पष्ट है तुलसी का पेशा कृषी था, जो भूमिहारों का प्रमुख पेशा है।

(४) तुलसीदास ने ऐसे अनेक शब्दों का व्यवहार किया है, जो जमींदारों और कृषकों के यहाँ ही व्यवहार में आते हैं—यथा—मिलिक, कारनिक, नापजोख, खेत का धोखा।

(५) पुरोहित वर्ग का ब्राह्मण शिकार-प्रिय नहीं होता। तुलसी ने रामचन्द्र के मृगया विहार के जो स्पष्ट चित्र अंकित किए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वे कभी न कभी शिकार खेलने वालों की मंडली में अवश्य सम्मिलित हुए थे और उसे भलीभाँति देखा था। शिकार एवं शिकारियों की प्रकृति और व्यवहार से वे पूर्ण परिचित थे।

(६) अनुचित बातों पर उत्तेजित हो उठना जमींदार ब्राह्मणों का गुण है। तुलसी परम उदार थे, फिर भी उनमें यह जातीय गुण है—

हम लखि, हमहिँ हमार लखि,
हम हमार के बीच
तुलसी अलखहिँ का लखै,
राम नाम जपु नीच

(७) जमींदार ब्राह्मणों की एक विशेषता अच्छी व्यवस्था-'बुद्धि और राजनीति में पटु होना भी है। इसी को भूइँहरई' कहते हैं। सारे संसार को सियाराम मय देखने वाले तुलसी ने भी राजनीतिक व्यवहार में कूटनीति को बुद्धिमानी कहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्रु सयानो. सलिल ज्यों,
राखि सीस रिपु नाव
बूड़त लखि, पग डगत लखि,
चपरि चहूँ दिसि घाव
—दोहावली ५२०

तुलसी केवल सरलता को दोष मानते हैं।

(८) तुलसी के आराध्य इष्टदेव अस्त्रशस्त्र धारी, कानन-चारी, लोकमर्यादा की रक्षा में तत्पर तपस्वी वेषधारी असुरारी राम हैं। बोल को अटल, बाँह को पगारु, दूबरे को दानी, दिबोई भावै, मारि कै मार थप्यो, भट ठाकुर की रीझि आदि के द्वारा गोस्वामी जी ने अपने वंश परमंरागत गुणों का ही दर्शन कराया है।

(९) दान के विषय में तुलसी का मत है कि जैसे तैसे देना ही चाहिए। जो दान देने में असमर्थ है, उसे भी चाहिए कि वह किसी से कुछ न ले। अप्रति-ग्राही ब्राह्मण वर्ग में प्रायः यह प्रवृत्ति आज भी पाई जाती है।

(भड़प जी को शायद जानकारी नहीं है कि तीर्थराज प्रयाग के सारे पंडे जो प्रयागवाल कहलाते हैं और दान लेते हैं, भूमिहार ही हैं)।

(१०) भूमिहार ब्राह्मणों के मूलस्थान धर्मारण्य (कान्य-कुब्ज प्रदेश का मदारपुर) में ही प्राचीन काल से गणेश, सूर्य, धर्मराज, देवी, हनुमान, नृसिंह आदि देवताओं की पूजा प्रचलित थी। इसीलिए यदि तुलसीदास ने विनय पत्रिका में सर्व प्रथम क्रमशः गणेश, सूर्य, देवी, हनुमान, गंगा और जमुना के व्याज से धर्मराज आदि देवताओं की वंदना की है, तो इसका अभिप्राय यह है कि इसका सम्बन्ध उनके परंपरागत (भूमिहार)—कुलाचार से है।

(इन देवी देवताओं की पूजा तो समस्त हिन्दुओं द्वारा होती है—भूमिहार ही इनकी पूजा नहीं करते।)

(११) तुलसी ने पार्वती मंगल, जानकी मंगल नामक मंगल ग्रंथों की रचना भूमिहार कुलाचार से प्रेरित होकर स्त्रियों के निमित्त की। भड़प जी के अनुसार भूमिहारों में विवाह के अवसर पर सर्व प्रथम शिव विवाह के ही गीत गाए जाते हैं।

(शिव और गौरी समस्त हिन्दुओं के पूज्य देव हैं और इनके गीत किस हिन्दू समाज में मांगलिक अवसर पर नहीं गाए जाते ?)

(१२) भड़प जी के अनुसार तुलसी वर्णित विवाह की पद्धति एवं आचार भूमिहार ब्राह्मणों के आचार एवं पद्धति के मेल में है, अतः तुलसी भूमिहार थे। भड़प जी ने इन आचारों का कुछ विस्तार से वर्णन किया है, जिसकी चर्चा यहाँ व्यर्थ है। ये आचार प्रायः सभी उच्च वर्गीय हिन्दुओं के यहाँ विवाह काल में देखे जा सकते हैं।

(१३) गो० तुलसीदास ने स्पृश्यास्पृश्य के संबंध में अपनी रचनाओं में जैसे उदार भाव व्यक्त किए हैं, उससे भी उनके पुरोहित वर्गीय ब्राह्मण होने का मेल नहीं बैठता। तुलसी ने वशिष्ठ द्वारा निषाद को गले लगवाया है, शबरी द्वारा राम का—आतिथ्य कराया है। गृद्ध की अंत्येष्ठि कराई है, ब्राह्मण द्वारा शूद्र को शिक्षा दिलाई है। स्वयं तुलसी ने श्वपच को गले लगाया और गौ—हत्यारे के हाथ भोजन किया।

(१४) परंपरागत कुलाचार का पालन जमींदार ब्राह्मणों की विशेषता है और तुलसी ने परंपरागत कुला-चारों का पालन कराया है।

(१५) भूमिहार ब्राह्मणों में परदा है : तुलसी में भी—
सीस उघारन किन कहयो—दोहावली २५४.

(१६) राम के बन चले जाने पर अयोध्या की दशा—

लागति अवध भयावनि भारी
मनहूँ काल राति अँधियारी

यहाँ 'कालराति' का अर्थ प्रलय की रात्रि नहीं है, भादों की अमावस्या है। बिहार में शाहाबाद और सारन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिलों के मनेरिया और एकसरिया भूमिहार बाभनों के यहाँ कालरात्रि की पूजा का विशेष रूप से प्रचार है, जो उक्त तिथि को होती है, ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि तुलसी का सामान्यतया भूमिहार ब्राह्मण समाज से घनिष्ठ संबंध था।

(१७) भूमिहार ब्राह्मण परंपरा या रामोपासक थे तथा हनुमतपूजक भी, इसीलिए तुलसी रामोपासक एवं हनुमत पूजक हुए।

(राम और हनुमान समस्त हिंदुओं में पूजित हैं)

(१८) धूत कहौ, अवधूत कहौ,
रजपूत कहौ,जोलहा कहौ
कोई काहू की बेटी से बेटा न ब्याहब,
काहु की जाति बिगार न सोऊ।

झड़प जी के अनुसार ये सारे गुण भूमिहारों के हैं—धूत=धूर्तता या मुंइहरई। अवधूत=रामानंदी संप्रदाय का वैरागी, जो सैनिक भी होता था, रामानन्द स्वतः भूमिहार थे। रजपूत=सैनिक वृत्ति। जोलहा=मुसलमान, मुसलमानों से संपर्क रखनेवाला। किसी की बेटी से अपना बेटा ब्याहना=सरयूपारीण ब्राह्मणों की बेटियाँ भूमिहारों में आती हैं। अतः स्पष्ट है कि तुलसीदास रामानंदी परंपरा के जमींदार भूमिहार ब्राह्मण थे।

(१९) पुराहित वर्ग के ब्राह्मण अरबी फारसी पढ़ते थे, न इन भाषाओं के शब्दों का उच्चारण करते थे, जन-भाषा में रचना करना अपनी हेठी समझते थे। इसके विपरीत जमींदार वर्ग के ब्राह्मण मुसलमान शासकों के सम्पर्क में थे, अतः फारसी पढ़ते थे और इनकी भाषा में अरबी फारसी के शब्दों का मिश्रण हो जाता था।

तुलसीदास की भाषा में अरबी फारसी के शब्द हैं, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२०) राम चरित मानस में परशुराम लक्ष्मण संवाद, हनुमान रावण संवाद, अंगद रावण संवाद में जिस हाजिर जवाबी, निर्भीक कथनशैली और वाक्पटुता का दर्शन होता है, वह जमींदार ब्राह्मणों की जातीय विशेषता के अनुसार है।

(२१) तुलसी-शिष्य रामू द्विवेदी ने 'प्रेम रामायण', में तुलसी को 'कुल शील सीमा' कहा है। झड़प जी के अनुसार यह कुल-शील-सीमा' भूमिहारों में ही सीमित है, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२२) घट रामायण के रचयिता तुलसी साहब ने गोसाईं तुलसीदास को कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहा है। पूर्व में कान्यकुब्ज ब्राह्मण नहीं होते। पूर्व के भूमिहार ही मूलतः कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। अतः तुलसी कान्यकुब्ज अर्थात भूमिहार ब्राह्मण थे। 'भक्त कल्पद्रुम' में राजा प्रताप सिंह द्वारा तुलसी को कान्यकुब्ज लिखने का भी यही रहस्य है।

(२३) हिन्दू संस्कृति ब्राह्मण संस्कृति है। गोसाईं जी भी सबसे पहले ब्राह्मण की,—महिसुर की, वन्दना करने-वालों में है। ब्रह्मशक्ति समाज की पोषक है। इसमें क्षात्र-शक्ति का समन्वय भी उचित है। गोस्वामी जी ने ब्रह्म-तेज और क्षात्रशक्ति का जो समन्वय कर उसका लोक कल्याणकारी रूप प्रस्तुत किया है, उससे ऐसी वंश-परम्परा के प्रति आकर्षण प्रकट होता है, जो इन दोनों शक्तियों से युक्त है—

सापत ताड़प परूष कहंता
विप्र पूज्य अस गावहिं संता

'शापादपि शरादिप' दोनों की शक्ति भूमिहार में ही है, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२४) भूमिहारों को जो पत्र लिखे जाते रहे हैं, उनके सिरनाये हैं—

"स्वति श्री·····सर्व उपमा योग्य नाम उदित, परम पुनीत, नीति निपुण, सामर्थ्य, भार गुन गरिष्ट, मर्यादा सागर, गऊ ब्राह्मण के रछपालक, धर्मावतार' आदि। झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी ने राम-स्तुति में जो 'गो द्विज हितकारी' 'श्रुति सेतु पालक' आदि विशेषण रखे हैं, वे भूमिहारों के पत्रों में लिखी जाने वाली सिरनामे की प्रशस्तियों से ही प्रेरित हैं।

(२५) 'जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागि बस
खाए अन्न सब के विदित बात दुनी हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि तुलसीदास सामान्य या पुरोहित वर्ग के ब्राह्मण होते, तो उन्हें स्वजाति और सुजाति क्या, कुजाति का भी अन्न खाने में ग्लानि न होती, अतः वे किसी विशिष्ट कुलीन जमींदार ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे।

(२६) राम कथा का समापन करते हुए गोस्वामी जी ने काकभुशुंड द्वारा भक्ति का महत्त्व बतलाते हुए जिस आदर्श—चरित्र का विवरण दिया है, वह जमींदार-ब्राह्मण आदर्श के अनुरूप ही है—

सोइ सर्वज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता
सोइ महि मंडित पंडित दाता

महि मुडित=स्कन्द पुराण का 'महि मन्ड'=लक्ष्मणाचार्य का भूमि-भूषण=भूमिहार।

(२७) गोस्वामी जी ने मंडप की सजावट, बरात का ठाटबाट, पुत्र-जन्मोत्सव, दान दहेज, उत्तर-प्रत्युत्तर और युद्धों का जैसा सजीव वर्णन किया है, उससे वे जमींदार वर्ग के ही ब्राह्मण सिद्ध होते हैं।

(२८) कै जूझिबो कि बूझिबो, दान कि काय कलेस
चारि चारू परलोक पथ, जथा जोग उपदेस
—दोहावली ४५१

इस दोहे में बूझिबो के पहले जूझिबो आया है, अतः तुलसी भूमिहार या जमींदार वर्ग के थे।

(२९) सब अंग हीन, सब साधन विहीन,
मन वचन मलीन, हीन कुल करतूति हौं
बुधि-बल-हीन, भाव-भगति-विहीन,
हीन-गुन, ज्ञान-हीन, भाग ही विभूति हौं।
—कवितावली उत्तरकान्ड ६९

वैभव रहित होने के कारण कुलाचार में विरोध पड़ने की बात जमींदार ब्राह्मण ही कह सकता है, क्योंकि उसी के कुलाचारों का सम्बन्ध वैभव पर अवलंबित है। (औरों के कुलाचार क्या फोकट में हो जाते हैं?)

(३०) [क] बार-बार लालच धरनि धन-धाम की
—कवितावली उत्तरकाण्ड १३४
[ख] जाय तो न जरनि धरनि धन धाम की
—वही, ११९

इस कथन से साफ प्रकट है कि गोस्वामी जी का जन्म एक भूम्याधिकारी, संपत्तिशाली और प्रतिष्ठित वंश में हुआ था, किन्तु इनका सब कुछ दूसरों ने ले लिया था, जिसका क्षोभ साधु होने पर भी उनके मन से दूर नहीं हो पाता था।

(३१) राम सोहातो तोहिं जो, तू सबहि सोहातो
काल कर्म कुल कारनी कोऊ न कोंहातो
—विनय पत्रिका १५१

गोस्वामी जी का जन्म एक परम्परागत जमींदार परिवार में हुआ था। यहाँ कारनी (कार्णिक=जमींदारी का पट्टा देने वाला रजिस्ट्रार) का उल्लेख इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर देता है।

(३२) 'हाथी स्वान लेवादेई' का सम्बन्ध जमींदार को छोड़ और किससे हो सकता है?

(३३) कृष्ण गीतावली के पद ३२ में मिलिक, बैरख, नकीब आदि शब्द सरकार सम्बन्धी हैं। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग जमींदार ब्राह्मणों द्वारा होना ही सम्भव है, क्योंकि उनका राजकाज से सम्बन्ध था।

(३४) तुलसी की माता 'हुलसी सती' कस्तुवार भूमिहार ब्राह्मण वंश की बताई जाती हैं।

(३५) तुलसी की ससुराल इलाहाबाद जिले में टोंस और गंगा के संगम पर स्थिति पनासा के हीरापुरी पाण्डेय वंश में थी, जो भूमिहार वंश है।

(३६) तुलसी का भदैनी (काशी) के टोडर से नाता-रिश्ते का घनिष्ट सम्बन्ध था। उक्त टोडर भूमिहार थे।

(३७) गो० तुलसीदास को जमींदार ब्राह्मणों ने आश्रय दिया, उनकी रामायण और रामलीला का प्रचार किया कराया तथा उनके द्वारा श्री हनुमान जी के विग्रह स्थापित कराए। यहाँ तक नहीं, उनके नाम पर स्मारक खड़े करने वाले, उनकी स्मृति में ग्रन्थ रचना करने वाले इसी समाज के लोग हैं। श्री तुलसीदास की निवास भूमि अयोध्या, काशी, चित्रकूट, राजापुर आदि में इसी समाज के लोगों ने अनेक कृतियाँ खड़ी कीं। उक्त स्थानों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी समाज के लोग आज भी आच्छादित किए हुए हैं, जबकि वे प्रायः (काशी छोड़कर) उन क्षेत्रों के निवासी नहीं हैं। प्रायः तुलसीदास द्वारा राजापुर का मन्दिर भी काशिराज द्वारा निर्मित कराया गया कहा जाता है। स्पष्ट है कि तुलसीदास से भूमिहार—ब्राह्मणों का कुछ विशेष लगाव और अपनत्व रहा है; जो वंशगत होना सिद्ध है। स्वजातौ परमा प्रीतिः।

(३८) गीतावली में राम राज्यभिषेक का वर्णन है—

वेद पुरान विचारि लगन सुभ,
महाराज अभिषेक कियो
'तुलसीदास' जिय जानि सुअवसर;
भगति-दान तब माँगि लियो।

झड़प जी के अनुसार "तुलसीदास ने वेद पुराण को विधि से शुभ लग्न में (राम का) राज्याभिषेक किया"।

स्पष्ट है कि तुलसीदास अपने को वसिष्ट का प्रतिनिधि अर्थात वंश परम्परा में होना मानते हैं अर्थात् वशिष्ट गोत्रीय हैं।

'तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को,
के अनुसार भी तुलसी वशिष्ट गोत्रीय थे।

(३९) तुलसी वशिष्ट गोत्रीय थे, उनकी ननिहाल गौतम गोत्र में थी और ससुराल भरद्वाज गोत्र में। इन सभी भूमिहार कुलों के कुलदेवता शिव हैं, अस्तु तुलसी की शिव-भक्ति उनकी कुल-परम्परा से सम्बन्धित है।

(४०) गोस्वामी जी की वंशगत उपाधि ठाकुर रही होगी। इसके लिए दो उद्धरण झड़प जी ने दिए हैं—

१. ठाकुर महेश ठकुराइन उदासी जहाँ
—कवितावली उत्तरकांड

२. ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो
—विनय पत्रिका

अपने मित्र टोडर को भी गोस्वामी जी ने ठाकुर कहा है। इससे ठाकुर आस्पद के प्रति इनकी आस्था प्रकट होती है और अपनत्व भी। यह ठाकुर तीन अर्थ देता है, ब्राह्मण, नाई और राजपूत—

ठाकुर ठाकुर तीन ठाकुर
बाभन ठाकुर, नाऊ ठाकुर, ठाकुर ठाकुर

तो तुलसी बाभन (भूमिहार) ठाकुर थे।

उपसंहार

झड़प जी ने ९ शीर्षकों में तुलसीदास के जन्म-स्थान पर विचार किया है। उनके निष्कर्ष कई हैं—

१. तुलसीदास का जन्म भोजपुरी प्रदेश में कहीं हुआ।
२. तुलसीदास का जन्म काशी और बलिया के बीच कहीं हुआ।
३. तुलसीदास का जन्म पूर्वीय भोजपुरी प्रदेश में हुआ।
४. तुलसीदास का जन्म गंगा सरयू संगम के निकट कहीं हुआ।
५. तुलसीदास की जन्मभूमि गंगातट-स्थित राजापुर गंगौली (गंगा तट का गाँव) है, जो बलिया नगर से नौ मील पूरब है।

बलिया के इस राजापुर के लिए कोई विशेष प्रमाण जुटाने की आवश्यकता नहीं समझी गई है। बाँदा जिले के राजापुर नाम को ही आधार मानकर इस राजापुर को तुलसी की जन्मभूमि मानने की कष्ट—कल्पना की गई है। बाँदा का राजापुर तुलसी की जन्मभूमि माना जाता रहा है। अतः तुलसी की वास्तविक जन्मभूमि का नाम राजापुर होना चाहिए। यह विचार धारा झड़प जी के मन में है। भरत-भूमि विशाल है। इसमें सैकड़ों राजापुर एवं सैकड़ों तुलसीपुर हो सकते हैं और हैं। वे सभी राजापुर न तो तुलसी के बसाये हुए हैं और न तुलसी की स्मृति में तुलसीपुर ही अन्यों द्वारा बसाये गये हैं।

जहाँ तक जाति वाली बात है, तुलसीदास ब्राह्मण थे, अप्रतिग्राही ब्राह्मण थे, जमींदार ब्राह्मण थे, पुरोहित नहीं के नहीं थे—सब ठीक, पर वे भूमिहार ब्राह्मण थे यह प्रबल रूप से सिद्ध नहीं किया जा सका है।

झड़प जी ने अपुष्ट, उपहासास्पद, दुर्बल तर्क पेश दिए हैं। अच्छा होता दो ही चार तर्क दिए होते परम पुष्ट होते और जो लोगों को इस दिशा में के लिए विवश कर देते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Technical Heritage of Ancient early and medieval India - a new light

By Dr. D.N. Shukla

Vedic Foundations—Upa-Vedas, the Founders of Technical Sciences :

In India there was hardly any line of demarcation between Science and Art, and Science without philosophy had no meaning for us. Hence our lore was an integrated whole. As there were Vedas, there were also Upa-Vedas and these Upa-Vedas were the founders of the Technical Sciences and Fine Arts in India. Let me briefly enunciate this proposition.

While Vedic studies relating to the four Saṁhitās, their Brāhmaṇas, Upaniṣads and the Auxilliary Sciences, the Vedāṅgas Śikṣā, recitation (articulation and pronunciation); Chandas, metrical science or the science of ryhthms; Vyākaraṇa, Grammar; Kalpa, ritual;Nirukta hermeneutics, etymology; Astronomy-astrology have born fruitful investigations in realm of Oriental Studies in India and abroad, no serious and concentrated study has ever been bestowed upon our Upa-Vedas. There are numerous references to Upa-Vedas like Dhanurveda, Military Science; Gandharva-Veda, Science of Music; Artha-Veda and Sthāpatya-Veda, etc. etc. in the literature, but where are their texts and treatises ? Are we to suppose that they are all consumed to oblivion due to the neglected study of this technical heritage ?

In military Science, besides immortal classic of Kauṭilya, there are certain later treatises also like Kodaṇḍamaṇḍana, Ornament of the Bow, the Dhanu, the science and art of archery written by the Encyclopaedic and reputed author, King Bhojadeva of Dhara who is credited to have exhausted practically all the main branches of literature, Grammar, Rhetoric, Aesthetics, Architectures, Medicine and Philosophy—vide more than 3 dozen of massive treatises on these subjects attributed to his authorship. As regards the later technical treatises on Music, Dance Śilpa Drama, Kalās,[1] Kama, Astronomy and Medicine they are well known to us. My purpose, therefore, is to make a passionate plea to start investigations into this branch of knowledge which is not only very appropriate in the present misunderstanding if Ancient India had ever a material culture depending upon the material sciences, posititve, technical and pure.

Brajendra Nath Seal took a lead in writing a monumental monograph "The Positive Sciences of the Ancient Hindus", but his investigations, as he himself claims relate to rather post-Vedic period 500 B. C. to 500 A.D. As regards the technical sciences like Vāstu and Śilpa, my humble contributions are also known to the scholars.

My contention is that if there were Vedas representing ritual, religion and philosophy, there were also Upa-Vedas, founding the material sciences—technical as well as positive. Hindus had founded both the Vidyās, the Parā and the Aparā. Every Veda has an Upaveda. Āyurveda, the science of medicine (including Chemistry, Botany and Physiology) was attached to Ṛgveda. Similarly, Dhanurveda, the Military Science was attached to Yajurveda, Gandharva-Veda and Sthāpatya-cum-Artha-Veda to Sāma & Atharva respectively. This Artha-Upaveda represents Social organisation and State-craft. We know of the Arthaśāstra of Kauṭilya, the most reputed treatise on polity and war-strategy. Thus our

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Vedas and Upa-Vedas have given composite content to make our life perfect in both the aspects the spiritual and the material. How could otherwise we have evolved the definition of Dharma as :

यतोऽभ्युदयनिःश्रेससिद्धिः सधर्मः ।।

Dharma does not mean dogma or ritual ; it means the sustaining factor of life in its most complete aspect. Abhyudaya stands for material prosperity and Niśśreyasa for Mokṣa, the release of the soul from bondage. These are cardinal postulates which have prefected our culture. Thus we can appreciate the balancing of Materialism and Spritualism in our culture.

Āyurveda : The two Upavedas namely Āyurveda and Sthāpatyaveda being very intimately related to the very existence and living of man, naturally were very popular and their culture, studies systematisation, propogation as well as incorporations found appropriate codification in later literature. The founders of these two sciences belong to a hoary past as ancient as Vedic times. Though much has been written on Āyurveda, its study on profounder scientific foundations needs revival so that the modern Positive Science like Chemistry, Physics, Physiology and Botany may come to their own. The health ideals of the Nation need be based on the ideals of living, cutlure and civilization.

Hindu achievements in the fileld of Medicine and Surgery, Chemistry and Mathematics have been well known. Hindu contributions in the fileld of Botany, Zoology and Veterinary Sciences are equally profound and their scientific investigations need be taken up, as there is still misconception in the minds of our own scientists about them. Botanical and Zoological data in a voluminous treatise the Mānasollāsa or Abhilaṣitārtha-Cintāmaṇi of the later Chalukyan king Someśvara III, presupposes very early begmings. Similarly the treatment of Veterinary sciences in this treatise and others like Śukranīti, Śālihotra, Aśvaśāstra, Vāji-praśaṅsā, Haharacaturanga, Nakula's Aśva-śāstra, Jayadatta's Aśva-Vaidyaka, Sāra Sindhu (a referred text by Nakula) etc. alongwith Mātanga-līlā, Hastyāyurveda, Gaja-Cikitsā and a host of others fully corroborate this technical heritage of ancient India. Classifications—botanical, medical and dietatic; morphology; Physiology (stems, roots, flowers, leaves, plants), Heredity, Ecology of Plants, Plant-Pathology and breeding etc. were well known to our ancient scientists. Further India being an agricultural country could not have afforded to neglect the Veterinary Sciences.

The pure race-culture was based on 'Trayi'. The later tradition of 'Catvāro Vedāh' is non-Aryan contribution with comingling of cultures. The Atharva-Veda the fourth veda is an illustration. This Veda is a store house of medical foundations which is the gift of the Rgveda as already noticed.

Sthapatya-Veda : This Upaveda gave rise to to two most technical sciences—Vāstuśāstra and Śilpaśāstra. They may be rendered as Science of Architecture including Engineering and Town-planning alongwith the Canons of Iconography-Sculpture including painting and other allied arts. The textbooks of Vāstuśāstra, the Science of Architecture, are records of oral tradition which go back to an undefined past. The testimony of the Bṛhatsamhitā of the 6th Centuary A. D. in this context also supports this antiquity. Varahamihira himself proclaims the authority of the master architect acharyas like Garg and Manu on this lore. Matsyapurāṇa enumerates the eighteen preceptors of vāstuśāstra :

भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा ।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः ।।
ब्रह्मकुमारो नन्दीशः शौनकी गर्ग एव च ।
वासदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती ।।
अष्टादशैते विख्याताः शिल्पशास्त्रोपदेशकाः ।।

and most of these were Vedic Ṛsis. Hence The Vedic Foundations of Vāstuśāstra cannot be said to be over-estimated. The conception of Vāstu, its Mandala and its pro-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

siding lord Puruṣa are equally as ancient as Vedic Times. The very Mantra of Vāstu-Purusa is based on the analogy of the Vedic Vāstoṣpati. The foundations of the building construction whether an altar of a shed of initiation or of sacrifice, a residential house or the abode of deity, all go back to the Sutra-period as practically all important Sutra works have detailed expatiations on this side of the Science.

The word 'Śilpa' though comparatively later than 'Vāstu' as per its genesis of ornamentaion and varied and rich motifs, is also as old as Vedic Times. The Aitreya Brāhmaṇa VI.5.27 is a valuable testimony on this subject : 'Śilpāni-works of art, are an imitation of divine forms; by employing their rhythms, a material reconstitution is effected of the limited human personality. Similarly Śulva-Sūtra are a clear development in the science of Architecture, the Sthapatyā-Veda. The Śrauta-Sūtras belonging to the 2000-1500 B.C., contain the rules for rites ordained by the Veda. Each Śrauta-Sūtra seems to have had its own Śulva-Sūtra or section dealing with the measurements and the 'geometry' of the altar. The Vedi is the sacred ground measured out for the Yajña and this Vedi is the mother of Hindu Temple, the richest, the profile development of the art. Science, philosophy, ritual, religion and metaphysics have each contributed to evolve a meeting of Macrocosm and microcosm in Prāsāda, the Hindu Temple. Prāsāda is thus designated as Prāsāda-Puruṣa and Vimāna, the body corporate. Thus this Sthāpatya-Veda contributed a vast literature in the Purānās, Āgamas, Tantras, Pratiṣṭhāpaddhati and Vāstu Śilpa texts proper for the later codifications and enrichments.

Artha-Veda : This Upa-veda gave rise to all the later literature dealing with social organisation, Polity and war. Arthaśātra dominated all thinkers of ancient India. It deals with the totality of social, political and economic relationship and indicates how they are to be properly organised and integrated with one another. All relationship, says Usanas, is rooted in the Daṇḍanīti (Mah XII. 62, 28-9). Manu goes to the extent of declaring that it is Danda who is the real king, the real leader and the real protector.

"धर्मं दण्डं विदुर्बुधाः"

The rules about the functions and duties of the king and the welfare of the state were therefore naturally called Daṇḍanīti. No truly ancient Indian Aryan thinker has ever subscribed or surrendered or relegated the fundamental strategy of diplomacy to the socalled canons of morality and religion. The Promulgator and Preserver, the Defender of the world is Yama, who is not only Yamaraja but also Dharmaraja and the first king on the arch, Prthu was the prototype of Yamaraj and Dharmaraja both, who gave the name of this earth Prithvi. According to Parāśara, wealth is the root of virtue (Dharma) and pleasure (Kama) and this indicates the strong tendency towards a materialistic view of human ends especially the notions and conceptions of Government.

The sum and substance of early predecessors of Kauṭilya like Bhāradvaja and Vātavyādhi was the security not only of the person of the administrator and the state as a whole by all means. Should Kautilya's ever-shining light the 'Arthaśāstra' be not a manual of polity, even to-day ? The ancient Indian Aryans, who were lovers of the nature and are said to have evolved the whole culture and civilization in midst of forests and on the banks of rivers, are the strongest advocates of the fortification of frontiers. Kauṭilya himself precribed the first duty of the state to establish the Durgas, the Forts, not only all around the territories but also in midst of the territories. Himalaya has been our greatest frontier and fortification and in the terminology of Kautilya Durg-varieties, the Pārvata-Durga (Mountain Fort) and the Daiva-Durga (the Celestial Fort) are very important and should these ranges, especially our North-West Frontiers not have been considered to be the most impor-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

tant subject of fortification ? This is the elementary prescription for the security of the State.

Gandharva-Veda : The science of Music, no doubt, is as old as any of these Upavedas and there are abundant references to its antiquity in the later literature on Music, but unfortunately, this branch of technical lore is also hidden from the stand-point of systematic and scientific exposition. Much has been done in the preservation of folk-lore in an intimate relationship with Dance, Drama and Instrumental Music but its codifications, as are found in ancient, early medieval and later medieaval literature, need a projected planning of research. South Indian Musicians, Sangita-Panditas, Nṛtta-Nāṭya-kovidas have done a remarkable service in the preservation of this lore, but Sanskrit scholars especially the Vedists, the experts of Sāma, may take up the lost thread to reconstruct the whole science.

Science of Music is intimately related with Metaphysics. The whole cosmology is based on Icchā and Nāda and the concepts of Nāda-Brahma and Śabda-Brahma are well known. The ancient music aimed at sound in pure form or Brahman, now it is conceived as a means of aesthetic enjoyment. The non-Aryan contributions in the realm of ancient music especially the pre-Vedic times were the real contents. Then followed the period of Hymns of the Ārcikā period or more appropriately the Gāthā period or the period of Tune or the Sāman. It was on the basis of the three Svaras, Udātta etc. that seven notes were discovered in Indian Music. This development may be termed as religious culture. Secular music was also gradually asserting itself. Various types of regional music developed in different regions of the land, sung for the communal entertainment and enjoyment. Epics, Puranas and other ancient literature all corroborate this culture. Ancient authors like Five Bharatas—Nandi, Kohala, Dattila, Bharata and Matanga are the first promulgators. Narada's Sangitamakaranda is another landmark.

The Buddhist period is also noted for the exhuberance in musical authorship as referred by Abhinava-gupta, Śāradatanaya, Nānyabhūpala, Pārśvadeva and Śārangadeva the 10-12th centuary writers. Some of these celebratries are Āstika, Apisali, Uttara, Umāpati, Katyāyana, Kāmadeva, Kumbhodbhava, Ghantaka, Chatraka Datta, Devara, Drauhini, Dhenuka, Priyatithi, Binduraja, Brhat-Kasyapa. Several Bhaṭṭas (as many as six), Rahul, Vena, Vyaṣa, Vraspati, Sakaligarbha, Surya and Suresvara.

The 3rd period of Indian Music begins with the Hindu Revival after the decline of Buddhism. Most of the treatises are lost, the writers can only be reconstructed from the references and the modest list is : Udbhata, Lollata, Sankuka, Utpaladeva, Nrsimhagupta, Abhinavagupta the reputed author of Abhinavbharati, Bhojadeva, Simhana, Abhayadeva, Mammata (different from Kavyaprakasakara), Rudrasena, Somesvara III (the author of Mansollasa), Locanakavi (Rajatarangani). Paramardi, Devendra (Sangitmuktavali), Somesvaradeva (Sangitaratnavali), Saradatanaya (Bhavaprakasa), Nanyabhupala (Sarasvatihrdayalankara).

In this limited time and space it is not possible to dilate upon the massive treatment of this fascinating science with special reference to the classification of Rāgas—Śuddha, Bhinna and Sādhārana etc. and their Jātis, Nomenclature. However, a note may be struck that King Someśvara's, Mānsollasa, is a store house for some rare information in regard to Non-aryan influence vide Velavulli melody mentioned in it. Hence in the development of Indian Music, the two distinct styles, Northern and Southern styles cannot be under-estimated. Prabandhas or Musical compositions are also a notable development in the technique of the Indian Music.

As regards musical instruments, it is equally a formidable subject. The references go to the earliest times, even to pre-Vedic or pre-Aryan age. The varied instruments found in Mohenjodaro and Harappa excavations include a seven-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

keyed flute which denotes seven note-places, and a stringed musical instrument resembling the Viṇā. Viṇā and Mṛidaṅga were current in Vedic times and the types of the Viṇā as referred in later literature are as many as fifteen to eighteen. Duṅdubhi and Bhūmi are also referred in Samhitās. The Nāradīya-Sikṣā mentions both the Viṇā and the Veṇu connecting former with Vedic music and the latter with Gandharva or popular music. The Viṣṇudharmottara devotes one full chapter on musical instruments entitled 'Ātodya-vidhi' and here the four types of traditional musical instruments, Ghana, i. e. metallic instruments and Avanaddha, i. e. stretched instruments like drum.

Someśvara's Mānsollasa also incorporates further deveopments in this art along with so many varieties and sub-varieties of the principal classes of musical instrument. Kinnarī Veeṇā may be said to represent Kinnaragāna and Yaksagāna still prevalent in South India.

Characterstics of the Technical Science and Fine Arts in India :

After this brief enunication of the Foundation of Technical Sciences and Fine Arts let me now proceed with the character and characterstics of this technical heritage. The most important characterstics of our technical sciences especially the Hindu Science of Architecture are : Philosophical back-ground particularly the Philosophy of Vāstu-Brahma, the Aesthetic ideals and symbolism. Among these I may leave the first on which I am dwelling at length in my volume entitled Śilpaśāstra 'Philosophy of Vāstu-Brahma' and its impact on Temple Architecture.

Aesthetic Ideal of our Fine Arts : Art in India is Iconography. The Viṣṇu-Dharmottara has remarkable contribution on this score and Raja Bhoja in his celebrated treatise, the Samarāṅ gaṇasūtradhāra, has simply cannonised this aspect of Indian Art, which distinguishes it from the Greek Art and provides a Philosophy for Art which is its genesis and genious.

Iconography is both a Science and Art. For an artistic perfection of an image, it has to be accomplished in such a way as to arouse in us the aesthetic experience akin to one as we get from poetry and music. According to the Indian aestheticians, the main purpose of a poetical composition is to arouse pleasure, the 'Āsvāda' what is called 'Rasāsvāda'. And this Rasāsvāda is extolled as 'Brahmānanda-Sahodara'. It is from this fundamental stand point of Indian aestheticism that we do not have tragedies in our dramatic literature. The Indian view or more appropriately the Hindu view of life is one of unbounden faith in eternity, a profound sense of optimism and a sublime outlook of life, coloured by the pneumal existence and heavenly bliss, both Svarga and Apavarga. Naturally, therefore, all arts, be it poetry or music, painting or dance, are to be viewed from this lofty idealism of aestheticism.

In nearly all the phases of Indian art, the Rasa (or impassioned feeling) has played a very prominent role. The Indian belief is that the Supreme Being is Rasa-svarupa (cf. the Indian theory of Rasa-Brahmavada (रसो वै सः) Again image-worship for which icons used to be made of the manifold materials with manifold symbols to be worthy of desired end has to be done in a manner of accomplished art. In dance and drama there is an identification of the spectator with the Naṭa, the actor. A similar identification is essential between the worshipper and the worshipped. This is possible only through the arousing of rasa, the aestheticism, in art. The sculptural monuments in our possession do corroborate this dictum and there we find a number of different 'Rasas' which the artists endeavoured to chisel upon in the dry stones and metals.

Thus aesthticism in art becomes instrumental in producing the भावव्यक्ति and this भावव्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

is dependent on the rasas or rasadrstis cf. the following lines of the Samarangana :—

रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीनामिह लक्षणम् ।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते ॥

Here Citra can stand both for the pictorial images as well as the sculptural ones. Hence according to the Samarāñgana it is the supreme achievement of the image-maker or the sculptor to see to this side of aestheticism in art, the 'bhāva-vyakti'. This aesthetic ideal is really one of the major contributions of Indian Canons of Art as prpounded in the texts like Viṣṇudharmottara and the Samarāñgaṇasūtradhāra, to give a distinct and unique character of Fine Arts in India. The oft-quoted aphorism ब्रह्मानन्द सहोदरो रसः is not without significance and high meaning. It aims at annobling life. Even birds and beasts, the socalled brutes, when characterized with these different sentiments in accordance with the different situations if can go higher up, men and women imbuded with them simply become divine. Further more this aesthetic element in Indian Art pre-supposes the ideal of 'Beautiful' in its real perspective. The beautiful is not only to be viewed in anatomical perspective, but also in the inner manifestation, the sole criterion of the beautiful, the 'Sundara' from the Hindu view of life. Beautiful internally, in its turn, presupposes the truthful the 'Satya' both internally and externally and the art which is both Satya and Sundara, that alone becomes the Beneficient, the 'Śiva' the supreme ideal of life. It is this 'God' of the humanity at large that the Indian seers have always aimed at. Any creation, unless it is condusive to the well being of life, unless inspiring to annobling it and unless high enough for creative urge, is not worth the ideal. It is from this fundamental angle that aestheticism in iconographical art is to be viewed and purviewed.

The following lines from the Samarāñgana Sūtradhara will suffice to illustrate this theme :

हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन् ।
सजीव इव दृश्येत सर्वाभिनयदर्शनात् ॥
आंगिके चैव चित्रे च इदं साधनमुच्यते ।
.....तस्मादनयोश्चित्रमात्रितम् ॥

विना तु नृत्यशास्त्रेण etc. the Visnudharmottara lines especially 'त एव चित्रे विज्ञेया नृतं चित्रं परं मतम्' etc. also propound the same truth.

The Samarāñgana Sūtradhāra recognises as many as eleven Rasas adding Prema etc. and Eighteen Rasadrstis, Lalitā, Hṛṣṭā Vikasitā etc.

The important points in relation to the aesthetics in the pictorial art still need to be expounded. Firstly all these rasas, though characterstics of only human beings, men, women and children and in their likeness the anthropomorphic forms of the gods and demi-gods and demons, they have an application to all sentiment creations 'मानुषानि पुरस्कृत्य सर्वसत्वेषु योजयेत्।' This statement goes to the very core of the art and shows that if birds and animals in paints could be shown manifesting the sentiments, it is really the master-piece, the supreme achievement of the artist. It becomes a new creation, a superior creation to that of Brahma, the Primordial Creator Himself. If it is through the symbolism of Mudrās, hand poses, bodily poses and the postures of the leges that the mute gods speak to us giving vent to the sublimest of thoughts and noblest of expressions, these so-called brutes can also become our co-shares in the aesthetic experience. It is neither extraordinary nor supernatural about it. It is the marvel of the art. If poetry can create an idealistic world, full of beauty and bliss, the painting, her sister must also follow the suit.

Thus a perusal of the sections on painting in the Viṣṇudharmottara and Bhoja's Samarāñgana Sūtradhāra will show how Citra is based on the canons of Nāṭya. For them Citra is only one scene of Nāṭya and Nāṭya a succession of Citras. The Viṣṇudharmottara says that Citra is

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

as much the art of immitation (anukaraṇa) as Natya. The poses, the hands of dance called Nṛtyahastas and the Rasadṛṣṭis—these are studied elaboratly in Nātya and this study is absolutely necessary for, and is fully utilized in painting.

What the hand-poses have implicity expressed (cf. manifold hand poses, like Varada Vyākhyāna Jñaña, Yoga etc. Mudras and 64 Hast postures), the rasas and the rasa-dṛṣṭis make that explicit. Thus the images are bestowed life movement through the symbolism of gesticulation, the very essence of dramatics both put together (Sarvābhinayadarśanāt). Therefore, this delineation of the rasas and rasa-dṛṣṭis and their representation thereof, constitute the fundamental background both in Āṅgika (Drama) and the Citra (Painting) arts. The Science of Painting is dependent on the Science of Aesthetics (Dramatics included).

Symbolism in Indian Art : Symbolism in art is a very very profound and massive subject and it is impossible for me to do any justice here owing to the paucity of the time. However, in this regard I have a thesis to propound that Mudrās should be taken in a wider sense to denote the whole kingdom of symbolism associated with the images of divinities.

So far we have been treating Mudras in a traditionally accepted sense, this view of the previous writers, however, is not correct. Mudrās, the symbols should not be taken only in their subjective, i. e. mental and spiritual attitude manifesting themselves in the bodily poses, they should also be extended in an objective manner, otherwise, the implications of the lakṣaṇas and lāñchanas in Brahmanic images have no meaning. There is a multitude of terms which denote the costume ornaments and headgear in which images are represented together with the objects which images of gods are shown to bear in their hands, such as weapons, implements, musical instruments, animals, birds etc.

I have maintained the thesis that Mudras should not be taken only to denote the poses of hands, body and legs and feet alone, but they are also the symbolic representation of the characterstic emblems of the divinities. In this sense all the symbols characterstic of a particular deity can stand for Mudras. Mudras the poses of hands, etc. as current in literature are more intimately connected with Buddhist images. The Brahmanic images being full of their characterstic emblems like dresses, ornaments, seats and conveyance have not shown so many intricacies of the Mudras as they are generally understood by the Indian artists.

It may, however, be again remarked that in orthodox Hindu Literature, the Mudras are symbolic manifestations and reproductions of the characterstic emblems of the divinities and not generally speaking, the peculiar positions of hands, fingers or feet and body as those of Buddhist and Jain figures. The reason why these so called Mudras are less important in Orthodox Hindu art, may be explained by the presence of their substitutes in great number of weapons and attributes held by Brahmanic deities and these too are Mudras. This contention is borne out by the following quotation.

एकोनविंशतिर्मुद्राः विष्णोरुक्ता मनीषिभिः ।
शंखचक्रगदापद्म·····वेणुश्रीवत्सकौस्तुभः ।।
·····शिवस्य दशमुद्रिकाः ।
लिंगयोनित्रिशूलाख्या मालेष्टाभीमृगाह्वयाः ।।
सूर्यस्यैकैव पद्माख्या सप्तमुद्रा गणेशितुः ।
लक्ष्मीमुद्राचने लक्ष्म्या वाग्वादिन्याश्च पूजने ।।
अक्षमाला तथा वीणा व्याख्या-पुस्तक-मुद्रिकाः
सप्रजिह्वाह्वया मुद्रा विज्ञेया वह्नि पूजने ।

Thus nineteen mudras are known to be of Viṣṇu, some of them being Śaṅkha, Cakra, Gadā, Padma, Śrīvatsa, Kaustubha, Vanamālā etc. Śiva has ten mudras sacred to him i.e. the lingam or the phyllic symbol, the trident, the rosary damaru etc. Sūrya or the sun has only one mudra namely the lotus, Ganesa has seven mudras some of which are the tusk, the goad, the axe, the rice-ball etc. The mudras for Saraswati are

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

are the lute, the book and the rosary. Similarly the mudras of Agni is seven flames.

The symbols of mudras in the broad sense of the term which have been introduced by me for the first time in contemporary studies on Indian Art, are really accessories to the main figure, the conductors, as it were, between the image and the idea. Thus the observation of the elephant in the image of Indra, brings back the whole idea of Royality of which an elephant used to be fundamental emblem. The bull, in India, is a symbol of Dharma and was thus used as the Vehicle of Śiva, the Great Yogi. Symbolism in India is the key-note of its culture and philosophy.

Contribution that Our Technical heritage can make in present day National Reconstruction.

With this brief account of the characrter and content of the Technical science and Fine Arts in ancient India, let me come to my fundamental proposition viz, their place in the present day National Reconstruction.

Sanskrit Language Literature and Civilization was the real bed rock, on which our National Integration was founded. Study of Sanskrit in the past was not confined to a department, as we do today. Sanskrit in the past was a full fledged faculty where different branches of learning including Medicine, Town-planning, Arts, Astronomy, Military Science, Polity, strategy of war and State craft consituted a modest curriculum. The ancient Universities like Nalanda, Taksasila, Vikramasila were all noted for this fundamental organisation of Sanskrit learning in the past. Because we have relegated the study of Sanskrit just as classical languages we are unable to do anything in the reconstruction of the modern India. Modern India needs planning which may bring about national integration based on cultural heritage and its revival. We always see to the West and imitate their pattern. There is a rich literature in Sanskrit on all these branches, study and researches on which can certainly unfold fascinating ideas and practical working in all these sphperes. Let me just take only one branch which is my specialised field, i.e. Ancient Hindu Canon of Architecture including civil engineering, the erudite and scientific treatises like the Mānasāra, Mayamata Śilparatna, Samarāṅganasūtradhāra, Aparājitapṛcchā etc. etc. and the most sublime and remarkable archaeological remains in the realm of town-planning and architecture, we still think that all this is worthy of incorporation.

The Indus valley civilisation and Harappa culture were beginnings in the advanced technique of town-planning. The Vedic village was an ideal habitation. The later onslaughts are a living history of our art and architecture. Who contributed all this ? It is the Sthapatis (the ancient architects and their guildes) and the Sthāpakas the presiding Ācharyas together with the patrons of the art and architecture, the ruling dynasties, Guptas, Pratiharas, Chandellas, Kesaris, Chalukyas, Pallavas, Rastrakutas, Pandyas, Nayakas etc. etc. who could devotedly and dedicatedly surrender all their wealth in the establishments of huge Cathedral temples, the greatest and the largest of the Prasadas, the Hindu temples throughout the length and breadth of this vast sub-continent, the north and the south, the east and the west and the Daccan. Some of the temples like Lingaraja[1] at Bhuvaneśvara, Sun Temple at Konark Kandariya Mahadeva at Khajuraho, Minaksi-Sundaresvara at Madura, Siva Temples at Tanjore and Rameśvaram and a host of them at such famous sites as Mamallapuram, Kanchipuram, Chiddambaram, Aiohole, Badami, Pattadakal in the South and Udaipur, Modhera, Mount Abu in the north are a testimony of this great artistic upsurge. This could not have been possible if we did not have a systematised body of knowledge of art and architecture and the learned, trained devoted architects. I admit that we are not going to revive our architectural policy of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Temple-building in the modern age, we cannot afford to lavishly spend our national wealth on the construction of temples. We need to found new town-ship, replacing the existing town and build residential houses, construct factories, laboratories, plan out secretariats, offices, embassies, bridges, dams and the like. This is our need. These are our national requirements. Are we not competent to re-orientiate our architectural policy on the fundamentals of ancient Indian canons of architecture. If we could do this, we can certainly have our nationality, otherwise, we merge in this great ocean of imitation. We need influence and not merging. This can be done by the study of technical literature in Sanskrit, the erudite and scientific treatises on art and architecture. A western engineer or architect is familiar with the treatise of Virtuvius but our Indian architects are quite ignoratnt of even names of Manasara, Mayamata, Samarangana and Visvakarma. We have founded so many colleges of architecture. Is there any place for these treatises in the curriculam ? Let me briefly cite some striking contributions. *Sthapati and Sthāpatya* the role of an architect. In our tradition Sthāpatya is four fold from the stand point of a Sthapati, i.e. his equipment and it is eight fold from the stand point of his art. According to the Samarāṅganasūtradhara an architect must possess the four fold equipment of Śāstra (knowledge of the Science and its allies like Mathematics and Astronomy etc.) Karma; the skill in art craftmanship; Prajñā, the initiative and the genius of mind and intellect which must help him at the time of the operation because sometimes new situations demand immediate handling of the operations and Śīla, the character above reproach. This last qualification is very important in the present day national reconstruction. The following quotation will be very interesting to help us realise the importance of Sanskrit lore even in the education of modern Engineers and Architects :

यस्तु शास्त्रमविज्ञाय प्रयोक्ता स्थपतिभवेत् ।
हन्तव्यः स स्वयं राज्ञा मृत्युवद् राजहिंसकः ॥
यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुह्यति क्रियाकाले दृष्ट्वा भीरुरिवाहवम् ॥
केवलं कर्म यो वेत्ति शास्त्रार्थं नाधिगच्छति ।
सोऽचक्षुरिव नीयेत विवशो न्येन वर्त्मसु ॥
शास्त्रकर्मसमर्थोऽपि स्थपतिः प्रज्ञया विना ।
फलेयु कर्मभिरन्याभिः(?)ख्यान्निर्मद इव द्विपः ॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्यः स्याद् वाहकः स्थपतिस्तथा ।
कर्मकाले न मुह्येत स प्रज्ञानेनोपबृंहितः ॥
अप्रज्ञेयं दुरालोकं गूढार्थं बहुविस्तरम् ।
प्रज्ञपोतं समारुह्य प्राज्ञो वास्तुनिधि तरेत् ॥
ज्ञानावांश्च तथा वाग्मी कर्मस्वपि च निष्ठितः ।
एवं युक्तोऽपि न श्रेयान् यदि शीलविवर्जितः ॥
रोषाद् द्वेषात् तथा लोभान्मोहाद् रागात् तथैव च ।
अनन्यचिन्त्यतत्वमायाति दुःशीलानामविक्षयात् (?)॥
शीलवान् सर्वकर्मार्हः शीलवान् प्रियदर्शनः ।
शीलाधाने परं यत्नमाधिष्ठेत् स्थपितः सदा ॥
ततः कर्माणि सिध्यन्ति जनयन्ति शुभानि च ।

This is the Caturdhā Sthāpatya. As regards Aṣṭāṅga Sthāpatya, the following quotations from the Samarāṅganasūtradhāra, the most representative and standard medieval manual on Architecture will give you a peep into our most systematised science of architeture :

प्रोक्तं चतुर्धा स्थापत्यं वास्तुतत्वस्य सिद्धये ।
डूमस्तदेव वेदानीमंगैः संयुक्तमष्टाभिः ॥
तेष्वंगः प्रथमं प्रोक्तं वास्तुपुंसो-विकल्पना ।
पुरस्य विनिवेशस्तु द्वितीयं द्वारकर्म च ॥
रथ्याविभागः प्राकारनिवेशोऽट्टालकस्य च ।
विनिवेशः प्रतोलीनां विभागास्थानकानि च ॥
प्रासादश्च तृतीयं स्याच्चतुर्थं च ध्वजोच्छ्रितिः ।
पंचमं नृपतेर्वेश्म स्थानान्तरविभक्ति च ॥
चातुर्वर्ण्यविभागश्च गृहभागश्च षष्ठकम् ।
सप्तमं यजमानस्य शालायां मानमीरितम् ॥
यज्ञवेदीप्रमाणं च कोटिहोमविधिस्तथा ।
अष्टमं राजशिविरनिवेशो दुर्गकर्म च ॥
यो वेत्यंगान्यमून्यष्टौ सोऽत्र स्थपतिसत्तमः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यशो मानं स लभते पूज्यते न नराधिपैः ॥
अशास्त्रज्ञमकर्मज्ञं स्थपतिं यः प्रयोजयेत् ।
न तस्य वास्तु सिद्धयेत सिद्धमप्यसुखावहम् ॥
तस्मात् कर्म च शास्त्रं च यो वेत्ति द्वितयं नरः ।
अष्टांगमपि यो वेत्ति स राज्ञः स्थपतिर्भवेत् ॥

Genesis and Genius of a residential house : Our Purāṇas and Āgamas proclaim शिलास्तम्भ शिलाकुड्यं नरावासे न योजयेत्' what is its implication ? Our climate is hot for the major part of the year. Can we afford to live in a hot house ? Shall this heat not terribly tell upon our health, Longivity and stature ? Were our fore-fathers fools or half-civilized to live in thatched houses or Śāla-Houses (a wooden-cum-mud structure) to ward off the heat of the sun ? While they could build soaring edifices for gods and goddesses, they preferred the mud houses for their own. Samarāṅgana's main contribution is the Civil Architecture which is accompanied with a scientific code of residential house. The very title denotes and connotes its character, i. e. architect of human dwellings, and gives its major contribution in the art of Town-planning and residential houses.

Code of masonary, the building Bye-laws and House-Plans : All these fully perfected in this standard compendium on art and architecture. The twenty good qualities of masonary विंशतिश्चयगुणाः and the procedure in laying the bricks चयविधिः with the aid of the eightfold measure of sutrāṣṭakam are our eye-opener in the advanced technique of civil architecture in ancient India. Other details have been studied and brought out in my work Vastusastra Vol. I—Hindu Science of Architecture with esp. ref. to Bhoja's Samarangana Sutradhara.

Fundamental Canons : This Subject demands that we should know something of the fundamental postulates on which the great edifice of this science stands. These fundamental postulates or canons, I may term as pillars. We know that the central post was the prime regulator of house-construction in India. It was as fundamental as the trunk of a tree. Tree-model was the primordial model of a house-plan (cf. the story of the birth of human home—the Śāla-house as related in Purāṇas and the S.S.) and the abundant application of pillars was one of the chief features of an Indian building whether a residential house or a palace, or a Sabha or a temple or a temple-pavilion. Naturally we cannot say which pillars are more basic than others But if you ponder over the problem and visualise the basic importance of the structure you must come to the conclusion that as many as five pillars carry cardinal worth. These are four Cardinal and one central posts. Similarly sustaining the analogy to my mind there are the following five fundamental pillars of the stable edifice of our Science and we can call them the fundamental canons :

1. Diṅnirṇaya, Doctrine of Orientation. 2. Vāstu-pada-Vinyāsa the Site-planning. 3. Māna (Hasta-lakṣaṇa), the proportionate measurements of a structure. 4. Āyādi-sadvarga, the six Canons of Hindu Architecture 5. Paṭākādi-ṣaṭ-Chandas, the character of the building (its aspects and prospects etc.). I cannot elaborate all these here due to the paucity of time.

Vāstupada-Vinyāsas is a strereotyped institution in India. It has been in practice since the Vedic times. Now it is no more than a ritual. We do call a priest and an astrologer when we start a building but do we understand the scientific and technical implications of this fundamental canon as adumberate above like Diṅnirṇaya or Prācīsādhana ? Vāstupada-Vinyāsas a most scientific device in determining the site of a building or a town, has now been relegated to a paper device of just a ritual. Vāstupadas-Vinyāsa is a site-plan in the language of the modern architecture. The allotment of the padas to the deities was a very far sighted working of the minds of our ancient Acharyas. The Vāstupada-Vinyāsa is a technical device in a chart. Among

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

the host of the deities occupying the different padas or plots of the diagram, three are very important. The Central square is always reserved for Brahma. He is the central lord the creator lord. The north-east corner of the chart starts with Īśāna which corresponds to the *ultravoilet segment* of the solar spectrum and it has a variety of attributes which need to be studied properly. Similarly the south-east corner of the chart represents Agni. It coresponds to the *infra-red segment* of the solar spectrum. If properly and scientifically studied this device would be a revelation to the modern scientific world. We must pay a tribute to the genius of the ancient thinkers who, without any modern appliances, could study the properties of the Sun. All these deities really stand for the rays of the sun to be regulated in such a scientific manner as to ensure eastern frontage. This is the sum and substance of the Doctrine of Orientation, the most important canon of our Civil Architecture.

Professor,
Head of the Department of Sanskrit
Punjab University,
Chandigarh-14.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Problem of Two Besnagar Garuda Pillar Inscriptions

By B. C. Sinha

The successor of vasumitra is called Bhadraka in the Bhagavata Purana, Ardraka in the Vayu and Antaka in the Matsya Purana.[1] Dr. K.P. Jayaswal identified him with Udaka, a name occuring in Pabhosa inscription No. 904.

He has given good reason for supposing that the original form, from which all these varieties are derived was Odraka.[2] But we must recognise that an error has crept into the text of the Puranas, which as they stand assign either two or seven years to this king.[3] The Pabhosa epigraph has been translated thus : "By Asadhsena, the Son of Gopali Vaihidari and maternal uncle of king Bahasatimitra, Son of Gopali, a cave was caused to be made in the tenth year of Udaka for the use of the Kassapia Arhats." We learn from another Pabhosa inscription that Asadhasena belonged to the royal family of Ahichhatra, the capital of North Panchala.— Dr. Jayaswal held that Odraka was the paramount Sunga sovereign, while the family of Asadhsena was feudatory to the Sungas. The identification of Odraka with Udaka has no solid basis. Is it not possible that this Udaka might have been a ruler of Ahichhatra and Asadhasena was his near relative ? Pabhosa inscription only says that Asadhasena belonged to the royal family of Ahichhatra. Dr. Barua[4] points out that in the absence of the word rajno preceding Udaka, it is difficult to say at once whether Udaka is the personal name of a king, or the local name of a place, where the cave was excavated.

Sir John Marshall[5] on the other hand identified the so called fifth Sunga king with Kasiputra Bhagabhadra mentioned in a Garuda Pillar inscription found in the old city of Vidisa. Dr. Jayaswal identified Bhagabhadra with the ninth Sunga king Bhagavata of the Puranas. But this theory has to be given up in view of the discovery of another Besnagar Garuda Pillar inscription of the 12th year after the installation of Maharaja Bhagavata. It proves that there was at Vidisa, a king named Bhagavata apart from Kasiputra Bhagabhadra. In the absence of clear evidence connecting "Udaka" with Vidisa, it cannot be confidently assented that he belonged to the house of Agnimitra and Bhagavata.[6] In fact the so called fifth, sixth and seventh Sunga monarchs were Andhra rulers. The fourth Sunga king Vasumitra took up the life of ease and pleasure. The result was that the Sunga empire began to disintegrate. Bana tells us that he was killed by some Muladeva while enjoying a concert. Taking advantage of the murder of Vasumitra Andhras occupied the throne at Pataliputra. Andhraka, Pulindaka and Ghosha these three appear to be extraneous to the Sunga dynasty as their inclusion creates a chronological anomaly. The Puranas assign a total duration of 112 years to the Sunga dynasty. But if we add up the period of these three kings, the total comes to 120 years. By excluding their period of 8 years we arrive at the true figure of 112 years.

At the time of Andhra occupation of Pataliputra Bhagabhdra the local viceroy of Vidisa maintained his position against the Andhras. He might have been a close relation of the Sungas. We further assume that he was appointed viceroy of Vidisa, during the reign of Vasumitra Vasumitra was ruling at Pataliputra and after

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Indian Sensibility in T.S. Eliot's Poetry

Amar Nath Dwivedi

With the introduction of Kalidasa's Shakuntalam to the West by Sir William Jones in 1789, an atmosphere was created in which the East and the West began to accommodate each other. The age-old concept 'East is East and West is West, And never the twain shall meet' became out-dated and out-fashioned. Immense possibilities of collaboration and mutual adjustment in different spheres of life and letters were in sight. As a natural result, many European and American scholars turned to a study of the vast, fathomless literary heritage of India. Breaking upon the Georgian literary scene, T.S. Eliot presented the credentials of a wide-ranging poetic sensibility by incorporating into his poetry not only the 'best' of European culture and literature but also of Indian thought and tradition.

As a serious scholar of philosophy at Harvard, T.S. Eliot applied himself to the study of Sanskrit and Pali for two years. In this matter he was helped and guided by Charles R. Lanman. Going through Eliot's poetry one may mark his irresistible fascination for the profound wisdom of ancient India. His was a troubled time and peace was then but 'a wandering fire'. The ideals of the Hindu Scriptures could restore 'calm of mind' in the otherwise 'burning' world,—Eliot was quite sure of it. In his poetry, therefore, references exist to show that he had some knowledge of the *Vedas*, the *Upanishads*, the *Bhagavadgita* and Patanjali's *Yoga Sutras*. He was well-versed in Buddhistic lore and literature too. The use of 'Shantih shantih shantih' by Eliot in *The Waste Land* is both Vedic in origin and Upanishadic in content. In the same poem the poet has drawn upon the *Brihadaranyaka-Upanishad* (5,1) in the three-fold message of the Thunder.[1] The *Gita*, which is mostly held as the 'New Testament' for the Hindus, was so dear to him that he calls it "the next philosophical poem to the *Divine Comedy* within my experience."[2] Under the supervision of Mr. J.H. Woods, Eliot learnt Patanjali's metaphysics which left him "in a state of enlightened mustification"[3] Buddhism also left its indelible marks upon the poet Eliot; this is to be gathered from *The Waste Land* and *Four Quartets*.

Like Somerset Maugham, Eliot also believed in; "The East has more to teach the West than the West conceives."[4] He has made overt references to the Hindu philosophy and ethics in *The Waste Land*, the *Quartets* and *To the Indians Who Died in Africa* in poetry and in *The Cocktail Party* in drama. But even elsewhere the Indian traces are not wholly wanting. It appears from the bulk of Eliot's poetry that he was ever haunted by the vision of nightmarish dilemma, the acutest of modern maladies, the escape from which was possible only through the sagacious sayings and broodings of the Hindu sages embodied in our Scriptures. Right from *The Love Song of J. Alfred Prufrock* to the *Quartets*, and on to the poetic plays, Eliot has tried his best to underline the spiritual discipline and rigorous asceticism, so conspicuous a feature of our rich tradition.

The Waste Land (1922) brought recognition to the poet. It is here that he comes out as a "universal poet".[5] With no fewer than six languages employed in the poem, the Indian touches are so obvious in it. In Part III, 'The Fire Sermon', the collocation of the two great representatives of eastern and western asceticism (i.e. Lord Buddha and St. Augustine) is "not an

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

accident."[6] Eliot likens the Buddha's Fire Sermon to the Sermon on the Mount. From Mr. Henry Clarke Warren's translation[7] the poet picked up the following :

"To Carthage then I came
Burning burning burning burning
O Lord Thou pluckest me out
O Lord Thou pluckest
burning."[8]

(11.308-311).

The next Part, 'Death by Water', is as significant as the futile, fruitless quest of Tiresias, who in person represents the entire humanity, in Part V. Equally significant is the quester's approach to the Chapel Perilous, the decay of which denotes the 'present decay of eastern Europe.' At this juncture, the poet refers to the Ganga and the Himavant. Then the message of the Thunder is delivered thrice: 'Da Da Da'. It is an important thing in itself that the poet looks at India to break through the barrenness of his own land. Who can dare deny the deliberate inclusion of the Hindu Scriptures by the poet, particularly at this point? 'Datta', 'Dayadhvani' 'Damyata' (i.e. Give, Sympathise, Control) are the words directly drawn from the *Upanishad*. The poet takes a further recourse to the sacred wisdom of of India at the close of the poem :

Datta. Dayadhvam. Damyata.
Shantih shantih shantih

(11. 433-434).

While the first line is the repetition of the Thunder and has been cited here for emphasis-sake, the second one is a new introduction altogether. According to the poet, this is 'a formal ending to an Upanishad.' But, to my thinking, this is of an earlier date in origin and occurs in the *Yajurveda*. Nobody will, however, deny that this is a part of the *Upanishads* too.

The *Quartets* (1943) is a series of four poems that appeared from time-to-time. These poems are named after different proper places. The most explicit note of Hinduism strikes us in *The Dry Salvages* (1941). In the second movement of the poem occurs "Time the destroyer is time the preserver", which verily recounts the Hindu concept of time in relation to timelessness.[9] It is a clear-cut clue to Shiva and Vishnu of the Hindu Trinity. Herein lies an exposition of the idea contained in the beginning of *Burnt Norton* where the continued flow of time has been highlighted :

"Time present and time past
Are both perhaps present in time future,
And time future contained in time past.
If all time is eternally present
All time is unredeemable".

(*Burni Norton*, 11.1-5).

In the third movement of *The Dry Salvages*, the teachings of Lord Krishna directed to enlighten Arjuna and to bring him out of the feelings of meum have been introduced. On the battlefield Krishna tells Arjuna "I am the Time Spirit"[10] and exhorts him further :

"You shall not think 'the past is finished'
Or 'the future is before us',"

(11.144—145)

and again :

".....', consider the future
And the past with an equal mind."

(11.153—155)

All time is centred in the Lord; the entire universe is His creation. Time which is Death finally merges into timelessness which is Immortality. So none should be afraid of time or death, and should perform one's duty unrufflledly.

The following extract from *The Dry Salvages* is identical with the sixth stanza of Chapter VIII in the *Gita* :

".....'on whatever sphere of being
The mind of a man may be intent
At the time of death'."

(11.156—158)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Towards the close of the movement, the poet takes up the theme of Karma ('action'). The *Gita* stresses throughout the importance of Karmayoga, which is the performance of one's duty with a sense of devotion and detachment. The 'selfless action', according to the *Gita*, is the highest and easiest kind of Yoga :

"And do not think of the fruit of action".[11]

The desire of getting 'the fruit of action' binds the soul ('jiva') to the body, whereas the duty done in perfect detachment liberates it for good. And the end of Yoga is liberation from the human bondage :

"The inner freedom from the practical desire,
The release from action and suffering, release from the inner
And the outer compulsion,"
(*Burnt Norton*, II,11.70—72)

This is the sum and substance of Lord Krishna's admonition to Arjuna when he says :

"Not fare well,
But fare forward, voyagers".
(11.168—169)

The beautiful phrase in *The New Testament*—'carelessness for the morrow'—has the self-same idea. Its echo may be heard even in *The Rock* (1934) :

"I say to you : Make perfect your will
I say : take no thought of the harvest,
But only of proper sowing."
(Chorus I).

Eliot's remote poem, *To the Indians Who Died in Africa*, is a reversion to the same theme. In it he referred pointedly to the Hindu doctrine of Karma :

"Let those who go home tell the same story of you :
Of action with a common purpose, action
None the less fruitful if neither you nor I
Know, until the judgment after death,
What is the fruit of action."[12]

Despite the adverse opinion of western critics like Miss Helen Gardner regarding the introduction of the 'great' Hindu Scriptures in the third movement of *The Dry Salvages*, the truth remains that neither the poet has made a new 'introduction' here, nor is it out of 'consonance with the poem's theme of annuntiations', nor does it destroy 'the imaginative harmony of the poem', as she puts it.

The world has become a single unit today; the distinction of East and West has been outgrown. There are "obvious points of contact between Eastern and Western thought."[13] People of different nations, tongues, and cultures have come closer than ever before. None should, therefore, get alarmed at the statement that T.S. Eliot, who lived, walked and talked among us, has at times justifiably drawn upon the Hindu Scriptures to soothe the restless soul of the seething time. The poet himself has confessed that his poetry "shows the influence of Indian thought and sensibility."[14]

REFERENCES

1. T.S. Eliot, *The Waste Land*, Part V, 11. 402—422.
2. T.S. Eliot, 'Dante', *Selected Essays* p. 258.
3. T.S. Eliot, *After Strange Gods*, p. 40.
4. S. Maugham, *The Razor's Edge*, ch. 6.
5. Octavio Paz, *T.S. Eliot: Papers and Proceedings of a Seminar*, p. 2.
6. T.S. Eliot, *Notes on 'The Waste Land'*, line 309.
7. H.C. Warren, *Buddhism in Translation*, Harvard Oriental Series, Vol. III, first published in 1896.
8. Cf. the text of 'The Fire Sermon' in Mr. Warren's work (Student's ed., 1953), pp. 351—353.
9. Vide the *Bhagavadgita*, VII, 26; IX, 7 ; X,20; X, 33.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. Ibid., XI, 32.
11. Cf. the *Bhagavadgita*, II, 47—51; although elsewhere too the theme of Karma recurs therein every now and then.
12. *Queen Mary's Book for India* (1943), p. 61
13. K. Smidt., *Poetry and Belief in the Work of T.S. Eliot*, p. 182.
14. T.S. Eliot, *Notes towards the Definition of Culture* (1948), p. 113.

Amar Nath Dwivedi,
Department of English,
Gurukul Kangri University,
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Christopher Fry's Language and Verse

Dr. R. L. Varshney

Fry occupies a place next only to that of Eliot. And like Eliot's Fry's achievement as a poet dramatist has been the subject of a critical controversy. Most of the critics have attested to the opposite extremes of partiality and prejudice. We have been informed that his language is almost that of Shakespeare or that of a merchant of ginger beer. To the one he appears to be "a panoplied bard"; to the other a sort of "effervescent coster." Those who hold an adverse opinion of his language and verse have drawn a very dismal picture of Fry. Stephen Spender makes a parody of Fry's manner :

> Rhythmically, it is extremely easy to write.
> You just go on making loose pentametres.
> Which, as everyone knows, is easier than writing prose.
> Then occasionally you introduce a gleaming line
> Eloquent as light around the horizon
> Of hills which are a background for your puns,
> And an occasional internal rhyme.[1]

Denis Donoghue in his essay, "Christopher Fry's Theatre of Words"[2] accuses Fry of "verbal flippancy," of a "self-regarding" style. He writes : To think of other writers in association with Mr. Fry is to realise that his peculiar weakness, even in "The Dark is Light Enough", is that he writes as if the lessons of Stendhal, Flaubert, Henry James, Eliot and Ford had eluded him; as if nothing of significance had happened in European literature between Southey and J.C. Squire. Mr. Fry's language has a soft centre, even where Flaubertian bone is urgently required. Its typical effect is not to concentrate feeling and thinking into the word, but to diffuse these activities over a broad verbal area. Indeed, there are few writers and fewer dramatists who yield so readily to the lyric moment. Where ideas are involved, Mr. Fry uses them to make verbal show-cases, rather than, like Shaw, to start dialectical battles. Frequently, Mr. Fry's language seems perversely designed to smooth away any conflict inherent in the situation. The picture of Fry which emerges from the press cuttings is that of "a man reeling intoxicated with words; they flow in a golden —or perhaps pinchbeck—stream from his mouth : they start out at his ears; they burst like rockets and jumping crackers and catherine-wheels round his head; they spring in wanton sport at his feet and trip him; but trip him or not, he loves them : let them all come, go where they may; let them strangle sense, flood the stage, break the dams of form : facility shall have its day. His typewriter continues to chatter long after it has been put back in its case. Words will grow out of him, like finger-nails, some time after his death."[3]

Thus the main charges against Fry's language are flippancy and verbosity, lack of distinction

1 The Spectator, CL XXXIV (March 31-April, 1950), p.364. Also see Stephen Spender, "Christopher Fry", Discussion (March 31, April 17, 1950), pp 37-49.

2. See Essays in Criticism, IX (Jan. 1959), pp 37-49.

3. Fry, An Experience of Critics (Oxford : New York, 1953), p. 23. Cue title An Experience.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

between the language of one character and the other, lack of suitable action to match words, lengthy sentences and a surfeit of similies and metaphors. Some critics are of the opinion that his plays are merely a treasury of beautiful words, and that his verse is a mere paper decoration and sheer bombast. Their judgement has a resemblance to that of Justice Tappercoom in *The Lady's not for Burning* :

> The whole thing's a lot of amphigourious
> Stultiloquential fiddle-faddle.[4]

But the defence by the Chaplain is equally appropriate :

> . . . . And what may seem nonsensical
> To men of affairs like yourselves might not seem so
> To me, since everything astonishes me
> Myself most of all.....[5]

Fry himself has answered some of these charges. He states :

> So many words, for instance. We know this criticism doesn't precisely mean what it says. There are the same number of words as in any other play; you have only to count them. It means, I think, that I dont't use the same words often enough; or else, or as well, that the words are an ornament on the meaning and not the meaning itself. That is certainly sometimes—perhaps often—true in the comedies, though almost as often I have meant the ornament to be, dramatically or comedically, an essential part of the meaning; and in my more sanguine moments I think the words are as exact to my purppse as I could make them at the time of writing.
>
> And then the question of relevance. The question is, relevance to what? The relevance of one kind of play is not necessarily the relevance of another...what I am most anxious to do here is to ask that criticism should look more deeply into the nature of a play, and to pursue the reason for its nature, rather than to try to force it into a category to which it doesn't belong.[6]

If we judge his plays in accordance with their nature, we will find that Fry never writes 'pretentious nonsense', nor is his language unsuitable for dramatic action. Its use is purposive, functional and reasonable. The criticism of Fry on the ground of using fifty words where five would do, in fact, betrays a failure to distinguish between eloquence and empty bombast.

To the charge that his people talk alike, Fry cheerfully answers, "According to the custom of men, they should, we do." Regarding long sentences, he explains in the introduction to *The Lady's not for Burning* how long a sentence should end is no body's business but his own. Perpetua's long speech in *Venus Observed* seems to be a reply to his detractors on this point.

So far as the suitability of words and deeds is concerned, Fry states that "words and actions are not unrelated. One illuminates the other; and the full significance of action can be explored only by words. If we compare the murder of Maria Marten in the Red Barn, with the murder of Duncan in Macbeth's castle, we see that in each the physical action is roughly the same, but the significance of the action is entirely different. The one is merely done, the other is experienced, and the experience is in the words. What is more, the experience is the true nature of the action. The experience ultimately is the action."[7]

These charges seem to have been based on the assumption, first, that the language of a play should be closely related to its structure, secondly that if the language becomes autonomous at any point the decorum of the play should be such as

4. The Lady's not for Burning, p. 38. Cue title Lady.
5. Ibid, p. 41.
6. An Experience. pp 24-25.
7. "Why Verse"?, Vogue. CXXV (March 1, 1955), p. 166. Cue title "Why Verse ?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

support this autonomy for a special dramatic purpose. But such assumptions are unfounded for plays dealing not with action but with moods and seasons, man's spiritual problems, and his estrangement in the present-day world. Here we will have to view the matter strictly on merit with a view to encouraging fresh things on the stage. Viewed this way the main weakness of anti-Fry criticism is that it is carried on at a level higher than the lowly boards of the stage, and it is clear that in Mr. Spender's article on Christopher Fry the stage is nowhere in sight. Moreover, the detracting criticism of Fry misrepresents him in as much as it points to his main powers as his chief weaknesses. In *Curtmantle*, Fry perhaps has in his mind his severe critics when he makes Eleanor say.:

I know your world, where an acid wit
Is valued higher than the mind hurt by it,
Where rules dictate how a man should move,
or love,
Or cough, or betray, or do nothing :
The unexceptional dance of what
Has withered within. Where every syllable's
Up for valuation by the code
Of the best poets, and nothing speaks from
goodwill.
I have understood at last the truth of the text :
A man's enemies are the men of his own
house.[8]

The most remarkable feature about Fry's language is its rich and motely vocabulary. Fry is interested in developing a powerful phraseology. He knows full well the importance of words in a play as they express a wide and proferred experience, and help in conveying sense, feeling, tone, mood, intention, thought and idea. He himself says, "Words give us a larger, or deeper experience of action." [9] That is why he prays through a character in *Venus Observed* :

God give me a few
Lithontriptical words[10]

perhaps because

the word is an arrow
Of larksong, shot from the earth's bow, and
falling
In a stillborn sunrise.[11]

Words have a compelling interest for him as they had for Shakespeare; they flow from his mouth like a torrent of gold; they often seem to brighten in his hands as jewels. Sometimes the words themselves are extended into images of a brilliant, even exotic daring, e.g. 'mesh of God',[12] 'dank rumour'.[13]

Fry often writes in heightened speech, in words that 'glow and ring', that colour page after page and 'the writing becomes jewelled with words, as a lawn with water drops in a summer dawn.'[14] Like O' Casey he is ready to make gold embroidery out of dancing words. We have only to quote the lines :

1. The Lanterns, Rosabel. They'll be very pale
Compared with the foment of wild flamboyant rose
We have in the sky to-night....[15]
2. Horses..., the caves of their nostrils
blowing
Bright clouds of breath, a foaming sea
Breaks against theit mouths, their flanks
are smoking
Like Abel's fire to heaven....[16]
3. ...I, as unlaborious
As a laburnum tree, hang in caresses of
gold.[17]

8. Curtmantle, p. 81.
9. "Why Verses?" p.166.
10. Venus, Observed, p. 42. Cue title Venus.
11. Lady, p. 87.
12. The Firstborn, p. 84.
13. Ibid. p. 58.
14. Ed. Martin Browne, Introduction to Four Modern Verse. Plays (Penguin Plays, London, 1957) p.11.
15. Venus, p.80.
16. Ibid. p. 55.
17. Ibid, p. 53.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. Our English sun, convalescent after passing
Through the valley of the shadow of the moon.[18]

5. ...the river
Where the water gives those girlish giggles around
The ford....[19]

6. I, the little heretic as he thinks,
The all unhallows Eve to his poor Adam....[20]

7. Such white doves were paddling in the sunshine
And the trees were as bright as a shower of broken glass. [21]

8. .....I've an April blindness.
You're hidden in a cloud of crimson catherine-wheels.[22]

9. .....those long jowls, my jewel,
Those ruminating thundercoloured bulls
Your brothers : and our pastry-pallid sons...[23]

"The foment of wild flamboyant rose", "the caves of their [horses'] nostrils blowing bright clouds of breath," "as unlaborious as a laburnum tree," "the girlish giggles" of water, "a shower of broken glass," "a cloud of crimson catherine-wheels," "the convolutions of convolvulus"[24] are but a few of the phrases that evince Fry's poetic gifts and his creative and evocative imagery. From the illustrations like these one can easily understand that Fry "can let down his bucket into a sea of dazzling verbal invention where he wishes, and bring it up brimming."[25] E.D. O'Brien has rightly observed, "for here was a phenomenon, a poet-playwright who used words as Shakespeare used them, to whom, as with Shakespeare, were open "all the realms of nature, all the mines of fancy," who possessed a gigantic treasure-chest of words into which he plunged his arms up to the elbows and let the lovely glittering, glowing things trickle through his fingers like the jewels they were."[26]

Fry has used a new and startling phraseology for love :

1. Having seen the beautiful teenagar Alizon Richard cries :
Is life sending a flame to nest in my flax ?[27]

2. TEGEUS. O Dynamene,
Let me unload something of my lips' longing
On to yours receiving. Oh, when I cross
Like this the hurt of the little space between us
I come a journey from the wrenching ice
To walk in the sun. That is the feeling.[28]

3. DYNAMENE.....Chromis, it's terrible
To be susceptible to two conflicting norths.
I have the constitution of a whirlpool.
Am I actually twirling, or is it just sensations?

4. TEGEUS.....To night I need to kiss you,
Dynamene. Let's see what the whirlpool does
Between, my arms; let it whirl on my breast.
O love,
Come in.
DYNAMENE...I am there before I reach you; my body
Only follows to join my longing which
Is holding you already—Now I am
All one again.
TEGEUS. I feel as the gods feel :
This is their sensation of life, not a man's :
Their suspension of immortality, to enrich

18. Ibid, p. 26.
19. Lady, p. 20.
20. Ibid, p. 70.
21. Ibid, p. 4.
22. Ibid, p. 4.
23. Thor, p. 6.
24. Lady, p. 33.
25. Quoted from a Review in the New Statesman and Nation by Raymond Williams in Drama from Ibsen to Eliot (London, 1965), p. 265.
26. "The Poet in the Theatre", The Illustrated London News, Aug. 11, 1951, p. 228.
27. Lady, p.4.
28. A phoenix Too Freqment, p. 30. cue title phoenix

CC-0, In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Themselves with time. O life, O death, O body,
O spirit, O Dynamene.

DYNAMENE. O all
In myself; it so covets all in you,
My care, my Chromis. Then I shall be
Creation.

TEGEUS. You have the skies already;
Out of them you are buffeting me with your gales
Of beauty. Can we be made of dust, as they tell us ?
What ! dust with dust releasing such a light
And such an apparition of the world
Within one body ? A thread of your hair has stung me.[29]

5. TEGEUS. Hush, smile of my soul,
My sprig, my sovereign: this is to hold your eyes,
I sign my lips on them both; this is to keep
Your forehead—do you feel the claim of my kiss
Falling into your thought ? And now your throat
Is a white branch and my lips two singing birds....[30]

6 ELEANOR. Nevertheless consider
The nature of love. In love a man and woman
Are newly minted as in the beginning of the world,
Creating themselves out of each other's eyes.
But in marriage, whatever world is made,
Has the bones of the woman walled up in the foundations,
No air to breathe, nor any light to move in.[31]

Hence to call his theatre 'the Theatre of Words' is an honour, and not an insult, because his theatre is not the theatre of superfluous, meaningless, or useless words, but of words that are not only heard but also seen through the eyes and experienced through the mind. There is, in fact, a kind of suave and Apollonian splendour in Fry which modifies the ardour of his thought. He has put into practice what he preaches so well in one of his speeches :

A poet wishing to write objectively, to create an act of poetry; to make that act of poetry, and also, an act of life; not only to represent other beings out of his own nature, but to share their creation with other men the actors; to attempt completely to exteriorize his will to sing, to make his inward search for truth an outward fact. To do this he must have a particular relationship to his poetry. He must wish it to come towards him not wish to impart it. He must be surprised into it by an imagined action. And for this reason it cannot be self-conscious. It may be artful, rhetorical, severely controlled, but it must be able to live its own life in a way that is neither necessary nor desirable in non-dramatic poetry. That is why a very experimental form is likely to be a dead-end, and why the first bridge to be crossed by any poet-dramatist should be the way to reconcile his poetry to common speech, not only by the avoidance of obvious poetical inversions and excisions, but by the method of metaphor and similie, by the way symbolic language is presented, and above all by the speech rhythms, which have to overcome the tone of written literature."[32]

It is in order to reconcile his language and verse to the common speech that we find a valley of metaphors and similies in his plays. They are to him of a vital significance, as they have been in drama since ancient times. Aristotle says, "But

29. Ibid, pp. 31-32.
30. Ibid, p. 34.
31. Curtmantle, p.79.
32. Fry, "Poetry in the Theatre", Saturday Review, XXXVI, March 21, 1953, 18-19.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

far the greatest thing is a gift for metaphor. For this cannot be learnt from others, and is a sign of inborn power."[33] It is through metaphor that the language achieves its rich suggestiveness, and becomes the matching place for the wit of the reader and the wit of the writer. Hence it is something more than an amusing literary device; it is a continual play of wit, an illuminating double entendre, nimble magic. Metaphors often act to enrich reality, even to heighten it. "Living metaphor", says F.L. Lucas, "is a kind of two-headed Janus, looking two ways at once and making us see two things almost simultaneously,"[34] and that "a style without metaphor and simile is to me like a day without sun, or a woodland without birds."[35]

Metaphors and similes can give strength, clarity, and speed; they can add wit, humour, individuality, and poeticality. Sanskrit scholars went a step further and called drama "a metaphor." It is for these reasons that the hero in *The Lady's not for Burning* cries : "What a wonderful thing is a metaphor"[36]. Plainly enough Mr. Fry agrees with him. He has rather "invited straphangers, accustomed to travelling on the sunway, to take a ride on Pegasus."[37] Fry uses metaphors most effectively and wonderfully; but they are his slaves, not his master.

Another device by which he makes his verse nearer common speech is abusive language which is part of man's everyday life. Our daily language is also, occasionally, and among some people frequently, full of vituperations, oaths, abuse, swear-words, hyperbolic epithets, and interjections. Fry's people also use this natural medium naturally:

REEDBECK. You're a vain, vexing, incomprehensible, crimping, constipated duffer.....You grovelling little Gobemouche .....You spigoted, bigoted, operculated prig.[38]

In Thor with Angels the first page of the play is full of this beautiful rather regardful language :

QUICHELM. Colgrin,
You scrawny old scurfscratcher, is that you ?

COLGRIN. Frog-man, fen-fiend, werewolf, oul, elf.....

QUICHELM. Runt of an old sow's litter, you slop-headed
Pot-scourer, come here, you buckle-backed
Gutsack, come out of there'...[39]

In *The Lady's not for Burning* this type of idiom is full of hilarious amusement and is the source of delight :

1. NICHOLAS (to Richard) You canter off...
What shall I do
With this nattering wheygoose, Alizon ?
Shall I knock him down ..[40]

2. NICHOLAS (to Humphrey), You slaway poodle, you tike,
You crapulous puddering pipsqueak.
Do I have to kill you a second time ?...
O blastoderm of injustice
You multiplication of double-crossing ![41]

33. Aristotle, Poetics, XXXII
34. F.L, Lucas, Style (Collier Books, New York, 1962). p. 186
35. Lady, p. 168
36. Lady, p. 3
36. John Mason Browne, "Poets and Players" Dramatist Personae (London, Hamish Hamilton, 1963), p. 245; this essay was first published in 1950
38. Venus, p.42
39. Thor, with Angels, p.1. Cue title Thor
40. Lady, p.8
41. Ibid, pp. 14-15

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. THOMAS (to Tyson). You bubble-mouthing, fog-blathering,
Chin-chuntering, chap-flapping, liturgical,
Turgidical, base old man."[42]

Phrases like "vein, vexing, incomprehensible, crimping, constipated duffer," "grovelling little Gobemouche" "spigoted, bigoted, operculated prig" "strappling, ice-cold, donkey-witted douche tasteless writer," "buckle-backed gustsack" "nattering wheygoose", "bubble-mouthing, fog, blathering, chin-chuntering, chap-flapping, liturgical, turgidical, base old man" exhibit Fry's flair for inventive abuse and neologisms of vilification. They are the intellectual acrobatics of a writer whose aim is to show the futility of man's existence in a very pleasing and amusing manner.

Another example of this delight in verbal gymnastics is to be found in Tegeus' oath-speech :

I swear, I swear by Horkos and the Styx,
I swear by the nine acres of Tityos,
I swear the Hypnotic oath, by all the Titans
By Koeos, Krios, Iapetos, Kronos, and so on.
By the three Hekatoncheires, by the insomnia
Of Tisiphone, by Jove, by jove and the dew
On the feet of my boyhood, I am innocent
Of mocking you...[43]

Such names can be used only by a person well-versed in classical mythology. Fry frequently uses classical names and allusions, Greek and Latin phrases and proverbs. Such usages help him in creating the needed atmosphere, and are an aid to local colour.

Fry can use nouns as adjectives, e.g. "There is something shipwreck, about you"[44] or "My Pollen fingers."[45] 'His choice of verbs is more vigorous, more Shakespearean, than that of any other poet'.[46] Below are cited a few of Fry's verbs which he uses to 'activise' his language :

1. Is life sending a flame to *uest* in my flax.[47]
2. The sphere *churned* on.....[48]
3. And when I found my hands *crowded* him
Into my breast, he *buried* like a burr...[49]
4. All the court *flew-up* and *buzzed*
But what could they do ? Not even my
Pharaoh-father
Could sting him out of my arms...[50]
5. The flowers were *schooled*
With salemanders.....[51]
6. I'll *fume*
with feeling.....[52]
7. I thought that was why
We were *mooning* around celebrating...[53]
8. .....a blue sky *buffaloed*
by cloud.....[54]
9. The sun has *mooned*
Away half its light, already...[55]
10. Rosabel, where have you *mooning*
All the long afternoon ..[56]

Fry's coinages are comic, e.g. 'vastiness lusted'...[57] 'overwhelming solitude'[58] 'decontaminating life',[59] 'congenital generator, your nephew'[60] 'rumpled idiot-boy'[61] 'mumping pub',[62] and so on. Fry will use 'larceny' for theft,

42. Iblid, p. 27
43. Phoenix, p. 16
44. The Firstborn, p. 17
45. Ibid, p. 37
46. Derek Stanford. Christopher Fry : An Appreciation (London, 1951), p. 200. Cue title Appreciation.
47. Lady, p. 40
48. Ibid, p. 33
49. The Firstborn, p.4
50. Ibid, p. 4
51. Ibid, p. 37
52. Phoenix, p.29
53. Lady, p.65
54. Venus, p. 5
55. Ibid, p. 14
56. Ibid, p. 56
57. Lady, p. 32
58. Ibid, p. 32
59. Ibid, p. 26
60. Ibid, p. 28
61. Ibid, p. 41
62. Ibid, p. 18

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'abacation' for the theft of animals, 'peculation' for embezzlement, and 'incendiarism' for causing fire.[63]

His language contains within itself all the expected furnishings of verse, such as imagery, metaphor, simile, onomatopoeia, alliteration, and the like. As an example of onomatopoeia, we can cite the following passage :

> Burst in among us, blashpheming against
> Woden,
> Broke his sword in the air—he swore it broke
> Against a staggering light—and stood roaring,
> Swaying in a sweat of wax, bestraddled
> Over the fallen Briton.....[64]

And below are given a few samples of his alliterations :

1. ...Who's awake ? Where's
   The welcome of women for wayfarers ?
   Where's my Wodenfearing mother ?[65]
2. ...as bright and bristling
   As Barney the boarhound...[66]
3. To doom and a damned journey into dust ..[67]
4. You should be crouching craven in a cave...[68]

Fry's love of and his skill in the use of paradox and anti-thesis can be illustrated from the following passages :

1. ..Joy is nothing
   But the parent of doom.[69]
2. Death is a new interest in life...[70]
3. ...What is my freedom becomes
   Another person's compulsion...[71]
4. Shall we live in mystery and yet
   Conduct ourselves as though everything were
   known ?[72]
5. In the belly of our misfortune
   We find our hope.[73]
6. I followed a light into a blindness.[74]
7. Nothing has any truth and anything is true.[75]

And here is an example of Fry's pun :

> DUKE — And I, as unlaborious
> As a laburnum tree, hang in
> caresses of gold.
> EDGAR. — And what do I hang in ?
> DUKE. — You hang in abeyance, Edgar...[76]

His plays, thus contain something of the intellectual acrobatics of the metaphysicals. There are far-fetched images which are spell-binding, the similes and metaphors that startle us, the puns that remind us of Janus, the play of engaging words that reminds us sometimes of Anouilh, sometimes of O'Casey, and at other times of the Elizabethans. His wit descends from the Restoration dramatists through Oscar Wilde. And while there is much exquisite grace of expression there is also the earthy salt of colloquialisms. One could fill a whole anthology with brief or copious extracts from his plays, demonstrating his varied use and employment of it as a comic agent, in paronomasia and other forms of word-play; his amazingly inventive powers of abuse; his gay neologisms and polysylabic clowning; or, again, on the serious side, his flair for giving to metaphysics the valid and immediate impact of metaphor; his creation of fresh vernacular of wooing; and his art as an 'inner portrait painter.'

Fry lays the acceptance of poetry in the theatre to two things :

63, See Lady, p. 36
64. Thor, p.4
65. Ibid, p. 1
66. Ibid p. 2
67. Ibid, p. 7
68. Ibid, p. 19
69. Phoenix, p. 33
70. Ibid, p. 4.
71. Venus, p. 96
72. The Firstborn, p. 46
73. Ibid, p. 31
74. Ibid, p. 31
75. Ibid, p. 48
76. Venus, p. 53

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

One's the reaction to the long hold of surface realism. The other is that the world seems rather cut down a bit.. and poetry provides something people lack, and wish for a richness and reaffirmation.[77]

At another place he states :

The use of verse in the modern theatre... comes, I think, from a certain spiritual searching which is part of our troubled times.[78]

He regards poetry as the language of reality, of economy, and of correctness. It is not unnatural. On the contrary, it is 'the reason itself'.[79] The pursuit of poetry or the creation of its works, in Fry's opinion, is "an apprehension of truth beyond the power of rational thought." In his defence he says, "Well if we have to be born into a world as wildly unprosaic as this one is, what else can be done, if we mean to be realistic ?"[80]

Fry has demonstrated over and over again that poetry preserves its force as a universal language, significant and immensely enjoyable. It has the privilege of showing us several planes of reality at once—sensuous, logical, psychological and spiritual. It is the language of emotion and power; it 'moves like an athelete over hurdles to perform the most most economically'.[81] Moreover, it is 'the central functionary of the play, the spring of all action, potent, shaping, and informing'. It has several advantages over prose. Certain experiences can be better experienced in and expressed through it; 'in prose we convey the eccentricity of things; in poetry, their concentricity.[81]' It is as natural as one of our senses. Moreover, it is an 'unrolling exploration' and 'the humility of language.' All our actions in Fry's view are the actions of poetry. He argues :

> Poetry is the language in which man explores his own amazement. It is the language in which he sees heaven and earth in one word. It is the language in which he speaks to himself and his predicament as though for the first time. It has the virtue of being able to say twice as much as prose in half the time, and the drawback, if you do not happen to give it your full attention, of seeming to say half as much in twice the time . . . We can say that poetry is the language of reality.[82]

Poetry to Fry, therefore, is a sign of man's vitality. 'Fear of it, or lack of it, is the dead-end of his material needs.' In his theatre poetry is action and action is poetry. He is not a poet and a playwright separately : he is all the time a poet-playwright. He holds with Wordsworth's theory that poetry is something "felt in the blood, and felt along the heart."[83] He summarises his theory of verse as follows :

> A verse play is not a prose play which happens to be written in verse. It has its own language. In a talk on *Poetry and the Theatre*, I tried saying something more about this, in these words : "The dramatist must view the world of his play, and the people of that world, with great precision : the poet-dramatist with the greatest poetic precision. The whole structure depends upon it, what scene follows another, what character goes and what character enters, where description or landscape becomes

77. Ed. Stanley J. Kunitz, Twentieth Century Authors: A Biographical Dictionary (New York, 1955), p. 355
78. Fry's letter to M P. Sanghal. pub. in his Christopher Fry and T.S. Eliot (Brij. Prakashan, Meerut, India, 1968). p. 127, originally a thesis submitted to Agra University.
79. "Why Verse?" p. 137.
80. Quoted by Denis Donogue, Essays in Criticism, IX, 38
81. "Why Verse?" p. 137.
82. "A Playwright Speaks", p. 332
83. Quoted by Fry from Wordsworth's 'Tintern Abbey' (1798) in "Why Verse", p. 166.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

part of the action, or where it needs a bare exchange. The poetry and the construction are inseparate. Who understands the poetry understands the construction, who understands the construction understands the poetry, for the poetry is the action and the action — even apart from the words — is the figure of poetry.....[84]

What Fry wants is that 'in exploring and recreating life in terms of the stage we should use language as fully charged and as plient as we can make it.' [85] So poetry should be used in the theatre to satisfy the spiritual needs of our age, to include the greater reality, to express the superstitions and the supernatural, to enact a mood or state of mind, to portray a character, to demonstrate the human dilemma, and above all, to achieve a union of word, action, character, tradition and discovery. "No event," observes Fry, "is understandable in a prose sense alone. Its eventual meaning... is a poetic meaning."[86] But Fry does not consider poetic drama to be something opposed to prose drama. In an interview with Lewis Nicholas, he said :

> I find it a pity to divide drama into verse and prose, for it's a false division. Each play shouldn't have to be forced into one category or the other, it happens that only poetry is for me, and I have never written a prose piece of my own. But the division is growing less. Tennessee Williams, for example, has written both.[87]

In another talk he points out :

> What reason is there for limiting the theatre to one form of communication ? It is even believed that the prose play and the verse play are in opposition : or that the one precludes the other : there appears to be a kind of colour bar in the matter. Such rivalry is nonsense. Indeed prose and verse existing side by side counter each other's dangers. If they pass altogether out of reach of each other's, they cease to be themselves : becoming on the one hand journalese, official cant, or any other string of sentences : and on the other a vagueness, an abstraction, a preciousness.[88]

The inter-play of prose and poetry to Fry is like "men and women dancing the Grand Chain,"[88] and it is this dance that keeps each in its own state of grade. So he shelves this debate between the poetic and the prosaic in the following manner :

> I have no answers to satisfy you if you believe that human nature, or human personality, is divided into two parts, of whatever proportion, the prosaic and the poetic. I think we always live with a foot in each camp, or rather, that there is no moment when we can safely say that even our apparently most insignificant actions have not a significance greatly beyond ourselves.[89]

Fry's plays live up to this compromise. Some of them—*The Boy with a Cart* and *Curtmantle*—use both verse and prose.

Fry's verse has its distinctive mark. William Arrowsmith has compared Fry's verse with Marlowe's. "There is," says he, "the same verbal impatience, the same laddering of effects towards an over-all tonal-roof, and the exuberance of the autonomous language."[90] But another critic, Mauris Bewley differs with Mr. Arrowsmith. Commenting on the same speech which Mr. Arrowsmith chose for Fry's appreciation, Mr. Bewley remarks, "The colours of this speech flake and fade, and the outline of its image grows misty. There is very

84. Christopher Fry, An Experience of Critics (Oxford), 1953, pp. 26-27. Hereafter referred to as An Experience.
85. "A Playwright Speaks", The Listener (Feb. 23, 1950), 332.
86. "Why Verse?" p. 162.
87. The New York Times, Sunday, 27 April, 1958, Sec. II, IX.
88. "Why Verse?" p. 166,
89. Ibid, p. 168.
90. See "Notes on English Verse Drama", Hudson Review, Summer, 1950, III, 213-16.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

little or concrete immediacy behind it, an even 'bryony, sloes, rosehipe' suggest second-hand literary gleanings rather than a genuine response to the real things, or even to the experience or words."[91] Mr. Bewley's other charges against Fry's verse are ironic over-statement, and a cynicism too youthful and exhibitionistic. But most of these charges again are a by-product of the modern antipoetic tendency. Mr. Bewley seems to undermine the fact that any piece of real art when it comes to public notice automatically becomes exhibitionistic, and that if Fry's pages are charged with a little extravagant wrath and vigour, they should not appear to any of us as full of 'cynicism'. In fact Fry's comedies are not the comedies of situations or characters ; here the action lies not in events and situations, but in the very words. So the critic does not need to bewilder himself by Fry's buyoant flights of imagery and this sometimes baroque rhetoric. Such effects are not interruptive. The most imaginative passages, instead of standing isolated as poems to be recited by the actors reinforce characterization and energize plot. Even the forty-eight line speech of Merlin in *Thor, with Angels,* and the forty-three line eloquence of Perpetua in *Venus Observed*, which have been the subject of adverse criticism are relevant to the meaning of the play concerned.

The most notable feature of Fry's verse is its dramatic quality. His poetry is dramatic enough to vivify character and energise plot. His plays are moving poetry. Like Bottomley's his lyricism is there not by accident but by design, because he is resolved to create a poetic drama in the true sense, a drama where the action is the poetry and the poetry is the action. "In Fry, then, as I have attempted to show, poetry and drama are not at war ; the first diminishing the sense of situation, the second detracting from the beauties of speech."[92] So "it would be wrong to think that the poetry is merely a spangled cloth, a number of yards of verbal tinsel, wherewith the author disguises or positively enhances the basic banality of his drama."[93] Hence to estimate Fry's success accurately we must see his plays "not so much as an achievement in poetic drama, as an original application of verse to familiar theatrical ends.[94] poetry is "the central functionary in the play, the spring of all action, potent, shaping and informing."[95]

He uses verse in a way that will enable actors, unused to such dialogues, to benefit by it instead of making them feel embarassed by it. His verse is very easy, chastened, melodious, and full of apt phrases, metaphors and similitudes. It has a dynamic structure and steadily moves towards a climax, and at the same time it is studded with pointed, witty and paradoxical statements and sentences. It rouses and shocks the mind and keeps it perpetually expectant, and gratified. He has the double gift of the musician and the rhetorician, which is clearly reflected in his verse-dialogue, where aptness and precision of phrasing, balance, economy and adjustment of part with part, of illustration and a veritable hail of pelting end sparkling witticisms and paradox abound.

Fry has been able to free himself from the fetters of the Elizabethan blank verse which sucked the vital lifeblood of the plays of Flecker. Like a hag his plays also emphasize the growing awareness of the necessity of simplification or the blending of the colloquial and the poetical for infusing the energy of real life into poetic drama. He has successfully created his medium—verse without any specifically poetic language or rhythm, fit

91. Mauris Bewley, "The Verse of Coristopher Fry," Scrutiny, XVIII (June, 1951), p. 79.
92. Appreciation, p. 48.
93. Ibid. p. 19.
94. Raymond Williams, op. cit., p. 262.
95. "Why Verse?" p. 137.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

for prosaic contexts, but also able to enhance dramatic tension by its precise and suggestive poetic condensation. It helps rather than hinders the audience. It has a burning energy and a splendid diction. Fry can switch over directly or indirectly to prose whenever he wishes to do so. Almost all his plays contain scenes in prose or in verse which is near prose.

Fry's verse, however, is not the prevalent staccato drives, 'the gutter-bred language polished to crest stone heights', nor the 'telegraphic lingo that passes for alive dramatic speech' but the singing and flowing of the English tongue, and to use J.C. Trewin's phrase, 'the singing of gold'. He is indeed, 'the freshest, and most singing voice that had sung in the dusty recess of the theatre'.[96] He is all the time "a silvery singer", a sort of Siamese Twin, in which the attributes of the muse of song and the muse of drama are featured together."[97] Derek Stanford has rightly called him "the 'pocket' Caruso[98] of contemporary stage-verse."[99]

Fry does not employ the ten-syllabled line with regularity; he uses much freer forms. He is a man with lively fancy. Fry's rhymes, when compared to Shakespeare's seem to be comparatively limp because he cannot fall back upon a standard of regularity from which any departure provides a rhythmic meaning to the ear. His rhythm is colloquial, easy, matter-of-fact, compounded of daily speech patterns. There is a tinge of monologue in some of his dialogues. We do not find in his verse that rhythmic woodenness and linguistic poverty which the Victorian poet-dramatist had. Fry is always rich and copious in his style. His rhythms and metres often resemble those of the Miracles, and the Morality and Mystery plays of the Middle Ages, notably *Everyman* (about 1490), If need be, he can repeat the rhythms to heighten the effect (for example, "But am I sure" in *Venus Observed* p. 95).

When we trace the development of Fry's style and medium we find that *The Boy With a Cart* reflects Fry's indecision about the choice of his medium. He appeared to waver between Eliot and Williams, and also between the prosaic and the poetic. He knew not whether to choose a florid language or a simple colloquial idiom. In fact, he appears to have expounded with both prose and verse. Much of the play, therefore, is written in prose, and the real poetry in the play is found in the lyrical utterances of the Chorus. But he was soon convinced that his powers lay between Shakespeare and Eliot. In *The Firstborn* his idoim is highly chiselled and finished. Although this play is not remarkable for the splendour of his comedies, yet it shows Fry's wonderful mastery of dialogue. Here the language is neither artful nor pompous, but simple and consistent :

> We're not enemies so much
> As creatures of division—you and I,
> Ramesses, like money in a purse,
> Ring together only to be spent
> For different reasons....[100]
>
> OR
>
> We're not concerned with hope,
> Or with despair ; our need is something different ;
> To confront ourselves, to create within ourselves
> Existence which cannot fail to be fulfilled.[101]

There is in this play minimum decoration. The language has a remarkable economy and precision. In comparison with the language of comedies the language in his tragedies is suddued and controlled, yet it is not dead; it has its usual freshness, vigour and the singing quality.

In his comedies the language is typically Fryian. It has a wonderful store of figures of speech ; its imagery is of a very intense order ; it is like sea-foam or lightening without its terrific thunder. It has a continual sweet murmur. Whereas the comedies have a

96. New York Times, Nov. 8 1959, p. 87.
97. Appreciation, p. 12.
98. Enrico Caruso (1873-1921), a celebrated singer.
99. Appreciation, p. 12.
100. The Firstborn, p. 26,
101. Ibid, p. 31.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

bubbling spontaniety and flow of words, tragedies use them in a restrained manner. We may assign the reason of this simplicity to the severe criticism of his critics. But above and over this consideration are the theme and atmosphere of the tragedies. It is in accordance with the demand of the action, that Fry uses language. In short, whereas the language of the comedies (*A yard of Sun* is an exception) is florid, the language of the tragedies and later festival plays is subdued.

Fry's style may appear too mannered but, it comes to him naturally. He has violated the calendar in both directions, utilising the modern idiom in depicting the Middle Ages, and 'elevated' diction in realistic modern scenes. The diction of his verse ranges from the cockney in *Phoenix Too Frequent* to the vulgar tongue of enlisted men in *A Sleep of Prisoners*, from the homely modern terms put into the mouth of St. Cuthman in *The Boy with a Cart* to the suave epigrams of *Curtmantle*. His gift for idiomatic usage has been equalled by no other contemporary poet-dramatist. He can make an effective use of slang and colloquialism, e g. 'swiggty', 'oblit' (for obliterate). There is often an euphemistic touch in his style : "I think I see little phoebuses/rising and setting in your eyes." His is a melodious and picturesque style. One cannot but marvel at the amazing vocabulary and those flippant classical allusions which are a part of his style. "Fantasy, eloquence, rhetoric, and wit, when taken together combine to produce a remarkably high-spirited verbal compound. Such a component we have in Fry's plays."[102] His style is, therefore, both original and inimitable. That is why he has hardly any disciples.

To conclude, Fry's verse, has adaptability and flexibility. It has a dramatic function ; it relies on the potency of words and not on the urgency of action. He has a particular gift for describing, with his amplitude of similes and delicate fabric of language, the sounds, sights and smells of the English countryside. It possesses to a great extent sensibility, power, wit, humour, pun, paradox, a flood of figures of speech, artistic insight and imagination. "His Verse", says J. C. Trewin "is a foam, a sea, a walter of conceits. Wit flashes from it like a heliograph in sunlight.[103] Again it is for his uninterrupted raillery and horse-play, his striking untraditional, saucy images, vigorous metaphors, and vaunted wit that Fry is most popular among the contemporary audiences. Fry's verse is further notable for its burning energy, its splendour of diction, its sensuous richness, its variety of space, and its responsiveness to the demands of varying emotions. Fry's dialogue, in its mingled gaiety and melancholy, sweetness and irony, allusions to real things and kinship with a romantic world, has an altogether indefinable magic. He has created a personal style of his own; a mixture of the sublime, the simple and beautiful, the mysterious, the grotesque, the learned, and the unexpected. As one of his characters says, "I have done nothing monosyllabic. A spade is a spade ?"[104] Fry has rightly removed much of the monotony of the dull prosaic stage of the twentieth century, and has contributed a lot of literary drama without damaging its stageability. Colgrin in *Thor, with Angels* rightly summarises Fry's achievement :

There's not a devil
In the length of the land could pick such a posy of words
And not swoon smelling it.[105]

Dr. R.L. VARSHNEY
Department of English
University of Gurukul Kangri, Hardwar

102. Appreciation, p. 211.
103. J. C. Trewin, Drama : 1945-50 (Longman, 1951), p. 26.
104. Venus, p. 36.
105. Thor, pp. 1-2.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PRINTED AT S. NARAYAN & SONS, DELHI.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collèction, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोध भारती

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की अनुसन्धान पत्रिका)

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

सम्पादक
डा० रामनाथ वेदालङ्कार
डा० विष्णुदत्त राकेश

वर्ष १, अंक १

जनवरी १९७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोध भारती

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की अनुसन्धान पत्रिका)

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

सम्पादक
डा० रामनाथ वेदालङ्कार
डा० विष्णुदत्त राकेश

वर्ष १, अंक १

जनवरी १९७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

वैदिक साहित्य, इतिहास तथा दर्शन के

प्रकाण्ड विद्वान्

आचार्य रघुवीर सिंह शास्त्री

कुलपति

जिनके जीवन्त कर्त्तृत्व तथा गतिशील नेतृत्व का संस्पर्श पाकर

विश्वविद्यालय का शैक्षणिक स्तर संवर्द्धित

हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

७३ वर्ष के प्रौढ़ किन्तु नित्य यौवन छवि से दीप्त, सक्रिय तथा संस्फूर्त्त गुरुकुल विश्वविद्यालय कुलगुरु स्वामी श्रद्धानन्दजी के आदर्शों पर भारतीय साहित्य, संस्कृति, दर्शन, इतिहास तथा वेदांगों के क्षेत्रों में प्रचलित विश्वविद्यालयीय परिपाटी से भिन्न शिक्षा-मूल्यों का सामयिक परिप्रेक्ष्य में गतिशील प्रयोग करता रहा है। उसकी प्राच्य विद्या-संरक्षणगत उपलब्धियों का राष्ट्र के प्रबुद्ध विचारक वर्ग ने स्वागत किया है। अन्य उच्चस्तरीय शिक्षण संस्थाओं से उसकी यह मौलिकता भारतीय शिक्षा के इतिहास में अनिवार्य महत्त्व की साक्षी है।

गुरुकुल संस्था नहीं, विचारधारा है। परिपाटी नहीं, प्रयोग है। स्थिरता नहीं, गति है, चेतना है और है शाश्वत सांस्कृतिक मूल्य बोध। गुरुकुल परिसर में छात्र तथा शिक्षक प्रकृति के सुरम्य परिवेश में एक रचनात्मक उद्देश्य के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की प्रगति का परिचय प्राप्त करते हैं। वेद, दर्शन, मनोविज्ञान, गणित, विज्ञान, पुरातत्त्व, हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी साहित्य तथा आयुर्वेद जैसे विषयों का उच्चस्तरीय अध्यापन तथा शोध कार्य यहाँ व्यवस्थित रूप से हो रहा है। विश्वविद्यालय के समकक्ष मान्यता मिल जाने पर अपने मौलिक रूप की रक्षा करते हुए अन्य विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम, शोधस्तर तथा अध्यापन-परिपाटी के समस्तरीय रूप ग्रहण से इसने नव जीवन प्राप्त किया है। विद्वत् समिति, शिक्षा परिषद्, व्याख्यान-माला तथा पाठ्यक्रम समितियों के व्याज से देश के मूर्धन्य विद्वानों तथा शिक्षा शास्त्रियों के उपयोगी विचारों तथा परामर्शों से इसका पथ प्रशस्त हुआ है। शिक्षाविदों की दृष्टि गुरुकुल पर कृपापूर्ण रही है और उनकी आशाओं-आकांक्षाओं को साकार करने में यह निरन्तर सचेष्ट है। मास्को विश्वविद्यालय के प्राच्य-संस्थान के निदेशक डा० ई० चेलिशेव तथा भारत की माननीया प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इस सत्र में विश्वविद्यालय में पधारकर इसकी प्रगति पर सन्तोष का अनुभव किया है। सीमित साधनों तथा शक्तियों के होते हुए भी विश्वविद्यालय के अधिकारी, प्राध्यापक तथा छात्र बद्ध परिकर हो अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं। संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान्, कुशल प्रशासक तथा प्रमुख शिक्षाशास्त्री आचार्य रघुवीरसिंह शास्त्री के कुलपतित्व में विश्वविद्यालय में शान्ति, अध्यापन, शोध तथा रचनात्मक प्रवृत्तियों को जैसा संरक्षण-संवर्द्धन मिला है, तोड़फोड़ तथा विघटनात्मक गतिविधियों के केन्द्र अन्य शिक्षण-संस्थानों के लिए यह स्पृहा की वस्तु है। श्री शास्त्री जी की प्रेरणा से ही विश्वविद्यालय की यह शोध-पत्रिका प्रकाशित हो रही है। प्रवेशांक आप सुधी-पाठकों के सामने है। हम आपके सक्रिय सहयोग, परामर्श और आशीर्वाद के आकांक्षी हैं।

अनुसन्धान एक दुरुह प्रक्रिया है। उसके मूल तत्त्वों का निरूपण यहाँ अभिप्रेत नहीं है। आत्म सजगता के साथ सम्पन्न होने वाला कार्य महत्त्वपूर्ण होता है, इस आशय से संकलित इन शोध-निबन्धों से नये संकेत की क्षमता पाठकों को अवश्य मिलेगी, इसका पूर्ण विश्वास है। परम्परा और विचारधारा संशय की दरार से टूटती है किन्तु जीवन बोध और महनीय सत्य का साक्षात्कार भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न चिन्हों के साथ ही उजागर होता है। सृजनात्मक साहित्य और आलोचना शोध के परिवृत्त में बंधकर ही विश्वसनीय बनते हैं, उनकी आयुकाल व्यापिनी होती है। वय का अनुमान और ठीक-ठीक मूल्याङ्कन आँखों की स्वस्थता का सूचक है। इस संकलन के निबन्ध शोध और आलोचना की नई दृष्टि से सम्पन्न हैं, यदि विषय-मर्मज्ञों को इससे सन्तोष मिल सका तो हम अपने श्रम को सफल मानेंगे। अन्त में जिन विद्वानों ने अपने मौलिक निबन्ध सरस्वती-प्रीत्यर्थ प्रकाशनार्थ देकर 'शोध-भारती' को भारती भवन में प्रवेश दिलाने का सुअवसर प्रदान किया है उनके प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। भविष्य में भी हमें इन मनीषियों का अधिक से अधिक सहयोग मिलता रहेगा, इस आशा के साथ प्रस्तुत अंक सहृदय पाठकों के कर कमलों में सौंप रहे हैं।

"यह मनुज ब्रह्माण्ड का सब से सुरम्य प्रकाश,
कुछ छिपा सकते न जिससे भूमि या आकाश।"

—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचरित के तीन गायक और उनकी काव्यकृतियाँ

वाल्मीकि, अज्ञातनाम कवि,और तुलसीदास कृतियाँ

—आचार्य किशोरीदासवाजपेयी

पौलस्त्यवध, वाल्मीकीय रामायण, और रामचरित मानस इनमें से एक (पौलस्त्यवध) नाटक है, और शेष दोनों महाकाव्य। 'महाकाव्य' की जो परिभाषा अर्वाचीन साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दी गई है, उसमें यदि वाल्मीकीय रामायण तथा 'रामचरित-मानस, गृहीत नहीं होते, तो यह 'परिभाषा' बनाने वालों का दोष है कि वे अपनी परिभाषा में इन महाकाव्यों को न ला सके। यह भी संभव है कि उनके सामने 'महाकाव्य' संस्कृत के ही रहे हों और 'मानस' पर उनका ध्यान न गया हो; या 'परिभाषा' बनाने तक 'मानस' का अवतरण न हुआ हो और वाल्मीकीय रामायण को वे साधारण महाकाव्यों में न रखना चाहते हों। वह तो 'आदिकाव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। तब 'महाकाव्य' की अर्वाचीन परिभाषा में वह कैसे आए!

वाल्मीकि रामचरित के आदि गायक हैं। उन्होंने करुण रसात्मक 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा था, जिसका पता वाल्मीकीय रामायण के आरंभिक चार सर्गों से चलता है। प्रारंभिक सर्ग उस अज्ञातनाम महाकवि ने भूमिका के रूप में लिखे हैं, और फिर पाँचवें सर्ग से महाकाव्य की कथा आरंभ होती है।

'वाल्मीकीय रामायण' नाम इसलिए प्रचलित हो गया; क्योंकि महाकवि ने आरंभ के चार सर्गों में बताया कि रामायण (रामचरित) के प्रथम गायक वाल्मीकि हैं, और फिर अन्त में कृतज्ञापूर्वक कहा—

'आदिकाव्यमिदं चार्षम्,
पुरा वाल्मीकिनो 'कृतम्'

'पुरा' अति प्राचीन काल में मुनि वाल्मीकि ने इस आर्षकाव्य की—'रामायण' की रचना की थी। नाटक दृश्य काव्य है, और वाल्मीकि का 'पौलस्त्यवध' नाटक था, जिसे 'रामायण' नाम से प्रसिद्धि मिली। रामायण का रामचरित का—निबन्धन 'पौलस्त्यवध' में होने के कारण उसे 'रामायण' लोग कहने लगे। पहले 'राम-चरित' के अर्थ में 'रामायण' का प्रयोग होता था। वाल्मीकी रामायण के प्रौढ़ टीकाकार श्रीमान् राम महोदय ने लिखा है—रामस्य अयनम्, चरितम्—'रामायणम्'। यानी 'रामायण' तब तक काव्यविशेष की संज्ञा न थी। आगे चलकर 'रामायण' शब्द का प्रयोग उन काव्य-विशेषों के लिए होने लगा, जिनमें राम-चरित (रामायण) का निबन्धन हुआ हो—अध्यात्मरामायण' आदि। यहाँ तक कि तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' की भी 'तुलसीकृत रामायण' नाम से ही अधिक प्रसिद्धि है।

सो, वाल्मीकि के 'पौलस्त्यवध' नाटक को 'रामायण' नाम मिला और फिर रामायण (रामचरित) को लेकर जब किसी महाकवि ने एक महाकाव्य की रचना की तो उसे भी 'रामायण' नाम मिला और वह वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस महाकाव्य को भी पौलस्त्यवध (रावण-वध) तक ही रखा गया था। 'युद्धकाण्ड' (लंका-काण्ड) के अन्त में ही राम का, अयोध्या-आगमन और राज्य-भार ग्रहण करने का वर्णन है और यहीं 'फल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुति' आदि है, जो ग्रन्थ की समाप्ति पर ही लिखी जाती है। 'उत्तरकाण्ड' उत्तर कालीन प्रक्षेप है। यह सब आगे बताया जायगा।

रामचरित के तीसरे प्रमुख गायक हैं जो स्वामी 'तुलसीदास' जिनका 'रामचरित - मानस' तुलसीकृत 'रामायण' नाम से देश भर में तथा विदेशों में भी गुंजित हो रहा है। जितना व्यापक प्रचार इस महान् काव्य का हुआ, उतना अन्य किसी भी ग्रन्थ का नहीं। इस लोकोत्तर लोक काव्य ने भारतीय जनता को काव्यानन्द के साथ-साथ आत्मबल तथा सदाचार की भी शिक्षा दी है। अपढ़-निरक्षर से लेकर बड़े से बड़े विद्वान् भी तुलसी के शब्दों का आनन्द लेते रहेंगे। यह काव्य पाञ्चाली और अवधी में है। ये दोनों भाषाएं 'हिन्दी संघ' की प्रमुख भाषाएं हैं। परन्तु कहा यही जाता है कि 'रामचरित-मानस' अवधी भाषा का काव्य है।

ये तीन रामचरित के प्रमुख गायक हैं। इनका तथा इनकी काव्य-कृतियों का विशद विवेचन इस छोटे से लेख में क्या होगा! संक्षेप में आगे परिचय दिया जाएगा।

वाल्मीकि और उनका "पौलस्त्यवध काव्य"

'वाल्मीकीय रामायण' के प्रमुख टीकाकार श्रीमान् राम महोदय ने लिखा है कि वाल्मीक नाम के कोई ऋषि थे। उनके पुत्र 'वाल्मीकि'। यों 'वाल्मीकि' नाम नहीं, नाम का विशेषण ठहरता है, जैसे—'दाशरथि'। परन्तु यह विशेषण ही नाम के रूप में चल पड़ा, और नाम लोग भूल ही गए! बादशाह अकबर का नाम कितने लोग जानते हैं? 'अकबर' तो उनके महत्त्व के लिए लगाया गया शब्द है। नाम था-'जलालुद्दीन,' जो प्रायः लुप्त ही हो गया। हिन्दी के महाकवि भूषण का नाम भी लुप्त है। 'कवि-भूषण' की पदवी उन्हें दी गई थी। फिर 'कवि-भूषण' लोग कहने लगे। जैसे 'भूषण' नाम, और 'कवि' उसका विशेषण, आगे 'भूषण' ही नाम प्रसिद्ध हो गया। बस, कुछ यही स्थिति 'वाल्मीकि' मुनि की है।

सरस्वती उपासक मुनियों में केवल वाल्मीकि का ही नाम अमर है, शेष सब लुप्त हो गए। भरतमुनि तो बहुत बाद के हैं। इसी तरह असुर-कवियों में 'उशना' का नाम लिया जाता है—'कवीनामुशनाः कविः'। 'उशनाः शुक्रः'। शुक्र (असुरों के गुरु, नेता तथा महाकवि) का नाम 'उशना' था। वे वीर-भाव (वीर्य वीरता) के पुंज थे, अपनी मृतसंजीवनी काव्य-शक्ति के कारण। इसलिए उन्हें 'शुक्र कवि' कहा गया। कालान्तर में 'शुक्र कवि' ही प्रसिद्ध हो गए और उनका नाम (उशना) भी कृष्ण-जैसे वीरता-प्रेरकों की ही जानकारी तक रह गया। नाम भर वाल्मीकि की कृति का शेष है; पर शुक्रकवि की कृति का नाम भी लुप्त हो गया।

एक दूसरे वाल्मीकि भक्त हुए हैं द्वापर में, जिन्हें युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में भगवान् श्री कृष्ण ने उजागर किया, और सर्वोपरि महत्त्व दिया। ये भक्त वाल्मीकि सफाई का काम करने वाले हरिजन (भंगी) परिवार में पैदा हुए थे। इनका वर्णन नाभा जी ने 'भक्त माल' में किया है। यह नाम के एक होने के कारण कुछ लोग द्वापर के भक्त वाल्मीकि को ही रामगायक मुनि वाल्मीकि समझ बैठे हैं।

वाल्मीकि मुनि में साहित्यिक प्रवृत्ति थी। वे कोई ऐसा काव्य लिखना चाहते थे, जो आदर्श वीरता का प्रेरक हो। इस के लिए उन्हें मुनिवर नारद से प्रेरणा मिली कि राम ही एक आदर्श पुरुष हैं। उन्हें ही काव्य का नायक बनाओ। इस के बाद ब्रह्मा जी वाल्मीकि से मिले। ब्रह्मा जी नाट्य-शास्त्र के आद्याचार्य हैं। उन्होंने ही कदाचित् 'दृश्य काव्य' लिखने की सलाह दी हो; क्योंकि 'श्राव्य काव्य' की अपेक्षा 'दृश्य काव्य' में अधिक प्रेरकता होती है! अपढ़-कुपढ़ भी दृश्य काव्य (नाटक आदि) में बराबर आनन्द लेते हैं और (लिपि- माध्यम के बिना ही) सीधे कवि की वाणी सुनते हैं, उन अभिनेताओं के द्वारा, जो राम, सीता, हनुमान आदि की भूमिका में आकर अभिनय करते हैं। सो वाल्मीकि को यह बात अच्छी लगी। उन्होंने 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा। रामायण-महाकाव्य के रचयिता ने भूमिकात्मक (बाल काण्ड के आरम्भ में) चौथे सर्ग में लिखा है—

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।
पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामायणम्—रामचरितम् 'पौलस्त्यवधमित्येवम्'-पौलस्त्यवधनामकम् ।

कृत्स्नम्-सम्पूर्णम् । वस्तुतः 'पौलस्त्य-वध' में सम्पूर्ण रामचरित आ जाता है । वन-गमन के प्रकरण में अयोध्या आ गई, और फिर विजय कर के अयोध्या लौटने पर राज-काज सँभालना । 'सीतायाश्चरितं महत्' तो 'पौलस्त्यवध' का बीज ही है ।

सो, पौलस्त्य-वध' काव्य महर्षि 'वाल्मीकि ने लिखा, यह स्पष्ट हुआ । पता नहीं, 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने 'पौलस्त्यवध' काव्य देखा भी था; या विद्वत्परम्परा से प्राप्त कथा भर सुनी थी । परन्तु यह पक्की बात है कि वाल्मीकि ने 'पौलस्त्यवध' काव्य लिखा था ।

अब यह देखना है कि यह काव्य किस वर्ग का था । हम ने लिखा है कि यह 'दृश्य काव्य' या नाटक था । इस में आप प्रमाण मांगेंगे । प्रमाण में हम 'वाल्मीकीय रामायण' के भूमिका-सर्गों को ही सामने रखेंगे । वहाँ लिखा है कि वाल्मीकि 'पौलस्त्यवध' लिख कर इस चिन्ता में थे कि—

'को न्वेतत्प्रयुञ्जीयात् !'

अब इस का 'प्रयोग' कौन करे ! 'प्रयोग' 'दृश्य काव्य' का ही होता है । श्राव्यकाव्य तो पढ़ा जाता है । कौन इसे 'पढ़ेगा,' यह चिन्ता तो थी ही नहीं, क्योंकि मुनि-समाज में तथा उस समय के साधारण जन-समाज में सब निरक्षर तो होंगे ही नहीं ! हाँ, नाटक आदि का 'प्रयोग' करने वाले कलाकार (नट, कुशीलव) दुर्लभ होंगे । आज भी अच्छे नाट्य कलाकार बहुत कम हैं । कोई भी नाटककार यह सोचता है, कामना करता है कि मेरे नाटक का कहीं गुणग्राही समाज में कुशल नाट्य-कलाकारों के द्वारा 'प्रयोग' हो—मेरा नाटक रंगमंच पर 'खेला जाए' । अँगूठी की शोभा बढ़िया नग से होती है और नग की अँगूठी से । काव्य-रचना—नाटक का निर्माण—एक कला है और उस का 'प्रयोग' रंगमंच पर करना दूसरी कला । एक चीज कवि की है, दूसरी कुशीलवों की—नाट्यकला-विशारदों की । कभी-कभी कवि भी कुशीलव का काम करता है । महाकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने नाटकों के 'प्रयोग' में पात्र विशेष की भूमिका ग्रहण करके मंच पर अभिनय किया करते थे । परन्तु ये अपने ही नाटकों के प्रयोग में पात्र-विशेष की भूमिका ग्रहण करते थे; इस लिए कुशीलव नहीं, कवि ही कहे जाएँगे । कुशीलवों की कला का बहुत सम्मान था और राज-परिवार के जन भी इस क्षेत्र में आते थे ।

सो, जब वाल्मीकि 'पौलस्त्य-वध' के प्रयोग की चिन्ता में थे, तभी

तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
अगृह्णीतां ततः पादौ मुनिवेशौ कुशीलवौ ।।

—जब मुनि उस तरह नाटक के प्रयोग की चिन्ता में थे, तभी दो कुशीलव सीधे सादे वेश में वहाँ पहुँचे और मुनि की चरण-वन्दना की । उस समय मुनि का मन नाटक-प्रयोग के बारे में भावना विभोर हो रहा था ।

जैसे कवि कुशीलवों की खोज करता है, उसी तरह कुशीलव भी उत्तम नवीन नाटक की खोज में रहते हैं । पता लगा होगा कि वाल्मीकि ने 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा है; सो पहुँच गए । एक 'सूत्रधार' और दूसरा उस का प्रमुख सहचर-सहयोगी 'पारिपार्श्विक' थ। ।

इन दोनों कुशीलवों के बारे में कहा है—

कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ ।

'आश्रमवासिनौ'—जब कुछ दिन आश्रम में दोनों कुशीलव रहे, तब ज्ञात हुआ कि वे दोनों मुनि वेश में हैं; पर राजपुत्र हैं; सगे भाई हैं; उन का स्वर सराहनीय है और (अपनी कला में) बहुत यश प्राप्त कर चुके हैं । यह भी लिखा है कि संगीत-विद्या में दोनों बहुत निपुण थे । वाल्मीकि ऐसे न थे कि किसी ऐरे-गैरे को नाटक सौंप देते । खूब ठोक-बजा कर देख लिया, तब —'अग्रायत प्रभुः'—अपना नाटक उन्हें सौंप दिया ।

इस के अनन्तर उन कुशीलवों ने नाटक का अध्ययन किया; अपनी मंडली बुलाई; प्रयोग की तैयारी की; जिस पात्र का अभिनय जिस को सौंपा गया, उस ने उस में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दक्षता प्राप्त की और फिर मुनि-समाज में ही 'पौलस्त्य-वध' नाटक का प्रथम प्रयोग हुआ। नाटक देख कर मुनि जन मुग्ध हो गए और आवाज उठी—

'चिरनिर्वृत्तमप्येतत्,
प्रत्यक्षमिव दर्शितम्'

जो घटना बहुत पहले घटी थी, उसे आँखों के सामने ला दिया! ऐसा जान पड़ा कि वह सब हमारे सामने ही हुआ!

मुनियों ने फिर कुशीलवों को उपहार में तरह-तरह की वस्तुएँ भेंट की, जो उन के पास थीं। वे 'राजकुमार' थे कुशीलव; तो भी मुनिजनों के दिए हुए ये (वल्कल आदि) उपहार सम्मान-पूर्वक ग्रहण किए।

इस के बाद वे कुशीलव नाटक लेकर चले गए।

'कुशीलव' और 'कुशलव'

वाल्मीकीय रामायण के टीकाकारों ने 'कुशीलवौ' को 'कुशलवौ' समझ लिया है! लिखा है कि 'कुशलवौ' का आर्ष-प्रयोग है—'कुशीलवौ।' कितना भ्रम! आर्ष-प्रयोग जो ऐसे हुए हैं, उन में स्वर दीर्घ भर हुआ है, स्वर-परिवर्तन नहीं। 'अ' को 'आ' रूप मिल गया है—'सूर्यचन्द्रमसौ' का 'सूर्याचन्द्रमसौ' और 'इन्द्रवरुणौ' का 'इन्द्रावरुणौ' प्रयोग आर्ष है। 'अ' को कहीं भी 'ई' रूप नहीं मिला है।

फिर, यदि कुश-लव नाट्यकलाकार थे और उन के आश्रम में ही थे, तो फिर मुनि चिन्ता में क्यों पड़े कि 'कोन्वेतत्प्रयुञ्जीत'—इस नाटक का प्रयोग कौन करेगा! क्या अपने आश्रम के कलाकारों को कोई नहीं जान पाता? और फिर उन कुशीलवों को 'राजपुत्रौ' कहा गया है; एक जगह नहीं, बीसों जगह। यदि कुश-लव होते, तो 'राजपुत्रौ' की जगह 'रामपुत्रौ' विशेषण होता।

वस्तुतः 'प्रयुञ्जीत' तथा 'कुशीलवौ' का अर्थ ही लोग नहीं समझे?

२. अज्ञात महाकवि का महाकाव्य 'वाल्मीकीय रामायण'

'पौलस्त्य-वध' का 'रस'

'पौलस्त्य-वध' इस नाम से आभास मिलता है कि वह नाटक वीररस-प्रधान रहा होगा। परन्तु लोक-विश्रुति यह है कि वाल्मीकि की वह रचना करुण रस से ओत-प्रोत थी। इस पर विचार करना चाहिए।

कुशल कुशीलव ऐसा ही दृश्यकाव्य पसन्द करते हैं, जिसका प्रयोग पांच-छः घंटे में सम्पन्न हो जाए, और चतुर नाटककार कुशीलवों की इस रुचि का ध्यान रखते हैं। ऐसी स्थिति में सरलता से समझा जा सकता है कि 'पौलस्त्य वध' के लिए वाल्मीकि ने राम-चरित का कितना अंश लिया होगा। पाँच छह घंटे में सुकर-प्रयोग नाटक को पाँच-छह अंकों में विभक्त किया जा सकता है। निश्चय ही राम-निर्वासन से ही नाटक का श्रीगणेश हुआ होगा। 'आदौ रामतपोवनादि गमनम्'। प्रथम अंक में अयोध्या से राम का निर्वासन और उस समय राज-परिवार की दशा का चित्रण मर्मस्पर्शी रहा होगा। दूसरे अंक में राम की वन में स्थिति, सीता का वह वन्य जीवन चित्रित हुआ होगा, जिसे देखकर दर्शकों के हृदय द्रवीभूत हो जाते होंगे। तीसरे अंक में सीता-अपहरण का कारुणिक दृश्य दर्शकों को रुला देता होगा। चौथे अंक में सीता के वियोग में राम की क्या दशा हुई, इस का चित्रण कवि ने किया होगा। पाँचवें अंक में लंका-स्थित सीता का विरह-सन्ताप चित्रित हुआ होगा और छठे अंक में किसी प्रमुख पात्र के मुख से सीता को सूचना मिली होगी कि भयंकर युद्ध में पौलस्त्य मारा गया और राम की विजय हो गई है। इस समाचार से सीता का पुनरुज्जीवन—'सूखत धान परा जनु पानी' की तरह दर्शकों को आह्लादित करता होगा। फिर राम और सीता का पुनर्मिलन। यों सुखान्त नाटक रहा होगा।

इस अन्तिम अंश (छठे अंक) को छोड़, शेष पूरे नाटक में करुणात्मक दृश्य और एक से एक बढ़कर दिल दहलाने वाले। तो, प्रधानता करुण रस की स्पष्ट ही है।

युद्ध रंगमंच पर दिखाया नहीं जा सकता; इसलिए उसकी सूचना किसी ढंग से दे दी जाती है। तो फिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और रस में परिणति होने पर भी उसका परिपाक तो नहीं हुआ न ! दर्शकों के मन तो करुण रस से भरे हुए। उन में पौलस्त्य-वध की सूचना से सुख-संचार होने पर भी वह करुण दृश्यावली ही जमी रहना स्वाभाविक है और इसी लिए 'पौलस्त्य-वध' में करुण रस प्रधान रहा।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है। अर्वाचीन काव्य-विवेचकों ने पारिभाषिक 'करुण' रस की जो परिभाषा दी है, वह अधूरी है। उसके अनुसार तो किसी की मृत्यु हो गई हो, तभी वह 'करुण रस' की परिधि में आता है।

हाँ, 'पौलस्त्य-वध' के अंक-विभाजन की जो बात मैंने कही है, उस पर पाश्चात्य आलोचक और उनके भारतीय चेले कहेंगे कि "उस अति प्राचीन युग में 'लिखने' की कोई बात ही नहीं; क्यों कि तब तक लिपि का निर्माण आर्यों में हुआ ही न था और इसीलिए 'वेद' को 'श्रुति' कहा जाता था। सुनते-सुनाते वह चलता था।"

ऐसे मूर्खों को कैसे बताया जाए कि "कालिदास ने 'रघुवंश' में और तुलसीदास ने 'रामचरित-मानस' में कहा है—।" क्या इन के युग में भी लिपि न थी ? आज कल 'श्रव्य काव्य' ही अधिक लिखे जाते हैं। इस का क्या मतलब ? क्या आज भी लिपि नहीं है ? फिर 'श्रव्य काव्य' 'लिखे जाते हैं'; यह क्या ? इन्हें कैसे समझाया जाए कि 'लिखना-पढ़ना' भी (लिपि के माध्यम से) कहना-बोलना ही है। संसार के सब से प्राचीन साहित्य 'ऋग्वेद' के भी 'मण्डल' तथा 'सूक्त' रूपों में परिच्छेद हैं। तब उसके बहुत दिन बाद वाल्मीकि ने अपने दृश्य काव्य का विभाजन अंकों में किया, तो शंका किस बात की ?

वाल्मीकि के समय दृश्य काव्यों का प्रयोग करने के लिए रंगमंच की भी उत्तम व्यवस्था रही होगी और अभिजात वर्ग के विद्वान् कलाकार अपने को 'कुशीलव' कहलाने में गर्व का अनुभव करते होंगे। तभी तो दो राजकुमार कुशीलव वाल्मीकि की सेवा में जा कर हाजिर हुए थे।

एक बात और ! वह क्रौंच पक्षी की हत्या वाली बात कुछ जमती नहीं है और वाल्मीकि के प्रस्तुत करुण काव्य से मेल भी नहीं खाती। महाकवि निराला के सामने ही, उन की प्रकृति बताने के लिए, लोग कहानियाँ गढ़ लेते थे और मेरे सामने ही (मेरे दिल्ली-अभिनन्दन पर) अनेक विद्वान् मित्रों ने मेरी प्रकृति बतलाने के लिए कई कल्पित प्रसंग उपस्थित किए थे। अन्यत्र भी ऐसा होता है। सो, वाल्मीकि की मनोदशा को वैसे काव्य की रचना के अनुकूल बनाने के लिए वह क्रौंच पक्षी की हत्या वाली कहानी गढ़ी गई है; जो जमती नहीं है।

'पौलस्त्य-वध' से पहले और बाद में

'पौलस्त्य-वध' से पहले और उसके बाद संस्कृत में कितना साहित्य अवतरित हुआ होगा, इसका अनुमान कोई लगा नहीं सकता। यह हो नहीं सकता कि अचानक 'पौलस्त्य-वध' कूद पड़ा हो, उसके पहले कोई साहित्य प्रकट न हुआ हो ! अन्यविध साहित्य के अतिरिक्त दृश्यकाव्य भी काफी बन चुके होंगे और उनके प्रयोग करने वाले कुशीलवों की कला का विकास भी हो चुका होगा। अन्यथा, एकदम वे कुशीलव कहाँ से टपक पड़ते, जो वाल्मीकि के आश्रम में नवीन नाटक की प्राप्ति के लिए पहुँचे थे ? हाँ, यह हो सकता है कि रामचरित को लेकर वह पहला ही नाटक हो, जिसकी चर्चा 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने की है। उसे तो अपनी परम्परा से मतलब। यह भी हो सकता है कि रामचरित को लेकर भी काव्य-रचना हुई हो, जो 'पौलस्त्य-वध' के उदय से अस्त हो गई हो ! पाणिनि से पहले जो व्याकरणकार हुए, उनके नाम तो 'अष्टाध्यायी' से मालूम हैं, उनके मत भी थोड़ा-बहुत मालूम हैं; पर उनके ग्रन्थों का कहीं पता नहीं। इसी तरह यास्क ने अपने 'निरुक्त' में जिन भाषाविज्ञानियों के नामों का और उनके मतों का उल्लेख किया है, सामने हैं। परन्तु उनके ग्रन्थों का पता नहीं ! पाणिनी की 'अष्टाध्यायी' के बाद पहले के सब व्याकरण ग्रन्थ अस्त हो गए और यास्क के 'निरुक्त' ने पहले के सभी निरुक्तीय (भाषावैज्ञानिक) ग्रन्थों को निरस्त-अस्त कर दिया। पाणिनि तथा यास्क के समय अन्य विषयों का भी साहित्य होगा; अन्यथा व्याकरण तथा निरुक्त का प्रदुर्भाव ही संभव न था। परन्तु अपने-अपने विषय के ही पूर्वाचार्यों के नाम और मत दोनों आचार्यों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्र-तत्र प्रकट कर दिए हैं। इसी तरह 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने वाल्मीकि तथा उनकी कृति 'पौलस्त्य-वध' की चर्चा कर दी है। वही सर्वोत्कृष्ट जँचा होगा।

संभव है, 'पौलस्त्य-वध' के बाद भी रामचरित पर साहित्य बना हो, पर नगण्य रहा हो और इसी लिए उस की चर्चा अनावश्यक समझी गई हो। पं० कामता प्रसाद 'गुरु' के हिन्दी-व्याकरण के बाद भी सैकड़ों हिन्दी-व्याकरण बने, पर 'हिन्दी शब्दानुशासन' में केवल 'गुरु' जी का ही उल्लेख है। इस निबन्ध में रामचरित के तीन 'गायक' निर्दिष्ट हैं, परन्तु उनकी संख्या तीन ही तो नहीं है न! तीन पर हमें विचार करना था।

'लिपि का उल्लेख'

लोग यह भी कहते हैं कि वैदिक साहित्य में कहीं 'लिपि' का उल्लेख नहीं है; जिस से स्पष्ट है कि उस समय 'लिखने' की व्यवस्था न थी!

इन लोगों को यह भी कहना चाहिए कि "चालीस वर्ष पहले तक हिन्दी में 'लिखने' की व्यवस्था न थी; क्योंकि अंग्रेजी के 'स्पेलिंग' और उर्दू के 'हिज्जे' की तरह हिन्दी साहित्य में कोई वैसा शब्द नहीं मिलता। हिन्दी में 'वर्तनी' शब्द चले अभी बहुत थोड़े दिन हुए हैं। यदि पहले हिन्दी में लिखने की व्यवस्था होती तो 'वर्तनी' शब्द जरूर मिलता।"

बस, और अधिक क्या कहा जाए। 'वाल्मीकीय रामायण' महाकाव्य जिस महाकवि ने लिखा, उसके नाम-धाम का कुछ पता नहीं। यह भी पता नहीं कि वे कब हुए और कब अपने इस महाकाव्य की रचना की। इतनी ही बात पक्की है कि यह 'वाल्मीकीय रामायण' अति प्राचीन रचना है।

शुक्र तथा मुनि वाल्मीकि का नाम कवि-रूप से सबको विदित है; पर उनके काव्य लुप्त हो गए और इस महा-कवि की रचना सामने है; पर नाम लुप्त हो गया। महा-कवि का नाम 'वाल्मीकि' में अन्तर्हित हो गया।

'वाल्मीकीय रामायण' ऊँचे दर्जे की काव्य-रचना है। इसमें प्रकृति का तथा मानव-प्रकृति का जैसा सजीव वर्णन हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। महाकवि पर अपने युग के समाज का भी प्रभाव पड़ा है। प्रसिद्धि थी—'लंका में सीता की अग्नि-परीक्षा हो गई और उसमें वे खरी उतरीं'। वैसी भयंकर स्थिति में अपना सतीत्व सुरक्षित रखना भयंकर अग्नि-परीक्षा में खरा उतरना है। लोग इसका मतलब यह समझने लगे थे कि परीक्षा के लिए बहुत बड़ी चिता बनाई गई और सीता जी उस धधकती हुई चिता में कूद पड़ीं और फिर अपने सतीत्व के प्रभाव से ज्यों की त्यों, दमकते हुए कुन्दन की तरह, प्रकट हुईं।' महाकवि भी ऐसा ही समझे और यह भी कल्पना की होगी कि वाल्मीकि ने भी अपने रामचरित (रामायण) काव्य 'पौलस्त्यवध' में सीता जी के ऐसे ही अग्नि-प्रवेश का वर्णन किया होगा! वह कैसा कारुणिक दृश्य रहा होगा! महाकवि को इस प्रसंग ने अत्यधिक प्रभावित किया और उनकी यह भावना बनी कि 'पौलस्त्य-वध' इसी घटना के कारण 'करुण रस' का कहा जाएगा; इसी की संगति के लिए कहाकवि ने अपने महाकाव्य के आरम्भिक (भूमिकात्मक) सर्गों में और तब लिखते हुए क्रौंच पक्षियों की कल्पना-प्रसूत कथा लिखी।

महाकवि ने अपने महाकाव्य (वाल्मीकीय रामायण) में सीता के अग्नि-प्रवेश का अत्यन्त करुणात्मक वर्णन किया है। उसे पढ़ने वाले के मन में (सीता के प्रति वैसी कटूक्तियाँ सबके सामने कहते हुए) राम के प्रति असद्-भावना पैदा न हो, यह सम्भव नहीं और वहीं पाठक का सिर माता सीता के चरणों पर झुक जाता है। लोकोत्तर शील, संयम और शालीनता के दर्शन हैं।

जो भी हो, महाकवि का यह वर्णन अद्वितीय है। राम का वैसा रूप वर्णन करके भी महाकवि उन्हें 'धर्मज्ञ' कहता है; यह लोक-लीक! निरपराध सीता का अग्नि-प्रवेश वर्णन भी लोक-लीक का ही पीटना है; अन्यथा महाकवि की पूर्ण सहानुभूति माता सीता की ओर है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को निरपराध देश-भक्त समझते हुए भी न्यायाधीश ने उन्हें दण्ड दिया था। दण्ड देना पड़ा था। वह कानून से बंधा हुआ था। इसी तरह महाकवि लोक-लीक से चिपका हुआ था। उसे वैसा वर्णन करना पड़ा और खूब किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर काण्ड का प्रक्षेप

'वाल्मीकीय रामायण' युद्ध-काण्ड (लंका-काण्ड) पर ही समाप्त है। सातवाँ काण्ड बहुत बाद का प्रक्षेप है; यह उसके नाम से ही स्पष्ट है—'उत्तर काण्ड'—बाद का जोड़ा हुआ काण्ड। महाकाव्य के असली छहों काण्डों के नाम स्थान या घटनाओं को लेकर हैं—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, और युद्धकाण्ड। 'वाल्मीकीय रामायण' का अंग यह सातवाँ काण्ड होता, तो नाम होता—राज्यपालन काण्ड, या सीतानिर्वासन काण्ड।

दुनिया कितनी विचित्र है! कैसे-कैसे क्रूर राक्षस वहाँ पैदा होते हैं। सीता की उस 'अग्नि-परीक्षा' से भी सन्तोष न हुआ और तब 'उत्तर काण्ड' रच डाला। इसी काण्ड में तपस्वी शम्बूक की हत्या राम के द्वारा कराई गई है। और भी बहुत-सी ऐसी ही कहानियाँ हैं; परन्तु सबसे क्रूर कल्पना सीता-निर्वासन की है। निरपराध, अबला, गर्भवती और फिर उसकी वह दुर्गति! बियाबान जंगल में हिंस्र जानवरों को चीर-फाड़ कर खा जाने के लिए उसे छोड़ आना! फिर, कहा क्या गया है—अपने वंश की मर्यादा, अपनी कीर्ति तथा धर्म की रक्षा के लिए वैसा करना पड़ा! यदि यही बात होती, तो धर्मज्ञ राम स्वयं प्रायश्चित करते और वैसा कोई दण्ड स्वयं भुगतते; क्योंकि दोषी वे ही ठहरते हैं। वे सीता जी को पुष्पक-विमान में लंका से अयोध्या लाए और राजभवन में सम्मान के साथ रखा। तब प्रजा ने किसको दोषी समझा होगा?

पत्नी का परित्याग आगे दुष्यन्त ने जो किया, वह सच्ची घटना है; कल्पित नहीं। दुष्यन्त ने शोहदेपन से मुनि-आश्रम की एक बालिका को अपने जाल में फँसा लिया और फिर अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए उसे अप-मानित करके भगा दिया कि यह मुझे कलंकित करके रानी बनने के लिए राँड़ कहाँ से आ पहुँची! शोहदे ऐसा करते ही हैं और जो लड़कियाँ गुरुजनों के परामर्श-अनुमति के बिना वैसा 'प्रेम-विवाह' कर लेती हैं, उनमें से अधिकांश प्रायः पछताती ही देखी जाती हैं। परन्तु दुष्यन्त ने शकुन्तला को पकड़वा कर बियाबान जंगल में नहीं छुड़वाया।

'सीता-निर्वासन' की क्रूर कल्पना हृदय दहलाने वाली है और इसके जोड़ की केवल एक ही और क्रूर कल्पना मिलती है, जो राजा मयूरध्वज की कथा है। कुछ ठिकाना है। एक साधु को प्रसन्न करने के लिए, उसके जानवर के लिए, माता और पिता अपने हाथों आरे से अपने पुत्र को चीर दें। सुनते ही रोम खड़े हो जाते हैं। सीता-निर्वासन के जोड़ की केवल यही एक क्रूरतम कल्पना और है। अन्य सब कुत्सित कल्पनाएँ इनके बाद हैं।

खैर, अधिक कहने को मन नहीं करता—'कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः'। चाहिए था कि किसी मधुर प्रसंग से इस प्रकरण की समाप्ति की जाती। परन्तु सामने यह बीभत्स नारकीय प्रसंग आ गया! आँखें बन्द करके सब भुला दो।

३. गोस्वामी तुलसीदास और 'रामचरित मानस'

ऊपर रामचरित के दो प्रमुख गायकों की चर्चा हुई, जिनके काव्य संस्कृत में बने। तीसरे महाकवि हमारे गोस्वामी तुलसीदास जी हैं, जिनकी 'भाषाभनिति' है—'रामचरित मानस'। यह महाकाव्य 'तुलसीकृत रामायण' नाम से अधिक प्रसिद्ध है। परन्तु इधर हिन्दी के जागरूक विद्वानों के सम्पादकत्व में जो संस्करण प्रकाशित हुए हैं, वे 'रामचरित मानस' नाम से ही अलंकृत हैं; तो भी कथापरिच्छेदों के नाम 'काण्ड' ही रखे गए हैं। गोस्वामी जी ने अपने 'मानस' के सात 'सोपान' रखे थे—'सप्त सोपान'। सातवें 'सोपान' का नाम लोगों ने 'उत्तर काण्ड' रख लिया; परन्तु इसमें वाल्मीकीय रामायण के 'उत्तर-काण्ड' की क्रूरता नहीं है। न यहाँ 'सीता निर्वासन' की चर्चा है; न किसी तपस्वी की हत्या ही राम जी से कराई गई है। इस 'सोपान' या 'उत्तरकाण्ड' को कृति का उत्तमाङ्ग कहना चाहिए; 'उत्तरकाण्ड' यह 'उत्तमकाण्ड' है। सीता और लक्ष्मण के साथ राम का अयोध्या-आगमन, राज्याभिषेक, अपने (लंका-युद्ध के) सहयोगी सुग्रीव, अंगद, हनूमान आदि का कृतज्ञता-पूर्वक सम्मान, प्रजा की सुख-समृद्धि का वर्द्धन, धर्म-स्थापन आदि का वर्णन है और फिर विविध कथा-प्रसंगों में भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि का विशद वर्णन है तथा सर्वोपरि राम-भक्ति का प्रति-ष्ठापन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यानी इस सातवें 'सोपान' को गोस्वामी जी ने लोक तथा परलोक, दोनों का आदर्श 'आदर्श' (दर्पण) बना दिया है—अपना हृदय प्रकट कर दिया है।

'आठवां काण्ड'

वाल्मीकीय रामायण छह काण्डों में है और उसमें सातवाँ 'उत्तरकाण्ड' प्रक्षिप्त है। गोस्वामी तुलसीदास का 'मानस' सात सोपानों में पूर्ण है। परन्तु लोगों ने एक आठवाँ 'काण्ड' गढ़ कर 'लव-कुश काण्ड' नाम से इसमें जोड़ दिया था, जिसमें वे सब क्रूर-कथाएँ तथा ऊल-जलूल निरर्थक कथाएँ भर दी गईं, जिनसे गोस्वामी तुलसीदास बहुत उद्विग्न थे। बीच-बीच में, अन्य सभी काण्डों में 'क्षेपक' भर दिए गए। ऐसे 'क्षेपकों' सहित, तुलसीकृत रामायण, आठों काण्ड' छाप-छाप कर लोगों ने खूब धन कमाया। यह धमाचौकड़ी देख कर हिन्दी के विद्वान् सजग हुए और सभी 'क्षेपक' हटा कर तथा अठवाँ 'लव-कुश काण्ड' काट कर पुनः 'मानस' को अपने निज रूप में कर दिया। अब उन क्षेपकों का तथा आठवें 'लवकुश काण्ड' का कहीं पता-ठिकाना नहीं है।

तुलसी ने एक कुंजी दे दी है

गोस्वामी तुलसीदास ने राम-चरित समझने के लिए विद्वानों के दिमागों पर लगे संशय-संदेहों के कपाट खोल दिए हैं। जड़ता का ताला खोलने की उनकी कुन्जी यह है—

'कलप-भेद हरि-चरित सुहाए,
भाँति अनेक मुनीसन गाए'

गोस्वामी जी ने लिखा है कि राम जी के चरित्र में जो यह भिन्नता है, वह 'कल्प-भेद' से है। प्रत्येक 'कल्प' में राम जी का नवीन अवतार होता है और यों कथा-भेद होता है। राम एक ही हैं।

निश्चय ही 'कल्प-भेद' का मतलब 'कल्पना-भेद' है, कवि सब तरह के होते हैं। वे अपने मन से कल्पना करते हैं। जो जैसा हुआ, उसने वैसी ही कल्पना कर ली। यह कल्पना ही काव्य को 'सुकाव्य' या 'कुकाव्य' बना देती है। समाज की स्थिति तथा मान्यता में भी परिवर्तन होते रहते हैं। कविजन अपने समय की सामाजिक स्थिति से प्रभावित होते हैं और उसी के अनुसार काव्य-कल्पना कर लेते हैं। सो, राम-चरित में जो तरह-तरह के वर्णन-प्रसंग देश-विदेश में मिलते हैं, वे सब कवि-कल्पनाओं की सृष्टि हैं। उन कल्पनाओं को विवेक-दृष्टि से देखना चाहिए कि मर्यादा-पुरुषोत्तम राम से इसका कोई सामञ्जस्य-मेल है भी कि नहीं! राम से भी क्या कोई ऐसा क्रूर तथा अन्यायपूर्ण कृत्य संभव है? इस तरह विवेक के सूप से फटकने पर असार तत्त्व उड़ कर दूर जा पड़ेंगे और सार तत्त्व पास रह जाएगा।

'हरि-चरित सुहाय' जो चरित जिसे सुहाया-मन-भाया, उसी को राम के माथे थोप दिया।

'मुनीसन गाए' में 'मुनीसन' शब्द बड़े काम का है। कुत्सित कल्पना करने वाले भी 'मुनास'। खबीस भी 'मुनीस'! 'कथिता पुण्यजना निशाचराः'। राक्षसों का एक नाम 'पुण्यजन' भी है। यही बात कुकवि जनों को 'मुनीस' कहने में है। और, सुकवि रामगायक तो 'मुनीस' हैं ही; मुनीश वाल्मीकि की परम्परा में हैं; इसीलिए सब 'मुनीस'। साधारण सिख को भी आदर से 'सरदार' कहा जाता है। सो राम-चरित के सभी गायक 'मुनीस' हैं, तुलसी की दृष्टि में।

मैं समझता हूँ, 'कल्प-भेद से रामचरित में भिन्नता' बतलाकर तुलसीदास ने हमें एक ऐसी कुन्जी दे दी है, जिससे हम न केवल रामचरित-काव्यों को ही वरन सभी काव्यपुराण-कल्पना कथाओं को साफ-साफ देख सकते हैं। किसी क्रूर के लिए क्रूर चरित की कल्पना ठीक हो सकती है, परन्तु दयालु धर्मात्मा के लिए नहीं। कभी-कभी अपने काव्य-नायक की प्रतिष्ठा बचाने के लिए भी कविजन कल्पना कर लेते हैं, परन्तु किसी दुश्चरित्र के समाज विरोधी आचरण को कल्पना-बल से छिपाना सामाजिक अपराध है जो महाकवि कालीदास से भी हो गया है। दुष्यन्त के शकुन्तला के प्रति किए दुर्व्यवहार पर मुनि-शाप की कल्पना ऐसी ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मानव मूल्य और आधुनिक हिन्दी काव्य'

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

इतिहासविदों ने भारत और यूरोपीय संस्कृति के सम्पर्क काल को आधुनिक युग के नाम से अभिहित किया है और भारत में यूरोपीय संस्कृति का वर्तमान-काल उन्नीसवीं शताब्दी है। इस शताब्दी में भारतीय जीवन मध्ययुगीन पौराणिक वातावरण में डूबा हुआ था और यह जीवन मन्द गति-पूर्ण और विस्तार भार से लदा हुआ था। इस प्रकृति के दर्शन उस समय की सबीह तथा चित्रकला के अन्य रूपों, शिल्प की पच्ची-कारी तथा सजावट और हिन्दी की रीति कालीन कविता में होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में जब यूरोपीय उपनिवेश-वाद और साम्राज्यवाद अपनी पूरी शक्ति के साथ देश में आया तो यदि एक ओर राजनीतिक और आर्थिक दृष्टियों से देश अधोगति को प्राप्त हुआ, तो दूसरी ओर वैज्ञानिक आविष्कारों और नवीन शिक्षा के प्रचार से देश के बौद्धिक और भावनात्मक जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित हुआ, देश के बुद्धिजीवियों का पाश्चात्य विचार-परम्परा और साहित्य के साथ सम्पर्क स्थापित होने के फलस्वरूप और साथ ही देश के अतीत गौरव के स्मरण से नवोत्थान की लहर फैलने में विलम्ब न हुआ। देश वासियों में नवीन साहित्यिक,कलात्मक और शासन संबंधी आकांक्षाएँ उत्पन्न हुई। यह बात विशेषरूप से ध्यान देने की है कि जहाँ देश में एक ओर पाश्चात्य प्रभाव अत्यन्त तीव्रता के साथ बढ़ रहा था, वहाँ दूसरी ओर अपनी प्राचीन साँस्कृतिक परम्पराओं से देश का ध्यान अपने प्राचीन गौरव की ओर गया। भारत के बुद्धिजीवियों को यह देश 'विश्व-गुरु' के रूप में दृष्टिगोचर होने लगा, एक ऐसे देश के रूप में दृष्टि गोचर होने लगा जिसका अपना एक ऐसा सन्देश था जिससे मानव का कल्याण हो सकता था; जहाँ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' जैसे स्वरों का उद्घोष हो चुका था। यहीं से देश में 'पूर्व' और पश्चिम' का संघर्ष प्रारम्भ होता है। यह एक विचित्र ऐतिहासिक घटना है कि आधुनिकता के जन्म के समय से ही आधुनिक भारत का निर्माण स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे महापुरुषों द्वारा हुआ जो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित होते हुए भी भारतीय आध्यात्मिक गरिमा और सन्देश को भूले नहीं थे। यह भारतीय नवोत्थान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रथम चरण था जिसके फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी देश के बौद्धिक एवं साँस्कृतिक जीवन में एक नितान्त नूतन मोड़ प्रस्तुत करती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय जीवन में अभिव्यक्त यह प्रक्रिया उस महान् ऐतिहासिक क्रम का एक अंग थी जो समस्त एशिया के जीवन को स्पन्दित कर रहा था। वास्तव में कोपर्निकस, मिल, मोर्ले तथा अन्य यूरोपीय चिन्तकों और विचारकों ने भारतीय मध्ययुगीन जीवन की जड़ हिलादी। यही उन्नसवीं शताब्दी का वास्तविक महत्त्व है, अन्यथा राजनीतिक उत्थान-पतन तो पहले भी हो चुके थे। इस नवीन ज्ञान के प्रकाश में जीवन का फिर से संस्कार किया जाने लगा।

अत: वैचारिक स्तर पर उन्नीसवीं शताब्दी एक नई संक्राँति का काल था। पश्चिमी समस्यता एवं संस्कृति के साथ टकराव फलस्वरूप लोगों का दृष्टिकोण बदला, प्रजा-तंत्र की नींव पड़ी और अनेस प्रकार की विषमताओं और वर्जनाओं का जीवन व्यतीत करते हुए भी एक नए युग का सूत्रपात हुआ और जड़ जीवन-पद्धतियों एवं निष्क्रियता के बीच नवीन उत्साह, सक्रियता एवं आत्म-विश्वास की भावना का उदय हुआ जिसकी अन्तिम परिणति बीसवीं शताब्दी में स्वतंत्रता-प्राप्ति में दृष्टिगोचर होती है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लगभग १५०-१७५ वर्ष की दासता के अभिशाप को भुगतते हुए और उसके मध्य भारत में अनेक अधुनातन विचारधाराओं का जन्म एवं विकास हुआ। इसलिए जब आधुनिक काव्य के सन्दर्भ में मानव-मूल्यों की बातें उठाई जाती हैं तो उसका सीधा अर्थ समाजिक परिवेश एवं सामयिक जीवन की गति के भीतर उभरते हुए एवं स्वरूप ग्रहण करते हुए प्रगतिशील तत्त्वों से है। इसलिए आधुनिक काव्य और मानव-मूल्यों का अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित हो जाता है।

एक समय वह था जब हिन्दी कविता परिपाटी विहित और रूढ़िग्रस्त राधा-कृष्ण की लीलाओं और नायक-नायिकाओं के कल्पित ऐश्वर्य और विलास में डूबी हुई थी। इन भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवियों के पास उपयुक्त साधन थे। परन्तु पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क में आने से हमारे कवियों का ध्यान प्राचीन काव्य-परम्परा के निर्वाह के अतिरिक्त नवीन भावों और विचारों और अपने चारों ओर की दुनिया की ओर भी जाने लगा। कविता दरबारों से निकल कर सड़क पर आगई। एक ओर तो रूढ़ियों और परम्पराओं ने, और दूसरी ओर अंगरेजी-शासन के कर्मचारियों ने साधारण जन को ऐसा दबोच रखा था कि उसे उभरने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो रहा था। हिन्दी के कवियों ने पहली बार देश की सामूहिक भलाई की ओर ध्यान दिया और मनुष्य को मनुष्य समझा। उन्होंने लोकहित की ओर ध्यान दिया। शताब्दियों से पीड़ित मानव का उद्धार करना चाहा। अंगरेजी राज्य के अन्तर्गत नवजात और नवशिक्षित मध्यम वर्ग ने इस दृष्टि से अग्रगण्य भाग लिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, बालमुकुन्द गुप्त, बद्रीनारायण चौधरी, 'प्रेमधन, श्रीधर पाठक आदि कवियों ने अपने समय के मनुष्य को उसके सामाजिक एवं राजनीतिक सन्दर्भों में, पूरी समग्रता के साथ मूल्याँकित करने का प्रयास किया और मानव को अपने चिन्तन का आधार बनाया। यदि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की सारी आधुनिक कविताओं को एक स्थान पर संकलित किया जाय तो उस समय के भारतीय मानव के समूचे जीवन का एक अच्छा चित्रफलक उपस्थित हो सकता है। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी कवियों की दृष्टि देश की दीनहीन दशा की ओर गई और ब्रिटिश शासनान्तर्गत घूमते हुए नर-कंकालों के प्रति सहानुभूति उमड़ी। जब वे भूख से पीड़ित, अर्द्ध-नग्न और अशिक्षित भारतवासी को देखते थे, जब वे उसे तरह-तरह की रूढ़ियों में ग्रस्त देखते थे, तो उनकी आत्मा कलप उठती थी। वे उसके सारे अभाव दूर कर उसे परिष्कृत और समृद्ध मानव के रूप में देखना चाहते थे। 'प्रेमधन' ने कहा भी था:—

'नहिं विद्या नहिं बाहुबल, नहिं खरचन को दाम'

भारतेन्दु का भावावेग भी ऐसे देशवासियों के प्रति उभरा जिनके घरों में भूंजी भाँग भी नहीं थी, महंगी के कारण जो उदर-पोषण भी न कर पाते थे, जो फाके करते थे, जिनके पास बुद्धि नहीं थी और जिनके संबंध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा:—

'दीन दसा अँसुअन पिचकारिन सब लिलार भिजयोरी।' उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हुए बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा था:—

'भारत धोर मसान है, तू आप मसानी।
भारतवासी प्रेत से डोलहिं कल्यानी।
हाड़ माँस नर रक्त है भूतन की सेवा।
यहाँ कहाँ मा पाइये चन्दन घी मेवा?

अथवा—

'पेट भरनहित फिरें हाय कूकर से दर दर।
चारहिं ताकें पैर लपकि मारहिं जो ठोकर॥
तुम्हीं बताओ राम तुम्हें हम कैसे जानै।
कैसे तुम्हरी महिमा कलुषित हिय महं आनैं॥

इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में जब हिन्दी कविता ने करवट बदली तो वह मानवा-भमुख हुई।

किन्तु, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, उन्नीसवीं-शताब्दी की यह मानवोन्मुखी कविता उस व्यापक भारतीय मानवतावाद का अंग थी जो हमें अपने प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है। आधुनिक हिन्दी कविता में प्रारम्भ से हमें एक ऐसी निष्ठा मिलती है जिसमें अन्तरात्मा की शक्ति है, जिसमें परम्परागत मानव-मूल्यों को नवीन विज्ञान और समाज-संगठन के बीच पारस्परिक संबंध स्थापित कर फिर से खोजने का पुनीत प्रयास मिलता है। इस परम्परागत भारतीय मानवतावाद का परिवेश अत्यन्त व्यापक था। उसने शताब्दियों तक भारतीय चेतना को प्रभावित किया। जब हमारे यहाँ यह कहा गया कि विश्व के सभी मानव सुखी हों, सभी रोग मुक्त, सभी कल्याणकारी कार्यों का अवलोकन करें और कोई भी दुःख का भागी न बने, अपने-पराये की संकुचित भावना से सभी दूर रहें और उदार चरित वालों के लिए यह संपूर्ण धरती ही कुटुम्ब-सदृश है, तो वह मानव-मंगलापेक्षी भावनाओं से प्रेरित होकर ही कहा गया था। सहिष्णुता, समर्पण, प्रेम, अहिंसा, सद्भावना, करुणा, सहानुभूति, समानता, निःस्वार्थभाव, अन्तःकरण की शुद्धता, न्याय, आत्म-तुष्टि, त्याग, अंहकार विसर्जन, परोपकार आदि भारतीय मानवतावाद के प्रमुख तत्त्व हैं। मानव-जीवन को हमारे पूर्वजों ने अशोभन नहीं माना। वह तो अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने का एक पवित्र साधन है। भारतेन्दु-युगीन आधुनिक कविता का मानव-प्रेम इसी परम्परागत आदर्श का पोषण करने वाला है। किन्तु वह भावुकतापूर्ण अधिक और विचार-प्रधान कम था। कोई निश्चित परम्परा और स्पष्ट दिशा न होने के कारण इन मानव-मूल्यों में केवल मानव के प्रति प्रेम है, विचार-प्रसूत निश्चित दिशा देने का प्रयास नहीं है। जीवन के सत्व का अन्वेषण करना और उसके मानवीय पक्ष पर बल देना उनका प्रधान लक्ष्य था।

यह तो सर्व विदित है कि आर्य समाज ने एक विशेष शास्त्रीय और तार्किक प्रणाली को जन्म दिया था। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के समन्वय से इस प्रणाली ने तथा विवेकानन्द द्वारा प्रचलित वेदान्त द्वारा प्रचलित वेदान्त ज्ञान ने और भी अधिक व्यापक रूप धारण किया। स्वर्गीय विपिनचन्द्र पाल ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि इस प्रवृत्ति ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि जिन सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं की कुछ वर्ष पूर्व विगर्हणा की जाती थी, उनका बुद्धि और यूरोपीय ज्ञान के आधार पर समर्थन किया जाने लगा और यह बात सिद्ध की जाने की चेष्टा होने लगी कि भारतीय मनीषा से प्राप्त उत्तराधिकार गंभीर सत्य पर आधारित था, उसके कारण विदेशियों के सामने लज्जित होने की आवश्यकता नहीं। इस प्रवृत्ति से यद्यपि प्रतिगामी शक्तियों को भी बल प्राप्त हुआ, तो भी व्यापक दृष्टि से समाज में गतानुगतिकता के पीछे सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक बीस-पच्चीस वर्षों में इस प्रवृति ने काफ़ी प्रमुखता प्राप्त कर ली थी। वैज्ञानिकता की प्रेरणा के कारण, ज्ञान की पिपासा और जिज्ञासा शान्त करने की दृष्टि से व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रत्येक बात का कारण जानने और उसके प्रकाश में किसी विशेष समस्या के उचित-अनुचित, स्वस्थ-अस्वस्थ रूप का विश्लेषण कर अपना मत निर्धारित करने की आकांक्षा जाग्रत हुई। विवेक का प्रयोग किए बिना अब वह कोई बात स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। इस तर्क बुद्धिवाद में भावुकता के स्थान पर नीर-क्षीर-विवेक था। इस सन्देश के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति के आन्तरिक रूप पर बल दिया गया—यहाँ तक कि देवी-देवताओं और ईश्वर सेवा का रूप भी बदलने लगा। पौराणिक कथाओं और पात्रों की कथाएँ प्रस्तुत अवश्य की गईं, किन्तु उनमें मानव-जीवन का कोई-न-कोई सत्य अन्वेषित किया गया। शंका-पूर्ण स्थलों का खण्डन कर उन्हें आधुनिक और मानव-सापेक्ष रूप देने की चेष्टा की गई। कवियों को किसी अपार्थिव, अलौकिक और अतिमानवी रूप के प्रति अब कोई मोह नहीं रह गया था।

तर्क बुद्धिवाद द्वारा सम्मत हिन्दी कवियों के मानववादी दृष्टिकोण ने यदि राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में जनवादी रूप धारण किया, तो सामाजिक क्षेत्र में उसने दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया। दोनों रूप नवीन चेतना के प्रतीक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आधार बने। भौतिक दृष्टि से जनसाधारण के जीवन को सुखमय बनाना जनवाद की मूल भावना थी। इससे जनता के अधिकारों की रक्षा की बात सोची गई। राज्य-सत्ता और जन-हित का संघर्ष उसमें निहित था। भारतवर्ष जब स्वतंत्रता-संग्राम में रत था, एक जबरदस्त साम्राज्यवादी शक्ति से संघर्ष ले रहा था और जब उसके जीवन में कर्मठता, आत्मोत्सर्ग की भावना और देश के प्रति अनुराग की आवश्यकता थी, तो कवियों में एक विशिष्ट मानववादी दृष्टिकोण का जन्म होना स्वाभाविक था। उनका मुख्य उद्देश्य अपार जन-समूह को पशुवत् जीवन के गर्त से निकाल कर मनुष्य के धरातल पर लाने का प्रयास था। गाँधी जी ने भी भौतिक आवश्यकताओं से ऊपर आध्यात्मिकता पर ही अधिक बल दिया। छायावादी-रहस्यवादी कवियों में सांस्कृतिक चेतना का उदय तो अवश्य हुआ था, किन्तु अधिकतर ये कवि वायवी लोक में ही अधिक विचरण करते रहे। स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म में उन्होंने एकात्मता का अनुभव अधिक किया। उसमें सात्विक उल्लास था, मानव के प्रति कल्याण-कामना भी थी, किन्तु उसका नैतिक-व्यावहारिक रुप हमारे समाने नहीं आता। राष्ट्रीयता परक काव्यधारा में भारत माता के साथ-साथ भारत-संतान के प्रति प्रत्यक्ष प्रेम था। जीवन के अभाव और लघुता उनके सामने स्पष्ट थी। तो भी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के फल-स्वरूप उत्पन्न कविता ने मानव-जीवन के आदर्श पक्ष पर ही अधिक बल दिया। उस समय की वैचारिक ईकाई थी—आदर्शवादिता (जो स्वतंत्रता-संग्राम-रत देश में स्वाभाविक था)। तत्कालीन कविता में आदर्श मानव-परक जो मूल्य उभरे उनके प्रति लोगों का रागात्मक संबंध था और देश की सामूहिक बुद्धि एक धार्मिक-नैतिक और सामाजिक परम्परा की पृष्ठभूमि पर किसी कृत्य का, किसी आचार-विचार का मूल्यांकन कर लेती थी। स्वतंत्रता-संग्राम ने कुछ सिद्धान्त स्थापित किए थे जो कालांतर में मूल्य के रूप में परिवर्तित हो गए। राजनीति के क्षेत्र में मनुष्य को मनुष्य के रूप में पहचानने की प्रवृत्ति ने जो दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया उसमें विवेकानन्द का अद्वैत-दर्शन था, साहित्य में 'प्रसाद' द्वारा गृहीत करुणा के सन्देश द्वारा 'विश्वात्मा' के दर्शन करना था, सब प्राणियों में समभाव रखते हुए कर्त्तव्य-पालन, अहिंसा, सहनशीलता, क्षमा-शीलता स्नेह, सहानुभूति आदि को जीवन में स्थान देना था, गरीब की सेवा में ही ईश्वर सेवा का रूप देखना था, मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर में ईश्वर का निवास न देखकर उसे गरीब की झोंपड़ी में देखना था। मानव-जीवन के इसी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक धरातल पर सब धर्मों की समानता, सामाजिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष की समानता और अछूतोद्धार और धार्मिक क्षेत्र में सबको ईश्वर की उपासना करने के अधिकार की घोषणा की गई। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक पच्चीस-तीस वर्षों में हिन्दी काव्य अधिकाधिक जीवन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सापेक्ष्य भाव-भूमि पर स्थित हुआ। 'प्रसाद' की इड़ा के साथ श्रद्धा का समन्वय स्थापित हुआ। निस्सन्देह जीवन के ये आध्यात्मिक एवं दार्शनिक मूल्य भारतेन्दु युगीन जीवन-मूल्यों से कहीं अधिक व्यापक थे। भारत वर्ष का सनातन आदर्श—विश्व-बन्धुत्व—फिर से लोगों के सामने आया। मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' आदि अनेक कवियों की रचनाओं में सामान्य मानव में 'विश्वात्मा' के दर्शन कराए गए हैं, मानव के समष्टि रूप के लिए व्यष्टि रूप के उत्सर्ग की उच्च भावना व्यक्त हुई है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जीवन के इन मानव-मूल्यों की स्थापना में विवेकानन्द और फिर महात्मा गांधी के विचारों का प्रभाव भी कम मात्रा में नहीं पड़ा। मानव-मूल्यों के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक और जनवादी पक्षों ने सामाज में आदर्शवाद की स्थापना की, अर्थात्, जीवन के एक उदात्त और उत्कृष्ट रूप की पुनः स्थापना और जीवन का निर्माण एक नैतिक धरातल पर करना, क्योंकि पराधीन भारत के सामने जीवन के अभाव और लघुता स्पष्ट थी। कवियों ने उस आदर्श को ग्रहण किया जिसमें प्राचीन और नवीन का अद्‌भुत सम्मिश्रण था। कवियों ने 'राम' की विजय 'रावण' पर देखनी चाही। उन्होंने लघुत्व के भीतर महत्त्व की स्थापना की। दूसरे शब्दों में, भारतीय आत्मा की खोज की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से गया। उनकी रचनाएँ सत, शिव और सुन्दर की मनोरम कल्पनाओं से अनुरंजित है। उन्होंने सीमा का अतिक्रमण भी किया, किन्तु आदर्शवाद की तो यह स्वाभाविक गति है। इस समय ऐसे आदर्श परक जीवन-मूल्य स्थापित किए गए जो सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, राष्ट्रीय आदि क्षेत्रों में सभी प्रकार विगर्हणा दूर कर जीवन को औदात्य और स्वातंत्र्य की ओर अग्रसर करने वाले थे। कहना चाहें तो हम यह कह सकते हैं कि उस समय के जीवन-मूल्यों का संबंध राष्ट्रवाद से था। यहाँ तक कि स्वच्छन्दतावादी काव्य का लक्ष्य भी जीवन को नवीन स्तर पर स्थापित करना था। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण शास्त्रगत नहीं, वरन् व्यक्ति की स्वतंत्र अनुभूति द्वारा उत्पन्न हुआ था। प्रत्यक्षतः उसका संबंध तर्क बुद्धिवाद से था, और अन्त तोगत्वा आदर्शवाद से भी। राष्ट्रीयता और स्वच्छन्दता-वाद दोनों ने उस नवजागरण काल में अपनी-अपनी भूमिकाओं का निर्वाह किया और जीवन में ज्ञान, कर्त्तव्य, कर्मठता, सदाचार आदि का स्वर भरा। ये मूल्य राष्ट्र और व्यक्ति दोनों को सुख, कल्याण और समृद्धि की ओर ले जाने के लिए थे। भारत का मानवी-करण, या कहना चाहिए, दैवीकरण भी इसी उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए हुआ था और महात्मा गांधी का सत्य और अहिंसा का दर्शन भी इन्हीं जीवन-मूल्यों में से प्रस्फुटित हुआ था।

१९३० के आसपास हिन्दी कविता में प्रगतिवाद का जन्म हुआ—अर्थात् उस काव्य-धारा का जो कम्यूनिज़्म से प्रभावित थी। एक प्रकार से कम्यूनिज़्म का यह साहित्यिक मोर्चा था। राजनीति के क्षेत्र में इस काव्य-धारा ने गांधी वादी जीवन-मूल्यों का विरोध किया, तो साहित्य के क्षेत्र में छायावादी वायवी एवं रोमानी प्रवृत्तियों का और यथार्थवाद का आश्रय ग्रहण कर सर्व हारा वर्ग के अधिनायकत्व का स्वर उच्च किया। उन्हें लाल क्रान्ति में विश्वास था। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि प्रगतिवाद को न तो साधन और साध्य की पवित्रता में विश्वास था और न भौतिक जगत् के आतिरिक्त अन्य किसी सत्ता में। स्पष्ट है ऐसी विचार धारा को जीवन के आदर्शपरक मूल्यों में विश्वास नहीं हो सकता था। उनका समाज-दर्शन भी परम्परागत भारतीय समाज-दर्शन से भिन्न था। ऐतिहासिक दृष्टि से निस्सन्देह प्रगतिवाद ने हिन्दी कविता को एक नया आयाम प्रदान किया। किन्तु द्वितीय महा युद्ध के समाप्त होते-होते यह काव्य धारा समाप्त हो गई। भाषा, भाव, छन्द आदि की दृष्टि से प्रगतिवाद ने कुछ नाविन्य भी प्रकट किया। तो भी जहाँ तक जीवन-मूल्यों से संबंध है प्रगतिवादी काव्य-धारा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा की भाँति कोई विशेष दृष्टिकोण प्रदान न कर सकी। न तो उसने जीवन किसी एक विशेष दिशा की ओर मोड़ा, न उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सक्रिय बनाया। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा में जीवन को एक उदात्त और परिष्कृत रूप प्राप्त हुआ था, उसमें एक नई शक्ति आई थी। प्रगतिवादी काव्य-धारा ने व्यापक जीवन को प्रभावित करने के स्थान पर, एक सीमित संख्या के लोगों को नया दृष्टिकोण और नई आस्था प्रदान की। किन्तु जीवन में कोई नए मूल्य स्थापित न किए। उसने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा के सात्विक मूल्यों की उपेक्षा की और साथ ही कोई आध्यात्मिक या दार्शनिक या मानसिक संस्कार भी प्रदान न किया। अपनी संकीर्णता के कारण वह न तो हिन्दी साहित्य का प्रमुख अंग बन पाई और न अधिक दिन जीवित रही। उसने मूर्द्धन्य कोटि का कोई कवि भी न दिया। उसने अपनी सारी शक्ति परम्परागत जीवन-संस्कारों को झुठलाने में लगा दी और कुरूपता एवं विद्रूपता की सृष्टि की। यथार्थपरक होते हुए भी यह काव्यधारा जीवन की यथार्थता को संतुलित अभिव्यक्ति प्रदान न कर सकी। अतः जहाँ तक जीवन-मूल्यों की स्थापना से संबंध है, प्रगतिवादी काव्य-धारा के पोषक दावा चाहे जितना लम्बा-चौड़ा भरें, वस्तुस्थिति यह है कि वह बहुत कम सफलता प्राप्त कर सकी।

और महात्मा गाँधी 'राम-राज्य' का अपना सपना लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ संघर्षरत रहे। द्वितीय महायुद्ध भी समाप्त हो चुका था, किन्तु भीषण ज्वाला से संसार को संतप्त कर गया था। ऐसे ही माहौल में १५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भारत में न तो 'राम-राज्य' की स्थापना हुई और न द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार में शान्ति। इन दोनों कारणों से हमारा आज का जीवन बहुत बिखरा-बिखरा-सा हो गया है। प्रत्येक दिशा में खण्डित मर्यादाएं हैं और विच्छिन्न मूल्यों की अस्त-व्यस्त परम्परा है। इसका तात्कालिक परिणाम एक ओर सामाजिक एवं वैयक्तिक सीमाओं का टूटना तथा दूसरी ओर नैतिक मान्यताओं की विकृति है। इन दोनों के मध्य मानव-जीवन में अनास्था एवं कुण्ठाओं की ऊंची मीनारें उठ रही हैं तथा मानव-मूल्य की मर्यादा शंकालु बनती जा रही है। यह प्रवृत्ति बहुत कुछ विध्वंसात्मक है और ऐसी परिस्थिति में कवि का दायित्व बढ़ जाता है। वह नए उभरने वाले मानव-मूल्यों का अन्वेषण करता है तथा मानव जीवन के विविध प्रसंगों के सन्दर्भ में सहानुभूतिपरक दृष्टिकोण लेकर उन्हें अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है। मनुष्य अपने परिवेश, इतिहास-क्रम तथा काल-प्रवाह के सन्दर्भ में क्या स्थिति महत्त्व नहीं रखती कविता इस ओर इंगित करके जीवन के नए प्रतिमानों का निर्माण करती है।

वास्तव में स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद मनुष्य के सामने एक मोह-भंग की स्थिति उभर आई है। जब-जब परिस्थितियों में परिवर्तन होता है तब-तब मानव जीवन के सारे सम्बन्धों पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो हो जाता है। बदले हुए सम्बन्ध पूर्व-निर्धारित मूल्यों के लिए चुनौती बन जाते हैं। उस स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि परिवर्तन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आयामों को पहचाना जाए। हमारा आधुनिक काल ऐसा था, जहां एक बहुत बड़ा समुदाय अपने मूल्यों एवं आस्थाओं के खण्डित होने से बदहवासी की हालत में था और पराजय की गहन अनुभूति से जर्जर हो गया था। विभाजन में हत्याएं, बलात्कार तथा निर्मम अत्याचार ही नहीं हुए थे, बल्कि समग्रता के मोह में डूबा हुआ व्यक्ति भीतर से पूरी तरह से विच्छिन्न हो गया था और उसकी सारी आस्थाएँ तथा मूल्य-मर्यादा शून्यता के प्रवाह में विलीन हो गई थीं।

यह मानवीय संकट केवल यहीं का नहीं था, बल्कि समूचे विश्व का था। परिस्थितियों के सन्दर्भ हर राष्ट्र में चाहे भिन्न-भिन्न हों, लेकिन हर स्थान पर मानवीय संकट गहरा होता जा रहा था। मूल्य-मर्यादाएँ टूट रहीं थीं और मोह-भंग की स्थिति जड़ता उत्पन्न करती जा रही थी। कविता इस मानवीय संकट की उपेक्षा नहीं कर सकती थी, क्योंकि सभी साहित्यिक विधाओं की तुलना में वह मानव जीवन को अधिक समग्रता तथा सूक्ष्मता से आत्मसात् ही नहीं करती, वरन् जीवन-सहज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सूक्ष्म चित्रफलक पर उसे अभिव्यक्त भी करती है।

अरविन्द ने भी स्वीकार किया है कि विकास की स्वाभाविक परम्परा में जैसे पशुता से मनुष्य की स्थिति आई है, ठीक उसी प्रकार हम इस स्थिति से भी आगे जाएंगे। वस्तुतः हमें यह स्वीकार लेना चाहिए कि जब तक मनुष्य को उसकी समग्रता में देखने की चेष्टा नहीं होगी, मानवीय पक्ष कविता में उभर ही नहीं सकता और मानवीय संकट निरन्तर गहरा ही होता जाएगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानवतावादी दृष्टिकोण का विस्तार उस व्यापक परिवेश में होता है, जहाँ तक इस सृष्टि का विस्तार है। कविता में अभिव्यक्त की जाने वाली सभी अधुनातन विचारधाराओं में मानवतावादी दृष्टिकोण का सर्वाधिक महत्त्व है तथा वह हमारे रचनाकारों को विभिन्न स्तरों पर प्रभावित करता रहा है।

जैसा की अभी-अभी कहा जा चुका है, आज संसार में चारों तरफ गहन संकट छाया हुआ है और सम्पूर्ण मानव-जाति का अस्तित्त्व खतरे में पड़ गया है। आज का संसार पहले से बहुत भिन्न है और हमें आज की तकनीकी क्रान्ति के साथ सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है। आज की सबसे बड़ी समस्या यह है कि मनुष्य जाति कैसे सुरक्षित रहे। आज दासता तथा स्वतन्त्रता का प्रश्न उतना नहीं है, जितना हमारी सभ्यता एवं संस्कृति के जीवन एवं मृत्यु का। मानवतावाद का उदय इन्हीं परिस्थितियों के सन्दर्भ में हुआ है। मानवतावादी विचारधारा हमें आधुनिक संकटग्रस्त जीवन की संक्रान्तियों को एक नए दृष्टिकोण से समझने में सहायता देती है। इससे आज की उलझी हुई मानव अनुभूति के अनेक उल्लेखनीय प्रसंगों को स्पष्टतया समझा जा सकता है। मानवतावाद का प्रमुख लक्ष्य इस सृष्टि में मनुष्य की वास्तविक स्थिति का अन्वेषण है। साथ ही यह भी कि, क्या प्राप्त करना उसके लिए वाछंनीय है और क्या अवांछनीय मानवतावाद इस प्रकार मानव उद्देश्यों, मूल्यों एवं आदर्शों को स्पष्ट करने के साथ-साथ उसे सम्पुष्ट भी बनाता है तथा उसे अपने आसपास के परिवेश, जीवन, समाज तथा विश्व-व्यवस्था के अधिक निकट लाकर अपने पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त करने में सहायता देता है।

विज्ञानवाद तथा मानवतावाद परस्पर विरोधी मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। विज्ञानवाद मनुष्य को भौतिक परिस्थितियों की तुलना में सर्वोपरि सिद्ध करके उसे स्वयं अपने ही ऊपर श्रेष्ठ सिद्ध करने और अपने द्वारा मनुष्यों का संहार करने के लिए प्रयोग करने पर बल देता है। इसके विपरीत मानवतावाद मनुष्यों को स्वतन्त्र करके उसकी मानवीयता के अन्वेषण एवं प्रतिष्ठापन पर बल देता है। वह मनुष्य को असीमित समाज एवं मानव भावनाओं के साथ समन्वय की दिशा में गतिशील करता है। इस प्रकार मानवतावाद मानव-सेवा को ही सर्वोच्च धर्म मानता है। वह उत्तम जीवन, सामंजस्य, सन्तुलन तथा उदारता में विश्ववास करता है। मानवतावाद एक जीवन पद्धति है, जो विश्व-परिवार एवं सद्भावना की स्थापना तथा हमारी दृष्टि के विस्तार में सहायता देती है।

सम्पूर्ण मानव इतिहास में न जाने कितने मानवतावादी विचार आए और गए, लेकिन स्थायी रूप से केवल तीन मानवतावादी दृष्टिकोण—भारतीय, चीनी तथा पश्चिमी—अपने शाश्वत मूल्यों के कारण जीवित रहे हैं। प्रत्येक ऐतिहासिक सभ्यता में मनुष्य और समाज के लिए सार्वभौमिक तथा उत्कर्षशील मूल्यों एवं सम्भावनाओं का मार्ग प्रशस्त करने के कारण ही ये तीनों विचारधाएं इतनी मूल्यवान सिद्ध हुई हैं। तीनों ने मानव-व्यक्तित्व की अनिवार्य आवश्यकताओं और सामाजिक व्यवस्था के समन्वय को सार्वजनीन रुप में ग्रहण किया है। तीनों ने ही मनुष्य और समाज की प्रादेशिक एवं वर्गगत सीमाओं को तोड़कर 'सम्पूर्ण विश्व एक है' की भावना को आत्मसात् करने की चेष्टा की है। सभी ने ऐतिहासिक सत्य, मूल्य एवं पौराणिकता के मध्य समन्वय स्थापित करने का यत्न किया है। यद्यपि आज चीनी तथा पश्चिमी मानवतावाद की अनेक सीमाएं बन गई हैं, और वे आज की मानव आवश्यकताओं के सन्दर्भ में अनुपयुक्त सी प्रतीत होती हैं, फिर भी इससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं हो जाता।

जीवन के प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण के विकास ने पश्चिमी मानवतावाद को दो रूपों में प्रभावित किया। एक तो यह यथार्थ से दूर पड़ गया, क्योंकि वहाँ के अधिकांश लोगों के लिए जीवन की समग्रता लगभग असम्भव प्रतीत होती है। दूसरे आर्थिक व्यवस्था तथा संस्थाओं के अन्याय तथा शोषण के प्रति विरोध एवं घृणा बौद्धिक विचार धारा के लिए एक सामान्य बात हो गई। चीनी मानवतावाद अनिवार्यतः प्राकृतिक, सामाजिक तथा ऐहिक है। उसके अनुसार कोई सिद्धान्त परम्परा द्वारा अनुमोदित होना चाहिए, न कि ज्ञान द्वारा। वह मानता है कि मानव अपनी वास्तविक विशिष्टता ठोस मानव-सम्बन्धों के माध्यम से ही प्राप्त कर सकता है।

मानवतावाद की स्थिति परम्परा तथा आधुनिकता के मध्य अत्यन्त विचित्र है। उसे फैशन की झोंक में पुरातनवादी होने का प्रतीक समझ लिया जाता है। आधुनिक पश्चिमी मानवतावादी विचारधारा में धार्मिक या आध्यात्मिक मनोवृत्तियों के प्रति सन्देह भाव पाया जाता है। इतिहास में एक लम्बे समय तक धर्म सभी संस्कृतियों का आधार स्वीकार किया जाता रहा। लेकिन धीरे-धीरे धर्म की तथाकथित महत्ता एवं समग्रता के प्रति आधुनिक विचारकों द्वारा सन्देह प्रकट किया जाने लगा, फलतः धर्म की उपयोगिता मानव और समाज के सन्दर्भ में विचारी जाने लगी। द्वितीय महायुद्ध ने मनुष्य को आमने-सामने खड़ा कर दिया है। वे अनुभव करने लगे हैं कि उनके सामने दो विकल्प हैं। या तो मानवता की रक्षा करें या मानव एवं सभ्यता का विध्वंस करें। यही कारण है कि धर्म की तुलना में आज विज्ञान कहीं अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। लेकिन यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि धर्म की रूढ़ियों का तिरस्कार किया जाता है, समूचे धर्म का नहीं। बिना आध्यात्मिक आधार के कोई नैतिक अनुशासन या मानवता के प्रतिमान स्थापित नहीं किए जा सकते।

मानवतावाद सेक्स के सम्बन्ध में भी यही धारणा रखता है कि किसी को भी हम 'उपभोग' की वस्तु न समझें, वरन् मानवीय स्तर पर लें। आधुनिक काल में मानवतावाद प्रजातन्त्र का विकास जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहता है। मानव का वास्तविक उद्देश्य उत्तरदायित्व-पूर्ण स्वतन्त्रता है, प्रजातन्त्र इस नैतिक सिद्धान्त की राजनीतिक अभिव्यक्ति है। इन परिस्थितियों में ही एक सार्वभौमिक परिवेश निर्मित होने की आशाएं बलवती होती हैं। यह एक प्रकार का विश्व मानवतावाद है।

मानवतावादी विचारधारा के विभिन्न तत्त्व इसी सन्दर्भ में अन्वेषित किए जा सकते हैं। भारतीय मानवतावाद में सहिष्णुता, समभौता, सहयोग, अहिंसा, बन्धुत्व-भावना, सभी के प्रति करुणा एवं सहानुभूति, समताभाव, शुद्धता, आत्म-संतोष, स्वत्व के यथार्थ, ईश्वर या ब्राह्मण के प्रति पूर्ण समर्पण भाव, परोपकार, अहं का हनन तथा स्वयं का प्रसार, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रति आत्मीय भाव, क्षमाशीलता तथा आत्म-निग्रह आदि तत्त्वों पर बल दिया गया है। आधुनिक हिन्दी काव्य के सन्दर्भ में इन बातों की ओर पीछे संकेत किया जा चुका है।

काव्य में जब मानवतावादी तत्त्वों का अन्वेषण किया जाता है, तो मुख्य रूप से उनका स्वर भावुकतापूर्ण हो जाता है। कला या शिल्प के प्रतिमानों से सम्बद्ध होकर मानवतावादी तत्त्व चर्च, मन्दिरों या धर्म-सम्प्रदायों में घोषित किए जाने वाले स्पष्ट उपदेशों की भांति नहीं आते, वरन् अनुभूति के रूप में अन्तर्निहित होते हैं। दृष्टिकोण का वैभिन्य उनमें चाहे जितना हो, लेकिन सबके मूल में केवल एक ही सत्य है कि मनुष्य अपने अर्थ की वास्तविक गरिमा प्राप्त करे। वह न तो सामाजिक शोषण के अन्तर्गत अपनी महत्ता खोए और न धार्मिक तथा राजनीतिक अत्याचार के नीचे उसकी आत्मा का हनन हो।

मानव के सन्दर्भ में मूल्य का अर्थ एक ऐसी धारणा या दृष्टि है जो मूलतः व्यक्ति के जीवन में पनपती है, किन्तु जिसका विकास समाज की ओर होता है, जो समाज में आचरण-व्यवहार-संबंधी मान्यताओं, विश्वासों और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिलाषाओं को तोलती है, उनका मानदण्ड बनती है। यह धारणा या दृष्टि मानवी व्यवहार का नियमन करती है, जिसके आधार पर हम समाज में व्यक्ति या उसके आचरण को उत्कृष्ट या निकृष्ट, उचित या अनुचित, अच्छा या बुरा, घोषित करते हैं। और क्योंकि समाज परिवर्तनशील है, सामाजिक मान्यताएँ आर्थिक तथा अन्य कारणों से बदलती रहती हैं, मान्यताओं के बदलने के साथ-साथ नैतिकता और सामाजिक वातावरण बदलता है, इसलिए मूल्यों में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है।

पीछे मैंने प्रगतिवाद का उल्लेख किया था। उसके बाद की काव्य-धारा ने जिसे प्रयोगवाद के नाम से अभिहित किया जाता है, जीवन की यथार्थता की गहराई में प्रवेश किया और युगानुकूल मानव-मूल्यों का अन्वेषण किया। छायावाद-रहस्यवाद में सामाजिक चेतना का अभाव था, तो प्रगतिवाद समाज के बाह्यरूप पर ही अटक गया। प्रयोगवाद ने सामाजिक चेतना व्यक्त करने के साथ-साथ व्यक्ति की स्वतंत्रता टटोलने का भी प्रयास किया। प्रयोगवाद ने ही जब नई कविता का रूप धारण किया तो वह मनुष्य की वर्जनाओं और कुण्ठाओं और रूढ़ियों को तोड़ कर व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित कर दोनों का जीवन गहराई से देखने और अनेक उलझी हुई अनुभूतियों के विभिन्न आयामों को बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से चित्रित करने की ओर अग्रसर हुई। छठे दशक की कविता ने नई कविता का कैंचुल छोड़कर नया रूप धारण किया है। प्रयोगवाद और नई कविता का युग-बोध अब, परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार, पुराना पड़ गया है। जो कुछ भी हो, प्रयोगवाद से लेकर साठोत्तरी कविता तक के कवियों ने मनुष्य के अस्तित्व का अर्थ समझने की चेष्टा की है और इस बात को समझने की चेष्टा की है कि समाज में रहते हुए व्यक्ति अपनी स्वतंत्र सत्ता कैसे बनाए रख सकता है—विशेषतः जब कि आज के युग में वह भय, संत्रास, कुण्ठा, ऊब, अकेलेपन की अनुभूति आदि तथा अन्य राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक शंकाओं से त्रस्त है और मानव के अस्तित्व पर ही प्रश्न-सूचक चिह्न लग गया है। जीवन की इस स्थिति के प्रति सामयिक कवियों ने विभिन्न रूपों में अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं—समाजवादी, अस्तित्ववादी, व्यक्तिवादी, मानवतावाद आदि के रूप में—और जीवन की व्यर्थता, अराजकता, मृत्यु-भय, निस्संगता, विसंगतियों, विद्रूपताओं आदि पक्षों की ओर गम्भीर संकेत किए हैं। इसलिए सामयिक कविता का महत्त्व विशुद्ध साहित्यिक या सौन्दर्यात्मक दृष्टि से तो है ही, साथ ही जीवन की समस्याओं के प्रति कवि का क्या दृष्टिकोण है, यह भी विचारणीय है। स्वयं उसकी अपनी अध्यांतरिक समस्याएँ बहुत-कुछ बाह्य ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर हैं। यहाँ तक कि वह राजनीति से भी अपने को असंपृक्त नहीं रख सकता। स्टीफेन स्वेंडर के शब्दों में कवि या लेखक को वर्तमान की परिस्थिति में पूर्णतः डूब जाना चाहिए, नहीं तो उसके सामयिक संसार के लिए उसका कोई महत्त्व नहीं रह जाएगा। आज कवि जीवन को अन्दर से देख ही नहीं रहा, वरन् भावुकता और धार्मिकता के स्थान पर बुद्धि और वैज्ञानिकता के आश्रय से जीवन देख रहा है। वह जीवन के प्रति सतर्क है और वर्तमान परिस्थिति की संकटपूर्ण अवस्था को भली भाँति पहचान रहा है। उसके लिए अतीत अस्तित्व ही नहीं रखता, वर्तमान अराजकतापूर्ण है और भविष्य अन्धकार और भयावह आशंकाओं से पूर्ण। इसलिए उसके कवि-कर्म का आज उद्देश्य है व्यक्ति में आत्मविश्वास की भावना पैदा करना, क्योंकि वह देख रहा है कि व्यक्ति लड़खड़ा रहा है, वह भीड़ में खींचा जा रहा है और सभी शक्तियाँ उसके व्यक्तित्व को कुतरने में लगी हुई हैं। विघटित होते हुए मूल्यों के स्थान पर वह नए मूल्य, जीवन के प्रति नया उत्साह, नई आस्था देखना चाहता है। विज्ञान, प्रजातंत्र, व्यक्ति-स्वातंत्र्य के आश्रय से वह नए मानव-मूल्य खोजने में लगा है—ऐसे मूल्य जिनसे मनुष्य का जीवन झाड़-झंखाड़ रहित सुखपूर्ण हो, उसके व्यक्तित्व का ऐसा स्वतंत्र विकास हो जिसकी अन्तिम परिणति समाज के साथ समन्वय में हो। मानव सम्बन्धों को वह शोषण-विहीन और गरिमामय रूप में देखना चाहता है। परस्पर राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता रओ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीषण संहारक अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ के बीच वह मृत्यु की मँडराती हुई छाया से इन्सान को बचाने के लिए व्याकुल है। मृत्यु और विनाश ही मनुष्य की नियति नहीं है, और न वह मुट्ठी भर सत्ताधारियों के हाथ में कठपुतली की तरह है। उसे अपना जीवन अपने ढंग से जीने का हक है। संक्षेप में आज का कवि सभी प्रकार के शोषणों, बन्धनों, आतंकों, भग्नाशाओं, विद्रूपताओं एवं विसंगतियों से मानव मात्र की मुक्ति की कामना करता है, नाना प्रकार की वर्जनाओं से उबार कर उसके जीवन में नया प्रकाश भरना चाहता है। परम्परागत मानवी-संबन्धों के स्थान पर वह परिवर्तित परिस्थितियों के प्रकाश में, आधुनिकता के बोध के साथ, नए आन्तरिक संबंध स्थापित करने के लिए उत्सुक है। सामयिक कविता मानव-जीवन के सही परिप्रेक्ष्य खोज रही है। कवि आत्मोपलब्धि के साथ-साथ मानव-अस्तित्व का सही अर्थ बूझना-बुझाना चाहता है। संकटपूर्ण परिस्थिति में रहते हुए वह संकट दूर करना चाहता है। जिन जीवन-मूल्यों की ओर मैंने संकेत किया है वे कवियों की रचनाओं से अप्रत्यक्ष रूप से निःसृत होते हैं। अन्यथा कविगण अकेलेपन, शून्यता, अजनबीपन, आतंक, संत्रास, कुण्ठा आदि की अभिव्यक्ति में लगे रहते हैं।

किन्तु प्रश्न उठता है कि सामयिक कविता में जो जीवन-दृष्टि पनप रही है, जिस भोगे हुए क्षण का, जीवन की जिस घुटन और टूटन, अन्तर्विरोधों और असंगतियों एवं विडंबनाओं को युवा पीढ़ी का कवि अभिव्यक्ति प्रदान करता है, उनका भारतीय जीवन के परिवेश से कहाँ तक सच्चा सम्बन्ध है, क्योंकि इन जीवन मूल्यों की सार्थकता, उनकी वास्तविकता तभी सिद्ध हो सकती है जबकि उनका जीवन के सही परिवेश से घनिष्ठ सम्बन्ध हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टता व्याप्त हो गई है और जीवन सुखी न होकर अभिशप्त है। किन्तु युवा पीढ़ी के कवियों ने जो अनुभूतियाँ व्यक्त की हैं वे बहुत-कुछ उधार ली हुई और जबरदस्ती ओढ़ी हुई हैं, क्योंकि न तो हमारे देश में एटमबम का विस्फोट हुआ और न युद्धजनित उन यातनाओं का ही यहाँ के कवियों को अनुभव है जिनका अनुभव यूरोप के कवियों को प्राप्त हुआ और जिसके फलस्वरूप वहाँ अस्तित्ववादी चिन्तन का प्रचार हुआ। विज्ञान और टेकनोलोजी के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों का भी उन्हें अनुभव नहीं है। अतः सामयिक कविता की प्रवृत्तियाँ बहुत-कुछ किताबी ज्ञान के फलस्वरूप हैं। विविध बन्धनों और वर्जनाओं से मानव की मुक्ति की बात जब वे करते हैं तो उनमें अतिरंजना का अंश ही अधिक रहता है।

निष्कर्षतः, आज मानव-मूल्य केवल वैयक्तिक अनुभव ही हैं। किन्तु उनका समग्र मानव-प्रकृति से सहज संवेदनात्मक तादात्म्य भी आवश्यक है। व्यक्ति-विशेष की स्वतः स्फूर्त, परम्परा-विहित, वातावरण-जन्य द्वन्द्वात्मकता के परिवेश में स्थान एवं काल के अनुसार क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तनशील गति की नियति ही मूल्य बन जाता है। और इस प्रकार जितने कवि हैं उनके द्वारा उतने ही मानव-मूल्यों का निर्धारण संभाव्य है। मूल्य-बोध और मूल्य-निर्धारण का संकट न केवल आधुनिक हिन्दी काव्य एवं अत्यानुधिक पाश्चात्य काव्य-कृतित्व के परिप्रेक्ष्य में, वरन् हर नई संभावना, संश्लिष्टि और साहित्य-सर्जना में स्वयमेव अनुस्यूत रहता है। आज, जहाँ एक ओर विविध काव्य-विधाओं की भीड़ है, वहीं आधुनिकता के अर्थ-बोध का अनुकल्पन विवादास्पद है। आधुनिकता, जीवन-क्रम के प्रत्येक परिवर्तन के साथ जागरूक प्रतिक्रिया का उच्छ्वास है। और, हमने आधुनिक हिन्दी काव्य की विभिन्न धाराओं में अन्तर्भूत मानव-मूल्यों का विश्लेषण भी इसी आधार-पीठिका पर किया है।

इधर, वर्षों से मेरे मन में पिछले तीन दशकों की अनेकशः नामाभिधेय और विविध वादों से युक्त कविता के प्रति शंकाएँ रही हैं जिन्हें सामाजिक उहापोहों, सांस्कृतिक असंगतियों और युगजनीन परिस्थितियों की अभिव्यक्तिमात्र नहीं कहा जा सकता। कहीं ऐसा तो नहीं है कि आत्यंतिक अहं के विस्फोट, अधकचरे समष्टिगत विन्यास और उधार लिए गए प्रतीकवाद, बिम्बवाद, दादावाद, अतियथार्थवाद और फ्रायडवाद के 'फैंटेसी'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यञ्जन में मानव-मूल्यों का सहज संवेदनात्मक स्वरूप ही बिखर रहा हो ? अनुकरण किन्हीं परिस्थितियों में मान्य हो सकता है, किन्तु पाश्चात्य के प्रति अन्ध-भक्ति केवल प्रतिभा-शून्यता और वैचारिक गुलामी की ही प्रतीक मानी जाएगी। नित्य नवोन्मेष और नए प्रयोग 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' के केन्द्र-बिन्दु पर लक्षाध्य होंगे। लेकिन शर्त यही है कि मानव-घाती मूल्यों की वर्जना हो, अन्यथा तरह-तरह के वादों-प्रतिवादों और नामों-नारेबाजियों की भस्मासुरी भँवरों में स्वयंभू कवि और काव्य खुद-ब-खुद डूब जाएँगे। इस प्रकार के तथाकथित काव्य की क्या परिणति हो सकती है जिसे केवल उच्चवर्गीय या मध्यमवर्गीय एक-दो प्रतिशत नफ़ासत-नज़ाकतपूर्ण निठल्लू पाठक-श्रोता ही समझ सकें और वह तब, जबकि उसका विस्तृत भाष्य स्वतः रचयिता को ही प्रस्तुत करना पड़े ? हमें भय है कि कहीं यह तीन-चार दर्जन नामों से पुकारी जाने वाली तथाकथित तरह-तरह की कविता-कुण्डलियाँ अपने पूर्वज देशों, अमेरिका-इंगलैण्ड जैसी ही सामाजिक अरुचि की पात्र न बन जाएँ ?

मेरी दृष्टि में, नव्य-भव्य और उदात्त मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा का काव्य कृत्रिम नहीं होता, वह कोरे बौद्धिक वितण्डावाद की परिधि में नहीं समाता और न प्रयोगों के लिए प्रयोग के नाम पर 'सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्' का ही परित्याग करता है। आखिर, भावना, ज्ञान और कर्म का समवाय ही तो मानव है। इसी समवाय का अविरल गत्यात्मक सन्तुलन और जीवन्त संयोजन, अधुनातन मानव-मूल्य है और अनुभूतिपरक मानव-मूल्यों का सम्यक् स्वर ही काव्य है। तात्पर्य यह कि वादों के दायरे से मुक्त और युगनिरपेक्ष मानवीय काव्य-सृष्टि का उन्मेष तमाम विषम-ताओं के बीच करना ही होगा। आधुनिकता और नवीनता के सम्मोहक-सूत्रधार कहीं अमेरिका, इंगलैण्ड, जर्मनी और रूस में न बैठें। कविता केवल कठपुतलियों की 'कें-कें' न बन जाय। 'मानव', मानव है, न लघुमानव, न महामानव और न बौना या विद्रूप-विकृत माँसलपिण्ड। कविता, कविता है। न नई, न पुरानी और न भूखी-नंगी या ताज़ी-बासी। लोक वृत्यात्मक, मज़दूरों-मजलूमों और फाकाकशों का रुग्ण संगीत काफ़ी-हाउस और कनॉट-प्लेस में नहीं बल्कि खानों, खदानों और खेतों-खलिहानों में खपकर ही गाया जा सकेगा। अन्यथा मन-मस्तिष्क के कुहासों में, व्यक्ति-अभिषेक का अनुरणन—घोर वैयक्तिकता का आत्म-प्रदर्शन और सर्वनाशी मानव-मूल्यों का कथ्य बन जाएगा।

अस्तु, आवश्यकता है कि अधुनातन काव्य बौद्धिक-व्यायाम बन्द करे। अतिवादी यौनेषणा, अनियन्त्रित-ऊट-पटाँग-अभिव्यक्ति, सम्पूर्ण आस्था-विगलित अनास्था, आरोपित कुरूपता, क्लीव-चिन्तन और पतनोन्मुख मानव-मूल्य-संहतियों का पटाक्षेप करके; 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' से सम्पृक्त भारतीय संस्कृति की ज्योतिर्मय मूल-संचितना से आपूरित हो। राहों के अन्वेषी पथभ्रष्ट होकर न रह जाएँ। तमाम सामाजिक संकट, कच्छपीय-बुद्धि-संकुलता के मूर्त्तरूप न बनें। अनेकशः अन्तर्विरोधों के बीच भी, शाश्वत मानव-मूल्यों का अन्तर्बोध—कवि का अपना दायित्व है; और यदि यह मूल्य-चेतना जन-मानस में स्पन्दित नहीं होती, तो आधुनातन काव्य-कला की विविध बाँकी अदाएँ भी कूड़े के ढेर से ज्यादा सौन्दर्य-तत्त्व नहीं संजोएंगी। इसके लिए नए काव्य को न तो अधिनायकवाद का ढिंढोरची ही बनाना है और न पूँजीवादी व्यवस्था के ध्वंसावशेषों का सुनियोजित रक्षा-प्रयास। अतः मानव-मूल्यों की ठोस स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि आधुनिक और नवीन युगबोध यथार्थ की ही धरती पर उतरे, न कि परिकल्पित वायव्य गगन में विहार करने लगे।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषा-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानस की दार्शनिक मान्यताएं अभिनव पक्ष

—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

परम्परागत मान्यताओं और तर्क के आधार पर मेरी यह निश्चित धारणा है कि मध्यकालीन आध्यात्मिक आचार और विचार 'आगम' से पूर्णतः प्रभावित हैं—प्रभावित ही नहीं, बहुत दूर तक वे तन्मूलक भी हैं। यह अवश्य है कि उस समय तो निश्चय ही कोई भी आचार और विचार भारत की धरा पर पनप नहीं सकते थे—जब तक वे अपने को श्रौत परम्परा से संबद्ध न कर लें। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रस्थान त्रयी का भाष्य इस तथ्य का साक्षी है। इसीलिए यदि समस्त तुलसी साहित्य को निगमागमकल्पतरु का परिणतफल कहा जाय—तो उसमें कोई त्रुटि न होगी। वैसे तो उन्हीं ने 'मानस' को 'नानापुराणनिगमागम-कल्पितं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' कहा ही है।

निगमागमकल्पितरु के परिणत-फल तुलसी-साहित्य के 'रस' रूप में 'भक्ति' की ही प्रतिष्ठा है। अतः इसकी दार्शनिक मान्यताओं पर विचार 'भक्ति' को ही केन्द्र में मानकर किया जा सकता है। तुलसी अपने समूचे आचार और विचार का लक्ष्य 'भक्ति' को ही मानते हैं। 'भक्ति' ही उनके लिए 'साध्य' है। मध्यकालीन 'भक्ति' के आचार्यों ने 'भक्ति' को पंचम पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्ठित किया है। मधुसूदन सरस्वती का यही पक्ष है। गोस्वामी जी भी 'मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने' कहकर इसी पक्ष का उपोद्वलन कर रहे हैं। वैसे तुलसी के भक्त पात्रों में 'सार्ष्टि' को छोड़कर अवशिष्ट अन्य द्वैत मुक्तियों—सालोक्य, सायुज्य तथा सामीप्य—का उल्लेख मिलता है। पर यह तो भेद-भगति का फल है। संतवर गोस्वामीजी 'अभेद-भगति' को सबसे बड़ा मानते हैं। 'अभेद-भगति' ज्ञानोत्तरा भक्ति है। ज्ञानोत्तरा भक्ति शांकर आत्म-साक्षात्कार के अनन्तर आरम्भ होती है। शांकर आत्म-साक्षात्कार के सोपान जो अद्वैत वेदांत सम्मत हैं—मानस में उपक्षिप्त हैं। 'सोऽहमस्मि इतिवृत्ति अखण्डा'—द्वारा जिस 'सोऽहमस्मि' इत्याकारक अखण्डाकार विद्यात्मिका मायीय वृत्ति का उपक्षेप किया गया है—वह 'श्रवण' तथा 'मनन' की विधियों का परिणाम है। उपनिषद् का कहना है—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मान्तव्यो निदिध्यासितव्यः" आत्मा ही द्रष्टव्य है और तदर्थ श्रवण, मनन और निदिध्यासन अपेक्षित हैं। किन्तु श्रवण का पात्र बनने से पहले मुमुक्षादि साधन चतुष्टय की सम्पत्ति आवश्यक है। मुमक्षादि की प्राप्ति, अन्तःकरण का शोधन "श्रुति-संमत हरिभक्ति पथ संयुतविरति विवेक"—से ही संभव है—वैधी भक्ति से ही संभव है—दास्य भक्ति से ही संभव है। 'विनय पत्रिका'—जो तुलसी की व्यक्ति-साधना का मार्मिक और सहज गीतात्मक समुच्छलन है—का 'विनय' शब्द ही आराध्य के प्रति 'माहात्म्य बोध' और स्व के प्रति लघुता बोध का प्रमाण है। द्वैतभूमि की यह वैधी भक्ति अन्तःकरण को शोधित कर श्रवण-बीज का भव्य क्षेत्र बनाती है। महावाक्यों या महावाक्य का श्रवण एवं मनन साधक को इस योग्य बना देता है कि वह आत्म साक्षात्कार कर सके। आत्मा तो सदैव अपरोक्ष है—अनादि आविधाजन्य मल या आवरण के कारण वह परोक्ष-सा लगता है। इसी आवरण का क्षय श्रवण तथा मनन द्वारा होता है। श्रुत का मनन करते-करते वृत्ति तदाकार हो जाती है और यह 'सोऽहमस्मि' रूपा विद्यात्मिका-वृत्ति आविधिक वृत्ति का उच्छेद कर डालती है। 'कतकर जो न्याय' से अन्ततः मायीय होने के कारण वह स्वयं भी उच्छिन्न हो जाती है। इस प्रकार प्रारब्ध कर्म भोग का निमित्त मात्र अविद्या शेष रह जाती है, और अविद्या का क्षय हो जाता है। इस प्रकार अन्यथा दर्शन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कराने वाली भेदजननी माया-निवृत्ति से आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। गोस्वामीजी की साधना यहीं नहीं रुकती। उनकी दृढ़ धारणा है कि द्रवशील प्रकृति के साधकों में आत्म साक्षात्कार के बाद भी एक आभ्यंतर मल शेष रह जाता है—जो ज्ञानोत्तरा भक्ति से निवर्त्य है। यह मल भी मल ही है—वह दूसरी बात है कि वह आत्म-सुख होने से शुद्ध मल कहा जाता है। महायानी बौद्धों में यही 'शुद्ध वासना' है—जिसकी निवृत्ति बोधिसत्व की प्रक्रिया से 'बुद्धत्वोपलब्धि' में है। गोस्वामीजी ने इसी के लिए कहा है—

"प्रेम भगति जल बिनु अन्हवाये।
अभिअन्तर मल कबहुं न जाये॥"

मेरी निजी धारणा है कि यह प्रेम भगति ज्ञानोत्तरा आत्म-रति है—अभेद-भगति है। शास्त्रों में कहा गया है—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक्, जाते बोधे **मनीषया**।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

आत्मबोध से पहले का द्वैत—अनात्मबोध मोहकारी होता है—फलतः दुःख-संतति का प्रसवकारी है। पर विधात्मिका वृत्ति से आविधिक वृत्तियों का क्षय हो जाने के अनन्तर आत्म-साक्षात्कार—अद्वैत बोध के बाद का कल्पित द्वैतबोध—जो भक्ति के लिए है—अद्वैतबोध से भी सुन्दर और आनन्दमय है। इसका मतलब यह हुआ कि यहाँ का भजनीय, भजन तथा भक्त-तत्वतः हैं—अभिन्न ही, केवल 'भजन' के लिए त्रिधा कल्पित हैं। अर्थात् भक्ति भक्त, भगवंत ही नहीं, 'गुरु' भी—चतुर नाम किन्तु वपु एक ही हैं। भगवंत और गुरु में कोई भेद नहीं है। 'वैराग्यसंदीपनी' में कहा है—

तन करि मन करि वचन करि काहू दूषत नाहिं
तुलसी ऐसे संतजन, रामरूप जग माहिं।

राम स्वयं अपने और भक्ति के बीच 'गुरु' को सन्त कहते हैं—

भगति तात अनुपम सुख मूला।
मिलहिं जो संत होहिं अनुकूला॥

कहने का अभिप्राय यह है कि अद्वैत भक्ति के धरातल पर भक्ति, भगवान और भजनीय कल्पित भेद हैं—नाम मात्र का—अर्थ का नहीं। अर्थतः सभी एक ही हैं। यदि अर्थतः सभी एक हैं—तो इसका अर्थ यह है कि 'भगति' भी तत्वतः चिदानन्दमय है—भजनीय तो है ही। भक्त भी अभेद भूमि पर वही है। भाव का पूरा सुख कल्पित अभाववश ही मिल सकता है। कल्पित या स्वेच्छाधीन अभाव सुखकर तो हो सकता है—पर दुःखकर नहीं हो सकता।

अब, यह देखना चाहिए कि 'भक्ति' के इस रूप की कल्पना का उत्स क्या है—निगम या आगम या क्वचि-दन्य? 'निगम' के ज्ञानकांड और कर्मकांड में तो 'भक्ति' का यह रूप है ही नहीं, उपासना कांड में भी यह रुप नहीं है। शांकरधारा में आत्म-रति या निर्गुणोपास्ति की बात पंचदशीकार ने यद्यपि सविस्तार उठाई है और कहा है कि जो आत्मा—'वेदन' का विषय बन सकता है, वह 'उपासन' का भी विषय बन सकता है। जिस भी रुप में वह वेदन का विषय है—उसी रुप की प्रत्यावृत्ति उपासना भी कही जा सकती है। इस 'अहंग्रहोपासना' का मध्यकालीन वैष्णवों की 'साध्य पंचम पुरुषार्थ रुपा भक्ति' से तालमेल बिलकुल नहीं बैठता। कारण, वह सब आत्मसाक्षात्कार के लिए है और प्रक्रान्त भक्ति आत्मसाक्षात्कार के बाद की है—अतः पूर्ववर्ती से परवर्ती की एकरूपता का सवाल ही नहीं खड़ा होता। जो अहंग्रहोपासना साधन है—उसका भगवदभिन्न भक्ति से एकरूपता किस प्रकार? 'भक्ति' की यह कल्पना विशुद्ध आगमिक है। आगमिक परम्परा में 'भक्ति' मायिक अन्तःकरण की एक वृत्ति विशेष नहीं है—बल्कि उसके माध्यम से प्रकाशित होने वाली ह्लादिनी शक्ति की ही एक वृत्ति है—तरंग है—उच्छलन है। आत्मा की चिदानन्दमयी शक्ति की ही एक वृत्ति है—इसीलिए वह बोधमयी भी है और आनन्दमयी भी। तुलसी के "ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा" को इसी भूमिका पर परखा जा सकता है। चित् ही अनुकूल होकर आनन्द है—आनन्दरूपा ही भक्ति है। यही साध्य है—पर इसका आस्वाद कल्पित भेद की भूमि पर ही संभव है। एतदर्थ 'ज्ञानोत्तरा भक्ति' की बात कही जाती है। इस प्रकार भक्ति भगवान् की ही आत्मशक्ति की एक वृत्ति विशेष है। तुलसी को भक्ति का यही रूप अभीष्ट है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति के इस रूप की संगति के अनुरूप ही भजनीय चरमतत्व की कल्पना करनी पड़ेगी। गोस्वामीजी चरम परमतत्व को 'राम' नाम से अभिहित करते हैं—पर वे 'राम' शांकर-ब्रह्म की भाँति 'शक्ति' शून्य नहीं हैं—शक्तिमान् हैं। 'सिया' उनकी ऐसी शक्ति हैं—जो उनसे गिरा—अर्थ और जलवीचिवत् न एकांततः भिन्न ही कही जा सकती है और न एकान्ततः अभिन्न ही। बात यह है कि कहना वही और उतना ही सम्भव है जितना 'बुद्धि' में आ सके। 'बुद्धि' स्वयं सापेक्ष और सीमित है—अतः उसमें जो कुछ भी आयेगा—वह भी सापेक्ष और सीमित होगा—अतः बुद्धिपूर्वक समस्त कथन भी और कथ्य भी सापेक्ष और सीमित होगा—अतः बुद्धि की परिधि में समग्रतः न आ सकने वाले तत्त्व के विषय में निरपेक्ष कथन सम्भव ही नहीं है। फलतः चरमतत्व के विषय में सारा कथन एकांततः सत्य नहीं है। वह समस्त संभावनाओं का आगार है—अतः सारी संभावनाएँ संभावनाओं के रूप में ही कही जा सकती है—उसमें भेद की भी सम्भावना है और अभेद की भी—उभय की भी और अनुभय की भी, निषेध की भी और विधान की भी दोनों की और किसी की भी नहीं। इस प्रकार तुलसी की दृष्टि में चरमतत्व ऐसा ही है। आगमिक अद्वयवादी यही मानते हैं। शांकर अद्वैत तुलसी को यदि अभीष्ट होता, तो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर तक की ही कल्पना करने वाले शांकर अद्वैतियों की भाँति ये भी 'चिदानन्दमय देह' की बात न करते। चिदानंदमय शाक्त देह की कल्पना केवल अद्वैतवादी आगमिक ही मानते हैं। गोस्वामीजी ने परमतत्वज्ञ वाल्मीकि द्वारा कहलवाया है—"चिदानन्दमय देह तुम्हारी"। भगवद्रूप की इस बोधस्वातंत्र्यमय-चिदानन्दमय कल्पना के आलोक में ही गोस्वामीजी की 'भक्ति' का रूप समझा जा सकता है।

चरमतत्व विषयक दार्शनिक मान्यता के स्पष्टीकरण के अनन्तर उसकी अवरोहणात्मक या जागतिक स्थिति का निरूपण प्रसंग प्राप्त है। शांकर अद्वैत वेदांत सृष्टि को माया शक्ति का परिणाम मानता है और माया को स्वतंत्र मानता है—ईशाधीन नहीं। इसीलिए उनके यहाँ 'षड-स्माकमनादयः' कहा गया है। तत्वतः अद्वैत सत्ता को स्वीकार करके भी चित्, अचित्, जीव, जीवेशभेद आदि को अनादि कह दिया गया है। 'लीला' दर्शन की सारी सम्भावनायें शांकर अद्वैत में निःशेष हो जाती हैं। ये आगम ही हैं, जो ईश्वर की स्वातंत्र्य शक्ति की लीला रूप में सृष्टि का समर्थन करते हैं। गोस्वामीजी ने अनेकत्र माया को ईशाधीन कहा है। इस प्रकार जहाँ एक ओर गोस्वामीजी माया को ईशाधीन कहकर शांकर प्रस्थान से अपने को पृथक् कर लेते हैं—वहीं दूसरी ओर 'सत्ख्याति' या 'आत्मख्याति' द्वारा भ्रम का आत्यंतिक उच्छेद मानने वाले विशिष्टाद्वैतवादियों से भी अपने को अलग कर लेते हैं। परतत्व आनन्दमय स्वरूप का अनुभव आत्मशक्तिवश जगदात्मक आत्मप्रसार द्वारा भी पा लेता है और स्वात्म-विश्रांति द्वारा भी। गोस्वामीजी भी अद्वयवादी आगमिकों की भांति मानते हैं कि समूची सृष्टि चरमतत्व का ही प्रसार है। वे कहते ही हैं—

"सियाराममय सब जग जानी"

समस्त जगत शक्ति शक्तिमान् के अद्वय रूप की ही परिणति है। यही कारण है कि चरमतत्व की द्वयात्मकता के अनुरूप सारा जगत् "स्थितिगत्यात्मक" है। राम 'स्थिति' हैं और 'सिया'—गति। द्वयात्मकता में वे 'स्थिति-गत्यात्मक' हैं और अद्वयात्मकता में उभयातीत। इस दृष्टि से चरमतत्व विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी। चाहे अणु-परमाणुमय जड़ जगत् को लें या जीवकोश रूप चेतन को—उभयत्र पुंस्त्व तथा स्त्रीत्व 'राम' और 'सिया' के प्रतिनिधि में संलग्न हैं। अणु-परमाणु में ऋणात्मक तथा धनात्मक शक्तियाँ हैं और जीवकोश में डी० एन० ए० तथा आर० एन० ए० हैं। अध्यात्म ही नहीं, विज्ञान भी इसे स्वीकार करता है।

अवरोहण के अनन्तर आरोहण की प्रक्रिया आती है—प्रत्यावर्तन का प्रसंग आता है। प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया भगवदनुग्रह से ही संभव है। गोस्वामीजी उपनिषदों की

"यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः"

की भाषा में कहते हैं—

"सोई जानै जेहि देहु जनाई।
जानत तुमहि तुमहि होई जाई॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यावर्तन उसी की इच्छा से संभव है। यही इच्छा जीवन-विषयक होने से शक्तिपातात्मक अनुग्रह है। शक्तिपात की आनुपातिक मात्रा में 'गुरु' लभ्य 'दीक्षा' आती है। गोस्वामीजी की दृढ़ धारणा है "गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई।" 'विनयपत्रिका' भी कहती है—

"तुलसीदास हरि गुरु करुना बिनु..."

गुरु दीक्षा में 'नाम' देता है और नाम साधना साधक द्वारा सम्पादित की जाती है। गोस्वामीजी ने कहा है—

"नाम निरूपन नाम जतन तें।
जिमि प्रगटत अनमोल रतन तें॥"

तुलसीदास ने नाम निरूपन की बात तो बहुत की है—पर 'नाम जतन'—नाम विषयक अभ्यास की बात कम। एक स्थल पर यह अवश्य कहा गया है—

"जोग जंत्र जप मंत्र उपाऊ।
फलै तबहिं जब करिय दुराऊ॥

संभव है मंत्रात्मक (बीज मंत्र जेहि जपत महेसू) उपाय का दुराव किया हो। उपाय के नाम पर दो बातें ही मिलती हैं—एक तो उसे जीह देहरी पर रखना अर्थात् नामोच्चारण और दूसरे—

"रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा।"

श्वास प्रतिश्वास नाम की रट। क्या इस 'प्रतिस्वाशा' के माध्यम से गोस्वामीजी संतों की भांति श्वास प्रश्वासमय सहज जप की ओर तो संकेत नहीं कर रहे हैं? एक संत ने ठीक कहा है कि मुख से जप करना वैसा ही है जैसे नौकर-चाकर से पूजा करवाना। वास्तव में मुक्त होना या भक्तिरस का आस्वाद पाना लक्ष्य है—जीव को और साधन करें—जीवेतर—यह संगत भी नहीं लगता। साधना तो ऐसी होनी चाहिए जो जीव ही करता हो। इसीलिए मानस जप अथवा सहज जप को जप परम्परा में महत्व दिया गया है। कविराज श्री गोपीनाथ ने नाम साधना द्विविध कही है—रस पर्यवसायी तथा नादपर्यवसायी। निश्चय ही 'भक्ति' रस को साध्य मानने वाले गोस्वामीजी की नाम साधना 'रसपर्यवसायी' ही होनी चाहिए। "रामनाम कला मणि मंजूषा"—नाम की कृति को आधार बनाकर कविराज जी ने इनकी नामसाधना या 'नामजतन' का निरूपण किया है—पर परम्परा इस कृति को प्रामाणिक नहीं मानती। कहा गया है कि नाम के जाग्रत होने से सद्गुरु की और उनके प्रभाव से इष्टमंत्ररूपी विशुद्धबीज की प्राप्ति हो सकती है। बीज के प्रभाव से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है—फलतः देह और मत की मलिनता हटती है। भजन या नामजप की स्वाभाविक स्थिति इस मातृगर्भ संभूत मायिक देह से संभव नहीं है—तदर्थ भाव देह की अपेक्षा है। वास्तव में इसी भाव देह में स्वाभाविक भजन होता है। वैध-मार्ग तब तक के ही लिए उपादेय है जब तक मंत्र चैतन्य नहीं होता। मंत्र चैतन्य के बाद, विधि मार्ग की सार्थकता जाती रहती है। भाव देह के विकास के साथ-साथ भावरञ्जित दृष्टि के समक्ष इष्ट देवता का ज्योतिर्मय धाम प्रकट होता है। भजन के ही प्रभाव से भाव प्रेम में परिणत होता है और भाव के प्रेम रूप में परिणत होते ही उस ज्योतिर्मय धाम में इष्ट देवता का प्रत्यक्ष होता है। इसके पश्चात् भक्त और भगवंत का द्वैत विगलित हो जाता है। इस दशा में भक्त की शुद्ध वासनात्मक स्थायी भाव के अनुरूप अनन्तविध लीला का प्राकट्य होता है। भक्ति की यही सिद्ध दशा है। इस प्रकार नाम ही रसात्मक परिणति पाता है।

प्रसिद्धि है कि गोस्वामीजी को देहत्याग से कुछ ही समय पूर्व महावीरजी ने रामनाम का रहस्य बताया था। कहा था कि रामनाम का विश्लेषण करने पर उसमें पांच कलाओं का पता लगता है—ताटक, दण्डक, कुण्डल, अर्धचन्द्र तथा बिंदु। साधक नामसाधना वश क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण तथा कैवल्य देह का उक्त कलाओं में विलयन करता जाता है। बिंदु 'सिया' हैं और उनका भेद किए बिना रेफ रूप राम का संधान पाना कठिन है। महावीरजी के उपदेश का निष्कृष्ट अर्थ यही है कि बिंदु रूपा सीता का आश्रय लिए बिना निष्कल ब्रह्म की ओर नहीं बढ़ा जा सकता। विनयपत्रिका में भी सीता के माध्यम से राम की ओर बढ़ने में यही रहस्य इंगित है।

इस प्रकार नाम साधना से साध्य चिदानंदमय भक्ति का कल्पित द्वैतमय भूमिका पर आस्वाद लिया जाता है। गोस्वामीजी के अनुसार प्रत्यावर्तन की यही प्रक्रिया है। संक्षेप में गोस्वामीजी की मेरी धारणा के अनुसार ये ही मान्यताएं हैं।

(राममूर्ति त्रिपाठी)
आवास क्रमांक-२, कोठी रोड,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुष-सम्बन्धी युग-धारणाएँ एक शोध दृष्टि

—डॉ० छविनाथ त्रिपाठी

"पुरुष" के सम्बन्ध में युगानुकूल भिन्न-भिन्न धारणायें बनती रही हैं। किसी शब्द-विशेष के साथ जब एक विशेष प्रकार की धारणा सम्बद्ध हो जाती है, तब वह शब्द, सामान्य-शब्द की श्रेणी से ऊपर उठकर एक विशिष्ट अर्थ का बोधक बन जाता है। जब कोई कवि उस शब्द का प्रयोग करता है, तो उसके मानस-पटल पर युगानुरूप अर्थ का ही बिम्ब उभरता है और उसे आशा रहती है कि काव्य श्रोता या पाठक के मानस में भी वही बिम्ब उभरेगा। यह बिम्ब-निर्माण शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ मात्र से ही नहीं होता, अपितु उन धारणाओं के द्वारा भी होता है, जिन्हें लोक-मानस उस शब्द के साथ संबद्ध कर लेता है। 'पुरुष' शब्द के साथ रूप, गुण और व्यक्तित्व सम्बन्धी अनेक धारणायें सदा संबद्ध रही हैं। ये धाराणायें युग-परिवर्तन के साथ बदलती रही हैं, फल-स्वरूप अर्थ-विधान की उसकी क्षमता और बिम्ब-निर्माण सम्बन्धी उसकी स्पष्टता और व्यापकता में भी परिवर्तन होता रहा है।

अध्यात्म और धर्म-प्रधान वैदिक-युग में एक मन्त्र-द्रष्टा ऋषि ने 'पुरुष सूक्त' में 'पुरुष' को इतनी महत्ता प्रदान की है कि वह भूत और भविष्य का नियंता, अमृतत्व का स्वामी, सम्पूर्ण विश्व में अबाधित गति वाला, श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण भूमि और नगरों का अति-क्रान्ता मान लिया गया है।[1] पुरुष सूक्त के सोलह मन्त्रों में 'पुरुष' की जिस महनीयता का वर्णन हुआ है, उससे उसका आदर्श-व्यक्तित्व परमात्मा के समकक्ष पहुँच जाता है। वैदिक-युग का 'पुरुष' इन सम्पूर्ण धारणाओं का बिम्ब उभारने में समर्थ था। वायु-अन्तरिक्ष, वीर-वीर्य, मृत्यु-अमृत, अमृत, सत्य-अनृत तथा भूत और भव्य जब न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, तब यह 'पुरुष-प्राण' ही क्यों डरे।[2] वह तो कल्याण-पथ का निर्भीक पथिक है।[3]

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् काल में वैदिक 'पुरुष' का विराट-स्वरूप सर्वथा खो नहीं गया था, फिर भी भौतिक-जीवन की ओर अत्यधिक उन्मुख होने के कारण संकुचित अवश्य हो गया था। ऐतरेय ब्राह्मण में 'चरैवेति' की अनुगूंज अवश्य सुनाई पड़ती है, परन्तु

१. ऋक् १०।९०।२,३,५
२. शौनक-संहिता २।१५।२,९,११-१३ ॥
३. अथर्व १९।९।१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपदेश रूप में ही; सूर्य-सदृश श्रम और गतिशीलता उसमें नहीं रह गई थी।[1] वह पुरुष, पुरः या शरीर में ही आबद्ध होकर रह गया था। गृहस्थ-जीवन की महत्ता बढ़ने के कारण 'शतपथ ब्राह्मण' ने 'पुरुष' को आधा मान कर पत्नी को उसका अर्ध-भाग कहा।[2] अपत्नीक को अयज्ञीय समझा जाने लगा[3] और पुत्रहीन के लिए तो यह लोक ही निरर्थक बन गया।[4] नारी का गौरव ही गृहस्थ-जीवन का गौरव है, वह जाया और सखा है[5], उसका सौन्दर्य आकर्षण का विषय है[6], इस धारणा ने पुत्रैषणा को बढ़ाया और सन्तानोत्पत्ति के लिए अनेक विवाह को भी विहित घोषित कर दिया गया।[7]

जब आरण्यकों के समय पुत्र-वित्त और लोकैषणाओं ने पुरुष को पूरी तरह बाँध लिया तो इनकी प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप इनके त्याग पर बल दिया जाने लगा।[8] 'पुरुष' का यह आबद्ध-रूप इतना सशक्त बन चुका था कि त्याग के सहस्रों उपदेश भी उसके अस्तित्व को उखाड़ फेंकने में असफल रहे।

'द्वा सुपर्णा'[9] से यह आभास तो मिलता ही है कि 'पुरुष' द्विमुखी बन गया था। या तो वह सांसारिक सुख की लालसा में मोह-शोक और चिन्ताग्रस्त था या इनके परे वीत शोक। 'यथाक्रतु' सांसारिक पुरुष ही था।[10] सैकड़ों हाथों से एकत्र करो और हजारों हाथों से वितरण,[11] जैसे आदेश, आसक्ति और त्याग के समन्वय को ही व्यक्त करते हैं। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'[12] का स्वर मुखरित करने वाला ईशावास्य भी यह स्वीकार करता है कि हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख ढँक गया है।[13] भोग-संलग्न आडम्बरपूर्ण जीवन को जीने वाले पुरुष की आयु भी कम हो गई। सौ या सौ वर्ष से भी अधिक जीने वाला 'पुरुष' वैदिक पुरुष था,[14] ऐसा पुरुष भोगासक्त होकर 'मनुष्य' मात्र रह गया।[15] इस 'नाति दीर्घ' जीवन के प्रति, उसके भोगों के प्रति, विरति का स्वर नचिकेता ने मुखरित किया था।

उपनिषद-काल के 'पुरुष' के दोनों रूपों को स्वीकृति प्राप्त हो गई। वैदिक विराट् पुरुष को 'परात्पर दिव्य पुरुष' मान लिया गया और तत्कालीन 'पुरुष' को नाम-रूप युक्त 'अंगुष्ठ-पुरुष'।[16] कर्म, प्रेय, अज्ञान और अमुक्त का सम्बन्ध अंगुष्ठ पुरुष से हो गया और त्याग, श्रेय, ज्ञान तथा मुक्त का सम्बन्ध विराट् पुरुष से। पुरुष के इस बौने रूप को महत्तम एवं विराट् रूप में उभारने का प्रयास ही उपनिषद् ग्रन्थ करते हैं। सारा मुण्डक उपनिषद् कर्मबद्ध पुरुष के मुक्त पुरुष तक आरोहण की कथा है। सारे ही उपनिषद् ससीम को असीम बनने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इन्द्र ने माया द्वारा पुरुष को यह ससीम रूप दे दिया था,[17] पर इस माया से मुक्ति सरल न थी। 'पुरुषान्न परं किंचित्'[18] में पुरुष-महिमा को ही पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु न तो यह कार्य सरल था न सर्वजन बुद्धि-गम्य। इस अंगुष्ठ मात्र पुरुष का बोध भी ज्ञानियों के लिए ही

---

१. ऐतरेय ३३।३।१५
२. शतपथ ५।१।६।१०, ५।२, १।१०
३. तैत्तिरीय २।२।२।१, ३।३।३।५
४. ऐतरेय ७।१३
५. वही ४।२७।५,६
६. शत० १३।१।९।६, ३।५।१।११, ६।५।१।१० आदि
७. ऐत० ३।२३, गोपथ २।३।१९
८. वृहदारण्यक ४।४।२२
९. श्वेता० ४।६
१०. वही ४।७
११. अथर्व ३।२४।५
१२. ईशा० १
१३. वही १५
१४. कौषीतकी ११।७, शत० १।९।३।१९
१५. कठ १।२।३
१६. मुण्डक ३।२।८, श्वे० ३।१९, कठ २।१।१२, २।३।१७
१७. वृह० उ० २।५।१९
१८. कठ १।३।११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभव रह गया। वे ही विराट् के इस बौने रूप को देख सकते थे। इसका ज्ञान-मात्र ही मुक्ति का साधन बन गया।[1] तात्त्विक-एकत्व-बोध मात्र से ही तो वामन, विराट् नहीं बन सकता था।

जिस प्रकार पुरुष और दिव्य-पुरुष का सम्बन्ध, लघु और महत् के सम्बन्ध का द्योतक बना, उसी प्रकार नर-राष्ट्र के भौतिक स्वरूप में प्रजा और राजा का सम्बन्ध भी लघु-महत् आधार पर प्रतिष्ठित हुआ। अंगुष्ठ पुरुष की महत्ता दिव्य पुरुष के साथ एकात्मता में है, अतः प्रजा की महत्ता राजा और राष्ट्र के साथ एकात्मता स्थापन में विहित हो गई। राजा और राष्ट्र जितने महान् एवं विराट् हैं उसकी प्रजा भी उतनी ही महान् और विराट् होगी, औपनिषदिक दर्शन का यह राजनैतिक रूप उत्तरोत्तर विकसित होता गया। यह तथ्य अधिक महत्त्व-पूर्ण नहीं बन सका कि राजा कैसे चुना या बनाया जाता था, उसे क्या-क्या प्रतिज्ञायें करनी पड़ती थीं, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह उभरा कि पुरुष के विराट् रूप का लौकिक प्रतीक राजा बन गया, उसे 'महती देवता' कहा गया तथा वह अपने विराट् स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ का आश्रय लेने लगा। ब्रह्मचर्य और तप[2] द्वारा राजा राष्ट्र की रक्षा अवश्य करता था, किन्तु उसके पौरुष का दर्शन[3] तो युद्ध में दिखाई पड़ता था। पौरुष के विराट् स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए ही वह साम्राज्य और सार्वभौम राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील एवं लक्ष्य-निष्ठ रहता था।[4] प्रजा का ससीम पौरुष राजा के असीम पौरुष में पुंजीभूत होकर विराट् का लौकिक रूप व्यक्त करता था।

सूत्र काल में श्रौत, पाक एवं संस्कार सहित महायज्ञों द्वारा यज्ञ को भी जीवन-व्याप्त विराट् आकार प्रदान किया गया। पुरुष 'यज्ञमयोऽयं पुरुषः' बन गया। श्रौत, गृह्य एवं धर्म सूत्रों ने ससीम पुरुष को सामाजिक, नियम-बद्ध, अनुशासित एवं पूर्णतः लौकिक पुरुष में ढाल दिया। यज्ञों का विराट् स्वरूप विशाल जनसामाज को प्रभावित कर सकता था।[5] पौरुष के विराट् स्वरूप को व्यक्त करने के लिए ही साधकों में महावीर और बुद्ध ने आरम्भ में कृच्छ्र-तप द्वारा जनसमाज के समक्ष त्याग और तप का उदाहरण प्रस्तुत किया था। लोकासक्त और लोक-विरक्त 'पुरुष' के द्विविध विराट् रूपों की तत्कालीन अभिव्यक्ति औपनिषदिक आरोहण कथा से भिन्न नहीं है। पुरुष की मनुष्य रूप में परिणति उसके और परिसीमन की कथा है। विधि-निषेध का पालक 'पुरुष' भ्रम, प्रमाद, इन्द्रिय-दोष और विप्रलिप्सा से युक्त होने के कारण और भी अप्रामाणिक तथा संकुचित बन गया। 'पुरुष' का दो रूप एक तीसरे और निम्न-स्तर तक पहुँच गया और विविध दर्शनों ने उसका वर्गीकरण—जीव, ईश्वर और दिव्य-पुरुष (ब्रह्म) के रूप में करते हुए 'जीव' को उस निम्न-स्तर की संज्ञा प्रदान की।

सांसारिक कर्म (संघर्ष)-निरत एवं उससे उत्पन्न कर्म फल का भोक्ता जीव तो दुःखी होता ही है। दुःख-नुषंगी होने के कारण सांसारिक सुख भी दुःखमय है।[6] अतः दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति के अन्वेषण में ही भारतीय दर्शनों का विकास हुआ। दर्शन की इस चिन्तन-धारा से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि जीव-स्तरीय पुरुष अत्यन्त दुःखी था। वेदान्त के अनुसार शरीरेन्द्रिय का अध्यक्ष, कर्मफल का भोक्ता एवं अविद्यामूलक अहंकार से युक्त पुरुष ही जीव है। सांख्य का प्रकृतिबद्ध पुरुष ही जीव है। योग ने जीवात्मा और परमात्म पुरुष के मध्य ईश्वर को नहीं भुलाया। न्याय ने आत्मा को शरीरेन्द्रियादि से पृथक् तत्त्व ही माना।[7] तर्कपरक होते हुए भी शरीर, इन्द्रिय, विषय, ज्ञान सम्बन्धी तथा सुख-दुःख नामक इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक

१. वही २।२।८, २।३।८ श्वे० ३।८,९,१२
२. अथर्व ५।१।७
३. ऋक् ६।७५।१
४. ऐतरेय अध्याय ८
५. द्रष्टव्य-शांखायन श्रौतसूत्र।
६. तर्क भाषा-पृ० २३२
७. न्या० १।१।९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवृत्ति को ही अपवर्ग कहा। वैशेषिक तो आत्मेतर पदार्थों के ज्ञान पर ही आत्मा के ज्ञान को निर्भर मानता है। इन सभी दर्शनों ने आत्मा को चेतन तत्त्व ही मान कर उसका विवेचन किया है। भौतिकवादी चार्वाकों ने शरीर को ही सब कुछ मानते हुए भी 'चैतन्य विशिष्ट-कायः पुरुषः' चेतन तत्त्व को अस्वीकार नहीं किया है। जैन दर्शन ने भी सांख्य की भाँति कर्मास्रव लिप्त जीव की पृथक्-पृथक् सत्ता ही मानी है। बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद भी चेतना-प्रवाह का अस्तित्व स्वीकार करता है। अत्यन्त परवर्ती काल का शैव-दर्शन भी चिति के विराट् पुरुष शिव को ही महत्ता प्रदान करता है। प्रायः सभी दर्शनों का जीव चैतन्य-विशेष है। परम चेतन की स्थिति-प्राप्ति को ही वह कैवल्य या मुक्ति या परम पुरुषार्थ मानता है। इन सभी दर्शनों का लक्ष्य एक ऐसी स्थिति के अन्वेषण का प्रयत्न करना है जहाँ सांसारिक दुःख सह्य एवं उपेक्षणीय बन सके। संघर्ष जन्य दुःखों को वह खिलाड़ी की भाँति उत्साह के साथ झेल सके। इसके लिए उसे पुनः पुरुष के चैतन्य-स्वरूप को ही आधार बनाना पड़ा। सभी जीवों के लिए समान आधार पर समान निदान का निर्देश किसी तात्त्विक-साम्य के बिना संभव भी नहीं था। पृथक्-पृथक् शरीर के निदान की अपेक्षा उन्होंने सर्वव्यापक चैतन्य को पकड़ कर दुःख निवृत्ति का समवेत उपाय बताना अधिक सुकर समझा। जीव की स्वचैतन्य में स्थिति या चैतन्य-बोध एक ऐसी उपलब्धि है जिसमें सांसारिक भिन्नताएँ एवं बाधाएँ अवरोध नहीं उत्पन्न कर सकतीं। वेदान्त का जीवन्मुक्त और गीता का अनासक्त एक ऐसी स्थिति-प्राप्त व्यक्तित्व है, ऐसी ही स्थिति की उपलब्धि बुद्ध और जिन भी करते हैं। यह स्थिति जीव का साध्य है। स्वयं के महत् चैतन्य या विराट पुरुषत्व का बोध प्रथम स्तर था और उस स्वरूप की उपलब्धि एवं उसमें स्थिति द्वितीय या सिद्धि-स्तर था।

गीता ने क्षर और अक्षर अथवा जीवात्मा और परमात्मा या पुरुष और पुरुषोत्तम के रूप में पुरुष के द्विविध रूप को स्वीकार किया है। पुरुष के स्वभाव का विश्लेषण करते हुए गीता ने उसे भी देव और आसुर स्वभावनिष्ठ वर्ग में विभाजित किया है।[1] पुरुष श्रद्धामय है,[2] गुण, प्रवृत्ति और स्वभावगत वैषम्य ही उसे भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों में श्रद्धालु बनाते हैं। गीता के अर्जुन का विषाद पौरुष के आवृत रूप को ही व्यक्त करता है। उसके विषाद के मूल में लोक-संग्रही भाव का अभाव था। वह राज्य-सत्ता को अपने और अपने परिजनों के लिए सुखोपलब्धि का साधन मानता था।[3] श्रीकृष्ण ने 'विराट-पुरुष' का दर्शन कराकर अर्जुन की ससीमता को और अधिक स्पष्ट कर दिया है।[4] गीता ने 'विराट-पुरुष' को ही 'पुरुषोत्तम' विशेषण दिया है, इस रूप के अव्यक्त होते ही स्वयं श्रीकृष्ण के स्वरूप को गीता ने भी 'मनुष्य' ही कहा।[5]

आदि कवि वाल्मीकि को उत्तम पुरुष की खोज थी, जिससे वह एक आदर्श-चरित्र का निर्माण कर सकें। नारद से उन्होंने पूछा कि इस लोक में गुणवान् और वीर्यवान् कौन है।[6] नारद ने संक्षेप में राम का जो चरित्र प्रस्तुत किया,[7] वह एक तत्कालीन उत्तम पुरुष का चरित्र था। उत्तम पुरुष की धारणा राम के चरित में व्यक्त हुई है। ऐसा पुरुष गम्भीरता में समुद्र और धैर्य में हिमवान् होता है। उसके समस्त गुण उदात्त होते हैं और वह बलवान् तथा पराक्रमी होता है। वह यशस्वी होता है, जिसकी यशःगाथा कवियों के गान का विषय बने।[8] लोक-संग्रही होने के कारण ही राम को

१. गीता १५।१६-१९
२. वही १६।६
३. वही १७।३
४. वही १।३३
५. गीता-अ० ११
६. वही ११।५१
७. वाल्मीकि रामायण १।१।३-१६
८. वही १।१।१७-९८
९. वही १।२।४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैथिली तक का त्याग करना पड़ा।[1]

पुरुषार्थ का स्वरूप रामायण काल से महाभारत काल तक कितना परिवर्तित हो चुका था यह दोनों के अन्तर से प्रतीत होता है। रामायण काल में राज्य-सत्ता का उद्देश्य लोक कल्याण था जब कि महाभारत काल में वह व्यक्तिगत सुखोपलब्धि का साधन बन गई थी। ऐसे स्वार्थ-परायण युग में भी व्यास को यह विस्मृत नहीं हुआ था कि इस धरा पर मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।[2]

राम वैदिक परम्परा के कर्मशील पुरुष श्रेष्ठ थे। जिन विरक्त परम्परा के थे। बुद्ध मध्यमार्गी थे, परन्तु कृष्ण ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वयकर्त्ता थे; गीता से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। राज-सत्ता, राजा एवं प्रजा के साथ उनके सम्बन्धों का जो विकास परवर्ती काल में हुआ, उसका आधार-स्रोत रामायण वर्णित व्यवस्था थी। बुद्ध से प्रभावित अशोक स्वयं चक्रवर्तित्व में विश्वास रखता था। सामन्तवादी-व्यवस्था से उसका शासन भिन्न नहीं था। राजा के प्रति सैनिकों एवं प्रजा का भाव उसे दिव्य-पुरुष मानना अस्वीकार कर चुका था, अन्यथा कौटिल्य को राजा के लिए न लड़ने वाले व्यक्तियों या सैनिकों को नरक का भय न दिखाना पड़ता।[3] राजा भर्त्ता या स्वामी मात्र रह गया था। राजा का पुरुषार्थ, यश एवं पराक्रम उसका व्यक्तिगत विषय था। प्रजा उसमें अपनी समवेत शक्ति का विराट रूप देखने में असमर्थ हो चुकी थी,यही कारण है कि वीरता-प्रदर्शन भी व्यक्तिगत विषय बन गया था।

श्री अरविन्द घोष ने वाल्मीकि, व्यास और कालिदास को प्राचीन भारत के इतिहास का अमृत-स्रोत कहा है। इनकी दृष्टि में कालिदास राष्ट्रीयता के सूत्रधार थे[4]। वाल्मीकि को आदर्श-चरित राम में मिला और कालिदास को रघुवंशियों में। कालिदास के अनुसार वे दान करने के लिए धन-संग्रह करते थे, मितभाषी थे, यश के लिए विजय की कामना करने थे, शैशव में विद्या का अभ्यास करते थे, यौवन में संसार के भोगों का आनन्द लेते थे, बुढ़ापे में तप करते थे और अन्त में योग से शरीर त्याग करते थे। विवाह का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति ही समझते थे[5]। ये श्रेष्ठ पुरुषों के गुण थे। इन गुणों से युक्त रघुवंश के विविध राजाओं का चरित्र उन्होंने प्रस्तुत किया, किन्तु जब वे विलासी अग्निवर्ण का वर्णन करने लगे तो संभवतः उन्हें उस मूल प्रेरणा का स्मरण हो आया, और रघुवंश काव्य की समाप्ति हो गई।[6]

कालिदास की दृष्टि में भी हरि ही एक मात्र पुरुषोत्तम थे।[7] इनका स्मरण मात्र ही पवित्र करने वाला है।[8] कालिदास ने केवल दशरथ को पुरुष और राम को पुरातन पुरुष कहा है।[9] राम को ही वह हरि भी कहते हैं। शेष सभी रघुवँशियों को वह क्षितीश, नृप, नृपति, राजा, पार्थिव, ईश्वर आदि शब्दों से ही व्यक्त करते हैं, पुरुष या पुरुषोत्तम शब्द से नहीं। ये सभी यश और धन के इच्छुक हैं। दिलीप तक को अपने यशःशरीर की अधिक चिन्ता है।[10]

पुरुषार्थ प्रवर्तिनी प्रकृति होती है और उस प्रकृति को देखने पहचानने वाला ही पुरुष है।[11] काम की उक्तियाँ कालिदास ने जन-विलासिता की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रस्तुत की हैं।[12] शिव जैसे जितेन्द्रिय का तप भी काम ने भंग कर दिया था। रूप-गर्विता पार्वती को भग्न-मनोरथा दिखाकर भी कालिदास ने उसे मनस्विनी कह कर फलोदय तक प्रयत्नशील प्रस्तुत किया है। वस्तुतः

---

१. वही उ० ।९७।४
२. न हि मानुषात्श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्। म० भा०
३. कौटिल्य १०।१३ 'नवंशरावं...'
४. राष्ट्रकवि कालिदास-पृ० २५
५. रघुवंश १।७-८
६. द्रष्टव्य-रघुवंश सर्ग १९
७. रघुवंश ३।४९
८. रघु० १०।२९
९. वही ९।१६,११।८५
१०. वही-२।५७
११. कुमार संभव २।१३
१२. वही ३।३-१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईप्सितार्थ के लिए कृत-निश्चय मनुष्य ही मनीषी या मनस्विनी है।[1] पुरुष और पुरुषार्थ के स्थान पर मनस्वी और मनस्विता का प्रयोग धारणा-परिवर्तन का ही द्योतक है। धर्म और मोक्ष का साधक पुरुषार्थी है तथा अर्थ और काम का साधक मनस्वी। मन की प्रवृत्ति निम्नाभिमुखी हो सकती है जैसे जल की। दृढ़-संकल्प उत्तम और अधम दोनों प्रकार के लक्ष्य के लिए हो सकता है। मनोरथ के लिए अवरोध तो है ही नहीं।[2]

गीता में मनुष्य के दो रूप कहे गये हैं—श्रेष्ठ और लोक। एक अनुकरणीय है दूसरा अनुकर्त्ता। मनुष्यों में पौरुष ही विराट पुरुष का प्रतीक था।[3] कालिदास के समय इस पौरुष का प्रतीक था—समुद्रवसना पृथ्वी और नारी।[4] षष्ठांशवृत्ति राजा का कार्य शान्तिकाल में दुष्टों को दण्ड, विवाद का निबटारा और प्रजा का रक्षण था। सत्पुरुष बनने का अर्थ था परोपकार करना मात्र या सद्वस्तु का आदर करना। यद्यपि सामान्य-जन का लक्ष्य श्रद्धा (पत्नी), धन (पुत्र) और क्रिया (पति) मात्र था, पर बुद्धिवाद का अभ्युदय कालिदास-युग की विशेषता थी।[5] इस बुद्धिवाद की स्वाभाविक परिणति अर्थ और काम की सिद्धि के लिए ही होती है। फलस्वरूप पुरुष का एक 'नायक' स्वरूप उभरा जो सुन्दरी नारी के चरणों में पड़ा उसका दास प्रतीत होता है।[6] काम के साथ प्रीति, कृत्रिम-प्रेम, दूती, कातरता तथा प्रणय-निराशा में आत्महत्या का घनिष्ठ सम्बन्ध है।[7] राजा का पुरुषार्थ युद्ध-विजय और नारी-हरण था तो प्रजा का जातिगत कर्त्तव्य-निभाना।[8] डाका डालना भी एक वर्ग का कार्य बन गया था और राज्य में शान्ति इसलिए काम्य बन गई थी, जिससे ऐश्वर्य मत्त एवं विकार-मूर्छित काम-सिद्धि कर सकें।[9] लोकानुग्रह श्लाघनीय अवश्य था पर राजा और वित्तेश प्रजा का मूल लक्ष्य पुरुषार्थों में काम ही रह गया था।[10] नायक का यह रूप मधु-लोलुप मधुकर का ही था। पर-पुरुष संकीर्तन के श्रवण को भी अयुक्त मानने वाले भास की नारी से भिन्न स्थिति थी कालिदास के नारी की भी। लोकवाद कितना[11] उपेक्षणीय बन गया था, यह कालिदास की सीता के कथन से स्पष्ट है।[12]

कालिदास के बाद किसी भी कवि ने चक्रवर्तित्व की कल्पना नहीं की; रामचरित प्रस्तुत करने वालों में उसकी ध्वनि नहीं, प्रतिध्वनि मात्र है। कवियों ने स्पृहणीय गुणों से युक्त महात्माओं के चरित-वर्णन में मन भले ही लगाया हो।[13] सातवीं शती के अन्त में विद्यमान भट्ट-नारायण ने 'मदायत्तं तु पौरुषम्' जैसी कर्ण की उक्तियों में जाति एवं कुल से परे व्यक्तिगत पौरुष को खूब उभारा है।[14] हर्ष के बाद भारत में कोई विशाल राज्य था नहीं। सामंतवादी व्यवस्था में सम्राट् या चक्रवर्ती की

---

१. वही ५।५
२. वही ५।६४
३. गीता- ३।२१,७८
४. शाकुन्तला ३।१८
५. वही ५।८,५।१२,विक्रमो० १।२ शकु० ७।२९ माल० १।२
६. माल० ४।१४, विक्र० ४।६८, माल० ३।२०, शकु. १।२०,३।१० विक्र० २।३।, ३।७, माल० ३।२२, ४।१० आदि।
७. ऋतु० ३।२८, उ० मेघ ५५, माल० ३।३, ३।१४, ४।५, ३।५
८. माल० ५।२, शाकु० ६।१
९. माल० ५।१०, ५।२०, शाकु० ५।१८, विक्र० ५।२५ ऋतु० २।२९
१०. शाकु० ७।३४-३५, ३।१०
११. वासवदत्ता, भास नाटक चक्रम पृ० १८ अन्य स्थल-प्रतिज्ञा यौगन्धरायणं १।११ चारुदत्त भा० ना० च० पृ० १९७
१२. रघु० १४।३१
१३. किरातार्जनीय २।३४
१४. वेणीसंहार ३।३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पना की अपेक्षा पौरुष के नये मानदण्डों की स्थापना सरल थी। भागवत का 'मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्'[1] पुरुषादर्श कालिदास द्वारा स्थापित आदर्श से भिन्न नहीं है। योद्धाओं में योद्धा, मनुष्यों में राजा और स्त्रियों में मूर्तिमान् कामदेव; यह था वैदिक विराट पुरुष का सामन्ती व्यवस्था में रूप।

काम कथा रत व्यक्तियों के लिए धर्मकथा कुनैन से भी कड़वी लगती है। धर्मोपदेशकों के लिए यह एक बड़ी समस्या थी। वसुदेव हिण्डीकार ने शृंङ्गार कथा के आवरण में धर्म कथा का समावेश कर जनता को आकृष्ट करने का प्रयास किया।[2] प्राकृत एवं अपभ्रंश कथा-काव्यों ने इसी परम्परा का अनुसरण किया, क्योंकि ये अधिकतर जैन धर्म से संबद्ध हैं। कादम्बरी, नैषध और नलचम्पू जैसी संस्कृत कृतियां रस-कथा प्रस्तुत करती हैं,[3] जबकि कुवलयमाला, लीलावती कथा जैसी प्राकृत-कृतियाँ कामोत्थ-धर्मोत्थ होने के कारण संकीर्ण कथायें हैं।[4] सामन्तवादी व्यवस्था के ये सभी सुपुरुष चरित हैं;[5] कालिदास के अनुसार ये सभी उदात्त नायक हैं। जम्बु-चरिय कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञाता को ही पुरुष मान लेता है।[6]

स्वयंभू ने पउमचरिउ में सामन्तवादी पुरुष के युद्धवीर एवं धर्मवीर रूप को ही उभारा है। रण रस लोभी अनावृत यश, यशलोभी रावण, 'कलि-कलुष-सलिल पोषक पतङ्ग' लक्ष्मण, जैसी उक्तियों से पुरुष के उदात्त रूप के दूसरे पक्ष को प्रमुखता दी है।[7]

जैन-रास परम्परा में सुपुरुष वह है, जो गुरु से बोध प्राप्त करे, सत्य बोले, परिवाद से दूर एवं उसे नष्ट करने वाला हो, मोक्ष-मार्ग का वक्ता एवं श्रोता हो।[8] जैन-परम्परा ने चार आर्य-सत्यों के ज्ञाता को ही त्रिभुवन में महाभट माना और निर्ग्रन्थ को ही महावीर। सिद्धि के लिए किया जाने वाला संघर्ष ही महारण है और सिद्धि-प्राप्ति ही महा विजय। ऐसा सिद्ध ही पुरुष है।[9] इस दृष्टि में कभी परिवर्तन नहीं हुआ।

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक काल भी सामन्तवादी था। राहुलजी ने सिद्धों और सामन्तों के द्विविध दृष्टि-कोणों के आधार पर ही इस काल को सिद्ध-सामन्तकाल कहा है। चंद का 'पृथ्वीराज रासो' चली आती हुई 'पुरुष' सम्बन्धी धारणाओं को ही व्यक्त करता है। चंद की दृष्टि में पृथ्वीराज सामंतसूरों में अद्वितीय और आदर्श पुरुष थे। सामंती आदर्श के अनुसार पुरुष को वीर, राजा और कामदेव का अवतार होना चाहिए—

सामंत सूर प्रथिराज सम भयो न को रवि-चक्क तर।
पृ० रा० १६।२४८

अवतार भूप प्रथिराज पहु। पृ० रा० १।६
कामदेव अवतार हुअ। पद्मावती समयो।

इस रासो के तैंतीसवे समयो में पृथ्वीराज के सौन्दर्य का भी वर्णन हुआ है।

चंद ने सामन्ती व्यवस्था में निहित राजा, सामंत और सैनिकों के आदर्श को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। महाभारत, कौटिल्य-व्यवस्था और कुछ पौराणिक तथ्य ही उनके प्रेरक स्रोत थे। इन्हीं के आधार पर उन्होंने स्वामि-धर्म की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया था।[10] राष्ट्रीयता के अभाव में उन्होंने सामंत-सैनिकों के

---

१. भागवत ७।४३।८०
२. प्राकृत साहित्य का इतिहास पृ० ३६४
३. कादम्बरी कथा मुख ८, नैषद १।२, नलचम्पू १।२५
४. कुवलयमाला पृ० ४ लीला० पृ० १।२
५. सुव्वह सुपुरिस चरियं.....कु० मा० पृ० ४
६. कज्जाकज्जाइं जाणई पुरिसो। ज० च० २।३२।२६
७. पउमचरिउ ६।८।२।३७।१।१, १५।१०।६, २२।४।५
८. उपदेश रसायन रास, ४
९. मयण पराजय चरिउ २।५, २।१
१०. द्रष्टव्य—मेरा लेख—पृथ्वीराज रासो एक पौराणिक महाकाव्य—कुरुक्षेत्र युनिवर्सिटी रिसर्च जरनल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समक्ष यही आदर्श उपस्थित किया और रण-मरण की प्रेरणा दी—

जीविते लभ्यते लक्ष्मी मृते चापि सुराङ्गना ।
क्षणे विध्वंसिनी काया का चिन्ता मरणे रणे ।

इस आदर्श पर चन्द ने 'श्रेष्ठ पुरुष' की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है, उनमें अल्प-जीवन एवं कीर्ति को ही प्रमुखता दी है—

मरना जीना हक्क है, जुग्ग रहेगी गल्हां ।
सा पुरुषां का जीवना, थोड़ा ही है भल्हां ।।
पृ० रा० ६४।१६८

संसार अथिर सामंत मत । पृ०रा० ६६।६८३ पद

विद्यापति ने कीर्तिलता और कीर्ति पताका में 'पुरुष' की कहानी ही कही है ।[1] कीर्तिलता में उन्होंने वीर पुरुष का लक्षण बताते हुए कहा है कि वह लब्ध-कीर्ति, संग्राम में सूर, धर्म परायण, अदीन, सानन्द होता है । जिसकी सम्पत्ति का उपभोग सुजन करते हैं, वह गुप्त दानी होता है। वैसे तो पुरुषोत्तम सहश ही पुरुष होता है, केवल जन्म मात्र से नहीं । यशस्वी, यशार्जन में सक्षम ही पुरुष है ।[2]

विद्यापति की पदावली यद्यपि मुक्तक एवं श्रृंगारी रचना है, परन्तु उसका नायक तो 'सुपुरुष' है, अतः अनेक स्थलों पर उनकी पुरुष सम्बन्धी धारणा व्यक्त हुई है—

(क) सुपुरुष वचन पषान क रेह । पदा० ८०।।
पुरुष लाख एक लखवा पारिअ ।। पदा० ७६ ।
वैभव गेला रहत विवेक । तैसन पुरुष लाख मँह एक।
पदा० १४६ ।

सुपुरुष सञो नेह विद्यापति ओल धरि हो निरबाहे ।
पदा० २३१।

(ख) पुरुषक चंचल सहज सुभाव । पदा० ६२।।
एके मधुयामिनि सुपुरुष संग । पदा० ८०।।
सुपुरुषे पाओल सुमुखि सुनारि रे । पदा० १०।।[3]

विद्यापति के 'सुपुरुष' का जो प्रणयी रूप उनकी पदावली में व्यक्त हुआ है, उसमें भी वह लाखों में एक, वचन का पक्का, नागर और भागवत के अनुसार ही स्त्रियों के मध्य कामदेव है ।

चिन्तन एवं शोध का यह भी एक आनन्ददायक विषय हो सकता है कि गृह त्यागी सिद्धों एवं सन्तों की वाणी में पुरुष तो रव-सम ठीक ही रहा, पर जीव ने पतिव्रता नारी का रूप कैसे प्राप्त कर लिया ? किस सीमा तक सूफियों का प्रभाव है और किस सीमा तक सामन्ती-धारणाओं का ? विद्यापति की प्रणय-कथा भी अकथ-कथा है और कबीर की प्रेम कथा भी ।[4] विद्यापति की नारी चंचला भी है और कुल कामिनी भी, पर कबीर की यह नारी पतिव्रता और सदा सुहागिन है ।[5] सन्तों में भी पुरुष, प्रिय एवं प्रेम का विषय बन ही गया है ।

सूफी कवि जायसी ने तो 'पुरुष' के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा का यथातथ्य वर्णन करते हुए इसके व्यक्तित्व

---

१. सुपुरिस कहनी हौं कहउँ । की० ल० १ । पंक्ति ३६.
२. कीर्तिलता—१। पं० २७-३३
३. पद संख्या—विद्यापति पदावली, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना—की हैं ।
नागर-नागरी रूप के लिए द्रष्टव्य पद—२१,७१,७७ ८८, १६४ आदि ।
४. पाछिलि कथा अकथ कथा । पदा० २१
अकथ कहाणी प्रेम की । कबीर ग्रन्थावली पृ० १२०
बरउदे दिलम नबाख्त यक जमजमां इश्क ।
जां जमजमा अमजे पाये ता सर हम इश्क ।। जामी ।
ईरान के सूफी कवि—पृ० ४००
५. जो पै पतिव्रता है नारी ।
कैसे ही रहौ सो पियहि पियारी ।
तन मन जीवन सौंपि सरीरा ।
ताहि सुहागिन कहै कबीरा ।।
कबीर ग्रं० पृ० ११५ ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को स्पष्ट आकार दे दिया है। पुरुष या सुपुरुष सम्बन्धी उनके विचार सारे पद्मावत में बिखरे पड़े हैं—

साहस जहाँ सिद्धि तँह होई। पद्मा० १४।१।३।
राजै दीन्ह कटक कंह बीरा। सुपुरुष होहु करहु मन धीरा।
प० १५।८।१

धन्नि पुरुष अस नवै न नाए। औ सुपुरुष होइ देस पराए।
प० २६।४।७

एक ही स्थल पर पुरुष की अनेक विशेषताओं का उल्लेख करते हुए जायसी ने कहा है कि उच्च हृदय एवं साहस के साथ उन्नति पथ पर अग्रसर होने वाला ही पुरुष है और बार बार फिसलने पर भी उन्नति का पथ नहीं छोड़ता—

पुरुषहिं चाहिय ऊँच हियाऊ। दिन दिन राखै ऊंचै पाऊ॥
सदा ऊँच पै सेइय बारा। ऊँचे सो कीजिय बेवहारा॥
ऊँचै चढ़ै ऊँच खंड सूझा। ऊँचे पास ऊँच कति बूझा॥
ऊँचै संग संगति नित कीजै। ऊँचै काज जीव पुनि दीजै॥
दिन दिन ऊँचे होइ सो, जेहि ऊँचे पर चाउ।
ऊँचे चढ़ता जो खसि परे, ऊँच न छाड़िय काउ।
पद्मा० १६।५

हिन्दी के पूर्व मध्यकाल में प्रकृति और पुरुष के प्रेम का जो रूप विद्यापति ने प्रस्तुत किया उसमें कुपुरुष के लिए भी अवकाश मिल गया।[1] सुपुरुष वह है जिसका प्रेम सोने की भांति खरा हो, कुपुरुष वह जिसका प्रेम खोटे सिक्के की भांति है।[2] पुरुष छैला बन गया और उसका नया नामकरण हुआ 'नागर' और नारी बनी 'नागरी'। ये नागर-नागरी चौसठ कला मर्मज्ञ थे और कान्ह तो अतिनागर थे ही।[3] नागर-नागरी के रूप में पुरुष और प्रकृति का जो रूप उभरा उसने पुरुषोत्तम कान्ह और प्रकृति-शक्ति राधा का रीतिकालीन रूप प्रस्तुत किया। प्रेमा भक्ति की प्रतिष्ठा इन सम्बन्धों को एक दार्शनिक धरातल प्रदान करना था।[4]

सौलहवीं शती के अभिनव कालिदास ने अपने भागवत चम्पू में कृष्ण का जो रूप प्रस्तुत किया है, वही मानो भागवत का रीतिकालीन अवतरण है। कृष्ण पुरुषोत्तम तो हैं किन्तु 'मायिक मनुष्यवेषभृत्' होने के कारण ही वे 'जारनाथ' बन गये हैं। गोपियां 'जारदयिता' बन गई हैं। कृष्ण 'भोगिनाथ' हैं और गोपियां 'भोगिन्य:'[5] कवि ने इसे 'कृष्ण वर्त्म' कहा है और उसका उत्तान-शृंगार-वर्णन रीतिकालीन कवियों को बहुत पीछे छोड़ गया है। भागवत की भी मर्यादा संभवतः यहां टूट गई हैं।[6] उषा-अनिरूद्ध के प्रणय को लेकर वाणासुर के साथ होने वाले युद्ध के समय कवि ने कहा है कि 'माहेश्वर ज्वरं हन्तुं भगवान वैष्णव ज्वरं। विनिर्ममेतयो रासीद् युद्धमद्भुत कर्मणोः।'[7] यह 'कृष्ण वर्त्म' वैष्णव ज्वर था और रीति-साहित्य वैष्णव-ज्वराक्रान्त 'पुरुष'-पथिक की कृष्ण वर्त्म पर नागर बन कर यात्रा थी।

तुलसीदास ने रामचरित मानस में राम को पुरुषोत्तम

---

१. प्रकृति परेषिअ सुपुरुष प्रेम। पदा० २२
२. सुपुरुष पेम हेम अनुमानि। पदा० ९६,
हृदय कपट मुखेकरहिं पिरीति। पदा० १३४
सपनेहुजनु होहु कुपुरुष संग। पदा० ११२
जउ कुपुरि भत्तारू। रस-विलास ३१
३. तोहर छैलपन निन्दत आन। पदा ११३
नागर हो से हेरितहि जान,
चौसठि कला क जाहि गिआन। पं० १४।
से अति नागर गोकुल कान्ह। पदा० १०९।
नागर गुणे नागरि रति बाढ़ी। पदा० ७१।
४. सर्वथा ध्वंस रहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद् भाव बन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तिताः।
उज्जवल नीलमणि, पृ० ४१८।
५. भागवत चम्पू ३। ४३,३।९३,६।१३१, स भोगिचूड़ा-
मणि रेष नाथो वयं च भोगिन्य इति श्रुतीतिः।
भा० च० २।७८
६. भाग० च० ४।४७, ३।५०-११५ तुलनीय भागवत
१०।३३ के वर्णनों से।
७. भाग० च० ५।३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म के रूप में ही सामने रखा। सती-मोह के प्रसंग को उन्होंने सतर्कता के लिए ही प्रस्तुत किया था[1]। राम की नर-तनु-लीला से कोई भ्रान्ति न उत्पन्न हो जाय अतः वे बार-बार उनके 'ब्रह्मत्व' का स्मरण कराते रहते हैं। तुलसी के 'रामचरित मानस' की लोकप्रियता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि वैदिक-विराट-पुरुष की उसमें पुनः अवतारणा हुई और सामान्य-जनता को यह अनुभूति हुई कि उसे उसका खोया हुआ रूप प्राप्त होगया। इससे उसका आत्मबल जागा। राम के पुरुषोत्तम रूप का दर्शन धनुष यज्ञ के समय दिखाई पड़ता है। वहां 'जाकी रही भावना जैसी' में उनका विराट रूप व्यक्त हुआ है।

गंग कवि ने 'मति विना मर्द अरु नूर विना नारी कहा'[2] तथा 'ग्वाली के रसिक कान्ह काली के दवन जू'[3] में सामन्ती धारणा को ही व्यक्त किया है। कृष्ण-वर्त्मानुयायी कवियों 'विहि रस रसिक ढरै'[4] और चतुर्भुज दास तो रसिक गोपाल को रस के वश में ही मानते हैं।[5] विद्यापति की भांति परमानन्द भी प्रेम-कथा को ही 'अकथ-कथा' कहते हैं।[6] 'नागर' पुरुष परवर्ती रीतिकाल में 'रसिक' पुरुष बन गया। 'कृष्ण वर्त्म' को कवियों ने इतना अधिक आकर्षक पाया कि कुछ ने राम को भी रसिक बनाने में कसर नहीं छोड़ी।

आधुनिक काल का पूर्वार्ध राष्ट्रीयता का और उत्तरार्ध अन्तर्राष्ट्रीयता का है। राष्ट्रीयता में विराट पुरुष का स्वरूप 'राष्ट्र-पुरुष' बना और अन्तर्राष्ट्रीयता में 'विश्व-मानव'। राष्ट्रपुरुष के स्वरूप की अभिव्यक्ति सब से अधिक माखन लाल चतुर्वेदी की कविताओं में हुई। दिनकर की कविताओं में भी राष्ट्रपुरुष की विराटता के दर्शन की ललक है। राष्ट्र-धर्म धर्म का, राष्ट्र-प्रेम काम का, राष्ट्र-समृद्धि अर्थ का और राष्ट्र-मुक्ति, मुक्ति का प्रतीक बन कर पुरुष के पुरुषार्थ को स्पष्ट करते हैं। विश्व-धर्म, विश्व-काम, विश्व-समृद्धि और विश्व-मुक्ति अभी मानव के साध्य हैं। बौद्धिक युग के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के साथ साथ उसके विराट स्वरूप की उपलब्धि का आधार व्यक्ति ही हो सकता है। हिन्दी के एक मात्र प्रसाद जी ने ही वैदिक विराट पुरुष को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में शैव-दर्शन के आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कामायनी में किया है।

यद्यपि 'कृष्णवर्त्म' के प्रेम का आध्यात्मिक पक्ष धूमिल पड़ गया था, किन्तु प्रसाद जी ने शैव दर्शन के माध्यम से उसे पुनः महत्त्व प्रदान किया। नर-शक्ति-शिव का त्रिक कामायनी में अधिक स्पष्ट हुआ है, यह जीव-ब्रह्म की अद्वैतवादी उपनिषद् परम्परा से भिन्न नहीं है। शिव ही चेतन पुरातन पुरुष है, भेद बुद्धिपरक जीव ही नर है, श्रद्धा ही अनुग्रह स्वाभावा पराशक्ति है, वही पूर्ण काम की प्रतिमा है।[7] प्रेम से ही हृदय जाग्रत होता है। पराये में भी अपने पन की अभेद भावना जागती है; यह भेद में

---

१. ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥
रा० च० मा०॥

२. गंग कवित्त ३९६

३. वही १२

४. सूर सागर भाग २ पद ३५

५. रसिक गोपाल रसिक रस रिझवत।
चतु० पद २९६।

६. परमानन्द स्वामी की लीला अकथ कथा नहिं जानी।
परमानन्द सागर ३३७।
परमानन्द प्रेम कथा सबहिन ते न्यारी।
प० सा० १३१२।

७. वह चेतन पुरुष पुरातन, निज शक्ति तरंगायित था।
कामायनी पृ० ७७। तंत्रालोक भाग २ आ० ३।६८
उस ज्योति मयी को देव कहो, कैसे कोई नर पाता है।
का० पृ० ७७
थी पूर्ण काम की प्रतिमा। का० पृ० २९०
तत्र भेद प्रधानो नरः, भेदाभेद प्रधाना शक्तिः,
केवलमभेद प्रधानः शिव इति। परात्रिंशिका विवरण
पृ० ७३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति कराने वाली शक्ति है।[1] चेतन शिव के लीला-विलास को ही विश्व समझ लेने वाले के लिए विश्व-प्रेम और विश्व-कल्याण की ओर उन्मुख हो जाना सरल है। व्यिष्ट से समष्टि-प्रेम की ओर बढ़ना, शिवत्व एवं अपने आनन्दमय स्वरूप की उपलब्धि के लिए आरोहण करना ही है।[2] प्रसाद जी न संसार को दुःखमय मानते थे और न दुःख-नाश के उपाय सोचने को पुरुषार्थ; दुःख-सुख तो इस आनन्दमय विश्व के धूप-छांह मात्र हैं।[3] यह विश्व कर्म रंगस्थल है और दुःख सुख भूमा का मधुमय दान।[4] भेद बुद्धि का त्यागै न करने वाला ही शैव दर्शन का पशु है, जिसे शिव की वामाशक्ति जकड़ लेती है।[5]

निष्कर्ष—

इन तथ्यों को ध्यान में रख कर कहा जा सकता है कि वैदिक 'पुरुष' कल्याण-पथ का पथिक, श्रेमाण और गतिशील था, किन्तु उत्तरोत्तर उसका विराट रूप वामन बनता चला गया है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् काल में पुत्र, वित्त और लोकैषणा ने उसे आधा, गृहस्थी, यथाक्रतु तो बना ही दिया है, वह 'अंगुष्ठ-पुरुष' मात्र रह गया है। बौनी प्रजा, राजा में ही अपने विराट स्वरूप का दर्शन करने लगी है। सूत्र काल में पुरुष का सामान्य रूप जीव, भौतिक विराट रूप ईश्वर या राजा तथा स्मरणीय रूप दिव्य पुरुष या ब्रह्म रह गया है। वह यज्ञ-मय होकर रह गया है। जीव दुखी है, वह कर्म फल का भोक्ता है, आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति ही पुरुषार्थ है; साधन कोई भी हो जीवन्मुक्ति ही साध्य है; दर्शनों की इस धारणा ने कर्मजन्य पौरुष का ह्रास कर पुरुष को संसार से पलायन की ओर उन्मुख किया। रामायण में वाल्मीकि ने राजा का उदात्त, गुणवान्, वीर्यवान् और लोक-संग्रही रूप प्रस्तुत कर तत्कालीन समाज के समक्ष एक बार पुनः वैदिक पुरुष के उत्तम रूप को प्रस्तुत किया। महाभारत तक आते आते पुरुष के भौतिक विराट रूप राजा का स्वरूप भी मलिन हो गया। राज्य-सत्ता व्यक्तिगत सुखोपभोग का साधन बन कर रह गयी थी और त्यागपूर्वक भोग का आदर्श ही नहीं लुप्त हो गया था अपितु अर्जुन जैसा वीर भी दिशा एवं लक्ष्य हीन बन कर रह गया था। गीता ने एक बार पुनः विराट पुरुष और मनुष्य के वास्तविक सम्बन्ध को उजागर किया। क्षर-अक्षर, लोक और श्रेष्ठ में भी उसने क्षर और लोक के देव और असुर रूप में दो वर्ग बना दिए। 'नृषु पौरुषम्' ही दिव्य पुरुष के बोध का प्रतीक रह गया। कौटिल्य ने राजा को 'भर्त्ता' बना दिया, फिर सामान्य जीव स्वाभाविक रूप से सेवक मात्र रह गया।

कालिदास की दृष्टि में हरि ही पुरुषोत्तम हैं, शेष क्षितीष, नृपति आदि। पुरुष का रूप 'मनस्वी' बना जो चार पुरुषाथों में केवल अर्थ और काम का साधक रह गया। समुद्रवसना पृथ्वी और नारी की प्राप्ति ही पुरुषार्थ था, लोक-संग्रही रूप विलुप्त हो गया। जाति, वर्ण एवं सामन्तवादी व्यवस्था से पीड़ित पुरुष का स्वर सातवीं शती में 'दैवायत्तं कुले जन्ममदायत्तं तु पौरुषम्' के रूप में उभरता अवश्य है, पर सामन्ती-व्यवस्था ने इसे व्यक्ति-गत वीरता का प्रतीक बना कर अपने अनुकूल ढाल लिया।

सामान्ती व्यवस्था में आदर्श पुरुष वह था, जो योद्धा, राजा और मूर्तिमान् काम हो। विरक्त वर्ग का आदर्श सिद्ध था। स्वयंभू से विद्यापति तक पुरुष का यही रूप

---

१. प्रति फलित हुई सब आँखें, उस प्रेम ज्योति विमला से।
सब पहचाने से लगते, अपनी ही एक कला से॥
कामा० आनन्द०।
प्रेम-प्रेम सों होय, प्रेम सो पारहि जैए।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैए।
भ्रमर गीत १७। सूर

२. शिव समष्टि का होता है क्योंकि विश्वमय है
विश्वेश रहस्य प्रेम के ये उसके। प्रेम पथिक पृ०२६

३. एक घूंट, पृ० १६, कामायनी पृ० २४१

४. कामा० पृ० ७५, श्रद्धा सर्ग।
यो वौ भूमा तत्सुखम्। छान्दो० ७।२३।
शिवशक्ति सामरस्यमय जगदानन्द रूपम्।
तन्त्रालोक टीका पृ० ८४

५. तन्त्रालोक भा० ८। आ १३।३१४-१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्त हुआ है। विद्यापति के समय पुरुष नागर, नारी नागरी और प्रेमकथा, अकथ कथा बनी। प्रेम में कपटी के लिए 'कुपुरुष' भी प्रयुक्त हुआ। सन्त और सूफी भी इस अकथ-कथा से अप्रभावित नहीं रहे। जायसी ने साहस को, उच्चारोहण को पुरुष के पौरुष का प्रतीक अवश्य माना। तुलसी ने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप को सामने अवश्य रखा। यह निगमागम का प्रभाव था।

'कृष्ण वर्त्म' ने पुरुषोत्तम को मायिक मनुष्य वेशभृत् मान कर पुरुष को भोगिनाथ और नारी को भोगिन्यः बना दिया। इसने पुरुष को रसिक और नारी को रसिकनी बना दिया। माया के आवरण ने पुरुष के आलोकमय रूप को आवृत कर लिया।

आधुनिक काल 'राष्ट्रपुरुष' और विश्व मानव की धारणा को लेकर चला। प्रसाद ने प्रथम बार शिव को पुरातन पुरुष, जगत को उसकी लीला, भेद बुद्धि वाले को नर, आनन्द शक्ति को श्रद्धा या कामायनी तथा श्रद्धा-विहीन को पशु रूप में चित्रित किया। शैव दर्शन के आधार पर उन्होंने प्रेम कला और काम कला को हृदय के विस्तार की प्रेरणाशक्ति के रूप में प्रस्तुत कर उसका रीतिकाल से भिन्न रूप दिखलाया। शिव ही विश्वेश और विश्व मानव है, और शिवत्व की उपलब्धि ही पुरुषार्थ है। प्रसाद का 'पुरुष आलोकमय, मंगलमय, चेतनामय, समरस, अखंड, इच्छा-क्रिया-ज्ञान का केन्द्र बिन्दु और आनन्द वेश है। वही कह सकता है—

हम केवल एक हमी हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो,
जिसमें कुछ कमी नहीं है। कामा० पृ २८७
'दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव कहरे! यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता॥
कामा० २८९, अष्टम संस्करण।

प्रसाद ने जिस आरोहणशील पुरुष की अवतारणा की है, वह राष्ट्रीयता की संकीर्ण सीमा से आवद्ध नहीं विश्वमानवता की व्यापक सीमा में व्याप्त वैदिक विराट पुरुष ही है।

हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में चेतना के धरातल पर इस विराट पुरुष के अवतरण के बाद भी यह प्रक्रिया मन्द नहीं पड़ी है। आत्म स्वार्थ और लोक क्षेत्र में ही नहीं राष्ट्र-स्वार्थ और विश्व-कल्याण में अब भी संघर्ष चल रहा है तथा पुरुष की द्विविध प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। पुरुष गतिशील तो है, पर उसकी गति अधः और ऊर्ध्व दोनों ओर ही है। पन्त ने अपने काव्य में इन दोनों प्रवृत्तियों का अत्यन्त स्पष्ट चित्रण किया है। पुरुष को अपने विराट स्वरूप को प्राप्त करने के लिए मनु की तरह प्रचुर संघर्ष करना है। पन्त के ही शब्दों में—

जाति वर्ण गौरव से पीड़ित वर्ग राष्ट्र स्वार्थों में सीमित।
जन समुद्र रे आज अचेतन अधः प्रवेगों से आन्दोलित॥
वार्धक्य।

फ्रायड के से नर-नारी, गत रीति-काव्य में मूर्तित।
उपमन कुंजों में करके, निज काम ग्रंथियां मुंचित॥
लोकायतन पृ. १५२

अचेतन उपचेतन के चित्र, मात्र अति वैयक्तिक उच्छ्वास।
रेंगती कला पंक कृमि तुल्य, अधोमुख कुत्सित बुद्धि विलास॥
लोका० २७८

जाति, वर्ण, वर्ग, राष्ट्र के स्वार्थों से जन-समुद्र पीड़ित है। फ्रायड के अनुयायी कवियों ने अचेतन, उपचेतन के चित्र अंकित करने प्रारम्भ कर दिए हैं। काम ग्रंथियों को कला का रूप देना अधोमुखी बुद्धि-विलास की ही अभिव्यक्ति है। कुण्ठा, संत्रास आदि को पुरुष का पौरुष क्यों सहेगा। आज का मानव नभ-ग्रह चारी बन कर धरा से ऊपर ब्रह्माण्ड के विविध छोरों को स्पर्श करने लगा है। सारा विश्व ही तीव्रता से गतिशील है—

बदलता रभस वेग से विश्व,
मनुज के तन, मन, जीवन, प्राण।
महत् युग चित्रपटी में वेग,
चेतना का अजेय आख्यान॥ लोका० पृ.२५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तो मानव की गति-मति पर निर्भर करता है कि कि वह देव या दनुज बने—

यह मानव मति गति पर निर्भर,
वह हो देव दनुज के आश्रित।

आत्म हीन मानवता त्यों ही,
दानवता की प्रतिमा कुत्सित ।। नव निर्माण ।।

चेतना के धरातल पर ही विराट पुरुष के विराट रूप को प्रस्तुत करना प्राथमिक आवश्यकता है। मानव और मानवता-प्रेमी ही दिव्य-चेतना का सन्देश सुना सकता है।[1] सत्य और अहिंसा ही मानवीय स्पर्श भर सकते हैं; इस लिए पन्त ने महात्मा गाँधी को पुराण पुरुष के रूप में चित्रित किया है—

तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण हे चिर नवीन
पट पर पट उठा दिए मन से
कर नर चरित्र का नवोत्थान।
आए तुम मुक्त पुरुष कहने—
मिथ्या जड़ बन्धन, राम सत्य;
नानृतं जयति सत्यं, मा भैः,
जय ज्ञान-ज्योति तुमको प्रणाम ।।बापू के प्रति।

गा गा एकोऽहं बहुस्याम। बापू के प्रति।

इस नव-पुराण पुरुष ने सत्य अहिंसा का जो पथ दिखलाया, वही शिवत्व की ओर जाता है। आज का सत्याग्रह यही है कि मानवता में देश और जाति लीन हो जाँय।[2] पन्त ने 'प्रेमलय' और 'शक्तिपात' के प्रयोग द्वारा शिवत्व सिद्धि को ही पुरुषार्थ माना है—

जगत नहीं, मैं नहीं,
प्रेमलय में ईश्वर साकार। किरण वीणा।
जब भू मानव होगा संस्कृत,
शक्तिपात से मनः शिराएं होंगी झंकृत ।।
पौ फटने से पहले।

कवि का लक्ष्य सौन्दर्य में सत्य और सत्य में शिव की प्रतिष्ठा ही है। इसी से भू मानव संस्कृत होगा। इस सुसंस्कृत भू मानव से ही विराट पुरुष साकार होगा। समस्त विश्व एक मन्दिर बन जाएगा। सर्वक्षेम की तभी स्थिति आयेगी। पुरुष की गति का लक्ष्य भी यही है—

एक मनुज हो, एक धरा हो,
यही भागवत जीवन निश्चित। नव निर्माण।

अणु-संत्रस्त मानव के लिए कोई गति नहीं है और हिन्दी सहित सभी भारतीय कवियों को अपनी महती सांस्कृतिक देन को सामने रख कर ही विश्व मानव की प्रतिष्ठा करनी है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग भी नहीं है—

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।'

रीडर, हिन्दी-विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय।

---

१. मैं मानव प्रेमी। मैं दिव्य-चेतना का संदेश सुनाता।
गीत विहग। पन्त !

२. नव-निर्माण। पन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्यप्रदेश की प्रागैतिहासिक संस्कृति

डा० कृष्णदत्त वाजपेयी

आधुनिक अनुसंधानों के आधार पर भारतीय पुरावृत्त को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया गया है :

१. प्राक् ऐतिहासिक काल (ईसवी पूर्व चतुर्थ सहस्राब्दी के पहले का युग),

२. आद्यऐतिहासिक काल (ई० पू० चतुर्थ सहस्राब्दी से लेकर ई० पूर्व सातवीं शती तक का युग),

३. ऐतिहासिक काल (ई० पू० सातवीं शती से लेकर परवर्ती युग)।

उक्त तीनों कालों में से द्वितीय एवं अपेक्षाकृत तृतीय के बारे में विशेष जानकारी उपलब्ध है। पिछले सवा सौ वर्षों में देश के विभिन्न भागों में उत्खनन तथा शोध के जो कार्य किए गए हैं उनसे इन दोनों युगों की संस्कृति की जानकारी के लिए पुष्ट प्रमाण प्राप्त हुए हैं। उनके आधार पर देश के प्राचीन भूगोल, राजनीतिक इतिहास, धर्म, भाषा, साहित्य, कला और लोकजीवन पर प्रभूत प्रकाश पड़ा है।

जहाँ तक प्रागैतिहासिक संस्कृति का सम्बन्ध है, उसके बारे में हमारा ज्ञान अपर्याप्त है। इसका मुख्य कारण यह है कि उस युग के विषय में आधारभूत प्रमाण बहुत कम प्राप्त हुए हैं। उनके आधार पर ही प्रागैतिहासिक भारतीय संस्कृति की झांकी प्रस्तुत करने का प्रयास विद्वानों द्वारा किया गया है।

मध्यप्रदेश अपने नामानुसार भारत के बीच में स्थित है। इस प्रदेश के बड़े भाग पर विंध्य पर्वत अपनी शृंखलाएं फैलाए हुए है। इस प्रदेश की मुख्य नदी नर्मदा है, जिसके दक्षिण के भूभाग पर महादेव तथा सतपुड़ा नामक पर्वतमालाएं हैं। सतपुड़ा का एक प्राचीन नाम ऋक्ष पर्वत था।

नर्मदा के अतिरिक्त मध्यप्रदेश की अन्य बड़ी नदियां चंबल, सिंध, बेतवा, धसान, केन, टोंस, सोन और महा नदी हैं। पर्वत-मालाओं तथा नदियों के अतिरिक्त मध्य-प्रदेश-क्षेत्र का अधिकांश प्राचीन काल में जंगलों से ढका हुआ था। यहाँ न उत्कट गर्मी थी, न अधिक सर्दी। अतः यहाँ पशु-पक्षी बड़ी संख्या में रहते थे।

मानव ने भी आदिम काल से मध्यप्रदेश के भूभाग को निवास के लिए सुविधाजनक पाया। प्रागैतिहासिक युग में यहाँ मानव वस्ती का आरम्भ कब हुआ, यह निश्चित रूप से कहना सम्भव नहीं। अनुमानतः अब से, आठ या सात हजार वर्ष पहले यहाँ मनुष्य ने बसना प्रारम्भ किया। मानव के लिए यहाँ की जलवायु अनुकूल थी। साथ ही जीविका के लिए पशु-पक्षी तथा कंदमूल-फल बड़ी संख्या में इस क्षेत्र में उपलब्ध थे। प्रागैतिहासिक मानव के लिए प्राचीन साहित्य में शबर, निषाद आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं। इन मानवों के कुछ शरीर-अवशेष उन पर्वत-गुफाओं में मिले हैं जहाँ वे रहते थे। रायसेन जिला के खरवई नामक स्थान की गुफाओं में आदिम जनों की कई खोपड़ियां प्राप्त हुई हैं।

प्राचीन मध्यप्रदेश में आदिम जन घने वृक्षों के नीचे या उनकी शाखाओं पर अथवा पहाड़ों की कंदराओं (शिलाश्रयों) में रहते थे। अपना उदर-पोषण वे प्रायः शिकार से करते थे। शिलाश्रयों में रहने वाले लोग कभी-कभी गुफाओं की भीतरी छतों और दीवारों पर अनेक ढंग की रोचक चित्र-रचना करते थे। उनके द्वारा बनाए गए चित्र भारत में सबसे अधिक मध्यप्रदेश में प्राप्त हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। मंदसौर, शिवपुरी, नरसिंहगढ़, सीहोर, रायसेन, होशंगाबाद, सागर, छतरपुर, पन्ना, रीवा, अम्बिकापुर तथा रायगढ़ जिलों के अनेक स्थानों में इन आदिम जनों के निवास के अवशेष मिले हैं। इनमें पत्थर के अनेक प्रकार के औजार तथा मिट्टी के बर्तन भी हैं। उन लोगों के बनाए हुए चित्रों में से बहुत से आज भी उनके द्वारा सैकड़ों वर्ष पूर्व आवासित गुफाओं में सुरक्षित हैं। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर तथा बांदा जिलों के कई पर्वतीय स्थानों में भी ऐसे अनेक गुफा-चित्र उपलब्ध हैं।

मध्यप्रदेश में उल्लेखनीय गुफा-चित्र निम्नलिखित स्थानों से मिले हैं :

होशंगाबाद जिला में आदमगढ़, पचमढ़ी तथा बोररानी; सीहौर में बरखेड़ा और भोपाल; रायसेन जिला में खरवई, हाथीपोल एवं पुतलीकरार; सागर में आबचंद, नरयावली तथा बरौदा छतरपुर में देवरा और रायगढ़ जिला में सिंहनपुर एवं कबरापहाड़।

इन स्थानों में बहुसंख्यक मनोरंजक गुफाचित्र मिले हैं। कहीं-कहीं उनके पुराने चटकीले रंग आज भी सुरक्षित हैं। कुछ पर बाद के युगों में रंग चढ़ाए गए और परवर्ती चितेरों ने इस प्रकार पुराने चित्रों पर अपनी कारीगरी दिखाई।

अधिकांश गुफा-चित्रों में लाल, सफेद, काला, नीला या पीला रंग प्रयोग में लाया गया। कई जगह भित्तियों पर पहले लाल या सफेद रंग की पृष्ठभूमि देकर उस पर चित्र उरेहे गए। प्राचीन गुफा-चित्रों से वहाँ निवास करने वाले लोगों की जीवन-चर्या तथा रुचि का पता चलता है। मुख्यतया जो दृश्य इन चित्रों में मिलते हैं वे हैं : विविध आयुधों से पशु-पक्षियों का शिकार, जानवरों की लड़ाई, मानवों में पारस्परिक युद्ध, पशुओं पर सवारी, गीत, नृत्य, पूजन, मधु-संचय तथा घरेलू जीवन सम्बन्धी अनेक दृश्य मिलते हैं। जिन जानवरों का शिकार किया जाता था वे बाघ, हिरण, भैंसा, बैल, हाथी, गैंडा, शूकर आदि थे। ये जानवर मध्यप्रदेश के गुफा-चित्रों में विशेष रूप से मिलते हैं। इनके अतिरिक्त रीछ, कुत्ता, बकरी, बन्दर, मोर आदि भी मिले हैं।

जिन गुफाओं में आदिमजन रहते थे वहाँ अनेक पशु-पक्षियों की हड्डियां भी मिली हैं। मिर्जापुर की गुफाओं में सुअर के शिकार के कई रोचक चित्र हैं। शिकार तथा रक्षा के लिए जिन आयुधों का प्रयोग किया जाता था उनमें भाला या बरछा, धनुष-बाण, चक्र, तलवार तथा ढाल मुख्य हैं। कुछ चित्रों में युद्ध करते हुए लोगों को एक हाथ में मूंठदार तलवार तथा दूसरे में ढाल लिए हुए प्रदर्शित किया गया है। परवर्ती काल के कुछ चित्रों में युद्ध के ऐसे दृश्य मिले हैं जिनमें घोड़ों पर सवार सरदार अपने सिर के ऊपर छत्र लगाए जा रहे हैं। उनके आगे-पीछे अन्य लोग हाथों में तलवार आदि आयुध लिए हुए पैदल चल रहे हैं। कई जगह शिकारियों और योद्धाओं के विचित्र पहनावे मिले हैं। बरोदा गांव (जिला सागर) के समीप एक गुफा-चित्र में एक योद्धा शकों-जैसी ऊंची टोपी और लम्बा कोट पहने दिखाया गया है। अनेक चित्रों पर हाथी पर सवार लोग दिखाए गए हैं। व्याघ्रों (बाघों) के चित्र मध्यप्रदेश की अनेक गुफाओं में बड़ी संख्या में मिलते हैं। इस प्रदेश में बाघ बहुत थे। आबचन्द में एक स्थान पर चार भयंकर बाघ खड़े दिखाए गए हैं। उनके बीच एक पुरुष खड़ा है। दो बाघों की आपस में लड़ाई भी कई स्थानों पर चित्रित है। एक चित्र में दो हाथियों का युद्ध दिखाया गया है।

उक्त चित्रों से पता चलता है कि प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक परम्परा प्रारंभिक इतिहास-युग में भी जारी रही। लोकजीवन की यह धारा इस प्रदेश में दीर्घ-काल तक प्रवाहित होती रही।

बरखेड़ा, खरवई, रायसेन, पचमढ़ी आदि की गुफाओं में विविध पशु-पक्षियों के मनोरंजक चित्रण मिले हैं। इनमें से कुछ पालतू बना लिए गए थे। आबचन्द में एक स्थान पर एक व्यक्ति बैल को रस्सी से खींचता हुआ दिखाया गया है। लम्बी सींग वाले अरना (आरण्यक) भैंसे तथा विविध प्रकार के मृगों के चित्रण अधिक मिलते हैं। होशंगाबाद के समीप आदमगढ़ गुफा में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशालकाय अरना भैंसा चित्रित है। भैंसे का इतना बड़ा चित्र अन्यत्र नहीं मिला।

आमोद-प्रमोद तथा घरेलू जीवन-सम्बन्धी विविध दृश्य इन चित्रों में मिलते हैं। लोगों में नृत्य और संगीत का शोक था। पचमढ़ी-वर्ग के चित्रों तथा रायगढ़ और सागर जिलों के गुफा-चित्रों में कई स्त्री या पुरुष एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए नृत्य की मुद्रा में खड़े दिखाए गए हैं। कई स्थानों पर नृत्य-मुद्रा में सात स्त्रियों या पुरुषों का आलेखन है। सात की संख्या का प्राचीन चित्रकारों के लिए विशेष महत्व जान पड़ता है। वाद्य-यंत्रों में बड़ी और छोटी ढोलकें, बांसुरी, सितार आदि मिले हैं। पचमढ़ी तथा रायगढ़ के चित्रों में मधुमक्खियों को भगा कर मधु इकट्ठा करने के दृश्य हैं। बनियावेरी (पचमढ़ी) की एक गुफा में शाखाओं पर खेल करते हुए शाखामृग (बन्दर) दिखाए गए हैं। नरयावली (जिला सागर) के एक गुफाचित्र में नटों को अनेक करतब दिखाते हुए अंकित किया गया है। बर्तन, भांड़े, डलिया, मोढ़े आदि के आलेखन कई प्राचीन गुफा-चित्रों में मिले हैं। कुछ चित्रों में कल्पवृक्ष, सूर्य, चंद्र, स्वस्तिक आदि प्रतीक प्रदर्शित हैं। बरखेड़ा में यज्ञ, शिव, गणेश, कार्तिकेय, देवी आदि के चित्र उल्लेखनीय हैं। इनमें से कई प्रारंभिक ऐतिहासिक युग के हैं। मध्य-प्रदेश के ये प्राचीन गुफा-चित्र यहाँ के आदिम वासियों की जीवन की कितनी ही मनोरंजक गाथाएं आज तक संजोए हुए हैं।

नर्मदा, चंबल, बेतवा, सोन आदि नदियों तथा उनकी सहायिकाओं के तटों से पाषाण तथा धातु के बहुसंख्यक उपकरण मिले हैं। विभिन्न शैलियों के आधार पर इन उपकरणों को पूर्व, मध्य तथा नव पाषाण-युगों का माना गया है। इनका उपयोग आयुध रूप में तथा दैनिक जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता था। प्राचीन शैलगृहों से भी ऐसे उपकरण मिले हैं।

इन उपकरणों की बहुत बड़ी संख्या इस बात का प्रमाण है कि मध्यप्रदेश में अनेक भागों में प्रागैतिहासिक तथा आद्यैतिहासिक युगों में लोग रहते थे। द्वितीय काल में लोगों को कृषि तथा पशुपालन का ज्ञान हो गया था। पत्थर के बेडौल तथा सुगढ़ औजारों के अतिरिक्त इस काल में मानव को तांबे का ज्ञान भी हो गया था। तांबे के बहुसंख्यक उपकरण मध्यप्रदेश के बालाघाट जिले में गुंगेरिया नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं। इतनी बड़ी संख्या में तांबे के प्रागैतिहासिक हथियार तथा औजार भारत में अन्यत्र नहीं मिले।

प्राचार्य तथा अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृत तथा पुरातत्व विभाग,
सागर विश्व विद्यालय,
सागर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छायानाट्य विमर्श

डा० रामजी उपाध्याय

संस्कृत के जिन नाटकों में आवश्यकतानुसार वास्तविक पात्र के स्थान पर उसकी छाया का समावेश किया है, उन्हें तेरहवीं शती से छायानाटक नाम देने की रीति चली। पात्रों की छाया से तात्पर्य उनकी परछाई नहीं है, अपितु बनावटी पात्र हैं, जिन्हें छायापात्र या मायापात्र कहना समीचीन है। छायापात्र पांच प्रकार के होते थे—

१. माया (इन्द्रजाल) के द्वारा किसी पात्र के सदृश पात्र बनाकर उसे रंगमंच पर मूल पात्र की भाँति आचरण कराया जाता था, जैसे दूतांगद में सीता के स्थान पर मायामैथिली।

२. मूल पात्र के स्थान पर उसकी ऐसी मूर्ति रंगमंच पर रख देना, जिसे दर्शक ही नहीं, रंगमंच के पात्र भी यह न समझ सकें कि यह मूल पात्र से भिन्न है। जैसे धर्माभ्युदय में संन्यास लेने के पश्चात् राजा दशार्णभद्र के स्थान पर उसकी मूर्ति।

३. मूलपात्र या पात्रों का चित्र। यह उनसे सम्बद्ध किसी घटना का चित्रपट पर आलेखन होता था। यथा उल्लाघराघव के सप्तम अंक में वृकमुख राम और लक्ष्मण का स्वरूप चित्रपट पर अंकित करके उसके नीचे राम, सुग्रीव, विभीषण और जाम्बवान् का संवाद लिखकर कार्पटिक को पढ़ने के लिए देता है, जिसे वह रंगमंच पर प्रेक्षकों को पढ़कर सुनाता है।

४. मूल पात्र का अपनी वेशभूषा परिवर्तित करके अपना नाम, गोत्रादि बदलकर प्रायः अज्ञात रहकर कार्य करना। यथा सुभद्रापरिणयन में अर्जुन तीर्थयात्रा करते हुए प्रच्छन्न रह कर सुभद्रा का अपहरण करता है।

५. अमानव की भूमिका में मानव पात्रों का रंगमंच पर आना। यथा शामामृत में हरिणादि पशुओं की भूमिका में मनुष्य-पात्रों का संवाद में भाग लेना।

दूतांगद, धर्माभ्युदय, उल्लाघराघव, सुभद्रा परिणयन और शामामृत के लेखकों ने अपनी-अपनी कृतियों को छाया नाटक कहा है। क्यों? यह गत पचास वर्षों से विवादास्पद प्रश्न रहा है, जिसका समाधान प्रस्तुत है।

अब तक प्रायः विद्वानों ने छाया-नाटकों में छायात्मक (परछाई का) अभिनय ढूँढ़ने का प्रयास किया है और निराधार प्रमाणों से त्रुटिपूर्ण सुझाव दिए हैं। कतिपय विद्वान् छाया को सार या संक्षिप्त संस्करण समझकर दूतांगदादि को बड़े नाटकों का सारभूत बताते हैं। ये मत अप्रामाणिक और निराधार हैं।[1]

डा० कीथ का मत है—

It is natural to suggest, as did Pischal that the Dutanganda of Subhata, which is styled a Chayanataka, really was a shadow. On the other hand, Rajendralalamitra suggested that the drama was perhaps simply intended as an enteracte, and this may be justified on the interpretation of the term of drama in the from of a shadow, i.e. reduced to the minimum for representation in such a form. Sanskrit Drama. P. 269.

डा० डे का मत है—

While the connotation of the term Chayanataka itself is extremely dubious, the shadow-play theory, however, appears to be entirely uncalled for and without foundation, and there is hardly any characteristic feature which is not otherwise intelligible by purely historical and literary considerations. History of Skt. Lit. P. 501.

If we leave aside the self-adopted title of Chayanataka, these plays do not differ in any respect from the ordinary play. Ibid P. 504.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छाया क्या है—यह समझने के लिए नीचे लिखी विवस्वान् और सरण्यू (संज्ञा) की कथायें उपादेय हैं—

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामिददुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद्यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ।।
ऋग्वेद १०-१७-२

सृष्ट्वा मर्तुः परोक्षं तु सरण्यूः सदशीं स्त्रियम् ।
निक्षिप्य मिथुनं तस्यामश्वा भूत्वोपचक्रमे ।।
बृहद्देवता ७-७-१

ततस्तेजोमेयं रूहमसहन्ती विवस्वतः ।
नारीमुत्पादयामास स्वशरीरादनिन्दिताम् ।।
ततस्तेजोमयं रूपमसहन्ती विवस्वतः ।।
नारीमुत्पादयामास स्वशरीरादनिन्दिताम् ।
त्वाष्टीस्वरूपेण नाम्ना छायेति भामिनी तदा ।।
किंकरोमीति पुरतः स्थितां तामभ्यभाषत ।
छाये त्वं मम भर्तारमस्मदीयं वरानने ।।
अपत्यानि मदीयानि मातृस्नेहेन पालय ।
तथेत्युक्तवा तु सा देवमगमत् कापि सुव्रता ।।
कामयामास देवोऽपि संज्ञेयमिति चादरात् ।
जनयामास तास्यां तु पुत्रं च मनुरूपिणम् ।।
मत्स्यपुराण ११-४-८

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद की सवर्णा, बृहद्देवता की सदृशी स्त्री और मत्स्य पुराण की छाया समानार्थ हैं और छाया का अभिप्राय समान स्त्री या पुरुष है, जो माया (इन्द्रजाल) द्वारा बनाया गया हो।

छाया का उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग हरिवंश में नीचे लिखे पद्य में मिलता है—

मायया स्य प्रतिच्छाया दृश्यते हि नटालये
देहार्धेन तु कौरव्य सिषेवेऽसौ प्रभावतीम्
विष्णुपर्व ९४-३०

अर्थात् माया के द्वारा प्रद्युम्न की प्रतिच्छाया उस भवन में दिखाई देती थी, जहाँ वह नटों के साथ रह चुका था। वास्तविक शरीर से वह प्रभावती के साथ रहता था।

आरम्भ में छाया का मत्स्यपुराणीय अर्थ छायानाटक नाम रखने में ग्रहण किया गया है। शनैः शनैः किसी भी प्रकार के सादृश्य से लक्षित पात्रों, मूर्तियों या चित्रों वाले नाटकों को छायानाटक नाम दिया गया, जैसा इस निबन्ध के आरम्भ में लिखा गया है।

संविधानक

संस्कृत नाटकों के नाम उनके संविधानक के नाम पर भी रखने की रीति रही है। इस नामकरण पद्धति का उल्लेख कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में इस प्रकार किया है—

अद्भुतं पुनिरिदं यत् सारस्वत-संविधानकलक्षण—साक्षरेण नाना सुनिवेश्यते। यथा—अभिज्ञान शाकुन्तल—मुद्राराक्षस—प्रतिमानिरुद्ध—मायापुष्पक—कृत्यारावण—छलितराम—पुष्पदूषितकादीनि नामानि।
वक्रोक्तिजीवित पृष्ठ २२५

छायानाटकों में छाया संविधानक है। वास्तव में छायानाटक एक कोटि है। नाटकों के नाम तो कुछ और ही हैं।

नाटकों में अनेक संविधानक रहते हैं। प्रायः प्रत्येक अंक में एक संविधानक होता है, जिसके अनुसार उस अंक का नाम रखा जाता है।

भवभूति ने उत्तररामचरित के प्रत्येक अंक का नाम उसके संविधानक के अनुसार रखा है। इस नाटक का तृतीय अंक छायाअंक है। अनेक संविधानकों में से किसी एक को कवि कलात्मक दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानकर उसके अनुसार नाटक का नाम रख देता है।

भास ने प्रतिमा को प्रमुख संविधानक मानकर राम-चरित-विषयक नाटक का नाम प्रतिमा रखा, वैसे ही सीता की छाया (माया मैथिली) को संविधानक मानकर सुभट ने दूतांगद का छायानाटक कहा है।

कूटघटना तथा छायापात्र

कूटघटना के प्रसंग में छायापात्र प्रायः प्रयुक्त किये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते हैं। जहाँ किसी काम को करने के लिए किसी पात्र की अपने मौलिक रूप में असमर्थता होती है, वहाँ उस पात्र के स्थान पर छायापात्र का प्रयोग देखा जाता है। दूतांगद में वास्तविक सीता अंगद से इस प्रकार की बातें नहीं कर सकती थी, जैसी मायामैथिली ने की।

कूट घटनाओं के लिए भास ने स्वप्नवासवदत्त में वासवदत्ता और यौगन्धरायण को प्रथम अंक से प्रायः अन्त तक छायापात्र बनाकर रखा है। किरातार्जुनीय में शिव का किरात बनना सुविदित है। कूट घटना के लिए रामचन्द्र के सत्यहरिश्चन्द्र में अनेक पात्रों का छाया पात्र बनना प्रत्यक्ष है। मुद्राराक्षस के अन्तिम अंक में चाणम्य ने राक्षस से बताया कि जिन्हें तुम चाण्डाल समझते हो, वे वस्तुतः सिद्धार्थक और समिद्धार्थक हैं।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेणी-संहार-नाटक एक मूल्यांकन

डा० ठक्कन मिश्र

संस्कृत साहित्य में नाटकों का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' 'नाटकान्तं कवित्वम्' इत्यादि वाक्यों में इसका महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। भरत मुनि ने नाट्य को 'नाट्य वेद' कह कर इसका महत्त्व वेदों के समान स्वीकार किया।

संस्कृत नाटकों का विकास-क्रम तथा वेणीसंहार का स्थान:

संस्कृत नाटकों का आरम्भ कब से हुआ इस सम्बन्ध में कोई भी सर्वसम्मत विचार निश्चित नहीं हो सका है। नाटकों के सम्बन्ध में प्राचीनतम ग्रन्थ भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' माना जाता है। इसमें रूपक के भेदोपभेदों तथा मंच आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। लक्ष्य-ग्रन्थों के निर्माण के बाद ही लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण होता है। अतः भरत मुनि के समय तक अनेक नाटकों का लिखा जाना तथा मंच पर उनका अभिनीत होना निश्चित है।

आदि काव्य वाल्मीकि-रामायण में नट, नर्तक आदि शब्दों का उल्लेख देखा जाता है। श्रीमद्भागवत में भी इसकी सत्ता का परिचय प्राप्त होता है। अग्निपुराण में तो 'नाटक निरूपणम्' नामक एक पृथक् अध्याय ही विद्यमान है। वहाँ रूपक के १० तथा उपरूपक के १८ भेदों का, सन्धियों, कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों का, विदूषक आदि नाटकीय पात्रों की स्थिति, वेष-भूषा आदि का भी विशद वर्णन किया गया है। इन वर्णनों से निश्चित है कि इस समय तक नाटक रचना तथा उनके अभिनय की परम्परा प्रचलित हो चुकी थी।

हरिवंश पुराण की एक कथा के अनुसार वज्रनाभ दैत्य की कन्या प्रभावती को प्राप्त करने के लिये श्रीकृष्ण की अनुमति से यादव लोग वज्रपुर में गये हैं। वहाँ उन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथावस्तु का अभिनय किया है। इस अभिनय को देखकर दैत्यगण अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं। उन्होंने अनेक प्रकार के वस्त्राभरण आदि यादवों को प्रदान किये। किस यादव ने किस पात्र का अभिनय किया था यह उल्लेख भी यहाँ वर्तमान है। हरिवंश पुराण की इस कथा से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियाँ भी अभिनय में भाग लेती थीं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुसार शिलालिन् नामक नटसूत्रकार हो चुके थे। इनका नाटकों के अभिनय की परिपाटी के सम्बन्ध में अपना विशिष्ट सम्प्रदाय था। महाभाष्यकार पतंजलि के उल्लेखानुसार 'कंसवध' तथा 'बलिवध' नामक नाटकों का अभिनय इस समय तक हो चुका था।

वात्स्यायन मुनि ने अपने 'कामसूत्र' में ६४ कलाओं का उल्लेख करते हुए २० वीं कला के रूप में नाटक को स्वीकार किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी नट, नर्तक, गायक, वादक आदि का उल्लेख वर्तमान है[1]।

उल्लिखित विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृत में नाटकरचना तथा उनके अभिनय की प्राचीनता असन्दिग्ध है। परन्तु उल्लिखित वर्णनों में निर्दिष्ट कोई भी नाटक आज उपलब्ध नहीं है। इन नाटकों के लेखकों का नाम भी आज ज्ञात नहीं है।

---

१. नट नर्तक गायक वादक वाग्जीवन कुशीलव शौभिका वा पूर्णप्रणिहिताः परमुपतिष्ठेरन् ।।—कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, अधिकरण ७, अ० १७, प्रकरण १२२-२३, पृ० १८९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्ध कृतियों के आधार पर अधिकांश विद्वानों ने संस्कृत का प्रथम नाटककार 'भास' को स्वीकार किया है। कालक्रमानुसार संस्कृत नाटककारों में विशाखदत्त के पश्चात् भट्टनारायण का नाम आता है। महाभारत की सभी प्रमुख घटनाओं को इन्होंने अपने इस नाटक में समाविष्ट किया है।

कथावस्तु का मूलाधार तथा मूलकथा में परिवर्तन :

वेणीसंहार नाटक की कथावस्तु का मूल आधार महाभारत है। नाटकीय उपयोगिता को ध्यान में रखकर लेखक ने इसकी कथावस्तु तथा पात्रों के चरित्र में यत्र तत्र कुछ परिवर्तन भी किये हैं। इस नाटक के दुर्योधन की प्रणय-क्रीड़ा का प्रदर्शन, कर्ण-अश्वत्थामा-वाक्कलह, चार्वाक राक्षस का प्रपंच, आदि कुछ कथांश कवि-कल्पित हैं।

नाटक का नामकरण :

नाटक का नाम शास्त्र-सम्मत है। "नाटक का नाम तद्गत प्रमुख कथावस्तु का प्रकाशक होना चाहिये[1]।" 'वेणीसंहार' नाम ही स्पष्ट करता है कि इस नाटक में द्रौपदी-वेणी-बन्धन की कथा की प्रमुखता है। 'शब्द कल्पद्रुम' नामक कोष में इसे ७ अंकों का नाटक कहा गया है।[2] "हिन्दी विश्वकोष" में भी इसे ७ अंकों का ही नाटक माना गया है। वेणीसंहार की सभी मुद्रित तथा हस्तलिखित प्रतियों में सम्प्रति ६ अंक ही विद्यमान हैं। कहा नहीं जा सकता कि "शब्द कल्पद्रुम" जैसे प्रामाणिक कोष में ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है। कुछ विद्वानों ने 'वेणीसंहार' का अर्थ 'वेणीमोक्षण' स्वीकार किया है। किन्तु 'संहार' का बन्धन अर्थ ही उपयुक्त है। एक पाण्डुलिपि में इस नाटक का नाम 'वेणीसंवरणं नाम नाटकम्' लिखा हुआ है।

शास्त्रीय नियमों का निर्वाह :

प्रस्तुत नाटक में शास्त्रीय नियमों का अधिकांशतः निर्वाह हुआ है। रूपक के भेदों में से इसे नाटक की श्रेणी में माना जायगा। नाटक के लिये निर्दिष्ट सभी लक्षणों की चरितार्थता इसमें देखी जा सकती है।

प्रस्तुत नाटक में वीर रस की प्रमुखता है। प० चन्द्रशेखर शास्त्री ने "संस्कृत साहित्य की रूप-रेखा" में विवेचन करते हुए इस नाटक में करुण रस की प्रधानता मानी है तथा इस नाटक का नायक दुर्योधन को स्वीकार किया है। श्री गजेन्द्र गदकर ने भी शास्त्री जी के मत का समर्थन किया है। अन्य सभी विद्वानों ने इसमें वीर रस की प्रमुखता स्वीकार की है एवं इसका नायक युधिष्ठिर को स्वीकार किया है। वस्तुतः राज्यप्राप्ति रूपी फल का अधिकारी होने के कारण युधिष्ठिर ही शास्त्र-सम्मत इस नाटक के नायक कहे जायंगे। नायक के लिये निर्दिष्ट प्रायः सभी गुण युधिष्ठिर के चरित्र में वर्तमान हैं। इस नाटक के सभी पात्रों के चरित्र का विकास स्वाभाविक रूप में हुआ है। इसमें सन्धियों, कार्यावस्थाओं का निर्वाह भी शास्त्रीय-लक्षणानुसार हुआ है। अतएव नाट्यदर्पण, दशरूपक, साहित्यदर्पण आदि नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अधिकांशतः सन्ध्यंगों के उदाहरण वेणीसंहार नाटक से उद्धृत किये गये हैं।

वेणीसंहार नाटक में संकलन-त्रय का निर्वाह भी यथार्थ रूप में हुआ है। इसमें केवल १८ दिनों की घटनाओं का ही समावेश हुआ है। स्थान भी रण-भूमि, कौरव पाण्डव-शिविर तथा रण-भूमि के समीप में वर्तमान वह न्यग्रोध वृक्ष है जहां आहत अवस्था में दुर्योधन ने विश्राम किया था। दोनों पक्षों के शिविर तथा न्यग्रोध वृक्ष भी रण-भूमि के इतने निकट हैं कि वहाँ से रण-कोलाहल स्पष्ट सुनाई पड़ता है।

नाटककार का संक्षिप्त परिचय :

वेणीसंहार नाटक के रचयिता भट्टनारायण का मूल निवास स्थान कन्नौज था। चार अन्य ब्राह्मणों के साथ यह बंगाल में आकर रहने लगे थे। बंगाल के राजा

---

१. नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशनम्॥—साहित्यदर्पण ६।३३०।

२. वेणीसंहार : पुं० (वेण्याः द्रौपदीवेणिकायाः संहारो भीमेन मारितदुर्योधनशोणितेन मोचनं यत्र।) भट्टनारायण-कृत सप्तांकयुक्तः नाटकविशेषः शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थकाण्ड, पृ० ४६५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदिशूर या वीरसेन ने इन्हें यज्ञ-सम्पादनार्थ बुलाया था। उल्लिखित तथ्य को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महेशचन्द्र प्रसाद आदि प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। भट्टनारायण के १६ पुत्र हुए थे। इनमें से पाँचवा पुत्र निपु सम्पत्ति का अधिकारी बना था। भट्टनारायण को राजा आदिशूर ने कई गांव दिये तथा स्वयं भी थोड़े मूल्य से ही अनेक गांव इन्होंने खरीदे। इनका भी राजवंश चलता रहा। "क्षितीश वंशावली चरितम्" में इस वंश के राजाओं के नाम, राज्यकाल तथा अद्भुत कार्यों का वर्णन दिया गया है।

भट्टनारायण जाति से ब्राह्मण तथा गोत्र से शाण्डिल्य थे। इनकी जाति-सूचक उपाधि 'भट्ट' थी। 'मृगराज' उपाधि योग्यता-सूचक, राजप्रदत्त थी।

रचना-काल :

भट्टनारायण के स्थिति-काल के सम्बन्ध में विचारकों में बहुत मतभेद देखा गया है। ७ वीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर ११ वीं शताब्दी के अन्त तक इनका काल विद्वानों ने माना है। इतनी लम्बी सीमा किसी कवि के काल-निर्धारण के लिये उपयुक्त नहीं कही जा सकती है। ८ वीं शताब्दी में होने वाले वामन के ग्रन्थ में वेणीसंहार नाटक का श्लोक उदाहृत होने से भट्टनारायण के स्थिति-काल की परावधि ८५० ई० तक होनी चाहिये। इसी प्रकार ७ वीं शताब्दी से पूर्व के किसी काव्यकार के द्वारा भट्टनारायण अथवा उसके नाटक की चर्चा न होने के कारण इनके स्थिति-काल की पूर्वावधि ७५० ई० मानी जानी चाहिये। इस प्रकार वेणीसंहार कर्ता भट्टनारायण का स्थिति-काल ई० सन् ७५० से ८५० के मध्य में स्वीकार करना तर्क-संगत कहा जा सकता है। काल-निर्धारण के सम्बन्ध में 'अवन्ति सुन्दरी कथा' जिसे दण्डी-कृत कहा जाता है, का श्लोक[1] प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है। इनकी कृति एकमात्र 'वेणीसंहार नाटक' ही उपलब्ध हुई है। भट्टनारायण, नारायण भट्ट आदि के नाम से उपलब्ध ग्रन्थ तथा सुभाषित ग्रन्थों में संगृहीत सूक्तियां वेणीसंहार-कर्ता भट्टनारायण-कृत नहीं माने जा सकते।

भाषा-शैली, प्रकृति-चित्रण :

प्रस्तुत नाटक की भाषा-शैली नाटक की अपेक्षा श्रव्य-काव्य की दृष्टि से अधिक सफल हुई है। इसमें गौड़ी रीति को नाटककार ने प्रश्रय दिया है। युद्ध-मय वातावरण होने के कारण प्रकृति-चित्रण का यहाँ अवसर नहीं आया है। केवल द्वितीय अंक में वालोद्यान वर्णन में प्रकृति के सौम्य रूप का तथा यहीं वात्या-वर्णन में उसके कराल रूप का संक्षिप्त चित्रण देखा जाता है। अभिनय की दृष्टि से भी इस नाटक के अधिकांश स्थल सफल हैं।

अलंकार-योजना :

अलंकारों की योजना भी इस नाटक में सफल रही है। यद्यपि काव्य-शास्त्रियों ने 'नाटक में अलंकारों का स्थान' इस प्रश्न पर पृथक् विचार नहीं किया है। 'काव्य में अलंकारों का स्थान' इस विषय पर रोचक एवं तर्क-संगत ढंग से उन्होंने विचार किया है। परन्तु काव्य के भेद—श्रव्य-काव्य तथा दृश्य-काव्य में से नाटक दृश्य-काव्य के अन्तर्गत स्वीकृत होने से इस प्रश्न पर पृथक् विवेचन की आवश्यकता ही सम्भवतः उन्हें नहीं प्रतीत हुई। काव्य में अलंकारों का जो स्थान है, नाटकों में भी उनका वही स्थान काव्य-शास्त्रियों को सम्भवतः मान्य था। कालिदास, भवभूति आदि के नाटकों में भी अलंकारों की योजना वर्तमान है।

भरत मुनि ने नाटकाश्रय के रूप में उपमा, रूपक, यमक, दीपक, ये चार अलंकार स्वीकार किये हैं।[2] अतः नाटकों में अलंकारों का समावेश शास्त्र-सम्मत कहा जायगा। प्रस्तुत नाटक में उपमा, रूपक तथा काव्यलिंग

---

१. व्याप्तुं पदत्रयेणापि यश्शक्तो भुवनत्रयम्।
तस्य काव्यत्रयव्याप्तौ चित्रं नारायणस्यकिम्॥
अवन्तिसुन्दरी कथा, श्लोक १७, पृ० २

२. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥
नाट्यशास्त्र, अध्याय १७, श्लोक ४३, पृ० २०६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलंकारों की योजना अधिक हुई है। वीर रसानुकूल उपमानों के चयन से भाव सशक्त तथा मूर्तिमान् बन गये हैं। युद्ध-वर्णन के अवसर पर गद्य में सांगरूपक की विशद योजना हुई है। ऐसे कुछ स्थल सामाजिकों को थकाने वाले प्रतीत होते हैं। किन्तु सामूहिक रूप से अलंकारों की योजना सफल हुई है। कतिपय स्थलों के अतिरिक्त अधिकांशतः अलंकार शोभाधायक बने हैं। उपमानों के चयन में कवि ने लिंग, वचन, विभक्ति आदि के साम्य का भी प्रायः ध्यान रखा है।

विभिन्न मान्यताएँ :

कवि अपने काल का प्रतिनिधि होता है। उसकी रचनाओं पर उस काल की मान्यताओं का प्रभाव भी प्रायः पड़ता ही है। परन्तु यह प्रभाव विशेषतः वहीं पड़ता है जहाँ वह कथावस्तु के क्षेत्र में स्वतन्त्र रहता है। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथावस्तु के आधार पर लिखे गये काव्य या नाटक में अपने काल की मान्यताओं को वह अधिक स्पष्ट रूप से चित्रित न करके यत्र-तत्र किंचित् संकेत मात्र दे पाता है।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु भी महाभारत से ली गयी है। कवि ने महाभारत ग्रन्थ में लिखित मान्यताओं का ही अधिकतर चित्रण किया है। अतः कुछ अधिक निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि इस नाटक में प्रदर्शित मान्यताओं का सम्बन्ध सर्वथा महाभारत से ही है अथवा भट्टनारायण के काल से भी।

महाभारत काल में प्रायेण द्वन्द्व युद्ध होता था। वैसे इसमें अपवाद भी आने लगे थे। अभिमन्यु का वध अनेक महारथियों ने मिल कर किया था। परन्तु ऐसे युद्ध निन्दा की दृष्टि से देखे जाते थे। प्रतिपक्षी को ललकार कर, सावधान बनाकर युद्ध किया जाता था। आहत, मूर्च्छित योद्धा पर प्रहार नहीं किया जाता था। वीर लोग प्रतिज्ञा-पूर्वक युद्ध किया करते थे।

प्रहार से अंगों की रक्षा के लिये सैनिक कवच, हस्तावाप, शिरस्त्राण आदि धारण करते थे। प्रत्येक योद्धा के रथ में विशिष्ट चिन्ह युक्त अपनी ध्वजा लगी रहती थी। इसी ध्वज चिन्ह के कारण अर्जुन कपि-ध्वज कहाते थे। युद्ध के आरम्भ तथा विराम की घोषणा राजा की ओर से की जाती थी। प्रस्तुत नाटक में प्रथम अंक में युधिष्ठिर ने युद्ध की घोषणा की है। पंचम अंक में भी युधिष्ठिर ने सायंकाल हो जाने के कारण युद्ध-विराम की घोषणा की है।

सेनापति के मारे जाने पर सैनिक युद्ध से लौट आते थे। पुनः अन्य सेनापति के अभिषिक्त हो जाने पर वे युद्ध में जाते थे। सच्ची वीरता की प्रशंसा शत्रु भी करते थे। वृषसेन के युद्ध-कौशल की प्रशंसा सबने की है। ऐसे युद्ध के अवसर पर दोनों पक्षों के योद्धा अपना-अपना युद्ध छोड़कर दर्शक बन जाते थे। वीरगति की महत्ता मान्य थी। सम्भवतः ब्राह्मण अवध्य माने जाते थे। परन्तु यह नियम भी सर्वत्र नहीं चरितार्थ था। ब्राह्मण द्रोणाचार्य का वध भी हुआ ही है। प्रतिपक्षी चुनने की स्वतन्त्रता सबको दी जाती थी।

इस समय समाज में द्यूत-प्रथा का प्रचलन था। द्यूत के दाव पर सम्पत्ति, बान्धव, यहाँ तक कि पत्नी को भी लोग लगा देते थे। ब्राह्मणधर्म की देश में या गौड़ देश में प्रतिष्ठा थी। स्वप्न के फलाफल पर जनता का विशेषतः स्त्रियों का विश्वास था। अंगस्पन्दन, विशेषेणअक्षिस्पन्दन के शुभाशुभ फल पर भी लोगों का विश्वास था। अरिष्ट-शान्ति के शास्त्रीय उपायों पर भी विश्वास किया जाता था। शाप तथा वरदान पर भी लोगों का विश्वास था। श्राद्ध-तर्पण आदि पितृकर्म में भी लोगों का विश्वास था।

भट्टनारायण की अन्य किसी कृति की उपलब्धि नहीं हुई। लेखक ने किसी नयी परम्परा को प्रश्रय नहीं दिया है। परन्तु नाटक के लिये निर्दिष्ट शास्त्रीय नियमों का निर्वाह इसमें अवश्य हुआ है। अतः शास्त्रीय-लक्षण-सम्पन्न वीररसप्रधान नाटकों में वेणीसंहार नाटक का महत्त्वपूर्ण स्थान कहा जा सकता है।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
एस० एम० जे० एन० कालिज,
हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेद के वृषभ और उक्षन् शब्दों का अर्थविचार

डा० रामनाथ वेदालंकार

वैयाकरणों के अनुसार वृषभ शब्द सेचनार्थक वृषु धातु से उणादि अभच्[1] प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इसमें प्रत्यय के कित्वत् होने से गुणाभाव तथा चित् होने से अन्तोदात्त स्वर रहते हैं। उक्षन् शब्द सेचनार्थक उक्ष धातु से उणादि कनिन्[2] प्रत्ययान्त निपातित होता है। लोक में इनका बैल अर्थ तो प्रसिद्ध ही है, इसके अतिरिक्त कोई भी पुंपशु, युवा पुरुष, श्रेष्ठ, ओषधिविशेष आदि अर्थों में भी ये प्रयुक्त होते हैं। ऋग्वेद में वृषभ शब्द विभिन्न विभक्तियों में कुल मिला कर १८३ वार तथा उक्षन् शब्द ३२ वार प्रयुक्त हुआ है।

बैल

बैल अर्थ में ये दोनों शब्द ऋग्वेद में आते तो हैं, पर अधिक नहीं। अग्नि को कहा गया है कि तुम्हारा शब्द वृषभ के समान है[3]। इन्द्र को वृषभ के समान भीम[4] कहा है। उषा का आगमन वृषभ के शब्द से जाना जाता है[5]। अग्नि अपनी ज्वालाओं को ऐसे ही प्रकम्पित करता है, जैसे वृषभ सींगों को[6]। इन्द्र तीक्ष्ण शृंगों वाले वृषभ के समान गर्जना करता है[7]। सिन्धु वृषभ के समान शब्द करती हुई बहती है[8]। वृषभ (बैल) तथा द्रुघण (लकड़ी की गदा) की सहायता से शत्रुसेनाओं को जीतने का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है[9]। अश्वियुगल जब अभीष्ट फल प्रदानार्थ दिवोदास के घर जाते हैं तब उनके रथ में वृषभ तथा शिशुमार वाहन रूप में नियुक्त रहते हैं[10]। प्लायोगि आसंग की दानस्तुति में कहा है कि वह दश सहस्र उक्षा दान में देता है[11]। इसी प्रकार प्रस्कण्व द्वारा दान में दिये गये सौ श्वेत उक्षाओं के विषय में वर्णन है कि वे ऐसे चमकते हैं, जैसे आकाश में तारे[12]। इन सब प्रसंगों में वृषभ तथा उक्षा शब्दों का स्थूल अर्थ बैल ही है।

अग्नि

ऋग्वेद में लगभग २० स्थलों में अग्नि को वृषभ कहा गया है। ३ स्थलों में उसे उक्षा नाम से भी स्मरण किया गया है। वृषभ या उक्षन् शब्द प्रायः अग्नि के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जिसका अर्थ है वर्षक अग्नि। कहीं-कहीं अग्नि को केवल 'वृषभ' न कह कर 'चर्षणीनां वृषभः'[13], 'स्तियानां वृषभः'[14] या 'क्षितीनां वृषभः'[15] कहा गया है, अर्थात् मनुष्यों पर अभिमत फलादि की वर्षा

---

१. ऋषिवृषिभ्यां कित्। उ० ३.४०३
२. श्वन्नुक्षन्पूषन्०। उ० १.१५७
३. १.९४.१०
४. ७.१९.१ तथा १०.१०३.१
५. ७.७९.४
६. ८.६०.१३
७. १०.८६.१५
८. १०.७५.३
९. १०.१०२
१०. १.११६.१८
११. ८.१.३३
१२. ८.५५.२
१३. ३.६.५
१४. ७.५.२
१५. १०.१८७.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाला, ओलों की वर्षा करने वाला, तथा भूमियों या प्रजाओं पर जल या सुखादि की वृष्टि करने वाला। अग्नि को सहस्र सींगों वाला वृषभ[1] तथा बहुत सी ग्रीवाओं वाला वृषभ[2] भी कहा गया है। इसे घृतपृष्ठ उक्षा[3] के रूप में भी चित्रित किया गया है।

यह वृषभ या उक्षा अग्नि पार्थिव यज्ञाग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय वैद्युताग्नि तथा द्युस्थानीय सूर्याग्नि तीनों के रूप में व्याख्यात किया गया है।। परमात्माग्नि, जीवात्माग्नि, प्राणाग्नि, संकल्पाग्नि आदि रूपों में भी इसकी व्याख्यायें होती हैं। वृषभ अग्नि के चित्रण के निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं :

यज्ञाग्नि :

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनि-
र्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम।
अनुष्वधमावह मादयस्व
स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्॥ऋग् २.३।११

"इस यज्ञाग्नि में मैं घृत का सिंचन करता हूँ। घृत इसका कारण है, उत्पन्न होकर यह घृत के ही आश्रय से रहता है, घृत ही इसका धाम है। हे वृषभ, तू हमारी प्रत्येक हवि के प्रति देवों का आवाहन कर, हमें आनन्दित कर, स्वाहापूर्वक दिए गए हमारे हव्य का वहन कर।"

समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तव श्रियम्।
वृषभो द्युम्नवाँ असि समध्वरेष्विध्यसे॥
ऋग् ५.२८.४

"हे यज्ञाग्नि, समिद्ध हुए तुझ तेजस्वी की श्री की मैं स्तुति करता हूँ। तू वृषभ है, तू यशस्वी है, तू यज्ञों में प्रदीप्त किया जाता है।"

वैद्युताग्नि या सूर्याग्नि :

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं
यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ
अधूनोत् काष्ठा अव शम्बरं भेत्॥
ऋग् १.५९.६

"वृषभ अग्नि के महत्त्व का मैं वर्णन करता हूँ जिस मेघसंहारक का मानवगण सेवन करते हैं। वह वैश्वानर अग्नि दस्यु को मार देता है, जलों को प्रकम्पित कर देता है, तथा मेघरूप शम्बरासुर का भेदन कर देता है।"

अग्निसूक्त के निम्न मन्त्र में एक महान् उक्षा का वर्णन किया गया है :

उक्षा महाँ अभि ववक्ष एने
अजरस्तस्थावितऊतिर्ऋष्वः।
उर्व्याः पदो निदधाति सानौ
रिहन्त्यूधो अरुषासो अस्य॥
ऋग् १.१४६.२

"एक महान् उक्षा (विशाल बैल) ने इन द्यावापृथिवी दोनों को अपने ऊपर उठाया हुआ है, तो भी वह जीर्ण नहीं होता तथा दर्शनीय बना हुआ खड़ा रहता है। वह पृथिवी के ऊर्ध्वप्रदेश (वेदि) में अपने पैरों को रखे है तथा इसकी लाल-लाल जिह्वायें ऊधस् (अन्तरिक्ष) को चाट रही हैं।" अग्निसूक्त में पठित होने से यह महान् उक्षा अग्नि ही है।

इन्द्र

ऋग्वेद में इन्द्र के लिए लगभग ६५ वार वृषभ शब्द प्रयुक्त हुआ है। उक्षा साक्षात् रूप से इन्द्र के लिए नहीं आया, यद्यपि एक स्थान पर सायण ने उक्षा का अर्थ इन्द्र किया है।[4] वृषभ कहीं इन्द्र का विशेषण बन कर आया है तथा कहीं स्वतन्त्र रूप से इन्द्र के पर्यायवाची के रूप में। कहीं-कहीं इन्द्र को 'जनानां वृषभः'[5], 'सतां वृषभः'[6]

१. ५.१.८
२. ५.२.१२
३. १०.१२२.४
४. द्रष्टव्य : ९.८९.३ का सायणभाष्य
५. १.१७७.१
६. २.१.३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीनां वृषभः'[1], 'कृष्टीनां वृषभः'[2], 'क्षितीनां वृषभः'[3] तथा 'चर्षणीनां वृषभः'[4] भी कहा गया है। जल, सुख, मनोवांछित फल आदि का ववर्षक होने से तथा पशुओं में बैल के समान देवों में श्रेष्ठ होने से इन्द्र का वृषभ नाम है। इन्द्र स्वयं भी वृषभ है तथा वृषभ (बैल) के समान भीम भी।[5] इस इन्द्र रूपी वृषभ ने भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों लोकों को धारण किया हुआ है और यह अन्तरिक्ष से जलों को भी बरसाता है :

नि सामनामिषिरामिन्द्र भूमिं
महीमपारां सदने ससत्थ ।
अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षम्
अर्षन्त्वापस्त्वयेह प्रसूताः ।। ऋग् ३.३०.९

भूमि के बैल के सींग पर टिके होने का पौराणिक विचार यहीं से लिया गया प्रतीत होता है।[6] अदिति द्वारा इन्द्र के जन्म का वृत्त वृषभ की पहेली के रूप में ऋग्वेद में इस रूप में वर्णित हुआ है :

गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागा-
मनाधृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम् ।
अरीढं वत्सं चरथाय माता
स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम् ।। ऋग् ४.१८.१०

अर्थात् "सकृत्प्रसूता गौ (गृष्टि) ने एक बैल को को जन्म दिया है जो बल में प्रवृद्ध है, अपराजेय है, मोटा-ताजा है, शत्रुओं से अनभिभूत है, तो भी वत्स है।" यह बूढ़ा बैल इन्द्र ही है।

इन्द्र के सम्बन्ध में एक विचित्र बात यह है कि वह केवल स्वयं ही वृषभ, वृषा या वृष नहीं है, अपितु उसका वज्र भी वृषा है, उसका रथ भी वृषा है, उसके वाहन हरि भी वृषा या वृषभ हैं, उसके आयुध भी वृषभ हैं, उसका पेय सोमरस भी वृषभ है और सोमरस के पान से चढ़ने वाला मद भी वृषा या वृषभ है :

वृषा ते वज्र उत ते वृषा रथो
वृषणा हरी वृषभाण्यायुधा ।
वृष्णो मदस्य वृषभ त्वमीशिषे
इन्द्र सोमस्य वृषभस्य तृप्णुहि ।। ऋग् २.१६.६

साथ ही इन्द्र का सोमपान का साथी अग्नि भी वृषभ है,[7] जिनसे सोमरस पीसा जाता है वे सिल-बट्टे (ग्रावा) भी वृषभ हैं, सोमरस को पीसने वाले अध्वर्यु भी वृषभ हैं, इन्द्र का अन्न भी वृषभ है,[8] इन्द्र के घोड़ों की रासें (रश्मियां) भी वृषभ हैं,[9] और इन्द्र का बल भी वृषभ है।[10]

सोम

ऋग्वेद में ११ वार स्पष्ट रूप से सोम को वृषभ कहा गया है। वृषभ सोम का रेतस् (रस) पाकर वत्स की मातृभूत धीतियाँ शब्दायमान हो जाती है।[11] जैसे भयंकर वृषभ बल दिखाने की इच्छा से अपने शृंगों को तीक्ष्ण करता हुआ दहाड़ता है, वैसे ही सोमरूप वृषभ भी अपने डंठल रूपी हरे-हरे सींगों को सिल-बट्टों पर तीक्ष्ण करता हुआ शब्द करता है।[12] जैसे वृषभ गोयूथ में जाता है, वैसे

---

१. ६.१७.२
२. ७.२६.५
३. ७.९८.१
४. ८.९६.४ तथा १८
५. १०.१०३.१
६. तुलनीय : उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ९.८३.३, उक्षा स द्यावापृथिवी विभर्ति १०.३१.८, अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम् । अथर्व. ४.११.१
७. २.१६.४
८. २.१६.५
९. ६.४४.१९
१०. ६.१९.९
११. ९.१९.४
१२. ९.७०.७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही सोमरूपी वृषभ 'आपः' के समीप जाता है।[1] दस अंगुलियां ग्रावाओं द्वारा वृषभ सोम को जलों में दुहती हैं।[2] यह सोम सहस्र धारों से बहने वाला वृषभ है, जो ऋतजात है :

सहस्रधारं वृषभं पयोवृधं
प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे
राजा देव ऋतं बृहत् ॥ ऋग् ९.१०८.८

सोम उक्षा भी है। ऋग्वेद में ५ वार सोम-सूक्तों में में उसके लिए उक्षा शब्द आया है। उक्षा सोम जब निचोड़े जाने पर शब्द करता है, तब धेनुएँ (प्रीणयित्री स्तुतियाँ या आपः) उसके समीप जाती हैं।[3] इस पर्वतनिवासी (गिरिष्ठा) उक्षा को बुद्धिमान् लोग ऊर्ध्व स्थानों पर दुहते हैं।[4] यह सोम सिंधु की उत्ताल तरंगों में लहराने वाला उक्षा पशु है :

अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते
ऋतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं
हिरण्यपावाः पशुमासु गृभ्णते ॥ ऋग् ९.८६.४३

पर्जन्य

ऋग्वेद में तीन स्थलों में पर्जन्य को वृषभ कहा गया है।[5] ये तीनों स्थल पर्जन्य-सूक्तों के ही हैं। एक अन्य मन्त्र में वात के साथ युगलरूप में पर्जन्य को वृषभ कहा गया है।[6] सायण ने कुछ अन्य स्थलों पर भी जिनमें देवता यद्यपि पर्जन्य नहीं है, वृषभ का अर्थ मेघ या पर्जन्य किया है।[7] एक स्थल में वह उक्षा का अर्थ भी पर्जन्य करता है।[8] पर्जन्य वर्षा करने के कारण या ओषधि रूप गौओं में रेतस् का आधान करने के कारण वृषभ कहलाता है। इस पर्जन्य रूपी वृषभ का आश्रय होने के कारण ही वेद में अन्तरिक्ष को 'वृषभस्य नीडः' कहा गया है।[9] पर्जन्य वृषभ का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है :

अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः
स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास।
कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू
रेतो दधात्योषधीषु गर्भम् ॥ ऋग् ५.८३.१

वायु और आदित्य

एक मन्त्र में सरस्वान् को वृषभ कहा गया है।[10] वहां सरस्वान् का अर्थ सायण ने जलकणों से युक्त वायु किया है। वात तो स्पष्ट रूप से ही वृषभ नाम से कथित हुआ है।[11] एक स्थल पर वायु के अश्वों को उक्षा कहा गया है, जो वायु को द्यावापृथिवी के मध्य में संचार कराते हैं तथा जिनकी गति मरुभूमि में भी अपहृत नहीं होती।[12] ऋग्वेद के अनुसार तीनों लोकों में एक-एक वृषभ स्थित है[13], जिसकी व्याख्या सायण ने इस रूप में की है कि पृथ्वी लोक का वृषभ अग्नि, अन्तरिक्ष का वृषभ वायु तथा द्युलोक का वृषभ आदित्य है। एक प्रकरण में एक ऐसे सहस्र-शृंग वृषभ का वर्णन है जो समुद्र में से उदित हुआ

१. ९.७६.५
२. ९.८०.५
३. ९.६९.४
४. ९.९५.४
५. ५.८३.१, ७.१०१. १ तथा ६
६. ६.४९.६
७. १.७९.२, ३.५५.१७, ४.१.११ तथा १२, ५.५८.६, ७.३६.३
८. ४.५६.१
९. ४.१.११
१०. ७.९५.३
११. १०.६५.९
१२. १.१३५.९
१३. ५.६९.२
१४. ७.५५.७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है।[४] व्याख्याकारों के अनुसार यह आदित्य ही है। उक्षा नाम से सूर्य का निम्न चित्रण बड़ा ही रोचक है :

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः
पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा
विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ॥ ऋग् ५.४७.३

"सूर्य रूपी उक्षा है, जो तेज का समुद्र है, आरोचमान है, रश्मि रूपी सुन्दर पंखों वाला है, पूर्वदिग्वर्ती पिता आकाश के घर में प्रविष्ट हुआ है, मध्याह्न में आकाश के बीचोबीच स्थित हो जाता है, उसका नाम पृश्नि और अश्मा भी है, वह चङ्क्रमण करता रहता है और दिन के दोनों प्रान्तों उषा और सन्ध्या की पालना करता है।"

बृहस्पति, रुद्र और मरुत्

५ स्थलों में बृहस्पति[१] के लिए तथा ५ ही स्थलों में रुद्र[२] के लिए ऋग्वेद में वृषभ शब्द प्रयुक्त हुआ है। तीन स्थलों में मरुतों[३] को उक्षा कहा गया है। बृहस्पति रूप वृषभ का निम्न प्रसंग द्रष्टव्य है :

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा
बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राधर्मसत् पिता न
आ रोदसी वृषभो रोरवीति ॥ ऋग् ६.७३.१

"जो पर्वत (मेघ) को तोड़ डालने वाला है, प्रथम प्रसिद्ध है, सत्यमय है, अंगारों से उत्पन्न हुआ है, हवि ग्रहण करने वाला है, दोनों लोकों में निर्बाध संचार करने वाला है, तप्त यज्ञ में स्थित है, हमारा पिता है, वह वृषभ बृहस्पति द्यावापृथिवी में गर्ज रहा है।"

रुद्र वृषभ का नमूना भी देखिए :

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्
त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम्।
घृणीवच्छायामरपा अशीया
विवासेयं रुद्रस्य सुम्नम् ॥ ऋग् २.३३.६

"मरुतों सहित वृषभ रुद्र ने मुझ प्रार्थी को तेजोमय गति से आनन्दित कर दिया है। जैसे सूर्य की धूप से व्याकुल मनुष्य छाया का सेवन करता है, वैसे ही मैं उस वृषभ की छाया (शरण) का सेवन करूं, मैं रुद्र के सुख को अपनाऊँ।"

मरुत् रूपी उक्षाओं का निम्न वर्णन भी कैसा चामत्कारिक है :

ते जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो
रुद्रस्य मर्या असुरा अरेपसः।
पावकासः शुचयः सूर्या इव
सात्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पसः ॥ ऋग् १.६४.२

वे मरुत रूपी उक्षा आकाश से उत्पन्न हुए हैं, रुद्र के पुत्र हैं, असुर (प्राणदायक) हैं, पापरहित हैं, पावक हैं, सूर्य के समान पवित्र हैं, पुरुषों के समान एक ओर तो उदकबिन्दुओं वाले (दयालु) हैं, दूसरी ओर घोर रूप वाले हैं।"

इतर अर्थ

अन्य भी कतिपय अर्थों में ऋग्वेद के उक्षा तथा वृषभ शब्द प्रयुक्त उपलब्ध होते हैं। एक मन्त्र में आकाश में स्थित पाँच उक्षाओं का उल्लेख आया है।[४] ये वृषभ राशि के नक्षत्रपुंज के पाँच प्रमुख तारे प्रतीत होते हैं, यद्यपि सायण ने ये पाँच उक्षा इन्द्र, वरुण, अग्नि, अर्यमा तथा सविता अथवा अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत् बतलाये हैं। एक स्थान पर सायण ने उक्षा का अर्थ सेक्ता स्तोतृजन किया है।[५] सायण एक मन्त्र में उक्षा का वैकल्पिक अर्थ अश्व लेते हैं।[६] एक स्थल में उषाओं के वाहन अरुणी गौओं के लिए उक्षा शब्द का प्रयोग

१. १.१९०.१ तथा ८, ३.६२.६, ६.७३.१, १०.९२.१०
२. २.३३.४, ६, ७, ८, १५
३. १.६४.२, १.१६८.२, ५.५२.३
४. अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः। १.१०५.१०
५. ३.७.७
६. ६..६४.५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है[1]। एक प्रसंग में जहां द्यावापृथिवी के धारण का वर्णन है, सायण ने उक्षा का अर्थ हिरण्यगर्भ किया है।[2]

वृषभ एक मन्त्र में कुत्स[3] का विशेषण तथा एक मन्त्र में श्वित्र्य[4] का विशेषण बन कर आया है। मित्रावरुण को भी वृषभ कहा गया है[5]। सायण ने वृषभ के अर्थ यज्ञ[6], द्युलोक[7], प्रधान[8], रेतःसेक्ता पति[9], संवत्सर[10], स्तोत्र[11], दानी[12] तथा विक्रान्त कर्म[13] भी किये हैं। वृषभ पुंजाति[14] के लिए भी आता है।

एक अद्भुत वृषभ

ऋग्वेद में एक अद्भुत वृषभ का वर्णन आया है, जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं और सात हाथ हैं। वह तीन खूंटों से बंधा हुआ डकरा रहा है। वह महान् देव है, जो सब मनुष्यों के अन्दर आकर प्रविष्ट है। यह वर्णन यजुर्वेद में भी है[15]।

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आ विवेश ।। ऋग् ४.५८.३

यास्कीय निरुक्त[16] के अनुसार यह वृषभ यज्ञ है। चार वेद ही उसके चार सींग हैं, प्रातः मध्याह्न तथा सायं के तीन सवन ही तीन पैर हैं। प्रायणीय तथा उदयनीय उसके दो सिर हैं। गायत्र्यादि सात छन्द हाथ हैं। वह यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण तथा कल्प इन तीन खूंटों से बंधा हुआ है। यज्ञ में होने वाला मन्त्रपाठ ही उस वृषभ का बोलना है। महाभाष्यकार पतंजलि के मत में यह वृषभ शब्द है। शब्द के चार भेद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ही इसके चार सींग हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान काल तीन पैर हैं। सुप् और तिङ् दो सिर हैं। सात विभक्तियां सात हाथ हैं। उरस्, कण्ठ और सिर इन तीनों स्थानों में बंधा हुआ वह बोल रहा है, यतः तीनों स्थानों की सहायता से उच्चारित होता है।

सायण का कथन है कि इस सूक्त के अग्नि, सूर्य, अप्, गो तथा घृत ये पांच देवता होने से यह मन्त्र पंचधा व्याख्यात हो सकता है। यज्ञाग्नि तथा सूर्य के पक्ष में उसने व्याख्या प्रदर्शित भी की है। यज्ञपरक व्याख्यान प्रायः निरुक्त का ही अनुसरण करता है। सूर्यपरक व्याख्या के अनुसार चार दिशाएं सींग हैं, तीन वेद तीन पैर हैं, अहोरात्र दो सिर हैं, सात रश्मियां अथवा छः विलक्षण ऋतुएं तथा एक साधारण ऋतु सात हाथ हैं, तीन क्षित्यादि लोकों में अग्न्यादि रूप से संबद्ध है, अथवा ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त इन तीन द्वारा तीन रूपों में बद्ध है। वर्षक होने से वृषभ है तथा वृष्ट्यादि द्वारा शब्द भी करता है। प्राण, आत्मा, ब्रह्म, काव्यपुरुष, राष्ट्र आदि विषयक भी इसकी व्याख्यायें की गई हैं।

वृषभ-पाक

ऋग्वेद के दो स्थलों में वृषभ-पाक[17] का तथा अन्य दो स्थलों में उक्षा-पाक[18] का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग् १.१६४.४३ में कहीं दूर पर गोबर के उपले का धुआं दिखाई देने की चर्चा है। उसके विषय में कहा गया है कि वीरों ने उक्षा पृश्नि (चितकबरे बैल) को पकाया

१. ७.७९.१
२. १०.३१.८
३. १.३३.१४
४. १.३३.१५
५. ५.६३.३
६. १.१६६.१
७. १.१६०.३
८. २.३०.८
९ २.१६.८, १०.१०.१०, १०.४०.११
१०. ३.५६.३
११. ७.७९.४
१२. ८.९३.१ तथा ७
१३. १०..२८.३
१४. १०.५.७
१५. यजुः मा. वा. सं. १७.९१
१६. निरुक्त १३.७
१७. १०.२७.२, २८.३
१८. १.१६४.४३, १०.८६.१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, उसी का यह धुआं है :

शकमयं धूममारादपश्यं
विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।।

सायण यहां वीर का अर्थ विविध विधियां करने-कराने वाले ऋत्विग् या देव तथा उक्षा का अर्थ सोमवल्ली करते हैं। प्रमाण रूप में उन्होंने एक वचन भी उद्धृत किया है[1]। उक्षा-पाक विषयक दूसरा मन्त्र १०म मण्डल के इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद में उपलब्ध होता है। वहां इन्द्र कहता है कि मेरे लिए याज्ञिक लोग पन्द्रह और बीस उक्षाओं को पकाते हैं तथा उन परिपक्व उक्षाओं से वे मेरी दोनों कुक्षियों को भर देते है, उससे मैं खूब मोटा हो गया हूँ :

उक्षणो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमस्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।। ऋग् १०.८६.१४

इससे पूर्व के मन्त्र में भी इन्द्र द्वारा उक्षाओं के खाये जाने का संकेत है[2], जहाँ सायण ने सेचनसमर्थ पशुओं (सांडों) के भक्षण का ही भाव लिया है[3]। प्रस्तुत मन्त्र में भी वह उक्षा का अर्थ पशु ही लेता है[4]। पर वस्तुतः यहां भी प्रकरणानुसार उक्षा का अर्थ सोम ही संगत ठहरता है। सूक्त के प्रारंभ में इन्द्र की पुत्रवधू वृषाकपायी ने इस बात पर रोष व्यक्त किया है कि याज्ञिक लोग सोमरस तो खूब अभिषुत करते हैं, पर उसे वे इन्द्र को नहीं पिलाते, जबकि वृषाकपि सोम पीकर आकण्ठ तृप्त हो जाता है[5]। १३वें मन्त्र में वृषाकपायी की उसी आपत्ति का उत्तर दिया गया है कि तुम चिन्ता न करो, अब तुम्हारे श्वसुर इन्द्र को बहुत से सोमरस (उक्षा) पान करने मिलेंगे।[6] अतः १४वें मन्त्र में इन्द्र जिन १५ और २० पके हुए उक्षाओं को खाने की बात कर रहा है, वे सांड नहीं, प्रत्युत परिपक्व सोम के ही १५ और २० पात्र हैं। अन्यथा आपत्ति तो हो सोमरस न मिलने की और उसका परिहार किया जाये सांड खिलाकर, यह सर्वथा विसंगत प्रतीत होता है। अतः जैसे सायणाचार्य पूर्वोल्लिखित प्रसंग में उक्षा पृश्नि का अर्थ सोमवल्ली करते हैं, वैसे ही यहां भी करना उचित है। ऋग् ९.८६.४३ में तो 'उक्षणं पशुम्' शब्द आये हैं, तो भी सायण ने वहाँ बैल या सांड अर्थ न लेकर सोम अर्थ ही किया है, भले ही वहां उसे पशु का अर्थ द्रष्टा करना पड़ा है।

निम्न मन्त्र में वृषभ के पाक का प्रसंग है। वसुक्र इन्द्र से कह रहा है कि जब मैं शरीर से पुष्ट होते हुए अदेवयु (अयाज्ञिक) लोगों को युद्ध के लिए ललकारूंगा तब आपके लिए मैं मोटा-ताजा वृषभ पकाऊंगा और उसमें तीव्र अभिषुत पन्द्रहवें सोम को भी सिंचित करूंगा :

यदीदहं युधये संनयानि
अदेवयून् तन्वा शूशुजानान् ।
अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि
तीव्रं सुतं पञ्चदशं निषिञ्चम् ।।
ऋग् १०.२७.२

यहाँ भी सायण ने वृषभ का अर्थ सेचनसमर्थ पुंपशु (सांड) किया है। किन्तु वस्तुतः यह वृषभ भी सोम ही है। चौदह सोमपात्रों का एक पात्र में एकत्र किया हुआ सोम 'वृषभ' है, जिसे पकाया जाता है तथा उसमें पन्द्रहवें पात्र का सोमरस भी निषिक्त कर दिया जाता है।

अगले ही सूक्त में फिर वृषभ-पाक आता है :

अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान्
सुन्वन्ति सोमान् पिबसि त्वमेषाम् ।
पचन्ति ते वृषभां अत्सि तेषां
पृक्षेण यन्मघवन् हूयमानः ।। ऋग् १०.२८.३

वसुक्र इन्द्र से कह रहा है कि यजमान आपके लिए

---

१. सोम उक्षाभवत् पूर्वं तं देवाः शकृतापचन् ।
यज्ञार्थे तद्भवो धूमो मेघ आसीत् तदुच्यते ।।
२. घसत् त इन्द्र उक्षणः । १०.८६.१३
३. इन्द्रः उक्षणः सेचनसमर्थान्···पशून् घसत् प्राश्नातु ।
सायण
४. उक्षणः वृषभान् । सायण
५. विहि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा ।।
६. वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविः ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मदजनक त्वरित सोमों को ग्रावाओं से अभिषुत करते हैं तथा आप उनका पान करते हैं। वे आपके लिए वृषभ पकाते हैं तथा आप उनका भक्षण करते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में वसुक्रपत्नी ने ये उद्गार प्रकट किए हैं कि यज्ञ में अन्य सब देव तो आ गये, किन्तु मेरे श्वसुर इन्द्र नहीं आये, यदि वे आते तो धाना (भुने जौ) खाते और सोम पीते तथा पूर्णतः तृप्त हो कर घर जाते[1]। वे बैल या सांड खाते, ऐसा उसने नहीं कहा है। इतने में ही इन्द्र आ जाता है। तब वसुक्र ने उक्त तृतीय मंत्र का उच्चारण किया है कि आपके लिए सोमरस तथा वृषभ तैयार हैं। इस प्रसंग को देखते हुए यहाँ वृषभ का अर्थ धाना (यव) लेना ही उचित है। इन्द्र के अन्न का भी वृषभ नाम है, यह हम पहले देख चुके हैं। एवं 'पचन्ति ते वृषभान्' का अर्थ होगा कि आपके लिए यवों को भूनते हैं। अथवा पूर्ववत् वृषभ का अर्थ सोमवल्ली भी ले सकते हैं। इन्द्र सोमपान करता है तथा सोमवल्ली की पकाई हुई डंठलों का भक्षण करता है। इसी सूक्त में ११वें मन्त्र में उक्षा-भक्षण का उल्लेख आया है—'सिम उक्षणोऽवसृष्टाँ अदन्ति', जहाँ सायण ने उक्षा का सोम अर्थ ही लिया है[2]।

यह भी द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही इन्द्र का भोज्य धाना (भुने जौ), करम्भ (दही मिश्रित सत्तू), और पुरोडाश (अपूप) है तथा पेय सोमरस है[3], बैल उसका भोजन नहीं है। अतः वृषभ तथा उक्षा शब्दों को देखते ही तुरन्त बैल को पकाने की कल्पना कर लेना वेद के प्रति न्याय नहीं होगा। इन्द्र जिन परिपक्व वृषभों तथा उक्षाओं को खाता है वे भुने जौ, पुरोडाश या सोम ही हैं, बैल का मांस नहीं। वेद में इन्द्र को पुरोडाश तथा परिपक्व सोम भेंट करने की ही महिमा लिखी है[4], बैल खिलाने की नहीं।

उक्षा की आहुति

ऋग्वेद में चार बार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अग्नि में उक्षाओं की आहुति का उल्लेख आता है[5]। निम्न मन्त्र विशेषतः द्रष्टव्य है :

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो
वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे
हृदा मतिं जनये चारुमग्नये॥ ऋग् १०.९१.१४

यहाँ अश्व, वृषभ, वशा और मेष पशुओं के साथ उक्षा भी उल्लिखित है, और अग्नि का विशेषण सोमपृष्ठ पृथक् पठित होने से यहां उक्षा का अर्थ सोम भी नहीं हो सकता। परन्तु वस्तुतः इन पशुओं की अग्नि में आहुति अभिप्रेत नहीं है, अपितु ये पशु अग्नि को समर्पित कर सार्वजनिक हित के लिए उत्सर्ग कर दिए जाते हैं। मन्त्र में पठित 'अवसृष्टासः' पद इसी बात का ज्ञापक है। एक मन्त्र में यह भी कहा गया है कि अग्नि के लिए जो हम मन्त्रपूर्वक हृदय से संस्कृत हवियाँ देते हैं वे ही उक्षा, वृषभ और वशा हैं[6]। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि अग्नि केवल पार्थिव अग्नि ही नहीं है, अपितु उत्तर ज्योतियाँ विद्युत् और आदित्य भी अग्नि हैं[7]। सूर्य रूपी अग्नि के लोक द्यौ में अश्व, वृषभ, मेष आदि नामों वाले नक्षत्रपुंज आहुत करके छोड़े हुए हैं, यह भी मन्त्र का आशय हो सकता है। वेद में अग्नि का भोजन अश्व, वृषभ आदि पशु नहीं हैं, किन्तु समिधा और घृत ही

---

१. विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम ममेदह श्वसुरो नाजगाम। जक्षीयाद् धाना उत सोमं पपीयात् स्वाशितः पुनरस्तं जगायात्॥ १०.२८.१

२. उक्षणः अवसृष्टान् इन्द्रेण निसृष्टाननुज्ञातान् हविर्भूतान् सोमान् यज्ञेषु अदन्ति भक्षयन्ति। सायण

३. द्रष्टव्य : ऋग् ३.५२, जिसमें तीनों सवनों का पृथक्-पृथक् इन्द्र का भोज्य उल्लिखित है।

४. ऋग् ८.३१.१-४

५. २.७.५, ६.१४.४७, ८.४३.११, १०.९१.१४

६. ६.१६.४७

७. अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते। निरुक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है[1]। अतः अग्नि में पशुओं का होम करना निःसन्देह अवैदिक है।

उपसंहार

इस प्रकार हमने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद के वृषभ और उक्षन् शब्द, जो लोक में प्रायः बैल अर्थ को देते हैं, कितने विभिन्न अर्थों को अपने अन्दर गृहीत किये हुए हैं। अधिकतर हमने इस लेख में ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही विचार किया है। स्वयं ऋग्वेद ही जिन अग्नि, इन्द्र, सोम, सूर्य आदि को स्पष्ट रूप से वृषभ या उक्षा कहता है, उन्हीं को हमने लिया है। ये वृषभ या उक्षा शब्द से वाच्य अग्नि, इन्द्र आदि कौन हैं, इस विषय को यहाँ नहीं छेड़ा गया है। इन अग्नि, इन्द्र आदि की आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से व्याख्यायें करने पर उनके लिए प्रयुक्त वृषभ और उक्षा शब्दों के अर्थ भी तदनुसार हो सकते हैं। जो स्थिति वृषभ एवं उक्षा शब्दों की है वही बैलवाची वृष, अनड्वान्, वृषभ आदि शब्दों की भी है। अथर्ववेद में प्राण को अनड्वान् कहा गया है[2]। अनड्वान् द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष को तथा छहों दिशाओं को एवं सम्पूर्ण भुवन तक को धारण करता है, यह भी वर्णित हुआ है[3]। यह कार्य साधारण बैल पशु नहीं कर सकता। एवं वैदिक शब्द अपने अन्दर अनेक विशिष्ट अर्थों को गृहीत किये हुए हैं। वेदव्याख्याकार को वैदिक शब्दों का यह वैशिष्ट्य अवश्य ध्यान में रखना होगा। अन्यथा वह वेद के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। वृषभ-पाक तथा वृषभ-होम की चर्चा अभी की जा चुकी है। वैदिक शब्दों के रहस्य को न समझने से उन प्रकरणों का कैसा अनर्थ किया गया है। वैदिक शब्द-प्रयोग की शैली से अनभिज्ञ होने का ही यह परिणाम है कि आज अनेक पाश्चात्त्य तथा एतद्देशीय विद्वत्कोटि के व्यक्ति भी वेदों के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण विचार रखते हैं। इस लेख में वृषभ और उक्षा शब्दों के अर्थ पर विचार कर हम इसी बात पर प्रकाश डालना चाहते हैं कि वेद के किसी शब्द का क्या अर्थ है इस विषय में सर्वप्रथम प्रमाण स्वयं वेद ही है। वेद में कोई शब्द कहाँ-कहाँ किस अर्थ में आया है, इसका विचार करते हुए यदि हम वैदिक शब्दों का तथा वैदिक प्रकरणों का अर्थानुसन्धान करेंगे तभी वेद के साथ समुचित न्याय हो सकता है।

रीडर, संस्कृत-विभाग
गुरुकुल विश्वविद्यालय
हरिद्वार

—|—

१. द्रष्टव्य : २.७६, ७.३.१, १०.६९.२
२. अथर्व. ११.४.१३
३. अथर्व. ४.११.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर की दार्शनिक मान्यताएँ

डा० विष्णुदत्त राकेश

पुष्टि सम्प्रदाय में सम्मिलित होने से पूर्व सूरदास शैव थे या हरिदासी सम्प्रदाय के सखी भावोपासक भक्त, प्रामाणिक रूप से कह सकना कठिन है। किन्तु वार्ता सम्प्रदाय तथा बल्लभ सम्प्रदाय सम्बन्धी साहित्य के अनुशीलन द्वारा यह असन्दिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि वह पुष्टि मार्ग के जहाज थे। पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैत दर्शन सूर के जीवन काल का ख्याति लब्ध दर्शन था। इसका प्रमाण १५६५ वि० में सम्पन्न होने वाले विद्यानगर शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने पर राजा कृष्ण देवराय द्वारा आचार्य श्री का कनकाभिषेक वाला वृत्तान्त है। इसी शास्त्रार्थ में आचार्य बल्लभ ने शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद का प्रतिपादन करते हुए मायावाद का खण्डन किया। इस अभूतपूर्व ख्याति लाभ के उपरान्त दक्षिण यात्रा से लौटते हुए १५६८ वि० के लगभग आचार्य बल्लभ से सूरदास का साक्षात्कार हुआ। इसी भेंट में उन्होंने दीक्षा प्राप्त की। दीक्षा के बाद सूर की भक्ति पद्धति स्थिर हुई और वह सगुण स्वरूप के समर्थक तथा भगवदनुग्रह पद्धति के प्रबल पोषक हो गये। उनकी दार्शनिक मान्यताओं और भक्ति पद्धति पर आचार्य वल्लभ की गहरी छाप पड़ी और अपने अभिनिवेश के कारण अष्ट छाप के कवियों में शुद्धाद्वैत दर्शन के वह प्रथम अग्रदूत सिद्ध होते हैं।

पुष्टिमार्गी सेवा पद्धति तथा शुद्धाद्वैत दर्शन:,

आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म सूत्र तथा श्री मद्भागवत् पर क्रमशः अणुभाष्य एवं सुबोधिनी लिखकर सगुण भक्ति समर्थक विष्णु स्वामी सम्प्रदाय तथा निर्गुण साधना मूलक अनुग्रह सम्प्रदाय की समंजस सेवा भक्ति का प्रवर्तन किया। ब्रह्म सम्बन्ध को लेकर ब्रह्म सूत्रों के वैष्णव भाष्यों में एक विलक्षण तत्त्व चिन्तन का प्रभाव आचार्य वल्लभ पर दिखाई देता है। औपनिषद् परतत्त्ववाचक ब्रह्म, वेदान्ताभिमत तथा सांख्याभिमत दोनों हैं। इस संबंध में ब्रह्मसूत्रकार का समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। आचार्य वल्लभ ने स्वरूपतः केवल परतत्त्व ब्रह्म को ही एक मात्र तत्त्व माना है। वही अपने को जगद्रूप में परिणत करता है। परतत्त्व सच्चिदानन्द है। अतः "आनंदमयोऽभ्यासात्"[1] जैसे सूत्र की व्याख्या करते हुए आनन्दमय को आनन्द का हेतु कहा गया है। आनन्दमय आनन्द का विकार नहीं अपितु आनन्द का मूल होने के कारण प्रचुरानन्द पूर्ण है। आनन्दमय इतर जीव नहीं हो सकता। परतत्त्व सच्चिदानन्द ही जब अपने एक अंश में आनन्द का तिरोभाव कर देता है तब उक्त अंश को चिदंश या जीव समष्टि कहते हैं और जब दूसरे अंश में आनन्द और चित् दोनों का तिरोभाव कर देता है तब वह अंश जड़ तत्त्व हो जाता है। इस प्रकार परतत्व ही स्वयं चेतनाचेतनात्मक जगत् के रूप में परिणत होने के कारण जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।[2] तात्पर्य यह है कि माया सम्बन्ध रहित और जगत् के अद्वैत के कारण एक मात्र तत्त्व ब्रह्म है और जड़ जीवात्मक जगद्रूप कार्य भी ब्रह्म है। अतः दोनों का अद्वैत है। ब्रह्म जीवभाव को अविद्या या माया के कारण प्राप्त नहीं हुआ। वह अपनी इच्छा

१. ब्रह्म सूत्र १।१।१३,

२. ब्रह्म सूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, डा० रामकृष्णआचार्य पृष्ठ २१६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ले चित् और आनन्द भाव का तिरोधान कर जड़ और जीव का हेतु बनता है। वह जब चाहे जड़ और जीव में उक्त गुणों का अविर्भाव कर सकता है। अविकृत परिणाम्वाद की कल्पना वल्लभ ने यहीं की। परब्रह्म के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रूप स्वीकार करते हुए उन्होंने एक ओर आध्यात्मिक रूप में अक्षर ब्रह्म स्वरूप की कल्पना की तथा उसे ज्ञान लभ्य और ज्ञानि-प्राप्य बताया तो दूसरी ओर आधिदैविक रूप को साकार पुरुषोत्तमरूप, भक्तिलभ्य तथा भक्त-सेव्य बताया। सूरदास ने सारावली में ब्रह्म का निरूपण इसी साम्प्रदायिक मान्यता के आधार पर किया है—

सोभा अमित अपार अखण्डित आप आतमाराम,
पूरन ब्रह्म प्रगट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम।
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प आहार,
ओंकार आदि वेद असुरहन निर्गुण सगुन अपार।
अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनाशी,
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक विलासी।
सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल,
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सब है अंश गुपाल।

ब्रह्म का आधिदैविक रूप ही सगुण लीला रूप है। श्रीमद्भागवतोक्त लीलातत्त्व पौराणिक तत्त्व है जिसे वैष्णव भक्ति साहित्य में सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ है। लीला-वतार में विभिन्न रूपों में भगवान का दर्शन लाभ होता है, लीला की प्रमुखता का एक हेतु यह भी है, उनकी लीला अमोघ है। लीला से ही संसार की रचना, पोषण और संहार होता है। इतने पर भी लीलावतारी उसमें लिप्त नहीं होते।[1] आचार्य वल्लभ के उपास्य श्री कृष्ण एक ओर स्वधामगत् नित्य लीला करते हैं तो दूसरी ओर अवतार कालीन जगत्प्रवत्ति रूप बाह्य लीलायें भी करते हैं। श्री कृष्ण का उज्ज्वल रस मण्डित रूप लीलातत्त्व की समग्रता को प्रकाशित कर सकने के कारण ही ग्राह्य है।[2] इन लीलाओं के साधनागत हेतुओं पर विचार करते हुए आचार्य वल्लभ ने सुबोधिनी रास प्रकरण में स्पष्ट लिखा है—

ब्रह्मानन्दात्समुध्दृत्य भजनानंद योजने,
लीलायायुज्यते सम्यक् सातुर्येविनिरुप्यते।।

समग्र जगत् को परमात्मा की बाह्य लीला मानकर, अन्तरंग लीलाधाम में रमने वाले भक्तों के लिये लीलातत्त्व का महत्त्व व्याख्या से परे है। इसीलिये महात्मा सूर विनय की सामान्य भक्ति को छोड़कर सारावली में लीला-गान के लिये प्रतिश्रुत हुए।

श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौं, लीला भेद बतायौ
तादिन ते हरिलीला गाई एक लक्ष पद बन्ध।

इस प्रकार अन्तरंग लीलातत्त्व उनके आनन्द रूप की अभिव्यक्ति के कारण वैष्णव सम्प्रदाय में मान्य हुआ है। परमानन्द के नित्य विलास का पृथ्वी पर अवतरण इसी माध्यम से होता है। आधुनिक विद्वान् लीलातत्त्व के प्रतीकार्थ की अनेक व्याख्या करते हैं। पर चिदंश और सदंश के अभावगुण आनदांशं की अभिव्यक्ति के लिये ही लीलातत्त्व की प्रतिष्ठा की गई है। सारावली का साक्ष्य भी है—

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप,
कोटि कल्प बीतत नहिं, जानत विहरत युगलस्वरूप।

भगवान का लीलाधाम उसका स्वरूपगत अंश होने के कारण माया शक्तिजन्य संसार के गुणात्मक रूप से भिन्न होता है। अन्य माधुर्य रस निरूपक आचार्यों से सूर का वृन्दावन धाम व्रजधाम का तात्पर्यवाची होकर पृथक् रूप में आया है। स्वयं वल्लभ ने अणु भाष्य ४।२।१५ में गोकुल को वैकुण्ठ से अधिक महत्त्व दिया है—

---

१. सवा इदं विश्वममोघलीलः, सृजत्य वत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्। श्रीमद्भागवत् १।३।३६

२. आनन्द मात्र कर पाद मुखोदराधिः। तत्त्वार्थ दीप निबन्ध पृष्ठ ८५,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूरसागर के दशम् स्कन्ध में लिखा है—

वृन्दावन व्रज को महतु कापै बरन्यो जाई,
चतुरानन पग परसि के लोक गयो सुखपाई।

वल्लभ सम्प्रदाय के गंभीर अन्वेषक डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार भी व्रजभूमि रस रूप भगवान के लीला-धाम गोलोक या गोकुल का ही अवतार है।[1] वृन्दावन बिहारी की लीला भूमि के प्रति अगाध आसक्ति का निरूपण इसी प्रकल्पना के कारण सूर ने सूरसागर की इन पंक्तियों में किया है—

नैननि की छवि यहै चतुर सोइ जो मुकुन्द दरसन हित धावै।
करतेई जु स्याम को सेवै चरननि चलि वृन्दावन जावै ॥

ब्रह्म के अतिरिक्त शुद्धाद्वैत दर्शन में जीव को चिदंश होने के कारण सत्य माना गया है। अग्नि से विच्छुरित होने वाली चिंगारी की तरह जीव में भी ब्रह्म की सत्ता रहती है। जीव अणु है व्यापक विभु नहीं। तिरोहितानंद होने के कारण अज्ञान गम्य है। कर्म सापेक्षता के आधार पर जीव कोटियां निर्धारित होती हैं—सूरसागर कार के शब्दों में—

जिय करि कर्म जन्म बहुपावै,-फिरत फिरत बहुतै श्रम आवै।
ज्ञानी सदा एक रस जानै, तन के भेद भेद यहि मानै।
आत्म अजन्म सदा अविनासी, ताको देह मोह बड़ फांसी।

अविद्या ग्रस्त जीव संसारी अवस्था में कष्ट उठाते हैं पर पुष्टि मार्गी जीव भगवत्कृपा से ब्रह्मभाव के उदय पर व्यापकत्व पा जाते हैं। सूत्रकार ने यद्यपि जीव का परतत्त्व से स्वरूप भेद प्रतिपादित किया है तथा रामानुज, निम्बार्क एवं बलदेव ने भी अंशतत्त्व की व्याख्या इसी आलोक में की है। किन्तु वल्लभ का जीव विषयक मत अनुग्रह सिद्धान्त की कल्पना के कारण भक्ति तत्त्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है, दार्शनिक दृष्टिसे भले ही वह वैमत्य का विषय हो। जीवोपकरणों में इन्द्रिय, प्राण और मन को भी आचार्य वल्लभ स्वरूपतः उत्पन्न नहीं मानते। "यावद् विकारं तु विभागोलोकवत्" की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्वरूपतः सब कुछ ब्रह्म ही माना है तथा जीवतत्त्व और जड़ तत्त्व को परतत्त्व के आधीन माना है। कारण और कार्य वह दोनों है—सूर की निम्न पंक्तियों में इसी आशय की अभिव्यक्ति हुई है—

प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद बतायो
गोपी ग्वाल कान्ह दुइ नाही ये कहुं नेक न न्यारे।

ब्रह्म और जीव के अतिरिक्त आचार्य वल्लभ ने जगत् के स्वरूप पर भी विचार किया है। तैत्तरीयोपनिषद् के साक्ष्य पर वह जगत् का कारण भी आनन्द को मानते हैं। जगत् ईश्वरेच्छा जन्य है और जीव की अविद्या रचना संसार है। जगत् नित्य है संसार अनित्य। तत्त्वार्थ दीप निबन्ध में कहा गया है।—

"तस्माध्देतोरस्य भगवतः शक्त्या अविद्यया जीव संसार उच्यते न तु जायते, अभिमत्यात्मकत्वात्, अमत-वेनास्यगणनात्। अज्ञानं, श्रमः आदित्यादिशब्दा अहमे-तिरूपे संसारे एव प्रवर्तन्त न तु प्रपंच इत्यर्थः तस्य ब्रह्मात्मत्कवात्।"

महाकवि सूर ने जगत् और संसार का यह सम्प्रदाय सिद्ध भेद अपने सामने रखा है। ब्रह्म रूप जगत् विषयक उनकी उक्ति है—

खेलत-खेलत चित में आई सृष्टि करन विस्तार,
अपनु आपु करि प्रगट कियो है हरि पुरुष अवतार।
कीने तत्व प्रगट ते ही छन सबै अष्ट अरु बीस।

ममतात्मक संसार की कल्पित सत्ता के सम्बन्ध में उनका दृढ़ मत है—

मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया,
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया।

ब्रह्म सूत्र में परमनिः श्रेयस या मुक्ति को अन्तिम लक्ष्य स्वीकार कर उसकी प्राप्ति का उपाय ब्रह्म विद्

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—पृष्ठ ४०५,
२. विस्फुलिलंगा इवाग्नेर्हि जड़ जीवा विनिर्गताः। अणुभाष्य-२।३।१६।४३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बताया गया है। आचार्य जैमिनी के मत का प्रतिवाद करते हुए सूत्रकार ने विद्या को कर्माग न मानकर स्वतन्त्र साधन माना है एवं "विकल्पो विशिष्ट फलत्वात्" (३।३।५७) की व्याख्या में उसके व्याख्याकारों ने सर्वथा भिन्न दृष्टि अपनाई है। आचार्य वल्लभ ने भी मर्यादा मार्ग तथा पुष्टि मार्ग के भेद से नई व्यवस्था की है। पुष्टि मार्गीय भक्ति में ब्रह्म सम्बन्ध अथवा आत्म निवेदन का प्रमुख स्थान है। इसमें आचार मार्ग का निरूपण है, अनुग्रह तत्त्व की प्रतिष्ठा है तथा सेवा परिचर्या की प्रमुखता है। भक्त की स्वत्व सहित सर्वात्मना समर्पित चेतना का प्रकटीकरण ही इसका लक्ष्य है। गोस्वामी हरिराय जी ने पुष्टिमार्ग-लक्षणानि शीर्षक श्लोकों में स्पष्ट कहा है—

अनुग्रहणैव सिद्धिलौकिकी यत्र वैदिकी,
न यत्नातन्यथा विघ्नः पुष्टि मार्गः सकथ्यते।

महाकवि सूर ने भी अष्टयाम सेवा तथा अनुग्रह मार्ग पर पर्याप्त छन्द लिखे। यहाँ पर पुष्टि भाव के पोषणार्थ "चरन कमल बन्दौ हरिराई" तथा "जापर दीनानाथ ढरै" जैसी छन्दों की शीर्ष पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं।

आचार्य वल्लभ ने जीवों के आनन्द भोग में ब्रह्म का आनन्द भोग माना है। यह आनन्द की उपलब्धि पुष्टि मार्गीय भक्तों को ही होती है, ज्ञान मार्गी भक्तों को नहीं।[1] आनन्द भोग की प्रक्रिया में भगवदनुग्रह से पुष्टि की प्राप्ति तथा लीलामय भगवत्साक्षात्कार की प्राप्ति की चर्चा उन्होंने की है। विभूतिमय विग्रह के दर्शन से भक्त प्रेम रूपा तीव्ररति का अनुभव करता है। भगवत्कर्तृक भोग्य लीला के अनुप्रवेश से भक्त रसास्वाद करता है, इन्द्रिय सुख का स्पर्श यहाँ नहीं होता।[2] लीलामय कृष्ण की रसमयता का साक्षात्कार ही मुक्ति है। महाकवि सूर ने कालमायातीत लीलारस की महत्ता का निरूपण करते हुए कहा है—

"मायाकाल कहूं नहि व्यापै यह रस रीति सो जानै"

मुक्ति के स्वरूप भेद पर भी सूरदास ने विचार किया है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य जैसे चार भेदों की चर्चा उन्होंने सिद्धान्ततः तथा व्यवहारतः की है। लीलाधाम निरूपण के प्रसंग में सालोक्य, चरणारविन्द लाभ के उछाह में सामीप्य, शृंगार-छवि-निरूपण में सारूप्य तथा विविध वियोग दशाओं में सायुज्य की व्यावहारिक व्यंजना महाकवि सूर ने कराई है। निम्न पद में गोपी के विरह भाव में मुक्ति के चारों प्रभेदों का विनियोग हमारे कथन को पुष्ट करता है।

ऊधो सूधौ नैकुं तिहारौ।
हम अबलनि को सिखवन आए सुन्यो सयान तिहारौ।
निरगुन कहो कहा कहियत है, तुम निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौ मुक्ति लही हम चारी।
हम सालोक्य सरूप सायुजो रहति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरै तुम अलि बड़े अदाई।

वल्लभ दर्शन में उपास्य भाव तथा रस-तत्व :

आचार्य वल्लभ ने भक्ति-भाव के परिप्रेक्ष्य में ही अपनी दार्शनिक मान्यतायें स्थिर की। अवतारवाद और हरिलीला तत्त्व के अनुप्रवेश से वैष्णव भक्ति-साधना ब्रह्मभाव की सिद्धि में निर्गुण भाव की अपेक्षा अधिक उपयोगी और सार्वजनीन सिद्ध हुई। यही कारण है कि आचार्य श्री ने भक्ति के प्रचलित सभी प्रकारों का विचार बिना किसी आग्रह बद्ध दृष्टि से किया। उपासना क्रम में गृहीत भाव वैविध्य के औचित्य-निरूपण के मूल में भी यही उदारवादी धारणा काम कर रही थी। डा० हरवंशलाल शर्मा ने परमानन्द सागर की भूमिका पृष्ठ २३ पर वल्लभ सम्प्रदाय का उपास्य भाव वात्सल्य माना है,

१. ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेनाक्षर ब्रह्माप्राप्तिः पुष्टि-मार्गीयस्य भक्तस्य तु सोश्नुत इत्यनेनोक्ता पर प्राप्तिरिति। अणु भाष्य ४।४।५।११.

२. लीलाया कालमायाद्यतीतत्वेप्न प्राकृतं जगत् दूरतरमितोपि हेतोर्न तत्संभवः। अणुभाष्य ४।४।५।१७.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु सख्य और माधुर्य का आत्यन्तिक निषेध भी यहाँ नहीं है। प्रभुदयाल मीतल ने अष्टछाप परिचय पृष्ठ १३१ पर स्पष्ट लिखा है कि सख्य वात्सल्य की तरह कान्ता भक्ति भी वल्लभाचार्य को मान्य थी। राधाभाव की पूर्ण प्रकल्पना के अभाव में यद्यपि माधुर्य की वैसी प्रतिष्ठा वल्लभ सम्प्रदाय में नहीं हो पाई जैसी अन्य सखी भावोपासना प्रधान साधना पद्धतियों में रही। गुसाँई विट्ठलनाथ कृत "गुप्त रस ग्रन्थ" में बाल भाव और माधुर्य भाव का गुणीभूत रूप इसीलिये परिलक्षित होता है, वैष्णवाचार्यों के द्वारा पुराणोपजीवी साहित्य साधना को स्वीकृति मिल जाने पर गोपीतत्त्व, सम्प्रदाय और साहित्य दोनों ही धाराओं में अपनाया गया। लीलास्मरण की उपासना भी पुराण सम्मत है।[1] विद्वन्मंडन नामक ग्रन्थ में वल्लभ के लिये गोपीपति रतिमार्ग प्रवर्तक विशेषण का उपपन्न होना इसी तथ्य का पोषक है। श्री बालकृष्ण भट्ट ने प्रमेय रत्नार्णव में गोपियों के आचार-भाव की विविध भूमिकाओं का पुष्टिमार्ग की २० परिभाषाओं में संश्लेष प्रस्तुत किया है। अतः मधुरलीला विषयक भावोपासना तथा तत्सम्बन्धी साहित्य प्रणेता अष्ट छाप के कवियों में मधुरभाव विषयक पदों का आधिक्य देखकर उसे सम्प्रदायेतर वस्तु नहीं समझना चाहिये। डा० देवीशंकर अवस्थी का यह मन्तव्य इस संबंध में अधिक सही है कि वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के बाल रूप की प्रतिष्ठा अवश्य है एवं सूर ने वात्सल्य सम्बन्धी प्रचुर एवं उत्तम साहित्य की रचना भी की परन्तु फिर भी वल्लभ सम्प्रदाय में (हरिदासी प्रभाव के कारण) मधुर भाव की साधना ही बढ़ती गई। स्वयं सूर ने अपने अन्तिम पद में युगलरूप में ही अपनी चित्त वृत्ति के रमे रहने का संकेत किया है।[2]

अष्टछाप के कवियों का वृन्दावन की रसोपासना से प्रभावित होने का विवरण 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'निजमत सिद्धान्त' जैसे ग्रन्थों से भी हो जाता है। सूर की "हरिरस वृन्दावन ते आया" उक्ति उक्त प्रभाव की अन्तः साखी भरती है किन्तु यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वल्लभ सम्प्रदाय का गोपीभाव सूर के साधनामत उत्कर्ष का बीजभाव है जो बालभाव की परिधि में ही स्फुरित हुआ है। श्रीकृष्ण की व्रज-लीलाओं के प्रामुख्य के कारण राधा के कैंकर्य की अपेक्षा यहाँ सम्पोषित सखा साम्य कोटि का माधुर्य है। इसीलिये सहचरी भाव प्रधान नित्य संयोग सुख की अपेक्षा विरह प्रधान व्याकुलता का उत्कठारस ही यहाँ सर्वत्र दिखाई पड़ता है। भ्रमर गीत विषयक पदों का व्यावहारिक साधनागत बीज भाव यही है और पलकान्तर का वियोग-जन्य उत्ताप न सह सकने वाली अन्तः परिशोषित लतिका गोपी से सूर के साधक कवि के अनन्य एकात्मभाव का रहस्य भी यही है। डा० शरण बिहारी गोस्वामी ने सेवा और अधिकार भाव के भेद से वल्लभ सम्प्रदाय के सखी भाव को गोपीभाव का ही व्यापक रूप स्वीकार किया हैं। उनका कथन है कि "व्रजलीलाओं के आधार के कारण इस सम्प्रदाय का गोपीभाव व्यापक हो गया है। सूर प्रारम्भ में तो वल्लभाचार्य के सम्पर्क में थे तब तक बाललीला का वर्णन विशेष रूप से करते रहे परन्तु बाद में वृन्दावन का रंग लगने पर उन्होंने अपने को सखीभाव के कवियों के रूप में ढाल दिया। इन कवियों के अन्तिम जीवन की रचनायें प्रायः राधा की प्रधानता को सिद्ध करने वाली सखी भाव सम्बन्धी रचनायें हैं। यह उनके जीवन का एक विकास क्रम है जो महत्वपूर्ण है।"[3] अस्तु निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भक्ति साधना में पुरुष भाव के भंग हो जाने पर सहज नारी भाव की उत्पत्ति ब्रह्मभाव साधन का सर्वोपरि अंग कहा जा सकता है। साधन-क्रम में यह भावातिरेकपूर्ण चर्या है जहाँ प्रेम के स्फुरण से देह भाव बिसर जाता है। रस रीति की प्रक्रिया यहीं से प्रारम्भ होती है। जिसकी कोई अवधि

---

१. अनुग्रहस्य भक्तानां मानुषं देहमस्थितः,
भजते तादृशीं क्रीड़ायां स्मृत्वा तत्परो भवेत्।
श्रीमद्भागवत् १०।३३।३७.

२. १८ वीं शती के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति पृष्ठ १०७

३. कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव पृष्ठ ६५०.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है जिस पर काल का कोई नियंत्रण नहीं है। सारावली और सूरसागर के माधुर्य बोझिल अधिकांश पद इसी प्रक्रिया के समर्थन में लिखे गये हैं। सूर सागर के इस पद में श्रुतियों को रस रूप कृष्ण से उपदेश दिलाते हुए भक्त सूर ने भी मानो अपनी स्वीकृति की अन्तिम छाप लगा दी है—

तबै ऋचा है गोपिका हरि सो कियौ विहार,
जो कोई भरता भाव करि हरि पद ध्यावै।
नारि पुरुष कोउ होय सोइ श्रुति ऋचा गति पावै।
तिनकी पद रज जो कोउ वृन्दावन भुवि माहीं,
परसै सो गोपिका गति लहै संसै नाहीं।

अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ब्रह्मसूत्र की सांख्याभिमत परम्परा के प्रभाव के कारण सूर के प्रेरणा स्रोत आचार्य वल्लभ ने प्रकृति-पुरुष की एकात्म भावना को भागवतोक्त गोपीभाव में भक्तिवाद के आग्रह के कारण पुरस्सरित किया। गोपीभाव से गोपीदेह प्राप्ति के सूत्र भी विष्णुपुराण, पद्मपुराण तथा बृहद वामन पुराण से प्राप्त हुए। यामुनाचार्य के "आगम प्रमाण्य सिद्धि के फलस्वरूप" तन्त्र साहित्य की युग्म पूजा का प्रभाव भी भक्ति निरूपक आचार्यों पर पड़ा। इसी आलोक में रुद्रयामल, कृष्णयामल तथा गौतमीतन्त्र का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी योषितभाव की सिद्धि के लिये उत्तरदायी माना जाना चाहिये। यही कारण है कि ब्रह्मसूत्र के निः श्रेयस अभ्युदय आचार निरूपक सूत्रों की व्याख्या में वल्लभ कृत पुष्टिमार्ग का समर्थन मूल ग्रन्थकार तथा अन्य वैष्णवाचार्यों के भाष्य से मेल नहीं खाता। औपनिषदिक् मधु-विद्या की परम्परा तथा शक्ति-शक्तिमान् की सांख्याभिमत परम्परा का सम्मिश्रण यहीं हुआ। अतः सूर और उनके सम्प्रदायगत सिद्धान्त और उपास्य भाव की मीमांसा करते हुए हमें ब्रह्म सूत्र के अणुभाष्य की प्रक्रिया तथा पुराण सम्मत लीलातत्व का गंभीर अनुशीलन करना चाहिये तभी हम वल्लभ और सूर द्वारा प्रस्तुत ब्रह्म परतत्त्व अवतारवाद तथा लीलारस की धारणा में संगति बैठा सकेंगे।

हिन्दी-विभाग
गुरुकुल विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगन्मिथ्यात्ववाद और ब्रेडले के आभास सम्बन्धी विचार

डॉ० अभेदानन्द

ब्रेडले प्रतीयमान वस्तुओं को आभास या मिथ्या कहते हैं। प्रतीयमान वस्तुओं के अधिष्ठानरूप से जो सत्ता है उसे ब्रेडले सत् कहते हैं। ब्रेडले ने अपनी पुस्तक "एपीयरेन्स एण्ड रियलिटी" के प्रथम खण्ड में सभी प्रतीयमान वस्तुओं को तर्कों और युक्तिओं द्वारा आभास सिद्ध किया है। तार्किक बुद्धि से विचार करने पर वस्तुयें सत्य सिद्ध नहीं हो पातीं। ब्रेडले के अनुसार पूर्ण सत् कभी भी अपने में स्वव्याघातक नहीं होता।[1] इसका अर्थ ब्रेडले के अनुसार हुआ—सत् यदि सत् है तो असत् नहीं हो सकता। वह सत् ही है। यदि सत् अपने स्वरूप से विलग हो सकता तब वह सत् ही नहीं कहा जायेगा। इसके विपरीत आभास अपने अस्तित्त्व को बनाये नहीं रख पाते, कारण यह है कि आभास का अपना कोई स्वरूप नहीं है। उनका स्वरूप भी सत् का ही स्वरूप है। आभास अपने अस्तित्व से तादात्म्य नहीं रख पाते।[2]

ब्रेडले ने प्रतीयमान वस्तुओं को आभास सिद्ध करने के लिये प्रधान-अप्रधान गुण, द्रव्य और विशेषण, सम्बन्ध और गुण, दिक् और काल, गति और परिवर्तन, कारण और क्रिया, वस्तुयें अपने में, यहां तक कि आत्मा का भी विचार करके सभी को स्वव्याघातक सिद्धि किया है। उनके अनुसार ये सभी आभास हैं, न कि सत्। अप्रधान गुणों के विषय में उनके विचार हैं कि रूप रंग आदि अप्रधान गुण वस्तुगत नहीं हैं, वे अहं सापेक्ष हैं। इन्द्रियों के बिना अप्रधान गुणों की सत्ता नहीं सिद्ध हो पाती। वे वस्तुतः वस्तुओं में न होकर विषयी में हैं, अतः आभास हैं। ब्रेडले स्वतन्त्र सत्ता को ही सत् कहते हैं। अप्रधान गुण स्वतन्त्र नहीं हैं, अतः सत् न होकर आभास हैं।[3] इसी प्रकार प्रधान गुण भी सापेक्ष हैं। वे भी अपने आप में स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान नहीं हैं, अतः वे भी आभास ही हैं।[4] गुण-गुणी का सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। ब्रेडले ने शक्कर खण्ड का उदाहरण देकर समझाया है कि शक्कर मीठा है, ठोस है, श्वेत है, इन गुणों से वह विशिष्ट है, किन्तु मीठा, ठोस आदि ही शक्कर नहीं हैं। मीठा स्वयं एक गुण है, वह ठोस नहीं है श्वेत स्वयं एक गुण है, ठोस का प्रयोग श्वेत में भी नहीं हो सकता। शक्कर इन गुणों की समष्टिमात्र भी नहीं। तब वह है क्या ?[5] इस प्रकार तार्किक विश्लेषण करने पर वस्तुयें न विशेषणरूप होतीं हैं, न उनसे भिन्न रूप से सिद्ध हैं। "शक्कर श्वेत है" इस वाक्य में हम शक्कर को श्वेत कैसे कह सकते हैं ? शक्कर को उद्देश्य करके श्वेत का विधान करने पर उद्देश्य शक्कर के विषय में हमने कुछ भी कथन नहीं किया। और यदि उद्देश्य को ही विधेय में कहा जाय तब भी कुछ नहीं कहा जायेगा। इस प्रकार उभयतः पाश है। ब्रेडले के शब्दों में "यदि उद्देश्य का विधेय उससे भिन्न रखा जाय तो उद्देश्य को ऐसा बताया जायेगा जैसे

1. Ultimate reality is such that it doees not contradict itself. Appearance and Reality—P.120.Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).
2. Ibid.p.—165.
3. (Appearance and Reality) p. 10. Bradley (9th Ed., oxford 1930)
4. Ibid.—p. 15.
5. Ibid.—p. 16

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः नहीं है। इसके विपरीत यदि "विधेय उद्देश्य से भिन्न हो तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'उद्देश्य के विषय में कुछ कहा ही नहीं गया।"[1]

ब्रेडले के अनुसार विश्व में सभी वस्तुयें किसी न किसी रूप में सम्बन्धों से युक्त हैं और सम्बन्धित वस्तुओं का स्वरूप वह नहीं होता जोकि सम्बन्धावस्था में प्रतीत होता है। उन वस्तुओं का स्वरूप सम्बन्धों से परे परमसत् है। वह परमसत् सम्बन्धातीत है। फिर भी इन वस्तुओं का वही स्वरूप है।

अद्वैत वेदान्त में जिस प्रकार चित्सुखाचार्य ने तत्व-प्रदीपिका में और श्री हर्ष ने खण्डन में न्याय वैशेषिक द्वारा स्वीकृत प्रमाण प्रमेयादि का प्रत्याख्यान किया है और अनिर्वचनीयतासर्वस्व की स्थापना की है, उसी प्रकार ब्रेडले ने भी उसी पद्धति से प्रातीतिक वस्तु गुण-गुणी विशेषण-विशेष्यादि का प्रत्याख्यान किया है। इनमें उनके अनुसार किसी प्रकार की भी संगति नहीं है। जो स्वयं किसी सम्बन्ध पर निर्भरशील है उसकी सत्ता सत् न होकर प्रातीतिक है। ब्रेडले ने गुण-गुणी में सम्बन्ध के लिये जिस प्रकार सम्बन्धांतर की शृंखलारूपी अनवस्था-दोष दिखाया है,[2] उसी प्रकार अद्वैताचार्यों ने न्यायवैशेषिक के समवाय के प्रत्याख्यान में सम्बन्ध परम्परा की अनवस्था का दोष दिखाया है।[3]

ब्रेडले प्रतीयमान वस्तुओं को उक्त प्रकार से आभास सिद्ध करते हैं, और कहते हैं कि "सम्बन्ध-गुण-विशिष्ट सत् वास्तविक सत् नहीं है, अपितु आभास है।"[4] सम्बन्धों के बिना गुण नहीं पाये जाते, गुणों के बिना सम्बन्धों का अस्तित्व नहीं मिलता। इस प्रकार सभी निर्भरशील हैं, अतः स्वसत्ता से रहित, मात्र प्रातीतिक हैं।

ब्रेडले वाह्य वस्तुओं को विचार की दृष्टि से सत्ता से च्युत करके आन्तर वस्तु आत्मा (Ego) को भी प्रतीयमान कहते हैं। शरीर और आत्मा दोनों ही ब्रेडले के अनुसार आभास हैं।[5] आत्मा को जिस रूप में जानते हैं वह सम्बन्धों से विशिष्ट आत्मा है। सम्बन्धों से विशिष्ट वस्तु स्वयं सत्तावान नहीं होती, अतः इस कारण आत्मा भी आभास है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी शरीर इन्द्रिय मनोयुक्त तथाकथित सम्बन्धित आत्मा वस्तुतः अध्यस्त है। अध्यस्त आत्मा मिथ्या है।[6] स्वस्वरूप आत्मा शरीरेन्द्रियान्तः करण धर्मों से परे है जो कि ब्रह्मरूप है। जहां तक अहं की आत्मा होने की बात है वह विशुद्ध चेतनांश में आत्मा या विशुद्ध चेतन है, किन्तु अहन्तांश अध्यस्त एवं मिथ्या है, अद्वैताचार्यों ने कहा है कि कार्यस्वरूप से सदसद्रूप से निर्वचनीय नहीं है। कारणात्मना ही उसका निर्वचन सम्भव है; इसलिये कारण की ही सत्ता है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है "कारण सत्तैव कार्यस्य सत्ता न ततोऽन्या"[7] इसी प्रकार ब्रेडले के अनुसार भी सत् की सत्ता के बिना आभास की सत्ता सम्भव नहीं। आभास के विषय में 'अस्ति' का कथन भी सत् के कारण ही सम्भव है। सत् आभास नहीं, किन्तु सत् के बाहर आभास नहीं है। सत् एक होकर सर्वत्र अनुस्यूत है, अतः नानात्व को अपने में आत्मसात् किया हुआ है।[8] वेदान्त सिद्धान्तमुक्तावलीकार का भी यही कहना है कि आत्मा सत्ता ही द्वैत की सत्ता है। इसी कारण आत्मा को जान लेने पर कारण रूप से द्वैत को भी

1. Ibid.—p. 17.
2. Appearance and Reality—p.18. Bradley (9th. Ed., Oxford, 1930).
3. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य भामती कल्पतरु परिमल। पृ० ५११, ५१२ निर्णयसागर, १९३८।
4. The reality so characterized, is not True reality, but is appearance—Appearance and Reality—p. 21. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930.)
5. That neither body nor soul can be more than appearance.—Appearance and Reality p. 262. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).
6. पंचपादिका। पृ० ३२। मद्रास १९५८।
7. भामती। पृ० ४४६। निर्णयसागर १९३८।
8. Appearance and Reality—p. 213. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जान लिया जाता है।[1] ब्रेडले अद्वैत के ही समान यह मानते हैं कि सत् के बिना आभास सम्भव नहीं।[2] आभास की जब सत्ता है ही नहीं तब वह बिना सत् के किसका आभास होगा ? अतः सत् की सत्ता ही आभास की सत्ता है। अभास सत् की सत्ता से सत्तावान् है, इसलिये कहा जा सकता है कि जो कुछ भी है सभी सत्य है। अद्वैत वेदान्त की "सर्वं-खल्विदं ब्रह्म" की व्याख्या भी यही सिद्ध करती है कि सत् सर्वत्र व्याप्त है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जहां पर ब्रह्म नहीं हो, क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त मिथ्या की सत्ता पृथक्रूप से स्वीकार करने का अर्थ है द्वैतापत्ति।

सापेक्षसत्य इन वस्तुओं को पूर्ण सत् मान लेना ही ब्रेडले के अनुसार भ्रम है।[3] अद्वैत वेदान्त के अध्यास विवेचन में स्पष्ट दिखाया है कि किस प्रकार भ्रमस्थल में जो वस्तु नहीं उसी को वहीं पर सत्य मान लिया जाता है; इसीलिये उक्त स्थल की वस्तु और ज्ञान दोनों मिथ्या हैं। इसी प्रकार जगत् की वस्तुयें ब्रह्म में आरोपित हैं जो कि अधिष्ठान की सत्ता से सत्तावान् हैं, किन्तु उन वस्तुओं को पृथक् रूप से सत्तावान् मानना ही जगद्भ्रम है। अद्वैत के ही समान ब्रेडले भी सत् में नानात्व का निषेध करते हैं। उनका कहना है कि स्वतन्त्र सत्ता के नाना सत् सम्भव नहीं हैं।[4] नाना सत् होने पर स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र सत् होंगे। परतन्त्र सत् का अर्थ सत् न होकर आभास ही हुआ। वस्तुयें अपने स्वरूप में सत् हैं और सत् में एकीभूत हैं, फिर भी बुद्धि में स्वव्याघाती एवं नाना प्रतीत होती हैं।[5] अद्वैत के अनुसार नानात्व दर्शन अध्यासजन्य है। ब्रेडले भी नानात्व दर्शन, सत् को पूर्ण रूप से ग्रहण न कर सकने के कारण, कहते हैं। बुद्धि द्वारा सत् को पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता।[6] बुद्धि जब भी सत् को जानना चाहेगी उसे आभास के रूप में विखण्डित करके ही जानेगी। सत् को जानने के लिए सत् होना पड़ेगा। अद्वैत में "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" माना गया है, उसी प्रकार ब्रेडले सत् को सत् होकर ही जाना जा सकता है, ऐसा कहते हैं।

हमने ऊपर ब्रेडले के दर्शन में जगत्-प्रपंच की स्थिति का एक संक्षिप्त विवरण दिया है। अद्वैत में स्वीकृत मिथ्यात्व के साथ ब्रेडले द्वारा प्रदर्शित आभास की तुलना की जा सकती है। चित्सुखाचार्य, मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों ने मिथ्यात्वानुमान में दृश्यत्वादि हेतु प्रदर्शित किये हैं। अतः स्पष्ट है कि अद्वैतवेदान्ती दृश्य वस्तुओं को ज्ञान विषय होने के कारण मिथ्या कहते हैं। ब्रेडले भी हमारी बुद्धि में प्रतीयमान वस्तुओं को आभास की संज्ञा देते हैं। ब्रेडले के अनुसार सत् एक है, अतः नानात्व आभास है। ब्रेडले के अनुसार सत् निरंशी है, अतः जो भी अंशी या नाना हैं आभास हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिथ्यात्व में जो हेतु अद्वैतचार्य देते हैं, उन्हीं हेतुओं के समान बातें ब्रडले भी आभास के के लिए कहते हैं। वस्तुतः अद्वैत के अनुसार भी सत् "एकमेवाद्वितीयम्" है। ब्रेडले के अनुसार भी सत् एकमेवाद्वित्तीय है। इसी कारण सदतिरिक्त वस्तुयें आभास हैं। अद्वैत के अनुसार भी सत् ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वेन सर्व मिथ्या है।

ब्रेडले के अनुसार सत् का मापदण्ड 'अविरोध' है और आभास का मापदण्ड विरोध है। सत् कभी भी सत्ता से पृथक् नहीं हो सकता। सत् होकर सत्ता से पृथक् होना "विरोध" माना जायेगा। जिसमें उस प्रकार की बातें

---

१. आत्मसत्तैवद्वैतस्य सत्ता नाऽन्या यतस्तत आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्।
—वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली
पृ० १६४, प्रकाशानन्द अच्युतग्रन्थमाला।

2. Appearnce without reality would be impossible. Appearance and Reality—p. 432. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).

3. Ibid.—p. 431

4. The absolute is not many, there are no independent reals. Appearance and Reality p. 127. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

5. Ibid.—p. 505.

6. Truely to realize the existence of the absolute is for finite beings impossible. Appearance and Reality—p. 140. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हां वह आभास होगा न कि सत्। अद्वैत के अनुसार भी सत् त्रिकालाबाध्य है। अबाधित होना ही सत् का मापदण्ड है। जो बाधित होता है वह सत् न होकर मिथ्या है।[1] जो आदि में भी नहीं था, अन्त में भी न होगा, वह सत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उत्पत्ति विनाशशील वस्तुयें अबाधित नहीं हो सकतीं। उत्पत्ति से पूर्व भी जिसकी सत्ता नहीं और विनाश के बाद भी जिसकी सत्ता नहीं, वह अबाध्य नहीं रहा। ब्रेडले के अनुसार वह स्वव्याघाती हुआ, क्योंकि कोई भी वस्तु जब अपनी स्वसत्ता को छोड़ देती है तब वह सत्ताहीन हो जाती है। यदि वह स्वसत्ता से युक्त होती तो उसकी सत्ता उससे विलग नहीं हो सकती थी। उसकी सत्ता सत् से प्राप्त होने के कारण किसी भी समय वह सत्ताहीन हो जाती है, अतः वह वस्तु आभास है। एक ही वस्तु-घट में भाव अभावादि विरोधी बातें हैं, अतः व्याघातपूर्ण हैं। आज घट है, कल नष्ट होने पर नहीं रहेगा, उत्पत्ति के पूर्व भी घट नहीं होता, इस कारण अर्थात् भावाभावादि विरोधी बातों के कारण ही घट अद्वैत के अनुसार मिथ्या है। इस देश में घट है, अन्य देश में नहीं है, इस प्रकार भावाभाव दैशिक दृष्टि से भी घट में हैं, अतः घट सत्ताव्याभिचारी है। अद्वैतवेदान्त में परिच्छिन्न हेतु से जो मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है, उसका तात्पर्य भी यही है। देशकाल और वस्तुगत परिच्छेद वस्तुओं में सीमा खींच देता है। वस्तु देशकाल और वस्तु के परिच्छेद से स्वसत्ताव्याभिचारी हो जाती है। इसी कारण वस्तुओं का बाध हो जाता है। ब्रेडले के अनुसार भी नाना वस्तुओं में सत्ता होने पर भी वह आंशिक सत्ता है, क्योंकि वस्तुयें नाना रूप से सत् नहीं हो सकतीं। सत् निरपेक्ष होता है, अर्थात् सत्ता के लिए ज्ञान के लिए वह निरपेक्ष है, किन्तु वस्तुयें सत्ता और ज्ञान के लिये सापेक्ष हैं, अतः सापेक्षतया भी वे आभास हैं।

ब्रेडले ने आभास का मापदण्ड विरोध या व्याघात को व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है, क्योंकि जहां पर भी सम्बन्धादि की सिद्धि तार्किक विश्लेषण द्वारा नहीं कर पाये, ब्रेडले ने वहीं पर विरोध का प्रयोग करके उससे आभास कह दिया है। अद्वैत वेदान्त के "व्यावर्तमानत्व", "परिच्छिन्नत्व", "अवयवित्व", "जड़त्व", "दृश्यत्व" आदि मिथ्यात्व अनुमान के हेतु ब्रेडले के "विरोध" शब्द के अन्तर्भूत हैं। ब्रेडले ने विरोध का प्रयोग उक्त सभी अर्थों में किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्त स्वीकृत मिथ्यात्व का मापदण्ड ब्रेडले द्वारा स्वीकृत विरोध के समान है।

ब्रेडले ने प्रतीयमान वस्तुओं को आभास अवश्य कहा है, किन्तु उन्हें असत् नहीं कहा है। वस्तुयें आभास हैं—का अर्थ सापेक्ष सत् हैं। यद्यपि सत् वस्तु एक ही है, फिर भी आभास बिना सत्ता के सम्भव न होने के कारण सापेक्ष सत् है। सभी मिथ्या हैं फिर भी अंशतः सत्य हैं। इस प्रकार सभी प्रतीयमान वस्तुओं में कुछ सत्ता अवश्य होती है।[2] व्यावहारिक दृष्टि से ब्रेडले आभास को भी सत्य मानते हैं। यद्यपि सभी प्रतीयमान वस्तुओं को आभास कहा गया है, फिर भी व्यवहार में सत्य मिथ्या का अन्तर है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीयमान वस्तुयें सभी सत्य हैं।[3] ब्रेडले आभास को अद्वैत के मिथ्या के समान ही एक सर्वभौम व्यावहारिक सत्य मानते हैं। जहां पर ज्ञान के अनुकूल वस्तुयें नहीं प्राप्त होती वही भ्रम है। प्रतीयमान जागरिक वस्तु विषयक भ्रम उक्त भ्रम से भिन्न हैं।[4] प्रातीतिक वस्तुयें सापेक्ष सत् हैं। हमारे दैनिक व्यवहार में ये वस्तुयें मिथ्या नहीं हैं।

1. The Idealist thought of India—p. 102 P.T. Raju, London, 1953.
2. Every phenomena is somehow real. Appearance and Reality—p. 127. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)
3. From the relative point of view a truth is wholly true.—The Chief Currents of Contemporary Philosophy—Datta p. 74. 2nd Ed., Calcutta, 1961.
4. Appearance and Reality-p. 486. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सापेक्ष सत्य के बिना हमारा जीवन नहीं चल सकता।[1] प्रातीतिक ज्ञानों में जो ज्ञान सफल प्रवृत्तिजनक न हो, वह भ्रम है। जैसे सीपी में चांदी को देखने पर लेने के लिये प्रवृत्ति होने पर, वहां चांदी मिलती नहीं, इस कारण वह भ्रम ज्ञान है। भ्रमज्ञान का विषय भी भ्रम है,[2] किन्तु पुस्तक को देखने पर पुस्तक लेने की प्रवृत्ति दशा में पुस्तक की प्राप्ति होती है, अतः पुस्तक का ज्ञान सत्य-ज्ञान है। इस प्रकार ब्रेडले के अनुसार भी व्यवहार में सत्य मिथ्या का विभाजन किया गया है। वस्तुतः ब्रेडले के अनुसार सत्ताभेद नहीं है। सत् में सत्ताभेद सम्भव नहीं, क्योंकि सत् पूर्ण है। इसी कारण अन्य सत्ता, अधिक सत्ता, आदि बातें या अल्प-पूर्ण, अधिक-पूर्ण आदि बातें, वस्तुतः सत् में सम्भव नहीं।[3] सत् में सत्ता-भेद की कल्पना प्रातीतिक है।

अद्वैत वेदान्त में व्यवहार और परमार्थ का भेद हमने दिखाया है। अवगति पर्यन्त व्यावहारिक जगत् प्रमाण-प्रमेय-भाव, सब सत्य ही हैं; किन्तु बाध होने पर मिथ्या हैं। इस प्रकार अद्वैत का मिथ्या सदसदनिर्वचनीय है, ब्रेडले का आभास सापेक्ष सत् है। दोनों ही एक पूर्ण सत् की दृष्टि में जगत्-प्रपंच की व्याख्या देते हैं।

रीडर, दर्शन-विभाग,
गुरुकुल विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

1. The Chief Currents of Contemporary Philosophy—p.75. Datta, 2nd. Ed., Calcutta, 1961.
2. Ibid—p. 76.
Appearance and Reality—p. 319.Br adley (9th Ed., Oxford, 1930).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरतपुर में महाकवि देव

—लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

मानव-स्वभाव अपने परिवेश के साँचे में आकार ग्रहण करता है। यह बात सामान्य जनों की भाँति कवियों पर भी घटित होती है। हम कह सकते हैं कि कवि औरों की अपेक्षा अपने प्राप्त परिवेश से विशेष प्रभावित होता है। प्राचीन से लेकर अधुनातन तक सभी कवियों को हम इसी नियम का अनुवर्ती पाते हैं। कवि प्रकृति-परिवेश और सामाजिक परिवेश दोनों से समान रूप में प्रभावित होता है। उसमें परिवेश-परिवर्तन के साथ स्वभाव-परिवर्तन भी होता रहता है। उत्तर मध्यकाल के हिंदी-कवियों में से कतिपय को हम इस परिवेश या वातावरण से आश्चर्य-जनक ढंग से प्रभावित पाते हैं। आश्चर्यजनक इसलिये कि उन्होंने नया वातावरण पाकर अपने परंपरागत काव्य की राह कुछ देर के लिये छोड़ दी। जीवन भर शृंगार-परक रचना करने वाले कवि ने भी अपनी नई राह में वीर रस के कवियों से होड़ की। ऐसे कवियों में से एक महाकवि मतिराम भी हैं। इन्होंने अपने अग्रज महाकवि भूषण के आश्रय दाता छत्रपति महाराज शिवाजी और महाराज महाराज छत्रसाल बुंदेले के यहाँ यात्रा की थी। यह तथ्य है कि मतिराम शृंगार रस के अनुपम कवि थे। उनका रसपरक ग्रंथ 'रसराज' बहुत दिनों तक सर्वाधिक समादृत ग्रंथ रहा है। इन्होंने उपर्युक्त दोनों जननायकों के संपर्क में आकार वीर रस की श्रेष्ठ कविताएँ रच डाली थीं। याज्ञिक-बंधुओं (मयाशंकर याज्ञिक, जीवन शंकर याज्ञिक और भवानीशंकर याज्ञिक) ने माधुरी' पत्रिका के जुलाई, १९२४ के अंक में 'मतिराम और भूषण' नामक लेख में सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया था। नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय के कतिपय हस्तलेखों में मुझे भी कई छंद ऐसे मिल गए जिन्हें पाकर मुझे आश्चर्य-सम्मिश्र हर्ष हुआ। यहाँ मतिराम-रचित शिवाजी की प्रशंसा का एक छंद उद्धृत करके मैं प्रस्तुत विषय पर आ जाना चाहूँगा। छंद इस प्रकार है—

बान अरजुन के बखानियत मतिराम,
गदा भीमसैन की सदा ही सुभ साज की।
बासव को ब्रज, बलदेव को मुसल बासु—
देव जू ओ चक्र सुर कीरति इलाज की।
दंड दंडधर औ अदंडन के दंडिबे कौं,
नखन की पाँति नरसिंह सिरताज की।
सिव कौ त्रिसूल औ कुठार जामदग्नि औ ज्यौं
सिवा की सकति, समसेर सिवराज की॥

इसी प्रकार महाकवि देव एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने शृंगार को ही एकमात्र रस माना था—

'भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल सिंगार।'

और ये उसी रस के सिद्ध कवि माने जाते हैं। बहुतेरे राजाओं और रईसों के दरबारों में टक्कर खाने के बाद प्रतिक्रिया स्वरूप इनके मन में निर्वेद उत्पन्न हुआ था और वह जीवन के अंतिम दिनों में, जब इनकी वाणी अनायास फूट पड़ी थी—

ऐसो जौ हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ पाँय तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नट सों निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतों 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुंह मोरतो।
भारो प्रेम पाथर, नगारौ दै, गरे सों बाँधि,
राधावर बिरद के बारिधि मैं बोरतो॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी निर्विण्णता की स्थिति में इन्होंने वैराग्य और तत्त्व चिंतन परक चार पचीसियाँ लिख डाली थीं। अपनी वृद्धावस्था में देव काफी समय तक भरतपुर राज्य के आश्रित रहे। वहाँ के नरेशों की प्रशंसा में लिखे गए इनके छंद बहुत दिनों तक लोगों को अज्ञात रहे और बहुतों को तो आज भी उनका पता नहीं है। किसी हिन्दी साहित्य के इतिहासकार ने भी तत्परता के साथ खोज करने का कष्ट नहीं उठाया। इसीलिये हिंदी साहित्य के जो इतिहास इधर लिखे गए हैं, उनमें भी देव के भरतपुर राज्य के आश्रित होने का कहीं विवरण नहीं है। 'मत्स्य देश की हिंदी साहित्य को देन' नामक पुस्तक में देव का भरतपुर जाना उल्लिखित है, किंतु उसमें कहा गया है कि किसी सरदार के बार-बार आग्रह करने पर भी देव ने यही कहा कि सरस्वती मुझे कुछ कहने की आज्ञा नहीं दे रही है।

माधुरी नामक मासिक पत्रिका के वर्ष ३, खं० १९, संख्या चार के पृष्ठ ५३४ पर पं० मदनलाल जी मिश्र का एक लघु लेख 'महाकवि देव और भरतपुर राज्य' छपा है। इसमें याज्ञिक बंधुओं के कथन का खंडन करते हुए एक अनुश्रुत किंवदन्ती का उल्लेख किया गया है। वे लिखते हैं—

"मैंने कतिपय वयोवृद्धों से देव के विषय में यह एक किंवदंती सुनी है कि महाराज सूरजमल जी के दरबार में देव जी का आना समय-समय पर हुआ करता था। एक समय देव जी महाराज के दरबार में पधारे। उस समय कविवर घनआनंद जी भी उपस्थित थे। कविद्वय में वार्तालाप होते समय महाकवि देव जी ने कहा—"घनआनंद जी, आपकी कविता में जो चमत्कार और हृदयग्राहकता है वह हमारी कविता में क्यों नहीं आती?" इस पर घनानंद जी बोले—"महाराज, आप वर्तमान समय के कवि शिरोमणि और उत्कृष्ट पंडित हैं, परंतु इस दास की और श्रीमान् की कविता में जो अंतर है, उसका कारण एक रहस्य से पूर्ण है। वह यही कि आप जो वर्णन करते हैं, वह दूसरों पर बीती का, और यह दास अपने ऊपर बीती बात कहता है। जैसे कोई-व्यक्ति किसी के यहाँ मृत्यु होने पर शोक प्रदर्शित करने जाय तो उस समय उसको वैसा दुःख का अनुभव नहीं होता, जैसा जिसके घर मृत्यु हो गई हो, उसको होता है।"

इस किंवदंती का उल्लेख कई लेखकों ने अपने ग्रन्थों में किया है। पं० मदन लालजी मिश्र ने उसी लेख के अन्त में यह भी कहा है, "उन छः छन्दों के अतिरिक्त जवाहिर सिंह जी के विषय के कुछ छन्द देव के कहे और भी हैं।" किन्तु वे 'कुछ छन्द और भी' कौन से हैं उन्हें मिश्र जी ने उद्धृत नहीं किया और उन्हें उस समय यह भ्रम भी था कि वे छन्द प्रसिद्ध महाकवि देव के न होकर किसी और देव नामा कवि के हैं। इस भ्रम का खन्डन अपने एक लेख में याज्ञिक बधुओं ने बाद में कर दिया था। इधर मुझे प्राचीन हस्तलेखों को देखते समय कविवर देव के तीन छन्द और मिले हैं। इन तीनों कवित्तों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें से एक में महाराज सूरज मल्ल की युद्ध वीरता वर्णन है और शेष दो में महाराज जवाहर सिंह की प्रशंसा है। एक में उनकी युद्ध वीरता का उल्लेख है और दूसरे में उनके होली खेलने का रसमय वर्णन है। इससे यह बात साफ हो जाती है कि कविवर देव महाराज सूरजमल्ल के राज्यकाल में भरतपुर गए ही थे। बाद में उनके तेजस्वी पुत्र के राजत्वकाल में भी वहाँ पधारे थे और दोनों ही नरेशों ने उनका यथोचित सम्मान भी किया था। महाराज सूरजमल्ल के युद्ध का छन्द पहले देखें—

दुहूँ दल मार-मार मच्यौ घमासान और
नाचत-मसान जहाँ नाग गन छ्वै गयौ।
चल्यौ आसमान भान सहित बिमान जहाँ
चल्यौ मेरु मति औ सिथिल ससि ह्वै गयौ।
सोनित ओ नद चल्यौ, नन्दी तहाँ बहि चल्यौ,
सिव चल्यौ सहमि सिवाहू उर छ्वै गयौ।
बीर मद मत्ता तहाँ हाथ गहै कत्ता 'देव'
हल्यौ न चकत्ता लत्ता-लत्ता तन ह्वै गयौ॥

यह दिल्ली के उस युद्ध का वर्णन है, जिसमें महाराज सूरज मल्ल ने वीर गति पाई थी। शेष दोनों छन्द इस प्रकार हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूलैंगो कतल जातें सुतल बितल काँप्यौ,
भूलैंगो दिली मैं साति नादर को आयबौ।
भूलैंगो रे भाऊरम्य भाज्यौ संसार जातें,
भूलैंगो सुजान को जु सुरपुर जायबौ॥
ह्वै करि सकुद्ध उद्ध जुद्ध महा जैपुर को
जीत्यौ रजपूतन को गरब गरायबौ।
भूलैंगो न जग मैं जवाहर नरिंद तेरौ
सिंघन बुलायबौ पौहौकर को न्हायबौ॥
ब्रज सिरताज श्री जवाहर नरेंद्र आज
होरी के समाज गज चढ़ि चहुँ ओर पर।
आनन्द उमंग प्रेम रस की तरंग भरि,
केसरि के रंग पिचकारिन झकोर पर॥
सुन्दर नवेली अलबेलिन के आनन पै
बरसैं सुगन्ध बारि मदन मरोर पर।
मानौं उदयाचल तै मारतन्ड मन्डल की
छूटीं लाल किरनैं कलानिधि की कोर पर॥

परम्परानुसार प्रचन्ड पराक्रमी महाराज जवाहर सिंह की वीरता और संस्कृति-प्रेम-जन्य उनकी रसिकता का वर्णन करके उनकी सर्वतोभावेन पूर्णता का निदर्शन कवि-वर देव ने कर दिया है।

जिन प्राचीन हस्तलेखों से मैंने ये छन्द प्राप्त किए हैं, उनमें सैकड़ों ज्ञात और बहुतेरे अज्ञात कवियों की उत्तम रचनाएँ संकलित हैं। यदि इन हस्तलेखों का प्रकाशन हो जाय तो मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का वह भाग जो अंधकाराच्छन्न है, बहुत कुछ प्रकाश में आ जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी साहित्य और दयानन्द युग

कृष्णकुमार कौशिक

सन् १७५७ ईसवी में प्लासी के युद्ध ने बंगाल में ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रमुख प्रभुत्व स्थापित कर दिया। इसके सात वर्ष बाद अर्थात् १७६४ ई० में बक्सर की लड़ाई के उपरान्त अवध पर भी कंपनी का झन्डा फहराने लगा। १८०० ईसवी तक इस देश का बहुत बड़ा भाग कंपनी के अधिकार में आ चुका था। थोड़ा बहुत जो शेष रह गया था उसकी पूर्ति १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम ने (जिसे अंग्रेज इतिहासकारों ने गदर या सिपाही विद्रोह का नाम दिया था) कर दी।

इस तथाकथित विद्रोह के समाप्त हो जाने के बाद कम्पनी के काले शासन का भी अन्त होगया। शासन सत्ता कम्पनी के हाथों सेनिकल कर महारानी विक्टोरिया के पास चली गयी। दूसरे शब्दों में एक विदेशी शासन के विरुद्ध जनता के हृदय में सुलगने वाली आग कुछ समय के लिए शांत हो गयी। इस प्रकार सन् १७५७ ईसवी से लेकर १८५७ ईसवी तक के इन १०० वर्षों में अंगरेजों ने सम्पूर्ण भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था।

अंगरेजी रहन सहन तथा बोलचाल उस समय के भारतीय युवकों के लिए आकर्षण की वस्तु थी। धार्मिक मुसलमान और हिन्दू दोनों ही देश के नवयुवकों को पाश्चात्य के प्रभाव से प्रभावित होते हुए देखकर चिंतित थे। ऐसी दशा में सारे देश में दो विरोधी विचार धाराओं में संघर्ष छिड़ना आवश्यक था। राजा राममोहनराय और सर सैयद अहमद खां उसे दूरदर्शी नेता अंगरेजी शिक्षा और विलायती भाषा का समर्थन करके युग का नेतृत्व कर रहे थे।

यद्यपि ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी में ईसाई धर्म प्रचारकों ने दक्षिण भारत में ईसाई धर्म का झण्डा गाड़ दिया था पर अंग्रेजों के शासनकाल में उन्हें अपने धर्म प्रचार की खुली छुट्टी मिल गयी, अंग्रेजी रहन सहन को अपना कर लोग शरीर से ही अंगरेज बन रहे थे पर ईसाई पादरी इस देश की आत्मा को भी बदल देना चाहते थे। ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने इस देश की भाषाएं सीखी। और सभी भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद किए। उस समय तक देशी भांपाओं का एक भी व्याकरण नहीं था। उन्हें विदेशी होने के कारण इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता थी। अतः उन्होंने यहाँ की भाषाओं की व्याकरणों की रचना करके एक ऐसा महत्त्व पूर्ण कार्य किया जिसने आगे चलकर भाषा विज्ञान तथा भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन को जन्म दिया। हिन्दी भाषा में बाइबिल का अनुवाद जार्ज विलियम कैरे ने किया। इस अनुवाद में उन्होंने इस देश की भोली भाली जनता साधारण पढ़ी लिखी जनता को प्रभावित करने के लिए भाषा कथावाचक पंडितों जैसी रखी। बाईबिल के पुराने धर्म नियम में से इसका एक उदाहरण दिया जाता है।

"सारी पृथ्वी पर एक ही भाषा और एक ही बोली थी उस समय लोग पूर्व की ओर चलते-चलते शिनार देश में मैदान पाकर उसमें बस गये। तब वे आपस में कहने लगे कि आओ हम ईंटे बनाकर भली-भांति आग में पकाएं और उन्होंने पत्थर के स्थान में ईंट से और चूने के स्थान में मिट्टी के गारे से काम लिया। फिर उन्होंने कहा आओ हम एक नगर गुम्बद बना ले जिसकी चोटी आकाश से बातें करे।

जब लोग नगर और गुम्बद बनाने लगे तब यहोवा देखने के लिए उतर आया और यहोवा ने कहा सब एक ही दल के है और भाषा भी उन सबकी एक ही है।

इसलिए आओ हम उतर के उनकी भाषा में गड़बड़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानें कि वे एक दूसरे की बोली न समझ सकें। इस प्रकार यहोवा ने उन्हें वहाँ से सारी पृथ्वी के ऊपर फैला दिया।

इस कारण उस नगर का नाम बाबुल पड़ा क्योंकि सारी पृथ्वी की भाषा में जो गड़बड़ी है सो यहोवा ने वहीं से डाली।' उत्पन्ती पर्व ११

प्रचार की दृष्टि से लिखी गयी बाईबिल की भाषा को साहित्यिक नहीं कहा जा सकता। उसमें एक प्रकार का अखड़पन भी मिलता है तथा साथ ही साथ उनकी भाषाओं में शब्दों के अनगढ़ रूपों को देखने से जान पड़ता है कि उसमें गंवारूपन तथा कथावाचक पंडितों की कथा बाचने की शैली का समावेश जानबूझ कर किया गया है। यदि वह चाहते तो इस दिशा में अच्छा कदम भी उठा सकते थे साधारण पढ़े। लिखे हिन्दुओं को धर्म विमुख करने के लिए वह मेलों में जाजा कर ऐसे ट्रैक्ट भी बाँटा करते थे जिनमें वेद शास्त्रों की कड़ी आलोचना होती थी मत मत निरूपण, धर्म तुला, सतगुरु की खोज, आदि ट्रैक्ट जिन्हें अब भी ईसाई धर्म प्रचारक मेले-ठेलों में बांटा करते हैं उन्हें यदि ध्यान से पढ़ा जाय तो ऐसी बहुत सी बातें मिलेंगी जिनका उद्देश्य धार्मिक महा पुरुषों की निन्दा करके भोली भाली जनता को धर्म विमुख बनाना ही जान पड़ता है। सतगुरु निरूपण से एक उदाहरण लीजिए:—

वह सोचेगा कि मैं पाप से काहे को भयभीत होऊं मैं बुरा तो हूं परन्तु देवताओं से बुरा तो नहीं हूं वरन् उनसे कहीं भला हूँ। शिव के समान जाति से अप्रतिष्ठित तो नहीं हुआ ब्रह्मा की नाई कामातुर होके अपनी कन्या से कुकर्म नहीं किया। विष्णु के समान स्त्री को नहीं छला। इन्द्र के समान अपने गुरु की पत्नी को भ्रष्ट नहीं किया।

ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने सारे भारत में मिशन स्कूलों का जाल बिछा दिया। जिनमें उसी देश की देशी भाषाओं में अनिवार्य रूप से बाइबिल की शिक्षा भी दी जाती थी। उन्होंने पाठ्य विषयों को उन विद्यालयों के छात्रों को पढ़वाने के लिए यहाँ की देशी भाषाओं में पाठ्य पुस्तकों की रचना भी कराई थी।

हिन्दी के कुछ विद्वानों का यह कहना कि ईसाईयों ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा मानकर उसे अपने धर्म प्रचार का माध्यम बनाया था कुछ उचित नहीं जान पढ़ता क्योंकि उन्होंने जहाँ उत्तर प्रदेश के कुछ भाग में प्रचार करने के लिए हिन्दी को प्रचार का माध्यम बनाया वहां वहाँ उन्होंने बंगला, मराठी, पंजाबी, उर्दू, राजस्थानी, नेपाली, गुजराती, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं को प्रचार का माध्यम बनाया था। शायद भारत की कोई भाषा होगी जिसमें इसाई धर्म प्रचारकों ने बाईबिल का अनुवाद नहीं किया होगा।

ईसाई पादरियों के इस धार्मिक प्रचार के प्रभाव से तो इतने नहीं पर नये शासकों की बिरादरी में शामिल होने के लोभ से माईकिल मधुसूदन दत्त जैसे सुशिक्षित हिन्दू भी ईसाई धर्म में दीक्षित हो रहे थे। समुद्र पार जाने को धर्म विरुद्ध समझने वाले धार्मिक हिन्दुओं की कट्टरता के कारण बहुत से विलायत से शिक्षा प्राप्त करके लौटकर आने वाले हिन्दू विवश होकर शासकों का धर्म स्वीकार कर रहे थे।

यह परिस्थितियाँ थी जिन्होंने युग पुरुष दयानन्द के लिए कार्य क्षेत्र तैयार कर दिया था। अपनी लेखनी के द्वारा जो कार्य उन्होंने किया था, वही योरप में वहाँ की धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार मार्टिन लूथर ने किया था।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने वाले विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आंधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ सम्वत् १९०० में माना है इसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने आगे चलकर सम्वत् १९२५ से १९५० तक प्रथम उत्थान; १९५० से ७५ तक द्वितीय उत्थान १९७४ से अब तक तृतीय उत्थान मानकर इन तीन भागों में इस समस्तकाल को बांट दिया है। इन तीनों उत्थानों को अब हिन्दी के विद्वान् भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावादी युग का नाम, प्रदान करते हैं परन्तु १९२५ से पहले २५ वर्षों के युग को क्या कहा जाय यह एक प्रश्न हमारे सामने अभी तक बना हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे विचार में यही काल वास्तव में हिन्दी का प्रथम उत्पादन काल है। इसकी भूमिका ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने खण्डन मन्डनात्मक ट्रैक्टों के द्वारा आरम्भ करदी दी थी। ईसाई पादरी कबीर के समान जिस लक्कड़ भाषा में खण्डन, मन्डन कर रहे थे उसका उत्तर स्वामी जी ने जिस भाषा में दिया उसे हम ईट का जवाब पत्थर से देना ही कहेंगे। हिन्दी के विद्वान स्वामी जी की गद्यशैली की समीक्षा करते हुए उसके खण्डनात्मक रूप को ही लेते हैं। इस समीक्षा में वह सत्यार्थ प्रकाश से आगे नहीं बढ़ पाते। सत्यार्थ प्रकाश में भी केवल खण्डन मण्डन वाले प्रकरणों को लेकर स्वामी जी की गद्य शैली की समीक्षा करके रह जाते हैं।

कितना अच्छा होता यदि यह विद्यवान स्वामी जी के अन्य ग्रन्थों ऋग्वेद आदि भाष्यभूमि का तथा संस्कार विधि आदि पर भी एक दृष्टि डाल लेते। स्वामीजी के वेद भाष्य की भाषा का भी अध्ययन कर लेते। एक ही विद्वान् जब विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रकट करता है तो उसकी शैली भी विषयों के अनुरूप बदलती चली जाती है। यदि यह सत्य है तो स्वामी जी की भाषा शैली के भी सभी समीक्षकों को उनकी समस्त रचनाओं को सम्मुख रखकर उस पर अपना सही निर्णय देना पड़ेगा।

स्वामी जी को केवल एक धर्म प्रचारक मानकर उनकी गद्य शैली की समीक्षा करते समय उसकी उपेक्षा करना एक संकुचित दृष्टि कोण ही कहा जायगा। वास्तव में जिस गद्य शैली का प्रतिष्ठापक लोग भारतेन्दु को बताते हैं उसका शिलान्यास स्वामीजी ने ही किया था। यदि साहित्य, उपन्यास, नाटक कहानी, निबन्ध, आदि विद्याओं का श्रीगणेश भारतेन्दु तथा उनके युग के लेखकों द्वारा हुआ तो शास्त्रीय पद्धति से समीक्षा और व्याख्या करने की पद्धति का आरम्भ स्वामी जी और उनके युग के लेखकों के द्वारा हुआ। इस निर्विवाद सत्य को कौन नहीं स्वीकार करेगा।

स्वामी जी की लेखनी ने धार्मिक क्षेत्र में जो क्रान्ति की थी उसने भारतीय चिन्तन परम्परा को सर्वथा बदल दिया। उससे पूर्व ईसाई पादरी अपनी कठोर भाषा में वेदों तथा पुराणों की आलोअना करके भारतीय जनता के धार्मिक विश्वास को चोट पहुंचा रहे थे। संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण जनता उनके कुतर्कों का उत्तर दे सकने में असमर्थ थी। अतः समय की मांग थी कि कोई विद्वान् संस्कृत में लिखे गये हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों को बोलचाल की भाषा में समझा कर सर्व साधारण के लिए उनका अध्ययन सुलभ कर सके।

साथ ही एक प्रश्न यह भी था कि वह भाषा क्या हो? हमारा भारत जहां मराठी, बंगला, गुजराती, मलयालम तेलगू, कन्नड आदि सैकड़ों भाषाऐं बोली जाती हैं वहां इस भाषा सम्बन्धी समस्या को हल करना सुगम नहीं था। अपने प्रचार कार्य का श्री गणेश राष्ट्र भाषा हिन्दी में करके युग पुरुष दयानन्द ने युग को एक नई दिशा दिखाकर जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया उसके लिए उनका नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिए था। अपनी मातृ भाषा गुजराती होते हुए भी उनका हिन्दी में ग्रन्थ रचना करना यह स्पष्ट कर देता है कि वह हिन्दी को राष्ट्र भाषा के स्वर्ण सिंहासन पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उनका उद्देश्य केवल ग्रन्थ रचना ही नहीं था बल्कि समूचे भारत की बिखरी हुई कड़ियों को जोड़कर श्रृंखला का रूप देना भी था एक देश एक वेष, एक भाषा, एक धर्म, एक संस्कृति का जो मधुर स्वप्न उन्होंने देखा था वह उनके ग्रन्थों में ही मिल सकता है। अपने इस स्वप्न को साकार करने के लिए उन्होंने हिन्दी में ही ग्रन्थ रचना की।

एक ओर तो उनकी मातृ भाषा गुजराती थी और दूसरी ओर उनके पठन की भाषा संस्कृत थी ऐसी दशा में जितनी सुगमता से वह इन दोनों भाषाओं में लिख सकते थे उतनी सुगमता से हिन्दी में लिख सकना उनके लिए कठिन था फिर भी उन्होंने इन दोनों भाषाओं में रचना न करके हिन्दी के प्रचार व प्रसार में जो महत्त्व पूर्ण कार्य किया वह हमारे सामने है। हिन्दी भाषा को आर्य भाषा का नाम देकर देश की भावात्मक एकता की आधार शिला सर्व प्रथम उन्होंने ही रक्खी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी जी की क्रान्तिकारी लेखनी ने दो महत्वपूर्ण कार्य किए जिनमें एक था विपक्षियों का खण्डन दूसरा था प्राचीन संस्कृति की सुरक्षा। प्राचीन संस्कृत साहित्य के विविधि क्षेत्रों में जो आज अनुसन्धान सम्बन्धी कार्य हिन्दी भाषा के माध्ययम से हो रहे हैं उसका आरम्भ स्वामी जी की लेखनी के द्वारा ही हुआ था।

उनकी शैली की समीक्षा करते समय हमें यह भी ध्यान में रखना है कि उनके पीछे एक युग अभी तक चला आ रहा है। ऐसी स्थिति में स्वामीजी की गद्य शैली को समीक्षा करते समय केवल इतना कह देने से काम नहीं चलेगा कि वे एक धर्म प्रचारक थे : इसलिए उनका गद्य साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। यदि उदार दृष्टिकोण से हम उनकी शैली की समीक्षा करें तो हमें हिन्दी गद्य शैली को वर्तमान रूप देने वाले लेखकों में स्वामी जी को प्रथम स्थान देना पड़ेगा। प्राचीन संस्कृत वांङ्मय को जनता की भाषा में रखने वालों में स्वामी जी ही पहले भारतीय विद्वान् हैं। क्या यह हमारे लिए कम लज्जा की बात नही है कि इस कार्य को बहुत पहले विदेशी भाषाओं में मैक्समूलर, कीथ तथा मैग डानल जैसे विद्वान् प्रारम्भ कर चुके थे। स्वामी जी के कार्य क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व संस्कृत विद्वान् हिन्दी में कुछ लिखना भी अपमान समझते थे। अतः वे इस कार्य का श्रीगणेश कैसे कर सकते थे। हमारे प्राचीन ग्रन्थ दीमकों के भोजन बनते जा रहे थे। पश्चिमी देशों के विद्या प्रेमी विद्वान् दुर्लभ ग्रन्थ रत्नों की पांडुलिपियाँ मुंह मांगे दामों में खरीद कर अपने ग्रन्थागारों का गौरव बढ़ा रहे थे। स्वामी जी के वेद भाष्य छप जाने पर भारतीय विद्वानों में भी इन अमुद्रित ग्रन्थों को छपवाने तथा संग्रह करने की ओर रुचि उत्पन्न होना स्वाभाविक था। उनसे प्रेरणा पाकर भारतीय विद्वान् इस क्षेत्र में आगे बढ़े आज तो सभी विद्वान् यह स्वीकार कर रहे हैं कि हिन्दी के माध्यम से संस्कृत साहित्य के अध्ययन को सर्व सुलभ बनाने के सम्बन्ध में अब तक जितना भी कार्य हुआ है उसके पथ प्रदर्शक केवल स्वामी दयानन्द ही हैं। स्वराज का स्वप्न देखने वाले युग पुरुष दयानन्द के हृदय के भीतर भारत को स्वतन्त्र देखने की जो भावना काम कर रही थी उसका आभास उनकी इन पंक्तियों में मिल जाता है:—

यह आर्यवर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है इसलिए इस भूमि का नाम स्वर्णभूमि है। पारस मणि पत्थर सुना जाता है वह बात झूंठी है परन्तु आर्यवर्त देश ही सच्चा पारस मणि है जिसका लोहे रूपी दरिद्र विदेशी देश छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।

विषय को बोध गम्य तथा स्पष्ट करने के लिए स्वामीजी ते सर्वत्र इसी शैली का प्रयोग किया है विरोधियों का खण्डन करते समय उनकी भाषा अवश्य ही कठोर हो गयी है परन्तु यह सब होते हुए भी स्वामी जी की इस शैली को पंडितों की कथा वार्ता की भाषा कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता उसकी भी अपनी ही विशेषता है।

इस प्रकार स्वामी जी की शैली को हम प्रतिपादनात्मक, निर्वचनात्मक, वादात्मक इन तीन शैलियों में विभक्त कर सकते हैं। वेद मन्त्रों की व्याख्या जिस शैली में है वह निर्वचनात्मक शैली का उत्तम उदाहरण है। वह इस क्षेत्र में इस शैली के जन्मदाता कहे जायेंगे क्योंकि उनसे पूर्व किसी ने किसी भी भारतीय भाषा में यह कार्य सम्पादित नहीं किया था। प्रतिपादनात्मक शैली में उन्होंने अपने विषय को संस्कृत निष्ठ हिन्दी में सर्व साधारण के सम्मुख रखने का सफल प्रयत्न किया है। जबकि उनकी उनकी मातृ भाषा हिन्दी नहीं थी। वादात्मक शैली का प्रयोग उन्होंने विपक्षियों का खण्डन मण्डन करते समय किया है। इसमें उनके पथ प्रदर्शक ईसाई धर्म प्रचारक रहे हैं। फिर भी स्वामीजी की शैली ईसाई धर्म प्रचारकों की भाषा की अपेक्षा अधिक परिमार्जित और परिष्कृत है।

लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी इसमें प्रचुर मात्रा में मिलता है। उनकी इस शैली में भाषा की वक्रता और लाक्षणिकता देखते ही बनती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या गोसाईं तुलसीदास बलिया के भूमिहार थे?

डा० किशोरीलाल गुप्त

तुलसी जयंती सं० २०२९ के अवसर पर 'गोस्वामी तुलसीदास जीवन वृत्त और व्यक्तित्व' नामक ६८८ बड़े पृष्ठों की एक विशाल पोथी प्रकाशित हुई है। इसके लेखक हैं लिलकर जिला बलिया निवासी श्री कुलदीपी नारायण राय 'झड़प', मुद्रक हैं श्री कमला प्रसाद राय, जनता प्रेस, ४२ पथरिया घाट स्ट्रीट, कलकत्ता-६ तथा प्रकाशक हैं अ० भा० ब्रा० परिषद (बंग) ५० राम-कृष्णपुर लेन हवड़ा। ग्रंथ का मूल्य है ३१ रु० इस विशाल ग्रंथ का प्रतिपाद्य है—तुलसीदास जी को बलिया जिले के गंगा तट-स्थित एक गाँव राजापुर का रहने वाला भूमिहार ब्राह्मण सिद्ध करना। प्रासंगिक प्रति-पाद्य विषय हैं—स्वामी रामानन्द, प्रसिद्ध अष्टछापी कवि नंद-दास एवं महाकवि सेनापति को भी भूमिहार ब्राह्मण सिद्ध करना। झड़प जी द्वारा प्रस्तुत तर्क इस ग्रंथ में दिए तुलसी दास के जीवन वृत्त को प्रामाणिक बनाने में असमर्थ हैं। उनमें कोई दम नहीं है। हाँ, इस ग्रंथ से भूमिहारों के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी अवश्य प्राप्त हो जाती है। प्रस्तुत निबन्ध दो खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में जन्म स्थान पर विचार किया गया है और दूसरे खण्ड में जाति पर। पहले खण्ड में झड़प जी ने जो उपशीर्षक लगाए हैं, उन्हींके अन्तर्गत क्रमशः विचार प्रस्तुत किया गया है। दूसरे खण्ड में उन उपशीर्षकों को त्यक्त कर दिया गया है और चालीस विचार विन्दु प्रस्तुत किये गये हैं। यह न समझा जाय कि ये तर्क इतने ही हैं। झड़प जी ने अपने विषय पर पर्याप्त विचार किया है, यह दूसरी बात है कि इन विचारों से लोक-मत सहमत न हो।

(क) जन्म-स्थान विचार

(१) जन्मस्थान गंगातटस्थित राजापुर बलिया

१. यह भरत खण्ड समीप सुरसरि,
थल भलो संगति भली

२. बरु बारहिं बार सरीर धरौं,
रघुवीर को है तव तीर रहौंगो
भागीरथी बिनवौ कर जोरि,
बहोरि न खोरि लगै, सो कहौंगो

३. तुलसी तव तीर तीर, सुमिरत रघुवंश बीर,
बिचरत मति देहि मोह-महिप-कालिका

४. सिय सुरसरिहिं कहेउ कर जोरी
मातु, मनोरथ पुरवबि मोरी

५. धन्य सो देश जहाँ सुरसरी

६. सरित गंभीर वानीर दुहुँ तीर वर,
मध्य धारा विशद विश्व अभिरामिनी।
हरित पयंक पर शयित सर्पेश जनु,
सहस सीसावली स्रोत सुर स्वामिनी॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७ चेरो राम राय को, सुजस सुनि तेरो हर,
पायँ तर आइ रह्यों सुरसरि-तीर हौं ।

ये सभी अंश झड़प जी द्वारा उद्धृत हैं और इनसे यह निकालने का प्रयत्न किया गया है कि तुलसीदास का जन्म गंगा-तट पर हुआ था और यह गंगा-तट काशी के पूर्व में बलिया वाला है। छठे उद्धरण के 'सहस सीसा-बली स्रोत' का अर्थ किया गया है कि तुलसीदास के समय में बलिया के पास गंगा जी की सहस्र धाराएँ थीं। उक्त उद्धरण में गंगा के किसी एक खण्ड-विशेष का चित्र नहीं है, समग्र गंगा का चित्र है। गंगा की धारा गहरी है, दोनों ओर बानीर (वेंत, प्रतीक रूप में) है। बीच में गंगा की धारा हैं। लगता है नीली शय्या पर शेष नाग सो रहे हैं। शेष का रंग श्वेत है। सागर में जहाँ गंगा मिलती है, उसे गंगा सागर कहते हैं। यहां गंगा की सहस्र धाराएँ मानी जाती हैं। गंगा सागर में गिरने वाली गंगा की यही सहस्र धाराएँ शेष नाग के सहस्र शीश हैं। इनके अतिरिक्त तुलसीदास के बलिया में गंगा-तट पर जन्मने के सम्बन्ध में और भी कुछ लचर प्रमाण दिए गए हैं, यथा—

१. 'आक जवास पात विनु भयऊ'। झड़प जी के अनुसार यह दृश्य बलिया शाहाबाद में गंगा-सरयू के कछार में ही देखा जाता है। तुलसी के इस सर्वदेशीय कथन को एकदेशीय करना ठीक नहीं।

२. तुलसी तृन जल कूल को, निरबल निपट निकाज
कै राखै कै सँग चलै, बाँह गहे की लाज ।
दोहावली ५४४.

झड़प जी के अनुसार 'तुलसीदास ने किसी ऐसी बड़ी नदी के तट पर बाल्यावस्था बिताई थी, जिसका कगार ऊँचा होगा एक कगार की भूमि कँकरीली पथरीली अथवा बहुत कड़ी न होगी। ऐसी स्थिति बक्सर के पूरब में ही गंगा नदी की है। उधर गंगा का विस्तार भी शेषनाग के हजारों फणों के समान सुविस्तृत हो जाता है।'

क्या इस दोहे के आधार पर बलिया जिले के किसी राजापुर गाँव को तुलसी के जन्म स्थान होने का गौरव दिया जा सकता है ?

तुलसीदास जी हिंदू होने के नाते गंगा भक्त थे। काशी में उनके जीवन का अधिकांश बीता। अतः गंगा के प्रति उनका सामान्य हिन्दू-प्रेम विशेष-भक्त-प्रेम में बदल गया। आजतक किसी ने नहीं कहा कि तुलसीदास का जन्म गंगा जी के किनारे स्थित किसी गाँव में हुआ। झड़प जी ने जो दलीलें दी हैं, उनमें कोई तत्त्व नहीं। सातवे उद्धरण से तो स्पष्ट है कि तुलसीदास शिव की प्रशंसा सुन, उनकी चरण शरण में आकर, सुरसरि-तीर पर, काशी में रहने लगे थे, वे गंगा तट पर ज़न्मे नहीं थे।

गोसाईं जी गंगाजी के भक्त हैं। इससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि उनका जन्म गंगा तट पर स्थित किसी गाँव में हुआ था। गंगा का प्रेमी तो हर हिंदू है।

(२) शिव पीठ की निकटता

इस प्रकरण में झड़प जी का कहना है कि गोसाईं जी अनन्य राम-भक्त होकर भी परम शिव भक्त थे। इससे स्पष्ट है कि उनका जन्म किसी ऐसे कुल में हुआ जो शैव था। हमें इससे इनकार नहीं कि गोसाईं जी राम-भक्त के साथ-साथ परम शिव भक्त भी थे। पर हम उनके इस मत से सहमत नहीं कि तुलसी की जन्म-भूमि का सोरों, राजापुर, (बाँदा) और अयोध्या में होने की अपेक्षा भोजपुरी प्रदेश में होना अधिक संगत प्रतीत होता है, जहाँ काँट ब्रम्हपुर (शाहाबाद), छितौनी असेगा (बलिया) और मेंहदार ढोढ (सारन) में भगवान शिव के प्राचीन मन्दिर हैं। हिंदुस्तान का शायद ही कोई अभागा गाँव होगा जहाँ शिवालय न हो। जहाँ शिवालय नहीं हैं, वहाँ भी किसी नीम या पीपल के पेड़ के नीचे किसी पत्थर पर दो चार शिव लिंग अवश्य हैं और उन पर जल भी चढ़ाया ही जाता है। मन्दिरों में प्रायः शिव, गणेश, पार्वती, हनुमान जी की मूर्तियाँ एक साथ मिलती हैं, जो उदार विचार-धारा का ही प्रतीक हैं। तुलसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ भी पैदा हुए रहे होगें, वहाँ शिवालय का अभाव नहीं रहा होगा।

(३) भीतरी झलक

(१) हाथी हथि सारें जरे घोरे घोरसारही

—कवितावली सुन्दरकांड २३

झड़प जी के अनुसार हाथी, हथिसारें, घोरसारही, घोरे सभी भोजपुरी शब्द हैं और किसी राजा की विपत्ति का विवरण देते समय भोजपुरी लोककथाओं में इनका प्रयोग किया जाता है।

मैं अवधी भाषा-भाषी हूँ और ऐसी लोककथाएँ मैंने भी लड़कपन में सुनी हैं। ये सभी शब्द समान रूप से अवध में भी प्रचलित हैं।

(२) 'तेरी मरजी तें चलें चिचिनी चियाँ रें'

इमली की चियाँ सभी जगह होती हैं। हमारे यहाँ भी इमली के बीज को 'चीयाँ' ही कहते हैं। बलिया में यह सिक्के की तरह चलता है क्या? जहाँ तक बटुबलिया पैसे की बात है, हमने भी लड़कपन में इसे चालू सिक्के के रूप में देखा था—इसे गोरखपुरी पैसा या मोटका पैसा कहा जाता था।

(३) नाम राम रावरे तो चाम की सलाई है

—कवितावली उत्तर कांड ७४

झड़प जी का कहना है कि चौसा के पास हुंमायूं को एक भिश्ती ने मशक पर चढ़ाकर गंगा पार उतारा था। हुमायूँ ने प्रसन्न हो कर उसे एक दिन की बादशाहत दे दी थी और उसने चमड़े का सिक्का चलाया था। तुलसी दास बलिया वासी थे, इसीलिए उन्हें यह घटना मालूम थी और उन्होंने चाम का दाम चलाने की बात का उल्लेख किया है।

भिश्ती के चमड़े का सिक्का चलाने की बात ऐतिहासिक तथ्य है। यह अद्भुत कथा तो सारे हिंदुस्तान में वन की आग की तरह फैल गई होगी, और इस तथ्य को जानने के लिए तुलसी के बलिया में जन्म लेने की कोई आवश्यकता नहीं, वह भारत के हिन्दी भाषा भाषी किसी प्रदेश में जन्म लेकर यह बात जान सकते थे। वस्तुतः यहाँ इतिहास प्रसिद्ध इस घटना की ओर संकेत नहीं है। यह मुहावरा मात्र है। रीतिकालीन कवियों ने तो रूपगर्विता नायिकाओं के लिए चाम के दाम लगने की बात बराबर कही है। वे शृंगारी प्रयोग हैं, तुलसी का प्रयोग शांत-परक है।

(४) 'एक पूजें बाहु बल मूल तोरि फूल हैं'

—कवितावली सुंदरकांड ३०

झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी के जन्म के प्रायः पचास वर्ष पहले बलिया के राजा कर्णदेव ने सिकदर लोदी से युद्ध कर हिंदू जनता को उसके अत्याचारों से बचाया था। तब हिंदू नेताओं ने उनकी बाँहों की पूजा की थी। बलिया में जन्म लेने के कारण तुलसी इस कथा से परिचित थे, इसीलिए उन्होंने सीता का पता लगाकर वापस आने पर हनुमान की बाँहों की पूजा उनके साथियों से कराई है।

यह भी झड़प जी का शुद्ध भ्रम है। वीरों की पूजा की यह एक सामान्य पद्धति ही थी। गोवर्धन धारण के पश्चात श्री कृष्ण की भी पूजा हुई है। तो क्या यह कंसोपाटन (बलिया) के कर्णदेव की बाहु-पूजा के आधार पर हुई है?

सूरदास जी लिखते हैं—

सबै मिलि पूजौ हरि की बहियाँ
जौ नहिं लेत उठाइ गोवर्धन, को बाँचत ब्रज महियाँ
'कोमल कर गिरि धरयो घोष पर; सरद कमल की छहियाँ
'सूरदास' प्रभु तुम दरसन सौं, आनँद है सब कहियाँ

—सूरसागर पद १५८८

देव ने भी गोवर्धन-धारण के पश्चात् ग्वाल बालों द्वारा बलवीर की बाहों के भेंटने का वर्णन किया है—

तीर धरयो जु गहीर गुहा,
गिरि धीर धर्‌यो सु अधीर महा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूँछती पीर भरे दृग नीर,
त्यों एकै समीर करैं और सराहैं
छोर मिजै यक पोंछती चीर लै,
राधे रहैं तिरछो करि छाहैं
भेंटती भीर अहीरन की,
वर वीरज की बलवीर की बांहैं

—देवसुधा ४

(५) क गोंड़ गँवार नृपाल महि जवन महा महिपाल

—दोहावली

ख वेद धर्म दूरि गये, भूमिचोर भूप भए

—कवितावली उत्तर कांड १७७

झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी का संबंध ऐसे राज्य से अवश्य था, जहाँ गोंड, गँवार, नृपाल का राज्य था, जो चोरी चोरी राजा बन गया था। बलिया में उस समय हल्दी में ऐसा ही राज्य था, जो गोंडवाना से आया था और हल्दी की ब्राम्हण रानी को धोखा देकर राज्य छीन लिया था।

हल्दी का राज्य तो एक जमीदारी मात्र रहा होगा, जो इतिहास की दृष्टि से नगण्य है। तुलसी के ही समय में मध्य प्रदेश के एक विशाल भू-भाग गोंडवाना पर गोंड़ों का राज्य था। प्रसिद्ध गोंड रानी दुर्गावती अकबर बादशाह एवं गोसाईं तुलसी दास की समकालीन थी। तुलसी को निश्चय ही इसका पता रहा होगा।

(६) पुनः झड़प जी कहते हैं—

"यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो तुलसीदास जी ने अपने को आरा बलिया का निवासी होने की ओर स्पष्ट संकेत भी किया है। तुलसीदास जनकपुर की यात्रा में श्रीरामचन्द्र जी के साथ दिखाई देते हैं और उनकी अनन्य निष्ठा देख श्री रामचन्द्र जी उन पर अपनी कृपा दृष्टि डालते हैं—

सनमुख सबहि बिलोकत सबहि नीके।
कृपा से हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं॥

—गीतावली, बालकांड ७१

जिसे झड़प जी ने स्पष्ट संकेत कहा है, वह अत्यन्त दुर्बल है और स्पष्ट क्या अस्पष्ट संकेत तक नहीं है। भक्त सदैव अपने को इसी प्रकार अपने प्रभु के निकट रखना चाहता एवं कृपा पाना चाहता है। सीता जी के कहने पर राम जी ने तुलसी की विनय पत्रिका पर अपनी सही कर दी—क्या झड़प जी इसे ऐतिहासिक तथ्य कहना पसंद करेंगे ?

'तुलसीदास' अनुराग अवध आनंद अनुभवत तब को सो अबहुँ अघाई

—गीतावली बालकांड ३०

क्या इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने राम के बाल्यकाल के आनंद का अनुभव किया था और अब भी अयोध्या में रहकर उस आनंद का अनुभव कर रहे हैं तथा अयोध्यावासी हैं ?

अपने इष्ट से नैकट्य स्थापित करने के ही लिए तुलसीदास ने राम को स्थान स्थान पर तुलसी के प्राण पिआरे, तुलसी के जीवन धन, तुलसीदास के ईस आदि कहा है—

१. अवलोके भरि नयन आज तुलसी के प्रानपियारे

—गीतावली, बालकांड ६६

२. सकल सुकृत फल माता पिता के, जीवन धन तुलसी के

वही बालकान्ड ५६

३. सकल तनय चिरजीवहु, तुलसीदास के ईस

—राम चरित मानस बालकांड १९६

शृंगारी कविताओं में भी इसी प्रकार रीतिकालीन कविन्दों ने अनेक स्थलों पर जहाँ कवि छाप दी है, अपने पर नायकत्व का भी आरोप कर लिया है। उदाहरणार्थ केवल एक छंद उद्धृत किया जा रहा है—

चूमत पी को कपोल तिया,
तिय को पियहूँ अधरा रस चाखै।
अंक गहै 'हरिऔध' को कामिनि,
पी नवला को भुजा भरि भाखै।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपने जीवन प्रान समान,
लला को लली करिबे अभिलाखै।
लालहू नेहमयी नव बाल को,
आँखिन की पुतरी करि राखै।
रस कलस, पृष्ठ ६

(४) संप्रदाय और समाज

इस प्रकरण में झड़प जी का कहना है रामानंद जी ने अपने पंथ का प्रसार काशी में रहकर किया और उनके मत का व्यापक प्रसार केवल भोजपुरी प्रदेश में हुआ। सारन आदि जिलों में रामानंदी संप्रदाय के अन्तर्गत एक चतुर्भुजी उपवर्ग है, जो तुलसी संप्रदाय भी कहा जाता है। भोजपुरी क्षेत्र में रामानंद और रामनंदन नामों की अधिकता है। अतः रामानंद जी भोजपुरी क्षेत्र के ही निवासी थे।

स्वामी रामानंद जी का जन्म स्थान प्रयाग है, यह स्थापित सत्य है। फिर उन्हें भोजपुरी प्रदेश का निवासी कहना कहाँ तक ठीक है? रामानंदी संप्रदाय केवल भोजपुरी प्रदेश में व्यापक रूप से फैला, यह भी ठीक नहीं। अयोध्या रामानंदियों का गढ़ है। अयोध्या के ही मुसलमानों तक को रामानंद जी ने हिन्दू बना लिया था, जो संजोगी कहे गये। तो क्या यह धर्म-परिवर्तन विना प्रभाव के ही हुआ था?

झड़प जी का मत है कि तुलसीदास का जन्म ऐसे क्षेत्र में हुआ था, जहाँ राम की उपासना का व्यापक प्रचार था, जहाँ शिव, हनुमान, दुर्गा आदि को भी महत्त्व देते थे। ऐसा प्रदेश भोजपुरी क्षेत्र ही है, जिसके विषय में तुलसीदास की जन्मभूमि होने की सम्भावना की जा सकती है।

इस संबंध में निवेदन करना है कि संपूर्ण भारत भूमि में राम का व्यापक प्रभाव है। यहाँ तक कि व्रजमंडल में भी लोग परस्पर मिलने पर अभिवादन के लिए 'राम राम साब' (साहब)' ही कहते हैं।

झड़प जी के अन्य प्रमाण हैं—

(१) भोजपुरी प्रदेश में ही पुरोहिती को निंद्य वृत्ति माना गया है।

(२) भोजपुरी प्रदेश के ब्राह्मणों में ही सहिष्णुता और उदारता है और धार्मिक असहिष्णुता एवं छुआछूत संबंधी संकीर्णता कम मिलती है।

(३) भोजपुरी प्रदेश में राजा के लिए 'महता' और मंत्री के लिए 'प्रधान' शब्द प्रयुक्त होता है। इन शब्दों का प्रयोग रामानंद एवं कबीर ने इन्हीं अर्थों में किया है।

इन प्रमाणों की प्रामाणिकता पर प्रामाणिक लोग स्वयं विचार करें। मुझे तो इनमें कोई भी वास्तविकता नहीं दिखाई देती।

(५) भावना

झड़प जी के अनुसार भोजपुरी भावना और विचारों की छाप तुलसीदास जी की रचनाओं में प्रायः सब कहीं पाई जाती है। जिन्हें उन्होंने भोजपुरी भावना और विचार समझा है, वस्तुतः वे उतने सीमित दायरे में ही नहीं संकुचित हैं। वे अवध में भी व्याप्त हैं और अन्यत्र भी व्याप्त हो सकते हैं। इस प्रकरण में झड़प जी ने निम्नांकित उदाहरण दिये हैं—

(क) रामहि राम रटन करु जिभिया

इसे लड़कपन में मैंने भी अपने यहाँ अवध प्रांत में बराबर सुना है।

(ख) एक भोजपुरी गीत में रावण का आतंक एवं ऐश्वर्य वर्णन। मंदोदरी रावण को समझाती है। ऐसे कथन अन्यत्र भी हैं।

(ग) भोजपुरी प्रदेश में सवेरे उठने पर घड़ी रात रहते प्रभाती गाने का प्रचलन है—

'जागीं ए सिव शंकर सबेरे उठि'। मेरे पिता जी भी सवेरे उठकर नित्य गाते थे। यह गीत वे यों गाते थे—'सबेरे उठि जागऽहो बंभोला'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) भोजपुरी प्रदेश में गंगा जी सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाली मानी जाती हैं। उन्हें पियरी चढ़ाई जाती है और गंगा जी के गीत गाए जाते हैं। यह भोजपुरी प्रदेश की ही विशेषता नहीं है। अन्यत्र भी लोग गंगा के गीत गाते हैं और मनौती पूरी होने पर रोट और पियरी चढ़ाते हैं।

(ङ) एक भोजपुरी गीत में भक्त चिंतित है कि भगवान को क्या चढ़ाए, क्योंकि सभी चीजें जूठी हैं। यह भाव भी अन्यत्र खड़ी बोली में सुलभ है। "अजब हैरान हूँ भगवन्, तुम्हें कैसे रिझाऊँ मैं।"

(च) एक भोजपुरी शिव स्तुति—

"अपने भिखारी वन पतई चबाई ले
आन के देवे के धन कहां से ले आई ले।'

ऐसी शिव स्तुतियां भोजपुरी प्रदेश के बाहर भी प्रचलित हैं।

(छ) सीता का रूप वर्णन एक भोजपुरी गीत में। ऐसे रूप वर्णन हर प्रांत के लोक गीतों में मिलेंगे।

(ज) भोजपुरी प्रदेश में कूटि कहने का विशेष प्रचलन रहा है, इसी से तुलसी ने भी लिखा—

'तुलसी तेहि औसर लावनिता,
दस चारि नौ तीन इकीस सबै।'

सूर ने कूटों की एक पोथी ही 'साहित्य लहरी' नाम से रच दी। झड़प जी के इस तर्क के अनुसार सूर को निश्चित रूप से भोजपुरी प्रदेश में पैदा होना चाहिए।

(झ) सीता-हरण के पश्चात तुलसी के राम वन के पशु पक्षियों से सीता का पता पूछते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी
तुम देखी सीता मृग नयनी

झड़प जी ने एक भोजपुरी लोककथा दी है और कहा है कि उसी कथा के आधार पर तुलसी ने राम से यह पृच्छाएँ कराई हैं।

तुलसी के सामने भोजपुर की यह लोककथा रही हो, चाहे न रही हो—महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशी के पुरुरवा का विलाप अवश्य था।

(ञ) भोजपुरी प्रांत में बहुधा गुरु, गौ और जनेऊ की शपथ लेने का प्रचलन है। यह प्रचलन भोजपुरी प्रदेश के बाहर भी यत्र तत्र सर्वत्र है।

(ट) भोजपुरी प्रांत की स्त्रियाँ प्रायः कौवे से प्रवासी के आगमन के संबंध में सगुन कराती हैं। हिंदी भाषा भाषी प्रदेश की सभी स्त्रियाँ इस दृष्टि से समान हैं। भोजपुरी प्रांत को ही यह गौरव क्यों दिया जाय?

(ठ) भोजपुरी प्रदेश में प्रातःकाल लोग सूम का नाम नहीं लेते। यह बात भी सर्वत्र है। सूम ही नाम क्या, बुरे गाँव का भी नाम नहीं लेते।

(ड) भोजपुरी प्रदेश में काशीफल को कोंहड़ा कहा जाता है। हमारे यहाँ अवधी-भाषी-प्रदेश में भी। कुम्हड़ बतिया के तर्जनी देखते ही मुरझा जाने वाली बात भी प्रचलित है।

(ढ) भोजपुरी प्रदेश में स्त्रियाँ शीतलाष्टमी और शिशुओं की छठी आदि के अवसर पर दाहिने हाथ से दीवाल पर सात छाप लगाकर ऐपन बनाकर पूजा करती हैं। यह प्रक्रिया अन्यत्र भी है। मेरे पिता जी शीतला जी के सेवकिया थे, वे भी दीवार पर हाथ से ऐसे ऐपन बनाते थे।

(ण) विनय पत्रिका में गणेश की स्तुति के बाद सूर्य की स्तुति है। इसके संबंध में झड़प जी का यह मत है कि यह भोजपुर एवं बिहार में प्रचलित कार्तिक शुक्ल षष्ठी के सूर्यव्रत के प्रभाव स्वरूप है। सूर्य तो इतने जाग्रत देवता हैं कि इन्हें सूर्य नारायण कहा जाता है और प्रत्येक भक्त हिन्दू स्नानोपरांत सूर्य को अर्घ्य देता है। अतः इस आधार पर तुलसी को बलिया का भोजपुरिया नहीं सिद्ध किया जा सकता।

(ग) तुलसी हनुमान के भक्त हैं। झड़प जी के अनुसार भोजपुरी प्रदेश में हनुमान जी की पूजा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम प्रचलन है। विशेषकर भूमिहारों में। हनुमान जी भारत वर्ष में सर्वत्र पूजनीय हैं। भोजपुरी प्रदेश के भूमिहारों में ही नहीं।

६. आचार व्यवहार

झड़प जी के अनुसार राम चरित मानस आदि ग्रंथों के अनुशीलन से विदित होता है कि उनमें जिस प्रकार के आचार व्यवहार का वर्णन है, वे प्रायः भोजपुरी प्रदेश के आचार व्यवहार के अनुसार ही हैं। हास-परिहास, नातेदारों के भोजनकाल में मनोरंजनार्थ गाली गाना, पंचकौर निकालना, नहछू, बरात की तैयारी, विवाहोत्सव, पुत्रोत्सव, भोज आदि की विधियाँ भी सब वैसी ही हैं।

(क) बरात में दही चिउरा और मछली भेजने का उल्लेख रामचरित मानस में है।

झड़प जी के अनुसार यह भोजपुरी रिवाज हैं। झड़प जी यह भी मानते हैं कि यह रिवाज मिथिला में भी है। यह रिवाज मेरे अपने क्षेत्र में नहीं है।

(ख) भोजपुरी प्रदेश में कन्या पक्ष की ओर से बरातियों के पैर धुलाने की प्रथा है। रामचरित मानस में जनक ने दशरथ आदि के पैर धोए हैं। यह प्रथा हमारे यहाँ भी रही है। पर पैर धोने का काम नाई करता रहा है। अब इस प्रथा का उठान-सा हो गया है।

(ग) भोजपुरी प्रदेश में मछली की सौगात देना, मछली का दर्शन करना शुभ माना जाता है। मछली का शकुन तो प्रायः सर्वत्र माना जाता है। झड़प जी कहते हैं—तुलसीदास की जन्म-भूमि ऐसे प्रदेश में थी, जहाँ बड़े लोग मनोरंजनार्थ बंशी द्वारा मछली का शिकार करते हैं। कटिया में चारा लगाकर मछली फँसाने का काम सर्वत्र होता है, केवल भोजपुर में नहीं।

(घ) भोजपुरी प्रदेश में कुलीन ब्राह्मणों में पर्दा का प्रचार है, बुंदेलखंड एवं पश्चिम के ब्राह्मणों में नहीं। पर्दा मुसलमानी प्रभाव है और हिंदी भाषा-भाषी प्रदेश में प्रायः सभी बड़े लोगों में रहा है और अब भी है।

(ङ) भोजपुरी प्रदेश और बिहार में ही संबोधनार्थ 'बाबू' शब्द का व्यवहार होता रहा है। गोस्वामी जी ने भी 'बाबू' शब्द का व्यवहार साधुओं से कराया है यथा—

'आयसु, आदेश, बाबू'

—कवितावली उत्तरकांड १४०।

उक्त छंद में 'बाबू' नहीं है, 'बाबा' है।

(च) भोजपुरी प्रदेश में स्त्रियाँ दिए को आंचल से बुझाती हैं और आँचल पसार कर ही आशीर्वाद लेती देती हैं।

आँचल से दिया बचाने और दिया बुझाने दोनों का काम अन्यत्र सर्वत्र होता रहा है दिल्ली आगरा वाले रहीम भी यह जानते थे—

जो रहीम दीपक दसा, तिय राखत पट ओट
समय परे ते होत है, वाही पट की चोट।

हमारे यहाँ भी बहुएँ अपनी सासुओं एवं सासु तुल्या अन्यों के पैर आँचल पसार कर छूती हैं और आशीर्वाद लेती हैं। आँचर पसार कर आशीर्वाद देने की प्रथा भोजपुरी की विशेषता होगी ?

(छ) 'सदा सुहागिन होहु तुम' और 'अचल होय अहिवात तुम्हारा' कहकर आशीर्वाद देने का ढग भी भोजपुरी ही है। क्या यह तथ्य है ? अन्यत्र ऐसा आशीर्वाद नहीं दिया जाता ?

(ज) बनारस प्रांत और बिहार बंगाल में ब्रह्म हत्या घोर सामाजिक अपराध है। क्या हिंदुस्तान के किसी कोने में ब्राह्मण हत्या सामाजिक पुण्य है ? भारत भूमि में ब्राह्मण सर्वत्र पूज्य हैं।

(झ) जे वर्णाधम तेलि कुम्हारा।
सुपच बिरात कोल कलवारा।

झड़प जी के अनुसार ए जातियाँ भोजपुर में अधम मानी जाती हैं। इसीलिए तुलसी ने लिखा। अन्यत्र भी सर्वत्र नहीं, ए जातियाँ अधम मानी जाती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ञ) भोजपुरी प्रदेश में लोग रात में किसी स्थान पर बैठकर इतिहास पुराण कथावार्ता सुनते थे। यह स्थिति अन्यत्र भी है। रात में ही किसानों को फ़ुरसत मिलती है।

(ट) भोजपुरी प्रदेश में पुत्री के घर एवं गांव का अन्न जल ग्रहण करना उचित नहीं। यह बात अन्यत्र भी है।

(ठ) भोजपुर में अधिक अधीनता प्रकट करने के लिए कहा जाता है कि मैं आपके जूते तर का हूँ। बड़ों के पैर छूकर प्रणाम करने की परिपाटी है। स्त्रियाँ बड़ों के चरणों पर अंचल रोपती हैं। ये बातें सर्वत्र हैं, केवल भोजपुर में नहीं।

(ड) गोस्वामी जी द्वारा गोंड़ऊ शैली में पद-रचना तथा उसमें भोजपुरी शब्दों और प्रयोगों की अधिकता इस बात की सूचक है कि गोस्वामी जी की बाल्यावस्था भोजपुरी प्रदेश में व्यतीत हुई थी। गोंड और कहार अन्यत्र भी हैं और कहरवा प्रसिद्ध लोक गीत है, जो अवध में भी प्रचलित है।

(ढ) होली पर गधे की सवारी के जलूस भोजपुरी प्रदेश में निकाले जाते हैं। ऐसी मजाकिया चीजें अन्यत्र भी होती रही हैं। मेरे गाँव में भी काजल चूना पोतकर गधे की सवारी करने वाले के दर्शन होली पर किए जा सकते हैं।

(ण) भर जाति का केन्द्र भोजपुरी प्रदेश है। ऐसा नहीं माना जा सकता। यदि भर शब्द भार शिव से बना है, तो भारशिवों का राज्य विन्ध्याचल में था, जो भोजपुरी प्रदेश के बाहर है और अवधी भाषी क्षेत्र में है। हमारे भी क्षेत्र में भरों की पुरानी कोटें मिलती हैं।

(त) झड़प जी के अनुसार बैल लादने का प्रचार विशेष रूप से भोजपुरी प्रदेश में रहा है। बैलों पर वाणिज्य का कार्य बहुत होता था और संपूर्ण भारत में होता था। अब भी यत्र तत्र होता है। बरेली में तो मोटी बैल पर लादी लादते हैं—अन्यत्र गधे पर।

(थ) राय और साहि भोजपुरी प्रदेश में भूमिहारों के नामांत में प्रायः प्रयोग में आते हैं। पर ये दोनों राजा के सूचक शब्द हैं और अन्यत्र भी प्रयुक्त होते हैं।

(द) काहि जय जीअ बैठ सिर नाई

जय जीअ भोजपुरी प्रदेश के आशीर्वाद शब्द हैं ऐसा झड़प जी का कहना है। हमारे यहाँ भी ये शब्द 'जय हो', 'जीअऽ' (जियो) रूप में प्रचलित हैं।

(ध) तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत संवादों में स्पष्ट रूप से भोजपुरी प्रकृति की विशेषता है। शालीन के साथ शालीनता का एवं अधम के साथ अधमता का व्यवहार भोजपुरिया करता है। यह विशेषता केवल भोजपुरियों की नहीं।

(न) झड़प जी के अनुसार भोजपुरी प्रदेश में जन्म पर बधावा बजाने वाले स्वयं आते हैं, अवध में बुलाये जाते हैं। ऐसी कोई बात नहीं। वे व्यक्ति के हैसियत के अनुसार आते भी हैं और बुलाये भी जाते हैं।

(प) नहछू बरात के घर से चलने के समय होता है। यजोपवीत पर भी होता है और भोजपुर से बाहर के क्षेत्रों में भी होता है। हल्दी चढ़ना, कलस स्थापना, तेल चढ़ना, सभी बातें अवध में भी होती हैं। गाली भी प्रायः सर्वत्र गाई जाती है। इन बातों को भोजपुरी क्षेत्र की विशेषता मानना और इनके आधार पर तुलसी को बलिया में पैदा हुआ कहना समीचीन नहीं।

७. कृषि और खानपान

तुलसी ने एक दोहे में 'पाही खेती' का उल्लेख किया है—

पाही खेती, लगन बट, रिन कुब्याज, मग खेत
बैर बड़े सों आपने किए, पाँच दुख देत
—दोहावली ४७८

झड़प जी ने पाही खेती को पकड़ा है और बलिया जिले के गंगा सरयू के दियारे की खेती के कष्टों का वर्णन किया है तथा तुलसीदास को बलिया वाला बनाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और पाही बलिया का वैशिष्टय नहीं है। पाही खेती वह खेती है, जिसका किसान दूसरे दूर के गाँव में रहता है। हमारे यहाँ की एक लोकोक्ति है—

घर घोसिया मड़ियाहू पाही
लड़िका मरि गए आवाजाही

घोसिया माधोसिंह स्टेशन के पास वाराणसी जिले में कालीन का प्रसिद्ध निर्माण केन्द्र है और मड़ियाहूँ, जौनपुर जिले की तहसील है। स्पष्ट है इस पाही खेती से तुलसी को गंगा सरजू के संगम के निकट का निवासी नहीं सिद्ध किया जा सकता।

झड़प जी ने तुलसी की निम्नांकित उक्तियां उद्धृत की हैं और इनके सहारे इन्हें भोजपुरी प्रदेश का निवासी बनाने की कृपा की है—

१. तुलसी अति नीचे सुखाद,
ऊख नन्न अरु धान
अति ऊँचे भूधरन पर,
भुजगनि हो को थान
—दोहावली

२. ऐसी हठ जैसी गाँठ पानी परे . सन की
—क० उत्तरकांड

३. आपनो चना चबाइ हाथ चाटियतु है—क० उ०

४. मानत हौं चारि फल चारि ही चनक को
—क० उ०

५. फरइ कि कोदव बालि सुसाली—राम चरित मानस

६. सूखत धान परा जनु पानी—राम चरित मानस

७. सुचि सुन्दर सालि सकेली—क० उ०

८- होइहि जब कर कीट अभागा—राम चरित मानस

९. विविध विधान धान जरत बखारहीं—
क० सुन्दरकांड

क्या इनसे तुलसी किसी प्रकार भोजपुरिया बनाए जा सकते हैं ?

इसी प्रकार झड़प जी ने भाँग, सेतुआ, पीने का भी निरर्थक सहारा लिया है। भाँग तराई इलाके में स्वतः होता है। सारन जिले में ही नहीं, मैंने इसके पौधे मुजफ्फरपुर जिले में देखा हैं, साथ ही हरिद्वार में भी।

८. भाषा

पृष्ठ १७६-९९ तक झड़प जी ने तुलसी की भाषा में भोजपुरी वैशिष्ट्य दिखाने का प्रयास किया है, जो व्यर्थ है क्योंकि जितनी भी बातें कही गई हैं, वे सभी अवधी में भी पाई जाती हैं। अतः इस प्रकरण पर बल देना व्यर्थ है।

९. झलक

इस प्रकरण में निम्नांक्ति कथन हैं :—

१. संवादों में तुलसीदास की मातृ भाषा भोजपुरी की झलक है।

२. तुलसीदास कुलक्षणी थे, अतः 'मुलहा' कहे जाने लगे थे। इस प्रयोग के आधार पर इनका निवास स्थान काशी और बलिया के मध्य कहीं होना चाहिए।

३. राम बोला और हुलसी गुणपरक नाम भोजपुरी प्रदेश को विशेषता है। अतः तुलसी पूर्वीय भोजपुरी प्रदेश केनिवासी थे।

४. राम चरित मानस का रूपक प्रस्तुत करते हुए गोसाईं जी ने गंगा सरयू एवं सोन संगम का वर्णन किया है, जो इनके जन्म स्थान का सूचक है।

५. राम और तुलसी दोनों का गोत्र वसिष्ठ था। सीता और तुलसी की माता हुलसी का गोत्र गौतम था। इस लिए तुलसी ने कहा है—

तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को।

६. राम ने कहा है—

जन्म भूमि मम पुरी सुहावनि
उत्तर दिसि सरजू बह पावनि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झड़प जी के अनुसार प्रकारांतर से यदि इसे तुलसी की भी जन्म भूमि का संकेत मानें, तो सरयू जी बलिया से उत्तर को बहती है।

इन सब तर्कों में कितना बल है, इसपर पाठक स्वयं विचार कर लें।

१०. **हुलसी-स्थान**

किसी हुलसी सती का स्थान बलियानगर से ६मील पूरब गंगा तट पर स्थित है। यह हल्दी के पास है। झड़प जी का अनुमान है कि यह तुलसीदास की माँ का स्थान है, जो तुलसी के पिता के निधन होने पर सती हो गई थीं।

अवधी और भोजपुरी में ईकारांत स्त्रीलिंग व्यक्ति-वाचक संज्ञाएं जब संबोधित की जाती है, तो आदरार्थ उन्हें आकारान्त कर दिया जाता है। ईकारान्त संबोधन में कुछ अनादर की सी भ्रांति होती है। जैसे हे सजनी, न कहकर लोग हे सजना कह देते हैं। उसी प्रकार हुलसी का आदरार्थक रूप हुलसा होगा। हुलसी से हुलसा होगा, न कि हुलासो।

झड़प जी के इस हुलासो सती वाले विवेचन में भी मुझे कोई सार नहीं दिखाई देता

(ख) **जाति विचार**

तुलसीदास जी ब्राह्मण हैं। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी एक मत हैं। वे कौन से ब्राह्मण हैं—इसी में मतभेद है। उन्हें कान्यकुब्ज, सनाढ्य एवं सरयूपारीण कहा जाता है। बहुमत उनको सरयूपारीण ब्राह्मण मानता है। श्री कुलदीप नारायण राय 'झड़प' ने अपनी पोथी के पंचम अध्याय (पृ० २४५-३५६) में इन्हें भूमिहार ब्राह्मण सिद्ध करने का प्रयास किया है। झड़प जी का कहना है कि आदि काल में ही ब्राह्मणों के दो वर्ग रहे हैं। एक वर्ग वह जो पुरोहिती करता था और दूसरा वर्ग जो पुरोहिती को हीन वृत्ति मान कर उससे घृणा करता था। एक दान लेने वाला था, दूसरा दान न लेने वाला था। एक दीन हीन था, दूसरा वैभव-संपन्न। एक प्रतिग्राही था, दूसरा अप्रतिग्राही। एक निर्धन विपन्न किसान था, दूसरा संपन्न जमीदार। गोसाईं तुलसीदास जी इसी दूसरे वर्ग में उत्पन्न हुए थे और भूमिहार थे।

इस सम्बन्ध में मेरा कहना है कि सामान्यतया जिसको ब्राम्हण कहा जाता है, वह भूमिहार से सर्वथा अलग है। भूमिहार लोग ठाकुर कहे जाते हैं और उनके संस्कार ब्राम्हणों के कम, राजपूतों के अधिक हैं। बहुत पहले यह विभेद संभवतः नहीं था। चाणक्य ब्राम्हण माने जाते हैं, हैं वह भूमिहार। इनके वंशज बिहार में चनकिया बाभन कहे जाते हैं। बिहार में 'बाभन' और 'ब्राह्मण' दो वर्ग हैं। 'बाभन' भूमिहार का द्योतक है। ब्राह्मण और बाभन का या भूमिहार का यह विभेद मुस्लिम काल से प्रारम्भ होता है, जब मुस्लिम संपर्क के कारण भूमिहारों में ब्राह्मणों से विभिन्न संस्कृति का, रहन-सहन का, बोलचाल का विकास होने लगा। यहाँ तक कि भूमिहारों का ब्राम्हणों से अलग एक वर्ग ही हो गया और भूमिहार अब्राम्हण माने जाने लगे। यह तो आधुनिक युग में स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने, जो स्वयं भूमिहार थे, भूमिहारों को ब्राह्मण कहने का आन्दोलन चलाया और नामों के अन्त में शर्मा लगाने की चाल चलाई तथा भूमिहार लोग अपने को ब्राम्हण कहने लगे। तुलसीदास के युग में भूमिहारों की स्थिति क्या थी, राम जाने, वे ब्राम्हण कहलाते थे, या आज की ही तरह एक अन्य ब्राम्हणेतर जाति कहे जाते थे। हाँ, उनके मान, वैभव, ऐश्वर्य, संपन्नता में कभी भी कमी नहीं थी। न तब, न अब।

मुझे दूसरी बात यह कहनी है कि झड़प जी ब्राम्हणों की जो दो श्रेणियाँ मानते हैं—प्रतिग्राही और अप्रतिग्राही, वह भूमिहारों को अलग कर देने पर भी अपनी जगह पर ठीक है। भूमिहार तो अप्रतिग्राही हैं ही, ब्राह्मणों में भी अधिकांश अप्रतिग्राही ही हैं। झड़प जी ने प्रतिग्राही ब्राह्मणों को पुरोहित भी कहा है। ब्राह्मणों की संख्या बहुत है और उनमें से बहुत कम पौरोहित्य करते हैं। यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी ब्राम्हण केवल पौरोहित्य करने लगें, तो वे खाए बिना मर जायँ। अस्तु, भूमिहारों को अलग कर देने पर भी, ब्राह्मणों में दो वर्ग हैं—प्रतिग्राही और अप्रतिग्राही—ऐसे ही अप्रतिग्राही, संपन्न ब्राह्मण परिवार में तुलसी ने जन्म लिया, यह मानने में मुझे आपत्ति नहीं है। जिस अप्रतिग्राही, संपन्न, जमींदार ब्राह्मण वंश में, तुलसी ने जन्म लिया, वह ब्राम्हण वंश ही था, भूमिहार वंश नहीं, झड़प जी के सारे तर्क यही सिद्ध करने में लगे हैं कि तुलसी ने जिस कुल में जन्म लिया, वह अप्रतिग्राही जमीदार ब्राह्मण कुल था। ब्राह्मणों में से अधिकांश अप्रतिग्राही हैं—पुरोहित नहीं हैं—साथ ही ब्राह्मणों में भी बहुत से जमींदार हैं, संपन्न हैं। इसके उलटे सभी भूमिहार जमींदार नहीं हैं और न सभी एक से संपन्न ही। उनमें भी निर्धन एवं भूमिहीन लोग हैं। किसी युग में इनके पुरखा जमींदार रहे होंगे। यह विशाल भूमि न जाने कितनी बार टुकड़ों में बँटती चली आयी है और जो भूमि किसी युग में एक के आधीन थी, वही आज उसके वंशजों में हजार-हजार टुकड़ों में बँट गई है। अस्तु, झड़प जी ने तुलसी को भूमिहार सिद्ध करने के जो तर्क दिए हैं, वे ठीक नहीं। उनसे तुलसी भूमिहार नहीं सिद्ध होते। अप्रतिग्राही संपन्न ब्राह्मण मात्र सिद्ध होते हैं।

झड़प जी ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, उन्हें भी यहाँ संक्षेप में एक एक बार देख लेना असंगत न होगा। उनकी आलोचना करना भी व्यर्थ ही है।

(१) तुलसी प्राकृत जन का गुण गान अनुचित मानते थे। अतः वे किसी के चाटुकार नहीं थे और पुरोहित स्वभाव की कसौटी पर नहीं उतरते। उनका स्वभाव अप्रतिग्राही ब्राह्मणों के अनुवंशिक स्वभाव से मिलता है। निर्भीकता और स्पष्टवादिता उनकी विशेषता है।

(२) तुलसी ने स्पष्ट रूप से पुरोहिती की निन्दा की है। दान लेने की निन्दा में तो उन्होंने यहाँ तक कहा है—

तुलसी दान जो देत है, जल में हाथ उठाय
प्रतिग्राही जीवै नही, दाता नरके जाय।
—दोहावली ५३३।

अतः वे पुरोहित वर्ग के नहीं थे।

(३) विनय पत्रिका में तुलसी ने अपना पेशा निम्नांकित प्रकार बताया है—

मध्य वयस धन हेतु गँवाई,
कृषी बनिज नाना उपाय।

स्पष्ट है तुलसी का पेशा कृषी था, जो भूमिहारों का प्रमुख पेशा है।

(४) तुलसीदास ने ऐसे अनेक शब्दों का व्यवहार किया है, जो जमींदारों और कृषकों के यहाँ ही व्यवहार में आते हैं—यथा—मिलिक, कारनिक, नापजोख, खेत का धोखा।

(५) पुरोहित वर्ग का ब्राह्मण शिकार-प्रिय नहीं होता। तुलसी ने रामचन्द्र के मृगया विहार के जो स्पष्ट चित्र अंकित किए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वे कभी न कभी शिकार खेलने वालों की मंडली में अवश्य सम्मिलित हुए थे और उसे भलीभाँति देखा था। शिकार एवं शिकारियों की प्रकृति और व्यवहार से वे पूर्ण परिचित थे।

(६) अनुचित बातों पर उत्तेजित हो उठना जमींदार ब्राह्मणों का गुण है। तुलसी परम उदार थे, फिर भी उनमें यह जातीय गुण है—

हम लखि, हमहिँ हमार लखि,
हम हमार के बीच
तुलसी अलखहिँ का लखै,
राम नाम जपु नीच

(७) जमींदार ब्राह्मणों की एक विशेषता अच्छी व्यवस्था-बुद्धि और राजनीति में पटु होना भी है। इसी को 'भूइँहरई' कहते हैं। सारे संसार को सियाराम मय देखने वाले तुलसी ने भी राजनीतिक व्यवहार में कूटनीति को बुद्धिमानी कहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संबु सयानो सलिल ज्यों,
राखि सीस रिपु नाव
बूड़त लखि, पग डगत लखि,
चपरि चहूँ दिसि घाव
—दोहावली ५२०

तुलसी केवल सरलता को दोष मानते हैं।

(८) तुलसी के आराध्य इष्टदेव अस्त्रशस्त्र धारी, कानन-चारी, लोकमर्यादा की रक्षा में तत्पर तपस्वी वेषधारी असुरारी राम हैं। बोल को अटल, बाँह को पगारु, दूबरे को दानी, दिबोई भावै, मारि कै मार थप्यो, भट ठाकुर की रीझि आदि के द्वारा गोस्वामी जी ने अपने वंश परमंरागत गुणों का ही दर्शन कराया है।

(९) दान के विषय में तुलसी का मत है कि जैसे तैसे देना ही चाहिए। जो दान देने में असमर्थ है, उसे भी चाहिए कि वह किसी से कुछ न ले। अप्रति-ग्राही ब्राह्मण वर्ग में प्रायः यह प्रवृत्ति आज भी पाई जाती है।

(झड़प जी को शायद जानकारी नहीं है कि तीर्थराज प्रयाग के सारे पंडे जो प्रयागवाल कहलाते हैं और दान लेते हैं, भूमिहार ही हैं)।

(१०) भूमिहार ब्राह्मणों के मूलस्थान धर्मारण्य (कान्य-कुब्ज प्रदेश का मदारपुर) में ही प्राचीन काल से गणेश, सूर्य, धर्मराज, देवी, हनुमान, नृसिंह आदि देवताओं की पूजा प्रचलित थी। इसीलिए यदि तुलसीदास ने विनय पत्रिका में सर्व प्रथम क्रमशः गणेश, सूर्य, देवी, हनुमान, गंगा और जमुना के व्याज से धर्मराज आदि देवताओं की वंदना की है, तो इसका अभिप्राय यह है कि इसका सम्बन्ध उनके परपंरागत (भूमिहार)—कुलाचार से है।

(इन देवी देवताओं की पूजा तो समस्त हिन्दुओं द्वारा होती है—भूमिहार ही इनकी पूजा नहीं करते।)

(११) तुलसी ने पार्वती मंगल, जानकी मंगल नामक मंगल ग्रंथों की रचना भूमिहार कुलाचार से प्रेरित होकर स्त्रियों के निमित्त की। झड़प जी के अनुसार भूमिहारों में विवाह के अवसर पर सर्व प्रथम शिव विवाह के ही गीत गाए जाते हैं।

(शिव और गौरी समस्त हिन्दुओं के पूज्य देव हैं और इनके गीत किस हिन्दू समाज में मांगलिक अवसर पर नहीं गाए जाते ?)

(१२) झड़प जी के अनुसार तुलसी वर्णित विवाह की पद्धति एवं आचार भूमिहार ब्राह्मणों के आचार एवं पद्धति के मेल में है, अतः तुलसी भूमिहार थे। झड़प जी ने इन आचारों का कुछ विस्तार से वर्णन किया है, जिसकी चर्चा यहाँ व्यर्थ है। ये आचार प्रायः सभी उच्च वर्गीय हिन्दुओं के यहाँ विवाह काल में देखे जा सकते हैं।

(१३) गो० तुलसीदास ने स्पृश्यास्पृश्य के संबंध में अपनी रचनाओं में जैसे उदार भाव व्यक्त किए हैं, उससे भी उनके पुरोहित वर्गीय ब्राह्मण होने का मेल नहीं बैठता। तुलसी ने वशिष्ठ द्वारा निषाद को गले लगवाया है, शबरी द्वारा राम का—आतिथ्य कराया है। गृद्ध की अंत्येष्ठि कराई है, ब्राह्मण द्वारा शूद्र को शिक्षा दिलाई है। स्वयं तुलसी ने श्वपच को गले लगाया और गौ—हत्यारे के हाथ भोजन किया।

(१४) परंपरागत कुलाचार का पालन जमींदार ब्राह्मणों की विशेषता है और तुलसी ने परंपरागत कुला-चारों का पालन कराया है।

(१५) भूमिहार ब्राह्मणों में परदा है : तुलसी में भी—
सीस उघारन किन कहयो—दोहावली २५४

(१६) राम के बन चले जाने पर अयोध्या की दशा—

लागति अवध भयावनि भारी
मनहूँ काल राति अँधियारी

यहाँ 'कालराति' का अर्थ प्रलय की रात्रि नहीं है, भादों की अमावस्या है। बिहार में शाहाबाद और सारन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिलों के मनेरिया और एकसरिया भूमिहार बाभनों के यहाँ कालरात्रि की पूजा का विशेष रूप से प्रचार है, जो उक्त तिथि को होती है, ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि तुलसी का सामान्यतया भूमिहार ब्राह्मण समाज से घनिष्ठ संबंध था।

(१७) भूमिहार ब्राह्मण परंपरा या रामोपासक थे तथा हनुमतपूजक भी, इसीलिए तुलसी रामोपासक एवं हनुमत पूजक हुए।

(राम और हनुमान समस्त हिंदुओं में पूजित हैं)

(१८) धूत कहौ, अवधूत कहौ,
रजपूत कहौ,जोलहा कहौ
कोई काहू की बेटी से बेटा न ब्याहब,
काहु की जाति बिगार न सोऊ।

झड़प जी के अनुसार ये सारे गुण भूमिहारों के हैं—धूत=धूर्तता या मुंडहरई। अवधूत=रामानंदी संप्रदाय का वैरागी, जो सैनिक भी होता था, रामानन्द स्वतः भूमिहार थे। रजपूत=सैनिक वृत्ति। जोलहा=मुसलमान, मुसलमानों से संपर्क रखनेवाला। किसी की बेटी से अपना बेटा ब्याहना=सरयूपारीण ब्राह्मणों की बेटियाँ भूमिहारों में आती हैं। अतः स्पष्ट है कि तुलसीदास रामानंदी परंपरा के जमींदार भूमिहार ब्राह्मण थे।

(१९) पुराहित वर्ग के ब्राह्मण अरबी फारसी पढ़ते थे, न इन भाषाओं के शब्दों का उच्चारण करते थे, जन-भाषा में रचना करना अपनी हेठी समझते थे। इसके विपरीत जमींदार वर्ग के ब्राह्मण मुसलमान शासकों के सम्पर्क में थे, अतः फारसी पढ़ते थे और इनकी भाषा में अरबी फारसी के शब्दों का मिश्रण हो जाता था।

तुलसीदास की भाषा में अरबी फारसी के शब्द हैं, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२०) राम चरित मानस में परशुराम लक्ष्मण संवाद, हनुमान रावण संवाद, अंगद रावण संवाद में जिस हाजिर जवाबी, निर्भीक कथनशैली और वाक्पटुता का दर्शन होता है, वह जमींदार ब्राह्मणों की जातीय विशेषता के अनुसार है।

(२१) तुलसी-शिष्य रामू द्विवेदी ने 'प्रेम रामायण', में तुलसी को 'कुल शील सीमा' कहा है। झड़प जी के अनुसार यह कुल-शील-सीमा' भूमिहारों में ही सीमित है, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२२) घट रामायण के रचयिता तुलसी साहब ने गोसाईं तुलसीदास को कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहा है। पूर्व में कान्यकुब्ज ब्राह्मण नहीं होते। पूर्व के भूमिहार ही मूलतः कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। अतः तुलसी कान्यकुब्ज अर्थात भूमिहार ब्राह्मण थे। 'भक्त कल्पदुम' में राजा प्रताप सिंह द्वारा तुलसी को कान्यकुब्ज लिखने का भी यही रहस्य है।

(२३) हिन्दू संस्कृति ब्राह्मण संस्कृति है। गोसाईं जी भी सबसे पहले ब्राह्मण की,—महिसुर की, वन्दना करने-वालों में है। ब्रह्मशक्ति समाज की पोषक है। इसमें क्षात्र-शक्ति का समन्वय भी उचित है। गोस्वामी जी ने ब्रह्म-तेज और क्षात्रशक्ति का जो समन्वय कर उसका लोक कल्याणकारी रूप प्रस्तुत किया है, उससे ऐसी वंश-परम्परा के प्रति आकर्षण प्रकट होता है, जो इन दोनों शक्तियों से युक्त है—

सापत ताड़प परूष कहंता
विप्र पूज्य अस गावहिं संता

'शापादपि शरादिप' दोनों की शक्ति भूमिहार में ही है, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२४) भूमिहारों को जो पत्र लिखे जाते रहे हैं, उनके सिरनाये हैं—

"स्वति श्री·····सर्व उपमा योग्य नाम उदित, परम पुनीत, नीति निपुण, सामर्थ्य, भार गुन गरिष्ट, मर्यादा सागर, गऊ ब्राह्मण के रछपालक, धर्मावतार' आदि। झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी ने राम-स्तुति में जो 'गो द्विज हितकारी' 'श्रुति सेतु पालक' आदि विशेषण रखे हैं, वे भूमिहारों के पत्रों में लिखी जाने वाली सिरनामे की प्रशस्तियों से ही प्रेरित हैं।

(२५) 'जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागि बस,
खाए अन्न सब के विदित बात दुनी सो।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि तुलसीदास सामान्य या पुरोहित वर्ग के ब्राह्मण होते, तो उन्हें स्वजाति और सुजाति क्या, कुजाति का भी अन्न खाने में ग्लानि न होती, अतः वे किसी विशिष्ट कुलीन जमींदार ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे।

(२६) राम कथा का समापन करते हुए गोस्वामी जी ने काकभुशुंड द्वारा भक्ति का महत्त्व बतलाते हुए जिस आदर्श—चरित्र का विवरण दिया है, वह जमींदार-ब्राह्मण आदर्श के अनुरूप ही है—

सोइ सर्वज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता
सोइ महि मंडित पंडित दाता

महि मुडित=स्कन्द पुराण का 'महि मन्ड' =लक्ष्मणाचार्य का भूमि-भूषण=भूमिहार।

(२७) गोस्वामी जी ने मंडप की सजावट, बरात का ठाटबाट, पुत्र-जन्मोत्सव, दान दहेज, उत्तर-प्रत्युत्तर और युद्धों का जैसा सजीव वर्णन किया है, उससे वे जमींदार वर्ग के ही ब्राह्मण सिद्ध होते हैं।

(२८) कै जूझिबो कि बूझिबो, दान कि काय कलेस
चारि चारू परलोक पथ, जथा जोग उपदेस
—दोहावली ४५१

इस दोहे में बूझिबो के पहले जूझिबो आया है, अतः तुलसी भूमिहार या जमींदार वर्ग के थे।

(२९) सब अंग हीन, सब साधन विहीन,
मन बचन मलीन, हीन कुल करतूति हौं
बुधि-बल-हीन, भाव-भगति-विहीन,
हीन-गुन, ज्ञान-हीन, भाग ही विभूति हौं।
—कवितावली उत्तरकान्ड ६९

वैभव रहित होने के कारण कुलाचार में विरोध पड़ने की बात जमींदार ब्राह्मण ही कह सकता है, क्योंकि उसी के कुलाचारों का सम्बन्ध वैभव पर अवलंबित है। (औरों के कुलाचार क्या फोकट में हो जाते हैं?)

(३०) [क] बार-बार लालच धरनि धन-धाम की
—कवितावली उत्तरकाण्ड १३४
[ख] जाय तो न जरनि धरनि धन धाम की
—वही, ११९

इस कथन से साफ प्रकट है कि गोस्वामी जी का जन्म एक भूम्याधिकारी, संपत्तिशाली और प्रतिष्ठित वंश में हुआ था, किन्तु इनका सब कुछ दूसरों ने ले लिया था, जिसका क्षोभ साधु होने पर भी उनके मन से दूर नहीं हो पाता था।

(३१) राम सोहातो तोहिं जो, तू सबहि सोहातो
काल कर्म कुल कारनी कोंऊ न कोंहातो
—विनय पत्रिका १५१

गोस्वामी जी का जन्म एक परम्परागत जमींदार परिवार में हुआ था। यहाँ कारनी (कार्णिक=जमींदारी का पट्टा देने वाला रजिस्ट्रार) का उल्लेख इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर देता है।

(३२) 'हाथी स्वान लेवादेई' का सम्बन्ध जमींदार को छोड़ और किससे हो सकता है?

(३३) कृष्ण गीतावली के पद ३२ में मिलिक, बैरख, नकीब आदि शब्द सरकार सम्बन्धी हैं। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग जमींदार ब्राह्मणों द्वारा होना ही सम्भव है, क्योंकि उनका राजकाज से सम्बन्ध था।

(३४) तुलसी की माता 'हुलसी सती' कस्तुवार भूमिहार ब्राह्मण वंश की बताई जाती हैं।

(३५) तुलसी की ससुराल इलाहाबाद जिले में टोंस और गंगा के संगम पर स्थित पनासा के हीरापुरी पाण्डेय वंश में थी, जो भूमिहार वंश है।

(३६) तुलसी का भदैनी (काशी) के टोडर से नाता-रिश्ते का घनिष्ट सम्बन्ध था। उक्त टोडर भूमिहार थे।

(३७) गो० तुलसीदास को जमींदार ब्राह्मणों ने आश्रय दिया, उनकी रामायण और रामलीला का प्रचार किया कराया तथा उनके द्वारा श्री हनुमान जी के विग्रह स्थापित कराए। यहाँ तक नहीं, उनके नाम पर स्मारक खड़े करने वाले, उनकी स्मृति में ग्रन्थ रचना करने वाले इसी समाज के लोग हैं। श्री तुलसीदास की निवास भूमि अयोध्या, काशी, चित्रकूट, राजापुर आदि में इसी समाज के लोगों ने अनेक कृतियाँ खड़ी कीं। उक्त स्थानों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी समाज के लोग आज भी आच्छादित किए हुए हैं, जबकि वे प्रायः (काशी छोड़कर) उन क्षेत्रों के निवासी नहीं हैं। प्रायः तुलसीदास द्वारा राजापुर का मन्दिर भी काशिराज द्वारा निर्मित कराया गया कहा जाता है। स्पष्ट है कि तुलसीदास से भूमिहार—ब्राह्मणों का कुछ विशेष लगाव और अपनत्व रहा है; जो वंशगत होना सिद्ध है। स्वजातौ परमा प्रीतिः।

(३८) गीतावली में राम राज्यभिषेक का वर्णन है—

वेद पुरान विचारि लगन सुभ,
महाराज अभिषेक कियो
'तुलसीदास' जिय जानि सुअवसर;
भगति-दान तब माँगि लियो।

झड़प जी के अनुसार "तुलसीदास ने वेद पुराण को विधि से शुभ लग्न में (राम का) राज्याभिषेक किया"।

स्पष्ट है कि तुलसीदास अपने को वसिष्ट का प्रतिनिधि अर्थात वंश परम्परा में होना मानते हैं अर्थात् वशिष्ट गोत्रीय हैं।

'तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को,

के अनुसार भी तुलसी वशिष्ट गोत्रीय थे।

(३९) तुलसी वशिष्ट गोत्रीय थे, उनकी ननिहाल गौतम गोत्र में थी और ससुराल भरद्वाज गोत्र में। इन सभी भूमिहार कुलों के कुलदेवता शिव हैं, अस्तु तुलसी की शिव-भक्ति उनकी कुल-परम्परा से सम्बन्धित है।

(४०) गोस्वामी जी की वंशगत उपाधि ठाकुर रही होगी। इसके लिए दो उद्धरण झड़प जी ने दिए हैं—

१. ठाकुर महेश ठकुराइन उदासी जहाँ
—कवितावली उत्तरकांड

२. ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो
—विनय पत्रिका

अपने मित्र टोडर को भी गोस्वामी जी ने ठाकुर कहा है। इससे ठाकुर आस्पद के प्रति इनकी आस्था प्रकट होती है और अपनत्व भी। यह ठाकुर तीन अर्थ देता है, ब्राह्मण, नाई और राजपूत—

ठाकुर ठाकुर तीन ठाकुर
बाभन ठाकुर, नाऊ ठाकुर, ठाकुर ठाकुर

तो तुलसी बाभन (भूमिहार) ठाकुर थे।

उपसंहार

झड़प जी ने ९ शीर्षकों में तुलसीदास के जन्म-स्थान पर विचार किया है। उनके निष्कर्ष कई हैं—

१. तुलसीदास का जन्म भोजपुरी प्रदेश में कहीं हुआ।
२. तुलसीदास का जन्म काशी और बलिया के बीच कहीं हुआ।
३. तुलसीदास का जन्म पूर्वीय भोजपुरी प्रदेश में हुआ।
४. तुलसीदास का जन्म गंगा सरयू संगम के निकट कहीं हुआ।
५. तुलसीदास की जन्मभूमि गंगातट-स्थित राजापुर गंगौली (गंगा तट का गाँव) है, जो बलिया नगर से नौ मील पूरब है।

बलिया के इस राजापुर के लिए कोई विशेष प्रमाण जुटाने की आवश्यकता नहीं समझी गई है। बाँदा जिले के राजापुर नाम को ही आधार मानकर इस राजापुर को तुलसी की जन्मभूमि मानने की कष्ट—कल्पना की गई है। बाँदा का राजापुर तुलसी की जन्मभूमि माना जाता रहा है। अतः तुलसी की वास्तविक जन्मभूमि का नाम राजापुर होना चाहिए। यह विचार धारा झड़प जी के मन में है। भरत-भूमि विशाल है। इसमें सैकड़ों राजापुर एवं सैकड़ों तुलसीपुर हो सकते हैं और हैं। वे सभी राजापुर न तो तुलसी के बसाये हुए हैं और न तुलसी की स्मृति में तुलसीपुर ही अन्यों द्वारा बसाये गये हैं।

जहाँ तक जाति वाली बात है, तुलसीदास ब्राह्मण थे, अप्रतिग्राही ब्राह्मण थे, जमींदार ब्राह्मण थे, पुरोहित कर्म के नहीं थे—सब ठीक, पर वे भूमिहार ब्राह्मण थे यह प्रबल रूप से सिद्ध नहीं किया जा सका है।

झड़प जी ने अपुष्ट, उपहासास्पद, दुर्बल तर्क पचासों दिए हैं। अच्छा होता दो ही चार तर्क दिए होते, वो परम पुष्ट होते और जो लोगों को इस दिशा में सोचने के लिए विवश कर देते।

...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Technical Heritage of Ancient early and medieval India - a new light

By Dr. D.N. Shukla

Vedic Foundations—Upa-Vedas, the Founders of Technical Sciences :

In India there was hardly any line of demarcation between Science and Art, and Science without philosophy had no meaning for us. Hence our lore was an integrated whole. As there were Vedas, there were also Upa-Vedas and these Upa-Vedas were the founders of the Technical Sciences and Fine Arts in India. Let me briefly enunciate this proposition.

While Vedic studies relating to the four Saṁhitās, their Brāhmaṇas, Upaniṣads and the Auxilliary Sciences, the Vedāṅgas Śikṣā, recitation (articulation and pronunciation); Chandas, metrical science or the science of ryhthms; Vyākaraṇa, Grammar; Kalpa, ritual;Nirukta hermeneutics, etymology; Astronomy-astrology have born fruitful investigations in realm of Oriental Studies in India and abroad, no serious and concentrated study has ever been bestowed upon our Upa-Vedas. There are numerous references to Upa-Vedas like Dhanurveda, Military Science; Gandharva-Veda, Science of Music; Artha-Veda and Sthāpatya-Veda, etc. etc. in the literature, but where are their texts and treatises ? Are we to suppose that they are all consumed to oblivion due to the neglected study of this technical heritage ?

In military Science, besides immortal classic of Kauṭilya, there are certain later treatises also like Kodaṇḍamaṇḍana, Ornament of the Bow, the Dhanu, the science and art of archery written by the Encyclopaedic and reputed author, King Bhojadeva of Dhara who is credited to have exhausted practically all the main branches of literature, Grammar, Rhetoric, Aesthetics, Architectures, Medicine and Philosophy—vide more than 3 dozen of massive treatises on these subjects attributed to his authorship. As regards the later technical treatises on Music, Dance Śilpa Drama, Kalās,[1] Kama, Astronomy and Medicine they are well known to us. My purpose, therefore, is to make a passionate plea to start investigations into this branch of knowledge which is not only very appropriate in the present misunderstanding if Ancient India had ever a material culture depending upon the material sciences, posititve, technical and pure.

Brajendra Nath Seal took a lead in writing a monumental monograph "The Positive Sciences of the Ancient Hindus", but his investigations, as he himself claims relate to rather post-Vedic period 500 B. C. to 500 A.D. As regards the technical sciences like Vāstu and Śilpa, my humble contributions are also known to the scholars.

My contention is that if there were Vedas representing ritual, religion and philosophy, there were also Upa-Vedas, founding the material sciences—technical as well as positive. Hindus had founded both the Vidyās, the Parā and the Aparā. Every Veda has an Upaveda. Āyurveda, the science of medicine (including Chemistry, Botany and Physiology) was attached to Ṛgveda. Similarly, Dhanurveda, the Military Science was attached to Yajurveda, Gandharva-Veda and Sthāpatya-cum-Artha-Veda to Sāma & Atharva respectively. This Artha-Upaveda represents Social organisation and State-craft. We know of the Arthaśāstra of Kauṭilya, the most reputed treatise on polity and war-strategy. Thus our

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Vedas and Upa-Vedas have given composite content to make our life perfect in both the aspects the spiritual and the material. How could otherwise we have evolved the definition of Dharma as :

यतोऽभ्युदयनिःश्रेससिद्धिः सधर्मः ।।

Dharma does not mean dogma or ritual ; it means the sustaining factor of life in its most complete aspect. Abhyudaya stands for material prosperity and Niśśreyasa for Mokṣa, the release of the soul from bondage. These are cardinal postulates which have prefected our culture. Thus we can appreciate the balancing of Materialism and Spritualism in our culture.

Āyurveda : The two Upavedas namely Āyurveda and Sthāpatyaveda being very intimately related to the very existence and living of man, naturally were very popular and their culture, studies systematisation, propogation as well as incorporations found appropriate codification in later literature. The founders of these two sciences belong to a hoary past as ancient as Vedic times. Though much has been written on Āyurveda, its study on profounder scientific foundations needs revival so that the modern Positive Science like Chemistry, Physics, Physiology and Botany may come to their own. The health ideals of the Nation need be based on the ideals of living, cutlure and civilization.

Hindu achievements in the fileld of Medicine and Surgery, Chemistry and Mathematics have been well known. Hindu contributions in the fileld of Botany, Zoology and Veterinary Sciences are equally profound and their scientific investigations need be taken up, as there is still misconception in the minds of our own scientists about them. Botanical and Zoological data in a voluminous treatise the Mānasolāsa or Abhilaṣitārtha-Cintāmaṇi of the later Chalukyan king Someśvara III, presupposes very early beginings. Similarly the treatment of Veterinary sciences in this treatise and others like Śukranīti, Śālihotra, Aśvaśāstra, Vāji-praśaṅsā, Harihara-caturanga, Nakula's Aśva-śāstra, Jayadatta's Aśva-Vaidyaka, Sāra Sindhu (a referred text by Nakula) etc. alongwith Mātanga-līlā, Hastyāyurveda, Gaja-Cikitsā and a host of others fully corroborate this technical heritage of ancient India. Classifications—botanical, medical and dietatic; morphology; Physiology (stems, roots, flowers, leaves, plants), Heredity, Ecology of Plants, Plant-Pathology and breeding etc. were well known to our ancient scientists. Further India being an agricultural country could not have afforded to neglect the Veterinary Sciences.

The pure race-culture was based on 'Trayi'. The later tradition of 'Catvāro Vedāh' is non-Aryan contribution with comingling of cultures. The Atharva-Veda the fourth veda is an illustration. This Veda is a store house of medical foundations which is the gift of the Rgveda as already noticed.

Sthapatya-Veda : This Upaveda gave rise to to two most technical sciences—Vāstuśāstra and Śilpaśāstra. They may be rendered as Science of Architecture including Engineering and Town-planning alongwith the Canons of Iconography-Sculpture including painting and other allied arts. The textbooks of Vāstuśāstra, the Science of Architecture, are records of oral tradition which go back to an undefined past. The testimony of the Bṛhatsamhitā of the 6th Centuary A. D. in this context also supports this antiquity. Varahamihira himself proclaims the authority of the master architect acharyas like Garg and Manu on this lore. Matsyapurāṇa enumerates the eighteen preceptors of vāstuśāstra :

भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा ।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः ।।
ब्रह्मकुमारो नन्दीशः शौनकी गर्ग एव च ।
वासदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती ।।
अष्टादशैते विख्याताः शिल्पशास्त्रोपदेशकाः ।।

and most of these were Vedic Ṛsis.

Hence The Vedic Foundations of Vāstuśāstra cannot be said to be over-estimated. The conception of Vāstu, its Mandala and its pre-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

siding lord Puruṣa are equally as ancient as Vedic Times. The very Mantra of Vāstu-Purusa is based on the analogy of the Vedic Vāstoṣpati. The foundations of the building construction whether an altar of a shed of initiation or of sacrifice, a residential house or the abode of deity, all go back to the Sutra-period as practically all important Sutra works have detailed expatiations on this side of the Science.

The word 'Śilpa' though comparatively later than 'Vāstu' as per its genesis of ornamentaion and varied and rich motifs, is also as old as Vedic Times. The Aitreya Brāhmaṇa VI.5.27 is a valuable testimony on this subject : 'Śilpāni-works of art, are an imitation of divine forms; by employing their rhythms, a material reconstitution is effected of the limited human personality. Similarly Śulva-Sūtra are a clear development in the science of Architecture, the Sthapatyā-Veda. The Śrauta-Sūtras belonging to the 2000-1500 B.C., contain the rules for rites ordained by the Veda. Each Śrauta-Sūtra seems to have had its own Śulva-Sūtra or section dealing with the measurements and the 'geometry' of the altar. The Vedi is the sacred ground measured out for the Yajña and this Vedi is the mother of Hindu Temple, the richest, the profile development of the art. Science, philosophy, ritual, religion and metaphysics have each contributed to evolve a meeting of Macrocosm and microcosm in Prāsāda, the Hindu Temple. Prāsāda is thus designated as Prāsāda-Puruṣa and Vimāna, the body corporate. Thus this Sthāpatya-Veda contributed a vast literature in the Purānās, Āgamas, Tantras, Pratiṣṭhāpaddhati and Vāstu Śilpa texts proper for the later codifications and enrichments.

Artha-Veda : This Upa-veda gave rise to all the later literature dealing with social organisation, Polity and war. Arthaśātra dominated all thinkers of ancient India. It deals with the totality of social, political and economic relationship and indicates how they are to be properly organised and integrated with one another. All relationship, says Usanas, is rooted in the Daṇḍanīti (Mah XII. 62, 28-9). Manu goes to the extent of declaring that it is Danda who is the real king, the real leader and the real protector.

"धर्मं दण्डं विदुर्बुधाः"

The rules about the functions and duties of the king and the welfare of the state were therefore naturally called Daṇḍanīti. No truly ancient Indian Aryan thinker has ever subscribed or surrendered or relegated the fundamental strategy of diplomacy to the socalled canons of morality and religion. The Promulgator and Preserver, the Defender of the world is Yama, who is not only Yamaraja but also Dharmaraja and the first king on the arch, Prthu was the prototype of Yamaraj and Dharmaraja both, who gave the name of this earth Prithvi. According to Parāśara, wealth is the root of virtue (Dharma) and pleasure (Kama) and this indicates the strong tendency towards a materialistic view of human ends especially the notions and conceptions of Government.

The sum and substance of early predecessors of Kauṭilya like Bhāradvaja and Vātavyādhi was the security not only of the person of the administrator and the state as a whole by all means. Should Kautilya's ever-shining light the 'Arthaśāstra' be not a manual of polity, even to-day ? The ancient Indian Aryans, who were lovers of the nature and are said to have evolved the whole culture and civilization in midst of forests and on the banks of rivers, are the strongest advocates of the fortification of frontiers. Kauṭilya himself precribed the first duty of the state to establish the Durgas, the Forts, not only all around the territories but also in midst of the territories. Himalaya has been our greatest frontier and fortification and in the terminology of Kautilya Durg-varieties, the Pārvata-Durga (Mountain Fort) and the Daiva-Durga (the Celestial Fort) are very important and should these ranges, especially our North-West Frontiers not have been considered to be the most impor-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

tant subject of fortification ? This is the elementary prescription for the security of the State.

Gandharva-Veda : The science of Music, no doubt, is as old as any of these Upavedas and there are abundant references to its antiquity in the later literature on Music, but unfortunately, this branch of technical lore is also hidden from the stand-point of systematic and scientific exposition. Much has been done in the preservation of folk-lore in an intimate relationship with Dance, Drama and Instrumental Music but its codifications, as are found in ancient, early medieval and later medieaval literature, need a projected planning of research. South Indian Musicians, Sangita-Panditas, Nṛtta-Nāṭya-kovidas have done a remarkable service in the preservation of this lore, but Sanskrit scholars especially the Vedists, the experts of Sāma, may take up the lost thread to reconstruct the whole science.

Science of Music is intimately related with Metaphysics. The whole cosmology is based on Icchā and Nāda and the concepts of Nāda-Brahma and Śabda-Brahma are well known. The ancient music aimed at sound in pure form or Brahman, now it is conceived as a means of aesthetic enjoyment. The non-Aryan contributions in the realm of ancient music especially the pre-Vedic times were the real contents. Then followed the period of Hymns of the Ārcikā period or more appropriately the Gāthā period or the period of Tune or the Sāman. It was on the basis of the three Svaras, Udātta etc. that seven notes were discovered in Indian Music. This development may be termed as religious culture. Secular music was also gradually asserting itself. Various types of regional music developed in different regions of the land, sung for the communal entertainment and enjoyment. Epics, Puranas and other ancient literature all corroborate this culture. Ancient authors like Five Bharatas—Nandi, Kohala, Dattila, Bharata and Matanga are the first promulgators. Narada's Sangitamakaranda is another landmark.

The Buddhist period is also noted for the exhuberance in musical authorship as referred by Abhinava-gupta, Śāradatanaya, Nānyabhūpala, Pārśvadeva and Śārangadeva the 10-12th centuary writers. Some of these celebratries are Āstika, Apisali, Uttara, Umāpati, Katyāyana, Kāmadeva, Kumbhodbhava, Ghantaka, Chatraka Datta, Devara, Drauhini, Dhenuka, Priyatithi, Binduraja, Brhat-Kasyapa. Several Bhaṭṭas (as many as six), Rahul, Vena, Vyasa, Vraspati, Sakaligarbha, Surya and Suresvara.

The 3rd period of Indian Music begins with the Hindu Revival after the decline of Buddhism. Most of the treatises are lost, the writers can only be reconstructed from the references and the modest list is : Udbhata, Lollata, Sankuka, Utpaladeva, Nrsimhagupta, Abhinavagupta the reputed author of Abhinavbharati, Bhojadeva, Simhana, Abhayadeva, Mammata (different from Kavyaprakasakara), Rudrasena, Somesvara III (the author of Mansollasa), Locanakavi (Rajatarangani). Paramardi, Devendra (Sangitmuktavali), Somesvaradeva (Sangitaratnavali), Saradatanaya (Bhavaprakasa), Nanyabhupala (Sarasvatihrdayalankara).

In this limited time and space it is not possible to dilate upon the massive treatment of this fascinating science with special reference to the classification of Rāgas—Śuddha, Bhinna and Sādhārana etc. and their Jātis, Nomenclature. However, a note may be struck that King Someśvara's, Mānsollasa, is a store house for some rare information in regard to Non-aryan influence vide Velavulli melody mentioned in it. Hence in the development of Indian Music, the two distinct styles, Northern and Southern styles cannot be under-estimated. Prabandhas or Musical compositions are also a notable development in the technique of the Indian Music.

As regards musical instruments, it is equally a formidable subject. The references go to the earliest times, even to pre-Vedic or pre-Aryan age. The varied instruments found in Mohenjodaro and Harappa excavations include a seven-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

keyed flute which denotes seven note-places, and a stringed musical instrument resembling the Viṇā. Viṇā and Mṛidaṅga were current in Vedic times and the types of the Viṇā as referred in later literature are as many as fifteen to eighteen. Duṅdubhi and Bhūmi are also referred in Samhitās. The Nāradīya-Sikṣā mentions both the Viṇā and the Veṇu connecting former with Vedic music and the latter with Gandharva or popular music. The Viṣṇudharmottara devotes one full chapter on musical instruments entitled 'Ātodyavidhi' and here the four types of traditional musical instruments, Ghana, i. e. metallic instruments and Avanaddha, i. e. stretched instruments like drum.

Someśvara's Mānsollasa also incorporates further deveopments in this art along with so many varieties and sub-varieties of the principal classes of musical instrument. Kinnarī Veeṇā may be said to represent Kinnaragāna and Yaksagāna still prevalent in South India.

Characterstics of the Technical Science and Fine Arts in India :

After this brief enunication of the Foundation of Technical Sciences and Fine Arts let me now proceed with the character and characterstics of this technical heritage. The most important characterstics of our technical sciences especially the Hindu Science of Architecture are : Philosophical back-ground particularly the Philosophy of Vāstu-Brahma, the Aesthetic ideals and symbolism. Among these I may leave the first on which I am dwelling at length in my volume entitled Śilpaśāstra 'Philosophy of Vāstu-Brahma' and its impact on Temple Architecture.

Aesthetic Ideal of our Fine Arts : Art in India is Iconography. The Viṣṇu-Dharmottara has remarkable contribution on this score and Raja Bhoja in his celebrated treatise, the Samarāṅganasūtradhāra, has simply cannonised this aspect of Indian Art, which distinguishes it from the Greek Art and provides a Philosophy for Art which is its genesis and genious.

Iconography is both a Science and Art. For an artistic perfection of an image, it has to be accomplished in such a way as to arouse in us the aesthetic experience akin to one as we get from poetry and music. According to the Indian aestheticians, the main purpose of a poetical composition is to arouse pleasure, the 'Āsvāda' what is called 'Rasāsvāda'. And this Rasāsvāda is extolled as 'Brahmānanda-Sahodara'. It is from this fundamental stand point of Indian aestheticism that we do not have tragedies in our dramatic literature. The Indian view or more appropriately the Hindu view of life is one of unbounden faith in eternity, a profound sense of optimism and a sublime outlook of life, coloured by the pneumal existence and heavenly bliss, both Svarga and Apavarga. Naturally, therefore, all arts, be it poetry or music, painting or dance, are to be viewed from this lofty idealism of aestheticism.

In nearly all the phases of Indian art, the Rasa (or impassioned feeling) has played a very prominent role. The Indian belief is that the Supreme Being is Rasa-svarupa (cf. the Indian theory of Rasa-Brahmavada (रसो वै सः) Again image-worship for which icons used to be made of the manifold materials with manifold symbols to be worthy of desired end has to be done in a manner of accomplished art. In dance and drama there is an identification of the spectator with the Naṭa, the actor. A similar identification is essential between the worshipper and the worshipped. This is possible only through the arousing of rasa, the aestheticism, in art. The sculptural monuments in our possession do corroborate this dictum and there we find a number of different 'Rasas' which the artists endeavoured to chisel upon in the dry stones and metals.

Thus aesthticism in art becomes instrumental in producing the भावव्यक्ति and this भावव्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

is dependent on the rasas or rasadrstis cf. the following lines of the Samarangana :—

रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीनामिह लक्षणम् ।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते ।।

Here Citra can stand both for the pictorial images as well as the sculptural ones. Hence according to the Samarāñgana it is the supreme achievement of the image-maker or the sculptor to see to this side of aestheticism in art, the 'bhāva-vyakti'. This aesthetic ideal is really one of the major contributions of Indian Canons of Art as prpounded in the texts like Viṣṇudharmottara and the Samarāñgaṇasūtradhāra, to give a distinct and unique character of Fine Arts in India. The oft-quoted aphorism ब्रह्मानन्द सहोदरो रसः is not without significance and high meaning. It aims at annobling life. Even birds and beasts, the socalled brutes, when characterized with these different sentiments in accordance with the different situations if can go higher up, men and women imbuded with them simply become divine. Further more this aesthetic element in Indian Art pre-supposes the ideal of 'Beautiful' in its real perspective. The beautiful is not only to be viewed in anatomical perspective, but also in the inner manifestation, the sole criterion of the beautiful, the 'Sundara' from the Hindu view of life. Beautiful internally, in its turn, presupposes the truthful the 'Satya' both internally and externally and the art which is both Satya and Sundara, that alone becomes the Beneficient, the 'Śiva' the supreme ideal of life. It is this 'God' of the humanity at large that the Indian seers have always aimed at. Any creation, unless it is condusive to the well being of life, unless inspiring to annobling it and unless high enough for creative urge, is not worth the ideal. It is from this fundamental angle that aestheticism in iconographical art is to be viewed and purviewed.

The following lines from the Samarāñgana Sūtradhara will suffice to illustrate this theme :

हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन् ।
सजीव इव दृश्येत सर्वाभिनयदर्शनात् ।।
आंगिके चैव चित्रे च इदं साधनमुच्यते ।
.....तस्मादनयोश्चित्रमात्रितम् ।।

विना तु नृत्यशास्त्रेण etc. the Visnudharmottara lines especially 'त एव चित्रे विज्ञेया नृतं चित्रं परं मतम्' etc. also propound the same truth.

The Samarāñgana Sūtradhāra recognises as many as eleven Rasas adding Prema etc. and Eighteen Rasadrstis, Lalitā, Hṛṣṭā Vikasitā etc.

The important points in relation to the aesthetics in the pictorial art still need to be expounded. Firstly all these rasas, though characterstics of only human beings, men, women and children and in their likeness the anthropomorphic forms of the gods and demi-gods and demons, they have an application to all sentiment creations 'मानुषानि पुरस्कृत्य सर्वसत्वेषु योजयेत्।' This statement goes to the very core of the art and shows that if birds and animals in paints could be shown manifesting the sentiments, it is really the master-piece, the supreme achievement of the artist. It becomes a new creation, a superior creation to that of Brahma, the Primordial Creator Himself. If it is through the symbolism of Mudrās, hand poses, bodily poses and the postures of the leges that the mute gods speak to us giving vent to the sublimest of thoughts and noblest of expressions, these so-called brutes can also become our co-shares in the aesthetic experience. It is neither extraordinary nor supernatural about it. It is the marvel of the art. If poetry can create an idealistic world, full of beauty and bliss, the painting, her sister must also follow the suit.

Thus a perusal of the sections on painting in the Viṣṇudharmottara and Bhoja's Samarāñgana Sūtradhāra will show how Citra is based on the canons of Nāṭya. For them Citra is only one scene of Nāṭya and Nāṭya a succession of Citras. The Viṣṇudharmottara says that Citra is

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

as much the art of immitation (anukaraṇa) as Natya. The poses, the hands of dance called Nṛtyahastas and the Rasadṛṣṭis—these are studied elaboratly in Nātya and this study is absolutely necessary for, and is fully utilized in painting.

What the hand-poses have implicity expressed (cf. manifold hand poses, like Varada Vyākhyāna Jñaña, Yoga etc. Mudras and 64 Hast postures), the rasas and the rasa-dṛṣṭis make that explicit. Thus the images are bestowed life movement through the symbolism of gesticulation, the very essence of dramatics both put together (Sarvābhinayadarśanāt). Therefore, this delineation of the rasas and rasa-dṛṣṭis and their representation thereof, constitute the fundamental background both in Āṅgika (Drama) and the Citra (Painting) arts. The Science of Painting is dependent on the Science of Aesthetics (Dramatics included).

Symbolism in Indian Art : Symbolism in art is a very very profound and massive subject and it is impossible for me to do any justice here owing to the paucity of the time. However, in this regard I have a thesis to propound that Mudrās should be taken in a wider sense to denote the whole kingdom of symbolism associated with the images of divinities.

So far we have been treating Mudras in a traditionally accepted sense, this view of the previous writers, however, is not correct. Mudrās, the symbols should not be taken only in their subjective, i. e. mental and spiritual attitude manifesting themselves in the bodily poses, they should also be extended in an objective manner, otherwise, the implications of the lakṣaṇas and lāñchanas in Brahmanic images have no meaning. There is a multitude of terms which denote the costume ornaments and headgear in which images are represented together with the objects which images of gods are shown to bear in their hands, such as weapons, implements, musical instruments, animals, birds etc.

I have maintained the thesis that Mudras should not be taken only to denote the poses of hands, body and legs and feet alone, but they are also the symbolic representation of the characterstic emblems of the divinities. In this sense all the symbols characterstic of a particular deity can stand for Mudras. Mudras the poses of hands, etc. as current in literature are more intimately connected with Buddhist images. The Brahmanic images being full of their characterstic emblems like dresses, ornaments, seats and conveyance have not shown so many intricacies of the Mudras as they are generally understood by the Indian artists.

It may, however, be again remarked that in orthodox Hindu Literature, the Mudras are symbolic manifestations and reproductions of the characterstic emblems of the divinities and not generally speaking, the peculiar positions of hands, fingers or feet and body as those of Buddhist and Jain figures. The reason why these so called Mudras are less important in Orthodox Hindu art, may be explained by the presence of their substitutes in great number of weapons and attributes held by Brahmanic deities and these too are Mudras. This contention is borne out by the following quotation.

एकोनविंशतिर्मुद्राः विष्णोरुक्ता मनीषिभिः ।
शंखचक्रगदापद्म.....वेणुश्रीवत्सकौस्तुभः ।।
.....शिवस्य दशमुद्रिकाः ।
लिंगयोनित्रिशूलाख्या मालेष्टाभीमृगाह्वयाः ।।
सूर्यस्यैकैव पद्माख्या सप्तमुद्रा गणेशितुः ।
लक्ष्मीमुद्राचने लक्ष्म्या वाग्वादिन्याश्च पूजने ।।
अक्षमाला तथा वीणा व्याख्या-पुस्तक-मुद्रिकाः
सप्रजिह्वाह्वया मुद्रा विज्ञेया वह्नि पूजने ।

Thus nineteen mudras are known to be of Viṣṇu, some of them being Śaṅkha, Cakra, Gadā, Padma, Śrīvatsa, Kaustubha, Vanamālā etc. Śiva has ten mudras sacred to him i.e. the lingam or the phyllic symbol, the trident, the rosary damaru etc. Sūrya or the sun has only one mudra namely the lotus, Ganesa has seven mudras some of which are the tusk, the goad, the axe, the rice-ball etc. The mudras for Saraswati are

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

are the lute, the book and the rosary. Similarly the mudras of Agni is seven flames.

The symbols of mudras in the broad sense of the term which have been introduced by me for the first time in contemporary studies on Indian Art, are really accessories to the main figure, the conductors, as it were, between the image and the idea. Thus the observation of the elephant in the image of Indra, brings back the whole idea of Royality of which an elephant used to be fundamental emblem. The bull, in India, is a symbol of Dharma and was thus used as the Vehicle of Śiva, the Great Yogi. Symbolism in India is the key-note of its culture and philosophy.

Contribution that Our Technical heritage can make in present day National Reconstruction.

With this brief account of the characrter and content of the Technical science and Fine Arts in ancient India, let me come to my fundamental proposition viz, their place in the present day National Reconstruction.

Sanskrit Language Literature and Civilization was the real bed rock, on which our National Integration was founded. Study of Sanskrit in the past was not confined to a department, as we do today. Sanskrit in the past was a full fledged faculty where different branches of learning including Medicine, Town-planning, Arts, Astronomy, Military Science, Polity, strategy of war and State craft consituted a modest curriculum. The ancient Universities like Nalanda, Taksasila, Vikramasila were all noted for this fundamental organisation of Sanskrit learning in the past. Because we have relegated the study of Sanskrit just as classical languages we are unable to do anything in the reconstruction of the modern India. Modern India needs planning which may bring about national integration based on cultural heritage and its revival. We always see to the West and imitate their pattern. There is a rich literature in Sanskrit on all these branches, study and researches on which can certainly unfold fascinating ideas and practical working in all these sphperes. Let me just take only one branch which is my specialised field, i.e. Ancient Hindu Canon of Architecture including civil engineering, the erudite and scientific treatises like the Mānasāra, Mayamata Śilparatna, Samarāṅganasūtradhāra, Aparājitapṛcchā etc. etc. and the most sublime and remarkable archaeological remains in the realm of town-planning and architecture, we still think that all this is worthy of incorporation.

The Indus valley civilisation and Harappa culture were beginnings in the advanced technique of town-planning. The Vedic village was an ideal habitation. The later onslaughts are a living history of our art and architecture. Who contributed all this ? It is the Sthapatis (the ancient architects and their guildes) and the Sthāpakas the presiding Ācharyas together with the patrons of the art and architecture, the ruling dynasties, Guptas, Pratiharas, Chandellas, Kesaris, Chalukyas, Pallavas, Rastrakutas, Pandyas, Nayakas etc. etc. who could devotedly and dedicatedly surrender all their wealth in the establishments of huge Cathedral temples, the greatest and the largest of the Prasadas, the Hindu temples throughout the length and breadth of this vast sub-continent, the north and the south, the east and the west and the Daccan. Some of the temples like Lingaraja[1] at Bhuvaneswara, Sun Temple at Konark Kandariya Mahadeva at Khajuraho, Minaksi-Sundaresvara at Madura, Siva Temples at Tanjore and Rameswaram and a host of them at such famous sites as Mamallapuram, Kanchipuram, Chiddambaram, Aiohole, Badami, Pattadakal in the South and Udaipur, Modhera, Mount Abu in the north are a testimony of this great artistic upsurge. This could not have been possible if we did not have a systematised body of knowledge of art and architecture and the learned, trained devoted architects. I admit that we are not going to revive our architectural policy of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Temple-building in the modern age, we cannot afford to lavishly spend our national wealth on the construction of temples. We need to found new town-ship, replacing the existing town and build residential houses, construct factories, laboratories, plan out secretariats, offices, embassies, bridges, dams and the like. This is our need. These are our national requirements. Are we not competent to re-orientiate our architectural policy on the fundamentals of ancient Indian canons of architecture. If we could do this, we can certainly have our nationality, otherwise, we merge in this great ocean of imitation. We need influence and not merging. This can be done by the study of technical literature in Sanskrit, the erudite and scientific treatises on art and architecture. A western engineer or architect is familiar with the treatise of Virtuvius but our Indian architects are quite ignoratnt of even names of Manasara, Mayamata, Samarangana and Visvakarma. We have founded so many colleges of architecture. Is there any place for these treatises in the curriculam ? Let me briefly cite some striking contributions. *Sthapati and Sthāpatya* the role of an architect. In our tradition Sthāpatya is four fold from the stand point of a Sthapati, i.e. his equipment and it is eight fold from the stand point of his art. According to the Samarāṅganasūtradhara an architect must possess the four fold equipment of Śāstra (knowledge of the Science and its allies like Mathematics and Astronomy etc.) Karma, the skill in art craftmanship; Prajñā, the initiative and the genius of mind and intellect which must help him at the time of the operation because sometimes new situations demand immediate handling of the operations and Śīla, the character above reproach. This last qualification is very important in the present day national reconstruction. The following quotation will be very interesting to help us realise the importance of Sanskrit lore even in the education of modern Engineers and Architects :

यस्तु शास्त्रमविज्ञाय प्रयोक्ता स्थपतिभवेत् ।
हन्तव्यः स स्वयं राज्ञा मृत्युवद् राजहिंसकः ।।
यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुह्यति क्रियाकाले दृष्ट्वा भीरुरिवाहवम् ।।
केवलं कर्म यो वेत्ति शास्त्रार्थं नाधिगच्छति ।
सोऽचक्षुरिव नीयेत विवशो न्येन वर्त्मसु ।।
शास्त्रकर्मसमर्थोऽपि स्थपतिः प्रज्ञया विना ।
फलेयु कर्मभिरन्याभिः(?)ख्यान्निर्मद इव द्विपः ।।
प्रत्युत्पन्नमतिर्यः स्याद् वाहकः स्थपतिस्तथा ।
कर्मकाले न मुह्येत स प्रज्ञानेनोपबृंहितः ।।
अप्रज्ञेयं दुरालोकं गूढार्थं बहुविस्तरम् ।
प्रज्ञपोतं समारुह्य प्राज्ञो वास्तुनिधि तरेत् ।।
ज्ञानवांश्च तथा वाग्मी कर्मस्वपि च निष्ठितः ।
एवं युक्तोऽपि न श्रेयान् यदि शीलविवर्जितः ।।
रोषाद् द्वेषात् तथा लोभान्मोहाद् रागात् तथैव च ।
अनन्यचिन्त्यतत्वमायाति दुःशीलानामविक्षयात् (?)।।
शीलवान् सर्वकर्मार्हः शीलवान् प्रियदर्शनः ।
शीलाधाने परं यत्नमाधिष्ठेत् स्थपितः सदा ।।
ततः कर्माणि सिध्यन्ति जनयन्ति शुभानि च ।

This is the Caturdhā Sthāpatya. As regards Aṣṭāṅga Sthāpatya, the following quotations from the Samarāṅganasūtradhāra, the most representative and standard medieval manual on Architecture will give you a peep into our most systematised science of architeture :

प्रोक्तं चतुर्धा स्थापत्यं वास्तुतत्वस्य सिद्धये ।
डूमस्तदेव वेदानीमंगैः संयुक्तमष्टाभिः ।।
तेष्वंगः प्रथमं प्रोक्तं वास्तुपुंसो-विकल्पना ।
पुरस्य विनिवेशस्तु द्वितीयं द्वारकर्म च ।।
रथ्याविभागः प्राकारनिवेशोऽट्टालकस्य च ।
विनिवेशः प्रतोलीनां विभागास्थानकानि च ।।
प्रासादश्च तृतीयं स्याच्चतुर्थं च ध्वजोच्छ्रितिः ।
पंचमं नृपतेर्वेश्म स्थानान्तरविभक्ति च ।।
चातुर्वर्ण्यविभागश्च गृहभागश्च षष्ठकम् ।
सप्तमं यजमानस्य शालायां मानमीरितम् ।।
यज्ञवेदीप्रमाणं च कोटिहोमविधिस्तथा ।
अष्टमं राजशिविरनिवेशो दुर्गकर्म च ।।
यो वेत्यंगान्यमून्यष्टौ सोऽत्र स्थपतिसत्तमः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यशो मानं स लभते पूज्यते न नराधिपैः ॥
अशास्त्रज्ञमकर्मज्ञं स्थपतिं यः प्रयोजयेत् ।
न तस्य वास्तु सिद्धयेत सिद्धमप्यसुखावहम् ॥
तस्मात् कर्म च शास्त्रं च यो वेत्ति द्वितयं नरः ।
अष्टांगमपि यो वेत्ति स राज्ञः स्थपतिर्भवेत् ॥

Genesis and Genius of a residential house : Our Purāṇas and Āgamas proclaim शिलास्तम्भ शिलाकुड्यं नरावासे न योजयेत्' what is its implication ? Our climate is hot for the major part of the year. Can we afford to live in a hot house ? Shall this heat not terribly tell upon our health, Longivity and stature ? Were our fore-fathers fools or half-civilized to live in thatched houses or Śāla-Houses (a wooden-cum-mud structure) to ward off the heat of the sun ? While they could build soaring edifices for gods and goddesses, they preferred the mud houses for their own. Samarāṅgana's main contribution is the Civil Architecture which is accompanied with a scientific code of residential house. The very title denotes and connotes its character, i. e. architect of human dwellings, and gives its major contribution in the art of Town-planning and residential houses.

Code of masonary, the building Bye-laws and House-Plans : All these fully perfected in this standard compendium on art and architecture. The twenty good qualities of masonary विंशतिश्चयगुणाः and the procedure in laying the bricks चयविधिः with the aid of the eightfold measure of sutrāṣṭakam are our eye-opener in the advanced technique of civil architecture in ancient India. Other details have been studied and brought out in my work Vastusastra Vol. I—Hindu Science of Architecture with esp. ref. to Bhoja's Samarangana Sutradhara.

Fundamental Canons : This Subject demands that we should know something of the fundamental postulates on which the great edifice of this science stands. These fundamental postulates or canons, I may term as pillars. We know that the central post was the prime regulator of house-construction in India. It was as fundamental as the trunk of a tree. Tree-model was the primordial model of a house-plan (cf. the story of the birth of human home—the Śāla-house as related in Purāṇas and the S.S.) and the abundant application of pillars was one of the chief features of an Indian building whether a residential house or a palace, or a Sabha or a temple or a temple-pavilion. Naturally we cannot say which pillars are more basic than others But if you ponder over the problem and visualise the basic importance of the structure you must come to the conclusion that as many as five pillars carry cardinal worth. These are four Cardinal and one central posts. Similarly sustaining the analogy to my mind there are the following five fundamental pillars of the stable edifice of our Science and we can call them the fundamental canons :

1. Diṅnirṇaya, Doctrine of Orientation. 2. Vāstu-pada-Vinyāsa the Site-planning. 3. Māna (Hasta-lakṣaṇa), the proportionate measurements of a structure. 4. Āyādi-sadvarga, the six Canons of Hindu Architecture 5. Paṭākādi-ṣaṭ-Chandas, the character of the building (its aspects and prospects etc.). I cannot elaborate all these here due to the paucity of time.

Vāstupada-Vinyāsas is a strereotyped institution in India. It has been in practice since the Vedic times. Now it is no more than a ritual. We do call a priest and an astrologer when we start a building but do we understand the scientific and technical implications of this fundamental canon as adumberate above like Diṅnirṇaya of Prācīsādhana ? Vāstupada-Vinyāsas a most scientific device in determining the site of a building or a town, has now been relegated to a paper device of just a ritual. Vāstupadas-Vinyāsa is a site-plan in the language of the modern architecture. The allotment of the padas to the deities was a very far sighted working of the minds of our ancient Acharyas. The Vāstupada-Vinyāsa is a technical device in a chart. Among

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

the host of the deities occupying the different padas or plots of the diagram, three are very important. The Central square is always reserved for Brahma. He is the central lord the creator lord. The north-east corner of the chart starts with Īśāna which corresponds to the *ultravoilet segment* of the solar spectrum and it has a variety of attributes which need to be studied properly. Similarly the south-east corner of the chart represents Agni. It coresponds to the *infra-red segment* of the solar spectrum. If properly and scientifically studied this device would be a revelation to the modern scientific world. We must pay a tribute to the genius of the ancient thinkers who, without any modern appliances, could study the properties of the Sun. All these deities really stand for the rays of the sun to be regulated in such a scientific manner as to ensure eastern frontage. This is the sum and substance of the Doctrine of Orientation, the most important canon of our Civil Architecture.

Professor,
Head of the Department of Sanskrit
Punjab University,
Chandigarh-14.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Problem of Two Besnagar Garuda Pillar Inscriptions

By B. C. Sinha

The successor of vasumitra is called Bhadraka in the Bhagavata Purana, Ardraka in the Vayu and Antaka in the Matsya Purana.[1] Dr. K.P. Jayaswal identified him with Udaka, a name occuring in Pabhosa inscription No. 904.

He has given good reason for supposing that the original form, from which all these varieties are derived was Odraka.[2] But we must recognise that an error has crept into the text of the Puranas, which as they stand assign either two or seven years to this king.[3] The Pabhosa epigraph has been translated thus : "By Asadhsena, the Son of Gopali Vaihidari and maternal uncle of king Bahasatimitra, Son of Gopali, a cave was caused to be made in the tenth year of Udaka for the use of the Kassapia Arhats." We learn from another Pabhosa inscription that Asadhasena belonged to the royal family of Ahichhatra, the capital of North Panchala.— Dr. Jayaswal held that Odraka was the paramount Sunga sovereign, while the family of Asadhsena was feudatory to the Sungas. The identification of Odraka with Udaka has no solid basis. Is it not possible that this Udaka might have been a ruler of Ahichhatra and Asadhasena was his near relative ? Pabhosa inscription only says that Asadhasena belonged to the royal family of Ahichhatra. Dr. Barua[4] points out that in the absence of the word rajno preceding Udaka, it is difficult to say at once whether Udaka is the personal name of a king, or the local name of a place, where the cave was excavated.

Sir John Marshall[5] on the other hand identified the so called fifth Sunga king with Kasiputra Bhagabhadra mentioned in a Garuda Pillar inscription found in the old city of Vidisa. Dr. Jayaswal identified Bhagabhadra with the ninth Sunga king Bhagavata of the Puranas. But this theory has to be given up in view of the discovery of another Besnagar Garuda Pillar inscription of the 12th year after the installation of Maharaja Bhagavata. It proves that there was at Vidisa, a king named Bhagavata apart from Kasiputra Bhagabhadra. In the absence of clear evidence connecting "Udaka" with Vidisa, it cannot be confidently assented that he belonged to the house of Agnimitra and Bhagavata.[6] In fact the so called fifth, sixth and seventh Sunga monarchs were Andhra rulers. The fourth Sunga king Vasumitra took up the life of ease and pleasure. The result was that the Sunga empire began to disintegrate. Bana tells us that he was killed by some Muladeva while enjoying a concert. Taking advantage of the murder of Vasumitra Andhras occupied the throne at Pataliputra. Andhraka, Pulindaka and Ghosha these three appear to be extraneous to the Sunga dynasty as their inclusion creates a chronological anomaly. The Puranas assign a total duration of 112 years to the Sunga dynasty. But if we add up the period of these three kings, the total comes to 120 years. By excluding their period of 8 years we arrive at the true figure of 112 years.

At the time of Andhra occupation of Pataliputra Bhagabhdra the local viceroy of Vidisa maintained his position against the Andhras. He might have been a close relation of the Sungas. We further assume that he was appointed viceroy of Vidisa, during the reign of Vasumitra. Vasumitra was ruling at Pataliputra and after

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

his murder Bhagabhadra declared himself king of Vidisa.

But it has to be remembered that he always remained loyal to the Sunga family. In order to strengthen his position against the Andhras he sought friendly alliance with the Indo-Greeks. This alliance was in the interest of both the parties. We learn from Besnagar Inscription of the reign of Bhagabhadra that Maharaja Antialkidas of Taxila sent his ambassador Heliodoros to Vidisa when king Bhagabhadra was prospering in the fourteenth year of his reign. It was with the help of Bhagabhadra that the Sungas regained their position after 8 years of the Andhra rule. Vajramitra might have been the son of Vasumitra. Now there in no difficulty about the other Besnagar Garud Pillar Inscription of the Twelfth year after the installation of Maharaja Bhagavata. He appears to be the nint Sunga king according to the Puranic List, who had a long reign of 32 years.

References :

1 H. Raychaudhari, Political History of Ancient India, P. 328.
2. Cambridge History of India, p. 469.
3. K.P. Jayaswal, JBORS, 1917, pp. 473-5.
4. IHQ.—1930, P. 23.
5. A Guide to Sanchi—P. 11.
6. Political History of Ancient India, p. 329.

Reader
Ancient Indian History,
Culture & Archaeology
Department
Gurukula Kangri University
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Yoga Approach Towards Abnormal Human Behaviour

Dr. H.G. Singh

1. Definition and types of yoga : Yoga is much talked over topic of the present century with its popularity irrespective of caste, religion and continent amongst the orthodox as well as the ultra fashionable hippies of the world. Existing from the times of Vedas the word Yoga has been used in multifarious ways. Out of these it can be defined in two ways—general and specific. In general literal sense Yoga means union or connection. It also denotes any means or ways by which something apart is achieved or united with. During Vedic, Brahmanic, and Upanishadic times the word Yoga has been used for different ways to achieve something though mostly higher self. But Yoga in specific meaning came into existence in about 2nd century B.C. by the existence of "Yoga Sutra" of Patanjali and now Yoga specifically means the system of "Chitta-Vrittinirodh" of Patanjali. As a method Yoga is non-religious, practical and scientific.

Types of Yoga Schools : According to broad definition there are innumerable Yogas, as there are ways of union. But most important are Hatha, Raja, Gyan, Bhakti, Karam, Mantra, Tantra, Laya, Jaina, and Buddhist Yogas. All these yogas can be classified into different theoretical approaches as shown in the following diagram :

DIAGRAM SHOWING THE APPROACHES OF DIFFERENT YOGAS

Human Personality

Yoga

- Physiological approach
  - Hath Yoga (Use of physical exercises for union)
- Psychological approach
  - (A) Whole psyche Raja Yoga. (Use of psychic exercises and Sadhna for union)
  - (B) Different psychic functions :
    1. Gyan Yoga (Use of intelect i.e. "cognition" for union).
    2. Bhakti Yoga (Use of eros i.e. "effection" for union).
    3. Karam Yoga (Use of volition i.e. "conation" for union).
- Psychophysical approach
  - (A) Mantra Yoga (Use of Psyche and sound for union)
  - (B) Tantra Yoga (Use of psychic and Physical cosmic elements for union)
  - (C) Laya Yoga : (Use of psychophysical assimilation with cosmic self for union)
- Atheistic approach
  - (A) Jain Yoga
  - (B) Buddhist Yoga

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

These are like the differnt roads which reach the same destination. Yoga systems believe in the functional unity not only in human personality but also in cosmic universe. The somatic, psychic and psychophysical approaches in their individuality lead to the same end. It also reflects that the broad mental functions of cognition, affection and conation have their own individual potentiality of compensating for and controlling not only the other two functions but the whole personality and further leading it to the union with universal self. Out of these schools only Hath Yoga and Raja Yoga have been most popular and Raja Yoga assimilates the best of Hath Yoga. The only approach of Raja Yoga of Patanjali being directly psychological is of utmost interest to the seekers of Psychology. Later Yogies of the Patanjali school widely applied Yoga to solve problems of human behaviour and here the approach of Yoga i.e. Raja Yoga towards abnormal human behaviour is being seen.

2. Theoretical Foundations

(a) Concept of normality and abnormality : We have already seen that the subject matter of Yoga is human behaviour and Raja Yoga specifically deals with mind and its functions. Kovoor T. Behanan rightly says, "Doctrine of Yoga assumes that the mind, by training, could be made to function at higher levels." Human personality according to Yoga is composed of Purush and Prakriti. Purush apart from Prakriti is pure being but by the admixture of Prakriti it begins to function as personality. Prakriti has there Gunas—Sattav, Rajas and Tamas. When Purush is in Sattav Guna it is pure and uncorrupt but as soon further mixture of Rajas and Tamas of Prakriti is added, the mind begins its function and gives rise to abnormal human behaviour. Patanjali takes a very wide view of abnormality and every human behaviour is abnormal which is the output of Rajas and Tamas Gunas. The Rajas and Tamas Gunas of Patanjali reminds of Eros and Thanatos of Freud. Purush or Atma in itself does not act or behave and upto Sattav Guna it is pure being, but actual behaviour begins with its mixture with Rajas and Tamas and that is all abnormal. So all human behaviour is abnormal because of its being initiated by Rajas and Tamas Gunas which give rise to five kinds of Vrittis. There is no true synonym for Vritti in English but we can very nearly translate it as channels of mental functions or natural motivating flow of behaviour or to some extent instinctual behaviour.

The Vrittis are five. The first is Praman (perception of all kinds). It is the natural Vritti of the mind to get affected by perceptual knowledge and make reactions to it. The second Vritti is Viparyaya (illusion) the effect of which is inevitable. The third Vritti is Vikalp (effective imagination). The fourth Vritti is Nidra (sleep) and the fifth is Smriti (memory) or the heap of past stored up ideas, which work as dynamic disposition of mind. The dynamic effect of these five Vrittis on mind is inevitable and they motivate the mind for behaviour and that is abnormality. The aim of Yoga is the removal of these Vrittis of mind by negating their effect. This is called, "Yogas-chittavrittinirodh". On the contrary the normality is the state of Purush remaining with Sattav Guna only. It is pure being without any of the Vrittis. Hence in wide definition concentration of mind and Samadhi is normality and Vrittis i.e. modification of mind and destruction of Samadhi is abnormality.

(b) Nosology and Symptomatology of Abnormalities : The nosology of disorders as we find in Atharva Veda and Ayurvedic literature is not found in Yoga. In a sense the above five Vrittis are the forms of abnormalities but their approach and nature is totally different from what we see in other therapeutic literature. Yoga is not limited to therapy of diseases. The area of Yoga is very vast and much inclusive. Due to its basic approach it covers all the aspects of human behaviour. No problem or attainment

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

of human life is spared for which its application is not made. Felix Guyot rightly says, "Freud brings everything back to sexual 'complex' where as Yoga psychoanalysis deals with all the complexes." We can broadly classify Yoga approach to personality modification in three categories. Firstly, it deals with health and hygiene programme of personality including cure and prevention of diseases and health improvements. Secondly, it deals with attainment of supernatural mental powers. Thirdly, it teaches how to attain Samadhi — the state of pure being. These three categories further have classifications. Yoga approach is psychological and practical to all these categories. Out of the above three categories we are dealing with the health and hygiene programme of personality. In it the Yoga methods are applied for the cure and prevention of diseases and attainment of health. Kovoor T. Behanan emphasises it like this, "What we have said so far about Yoga will, we hope, convince the reader that it too is a way of life a 'Prescription' for mental ills." Yoga is client centred, semi-directive and autotherapy hence psychotics cannot take it. So the abnormalities for which it is practical can broadly be classified as neuroses, mild ailments and mental ill-health.

(c) General etiology and diagnosis of abnormal behaviour : The behavioural abnormality arises by Prakriti getting mixed with Purush. Upto the time Purush is alone, there is no abnormality but as soon the Rajas and Tamas Gunas of Prakriti unite with Purush, the mind with the five Vrittis constitute abnormality. So we conclude that Rajas and Tamas Gunas of Prakriti are the causes of abnormality. Sattav Guna never gives rise to abnormality. The Yoga system of diagnosis is scientific and has clinical tests. Felix Guyot has very well commended Yoga diagnostic methods and tests for different mental abnormalities. He has illustrated so many tests as given in Hath Yoga and we shall explain two of them by way of example. The first test diagnoses whether a patient is suffering from morbid unconscious...impulsiveness and the second test is to diagnose if the patient is having nervous debility.

Test I—Trace a straight line on the ground in the direction of the sun. The client should stand with heels together at one end of the line in such a way that the line divides the shadow in two parts through the head and he should look at his shadow constantly. After a few minutes the shadow of the head will be seen deviated from the straight line either to the right or left in the case of abnormals. The experiment should be repeated several times during a fortenight. Each time the direction of deviation should be noted. In order to take more better results the test can be carried out in a room with a lamp or an electric bulb, instead of sun, which should be behind the subject. The projection to the left reveals morbid unconscious fears and that to the right an unconscious impulsiveness.

Test II—The position of the client's standing is the same as in the first test. But further the experimenter traces the outline of the shadow with a piece of chalk on the ground while he is motionless. Then the client must look attentively on the shadow. The abnormal having nervous debility will soon get tired and his head will oscillate and the shadow will not correspond with the tracing. The direction and extent of oscillations will help diagnosing the unconscious fears and impulsiveness as in the above test. But greater the extent of oscillations and lesser the time of first fatigue appearance, the more is the nervous debility. Again for the tests of different complexes Felix Guyot says, "Hath Yoga psychoanalysis unearths these complexes by means of short tales and stories of immemorial origin that Indian doctors have handed down from generation to generation."

The above two tests shown by way of example, are quite technical to be called at par

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

with modern clinical tests. So we conclude that Yoga method of diagnosis may be called scientific.

3. Psychotherapeutic Techniques of Yoga

(a) **Meaning and Object :** Yoga has two forms—general and applied. In its general form like a science it shows the what and how of psychic chittavrittinirodh from the very beginning to the highest end of Samadhi, the state of pure being. In the applied form it is applied to so many different purposes and the meaning & aim of applied Yoga differs according to the purpose it is applied for. Leaving the other purposes aside when its techniques are applied to cure Psychic disorders then it is Yoga Psychotherapy. Rajas and Tamas Vrittis create all behavioural deviations, so the suspension of these Vrittis and the establishment of required psychic equilibrium, is the aim of Yoga Psychotherapy. The degree of suspension of these Vrittis differ from case to case and purpose to purpose. In the case of a Sadhu it must be complete suspension, but in the case of worldly persons like us, a certain equilibrium in the forces of Rajas and Tamas is required. For example in the case of an architect more of Rajas, the constructive Vritti, and in a warrior at field more of Tamas, the distructive Vritti is required. Lord Krishna, the greatest Yogi analysed Arjun at the battle field and maintained proper warrior like equilibrium of Tamas i.e. destruction and decreased the Rajas i.e. familial erotic Vritti, in Arjun.

(b) **Classification of Yoga Psychotherapeutic Techniques :** Yoga is rich in methodology. For the same aim to be achieved several techniques have been prescribed according to the nature of client, situation and technique. Yoga believes in the functional unity of human personality along with cosmic unity. So due to this unity starting with any one function we can come to the same end. Yoga has numerous techniques but we take here only those which are used for therapeutic and hygienic purposes in the case of psychic disorders. The techniques are classified as follows :

1. Yama
2. Niyama

} I) Psychic disciplinary exercises.

3. Asana & Mudra
4. Pranayama

} II) Psychosomatic energising exercises.

5. Pratyahar } III) Psychic sublimating exsrcises.

6. Dharna
7. Dhyana
8. Samadhi

} IV) Psychic super normal attainment (Siddhi) exercises.

(c) **Descriptions and applications**

I. The first technique of psychic disciplinary exercises is Yama and Niyama. Yama are negative and Niyama are positive preliminary codes of behaviour. The Yamas are five i.e. abstain from (1) Himsa (killing), (2) Asatya (Falsehood), (3) Parigarh (greediness). The Niyamas are also five i.e. observe (1) Shauch (purity), (2) Santosh (contentment), (3) Tapas (mortification), (4) Suadhyaya (study), and (5) Ishwar Pranidhan (resignation to Supreme being). Regarding Yama and Niyama, Kovoor T. Behanan says, "we may now summarise the first two stages as the ethical code of Yoga by which a moral transformation involving important psychological changes or redirection of mental set, is brought about, marking the beginning of a veritable uphill climb in mental training." These are meant for the adjustment of super ego or the moral part of the self.

II. The second technique of psychosomatic energising exercises is Asanas (postures) and Pranayama (breathing). These are the most technical methods of Hath Yoga which in milder forms have been adopted by Patanjali. These are

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

based on psychosomatic functions of the personality and by their practice psychosomatic energy is charged. According to Gherand Samhita as taught by lord Shiva the asanas are eighty-four lakhs corresponding with the number of species of the universe, and the Mudras (postures) are twenty-five. Some of these Asanas and Mudras are, in the opinions of a few experts who have prescribed different Asanas and Mudras, useful for mental cures and hygiene. Shivanand says, that Shirshasan improves memory admirably and thus cures amnesia. Yogendra says that Sarvangasan, Shirshasan, Dhanurvakrasan, Paschimothanasan, Ardhmatsyendrasan and Shavasan impart health to brain and nervous system. Acharya Bhadrasen prescribes Ardhsarwangasan, Matsyasan, Halasan and Chakrasan for mental debility, Shirshasan and Sarvangasan for epilepsy and insanity and Uttanpadasan, Pavanmuktasan, Ardh-Aatsyadasan, Padangusthasan, Tadasan, Nabhyasan, Halasan, Sarvangasan and Shirshasan for nervous weakness. V.C. Vasu prescribes Vajrasan for psychic powers, Shavasan for quietening the agitation of mind, Padamasan, Simhasan, Matsyasana, Bhujangasan, Mahanmudrasan, Nabhumudra, Khechri Mudra for distroying all diseases. Mahavedha Mudra, Agneyi Mudra Destroy thanatophobia (fear of death). Ambasi Mudra destroys hydrophobia (fear of water) and Yonimudra destroys mortal and venal sins.

Pranayama (Breathing exercises) : Kovoor T. Behanan gives the word meaning of Pranayama as, "Prana means breath and Ayama, means pause" hence the compound pranayama literally means "a cessation or pause in the movement of breath." Shivanand defines Pranayama as, "Pranayama is the control of the Prana and the vital forces of the body. It is regulation of breath." Pranayama is the Hath Yoga par excellence which consists of breathing exercises. The chief aim of Pranayama is to unite the Prana with the Apana and take the united Prana-Apan slowly upwards to the head thus awakening the sleeping Kundalini. Shivanand describes the energy of Pranayamaas, "If you can control the Prana you can completely control all the forces of the universe, mental and physical." According to Yoga Pran, and Mana (breath and mind) are most close and exist together. Increase and decrease in one effects the other. If we control breath which is physical and easy to do we can control mind and its movements. These psychophysical energising exercises of Asana and Pranayama work in two ways. On the one hand they energise the soma and on the other hand indirectly they train and energise psyche. As we have seen Asana and Mudra energise body physiology and Pranayama energises nerves. The ego in maintaining Asana and Mudra and praticing Pranayama has to practice control and command over body and nervous system, which he becomes able to do in due course. In doing so the ego gets indirect training of Command, and control and gets self-confidence and energy. Ego getting thus energetic becomes ready to practice Pratyahar, the psychic sublimating exercises.

III. Psychic sublimating exercises (Pratyahar)—Now comes that method which is purely psychological and at the same time very advanced. The Pratyahar is the withdrawal of mind from all senses. Practically it is the complete mastery over the senses. It is done in two ways i.e. neither the senses should be affected by the stimulus nor they should disturb the mind by their sensations. But Pratyahar is not the incapacity of the senses. They (senses) remaining healthy, it is the complete mastery of psyche over them. Psyche must not be effected by them but whenever required psyche must be able to use them. Pratyahar is very useful in the field of psychopathology for breaking learned and conditioned responses and doing sublimation. The whole unconscious is cleared up by it. The Rajas and Tamas Vrittis become powerless. Yogic approach is semi-auto and directed so Pratyahar a technique of self analysis, free association.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

learning and sublimation can be practiced by any patient who is able to do them i.e. mild neurotics, mildly distrubed and those requiring mental health, under a psychotherapist. But the patient can do so only when he has already attained energy through undergoing earlier psychic disciplinary and psychological exercises. Pratyahar on the somatic side is the mastery over senses and on psychic side it is the clearing up of unconsciousness.

IV. **Psychic supernormal attainment (Siddhi) exercises (Dharna, Dhyan and Samadhi)**—Psychic supernormal attainment exercises of Dharna, Dhyan and Samadhi, usually used for the attainment of supernormal siddhis, mostly concern with Yogies and saints. The techniques of Yoga for general therapeutic purposes go usually upto Pratyahar but recently meditation for psychotherapeutic purposes is emphasised by Assagioli of Italy. Though the use of Yoga techniques for functional disorders, exist from Vedic times in India but recently trained Psychiatrists, Psychotherapists and Yogies have evaluated and used them with promising results. For instance Hans Jacobs, Kovoor T. Behanan, Felix Guyot, H.G. Singh, Geraldine Coster, Akhilanand, Schmitz, Aurobindo, Shivanand, and Yogendra, have high Psycho-therapeutic opinion about Yoga and some of these even evaluate Yoga better than Psychoanalysis.

4. Conclusions

In the field of psychotherapy some points in favour of Yoga are found. Although psychic diseases damage the whole personality but the most of destruction is done to ego's strength in psychic field. Ego becomes weak and unable to cope with reality, id and super ego. The main problem of psychotherapy is how to make ego energetic so that it can face these three and take charge of behaviour from which it has withdrawn. The controlling and administrative capacities of ego are finished. Yoga knows well that ego is weak and withdrawn in the psychological field so it gives it indirect training in the field of physiology. Yoga believes in the psychophysical unity of personality and that the action may start from any corner but it will ultimately effect the whole personality. That is why it lets ego withdrawn from psychic field and puts it on physiological field for practising Asana and Pranayama. In doing Asana and Pranayama ego has to put resistance and endurance to bodily functions and thus gains self confidence and controlling capacity. At the same time by these practices the physiological side of personality also gets toned up. Pranayama exercises give special energy to nerves. So by these Yogic exercises there is improvement in body nerves. When in due course ego has gained much self confidence and controlling capacity and physiological strength too, then the stage of Pratyahar is reached and ego is again brought to psychic field. Remaining withdrawn and inattentive from psychic problems and dealings for a long time, psychic field becomes more clean and quiet. By the practices of Pratyahar after sometime ego becomes successful in coping with the problems of psychic field and disease is removed. Thus Yoga psychotherapy is triple action. It treats body, nerves and psyche i.e. the whole personality while psychoanalysis treats only the psyche. Because it treats whole personality, therefore, the effects are more lasting and promising. Lesser time consumption is another advantage. Because Yoga takes aid of three things or rather applies therapeutic measures from three sides, therefore, it is able to control the disorder in lesser time.

Bibliography

1. Hans Jacobs,—Western Psychotherapy & Hindu Sadhna—(George Allen & Unwin Ltd., London, 1961).
2. Sri Yogendra, "Yoga Magazine" Yoga Institute, Bombay (Jan. 1934).
3. Felix Guyot—Yoga : The Science of Health —(Rider & Co. London).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. Pavitranand,—Common Sense About Yoga —(Mayavati Advita Ashram, Almora).

5. Kovoor T. Behanan—Yoga : A Scientific Evaluation—(Dover Publications Inc. New York, 1937).

6. Sri Aurobindo—On Yoga I—(Aurobindo Ashram Pondicherry).

7. T.V. Kapali Shastri,—Further Lights—The Veda and The Tantra—(Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1951).

8. Geraldine Coster—Yoga and Western Psychology—(Oxford University Press, London, 1957).

9. Sri Shivanand—Practical Guide for Students of Yoga—(The Divine Life Society, Hong Kong, 1957).

10. Swami Akhilanand—Mental Health and Hindu Psychology—(George Allen & Unwin Ltd., London, 1952).

11. H.G. Singh,—A Study of Indian Psychotherapeutic Practices (Agra University Ph. D. Thesis 1970, Unpublished).

(Paper read in the section of Psychology and Educational sciences, Indian Science Congress, Diamond Jubilee Session, Chandigarh, January 1973).

Dr. H. G. Singh,
Department of Psychology,
Gurukul Kangri University,
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Indian Sensibility in T.S. Eliot's Poetry

Amar Nath Dwivedi

With the introduction of Kalidasa's Shakuntalam to the West by Sir William Jones in 1789, an atmosphere was created in which the East and the West began to accommodate each other. The age-old concept 'East is East and West is West, And never the twain shall meet' became out-dated and out-fashioned. Immense possibilities of collaboration and mutual adjustment in different spheres of life and letters were in sight. As a natural result, many European and American scholars turned to a study of the vast, fathomless literary heritage of India. Breaking upon the Georgian literary scene, T.S. Eliot presented the credentials of a wide-ranging poetic sensibility by incorporating into his poetry not only the 'best' of European culture and literature but also of Indian thought and tradition.

As a serious scholar of philosophy at Harvard, T.S. Eliot applied himself to the study of Sanskrit and Pali for two years. In this matter he was helped and guided by Charles R. Lanman. Going through Eliot's poetry one may mark his irresistible fascination for the profound wisdom of ancient India. His was a troubled time and peace was then but 'a wandering fire'. The ideals of the Hindu Scriptures could restore 'calm of mind' in the otherwise 'burning' world,—Eliot was quite sure of it. In his poetry, therefore, references exist to show that he had some knowledge of the *Vedas*, the *Upanishads*, the *Bhagavadgita* and Patanjali's *Yoga Sutras*. He was well-versed in Buddhistic lore and literature too. The use of 'Shantih shantih shantih' by Eliot in *The Waste Land* is both Vedic in origin and Upanishadic in content. In the same poem the poet has drawn upon the *Brihadaranyaka-Upanishad* (5,1) in the three-fold message of the Thunder.[1] The *Gita*, which is mostly held as the 'New Testament' for the Hindus, was so dear to him that he calls it "the next philosophical poem to the *Divine Comedy* within my experience."[2] Under the supervision of Mr. J.H. Woods, Eliot learnt Patanjali's metaphysics which left him "in a state of enlightened mustification"[3] Buddhism also left its indelible marks upon the poet Eliot; this is to be gathered from *The Waste Land* and *Four Quartets*.

Like Somerset Maugham, Eliot also believed in; "The East has more to teach the West than the West conceives."[4] He has made overt references to the Hindu philosophy and ethics in *The Waste Land*, the *Quartets* and *To the Indians Who Died in Africa* in poetry and in *The Cocktail Party* in drama. But even elsewhere the Indian traces are not wholly wanting. It appears from the bulk of Eliot's poetry that he was ever haunted by the vision of nightmarish dilemma, the acutest of modern maladies, the escape from which was possible only through the sagacious sayings and broodings of the Hindu sages embodied in our Scriptures. Right from *The Love Song of J. Alfred Prufrock* to the *Quartets*, and on to the poetic plays, Eliot has tried his best to underline the spiritual discipline and rigorous asceticism, so conspicuous a feature of our rich tradition.

The Waste Land (1922) brought recognition to the poet. It is here that he comes out as a "universal poet".[5] With no fewer than six languages employed in the poem, the Indian touches are so obvious in it. In Part III, 'The Fire Sermon', the collocation of the two great representatives of eastern and western asceticism (i.e. Lord Buddha and St. Augustine) is "not an

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

accident."[6] Eliot likens the Buddha's Fire Sermon to the Sermon on the Mount. From Mr. Henry Clarke Warren's translation[7] the poet picked up the following :

"To Carthage then I came
Burning burning burning burning
O Lord Thou pluckest me out
O Lord Thou pluckest
burning."[8]

(11.308-311).

The next Part, 'Death by Water', is as significant as the futile, fruitless quest of Tiresias, who in person represents the entire humanity, in Part V. Equally significant is the quester's approach to the Chapel Perilous, the decay of which denotes the 'present decay of eastern Europe.' At this juncture, the poet refers to the Ganga and the Himavant. Then the message of the Thunder is delivered thrice: 'Da Da Da'. It is an important thing in itself that the poet looks at India to break through the barrenness of his own land. Who can dare deny the deliberate inclusion of the Hindu Scriptures by the poet, particularly at this point? 'Datta', 'Dayadhvani' 'Damyata' (i.e. Give, Sympathise, Control) are the words directly drawn from the *Upanishad*. The poet takes a further recourse to the sacred wisdom of of India at the close of the poem :

Datta. Dayadhvam. Damyata.
Shantih shantih shantih

(11. 433-434).

While the first line is the repetition of the Thunder and has been cited here for emphasis-sake, the second one is a new introduction altogether. According to the poet, this is 'a formal ending to an Upanishad.' But, to my thinking, this is of an earlier date in origin and occurs in the *Yajurveda*. Nobody will, however, deny that this is a part of the *Upanishads* too.

The *Quartets* (1943) is a series of four poems that appeared from time-to-time. These poems are named after different proper places. The most explicit note of Hinduism strikes us in *The Dry Salvages* (1941). In the second movement of the poem occurs "Time the destroyer is time the preserver", which verily recounts the Hindu concept of time in relation to timelessness.[9] It is a clear-cut clue to Shiva and Vishnu of the Hindu Trinity. Herein lies an exposition of the idea contained in the beginning of *Burnt Norton* where the continued flow of time has been highlighted :

"Time present and time past
Are both perhaps present in time future,
And time future contained in time past.
If all time is eternally present
All time is unredeemable".

(*Burnt Norton*, 11.1-5).

In the third movement of *The Dry Salvages*, the teachings of Lord Krishna directed to enlighten Arjuna and to bring him out of the feelings of meum have been introduced. On the battlefield Krishna tells Arjuna "I am the Time Spirit"[10] and exhorts him further :

"You shall not think 'the past is finished'
Or 'the future is before us',"

(11.144—145)

and again :

"....., consider the future
And the past with an equal mind."

(11.153—155)

All time is centred in the Lord; the entire universe is His creation. Time which is Death finally merges into timelessness which is Immortality. So none should be afraid of time or death, and should perform one's duty unrufflledly.

The following extract from *The Dry Salvages* is identical with the sixth stanza of Chapter VIII in the *Gita* :

"....'on whatever sphere of being
The mind of a man may be intent
At the time of death'."

(11.156—158)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Towards the close of the movement, the poet takes up the theme of Karma ('action'). The *Gita* stresses throughout the importance of Karmayoga, which is the performance of one's duty with a sense of devotion and detachment. The 'selfless action', according to the *Gita*, is the highest and easiest kind of Yoga :

"And do not think of the fruit of action".[11]

The desire of getting 'the fruit of action' binds the soul ('jiva') to the body, whereas the duty done in perfect detachment liberates it for good. And the end of Yoga is liberation from the human bondage :

"The inner freedom from the practical desire,
The release from action and suffering, release
from the inner
And the outer compulsion,"
(*Burnt Norton*, II,11.70—72)

This is the sum and substance of Lord Krishna's admonition to Arjuna when he says :

"Not fare well,
But fare forward, voyagers".
(11.168—169)

The beautiful phrase in *The New Testament*—'carelessness for the morrow'—has the self-same idea. Its echo may be heard even in *The Rock* (1934) :

"I say to you : Make perfect your will
I say : take no thought of the harvest,
But only of proper sowing."
(Chorus I).

Eliot's remote poem, *To the Indians Who Died in Africa*, is a reversion to the same theme. In it he referred pointedly to the Hindu doctrine of Karma :

"Let those who go home tell the same story
of you :
Of action with a common purpose, action
None the less fruitful if neither you nor I
Know, until the judgment after death,
What is the fruit of action."[12]

Despite the adverse opinion of western critics like Miss Helen Gardner regarding the introduction of the 'great' Hindu Scriptures in the third movement of *The Dry Salvages*, the truth remains that neither the poet has made a new 'introduction' here, nor is it out of 'consonance with the poem's theme of annuntiations', nor does it destroy 'the imaginative harmony of the poem', as she puts it.

The world has become a single unit today; the distinction of East and West has been outgrown. There are "obvious points of contact between Eastern and Western thought."[13] People of different nations, tongues, and cultures have come closer than ever before. None should, therefore, get alarmed at the statement that T.S. Eliot, who lived, walked and talked among us, has at times justifiably drawn upon the Hindu Scriptures to soothe the restless soul of the seething time. The poet himself has confessed that his poetry "shows the influence of Indian thought and sensibility."[14]

REFERENCES

1. T.S. Eliot, *The Waste Land*, Part V, 11. 402—422.
2. T.S. Eliot, 'Dante', *Selected Essays* p. 258.
3. T.S. Eliot, *After Strange Gods*, p. 40.
4. S. Maugham, *The Razor's Edge*, ch. 6.
5. Octavio Paz, *T.S. Eliot: Papers and Proceedings of a Seminar*, p. 2.
6. T.S. Eliot, *Notes on 'The Waste Land'*, line 309.
7. H.C. Warren, *Buddhism in Translation*, Harvard Oriental Series, Vol. III, first published in 1896.
8. Cf. the text of 'The Fire Sermon' in Mr. Warren's work (Student's ed., 1953), pp. 351—353.
9. Vide the *Bhagavadgita*, VII, 26; IX, 7 ; X,20; X, 33.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. Ibid., XI, 32.
11. Cf. the *Bhagavadgita*, II, 47—51; although elsewhere too the theme of Karma recurs therein every now and then.
12. *Queen Mary's Book for India* (1943), p. 61
13. K. Smidt., *Poetry and Belief in the Work of T.S. Eliot*, p. 182.
14. T.S. Eliot, *Notes towards the Definition of Culture* (1948), p. 113.

Amar Nath Dwivedi,
Department of English,
Gurukul Kangri University,
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Christopher Fry's Language and Verse

Dr. R. L. Varshney

Fry occupies a place next only to that of Eliot. And like Eliot's Fry's achievement as a poet dramatist has been the subject of a critical controversy. Most of the critics have attested to the opposite extremes of partiality and prejudice. We have been informed that his language is almost that of Shakespeare or that of a merchant of ginger beer. To the one he appears to be "a panoplied bard"; to the other a sort of "effervescent coster." Those who hold an adverse opinion of his language and verse have drawn a very dismal picture of Fry. Stephen Spender makes a parody of Fry's manner :

> Rhythmically, it is extremely easy to write.
> You just go on making loose pentametres.
> Which, as everyone knows, is easier than writing prose.
> Then occasionally you introduce a gleaming line
> Eloquent as light around the horizon
> Of hills which are a background for your puns,
> And an occasional internal rhyme.[1]

Denis Donoghue in his essay, "Christopher Fry's Theatre of Words"[2] accuses Fry of "verbal flippancy," of a "self-regarding" style. He writes : To think of other writers in association with Mr. Fry is to realise that his peculiar weakness, even in "The Dark is Light Enough", is that he writes as if the lessons of Stendhal, Flaubert, Henry James, Eliot and Ford had eluded him; as if nothing of significance had happened in European literature between Southey and J.C. Squire. Mr. Fry's language has a soft centre, even where Flaubertian bone is urgently required. Its typical effect is not to concentrate feeling and thinking into the word, but to diffuse these activities over a broad verbal area. Indeed, there are few writers and fewer dramatists who yield so readily to the lyric moment. Where ideas are involved, Mr. Fry uses them to make verbal show-cases, rather than, like Shaw, to start dialectical battles. Frequently, Mr. Fry's language seems perversely designed to smooth away any conflict inherent in the situation. The picture of Fry which emerges from the press cuttings is that of "a man reeling intoxicated with words; they flow in a golden —or perhaps pinchbeck—stream from his mouth : they start out at his ears; they burst like rockets and jumping crackers and catherine-wheels round his head; they spring in wanton sport at his feet and trip him; but trip him or not, he loves them : let them all come, go where they may; let them strangle sense, flood the stage, break the dams of form : facility shall have its day. His typewriter continues to chatter long after it has been put back in its case. Words will grow out of him, like finger-nails, some time after his death."[3]

Thus the main charges against Fry's language are flippancy and verbosity, lack of distinction

1 The Spectator, CL XXXIV (March 31-April, 1950), p.364. Also see Stephen Spender, "Christopher Fry", Discussion (March 31, April 17, 1950), pp 37-49.

2. See Essays in Criticism, IX (Jan. 1959), pp 37-49.
3. Fry, An Experience of Critics (Oxford : New York, 1953), p. 23. Cue title An Experience.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

between the language of one character and the other, lack of suitable action to match words, lengthy sentences and a surfeit of similies and metaphors. Some critics are of the opinion that his plays are merely a treasury of beautiful words, and that his verse is a mere paper decoration and sheer bombast. Their judgement has a resemblance to that of Justice Tappercoom in *The Lady's not for Burning* :

> The whole thing's a lot of amphigourious
> Stultiloquential fiddle-faddle.[4]

But the defence by the Chaplain is equally appropriate :

> . . . . And what may seem nonsensical
> To men of affairs like yourselves might not seem so
> To me, since everything astonishes me
> Myself most of all.....[5]

Fry himself has answered some of these charges. He states :

> So many words, for instance. We know this criticism doesn't precisely mean what it says. There are the same number of words as in any other play; you have only to count them. It means, I think, that I dont't use the same words often enough; or else, or as well, that the words are an ornament on the meaning and not the meaning itself. That is certainly sometimes—perhaps often—true in the comedies, though almost as often I have meant the ornament to be, dramatically or comedically, an essential part of the meaning; and in my more sanguine moments I think the words are as exact to my purppse as I could make them at the time of writing.
>
> And then the question of relevance. The question is, relevance to what? The relevance of one kind of play is not necessarily the relevance of another...what I am most anxious to do here is to ask that criticism should look more deeply into the nature of a play, and to pursue the reason for its nature, rather than to try to force it into a category to which it doesn't belong.[6]

If we judge his plays in accordance with their nature, we will find that Fry never writes 'pretentious nonsense', nor is his language unsuitable for dramatic action. Its use is purposive, functional and reasonable. The criticism of Fry on the ground of using fifty words where five would do, in fact, betrays a failure to distinguish between eloquence and empty bombast.

To the charge that his people talk alike, Fry cheerfully answers, "According to the custom of men, they should, we do." Regarding long sentences, he explains in the introduction to *The Lady's not for Burning* how long a sentence should end is no body's business but his own. Perpetua's long speech in *Venus Observed* seems to be a reply to his detractors on this point.

So far as the suitability of words and deeds is concerned, Fry states that "words and actions are not unrelated. One illuminates the other; and the full significance of action can be explored only by words. If we compare the murder of Maria Marten in the Red Barn, with the murder of Duncan in Macbeth's castle, we see that in each the physical action is roughly the same, but the significance of the action is entirely different. The one is merely done, the other is experienced, and the experience is in the words. What is more, the experience is the true nature of the action. The experience ultimately is the action."[7]

These charges seem to have been based on the assumption, first, that the language of a play should be closely related to its structure, secondly that if the language becomes autonomous at any point the decorum of the play should be such as to

4. The Lady's not for Burning, p. 38. Cue title Lady.
5. Ibid, p. 41.
6. An Experience. pp 24-25.
7. "Why Verse"?, Vogue. CXXV (March 1, 1955), p. 166. Cue title "Why Verse ?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

support this autonomy for a special dramatic purpose. But such assumptions are unfounded for plays dealing not with action but with moods and seasons, man's spiritual problems, and his estrangement in the present-day world. Here we will have to view the matter strictly on merit with a view to encouraging fresh things on the stage. Viewed this way the main weakness of anti-Fry criticism is that it is carried on at a level higher than the lowly boards of the stage, and it is clear that in Mr. Spender's article on Christopher Fry the stage is nowhere in sight. Moreover, the detracting criticism of Fry misrepresents him in as much as it points to his main powers as his chief weaknesses. In *Curtmantle*, Fry perhaps has in his mind his severe critics when he makes Eleanor say :

I know your world, where an acid wit
Is valued higher than the mind hurt by it,
Where rules dictate how a man should move,
or love,
Or cough, or betray, or do nothing :
The unexceptional dance of what
Has withered within. Where every syllable's
Up for valuation by the code
Of the best poets, and nothing speaks from
goodwill.
I have understood at last the truth of the text :
A man's enemies are the men of his own
house.[8]

The most remarkable feature about Fry's language is its rich and motely vocabulary. Fry is interested in developing a powerful phraseology. He knows full well the importance of words in a play as they express a wide and proferred experience, and help in conveying sense, feeling, tone, mood, intention, thought and idea. He himself says, "Words give us a larger, or deeper experience of action." [9] That is why he prays through a character in *Venus Observed* :

God give me a few
Lithontriptical words[10]

perhaps because

the word is an arrow
Of larksong, shot from the earth's bow, and
falling
In a stillborn sunrise.[11]

Words have a compelling interest for him as they had for Shakespeare; they flow from his mouth like a torrent of gold; they often seem to brighten in his hands as jewels. Sometimes the words themselves are extended into images of a brilliant, even exotic daring, e.g. 'mesh of God',[12] 'dank rumour'.[13]

Fry often writes in heightened speech, in words that 'glow and ring', that colour page after page and 'the writing becomes jewelled with words, as a lawn with water drops in a summer dawn.'[14] Like O' Casey he is ready to make gold embroidery out of dancing words. We have only to quote the lines :

1. The Lanterns, Rosabel. They'll be very pale
Compared with the foment of wild flamboyant rose
We have in the sky to-night....[15]

2. Horses..., the caves of their nostrils
blowing
Bright clouds of breath, a foaming sea
Breaks against theit mouths, their flanks
are smoking
Like Abel's fire to heaven....[16]

3. ...I, as unlaborious
As a laburnum tree, hang in caresses of
gold.[17]

8. Curtmantle, p. 81.
9. "Why Verses?" p.166.
10. Venus, Observed, p. 42. Cue title Venus.
11. Lady, p. 87.
12. The Firstborn, p. 84.
13. Ibid. p. 58.
14. Ed. Martin Browne, Introduction to Four Modern Verse. Plays (Penguin Plays, London, 1957) p.11.
15. Venus, p.80.
16. Ibid. p. 55.
17. Ibid, p. 53.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. Our English sun, convalescent after passing
Through the valley of the shadow of the moon.[18]

5. ...the river
Where the water gives those girlish giggles around
The ford....[19]

6. I, the little heretic as he thinks,
The all unhallows Eve to his poor Adam....[20]

7. Such white doves were paddling in the sunshine
And the trees were as bright as a shower of broken glass. [21]

8. .....I've an April blindness.
You're hidden in a cloud of crimson catherine-wheels.[22]

9. .....those long jowls, my jewel,
Those ruminating thundercoloured bulls
Your brothers : and our pastry-pallid sons...[23]

"The foment of wild flamboyant rose", "the caves of their [horses'] nostrils blowing bright clouds of breath," "as unlaborious as a laburnum tree," "the girlish giggles" of water, "a shower of broken glass," "a cloud of crimson catherine-wheels," "the convolutions of convolvulus"[24] are but a few of the phrases that evince Fry's poetic gifts and his creative and evocative imagery. From the illustrations like these one can easily understand that Fry "can let down his bucket into a sea of dazzling verbal invention where he wishes, and bring it up brimming."[25] E.D. O'Brien has rightly observed, "for here was a phenomenon, a poet-playwright who used words as Shakespeare used them, to whom, as with Shakespeare, were open "all the realms of nature, all the mines of fancy," who possessed a gigantic treasure-chest of words into which he plunged his arms up to the elbows and let the lovely glittering, glowing things trickle through his fingers like the jewels they were."[26]

Fry has used a new and startling phraseology for love :

1. Having seen the beautiful teenagar Alizon Richard cries :
Is life sending a flame to nest in my flax ?[27]

2. TEGEUS. O Dynamene,
Let me unload something of my lips' longing
On to yours receiving. Oh, when I cross
Like this the hurt of the little space between us
I come a journey from the wrenching ice
To walk in the sun. That is the feeling.[28]

3. DYNAMENE.....Chromis, it's terrible
To be susceptible to two conflicting noriths.
I have the constitution of a whirlpool.
Am I actually twirling, or is it just sensations?

4. TEGEUS.....To night I need to kiss you,
Dynamene. Let's see what the whirlpool does
Between, my arms; let it whirl on my breast.
O love,
Come in.
DYNAMENE...I am there before I reach you; my body
Only follows to join my longing which
Is holding you already—Now I am
All one again.
TEGEUS. I feel as the gods feel :
This is their sensation of life, not a man's :
Their suspension of immortality, to enrich

18. Ibid, p. 26.
19. Lady, p. 20.
20. Ibid, p. 70.
21. Ibid, p. 4.
22. Ibid, p. 4.
23. Thor, p. 6.
24. Lady, p. 33.
25. Quoted from a Review in the New Statesman and Nation by Raymond Williams in Drama from Ibsen to Eliot (London, 1965), p. 265.
26. "The Poet in the Theatre", The Illustrated London News, Aug. 11, 1951, p. 228.
27. Lady, p.4.
28. A phoenix Too Freqment, p. 30. cue title phoenix

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Themselves with time. O life, O death, O body,
O spirit, O Dynamene.

DYNAMENE. O all
In myself; it so covets all in you,
My care, my Chromis. Then I shall be
Creation.

TEGEUS. You have the skies already;
Out of them you are buffeting me with your gales
Of beauty. Can we be made of dust, as they tell us ?
What ! dust with dust releasing such a light
And such an apparition of the world
Within one body ? A thread of your hair has stung me.[29]

5. TEGEUS. Hush, smile of my soul,
My sprig, my sovereign: this is to hold your eyes,
I sign my lips on them both; this is to keep
Your forehead—do you feel the claim of my kiss
Falling into your thought ? And now your throat
Is a white branch and my lips two singing birds....[30]

6 ELEANOR. Nevertheless consider
The nature of love. In love a man and woman
Are newly minted as in the beginning of the world,
Creating themselves out of each other's eyes.
But in marriage, whatever world is made,
Has the bones of the woman walled up in the foundations,
No air to breathe, nor any light to move in.[31]

Hence to call his theatre 'the Theatre of Words' is an honour, and not an insult, because his theatre is not the theatre of superfluous, meaningless, or useless words, but of words that are not only heard but also seen through the eyes and experienced through the mind. There is, in fact, a kind of suave and Apollonian splendour in Fry which modifies the ardour of his thought. He has put into practice what he preaches so well in one of his speeches :

A poet wishing to write objectively, to create an act of poetry; to make that act of poetry, and also, an act of life; not only to represent other beings out of his own nature, but to share their creation with other men the actors; to attempt completely to exteriorize his will to sing, to make his inward search for truth an outward fact. To do this he must have a particular relationship to his poetry. He must wish it to come towards him not wish to impart it. He must be surprised into it by an imagined action. And for this reason it cannot be self-conscious. It may be artful, rhetorical, severely controlled, but it must be able to live its own life in a way that is neither necessary nor desirable in non-dramatic poetry. That is why a very experimental form is likely to be a dead-end, and why the first bridge to be crossed by any poet-dramatist should be the way to reconcile his poetry to common speech, not only by the avoidance of obvious poetical inversions and excisions, but by the method of metaphor and similie, by the way symbolic language is presented, and above all by the speech rhythms, which have to overcome the tone of written literature."[32]

It is in order to reconcile his language and verse to the common speech that we find a valley of metaphors and similies in his plays. They are to him of a vital significance, as they have been in drama since ancient times. Aristotle says, "But

29. Ibid, pp. 31-32.
30. Ibid, p. 34.
31. Curtmantle, p.79.
32. Fry, "Poetry in the Theatre", Saturday Review, XXXVI, March 21, 1953, 18-19.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

far the greatest thing is a gift for metaphor. For this cannot be learnt from others, and is a sign of inborn power."[33] It is through metaphor that the language achieves its rich suggestiveness, and becomes the matching place for the wit of the reader and the wit of the writer. Hence it is something more than an amusing literary device; it is a continual play of wit, an illuminating double entendre, nimble magic. Metaphors often act to enrich reality, even to heighten it. "Living metaphor", says F.L. Lucas, "is a kind of two-headed Janus, looking two ways at once and making us see two things almost simultaneously,"[34] and that "a style without metaphor and simile is to me like a day without sun, or a woodland without birds."[35]

Metaphors and similes can give strength, clarity, and speed; they can add wit, humour, individuality, and poeticality. Sanskrit scholars went a step further and called drama "a metaphor." It is for these reasons that the hero in *The Lady's not for Burning* cries : "What a wonderful thing is a metaphor"[36]. Plainly enough Mr. Fry agrees with him. He has rather "invited straphangers, accustomed to travelling on the sunway, to take a ride on Pegasus."[37] Fry uses metaphors most effectively and wonderfully; but they are his slaves, not his master.

Another device by which he makes his verse nearer common speech is abusive language which is part of man's everyday life. Our daily language is also, occasionally, and among some people frequently, full of vituperations, oaths, abuse, swear-words, hyperbolic epithets, and interjections. Fry's people also use this natural medium naturally:

REEDBECK. You're a vain, vexing, incomprehensible, crimping, constipated duffer.....You grovelling little Gobemouche.....You spigoted, bigoted, operculated prig.[38]

In Thor with Angels the first page of the play is full of this beautiful rather regardful language :

QUICHELM. Colgrin,
You scrawny old scurfscratcher, is that you ?

COLGRIN. Frog-man, fen-fiend, werewolf, oul, elf.....

QUICHELM. Runt of an old sow's litter, you slop-headed
Pot-scourer, come here, you buckle-backed
Gutsack, come out of there'...[39]

In *The Lady's not for Burning* this type of idiom is full of hilarious amusement and is the source of delight :

1. NICHOLAS (to Richard) You canter off...
What shall I do
With this nattering wheygoose, Alizon ?
Shall I knock him down...[40]

2. NICHOLAS (to Humphrey), You slaway poodle, you tike,
You crapulous puddering pipsqueak.
Do I have to kill you a second time ?...
O blastoderm of injustice
You multiplication of double-crossing![41]

33. Aristotle, Poetics, XXXII
34. F.L, Lucas, Style (Collier Books, New York, 1962). p. 186
35. Lady, p. 168
36. Lady, p. 3
36. John Mason Browne, "Poets and Players" Dramatist Personae (London, Hamish Hamilton, 1963), p. 245; this essay was first published in 1950
38. Venus, p.42
39. Thor, with Angels, p.1. Cue title Thor
40. Lady, p.8
41. Ibid, pp. 14-15

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. THOMAS (to Tyson). You bubble-mouthing, fog-blathering,
Chin-chuntering, chap-flapping, liturgical,
Turgidical, base old man."[42]

Phrases like "vein, vexing, incomprehensible, crimping, constipated duffer," "grovelling little Gobemouche" "spigoted, bigoted, operculated prig" "strappling, ice-cold, donkey-witted douche tasteless writer," "buckle-backed gustsack" "nattering wheygoose", "bubble-mouthing, fog, blathering, chin-chuntering, chap-flapping, liturgical, turgidical, base old man" exhibit Fry's flair for inventive abuse and neologisms of vilification. They are the intellectual acrobatics of a writer whose aim is to show the futility of man's existence in a very pleasing and amusing manner.

Another example of this delight in verbal gymnastics is to be found in Tegeus' oath-speech :

I swear, I swear by Horkos and the Styx,
I swear by the nine acres of Tityos,
I swear the Hypnotic oath, by all the Titans
By Koeos, Krios, Iapetos, Kronos, and so on.
By the three Hekatoncheires, by the insomnia
Of Tisiphone, by Jove, by jove and the dew
On the feet of my boyhood, I am innocent
Of mocking you...[43]

Such names can be used only by a person well-versed in classical mythology. Fry frequently uses classical names and allusions, Greek and Latin phrases and proverbs. Such usages help him in creating the needed atmosphere, and are an aid to local colour.

Fry can use nouns as adjectives, e.g. "There is something shipwreck, about you"[44] or "My Pollen fingers."[45] 'His choice of verbs is more vigorous, more Shakespearean, than that of any other poet'.[46] Below are cited a few of Fry's verbs which he uses to 'activise' his language :

1. Is life sending a flame to *uest* in my flax.[47]
2. The sphere *churned* on.....[48]
3. And when I found my hands *crowded* him
Into my breast, he *buried* like a burr...[49]
4. All the court *flew-up* and *buzzed*
But what could they do ? Not even my
Pharaoh-father
Could sting him out of my arms...[50]
5. The flowers were *schooled*
With salemanders.....[51]
6. I'll *fune*
with feeling.....[52]
7. I thought that was why
We were *mooning* around celebrating...[53]
8. .....a blue sky *buffaloed*
by cloud.....[54]
9. The sun has *mooned*
Away half its light, already...[55]
10. Rosabel, where have you *mooning*
All the long afternoon..[56]

Fry's coinages are comic, e.g. 'vastiness lusted'...[57] 'overwhelming solitude'[58] 'decontaminating life',[59] 'congenital generator, your nephew'[60] 'rumpled idiot-boy'[61] 'mumping pub',[62] and so on. Fry will use 'larceny' for theft,

42. Iblid, p. 27
43. Phoenix, p. 16
44. The Firstborn, p. 17
45. Ibid, p. 37
46. Derek Stanford. Christopher Fry : An Appreciation (London, 1951), p. 200. Cue title Appreciation.
47. Lady, p. 40
48. Ibid, p. 33
49. The Firstborn, p.4
50. Ibid, p. 4
51. Ibid, p. 37
52. Phoenix, p.29
53. Lady, p.65
54. Venus, p. 5
55. Ibid, p. 14
56. Ibid, p. 56
57. Lady, p. 32
58. Ibid, p. 32
59. Ibid, p. 26
60. Ibid, p. 28
61. Ibid, p. 41
62. Ibid, p. 18

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'abacation' for the theft of animals, 'peculation' for embezzlement, and 'incendiarism' for causing fire.[63]

His language contains within itself all the expected furnishings of verse, such as imagery, metaphor, simile, onomatopoeia, alliteration, and the like. As an example of onomatopoeia, we can cite the following passage :

> Burst in among us, blashpheming against
> Woden,
> Broke his sword in the air—he swore it broke
> Against a staggering light—and stood roaring,
> Swaying in a sweat of wax, bestraddled
> Over the fallen Briton.....[64]

And below are given a few samples of his alliterations :

1. ...Who's awake ? Where's
   The welcome of women for wayfarers ?
   Where's my Wodenfearing mother ?[65]
2. ...as bright and bristling
   As Barney the boarhound...[66]
3. To doom and a damned journey into dust...[67]
4. You should be crouching craven in a cave...[68]

Fry's love of and his skill in the use of paradox and anti-thesis can be illustrated from the following passages :

1. ..Joy is nothing
   But the parent of doom.[69]
2. Death is a new interest in life...[70]
3. ...What is my freedom becomes
   Another person's compulsion...[71]
4. Shall we live in mystery and yet
   Conduct ourselves as though everything were known ?[72]
5. In the belly of our misfortune
   We find our hope.[73]
6. I followed a light into a blindness.[74]
7. Nothing has any truth and anything is true.[75]

And here is an example of Fry's pun :

DUKE — And I, as unlaborious
As a laburnum tree, hang in
caresses of gold.

EDGAR. — And what do I hang in ?

DUKE. — You hang in abeyance, Edgar...[76]

His plays, thus contain something of the intellectual acrobatics of the metaphysicals. There are far-fetched images which are spell-binding, the similes and metaphors that startle us, the puns that remind us of Janus, the play of engaging words that reminds us sometimes of Anouilh, sometimes of O'Casey, and at other times of the Elizabethans. His wit descends from the Restoration dramatists through Oscar Wilde. And while there is much exquisite grace of expression there is also the earthy salt of colloquialisms. One could fill a whole anthology with brief or copious extracts from his plays, demonstrating his varied use and employment of it as a comic agent, in paronomasia and other forms of word-play; his amazingly inventive powers of abuse; his gay neologisms and polysylabic clowning; or, again, on the serious side, his flair for giving to metaphysics the valid and immediate impact of metaphor; his creation of fresh vernacular of wooing; and his art as an 'inner portrait painter.'

Fry lays the acceptance of poetry in the theatre to two things :

63, See Lady, p. 36
64. Thor, p.4
65. Ibid, p. 1
66. Ibid p. 2
67. Ibid, p. 7
68. Ibid, p. 19
69. Phoenix, p. 33
70. Ibid, p. 4.
71. Venus, p. 96
72. The Firstborn, p. 46
73. Ibid, p. 31
74. Ibid, p. 31
75. Ibid, p. 48
76. Venus, p. 53

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

One's the reaction to the long hold of surface realism. The other is that the world seems rather cut down a bit.. and poetry provides something people lack, and wish for a richness and reaffirmation.[77]

At another place he states :

The use of verse in the modern theatre... comes, I think, from a certain spiritual searching which is part of our troubled times.[78]

He regards poetry as the language of reality, of economy, and of correctness. It is not unnatural. On the contrary, it is 'the reason itself'.[79] The pursuit of poetry or the creation of its works, in Fry's opinion, is "an apprehension of truth beyond the power of rational thought." In his defence he says, "Well if we have to be born into a world as wildly unprosaic as this one is, what else can be done, if we mean to be realistic ?"[80]

Fry has demonstrated over and over again that poetry preserves its force as a universal language, significant and immensely enjoyable. It has the privilege of showing us several planes of reality at once—sensuous, logical, psychological and spiritual. It is the language of emotion and power; it 'moves like an athelete over hurdles to perform the most most economically'.[81] Moreover, it is 'the central functionary of the play, the spring of all action, potent, shaping, and informing'. It has several advantages over prose. Certain experiences can be better experienced in and expressed through it; "in prose we convey the eccentricity of things; in poetry, their concentricity.[81]' It is as natural as one of our senses. Moreover, it is an 'unrolling exploration' and 'the humility of language.' All our actions in Fry's view are the actions of poetry. He argues :

> Poetry is the language in which man explores his own amazement. It is the language in which he sees heaven and earth in one word. It is the language in which he speaks to himself and his predicament as though for the first time. It has the virtue of being able to say twice as much as prose in half the time, and the drawback, if you do not happen to give it your full attention, of seeming to say half as much in twice the time . . . We can say that poetry is the language of reality.[82]

Poetry to Fry, therefore, is a sign of man's vitality. 'Fear of it, or lack of it, is the dead-end of his material needs.' In his theatre poetry is action and action is poetry. He is not a poet and a playwright separately : he is all the time a poet-playwright. He holds with Wordsworth's theory that poetry is something "felt in the blood, and felt along the heart."[83] He summarises his theory of verse as follows :

> A verse play is not a prose play which happens to be written in verse. It has its own language. In a talk on *Poetry and the Theatre*, I tried saying something more about this, in these words : "The dramatist must view the world of his play, and the people of that world, with great precision : the poet-dramatist with the greatest poetic precision. The whole structure depends upon it, what scene follows another, what character goes and what character enters, where description or landscape becomes

77. Ed. Stanley J. Kunitz, Twentieth Century Authors: A Biographical Dictionary (New York, 1955), p. 355
78. Fry's letter to M P. Sanghal, pub. in his Christopher Fry and T.S. Eliot (Brij. Prakashan, Meerut, India, 1968). p. 127, originally a thesis submitted to Agra University.
79. "Why Verse?" p. 137.
80. Quoted by Denis Donogue, Essays in Criticism, IX, 38
81. "Why Verse?" p. 137.
82. "A Playwright Speaks", p. 332
83. Quoted by Fry from Wordsworth's 'Tintern Abbey' (1798) in "Why Verse", p. 166.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

part of the action, or where it needs a bare exchange. The poetry and the construction are inseparate. Who understands the poetry understands the construction, who understands the construction understands the poetry, for the poetry is the action and the action — even apart from the words — is the figure of poetry.....[84]

What Fry wants is that 'in exploring and recreating life in terms of the stage we should use language as fully charged and as plient as we can make it.' [85] So poetry should be used in the theatre to satisfy the spiritual needs of our age, to include the greater reality, to express the superstitions and the supernatural, to enact a mood or state of mind, to portray a character, to demonstrate the human dilemma, and above all, to achieve a union of word, action, character, tradition and discovery. "No event," observes Fry, "is understandable in a prose sense alone. Its eventual meaning... is a poetic meaning."[86] But Fry does not consider poetic drama to be something opposed to prose drama. In an interview with Lewis Nicholas, he said :

> I find it a pity to divide drama into verse and prose, for it's a false division. Each play shouldn't have to be forced into one category or the other, it happens that only poetry is for me, and I have never written a prose piece of my own. But the division is growing less. Tennessee Williams, for example, has written both.[87]

In another talk he points out :

> What reason is there for limiting the theatre to one form of communication ? It is even believed that the prose play and the verse play are in opposition : or that the one precludes the other : there appears to be a kind of colour bar in the matter. Such rivalry is nonsense. Indeed prose and verse existing side by side counter each other's dangers. If they pass altogether out of reach of each other's, they cease to be themselves : becoming on the one hand journalese, official cant, or any other string of sentences : and on the other a vagueness, an abstraction, a preciousness.[88]

The inter-play of prose and poetry to Fry is like "men and women dancing the Grand Chain,"[88] and it is this dance that keeps each in its own state of grade. So he shelves this debate between the poetic and the prosaic in the following manner :

> I have no answers to satisfy you if you believe that human nature, or human personality, is divided into two parts, of whatever proportion, the prosaic and the poetic. I think we always live with a foot in each camp, or rather, that there is no moment when we can safely say that even our apparently most insignificant actions have not a significance greatly beyond ourselves.[89]

Fry's plays live up to this compromise. Some of them—*The Boy with a Cart* and *Curtmantle*—use both verse and prose.

Fry's verse has its distinctive mark. William Arrowsmith has compared Fry's verse with Marlowe's. "There is," says he, "the same verbal impatience, the same laddering of effects towards an over-all tonal-roof, and the exuberance of the autonomous language."[90] But another critic, Mauris Bewley differs with Mr. Arrowsmith. Commenting on the same speech which Mr. Arrowsmith chose for Fry's appreciation, Mr. Bewley remarks, "The colours of this speech flake and fade, and the outline of its image grows misty. There is very

84. Christopher Fry, An Experience of Critics (Oxford), 1953, pp. 26-27. Hereafter referred to as An Experience.
85. "A Playwright Speaks", The Listener (Feb. 23, 1950), 332.
86. "Why Verse?" p. 162.
87. The New York Times, Sunday, 27 April, 1958, Sec. II, IX.
88. "Why Verse?" p. 166,
89. Ibid, p. 168.
90. See "Notes on English Verse Drama", Hudson Review, Summer, 1950, III, 213-16.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

little or concrete immediacy behind it, an even 'bryony, sloes, rosehipe' suggest second-hand literary gleanings rather than a genuine response to the real things, or even to the experience or words."[91] Mr. Bewley's other charges against Fry's verse are ironic over-statement, and a cynicism too youthful and exhibitionistic. But most of these charges again are a by-product of the modern antipoetic tendency. Mr. Bewley seems to undermine the fact that any piece of real art when it comes to public notice automatically becomes exhibitionistic, and that if Fry's pages are charged with a little extravagant wrath and vigour, they should not appear to any of us as full of 'cynicism'. In fact Fry's comedies are not the comedies of situations or characters ; here the action lies not in events and situations, but in the very words. So the critic does not need to bewilder himself by Fry's buyoant flights of imagery and this sometimes baroque rhetoric. Such effects are not interruptive. The most imaginative passages, instead of standing isolated as poems to be recited by the actors reinforce characterization and energize plot. Even the forty-eight line speech of Merlin in *Thor, with Angels,* and the forty-three line eloquence of Perpetua in *Venus Observed*, which have been the subject of adverse criticism are relevant to the meaning of the play concerned.

The most notable feature of Fry's verse is its dramatic quality. His poetry is dramatic enough to vivify character and energise plot. His plays are moving poetry. Like Bottomley's his lyricism is there not by accident but by design, because he is resolved to create a poetic drama in the true sense, a drama where the action is the poetry and the poetry is the action. "In Fry, then, as I have attempted to show, poetry and drama are not at war ; the first diminishing the sense of situation, the second detracting from the beauties of speech."[92] So "it would be wrong to think that the poetry is merely a spangled cloth, a number of yards of verbal tinsel, wherewith the author disguises or positively enhances the basic banality of his drama."[93] Hence to estimate Fry's success accurately we must see his plays "not so much as an achievement in poetic drama, as an original application of verse to familiar theatrical ends.[94] poetry is "the central functionary in the play, the spring of all action, potent, shaping and informing."[95]

He uses verse in a way that will enable actors, unused to such dialogues, to benefit by it instead of making them feel embarassed by it. His verse is very easy, chastened, melodious, and full of apt phrases, metaphors and similitudes. It has a dynamic structure and steadily moves towards a climax, and at the same time it is studded with pointed, witty and paradoxical statements and sentences. It rouses and shocks the mind and keeps it perpetually expectant, and gratified. He has the double gift of the musician and the rhetorician, which is clearly reflected in his verse-dialogue, where aptness and precision of phrasing, balance, economy and adjustment of part with part, of illustration and a veritable hail of pelting end sparkling witticisms and paradox abound.

Fry has been able to free himself from the fetters of the Elizabethan blank verse which sucked the vital lifeblood of the plays of Flecker. Like a hag his plays also emphasize the growing awareness of the necessity of simplification or the blending of the colloquial and the poetical for infusing the energy of real life into poetic drama. He has successfully created his medium—verse without any specifically poetic language or rhythm, fit

91. Mauris Bewley, "The Verse of Coristopher Fry," Scrutiny, XVIII (June, 1951), p. 79.
92. Appreciation, p. 48.
93. Ibid. p. 19.
94. Raymond Williams, op. cit., p. 262.
95. "Why Verse?" p. 137.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

for prosaic contexts, but also able to enhance dramatic tension by its precise and suggestive poetic condensation. It helps rather than hinders the audience. It has a burning energy and a splendid diction. Fry can switch over directly or indirectly to prose whenever he wishes to do so. Almost all his plays contain scenes in prose or in verse which is near prose.

Fry's verse, however, is not the prevalent staccato drives, 'the gutter-bred language polished to crest stone heights', nor the 'telegraphic lingo that passes for alive dramatic speech' but the singing and flowing of the English tongue, and to use J.C. Trewin's phrase, 'the singing of gold'. He is indeed, 'the freshest, and most singing voice that had sung in the dusty recess of the theatre'.[96] He is all the time "a silvery singer", a sort of Siamese Twin, in which the attributes of the muse of song and the muse of drama are featured together."[97] Derek Stanford has rightly called him "the 'pocket' Caruso[98] of contemporary stage-verse."[99]

Fry does not employ the ten-syllabled line with regularity; he uses much freer forms. He is a man with lively fancy. Fry's rhymes, when compared to Shakespeare's seem to be comparatively limp because he cannot fall back upon a standard of regularity from which any departure provides a rhythmic meaning to the ear. His rhythm is colloquial, easy, matter-of-fact, compounded of daily speech patterns. There is a tinge of monologue in some of his dialogues. We do not find in his verse that rhythmic woodenness and linguistic poverty which the Victorian poet-dramatist had. Fry is always rich and copious in his style. His rhythms and metres often resemble those of the Miracles, and the Morality and Mystery plays of the Middle Ages, notably *Everyman* (about 1490), If need be, he can repeat the rhythms to heighten the effect (for example, "But am I sure" in *Venus Observed* p. 95).

When we trace the development of Fry's style and medium we find that *The Boy With a Cart* reflects Fry's indecision about the choice of his medium. He appeared to waver between Eliot and Williams, and also between the prosaic and the poetic. He knew not whether to choose a florid language or a simple colloquial idiom. In fact, he appears to have expounded with both prose and verse. Much of the play, therefore, is written in prose, and the real poetry in the play is found in the lyrical utterances of the Chorus. But he was soon convinced that his powers lay between Shakespeare and Eliot. In *The Firstborn* his idoim is highly chiselled and finished. Although this play is not remarkable for the splendour of his comedies, yet it shows Fry's wonderful mastery of dialogue. Here the language is neither artful nor pompous, but simple and consistent :

> We're not enemies so much
> As creatures of division—you and I,
> Ramesses, like money in a purse,
> Ring together only to be spent
> For different reasons....[100]
>
> OR
>
> We're not concerned with hope,
> Or with despair ; our need is something different ;
> To confront ourselves, to create within ourselves
> Existence which cannot fail to be fulfilled.[101]

There is in this play minimum decoration. The language has a remarkable economy and precision. In comparison with the language of comedies the language in his tragedies is suddued and controlled, yet it is not dead; it has its usual freshness, vigour and the singing quality.

In his comedies the language is typically Fryian. It has a wonderful store of figures of speech ; its imagery is of a very intense order ; it is like sea-foam or lightening without its terrific thunder. It has a continual sweet murmur. Whereas the comedies have a

96. New York Times, Nov. 8 1959, p. 87.
97. Appreciation, p. 12.
98. Enrico Caruso (1873-1921), a celebrated singer.
99. Appreciation, p. 12.
100. The Firstborn, p. 26,
101. Ibid, p. 31.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

bubbling spontaniety and flow of words, tragedies use them in a restrained manner. We may assign the reason of this simplicity to the severe criticism of his critics. But above and over this consideration are the theme and atmosphere of the tragedies. It is in accordance with the demand of the action, that Fry uses language. In short, whereas the language of the comedies (*A yard of Sun* is an exception) is florid, the language of the tragedies and later festival plays is subdued.

Fry's style may appear too mannered but, it comes to him naturally. He has violated the calendar in both directions, utilising the modern idiom in depicting the Middle Ages, and 'elevated' diction in realistic modern scenes. The diction of his verse ranges from the cockney in *A Phoenix Too Frequent* to the vulgar tongue of enlisted men in *A Sleep of Prisoners,* from the homely modern terms put into the mouth of St. Cuthman in *The Boy with a Cart* to the suave epigrams of *Curtmantle*. His gift for idiomatic usage has been equalled by no other contemporary poet-dramatist. He can make an effective use of slang and colloquialism, e.g. 'swiggty', 'oblit' (for obliterate). There is often an euphemistic touch in his style : "I think I see little phoebuses/rising and setting in your eyes." His is a melodious and picturesque style. One cannot but marvel at the amazing vocabulary and those flippant classical allusions which are a part of his style. "Fantasy, eloquence, rhetoric, and wit, when taken together combine to produce a remarkably high-spirited verbal compound. Such a component we have in Fry's plays."[102] His style is, therefore, both original and inimitable. That is why he has hardly any disciples.

To conclude, Fry's verse, has adaptability and flexibility. It has a dramatic function ; it relies on the potency of words and not on the urgency of action. He has a particular gift for describing, with his amplitude of similes and delicate fabric of language, the sounds, sights and smells of the English countryside. It possesses to a great extent sensibility, power, wit, humour, pun, paradox, a flood of figures of speech, artistic insight and imagination. "His Verse", says J. C. Trewin "is a foam, a sea, a walter of conceits. Wit flashes from it like a heliograph in sunlight.[103] Again it is for his uninterrupted raillery and horse-play, his striking untraditional, saucy images, vigorous metaphors, and vaunted wit that Fry is most popular among the contemporary audiences. Fry's verse is further notable for its burning energy, its splendour of diction, its sensuous richness, its variety of space, and its responsiveness to the demands of varying emotions. Fry's dialogue, in its mingled gaiety and melancholy, sweetness and irony, allusions to real things and kinship with a romantic world, has an altogether indefinable magic. He has created a personal style of his own; a mixture of the sublime, the simple and beautiful, the mysterious, the grotesque, the learned, and the unexpected. As one of his characters says, "I have done nothing monosyllabic. A spade is a spade ?"[104] Fry has rightly removed much of the monotony of the dull prosaic stage of the twentieth century, and has contributed a lot of literary drama without damaging its stageability. Colgrin in *Thor, with Angels* rightly summarises Fry's achievement :

There's not a devil
In the length of the land could pick such a posy of words
And not swoon smelling it.[105]

Dr. R.L. VARSHNEY
Department of English
University of Gurukul Kangri, Hardwar

102. Appreciation, p. 211.
103. J. C. Trewin, Drama : 1945-50 (Longman, 1951), p. 26.
104. Venus, p. 36.
105. Thor, pp. 1-2.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PRINTED AT S. NARAYAN & SONS, DELHI.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोध भारती

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की अनुसन्धान पत्रिका)

सम्पादक

डा० रामनाथ वेदालङ्कार

डा० विष्णुदत्त राकेश

वर्ष १, अंक १

जनवरी १९७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोध भारती

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की अनुसन्धान पत्रिका)

सम्पादक

डा० रामनाथ वेदालङ्कार

डा० विष्णुदत्त राकेश

वर्ष १, अंक १

जनवरी १९७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

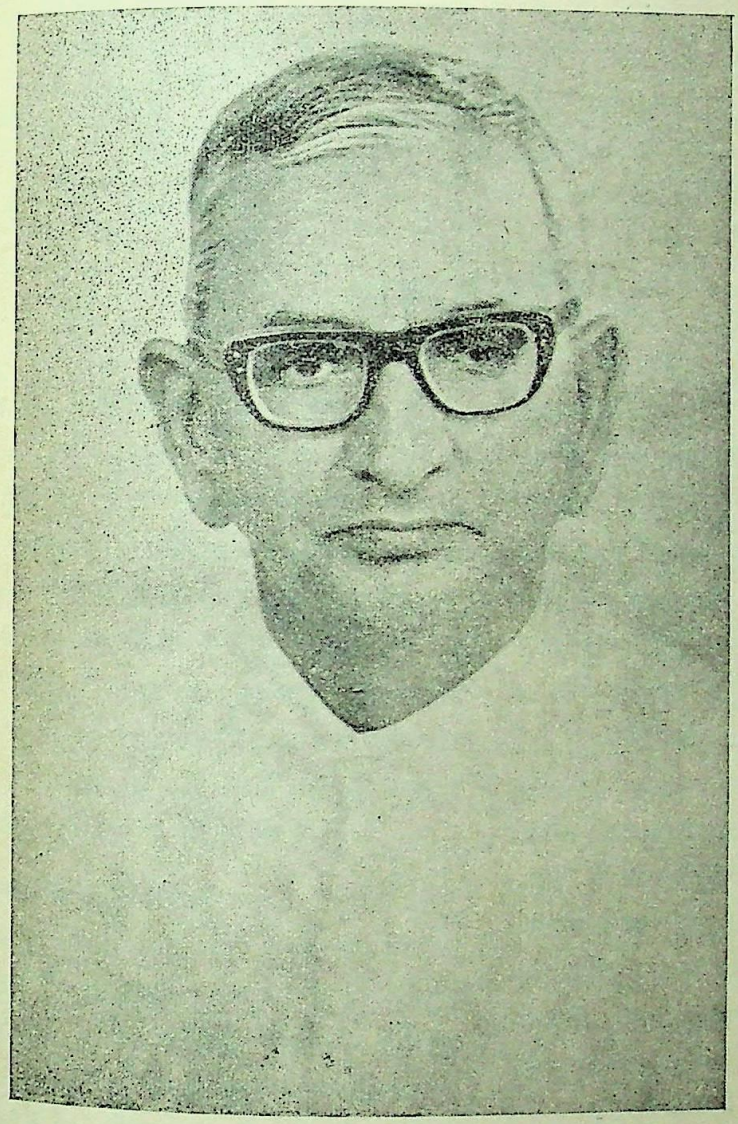

वैदिक साहित्य, इतिहास तथा दर्शन के

प्रकाण्ड विद्वान्

आचार्य रघुवीर सिंह शास्त्री

कुलपति

जिनके जीवन्त कर्त्तृत्व तथा गतिशील नेतृत्व का संस्पर्श पाकर

विश्वविद्यालय का शैक्षणिक स्तर संवर्द्धित

हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

७३ वर्ष के प्रौढ़ किन्तु नित्य यौवन छवि से दीप्त, सक्रिय तथा संस्फूर्त्त गुरुकुल विश्वविद्यालय कुलगुरु स्वामी श्रद्धानन्दजी के आदर्शों पर भारतीय साहित्य, संस्कृति, दर्शन, इतिहास तथा वेदांगों के क्षेत्रों में प्रचलित विश्वविद्यालयीय परिपाटी से भिन्न शिक्षा-मूल्यों का सामयिक परिप्रेक्ष्य में गतिशील प्रयोग करता रहा है। उसकी प्राच्य विद्या-संरक्षणगत उपलब्धियों का राष्ट्र के प्रबुद्ध विचारक वर्ग ने स्वागत किया है। अन्य उच्चस्तरीय शिक्षण संस्थाओं से उसकी यह मौलिकता भारतीय शिक्षा के इतिहास में अनिवार्य महत्त्व की साक्षी है।

गुरुकुल संस्था नहीं, विचारधारा है। परिपाटी नहीं, प्रयोग है। स्थिरता नहीं, गति है, चेतना है और है शाश्वत सांस्कृतिक मूल्य बोध। गुरुकुल परिसर में छात्र तथा शिक्षक प्रकृति के सुरम्य परिवेश में एक रचनात्मक उद्देश्य के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की प्रगति का परिचय प्राप्त करते हैं। वेद, दर्शन, मनोविज्ञान, गणित, विज्ञान, पुरातत्त्व, हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी साहित्य तथा आयुर्वेद जैसे विषयों का उच्चस्तरीय अध्यापन तथा शोध कार्य यहाँ व्यवस्थित रूप से हो रहा है। विश्वविद्यालय के समकक्ष मान्यता मिल जाने पर अपने मौलिक रूप की रक्षा करते हुए अन्य विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम, शोधस्तर तथा अध्यापन-परिपाटी के समस्तरीय रूप ग्रहण से इसने नव जीवन प्राप्त किया है। विद्वत् समिति, शिक्षा पटल, व्याख्यान-माला तथा पाठ्यक्रम समितियों के व्याज से देश के मूर्धन्य विद्वानों तथा शिक्षा शास्त्रियों के उपयोगी विचारों तथा परामर्शों से इसका पथ प्रशस्त हुआ है। शिक्षाविदों की दृष्टि गुरुकुल पर कृपापूर्ण रही है और उनकी आशाओं-आकांक्षाओं को साकार करने में यह निरन्तर सचेष्ट है। मास्को विश्वविद्यालय के प्राच्य-संस्थान के निदेशक डा० ई० चेलिश्शेव तथा भारत की माननीया प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इस सत्र में विश्वविद्यालय में पधारकर इसकी प्रगति पर सन्तोष का अनुभव किया है। सीमित साधनों तथा शक्तियों के होते हुए भी विश्वविद्यालय के अधिकारी, प्राध्यापक तथा छात्र बद्ध परिकर हो अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं। संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान्, कुशल प्रशासक तथा प्रमुख शिक्षाशास्त्री आचार्य रघुवीरसिंह शास्त्री के कुलपतित्व में विश्वविद्यालय में शान्ति, अध्यापन, शोध तथा रचनात्मक प्रवृत्तियों को जैसा संरक्षण-संवर्द्धन मिला है, तोड़फोड़ तथा विघटनात्मक गतिविधियों के केन्द्र अन्य शिक्षण-संस्थानों के लिए यह स्पृहा की वस्तु है। श्री शास्त्री जी की प्रेरणा से ही विश्वविद्यालय की यह शोध-पत्रिका प्रकाशित हो रही है। प्रवेशांक आप सुधी-पाठकों के सामने है। हम आपके सक्रिय सहयोग, परामर्श और आशीर्वाद के आकांक्षी हैं।

अनुसन्धान एक दुरुह प्रक्रिया है। उसके मूल तत्त्वों का निरुपण यहाँ अभिप्रेत नहीं है। आत्म सजगता के साथ सम्पन्न होने वाला कार्य महत्त्वपूर्ण होता है, इस आशय से संकलित इन शोध-निबन्धों से नये संकेत की क्षमता पाठकों को अवश्य मिलेगी, इसका पूर्ण विश्वास है। परम्परा और विचारधारा संशय की दरार से टूटती है किन्तु जीवन बोध और महनीय सत्य का साक्षात्कार भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न चिन्हों के साथ ही उजागर होता है। सृजनात्मक साहित्य और आलोचना शोध के परिवृत्त में बंधकर ही विश्वसनीय बनते हैं, उनकी आयुकाल व्यापिनी होती है। वय का अनुमान और ठीक-ठीक मूल्याङ्कन आँखों की स्वस्थता का सूचक है। इस संकलन के निबन्ध शोध और आलोचना की नई दृष्टि से सम्पन्न हैं, यदि विषय-मर्मज्ञों को इससे सन्तोष मिल सका तो हम अपने श्रम को सफल मानेंगे। अन्त में जिन विद्वानों ने अपने मौलिक निबन्ध सरस्वती-प्रीत्यर्थ प्रकाशनार्थ देकर 'शोध-भारती' को भारती भवन में प्रवेश दिलाने का सुअवसर प्रदान किया है उनके प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। भविष्य में भी हमें इन मनीषियों का अधिक से अधिक सहयोग मिलता रहेगा, इस आशा के साथ प्रस्तुत अंक सहृदय पाठकों के कर कमलों में सौंप रहे हैं।

"यह मनुज ब्रह्माण्ड का सब से सुरम्य प्रकाश,
कुछ छिपा सकते न जिससे भूमि या आकाश।"

—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचरित के तीन गायक और उनकी काव्यकृतियाँ

वाल्मीकि, अज्ञातनाम कवि,और तुलसीदास कृतियाँ

—आचार्य किशोरीदासवाजपेयी

पौलस्त्यवध, वाल्मीकीय रामायण, और रामचरित मानस इनमें से एक (पौलस्त्यवध) नाटक है, और शेष दोनों महाकाव्य। 'महाकाव्य' की जो परिभाषा अर्वाचीन साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दी गई है, उसमें यदि वाल्मीकीय रामायण तथा 'रामचरित-मानस, गृहीत नहीं होंने, तो यह 'परिभाषा' बनाने वालों का दोष है कि वे अपनी परिभाषा में इन महाकाव्यों को न ला सके। यह भी संभव है कि उनके सामने 'महाकाव्य' संस्कृत के ही रहे हों और 'मानस' पर उनका ध्यान न गया हो; या 'परिभाषा' बनाने तक 'मानस' का अवतरण न हुआ हो और वाल्मीकीय रामायण को वे साधारण महाकाव्यों में न रखना चाहते हों। वह तो 'आदिकाव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। तब 'महाकाव्य' की अर्वाचीन परिभाषा में वह कैसे आए!

वाल्मीकि रामचरित के आदि गायक हैं। उन्होंने करुण रसात्मक 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा था, जिसका पता वाल्मीकीय रामायण के आरंभिक चार सर्गों से चलता है। प्रारंभिक सर्ग उस अज्ञातनाम महाकवि ने भूमिका के रूप में लिखे हैं, और फिर पाँचवें सर्ग से महाकाव्य की कथा आरंभ होती है।

'वाल्मीकीय रामायण' नाम इसलिए प्रचलित हो गया; क्योंकि महाकवि ने आरंभ के चार सर्गों में बताया कि रामायण (रामचरित) के प्रथम गायक वाल्मीकि हैं, और फिर अन्त में कृतज्ञापूर्वक कहा—

'आदिकाव्यमिदं चार्षम्,
पुरा वाल्मीकिनो 'कृतम्'

'पुरा' अति प्राचीन काल में मुनि वाल्मीकि ने इस आर्षकाव्य की—'रामायण' की रचना की थी। नाटक दृश्य काव्य है, और वाल्मीकि का 'पौलस्त्यवध' नाटक था, जिसे 'रामायण' नाम से प्रसिद्धि मिली। रामायण का रामचरित का—निबन्धन 'पौलस्त्यवध' में होने के कारण उसे 'रामायण' लोग कहने लगे। पहले 'राम-चरित' के अर्थ में 'रामायण' का प्रयोग होता था। वाल्मीकी रामायण के प्रौढ़ टीकाकार श्रीमान् राम महोदय ने लिखा है—रामस्य अयनम्, चरितम्—'रामायणम्'। यानी 'रामायण' तब तक काव्यविशेष की संज्ञा न थी। आगे चलकर 'रामायण' शब्द का प्रयोग उन काव्य-विशेषों के लिए होने लगा, जिनमें राम-चरित (रामायण) का निबन्धन हुआ हो—अध्यात्मरामायण' आदि। यहाँ तक कि तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' की भी 'तुलसीकृत रामायण' नाम से ही अधिक प्रसिद्धि है।

सो, वाल्मीकि के 'पौलस्त्यवध' नाटक को 'रामायण' नाम मिला और फिर रामायण (रामचरित) को लेकर जब किसी महाकवि ने एक महाकाव्य की रचना की तो उसे भी 'रामायण' नाम मिला और वह वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस महाकाव्य को भी पौलस्त्यवध (रावण-वध) तक ही रखा गया था। 'युद्धकाण्ड' (लंका-काण्ड) के अन्त में ही राम का, अयोध्या-आगमन और राज्य-भार ग्रहण करने का वर्णन है और यहीं 'फल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुति' आदि है, जो ग्रन्थ की समाप्ति पर ही लिखी जाती है। 'उत्तरकाण्ड' उत्तर कालीन प्रक्षेप है। यह सब आगे बताया जायगा।

रामचरित के तीसरे प्रमुख गायक हैं जो स्वामी 'तुलसीदास' जिनका 'रामचरित - मानस' तुलसीकृत 'रामायण' नाम से देश भर में तथा विदेशों में भी गुंजित हो रहा है। जितना व्यापक प्रचार इस महान् काव्य का हुआ, उतना अन्य किसी भी ग्रन्थ का नहीं। इस लोकोत्तर लोक काव्य ने भारतीय जनता को काव्यानन्द के साथ-साथ आत्मबल तथा सदाचार की भी शिक्षा दी है। अपढ़-निरक्षर से लेकर बड़े से बड़े विद्वान् भी तुलसी के शब्दों का आनन्द लेते रहेंगे। यह काव्य पाञ्चाली और अवधी में है। ये दोनों भाषाएं 'हिन्दी संघ' की प्रमुख भाषाएं हैं। परन्तु कहा यही जाता है कि 'रामचरित-मानस' अवधी भाषा का काव्य है।

ये तीन रामचरित के प्रमुख गायक हैं। इनका तथा इनकी काव्य-कृतियों का विशद विवेचन इस छोटे से लेख में क्या होगा! संक्षेप में आगे परिचय दिया जाएगा।

वाल्मीकि और उनका "पौलस्त्यवध काव्य"

'वाल्मीकीय रामायण' के प्रमुख टीकाकार श्रीमान् राम महोदय ने लिखा है कि वाल्मीक नाम के कोई ऋषि थे। उनके पुत्र 'वाल्मीकि'। यों 'वाल्मीकि' नाम नहीं, नाम का विशेषण ठहरता है, जैसे—'दाशरथि'। परन्तु यह विशेषण ही नाम के रूप में चल पड़ा, और नाम लोग भूल ही गए! बादशाह अकबर का नाम कितने लोग जानते हैं? 'अकबर' तो उनके महत्त्व के लिए लगाया गया शब्द है। नाम था-'जलालुद्दीन,' जो प्रायः लुप्त ही हो गया। हिन्दी के महाकवि भूषण का नाम भी लुप्त है। 'कवि-भूषण' की पदवी उन्हें दी गई थी। फिर 'कवि-भूषण' लोग कहने लगे। जैसे 'भूषण' नाम, और 'कवि' उसका विशेषण, आगे 'भूषण' ही नाम प्रसिद्ध हो गया। बस, कुछ यही स्थिति 'वाल्मीकि' मुनि की है।

सरस्वती उपासक मुनियों में केवल वाल्मीकि का ही नाम अमर है, शेष सब लुप्त हो गए। भरतमुनि तो बहुत बाद के हैं। इसी तरह असुर-कवियों में 'उशना' का नाम लिया जाता है—'कवीनामुशनाः कविः'। 'उशनाः शुक्रः'। शुक्र (असुरों के गुरु, नेता तथा महाकवि) का नाम 'उशना' था। वे वीर-भाव (वीर्य वीरता) के पुंज थे, अपनी मृतसंजीवनी काव्य-शक्ति के कारण। इसलिए उन्हें 'शुक्र कवि' कहा गया। कालान्तर में 'शुक्र कवि' ही प्रसिद्ध हो गए और उनका नाम (उशना) भी कृष्ण-जैसे वीरता-प्रेरकों की ही जानकारी तक रह गया। नाम भर वाल्मीकि की कृति का शेष है; पर शुक्रकवि की कृति का नाम भी लुप्त हो गया।

एक दूसरे वाल्मीकि भक्त हुए हैं द्वापर में, जिन्हें युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में भगवान् श्री कृष्ण ने उजागर किया, और सर्वोपरि महत्त्व दिया। ये भक्त वाल्मीकि सफाई का काम करने वाले हरिजन (भंगी) परिवार में पैदा हुए थे। इनका वर्णन नाभा जी ने 'भक्त माल' में किया है। यह नाम के एक होने के कारण कुछ लोग द्वापर के भक्त वाल्मीकि को ही रामगायक मुनि वाल्मीकि समझ बैठे हैं।

वाल्मीकि मुनि में साहित्यिक प्रवृत्ति थी। वे कोई ऐसा काव्य लिखना चाहते थे, जो आदर्श वीरता का प्रेरक हो। इस के लिए उन्हें मुनिवर नारद से प्रेरणा मिली कि राम ही एक आदर्श पुरुष हैं। उन्हें ही काव्य का नायक बनाओ। इस के बाद ब्रह्मा जी वाल्मीकि से मिले। ब्रह्मा जी नाट्य-शास्त्र के आद्याचार्य हैं। उन्होंने ही कदाचित् 'दृश्य काव्य' लिखने की सलाह दी हो; क्योंकि 'श्राव्य काव्य' की अपेक्षा 'दृश्य काव्य' में अधिक प्रेरकता होती है! अपढ़-कुपढ़ भी दृश्य काव्य (नाटक आदि) में बराबर आनन्द लेते हैं और (लिपि- माध्यम के बिना ही) सीधे कवि की वाणी सुनते हैं, उन अभिनेताओं के द्वारा, जो राम, सीता, हनुमान आदि की भूमिका में आकर अभिनय करते हैं। सो वाल्मीकि को यह बात अच्छी लगी। उन्होंने 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा। रामायण-महाकाव्य के रचयिता ने भूमिकात्मक (बाल काण्ड के आरम्भ में) चौथे सर्ग में लिखा है—

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।
पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामायणम्—रामचरितम् 'पौलस्त्यवधमित्येवम्'-पौलस्त्यवधनामकम् ।

कृत्स्नम्-सम्पूर्णम् । वस्तुतः 'पौलस्त्य-वध' में सम्पूर्ण रामचरित आ जाता है । वन-गमन के प्रकरण में अयोध्या आ गई, और फिर विजय कर के अयोध्या लौटने पर राज-काज सँभालना । 'सीतायाश्चरितं महत्' तो 'पौलस्त्यवध' का बीज ही है ।

सो, पौलस्त्य-वध' काव्य महर्षि 'वाल्मीकि ने लिखा, यह स्पष्ट हुआ । पता नहीं, 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने 'पौलस्त्यवध' काव्य देखा भी था; या विद्वत्परम्परा से प्राप्त कथा भर सुनी थी । परन्तु यह पक्की बात है कि वाल्मीकि ने 'पौलस्त्यवध' काव्य लिखा था ।

अब यह देखना है कि यह काव्य किस वर्ग का था । हम ने लिखा है कि यह 'दृश्य काव्य' या नाटक था । इस में आप प्रमाण मांगेंगे । प्रमाण में हम 'वाल्मीकीय रामायण' के भूमिका-सर्गों को ही सामने रखेंगे । वहाँ लिखा है कि वाल्मीकि 'पौलस्त्यवध' लिख कर इस चिन्ता में थे कि—

'को न्वेतत्प्रयुञ्जीयात् !'

अब इस का 'प्रयोग' कौन करे ! 'प्रयोग' 'दृश्य काव्य' का ही होता है । श्राव्यकाव्य तो पढ़ा जाता है । कौन इसे 'पढ़ेगा,' यह चिन्ता तो थी ही नहीं, क्योंकि मुनि-समाज में तथा उस समय के साधारण जन-समाज में सब निरक्षर तो होंगे ही नहीं ! हाँ, नाटक आदि का 'प्रयोग' करने वाले कलाकार (नट, कुशीलव) दुर्लभ होंगे । आज भी अच्छे नाट्य कलाकार बहुत कम हैं । कोई भी नाटककार यह सोचता है, कामना करता है कि मेरे नाटक का कहीं गुणग्राही समाज में कुशल नाट्य-कलाकारों के द्वारा 'प्रयोग' हो—मेरा नाटक रंगमंच पर 'खेला जाए' । अँगूठी की शोभा बढ़िया नग से होती है और नग की अँगूठी से । काव्य-रचना—नाटक का निर्माण—एक कला है और उस का 'प्रयोग' रंगमंच पर करना दूसरी कला । एक चीज कवि की है, दूसरी कुशीलवों की—नाट्यकला-विशारदों की । कभी-कभी कवि भी कुशीलव का काम करता है । महाकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने नाटकों के 'प्रयोग' में पात्र विशेष की भूमिका ग्रहण करके मंच पर अभिनय किया करते थे । परन्तु ये अपने ही नाटकों के प्रयोग में पात्र-विशेष की भूमिका ग्रहण करते थे; इस लिए कुशीलव नहीं, कवि ही कहे जाएँगे । कुशीलवों की कला का बहुत सम्मान था और राज-परिवार के जन भी इस क्षेत्र में आते थे ।

सो, जब वाल्मीकि 'पौलस्त्य-वध' के प्रयोग की चिन्ता में थे, तभी

तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
अगृहीतां ततः पादौ मुनिवेशौ कुशीलवौ ।।

—जब मुनि उस तरह नाटक के प्रयोग की चिन्ता में थे, तभी दो कुशीलव सीधे सादे वेश में वहाँ पहुँचे और मुनि की चरण-वन्दना की । उस समय मुनि का मन नाटक-प्रयोग के बारे में भावना विभोर हो रहा था ।

जैसे कवि कुशीलवों की खोज करता है, उसी तरह कुशीलव भी उत्तम नवीन नाटक की खोज में रहते हैं । पता लगा होगा कि वाल्मीकि ने 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा है; सो पहुँच गए । एक 'सूत्रधार' और दूसरा उस का प्रमुख सहचर-सहयोगी 'पारिपार्श्विक' था ।

इन दोनों कुशीलवों के बारे में कहा है—

कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ ।

'आश्रमवासिनौ'—जब कुछ दिन आश्रम में दोनों कुशीलव रहे, तब ज्ञात हुआ कि वे दोनों मुनि वेश में हैं; पर राजपुत्र हैं; सगे भाई हैं; उन का स्वर सराहनीय है और (अपनी कला में) बहुत यश प्राप्त कर चुके हैं । यह भी लिखा है कि संगीत-विद्या में दोनों बहुत निपुण थे । वाल्मीकि ऐसे न थे कि किसी ऐरे-गैरे को नाटक सौंप देते । खूब ठोक-बजा कर देख लिया, तब —'अग्रायत प्रभुः'—अपना नाटक उन्हें सौंप दिया ।

इस के अनन्तर उन कुशीलवों ने नाटक का अध्ययन किया; अपनी मंडली बुलाई; प्रयोग की तैयारी की; जिस पात्र का अभिनय जिस को सौंपा गया, उस ने उस में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दक्षता प्राप्त की और फिर मुनि-समाज में ही 'पौलस्त्य-वध' नाटक का प्रथम प्रयोग हुआ। नाटक देख कर मुनि जन मुग्ध हो गए और आवाज उठी—

'चिरनिर्वृत्तमप्येतत्,
प्रत्यक्षमिव दर्शितम्'

जो घटना बहुत पहले घटी थी, उसे आँखों के सामने ला दिया! ऐसा जान पड़ा कि वह सब हमारे सामने ही हुआ!

मुनियों ने फिर कुशीलवों को उपहार में तरह-तरह की वस्तुएँ भेंट की, जो उन के पास थीं। वे 'राजकुमार' थे कुशीलव; तो भी मुनिजनों के दिए हुए ये (वल्कल आदि) उपहार सम्मान-पूर्वक ग्रहण किए।

इस के बाद वे कुशीलव नाटक लेकर चले गए।

'कुशीलव' और 'कुशलव'

वाल्मीकीय रामायण के टीकाकारों ने 'कुशीलवौ' को 'कुशलवौ' समझ लिया है! लिखा है कि 'कुशलवौ' का आर्ष-प्रयोग है—'कुशीलवौ।' कितना भ्रम! आर्ष-प्रयोग जो ऐसे हुए हैं, उन में स्वर दीर्घ भर हुआ है, स्वर-परिवर्तन नहीं। 'अ' को 'आ' रूप मिल गया है—'सूर्यचन्द्रमसौ' का 'सूर्याचन्द्रमसौ' और 'इन्द्रवरुणौ' का 'इन्द्रावरुणौ' प्रयोग आर्ष है। 'अ' को कहीं भी 'ई' रूप नहीं मिला है।

फिर, यदि कुश-लव नाट्यकलाकार थे और उन के आश्रम में ही थे, तो फिर मुनि चिन्ता में क्यों पड़े कि 'कोन्वेतत्प्रयुञ्जीत'—इस नाटक का प्रयोग कौन करेगा! क्या अपने आश्रम के कलाकारों को कोई नहीं जान पाता? और फिर उन कुशीलवों को 'राजपुत्रौ' कहा गया है; एक जगह नहीं, बीसों जगह। यदि कुश-लव होते, तो 'राजपुत्रौ' की जगह 'रामपुत्रौ' विशेषण होता।

वस्तुतः 'प्रयुञ्जीत' तथा 'कुशीलवौ' का अर्थ ही लोग नहीं समझे?

२. अज्ञात महाकवि का महाकाव्य 'वाल्मीकीय रामायण'

'पौलस्त्य-वध' का 'रस'

'पौलस्त्य-वध' इस नाम से आभास मिलता है कि वह नाटक वीररस-प्रधान रहा होगा। परन्तु लोक-विश्रुति यह है कि वाल्मीकि की वह रचना करुण रस से ओत-प्रोत थी। इस पर विचार करना चाहिए।

कुशल कुशीलव ऐसा ही दृश्यकाव्य पसन्द करते हैं, जिसका प्रयोग पांच-छः घंटे में सम्पन्न हो जाए, और चतुर नाटककार कुशीलवों की इस रुचि का ध्यान रखते हैं। ऐसी स्थिति में सरलता से समझा जा सकता है कि 'पौलस्त्य वध' के लिए वाल्मीकि ने राम-चरित का कितना अंश लिया होगा। पाँच छह घंटे में सुकर-प्रयोग नाटक को पाँच-छह अंकों में विभक्त किया जा सकता है। निश्चय ही राम-निर्वासन से ही नाटक का श्रीगणेश हुआ होगा। 'आदौ रामतपोवनादि गमनम्'। प्रथम अंक में अयोध्या से राम का निर्वासन और उस समय राज-परिवार की दशा का चित्रण मर्मस्पर्शी रहा होगा। दूसरे अंक में राम की वन में स्थिति, सीता का वह वन्य जीवन चित्रित हुआ होगा, जिसे देखकर दर्शकों के हृदय द्रवीभूत हो जाते होंगे। तीसरे अंक में सीता-अपहरण का कारुणिक दृश्य दर्शकों को रुला देता होगा। चौथे अंक में सीता के वियोग में राम की क्या दशा हुई, इस का चित्रण कवि ने किया होगा। पाँचवें अंक में लंका-स्थित सीता का विरह-सन्ताप चित्रित हुआ होगा और छठे अंक में किसी प्रमुख पात्र के मुख से सीता को सूचना मिली होगी कि भयंकर युद्ध में पौलस्त्य मारा गया और राम की विजय हो गई है। इस समाचार से सीता का पुनरुज्जीवन—'सूखत धान परा जनु पानी' की तरह दर्शकों को आह्लादित करता होगा। फिर राम और सीता का पुनर्मिलन। यों सुखान्त नाटक रहा होगा।

इस अन्तिम अंश (छठे अंक) को छोड़, शेष पूरे नाटक में करुणात्मक दृश्य और एक से एक बढ़कर दिल दहलाने वाले। तो, प्रधानता करुण रस की स्पष्ट ही है।

युद्ध रंगमंच पर दिखाया नहीं जा सकता; इसलिए उसकी सूचना किसी ढंग से दे दी जाती है। तो फिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीर रस में परिणति होने पर भी उसका परिपाक तो नहीं हुआ न ! दर्शकों के मन तो करुण रस से भरे हुए। उन में पौलस्त्य-वध की सूचना से सुख-संचार होने पर भी वह करुण दृश्यावली ही जमी रहना स्वाभाविक है और इसी लिए 'पौलस्त्य-वध' में करुण रस प्रधान रहा।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है। अर्वाचीन काव्य-विवेचकों ने पारिभाषिक 'करुण' रस की जो परिभाषा दी है, वह अधूरी है। उसके अनुसार तो किसी की मृत्यु हो गई हो, तभी वह 'करुण रस' की परिधि में आता है।

हाँ, 'पौलस्त्य-वध' के अंक-विभाजन की जो बात मैंने कही है, उस पर पाश्चात्य आलोचक और उनके भारतीय चेले कहेंगे कि "उस अति प्राचीन युग में 'लिखने' की कोई बात ही नहीं; क्यों कि तब तक लिपि का निर्माण आर्यों में हुआ ही न था और इसीलिए 'वेद' को 'श्रुति' कहा जाता था। सुनते-सुनाते वह चलता था।"

ऐसे मूर्खों को कैसे बताया जाए कि "कालिदास ने 'रघुवंश' में और तुलसीदास ने 'रामचरित-मानस' में कहा है—।" क्या इन के युग में भी लिपि न थी ? आज कल 'श्रव्य काव्य' ही अधिक लिखे जाते हैं। इस का क्या मतलब ? क्या आज भी लिपि नहीं है ? फिर 'श्रव्य काव्य' 'लिखे जाते हैं'; यह क्या ? इन्हें कैसे समझाया जाए कि 'लिखना-पढ़ना' भी (लिपि के माध्यम से) कहना-बोलना ही है। संसार के सब से प्राचीन साहित्य 'ऋग्वेद' के भी 'मण्डल' तथा 'सूक्त' रूपों में परिच्छेद हैं। तब उसके बहुत दिन बाद वाल्मीकि ने अपने दृश्य काव्य का विभाजन अंकों में किया, तो शंका किस बात की ?

वाल्मीकि के समय दृश्य काव्यों का प्रयोग करने के लिए रंगमंच की भी उत्तम व्यवस्था रही होगी और अभिजात वर्ग के विद्वान् कलाकार अपने को 'कुशीलव' कहलाने में गर्व का अनुभव करते होंगे। तभी तो दो राजकुमार कुशीलव वाल्मीकि की सेवा में जा कर हाजिर हुए थे।

एक बात और ! वह क्रौंच पक्षी की हत्या वाली बात कुछ जमती नहीं है और वाल्मीकि के प्रस्तुत करुण काव्य से मेल भी नहीं खाती। महाकवि निराला के सामने ही, उन की प्रकृति बताने के लिए, लोग कहानियाँ गढ़ लेते थे और मेरे सामने ही (मेरे दिल्ली-अभिनन्दन पर) अनेक विद्वान् मित्रों ने मेरी प्रकृति बतलाने के लिए कई कल्पित प्रसंग उपस्थित किए थे। अन्यत्र भी ऐसा होता है। सो, वाल्मीकि की मनोदशा को वैसे काव्य की रचना के अनुकूल बनाने के लिए वह क्रौंच पक्षी की हत्या वाली कहानी गढ़ी गई है; जो जमती नहीं है।

'पौलस्त्य-वध' से पहले और बाद में

'पौलस्त्य-वध' से पहले और उसके बाद संस्कृत में कितना साहित्य अवतरित हुआ होगा, इसका अनुमान कोई लगा नहीं सकता। यह हो नहीं सकता कि अचानक 'पौलस्त्य-वध' कूद पड़ा हो, उसके पहले कोई साहित्य प्रकट न हुआ हो ! अन्यविध साहित्य के अतिरिक्त दृश्यकाव्य भी काफी बन चुके होंगे और उनके प्रयोग करने वाले कुशीलवों की कला का विकास भी हो चुका होगा। अन्यथा, एकदम वे कुशीलव कहाँ से टपक पड़ते, जो वाल्मीकि के आश्रम में नवीन नाटक की प्राप्ति के लिए पहुँचे थे ? हाँ, यह हो सकता है कि रामचरित को लेकर वह पहला ही नाटक हो, जिसकी चर्चा 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने की है। उसे तो अपनी परम्परा से मतलब। यह भी हो सकता है कि रामचरित को लेकर भी काव्य-रचना हुई हो, जो 'पौलस्त्य-वध' के उदय से अस्त हो गई हो ! पाणिनि से पहले जो व्याकरणकार हुए, उनके नाम तो 'अष्टाध्यायी' से मालूम हैं, उनके मत भी थोड़ा-बहुत मालूम हैं; पर उनके ग्रन्थों का कहीं पता नहीं। इसी तरह यास्क ने अपने 'निरुक्त' में जिन भाषाविज्ञानियों के नामों का और उनके मतों का उल्लेख किया है, सामने हैं। परन्तु उनके ग्रन्थों का पता नहीं ! पाणिनी की 'अष्टाध्यायी' के बाद पहले के सब व्याकरण ग्रन्थ अस्त हो गए और यास्क के 'निरुक्त' ने पहले के सभी निरुक्तीय (भाषावैज्ञानिक) ग्रन्थों को निरस्त-अस्त कर दिया। पाणिनि तथा यास्क के समय अन्य विषयों का भी साहित्य होगा; अन्यथा व्याकरण तथा निरुक्त का प्रदुर्भाव ही संभव न था। परन्तु अपने-अपने विषय के ही पूर्वाचार्यों के नाम और मत दोनों आचार्यों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्र-तत्र प्रकट कर दिए हैं। इसी तरह 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने वाल्मीकि तथा उनकी कृति 'पौलस्त्य-वध' की चर्चा कर दी है। वही सर्वोत्कृष्ट जँचा होगा।

संभव है, 'पौलस्त्य-वध' के बाद भी रामचरित पर साहित्य बना हो, पर नगण्य रहा हो और इसी लिए उस की चर्चा अनावश्यक समझी गई हो। पं० कामता प्रसाद 'गुरु' के हिन्दी-व्याकरण के बाद भी सैकड़ों हिन्दी-व्याकरण बने, पर 'हिन्दी शब्दानुशासन' में केवल 'गुरु' जी का ही उल्लेख है। इस निबन्ध में रामचरित के तीन 'गायक' निर्दिष्ट हैं, परन्तु उनकी संख्या तीन ही तो नहीं है न! तीन पर हमें विचार करना था।

'लिपि का उल्लेख'

लोग यह भी कहते हैं कि वैदिक साहित्य में कहीं 'लिपि' का उल्लेख नहीं है; जिस से स्पष्ट है कि उस समय 'लिखने' की व्यवस्था न थी!

इन लोगों को यह भी कहना चाहिए कि "चालीस वर्ष पहले तक हिन्दी में 'लिखने' की व्यवस्था न थी; क्योंकि अंग्रेजी के 'स्पेलिंग' और उर्दू के 'हिज्जे' की तरह हिन्दी साहित्य में कोई वैसा शब्द नहीं मिलता। हिन्दी में 'वर्तनी' शब्द चले अभी बहुत थोड़े दिन हुए हैं। यदि पहले हिन्दी में लिखने की व्यवस्था होती तो 'वर्तनी' शब्द जरूर मिलता।"

बस, और अधिक क्या कहा जाए। 'वाल्मीकीय रामायण' महाकाव्य जिस महाकवि ने लिखा, उसके नाम-धाम का कुछ पता नहीं। यह भी पता नहीं कि वे कब हुए और कब अपने इस महाकाव्य की रचना की। इतनी ही बात पक्की है कि यह 'वाल्मीकीय रामायण' अति प्राचीन रचना है।

शुक्र तथा मुनि वाल्मीकि का नाम कवि-रूप से सबको विदित है; पर उनके काव्य लुप्त हो गए और इस महाकवि की रचना सामने है; पर नाम लुप्त हो गया। महाकवि का नाम 'वाल्मीकि' में अन्तर्हित हो गया।

'वाल्मीकीय रामायण' ऊँचे दर्जे की काव्य-रचना है। इसमें प्रकृति का तथा मानव-प्रकृति का जैसा सजीव वर्णन हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। महाकवि पर अपने युग के समाज का भी प्रभाव पड़ा है। प्रसिद्धि थी—'लंका में सीता की अग्नि-परीक्षा हो गई और उसमें वे खरी उतरीं'। वैसी भयंकर स्थिति में अपना सतीत्व सुरक्षित रखना भयंकर अग्नि-परीक्षा में खरा उतरना है। लोग इसका मतलब यह समझने लगे थे कि परीक्षा के लिए बहुत बड़ी चिता बनाई गई और सीता जी उस धधकती हुई चिता में कूद पड़ीं और फिर अपने सतीत्व के प्रभाव से ज्यों की त्यों, दमकते हुए कुन्दन की तरह, प्रकट हुईं।' महाकवि भी ऐसा ही समझे और यह भी कल्पना की होगी कि वाल्मीकि ने भी अपने रामचरित (रामायण) काव्य 'पौलस्त्यवध' में सीता जी के ऐसे ही अग्नि-प्रवेश का वर्णन किया होगा! वह कैसा कारुणिक दृश्य रहा होगा! महाकवि को इस प्रसंग ने अत्यधिक प्रभावित किया और उनकी यह भावना बनी कि 'पौलस्त्य-वध' इसी घटना के कारण 'करुण रस' का कहा जाएगा; इसी की संगति के लिए कहाकवि ने अपने महाकाव्य के आरम्भिक (भूमिकात्मक) सर्गों में और सब लिखते हुए क्रौंच पक्षियों की कल्पना-प्रसूत कथा लिखी।

महाकवि ने अपने महाकाव्य (वाल्मीकीय रामायण) में सीता के अग्नि-प्रवेश का अत्यन्त करुणात्मक वर्णन किया है। उसे पढ़ने वाले के मन में (सीता के प्रति वैसी कटूक्तियाँ सबके सामने कहते हुए) राम के प्रति असद्-भावना पैदा न हो, यह सम्भव नहीं और वहीं पाठक का सिर माता सीता के चरणों पर झुक जाता है। लोकोत्तर शील, संयम और शालीनता के दर्शन हैं।

जो भी हो, महाकवि का यह वर्णन अद्वितीय है। राम का वैसा रूप वर्णन करके भी महाकवि उन्हें 'धर्मज्ञ' कहता है; यह लोक-लीक! निरपराध सीता का अग्नि-प्रवेश वर्णन भी लोक-लीक का ही पीटना है; अन्यथा, महाकवि की पूर्ण सहानुभूति माता सीता की ओर है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को निरपराध देश-भक्त समझते हुए भी न्यायाधीश ने उन्हें दण्ड दिया था। दण्ड देना पड़ा था। वह कानून से बंधा हुआ था। इसी तरह महाकवि लोक-लीक से चिपका हुआ था। उसे वैसा वर्णन करना पड़ा और खूब किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर काण्ड का प्रक्षेप

'वाल्मीकीय रामायण' युद्ध-काण्ड (लंका-काण्ड) पर ही समाप्त है। सातवाँ काण्ड बहुत बाद का प्रक्षेप है; यह उसके नाम से ही स्पष्ट है—'उत्तर काण्ड'—बाद का जोड़ा हुआ काण्ड। महाकाव्य के असली छहों काण्डों के नाम स्थान या घटनाओं को लेकर हैं—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, और युद्धकाण्ड। 'वाल्मीकीय रामायण' का अंग यह सातवाँ काण्ड होता, तो नाम होता—राज्यपालन काण्ड, या सीतानिर्वासन काण्ड।

दुनिया कितनी विचित्र है! कैसे-कैसे क्रूर राक्षस यहाँ पैदा होते हैं। सीता की उस 'अग्नि-परीक्षा' से भी सन्तोष न हुआ और तब 'उत्तर काण्ड' रच डाला। इसी काण्ड में तपस्वी शम्बूक की हत्या राम के द्वारा कराई गई है। और भी बहुत-सी ऐसी ही कहानियाँ हैं; परन्तु सबसे क्रूर कल्पना सीता-निर्वासन की है। निरपराध, अबला, गर्भवती और फिर उसकी वह दुर्गति! बियाबान जंगल में हिंस्र जानवरों को चीर-फाड़ कर खा जाने के लिए उसे छोड़ आना! फिर, कहा क्या गया है—अपने वंश की मर्यादा, अपनी कीर्ति तथा धर्म की रक्षा के लिए वैसा करना पड़ा! यदि यही बात होती, तो धर्मज्ञ राम स्वयं प्रायश्चित करते और वैसा कोई दण्ड स्वयं भुगतते; क्योंकि दोषी वे ही ठहरते हैं। वे सीता जी को पुष्पक-विमान में लंका से अयोध्या लाए और राजभवन में सम्मान के साथ रखा। तब प्रजा ने किसको दोषी समझा होगा?

पत्नी का परित्याग आगे दुष्यन्त ने जो किया, वह सच्ची घटना है; कल्पित नहीं। दुष्यन्त ने शोहदेपन से मुनि-आश्रम की एक बालिका को अपने जाल में फँसा लिया और फिर अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए उसे अपमानित करके भगा दिया कि यह मुझे कलंकित करके रानी बनने के लिए राँड़ कहाँ से आ पहुँची! शोहदे ऐसा करते ही हैं और जो लड़कियाँ गुरुजनों के परामर्श-अनुमति के बिना वैसा 'प्रेम-विवाह' कर लेती हैं, उनमें से अधिकांश प्रायः पछताती ही देखी जाती हैं। परन्तु दुष्यन्त ने शकुन्तला को पकड़वा कर बियाबान जंगल में नहीं छुड़वाया।

'सीता-निर्वासन' की क्रूर कल्पना हृदय दहलाने वाली है और इसके जोड़ की केवल एक ही और क्रूर कल्पना मिलती है, जो राजा मयूरध्वज की कथा है। कुछ ठिकाना है। एक साधु को प्रसन्न करने के लिए, उसके जानवर के लिए, माता और पिता अपने हाथों आरे से अपने पुत्र को चीर दें। सुनते ही रोम खड़े हो जाते हैं। सीता-निर्वासन के जोड़ की केवल यही एक क्रूरतम कल्पना और है। अन्य सब कुत्सित कल्पनाएँ इनके बाद हैं।

खैर, अधिक कहने को मन नहीं करता—'कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः'। चाहिए था कि किसी मधुर प्रसंग से इस प्रकरण की समाप्ति की जाती। परन्तु सामने यह बीभत्स नारकीय प्रसंग आ गया! आँखें बन्द करके सब भुला दो।

३. गोस्वामी तुलसीदास और 'रामचरित मानस'

ऊपर रामचरित के दो प्रमुख गायकों की चर्चा हुई, जिनके काव्य संस्कृत में बने। तीसरे महाकवि हमारे गोस्वामी तुलसीदास जी हैं, जिनकी 'भाषाभनिति' है—'रामचरित मानस'। यह महाकाव्य 'तुलसीकृत रामायण' नाम से अधिक प्रसिद्ध है। परन्तु इधर हिन्दी के जागरूक विद्वानों के सम्पादकत्व में जो संस्करण प्रकाशित हुए हैं, वे 'रामचरित मानस' नाम से ही अलंकृत हैं; तो भी कथापरिच्छेदों के नाम 'काण्ड' ही रखे गए हैं। गोस्वामी जी ने अपने 'मानस' के सात 'सोपान' रखे थे—'सप्त सोपान'। सातवें 'सोपान' का नाम लोगों ने 'उत्तर काण्ड' रख लिया; परन्तु इसमें वाल्मीकीय रामायण के 'उत्तर-काण्ड' की क्रूरता नहीं है। न यहाँ 'सीता निर्वासन' की चर्चा है; न किसी तपस्वी की हत्या ही राम जी से कराई गई है। इस 'सोपान' या 'उत्तरकाण्ड' को कृति का उत्तमाङ्ग कहना चाहिए; 'उत्तरकाण्ड' यह 'उत्तमकाण्ड' है। सीता और लक्ष्मण के साथ राम का अयोध्या-आगमन, राज्याभिषेक, अपने (लंका-युद्ध के) सहयोगी सुग्रीव, अंगद, हनूमान आदि का कृतज्ञता-पूर्वक सम्मान, प्रजा की सुख-समृद्धि का वर्द्धन, धर्म-स्थापन आदि का वर्णन है और फिर विविध कथा-प्रसंगों में भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि का विशद वर्णन है तथा सर्वोपरि राम-भक्ति का प्रतिष्ठापन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यानी इस सातवें 'सोपान' को गोस्वामी जी ने लोक तथा परलोक, दोनों का आदर्श 'आदर्श' (दर्पण) बना दिया है—अपना हृदय प्रकट कर दिया है।

'आठवां काण्ड'

वाल्मीकीय रामायण छह काण्डों में है और उसमें सातवाँ 'उत्तरकाण्ड' प्रक्षिप्त है। गोस्वामी तुलसीदास का 'मानस' सात सोपानों में पूर्ण है। परन्तु लोगों ने एक आठवाँ 'काण्ड' गढ़ कर 'लव-कुश काण्ड' नाम से इसमें जोड़ दिया था, जिसमें वे सब क्रूर-कथाएँ तथा ऊल-जलूल निरर्थक कथाएँ भर दी गईं, जिनसे गोस्वामी तुलसीदास बहुत उद्विग्न थे। बीच-बीच में, अन्य सभी काण्डों में 'क्षेपक' भर दिए गए। ऐसे 'क्षेपकों' सहित, तुलसीकृत रामायण, आठों काण्ड' छाप-छाप कर लोगों ने खूब धन कमाया। यह धमाचौकड़ी देख कर हिन्दी के विद्वान् सजग हुए और सभी 'क्षेपक' हटा कर तथा अठवाँ 'लव-कुश काण्ड' काट कर पुनः 'मानस' को अपने निज रूप में कर दिया। अब उन क्षेपकों का तथा आठवें 'लवकुश काण्ड' का कहीं पता-ठिकाना नहीं है।

तुलसी ने एक कुंजी दे दी है

गोस्वामी तुलसीदास ने राम-चरित समझने के लिए विद्वानों के दिमागों पर लगे संशय-संदेहों के कपाट खोल दिए हैं। जड़ता का ताला खोलने की उनकी कुन्जी यह है—

'कलप-भेद हरि-चरित सुहाए,
भाँति अनेक मुनीसन गाए'

गोस्वामी जी ने लिखा है कि राम जी के चरित्र में जो यह भिन्नता है, वह 'कल्प-भेद' से है। प्रत्येक 'कल्प' में राम जी का नवीन अवतार होता है और यों कथा-भेद होता है। राम एक ही हैं।

निश्चय ही 'कल्प-भेद' का मतलब 'कल्पना-भेद' है, कवि सब तरह के होते हैं। वे अपने मन से कल्पना करते हैं। जो जैसा हुआ, उसने वैसी ही कल्पना कर ली। यह कल्पना ही काव्य को 'सुकाव्य' या 'कुकाव्य' बना देती है। समाज की स्थिति तथा मान्यता में भी परिवर्तन होते रहते हैं। कविजन अपने समय की सामाजिक स्थिति से प्रभावित होते हैं और उसी के अनुसार काव्य-कल्पना कर लेते हैं। सो, राम-चरित में जो तरह-तरह के वर्णन-प्रसंग देश-विदेश में मिलते हैं, वे सब कवि-कल्पनाओं की सृष्टि हैं। उन कल्पनाओं को विवेक-दृष्टि से देखना चाहिए कि मर्यादा-पुरुषोत्तम राम से इसका कोई साम-ञ्जस्य-मेल है भी कि नहीं! राम से भी क्या कोई ऐसा क्रूर तथा अन्यायपूर्ण कृत्य संभव है? इस तरह विवेक के सूप से फटकने पर असार तत्त्व उड़ कर दूर जा पड़ेंगे और सार तत्त्व पास रह जाएगा।

'हरि-चरित सुहाय' जो चरित जिसे सुहाया-मन-भाया, उसी को राम के माथे थोप दिया।

'मुनीसन गाए' में 'मुनीसन' शब्द बड़े काम का है। कुत्सित कल्पना करने वाले भी 'मुनास'। खबीस भी 'मुनीस'! 'कथिता पुण्यजना निशाचराः'। राक्षसों का एक नाम 'पुण्यजन' भी है। यही बात कुकवि जनों को 'मुनीस' कहने में है। और, सुकवि रामगायक तो 'मुनीस' हैं ही; मुनीश वाल्मीकि की परम्परा में हैं; इसीलिए सब 'मुनीस'। साधारण सिख को भी आदर से 'सरदार' कहा जाता है। सो राम-चरित के सभी गायक 'मुनीस' हैं, तुलसी की दृष्टि में।

मैं समझता हूँ, 'कल्प-भेद से रामचरित में भिन्नता' बतलाकर तुलसीदास ने हमें एक ऐसी कुन्जी दे दी है, जिससे हम न केवल रामचरित-काव्यों को ही वरन सभी काव्यपुराण-कल्पना कथाओं को साफ-साफ देख सकते हैं। किसी क्रूर के लिए क्रूर चरित की कल्पना ठीक हो सकती है, परन्तु दयालु धर्मात्मा के लिए नहीं। कभी-कभी अपने काव्य-नायक की प्रतिष्ठा बचाने के लिए भी कविजन कल्पना कर लेते हैं, परन्तु किसी दुश्चरित्र के समाज विरोधी आचरण को कल्पना-बल से छिपाना सामाजिक अपराध है जो महाकवि कालीदास से भी हो गया है। दुष्यन्त के शकुन्तला के प्रति किए दुर्व्यवहार पर मुनि-शाप की कल्पना ऐसी ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मानव मूल्य

और

आधुनिक हिन्दी काव्य'

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

इतिहासविदों ने भारत और यूरोपीय संस्कृति के सम्पर्क काल को आधुनिक युग के नाम से अभिहित किया है और भारत में यूरोपीय संस्कृति का वचन-काल उन्नीसवीं शताब्दी है। इस शताब्दी में भारतीय जीवन मध्ययुगीन पौराणिक वातावरण में डूबा हुआ था और यह जीवन मन्द गति-पूर्ण और विस्तार भार से लदा हुआ था। इस प्रकृति के दर्शन उस समय की सवीह तथा चित्रकला के अन्य रूपों, शिल्प की पच्ची-कारी तथा सजावट और हिन्दी की रीति कालीन कविता में होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में जब यूरोपीय उपनिवेश-वाद और साम्राज्यवाद अपनी पूरी शक्ति के साथ देश में आया तो यदि एक ओर राजनीतिक और आर्थिक दृष्टियों से देश अधोगति को प्राप्त हुआ, तो दूसरी ओर वैज्ञानिक आविष्कारों और नवीन शिक्षा के प्रचार से देश के बौद्धिक और भावनात्मक जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित हुआ, देश के बुद्धिजीवियों का पाश्चात्य विचार-परम्परा और साहित्य के साथ सम्पर्क स्थापित होने के फलस्वरूप और साथ ही देश के अतीत गौरव के स्मरण से नवोत्थान की लहर फैलने में विलम्ब न हुआ। देश वासियों में नवीन साहित्यिक,कलात्मक और शासन संबंधी आकांक्षाएँ उत्पन्न हुई। यह बात विशेषरूप से ध्यान देने की है कि जहाँ देश में एक ओर पाश्चात्य प्रभाव अत्यन्त तीव्रता के साथ बढ़ रहा था, वहाँ दूसरी ओर अपनी प्राचीन साँस्कृतिक परम्पराओं से देश का ध्यान अपने प्राचीन गौरव की ओर गया। भारत के बुद्धिजीवियों को यह देश 'विश्व-गुरु' के रूप में दृष्टिगोचर होने लगा, एक ऐसे देश के रूप में दृष्टि गोचर होने लगा जिसका अपना एक ऐसा सन्देश था जिससे मानव का कल्याण हो सकता था; जहाँ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' जैसे स्वरों का उद्घोष हो चुका था। यहीं से देश में 'पूर्व' और पश्चिम' का संघर्ष प्रारम्भ होता है। यह एक विचित्र ऐतिहासिक घटना है कि आधुनिकता के जन्म के समय से ही आधुनिक भारत का निर्माण स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे महापुरुषों द्वारा हुआ जो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित होते हुए भी भारतीय आध्यात्मिक गरिमा और सन्देश को भूले नहीं थे। यह भारतीय नवोत्थान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रथम चरण था जिसके फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी देश के बौद्धिक एवं साँस्कृतिक जीवन में एक नितान्त नूतन मोड़ प्रस्तुत करती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय जीवन में अभिव्यक्त यह प्रक्रिया उस महान् ऐतिहासिक क्रम का एक अंग थी जो समस्त एशिया के जीवन को स्पन्दित कर रहा था। वास्तव में कोपर्निकस, मिल, मोर्ले तथा अन्य यूरोपीय चिन्तकों और विचारकों ने भारतीय मध्ययुगीन जीवन की जड़ हिलादी। यही उन्नसवीं शताब्दी का वास्तविक महत्त्व है, अन्यथा राजनीतिक उत्थान-पतन तो पहले भी हो चुके थे। इस नवीन ज्ञान के प्रकाश में जीवन का फिर से संस्कार किया जाने लगा।

अत: वैचारिक स्तर पर उन्नीसवीं शताब्दी एक नई संक्राँति का काल था। पश्चिमी समस्यता एवं संस्कृति के साथ टकराव फलस्वरूप लोगों का दृष्टिकोण बदला, प्रजा-तंत्र की नींव पड़ी और अनेस प्रकार की विषमताओं और वर्जनाओं का जीवन व्यतीत करते हुए भी एक नए युग का सूत्रपात हुआ और जड़ जीवन-पद्धतियों एवं निष्क्रियता के बीच नवीन उत्साह, सक्रियता एवं आत्म-विश्वास की भावना का उदय हुआ जिसकी अन्तिम परिणति बीसवीं शताब्दी में स्वतंत्रता-प्राप्ति में दृष्टिगोचर होती है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लगभग १५०-१७५ वर्ष की दासता के अभिशाप को भुगतते हुए और उसके मध्य भारत में अनेक अधुनातन विचारधाराओं का जन्म एवं विकास हुआ। इसलिए जब आधुनिक काव्य के सन्दर्भ में मानव-मूल्यों की बातें उठाई जाती हैं तो उसका सीधा अर्थ समाजिक परिवेश एवं सामयिक जीवन की गति के भीतर उभरते हुए एवं स्वरूप ग्रहण करते हुए प्रगतिशील तत्त्वों से है। इसलिए आधुनिक काव्य और मानव-मूल्यों का अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित हो जाता है।

एक समय वह था जब हिन्दी कविता परिपाटी विहित और रूढ़िग्रस्त राधा-कृष्ण की लीलाओं और नायक-नायिकाओं के कल्पित ऐश्वर्य और विलास में डूबी हुई थी। इन भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवियों के पास उपयुक्त साधन थे। परन्तु पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क में आने से हमारे कवियों का ध्यान प्राचीन काव्य-परम्परा के निर्वाह के अतिरिक्त नवीन भावों और विचारों और अपने चारों ओर की दुनिया की ओर भी जाने लगा। कविता दरबारों से निकल कर सड़क पर आगई। एक ओर तो रूढ़ियों और परम्पराओं ने, और दूसरी ओर अंगरेजी-शासन के कर्मचारियों ने साधारण जन को ऐसा दबोच रखा था कि उसे उभरने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो रहा था। हिन्दी के कवियों ने पहली बार देश की सामूहिक भलाई की ओर ध्यान दिया और मनुष्य को मनुष्य समझा। उन्होंने लोकहित की ओर ध्यान दिया। शताब्दियों से पीड़ित मानव का उद्धार करना चाहा। अंगरेजी राज्य के अन्तर्गत नवजात और नवशिक्षित मध्यम वर्ग ने इस दृष्टि से अग्रगण्य भाग लिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, बालमुकुन्द गुप्त, बद्रीनारायण चौधरी, 'प्रेमधन, श्रीधर पाठक आदि कवियों ने अपने समय के मनुष्य को उसके सामाजिक एवं राजनीतिक सन्दर्भों में, पूरी समग्रता के साथ मूल्याँकित करने का प्रयास किया और मानव को अपने चिन्तन का आधार बनाया। यदि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की सारी आधुनिक कविताओं को एक स्थान पर संकलित किया जाय तो उस समय के भारतीय मानव के समूचे जीवन का एक अच्छा चित्रफलक उपस्थित हो सकता है। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी कवियों की दृष्टि देश की दीनहीन दशा की ओर गई और ब्रिटिश शासनान्तर्गत घूमते हुए नर-कंकालों के प्रति सहानुभूति उमड़ी। जब वे भूख से पीड़ित, अर्द्ध-नग्न और अशिक्षित भारतवासी को देखते थे, जब वे उसे तरह-तरह की रूढ़ियों में ग्रस्त देखते थे, तो उनकी आत्मा कलप उठती थी। वे उसके सारे अभाव दूर कर उसे परिष्कृत और समृद्ध मानव के रूप में देखना चाहते थे। 'प्रेमधन' ने कहा भी था:—

'नहिं विद्या नहिं बाहुबल, नहिं खरचन को दाम'

भारतेन्दु का भावावेग भी ऐसे देशवासियों के प्रति उभरा जिनके घरों में भूंजी भाँग भी नहीं थी, महंगी के कारण जो उदर-पोषण भी न कर पाते थे, जो फाके मस्ती करते थे, जिनके पास बुद्धि नहीं थी और जिनके संबंध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा:—

'दीन दसा अँसुअन पिचकारिन सब लिलार भिजयोरी।' उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हुए बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा था:—

'भारत घोर मसान है, तू आप मसानी।
भारतवासी प्रेत से डोलहिं कल्यानी।
हाड़ माँस नर रक्त है भूतन की सेवा।
यहाँ कहाँ मा पाइये चन्दन घी मेवा?

अथवा—

'पेट भरनहित फिरें हाय कूकर से दर दर।
चारहिं ताकें पैर लपकि मारहिं जो ठोकर॥
तुम्हीं बताओ राम तुम्हें हम कैसे जानैं।
कैसे तुम्हरी महिमा कलुपित हिय महं आनैं॥

इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में जब हिन्दी कविता ने करवट बदली तो वह मानवा-भमुख हुई।

किन्तु, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, उन्नीसवीं-शताब्दी की यह मानवोन्मुखी कविता उस व्यापक भारतीय मानवतावाद का अंग थी जो हमें अपने प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है। आधुनिक हिन्दी कविता में प्रारम्भ से हमें एक ऐसी निष्ठा मिलती है जिसमें अन्तरात्मा की झलक है, जिसमें परम्परागत मानव-मूल्यों को नवीन विज्ञान और समाज-संगठन के बीच पारस्परिक संबंध स्थापित कर फिर से खोजने का पुनीत प्रयास मिलता है। इस परम्परागत भारतीय मानवतावाद का परिवेश अत्यन्त व्यापक था। उसने शताब्दियों तक भारतीय चेतना को प्रभावित किया। जब हमारे यहाँ यह कहा गया कि विश्व के सभी मानव सुखी हों, सभी रोग मुक्त, सभी कल्याणकारी कार्यों का अवलोकन करें और कोई भी दुःख का भागी न बने, अपने-पराये की संकुचित भावना से सभी दूर रहें और उदार चरित वालों के लिए यह वसुधा धरती ही कुटुम्ब-सदृश है, तो वह मानव-मंगलापेक्षी भावनाओं से प्रेरित होकर ही कहा गया था। सहिष्णुता, समर्पण, प्रेम, अहिंसा, सद्भावना, करुणा, सहानुभूति, समानता, निःस्वार्थभाव, अन्तःकरण की शुद्धता, न्याय, आत्म-तुष्टि, त्याग, अंहकार विसर्जन, परोपकार आदि भारतीय मानवतावाद के प्रमुख तत्त्व हैं। मानव-जीवन को हमारे पूर्वजों ने अशोभन नहीं माना। वह तो अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने का एक पवित्र साधन है। भारतेन्दु-युगीन आधुनिक कविता का मानव-प्रेम इसी परम्परागत आदर्श का पोषण करने वाला है। किन्तु वह भावुकतापूर्ण अधिक और विचार-प्रधान कम था। कोई निश्चित परम्परा और स्पष्ट दिशा न होने के कारण इन मानव-मूल्यों में केवल मानव के प्रति प्रेम है, विचार-प्रसूत निश्चित दिशा देने का प्रयास नहीं है। जीवन के सत्व का अन्वेषण करना और उसके मानवीय पक्ष पर बल देना उनका प्रधान लक्ष्य था।

यह तो सर्व विदित है कि आर्य समाज ने एक विशेष शास्त्रीय और तार्किक प्रणाली को जन्म दिया था। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के समन्वय से इस प्रणाली ने तथा विवेकानन्द द्वारा प्रचलित वेदान्त द्वारा प्रचलित वेदान्त ज्ञान ने और भी अधिक व्यापक रूप धारण किया। स्वर्गीय विपिनचन्द्र पाल ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि इस प्रवृत्ति ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि जिन सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं की कुछ वर्ष पूर्व विगर्हणा की जाती थी, उनका बुद्धि और यूरोपीय ज्ञान के आधार पर समर्थन किया जाने लगा और यह बात सिद्ध की जाने की चेष्टा होने लगी कि भारतीय मनीषा से प्राप्त उत्तराधिकार गंभीर सत्य पर आधारित था, उसके कारण विदेशियों के सामने लज्जित होने की आवश्यकता नहीं। इस प्रवृत्ति से यद्यपि प्रतिगामी शक्तियों को भी बल प्राप्त हुआ, तो भी व्यापक दृष्टि से समाज में गतानुगतिकता के पीछे सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक बीस-पच्चीस वर्षों में इस प्रवृति ने काफ़ी प्रमुखता प्राप्त कर ली थी। वैज्ञानिकता की प्रेरणा के कारण, ज्ञान की पिपासा और जिज्ञासा शान्त करने की दृष्टि से व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रत्येक बात का कारण जानने और उसके प्रकाश में किसी विशेष समस्या के उचित-अनुचित, स्वस्थ-अस्वस्थ रूप का विश्लेषण कर अपना मत निर्धारित करने की आकांक्षा जाग्रत हुई। विवेक का प्रयोग किए बिना अब वह कोई बात स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। इस तर्क बुद्धिवाद में भावुकता के स्थान पर नीर-क्षीर-विवेक था। इस सन्देश के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति के आन्तरिक रूप पर बल दिया गया—यहाँ तक कि देवी-देवताओं और ईश्वर सेवा का रूप भी बदलने लगा। पौराणिक कथाओं और पात्रों की कथाएँ प्रस्तुत अवश्य की गईं, किन्तु उनमें मानव-जीवन का कोई-न-कोई सत्य अन्वेषित किया गया। शंका-पूर्ण स्थलों का खण्डन कर उन्हें आधुनिक और मानव-सापेक्ष रूप देने की चेष्टा की गई। कवियों को किसी अपार्थिव, अलौकिक और अतिमानवी रूप के प्रति अब कोई मोह नहीं रह गया था।

तर्क बुद्धिवाद द्वारा सम्मत हिन्दी कवियों के मानववादी दृष्टिकोण ने यदि राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में जनवादी रूप धारण किया, तो सामाजिक क्षेत्र में उसने दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया। दोनों रूप नवीन चेतना के प्रतीक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आधार बने। भौतिक दृष्टि से जनसाधारण के जीवन को सुखमय बनाना जनवाद की मूल भावना थी। इससे जनता के अधिकारों की रक्षा की बात सोची गई। राज्य-सत्ता और जन-हित का संघर्ष उसमें निहित था। भारतवर्ष जब स्वतंत्रता-संग्राम में रत था, एक जबरदस्त साम्राज्यवादी शक्ति से संघर्ष ले रहा था और जब उसके जीवन में कर्मठता, आत्मोत्सर्ग की भावना और देश के प्रति अनुराग की आवश्यकता थी, तो कवियों में एक विशिष्ट मानववादी दृष्टिकोण का जन्म होना स्वाभाविक था। उनका मुख्य उद्देश्य अपार जन-समूह को पशुवत् जीवन के गर्त से निकाल कर मनुष्य के धरातल पर लाने का प्रयास था। गाँधी जी ने भी भौतिक आवश्यकताओं से ऊपर आध्यात्मिकता पर ही अधिक बल दिया। छायावादी-रहस्यवादी कवियों में सांस्कृतिक चेतना का उदय तो अवश्य हुआ था, किन्तु अधिकतर ये कवि वायवी लोक में ही अधिक विचरण करते रहे। स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म में उन्होंने एकात्मता का अनुभव अधिक किया। उसमें सात्विक उल्लास था, मानव के प्रति कल्याण-कामना भी थी, किन्तु उसका नैतिक-व्यावहारिक रुप हमारे समाने नहीं आता। राष्ट्रीयता परक काव्यधारा में भारत माता के साथ-साथ भारत-संतान के प्रति प्रत्यक्ष प्रेम था। जीवन के अभाव और लघुता उनके सामने स्पष्ट थी। तो भी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के फल-स्वरूप उत्पन्न कविता ने मानव-जीवन के आदर्श पक्ष पर ही अधिक बल दिया। उस समय की वैचारिक ईकाई थी—आदर्शवादिता (जो स्वतंत्रता-संग्राम-रत देश में स्वाभाविक था)। तत्कालीन कविता में आदर्श मानव-परक जो मूल्य उभरे उनके प्रति लोगों का रागात्मक संबंध था और देश की सामूहिक बुद्धि एक धार्मिक-नैतिक और सामाजिक परम्परा की पृष्ठभूमि पर किसी कृत्य का, किसी आचार-विचार का मूल्यांकन कर लेती थी। स्वतंत्रता-संग्राम ने कुछ सिद्धान्त स्थापित किए थे जो कालांतर में मूल्य के रूप में परिवर्तित हो गए। राजनीति के क्षेत्र में मनुष्य को मनुष्य के रूप में पहचानने की प्रवृत्ति ने जो दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया उसमें विवेकानन्द का अद्वैत-दर्शन था, साहित्य में 'प्रसाद' द्वारा गृहीत करुणा के सन्देश द्वारा 'विश्वात्मा' के दर्शन करना था, सब प्राणियों में समभाव रखते हुए कर्त्तव्य-पालन, अहिंसा, सहनशीलता, क्षमा-शीलता स्नेह, सहानुभूति आदि को जीवन में स्थान देना था, गरीब की सेवा में ही ईश्वर सेवा का रूप देखना था, मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर में ईश्वर का निवास न देखकर उसे ग़रीब की झोंपड़ी में देखना था। मानव-जीवन के इसी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक धरातल पर सब धर्मों की समानता, सामाजिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष की समानता और अछूतोद्धार और धार्मिक क्षेत्र में सबको ईश्वर की उपासना करने के अधिकार की घोषणा की गई। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक पच्चीस-तीस वर्षों में हिन्दी काव्य अधिकाधिक जीवन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सापेक्ष्य भाव-भूमि पर स्थित हुआ। 'प्रसाद' की इड़ा के साथ श्रद्धा का समन्वय स्थापित हुआ। निस्सन्देह जीवन के ये आध्यात्मिक एवं दार्शनिक मूल्य भारतेन्दु युगीन जीवन-मूल्यों से कहीं अधिक व्यापक थे। भारत वर्ष का सनातन आदर्श—विश्व-बन्धुत्व—फिर से लोगों के सामने आया। मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' आदि अनेक कवियों की रचनाओं में सामान्य मानव में 'विश्वात्मा' के दर्शन कराए गए हैं, मानव के समष्टि रूप के लिए व्यष्टि रूप के उत्सर्ग की उच्च भावना व्यक्त हुई है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जीवन के इन मानव-मूल्यों की स्थापना में विवेकानन्द और फिर महात्मा गांधी के विचारों का प्रभाव भी कम मात्रा में नहीं पड़ा। मानव-मूल्यों के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक और जनवादी पक्षों ने सामाज में आदर्शवाद की स्थापना की, अर्थात्, जीवन के एक उदात्त और उत्कृष्ट रूप की पुनः स्थापना और जीवन का निर्माण एक नैतिक धरातल पर करना, क्योंकि पराधीन भारत के सामने जीवन के अभाव और लघुता स्पष्ट थी। कवियों ने उस आदर्श को ग्रहण किया जिसमें प्राचीन और नवीन का अद्भुत सम्मिश्रण था। कवियों ने 'राम' की विजय 'रावण' पर देखनी चाही। उन्होंने लघुत्व के भीतर महत्त्व की स्थापना की। दूसरे शब्दों में, भारतीय आत्मा की खोज की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से गया। उनकी रचनाएँ सत, शिव और सुन्दर की मनोरम कल्पनाओं से अनुरंजित है। उन्होंने सीमा का अतिक्रमण भी किया, किन्तु आदर्शवाद की तो यह स्वाभाविक गति है। इस समय ऐसे आदर्श परक जीवन-मूल्य स्थापित किए गए जो सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, राष्ट्रीय आदि क्षेत्रों में सभी प्रकार विगर्हणा दूर कर जीवन को औदात्य और स्वातंत्र्य की ओर अग्रसर करने वाले थे। कहना चाहें तो हम यह कह सकते हैं कि उस समय के जीवन-मूल्यों का संबंध राष्ट्रवाद से था। यहाँ तक कि स्वच्छन्दतावादी काव्य का लक्ष्य भी जीवन को नवीन स्तर पर स्थापित करना था। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण शास्त्रगत नहीं, वरन् व्यक्ति की स्वतंत्र अनुभूति द्वारा उत्पन्न हुआ था। प्रत्यक्षतः उसका संबंध तर्क बुद्धिवाद से था, और अन्त तोगत्वा आदर्शवाद से भी। राष्ट्रीयता और स्वच्छन्दता-वाद दोनों ने उस नवजागरण काल में अपनी-अपनी भूमिकाओं का निर्वाह किया और जीवन में ज्ञान, कर्त्तव्य, कर्मठता, सदाचार आदि का स्वर भरा। ये मूल्य राष्ट्र और व्यक्ति दोनों को सुख, कल्याण और समृद्धि की ओर ले जाने के लिए थे। भारत का मानवी-करण, या कहना चाहिए, दैवीकरण भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ था और महात्मा गांधी का सत्य और अहिंसा का दर्शन भी इन्हीं जीवन-मूल्यों में से प्रस्फुटित हुआ था।

१९३० के आसपास हिन्दी कविता में प्रगतिवाद का जन्म हुआ—अर्थात् उस काव्य-धारा का जो कम्यूनिज्म से प्रभावित थी। एक प्रकार से कम्यूनिज्म का यह साहित्यिक मोर्चा था। राजनीति के क्षेत्र में इस काव्य-धारा ने गांधी वादी जीवन-मूल्यों का विरोध किया, तो साहित्य के क्षेत्र में छायावादी वायवी एवं रोमानी प्रवृत्तियों का और यथार्थवाद का आश्रय ग्रहण कर सर्व हारा वर्ग के अधिनायकत्व का स्वर उच्च किया। उन्हें लाल क्रान्ति में विश्वास था। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि प्रगतिवाद को न तो साधन और साध्य की पवित्रता में विश्वास था और न भौतिक जगत् के आतिरिक्त अन्य किसी सत्ता में। स्पष्ट है ऐसी विचार धारा को जीवन के आदर्शपरक मूल्यों में विश्वास नहीं हो सकता था। उनका समाज-दर्शन भी परम्परागत भारतीय समाज-दर्शन से भिन्न था। ऐतिहासिक दृष्टि से निस्सन्देह प्रगतिवाद ने हिन्दी कविता को एक नया आयाम प्रदान किया। किन्तु द्वितीय महा युद्ध के समाप्त होते-होते यह काव्य धारा समाप्त हो गई। भाषा, भाव, छन्द आदि की दृष्टि से प्रगतिवाद ने कुछ नाविन्य भी प्रकट किया। तो भी जहाँ तक जीवन-मूल्यों से संबंध है प्रगतिवादी काव्य-धारा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा की भाँति कोई विशेष दृष्टिकोण प्रदान न कर सकी। न तो उसने जीवन किसी एक विशेष दिशा की ओर मोड़ा, न उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सक्रिय बनाया। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा में जीवन को एक उदात्त और परिष्कृत रूप प्राप्त हुआ था, उसमें एक नई शक्ति आई थी। प्रगतिवादी काव्य-धारा ने व्यापक जीवन को प्रभावित करने के स्थान पर, एक सीमित संख्या के लोगों को नया दृष्टिकोण और नई आस्था प्रदान की। किन्तु जीवन में कोई नए मूल्य स्थापित न किए। उसने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा के सात्विक मूल्यों की उपेक्षा की और साथ ही कोई आध्यात्मिक या दार्शनिक या मानसिक संस्कार भी प्रदान न किया। अपनी संकीर्णता के कारण वह न तो हिन्दी साहित्य का प्रमुख अंग बन पाई और न अधिक दिन जीवित रही। उसने मूर्द्धन्य कोटि का कोई कवि भी न दिया। उसने अपनी सारी शक्ति परम्परागत जीवन-संस्कारों को झुठलाने में लगा दी और कुरूपता एवं विद्रूपता की सृष्टि की। यथार्थपरक होते हुए भी यह काव्यधारा जीवन की यथार्थता को संतुलित अभिव्यक्ति प्रदान न कर सकी। अतः जहाँ तक जीवन-मूल्यों की स्थापना से संबंध है, प्रगतिवादी काव्य-धारा के पोषक दावा चाहे जितना लम्बा-चौड़ा भरें, वस्तुस्थिति यह है कि वह बहुत कम सफलता प्राप्त कर सकी।

और महात्मा गाँधी 'राम-राज्य' का अपना सपना लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ संघर्षरत रहे। द्वितीय महायुद्ध भी समाप्त हो चुका था, किन्तु भीषण ज्वाला से संसार को संतप्त कर गया था। ऐसे ही माहौल में १५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भारत में न तो 'राम-राज्य' की स्थापना हुई और न द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार में शान्ति। इन दोनों कारणों से हमारा आज का जीवन बहुत बिखरा-बिखरा-सा हो गया है। प्रत्येक दिशा में खण्डित मर्यादाएं हैं और विच्छिन्न मूल्यों की अस्त-व्यस्त परम्परा है। इसका तात्कालिक परिणाम एक ओर सामाजिक एवं वैयक्तिक सीमाओं का टूटना तथा दूसरी ओर नैतिक मान्यताओं की विकृति है। इन दोनों के मध्य मानव-जीवन में अनास्था एवं कुण्ठाओं की ऊंची मीनारें उठ रही हैं तथा मानव-मूल्य की मर्यादा शंकालु बनती जा रही है। यह प्रवृत्ति बहुत कुछ विध्वंसात्मक है और ऐसी परिस्थिति में कवि का दायित्व बढ़ जाता है। वह नए उभरने वाले मानव-मूल्यों का अन्वेषण करता है तथा मानव जीवन के विविध प्रसंगों के सन्दर्भ में सहानुभूतिपरक दृष्टिकोण लेकर उन्हें अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है। मनुष्य अपने परिवेश, इतिहास-क्रम तथा काल-प्रवाह के सन्दर्भ में क्या स्थिति महत्त्व नहीं रखती कविता इस ओर इंगित करके जीवन के नए प्रतिमानों का निर्माण करती है।

वास्तव में स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद मनुष्य के सामने एक मोह-भंग की स्थिति उभर आई है। जब-जब परिस्थितियों में परिवर्तन होता है तब-तब मानव जीवन के सारे सम्बन्धों पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो हो जाता है। बदले हुए सम्बन्ध पूर्व-निर्धारित मूल्यों के लिए चुनौती बन जाते हैं। उस स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि परिवर्तन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आयामों को पहचाना जाए। हमारा आधुनिक काल ऐसा था, जहाँ एक बहुत बड़ा समुदाय अपने मूल्यों एवं आस्थाओं के खण्डित होने से बदहवासी की हालत में था और पराजय की गहन अनुभूति से जर्जर हो गया था। विभाजन में हत्याएं, बलात्कार तथा निर्मम अत्याचार ही नहीं हुए थे, बल्कि समग्रता के मोह में डूबा हुआ व्यक्ति भीतर से पूरी तरह से विच्छिन्न हो गया था और उसकी सारी आस्थाएँ तथा मूल्य-मर्यादा शून्यता के प्रवाह में विलीन हो गई थीं।

यह मानवीय संकट केवल यहीं का नहीं था, बल्कि समूचे विश्व का था। परिस्थितियों के सन्दर्भ हर राष्ट्र में चाहे भिन्न-भिन्न हों, लेकिन हर स्थान पर मानवीय संकट गहरा होता जा रहा था। मूल्य-मर्यादाएँ टूट रहीं थीं और मोह-भंग की स्थिति जड़ता उत्पन्न करती जा रही थी। कविता इस मानवीय संकट की उपेक्षा नहीं कर सकती थी, क्योंकि सभी साहित्यिक विधाओं की तुलना में वह मानव जीवन को अधिक समग्रता तथा सूक्ष्मता से आत्मसात् ही नहीं करती, वरन् जीवन-सदृश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सूक्ष्म चित्रफलक पर उसे अभिव्यक्त भी करती है।

अरविन्द ने भी स्वीकार किया है कि विकास की स्वाभाविक परम्परा में जैसे पशुता से मनुष्य की स्थिति आई है, ठीक उसी प्रकार हम इस स्थिति से भी आगे जाएंगे। वस्तुतः हमें यह स्वीकार लेना चाहिए कि जब तक मनुष्य को उसकी समग्रता में देखने की चेष्टा नहीं होगी, मानवीय पक्ष कविता में उभर ही नहीं सकता और मानवीय संकट निरन्तर गहरा ही होता जाएगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानवतावादी दृष्टिकोण का विस्तार उस व्यापक परिवेश में होता है, जहाँ तक इस सृष्टि का विस्तार है। कविता में अभिव्यक्त की जाने वाली सभी अधुनातन विचारधाराओं में मानवतावादी दृष्टिकोण का सर्वाधिक महत्त्व है तथा वह हमारे रचनाकारों को विभिन्न स्तरों पर प्रभावित करता रहा है।

जैसा की अभी-अभी कहा जा चुका है, आज संसार में चारों तरफ गहन संकट छाया हुआ है और सम्पूर्ण मानव-जाति का अस्तित्त्व खतरे में पड़ गया है। आज का संसार पहले से बहुत भिन्न है और हमें आज की तकनीकी क्रान्ति के साथ सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है। आज की सबसे बड़ी समस्या यह है कि मनुष्य जाति कैसे सुरक्षित रहे। आज दासता तथा स्वतन्त्रता का प्रश्न उतना नहीं है, जितना हमारी सभ्यता एवं संस्कृति के जीवन एवं मृत्यु का। मानवतावाद का उदय इन्हीं परिस्थितियों के सन्दर्भ में हुआ है। मानवतावादी विचारधारा हमें आधुनिक संकटग्रस्त जीवन की संक्रान्तियों को एक नए दृष्टिकोण से समझने में सहायता देती है। इससे आज की उलझी हुई मानव अनुभूति के अनेक उल्लेखनीय प्रसंगों को स्पष्टतया समझा जा सकता है। मानवतावाद का प्रमुख लक्ष्य इस सृष्टि में मनुष्य की वास्तविक स्थिति का अन्वेषण है। साथ ही यह भी कि, क्या प्राप्त करना उसके लिए वाछंनीय है और क्या अवांछनीय मानवतावाद इस प्रकार मानव उद्देश्यों, मूल्यों एवं आदर्शों को स्पष्ट करने के साथ-साथ उसे सम्पुष्ट भी बनाता है तथा उसे अपने आसपास के परिवेश, जीवन, समाज तथा विश्व-व्यवस्था के अधिक निकट लाकर अपने पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त करने में सहायता देता है।

विज्ञानवाद तथा मानवतावाद परस्पर विरोधी मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। विज्ञानवाद मनुष्य को भौतिक परिस्थितियों की तुलना में सर्वोपरि सिद्ध करके उसे स्वयं अपने ही ऊपर श्रेष्ठ सिद्ध करने और अपने द्वारा मनुष्यों का संहार करने के लिए प्रयोग करने पर बल देता है। इसके विपरीत मानवतावाद मनुष्यों को स्वतन्त्र करके उसकी मानवीयता के अन्वेषण एवं प्रतिष्ठापन पर बल देता है। वह मनुष्य को असीमित समाज एवं मानव भावनाओं के साथ समन्वय की दिशा में गतिशील करता है। इस प्रकार मानवतावाद मानव-सेवा को ही सर्वोच्च धर्म मानता है। वह उत्तम जीवन, सामंजस्य, सन्तुलन तथा उदारता में विश्ववास करता है। मानवतावाद एक जीवन पद्धति है, जो विश्व-परिवार एवं सद्भावना की स्थापना तथा हमारी दृष्टि के विस्तार में सहायता देती है।

सम्पूर्ण मानव इतिहास में न जाने कितने मानवतावादी विचार आए और गए, लेकिन स्थायी रूप से केवल तीन मानवतावादी दृष्टिकोण—भारतीय, चीनी तथा पश्चिमी—अपने शाश्वत मूल्यों के कारण जीवित रहे हैं। प्रत्येक ऐतिहासिक सभ्यता में मनुष्य और समाज के लिए सार्वभौमिक तथा उत्कर्षशील मूल्यों एवं सम्भावनाओं का मार्ग प्रशस्त करने के कारण ही ये तीनों विचारधाएं इतनी मूल्यवान सिद्ध हुई हैं। तीनों ने मानव-व्यक्तित्व की अनिवार्य आवश्यकताओं और सामाजिक व्यवस्था के समन्वय को सार्वजनीन रुप में ग्रहण किया है। तीनों ने ही मनुष्य और समाज की प्रादेशिक एवं वर्गगत सीमाओं को तोड़कर 'सम्पूर्ण विश्व एक है' की भावना को आत्मसात् करने की चेष्टा की है। सभी ने ऐतिहासिक सत्य, मूल्य एवं पौराणिकता के मध्य समन्वय स्थापित करने का यत्न किया है। यद्यपि आज चीनी तथा पश्चिमी मानवतावाद की अनेक सीमाएं बन गई हैं, और वे आज की मानव आवश्यकताओं के सन्दर्भ में अनुपयुक्त सी प्रतीत होती हैं, फिर भी इससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं हो जाता।

जीवन के प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण के विकास ने पश्चिमी मानवतावाद को दो रूपों में प्रभावित किया। एक तो यह यथार्थ से दूर पड़ गया, क्योंकि वहाँ के अधिकांश लोगों के लिए जीवन की समग्रता लगभग असम्भव प्रतीत होती है। दूसरे आर्थिक व्यवस्था तथा संस्थाओं के अन्याय तथा शोषण के प्रति विरोध एवं घृणा बौद्धिक विचार धारा के लिए एक सामान्य बात हो गई। चीनी मानवतावाद अनिवार्यतः प्राकृतिक, सामाजिक तथा ऐहिक है। उसके अनुसार कोई सिद्धान्त परम्परा द्वारा अनुमोदित होना चाहिए, न कि ज्ञान द्वारा। वह मानता है कि मानव अपनी वास्तविक विशिष्टता ठोस मानव-सम्बन्धों के माध्यम से ही प्राप्त कर सकता है।

मानवतावाद की स्थिति परम्परा तथा आधुनिकता के मध्य अत्यन्त विचित्र है। उसे फैशन की झोंक में पुरातनवादी होने का प्रतीक समझ लिया जाता है। आधुनिक पश्चिमी मानवतावादी विचारधारा में धार्मिक या आध्यात्मिक मनोवृत्तियों के प्रति सन्देह भाव पाया जाता है। इतिहास में एक लम्बे समय तक धर्म सभी संस्कृतियों का आधार स्वीकार किया जाता रहा। लेकिन धीरे-धीरे धर्म की तथाकथित महत्ता एवं समग्रता के प्रति आधुनिक विचारकों द्वारा सन्देह प्रकट किया जाने लगा, फलतः धर्म की उपयोगिता मानव और समाज के सन्दर्भ में विचारी जाने लगी। द्वितीय महायुद्ध ने मनुष्य को आमने-सामने खड़ा कर दिया है। वे अनुभव करने लगे हैं कि उनके सामने दो विकल्प हैं। या तो मानवता की रक्षा करें या मानव एवं सभ्यता का विध्वंस करें। यही कारण है कि धर्म की तुलना में आज विज्ञान कहीं अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। लेकिन यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि धर्म की रूढ़ियों का तिरस्कार किया जाता है, समूचे धर्म का नहीं। बिना आध्यात्मिक आधार के कोई नैतिक अनुशासन या मानवता के प्रतिमान स्थापित नहीं किए जा सकते।

मानवतावाद सेक्स के सम्बन्ध में भी यही धारणा रखता है कि किसी को भी हम 'उपभोग' की वस्तु न समझें, वरन् मानवीय स्तर पर लें। आधुनिक काल में मानवतावाद प्रजातन्त्र का विकास जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहता है। मानव का वास्तविक उद्देश्य उत्तरदायित्व-पूर्ण स्वतन्त्रता है, प्रजातन्त्र इस नैतिक सिद्धान्त की राजनीतिक अभिव्यक्ति है। इन परिस्थितियों में ही एक सार्वभौमिक परिवेश निर्मित होने की आशाएं बलवती होती हैं। यह एक प्रकार का विश्व मानवतावाद है।

मानवतावादी विचारधारा के विभिन्न तत्त्व इसी सन्दर्भ में अन्वेषित किए जा सकते हैं। भारतीय मानवता-वाद में सहिष्णुता, समझौता, सहयोग, अहिंसा, बन्धुत्व-भावना, सभी के प्रति करुणा एवं सहानुभूति, समताभाव, शुद्धता, आत्म-संतोष, स्वत्व के यथार्थ, ईश्वर या ब्राह्मण के प्रति पूर्ण समर्पण भाव, परोपकार, अहं का हनन तथा स्वयं का प्रसार, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रति आत्मीय भाव, क्षमाशीलता तथा आत्म-निग्रह आदि तत्त्वों पर बल दिया गया है। आधुनिक हिन्दी काव्य के सन्दर्भ में इन बातों की ओर पीछे संकेत किया जा चुका है।

काव्य में जब मानवतावादी तत्त्वों का अन्वेषण किया जाता है, तो मुख्य रूप से उनका स्वर भावुकतापूर्ण हो जाता है। कला या शिल्प के प्रतिमानों से सम्बद्ध होकर मानवतावादी तत्त्व चर्च, मन्दिरों या धर्म-सम्प्रदायों में घोषित किए जाने वाले स्पष्ट उपदेशों की भांति नहीं आते, वरन् अनुभूति के रूप में अन्तर्निहित होते हैं। दृष्टिकोण का वैभिन्य उनमें चाहे जितना हो, लेकिन सबके मूल में केवल एक ही सत्य है कि मनुष्य अपने अर्थ की वास्तविक गरिमा प्राप्त करे। वह न तो सामाजिक शोषण के अन्तर्गत अपनी महत्ता खोए और न धार्मिक तथा राजनीतिक अत्याचार के नीचे उसकी आत्मा का हनन हो।

मानव के सन्दर्भ में मूल्य का अर्थ एक ऐसी धारणा या दृष्टि है जो मूलतः व्यक्ति के जीवन में पनपती है, किन्तु जिसका विकास समाज की ओर होता है, जो समाज में आचरण-व्यवहार-संबंधी मान्यताओं, विश्वासों और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिलाषाओं को तोलती है, उनका मानदण्ड बनती है। यह धारणा या दृष्टि मानवी व्यवहार का नियमन करती है, जिसके आधार पर हम समाज में व्यक्ति या उसके आचरण को उत्कृष्ट या निकृष्ट, उचित या अनुचित, अच्छा या बुरा, घोषित करते हैं। और क्योंकि समाज परिवर्तनशील है, सामाजिक मान्यताएँ आर्थिक तथा अन्य कारणों से बदलती रहती हैं, मान्यताओं के बदलने के साथ-साथ नैतिकता और सामाजिक वातावरण बदलता है, इसलिए मूल्यों में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है।

पीछे मैंने प्रगतिवाद का उल्लेख किया था। उसके बाद की काव्य-धारा ने जिसे प्रयोगवाद के नाम से अभिहित किया जाता है, जीवन की यथार्थता की गहराई में प्रवेश किया और युगानुकूल मानव-मूल्यों का अन्वेषण किया। छायावाद-रहस्यवाद में सामाजिक चेतना का अभाव था, तो प्रगतिवाद समाज के बाह्यरूप पर ही अटक गया। प्रयोगवाद ने सामाजिक चेतना व्यक्त करने के साथ-साथ व्यक्ति की स्वतंत्रता टटोलने का भी प्रयास किया। प्रयोगवाद ने ही जब नई कविता का रूप धारण किया तो वह मनुष्य की वर्जनाओं और कुण्ठाओं और रूढ़ियों को तोड़ कर व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित कर दोनों का जीवन गहराई से देखने और अनेक उलझी हुई अनुभूतियों के विभिन्न आयामों को बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से चित्रित करने की ओर अग्रसर हुई। छठे दशक की कविता ने नई कविता का केंचुल छोड़कर नया रूप धारण किया है। प्रयोगवाद और नई कविता का युग-बोध अब, परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार, पुराना पड़ गया है। जो कुछ भी हो, प्रयोगवाद से लेकर साठोत्तरी कविता तक के कवियों ने मनुष्य के अस्तित्व का अर्थ समझने की चेष्टा की है और इस बात को समझने की चेष्टा की है कि समाज में रहते हुए व्यक्ति अपनी स्वतंत्र सत्ता कैसे बनाए रख सकता है—विशेषतः जब कि आज के युग में वह भय, संत्रास, कुण्ठा, ऊब, अकेलेपन की अनुभूति आदि तथा अन्य राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक संकटों से त्रस्त है और मानव के अस्तित्व पर ही प्रश्न-सूचक चिह्न लग गया है। जीवन की इस स्थिति के प्रति सामयिक कवियों ने विभिन्न रूपों में अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं—समाजवादी, अस्तित्ववादी, व्यक्तिवादी, मानवतावाद आदि के रूप में—और जीवन की व्यर्थता, अराजकता, मृत्यु-भय, निस्संगता, विसंगतियों, विद्रूपताओं आदि पक्षों की ओर गम्भीर संकेत किए हैं। इसलिए सामयिक कविता का महत्त्व विशुद्ध साहित्यिक या सौन्दर्यात्मक दृष्टि से तो है ही, साथ ही जीवन की समस्याओं के प्रति कवि का क्या दृष्टिकोण है, यह भी विचारणीय है। स्वयं उसकी अपनी अध्यांतरिक समस्याएँ बहुत-कुछ बाह्य ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर हैं। यहाँ तक कि वह राजनीति से भी अपने को असंपृक्त नहीं रख सकता। स्टीफेन स्वेंडर के शब्दों में कवि या लेखक को वर्तमान की परिस्थिति में पूर्णतः डूब जाना चाहिए, नहीं तो उसके सामयिक संसार के लिए उसका कोई महत्त्व नहीं रह जाएगा। आज कवि जीवन को अन्दर से देख ही नहीं रहा, वरन् भावुकता और धार्मिकता के स्थान पर बुद्धि और वैज्ञानिकता के आश्रय से जीवन देख रहा है। वह जीवन के प्रति सतर्क है और वर्तमान परिस्थिति की संकटपूर्ण अवस्था को भली भाँति पहचान रहा है। उसके लिए अतीत अस्तित्व ही नहीं रखता, वर्तमान अराजकतापूर्ण है और भविष्य अन्धकार और भयावह आशंकाओं से पूर्ण। इसलिए उसके कवि-कर्म का आज उद्देश्य है व्यक्ति में आत्मविश्वास की भावना पैदा करना, क्योंकि वह देख रहा है कि व्यक्ति लड़खड़ा रहा है, वह भीड़ में खींचा जा रहा है और सभी शक्तियाँ उसके व्यक्तित्व को कुतरने में लगी हुई हैं। विघटित होते हुए मूल्यों के स्थान पर वह नए मूल्य, जीवन के प्रति नया उत्साह, नई आस्था देखना चाहता है। विज्ञान, प्रजातंत्र, व्यक्ति-स्वातंत्र्य के आश्रय से वह नए मानव-मूल्य खोजने में लगा है—ऐसे मूल्य जिनसे मनुष्य का जीवन झाड़-झंखाड़ रहित सुखपूर्ण हो, उसके व्यक्तित्व का ऐसा स्वतंत्र विकास हो जिसकी अन्तिम परिणति समाज के साथ समन्वय में हो। मानव सम्बन्धों को वह शोषण-विहीन और गरिमामय रूप में देखना चाहता है। परस्पर राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता रओ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीषण संहारक अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ के बीच वह मृत्यु की मँडराती हुई छाया से इन्सान को बचाने के लिए व्याकुल है। मृत्यु और विनाश ही मनुष्य की नियति नहीं है, और न वह मुट्ठी भर सत्ताधारियों के हाथ में कठपुतली की तरह है। उसे अपना जीवन अपने ढंग से जीने का हक है। संक्षेप में आज का कवि सभी प्रकार के शोषणों, बन्धनों, आतंकों, भग्नाशाओं, विद्रूपताओं एवं विसंगतियों से मानव मात्र की मुक्ति की कामना करता है, नाना प्रकार की वर्जनाओं से उबार कर उसके जीवन में नया प्रकाश भरना चाहता है। परम्परागत मानवी-संबन्धों के स्थान पर वह परिवर्तित परिस्थितियों के प्रकाश में, आधुनिकता के बोध के साथ, नए आन्तरिक संबंध स्थापित करने के लिए उत्सुक है। सामयिक कविता मानव-जीवन के सही परिप्रेक्ष्य खोज रही है। कवि आत्मोपलब्धि के साथ-साथ मानव-अस्तित्व का सही अर्थ बूझना-बुझाना चाहता है। संकटपूर्ण परिस्थिति में रहते हुए वह संकट दूर करना चाहता है। जिन जीवन-मूल्यों की ओर मैंने संकेत किया है वे कवियों की रचनाओं से अप्रत्यक्ष रूप से निःसृत होते हैं। अन्यथा कविगण अकेलेपन, शून्यता, अजनबीपन, आतंक, संत्रास, कुण्ठा आदि की अभिव्यक्ति में लगे रहते हैं।

किन्तु प्रश्न उठता है कि सामयिक कविता में जो जीवन-दृष्टि पनप रही है, जिस भोगे हुए क्षण का, जीवन की जिस घुटन और टुटन, अन्तर्विरोधों और असंगतियों एवं विडंबनाओं को युवा पीढ़ी का कवि अभिव्यक्ति प्रदान करता है, उनका भारतीय जीवन के परिवेश से कहाँ तक सच्चा सम्बन्ध है, क्योंकि इन जीवन मूल्यों की सार्थकता, उनकी वास्तविकता तभी सिद्ध हो सकती है जबकि उनका जीवन के सही परिवेश से घनिष्ठ सम्बन्ध हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टता व्याप्त हो गई है और जीवन सुखी न होकर अभिशप्त है। किन्तु युवा पीढ़ी के कवियों ने जो अनुभूतियाँ व्यक्त की हैं वे बहुत-कुछ उधार ली हुई और जबरदस्ती ओढ़ी हुई हैं, क्योंकि न तो हमारे देश में एटमबम का विस्फोट हुआ और न युद्धजनित उन यातनाओं का ही यहाँ के कवियों को अनुभव है जिनका अनुभव यूरोप के कवियों को प्राप्त हुआ और जिसके फलस्वरूप वहाँ अस्तित्ववादी चिन्तन का प्रचार हुआ। विज्ञान और टेकनोलोजी के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों का भी उन्हें अनुभव नहीं है। अतः सामयिक कविता की प्रवृत्तियाँ बहुत-कुछ किताबी ज्ञान के फलस्वरूप हैं। विविध बन्धनों और वर्जनाओं से मानव की मुक्ति की बात जब वे करते हैं तो उनमें अतिरंजना का अंश ही अधिक रहता है।

निष्कर्षतः, आज मानव-मूल्य केवल वैयक्तिक अनुभव ही हैं। किन्तु उनका समग्र मानव-प्रकृति से सहज संवेदनात्मक तादात्म्य भी आवश्यक है। व्यक्ति-विशेष की स्वतः स्फूर्त, परम्परा-विहित, वातावरण-जन्य द्वन्द्वात्मकता के परिवेश में स्थान एवं काल के अनुसार क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तनशील गति की नियति ही मूल्य बन जाता है। और इस प्रकार जितने कवि हैं उनके द्वारा उतने ही मानव-मूल्यों का निर्धारण संभाव्य है। मूल्य-बोध और मूल्य-निर्धारण का संकट न केवल आधुनिक हिन्दी काव्य एवं अत्यानुधिक पाश्चात्य काव्य-कृतित्व के परिप्रेक्ष्य में, वरन् हर नई संभावना, संश्लिष्टि और साहित्य-सर्जना में स्वयमेव अनुस्यूत रहता है। आज, जहाँ एक ओर विविध काव्य-विधाओं की भीड़ है, वहीं आधुनिकता के अर्थ-बोध का अनुकल्पन विवादास्पद है। आधुनिकता, जीवन-क्रम के प्रत्येक परिवर्तन के साथ जागरूक प्रतिक्रिया का उच्छ्वास है। और, हमने आधुनिक हिन्दी काव्य की विभिन्न धाराओं में अन्तर्भूत मानव-मूल्यों का विश्लेषण भी इसी आधार-पीठिका पर किया है।

इधर, वर्षों से मेरे मन में पिछले तीन दशकों की अनेकशः नामाभिधेय और विविध वादों से युक्त कविता के प्रति शंकाएँ रही हैं जिन्हें सामाजिक उहापोहों, सांस्कृतिक असंगतियों और युगजनीन परिस्थितियों की अभिव्यक्तिमात्र नहीं कहा जा सकता। कहीं ऐसा तो नहीं है कि आत्यंतिक अहं के विस्फोट, अधकचरे समष्टिगत विन्यास और उधार लिए गए प्रतीकवाद, बिम्बवाद, दादावाद, अतियथार्थवाद और फ्रायडवाद के 'फैशनेबुल'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यञ्जन में मानव-मूल्यों का सहज संवेदनात्मक स्वरूप ही बिखर रहा हो ? अनुकरण किन्हीं परिस्थितियों में मान्य हो सकता है, किन्तु पाश्चात्य के प्रति अन्ध-भक्ति केवल प्रतिभा-शून्यता और वैचारिक गुलामी की ही प्रतीक मानी जाएगी। नित्य नवोन्मेष और नए प्रयोग 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' के केन्द्र-बिन्दु पर श्लाघ्य होंगे। लेकिन शर्त यही है कि मानव-घाती मूल्यों की वर्जना हो, अन्यथा तरह-तरह के वादों-प्रतिवादों और नामों-नारेबाजियों की भस्मासुरी भँवरों में स्वयंभू कवि और काव्य खुद-ब-खुद डूब जाएँगे। इस प्रकार के तथाकथित काव्य की क्या परिणति हो सकती है जिसे केवल उच्चवर्गीय या मध्यमवर्गीय एक-दो प्रतिशत नफ़ासत-नजाकतपूर्ण निठल्लू पाठक-श्रोता ही समझ सकें और वह तब, जबकि उसका विस्तृत भाष्य स्वतः रचयिता को ही प्रस्तुत करना पड़े ? हमें भय है कि कहीं यह तीन-चार दर्जन नामों से पुकारी जाने वाली तथाकथित तरह-तरह की कविता-कुण्डलियाँ अपने पूर्वज देशों, अमेरिका-इंगलैण्ड जैसी ही सामाजिक अरुचि की पात्र न बन जाएँ ?

मेरी दृष्टि में, नव्य-भव्य और उदात्त मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा का काव्य कृत्रिम नहीं होता, वह कोरे बौद्धिक वितण्डावाद की परिधि में नहीं समाता और न प्रयोगों के लिए प्रयोग के नाम पर 'सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्' का ही परित्याग करता है। आखिर, भावना, ज्ञान और कर्म का समवाय ही तो मानव है। इसी समवाय का अविरल गत्यात्मक सन्तुलन और जीवन्त संयोजन, अधुनातन मानव-मूल्य है और अनुभूतिपरक मानव-मूल्यों का सम्यक् स्वर ही काव्य है। तात्पर्य यह कि वादों के दायरे से मुक्त और गुटनिरपेक्ष मानवीय काव्य-सृष्टि का उन्मेष तमाम विषम-ताओं के बीच करना ही होगा। आधुनिकता और नवीनता के सम्मोहक-सूत्रधार कहीं अमेरिका, इंगलैण्ड, जर्मनी और रूस में न बैठें। कविता केवल कठपुतलियों की 'कें-कें' न बन जाय। 'मानव', मानव है, न लघुमानव, न महामानव और न बौना या विद्रूप-विकृत माँसलपिण्ड। कविता, कविता है। न नई, न पुरानी और न भूखी-नंगी या ताज़ी-बासी। लोक वृत्यात्मक, मज़दूरों-मजलूमों और फाकाकशों का रुग्ण संगीत काफ़ी-हाउस और कनॉट-प्लेस में नहीं बल्कि खानों, खदानों और खेतों-खलिहानों में खपकर ही गाया जा सकेगा। अन्यथा मन-मस्तिष्क के कुहासों में, व्यक्ति-अभिषेक का अनुरणन—घोर वैयक्तिकता का आत्म-प्रदर्शन और सर्वनाशी मानव-मूल्यों का कथ्य बन जाएगा।

अस्तु, आवश्यकता है कि अधुनातन काव्य बौद्धिक-व्यायाम बन्द करे। अतिवादी यौनेषणा, अनियन्त्रित-ऊट-पटाँग-अभिव्यक्ति, सम्पूर्ण आस्था-विगलित अनास्था, आरोपित कुरूपता, क्लीव-चिन्तन और पतनोन्मुख मानव-मूल्य-संहतियों का पटाक्षेप करके; 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' से सम्पृक्त भारतीय संस्कृति की ज्योतिर्मय मूल-संचितना से आपूरित हो। राहों के अन्वेषी पथभ्रष्ट होकर न रह जाएँ। तमाम सामाजिक संकट, कच्छपीय-बुद्धि-संकुलता के मूर्त्तरूप न बनें। अनेकशः अन्तर्विरोधों के बीच भी, शाश्वत मानव-मूल्यों का अन्तर्बोध—कवि का अपना दायित्व है; और यदि यह मूल्य-चेतना जन-मानस में स्पन्दित नहीं होती, तो आधुनातन काव्य-कला की विविध बाँकी अदाएँ भी कूड़े के ढेर से ज्यादा सौन्दर्य-तत्त्व नहीं संजोएंगी। इसके लिए नए काव्य को न तो अधिनायकवाद का ढिंढोरची ही बनाना है और न पूँजीवादी व्यवस्था के ध्वंसावशेषों का सुनियोजित रक्षा-प्रयास। अतः मानव-मूल्यों की ठोस स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि आधुनिक और नवीन युगबोध यथार्थ की ही धरती पर उतरे, न कि परिकल्पित वायव्य गगन में विहार करने लगे।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषा-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानस की दार्शनिक मान्यताएं अभिनव पक्ष

—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

परम्परागत मान्यताओं और तर्क के आधार पर मेरी यह निश्चित धारणा है कि मध्यकालीन आध्यात्मिक आचार और विचार 'आगम' से पूर्णतः प्रभावित हैं—प्रभावित ही नहीं, बहुत दूर तक वे तन्मूलक भी हैं। यह अवश्य है कि उस समय तो निश्चय ही कोई भी आचार और विचार भारत की धरा पर पनप नहीं सकते थे—जब तक वे अपने को श्रौत परम्परा से संबद्ध न कर लें। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रस्थान त्रयी का भाष्य इस तथ्य का साक्षी है। इसीलिए यदि समस्त तुलसी साहित्य को निगमागमकल्पतरु का परिणतफल कहा जाय—तो उसमें कोई त्रुटि न होगी। वैसे तो उन्हीं ने 'मानस' को 'नानापुराणनिगमागम-कल्पितं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' कहा ही है।

निगमागमकल्पितरु के परिणत-फल तुलसी-साहित्य के 'रस' रूप में 'भक्ति' की ही प्रतिष्ठा है। अतः इसकी दार्शनिक मान्यताओं पर विचार 'भक्ति' को ही केन्द्र में मानकर किया जा सकता है। तुलसी अपने समूचे आचार और विचार का लक्ष्य 'भक्ति' को ही मानते हैं। 'भक्ति' ही उनके लिए 'साध्य' है। मध्यकालीन 'भक्ति' के आचार्यों ने 'भक्ति' को पंचम पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्ठित किया है। मधुसूदन सरस्वती का यही पक्ष है। गोस्वामी जी भी 'मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने' कहकर इसी पक्ष का उपोद्वलन कर रहे हैं। वैसे तुलसी के भक्त पात्रों में 'सार्ष्टि' को छोड़कर अवशिष्ट अन्य द्वैत मुक्तियों—सालोक्य, सायुज्य तथा सामीप्य—का उल्लेख मिलता है। पर यह तो भेद-भगति का फल है। संतवर गोस्वामीजी 'अभेद-भगति' को सबसे बड़ा मानते हैं। 'अभेद-भगति' ज्ञानोत्तरा भक्ति है। ज्ञानोत्तरा भक्ति शांकर आत्म-साक्षात्कार के अनन्तर आरम्भ होती है। शांकर आत्म-साक्षात्कार के सोपान जो अद्वैत वेदांत सम्मत हैं—मानस में उपक्षिप्त हैं। 'सोऽहमस्मि इतिवृत्ति अखण्डा'—द्वारा जिस 'सोऽहमस्मि' इत्याकारक अखण्डाकार विद्यात्मिका मायीय वृत्ति का उपक्षेप किया गया है—वह 'श्रवण' तथा 'मनन' की विधियों का परिणाम है। उपनिषद् का कहना है—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मान्तव्यो निदिध्यासितव्यः" आत्मा ही द्रष्टव्य है और तदर्थ श्रवण, मनन और निदिध्यासन अपेक्षित हैं। किन्तु श्रवण का पात्र बनने से पहले मुमुक्षादि साधन चतुष्टय की सम्पत्ति आवश्यक है। मुमक्षादि की प्राप्ति, अन्तःकरण का शोधन "श्रुति-संमत हरिभक्ति पथ संयुतविरति विवेक"—से ही संभव है—वैधी भक्ति से ही संभव है—दास्य भक्ति से ही संभव है। 'विनय पत्रिका'—जो तुलसी की व्यक्ति-साधना का मार्मिक और सहज गीतात्मक समुच्छलन है—का 'विनय' शब्द ही आराध्य के प्रति 'माहात्म्य बोध' और स्व के प्रति लघुता बोध का प्रमाण है। द्वैतभूमि की यह वैधी भक्ति अन्तःकरण को शोधित कर श्रवण-बीज का भव्य क्षेत्र बनाती है। महावाक्यों या महावाक्य का श्रवण एवं मनन साधक को इस योग्य बना देता है कि वह आत्म साक्षात्कार कर सके। आत्मा तो सदैव अपरोक्ष है—अनादि आविधाजन्य मल या आवरण के कारण वह परोक्ष-सा लगता है। इसी आवरण का क्षय श्रवण तथा मनन द्वारा होता है। श्रुत का मनन करते-करते वृत्ति तदाकार हो जाती है और यह 'सोऽहमस्मि' रूपा विद्या-त्मिका-वृत्ति आविधिक वृत्ति का उच्छेद कर डालती है। 'कतकर जो न्याय' से अन्ततः मायीय होने के कारण वह स्वयं भी उच्छिन्न हो जाती है। इस प्रकार प्रारब्ध कर्म भोग का निमित्त मात्र अविद्या शेष रह जाती है, शेष अविद्या का क्षय हो जाता है। इस प्रकार अन्यथा दर्शन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाली भेदजननी माया-निवृत्ति से आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। गोस्वामीजी की साधना यहीं नहीं रुकती। उनकी दृढ़ धारणा है कि द्रवशील प्रकृति के साधकों में आत्म साक्षात्कार के बाद भी एक आभ्यंतर मल शेष रह जाता है—जो ज्ञानोत्तरा भक्ति से निवर्त्य है। यह मल भी मल ही है—वह दूसरी बात है कि वह आत्म-सुख होने से शुद्ध मल कहा जाता है। महायानी बौद्धों में यही 'शुद्ध वासना' है—जिसकी निवृत्ति बोधिसत्व की प्रक्रिया से 'बुद्धत्वोपलब्धि' में है। गोस्वामीजी ने इसी के लिए कहा है—

"प्रेम भगति जल बिनु अन्हवाये।
अभिअन्तर मल कबहुं न जाये॥"

मेरी निजी धारणा है कि यह प्रेम भगति ज्ञानोत्तरा आत्म-रति है—अभेद-भगति है। शास्त्रों में कहा गया है—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक्, जाते बोधे **मनीणया**।
भक्तयर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

आत्मबोध से पहले का द्वैत—अनात्मबोध मोहकारी होता है—फलतः दुःख-संतति का प्रसवकारी है। पर विद्यात्मिका वृत्ति से आविधिक वृत्तियों का क्षय हो जाने के अनन्तर आत्म-साक्षात्कार—अद्वैत बोध के बाद का कल्पित द्वैतबोध—जो भक्ति के लिए है—अद्वैतबोध से भी सुन्दर और आनन्दमय है। इसका मतलब यह हुआ कि यहाँ का भजनीय, भजन तथा भक्त-तत्वतः हैं—अभिन्न ही, केवल 'भजन' के लिए त्रिधा कल्पित हैं। अर्थात् भक्ति भक्त, भगवंत ही नहीं, 'गुरु' भी—चतुर नाम किन्तु वपु एक ही हैं। भगवंत और गुरु में कोई भेद नहीं है। 'वैराग्यसंदीपनी' में कहा है—

तन करि मन करि वचन करि काहू दूषत नाहिं
तुलसी ऐसे संतजन, रामरूप जग माहिं।

राम स्वयं अपने और भक्ति के बीच 'गुरु' को सन्त कहते हैं—

भगति तात अनुपम सुख मूला।
मिलहिं जो संत होहिं अनुकूला॥

कहने का अभिप्राय यह है कि अद्वैत भक्ति के धरातल पर भक्ति, भगवान और भजनीय कल्पित भेद हैं—नाम मात्र का—अर्थ का नहीं। अर्थतः सभी एक ही हैं। यदि अर्थतः सभी एक हैं—तो इसका अर्थ यह है कि 'भगति' भी तत्वतः चिदानन्दमय है—भजनीय तो है ही। भक्त भी अभेद भूमि पर वही है। भाव का पूरा सुख कल्पित अभाववश ही मिल सकता है। कल्पित या स्वेच्छाधीन अभाव सुखकर तो हो सकता है—पर दुःखकर नहीं हो सकता।

अब, यह देखना चाहिए कि 'भक्ति' के इस रूप की कल्पना का उत्स क्या है—निगम या आगम या क्वचिदन्य? 'निगम' के ज्ञानकांड और कर्मकांड में तो 'भक्ति' का यह रूप है ही नहीं, उपासना कांड में भी यह रुप नहीं है। शांकरधारा में आत्म-रति या निर्गुणोपास्ति की बात पंचदशीकार ने यद्यपि सविस्तार उठाई है और कहा है कि जो आत्मा—'वेदन' का विषय बन सकता है, वह 'उपासन' का भी विषय बन सकता है। जिस भी रुप में वह वेदन का विषय है—उसी रुप की प्रत्यावृत्ति उपासना भी कही जा सकती है। इस 'अहंग्रहोपासना' का मध्यकालीन वैष्णवों की 'साध्य पंचम पुरुषार्थ रूपा भक्ति' से तालमेल बिल्कुल नहीं बैठता। कारण, वह सब आत्मसाक्षात्कार के लिए है और प्रक्रान्त भक्ति आत्मसाक्षात्कार के बाद की है—अतः पूर्ववर्ती से परवर्ती की एकरूपता का सवाल ही नहीं खड़ा होता। जो अहंग्रहोपासना साधन है—उसका भगवदभिन्न भक्ति से एकरूपता किस प्रकार? 'भक्ति' की यह कल्पना विशुद्ध आगमिक है। आगमिक परम्परा में 'भक्ति' मायिक अन्तःकरण की एक वृत्ति विशेष नहीं है—बल्कि उसके माध्यम से प्रकाशित होने वाली ह्लादिनी शक्ति की ही एक वृत्ति है—तरंग है—उच्छलन है। आत्मा की चिदानन्दमयी शक्ति की ही एक वृत्ति है—इसीलिए वह बोधमयी भी है और आनन्दमयी भी। तुलसी के "ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा" को इसी भूमिका पर परखा जा सकता है। चित् ही अनुकूल होकर आनन्द है—आनन्दरूपा ही भक्ति है। यही साध्य है—पर इसका आस्वाद कल्पित भेद की भूमि पर ही संभव है। एतदर्थ 'ज्ञानोत्तरा भक्ति' की बात कही जाती है। इस प्रकार भक्ति भगवान् की ही आत्मशक्ति की एक वृत्ति विशेष है। तुलसी को भक्ति का यही रूप अभीष्ट है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति के इस रूप की संगति के अनुरूप ही भजनीय चरमतत्व की कल्पना करनी पड़ेगी। गोस्वामीजी चरम परमतत्व को 'राम' नाम से अभिहित करते हैं—पर वे 'राम' शांकर-ब्रह्म की भाँति 'शक्ति' शून्य नहीं हैं—शक्तिमान् हैं। 'सिया' उनकी ऐसी शक्ति हैं—जो उनसे गिरा—अर्थ और जलवीचिवत् न एकांततः भिन्न ही कही जा सकती है और न एकान्ततः अभिन्न ही। बात यह है कि कहना वही और उतना ही सम्भव है जितना 'बुद्धि' में आ सके। 'बुद्धि' स्वयं सापेक्ष और सीमित है—अतः उसमें जो कुछ भी आयेगा—वह भी सापेक्ष और सीमित होगा—अतः बुद्धिपूर्वक समस्त कथन भी और कथ्य भी सापेक्ष और सीमित होगा—अतः बुद्धि की परिधि में समग्रतः न आ सकने वाले तत्त्व के विषय में निरपेक्ष कथन सम्भव ही नहीं है। फलतः चरमतत्व के विषय में सारा कथन एकांततः सत्य नहीं है। वह समस्त संभावनाओं का आगार है—अतः सारी संभावनाएँ संभावनाओं के रूप में ही कही जा सकती है—उसमें भेद की भी सम्भावना है और अभेद की भी—उभय की भी और अनुभय की भी, निषेध की भी और विधान की भी दोनों की और किसी की भी नहीं। इस प्रकार तुलसी की दृष्टि में चरमतत्व ऐसा ही है। आगमिक अद्वयवादी यही मानते हैं। शांकर अद्वैत तुलसी को यदि अभीष्ट होता, तो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर तक की ही कल्पना करने वाले शांकर अद्वैतियों की भाँति ये भी 'चिदानन्दमय देह' की बात न करते। चिदानंदमय शाक्त देह की कल्पना केवल अद्वैतवादी आगमिक ही मानते हैं। गोस्वामीजी ने परमतत्वज्ञ वाल्मीकि द्वारा कहलवाया है—"चिदानन्दमय देह तुम्हारी"। भगवद्रूप की इस बोधस्वातंत्र्यमय-चिदानन्दमय कल्पना के आलोक में ही गोस्वामीजी की 'भक्ति' का रूप समझा जा सकता है।

चरमतत्व विषयक दार्शनिक मान्यता के स्पष्टीकरण के अनन्तर उसकी अवरोहणात्मक या जागतिक स्थिति का निरूपण प्रसंग प्राप्त है। शांकर अद्वैत वेदांत सृष्टि को माया शक्ति का परिणाम मानता है और माया को स्वतंत्र मानता है—ईशाधीन नहीं। इसीलिए उनके यहाँ 'षड-स्माकमनादयः' कहा गया है। तत्वतः अद्वैत सत्ता को स्वीकार करके भी चित्, अचित्, जीव, जीवेशभेद आदि को अनादि कह दिया गया है। 'लीला' दर्शन की सारी सम्भावनायें शांकर अद्वैत में निःशेष हो जाती हैं। ये आगम ही हैं, जो ईश्वर की स्वातंत्र्य शक्ति की लीला रूप में सृष्टि का समर्थन करते हैं। गोस्वामीजी ने अनेकत्र माया को ईशाधीन कहा है। इस प्रकार जहाँ एक ओर गोस्वामीजी माया को ईशाधीन कहकर शांकर प्रस्थान से अपने को पृथक् कर लेते हैं—वहीं दूसरी ओर 'सत्ख्याति' या 'आत्मख्याति' द्वारा भ्रम का आत्यंतिक उच्छेद मानने वाले विशिष्टाद्वैतवादियों से भी अपने को अलग कर लेते हैं। परतत्व आनन्दमय स्वरूप का अनुभव आत्मशक्तिवश जगदात्मक आत्मप्रसार द्वारा भी पा लेता है और स्वात्म-विश्रांति द्वारा भी। गोस्वामीजी भी अद्वयवादी आगमिकों की भांति मानते हैं कि समूची सृष्टि चरमतत्व का ही प्रसार है। वे कहते ही हैं—

"सियाराममय सब जग जानी"

समस्त जगत शक्ति शक्तिमान् के अद्वय रूप की ही परिणति है। यही कारण है कि चरमतत्व की द्वयात्मकता के अनुरूप सारा जगत् "स्थितिगत्यात्मक" है। राम 'स्थिति' हैं और 'सिया'—गति। द्वयात्मकता में वे 'स्थिति-गत्यात्मक' हैं और अद्वयात्मकता में उभयातीत। इस दृष्टि से चरमतत्व विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी। चाहे अणु-परमाणुमय जड़ जगत् को लें या जीवकोश रूप चेतन को—उभयत्र पुंस्त्व तथा स्त्रीत्व 'राम' और 'सिया' के प्रतिनिधि में संलग्न हैं। अणु-परमाणु में ऋणात्मक तथा धनात्मक शक्तियाँ हैं और जीवकोश में डी० एन० ए० तथा आर० एन० ए० हैं। अध्यात्म ही नहीं, विज्ञान भी इसे स्वीकार करता है।

अवरोहण के अनन्तर आरोहण की प्रक्रिया आती है—प्रत्यावर्तन का प्रसंग आता है। प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया भगवदनुग्रह से ही संभव है। गोस्वामीजी उपनिषदों की

"यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः"

की भाषा में कहते हैं—

"सोई जानै जेहि देहु जनाई।
जानत तुमहि तुमहि होई जाई॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यावर्तन उसी की इच्छा से संभव है। यही इच्छा जीवन-विषयक होने से शक्तिपातात्मक अनुग्रह है। शक्तिपात की आनुपातिक मात्रा में 'गुरु' लभ्य 'दीक्षा' आती है। गोस्वामीजी की दृढ़ धारणा है "गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई।" 'विनयपत्रिका' भी कहती है—

"तुलसीदास हरि गुरु करुना बिनु..."

गुरु दीक्षा में 'नाम' देता है और नाम साधना साधक द्वारा सम्पादित की जाती है। गोस्वामीजी ने कहा है—

"नाम निरूपन नाम जतन तें।
जिमि प्रगटत अनमोल रतन तें॥"

तुलसीदास ने नाम निरूपन की बात तो बहुत की है—पर 'नाम जतन'—नाम विषयक अभ्यास की बात कम। एक स्थल पर यह अवश्य कहा गया है—

"जोग जंत्र जप मंत्र उपाऊ।
फलै तबहिं जब करिय दुराऊ॥"

संभव है मंत्रात्मक (बीज मंत्र जेहि जपत महेसू) उपाय का दुराव किया हो। उपाय के नाम पर दो बातें ही मिलती हैं—एक तो उसे जीह देहरी पर रखना अर्थात् नामोच्चारण और दूसरे—

"रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा।"

श्वास प्रतिश्वास नाम की रट। क्या इस 'प्रतिस्वाशा' के माध्यम से गोस्वामीजी संतों की भांति श्वास प्रश्वासमय सहज जप की ओर तो संकेत नहीं कर रहे हैं? एक संत ने ठीक कहा है कि मुख से जप करना वैसा ही है जैसे नौकर-चाकर से पूजा करवाना। वास्तव में मुक्त होना या भक्तिरस का आस्वाद पाना लक्ष्य है—जीव को और साधन करें—जीवेतर—यह संगत भी नहीं लगता। साधना तो ऐसी होनी चाहिए जो जीव ही करता हो। इसीलिए मानस जप अथवा सहज जप को जप परम्परा में महत्व दिया गया है। कविराज श्री गोसाँनाथ ने नाम साधना द्विविध कही है—रस पर्यवसायी तथा नादपर्यवसायी। निश्चय ही 'भक्ति' रस को साध्य मानने वाले गोस्वामीजी की नाम साधना 'रसपर्यवसायी' ही होनी चाहिए। "रामनाम कला मणि मंजूषा"—नाम की कृति को आधार बनाकर कविराज जी ने इनकी नामसाधना या 'नामजतन' का निरूपण किया है—पर परम्परा इस कृति को प्रामाणिक नहीं मानती। कहा गया है कि नाम के जाग्रत होने से सद्गुरु की और उनके प्रभाव से इष्टमंत्ररूपी विशुद्धबीज की प्राप्ति हो सकती है। बीज के प्रभाव से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है—फलतः देह और मत की मलिनता हटती है। भजन या नामजप की स्वाभाविक स्थिति इस मातृगर्भ संभूत मायिक देह से संभव नहीं है—तदर्थ भाव देह की अपेक्षा है। वास्तव में इसी भाव देह में स्वाभाविक भजन होता है। वैध-मार्ग तब तक के ही लिए उपादेय है जब तक मंत्र चैतन्य नहीं होता। मंत्र चैतन्य के बाद, विधि मार्ग की सार्थकता जाती रहती है। भाव देह के विकास के साथ-साथ भावरञ्जित दृष्टि के समक्ष इष्ट देवता का ज्योतिर्मय धाम प्रकट होता है। भजन के ही प्रभाव से भाव प्रेम में परिणत होता है और भाव के प्रेम रूप में परिणत होते ही उस ज्योतिर्मय धाम में इष्ट देवता का प्रत्यक्ष होता है। इसके पश्चात् भक्त और भगवंत का द्वैत विगलित हो जाता है। इस दशा में भक्त की शुद्ध वासनात्मक स्थायी भाव के अनुरूप अनन्तविध लीला का प्राकट्य होता है। भक्ति की यही सिद्ध दशा है। इस प्रकार नाम ही रसात्मक परिणति पाता है।

प्रसिद्धि है कि गोस्वामीजी को देहत्याग से कुछ ही समय पूर्व महावीरजी ने रामनाम का रहस्य बताया था। कहा था कि रामनाम का विश्लेषण करने पर उसमें पांच कलाओं का पता लगता है—ताटक, दण्डक, कुण्डल, अर्धचन्द्र तथा बिंदु। साधक नामसाधना वश क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण तथा कैवल्य देह का उक्त कलाओं में विलयन करता जाता है। बिंदु 'सिया' हैं और उनका भेद किए बिना रेफ रूप राम का संधान पाना कठिन है। महावीरजी के उपदेश का निष्कृष्ट अर्थ यही है कि बिंदु रूपा सीता का आश्रय लिए बिना निष्कल ब्रह्म की ओर नहीं बढ़ा जा सकता। विनयपत्रिका में भी सीता के माध्यम से राम की ओर बढ़ने में यही रहस्य इंगित है।

इस प्रकार नाम साधना से साध्य चिदानंदमय भक्ति का कल्पित द्वैतमय भूमिका पर आस्वाद लिया जाता है। गोस्वामीजी के अनुसार प्रत्यावर्तन की यही प्रक्रिया है। संक्षेप में गोस्वामीजी की मेरी धारणा के अनुसार ये ही मान्यताएं हैं।

(राममूर्ति त्रिपाठी)
आवास क्रमांक-२, कोठी रोड,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुष-सम्बन्धी युग-धारणाएँ एक शोध दृष्टि

—डॉ० छविनाथ त्रिपाठी

"पुरुष" के सम्बन्ध में युगानुकूल भिन्न-भिन्न धारणायें बनती रही हैं। किसी शब्द-विशेष के साथ जब एक विशेष प्रकार की धारणा सम्बद्ध हो जाती है, तब वह शब्द, सामान्य-शब्द की श्रेणी से ऊपर उठकर एक विशिष्ट अर्थ का बोधक बन जाता है। जब कोई कवि उस शब्द का प्रयोग करता है, तो उसके मानस-पटल पर युगानुरूप अर्थ का ही बिम्ब उभरता है और उसे आशा रहती है कि काव्य श्रोता या पाठक के मानस में भी वही बिम्ब उभरेगा। यह बिम्ब-निर्माण शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ मात्र से ही नहीं होता, अपितु उन धारणाओं के द्वारा भी होता है, जिन्हें लोक-मानस उस शब्द के साथ संबद्ध कर लेता है। 'पुरुष' शब्द के साथ रूप, गुण और व्यक्तित्व सम्बन्धी अनेक धारणायें सदा संबद्ध रही हैं। ये धाराणायें युग-परिवर्तन के साथ बदलती रही हैं, फल-स्वरूप अर्थ-विधान की उसकी क्षमता और बिम्ब-निर्माण सम्बन्धी उसकी स्पष्टता और व्यापकता में भी परिवर्तन होता रहा है।

अध्यात्म और धर्म-प्रधान वैदिक-युग में एक मन्त्र-द्रष्टा ऋषि ने 'पुरुष सूक्त' में 'पुरुष' को इतनी महत्ता प्रदान की है कि वह भूत और भविष्य का नियंता, अमृतत्व का स्वामी, सम्पूर्ण विश्व में अबाधित गति वाला, श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण भूमि और नगरों का अति-क्रान्ता मान मान लिया गया है।[1] पुरुष सूक्त के सोलह मन्त्रों में 'पुरुष' की जिस महनीयता का वर्णन हुआ है, उससे उसका आदर्श-व्यक्तित्व परमात्मा के समकक्ष पहुँच जाता है। वैदिक-युग का 'पुरुष' इन सम्पूर्ण धारणाओं का बिम्ब उभारने में समर्थ था। वायु-अन्तरिक्ष, वीर-वीर्य, मृत्यु-अमृत, अमृत, सत्य-अनृत तथा भूत और भव्य जब न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, तब यह 'पुरुष-प्राण' ही क्यों डरे।[2] वह तो कल्याण-पथ का निर्भीक पथिक है।[3]

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् काल में वैदिक 'पुरुष' का विराट-स्वरूप सर्वथा खो नहीं गया था, फिर भी भौतिक-जीवन की ओर अत्यधिक उन्मुख होने के कारण संकुचित अवश्य हो गया था। ऐतरेय ब्राह्मण में 'चरैवेति' की अनुगूंज अवश्य सुनाई पड़ती है, परन्तु

१. ऋक् १०।९०।२,३,५
२. शौनक-संहिता २।१५।२,९,११-१३ ॥
३. अथर्व १९।९।१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपदेश रूप में ही; सूर्य-सदृश श्रम और गतिशीलता उसमें नहीं रह गई थी।[1] वह पुरुष, पुरः या शरीर में ही आबद्ध होकर रह गया था। गृहस्थ-जीवन की महत्ता बढ़ने के कारण 'शतपथ ब्राह्मण' ने 'पुरुष' को आधा मान कर पत्नी को उसका अर्ध-भाग कहा।[2] अपत्नीक को अपूजनीय समझा जाने लगा[3] और पुत्रहीन के लिए तो यह लोक ही निरर्थक बन गया।[4] नारी का गौरव ही गृहस्थ-जीवन का गौरव है, वह जाया और सखा है[5], उसका सौन्दर्य आकर्षण का विषय है[6], इस धारणा ने पुत्रैषणा को बढ़ाया और सन्तानोत्पत्ति के लिए अनेक विवाह को भी विहित घोषित कर दिया गया।[7]

जब आरण्यकों के समय पुत्र-वित्त और लोकैषणाओं ने पुरुष को पूरी तरह बाँध लिया तो इनकी प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप इनके त्याग पर बल दिया जाने लगा।[8] 'पुरुष' का यह आबद्ध-रूप इतना सशक्त बन चुका था कि त्याग के सहस्रों उपदेश भी उसके अस्तित्व को उखाड़ फेंकने में असफल रहे।

'द्वा सुपर्णा'[9] से यह आभास तो मिलता ही है कि 'पुरुष' द्विमुखी बन गया था। या तो वह सांसारिक सुख की लालसा में मोह-शोक और चिन्ताग्रस्त था या इनके परे वीत शोक। 'यथाक्रतु' सांसारिक पुरुष ही था।[10] 'सहस्रों हाथों से एकत्र करो और हजारों हाथों से वितरण,[11] जैसे आदेश, आसक्ति और त्याग के समन्वय को ही व्यक्त करते हैं। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'[12] का स्वर मुखरित करने वाला ईशावास्य भी यह स्वीकार करता है कि हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख ढँक गया है।[13] भोग-संलग्न आडम्बरपूर्ण जीवन को जीने वाले पुरुष की आयु भी कम हो गई। सौ या सौ वर्ष से भी अधिक जीने वाला 'पुरुष' वैदिक पुरुष था,[14] ऐसा पुरुष भोगासक्त होकर 'मनुष्य' मात्र रह गया।[15] इस 'नाति दीर्घ' जीवन के प्रति, उसके भोगों के प्रति, विरति का स्वर नचिकेता ने मुखरित किया था।

उपनिषद-काल के 'पुरुष' के दोनों रूपों को स्वीकृति प्राप्त हो गई। वैदिक विराट् पुरुष को 'परात्पर दिव्य पुरुष' मान लिया गया और तत्कालीन 'पुरुष' को नाम-रूप युक्त 'अंगुष्ठ-पुरुष'।[16] कर्म, प्रेय, अज्ञान और अमुक्त का सम्बन्ध अंगुष्ठ पुरुष से हो गया और त्याग, श्रेय, ज्ञान तथा मुक्त का सम्बन्ध विराट् पुरुष से। पुरुष के इस बौने रूप को महत्तम एवं विराट् रूप में उभारने का प्रयास ही उपनिषद् ग्रन्थ करते हैं। सारा मुण्डक उपनिषद् कर्मबद्ध पुरुष के मुक्त पुरुष तक आरोहण की कथा है। सारे ही उपनिषद् ससीम को असीम बनने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इन्द्र ने माया द्वारा पुरुष को यह ससीम रूप दे दिया था,[17] पर इस माया से मुक्ति सरल न थी। 'पुरुषान्न परं किंचित्'[18] में पुरुष-महिमा को ही पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु न तो यह कार्य सरल था न सर्वजन बुद्धि-गम्य। इस अंगुष्ठ मात्र पुरुष का बोध भी ज्ञानियों के लिए ही

---

१. ऐतरेय ३३।३।१५
२. शतपथ ५।१।६।१०, ५।२, १।१०
३. तैत्तिरीय २।२।२।१, ३।३।३।५
४. ऐतरेय ७।१३
५. वही ४।२७।५,६
६. शत० १३।१।९।६, ३।५।१।११, ६।५।१।१० आदि
७. ऐत० ३।२३, गोपथ २।३।१९
८. बृहदारण्यक ४।४।२२
९. श्वेता० ४।६
१०. वही ४।७
११. अथर्व ३।२४।५
१२. ईशा० १
१३. वही १५
१४. कौषीतकी ११।७, शत० १।९।३।१९
१५. कठ १।२।३
१६. मुण्डक ३।२।८, श्वे० ३।१९, कठ २।१।१२, २।३।१७
१७. वृह० उ० २।५।१९
१८. कठ १।३।११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभव रह गया। वे ही विराट् के इस बौने रूप को देख सकते थे। इसका ज्ञान-मात्र ही मुक्ति का साधन बन गया।[1] तात्त्विक-एकत्व-बोध मात्र से ही तो वामन, विराट् नहीं बन सकता था।

जिस प्रकार पुरुष और दिव्य-पुरुष का सम्बन्ध, लघु और महत् के सम्बन्ध का द्योतक बना, उसी प्रकार नर-राष्ट्र के भौतिक स्वरूप में प्रजा और राजा का सम्बन्ध भी लघु-महत् आधार पर प्रतिष्ठित हुआ। अंगुष्ठ पुरुष की महत्ता दिव्य पुरुष के साथ एकात्मता में है, अतः प्रजा की महत्ता राजा और राष्ट्र के साथ एकात्मता स्थापन में विहित हो गई। राजा और राष्ट्र जितने महान् एवं विराट् हैं उसकी प्रजा भी उतनी ही महान् और विराट् होगी, औपनिषदिक दर्शन का यह राजनैतिक रूप उत्तरोत्तर विकसित होता गया। यह तथ्य अधिक महत्त्व-पूर्ण नहीं बन सका कि राजा कैसे चुना या बनाया जाता था, उसे क्या-क्या प्रतिज्ञायें करनी पड़ती थीं, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह उभरा कि पुरुष के विराट् रूप का लौकिक प्रतीक राजा बन गया, उसे 'महती देवता' कहा गया तथा वह अपने विराट् स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ का आश्रय लेने लगा। ब्रह्मचर्य और तप[2] द्वारा राजा राष्ट्र की रक्षा अवश्य करता था, किन्तु उसके पौरुष का दर्शन[3] तो युद्ध में दिखाई पड़ता था। पौरुष के विराट् स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए ही वह साम्राज्य और सार्वभौम राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील एवं लक्ष्य-निष्ठ रहता था।[4] प्रजा का ससीम पौरुष राजा के असीम पौरुष में पुंजीभूत होकर विराट् का लौकिक रूप व्यक्त करता था।

सूत्र काल में श्रौत, पाक एवं संस्कार सहित महायज्ञों द्वारा यज्ञ को भी जीवन-व्याप्त विराट् आकार प्रदान किया गया। पुरुष 'यज्ञमयोऽयं पुरुषः' बन गया। श्रौत, गृह्य एवं धर्म सूत्रों ने ससीम पुरुष को सामाजिक, नियम-बद्ध, अनुशासित एवं पूर्णतः लौकिक पुरुष में ढाल दिया। यज्ञों का विराट् स्वरूप विशाल जनसामाज को प्रभावित कर सकता था।[5] पौरुष के विराट् स्वरूप को व्यक्त करने के लिए ही साधकों में महावीर और बुद्ध ने आरम्भ में कृच्छ्र-तप द्वारा जनसमाज के समक्ष त्याग और तप का उदाहरण प्रस्तुत किया था। लोकासक्त और लोक-विरक्त 'पुरुष' के द्विविध विराट् रूपों की तत्कालीन अभिव्यक्ति औपनिषदिक आरोहण कथा से भिन्न नहीं है। पुरुष की मनुष्य रूप में परिणति उसके और परिसीमन की कथा है। विधि-निषेध का पालक 'पुरुष' भ्रम, प्रमाद, इन्द्रिय-दोष और विप्रलिप्सा से युक्त होने के कारण और भी अप्रामाणिक तथा संकुचित बन गया। 'पुरुष' का दो रूप एक तीसरे और निम्न-स्तर तक पहुँच गया और विविध दर्शनों ने उसका वर्गीकरण—जीव, ईश्वर और दिव्य-पुरुष (ब्रह्म) के रूप में करते हुए 'जीव' को उस निम्न-स्तर की संज्ञा प्रदान की।

सांसारिक कर्म (संघर्ष)-निरत एवं उससे उत्पन्न कर्म फल का भोक्ता जीव तो दुःखी होता ही है। दुःख-नुषंगी होने के कारण सांसारिक सुख भी दुःखमय है।[6] अतः दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति के अन्वेषण में ही भारतीय दर्शनों का विकास हुआ। दर्शन की इस चिन्तन-धारा से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि जीव-स्तरीय पुरुष अत्यन्त दुःखी था। वेदान्त के अनुसार शरीरेन्द्रिय का अध्यक्ष, कर्मफल का भोक्ता एवं अविद्यामूलक अहंकार से युक्त पुरुष ही जीव है। सांख्य का प्रकृतिबद्ध पुरुष ही जीव है। योग ने जीवात्मा और परात्मा पुरुष के मध्य ईश्वर को नहीं भुलाया। न्याय ने आत्मा को शरीरेन्द्रियादि से पृथक् तत्त्व ही माना।[7] तर्कपरक होते हुए भी शरीर, इन्द्रिय, विषय, ज्ञान सम्बन्धी तथा सुख-दुःख नामक इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक

१. वही २।२।८, २।३।८ श्वे० ३।८,९,१२
२. अथर्व ५।१।७
३. ऋक् ६।७५।१
४. ऐतरेय अध्याय ८
५. द्रष्टव्य-शांखायन श्रौतसूत्र।
६. तर्क भाषा-पृ० २३२
७. न्या० १।१।९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवृत्ति को ही अपवर्ग कहा। वैशेषिक तो आत्मेतर पदार्थों के ज्ञान पर ही आत्मा के ज्ञान को निर्भर मानता है। इन सभी दर्शनों ने आत्मा को चेतन तत्त्व ही मान कर उसका विवेचन किया है। भौतिकवादी चार्वाकों ने शरीर को ही सब कुछ मानते हुए भी 'चैतन्य विशिष्ट-कायः पुरुषः' चेतन तत्त्व को अस्वीकार नहीं किया है। जैन दर्शन ने भी सांख्य की भाँति कर्मास्रव लिप्त जीव की पृथक्-पृथक् सत्ता ही मानी है। बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद भी चेतना-प्रवाह का अस्तित्व स्वीकार करता है। अत्यन्त परवर्ती काल का शैव-दर्शन भी चिति के विराट् पुरुष शिव को ही महत्ता प्रदान करता है। प्रायः सभी दर्शनों का जीव चैतन्य-विशेष है। परम चेतन की स्थिति-प्राप्ति को ही वह कैवल्य या मुक्ति या परम पुरुषार्थ मानता है। इन सभी दर्शनों का लक्ष्य एक ऐसी स्थिति के अन्वेषण का प्रयत्न करना है जहाँ सांसारिक दुःख सह्य एवं उपेक्षणीय बन सके। संघर्ष जन्य दुःखों को वह खिलाड़ी की भाँति उत्साह के साथ झेल सके। इसके लिए उसे पुनः पुरुष के चैतन्य-स्वरूप को ही आधार बनाना पड़ा। सभी जीवों के लिए समान आधार पर समान निदान का निर्देश किसी तात्त्विक-साम्य के बिना संभव भी नहीं था। पृथक्-पृथक् शरीर के निदान की अपेक्षा उन्होंने सर्वव्यापक चैतन्य को पकड़ कर दुःख निवृत्ति का समवेत उपाय बताना अधिक सुकर समझा। जीव की स्वचैतन्य में स्थिति या चैतन्य-बोध एक ऐसी उपलब्धि है जिसमें सांसारिक भिन्नताएँ एवं बाधाएँ अवरोध नहीं उत्पन्न कर सकतीं। वेदान्त का जीवन्मुक्त और गीता का अनासक्त एक ऐसी स्थिति-प्राप्त व्यक्तित्व है, ऐसी ही स्थिति की उपलब्धि बुद्ध और जिन भी करते हैं। यह स्थिति जीव का साध्य है। स्वयं के महत् चैतन्य का विराट पुरुषत्व का बोध प्रथम स्तर था और उस स्वरूप की उपलब्धि एवं उसमें स्थिति द्वितीय या सिद्धि-स्तर था।

गीता ने क्षर और अक्षर अथवा जीवात्मा और परमात्मा या पुरुष और पुरुषोत्तम के रूप में पुरुष के द्विविध रूप को स्वीकार किया है। पुरुष के स्वभाव का विश्लेषण करते हुए गीता ने उसे भी दैव और आसुर स्वभावनिष्ठ वर्ग में विभाजित किया है।[1] पुरुष श्रद्धामय है,[2] गुण, प्रवृत्ति और स्वभावगत वैषम्य ही उसे भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों में श्रद्धालु बनाते हैं। गीता के अर्जुन का विषाद पौरुष के आवृत रूप को ही व्यक्त करता है। उसके विषाद के मूल में लोक-संग्रही भाव का अभाव था। वह राज्य-सत्ता को अपने और अपने परिजनों के लिए सुखोपलब्धि का साधन मानता था।[3] श्रीकृष्ण ने 'विराट-पुरुष' का दर्शन कराकर अर्जुन की ससीमता को और अधिक स्पष्ट कर दिया है।[4] गीता ने 'विराट-पुरुष' को ही 'पुरुषोत्तम' विशेषण दिया है, इस रूप के अव्यक्त होते ही स्वयं श्रीकृष्ण के स्वरूप को गीता ने भी 'मनुष्य' ही कहा।[5]

आदि कवि वाल्मीकि को उत्तम पुरुष की खोज थी, जिससे वह एक आदर्श-चरित्र का निर्माण कर सकें। नारद से उन्होंने पूछा कि इस लोक में गुणवान् और वीर्यवान् कौन है।[6] नारद ने संक्षेप में राम का जो चरित्र प्रस्तुत किया,[7] वह एक तत्कालीन उत्तम पुरुष का चरित्र था। उत्तम पुरुष की धारणा राम के चरित में व्यक्त हुई है। ऐसा पुरुष गम्भीरता में समुद्र और धैर्य में हिमवान् होता है। उसके समस्त गुण उदात्त होते हैं और वह बलवान् तथा पराक्रमी होता है। वह यशस्वी होता है, जिसकी यशःगाथा कवियों के गान का विषय बने।[8] लोक-संग्रही होने के कारण ही राम को

१. गीता १५।१६-१९
२. वही १६।६
३. वही १७।३
४. वही १।३३
५. गीता-अ० ११
६. वही ११।५१
७. वाल्मीकि रामायण १।१।३-१६
८. वही १।१।१७-९८
९. वही १।२।४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैथिली तक का त्याग करना पड़ा।[1]

पुरुषार्थ का स्वरूप रामायण काल से महाभारत काल तक कितना परिवर्तित हो चुका था यह दोनों के अन्तर से प्रतीत होता है। रामायण काल में राज्य-सत्ता का उद्देश्य लोक कल्याण था जब कि महाभारत काल में वह व्यक्तिगत सुखोपलब्धि का साधन बन गई थी। ऐसे स्वार्थ-परायण युग में भी व्यास को यह विस्मृत नहीं हुआ था कि इस धरा पर मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।[2]

राम वैदिक परम्परा के कर्मशील पुरुष श्रेष्ठ थे। जिन विरक्त परम्परा के थे। बुद्ध मध्यमार्गी थे, परन्तु कृष्ण ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वयकर्त्ता थे; गीता से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। राज-सत्ता, राजा एवं प्रजा के साथ उनके सम्बन्धों का जो विकास परवर्ती काल में हुआ, उसका आधार-स्रोत रामायण वर्णित व्यवस्था थी। बुद्ध से प्रभावित अशोक स्वयं चक्रवर्तित्व में विश्वास रखता था। सामन्तवादी-व्यवस्था से उसका शासन भिन्न नहीं था। राजा के प्रति सैनिकों एवं प्रजा का भाव उसे दिव्य-पुरुष मानना अस्वीकार कर चुका था, अन्यथा कौटिल्य को राजा के लिए न लड़ने वाले व्यक्तियों या सैनिकों को नरक का भय न दिखाना पड़ता।[3] राजा भर्त्ता या स्वामी मात्र रह गया था। राजा का पुरुषार्थ, यश एवं पराक्रम उसका व्यक्तिगत विषय था। प्रजा उसमें अपनी समवेत शक्ति का विराट रूप देखने में असमर्थ हो चुकी थी, यही कारण है कि वीरता-प्रदर्शन भी व्यक्तिगत विषय बन गया था।

श्री अरविन्द घोष ने वाल्मीकि, व्यास और कालिदास को प्राचीन भारत के इतिहास का अमृत-स्रोत कहा है। इनकी दृष्टि में कालिदास राष्ट्रीयता के सूत्रधार थे[4]। वाल्मीकि को आदर्श-चरित राम में मिला और कालिदास को रघुवंशियों में। कालिदास के अनुसार वे दान करने के लिए धन-संग्रह करते थे, मितभाषी थे, यश के लिए विजय की कामना करने थे, शैशव में विद्या का अभ्यास करते थे, यौवन में संसार के भोगों का आनन्द लेते थे, बुढ़ापे में तप करते थे और अन्त में योग से शरीर त्याग करते थे। विवाह का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति ही समझते थे[5]। ये श्रेष्ठ पुरुषों के गुण थे। इन गुणों से युक्त रघुवंश के विविध राजाओं का चरित्र उन्होंने प्रस्तुत किया, किन्तु जब वे विलासी अग्निवर्ण का वर्णन करने लगे तो संभवतः उन्हें उस मूल प्रेरणा का स्मरण हो आया, और रघुवंश काव्य की समाप्ति हो गई।[6]

कालिदास की दृष्टि में भी हरि ही एक मात्र पुरुषोत्तम थे।[7] इनका स्मरण मात्र ही पवित्र करने वाला है।[8] कालिदास ने केवल दशरथ को पुरुष और राम को पुरातन पुरुष कहा है।[9] राम को ही वह हरि भी कहते हैं। शेष सभी रघुवँशियों को वह क्षितीश, नृप, नृपति, राजा, पार्थिव, ईश्वर आदि शब्दों से ही व्यक्त करते हैं, पुरुष या पुरुषोत्तम शब्द से नहीं। ये सभी यश और धन के इच्छुक हैं। दिलीप तक को अपने यशःशरीर की अधिक चिन्ता है।[10]

पुरुषार्थ प्रवर्तिनी प्रकृति होती है और उस प्रकृति को देखने पहचानने वाला ही पुरुष है।[11] काम की उक्तियाँ कालिदास ने जन-विलासिता की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रस्तुत की हैं।[12] शिव जैसे जितेन्द्रिय का तप भी काम ने भंग कर दिया था। रूप-गर्विता पार्वती को भग्न-मनोरथा दिखाकर भी कालिदास ने उसे मनस्विनी कह कर फलोदय तक प्रयत्नशील प्रस्तुत किया है। वस्तुतः

---

१. वही उ० ।९७।४
२. न हि मानुषात्श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्। म० भा०
३. कौटिल्य १०।१३ 'नवंशरावं...'
४. राष्ट्रकवि कालिदास-पृ०२५
५. रघुवंश १।७-८
६. द्रष्टव्य-रघुवंश सर्ग १९
७. रघुवंश ३।४९
८. रघु० १०।२९
९. वही ९।१६,११।८५
१०. वही-२।५७
११. कुमार संभव २।१३
१२. वही ३।३-१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईप्सितार्थ के लिए कृत-निश्चय मनुष्य ही मनीषी या मनस्विनी है।[1] पुरुष और पुरुषार्थ के स्थान पर मनस्वी और मनस्विता का प्रयोग धारणा-परिवर्तन का ही द्योतक है। धर्म और मोक्ष का साधक पुरुषार्थी है तथा अर्थ और काम का साधक मनस्वी। मन की प्रवृत्ति निम्नाभिमुखी हो सकती है जैसे जल की। दृढ़-संकल्प उत्तम और अधम दोनों प्रकार के लक्ष्य के लिए हो सकता है। मनोरथ के लिए अवरोध तो है ही नहीं।[2]

गीता में मनुष्य के दो रूप कहे गये हैं—श्रेष्ठ और लोक। एक अनुकरणीय है दूसरा अनुकर्त्ता। मनुष्यों में पौरुष ही विराट पुरुष का प्रतीक था।[3] कालिदास के समय इस पौरुष का प्रतीक था—समुद्रवसना पृथ्वी और नारी।[4] षष्ठांशवृत्ति राजा का कार्य शान्तिकाल में दुष्टों को दण्ड, विवाद का निबटारा और प्रजा का रक्षण था। सत्पुरुष बनने का अर्थ था परोपकार करना मात्र या सद्वस्तु का आदर करना। यद्यपि सामान्य-जन का लक्ष्य श्रद्धा (पत्नी), धन (पुत्र) और क्रिया (पति) मात्र था, पर बुद्धिवाद का अभ्युदय कालिदास-युग की विशेषता थी।[5] इस बुद्धिवाद की स्वाभाविक परिणति अर्थ और काम की सिद्धि के लिए ही होती है। फलस्वरूप पुरुष का एक 'नायक' स्वरूप उभरा जो सुन्दरी नारी के चरणों में पड़ा उसका दास प्रतीत होता है।[6] काम के साथ प्रीति, कृत्रिम-प्रेम, दूती, कातरता तथा प्रणय-निराशा में आत्महत्या का घनिष्ठ सम्बन्ध है।[7] राजा का पुरुषार्थ युद्ध-विजय और नारी-हरण था तो प्रजा का जातिगत कर्त्तव्य-निभाना।[8] डाका डालना भी एक वर्ग का कार्य बन गया था और राज्य में शान्ति इसलिए काम्य बन गई थी, जिससे ऐश्वर्य मत्त एवं विकार-मूर्छित काम-सिद्धि कर सकें।[9] लोकानुग्रह श्लाघनीय अवश्य था पर राजा और वित्तेश प्रजा का मूल लक्ष्य पुरुषार्थों में काम ही रह गया था।[10] नायक का यह रूप मधु-लोलुप मधुकर का ही था। पर-पुरुष संकीर्तन के श्रवण को भी अयुक्त मानने वाले भास की नारी से भिन्न स्थिति थी कालिदास के नारी की भी। लोकवाद कितना[11] उपेक्षणीय बन गया था, यह कालिदास की सीता के कथन से स्पष्ट है।[12]

कालिदास के बाद किसी भी कवि ने चक्रवर्तित्व की कल्पना नहीं की; रामचरित प्रस्तुत करने वालों में उसकी ध्वनि नहीं, प्रतिध्वनि मात्र है। कवियों ने स्पृहणीय गुणों से युक्त महात्माओं के चरित-वर्णन में मन भले ही लगाया हो।[13] सातवीं शती के अन्त में विद्यमान भट्ट-नारायण ने 'मदायत्तं तु पौरुषम्' जैसी कर्ण की उक्तियों में जाति एवं कुल से परे व्यक्तिगत पौरुष को खूब उभारा है।[14] हर्ष के बाद भारत में कोई विशाल राज्य था नहीं। सामंतवादी व्यवस्था में सम्राट् या चक्रवर्ती की

---

१. वही ५।५
२. वही ५।६४
३. गीता- ३।२१,७८
४. शाकुन्तला ३।१८
५. वही ५।८,५।१२,विक्रमो० १।२ शकु० ७।२९ माल० १।२
६. माल० ४।१४, विक्र० ४।६८, माल० ३।२०, शकु. १।२०,३।१० विक्र० २।३।, ३।७, माल० ३।२२, ४।१० आदि।
७. ऋतु० ३।२८, उ० मेघ ५५, माल० ३।३, ३।१४, ४।५, ३।५
८. माल० ५।२, शाकु० ६।१
९. माल० ५।१०, ५।२०, शाकु० ५।१८, विक्र० ५।२५ ऋतु० २।२९
१०. शाकु० ७।३४-३५, ३।१०
११. वासवदत्ता, भास नाटक चक्रम पृ० १८ अन्य स्थल-प्रतिज्ञा यौगन्धरायणं १।११ चारुदत्त भा० ना० च० पृ० १९७
१२. रघु० १४।३१
१३. किरातार्जनीय २।३४
१४. वेणीसंहार ३।३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पना की अपेक्षा पौरुष के नये मानदण्डों की स्थापना सरल थी। भागवत का 'मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्'[1] पुरुषादर्श कालिदास द्वारा स्थापित आदर्श से भिन्न नहीं है। योद्धाओं में योद्धा, मनुष्यों में राजा और स्त्रियों में मूर्तिमान् कामदेव; यह था वैदिक विराट पुरुष का सामन्ती व्यवस्था में रूप।

काम कथा रत व्यक्तियों के लिए धर्मकथा कुनैन से भी कड़वी लगती है। धर्मोपदेशकों के लिए यह एक बड़ी समस्या थी। वसुदेव हिण्डीकार ने शृंङ्गार कथा के आवरण में धर्म कथा का समावेश कर जनता को आकृष्ट करने का प्रयास किया।[2] प्राकृत एवं अपभ्रंश कथा-काव्यों ने इसी परम्परा का अनुसरण किया, क्योंकि ये अधिकतर जैन धर्म से संबद्ध हैं। कादम्बरी, नैषध और नलचम्पू जैसी संस्कृत कृतियां रस-कथा प्रस्तुत करती हैं,[3] जबकि कुवलयमाला, लीलावती कथा जैसी प्राकृत-कृतियाँ कामोत्थ-धर्मोत्थ होने के कारण संकीर्ण कथायें हैं।[4] सामन्तवादी व्यवस्था के ये सभी सुपुरुष चरित हैं;[5] कालिदास के अनुसार ये सभी उदात्त नायक हैं। जम्बु-चरिय कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञाता को ही पुरुष मान लेता है।[6]

स्वयंभू ने पउमचरिउ में सामन्तवादी पुरुष के युद्धवीर एवं धर्मवीर रूप को ही उभारा है। रण रस लोभी अनावृत यश, यशलोभी रावण, 'कलि-कलुष-सलिल षोषक पतङ्ग' लक्ष्मण, जैसी उक्तियों से पुरुष के उदात्त रूप के दूसरे पक्ष को प्रमुखता दी है।[7]

जैन-रास परम्परा में सुपुरुष वह है, जो गुरु से बोध प्राप्त करे, सत्य बोले, परिवाद से दूर एवं उसे नष्ट करने वाला हो, मोक्ष-मार्ग का वक्ता एवं श्रोता हो।[8] जैन-परम्परा ने चार आर्य-सत्यों के ज्ञाता को ही त्रिभुवन में महाभट माना और निर्ग्रन्थ को ही महावीर। सिद्धि के लिए किया जाने वाला संघर्ष ही महारण है और सिद्धि-प्राप्ति ही महा विजय। ऐसा सिद्ध ही पुरुष है।[9] इस दृष्टि में कभी परिवर्तन नहीं हुआ।

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक काल भी सामन्तवादी था। राहुलजी ने सिद्धों और सामन्तों के द्विविध दृष्टि-कोणों के आधार पर ही इस काल को सिद्ध-सामन्तकाल कहा है। चंद का 'पृथ्वीराज रासो' चली आती हुई 'पुरुष' सम्बन्धी धारणाओं को ही व्यक्त करता है। चंद की दृष्टि में पृथ्वीराज सामंतसूरों में अद्वितीय और आदर्श पुरुष थे। सामंती आदर्श के अनुसार पुरुष को वीर, राजा और कामदेव का अवतार होना चाहिए—

सामंत सूर प्रथिराज सम भयो न को रवि-चक्क तर।
पृ० रा० १६।२४८

अवतार भूप प्रथिराज पहु। पृ० रा० १।६
कामदेव अवतार हुअ। पद्मावती समयो।

इस रासो के तैंतीसवे समयो में पृथ्वीराज के सौन्दर्य का भी वर्णन हुआ है।

चंद ने सामन्ती व्यवस्था में निहित राजा, सामंत और सैनिकों के आदर्श को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। महाभारत, कौटिल्य-व्यवस्था और कुछ पौराणिक तथ्य ही उनके प्रेरक स्रोत थे। इन्हीं के आधार पर उन्होंने स्वामि-धर्म की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया था।[10] राष्ट्रीयता के अभाव में उन्होंने सामंत-सैनिकों के

---

१. भागवत ७।४३।८०
२. प्राकृत साहित्य का इतिहास पृ० ३६४
३. कादम्बरी कथा मुख ८, नैषद १।२, नलचम्पू १।२५
४. कुवलयमाला पृ० ४ लीला० पृ० १।२
५. सुव्वह सुपुरिस चरियं.....कु० मा० पृ० ४
६. कज्जाकज्जाइं जाणई पुरिसो। ज० च० २।३२।२६
७. पउमचरिउ ६।८।२।३७।१।१, १५।१०।६, २२।४।४
८. उपदेश रसायन रास, ४
९. मयण पराजय चरिउ २।५, २।१
१०. द्रष्टव्य—मेरा लेख—पृथ्वीराज रासो एक पौराणिक महाकाव्य—कुरुक्षेत्र युनिवर्सिटी रिसर्च जरनल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समक्ष यही आदर्श उपस्थित किया और रण-मरण की प्रेरणा दी—

जीविते लभ्यते लक्ष्मी मृते चापि सुराङ्गना ।
क्षणे विध्वंसिनी काया का चिन्ता मरणे रणे ।

इस आदर्श पर चन्द ने 'श्रेष्ठ पुरुष' की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है, उनमें अल्प-जीवन एवं कीर्ति को ही प्रमुखता दी है—

मरना जीना हक्क है, जुग्ग रहेगी गल्हां ।
सा पुरुषां का जीवना, थोड़ा ही है भल्हां ।।
पृ० रा० ६४।१६८

संसार अथिर सामंत मत । पृ०रा० ६६।६८३ पद

विद्यापति ने कीर्तिलता और कीर्ति पताका में 'पुरुष' की कहानी ही कही है ।[1] कीर्तिलता में उन्होंने वीर पुरुष का लक्षण बताते हुए कहा है कि वह लब्ध-कीर्ति, संग्राम में सूर, धर्म परायण, अदीन, सानन्द होता है । जिसकी सम्पत्ति का उपभोग सुजन करते हैं, वह गुप्त दानी होता है। वैसे तो पुरुषोत्तम सदृश ही पुरुष होता है, केवल जन्म मात्र से नहीं । यशस्वी, यशार्जन में सक्षम ही पुरुष है ।[2]

विद्यापति की पदावली यद्यपि मुक्तक एवं शृंगारी रचना है, परन्तु उसका नायक तो 'सुपुरुष' है, अत: अनेक स्थलों पर उनकी पुरुष सम्बन्धी धारणा व्यक्त हुई है—

(क) सुपुरुष वचन पषान क रेह । पदा० ८०।।
पुरुष लाख एक लखवा पारिअ ।। पदा० ७६ ।
वैभव गेला रहत विवेक । तैसन पुरुष लाख मँह एक।
पदा० १४६ ।

सुपुरुष सञो नेह विद्यापति ओल धरि हो निरबाहे ।
पदा० २३१।

(ख) पुरुषक चंचल सहज सुभाव । पदा० ६२।।
एके मधुयामिनि सुपुरुष संग । पदा० ८०।।
सुपुरुषे पाओल सुमुखि सुनारि रे । पदा० १०।।[3]

विद्यापति के 'सुपुरुष' का जो प्रणयी रूप उनकी पदावली में व्यक्त हुआ है, उसमें भी वह लाखों में एक, वचन का पक्का, नागर और भागवत के अनुसार ही स्त्रियों के मध्य कामदेव है ।

चिन्तन एवं शोध का यह भी एक आनन्ददायक विषय हो सकता है कि गृह त्यागी सिद्धों एवं सन्तों की वाणी में पुरुष तो रव-सम ठीक ही रहा, पर जीव ने पतिव्रता नारी का रूप कैसे प्राप्त कर लिया ? किस सीमा तक सूफियों का प्रभाव है और किस सीमा तक सामन्ती-धारणाओं का ? विद्यापति की प्रणय-कथा भी अकथ-कथा है और कबीर की प्रेम कथा भी ।[4] विद्यापति की नारी चंचला भी है और कुल कामिनी भी, पर कबीर की यह नारी पतिव्रता और सदा सुहागिन है ।[5] सन्तों में भी पुरुष, प्रिय एवं प्रेम का विषय बन ही गया है ।

सूफी कवि जायसी ने तो 'पुरुष' के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा का यथातथ्य वर्णन करते हुए इसके व्यक्तित्व

---

१. सुपुरिस कहनी हौं कहउँ । की० ल० १ । पंक्ति ३६.
२. कीर्तिलता—१। पं० २७-३३
३. पद संख्या—विद्यापति पदावली, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना—की हैं ।
नागर-नागरी रूप के लिए द्रष्टव्य पद—२१,७१,७७ ८८, १६४ आदि ।
४. पाछिलि कथा अकथ कथा । पदा० २१
अकथ कहाणी प्रेम की । कबीर ग्रन्थावली पृ० १२०
बरउदे दिलम नबाख्त यक जमजमां इश्क ।
जां जमजमा अमजे पाये ता सर हम इश्क ।। जामी ।
ईरान के सूफी कवि—पृ० ४००
५. जो पै पतिव्रता है नारी ।
कैसे ही रहौ सो पियहि पियारी ।
तन मन जीवन सौंपि सरीरा ।
ताहि सुहागिन कहै कबीरा ।।
कबीर ग्रं० पृ० ११५ ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को स्पष्ट आकार दे दिया है। पुरुष या सुपुरुष सम्बन्धी उनके विचार सारे पद्मावत में बिखरे पड़े हैं—

साहस जहाँ सिद्धि तँह होई। पद्मा० १४।१।३।
राजै दीन्ह कटक कंह बीरा। सुपुरुष होहु करहु मन धीरा।
प० १५।८।१

धन्नि पुरुष अस नवै न नाए। औ सुपुरुष होइ देस पराए।
प० २६।४।७

एक ही स्थल पर पुरुष की अनेक विशेषताओं का उल्लेख करते हुए जायसी ने कहा है कि उच्च हृदय एवं साहस के साथ उन्नति पथ पर अग्रसर होने वाला ही पुरुष है और बार बार फिसलने पर भी उन्नति का पथ नहीं छोड़ता—

पुरुषहिं चाहिय ऊँच हियाऊ। दिन दिन राखै ऊंचै पाऊ॥
सदा ऊँच पै सेइय बारा। ऊँचे सो कीजिय बेवहारा॥
ऊँचै चढ़ै ऊँच खंड सूझा। ऊँचे पास ऊँच कति बूझा॥
ऊँचै संग संगति नित कीजै। ऊँचै काज जीव पुनि दीजै॥
दिन दिन ऊँचे होइ सो, जेहि ऊँचे पर चाउ।
ऊँचे चढ़ता जो खसि परे, ऊँच न छाड़िय काउ।
पद्मा० १६।५

हिन्दी के पूर्व मध्यकाल में प्रकृति और पुरुष के प्रेम का जो रूप विद्यापति ने प्रस्तुत किया उसमें कुपुरुष के लिए भी अवकाश मिल गया।[1] सुपुरुष वह है जिसका प्रेम सोने की भांति खरा हो, कुपुरुष वह जिसका प्रेम खोटे सिक्के की भांति है।[2] पुरुष छैला बन गया और उसका नया नामकरण हुआ 'नागर' और नारी बनी 'नागरी'। ये नागर-नागरी चौसठ कला मर्मज्ञ थे और कान्ह तो अतिनागर थे ही।[3] नागर-नागरी के रूप में पुरुष और प्रकृति का जो रूप उभरा उसने पुरुषोत्तम कान्ह और प्रकृति-शक्ति राधा का रीतिकालीन रूप प्रस्तुत किया। प्रेमा भक्ति की प्रतिष्ठा इन सम्बन्धों को एक दार्शनिक धरातल प्रदान करना था।[4]

सौलहवीं शती के अभिनव कालिदास ने अपने भागवत चम्पू में कृष्ण का जो रूप प्रस्तुत किया है, वही मानो भागवत का रीतिकालीन अवतरण है। कृष्ण पुरुषोत्तम तो हैं किन्तु 'मायिक मनुष्यवेषभृत्' होने के कारण ही वे 'जारनाथ' बन गये हैं। गोपियां 'जारदयिता' बन गई हैं। कृष्ण 'भोगिनाथ' हैं और गोपियां 'भोगिन्यः'[5] कवि ने इसे 'कृष्ण वर्त्म' कहा है और उसका उत्तान-शृंगार-वर्णन रीतिकालीन कवियों को बहुत पीछे छोड़ गया है। भागवत की भी मर्यादा संभवतः यहां टूट गई हैं।[6] उषा-अनिरूद्ध के प्रणय को लेकर वाणासुर के साथ होने वाले युद्ध के समय कवि ने कहा है कि 'माहेश्वर ज्वरं हन्तुं भगवान वैष्णव ज्वरं। विनिर्ममेतयो रासीद् युद्धमद्भुत कर्मणोः।'[7] यह 'कृष्ण वर्त्म' वैष्णव ज्वर था और रीति-साहित्य वैष्णव-ज्वराक्रान्त 'पुरुष'-पथिक की कृष्ण वर्त्म पर नागर बन कर यात्रा थी।

तुलसीदास ने रामचरित मानस में राम को पुरुषोत्तम

---

१. प्रकृति परेखिअ सुपुरुष प्रेम। पदा० २२
२. सुपुरुष पेम हेम अनुमानि। पदा० ९६,
हृदय कपट मुखेकरहिं पिरीति। पदा० १३४
सपनेहुजनु होहु कुपुरुष संग। पदा० ११२
जउ कुपुरि भत्तारू। रस-विलास ३१
३. तोहर छैलपन निन्दत आन। पदा ११३
नागर हो से हेरितहि जान,
चौसठि कला क जाहि गिआन। पं० १४।
से अति नागर गोकुल कान्ह। पदा० १०९।
नागर गुणे नागरि रति बाढ़ी। पदा० ७१।
४. सर्वथा ध्वंस रहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद् भाव बन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः।
उज्जवल नीलमणि, पृ० ४१८।
५. भागवत चम्पू ३। ४३,३।९३,६।१३१, स भोगिचूड़ा-
मणि रेष नाथो वयं च भोगिन्य इति प्रतीतिः।
भा० च० २।७८
६. भाग० च० ४।४७, ३।५०-११५ तुलनीय भागवत
१०।३३ के वर्णनों से।
७. भाग० च० ५।३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म के रूप में ही सामने रखा। सती-मोह के प्रसंग को उन्होंने सतर्कता के लिए ही प्रस्तुत किया था[1]। राम की नर-तनु-लीला से कोई भ्रान्ति न उत्पन्न हो जाय अतः वे बार-बार उनके 'ब्रह्मत्व' का स्मरण कराते रहते हैं। तुलसी के 'रामचरित मानस' की लोकप्रियता का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि वैदिक-विराट-पुरुष की उसमें पुनः अवतारणा हुई और सामान्य-जनता को यह अनुभूति हुई कि उसे उसका खोया हुआ रूप प्राप्त होगया। इससे उसका आत्मबल जागा। राम के पुरुषोत्तम रूप का दर्शन धनुष यज्ञ के समय दिखाई पड़ता है। वहां 'जाकी रही भावना जैसी' में उनका विराट रूप व्यक्त हुआ है।

गंग कवि ने 'मति विना मर्द अरु नूर विना नारी कहा'[2] तथा 'ग्वाली के रसिक कान्ह काली के दवन जू'[3] में सामन्ती धारणा को ही व्यक्त किया है। कृष्ण-वर्त्मानुयायी कवियों 'किहिं रस रसिक ढरै'[4] और चतुर्भुज दास तो रसिक गोपाल को रस के वश में ही मानते हैं।[5] विद्यापति की भांति परमानन्द भी प्रेम-कथा को ही 'अकथ-कथा' कहते हैं।[6] 'नागर' पुरुष परवर्ती रीतिकाल में 'रसिक' पुरुष बन गया। 'कृष्ण वर्त्म' को कवियों ने इतना अधिक आकर्षक पाया कि कुछ ने राम को भी रसिक बनाने में कसर नहीं छोड़ी।

आधुनिक काल का पूर्वार्ध राष्ट्रीयता का और उत्तरार्ध अन्तर्राष्ट्रीयता का है। राष्ट्रीयता में विराट पुरुष का स्वरूप 'राष्ट्र-पुरुष' बना और अन्तर्राष्ट्रीयता में 'विश्व-मानव'। राष्ट्रपुरुष के स्वरूप की अभिव्यक्ति सब से अधिक माखन लाल चतुर्वेदी की कविताओं में हुई। दिनकर की कविताओं में भी राष्ट्रपुरुष की विराटता के दर्शन की ललक है। राष्ट्र-धर्म धर्म का, राष्ट्र-प्रेम काम का, राष्ट्र-समृद्धि अर्थ का और राष्ट्र-मुक्ति, मुक्ति का प्रतीक बन कर पुरुष के पुरुषार्थ को स्पष्ट करते हैं। विश्व-धर्म, विश्व-काम, विश्व-समृद्धि और विश्व-मुक्ति अभी मानव के साध्य हैं। बौद्धिक युग के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के साथ साथ उसके विराट स्वरूप की उपलब्धि का आधार व्यक्ति ही हो सकता है। हिन्दी के एक मात्र प्रसाद जी ने ही वैदिक विराट पुरुष को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में शैव-दर्शन के आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कामायनी में किया है।

यद्यपि 'कृष्णवर्त्म' के प्रेम का आध्यात्मिक पक्ष धूमिल पड़ गया था, किन्तु प्रसाद जी ने शैव दर्शन के माध्यम से उसे पुनः महत्त्व प्रदान किया। नर-शक्ति-शिव का त्रिक कामायनी में अधिक स्पष्ट हुआ है, यह जीव-ब्रह्म की अद्वैतवादी उपनिषद् परम्परा से भिन्न नहीं है। शिव ही चेतन पुरातन पुरुष है, भेद बुद्धिपरक जीव ही नर है, श्रद्धा ही अनुग्रह स्वाभावा पराशक्ति है, वही पूर्ण काम की प्रतिमा है।[7] प्रेम से ही हृदय जाग्रत होता है। पराये में भी अपने पन की अभेद भावना जागती है; यह भेद में

---

१. ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥
रा० च० मा० ।।

२. गंग कवित्त ३९६

३. वही १२

४. सूर सागर भाग २ पद ३५

५. रसिक गोपाल रसिक रस रिझवत।
चतु० पद २९६।

६. परमानन्द स्वामी की लीला अकथ कथा नहिं जानी।
परमानन्द सागर ३३७।
परमानन्द प्रेम कथा सबहिन ते न्यारी।
प० सा० १३१२।

७. वह चेतन पुरुष पुरातन, निज शक्ति तरंगायित था।
कामायनी पृ० ७७। तंत्रालोक भाग २ आ० ३।६८
उस ज्योति मयी को देव कहो, कैसे कोई नर पाता है।
का० पृ० ७७
थी पूर्ण काम की प्रतिमा। का० पृ० २९०
तत्र भेद प्रधानो नरः, भेदाभेद प्रधाना शक्तिः,
केवलमभेद प्रधानः शिव इति। परात्रिंशिका विवरण
पृ० ७३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति कराने वाली शक्ति है।[1] चेतन शिव के लीला-विलास को ही विश्व समझ लेने वाले के लिए विश्व-प्रेम और विश्व-कल्याण की ओर उन्मुख हो जाना सरल है। व्यिष्ट से समष्टि-प्रेम की ओर बढ़ना, शिवत्व एवं अपने आनन्दमय स्वरूप की उपलब्धि के लिए आरोहण करना ही है।[2] प्रसाद जी न संसार को दुःखमय मानते थे और न दुःख-नाश के उपाय सोचने को पुरुषार्थ; दुःख-सुख तो इस आनन्दमय विश्व के धूप-छांह मात्र हैं।[3] यह विश्व कर्म रंगस्थल है और दुःख सुख भूमा का मधुमय दान।[4] भेद बुद्धि का त्याग न करने वाला ही शैव दर्शन का पशु है, जिसे शिव की वामाशक्ति जकड़ लेती है।[5]

निष्कर्ष—

इन तथ्यों को ध्यान में रख कर कहा जा सकता है कि वैदिक 'पुरुष' कल्याण-पथ का पथिक, श्रेमाण और गतिशील था, किन्तु उत्तरोत्तर उसका विराट रूप वामन बनता चला गया है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् काल में पुत्र, वित्त और लोकैषणा ने उसे आधा, गृहस्थी, यथाक्रतु तो बना ही दिया है, वह 'अंगुष्ठ-पुरुष' मात्र रह गया है। बौनी प्रजा, राजा में ही अपने विराट स्वरूप का दर्शन करने लगी है। सूत्र काल में पुरुष का सामान्य रूप जीव, भौतिक विराट रूप ईश्वर या राजा तथा स्मरणीय रूप दिव्य पुरुष या ब्रह्म रह गया है। वह यज्ञ-मय होकर रह गया है। जीव दुखी है, वह कर्म फल का भोक्ता है, आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति ही पुरुषार्थ है; साधन कोई भी हो जीवन्मुक्ति ही साध्य है; दर्शनों की इस धारणा ने कर्मजन्य पौरुष का ह्रास कर पुरुष को संसार से पलायन की ओर उन्मुख किया। रामायण में वाल्मीकि ने राजा का उदात्त, गुणवान्, वीर्यवान् और लोक-संग्रही रूप प्रस्तुत कर तत्कालीन समाज के समक्ष एक बार पुनः वैदिक पुरुष के उत्तम रूप को प्रस्तुत किया। महाभारत तक आते आते पुरुष के भौतिक विराट रूप राजा का स्वरूप भी मलिन हो गया। राज्य-सत्ता व्यक्तिगत सुखोपभोग का साधन बन कर रह गयी थी और त्यागपूर्वक भोग का आदर्श ही नहीं लुप्त हो गया था अपितु अर्जुन जैसा वीर भी दिशा एवं लक्ष्य हीन बन कर रह गया था। गीता ने एक बार पुनः विराट पुरुष और मनुष्य के वास्तविक सम्बन्ध को उजागर किया। क्षर-अक्षर, लोक और श्रेष्ठ में भी उसने क्षर और लोक के देव और असुर रूप में दो वर्ग बना दिए। 'नृपु पौरुषम्' ही दिव्य पुरुष के बोध का प्रतीक रह गया। कौटिल्य ने राजा को 'भर्त्ता' बना दिया, फिर सामान्य जीव स्वाभाविक रूप से सेवक मात्र रह गया।

कालिदास की दृष्टि में हरि ही पुरुषोत्तम हैं, शेष क्षितीष, नृपति आदि। पुरुष का रूप 'मनस्वी' बना जो चार पुरुषार्थों में केवल अर्थ और काम का साधक रह गया। समुद्रवसना पृथ्वी और नारी की प्राप्ति ही पुरुषार्थ था, लोक-संग्रही रूप विलुप्त हो गया। जाति, वर्ण एवं सामन्तवादी व्यवस्था से पीड़ित पुरुष का स्वर सातवीं शती में 'दैवायत्तं कुले जन्मममदायत्तं तु पौरुषम्' के रूप में उभरता अवश्य है, पर सामन्ती-व्यवस्था ने इसे व्यक्ति-गत वीरता का प्रतीक बना कर अपने अनुकूल ढाल लिया।

सामान्ती व्यवस्था में आदर्श पुरुष वह था, जो योद्धा, राजा और मूर्तिमान् काम हो। विरक्त वर्ग का आदर्श सिद्ध था। स्वयंभू से विद्यापति तक पुरुष का यही रूप

---

१. प्रति फलित हुई सब आँखें, उस प्रेम ज्योति विमला से।
सब पहचाने से लगते, अपनी ही एक कला से॥
कामा० आनन्द०।
प्रेम-प्रेम सों होय, प्रेम सो पारहि जैए।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैए।
भ्रमर गीत १७। सूर

२. शिव समष्टि का होता है क्योंकि विश्वमय है
विश्वेश रहस्य प्रेम के ये उसके। प्रेम पथिक पृ०२६

३. एक घूंट, पृ० १६, कामायनी पृ० २४१

४. कामा० पृ० ७५, श्रद्धा सर्ग।
यो वौ भूमा तत्सुखम्। छान्दो० ७।२३।
शिवशक्ति सामरस्यमय जगदानन्द रूपम्।
तन्त्रालोक टीका पृ० ८४

५. तन्त्रालोक भा० ८। आ १३।३१४-१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्त हुआ है। विद्यापति के समय पुरुष नागर, नारी नागरी और प्रेमकथा, अकथ कथा बनी। प्रेम में कपटी के लिए 'कुपुरुष' भी प्रयुक्त हुआ। सन्त और सूफी भी इस अकथ-कथा से अप्रभावित नहीं रहे। ज़ायसी ने साहस को, उच्चारोहण को पुरुष के पौरुष का प्रतीक अवश्य माना। तुलसी ने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप को सामने अवश्य रखा। यह निगमागम का प्रभाव था।

'कृष्ण वर्त्म' ने पुरुषोत्तम को मायिक मनुष्य वेशभृत् मान कर पुरुष को भोगिनाथ और नारी को भोगिन्यः बना दिया। इसने पुरुष को रसिक और नारी को रसिकनी बना दिया। माया के आवरण ने पुरुष के आलोकमय रूप को आवृत कर लिया।

आधुनिक काल 'राष्ट्रपुरुष' और विश्व मानव की धारणा को लेकर चला। प्रसाद ने प्रथम बार शिव को पुरातन पुरुष, जगत को उसकी लीला, भेद बुद्धि वाले को नर, आनन्द शक्ति को श्रद्धा या कामायनी तथा श्रद्धा-विहीन को पशु रूप में चित्रित किया। शैव दर्शन के आधार पर उन्होंने प्रेम कला और काम कला को हृदय के विस्तार की प्रेरणाशक्ति के रूप में प्रस्तुत कर उसका रीतिकाल से भिन्न रूप दिखलाया। शिव ही विश्वेश और विश्व मानव है, और शिवत्व की उपलब्धि ही पुरुषार्थ है। प्रसाद का 'पुरुष आलोकमय, मंगलमय, चेतनामय, समरस, अखंड, इच्छा-क्रिया-ज्ञान का केन्द्र बिन्दु और आनन्द वेश है। वही कह सकता है—

हम केवल एक हमी हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो,
जिसमें कुछ कमी नहीं है। कामा० पृ २८७
'दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव कहरे! यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता॥
कामा० २८६, अष्टम संस्करण।

प्रसाद ने जिस आरोहणशील पुरुष की अवतारणा की है, वह राष्ट्रीयता की संकीर्ण सीमा से आबद्ध नहीं विश्वमानवता की व्यापक सीमा में व्याप्त वैदिक विराट पुरुष ही है।

हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में चेतना के धरातल पर इस विराट पुरुष के अवतरण के बाद भी यह प्रक्रिया मन्द नहीं पड़ी है। आत्म स्वार्थ और लोक क्षेत्र में ही नहीं राष्ट्र-स्वार्थ और विश्व-कल्याण में अब भी संघर्ष चल रहा है तथा पुरुष की द्विविध प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। पुरुष गतिशील तो है, पर उसकी गति अधः और ऊर्ध्व दोनों ओर ही है। पन्त ने अपने काव्य में इन दोनों प्रवृत्तियों का अत्यन्त स्पष्ट चित्रण किया है। पुरुष को अपने विराट स्वरूप को प्राप्त करने के लिए मनु की तरह प्रचुर संघर्ष करना है। पन्त के ही शब्दों में—

जाति वर्ण गौरव से पीड़ित वर्ग राष्ट्र स्वार्थों में सीमित।
जन समुद्र रे आज अचेतन अधः प्रवेगों से आन्दोलित॥
वार्धक्य।

फ्रायड के से नर-नारी, गत रीति-काव्य में मूर्तित।
उपमन कुंजों में करके, निज काम ग्रंथियां मुंचित॥
लोकायतन पृ. १५२

अचेतन उपचेतन के चित्र, मात्र अति वैयक्तिक उच्छ्वास।
रेंगती कला पंक कृमि तुल्य, अधोमुख कुत्सित बुद्धि विलास॥
लोका० २७८

जाति, वर्ण, वर्ग, राष्ट्र के स्वार्थों से जन-समुद्र पीड़ित है। फ्रायड के अनुयायी कवियों ने अचेतन, उपचेतन के चित्र अंकित करने प्रारम्भ कर दिए हैं। काम ग्रंथियों को कला का रूप देना अधोमुखी बुद्धि-विलास की ही अभिव्यक्ति है। कुण्ठा, संत्रास आदि को पुरुष का पौरुष क्यों सहेगा। आज का मानव नभ-ग्रह चारी बन कर धरा से ऊपर ब्रह्माण्ड के विविध छोरों को स्पर्श करने लगा है। सारा विश्व ही तीव्रता से गतिशील है—

बदलता रभस वेग से विश्व,
मनुज के तन, मन, जीवन, प्राण।
महत् युग चित्रपटी में वेग,
चेतना का अजेय आख्यान॥ लोका० पृ.२५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तो मानव की गति-मति पर निर्भर करता है कि कि वह देव या दनुज बने—

यह मानव मति गति पर निर्भर,
वह हो देव दनुज के आश्रित।

आत्म हीन मानवता त्यों ही,
दानवता की प्रतिमा कुत्सित ।। नव निर्माण ।।

चेतना के धरातल पर ही विराट पुरुष के विराट रूप को प्रस्तुत करना प्राथमिक आवश्यकता है। मानव और मानवता-प्रेमी ही दिव्य-चेतना का सन्देश सुना सकता है।[1] सत्य और अहिंसा ही मानवीय स्पर्श भर सकते हैं; इस लिए पन्त ने महात्मा गाँधी को पुराण पुरुष के रूप में चित्रित किया है—

तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण हे चिर नवीन
पट पर पट उठा दिए मन से
कर नर चरित्र का नवोत्थान।
आए तुम मुक्त पुरुष कहने—
मिथ्या जड़ बन्धन, राम सत्य;
नानृतं जयति सत्यं, मा भैः,
जय ज्ञान-ज्योति तुमको प्रणाम ।।बापू के प्रति।

गा गा एकोऽहं बहुस्याम। बापू के प्रति।

इस नव-पुराण पुरुष ने सत्य अहिंसा का जो पथ दिखलाया, वही शिवत्व की ओर जाता है। आज का सत्याग्रह यही है कि मानवता में देश और जाति लीन हो जाँय।[2] पन्त ने 'प्रेमलय' और 'शक्तिपात' के प्रयोग द्वारा शिवत्व सिद्धि को ही पुरुषार्थ माना है—

जगत नहीं, मैं नहीं,
प्रेमलय में ईश्वर साकार। किरण वीणा।
जब भू मानव होगा संस्कृत,
शक्तिपात से मनः शिराएं होंगी झंकृत ।।
पौ फटने से पहले।

कवि का लक्ष्य सौन्दर्य में सत्य और सत्य में शिव की प्रतिष्ठा ही है। इसी से भू मानव संस्कृत होगा। इस सुसंस्कृत भू मानव से ही विराट पुरुष साकार होगा। समस्त विश्व एक मन्दिर बन जाएगा। सर्वक्षेम की तभी स्थिति आयेगी। पुरुष की गति का लक्ष्य भी यही है—

एक मनुज हो, एक धरा हो,
यही भागवत जीवन निश्चित। नव निर्माण।

अणु-संत्रस्त मानव के लिए कोई गति नहीं है और हिन्दी सहित सभी भारतीय कवियों को अपनी महती सांस्कृतिक देन को सामने रख कर ही विश्व मानव की प्रतिष्ठा करनी है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग भी नहीं है—

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।'

रीडर, हिन्दी-विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय।

---

१. मैं मानव प्रेमी। मैं दिव्य-चेतना का संदेश सुनाता।
गीत विहग। पन्त !

२. नव-निर्माण। पन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्यप्रदेश की प्रागैतिहासिक संस्कृति

डा० कृष्णदत्त वाजपेयी

आधुनिक अनुसंधानों के आधार पर भारतीय पुरावृत्त को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया गया है :

१. प्राक् ऐतिहासिक काल (ईसवी पूर्व चतुर्थ सहस्राब्दी के पहले का युग),

२. आद्यऐतिहासिक काल (ई० पू० चतुर्थ सहस्राब्दी से लेकर ई० पूर्व सातवीं शती तक का युग),

३. ऐतिहासिक काल (ई० पू० सातवीं शती से लेकर परवर्ती युग)।

उक्त तीनों कालों में से द्वितीय एवं अपेक्षाकृत तृतीय के बारे में विशेष जानकारी उपलब्ध है। पिछले सवा सौ वर्षों में देश के विभिन्न भागों में उत्खनन तथा शोध के जो कार्य किए गए हैं उनसे इन दोनों युगों की संस्कृति की जानकारी के लिए पुष्ट प्रमाण प्राप्त हुए हैं। उनके आधार पर देश के प्राचीन भूगोल, राजनीतिक इतिहास, धर्म, भाषा, साहित्य, कला और लोकजीवन पर प्रभूत प्रकाश पड़ा है।

जहाँ तक प्रागैतिहासिक संस्कृति का सम्बन्ध है, उसके बारे में हमारा ज्ञान अपर्याप्त है। इसका मुख्य कारण यह है कि उस युग के विषय में आधारभूत प्रमाण बहुत कम प्राप्त हुए हैं। उनके आधार पर ही प्रागैतिहासिक भारतीय संस्कृति की झांकी प्रस्तुत करने का प्रयास विद्वानों द्वारा किया गया है।

मध्यप्रदेश अपने नामानुसार भारत के बीच में स्थित है। इस प्रदेश के बड़े भाग पर विंध्य पर्वत अपनी शृंखलाएं फैलाए हुए है। इस प्रदेश की मुख्य नदी नर्मदा है, जिसके दक्षिण के भूभाग पर महादेव तथा सतपुड़ा नामक पर्वतमालाएं हैं। सतपुड़ा का एक प्राचीन नाम ऋक्ष पर्वत था।

नर्मदा के अतिरिक्त मध्यप्रदेश की अन्य बड़ी नदियां चंबल, सिंध, बेतवा, धसान, केन, टोंस, सोन और महा नदी हैं। पर्वत-मालाओं तथा नदियों के अतिरिक्त मध्य-प्रदेश-क्षेत्र का अधिकांश प्राचीन काल में जंगलों से ढका हुआ था। यहाँ न उत्कट गर्मी थी, न अधिक सर्दी। अतः यहाँ पशु-पक्षी बड़ी संख्या में रहते थे।

मानव ने भी आदिम काल से मध्यप्रदेश के भूभाग को निवास के लिए सुविधाजनक पाया। प्रागैतिहासिक युग में यहाँ मानव बस्ती का आरम्भ कब हुआ, यह निश्चित रूप से कहना सम्भव नहीं। अनुमानतः अब से, आठ या सात हजार वर्ष पहले यहाँ मनुष्य ने बसना प्रारम्भ किया। मानव के लिए यहाँ की जलवायु अनुकूल थी। साथ ही जीविका के लिए पशु-पक्षी तथा कंदमूल-फल बड़ी संख्या में इस क्षेत्र में उपलब्ध थे। प्रागैतिहासिक मानव के लिए प्राचीन साहित्य में शबर, निषाद आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं। इन मानवों के कुछ शरीर-अवशेष उन पर्वत-गुफाओं में मिले हैं जहाँ वे रहते थे। रायसेन जिला के खरवई नामक स्थान की गुफाओं में आदिम जनों की कई खोपड़ियां प्राप्त हुई हैं।

प्राचीन मध्यप्रदेश में आदिम जन घने वृक्षों के नीचे या उनकी शाखाओं पर अथवा पहाड़ों की कंदराओं (शिलाश्रयों) में रहते थे। अपना उदर-पोषण वे प्रायः शिकार से करते थे। शिलाश्रयों में रहने वाले लोग कभी-कभी गुफाओं की भीतरी छतों और दीवारों पर अनेक ढंग की रोचक चित्र-रचना करते थे। उनके द्वारा बनाए गए चित्र भारत में सबसे अधिक मध्यप्रदेश में प्राप्त हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। मंदसौर, शिवपुरी, नरसिंहगढ़, सीहोर, रायसेन, होशंगाबाद, सागर, छतरपुर, पन्ना, रीवा, अम्बिकापुर तथा रायगढ़ जिलों के अनेक स्थानों में इन आदिम जनों के निवास के अवशेष मिले हैं। इनमें पत्थर के अनेक प्रकार के औजार तथा मिट्टी के बर्तन भी हैं। उन लोगों के बनाए हुए चित्रों में से बहुत से आज भी उनके द्वारा सैकड़ों वर्ष पूर्व आवासित गुफाओं में सुरक्षित हैं। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर तथा बांदा जिलों के कई पर्वतीय स्थानों में भी ऐसे अनेक गुफा-चित्र उपलब्ध हैं।

मध्यप्रदेश में उल्लेखनीय गुफा-चित्र निम्नलिखित स्थानों से मिले हैं :

होशंगाबाद जिला में आदमगढ़, पचमढ़ी तथा बोररानी; सीहौर में बरखेड़ा और भोपाल; रायसेन जिला में खरवई, हाथीपोल एवं पुतलीकरार; सागर में आबचंद, नरयावली तथा बरौदा छतरपुर में देवरा और रायगढ़ जिला में सिंहनपुर एवं कबरापहाड़।

इन स्थानों में बहुसंख्यक मनोरंजक गुफाचित्र मिले हैं। कहीं-कहीं उनके पुराने चटकीले रंग आज भी सुरक्षित हैं। कुछ परवाद के युगों में रंग चढ़ाए गए और परवर्ती चितेरों ने इस प्रकार पुराने चित्रों पर अपनी कारीगरी दिखाई।

अधिकांश गुफा-चित्रों में लाल, सफेद, काला, नीला या पीला रंग प्रयोग में लाया गया। कई जगह भित्तियों पर पहले लाल या सफेद रंग की पृष्ठभूमि देकर उस पर चित्र उरेहे गए। प्राचीन गुफा-चित्रों से वहाँ निवास करने वाले लोगों की जीवन-चर्या तथा रुचि का पता चलता है। मुख्यतया जो दृश्य इन चित्रों में मिलते हैं वे हैं : विविध आयुधों से पशु-पक्षियों का शिकार, जानवरों की लड़ाई, मानवों में पारस्परिक युद्ध, पशुओं पर सवारी, गीत, नृत्य, पूजन, मधु-संचय तथा घरेलू जीवन सम्बन्धी अनेक दृश्य मिलते हैं। जिन जानवरों का शिकार किया जाता था वे बाघ, हिरण, भैंसा, बैल, हाथी, गैंडा, शूकर आदि थे। ये जानवर मध्यप्रदेश के गुफा-चित्रों में विशेष रूप से मिलते हैं। इनके अतिरिक्त रीछ, कुत्ता, बकरी, बन्दर, मोर आदि भी मिले हैं।

जिन गुफाओं में आदिमजन रहते थे वहाँ अनेक पशु-पक्षियों की हड्डियां भी मिली हैं। मिर्जापुर की गुफाओं में सुअर के शिकार के कई रोचक चित्र हैं। शिकार तथा रक्षा के लिए जिन आयुधों का प्रयोग किया जाता था उनमें भाला या बरछा, धनुष-बाण, चक्र, तलवार तथा ढाल मुख्य हैं। कुछ चित्रों में युद्ध करते हुए लोगों को एक हाथ में मूंठदार तलवार तथा दूसरे में ढाल लिए हुए प्रदर्शित किया गया है। परवर्ती काल के कुछ चित्रों में युद्ध के ऐसे दृश्य मिले हैं जिनमें घोड़ों पर सवार सरदार अपने सिर के ऊपर छत्र लगाए जा रहे हैं। उनके आगे-पीछे अन्य लोग हाथों में तलवार आदि आयुध लिए हुए पैदल चल रहे हैं। कई जगह शिकारियों और योद्धाओं के विचित्र पहनावे मिले हैं। बरोदा गांव (जिला सागर) के समीप एक गुफा-चित्र में एक योद्धा शकों-जैसी ऊंची टोपी और लम्बा कोट पहने दिखाया गया है। अनेक चित्रों पर हाथी पर सवार लोग दिखाए गए हैं। व्याघ्रों (बाघों) के चित्र मध्यप्रदेश की अनेक गुफाओं में बड़ी संख्या में मिलते हैं। इस प्रदेश में बाघ बहुत थे। आवचन्द में एक स्थान पर चार भयंकर बाघ खड़े दिखाए गए हैं। उनके बीच एक पुरुष खड़ा है। दो बाघों की आपस में लड़ाई भी कई स्थानों पर चित्रित है। एक चित्र में दो हाथियों का युद्ध दिखाया गया है।

उक्त चित्रों से पता चलता है कि प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक परम्परा प्रारंभिक इतिहास-युग में भी जारी रही। लोकजीवन की यह धारा इस प्रदेश में दीर्घ-काल तक प्रवाहित होती रही।

बरखेड़ा, खरवई, रायसेन, पचमढ़ी आदि की गुफाओं में विविध पशु-पक्षियों के मनोरंजक चित्रण मिले हैं। इनमें से कुछ पालतू बना लिए गए थे। आवचन्द में एक स्थान पर एक व्यक्ति बैल को रस्सी से खींचता हुआ दिखाया गया है। लम्बी सींग वाले अरना (आरण्यक) भैंसे तथा विविध प्रकार के मृगों के चित्रण अधिक मिलते हैं। होशंगाबाद के समीप आदमगढ़ गुफा में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशालकाय अरना भैंसा चित्रित है। भैंसे का इतना बड़ा चित्र अन्यत्र नहीं मिला।

आमोद-प्रमोद तथा घरेलू जीवन-सम्बन्धी विविध दृश्य इन चित्रों में मिलते हैं। लोगों में नृत्य और संगीत का शोक था। पचमढ़ी-वर्ग के चित्रों तथा रायगढ़ और सागर जिलों के गुफा-चित्रों में कई स्त्री या पुरुष एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए नृत्य की मुद्रा में खड़े दिखाए गए हैं। कई स्थानों पर नृत्य-मुद्रा में सात स्त्रियों या पुरुषों का आलेखन है। सात की संख्या का प्राचीन चित्रकारों के लिए विशेष महत्व जान पड़ता है। वाद्य-यंत्रों में बड़ी और छोटी ढोलकें, बांसुरी, सितार आदि मिले हैं। पचमढ़ी तथा रायगढ़ के चित्रों में मधुमक्खियों को भगा कर मधु इकट्ठा करने के दृश्य हैं। बनियाबेरी (पचमढ़ी) की एक गुफा में शाखाओं पर खेल करते हुए शाखामृग (बन्दर) दिखाए गए हैं। नरयावली (जिला सागर) के एक गुफाचित्र में नटों को अनेक करतब दिखाते हुए अंकित किया गया है। बर्तन, भांड़े, डलिया, मोढ़े आदि के आलेखन कई प्राचीन गुफा-चित्रों में मिले हैं। कुछ चित्रों में कल्पवृक्ष, सूर्य, चंद्र, स्वस्तिक आदि प्रतीक प्रदर्शित हैं। बरखेड़ा में यज्ञ, शिव, गणेश, कार्तिकेय, देवी आदि के चित्र उल्लेखनीय हैं। इनमें से कई प्रारंभिक ऐतिहासिक युग के हैं। मध्य-प्रदेश के ये प्राचीन गुफा-चित्र यहाँ के आदिम वासियों की जीवन की कितनी ही मनोरंजक गाथाएं आज तक संजोए हुए हैं।

नर्मदा, चंबल, बेतवा, सोन आदि नदियों तथा उनकी सहायिकाओं के तटों से पाषाण तथा धातु के बहुसंख्यक उपकरण मिले हैं। विभिन्न शैलियों के आधार पर इन उपकरणों को पूर्व, मध्य तथा नव पाषाण-युगों का माना गया है। इनका उपयोग आयुध रूप में तथा दैनिक जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता था। प्राचीन शैलगृहों से भी ऐसे उपकरण मिले हैं।

इन उपकरणों की बहुत बड़ी संख्या इस बात का प्रमाण है कि मध्यप्रदेश में अनेक भागों में प्रागैतिहासिक तथा आद्यैतिहासिक युगों में लोग रहते थे। द्वितीय काल में लोगों को कृषि तथा पशुपालन का ज्ञान हो गया था। पत्थर के बेडौल तथा सुगढ़ औजारों के अतिरिक्त इस काल में मानव को तांबे का ज्ञान भी हो गया था। तांबे के बहुसंख्यक उपकरण मध्यप्रदेश के बालाघाट जिले में गुंगेरिया नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं। इतनी बड़ी संख्या में तांबे के प्रागैतिहासिक हथियार तथा औजार भारत में अन्यत्र नहीं मिले।

प्राचार्य तथा अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृत तथा पुरातत्व विभाग,
सागर विश्व विद्यालय,
सागर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छायानाट्य विमर्श

डा० रामजी उपाध्याय

संस्कृत के जिन नाटकों में आवश्यकतानुसार वास्तविक पात्र के स्थान पर उसकी छाया का समावेश किया है, उन्हें तेरहवीं शती से छायानाटक नाम देने की रीति चली। पात्रों की छाया से तात्पर्य उनकी परछाई नहीं है, अपितु बनावटी पात्र हैं, जिन्हें छायापात्र या मायापात्र कहना समीचीन है। छायापात्र पांच प्रकार के होते थे—

१. माया (इन्द्रजाल) के द्वारा किसी पात्र के सदृश पात्र बनाकर उसे रंगमंच पर मूल पात्र की भाँति आचरण कराया जाता था, जैसे दूतांगद में सीता के स्थान पर मायामैथिली।

२. मूल पात्र के स्थान पर उसकी ऐसी मूर्ति रंगमंच पर रख देना, जिसे दर्शक ही नहीं, रंगमंच के पात्र भी यह न समझ सकें कि यह मूल पात्र से भिन्न है। जैसे धर्माभ्युदय में संन्यास लेने के पश्चात् राजा दशार्णभद्र के स्थान पर उसकी मूर्ति।

३. मूलपात्र या पात्रों का चित्र। यह उनसे सम्बद्ध किसी घटना का चित्रपट पर आलेखन होता था। यथा उल्लाघराघव के सप्तम अंक में वृकमुख राम और लक्ष्मण का स्वरूप चित्रपट पर अंकित करके उसके नीचे राम, सुग्रीव, विभीषण और जाम्बवान् का संवाद लिखकर कार्पटिक को पढ़ने के लिए देता है, जिसे वह रंगमंच पर प्रेक्षकों को पढ़कर सुनाता है।

४. मूल पात्र का अपनी वेशभूषा परिवर्तित करके अपना नाम, गोत्रादि बदलकर प्रायः अज्ञात रहकर कार्य करना। यथा सुभद्रापरिणयन में अर्जुन तीर्थयात्रा करते हुए प्रच्छन्न रह कर सुभद्रा का अपहरण करता है।

५. अमानव की भूमिका में मानव पात्रों का रंगमंच पर आना। यथा शामामृत में हरिणादि पशुओं की भूमिका में मनुष्य-पात्रों का संवाद में भाग लेना।

दूतांगद, धर्माभ्युदय, उल्लाघराघव, सुभद्रा परिणयन और शामामृत के लेखकों ने अपनी-अपनी कृतियों को छाया नाटक कहा है। क्यों? यह गत पचास वर्षों से विवादास्पद प्रश्न रहा है, जिसका समाधान प्रस्तुत है।

अब तक प्रायः विद्वानों ने छाया-नाटकों में छायात्मक (परछाई का) अभिनय ढूँढ़ने का प्रयास किया है और निराधार प्रमाणों से त्रुटिपूर्ण सुझाव दिए हैं। कतिपय विद्वान् छाया को सार या संक्षिप्त संस्करण समझकर दूतांगदादि को बड़े नाटकों का सारभूत बताते हैं। ये मत अप्रामाणिक और निराधार हैं।[१]

डा० कीथ का मत है—

It is natural to suggest, as did Pischal that the Dutanganda of Subhata, which is styled a Chayanataka, really was a shadow. On the other hand, Rajendralalamitra suggested that the drama was perhaps simply intended as an enteracte, and this may be justified on the interpretation of the term of drama in the from of a shadow, i.e. reduced to the minimum for representation in such a form. Sanskrit Drama. P. 269.

डा० डे का मत है—

While the connotation of the term Chayanataka itself is extremely dubious, the shadow-play theory, however, appears to be entirely uncalled for and without foundation, and there is hardly any characteristic feature which is not otherwise intelligible by purely historical and literary considerations. History of Skt. Lit. P. 501.

If we leave aside the self-adopted title of Chayanataka, these plays do not differ in any respect from the ordinary play. Ibid P. 504.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छाया क्या है—यह समझने के लिए नीचे लिखी विवस्वान् और सरण्यू (संज्ञा) की कथायें उपादेय हैं—

अगायूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद्यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ।।
ऋग्वेद १०-१७-२

सृष्ट्वा मर्तुः परोक्षं तु सरण्यूः सदृशीं स्त्रियम् ।
निक्षिप्य मिथुनं तस्यामश्वा भूत्वोपचक्रमे ।।
बृहद्देवता ७-७-१

ततस्तेजोमेयं रूहमसहन्ती विवस्वतः ।
नारीमुत्पादयामास स्वशरीरादनिन्दिताम् ।।
ततस्तेजोमयं रूपमसहन्ती विवस्वतः ।।
नारीमुत्पादयामास स्वशरीरादनिन्दिताम् ।
त्वाष्टीस्वरूपेण नाम्ना छायेति भामिनी तदा ।।
किंकरोमीति पुरतः स्थितां तामभ्यभाषत ।
छाये त्वं मम भर्तारमस्मदीयं वरानने ।।
अपत्यानि मदीयानि मातृस्नेहेन पालय ।
तथेत्युक्तवा तु सा देवमगमत् कापि सुव्रता ।।
कामयामास देवोऽपि संज्ञेयमिति चादरात् ।
जनयामास तास्यां तु पुत्रं च मनुरूपिणम् ।।
मत्स्यपुराण ११-४-८

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद की सवर्णा, बृहद्देवता की सदृशी स्त्री और मत्स्य पुराण की छाया समानार्थ हैं और छाया का अभिप्राय समान स्त्री या पुरुष है, जो माया (इन्द्रजाल) द्वारा बनाया गया हो ।

छाया का उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग हरिवंश में नीचे लिखे पद्य में मिलता है—

मायया स्य प्रतिच्छाया दृश्यते हि नटालये
देहार्धेन तु कौरव्य सिषेवेऽसौ प्रभावतीम्
विष्णुपर्व ९४-३०

अर्थात् माया के द्वारा प्रद्युम्न की प्रतिच्छाया उस भवन में दिखाई देती थी, जहाँ वह नटों के साथ रह चुका था। वास्तविक शरीर से वह प्रभावती के साथ रहता था।

आरम्भ में छाया का मत्स्यपुराणीय अर्थ छायानाटक नाम रखने में ग्रहण किया गया है। शनैः शनैः किसी भी प्रकार के सादृश्य से लक्षित पात्रों, मूर्तियों या चित्रों वाले नाटकों को छायानाटक नाम दिया गया, जैसा इस निबन्ध के आरम्भ में लिखा गया है।

संविधानक

संस्कृत नाटकों के नाम उनके संविधानक के नाम पर भी रखने की रीति रही है। इस नामकरण पद्धति का उल्लेख कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में इस प्रकार किया है—

अद्भुतं पुनिरिदं यत् सारस्वत-संविधानकलक्षण—साक्षरेण नाना सुनिवेश्यते। यथा—अभिज्ञान शाकुन्तल—मुद्राराक्षस—प्रतिमानिरुद्ध—मायापुष्पक—कृत्यारावण—छलितराम—पुष्पदूषितकादीनि नामानि।
वक्रोक्तिजीवित पृष्ठ २२५

छायानाटकों में छाया संविधानक है। वास्तव में छायानाटक एक कोटि है। नाटकों के नाम तो कुछ और ही हैं।

नाटकों में अनेक संविधानक रहते हैं। प्रायः प्रत्येक अंक में एक संविधानक होता है, जिसके अनुसार उस अंक का नाम रखा जाता है।

भवभूति ने उत्तररामचरित के प्रत्येक अंक का नाम उसके संविधानक के अनुसार रखा है। इस नाटक का तृतीय अंक छायाअंक है। अनेक संविधानकों में से किसी एक को कवि कलात्मक दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानकर उसके अनुसार नाटक का नाम रख देता है।

भास ने प्रतिमा को प्रमुख संविधानक मानकर राम-चरित-विषयक नाटक का नाम प्रतिमा रखा, वैसे ही सीता की छाया (माया मैथिली) को संविधानक मानकर सुभट ने दूतांगद का छायानाटक कहा है।

कूटघटना तथा छायापात्र

कूटघटना के प्रसंग में छायापात्र प्रायः प्रयुक्त किये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते हैं। जहाँ किसी काम को करने के लिए किसी पात्र की अपने मौलिक रूप में असमर्थता होती है, वहाँ उस पात्र के स्थान पर छायापात्र का प्रयोग देखा जाता है। दूतांगद में वास्तविक सीता अंगद से इस प्रकार की बातें नहीं कर सकती थी, जैसी मायामैथिली ने की।

कूट घटनाओं के लिए भास ने स्वप्नवासवदत्त में वासवदत्ता और यौगन्धरायण को प्रथम अंक से प्रायः अन्त तक छायापात्र बनाकर रखा है। किरातार्जुनीय में शिव का किरात बनना सुविदित है। कूट घटना के लिए रामचन्द्र के सत्यहरिश्चन्द्र में अनेक पात्रों का छाया पात्र बनना प्रत्यक्ष है। मुद्राराक्षस के अन्तिम अंक में चाणक्य ने राक्षस से बताया कि जिन्हें तुम चाण्डाल समझते हो, वे वस्तुतः सिद्धार्थक और समिद्धार्थक हैं।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेणी-संहार-नाटक एक मूल्यांकन

डा० ठक्कन मिश्र

संस्कृत साहित्य में नाटकों का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' 'नाटकान्तं कवित्वम्' इत्यादि वाक्यों में इसका महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। भरत मुनि ने नाट्य को 'नाट्य वेद' कह कर इसका महत्त्व वेदों के समान स्वीकार किया।

संस्कृत नाटकों का विकास-क्रम तथा वेणीसंहार का स्थान :

संस्कृत नाटकों का आरम्भ कब से हुआ इस सम्बन्ध में कोई भी सर्वसम्मत विचार निश्चित नहीं हो सका है। नाटकों के सम्बन्ध में प्राचीनतम ग्रन्थ भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' माना जाता है। इसमें रूपक के भेदोपभेदों तथा मंच आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। लक्ष्य-ग्रन्थों के निर्माण के बाद ही लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण होता है। अतः भरत मुनि के समय तक अनेक नाटकों का लिखा जाना तथा मंच पर उनका अभिनीत होना निश्चित है।

आदि काव्य वाल्मीकि-रामायण में नट, नर्तक आदि शब्दों का उल्लेख देखा जाता है। श्रीमद्भागवत में भी इसकी सत्ता का परिचय प्राप्त होता है। अग्निपुराण में तो 'नाटक निरूपणम्' नामक एक पृथक् अध्याय ही विद्यमान है। वहाँ रूपक के १० तथा उपरूपक के १८ भेदों का, सन्धियों, कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों का, विदूषक आदि नाटकीय पात्रों की स्थिति, वेष-भूषा आदि का भी विशद वर्णन किया गया है। इन वर्णनों से निश्चित है कि इस समय तक नाटक रचना तथा उनके अभिनय की परम्परा प्रचलित हो चुकी थी।

हरिवंश पुराण की एक कथा के अनुसार वज्रनाभ दैत्य की कन्या प्रभावती को प्राप्त करने के लिये श्रीकृष्ण की अनुमति से यादव लोग वज्रपुर में गये हैं। वहाँ उन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथावस्तु का अभिनय किया है। इस अभिनय को देखकर दैत्यगण अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं। उन्होंने अनेक प्रकार के वस्त्राभरण आदि यादवों को प्रदान किये। किस यादव ने किस पात्र का अभिनय किया था यह उल्लेख भी यहाँ वर्तमान है। हरिवंश पुराण की इस कथा से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियाँ भी अभिनय में भाग लेती थीं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुसार शिलालिन् नामक नटसूत्रकार हो चुके थे। इनका नाटकों के अभिनय की परिपाटी के सम्बन्ध में अपना विशिष्ट सम्प्रदाय था। महाभाष्यकार पतंजलि के उल्लेखानुसार 'कंसवध' तथा 'बलिवध' नामक नाटकों का अभिनय इस समय तक हो चुका था।

वात्स्यायन मुनि ने अपने 'कामसूत्र' में ६४ कलाओं का उल्लेख करते हुए २० वीं कला के रूप में नाटक को स्वीकार किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी नट, नर्तक, गायक, वादक आदि का उल्लेख वर्तमान है[1]।

उल्लिखित विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृत में नाटकरचना तथा उनके अभिनय की प्राचीनता असन्दिग्ध है। परन्तु उल्लिखित वर्णनों में निर्दिष्ट कोई भी नाटक आज उपलब्ध नहीं है। इन नाटकों के लेखकों का नाम भी आज ज्ञात नहीं है।

---

१. नट नर्तक गायक वादक वाग्जीवन कुशीलव शौभिका वा पूर्णप्रणिहिताः परमुपतिष्ठेरन् ।।—कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, अधिकरण ७, अ० १७, प्रकरण १२२-२३, पृ० १८६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्ध कृतियों के आधार पर अधिकांश विद्वानों ने संस्कृत का प्रथम नाटककार 'भास' को स्वीकार किया है। कालक्रमानुसार संस्कृत नाटककारों में विशाखदत्त के पश्चात् भट्टनारायण का नाम आता है। महाभारत की सभी प्रमुख घटनाओं को इन्होंने अपने इस नाटक में समाविष्ट किया है।

कथावस्तु का मूलाधार तथा मूलकथा में परिवर्तन :

वेणीसंहार नाटक की कथावस्तु का मूल आधार महाभारत है। नाटकीय उपयोगिता को ध्यान में रखकर लेखक ने इसकी कथावस्तु तथा पात्रों के चरित्र में यत्र तत्र कुछ परिवर्तन भी किये हैं। इस नाटक के दुर्योधन की प्रणय-क्रीड़ा का प्रदर्शन, कर्ण-अश्वत्थामा-वाक्कलह, चार्वाक राक्षस का प्रपंच, आदि कुछ कथांश कवि-कल्पित हैं।

नाटक का नामकरण :

नाटक का नाम शास्त्र-सम्मत है। "नाटक का नाम तद्गत प्रमुख कथावस्तु का प्रकाशक होना चाहिये[1]।" 'वेणीसंहार' नाम ही स्पष्ट करता है कि इस नाटक में द्रौपदी-वेणी-बन्धन की कथा की प्रमुखता है। 'शब्द कल्पद्रुम' नामक कोष में इसे ७ अंकों का नाटक कहा गया है।[2] "हिन्दी विश्वकोष" में भी इसे ७ अंकों का ही नाटक माना गया है। वेणीसंहार की सभी मुद्रित तथा हस्तलिखित प्रतियों में सम्प्रति ६ अंक ही विद्यमान हैं। कहा नहीं जा सकता कि "शब्द कल्पद्रुम" जैसे प्रामाणिक कोष में ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है। कुछ विद्वानों ने 'वेणीसंहार' का अर्थ 'वेणीमोक्षण' स्वीकार किया है। किन्तु 'संहार' का बन्धन अर्थ ही उपयुक्त है। एक पाण्डुलिपि में इस नाटक का नाम 'वेणीसंवरणं नाम नाटकम्' लिखा हुआ है।

शास्त्रीय नियमों का निर्वाह :

प्रस्तुत नाटक में शास्त्रीय नियमों का अधिकांशतः निर्वाह हुआ है। रूपक के भेदों में से इसे नाटक की श्रेणी में माना जायगा। नाटक के लिये निर्दिष्ट सभी लक्षणों की चरितार्थता इसमें देखी जा सकती है।

प्रस्तुत नाटक में वीर रस की प्रमुखता है। पं० चन्द्रशेखर शास्त्री ने "संस्कृत साहित्य की रूप-रेखा" में विवेचन करते हुए इस नाटक में करुण रस की प्रधानता मानी है तथा इस नाटक का नायक दुर्योधन को स्वीकार किया है। श्री गजेन्द्र गदकर ने भी शास्त्री जी के मत का समर्थन किया है। अन्य सभी विद्वानों ने इसमें वीर रस की प्रमुखता स्वीकार की है एवं इसका नायक युधिष्ठिर को स्वीकार किया है। वस्तुतः राज्यप्राप्ति रूपी फल का अधिकारी होने के कारण युधिष्ठिर ही शास्त्र-सम्मत इस नाटक के नायक कहे जायंगे। नायक के लिये निर्दिष्ट प्रायः सभी गुण युधिष्ठिर के चरित्र में वर्तमान हैं। इस नाटक के सभी पात्रों के चरित्र का विकास स्वाभाविक रूप में हुआ है। इसमें सन्धियों, कार्यावस्थाओं का निर्वाह भी शास्त्रीय-लक्षणानुसार हुआ है। अतएव नाट्यदर्पण, दशरूपक, साहित्यदर्पण आदि नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अधिकांशतः सन्ध्यंगों के उदाहरण वेणीसंहार नाटक से उद्धृत किये गये हैं।

वेणीसंहार नाटक में संकलन-त्रय का निर्वाह भी यथार्थ रूप में हुआ है। इसमें केवल १८ दिनों की घटनाओं का ही समावेश हुआ है। स्थान भी रण-भूमि, कौरव पाण्डव-शिविर तथा रण-भूमि के समीप में वर्तमान वह न्यग्रोध वृक्ष है जहां आहत अवस्था में दुर्योधन ने विश्राम किया था। दोनों पक्षों के शिविर तथा न्यग्रोध वृक्ष भी रण-भूमि के इतने निकट हैं कि वहाँ से रण-कोलाहल स्पष्ट सुनाई पड़ता है।

नाटककार का संक्षिप्त परिचय :

वेणीसंहार नाटक के रचयिता भट्टनारायण का मूल निवास स्थान कन्नौज था। चार अन्य ब्राह्मणों के साथ यह बंगाल में आकर रहने लगे थे। बंगाल के राजा

---

१. नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशनम्॥—साहित्यदर्पण ६।३३०।

२. वेणीसंहार : पुं० (वेण्याः द्रौपदीवेणिकायाः संहारो भीमेन मारितदुर्योधनशोणितेन मोचनं यत्र।) भट्टनारायण-कृत सप्तांकयुक्तः नाटकविशेषः शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थकाण्ड, पृ० ४९५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदिशूर या वीरसेन ने इन्हें यज्ञ-सम्पादनार्थ बुलाया था। उल्लिखित तथ्य को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महेशचन्द्र प्रसाद आदि प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। भट्ट-नारायण के १६ पुत्र हुए थे। इनमें से पाँचवा पुत्र निपु सम्पत्ति का अधिकारी बना था। भट्टनारायण को राजा आदिशूर ने कई गांव दिये तथा स्वयं भी थोड़े मूल्य से ही अनेक गांव इन्होंने खरीदे। इनका भी राजवंश चलता रहा। "क्षितीश वंशावली चरितम्" में इस वंश के राजाओं के नाम, राज्यकाल तथा अद्भुत कार्यों का वर्णन दिया गया है।

भट्टनारायण जाति से ब्राह्मण तथा गोत्र से शाण्डिल्य थे। इनकी जाति-सूचक उपाधि 'भट्ट' थी। 'मृगराज' उपाधि योग्यता-सूचक, राजप्रदत्त थी।

रचना-काल :

भट्टनारायण के स्थिति-काल के सम्बन्ध में विचारकों में बहुत मतभेद देखा गया है। ७ वीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर ११ वीं शताब्दी के अन्त तक इनका काल विद्वानों ने माना है। इतनी लम्बी सीमा किसी कवि के काल-निर्धारण के लिये उपयुक्त नहीं कही जा सकती है। ८ वीं शताब्दी में होने वाले वामन के ग्रन्थ में वेणीसंहार नाटक का श्लोक उदाहृत होने से भट्टनारायण के स्थिति-काल की परावधि ८५० ई० तक होनी चाहिये। इसी प्रकार ७ वीं शताब्दी से पूर्व के किसी काव्यकार के द्वारा भट्टनारायण अथवा उसके नाटक की चर्चा न होने के कारण इनके स्थिति-काल की पूर्वावधि ७५० ई० मानी जानी चाहिये। इस प्रकार वेणीसंहार कर्ता भट्टनारायण का स्थिति-काल ई० सन् ७५० से ८५० के मध्य में स्वीकार करना तर्क-संगत कहा जा सकता है। काल-निर्धारण के सम्बन्ध में 'अवन्ति सुन्दरी कथा' जिसे दण्डी-कृत कहा जाता है, का श्लोक[1] प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है। इनकी कृति एकमात्र 'वेणीसंहार नाटक' ही उपलब्ध हुई है। भट्टनारायण, नारायण भट्ट आदि के नाम से उपलब्ध ग्रन्थ तथा सुभाषित ग्रन्थों में संगृहीत सूक्तियां वेणीसंहार-कर्ता भट्टनारायण-कृत नहीं माने जा सकते।

भाषा-शैली, प्रकृति-चित्रण :

प्रस्तुत नाटक की भाषा-शैली नाटक की अपेक्षा श्रव्य-काव्य की दृष्टि से अधिक सफल हुई है। इसमें गौड़ी रीति को नाटककार ने प्रश्रय दिया है। युद्ध-मय वातावरण होने के कारण प्रकृति-चित्रण का यहाँ अवसर नहीं आया है। केवल द्वितीय अंक में वालोद्यान वर्णन में प्रकृति के सौम्य रूप का तथा यहीं वात्या-वर्णन में उसके कराल रूप का संक्षिप्त चित्रण देखा जाता है। अभिनय की दृष्टि से भी इस नाटक के अधिकांश स्थल सफल हैं।

अलंकार-योजना :

अलंकारों की योजना भी इस नाटक में सफल रही है। यद्यपि काव्य-शास्त्रियों ने 'नाटक में अलंकारों का स्थान' इस प्रश्न पर पृथक् विचार नहीं किया है। 'काव्य में अलंकारों का स्थान' इस विषय पर रोचक एवं तर्क-संगत ढंग से उन्होंने विचार किया है। परन्तु काव्य के भेद—श्रव्य-काव्य तथा दृश्य-काव्य में से नाटक दृश्य-काव्य के अन्तर्गत स्वीकृत होने से इस प्रश्न पर पृथक् विवेचन की आवश्यकता ही सम्भवतः उन्हें नहीं प्रतीत हुई। काव्य में अलंकारों का जो स्थान है, नाटकों में भी उनका वही स्थान काव्य-शास्त्रियों को सम्भवतः मान्य था। कालिदास, भवभूति आदि के नाटकों में भी अलंकारों की योजना वर्तमान है।

भरत मुनि ने नाटकाश्रय के रूप में उपमा, रूपक, यमक, दीपक, ये चार अलंकार स्वीकार किये हैं।[2] अतः नाटकों में अलंकारों का समावेश शास्त्र-सम्मत कहा जायगा। प्रस्तुत नाटक में उपमा, रूपक तथा काव्यलिंग

---

१. व्याप्तुं पदत्रयेणापि यश्शक्तो भुवनत्रयम्।
तस्य काव्यत्रयव्याप्तौ चित्रं नारायणस्यकिम्॥
अवन्तिसुन्दरी कथा, श्लोक १७, पृ० २

२. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥
नाट्यशास्त्र, अध्याय १७, श्लोक ४३, पृ० २०६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलंकारों की योजना अधिक हुई है। वीर रसानुकूल उपमानों के चयन से भाव सशक्त तथा मूर्तिमान् बन गये हैं। युद्ध-वर्णन के अवसर पर गद्य में सांगरूपक की विशद योजना हुई है। ऐसे कुछ स्थल सामाजिकों को थकाने वाले प्रतीत होते हैं। किन्तु सामूहिक रूप से अलंकारों की योजना सफल हुई है। कतिपय स्थलों के अतिरिक्त अधिकांशतः अलंकार शोभाधायक बने हैं। उपमानों के चयन में कवि ने लिंग, वचन, विभक्ति आदि के साम्य का भी प्रायः ध्यान रखा है।

विभिन्न मान्यताएँ :

कवि अपने काल का प्रतिनिधि होता है। उसकी रचनाओं पर उस काल की मान्यताओं का प्रभाव भी प्रायः पड़ता ही है। परन्तु यह प्रभाव विशेषतः वहीं पड़ता है जहाँ वह कथावस्तु के क्षेत्र में स्वतन्त्र रहता है। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथावस्तु के आधार पर लिखे गये काव्य या नाटक में अपने काल की मान्यताओं को वह अधिक स्पष्ट रूप से चित्रित न करके यत्र-तत्र किंचित् संकेत मात्र दे पाता है।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु भी महाभारत से ली गयी है। कवि ने महाभारत ग्रन्थ में लिखित मान्यताओं का ही अधिकतर चित्रण किया है। अतः कुछ अधिक निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि इस नाटक में प्रदर्शित मान्यताओं का सम्बन्ध सर्वथा महाभारत से ही है अथवा भट्टनारायण के काल से भी।

महाभारत काल में प्रायेण द्वन्द्व युद्ध होता था। वैसे इसमें अपवाद भी आने लगे थे। अभिमन्यु का वध अनेक महारथियों ने मिल कर किया था। परन्तु ऐसे युद्ध निन्दा की दृष्टि से देखे जाते थे। प्रतिपक्षी को ललकार कर, सावधान बनाकर युद्ध किया जाता था। आहत, मूर्च्छित योद्धा पर प्रहार नहीं किया जाता था। वीर लोग प्रतिज्ञा-पूर्वक युद्ध किया करते थे।

प्रहार से अंगों की रक्षा के लिये सैनिक कवच, हस्तावाप, शिरस्त्राण आदि धारण करते थे। प्रत्येक योद्धा के रथ में विशिष्ट चिन्ह युक्त अपनी ध्वजा लगी रहती थी। इसी ध्वज चिन्ह के कारण अर्जुन कपि-ध्वज कहाते थे। युद्ध के आरम्भ तथा विराम की घोषणा राजा की ओर से की जाती थी। प्रस्तुत नाटक में प्रथम अंक में युधिष्ठिर ने युद्ध की घोषणा की है। पंचम अंक में भी युधिष्ठिर ने सायंकाल हो जाने के कारण युद्ध-विराम की घोषणा की है।

सेनापति के मारे जाने पर सैनिक युद्ध से लौट आते थे। पुनः अन्य सेनापति के अभिषिक्त हो जाने पर वे युद्ध में जाते थे। सच्ची वीरता की प्रशंसा शत्रु भी करते थे। वृषसेन के युद्ध-कौशल की प्रशंसा सबने की है। ऐसे युद्ध के अवसर पर दोनों पक्षों के योद्धा अपना-अपना युद्ध छोड़कर दर्शक बन जाते थे। वीरगति की महत्ता मान्य थी। सम्भवतः ब्राह्मण अवध्य माने जाते थे। परन्तु यह नियम भी सर्वत्र नहीं चरितार्थ था। ब्राह्मण द्रोणाचार्य का वध भी हुआ ही है। प्रतिपक्षी चुनने की स्वतन्त्रता सबको दी जाती थी।

इस समय समाज में द्यूत-प्रथा का प्रचलन था। द्यूत के दाव पर सम्पत्ति, बान्धव, यहाँ तक कि पत्नी को भी लोग लगा देते थे। ब्राह्मणधर्म की देश में या गौड़ देश में प्रतिष्ठा थी। स्वप्न के फलाफल पर जनता का विशेषतः स्त्रियों का विश्वास था। अंगस्पन्दन, विशेषेणअक्षिस्पन्दन के शुभाशुभ फल पर भी लोगों का विश्वास था। अरिष्ट-शान्ति के शास्त्रीय उपायों पर भी विश्वास किया जाता था। शाप तथा वरदान पर भी लोगों का विश्वास था। श्राद्ध-तर्पण आदि पितृकर्म में भी लोगों का विश्वास था।

भट्टनारायण की अन्य किसी कृति की उपलब्धि नहीं हुई। लेखक ने किसी नयी परम्परा को प्रश्रय नहीं दिया है। परन्तु नाटक के लिये निर्दिष्ट शास्त्रीय नियमों का निर्वाह इसमें अवश्य हुआ है। अतः शास्त्रीय-लक्षण-सम्पन्न वीररसप्रधान नाटकों में वेणीसंहार नाटक का महत्त्वपूर्ण स्थान कहा जा सकता है।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
एस० एम० जे० एन० कालिज,
हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेद के वृषभ और उक्षन् शब्दों का अर्थविचार

डा० रामनाथ वेदालंकार

वैयाकरणों के अनुसार वृषभ शब्द सेचनार्थक वृषु धातु से उणादि अभच्[1] प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इसमें प्रत्यय के किद्वत् होने से गुणाभाव तथा चित् होने से अन्तोदात्त स्वर रहते हैं। उक्षन् शब्द सेचनार्थक उक्ष धातु से उणादि कनिन्[2] प्रत्ययान्त निपातित होता है। लोक में इनका बैल अर्थ तो प्रसिद्ध ही है, इसके अतिरिक्त कोई भी पुंपशु, युवा पुरुष, श्रेष्ठ, ओषधिविशेष आदि अर्थों में भी ये प्रयुक्त होते हैं। ऋग्वेद में वृषभ शब्द विभिन्न विभक्तियों में कुल मिला कर १८३ वार तथा उक्षन् शब्द ३२ वार प्रयुक्त हुआ है।

बैल

बैल अर्थ में ये दोनों शब्द ऋग्वेद में आते तो हैं, पर अधिक नहीं। अग्नि को कहा गया है कि तुम्हारा शब्द वृषभ के समान है[3]। इन्द्र को वृषभ के समान भीम[4] कहा है। उषा का आगमन वृषभ के शब्द से जाना जाता है[5]। अग्नि अपनी ज्वालाओं को ऐसे ही प्रकम्पित करता है, जैसे वृषभ सींगों को[6]। इन्द्र तीक्ष्ण शृंगों वाले वृषभ के समान गर्जना करता है[7]। सिन्धु वृषभ के समान शब्द करती हुई बहती है[8]। वृषभ (बैल) तथा द्रुघण (लकड़ी की गदा) की सहायता से शत्रुसेनाओं को जीतने का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है[9]। अश्वियुगल जब अभीष्ट फल प्रदानार्थ दिवोदास के घर जाते हैं तब उनके रथ में वृषभ तथा शिशुमार वाहन रूप में नियुक्त रहते हैं[10]। प्लायोगि आसंग की दानस्तुति में कहा है कि वह दश सहस्र उक्षा दान में देता है[11]। इसी प्रकार प्रस्कण्व द्वारा दान में दिये गये सौ श्वेत उक्षाओं के विषय में वर्णन है कि वे ऐसे चमकते हैं, जैसे आकाश में तारे[12]। इन सब प्रसंगों में वृषभ तथा उक्षा शब्दों का स्थूल अर्थ बैल ही है।

अग्नि

ऋग्वेद में लगभग २० स्थलों में अग्नि को वृषभ कहा गया है। ३ स्थलों में उसे उक्षा नाम से भी स्मरण किया गया है। वृषभ या उक्षन् शब्द प्रायः अग्नि के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जिसका अर्थ है वर्षक अग्नि। कहीं-कहीं अग्नि को केवल 'वृषभ' न कह कर 'चर्षणीनां वृषभः'[13], 'स्तियानां वृषभः'[14] या 'क्षितीनां वृषभः'[15] कहा गया है, अर्थात् मनुष्यों पर अभिमत फलादि की वर्षा

---

१. ऋषिवृषिभ्यां कित्। उ० ३.४०३
२. श्वन्नुक्षन्पूषन्०। उ० १.१५७
३. १.९४.१०
४. ७.१९.१ तथा १०.१०३.१
५. ७.७९.४
६. ८.६०.१३
७. १०.८६.१५
८. १०.७५.३
९. १०.१०२
१०. १.११६.१८
११. ८.१.३३
१२. ८.५५.२
१३. ३.६.५
१४. ७.५.२
१५. १०.१८७.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाला, ओलों की वर्षा करने वाला, तथा भूमियों या प्रजाओं पर जल या सुखादि की वृष्टि करने वाला। अग्नि को सहस्र सींगों वाला वृषभ[1] तथा बहुत सी ग्रीवाओं वाला वृषभ[2] भी कहा गया है। इसे घृतपृष्ठ उक्षा[3] के रूप में भी चित्रित किया गया है।

यह वृषभ या उक्षा अग्नि पार्थिव यज्ञाग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय वैद्युताग्नि तथा द्युस्थानीय सूर्याग्नि तीनों के रूप में व्याख्यात किया गया है।। परमात्माग्नि, जीवात्माग्नि, प्राणाग्नि, संकल्पाग्नि आदि रूपों में भी इसकी व्याख्यायें होती हैं। वृषभ अग्नि के चित्रण के निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं :

यज्ञाग्नि :

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनि-
र्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम।
अनुष्वधमावह मादयस्व
स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्॥ऋग् २.३।११

"इस यज्ञाग्नि में मैं घृत का सिंचन करता हूँ। घृत इसका कारण है, उत्पन्न होकर यह घृत के ही आश्रय से रहता है, घृत ही इसका धाम है। हे वृषभ, तू हमारी प्रत्येक हवि के प्रति देवों का आवाहन कर, हमें आनन्दित कर, स्वाहापूर्वक दिए गए हमारे हव्य का वहन कर।"

समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तव श्रियम्।
वृषभो द्युम्नवाँ असि समध्वरेष्विध्यसे॥
ऋग् ५.२८.४

"हे यज्ञाग्नि, समिद्ध हुए तुझ तेजस्वी की श्री की मैं स्तुति करता हूँ। तू वृषभ है, तू यशस्वी है, तू यज्ञों में प्रदीप्त किया जाता है।"

वैद्युताग्नि या सूर्याग्नि :

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं
यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ
अधूनोत् काष्ठा अव शम्बरं भेत्॥
ऋग् १.५९.६

"वृषभ अग्नि के महत्त्व का मैं वर्णन करता हूँ जिस मेघसंहारक का मानवगण सेवन करते हैं। वह वैश्वानर अग्नि दस्यु को मार देता है, जलों को प्रकम्पित कर देता है, तथा मेघरूप शम्बरासुर का भेदन कर देता है।"

अग्निसूक्त के निम्न मन्त्र में एक महान् उक्षा का वर्णन किया गया है :

उक्षा महाँ अभि ववक्ष एने
अजरस्तस्थावितऊतिर्ऋष्वः।
उर्व्याः पदो निदधाति सानौ
रिहन्त्यूधो अरुषासो अस्य॥
ऋग् १.१४६.२

"एक महान् उक्षा (विशाल बैल) ने इन द्यावापृथिवी दोनों को अपने ऊपर उठाया हुआ है, तो भी वह जीर्ण नहीं होता तथा दर्शनीय बना हुआ खड़ा रहता है। वह पृथिवी के ऊर्ध्वप्रदेश (वेदि) में अपने पैरों को रखे है तथा इसकी लाल-लाल जिह्वायें ऊधस् (अन्तरिक्ष) को चाट रही हैं।" अग्निसूक्त में पठित होने से यह महान् उक्षा अग्नि ही है।

इन्द्र

ऋग्वेद में इन्द्र के लिए लगभग ६५ वार वृषभ शब्द प्रयुक्त हुआ है। उक्षा साक्षात् रूप से इन्द्र के लिए नहीं आया, यद्यपि एक स्थान पर सायण ने उक्षा का अर्थ इन्द्र किया है।[4] वृषभ कहीं इन्द्र का विशेषण बन कर आया है तथा कहीं स्वतन्त्र रूप से इन्द्र के पर्यायवाची के रूप में। कहीं-कहीं इन्द्र को 'जनानां वृषभः'[5], 'सतां वृषभः'[6]

१. ५.१.८
२. ५.२.१२
३. १०.१२२.४
४. द्रष्टव्य : ९.८९.३ का सायणभाष्य
५. १.१७७.१
६. २.१.३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतीनां वृषभः'[1], 'कृष्टीनां वृषभः'[2], 'क्षितीनां वृषभः[3] तथा 'चर्षणीनां वृषभः'[4] भी कहा गया है। जल, सुख, मनोवांछित फल आदि का ववर्षक होने से तथा पशुओं में बैल के समान देवों में श्रेष्ठ होने से इन्द्र का वृषभ नाम है। इन्द्र स्वयं भी वृषभ है तथा वृषभ (बैल) के समान भीम भी।[5] इस इन्द्र रूपी वृषभ ने भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों लोकों को धारण किया हुआ है और यह अन्तरिक्ष से जलों को भी बरसाता है :

नि सामनामिषिरामिन्द्र भूमिं
महीमपारां सदने ससत्थ ।
अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षम्
अर्षन्त्वापस्त्वयेह प्रसूताः ।। ऋग् ३.३०.९

भूमि के बैल के सींग पर टिके होने का पौराणिक विचार यहीं से लिया गया प्रतीत होता है।[6] अदिति द्वारा इन्द्र के जन्म का वृत्त वृषभ की पहेली के रूप में ऋग्वेद में इस रूप में वर्णित हुआ है :

गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागा-
मनाधृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम् ।
अरीढं वत्सं चरथाय माता
स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम् ।। ऋग् ४.१८.१०

अर्थात् "सकृत्प्रसूता गौ (गृष्टि) ने एक बैल को को जन्म दिया है जो बल में प्रवृद्ध है, अपराजेय है, मोटा-ताजा है, शत्रुओं से अनभिभूत है, तो भी वत्स है।" यह बूढ़ा बैल इन्द्र ही है।

इन्द्र के सम्बन्ध में एक विचित्र बात यह है कि वह केवल स्वयं ही वृषभ, वृषा या वृष नहीं है, अपितु उसका वज्र भी वृषा है, उसका रथ भी वृषा है, उसके वाहन हरि भी वृषा या वृषभ हैं, उसके आयुध भी वृषभ हैं, उसका पेय सोमरस भी वृषभ है और सोमरस के पान से चढ़ने वाला मद भी वृषा या वृषभ है :

वृषा ते वज्र उत ते वृषा रथो
वृषणा हरी वृषभाण्यायुधा ।
वृष्णो मदस्य वृषभ त्वमीशिषे
इन्द्र सोमस्य वृषभस्य तृप्णुहि ।। ऋग् २.१६.६

साथ ही इन्द्र का सोमपान का साथी अग्नि भी वृषभ है,[7] जिनसे सोमरस पीसा जाता है वे सिल-बट्टे (ग्रावा) भी वृषभ हैं, सोमरस को पीसने वाले अध्वर्यु भी वृषभ हैं, इन्द्र का अन्न भी वृषभ है,[8] इन्द्र के घोड़ों की रासें (रश्मियां) भी वृषभ हैं,[9] और इन्द्र का बल भी वृषभ है।[10]

सोम

ऋग्वेद में ११ वार स्पष्ट रूप से सोम को वृषभ कहा गया है। वृषभ सोम का रेतस् (रस) पाकर वत्स की मातृभूत धीतियाँ शब्दायमान हो जाती है।[11] जैसे भयंकर वृषभ बल दिखाने की इच्छा से अपने शृंगों को तीक्ष्ण करता हुआ दहाड़ता है, वैसे ही सोमरूप वृषभ भी अपने डंठल रूपी हरे-हरे सींगों को सिल-बट्टों पर तीक्ष्ण करता हुआ शब्द करता है।[12] जैसे वृषभ गोयूथ में जाता है, वैसे

---

१. ६.१७.२
२. ७.२६.५
३. ७.९८.१
४. ८.९६.४ तथा १८
५. १०.१०३.१
६. तुलनीय : उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ९.८३.३, उक्षा स द्यावापृथिवी विभर्ति १०.३१.८, अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम् । अथर्व. ४.११.१
७. २.१६.४
८. २.१६.५
९. ६.४४.१९
१०. ६.१९.९
११. ९.१९.४
१२. ९.७०.७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही सोमरूपी वृषभ 'आपः' के समीप जाता है।[1] दस अंगुलियां ग्रावाओं द्वारा वृषभ सोम को जलों में दुहती हैं।[2] यह सोम सहस्र धारों से बहने वाला वृषभ है, जो ऋतजात है :

सहस्रधारं बृषभं पयोवृधं
प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे
राजा देव ऋतं बृहत् ॥ ऋग् ९.१०८.८

सोम उक्षा भी है। ऋग्वेद में ५ वार सोम-सूक्तों में में उसके लिए उक्षा शब्द आया है। उक्षा सोम जब निचोड़े जाने पर शब्द करता है, तब धेनुएँ (प्रीणयित्री स्तुतियाँ या आपः) उसके समीप जाती हैं।[3] इस पर्वतनिवासी (गिरिष्ठा) उक्षा को बुद्धिमान् लोग ऊर्ध्व स्थानों पर दुहते हैं।[4] यह सोम सिंधु की उत्ताल तरंगों में लहराने वाला उक्षा पशु है :

अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते
ऋतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं
हिरण्यपावाः पशुमासु गृभ्णते ॥ ऋग् ९.८६.४३

पर्जन्य

ऋग्वेद में तीन स्थलों में पर्जन्य को वृषभ कहा गया है।[5] ये तीनों स्थल पर्जन्य-सूक्तों के ही हैं। एक अन्य मन्त्र में वात के साथ युगलरूप में पर्जन्य को वृषभ कहा गया है।[6] सायण ने कुछ अन्य स्थलों पर भी जिनमें देवता यद्यपि पर्जन्य नहीं है, वृषभ का अर्थ मेघ या पर्जन्य किया है।[7] एक स्थल में वह उक्षा का अर्थ भी पर्जन्य करता है।[8] पर्जन्य वर्षा करने के कारण या ओषधि रूप गौओं में रेतस् का आधान करने के कारण वृषभ कहलाता है। इस पर्जन्य रूपी वृषभ का आश्रय होने के कारण ही वेद में अन्तरिक्ष को 'वृषभस्य नीडः' कहा गया है।[9] पर्जन्य वृषभ का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है :

अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः
स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास।
कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू
रेतो दधात्योषधीषु गर्भम् ॥ ऋग् ५.८३.१

वायु और आदित्य

एक मन्त्र में सरस्वान् को वृषभ कहा गया है।[10] वहां सरस्वान् का अर्थ सायण ने जलकणों से युक्त वायु किया है। वात तो स्पष्ट रूप से ही वृषभ नाम से कथित हुआ है।[11] एक स्थल पर वायु के अश्वों को उक्षा कहा गया है, जो वायु को द्यावापृथिवी के मध्य में संचार कराते हैं तथा जिनकी गति मरुभूमि में भी अपहृत नहीं होती।[12] ऋग्वेद के अनुसार तीनों लोकों में एक-एक वृषभ स्थित है[13], जिसकी व्याख्या सायण ने इस रूप में की है कि पृथ्वी लोक का वृषभ अग्नि, अन्तरिक्ष का वृषभ वायु तथा द्युलोक का वृषभ आदित्य है। एक प्रकरण में एक ऐसे सहस्र-शृंग वृषभ का वर्णन है जो समुद्र में से उदित हुआ

---

१. ९.७६.५
२. ९.८०.५
३. ९.६९.४
४. ९.९५.४
५. ५.८३.१, ७.१०१. १ तथा ६
६. ६.४९.६
७. १.७९.२, ३.५५.१७, ४.१.११ तथा १२, ५.५८.६, ७.३६.३
८. ४.५६.१
९. ४.१.११
१०. ७.९५.३
११. १०.६५.९
१२. १.१३५.९
१३. ५.६९.२
१४. ७.५५.७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है।[1] व्याख्याकारों के अनुसार यह आदित्य ही है। उक्षा नाम से सूर्य का निम्न चित्रण बड़ा ही रोचक है :

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः
पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा
विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ।। ऋग् ५.४७.३

"सूर्य रूपी उक्षा है, जो तेज का समुद्र है, आरोचमान है, रश्मि रूपी सुन्दर पंखों वाला है, पूर्वदिग्वर्ती पिता आकाश के घर में प्रविष्ट हुआ है, मध्याह्न में आकाश के बीचोबीच स्थित हो जाता है, उसका नाम पृश्नि और अश्मा भी है, वह चङ्क्रमण करता रहता है और दिन के दोनों प्रान्तों उषा और सन्ध्या की पालना करता है।"

बृहस्पति, रुद्र और मरुत्

५ स्थलों में बृहस्पति[2] के लिए तथा ५ ही स्थलों में रुद्र[3] के लिए ऋग्वेद में वृषभ शब्द प्रयुक्त हुआ है। तीन स्थलों में मरुतों[3] को उक्षा कहा गया है। बृहस्पति रूप वृषभ का निम्न प्रसंग द्रष्टव्य है :

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा
बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न
आ रोदसी वृषभो रोरवीति ।। ऋग् ६.७३.१

"जो पर्वत (मेघ) को तोड़ डालने वाला है, प्रथम प्रसिद्ध है, सत्यमय है, अंगारों से उत्पन्न हुआ है, हवि ग्रहण करने वाला है, दोनों लोकों में निर्बाध संचार करने वाला है, तप्त यज्ञ में स्थित है, हमारा पिता है, वह वृषभ बृहस्पति द्यावापृथिवी में गर्ज रहा है।"

रुद्र वृषभ का नमूना भी देखिए :

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्
त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम्।
घृणीवच्छायामरपा अशीया
विवासेयं रुद्रस्य सुम्नम् ।। ऋग् २.३३.६

"मरुतों सहित वृषभ रुद्र ने मुझ प्रार्थी को तेजोमय गति से आनन्दित कर दिया है। जैसे सूर्य की धूप से व्याकुल मनुष्य छाया का सेवन करता है, वैसे ही मैं उस वृषभ की छाया (शरण) का सेवन करूं, मैं रुद्र के सुख को अपनाऊँ।"

मरुत् रूपी उक्षाओं का निम्न वर्णन भी कैसा चामत्कारिक है :

ते जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो
रुद्रस्य मर्या असुरा अरेपसः।
पावकासः शुचयः सूर्या इव
सात्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पसः ।। ऋग् १.६४.२

वे मरुत रूपी उक्षा आकाश से उत्पन्न हुए हैं, रुद्र के पुत्र हैं, असुर (प्राणदायक) हैं, पापरहित हैं, पावक हैं, सूर्य के समान पवित्र हैं, पुरुषों के समान एक ओर तो उदकबिन्दुओं वाले (दयालु) हैं, दूसरी ओर घोर रूप वाले हैं।"

इतर अर्थ

अन्य भी कतिपय अर्थों में ऋग्वेद के उक्षा तथा वृषभ शब्द प्रयुक्त उपलब्ध होते हैं। एक मन्त्र में आकाश में स्थित पाँच उक्षाओं का उल्लेख आया है।[4] ये वृषभ राशि के नक्षत्रपुंज के पाँच प्रमुख तारे प्रतीत होते हैं, यद्यपि सायण ने ये पाँच उक्षा इन्द्र, वरुण, अग्नि, अर्यमा तथा सविता अथवा अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत् बतलाये हैं। एक स्थान पर सायण ने उक्षा का अर्थ सेक्ता स्तोतृजन किया है।[5] सायण एक मन्त्र में उक्षा का वैकल्पिक अर्थ अश्व लेते हैं।[6] एक स्थल में उषाओं के वाहन अरुणी गौओं के लिए उक्षा शब्द का प्रयोग

१. १.१९०.१ तथा ८, ३.६२.६, ६.७३.१, १०.९२.१०
२. २.३३.४, ६, ७, ८, १५
३. १.६४.२, १.१६८.२, ५.५२.३
४. अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः। १.१०५.१०
५. ३.७.७
६. ६..६४.५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है[1]। एक प्रसंग में जहां द्यावापृथिवी के धारण का वर्णन है, सायण ने उक्षा का अर्थ हिरण्यगर्भ किया है।[2]

वृषभ एक मन्त्र में कुत्स[3] का विशेषण तथा एक मन्त्र में श्वित्र्य[4] का विशेषण बन कर आया है। मित्रावरुण को भी वृषभ कहा गया है[5]। सायण ने वृषभ के अर्थ यज्ञ[6], द्युलोक[7], प्रधान[8], रेतःसेक्ता पति[9], संवत्सर[10], स्तोत्र[11], दानी[12] तथा विक्रान्त कर्म[13] भी किये हैं। वृषभ पुंजाति[14] के लिए भी आता है।

एक अद्भुत वृषभ

ऋग्वेद में एक अद्भुत वृषभ का वर्णन आया है, जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं और सात हाथ हैं। वह तीन खूंटों से बंधा हुआ डकरा रहा है। वह महान् देव है, जो सब मनुष्यों के अन्दर आकर प्रविष्ट है। यह वर्णन यजुर्वेद में भी है[15]।

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥ ऋग् ४.५८.३

यास्कीय निरुक्त[16] के अनुसार यह वृषभ यज्ञ है। चार वेद ही उसके चार सींग हैं, प्रातः मध्याह्न तथा सायं के तीन सवन ही तीन पैर हैं। प्रायणीय तथा उदयनीय उसके दो सिर हैं। गायत्र्यादि सात छन्द हाथ हैं। वह यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण तथा कल्प इन तीन खूंटों से बंधा हुआ है। यज्ञ में होने वाला मन्त्रपाठ ही उस वृषभ का बोलना है। महाभाष्यकार पतंजलि के मत में यह वृषभ शब्द है। शब्द के चार भेद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ही इसके चार सींग हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान काल तीन पैर हैं। सुप् और तिङ् दो सिर हैं। सात विभक्तियां सात हाथ हैं। उरस्, कण्ठ और सिर इन तीनों स्थानों में बंधा हुआ वह बोल रहा है, यतः तीनों स्थानों की सहायता से उच्चारित होता है।

सायण का कथन है कि इस सूक्त के अग्नि, सूर्य, अप्, गो तथा घृत ये पांच देवता होने से यह मन्त्र पंचधा व्याख्यात हो सकता है। यज्ञाग्नि तथा सूर्य के पक्ष में उसने व्याख्या प्रदर्शित भी की है। यज्ञपरक व्याख्यान प्रायः निरुक्त का ही अनुसरण करता है। सूर्यपरक व्याख्या के अनुसार चार दिशाएं सींग हैं, तीन वेद तीन पैर हैं, अहोरात्र दो सिर हैं, सात रश्मियां अथवा छः विलक्षण ऋतुएं तथा एक साधारण ऋतु सात हाथ हैं, तीन क्षित्यादि लोकों में अग्न्यादि रूप से संबद्ध है, अथवा ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त इन तीन द्वारा तीन रूपों में बद्ध है। वर्षक होने से वृषभ है तथा वृष्ट्यादि द्वारा शब्द भी करता है। प्राण, आत्मा, ब्रह्म, काव्यपुरुष, राष्ट्र आदि विषयक भी इसकी व्याख्यायें की गई हैं।

वृषभ-पाक

ऋग्वेद के दो स्थलों में वृषभ-पाक[17] का तथा अन्य दो स्थलों में उक्षा-पाक[18] का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग् १.१६४.४३ में कहीं दूर पर गोबर के उपले का धुआं दिखाई देने की चर्चा है। उसके विषय में कहा गया है कि वीरों ने उक्षा पृश्नि (चितकबरे बैल) को पकाया

---

१. ७.७९.१
२. १०.३१.८
३. १.३३.१४
४. १.३३.१५
५. ५.६३.३
६. १.१६६.१
७. १.१६०.३
८. २.३०.८
९ २.१६.८, १०.१०.१०, १०.४०.११
१०. ३.५६.३
११. ७.७९.४
१२. ८.९३.१ तथा ७
१३. १०..२८.३
१४. १०.५.७
१५. यजुः मा. वा. सं. १७.९१
१६. निरुक्त्म १३.७
१७. १०.२७.२, २८.३
१८. १.१६४.४३, १०.८६.१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, उसी का यह धुआं है :

शकमयं धूममारादपश्यं
विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।।

सायण यहां वीर का अर्थ विविध विधियां करने-कराने वाले ऋत्विग् या देव तथा उक्षा का अर्थ सोमवल्ली करते हैं। प्रमाण रूप में उन्होंने एक वचन भी उद्धृत किया है[1]। उक्षा-पाक विषयक दूसरा मन्त्र १०म मण्डल के इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद में उपलब्ध होता है। वहां इन्द्र कहता है कि मेरे लिए याज्ञिक लोग पन्द्रह और बीस उक्षाओं को पकाते हैं तथा उन परिपक्व उक्षाओं से वे मेरी दोनों कुक्षियों को भर देते है, उससे मैं खूब मोटा हो गया हूँ :

उक्षणो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमस्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।। ऋग् १०.८६.१४

इससे पूर्व के मन्त्र में भी इन्द्र द्वारा उक्षाओं के खाये जाने का संकेत है[2], जहाँ सायण ने सेचनसमर्थ पशुओं (सांडों) के भक्षण का ही भाव लिया है[3]। प्रस्तुत मन्त्र में भी वह उक्षा का अर्थ पशु ही लेता है[4]। पर वस्तुतः यहां भी प्रकरणानुसार उक्षा का अर्थ सोम ही संगत ठहरता है। सूक्त के प्रारंभ में इन्द्र की पुत्रवधू वृषाकपायी ने इस बात पर रोष व्यक्त किया है कि याज्ञिक लोग सोमरस तो खूब अभिषुत करते हैं, पर उसे वे इन्द्र को नहीं पिलाते, जबकि वृषाकपि सोम पीकर आकण्ठ तृप्त हो जाता है[5]। १३वें मन्त्र में वृषाकपायी की उसी आपत्ति का उत्तर दिया गया है कि तुम चिन्ता न करो, अब तुम्हारे श्वसुर इन्द्र को बहुत से सोमरस (उक्षा) पान करने मिलेंगे।[6] अतः १४वें मन्त्र में इन्द्र जिन १५ और २० पके हुए उक्षाओं को खाने की बात कर रहा है, वे सांड नहीं, प्रत्युत परिपक्व सोम के ही १५ और २० पात्र हैं। अन्यथा आपत्ति तो हो सोमरस न मिलने की और उसका परिहार किया जाये सांड खिलाकर, यह सर्वथा विसंगत प्रतीत होता है। अतः जैसे सायणाचार्य पूर्वोल्लिखित प्रसंग में उक्षा पृश्नि का अर्थ सोमवल्ली करते हैं, वैसे ही यहां भी करना उचित है। ऋग् ९.८६.४३ में तो 'उक्षणं पशुम्' शब्द आये हैं, तो भी सायण ने वहाँ बैल या सांड अर्थ न लेकर सोम अर्थ ही किया है, भले ही वहां उसे पशु का अर्थ द्रष्टा करना पड़ा है।

निम्न मन्त्र में वृषभ के पाक का प्रसंग है। वसुक्र इन्द्र से कह रहा है कि जब मैं शरीर से पुष्ट होते हुए अदेवयु (अयाज्ञिक) लोगों को युद्ध के लिए ललकारूंगा तब आपके लिए मैं मोटा-ताजा वृषभ पकाऊंगा और उसमें तीव्र अभिषुत पन्द्रहवें सोम को भी सिंचित करूंगा :

यदीदहं युधये संनयानि
अदेवयून् तन्वा शूशुजानान् ।
अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि
तीव्रं सुतं पञ्चदशं निषिञ्चम् ।।
ऋग् १०.२७.२

यहाँ भी सायण ने वृषभ का अर्थ सेचनसमर्थ पुंपशु (सांड) किया है। किन्तु वस्तुतः यह वृषभ भी सोम ही है। चौदह सोमपात्रों का एक पात्र में एकत्र किया हुआ सोम 'वृषभ' है, जिसे पकाया जाता है तथा उसमें पन्द्रहवें पात्र का सोमरस भी निषिक्त कर दिया जाता है।

अगले ही सूक्त में फिर वृषभ-पाक आता है :

अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान्
सुन्वन्ति सोमान् पिबसि त्वमेषाम् ।
पचन्ति ते वृषभां अत्सि तेषां
पृक्षेण यन्मघवन् हूयमानः ।। ऋग् १०.२८.३

वसुक्र इन्द्र से कह रहा है कि यजमान आपके लिए

१. सोम उक्षाभवत् पूर्वं तं देवाः शकृतापचन् ।
यज्ञार्थे तद्भवो धूमो मेघ आसीत् तदुच्यते ।।
२. घसत् त इन्द्र उक्षणः । १०.८६.१३
३. इन्द्रः उक्षणः सेचनसमर्थान्···पशून् घसत् प्राश्नातु ।
सायण
४. उक्षणः वृषभान् । सायण
५. विहि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा ।।
६. वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविः ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मदजनक त्वरित सोमों को ग्रावाओं से अभिषुत करते हैं तथा आप उनका पान करते हैं। वे आपके लिए वृषभ पकाते हैं तथा आप उनका भक्षण करते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में वसुक्रपत्नी ने ये उद्‌गार प्रकट किए हैं कि यज्ञ में अन्य सब देव तो आ गये, किन्तु मेरे श्वसुर इन्द्र नहीं आये, यदि वे आते तो धाना (भुने जौ) खाते और सोम पीते तथा पूर्णतः तृप्त हो कर घर जाते[1]। वे बैल या सांड खाते, ऐसा उसने नहीं कहा है। इतने में ही इन्द्र आ जाता है। तब वसुक्र ने उक्त तृतीय मंत्र का उच्चारण किया है कि आपके लिए सोमरस तथा वृषभ तैयार हैं। इस प्रसंग को देखते हुए यहाँ वृषभ का अर्थ धाना (यव) लेना ही उचित है। इन्द्र के अन्न का भी वृषभ नाम है, यह हम पहले देख चुके हैं। एवं 'पचन्ति ते वृषभान्' का अर्थ होगा कि आपके लिए यवों को भूनते हैं। अथवा पूर्ववत् वृषभ का अर्थ सोमवल्ली भी ले सकते हैं। इन्द्र सोमपान करता है तथा सोमवल्ली की पकाई हुई डंठलों का भक्षण करता है। इसी सूक्त में ११वें मन्त्र में उक्षा-भक्षण का उल्लेख आया है—'सिम उक्षणोऽवसृष्टाँ अदन्ति', जहाँ सायण ने उक्षा का सोम अर्थ ही लिया है[2]।

यह भी द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही इन्द्र का भोज्य धाना (भुने जौ), करम्भ (दही मिश्रित सत्तू), और पुरोडाश (अपूप) है तथा पेय सोमरस है[3], बैल उसका भोजन नहीं है। अतः वृषभ तथा उक्षा शब्दों को देखते ही तुरन्त बैल को पकाने की कल्पना कर लेना वेद के प्रति न्याय नहीं होगा। इन्द्र जिन परिपक्व वृषभों तथा उक्षाओं को खाता है वे भुने जौ, पुरोडाश या सोम ही हैं, बैल का मांस नहीं। वेद में इन्द्र को पुरोडाश तथा परिपक्व सोम भेंट करने की ही महिमा लिखी है[4], बैल खिलाने की नहीं।

उक्षा की आहुति

ऋग्वेद में चार बार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अग्नि में उक्षाओं की आहुति का उल्लेख आता है[5]। निम्न मन्त्र विशेषतः द्रष्टव्य है :

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो
वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे
हृदा मतिं जनये चारुमग्नये॥ ऋग् १०.९१.१४

यहाँ अश्व, वृषभ, वशा और मेष पशुओं के साथ उक्षा भी उल्लिखित है, और अग्नि का विशेषण सोमपृष्ठ पृथक् पठित होने से यहां उक्षा का अर्थ सोम भी नहीं हो सकता। परन्तु वस्तुतः इन पशुओं की अग्नि में आहुति अभिप्रेत नहीं है, अपितु ये पशु अग्नि को समर्पित कर सार्वजनिक हित के लिए उत्सर्ग कर दिए जाते हैं। मन्त्र में पठित 'अवसृष्टासः' पद इसी बात का ज्ञापक है। एक मन्त्र में यह भी कहा गया है कि अग्नि के लिए जो हम मन्त्रपूर्वक हृदय से संस्कृत हवियाँ देते हैं वे ही उक्षा, वृषभ और वशा हैं[6]। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि अग्नि केवल पार्थिव अग्नि ही नहीं है, अपितु उत्तर ज्योतियाँ विद्युत् और आदित्य भी अग्नि हैं[7]। सूर्य रूपी अग्नि के लोक द्यौ में अश्व, वृषभ, मेष आदि नामों वाले नक्षत्रपुंज आहुत करके छोड़े हुए हैं, यह भी मन्त्र का आशय हो सकता है। वेद में अग्नि का भोजन अश्व, वृषभ आदि पशु नहीं हैं, किन्तु समिधा और घृत ही

---

१. विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम ममेदह श्वसुरो नाजगाम। जक्षीयाद् धाना उत सोमं पपीयात् स्वाशितः पुनरस्तं जगायात्॥ १०.२८.१

२. उक्षणः अवसृष्टान् इन्द्रेण निसृष्टाननुज्ञातान् हविर्भूतान् सोमान् यज्ञेषु अदन्ति भक्षयन्ति। सायण

३. द्रष्टव्य : ऋग् ३.५२, जिसमें तीनों सवनों का पृथक्-पृथक् इन्द्र का भोज्य उल्लिखित है।

४. ऋग् ८.३१.१-४

५. २.७.५, ६.१४.४७, ८.४३.११, १०.९१.१४

६. ६.१६.४७

७. अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते। निरुक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है[1]। अतः अग्नि में पशुओं का होम करना निःसन्देह अवैदिक है।

उपसंहार

इस प्रकार हमने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद के वृषभ और उक्षन् शब्द, जो लोक में प्रायः बैल अर्थ को देते हैं, कितने विभिन्न अर्थों को अपने अन्दर गृहीत किये हुए हैं। अधिकतर हमने इस लेख में ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही विचार किया है। स्वयं ऋग्वेद ही जिन अग्नि, इन्द्र, सोम, सूर्य आदि को स्पष्ट रूप से वृषभ या उक्षा कहता है, उन्हीं को हमने लिया है। ये वृषभ या उक्षा शब्द से वाच्य अग्नि, इन्द्र आदि कौन हैं, इस विषय को यहाँ नहीं छेड़ा गया है। इन अग्नि, इन्द्र आदि की आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से व्याख्यायें करने पर उनके लिए प्रयुक्त वृषभ और उक्षा शब्दों के अर्थ भी तदनुसार हो सकते हैं। जो स्थिति वृषभ एवं उक्षा शब्दों की है वही बैलवाची वृष, अनड्वान्, वृषभ आदि शब्दों की भी है। अथर्ववेद में प्राण को अनड्वान् कहा गया है[2]। अनड्वान् द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष को तथा छहों दिशाओं को एवं सम्पूर्ण भुवन तक को धारण करता है, यह भी वर्णित हुआ है[3]। यह कार्य साधारण बैल पशु नहीं कर सकता। एवं वैदिक शब्द अपने अन्दर अनेक विशिष्ट अर्थों को गृहीत किये हुए हैं। वेदव्याख्याकार को वैदिक शब्दों का यह वैशिष्ट्य अवश्य ध्यान में रखना होगा। अन्यथा वह वेद के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। वृषभ-पाक तथा वृषभ-होम की चर्चा अभी की जा चुकी है। वैदिक शब्दों के रहस्य को न समझने से उन प्रकरणों का कैसा अनर्थ किया गया है। वैदिक शब्द-प्रयोग की शैली से अनभिज्ञ होने का ही यह परिणाम है कि आज अनेक पाश्चात्त्य तथा एतद्देशीय विद्वत्कोटि के व्यक्ति भी वेदों के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण विचार रखते हैं। इस लेख में वृषभ और उक्षा शब्दों के अर्थ पर विचार कर हम इसी बात पर प्रकाश डालना चाहते हैं कि वेद के किसी शब्द का क्या अर्थ है इस विषय में सर्वप्रथम प्रमाण स्वयं वेद ही है। वेद में कोई शब्द कहाँ-कहाँ किस अर्थ में आया है, इसका विचार करते हुए यदि हम वैदिक शब्दों का तथा वैदिक प्रकरणों का अर्थानुसन्धान करेंगे तभी वेद के साथ समुचित न्याय हो सकता है।

रीडर, संस्कृत-विभाग
गुरुकुल विश्वविद्यालय
हरिद्वार

—|—

१. द्रष्टव्य : २.७६, ७.३.१, १०.६९.२
२. अथर्व. ११.४.१३
३. अथर्व. ४.११.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर की दार्शनिक मान्यताएँ

डा० विष्णुदत्त राकेश

पुष्टि सम्प्रदाय में सम्मिलित होने से पूर्व सूरदास शैव थे या हरिदासी सम्प्रदाय के सखी भावोपासक भक्त, प्रामाणिक रूप से कह सकना कठिन है। किन्तु वार्ता सम्प्रदाय तथा बल्लभ सम्प्रदाय सम्बन्धी साहित्य के अनुशीलन द्वारा यह असन्दिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि वह पुष्टि मार्ग के जहाज थे। पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैत दर्शन सूर के जीवन काल का ख्याति लब्ध दर्शन था। इसका प्रमाण १५६५ वि० में सम्पन्न होने वाले विद्यानगर शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने पर राजा कृष्ण देवराय द्वारा आचार्य श्री का कनकाभिषेक वाला वृत्तान्त है। इसी शास्त्रार्थ में आचार्य बल्लभ ने शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद का प्रतिपादन करते हुए मायावाद का खण्डन किया। इस अभूतपूर्व ख्याति लाभ के उपरान्त दक्षिण यात्रा से लौटते हुए १५६८ वि० के लगभग आचार्य बल्लभ से सूरदास का साक्षात्कार हुआ। इसी भेंट में उन्होंने दीक्षा प्राप्त की। दीक्षा के बाद सूर की भक्ति पद्धति स्थिर हुई और वह सगुण स्वरूप के समर्थक तथा भगवदनुग्रह पद्धति के प्रबल पोषक हो गये। उनकी दार्शनिक मान्यताओं और भक्ति पद्धति पर आचार्य वल्लभ की गहरी छाप पड़ी और अपने अभिनिवेश के कारण अष्ट छाप के कवियों में शुद्धाद्वैत दर्शन के वह प्रथम अग्रदूत सिद्ध होते हैं।

पुष्टिमार्गी सेवा पद्धति तथा शुद्धाद्वैत दर्शन:,

आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म सूत्र तथा श्री मद्भागवत् पर क्रमश: अणुभाष्य एवं सुबोधिनी लिखकर सगुण भक्ति समर्थक विष्णु स्वामी सम्प्रदाय तथा निर्गुण साधना मूलक अनुग्रह सम्प्रदाय की समंजस सेवा भक्ति का प्रवर्तन किया। ब्रह्म सम्बन्ध को लेकर ब्रह्म सूत्रों के वैष्णव भाष्यों में एक विलक्षण तत्त्व चिन्तन का प्रभाव आचार्य वल्लभ पर दिखाई देता है। औपनिषद् परतत्त्ववाचक ब्रह्म, वेदान्ताभिमत तथा सांख्याभिमत दोनों हैं। इस संबंध में ब्रह्मसूत्रकार का समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। आचार्य वल्लभ ने स्वरूपत: केवल परतत्त्व ब्रह्म को ही एक मात्र तत्त्व माना है। वही अपने को जगद्रूप में परिणत करता है। परतत्त्व सच्चिदानन्द है। अत: "आनंदमयोऽभ्यासात्"[1] जैसे सूत्र की व्याख्या करते हुए आनन्दमय को आनन्द का हेतु कहा गया है। आनन्दमय आनन्द का विकार नहीं अपितु आनन्द का मूल होने के कारण प्रचुरानन्द पूर्ण है। आनन्दमय इतर जीव नहीं हो सकता। परतत्त्व सच्चिदानन्द ही जब अपने एक अंश में आनन्द का तिरोभाव कर देता है तब उक्त अंश को चिदंश या जीव समष्टि कहते हैं और जब दूसरे अंश में आनन्द और चित् दोनों का तिरोभाव कर देता है तब वह अंश जड़ तत्त्व हो जाता है। इस प्रकार परतत्व ही स्वयं चेतनाचेतनात्मक जगत् के रूप में परिणत होने के कारण जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।[2] तात्पर्य यह है कि माया सम्बन्ध रहित और जगत् के अद्वैत के कारण एक मात्र तत्त्व ब्रह्म है और जड़ जीवात्मक जगद्रूप कार्य भी ब्रह्म है। अत: दोनों का अद्वैत है। ब्रह्म जीवभाव को अविद्या या माया के कारण प्राप्त नहीं हुआ। वह अपनी इच्छा

१. ब्रह्म सूत्र १।१।१३,

२. ब्रह्म सूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, डा० रामकृष्णआचार्य पृष्ठ २१६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है चित् और आनन्द भाव का तिरोधान कर जड़ और जीव का हेतु बनता है। वह जब चाहे जड़ और जीव में उक्त गुणों का अविर्भाव कर सकता है। अविकृत परिणामवाद की कल्पना वल्लभ ने यहीं की। परब्रह्म के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रूप स्वीकार करते हुए उन्होंने एक ओर आध्यात्मिक रूप में अक्षर ब्रह्म स्वरूप की कल्पना की तथा उसे ज्ञान लभ्य और ज्ञानि-प्राप्य बताया तो दूसरी ओर आधिदैविक रूप को साकार पुरुषोत्तमरूप, भक्तिलभ्य तथा भक्त-सेव्य बताया। सूरदास ने सारावली में ब्रह्म का निरूपण इसी साम्प्रदायिक मान्यता के आधार पर किया है—

सोभा अमित अपार अखण्डित आप आतमाराम,
पूरन ब्रह्म प्रगट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम।
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प आहार,
ओंकार आदि वेद असुरहन निर्गुण सगुन अपार।
अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनाशी,
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक विलासी।
सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल,
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सब है अंश गुपाल।

ब्रह्म का आधिदैविक रूप ही सगुण लीला रूप है। श्रीमद्भागवतोक्त लीलातत्त्व पौराणिक तत्त्व है जिसे वैष्णव भक्ति साहित्य में सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ है। लीलावतार में विभिन्न रूपों में भगवान का दर्शन लाभ होता है, लीला की प्रमुखता का एक हेतु यह भी है, उनकी लीला अमोघ है। लीला से ही संसार की रचना, पोषण और संहार होता है। इतने पर भी लीलावतारी उसमें लिप्त नहीं होते।[1] आचार्य वल्लभ के उपास्य श्री कृष्ण एक ओर स्वधामगत् नित्य लीला करते हैं तो दूसरी ओर अवतार कालीन जगत्प्रवत्ति रूप बाह्य लीलायें भी करते हैं। श्री कृष्ण का उज्ज्वल रस मण्डित रूप लीलातत्त्व की समग्रता को प्रकाशित कर सकने के कारण ही ग्राह्य है।[2] इन लीलाओं के साधनागत हेतुओं पर विचार करते हुए आचार्य वल्लभ ने सुवोधिनी रास प्रकरण में स्पष्ट लिखा है—

ब्रह्मानन्दात्समुध्दृत्य भजनानंद योजने,
लीलायायुज्यते सम्यक् सातुर्येविनिरुप्यते।।

समग्र जगत् को परमात्मा की बाह्य लीला मानकर, अन्तरंग लीलाधाम में रमने वाले भक्तों के लिये लीलातत्त्व का महत्त्व व्याख्या से परे है। इसीलिये महात्मा सूर विनय की सामान्य भक्ति को छोड़कर सारावली में लीलागान के लिये प्रतिश्रुत हुए।

श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौं, लीला भेद बतायौ
तादिन ते हरिलीला गाई एक लक्ष पद बन्ध।

इस प्रकार अन्तरंग लीलातत्त्व उनके आनन्द रूप की अभिव्यक्ति के कारण वैष्णव सम्प्रदाय में मान्य हुआ है। परमानन्द के नित्य विलास का पृथ्वी पर अवतरण इसी माध्यम से होता है। आधुनिक विद्वान् लीलातत्त्व के प्रतीकार्थ की अनेक व्याख्या करते हैं। पर चिदंश और सदंश के अभावगुण आनदांशं की अभिव्यक्ति के लिये ही लीलातत्त्व की प्रतिष्ठा की गई है। सारावली का साक्ष्य भी है—

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप,
कोटि कल्प बीतत नहिं, जानत विहरत युगलस्वरूप।

भगवान का लीलाधाम उसका स्वरूपगत अंश होने के कारण माया शक्तिजन्य संसार के गुणात्मक रूप से भिन्न होता है। अन्य माधुर्य रस निरूपक आचार्यों से सूर का वृन्दावन धाम व्रजधाम का तात्पर्यवाची होकर पृथक् रूप में आया है। स्वयं वल्लभ ने अणु भाष्य ४।२।१५ में गोकुल को वैकुण्ठ से अधिक महत्त्व दिया है—

---

1. सवा इदं विश्वममोघलीलः, सृजत्य वत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्। श्रीमद्भागवत् १।३।३६

२. आनन्द मात्र कर पाद मुखोदराधिः।
तत्त्वार्थ दीप निबन्ध पृष्ठ ८५,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूरसागर के दशम् स्कन्ध में लिखा है—

वृन्दावन व्रज को महतु कापै बरन्यो जाई,
चतुरानन पग परसि के लोक गयो सुखपाई।

वल्लभ सम्प्रदाय के गंभीर अन्वेषक डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार भी व्रजभूमि रस रूप भगवान के लीला-धाम गोलोक या गोकुल का ही अवतार है।[1] वृन्दावन बिहारी की लीला भूमि के प्रति अगाध आसक्ति का निरूपण इसी प्रकल्पना के कारण सूर ने सूरसागर की इन पंक्तियों में किया है—

नैननि की छवि यहै चतुर सोइ जो मुकुन्द दरसन हित धावै।
करतेई जु स्याम को सेवै चरननि चलि वृन्दावन जावै॥

ब्रह्म के अतिरिक्त शुद्धाद्वैत दर्शन में जीव को चिदंश होने के कारण सत्य माना गया है। अग्नि से विच्छुरित होने वाली चिंगारी की तरह जीव में भी ब्रह्म की सत्ता रहती है। जीव अणु है व्यापक विभु नहीं। तिरोहितानंद होने के कारण अज्ञान गम्य है। कर्म सापेक्षता के आधार पर जीव कोटियां निर्धारित होती हैं—सूरसागर कार के शब्दों में—

जिय करि कर्म जन्म बहुपावै,-फिरत फिरत बहुतै श्रम आवै।
ज्ञानी सदा एक रस जानै, तन के भेद भेद यहि मानै।
आत्म अजन्म सदा अविनासी, ताको देह मोह बड़ फांसी।

अविद्या ग्रस्त जीव संसारी अवस्था में कष्ट उठाते हैं पर पुष्टि मार्गी जीव भगवत्कृपा से ब्रह्मभाव के उदय पर व्यापकत्व पा जाते हैं। सूत्रकार ने यद्यपि जीव का परतत्त्व से स्वरूप भेद प्रतिपादित किया है तथा रामानुज, निम्बार्क एवं बलदेव ने भी अंशतत्त्व की व्याख्या इसी आलोक में की है। किन्तु वल्लभ का जीव विषयक मत अनुग्रह सिद्धान्त की कल्पना के कारण भक्ति तत्त्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है, दार्शनिक दृष्टिसे भले ही वह वैमत्य का विषय हो। जीवोपकरणों में इन्द्रिय, प्राण और मन को भी आचार्य वल्लभ स्वरूपतः उत्पन्न नहीं मानते। "यावद् विकारं तु विभागोलोकवत्" की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्वरूपतः सब कुछ ब्रह्म ही माना है तथा जीवतत्त्व और जड़ तत्त्व को परतत्त्व के आधीन माना है। कारण और कार्य वह दोनों है—सूर की निम्न पंक्तियों में इसी आशय की अभिव्यक्ति हुई है—

प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद बतायो
गोपी ग्वाल कान्ह दुइ नाही ये कहुं नेक न न्यारे।

ब्रह्म और जीव के अतिरिक्त आचार्य वल्लभ ने जगत् के स्वरूप पर भी विचार किया है। तैत्तरीयोपनिषद् के साक्ष्य पर वह जगत् का कारण भी आनन्द को मानते हैं। जगत् ईश्वरेच्छा जन्य है और जीव की अविद्या रचना संसार है। जगत् नित्य है संसार अनित्य। तत्त्वार्थ दीप निबन्ध में कहा गया है।—

"तस्माद्देतोरस्य भगवतः शक्त्या अविद्यया जीव संसार उच्यते न तु जायते, अभिमत्यात्मकत्वात्, असत्त्वेनास्यगणनात्। अज्ञानं, श्रमः आदित्यादिशब्दा अहमेतिरूपे संसारे एव प्रवर्तन्त न तु प्रपंच इत्यर्थः तस्य ब्रह्मात्मत्कवात्।"

महाकवि सूर ने जगत् और संसार का यह सम्प्रदाय सिद्ध भेद अपने सामने रखा है। ब्रह्म रूप जगत् विषयक उनकी उक्ति है—

खेलत-खेलत चित में आई सृष्टि करन विस्तार,
अपनु आपु करि प्रगट कियो है हरि पुरुष अवतार।
कीने तत्व प्रगट ते ही छन सबै अष्ट अरु बीस।

ममतात्मक संसार की कल्पित सत्ता के सम्बन्ध में उनका दृढ़ मत है—

मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया,
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि विसराया।

ब्रह्म सूत्र में परमनिः श्रेयस या मुक्ति को अन्तिम लक्ष्य स्वीकार कर उसकी प्राप्ति का उपाय ब्रह्म विद्या

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—पृष्ठ ४०५, अणुभाष्य-२।३।१६।४३
२. विस्फुलिलंगा इवाग्नेर्हि जड़ जीवा विनिर्गताः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बताया गया है। आचार्य जैमिनी के मत का प्रतिवाद करते हुए सूत्रकार ने विद्या को कर्मांग न मानकर स्वतन्त्र साधन माना है एवं "विकल्पो विशिष्ट फलत्वात्" (३।३।५७) की व्याख्या में उसके व्याख्याकारों ने सर्वथा भिन्न दृष्टि अपनाई है। आचार्य वल्लभ ने भी मर्यादा मार्ग तथा पुष्टि मार्ग के भेद से नई व्यवस्था की है। पुष्टि मार्गीय भक्ति में ब्रह्म सम्बन्ध अथवा आत्म निवेदन का प्रमुख स्थान है। इसमें आचार मार्ग का निरूपण है, अनुग्रह तत्त्व की प्रतिष्ठा है तथा सेवा परिचर्या की प्रमुखता है। भक्त की स्वत्व सहित सर्वात्मना समर्पित चेतना का प्रकटीकरण ही इसका लक्ष्य है। गोस्वामी हरिराय जी ने पुष्टिमार्ग-लक्षणानि शीर्षक श्लोकों में स्पष्ट कहा है—

अनुग्रहणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी,
न यत्नातन्यथा विघ्नः पुष्टि मार्गः सकथ्यते।

महाकवि सूर ने भी अष्टयाम सेवा तथा अनुग्रह मार्ग पर पर्याप्त छन्द लिखे। यहाँ पर पुष्टि भाव के पोषणार्थ "चरन कमल बन्दौ हरिराई" तथा "जापर दीनानाथ ढरै" जैसी छन्दों की शीर्ष पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं।

आचार्य वल्लभ ने जीवों के आनन्द भोग में ब्रह्म का आनन्द भोग माना है। यह आनन्द की उपलब्धि पुष्टि मार्गीय भक्तों को ही होती है, ज्ञान मार्गी भक्तों को नहीं।[1] आनन्द भोग की प्रक्रिया में भगवदनुग्रह से पुष्टि की प्राप्ति तथा लीलामय भगवत्साक्षात्कार की प्राप्ति की चर्चा उन्होंने की है। विभूतिमय विग्रह के दर्शन से भक्त प्रेम रूपा तीव्ररति का अनुभव करता है। भगवत्कर्तृक भोग्य लीला के अनुप्रवेश से भक्त रसास्वाद करता है, इन्द्रिय सुख का स्पर्श यहाँ नहीं होता।[2] लीलामय कृष्ण की रसमयता का साक्षात्कार ही मुक्ति है। महाकवि सूर ने कालमायातीत लीलारस की महत्ता का निरूपण करते हुए कहा है—

"मायाकाल कहूं नहि व्यापै यह रस रीति सो जानै"

मुक्ति के स्वरूप भेद पर भी सूरदास ने विचार किया है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य जैसे चार भेदों की चर्चा उन्होंने सिद्धान्ततः तथा व्यवहारतः की है। लीलाधाम निरूपण के प्रसंग में सालोक्य, चरणारविन्द लाभ के उछाह में सामीप्य, शृंगार-छवि-निरूपण में सारूप्य तथा विविध वियोग दशाओं में सायुज्य की व्यावहारिक व्यंजना महाकवि सूर ने कराई है। निम्न पद में गोपी के विरह भाव में मुक्ति के चारों प्रभेदों का विनियोग हमारे कथन को पुष्ट करता है।

ऊधो सूधौ नैकुं तिहारौ।
हम अबलनि को सिखवन आए सुन्यो सयान तिहारौ।
निरगुन कहो कहा कहियत है, तुम निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौ मुक्ति लही हम चारी।
हम सालोक्य सरूप सायुजो रहति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरै तुम अलि बड़े अदाई।

वल्लभ दर्शन में उपास्य भाव तथा रस-तत्व :

आचार्य वल्लभ ने भक्ति-भाव के परिप्रेक्ष्य में ही अपनी दार्शनिक मान्यतायें स्थिर की। अवतारवाद और हरिलीला तत्त्व के अनुप्रवेश से वैष्णव भक्ति-साधना ब्रह्मभाव की सिद्धि में निर्गुण भाव की अपेक्षा अधिक उपयोगी और सार्वजनीन सिद्ध हुई। यही कारण है कि आचार्य श्री ने भक्ति के प्रचलित सभी प्रकारों का विचार बिना किसी आग्रह बद्ध दृष्टि से किया। उपासना क्रम में गृहीत भाव वैविध्य के औचित्य-निरूपण के मूल में भी यही उदारवादी धारणा काम कर रही थी। डा० हरवंशलाल शर्मा ने परमानन्द सागर की भूमिका पृष्ठ २३ पर वल्लभ सम्प्रदाय का उपास्य भाव वात्सल्य माना है,

---

१. ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेनाक्षर ब्रह्माप्राप्तिः पुष्टि-मार्गीयस्य भक्तस्य तु सोश्नुत इत्यनेनोक्ता पर प्राप्तिरिति। अणु भाष्य ४।४।५।११.

२. लीलाया कालमायाद्यतीतत्वेप्न प्राकृतं जगत् दूरतरमितोपि हेतोर्न तत्संभवः। अणुभाष्य ४।४।५।१७.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु सख्य और माधुर्य का आत्यन्तिक निषेध भी यहाँ नहीं है। प्रभुदयाल मीतल ने अष्टछाप परिचय पृष्ठ १३१ पर स्पष्ट लिखा है कि सख्य वात्सल्य की तरह कान्ता भक्ति भी वल्लभाचार्य को मान्य थी। राधाभाव की पूर्ण प्रकल्पना के अभाव में यद्यपि माधुर्य की वैसी प्रतिष्ठा वल्लभ सम्प्रदाय में नहीं हो पाई जैसी अन्य सखी भावोपासना प्रधान साधना पद्धतियों में रही। गुसाँई विट्ठलनाथ कृत "गुप्त रस ग्रन्थ" में बाल भाव और माधुर्य भाव का गुणीभूत रूप इसीलिये परिलक्षित होता है, वैष्णवाचार्यों के द्वारा पुराणोपजीवी साहित्य साधना को स्वीकृति मिल जाने पर गोपीतत्त्व, सम्प्रदाय और साहित्य दोनों ही धाराओं में अपनाया गया। लीलास्मरण की उपासना भी पुराण सम्मत है।[1] विद्वन्मंडन नामक ग्रन्थ में वल्लभ के लिये गोपीपति रतिमार्ग प्रवर्तक विशेषण का उपपन्न होना इसी तथ्य का पोषक है। श्री बालकृष्ण भट्ट ने प्रमेय रत्नार्णव में गोपियों के आचार-भाव की विविध भूमिकाओं का पुष्टिमार्ग की २० परिभाषाओं में संश्लेष प्रस्तुत किया है। अतः मधुरलीला विषयक भावोपासना तथा तत्सम्बन्धी साहित्य प्रणेता अष्ट छाप के कवियों में मधुरभाव विषयक पदों का आधिक्य देखकर उसे सम्प्रदायेतर वस्तु नहीं समझना चाहिये। डा० देवीशंकर अवस्थी का यह मन्तव्य इस संबंध में अधिक सही है कि वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के बाल रूप की प्रतिष्ठा अवश्य है एवं सूर ने वात्सल्य सम्बन्धी प्रचुर एवं उत्तम साहित्य की रचना भी की परन्तु फिर भी वल्लभ सम्प्रदाय में (हरिदासी प्रभाव के कारण) मधुर भाव की साधना ही बढ़ती गई। स्वयं सूर ने अपने अन्तिम पद में युगलरूप में ही अपनी चित्त वृत्ति के रमे रहने का संकेत किया है।[2]

अष्टछाप के कवियों का वृन्दावन की रसोपासना से प्रभावित होने का विवरण 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'निजमत सिद्धान्त' जैसे ग्रन्थों से भी हो जाता है। सूर की "हरिरस वृन्दावन ते आया" उक्ति उक्त प्रभाव की अन्तः साखी भरती है किन्तु यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वल्लभ सम्प्रदाय का गोपीभाव सूर के साधनामत उत्कर्ष का बीजभाव है जो बालभाव की परिधि में ही स्फुरित हुआ है। श्रीकृष्ण की व्रज-लीलाओं के प्रामुख्य के कारण राधा के कैंकर्य की अपेक्षा यहाँ सम्पोषित सखा साम्य कोटि का माधुर्य है। इसीलिये सहचरी भाव प्रधान नित्य संयोग सुख की अपेक्षा विरह प्रधान व्याकुलता का उत्कठारस ही यहाँ सर्वत्र दिखाई पड़ता है। भ्रमर गीत विषयक पदों का व्यावहारिक साधनागत बीज भाव यही है और पलकान्तर का वियोग-जन्य उत्ताप न सह सकने वाली अन्तः परिशोषित लतिका गोपी से सूर के साधक कवि के अनन्य एकात्मभाव का रहस्य भी यही है। डा० शरण बिहारी गोस्वामी ने सेवा और अधिकार भाव के भेद से वल्लभ सम्प्रदाय के सखी भाव को गोपीभाव का ही व्यापक रूप स्वीकार किया हैं। उनका कथन है कि "व्रजलीलाओं के आधार के कारण इस सम्प्रदाय का गोपीभाव व्यापक हो गया है। सूर प्रारम्भ में तो वल्लभाचार्य के सम्पर्क में थे तब तक बाललीला का वर्णन विशेष रूप से करते रहे परन्तु बाद में वृन्दावन का रंग लगने पर उन्होंने अपने को सखीभाव के कवियों के रूप में ढाल दिया। इन कवियों के अन्तिम जीवन की रचनायें प्रायः राधा की प्रधानता को सिद्ध करने वाली सखी भाव सम्बन्धी रचनायें हैं। यह उनके जीवन का एक विकास क्रम है जो महत्वपूर्ण है।"[3] अस्तु निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भक्ति साधना में पुरुष भाव के भंग हो जाने पर सहज नारी भाव की उत्पत्ति ब्रह्मभाव साधन का सर्वोपरि अंग कहा जा सकता है। साधन-क्रम में यह भावातिरेकपूर्ण चर्या है जहाँ प्रेम के स्फुरण से देह भाव बिसर जाता है। रस रीति की प्रक्रिया यहीं से प्रारम्भ होती है। जिसकी कोई अवधि

---

१. अनुग्रहस्य भक्तानां मानुषं देहमस्थितः,
भजते तादृशीं क्रीड़ायां स्मृत्वा तत्परो भवेत्।
श्रीमद्भागवत् १०।३३।३७.

२. १८ वीं शती के व्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति पृष्ठ १०७

३. कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव पृष्ठ ६५०,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है जिस पर काल का कोई नियंत्रण नहीं है। सारावली और सूरसागर के माधुर्य बोझिल अधिकांश पद इसी प्रक्रिया के समर्थन में लिखे गये हैं। सूर सागर के इस पद में श्रुतियों को रस रूप कृष्ण से उपदेश दिलाते हुए भक्त सूर ने भी मानो अपनी स्वीकृति की अन्तिम छाप लगा दी है—

तबै ऋचा है गोपिका हरि सो कियौ विहार,
जो कोई भरता भाव करि हरि पद ध्यावै।
नारि पुरुष कोउ होय सोइ श्रुति ऋचा गति पावै।
तिनकी पद रज जो कोउ वृन्दावन भुवि माहीं,
परसै सो गोपिका गति लहै संसै नाहीं।

अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ब्रह्मसूत्र की सांख्याभिमत परम्परा के प्रभाव के कारण सूर के प्रेरणा स्रोत आचार्य वल्लभ ने प्रकृति-पुरुष की एकात्म भावना को भागवतोक्त गोपीभाव में भक्तिवाद के आग्रह के कारण पुरस्सरित किया। गोपीभाव से गोपीदेह प्राप्ति के सूत्र भी विष्णुपुराण, पद्मपुराण तथा बृहद वामन पुराण से प्राप्त हुए। यामुनाचार्य के "आगम प्रमाण्य सिद्धि के फलस्वरूप" तन्त्र साहित्य की युग्म पूजा का प्रभाव भी भक्ति निरूपक आचार्यों पर पड़ा। इसी आलोक में रुद्रयामल, कृष्णयामल तथा गौतमीतन्त्र का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी योषितभाव की सिद्धि के लिये उत्तरदायी माना जाना चाहिये। यही कारण है कि ब्रह्मसूत्र के निः श्रेयस अभ्युदय आचार निरूपक सूत्रों की व्याख्या में वल्लभ कृत पुष्टिमार्ग का समर्थन मूल ग्रन्थकार तथा अन्य वैष्णवाचार्यों के भाष्य से मेल नहीं खाता। औपनिषदिक् मधु-विद्या की परम्परा तथा शक्ति-शक्तिमान् की सांख्याभिमत परम्परा का सम्मिश्रण यहीं हुआ। अतः सूर और उनके सम्प्रदायगत सिद्धान्त और उपास्य भाव की मीमांसा करते हुए हमें ब्रह्म सूत्र के अणुभाष्य की प्रक्रिया तथा पुराण सम्मत लीलातत्व का गंभीर अनुशीलन करना चाहिये तभी हम वल्लभ और सूर द्वारा प्रस्तुत ब्रह्म परतत्त्व अवतारवाद तथा लीलारस की धारणा में संगति बैठा सकेंगे।

हिन्दी-विभाग
गुरुकुल विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगन्मिथ्यात्ववाद और ब्रेडले के आभास सम्बन्धी विचार

डॉ० अभेदानन्द

ब्रेडले प्रतीयमान वस्तुओं को आभास या मिथ्या कहते हैं। प्रतीयमान वस्तुओं के अधिष्ठानरूप से जो सत्ता है उसे ब्रेडले सत् कहते हैं। ब्रेडले ने अपनी पुस्तक "एपीयरेन्स एण्ड रियलिटी" के प्रथम खण्ड में सभी प्रतीयमान वस्तुओं को तर्कों और युक्तिओं द्वारा आभास सिद्ध किया है। तार्किक बुद्धि से विचार करने पर वस्तुयें सत्य सिद्ध नहीं हो पातीं। ब्रेडले के अनुसार पूर्ण सत् कभी भी अपने में स्वव्याघातक नहीं होता।[1] इसका अर्थ ब्रेडले के अनुसार हुआ—सत् यदि सत् है तो असत् नहीं हो सकता। वह सत् ही है। यदि सत् अपने स्वरूप से विलग हो सकता तब वह सत् ही नहीं कहा जायेगा। इसके विपरीत आभास अपने अस्तित्त्व को बनाये नहीं रख पाते, कारण यह है कि आभास का अपना कोई स्वरूप नहीं है। उनका स्वरूप भी सत् का ही स्वरूप है। आभास अपने अस्तित्व से तादात्म्य नहीं रख पाते।[2]

ब्रेडले ने प्रतीयमान वस्तुओं को आभास सिद्ध करने के लिये प्रधान-अप्रधान गुण, द्रव्य और विशेषण, सम्बन्ध और गुण, दिक् और काल, गति और परिवर्तन, कारण और क्रिया, वस्तुयें अपने में, यहां तक कि आत्मा का भी विचार करके सभी को स्वव्याघातक सिद्धि किया है। उनके अनुसार ये सभी आभास हैं, न कि सत्। अप्रधान गुणों के विषय में उनके विचार हैं कि रूप रंग आदि अप्रधान गुण वस्तुगत नहीं हैं, वे अहं सापेक्ष हैं। इन्द्रियों के बिना अप्रधान गुणों की सत्ता नहीं सिद्ध हो पाती। वे वस्तुतः वस्तुओं में न होकर विषयी में हैं, अतः आभास हैं। ब्रेडले स्वतन्त्र सत्ता को ही सत् कहते हैं। अप्रधान गुण स्वतन्त्र नहीं हैं, अतः सत् न होकर आभास हैं।[3] इसी प्रकार प्रधान गुण भी सापेक्ष हैं। वे भी अपने आप में स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान नहीं हैं, अतः वे भी आभास ही हैं।[4] गुण-गुणी का सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। ब्रेडले ने शक्कर खण्ड का उदाहरण देकर समझाया है कि शक्कर मीठा है, ठोस है, श्वेत है, इन गुणों से वह विशिष्ट है, किन्तु मीठा, ठोस आदि ही शक्कर नहीं हैं। मीठा स्वयं एक गुण है, वह ठोस नहीं है श्वेत स्वयं एक गुण है, ठोस का प्रयोग श्वेत में भी नहीं हो सकता। शक्कर इन गुणों की समष्टिमात्र भी नहीं। तब वह है क्या ?[5] इस प्रकार तार्किक विश्लेषण करने पर वस्तुयें न विशेषणरूप होतीं हैं, न उनसे भिन्न रूप से सिद्ध हैं। "शक्कर श्वेत है" इस वाक्य में हम शक्कर को श्वेत कैसे कह सकते हैं ? शक्कर को उद्देश्य करके श्वेत का विधान करने पर उद्देश्य शक्कर के विषय में हमने कुछ भी कथन नहीं किया। और यदि उद्देश्य को ही विधेय में कहा जाय तब भी कुछ नहीं कहा जायेगा। इस प्रकार उभयतः पाश है। ब्रेडले के शब्दों में "यदि उद्देश्य का विधेय उससे भिन्न रखा जाय तो उद्देश्य को ऐसा बताया जायेगा जैसा

1. Ultimate reality is such that it doees not contradict itself. Appearance and Reality—P.120.Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).
2. Ibid.p.—165.
3. (Appearance and Reality) p. 10. Bradley (9th Ed., oxford 1930)
4. Ibid.—p. 15.
5. Ibid.—p. 16

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः नहीं है। इसके विपरीत यदि "विधेय उद्देश्य से भिन्न हो तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'उद्देश्य के विषय में कुछ कहा ही नहीं गया।"[1]

ब्रेडले के अनुसार विश्व में सभी वस्तुयें किसी न किसी रूप में सम्बन्धों से युक्त हैं और सम्बन्धित वस्तुओं का स्वरूप वह नहीं होता जोकि सम्बन्धावस्था में प्रतीत होता है। उन वस्तुओं का स्वरूप सम्बन्धों से परे परमसत् है। वह परमसत् सम्बन्धातीत है। फिर भी इन वस्तुओं का वही स्वरूप है।

अद्वैत वेदान्त में जिस प्रकार चित्सुखाचार्य ने तत्व-प्रदीपिका में और श्री हर्ष ने खण्डन में न्याय वैशेषिक द्वारा स्वीकृत प्रमाण प्रमेयादि का प्रत्याख्यान किया है और अनिर्वचनीयतासर्वस्व की स्थापना की है, उसी प्रकार ब्रेडले ने भी उसी पद्धति से प्रातीतिक वस्तु गुण-गुणी विशेषण-विशेष्यादि का प्रत्याख्यान किया है। इनमें उनके अनुसार किसी प्रकार की भी संगति नहीं है। जो स्वयं किसी सम्बन्ध पर निर्भरशील है उसकी सत्ता सत् न होकर प्रातीतिक है। ब्रेडले ने गुण-गुणी में सम्बन्ध के लिये जिस प्रकार सम्बन्धांतर की शृंखलारूपी अनवस्था-दोष दिखाया है,[2] उसी प्रकार अद्वैताचार्यों ने न्यायवैशेषिक के समवाय के प्रत्याख्यान में सम्बन्ध परम्परा की अनवस्था का दोष दिखाया है।[3]

ब्रेडले प्रतीयमान वस्तुओं को उक्त प्रकार से आभास सिद्ध करते हैं, और कहते हैं कि "सम्बन्ध-गुण-विशिष्ट सत् वास्तविक सत् नहीं है, अपितु आभास है।"[4] सम्बन्धों के बिना गुण नहीं पाये जाते, गुणों के बिना सम्बन्धों का अस्तित्व नहीं मिलता। इस प्रकार सभी निर्भरशील हैं, अतः स्वसत्ता से रहित, मात्र प्रातीतिक हैं।

ब्रेडले बाह्य वस्तुओं को विचार की दृष्टि से सत्ता से च्युत करके आन्तर वस्तु आत्मा (Ego) को भी प्रतीयमान कहते हैं। शरीर और आत्मा दोनों ही ब्रेडले के अनुसार आभास हैं।[5] आत्मा को जिस रूप में जानते हैं वह सम्बन्धों से विशिष्ट आत्मा है। सम्बन्धों से विशिष्ट वस्तु स्वयं सत्तावान नहीं होती, अतः इस कारण आत्मा भी आभास है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी शरीर इन्द्रिय मनोयुक्त तथाकथित सम्बन्धित आत्मा वस्तुतः अध्यस्त है। अध्यस्त आत्मा मिथ्या है।[6] स्वस्वरूप आत्मा शरीरेन्द्रियान्तः करण धर्मों से परे है जो कि ब्रह्मरूप है। जहां तक अहं की आत्मा होने की बात है वह विशुद्ध चेतनांश में आत्मा या विशुद्ध चेतन है, किन्तु अहन्तांश अध्यस्त एवं मिथ्या है, अद्वैताचार्यों ने कहा है कि कार्यस्वरूप से सदसद्रूप से निर्वचनीय नहीं है। कारणात्मना ही उसका निर्वचन सम्भव है; इसलिये कारण की ही सत्ता है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है "कारण सत्तैव कार्यस्य सत्ता न ततोऽन्या"[7] इसी प्रकार ब्रेडले के अनुसार भी सत् की सत्ता के बिना आभास की सत्ता सम्भव नहीं। आभास के विषय में 'अस्ति' का कथन भी सत् के कारण ही सम्भव है। सत् आभास नहीं, किन्तु सत् के बाहर आभास नहीं है। सत् एक होकर सर्वत्र अनुस्यूत है, अतः नानात्व को अपने में आत्मसात् किया हुआ है।[8] वेदान्त सिद्धान्तमुक्तावलीकार का भी यही कहना है कि आत्मा सत्ता ही द्वैत की सत्ता है। इसी कारण आत्मा को जान लेने पर कारण रूप से द्वैत को भी

1. Ibid—p. 17.
2. Appearance and Reality—p.18. Bradley (9th. Ed., Oxford, 1930).
3. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य भामती कल्पतरु परिमल। पृ० ५११, ५१२ निर्णयसागर, १९३८।
4. The reality so characterized, is not True reality, but is appearance—Appearance and Reality—p. 21. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930.)
5. That neither body nor soul can be more than appearance.—Appearance and Reality p. 262. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).
6. पंचपादिका। पृ० ३२। मद्रास १९५८।
7. भामती। पृ० ४४६। निर्णयसागर १९३८।
8. Appearance and Reality—p. 213. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जान लिया जाता है।[1] ब्रेडले अद्वैत के ही समान यह मानते हैं कि सत् के बिना आभास सम्भव नहीं।[2] आभास की जब सत्ता है ही नहीं तब वह बिना सत् के किसका आभास होगा ? अतः सत् की सत्ता ही आभास की सत्ता है। अभास सत् की सत्ता से सत्तावान् है, इसलिये कहा जा सकता है कि जो कुछ भी है सभी सत्य है। अद्वैत वेदान्त की "सर्वं-खल्विदं ब्रह्म" की व्याख्या भी यही सिद्ध करती है कि सत् सर्वत्र व्याप्त है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जहां पर ब्रह्म नहीं हो, क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त मिथ्या की सत्ता पृथक्रूप से स्वीकार करने का अर्थ है द्वैतापत्ति।

सापेक्षसत्य इन वस्तुओं को पूर्ण सत् मान लेना ही ब्रेडले के अनुसार भ्रम है।[3] अद्वैत वेदान्त के अध्यास विवेचन में स्पष्ट दिखाया है कि किस प्रकार भ्रमस्थल में जो वस्तु नहीं उसी को वहीं पर सत्य मान लिया जाता है; इसीलिये उक्त स्थल की वस्तु और ज्ञान दोनों मिथ्या हैं। इसी प्रकार जगत् की वस्तुयें ब्रह्म में आरोपित हैं जो कि अधिष्ठान की सत्ता से सत्तावान् हैं, किन्तु उन वस्तुओं को पृथक् रूप से सत्तावान् मानना ही जगद्भ्रम है। अद्वैत के ही समान ब्रेडले भी सत् में नानात्व का निषेध करते हैं। उनका कहना है कि स्वतन्त्र सत्ता के नाना सत् सम्भव नहीं हैं।[4] नाना सत् होने पर स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र सत् होंगे। परतन्त्र सत् का अर्थ सत् न होकर आभास ही हुआ। वस्तुयें अपने स्वरूप में सत् हैं और सत् में एकीभूत हैं, फिर भी बुद्धि में स्वव्याघाती एवं नाना प्रतीत होती हैं।[5] अद्वैत के अनुसार नानात्व दर्शन अध्यासजन्य है। ब्रेडले भी नानात्व दर्शन, सत् को पूर्ण रूप से ग्रहण न कर सकने के कारण, कहते हैं। बुद्धि द्वारा सत् को पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता।[6] बुद्धि जब भी सत् को जानना चाहेगी उसे आभास के रूप में विखण्डित करके ही जानेगी। सत् को जानने के लिए सत् होना पड़ेगा। अद्वैत में "ब्रह्म वेद ब्रहैव भवति" माना गया है, उसी प्रकार ब्रेडले सत् को सत् होकर ही जाना जा सकता है, ऐसा कहते हैं।

हमने ऊपर ब्रेडले के दर्शन में जगत्-प्रपंच की स्थिति का एक संक्षिप्त विवरण दिया है। अद्वैत में स्वीकृत मिथ्यात्व के साथ ब्रेडले द्वारा प्रदर्शित आभास की तुलना की जा सकती है। चित्सुखाचार्य, मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों ने मिथ्यात्वानुमान में दृश्यत्वादि हेतु प्रदर्शित किये हैं। अतः स्पष्ट है कि अद्वैतवेदान्ती दृश्य वस्तुओं को ज्ञान विषय होने के कारण मिथ्या कहते हैं। ब्रेडले भी हमारी बुद्धि में प्रतीयमान वस्तुओं को आभास की संज्ञा देते हैं। ब्रेडले के अनुसार सत् एक है, अतः नानात्व आभास है। ब्रेडले के अनुसार सत् निरंशी है, अतः जो भी अंशी या नाना हैं आभास हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिथ्यात्व में जो हेतु अद्वैत्तचार्य देते हैं, उन्हीं हेतुओं के समान बातें ब्रडेले भी आभास के के लिए कहते हैं। वस्तुतः अद्वैत के अनुसार भी सत् "एकमेवाद्वितीयम्" है। ब्रेडले के अनुसार भी सत् एकमेवाद्वित्तीय है। इसी कारण सदतिरिक्त वस्तुयें आभास हैं। अद्वैत के अनुसार भी सत् ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वेन सर्व मिथ्या है।

ब्रेडले के अनुसार सत् का मापदण्ड 'अविरोध' है और आभास का मापदण्ड विरोध है। सत् कभी भी सत्ता से पृथक् नहीं हो सकता। सत् होकर सत्ता से पृथक् होना "विरोध" माना जायेगा। जिसमें उस प्रकार की बातें

---

१. आत्मसत्तैवद्वैत्तस्य सत्ता नाऽन्या यतस्तत आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्।
—वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली
पृ० १६४, प्रकाशानन्द अच्युतग्रन्थमाला।

2. Appearnce without reality would be impossible. Appearance and Reality—p. 432. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).

3. Ibid.—p. 431

4. The absolute is not many, there are no independent reals. Appearance and Reality p. 127. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

5. Ibid.—p. 505.

6. Truely to realize the existence of the absolute is for finite beings impossible. Appearance and Reality—p. 140. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हों वह आभास होगा न कि सत्। अद्वैत के अनुसार भी सत् त्रिकालाबाध्य है। अबाधित होना ही सत् का मापदण्ड है। जो बाधित होता है वह सत् न होकर मिथ्या है।[1] जो आदि में भी नहीं था, अन्त में भी न होगा, वह सत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उत्पत्ति विनाशशील वस्तुयें अबाधित नहीं हो सकतीं। उत्पत्ति से पूर्व भी जिसकी सत्ता नहीं और विनाश के बाद भी जिसकी सत्ता नहीं, वह अबाध्य नहीं रहा। ब्रेडले के अनुसार वह स्वव्याघाती हुआ, क्योंकि कोई भी वस्तु जब अपनी स्वसत्ता को छोड़ देती है तब वह सत्ताहीन हो जाती है। यदि वह स्वसत्ता से युक्त होती तो उसकी सत्ता उससे विलग नहीं हो सकती थी। उसकी सत्ता सत् से प्राप्त होने के कारण किसी भी समय वह सत्ताहीन हो जाती है, अतः वह वस्तु आभास है। एक ही वस्तु-घट में भाव अभावादि विरोधी बातें हैं, अतः व्याघातपूर्ण हैं। आज घट है, कल नष्ट होने पर नहीं रहेगा, उत्पत्ति के पूर्व भी घट नहीं होता, इस कारण अर्थात् भावाभावादि विरोधी बातों के कारण ही घट अद्वैत के अनुसार मिथ्या है। इस देश में घट है, अन्य देश में नहीं है, इस प्रकार भावाभाव दैशिक दृष्टि से भी घट में हैं, अतः घट सत्ताव्याभिचारी है। अद्वैतवेदान्त में परिच्छिन्न हेतु से जो मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है, उसका तात्पर्य भी यही है। देशकाल और वस्तुगत परिच्छेद वस्तुओं में सीमा खींच देता है। वस्तु देशकाल और वस्तु के परिच्छेद से स्वसत्ताव्याभिचारी हो जाती है। इसी कारण वस्तुओं का बाध हो जाता है। ब्रेडले के अनुसार भी नाना वस्तुओं में सत्ता होने पर भी वह आंशिक सत्ता है, क्योंकि वस्तुयें नाना रूप से सत् नहीं हो सकतीं। सत् निरपेक्ष होता है, अर्थात् सत्ता के लिए ज्ञान के लिए वह निरपेक्ष है, किन्तु वस्तुयें सत्ता और ज्ञान के लिये सापेक्ष हैं, अतः सापेक्षतया भी वे आभास हैं।

ब्रेडले ने आभास का मापदण्ड विरोध या व्याघात को व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है, क्योंकि जहां पर भी सम्बन्धादि की सिद्धि तार्किक विश्लेषण द्वारा नहीं कर पाये, ब्रेडले ने वहीं पर विरोध का प्रयोग करके उससे आभास कह दिया है। अद्वैत वेदान्त के "व्यावर्तमानत्व", "परिच्छिन्नत्व", "अवयवित्व", "जड़त्व", "दृश्यत्व" आदि मिथ्यात्व अनुमान के हेतु ब्रेडले के "विरोध" शब्द के अन्तर्भूत हैं। ब्रेडले ने विरोध का प्रयोग उक्त सभी अर्थों में किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्त स्वीकृत मिथ्यात्व का मापदण्ड ब्रेडले द्वारा स्वीकृत विरोध के समान है।

ब्रेडले ने प्रतीयमान वस्तुओं को आभास अवश्य कहा है, किन्तु उन्हें असत् नहीं कहा है। वस्तुयें आभास हैं—का अर्थ सापेक्ष सत् हैं। यद्यपि सत् वस्तु एक ही है, फिर भी आभास बिना सत्ता के सम्भव न होने के कारण सापेक्ष सत् है। सभी मिथ्या हैं फिर भी अंशतः सत्य हैं। इस प्रकार सभी प्रतीयमान वस्तुओं में कुछ सत्ता अवश्य होती है।[2] व्यावहारिक दृष्टि से ब्रेडले आभास को भी सत्य मानते हैं। यद्यपि सभी प्रतीयमान वस्तुओं को आभास कहा गया है, फिर भी व्यवहार में सत्य मिथ्या का अन्तर है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीयमान वस्तुयें सभी सत्य हैं।[3] ब्रेडले आभास को अद्वैत के मिथ्या के समान ही एक सर्वभौम व्यावहारिक सत्य मानते हैं। जहां पर ज्ञान के अनुकूल वस्तुयें नहीं प्राप्त होती वही भ्रम है। प्रतीयमान जागरिक वस्तु विषयक भ्रम उक्त भ्रम से भिन्न हैं।[4] प्रातीतिक वस्तुयें सापेक्ष सत् हैं। हमारे दैनिक व्यवहार में ये वस्तुयें मिथ्या नहीं हैं।

1. The Idealist thought of India—p. 102 P.T. Raju, London, 1953.
2. Every phenomena is somehow real. Appearance and Reality—p. 127. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)
3. From the relative point of view a truth is wholly true.—The Chief Currents of Contemporary Philosophy—Datta p. 74. 2nd Ed., Calcutta, 1961.
4. Appearance and Reality-p. 486. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सापेक्ष सत्य के बिना हमारा जीवन नहीं चल सकता।[1] प्रातीतिक ज्ञानों में जो ज्ञान सफल प्रवृत्तिजनक न हो, वह भ्रम है। जैसे सीपी में चांदी को देखने पर लेने के लिये प्रवृत्ति होने पर, वहां चांदी मिलती नहीं, इस कारण वह भ्रम ज्ञान है। भ्रमज्ञान का विषय भी भ्रम है,[2] किन्तु पुस्तक को देखने पर पुस्तक लेने की प्रवृत्ति दशा में पुस्तक की प्राप्ति होती है, अतः पुस्तक का ज्ञान सत्य-ज्ञान है। इस प्रकार ब्रेडले के अनुसार भी व्यवहार में सत्य मिथ्या का विभाजन किया गया है। वस्तुतः ब्रेडले के अनुसार सत्ताभेद नहीं है। सत् में सत्ताभेद सम्भव नहीं, क्योंकि सत् पूर्ण है। इसी कारण अन्य सत्ता, अधिक सत्ता, आदि बातें या अल्प-पूर्ण, अधिक-पूर्ण आदि बातें, वस्तुतः सत् में सम्भव नहीं।[3] सत् में सत्ता-भेद की कल्पना प्रातीतिक है।

अद्वैत वेदान्त में व्यवहार और परमार्थ का भेद हमने दिखाया है। अवगति पर्यन्त व्यावहारिक जगत् प्रमाण-प्रमेय-भाव, सब सत्य ही हैं; किन्तु बाध होने पर मिथ्या हैं। इस प्रकार अद्वैत का मिथ्या सदसदनिर्वचनीय है, ब्रेडले का आभास सापेक्ष सत् है। दोनों ही एक पूर्ण सत् की दृष्टि में जगत्-प्रपंच की व्याख्या देते हैं।

रीडर, दर्शन-विभाग,
गुरुकुल विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

1. The Chief Currents of Contemporary Philosophy—p.75. Datta, 2nd. Ed., Calcutta, 1961.
2. Ibid—p. 76.
Appearance and Reality—p. 319.Br adley (9th Ed., Oxford, 1930).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरतपुर में महाकवि देव

—लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

मानव-स्वभाव अपने परिवेश के साँचे में आकार ग्रहण करता है। यह बात सामान्य जनों की भाँति कवियों पर भी घटित होती है। हम कह सकते हैं कि कवि औरों की अपेक्षा अपने प्राप्त परिवेश से विशेष प्रभावित होता है। प्राचीन से लेकर अधुनातन तक सभी कवियों को हम इसी नियम का अनुवर्ती पाते हैं। कवि प्रकृति-परिवेश और सामाजिक परिवेश दोनों से समान रूप में प्रभावित होता है। उसमें परिवेश-परिवर्तन के साथ स्वभाव-परिवर्तन भी होता रहता है। उत्तर मध्यकाल के हिंदी-कवियों में से कतिपय को हम इस परिवेश या वातावरण से आश्चर्य-जनक ढंग से प्रभावित पाते हैं। आश्चर्यजनक इसलिये कि उन्होंने नया वातावरण पाकर अपने परंपरागत काव्य की राह कुछ देर के लिये छोड़ दी। जीवन भर शृंगार-परक रचना करने वाले कवि ने भी अपनी नई राह में वीर रस के कवियों से होड़ की। ऐसे कवियों में से एक महाकवि मतिराम भी हैं। इन्होंने अपने अग्रज महाकवि भूषण के आश्रय दाता छत्रपति महाराज शिवाजी और महाराज महाराज छत्रसाल बुंदेले के यहाँ यात्रा की थी। यह तथ्य है कि मतिराम शृंगार रस के अनुपम कवि थे। उनका रसपरक ग्रंथ 'रसराज' बहुत दिनों तक सर्वाधिक समादृत ग्रंथ रहा है। इन्होंने उपर्युक्त दोनों जननायकों के संपर्क में आकार वीर रस की श्रेष्ठ कविताएँ रच डाली थीं। याज्ञिक-बंधुओं (मयाशंकर याज्ञिक, जीवन शंकर याज्ञिक और भवानीशंकर याज्ञिक) ने माधुरी' पत्रिका के जुलाई, १९२४ के अंक में 'मतिराम और भूषण' नामक लेख में सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया था। नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय के कतिपय हस्तलेखों में मुझे भी कई छंद ऐसे मिल गए जिन्हें पाकर मुझे आश्चर्य-सम्मिश्र हर्ष हुआ। यहाँ मतिराम-रचित शिवाजी की प्रशंसा का एक छंद उद्धृत करके मैं प्रस्तुत विषय पर आ जाना चाहूँगा। छंद इस प्रकार है—

बान अरजुन के बखानियत मतिराम,
गदा भीमसैन की सदा ही सुभ साज की।
बासव को ब्रज, बलदेव को मुसल बासु—
देव जू ओ चक्र सुर कीरति इलाज की।
दंड दंडधर औ अदंडन के दंडिबे कौं,
नखन की पाँति नरसिंह सिरताज की।
सिव कौ त्रिसूल औ कुठार जामदग्नि औ ज्यौं
सिवा की सकति, समसेर सिवराज की॥

इसी प्रकार महाकवि देव एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने शृंगार को ही एकमात्र रस माना था—

'भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल सिंगार।'

और ये उसी रस के सिद्ध कवि माने जाते हैं। बहुतेरे राजाओं और रईसों के दरबारों में टक्कर खाने के बाद प्रतिक्रिया स्वरूप इनके मन में निर्वेद उत्पन्न हुआ था और वह जीवन के अंतिम दिनों में, जब इनकी वाणी अनायास फूट पड़ी थी—

ऐसो जौ हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ पाँय तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नट सों निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतों 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुंह मोरतो।
भारो प्रेम पाथर, नगारौ दै, गरे सों बाँधि,
राधावर बिरद के बारिधि मैं बोरतो॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी निर्विण्णता की स्थिति में इन्होंने वैराग्य और तत्त्व चिंतन परक चार पचीसियाँ लिख डाली थीं। अपनी वृद्धावस्था में देव काफी समय तक भरतपुर राज्य के आश्रित रहे। वहाँ के नरेशों की प्रशंसा में लिखे गए इनके छंद बहुत दिनों तक लोगों को अज्ञात रहे और बहुतों को तो आज भी उनका पता नहीं है। किसी हिन्दी साहित्य के इतिहासकार ने भी तत्परता के साथ खोज़ करने का कष्ट नहीं उठाया। इसीलिये हिंदी साहित्य के जो इतिहास इधर लिखे गए हैं, उनमें भी देव के भरतपुर राज्य के आश्रित होने का कहीं विवरण नहीं है। 'मत्स्य देश की हिंदी साहित्य को देन' नामक पुस्तक में देव का भरतपुर जाना उल्लिखित है, किंतु उसमें कहा गया है कि किसी सरदार के बार-बार आग्रह करने पर भी देव ने यही कहा कि सरस्वती मुझे कुछ कहने की आज्ञा नहीं दे रही है।

माधुरी नामक मासिक पत्रिका के वर्ष ३, खं० १६, संख्या चार के पृष्ठ ५३४ पर पं० मदनलाल जी मिश्र का एक लघु लेख 'महाकवि देव और भरतपुर राज्य' छपा है। इसमें याज्ञिक बंधुओं के कथन का खंडन करते हुए एक अनुश्रुत किंवदन्ती का उल्लेख किया गया है। वे लिखते हैं—

"मैंने कतिपय वयोवृद्धों से देव के विषय में यह एक किंवदंती सुनी है कि महाराज सूरजमल जी के दरबार में देव जी का आना समय-समय पर हुआ करता था। एक समय देव जी महाराज के दरबार में पधारे। उस समय कविवर घनआनंद जी भी उपस्थित थे। कविद्वय में वार्तालाप होते समय महाकवि देव जी ने कहा—"घनआनंद जी, आपकी कविता में जो चमत्कार और हृदयग्राहकता है वह हमारी कविता में क्यों नहीं आती?" इस पर घनानंद जी बोले—"महाराज, आप वर्तमान समय के कवि शिरोमणि और उत्कृष्ट पंडित हैं, परंतु इस दास की और श्रीमान् की कविता में जो अंतर है, उसका कारण एक रहस्य से पूर्ण है। वह यही कि आप जो वर्णन करते हैं, वह दूसरों पर बीती का, और यह दास अपने ऊपर बीती बात कहता है। जैसे कोई-व्यक्ति किसी के यहाँ मृत्यु होने पर शोक प्रदर्शित करने जाय तो उस समय उसको वैसा दुःख का अनुभव नहीं होता, जैसा जिसके घर मृत्यु हो गई हो, उसको होता है।"

इस किंवदंती का उल्लेख कई लेखकों ने अपने ग्रन्थों में किया है। पं० मदन लालजी मिश्र ने उसी लेख के अन्त में यह भी कहा है, "उन छः छन्दों के अतिरिक्त जवाहिर सिंह जी के विषय के कुछ छन्द देव के कहे और भी हैं।" किन्तु वे 'कुछ छन्द और भी' कौन से हैं उन्हें मिश्र जी ने उद्धृत नहीं किया और उन्हें उस समय यह भ्रम भी था कि वे छन्द प्रसिद्ध महाकवि देव के न होकर किसी और देव नामा कवि के हैं। इस भ्रम का खन्डन अपने एक लेख में याज्ञिक बधुओं ने बाद में कर दिया था। इधर मुझे प्राचीन हस्तलेखों को देखते समय कविवर देव के तीन छन्द और मिले हैं। इन तीनों कवित्तों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें से एक में महाराज सूरज मल्ल की युद्ध वीरता वर्णन है और शेष दो में महाराज जवाहर सिंह की प्रशंसा है। एक में उनकी युद्ध वीरता का उल्लेख है और दूसरे में उनके होली खेलने का रसमय वर्णन है। इससे यह बात साफ हो जाती है कि कविवर देव महाराज सूरजमल्ल के राज्यकाल में भरतपुर गए ही थे। बाद में उनके तेजस्वी पुत्र के राजत्वकाल में भी वहाँ पधारे थे और दोनों ही नरेशों ने उनका यथोचित सम्मान भी किया था। महाराज सूरजमल्ल के युद्ध का छन्द पहले देखें—

दुहूँ दल मार-मार मच्यौ घमासान और
नाचत-मसान जहाँ नाग गन छ्वै गयौ।
चल्यौ आसमान भान सहित बिमान जहाँ
चल्यौ मेरु मति औ सिथिल ससि ह्वै गयौ।
सोनित ओ नद चल्यौ, नन्दी तहाँ बहि चल्यौ,
सिव चल्यौ सहमि सिवाहू उर छ्वै गयौ।
बीर मद मत्ता तहाँ हाथ गहै कत्ता 'देव'
हल्यौ न चकत्ता लत्ता-लत्ता तन ह्वै गयौ॥

यह दिल्ली के उस युद्ध का वर्णन है, जिसमें महाराज सूरज मल्ल ने वीर गति पाई थी। शेष दोनों छन्द इस प्रकार हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूलैगो कतल जातें सुतल बितल काँप्यौ,
भूलैगो दिली मैं साति नादर को आयबौ।
भूलैगो रे भाऊरम्य भाज्यौ संसार जातें,
भूलैगो सुजान को जु सुरपुर जायबौ॥
ह्वै करि सकुद्ध उद्ध जुद्ध महा जैपुर को
जीत्यौ रजपूतन को गरब गरायबौ।
भूलैगो न जग मैं जवाहर नरिंद तेरौ
सिंघन बुलायबौ पौहौकर को न्हायबौ॥
ब्रज सिरताज श्री जवाहर नरेंद्र आज
होरी के समाज गज चढ़ि चहुँ ओर पर।
आनन्द उमंग प्रेम रस की तरंग भरि,
केसरि के रंग पिचकारिन झकोर पर॥
सुन्दर नवेली अलबेलिन के आनन पै
बरसैं सुगन्ध वारि मदन मरोर पर।
मानौं उदयाचल तै मारतन्ड मन्डल की
छूटीं लाल किरनैं कलानिधि की कोर पर॥

परम्परानुसार प्रचन्ड पराक्रमी महाराज जवाहर सिंह की वीरता और संस्कृति-प्रेम-जन्य उनकी रसिकता का वर्णन करके उनकी सर्वतोभावेन पूर्णता का निदर्शन कवि-वर देव ने कर दिया है।

जिन प्राचीन हस्तलेखों से मैंने ये छन्द प्राप्त किए हैं, उनमें सैकड़ों ज्ञात और बहुतेरे अज्ञात कवियों की उत्तम रचनाएँ संकलित हैं। यदि इन हस्तलेखों का प्रकाशन हो जाय तो मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का वह भाग जो अंधकाराच्छन्न है, बहुत कुछ प्रकाश में आ जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी साहित्य और दयानन्द युग

कृष्णकुमार कौशिक

सन् १७५७ ईसवी में प्लासी के युद्ध ने बंगाल में ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रमुख प्रभुत्व स्थापित कर दिया। इसके सात वर्ष बाद अर्थात् १७६४ ई० में बक्सर की लड़ाई के उपरान्त अवध पर भी कंपनी का झन्डा फहराने लगा। १८०० ईसवी तक इस देश का बहुत बड़ा भाग कंपनी के अधिकार में आ चुका था। थोड़ा बहुत जो शेष रह गया था उसकी पूर्ति १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम ने (जिसे अंग्रेज इतिहासकारों ने गदर या सिपाही विद्रोह का नाम दिया था) कर दी।

इस तथाकथित विद्रोह के समाप्त हो जाने के बाद कम्पनी के काले शासन का भी अन्त होगया। शासन सत्ता कम्पनी के हाथों सेनिकल कर महारानी विक्टोरिया के पास चली गयी। दूसरे शब्दों में एक विदेशी शासन के विरुद्ध जनता के हृदय में सुलगने वाली आग कुछ समय के लिए शांत हो गयी। इस प्रकार सन् १७५७ ईसवी से लेकर १८५७ ईसवी तक के इन १०० वर्षों में अंगरेजों ने सम्पूर्ण भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था।

अंगरेजी रहन सहन तथा बोलचाल उस समय के भारतीय युवकों के लिए आकर्षण की वस्तु थी। धार्मिक मुसलमान और हिन्दू दोनों ही देश के नवयुवकों को पाश्चात्य के प्रभाव से प्रभावित होते हुए देखकर चिंतित थे। ऐसी दशा में सारे देश में दो विरोधी विचार धाराओं में संघर्ष छिड़ना आवश्यक था। राजा राममोहनराय और सर सैयद अहमद खां उसे दूरदर्शी नेता अंगरेजी शिक्षा और विलायती भाषा का समर्थन करके युग का नेतृत्व कर रहे थे।

यद्यपि ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी में ईसाई धर्म प्रचारकों ने दक्षिण भारत में ईसाई धर्म का झण्डा गाड़ दिया था पर अंग्रेजों के शासनकाल में उन्हें अपने धर्म प्रचार की खुली छुट्टी मिल गयी, अंग्रेजी रहन सहन को अपना कर लोग शरीर से ही अंगरेज बन रहे थे पर ईसाई पादरी इस देश की आत्मा को भी बदल देना चाहते थे। ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने इस देश की भाषाएं सीखी। और सभी भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद किए। उस समय तक देशी भाषाओं का एक भी व्याकरण नहीं था। उन्हें विदेशी होने के कारण इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता थी। अतः उन्होंने यहाँ की भाषाओं की व्याकरणों की रचना करके एक ऐसा महत्त्व पूर्ण कार्य किया जिसने आगे चलकर भाषा विज्ञान तथा भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन को जन्म दिया। हिन्दी भाषा में बाइबिल का अनुवाद जार्ज विलियम कैरे ने किया। इस अनुवाद में उन्होंने इस देश की भोली भाली तथा साधारण पढ़ी लिखी जनता को प्रभावित करने के लिए भाषा कथावाचक पंडितों जैसी रखी। बाईबिल के पुराने धर्म नियम में से इसका एक उदाहरण दिया जाता है।

"सारी पृथ्वी पर एक ही भाषा और एक ही बोली थी उस समय लोग पूर्व की ओर चलते-चलते शिनार देश में मैदान पाकर उसमें बस गये। तब वे आपस में कहने लगे कि आओ हम ईंटे बनाकर भली-भाँति आग में पकाऐं और उन्होंने पत्थर के स्थान में ईंट से और चूने के स्थान में मिट्टी के गारे से काम लिया। फिर उन्होंने कहा आओ हम एक नगर गुम्बद बना ले जिसकी चोटी आकाश से बातें करे।

जब लोग नगर और गुम्बद बनाने लगे तब इन्हें देखने के लिए यहोबा उतर आया और यहोबा ने कहा सब एक ही दल के है और भाषा भी उन सबकी एक ही है।

इसलिए आओ हम उतर के उनकी भाषा में गड़बड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डालदें कि वे एक दूसरे की बोली न समझ सकें। इस प्रकार यहोवा ने उन्हें वहाँ से सारी पृथ्वी के ऊपर फैला दिया।

इस कारण उस नगर का नाम बाबुल पड़ा क्योंकि सारी पृथ्वी की भाषा में जो गड़बड़ी है सो यहोवा ने वहीं से डाली।' उत्पन्ती पर्व ११

प्रचार की दृष्टि से लिखी गयी बाईबिल की भाषा को साहित्यिक नहीं कहा जा सकता। उसमें एक प्रकार का अखड़पन भी मिलता है तथा साथ ही साथ उनकी भाषाओं में शब्दों के अनगढ़ रूपों को देखने से जान पड़ता है कि उसमें गंवारूपन तथा कथावाचक पंडितों की कथा बाचने की शैली का समावेश जानबूझ कर किया गया है। यदि वह चाहते तो इस दिशा में अच्छा कदम भी उठा सकते थे साधारण पढ़े। लिखे हिन्दुओं को धर्म विमुख करने के लिए वह मेलों में जाजा कर ऐसे ट्रैक्ट भी बाँटा करते थे जिनमें वेद शास्त्रों की कड़ी आलोचना होती थी मत मत निरूपण, धर्म तुला, सतगुरु की खोज, आदि ट्रैक्ट जिन्हें अब भी ईसाई धर्म प्रचारक मेले-ठेलों में बांटा करते हैं उन्हें यदि ध्यान से पढ़ा जाय तो ऐसी बहुत सी बातें मिलेंगी जिनका उद्देश्य धार्मिक महा पुरुषों की निन्दा करके भोली भाली जनता को धर्म विमुख बनाना ही जान पड़ता है। सतगुरु निरूपण से एक उदाहरण लीजिए:—

वह सोचेगा कि मैं पाप से काहे को भयभीत होऊं मैं बुरा तो हूं परन्तु देवताओं से बुरा तो नहीं हूं वरन् उनसे कहीं भला हूँ। शिव के समान जाति से अप्रतिष्ठित तो नहीं हुआ ब्रह्मा की नाई कामातुर होके अपनी कन्या से कुकर्म नहीं किया। विष्णु के समान स्त्री को नहीं छुआ। इन्द्र के समान अपने गुरु की पत्नी को भ्रष्ट नहीं किया।

ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने सारे भारत में मिशन स्कूलों का जाल बिछा दिया। जिनमें इसी देश की देशी भाषाओं में अनिवार्य रूप से बाइबिल की शिक्षा भी दी जाती थी। उन्होंने पाठ्य विषयों को ने विद्यालयों के छात्रों को पढ़वाने के लिए यहाँ की देशी भाषाओं में पाठ्य पुस्तकों की रचना भी कराई थी।

हिन्दी के कुछ विद्वानों का यह कहना कि ईसाईयों ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा मानकर उसे अपने धर्म प्रचार का माध्यम बनाया था कुछ उचित नहीं जान पढ़ता क्योंकि उन्होंने जहाँ उत्तर प्रदेश के कुछ भाग में प्रचार करने के लिए हिन्दी को प्रचार का माध्यम बनाया वहां वहाँ उन्होंने बंगला, मराठी, पंजाबी, उर्दू, राजस्थानी, नेपाली, गुजराती, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं को प्रचार का माध्यम बनाया था। शायद भारत की कोई भाषा होगी जिसमें इसाई धर्म प्रचारकों ने बाईबिल का अनुवाद नहीं किया होगा।

ईसाई पादरियों के इस धार्मिक प्रचार के प्रभाव से तो इतने नहीं पर नये शासकों की बिरादरी में शामिल होने के लोभ से माईकिल मधुसूदन दत्त जैसे सुशिक्षित हिन्दू भी ईसाई धर्म में दीक्षित हो रहे थे। समुद्र पार जाने को धर्म विरुद्ध समझने वाले धार्मिक हिन्दुओं की कट्टरता के कारण बहुत से विलायत से शिक्षा प्राप्त करके लौटकर आने वाले हिन्दू विवश होकर शासकों का धर्म स्वीकार कर रहे थे।

यह परिस्थितियाँ थी जिन्होंने युग पुरुष दयानन्द के लिए कार्य क्षेत्र तैयार कर दिया था। अपनी लेखनी के द्वारा जो कार्य उन्होंने किया था, वही योरप में वहाँ की धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार मार्टिन लूथर ने किया था।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने वाले विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ सम्वत् १९०० में माना है इसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने आगे चलकर सम्वत् १९२५ से १९५० तक प्रथम उत्थान; १९५० से ७५ तक द्वितीय उत्थान १९७४ से अब तक तृतीय उत्थान मानकर इन तीन भागों में इस समस्तकाल को बांट दिया है। इन तीनों उत्थानों को अब हिन्दी के विद्वान् भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावादी युग का नाम, प्रदान करते हैं परन्तु १९२५ से पहले २५ वर्षों के युग को क्या कहा जाय यह एक प्रश्न हमारे सामने अभी तक बना हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे विचार में यही काल वास्तव में हिन्दी का प्रथम उत्पादन काल है। इसकी भूमिका ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने खण्डन मन्डनात्मक ट्रैक्टों के द्वारा आरम्भ करदी दी थी। ईसाई पादरी कबीर के समान जिस लक्कड़ भाषा में खण्डन, मन्डन कर रहे थे उसका उत्तर स्वामी जी ने जिस भाषा में दिया उसे हम ईंट का जवाब पत्थर से देना ही कहेंगे। हिन्दी के विद्वान स्वामी जी की गद्यशैली की समीक्षा करते हुए उसके खण्डनात्मक रूप को ही लेते हैं। इस समीक्षा में वह सत्यार्थ प्रकाश से आगे नहीं बढ़ पाते। सत्यार्थ प्रकाश में भी केवल खण्डन मण्डन वाले प्रकरणों को लेकर स्वामी जी की गद्य शैली की समीक्षा करके रह जाते हैं।

कितना अच्छा होता यदि यह विद्यवान स्वामी जी के अन्य ग्रन्थों ऋग्वेद आदि भाष्यभूमि का तथा संस्कार विधि आदि पर भी एक दृष्टि डाल लेते। स्वामीजी के वेद भाष्य की भाषा का भी अध्ययन कर लेते। एक ही विद्वान् जब विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रकट करता है तो उसकी शैली भी विषयों के अनुरूप बदलती चली जाती है। यदि यह सत्य है तो स्वामी जी की भाषा शैली के भी सभी समीक्षकों को उनकी समस्त रचनाओं को सम्मुख रखकर उस पर अपना सही निर्णय देना पड़ेगा।

स्वामी जी को केवल एक धर्म प्रचारक मानकर उनकी गद्य शैली की समीक्षा करते समय उसकी उपेक्षा करना एक संकुचित दृष्टि कोण ही कहा जायगा। वास्तव में जिस गद्य शैली का प्रतिष्ठापक लोग भारतेन्दु को बताते हैं उसका शिलान्यास स्वामीजी ने ही किया था। यदि साहित्य, उपन्यास, नाटक कहानी, निबन्ध, आदि विद्याओं का श्रीगणेश भारतेन्दु तथा उनके युग के लेखकों द्वारा हुआ तो शास्त्रीय पद्धति से समीक्षा और व्याख्या करने की पद्धति का आरम्भ स्वामी जी और उनके युग के लेखकों के द्वारा हुआ। इस निर्विवाद सत्य को कौन नहीं स्वीकार करेगा।

स्वामी जी की लेखनी ने धार्मिक क्षेत्र में जो क्रान्ति की थी उसने भारतीय चिन्तन परम्परा को सर्वथा बदल दिया। उससे पूर्व ईसाई पादरी अपनी कठोर भाषा में वेदों तथा पुराणों की आलोअना करके भारतीय जनता के धार्मिक विश्वास को चोट पहुंचा रहे थे। संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण जनता उनके कुतर्कों का उत्तर दे सकने में असमर्थ थी। अतः समय की मांग थी कि कोई विद्वान् संस्कृत में लिखे गये हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों को बोलचाल की भाषा में समझा कर सर्व साधारण के लिए उनका अध्ययन सुलभ कर सके।

साथ ही एक प्रश्न यह भी था कि वह भाषा क्या हो? हमारा भारत जहां मराठी, बंगला, गुजराती, मलयालम तेलगू, कन्नड आदि सैकड़ों भाषाऐं बोली जाती हैं वहां इस भाषा सम्बन्धी समस्या को हल करना सुगम नहीं था। अपने प्रचार कार्य का श्री गणेश राष्ट्र भाषा हिन्दी में करके युग पुरुष दयानन्द ने युग को एक नई दिशा दिखाकर जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया उसके लिए उनका नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिए था। अपनी मातृ भाषा गुजराती होते हुए भी उनका हिन्दी में ग्रन्थ रचना करना यह स्पष्ट कर देता है कि वह हिन्दी को राष्ट्र भाषा के स्वर्ण सिंहासन पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उनका उद्देश्य केवल ग्रन्थ रचना ही नहीं था बल्कि समूचे भारत की बिखरी हुई कड़ियों को जोड़कर शृंखला का रूप देना भी था एक देश एक वेष, एक भाषा, एक धर्म, एक संस्कृति का जो मधुर स्वप्न उन्होंने देखा था वह उनके ग्रन्थों में ही मिल सकता है। अपने इस स्वप्न को साकार करने के लिए उन्होंने हिन्दी में ही ग्रन्थ रचना की।

एक ओर तो उनकी मातृ भाषा गुजराती थी और दूसरी ओर उनके पठन की भाषा संस्कृत थी ऐसी दशा में जितनी सुगमता से वह इन दोनों भाषाओं में लिख सकते थे उतनी सुगमता से हिन्दी में लिख सकना उनके लिए कठिन था फिर भी उन्होंने इन दोनों भाषाओं में रचना न करके हिन्दी के प्रचार व प्रसार में जो महत्त्व पूर्ण कार्य किया वह हमारे सामने है। हिन्दी भाषा को आर्य भाषा का नाम देकर देश की भावात्मक एकता की आधार शिला सर्व प्रथम उन्होंने ही रक्खी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी जी की क्रान्तिकारी लेखनी ने दो महत्वपूर्ण कार्य किए जिनमें एक था विपक्षियों का खण्डन दूसरा था प्राचीन संस्कृति की सुरक्षा। प्राचीन संस्कृत साहित्य के विविधि क्षेत्रों में जो आज अनुसन्धान सम्बन्धी कार्य हिन्दी भाषा के माध्ययम से हो रहे हैं उसका आरम्भ स्वामी जी की लेखनी के द्वारा ही हुआ था।

उनकी शैली की समीक्षा करते समय हमें यह भी ध्यान में रखना है कि उनके पीछे एक युग अभी तक चला आ रहा है। ऐसी स्थिति में स्वामीजी की गद्य शैली को समीक्षा करते समय केवल इतना कह देने से काम नहीं चलेगा कि वे एक धर्म प्रचारक थे : इसलिए उनका गद्य साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। यदि उदार दृष्टिकोण से हम उनकी शैली की समीक्षा करें तो हमें हिन्दी गद्य शैली को वर्तमान रूप देने वाले लेखकों में स्वामी जी को प्रथम स्थान देना पड़ेगा। प्राचीन संस्कृत वांङ्मय को जनता की भाषा में रखने वालों में स्वामी जी ही पहले भारतीय विद्वान् हैं। क्या यह हमारे लिए कम लज्जा की बात नही है कि इस कार्य को बहुत पहले विदेशी भाषाओं में मैक्समूलर, कीथ तथा मैग डानल जैसे विद्वान् प्रारम्भ कर चुके थे। स्वामी जी के कार्य क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व संस्कृत विद्वान् हिन्दी में कुछ लिखना भी अपमान समझते थे। अतः वे इस कार्य का श्रीगणेश कैसे कर सकते थे। हमारे प्राचीन ग्रन्थ दीमकों के भोजन बनते जा रहे थे। पश्चिमी देशों के विद्या प्रेमी विद्वान् दुर्लभ ग्रन्थ रत्नों की पांडुलिपियाँ मुंह मांगे दामों में खरीद कर अपने ग्रन्थागारों का गौरव बढ़ा रहे थे। स्वामी जी के वेद भाष्य छप जाने पर भारतीय विद्वानों में भी इन अमुद्रित ग्रन्थों को छपवाने तथा संग्रह करने की ओर रुचि उत्पन्न होना स्वाभाविक था। उनसे प्रेरणा पाकर भारतीय विद्वान् इस क्षेत्र में आगे बढ़े आज तो सभी विद्वान् यह स्वीकार कर रहे हैं कि हिन्दी के माध्यम से संस्कृत साहित्य के अध्ययन को सर्व सुलभ बनाने के सम्बन्ध में अब तक जितना भी कार्य हुआ है उसके पथ प्रदर्शक केवल स्वामी दयानन्द ही हैं। स्वराज का स्वप्न देखने वाले युग पुरुष दयानन्द के हृदय के भीतर भारत को स्वतन्त्र देखने की जो भावना काम कर रही थी उसका आभास उनकी इन पंक्तियों में मिल जाता है:—

यह आर्यवर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है इसलिए इस भूमि का नाम स्वर्णभूमि है। पारस मणि पत्थर सुना जाता है वह बात झूँठी है परन्तु आर्यवर्त देश ही सच्चा पारस मणि है जिसका लोहे रूपी दरिद्र विदेशी देश छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।

विषय को बोध गम्य तथा स्पष्ट करने के लिए स्वामीजी ते सर्वत्र इसी शैली का प्रयोग किया है विरोधियों का खण्डन करते समय उनकी भाषा अवश्य ही कठोर हो गयी है परन्तु यह सब होते हुए भी स्वामी जी की इस शैली को पंडितों की कथा वार्ता की भाषा कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता उसकी भी अपनी ही विशेषता है।

इस प्रकार स्वामी जी की शैली को हम प्रतिपादनात्मक, निर्वचनात्मक, वादात्मक इन तीन शैलियों में विभक्त कर सकते हैं। वेद मन्त्रों की व्याख्या जिस शैली में है वह निर्वचनात्मक शैली का उत्तम उदाहरण है। वह इस क्षेत्र में इस शैली के जन्मदाता कहे जायेंगे क्योंकि उनसे पूर्व किसी ने किसी भी भारतीय भाषा में यह कार्य सम्पादित नहीं किया था। प्रतिपादनात्मक शैली में उन्होंने अपने विषय को संस्कृत निष्ठ हिन्दी में सर्व साधारण के सम्मुख रखने का सफल प्रयत्न किया है। जबकि उनकी उनकी मातृ भाषा हिन्दी नहीं थी। वादात्मक शैली का प्रयोग उन्होंने विपक्षियों का खण्डन मण्डन करते समय किया है। इसमें उनके पथ प्रदर्शक ईसाई धर्म प्रचारक रहे हैं। फिर भी स्वामीजी की शैली ईसाई धर्म प्रचारकों की भाषा की अपेक्षा अधिक परिमार्जित और परिष्कृत है।

लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी इसमें प्रचुर मात्रा में मिलता है। उनकी इस शैली में भाषा की वक्रता और लाक्षणिकता देखते ही बनती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या गोसाईं तुलसीदास बलिया के भूमिहार थे?

डा० किशोरीलाल गुप्त

तुलसी जयंती सं० २०२९ के अवसर पर 'गोस्वामी तुलसीदास जीवन वृत्त और व्यक्तित्व' नामक ६८८ बड़े पृष्ठों की एक विशाल पोथी प्रकाशित हुई है। इसके लेखक हैं लिलकर जिला बलिया निवासी श्री कुलदोषी नारायण राय 'झड़प', मुद्रक हैं श्री कमला प्रसाद राय, जनता प्रेस, ४२ पथरिया घाट स्ट्रीट, कलकत्ता-६ तथा प्रकाशक हैं अ० भा० ब्रा० परिषद (बंग) ५० राम-कृष्णपुर लेन हवड़ा। ग्रंथ का मूल्य है ३१ रु० इस विशाल ग्रंथ का प्रतिपाद्य है—तुलसीदास जी को बलिया जिले के गंगा तट-स्थित एक गाँव राजापुर का रहने वाला भूमिहार ब्राह्मण सिद्ध करना। प्रासंगिक प्रति-पाद्य विषय हैं—स्वामी रामानन्द, प्रसिद्ध अष्टछापी कवि नंद-दास एवं महाकवि सेनापति को भी भूमिहार ब्राह्मण सिद्ध करना। झड़प जी द्वारा प्रस्तुत तर्क इस ग्रंथ में दिए तुलसी दास के जीवन वृत्त को प्रामाणिक बनाने में असमर्थ हैं। उनमें कोई दम नहीं है। हाँ, इस ग्रंथ से भूमिहारों के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी अवश्य प्राप्त हो जाती है। प्रस्तुत निबन्ध दो खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में जन्म स्थान पर विचार किया गया है और दूसरे खण्ड में जाति पर। पहले खण्ड में झड़प जी ने जो उपशीर्षक लगाए हैं, उन्हींके अन्तर्गत क्रमशः विचार प्रस्तुत किया गया है। दूसरे खण्ड में उन उपशीर्षकों को त्यक्त कर दिया गया है और चालीस विचार बिन्दु प्रस्तुत किये गये हैं। यह न समझा जाय कि ये तर्क इतने ही हैं। झड़प जी ने अपने विषय पर पर्याप्त विचार किया है, यह दूसरी बात है कि इन विचारों से लोक-मत सहमत न हो।

(क) जन्म-स्थान विचार

(१) जन्मस्थान गंगातटस्थित राजापुर बलिया

१. यह भरत खण्ड समीप सुरसरि,
थल भलो संगति भली

२. वरु बारहिं बार सरीर धरौं,
रघुवीर को है तव तीर रहौंगो
भागीरथी बिनवौं कर जोरि,
बहोरि न खोरि लगै, सो कहौंगों

३. तुलसी तव तीर तीर, सुमिरत रघुवंश वीर,
बिचरत मति देहि मोह-महिप-कालिका

४. सिय सुरसरिहिं कहेउ कर जोरी
मातु, मनोरथ पुरवबि मोरी

५. धन्य सो देश जहाँ सुरसरी

६. सरित गंभीर वानीर दुहुँ तीर वर,
मध्य धारा विशद विश्व अभिरामिनी।
हरित पयंक पर शयित सर्पेश जनु,
सहस सीसावली स्रोत सुर स्वामिनी॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७. चेरो राम राय को, सुजस सुनि तेरो हर,
पायँ तर आइ रह्यों सुरसरि-तीर हौं ।

ये सभी अंश झड़प जी द्वारा उद्धृत हैं और इनसे यह निकालने का प्रयत्न किया गया है कि तुलसीदास का जन्म गंगा-तट पर हुआ था और यह गंगा-तट काशी के पूर्व में बलिया वाला है । छठे उद्धरण के 'सहस सीसा-वली स्रोत' का अर्थ किया गया है कि तुलसीदास के समय में बलिया के पास गंगा जी की सहस्र धाराएँ थीं। उक्त उद्धरण में गंगा के किसी एक खण्ड-विशेष का चित्र नहीं है, समग्र गंगा का चित्र है । गंगा की धारा गहरी है, दोनों ओर बानीर (वेंत, प्रतीक रूप में) है । बीच में गंगा की धारा हैं । लगता है नीली शय्या पर शेष नाग सो रहे हैं । शेष का रंग श्वेत है । सागर में जहाँ गंगा मिलती है, उसे गंगा सागर कहते हैं । यहां गंगा की सहस्र धाराएँ मानी जाती हैं । गंगा सागर में गिरने वाली गंगा की यही सहस्र धाराएँ शेष नाग के सहस्र शीश हैं । इनके अतिरिक्त तुलसीदास के बलिया में गंगा-तट पर जन्मने के सम्बन्ध में और भी कुछ लचर प्रमाण दिए गए हैं, यथा—

१. 'आक जवास पात विनु भयऊ' । झड़प जी के अनुसार यह दृश्य बलिया शाहाबाद में गंगा-सरयू के कछार में ही देखा जाता है । तुलसी के इस सर्वदेशीय कथन को एकदेशीय करना ठीक नहीं ।

२. तुलसी तृन जल कूल को, निरबल निपट निकाज
कै राखै कै सँग चलै, बाँह गहे की लाज ।
दोहावली ५४४.

झड़प जी के अनुसार 'तुलसीदास ने किसी ऐसी बड़ी नदी के तट पर बाल्यावस्था बिताई थी, जिसका कगार ऊँचा होगा एक कगार की भूमि कँकरीली पथरीली अथवा बहुत कड़ी न होगी । ऐसी स्थिति बक्सर के पूरब में ही गंगा नदी की है । उधर गंगा का विस्तार भी शेषनाग के हजारों फणों के समान सुविस्तृत हो जाता है ।'

क्या इस दोहे के आधार पर बलिया जिले के किसी राजापुर गाँव को तुलसी के जन्म स्थान होने का गौरव दिया जा सकता है ?

तुलसीदास जी हिंदू होने के नाते गंगा भक्त थे। काशी में उनके जीवन का अधिकांश बीता । अतः गंगा के प्रति उनका सामान्य हिन्दू-प्रेम विशेष-भक्त-प्रेम में बदल गया । आजतक किसी ने नहीं कहा कि तुलसीदास का जन्म गंगा जी के किनारे स्थित किसी गाँव में हुआ । झड़प जी ने जो दलीलें दी हैं, उनमें कोई तत्त्व नहीं । सातवे उद्धरण से तो स्पष्ट है कि तुलसीदास शिव की प्रशंसा सुन, उनकी चरण शरण में आकर, सुरसरि-तीर पर, काशी में रहने लगे थे, वे गंगा तट पर जन्मे नहीं थे ।

गोसाईं जी गंगाजी के भक्त हैं । इससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि उनका जन्म गंगा तट पर स्थित किसी गाँव में हुआ था । गंगा का प्रेमी तो हर हिंदू है ।

(२) शिव पीठ की निकटता

इस प्रकरण में झड़प जी का कहना है कि गोसाईं जी अनन्य राम-भक्त होकर भी परम शिव भक्त थे । इससे स्पष्ट है कि उनका जन्म किसी ऐसे कुल में हुआ जो शैव था । हमें इससे इनकार नहीं कि गोसाईं जी राम-भक्त के साथ-साथ परम शिव भक्त भी थे । पर हम उनके इस मत से सहमत नहीं कि तुलसी की जन्म-भूमि का सोरों, राजापुर, (बाँदा) और अयोध्या में होने की अपेक्षा भोजपुरी प्रदेश में होना अधिक संगत प्रतीत होता है, जहाँ काँट ब्रम्हपुर (शाहाबाद), छितौनी असेगा (बलिया) और मेंहदार ढोढ (सारन) में भगवान शिव के प्राचीन मन्दिर हैं । हिंदुस्तान का शायद ही कोई अभागा गाँव होगा जहाँ शिवालय न हो । जहाँ शिवालय नहीं हैं, वहाँ भी किसी नीम या पीपल के पेड़ के नीचे किसी पत्थर पर दो चार शिव लिंग अवश्य हैं और उन पर जल भी चढ़ाया ही जाता है । मन्दिरों में प्रायः शिव, गणेश, पार्वती, हनुमान जी की मूर्तियाँ एक साथ मिलती हैं, जो उदार विचार-धारा का ही प्रतीक हैं । तुलसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ भी पैदा हुए रहे होंगे, वहाँ शिवालय का अभाव नहीं रहा होगा।

(३) भीतरी झलक

(१) हाथी हथि सारें जरे घोरे घोरसारही

—कवितावली सुन्दरकांड २३

झड़प जी के अनुसार हाथी, हथिसारें, घोरसारही, घोरे सभी भोजपुरी शब्द हैं और किसी राजा की विपत्ति का विवरण देते समय भोजपुरी लोककथाओं में इनका प्रयोग किया जाता है।

मैं अवधी भाषा-भाषी हूँ और ऐसी लोककथाएँ मैंने भी लड़कपन में सुनी हैं। ये सभी शब्द समान रूप से अवध में भी प्रचलित हैं।

(२) 'तेरी मरजी तें चलें चिंचिनी चियाँ रें'

इमली की चियाँ सभी जगह होती है। हमारे यहाँ भी इमली के बीज को 'चीयाँ' ही कहते हैं। बलिया में यह सिक्के की तरह चलता है क्या? जहाँ तक बटुबलिया पैसे की बात है, हमने भी लड़कपन में इसे चालू सिक्के के रूप में देखा था—इसे गोरखपुरी पैसा या मोटका पैसा कहा जाता था।

(३) नाम राम रावरे तो चाम की सलाई है

—कवितावली उत्तर कांड ७४

झड़प जी का कहना है कि चौसा के पास हुमायूं को एक भिश्ती ने मशक पर चढ़ाकर गंगा पार उतारा था। हुमायूँ ने प्रसन्न हो कर उसे एक दिन की बादशाहत दे दी थी और उसने चमड़े का सिक्का चलाया था। तुलसी दास बलिया वासी थे, इसीलिए उन्हें यह घटना मालूम थी और उन्होंने चाम का दाम चलाने की बात का उल्लेख किया है।

भिश्ती के चमड़े का सिक्का चलाने की बात ऐतिहासिक तथ्य है। यह अद्भुत कथा तो सारे हिंदुस्तान में वन की आग की तरह फैल गई होगी, और इस तथ्य को जानने के लिए तुलसी के बलिया में जन्म लेने की कोई आवश्यकता नहीं, वह भारत के हिन्दी भाषा भाषी किसी प्रदेश में जन्म लेकर यह बात जान सकते थे। वस्तुतः यहाँ इतिहास प्रसिद्ध इस घटना की ओर संकेत नहीं है। यह मुहावरा मात्र है। रीतिकालीन कवियों ने तो रूपगर्विता नायिकाओं के लिए चाम के दाम लगने की बात बराबर कही है। वे शृंगारी प्रयोग हैं, तुलसी का प्रयोग शांत-परक है।

(४) 'एक पूजें बाहु बल मूल तोरि फूल हैं'

—कवितावली सुंदरकांड ३०

झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी के जन्म के प्रायः पचास वर्ष पहले बलिया के राजा कर्णदेव ने सिकंदर लोदी से युद्ध कर हिंदू जनता को उसके अत्याचारों से बचाया था। तब हिंदू नेताओं ने उनकी बाँहों की पूजा की थी। बलिया में जन्म लेने के कारण तुलसी इस कथा से परिचित थे, इसीलिए उन्होंने सीता का पता लगाकर वापस आने पर हनुमान की बाँहों की पूजा उनके साथियों से कराई है।

यह भी झड़प जी का शुद्ध भ्रम है। वीरों की पूजा की यह एक सामान्य पद्धति ही थी। गोवर्धन धारण के पश्चात श्री कृष्ण की भी पूजा हुई है। तो क्या यह कंसोपाटन (बलिया) के कर्णदेव की बाहु-पूजा के आधार पर हुई है?

सूरदास जी लिखते हैं—

सबै मिलि पूजौ हरि की बहियाँ
जौ नहिं लेत उठाइ गोवर्धन, को बाँचत ब्रज महियाँ
'कोमल कर गिरि धरयो घोष पर; सरद कमल की छहियाँ
'सूरदास' प्रभु तुम दरसन सौं, आनँद है सब कहियाँ

—सूरसागर पद १५८८

देव ने भी गोवर्धन-धारण के पश्चात् ग्वाल बालों द्वारा बलवीर की बाहों के भेंटने का वर्णन किया है—

तीर धरयो जु गहीर गुहा,
गिरि धीर धर्‌यो सु अधीर महा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूँछती पीर भरे दृग नीर,
त्यों एकै समीर करैं और सराहैं
छोर मिजै यक पोंछती चीर लै,
राधे रहैं तिरछो करि छाहैं
भेंटती भीर अहीरन की,
वर वीरज की बलवीर की बांहैं

—देवसुधा ४

(५) क गोंड़ गँवार नृपाल महि जवन महा महिपाल
—दोहावली

ख वेद धर्म दूरि गये, भूमिचोर भूप भए
—कवितावली उत्तर कांड १७७

झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी का संबंध ऐसे राज्य से अवश्य था, जहाँ गोंड, गँवार, नृपाल का राज्य था, जो चोरी चोरी राजा बन गया था। बलिया में उस समय हल्दी में ऐसा ही राज्य था, जो गोंडवाना से आया था और हल्दी की ब्राम्हण रानी को धोखा देकर राज्य छीन लिया था।

हल्दी का राज्य तो एक जमींदारी मात्र रहा होगा, जो इतिहास की दृष्टि से नगण्य है। तुलसी के ही समय में मध्य प्रदेश के एक विशाल भू-भाग गोंडवाना पर गोंड़ों का राज्य था। प्रसिद्ध गोंड रानी दुर्गावती अकबर बादशाह एवं गोसाईं तुलसी दास की समकालीन थी। तुलसी को निश्चय ही इसका पता रहा होगा।

(६) पुनः झड़प जी कहते हैं—

"यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो तुलसीदास जी ने अपने को आरा बलिया का निवासी होने की ओर स्पष्ट संकेत भी किया है। तुलसीदास जनकपुर की यात्रा में श्रीरामचन्द्र जी के साथ दिखाई देते हैं और उनकी अनन्य निष्ठा देख श्री रामचन्द्र जी उन पर अपनी कृपा दृष्टि डालते हैं—

सनमुख सबहिं बिलोकत सबहिं नीके।
कृपा से हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं॥

—गीतावली, बालकांड ७१

जिसे झड़प जी ने स्पष्ट संकेत कहा है, वह अत्यन्त दुर्बल है और स्पष्ट क्या अस्पष्ट संकेत तक नहीं है। भक्त सदैव अपने को इसी प्रकार अपने प्रभु के निकट रखना चाहता एवं कृपा पाना चाहता है। सीता जी के कहने पर राम जी ने तुलसी की विनय पत्रिका पर अपनी सही कर दी—क्या झड़प जी इसे ऐतिहासिक तथ्य कहना पसंद करेंगे ?

'तुलसीदास' अनुराग अवध आनंद अनुभवत तब को सो अबहुँ अघाई

—गीतावली बालकांड ३०

क्या इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने राम के बाल्यकाल के आनंद का अनुभव किया था और अब भी अयोध्या में रहकर उस आनंद का अनुभव कर रहे हैं तथा अयोध्यावासी हैं ?

अपने इष्ट से नैकट्य स्थापित करने के ही लिए तुलसीदास ने राम को स्थान स्थान पर तुलसी के प्राण पिआरे, तुलसी के जीवन धन, तुलसीदास के ईस आदि कहा है—

१. अवलोके भरि नयन आज तुलसी के प्रानपियारे
—गीतावली, बालकांड ६६

२. सकल सुकृत फल माता पिता के, जीवन धन तुलसी के
वही बालकान्ड ५६

३. सकल तनय चिरजीवहु, तुलसीदास के ईस
—राम चरित मानस बालकांड १९६

शृंगारी कविताओं में भी इसी प्रकार रीतिकालीन कविन्दों ने अनेक स्थलों पर जहाँ कवि छाप दी है, अपने पर नायकत्व का भी आरोप कर लिया है। उदाहरणार्थ केवल एक छंद उद्धृत किया जा रहा है—

चूमत पी को कपोल तिया,
तिय को पियहूँ अधरा रस चाखै।
अंक गहै 'हरिऔध' को कामिनि,
पी नवला को भुजा भरि भाखै।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपने जीवन प्रान समान,
लला को लली करिबे अभिलाखै ।
लालहू नेहमयी नव बाल को,
आँखिन की पुतरी करि राखै ।

रस कलस, पृष्ठ ६

(४) संप्रदाय और समाज

इस प्रकरण में झड़प जी का कहना है रामानंद जी ने अपने पंथ का प्रसार काशी में रहकर किया और उनके मत का व्यापक प्रसार केवल भोजपुरी प्रदेश में हुआ। सारन आदि जिलों में रामानंदी संप्रदाय के अन्तर्गत एक चतुर्भुजी उपवर्ग है, जो तुलसी संप्रदाय भी कहा जाता है। भोजपुरी क्षेत्र में रामानंद और रामनंदन नामों की अधिकता है। अतः रामानंद जी भोजपुरी क्षेत्र के ही निवासी थे।

स्वामी रामानंद जी का जन्म स्थान प्रयाग है, यह स्थापित सत्य है। फिर उन्हें भोजपुरी प्रदेश का निवासी कहना कहाँ तक ठीक है? रामानंदी संप्रदाय केवल भोजपुरी प्रदेश में व्यापक रूप से फैला, यह भी ठीक नहीं। अयोध्या रामानंदियों का गढ़ है। अयोध्या के ही मुसलमानों तक को रामानंद जी ने हिन्दू बना लिया था, जो संजोगी कहे गये। तो क्या यह धर्म-परिवर्तन बिना प्रभाव के ही हुआ था?

झड़प जी का मत है कि तुलसीदास का जन्म ऐसे क्षेत्र में हुआ था, जहाँ राम की उपासना का व्यापक प्रचार था, जहाँ शिव, हनुमान, दुर्गा आदि को भी महत्त्व देते थे। ऐसा प्रदेश भोजपुरी क्षेत्र ही है, जिसके विषय में तुलसीदास की जन्मभूमि होने की सम्भावना की जा सकती है।

इस संबंध में निवेदन करना है कि संपूर्ण भारत भूमि में राम का व्यापक प्रभाव है। यहाँ तक कि व्रज-मंडल में भी लोग परस्पर मिलने पर अभिवादन के लिए 'राम राम साब' (साहब)' ही कहते हैं।

झड़प जी के अन्य प्रमाण हैं—

(१) भोजपुरी प्रदेश में ही पुरोहिती को निंद्य वृत्ति माना गया है।

(२) भोजपुरी प्रदेश के ब्राह्मणों में ही सहिष्णुता और उदारता है और धार्मिक असहिष्णुता एवं छुआछूत संबंधी संकीर्णता कम मिलती है।

(३) भोजपुरी प्रदेश में राजा के लिए 'महता' और मंत्री के लिए 'प्रधान' शब्द प्रयुक्त होता है। इन शब्दों का प्रयोग रामानंद एवं कबीर ने इन्हीं अर्थों में किया है।

इन प्रमाणों की प्रामाणिकता पर प्रामाणिक लोग स्वयं विचार करें। मुझे तो इनमें कोई भी वास्तविकता नहीं दिखाई देती।

(५) भावना

झड़प जी के अनुसार भोजपुरी भावना और विचारों की छाप तुलसीदास जी की रचनाओं में प्रायः सब कहीं पाई जाती है। जिन्हें उन्होंने भोजपुरी भावना और विचार समझा है, वस्तुतः वे उतने सीमित दायरे में ही नहीं संकुचित हैं। वे अवध में भी व्याप्त हैं और अन्यत्र भी व्याप्त हो सकते हैं। इस प्रकरण में झड़प जी ने निम्नांकित उदाहरण दिये हैं—

(क) रामहि राम रटन करु जिभिया

इसे लड़कपन में मैंने भी अपने यहाँ अवध प्रांत में बराबर सुना है।

(ख) एक भोजपुरी गीत में रावण का आतंक एवं ऐश्वर्य वर्णन। मंदोदरी रावण को समझाती है। ऐसे कथन अन्यत्र भी हैं।

(ग) भोजपुरी प्रदेश में सबेरे उठने पर घड़ी रात रहते प्रभाती गाने का प्रचलन है—

'जागीं ए सिव शंकर सबेरे उठि'। मेरे पिता जी भी सबेरे उठकर नित्य गाते थे। यह गीत वे यों गाते थे—'सबेरे उठि जागऽहो बंभोला'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) भोजपुरी प्रदेश में गंगा जी सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाली मानी जाती हैं। उन्हें पियरी चढ़ाई जाती है और गंगा जी के गीत गाए जाते हैं। यह भोजपुरी प्रदेश की ही विशेषता नहीं है। अन्यत्र भी लोग गंगा के गीत गाते हैं और मनौती पूरी होने पर रोट और पियरी चढ़ाते हैं।

(ङ) एक भोजपुरी गीत में भक्त चिंतित है कि भगवान को क्या चढ़ाए, क्योंकि सभी चीजें जूठी हैं। यह भाव भी अन्यत्र खड़ी बोली में सुलभ है। "अजब हैरान हूँ भगवन्, तुम्हें कैसे रिझाऊँ मैं।"

(च) एक भोजपुरी शिव स्तुति—

"अपने भिखारी वन पतई चबाई ले
आन के देवे के धन कहां से ले आई ले।'

ऐसी शिव स्तुतियां भोजपुरी प्रदेश के बाहर भी प्रचलित हैं।

(छ) सीता का रूप वर्णन एक भोजपुरी गीत में। ऐसे रूप वर्णन हर प्रांत के लोक गीतों में मिलेंगे।

(ज) भोजपुरी प्रदेश में कूटि कहने का विशेष प्रचलन रहा है, इसी से तुलसी ने भी लिखा—

'तुलसी तेहि औसर लावनिता,
दस चारि नौ तीन इकीस सबै।'

सूर ने कूटों की एक पोथी ही 'साहित्य लहरी' नाम से रच दी। झड़प जी के इस तर्क के अनुसार सूर को निश्चित रूप से भोजपुरी प्रदेश में पैदा होना चाहिए।

(झ) सीता-हरण के पश्चात तुलसी के राम वन के पशु पक्षियों से सीता का पता पूछते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी
तुम देखी सीता मृग नयनी

झड़प जी ने एक भोजपुरी लोककथा दी है और कहा है कि उसी कथा के आधार पर तुलसी ने राम से यह पृच्छाएँ कराई हैं।

तुलसी के सामने भोजपुर की यह लोककथा रही हो, चाहे न रही हो—महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशी के पुरुरवा का विलाप अवश्य था।

(ञ) भोजपुरी प्रांत में बहुधा गुरु, गौ और जनेऊ की शपथ लेने का प्रचलन है। यह प्रचलन भोजपुरी प्रदेश के बाहर भी यत्र तत्र सर्वत्र है।

(ट) भोजपुरी प्रांत की स्त्रियाँ प्रायः कौवे से प्रवासी के आगमन के संबंध में सगुन कराती हैं। हिंदी भाषा भाषी प्रदेश की सभी स्त्रियाँ इस दृष्टि से समान हैं। भोजपुरी प्रांत को ही यह गौरव क्यों दिया जाय?

(ठ) भोजपुरी प्रदेश में प्रातःकाल लोग सूम का नाम नहीं लेते। यह बात भी सर्वत्र है। सूम ही नाम क्या, बुरे गाँव का भी नाम नहीं लेते।

(ड) भोजपुरी प्रदेश में काशीफल को कोंहड़ा कहा जाता है। हमारे यहाँ अवधी-भाषी-प्रदेश में भी। कुम्हड़ बतिया के तर्जनी देखते ही मुरझा जाने वाली बात भी प्रचलित है।

(ढ) भोजपुरी प्रदेश में स्त्रियाँ शीतलाष्टमी और शिशुओं की छठी आदि के अवसर पर दाहिने हाथ से दीवाल पर सात छाप लगाकर ऐपन बनाकर पूजा करती हैं। यह प्रक्रिया अन्यत्र भी है। मेरे पिता जी शीतला जी के सेवकिया थे, वे भी दीवार पर हाथ से ऐसे ऐपन बनाते थे।

(ण) विनय पत्रिका में गणेश की स्तुति के बाद सूर्य की स्तुति है। इसके संबंध में झड़प जी का यह मत है कि यह भोजपुर एवं बिहार में प्रचलित कार्तिक शुक्ल षष्ठी के सूर्यव्रत के प्रभाव स्वरूप है। सूर्य तो इतने जाग्रत देवता हैं कि इन्हें सूर्य नारायण कहा जाता है और प्रत्येक भक्त हिन्दू स्नानोपरांत सूर्य को अर्घ्य देता है। अतः इस आधार पर तुलसी को बलिया का भोजपुरिया नहीं सिद्ध किया जा सकता।

(त) तुलसी हनुमान के भक्त हैं। झड़प जी के अनुसार भोजपुरी प्रदेश में हनुमान जी की पूजा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम प्रचलन है। विशेषकर भूमिहारों में। हनुमान जी भारत वर्ष में सर्वत्र पूजनीय हैं। भोजपुरी प्रदेश के भूमिहारों में ही नहीं।

६. आचार व्यवहार

झड़प जी के अनुसार राम चरित मानस आदि ग्रंथों के अनुशीलन से विदित होता है कि उनमें जिस प्रकार के आचार व्यवहार का वर्णन है, वे प्रायः भोजपुरी प्रदेश के आचार व्यवहार के अनुसार ही हैं। हास-परिहास, नातेदारों के भोजनकाल में मनोरंजनार्थ गाली गाना, पंचकौर निकालना, नहछू, बरात की तैयारी, विवाहोत्सव, पुत्रोत्सव, भोज आदि की विधियाँ भी सब वैसी ही हैं।

(क) बरात में दही चिउरा और मछली भेजने का उल्लेख रामचरित मानस में है।

झड़प जी के अनुसार यह भोजपुरी रिवाज हैं। झड़प जी यह भी मानते हैं कि यह रिवाज मिथिला में भी है। यह रिवाज मेरे अपने क्षेत्र में नहीं है।

(ख) भोजपुरी प्रदेश में कन्या पक्ष की ओर से बरातियों के पैर धुलाने की प्रथा है। रामचरित मानस में जनक ने दशरथ आदि के पैर धोए हैं। यह प्रथा हमारे यहाँ भी रही है। पर पैर धोने का काम नाई करता रहा है। अब इस प्रथा का उठान-सा हो गया है।

(ग) भोजपुरी प्रदेश में मछली की सौगात देना, मछली का दर्शन करना शुभ माना जाता है। मछली का शकुन तो प्रायः सर्वत्र माना जाता है। झड़प जी कहते हैं—तुलसीदास की जन्म-भूमि ऐसे प्रदेश में थी, जहाँ बड़े लोग मनोरंजनार्थ वंशी द्वारा मछली का शिकार करते हैं। कटिया में चारा लगाकर मछली फँसाने का काम सर्वत्र होता है, केवल भोजपुर में नहीं।

(घ) भोजपुरी प्रदेश में कुलीन ब्राह्मणों में पर्दा का प्रचार है, बुंदेलखंड एवं पश्चिम के ब्राह्मणों में नहीं। पर्दा मुसलमानी प्रभाव है और हिंदी भाषा-भाषी प्रदेश में प्रायः सभी बड़े लोगों में रहा है और अब भी है।

(ङ) भोजपुरी प्रदेश और बिहार में ही संबोधनार्थ 'बाबू' शब्द का व्यवहार होता रहा है। गोस्वामी जी ने भी 'बाबू' शब्द का व्यवहार साधुओं से कराया है यथा—

'आयसु, आदेश, बाबू'

—कवितावली उत्तरकांड १४०।

उक्त छंद में 'बाबू' नहीं है, 'बाबा' है।

(च) भोजपुरी प्रदेश में स्त्रियाँ दिए को आंचल से बुझाती हैं और आँचल पसार कर ही आशीर्वाद लेती देती हैं।

आँचल से दिया बचाने और दिया बुझाने दोनों का काम अन्यत्र सर्वत्र होता रहा है दिल्ली आगरा वाले रहीम भी यह जानते थे—

जो रहीम दीपक दसा, तिय राखत पट ओट
समय परे ते होत है, वाही पट की चोट।

हमारे यहाँ भी बहुएँ अपनी सासुओं एवं सासु तुल्या अन्यों के पैर आँचल पसार कर छूती हैं और आशीर्वाद लेती हैं। आँचर पसार कर आशीर्वाद देने की प्रथा भोजपुरी की विशेषता होगी?

(छ) 'सदा सुहागिन होहु तुम' और 'अचल होय अहिवात तुम्हारा' कहकर आशीर्वाद देने का ढग भी भोजपुरी ही है। क्या यह तथ्य है? अन्यत्र ऐसा आशीर्वाद नहीं दिया जाता?

(ज) बनारस प्रांत और बिहार बंगाल में ब्रह्म हत्या घोर सामाजिक अपराध है। क्या हिंदुस्तान के किसी कोने में ब्राह्मण हत्या सामाजिक पुण्य है? भारत भूमि में ब्राह्मण सर्वत्र पूज्य हैं।

(झ) जे वर्णाधम तेलि कुम्हारा।
सुपच किरात कोल कलवारा।

झड़प जी के अनुसार ए जातियाँ भोजपुर में अधम मानी जाती हैं। इसीलिए तुलसी ने लिखा। अन्यत्र भी, सर्वत्र नहीं, ए जातियाँ अधम मानी जाती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ञ) भोजपुरी प्रदेश में लोग रात में किसी स्थान पर बैठकर इतिहास पुराण कथावार्ता सुनते थे। यह स्थिति अन्यत्र भी है। रात में ही किसानों को फुरसत मिलती है।

(ट) भोजपुरी प्रदेश में पुत्री के घर एवं गांव का अन्न जल ग्रहण करना उचित नहीं। यह बात अन्यत्र भी है।

(ठ) भोजपुर में अधिक अधीनता प्रकट करने के लिए कहा जाता है कि मैं आपके जूते तर का हूँ। बड़ों के पैर छूकर प्रणाम करने की परिपाटी है। स्त्रियाँ बड़ों के चरणों पर अंचल रोपती हैं। ये बातें सर्वत्र हैं, केवल भोजपुर में नहीं।

(ड) गोस्वामी जी द्वारा गोंड़ऊ शैली में पद-रचना तथा उसमें भोजपुरी शब्दों और प्रयोगों की अधिकता इस बात की सूचक है कि गोस्वामी जी की बाल्यावस्था भोजपुरी प्रदेश में व्यतीत हुई थी। गोंड और कहार अन्यत्र भी हैं और कहरवा प्रसिद्ध लोक गीत है, जो अवध में भी प्रचलित है।

(ढ) होली पर गधे की सवारी के जलूस भोजपुरी प्रदेश में निकाले जाते हैं। ऐसी मजाकिया चीजें अन्यत्र भी होती रही हैं। मेरे गाँव में भी काजल चूना पोतकर गधे की सवारी करने वाले के दर्शन होली पर किए जा सकते हैं।

(ण) भर जाति का केन्द्र भोजपुरी प्रदेश है। ऐसा नहीं माना जा सकता। यदि भर शब्द भार शिव से बना है, तो भारशिवों का राज्य विन्ध्याचल में था, जो भोजपुरी प्रदेश के बाहर है और अवधी भाषी क्षेत्र में है। हमारे भी क्षेत्र में भरों की पुरानी कोटें मिलती हैं।

(त) झड़प जी के अनुसार बैल लादने का प्रचार विशेष रूप से भोजपुरी प्रदेश में रहा है। बैलों पर वाणिज्य का कार्य बहुत होता था और संपूर्ण भारत में होता था। अब भी यत्र तत्र होता है। बरेली में तो शौकी बैल पर लादी लादते हैं—अन्यत्र गधे पर।

(थ) राय और साहि भोजपुरी प्रदेश में भूमिहारों के नामांत में प्रायः प्रयोग में आते हैं। पर ये दोनों राजा के सूचक शब्द हैं और अन्यत्र भी प्रयुक्त होते हैं।

(द) काहि जय जीअ बैठ सिर नाई

जय जीअ भोजपुरी प्रदेश के आशीर्वाद शब्द हैं ऐसा झड़प जी का कहना है। हमारे यहाँ भी ये शब्द 'जय हो', 'जीअऽ' (जियो) रूप में प्रचलित हैं।

(ध) तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत संवादों में स्पष्ट रूप से भोजपुरी प्रकृति की विशेषता है। शालीन के साथ शालीनता का एवं अधम के साथ अधमता का व्यवहार भोजपुरिया करता है। यह विशेषता केवल भोजपुरियों की नहीं।

(न) झड़प जी के अनुसार भोजपुरी प्रदेश में जन्म पर बधावा बजाने वाले स्वयं आते हैं, अवध में बुलाये जाते हैं। ऐसी कोई बात नहीं। वे व्यक्ति के हैसियत के अनुसार आते भी हैं और बुलाये भी जाते हैं।

(प) नहछू बरात के घर से चलने के समय होता है। यजोपवीत पर भी होता है और भोजपुर से बाहर के क्षेत्रों में भी होता है। हल्दी चढ़ना, कलस स्थापना, तेल चढ़ना, सभी बातें अवध में भी होती हैं। गाली भी प्रायः सर्वत्र गाई जाती है। इन बातों को भोजपुरी क्षेत्र की विशेषता मानना और इनके आधार पर तुलसी को बलिया में पैदा हुआ कहना समीचीन नहीं।

७. कृषि और खानपान

तुलसी ने एक दोहे में 'पाही खेती' का उल्लेख किया है—

पाही खेती, लगन बट, रिन कुब्याज, मग खेत
बैर बड़े सों आपने किए, पाँच दुख देत
—दोहावली ४७८

झड़प जी ने पाही खेती को पकड़ा है और बलिया जिले के गंगा सरयू के दियारे की खेती के कष्टों का वर्णन किया है तथा तुलसीदास को बलिया वाला बनाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और पाही बलिया का वैशिष्टय नहीं है। पाही खेती वह खेती है, जिसका किसान दूसरे दूर के गाँव में रहता है। हमारे यहाँ की एक लोकोक्ति है—

घर घोसिया मड़ियाहू पाही
लड़िका मरि गए आवाजाही

घोसिया माधोसिंह स्टेशन के पास वाराणसी जिले में कालीन का प्रसिद्ध निर्माण केन्द्र है और मड़ियाहूँ, जौनपुर जिले की तहसील है। स्पष्ट है इस पाही खेती से तुलसी को गंगा सरजू के संगम के निकट का निवासी नहीं सिद्ध किया जा सकता।

झड़प जी ने तुलसी की निम्नांकित उक्तियां उद्धृत की हैं और इनके सहारे इन्हें भोजपुरी प्रदेश का निवासी बनाने की कृपा की है—

१. तुलसी अति नीचे सुखाद,
ऊख नन्न अरु धान
अति ऊँचे भूधरन पर,
भुजगनि हो को थान
—दोहावली

२. ऐसी हठ जैसी गाँठ पानी परे सन की
—क० उत्तरकांड

३. आपनो चना चबाइ हाथ चाटियतु है—क० उ०

४. मानत हौं चारि फल चारि ही चनक को
—क० उ०

५. फरइ कि कोदव बालि सुसाली—राम चरित मानस

६. सूखत धान परा जनु पानी—राम चरित मानस

७. सुचि सुन्दर सालि सकेली—क० उ०

८- होइहि जब कर कीट अभागा—राम चरित मानस

९. विविध विधान धान जरत बखारहीं—
क० सुन्दरकांड

क्या इनसे तुलसी किसी प्रकार भोजपुरिया बनाए जा सकते हैं ?

इसी प्रकार झड़प जी ने भाँग, सेतुआ, पीने का भी निरर्थक सहारा लिया है। भाँग तराई इलाके में स्वतः होता है। सारन जिले में ही नहीं, मैंने इसके पौधे मुजफ्फरपुर जिले में देखा हैं, साथ ही हरिद्वार में भी।

८. भाषा

पृष्ठ १७६-९९ तक झड़प जी ने तुलसी की भाषा में भोजपुरी वैशिष्ट्य दिखाने का प्रयास किया है, जो व्यर्थ है क्योंकि जितनी भी बातें कही गई हैं, वे सभी अवधी में भी पाई जाती हैं। अतः इस प्रकरण पर तूल देना व्यर्थ है।

९. झलक

इस प्रकरण में निम्नांक्ति कथन हैं :—

१. संवादों में तुलसीदास की मातृ भाषा भोजपुरी की झलक है।

२. तुलसीदास कुलक्षणी थे, अतः 'मुलहा' कहे जाने लगे थे। इस प्रयोग के आधार पर इनका निवास स्थान काशी और बलिया के मध्य कहीं होना चाहिए।

३. राम बोला और हुलसी गुणपरक नाम भोजपुरी प्रदेश को विशेषता है। अतः तुलसी पूर्वीय भोजपुरी प्रदेश केनिवासी थे।

४. राम चरित मानस का रूपक प्रस्तुत करते हुए गोसाईं जी ने गंगा सरयू एवं सोन संगम का वर्णन किया है, जो इनके जन्म स्थान का सूचक है।

५. राम और तुलसी दोनों का गोत्र वसिष्ठ था। सीता और तुलसी की माता हुलसी का गोत्र गौतम था। इस लिए तुलसी ने कहा है—

तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को।

६. राम ने कहा है—

जन्म भूमि मम पुरी सुहावनि
उत्तर दिसि सरजू बह पावनि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झड़प जी के अनुसार प्रकारांतर से यदि इसे तुलसी की भी जन्म भूमि का संकेत मानें, तो सरयू जी बलिया से उत्तर को बहती है।

इन सब तर्कों में कितना बल है, इसपर पाठक स्वयं विचार कर लें।

१०. हुलसी-स्थान

किसी हुलसी सती का स्थान बलियानगर से ६मील पूरब गंगा तट पर स्थित है। यह हल्दी के पास है। झड़प जी का अनुमान है कि यह तुलसीदास की माँ का स्थान है, जो तुलसी के पिता के निधन होने पर सती हो गई थीं।

अवधी और भोजपुरी में ईकारांत स्त्रीलिंग व्यक्ति-वाचक संज्ञाएं जब संबोधित की जाती है, तो आदरार्थ उन्हें आकारान्त कर दिया जाता है। ईकारान्त संबोधन में कुछ अनादर की सी भ्रांति होती है। जैसे हे सजनी, न कहकर लोग हे सजना कह देते हैं। उसी प्रकार हुलसी का आदरार्थक रूप हुलसा होगा। हुलसी से हुलसा होगा, न कि हुलासो।

झड़प जी के इस हुलासो सती वाले विवेचन में भी मुझे कोई सार नहीं दिखाई देता

(ख) जाति विचार

तुलसीदास जी ब्राह्मण हैं। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी एक मत हैं। वे कौन से ब्राह्मण हैं—इसी में मतभेद है। उन्हें कान्यकुब्ज, सनाढ्य एवं सरयूपारीण कहा जाता है। बहुमत उनको सरयूपारीण ब्राह्मण मानता है। श्री कुलदीप नारायण राय 'झड़प' ने अपनी पोथी के पंचम अध्याय (पृ० २४५-३५६) में इन्हें भूमिहार ब्राम्हण सिद्ध करने का प्रयास किया है। झड़प जी का कहना है कि आदि काल में ही ब्राम्हणों के दो वर्ग रहे हैं। एक वर्ग वह जो पुरोहिती करता था और दूसरा वर्ग जो पुरोहिती को हीन वृत्ति मान कर उससे घृणा करता था। एक दान लेने वाला था, दूसरा दान न लेने वाला था। एक दीन हीन था, दूसरा वैभव-संपन्न। एक प्रतिग्राही था, दूसरा अप्रतिग्राही। एक निर्धन विपन्न किसान था, दूसरा संपन्न जमीदार। गोसाईं तुलसीदास जी इसी दूसरे वर्ग में उत्पन्न हुए थे और भूमिहार थे।

इस सम्बन्ध में मेरा कहना है कि सामान्यतया जिसको ब्राम्हण कहा जाता है, वह भूमिहार से सर्वथा अलग है। भूमिहार लोग ठाकुर कहे जाते हैं और उनके संस्कार ब्राम्हणों के कम, राजपूतों के अधिक हैं। बहुत पहले यह विभेद संभवतः नहीं था। चाणक्य ब्राम्हण माने जाते हैं, हैं वह भूमिहार। इनके वंशज बिहार में चनकिया बाभन कहे जाते हैं। बिहार में 'बाभन' और 'ब्राह्मण' दो वर्ग हैं। 'बाभन' भूमिहार का द्योतक है। ब्राह्मण और बाभन का या भूमिहार का यह विभेद मुस्लिम काल से प्रारम्भ होता है, जब मुस्लिम संपर्क के कारण भूमिहारों में ब्राह्मणों से विभिन्न संस्कृति का, रहन-सहन का, बोलचाल का विकास होने लगा। यहाँ तक कि भूमिहारों का ब्राम्हणों से अलग एक वर्ग ही हो गया और भूमिहार अब्राम्हण माने जाने लगे। यह तो आधुनिक युग में स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने, जो स्वयं भूमिहार थे, भूमिहारों को ब्राह्मण कहने का आन्दोलन चलाया और नामों के अन्त में शर्मा लगाने की चाल चलाई तथा भूमिहार लोग अपने को ब्राम्हण कहने लगे। तुलसीदास के युग में भूमिहारों की स्थिति क्या थी, राम जाने, वे ब्राम्हण कहलाते थे, या आज की ही तरह एक अन्य ब्राम्हणेतर जाति कहे जाते थे। हाँ, उनके मान, वैभव, ऐश्वर्य, संपन्नता में कभी भी कमी नहीं थी। न तब, न अब।

मुझे दूसरी बात यह कहनी है कि झड़प जी ब्राम्हणों की जो दो श्रेणियाँ मानते हैं—प्रतिग्राही और अप्रतिग्राही, वह भूमिहारों को अलग कर देने पर भी अपनी जगह पर ठीक है। भूमिहार तो अप्रतिग्राही हैं ही, ब्राह्मणों में भी अधिकांश अप्रतिग्राही ही हैं। झड़प जी ने प्रतिग्राही ब्राह्मणों को पुरोहित भी कहा है। ब्राह्मणों की संख्या बहुत है और उनमें से बहुत कम पौरोहित्य करते हैं। यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी ब्राम्हण केवल पौरोहित्य करने लगें, तो वे खाए बिना मर जायँ। अस्तु, भूमिहारों को अलग कर देने पर भी, ब्राह्मणों में दो वर्ग हैं—प्रतिग्राही और अप्रतिग्राही—ऐसे ही अप्रतिग्राही, संपन्न ब्राह्मण परिवार में तुलसी ने जन्म लिया, यह मानने में मुझे आपत्ति नहीं है। जिस अप्रतिग्राही, संपन्न, जमींदार ब्राह्मण वंश में, तुलसी ने जन्म लिया, वह ब्राम्हण वंश ही था, भूमिहार वंश नहीं, झड़प जी के सारे तर्क यही सिद्ध करने में लगे हैं कि तुलसी ने जिस कुल में जन्म लिया, वह अप्रतिग्राही जमीदार ब्राह्मण कुल था। ब्राह्मणों में से अधिकांश अप्रतिग्राही हैं—पुरोहित नहीं हैं—साथ ही ब्राह्मणों में भी बहुत से जमींदार हैं, संपन्न हैं। इसके उलटे सभी भूमिहार जमींदार नहीं हैं और न सभी एक से संपन्न ही। उनमें भी निर्धन एवं भूमिहीन लोग हैं। किसी युग में इनके पुरखा जमींदार रहे होंगे। यह विशाल भूमि न जाने कितनी बार टुकड़ों में बँटती चली आयी है और जो भूमि किसी युग में एक के आधीन थी, वही आज उसके वंशजों में हजार-हजार टुकड़ों में बँट गई है। अस्तु, झड़प जी ने तुलसी को भूमिहार सिद्ध करने के जो तर्क दिए हैं, वे ठीक नहीं। उनसे तुलसी भूमिहार नहीं सिद्ध होते। अप्रतिग्राही संपन्न ब्राह्मण मात्र सिद्ध होते हैं।

झड़प जी ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, उन्हें भी यहाँ संक्षेप में एक एक बार देख लेना असंगत न होगा। उनकी आलोचना करना भी व्यर्थ ही है।

(१) तुलसी प्राकृत जन का गुण गान अनुचित मानते थे। अतः वे किसी के चाटुकार नहीं थे और पुरोहित स्वभाव की कसौटी पर नहीं उतरते। उनका स्वभाव अप्रतिग्राही ब्राह्मणों के अनुवंशिक स्वभाव से मिलता है। निर्भीकता और स्पष्टवादिता उनकी विशेषता है।

(२) तुलसी ने स्पष्ट रूप से पुरोहिती की निन्दा की है। दान लेने की निन्दा में तो उन्होंने यहाँ तक कहा है—

तुलसी दान जो देत है, जल में हाथ उठाय
प्रतिग्राही जीवै नही, दाता नरके जाय।
—दोहावली ५३३।

अतः वे पुरोहित वर्ग के नहीं थे।

(३) विनय पत्रिका में तुलसी ने अपना पेशा निम्नांकित प्रकार बताया है—

मध्य वयस धन हेतु गँवाई,
कृषी बनिज नाना उपाय।

स्पष्ट है तुलसी का पेशा कृषी था, जो भूमिहारों का प्रमुख पेशा है।

(४) तुलसीदास ने ऐसे अनेक शब्दों का व्यवहार किया है, जो जमींदारों और कृषकों के यहाँ ही व्यवहार में आते हैं—यथा—मिलिक, कारनिक, नापजोख, खेत का धोखा।

(५) पुरोहित वर्ग का ब्राह्मण शिकार-प्रिय नहीं होता। तुलसी ने रामचन्द्र के मृगया विहार के जो स्पष्ट चित्र अंकित किए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वे कभी न कभी शिकार खेलने वालों की मंडली में अवश्य सम्मिलित हुए थे और उसे भलीभाँति देखा था। शिकार एवं शिकारियों की प्रकृति और व्यवहार से वे पूर्ण परिचित थे।

(६) अनुचित बातों पर उत्तेजित हो उठना जमींदार ब्राह्मणों का गुण है। तुलसी परम उदार थे, फिर भी उनमें यह जातीय गुण है—

हम लंखि, हमहिँ हमार लखि,
हम हमार के बीच
तुलसी अलखहिँ का लखै,
राम नाम जपु नीच

(७) जमींदार ब्राह्मणों की एक विशेषता अच्छी व्यवस्था-बुद्धि और राजनीति में पटु होना भी है। इसी को भूइँहरई' कहते हैं। सारे संसार को सियाराम मय देखने वाले तुलसी ने भी राजनीतिक व्यवहार में कूटनीति को बुद्धिमानी कहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्रु सयानो सलिल ज्यों,
राखि सीस रिपु नाव
बूड़त लखि, पग डगत लखि,
चपरि चहूँ दिसि घाव
—दोहावली ५२०

तुलसी केवल सरलता को दोष मानते हैं।

(८) तुलसी के आराध्य इष्टदेव अस्त्रशस्त्र धारी, कानन-चारी, लोकमर्यादा की रक्षा में तत्पर तपस्वी वेषधारी असुरारी राम हैं। बोल को अटल, बाँह को पगारु, दूबरे को दानी, दिबोई भावै, मारि कै मार थप्यो, भट ठाकुर की रीझि आदि के द्वारा गोस्वामी जी ने अपने वंश परमंरागत गुणों का ही दर्शन कराया है।

(९) दान के विषय में तुलसी का मत है कि जैसे तैसे देना ही चाहिए। जो दान देने में असमर्थ है, उसे भी चाहिए कि वह किसी से कुछ न ले। अप्रति-ग्राही ब्राह्मण वर्ग में प्रायः यह प्रवृत्ति आज भी पाई जाती है।

(झड़प जी को शायद जानकारी नहीं है कि तीर्थराज प्रयाग के सारे पंडे जो प्रयागवाल कहलाते हैं और दान लेते हैं, भूमिहार ही हैं)।

(१०) भूमिहार ब्राह्मणों के मूलस्थान धर्मारण्य (कान्य-कुब्ज प्रदेश का मदारपुर) में ही प्राचीन काल से गणेश, सूर्य, धर्मराज, देवी, हनुमान, नृसिंह आदि देवताओं की पूजा प्रचलित थी। इसीलिए यदि तुलसीदास ने विनय पत्रिका में सर्व प्रथम क्रमशः गणेश, सूर्य, देवी, हनुमान, गंगा और जमुना के व्याज से धर्मराज आदि देवताओं की वंदना की है, तो इसका अभिप्राय यह है कि इसका सम्बन्ध उनके परपंरागत (भूमिहार)—कुलाचार से है।

(इन देवी देवताओं की पूजा तो समस्त हिन्दुओं द्वारा होती है—भूमिहार ही इनकी पूजा नहीं करते।)

(११) तुलसी ने पार्वती मंगल, जानकी मंगल नामक मंगल ग्रंथों की रचना भूमिहार कुलाचार से प्रेरित होकर स्त्रियों के निमित्त की। झड़प जी के अनुसार भूमिहारों में विवाह के अवसर पर सर्व प्रथम शिव विवाह के ही गीत गाए जाते हैं।

(शिव और गौरी समस्त हिन्दुओं के पूज्य देव हैं और इनके गीत किस हिन्दू समाज में मांगलिक अवसर पर नहीं गाए जाते ?)

(१२) झड़प जी के अनुसार तुलसी वर्णित विवाह की पद्धति एवं आचार भूमिहार ब्राह्मणों के आचार एवं पद्धति के मेल में है, अतः तुलसी भूमिहार थे। झड़प जी ने इन आचारों का कुछ विस्तार से वर्णन किया है, जिसकी चर्चा यहाँ व्यर्थ है। ये आचार प्रायः सभी उच्च वर्गीय हिन्दुओं के यहाँ विवाह काल में देखे जा सकते हैं।

(१३) गो० तुलसीदास ने स्पृश्यास्पृश्य के संबंध में अपनी रचनाओं में जैसे उदार भाव व्यक्त किए हैं, उससे भी उनके पुरोहित वर्गीय ब्राह्मण होने का मेल नहीं बैठता। तुलसी ने वशिष्ठ द्वारा निषाद को गले लगवाया है, शबरी द्वारा राम का—आतिथ्य कराया है। गृद्ध की अंत्येष्ठि कराई है, ब्राह्मण द्वारा शूद्र को शिक्षा दिलाई है। स्वयं तुलसी ने श्वपच को गले लगाया और गौ—हत्यारे के हाथ भोजन किया।

(१४) परंपरागत कुलाचार का पालन जमींदार ब्राह्मणों की विशेषता है और तुलसी ने परंपरागत कुला-चारों का पालन कराया है।

(१५) भूमिहार ब्राह्मणों में परदा है : तुलसी में भी—
सीस उघारन किन कहयो—दोहावली २५४.

(१६) राम के बन चले जाने पर अयोध्या की दशा—
लागति अवध भयावनि भारी
मनहूँ काल राति अँधियारी

यहाँ 'कालराति' का अर्थ प्रलय की रात्रि नहीं है, भादों की अमावस्या है। बिहार में शाहाबाद और सारन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिलों के मनेरिया और एकसरिया भूमिहार बाभनों के यहाँ कालरात्रि की पूजा का विशेष रूप से प्रचार है, जो उक्त तिथि को होती है, ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि तुलसी का सामान्यतया भूमिहार ब्राह्मण समाज से घनिष्ठ संबंध था।

(१७) भूमिहार ब्राह्मण परंपरा या रामोपासक थे तथा हनुमतपूजक भी, इसीलिए तुलसी रामोपासक एवं हनुमत पूजक हुए।

(राम और हनुमान समस्त हिंदुओं में पूजित हैं)

(१८) धूत कहौ, अवधूत कहौ,
रजपूत कहौ,जोलहा कहौ
कोई काहू की बेटी से बेटा न ब्याहब,
काहु की जाति बिगार न सोऊ।

झड़प जी के अनुसार ये सारे गुण भूमिहारों के हैं—धूत=धूर्तता या मुंडहरई। अवधूत=रामानंदी संप्रदाय का वैरागी, जो सैनिक भी होता था, रामानन्द स्वतः भूमिहार थे। रजपूत=सैनिक वृत्ति। जोलहा=मुसलमान, मुसलमानों से संपर्क रखनेवाला। किसी की बेटी से अपना बेटा ब्याहना=सरयूपारीण ब्राह्मणों की बेटियाँ भूमिहारों में आती हैं। अतः स्पष्ट है कि तुलसीदास रामानंदी परंपरा के जमींदार भूमिहार ब्राह्मण थे।

(१९) पुराहित वर्ग के ब्राह्मण अरबी फारसी पढ़ते थे, न इन भाषाओं के शब्दों का उच्चारण करते थे, जन-भाषा में रचना करना अपनी हेठी समझते थे। इसके विपरीत जमींदार वर्ग के ब्राह्मण मुसलमान शासकों के सम्पर्क में थे, अतः फारसी पढ़ते थे और इनकी भाषा में अरबी फारसी के शब्दों का मिश्रण हो जाता था।

तुलसीदास की भाषा में अरबी फारसी के शब्द हैं, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२०) राम चरित मानस में परशुराम लक्ष्मण संवाद, हनुमान रावण संवाद, अंगद रावण संवाद में जिस हाजिर जवाबी, निर्भीक कथनशैली और वाक्पटुता का दर्शन होता है, वह जमींदार ब्राह्मणों की जातीय विशेषता के अनुसार है।

(२१) तुलसी-शिष्य रामू द्विवेदी ने 'प्रेम रामायण', में तुलसी को 'कुल शील सीमा' कहा है। झड़प जी के अनुसार यह कुल-शील-सीमा' भूमिहारों में ही सीमित है, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२२) घट रामायण के रचयिता तुलसी साहब ने गोसाईं तुलसीदास को कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहा है। पूर्व में कान्यकुब्ज ब्राह्मण नहीं होते। पूर्व के भूमिहार ही मूलतः कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। अतः तुलसी कान्यकुब्ज अर्थात भूमिहार ब्राह्मण थे। 'भक्त कल्पदुम' में राजा प्रताप सिंह द्वारा तुलसी को कान्यकुब्ज लिखने का भी यही रहस्य है।

(२३) हिन्दू संस्कृति ब्राह्मण संस्कृति है। गोसाईं जी भी सबसे पहले ब्राह्मण की,—महिसुर की, वन्दना करने-वालों में है। ब्रह्मशक्ति समाज की पोषक है। इसमें क्षात्र-शक्ति का समन्वय भी उचित है। गोस्वामी जी ने ब्रह्म-तेज और क्षात्रशक्ति का जो समन्वय कर उसका लोक कल्याणकारी रूप प्रस्तुत किया है, उससे ऐसी वंश-परम्परा के प्रति आकर्षण प्रकट होता है, जो इन दोनों शक्तियों से युक्त है—

सापत ताड़प परूष कहंता
विप्र पूज्य अस गावहिं संता

'शापादपि शरादिप' दोनों की शक्ति भूमिहार में ही है, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२४) भूमिहारों को जो पत्र लिखे जाते रहे हैं, उनके सिरनाये हैं—

"स्वति श्री·····सर्व उपमा योग्य नाम उदित, परम पुनीत, नीति निपुण, सामर्थ्य, भार गुन गरिष्ट, मर्यादा सागर, गऊ ब्राह्मण के रछपालक, धर्मावतार' आदि। झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी ने राम-स्तुति में जो 'गो द्विज हितकारी' 'श्रुति सेतु पालक' आदि विशेषण रखे हैं, वे भूमिहारों के पत्रों में लिखी जाने वाली सिरनामे की प्रशस्तियों से ही प्रेरित हैं।

(२५) 'जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागि बस,
खाए अन्न सब के विदित बात दुनी सो।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि तुलसीदास सामान्य या पुरोहित वर्ग के ब्राह्मण होते, तो उन्हें स्वजाति और सुजाति क्या, कुजाति का भी अन्न खाने में ग्लानि न होती, अतः वे किसी विशिष्ट कुलीन जमींदार ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे।

(२६) राम कथा का समापन करते हुए गोस्वामी जी ने काकभुशुंड द्वारा भक्ति का महत्त्व बतलाते हुए जिस आदर्श—चरित्र का विवरण दिया है, वह जमींदार-ब्राह्मण आदर्श के अनुरूप ही है—

सोइ सर्वज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता
सोइ महि मंडित पंडित दाता

महि मुडित=स्कन्द पुराण का 'महि मन्ड'=लक्ष्मणाचार्य का भूमि-भूषण=भूमिहार।

(२७) गोस्वामी जी ने मंडप की सजावट, बरात का ठाटबाट, पुत्र-जन्मोत्सव, दान दहेज, उत्तर-प्रत्युत्तर और युद्धों का जैसा सजीव वर्णन किया है, उससे वे जमींदार वर्ग के ही ब्राह्मण सिद्ध होते हैं।

(२८) कै जूझिबो कि बूझिबो, दान कि काय कलेस
चारि चारू परलोक पथ, जथा जोग उपदेस
—दोहावली ४५१

इस दोहे में बूझिबो के पहले जूझिबो आया है, अतः तुलसी भूमिहार या जमींदार वर्ग के थे।

(२९) सब अंग हीन, सब साधन विहीन,
मन बचन मलीन, हीन कुल करतूति हौं
बुधि-बल-हीन, भाव-भगति-विहीन,
हीन-गुन, ज्ञान-हीन, भाग ही विभूति हौं।
—कवितावली उत्तरकान्ड ६९

वैभव रहित होने के कारण कुलाचार में विरोध पड़ने की बात जमींदार ब्राह्मण ही कह सकता है, क्योंकि उसी के कुलाचारों का सम्बन्ध वैभव पर अवलंबित है। (औरों के कुलाचार क्या फोकट में हो जाते हैं?)

(३०) [क] बार-बार लालच धरनि धन-धाम की
—कवितावली उत्तरकाण्ड १३४

[ख] जाय तो न जरनि धरनि धन धाम की
—वही, ११९

इस कथन से साफ प्रकट है कि गोस्वामी जी का जन्म एक भूम्याधिकारी, संपत्तिशाली और प्रतिष्ठित वंश में हुआ था, किन्तु इनका सब कुछ दूसरों ने ले लिया था, जिसका क्षोभ साधु होने पर भी उनके मन से दूर नहीं हो पाता था।

(३१) राम सोहातो तोहिं जो, तू सबहि सोहातो
काल कर्म कुल कारनी कोंऊ न कोंहातो
—विनय पत्रिका १५१

गोस्वामी जी का जन्म एक परम्परागत जमींदार परिवार में हुआ था। यहाँ कारनी (कार्णिक=जमींदारी का पट्टा देने वाला रजिस्ट्रार) का उल्लेख इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर देता है।

(३२) 'हाथी स्वान लेवादेई' का सम्बन्ध जमींदार को छोड़ और किससे हो सकता है?

(३३) कृष्ण गीतावली के पद ३२ में मिलिक, बैरख, नकीब आदि शब्द सरकार सम्बन्धी हैं। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग जमींदार ब्राह्मणों द्वारा होना ही सम्भव है, क्योंकि उनका राजकाज से सम्बन्ध था।

(३४) तुलसी की माता 'हुलसी सती' कस्तुवार भूमिहार ब्राह्मण वंश की बताई जाती हैं।

(३५) तुलसी की ससुराल इलाहाबाद जिले में टोंस और गंगा के संगम पर स्थिति पनासा के हीरापुरी पाण्डेय वंश में थी, जो भूमिहार वंश है।

(३६) तुलसी का भदैनी (काशी) के टोडर से नाता-रिश्ते का घनिष्ट सम्बन्ध था। उक्त टोडर भूमिहार थे।

(३७) गो० तुलसीदास को जमींदार ब्राह्मणों ने आश्रय दिया, उनकी रामायण और रामलीला का प्रचार किया कराया तथा उनके द्वारा श्री हनुमान जी के विग्रह स्थापित कराए। यहाँ तक नहीं, उनके नाम पर स्मारक खड़े करने वाले, उनकी स्मृति में ग्रन्थ रचना करने वाले इसी समाज के लोग हैं। श्री तुलसीदास की निवास भूमि अयोध्या, काशी, चित्रकूट, राजापुर आदि में इसी समाज के लोगों ने अनेक कृतियाँ खड़ी कीं। उक्त स्थानों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी समाज के लोग आज भी आच्छादित किए हुए हैं, जबकि वे प्रायः (काशी छोड़कर) उन क्षेत्रों के निवासी नहीं हैं। प्रायः तुलसीदास द्वारा राजापुर का मन्दिर भी काशिराज द्वारा निर्मित कराया गया कहा जाता है। स्पष्ट है कि तुलसीदास से भूमिहार—ब्राह्मणों का कुछ विशेष लगाव और अपनत्व रहा है; जो वंशगत होना सिद्ध है। स्वजातौ परमा प्रीतिः।

(३८) गीतावली में राम राज्यभिषेक का वर्णन है—

वेद पुरान विचारि लगन सुभ,
महाराज अभिषेक कियो
'तुलसीदास' जिय जानि सुअवसर;
भगति-दान तब माँगि लियो।

झड़प जी के अनुसार "तुलसीदास ने वेद पुराण को विधि से शुभ लग्न में (राम का) राज्याभिषेक किया"।

स्पष्ट है कि तुलसीदास अपने को वसिष्ट का प्रतिनिधि अर्थात वंश परम्परा में होना मानते हैं अर्थात् वशिष्ट गोत्रीय हैं।

'तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को,
के अनुसार भी तुलसी वशिष्ट गोत्रीय थे।

(३९) तुलसी वशिष्ट गोत्रीय थे, उनकी ननिहाल गौतम गोत्र में थी और ससुराल भरद्वाज गोत्र में। इन सभी भूमिहार कुलों के कुलदेवता शिव हैं, अस्तु तुलसी की शिव-भक्ति उनकी कुल-परम्परा से सम्बन्धित है।

(४०) गोस्वामी जी की वंशगत उपाधि ठाकुर रही होगी। इसके लिए दो उद्धरण झड़प जी ने दिए हैं—

१. ठाकुर महेश ठकुराइन उदासी जहाँ
—कवितावली उत्तरकांड

२. ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो
—विनय पत्रिका

अपने मित्र टोडर को भी गोस्वामी जी ने ठाकुर कहा है। इससे ठाकुर आस्पद के प्रति इनकी आस्था प्रकट होती है और अपनत्व भी। यह ठाकुर तीन अर्थ देता है, ब्राह्मण, नाई और राजपूत—

ठाकुर ठाकुर तीन ठाकुर
बाभन ठाकुर, नाऊ ठाकुर, ठाकुर ठाकुर

तो तुलसी बाभन (भूमिहार) ठाकुर थे।

उपसंहार

झड़प जी ने ९ शीर्षकों में तुलसीदास के जन्म-स्थान पर विचार किया है। उनके निष्कर्ष कई हैं—

१. तुलसीदास का जन्म भोजपुरी प्रदेश में कहीं हुआ।
२. तुलसीदास का जन्म काशी और बलिया के बीच कहीं हुआ।
३. तुलसीदास का जन्म पूर्वीय भोजपुरी प्रदेश में हुआ।
४. तुलसीदास का जन्म गंगा सरयू संगम के निकट कहीं हुआ।
५. तुलसीदास की जन्मभूमि गंगातट-स्थित राजापुर गंगौली (गंगा तट का गाँव) है, जो बलिया नगर से नौ मील पूरब है।

बलिया के इस राजापुर के लिए कोई विशेष प्रमाण जुटाने की आवश्यकता नहीं समझी गई है। बाँदा जिले के राजापुर नाम को ही आधार मानकर इस राजापुर को तुलसी की जन्मभूमि मानने की कष्ट—कल्पना की गई है। बाँदा का राजापुर तुलसी की जन्मभूमि माना जाता रहा है। अतः तुलसी की वास्तविक जन्मभूमि का नाम राजापुर होना चाहिए। यह विचार धारा झड़प जी के मन में है। भरत-भूमि विशाल है। इसमें सैकड़ों राजापुर एवं सैकड़ों तुलसीपुर हो सकते हैं और हैं। वे सभी राजापुर न तो तुलसी के बसाये हुए हैं और न तुलसी की स्मृति में तुलसीपुर ही अन्यों द्वारा बसाये गये हैं।

जहाँ तक जाति वाली बात है, तुलसीदास ब्राह्मण थे, अप्रतिग्राही ब्राह्मण थे, जमींदार ब्राह्मण थे, पुरोहित वर्ग के नहीं थे—सब ठीक, पर वे भूमिहार ब्राह्मण थे यह प्रबल रूप से सिद्ध नहीं किया जा सका है।

झड़प जी ने अपुष्ट, उपहासास्पद, दुर्बल तर्क पचासों दिए हैं। अच्छा होता दो ही चार तर्क दिए होते, जो परम पुष्ट होते और जो लोगों को इस दिशा में सोचने के लिए विवश कर देते। ०००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Technical Heritage of Ancient early and medieval India - a new light

By Dr. D.N. Shukla

Vedic Foundations—Upa-Vedas, the Founders of Technical Sciences :

In India there was hardly any line of demarcation between Science and Art, and Science without philosophy had no meaning for us. Hence our lore was an integrated whole. As there were Vedas, there were also Upa-Vedas and these Upa-Vedas were the founders of the Technical Sciences and Fine Arts in India. Let me briefly enunciate this proposition.

While Vedic studies relating to the four Saṁhitās, their Brāhmaṇas, Upaniṣads and the Auxilliary Sciences, the Vedāṅgas Śikṣā, recitation (articulation and pronunciation); Chandas, metrical science or the science of ryhthms; Vyākaraṇa, Grammar; Kalpa, ritual;Nirukta hermeneutics, etymology; Astronomy-astrology have born fruitful investigations in realm of Oriental Studies in India and abroad, no serious and concentrated study has ever been bestowed upon our Upa-Vedas. There are numerous references to Upa-Vedas like Dhanurveda, Military Science; Gandharva-Veda, Science of Music; Artha-Veda and Sthāpatya-Veda, etc. etc. in the literature, but where are their texts and treatises ? Are we to suppose that they are all consumed to oblivion due to the neglected study of this technical heritage ?

In military Science, besides immortal classic of Kauṭilya, there are certain later treatises also like Koḍaṇḍamaṇḍana, Ornament of the Bow, the Dhanu, the science and art of archery written by the Encyclopaedic and reputed author, King Bhojadeva of Dhara who is credited to have exhausted practically all the main branches of literature, Grammar, Rhetoric, Aesthetics, Architectures, Medicine and Philosophy—vide more than 3 dozen of massive treatises on these subjects attributed to his authorship. As regards the later technical treatises on Music, Dance Śilpa Drama, Kalās,[1] Kama, Astronomy and Medicine they are well known to us. My purpose, therefore, is to make a passionate plea to start investigations into this branch of knowledge which is not only very appropriate in the present misunderstanding if Ancient India had ever a material culture depending upon the material sciences, posititve, technical and pure.

Brajendra Nath Seal took a lead in writing a monumental monograph "The Positive Sciences of the Ancient Hindus", but his investigations, as he himself claims relate to rather post-Vedic period 500 B. C. to 500 A.D. As regards the technical sciences like Vāstu and Śilpa, my humble contributions are also known to the scholars.

My contention is that if there were Vedas representing ritual, religion and philosophy, there were also Upa-Vedas, founding the material sciences—technical as well as positive. Hindus had founded both the Vidyās, the Parā and the Aparā. Every Veda has an Upaveda. Āyurveda, the science of medicine (including Chemistry, Botany and Physiology) was attached to Ṛgveda. Similarly, Dhanurveda, the Military Science was attached to Yajurveda, Gandharva-Veda and Sthāpatya-cum-Artha-Veda to Sāma & Atharva respectively. This Artha-Upaveda represents Social organisation and State-craft. We know of the Arthaśāstra of Kauṭilya, the most reputed treatise on polity and war-strategy. Thus our

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Vedas and Upa-Vedas have given composite content to make our life perfect in both the aspects the spiritual and the material. How could otherwise we have evolved the definition of Dharma as :

यतोऽभ्युदयनि:श्रेससिद्धि: सधर्म: ।।

Dharma does not mean dogma or ritual ; it means the sustaining factor of life in its most complete aspect. Abhyudaya stands for material prosperity and Niśśreyasa for Mokṣa, the release of the soul from bondage. These are cardinal postulates which have prefected our culture. Thus we can appreciate the balancing of Materialism and Spritualism in our culture.

Āyurveda : The two Upavedas namely Āyurveda and Sthāpatyaveda being very intimately related to the very existence and living of man, naturally were very popular and their culture, studies systematisation, propogation as well as incorporations found appropriate codification in later literature. The founders of these two sciences belong to a hoary past as ancient as Vedic times. Though much has been written on Āyurveda, its study on profounder scientific foundations needs revival so that the modern Positive Science like Chemistry, Physics, Physiology and Botany may come to their own. The health ideals of the Nation need be based on the ideals of living, cutlure and civilization.

Hindu achievements in the fileld of Medicine and Surgery, Chemistry and Mathematics have been well known. Hindu contributions in the fileld of Botany, Zoology and Veterinary Sciences are equally profound and their scientific investigations need be taken up, as there is still misconception in the minds of our own scientists about them. Botanical and Zoological data in a voluminous treatise the Mānasollāsa or Abhilaṣitārtha-Cintāmaṇi of the later Chalukyan king Someśvara III, presupposes very early beginings. Similarly the treatment of Veterinary sciences in this treatise and others like Śukranīti, Śālihotra, Aśvaśāstra, Vāji-praśaṅsā, Haricaturanga, Nakula's Aśva-śāstra, Jayadatta's Aśva-Vaidyaka, Sāra Sindhu (a referred text by Nakula) etc. alongwith Mātanga-līlā, Hastyāyurveda, Gaja-Cikitsā and a host of others fully corroborate this technical heritage of ancient India. Classifications—botanical, medical and dietatic; morphology; Physiology (stems, roots, flowers, leaves, plants), Heredity, Ecology of Plants, Plant-Pathology and breeding etc. were well known to our ancient scientists. Further India being an agricultural country could not have afforded to neglect the Veterinary Sciences.

The pure race-culture was based on 'Trayi'. The later tradition of 'Catvāro Vedāh' is non-Aryan contribution with comingling of cultures. The Atharva-Veda the fourth veda is an illustration. This Veda is a store house of medical foundations which is the gift of the Rgveda as already noticed.

Sthapatya-Veda : This Upaveda gave rise to to two most technical sciences—Vāstuśāstra and Śilpaśāstra. They may be rendered as Science of Architecture including Engineering and Town-planning alongwith the Canons of Iconography-Sculpture including painting and other allied arts. The textbooks of Vāstuśāstra, the Science of Architecture, are records of oral tradition which go back to an undefined past. The testimony of the Bṛhatsamhitā of the 6th Centuary A. D. in this context also supports this antiquity. Varahamihira himself proclaims the authority of the master architect acharyas like Garg and Manu on this lore. Matsyapurāṇa enumerates the eighteen preceptors of vāstuśāstra :

भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा ।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्ष: पुरन्दर: ।।
ब्रह्मकुमारो नन्दीश: शौनकी गर्ग एव च ।
वासदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती ।।
अष्टादशैते विख्याता: शिल्पशास्त्रोपदेशका: ।।

and most of these were Vedic Ṛsis.

Hence The Vedic Foundations of Vāstuśāstra cannot be said to be over-estimated. The conception of Vāstu, its Mandala and its pre-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

siding lord Puruṣa are equally as ancient as Vedic Times. The very Mantra of Vāstu-Purusa is based on the analogy of the Vedic Vāstoṣpati. The foundations of the building construction whether an altar of a shed of initiation or of sacrifice, a residential house or the abode of deity, all go back to the Sutra-period as practically all important Sutra works have detailed expatiations on this side of the Science.

The word 'Śilpa' though comparatively later than 'Vāstu' as per its genesis of ornamentaion and varied and rich motifs, is also as old as Vedic Times. The Aitreya Brāhmaṇa VI.5.27 is a valuable testimony on this subject : 'Śilpāni-works of art, are an imitation of divine forms; by employing their rhythms, a material reconstitution is effected of the limited human personality. Similarly Śulva-Sūtra are a clear development in the science of Architecture, the Sthapatyā-Veda. The Śrauta-Sūtras belonging to the 2000-1500 B.C., contain the rules for rites ordained by the Veda. Each Śrauta-Sūtra seems to have had its own Śulva-Sūtra or section dealing with the measurements and the 'geometry' of the altar. The Vedi is the sacred ground measured out for the Yajña and this Vedi is the mother of Hindu Temple, the richest, the profile development of the art. Science, philosophy, ritual, religion and metaphysics have each contributed to evolve a meeting of Macrocosm and microcosm in Prāsāda, the Hindu Temple. Prāsāda is thus designated as Prāsāda-Puruṣa and Vimāna, the body corporate. Thus this Sthāpatya-Veda contributed a vast literature in the Purānās, Āgamas, Tantras, Pratiṣṭhāpaddhati and Vāstu Śilpa texts proper for the later codifications and enrichments.

Artha-Veda : This Upa-veda gave rise to all the later literature dealing with social organisation, Polity and war. Arthaśātra dominated all thinkers of ancient India. It deals with the totality of social, political and economic relationship and indicates how they are to be properly organised and integrated with one another. All relationship, says Usanas, is rooted in the Daṇḍanīti (Mah XII. 62, 28-9). Manu goes to the extent of declaring that it is Danda who is the real king, the real leader and the real protector.

"धर्मं दण्डं विदुर्बुधाः"

The rules about the functions and duties of the king and the welfare of the state were therefore naturally called Daṇḍanīti. No truly ancient Indian Aryan thinker has ever subscribed or surrendered or relegated the fundamental strategy of diplomacy to the socalled canons of morality and religion. The Promulgator and Preserver, the Defender of the world is Yama, who is not only Yamaraja but also Dharmaraja and the first king on the arch, Prthu was the prototype of Yamaraj and Dharmaraja both, who gave the name of this earth Prithvi. According to Parāśara, wealth is the root of virtue (Dharma) and pleasure (Kama) and this indicates the strong tendency towards a materialistic view of human ends especially the notions and conceptions of Government.

The sum and substance of early predecessors of Kauṭilya like Bhāradvaja and Vātavyādhi was the security not only of the person of the administrator and the state as a whole by all means. Should Kautilya's ever-shining light the 'Arthaśāstra' be not a manual of polity, even to-day ? The ancient Indian Aryans, who were lovers of the nature and are said to have evolved the whole culture and civilization in midst of forests and on the banks of rivers, are the strongest advocates of the fortification of frontiers. Kauṭilya himself precribed the first duty of the state to establish the Durgas, the Forts, not only all around the territories but also in midst of the territories. Himalaya has been our greatest frontier and fortification and in the terminology of Kautilya Durg-varieties, the Pārvata-Durga (Mountain Fort) and the Daiva-Durga (the Celestial Fort) are very important and should these ranges, especially our North-West Frontiers not have been considered to be the most impor-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

tant subject of fortification ? This is the elementary prescription for the security of the State.

Gandharva-Veda : The science of Music, no doubt, is as old as any of these Upavedas and there are abundant references to its antiquity in the later literature on Music, but unfortunately, this branch of technical lore is also hidden from the stand-point of systematic and scientific exposition. Much has been done in the preservation of folk-lore in an intimate relationship with Dance, Drama and Instrumental Music but its codifications, as are found in ancient, early medieval and later medieaval literature, need a projected planning of research. South Indian Musicians, Sangita-Panditas, Nṛtta-Nāṭya-kovidas have done a remarkable service in the preservation of this lore, but Sanskrit scholars especially the Vedists, the experts of Sāma, may take up the lost thread to reconstruct the whole science.

Science of Music is intimately related with Metaphysics. The whole cosmology is based on Icchā and Nāda and the concepts of Nāda-Brahma and Śabda-Brahma are well known. The ancient music aimed at sound in pure form or Brahman, now it is conceived as a means of aesthetic enjoyment. The non-Aryan contributions in the realm of ancient music especially the pre-Vedic times were the real contents. Then followed the period of Hymns of the Ārcikā period or more appropriately the Gāthā period or the period of Tune or the Sāman. It was on the basis of the three Svaras, Udātta etc. that seven notes were discovered in Indian Music. This development may be termed as religious culture. Secular music was also gradually asserting itself. Various types of regional music developed in different regions of the land, sung for the communal entertainment and enjoyment. Epics, Puranas and other ancient literature all corroborate this culture. Ancient authors like Five Bharatas—Nandi, Kohala, Dattila, Bharata and Matanga are the first promulgators. Narada's Sangitamakaranda is another landmark.

The Buddhist period is also noted for the exhuberance in musical authorship as referred by Abhinava-gupta, Śāradatanaya, Nānyabhūpala, Pārśvadeva and Śārangadeva the 10-12th centuary writers. Some of these celebratries are Āstika, Apisali, Uttara, Umāpati, Katyāyana, Kāmadeva, Kumbhodbhava, Ghantaka, Chatraka Datta, Devara, Drauhini, Dhenuka, Priyatithi, Binduraja, Brhat-Kasyapa. Several Bhaṭṭas (as many as six), Rahul, Vena, Vyasa, Vraspati, Sakaligarbha, Surya and Suresvara.

The 3rd period of Indian Music begins with the Hindu Revival after the decline of Buddhism. Most of the treatises are lost, the writers can only be reconstructed from the references and the modest list is : Udbhata, Lollata, Sankuka, Utpaladeva, Nrsimhagupta, Abhinavagupta the reputed author of Abhinavbharati, Bhojadeva, Simhana, Abhayadeva, Mammata (different from Kavyaprakasakara), Rudrasena, Somesvara III (the author of Mansollasa), Locanakavi (Rajatarangani). Paramardi, Devendra (Sangitmuktavali), Somesvaradeva (Sangitaratnavali), Saradatanaya (Bhavaprakasa), Nanyabhupala (Sarasvatihrdayalankara).

In this limited time and space it is not possible to dilate upon the massive treatment of this fascinating science with special reference to the classification of Rāgas—Śuddha, Bhinna and Sādhārana etc. and their Jātis, Nomenclature. However, a note may be struck that King Someśvara's, Mānsollasa, is a store house for some rare information in regard to Non-aryan influence vide Velavulli melody mentioned in it. Hence in the development of Indian Music, the two distinct styles, Northern and Southern styles cannot be under-estimated. Prabandhas or Musical compositions are also a notable development in the technique of the Indian Music.

As regards musical instruments, it is equally a formidable subject. The references go to the earliest times, even to pre-Vedic or pre-Aryan age. The varied instruments found in Mohenjodaro and Harappa excavations include a seven-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

keyed flute which denotes seven note-places, and a stringed musical instrument resembling the Viṇā. Viṇā and Mṛidaṅga were current in Vedic times and the types of the Viṇā as referred in later literature are as many as fifteen to eighteen. Duṅdubhi and Bhūmi are also referred in Samhitās. The Nāradīya-Sikṣā mentions both the Viṇā and the Veṇu connecting former with Vedic music and the latter with Gandharva or popular music. The Viṣṇudharmottara devotes one full chapter on musical instruments entitled 'Ātodya-vidhi' and here the four types of traditional musical instruments, Ghana, i. e. metallic instruments and Avanaddha, i. e. stretched instruments like drum.

Someśvara's Mānsollasa also incorporates further deveopments in this art along with so many varieties and sub-varieties of the principal classes of musical instrument. Kinnarī Veeṇā may be said to represent Kinnaragāna and Yaksagāna still prevalent in South India.

Characterstics of the Technical Science and Fine Arts in India :

After this brief enunication of the Foundation of Technical Sciences and Fine Arts let me now proceed with the character and characterstics of this technical heritage. The most important characterstics of our technical sciences especially the Hindu Science of Architecture are : Philosophical back-ground particularly the Philosophy of Vāstu-Brahma, the Aesthetic ideals and symbolism. Among these I may leave the first on which I am dwelling at length in my volume entitled Śilpaśāstra 'Philosophy of Vāstu-Brahma' and its impact on Temple Architecture.

Aesthetic Ideal of our Fine Arts : Art in India is Iconography. The Viṣṇu-Dharmottara has remarkable contribution on this score and Raja Bhoja in his celebrated treatise, the Samarāṅ gaṇasūtradhāra, has simply cannonised this aspect of Indian Art, which distinguishes it from the Greek Art and provides a Philosophy for Art which is its genesis and genious.

Iconography is both a Science and Art. For an artistic perfection of an image, it has to be accomplished in such a way as to arouse in us the aesthetic experience akin to one as we get from poetry and music. According to the Indian aestheticians, the main purpose of a poetical composition is to arouse pleasure, the 'Āsvāda' what is called 'Rasāsvāda'. And this Rasāsvāda is extolled as 'Brahmānanda-Sahodara'. It is from this fundamental stand point of Indian aestheticism that we do not have tragedies in our dramatic literature. The Indian view or more appropriately the Hindu view of life is one of unbounden faith in eternity, a profound sense of optimism and a sublime outlook of life, coloured by the pneumal existence and heavenly bliss, both Svarga and Apavarga. Naturally, therefore, all arts, be it poetry or music, painting or dance, are to be viewed from this lofty idealism of aestheticism.

In nearly all the phases of Indian art, the Rasa (or impassioned feeling) has played a very prominent role. The Indian belief is that the Supreme Being is Rasa-svarupa (cf. the Indian theory of Rasa-Brahmavada (रसो वै सः) Again image-worship for which icons used to be made of the manifold materials with manifold symbols to be worthy of desired end has to be done in a manner of accomplished art. In dance and drama there is an identification of the spectator with the Naṭa, the actor. A similar identification is essential between the worshipper and the worshipped. This is possible only through the arousing of rasa, the aestheticism, in art. The sculptural monuments in our possession do corroborate this dictum and there we find a number of different 'Rasas' which the artists endeavoured to chisel upon in the dry stones and metals.

Thus aesthticism in art becomes instrumental in producing the भावव्यक्ति and this भावव्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

is dependent on the rasas or rasadrstis cf. the following lines of the Samarangana :—

रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीनामिह लक्षणम् ।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते ।।

Here Citra can stand both for the pictorial images as well as the sculptural ones. Hence according to the Samarāñgana it is the supreme achievement of the image-maker or the sculptor to see to this side of aestheticism in art, the 'bhāva-vyakti'. This aesthetic ideal is really one of the major contributions of Indian Canons of Art as prpounded in the texts like Viṣṇudharmottara and the Samarāñgaṇasūtradhāra, to give a distinct and unique character of Fine Arts in India. The oft-quoted aphorism ब्रह्मानन्द सहोदरो रसः is not without significance and high meaning. It aims at annobling life. Even birds and beasts, the socalled brutes, when characterized with these different sentiments in accordance with the different situations if can go higher up, men and women imbuded with them simply become divine. Further more this aesthetic element in Indian Art pre-supposes the ideal of 'Beautiful' in its real perspective. The beautiful is not only to be viewed in anatomical perspective, but also in the inner manifestation, the sole criterion of the beautiful, the 'Sundara' from the Hindu view of life. Beautiful internally, in its turn, presupposes the truthful the 'Satya' both internally and externally and the art which is both Satya and Sundara, that alone becomes the Beneficient, the 'Śiva' the supreme ideal of life. It is this 'God' of the humanity at large that the Indian seers have always aimed at. Any creation, unless it is condusive to the well being of life, unless inspiring to annobling it and unless high enough for creative urge, is not worth the ideal. It is from this fundamental angle that aestheticism in iconographical art is to be viewed and purviewed.

The following lines from the Samarāñgana Sūtradhara will suffice to illustrate this theme :

हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन् ।
सजीव इव दृश्येत सर्वाभिनयदर्शनात् ।।
आंगिके चैव चित्रे च इदं साधनमुच्यते ।
.....तस्मादनयोश्चित्रमात्रितम् ।।

विना तु नृत्यशास्त्रेण etc. the Visnudharmottara lines especially 'त एव चित्रे विज्ञेया नृतं चित्रं परं मतम्' etc. also propound the same truth.

The Samarāñgana Sūtradhāra recognises as many as eleven Rasas adding Prema etc. and Eighteen Rasadrstis, Lalitā, Hṛṣṭā Vikasitā etc.

The important points in relation to the aesthetics in the pictorial art still need to be expounded. Firstly all these rasas, though characterstics of only human beings, men, women and children and in their likeness the anthropomorphic forms of the gods and demi-gods and demons, they have an application to all sentiment creations 'मानुषानि पुरस्कृत्य सर्वसत्वेषु योजयेत्।' This statement goes to the very core of the art and shows that if birds and animals in paints could be shown manifesting the sentiments, it is really the master-piece, the supreme achievement of the artist. It becomes a new creation, a superior creation to that of Brahma, the Primordial Creator Himself. If it is through the symbolism of Mudrās, hand poses, bodily poses and the postures of the leges that the mute gods speak to us giving vent to the sublimest of thoughts and noblest of expressions, these so-called brutes can also become our co-shares in the aesthetic experience. It is neither extraordinary nor supernatural about it. It is the marvel of the art. If poetry can create an idealistic world, full of beauty and bliss, the painting, her sister must also follow the suit.

Thus a perusal of the sections on painting in the Viṣṇudharmottara and Bhoja's Samarāñgana Sūtradhāra will show how Citra is based on the canons of Nāṭya. For them Citra is only one scene of Nāṭya and Nāṭya a succession of Citras. The Viṣṇudharmottara says that Citra is

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

as much the art of immitation (anukaraṇa) as Natya. The poses, the hands of dance called Nṛtyahastas and the Rasadṛṣṭis—these are studied elaboratly in Nātya and this study is absolutely necessary for, and is fully utilized in painting.

What the hand-poses have implicity expressed (cf. manifold hand poses, like Varada Vyākhyāna Jñaña, Yoga etc. Mudras and 64 Hast postures), the rasas and the rasa-dṛṣṭis make that explicit. Thus the images are bestowed life movement through the symbolism of gesticulation, the very essence of dramatics both put together (Sarvābhinayadarśanāt). Therefore, this delineation of the rasas and rasa-dṛṣṭis and their representation thereof, constitute the fundamental background both in Āṅgika (Drama) and the Citra (Painting) arts. The Science of Painting is dependent on the Science of Aesthetics (Dramatics included).

Symbolism in Indian Art : Symbolism in art is a very very profound and massive subject and it is impossible for me to do any justice here owing to the paucity of the time. However, in this regard I have a thesis to propound that Mudrās should be taken in a wider sense to denote the whole kingdom of symbolism associated with the images of divinities.

So far we have been treating Mudras in a traditionally accepted sense, this view of the previous writers, however, is not correct. Mudrās, the symbols should not be taken only in their subjective, i. e. mental and spiritual attitude manifesting themselves in the bodily poses, they should also be extended in an objective manner, otherwise, the implications of the lakṣaṇas and lāñchanas in Brahmanic images have no meaning. There is a multitude of terms which denote the costume ornaments and headgear in which images are represented together with the objects which images of gods are shown to bear in their hands, such as weapons, implements, musical instruments, animals, birds etc.

I have maintained the thesis that Mudras should not be taken only to denote the poses of hands, body and legs and feet alone, but they are also the symbolic representation of the characterstic emblems of the divinities. In this sense all the symbols characterstic of a particular deity can stand for Mudras. Mudras the poses of hands, etc. as current in literature are more intimately connected with Buddhist images. The Brahmanic images being full of their characterstic emblems like dresses, ornaments, seats and conveyance have not shown so many intricacies of the Mudras as they are generally understood by the Indian artists.

It may, however, be again remarked that in orthodox Hindu Literature, the Mudras are symbolic manifestations and reproductions of the characterstic emblems of the divinities and not generally speaking, the peculiar positions of hands, fingers or feet and body as those of Buddhist and Jain figures. The reason why these so called Mudras are less important in Orthodox Hindu art, may be explained by the presence of their substitutes in great number of weapons and attributes held by Brahmanic deities and these too are Mudras. This contention is borne out by the following quotation.

एकोनविंशतिर्मुद्राः विष्णोरुक्ता मनीषिभिः ।
शंखचक्रगदापद्म.....वेणुश्रीवत्सकौस्तुभः ।।
.....शिवस्य दशमुद्रिकाः ।
लिंगयोनित्रिशूलाख्या मालेष्टाभीमृगाह्वयाः ।।
सूर्यस्यैकैव पद्माख्या सप्तमुद्रा गणेशितुः ।
लक्ष्मीमुद्राचने लक्ष्म्या वाग्वादिन्याश्च पूजने ।।
अक्षमाला तथा वीणा व्याख्या-पुस्तक-मुद्रिकाः
सप्रजिह्वाह्वया मुद्रा विज्ञेया वह्नि पूजने ।

Thus nineteen mudras are known to be of Viṣṇu, some of them being Śaṅkha, Cakra, Gadā, Padma, Śrīvatsa, Kaustubha, Vanamālā etc. Śiva has ten mudras sacred to him i.e. the lingam or the phyllic symbol, the trident, the rosary damaru etc. Sūrya or the sun has only one mudra namely the lotus, Ganesa has seven mudras some of which are the tusk, the goad, the axe, the rice-ball etc. The mudras for Saraswati are

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

are the lute, the book and the rosary. Similarly the mudras of Agni is seven flames.

The symbols of mudras in the broad sense of the term which have been introduced by me for the first time in contemporary studies on Indian Art, are really accessories to the main figure, the conductors, as it were, between the image and the idea. Thus the observation of the elephant in the image of Indra, brings back the whole idea of Royality of which an elephant used to be fundamental emblem. The bull, in India, is a symbol of Dharma and was thus used as the Vehicle of Śiva, the Great Yogi. Symbolism in India is the key-note of its culture and philosophy.

Contribution that Our Technical heritage can make in present day National Reconstruction.

With this brief account of the characrter and content of the Technical science and Fine Arts in ancient India, let me come to my fundamental proposition viz, their place in the present day National Reconstruction.

Sanskrit Language Literature and Civilization was the real bed rock, on which our National Integration was founded. Study of Sanskrit in the past was not confined to a department, as we do today. Sanskrit in the past was a full fledged faculty where different branches of learning including Medicine, Town-planning, Arts, Astronomy, Military Science, Polity, strategy of war and State craft consituted a modest curriculum. The ancient Universities like Nalanda, Taksasila, Vikramasila were all noted for this fundamental organisation of Sanskrit learning in the past. Because we have relegated the study of Sanskrit just as classical languages we are unable to do anything in the reconstruction of the modern India. Modern India needs planning which may bring about national integration based on cultural heritage and its revival. We always see to the West and imitate their pattern. There is a rich literature in Sanskrit on all these branches, study and researches on which can certainly unfold fascinating ideas and practical working in all these sphperes. Let me just take only one branch which is my specialised field, i.e. Ancient Hindu Canon of Architecture including civil engineering, the erudite and scientific treatises like the Mānasāra, Mayamata Śilparatna, Samarāṅganasūtradhāra, Aparājitapṛcchā etc. etc. and the most sublime and remarkable archaeological remains in the realm of town-planning and architecture, we still think that all this is worthy of incorporation.

The Indus valley civilisation and Harappa culture were beginnings in the advanced technique of town-planning. The Vedic village was an ideal habitation. The later onslaughts are a living history of our art and architecture. Who contributed all this ? It is the Sthapatis (the ancient architects and their guildes) and the Sthāpakas the presiding Ācharyas together with the patrons of the art and architecture, the ruling dynasties, Guptas, Pratiharas, Chandellas, Kesaris, Chalukyas, Pallavas, Rastrakutas, Pandyas, Nayakas etc. etc. who could devotedly and dedicatedly surrender all their wealth in the establishments of huge Cathedral temples, the greatest and the largest of the Prasadas, the Hindu temples throughout the length and breadth of this vast sub-continent, the north and the south, the east and the west and the Daccan. Some of the temples like Lingaraja[1] at Bhuvaneswara, Sun Temple at Konark Kandariya Mahadeva at Khajuraho, Minaksi-Sundaresvara at Madura, Siva Temples at Tanjore and Rameswaram and a host of them at such famous sites as Mamallapuram, Kanchipuram, Chiddambaram, Aiohole, Badami, Pattadakal in the South and Udaipur, Modhera, Mount Abu in the north are a testimony of this great artistic upsurge. This could not have been possible if we did not have a systematised body of knowledge of art and architecture and the learned, trained devoted architects. I admit that we are not going to revive our architectural policy of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Temple-building in the modern age, we cannot afford to lavishly spend our national wealth on the construction of temples. We need to found new town-ship, replacing the existing town and build residential houses, construct factories, laboratories, plan out secretariats, offices, embassies, bridges, dams and the like. This is our need. These are our national requirements. Are we not competent to re-orientiate our architectural policy on the fundamentals of ancient Indian canons of architecture. If we could do this, we can certainly have our nationality, otherwise, we merge in this great ocean of imitation. We need influence and not merging. This can be done by the study of technical literature in Sanskrit, the erudite and scientific treatises on art and architecture. A western engineer or architect is familiar with the treatise of Virtuvius but our Indian architects are quite ignoratnt of even names of Mānasara, Mayamata, Samarangana and Visvakarma. We have founded so many colleges of architecture. Is there any place for these treatises in the curriculam ? Let me briefly cite some striking contributions. *Sthapati and Sthāpatya* the role of an architect. In our tradition Sthāpatya is four fold from the stand point of a Sthapati, i.e. his equipment and it is eight fold from the stand point of his art. According to the Samarāṅganasūtradhara an architect must possess the four fold equipment of Śāstra (knowledge of the Science and its allies like Mathematics and Astronomy etc.) Karma, the skill in art craftmanship; Prajñā, the initiative and the genius of mind and intellect which must help him at the time of the operation because sometimes new situations demand immediate handling of the operations and Śīla, the character above reproach. This last qualification is very important in the present day national reconstruction. The following quotation will be very interesting to help us realise the importance of Sanskrit lore even in the education of modern Engineers and Architects :

यस्तु शास्त्रमविज्ञाय प्रयाक्ता स्थपतिभवेत् ।
हन्तव्यः स स्वयं राज्ञा मृत्युवद् राजहिंसकः ।।
यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुह्यति क्रियाकाले दृष्ट्वा भीरुरिवाहवम् ।।
केवलं कर्म यो वेत्ति शास्त्रार्थं नाधिगच्छति ।
सोऽचक्षुरिव नीयेत विवशो न्येन वर्त्मसु ।।
शास्त्रकर्मसमर्थोऽपि स्थपतिः प्रज्ञया विना ।
फलेषु कर्मभिरन्याभिः(?)ख्यान्निर्मद इव द्विपः ।।
प्रत्युत्पन्नमतिर्यः स्याद् वाहकः स्थपतिस्तथा ।
कर्मकाले न मुह्येत स प्रज्ञानेनोपबृंहितः ।।
अप्रज्ञेयं दुरालोकं गूढार्थं बहुविस्तरम् ।
प्रज्ञपोतं समारुह्य प्राज्ञो वास्तुनिधिं तरेत् ।।
ज्ञानावांश्च तथा वाग्मी कर्मस्वपि च निष्ठितः ।
एवं युक्तोऽपि न श्रेयान् यदि शीलविवर्जितः ।।
रोषाद् द्वेषात् तथा लोभान्मोहाद् रागात् तथैव च ।
अनन्यचिन्त्यतत्वमायाति दुःशीलानामविक्षयात् (?)।।
शीलवान् सर्वकर्मार्हः शीलवान् प्रियदर्शनः ।
शीलाधाने परं यत्नमाधिष्ठेत् स्थपितः सदा ।।
ततः कर्माणि सिध्यन्ति जनयन्ति शुभानि च ।

This is the Caturdhā Sthāpatya. As regards Aṣṭāṅga Sthāpatya, the following quotations from the Samarāṅganasūtradhāra, the most representative and standard medieval manual on Architecture will give you a peep into our most systematised science of architeture :

प्रोक्तं चतुर्धा स्थापत्यं वास्तुतत्वस्य सिद्धये ।
डूमस्तदेव वेदानीमंगैः संयुक्तमष्टाभिः ।।
तेष्वंगः प्रथमं प्रोक्तं वास्तुपुंसो-विकल्पना ।
पुरस्य विनिवेशस्तु द्वितीयं द्वारकर्म च ।।
रथ्याविभागः प्राकारनिवेशोऽट्टालकस्य च ।
विनिवेशः प्रतोलीनां विभागास्थानकानि च ।।
प्रासादश्च तृतीयं स्याच्चतुर्थं च ध्वजोच्छ्रितिः ।
पंचमं नृपतेर्वेश्म स्थानान्तरविभक्ति च ।।
चातुर्वर्ण्यविभागश्च गृहभागश्च षष्ठकम् ।
सप्तमं यजमानस्य शालायां मानमीरितम् ।।
यज्ञवेदीप्रमाणं च कोटिहोमविधिस्तथा ।
अष्टमं राजशिविरनिवेशो दुर्गकर्म च ।।
यो वेत्यंगान्यमून्यष्टौ सोऽत्र स्थपतिसत्तमः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यशो मानं स लभते पूज्यते न नराधिपैः ॥
अशास्त्रज्ञमकर्मज्ञं स्थपतिं यः प्रयोजयेत् ।
न तस्य वास्तु सिद्धयेत सिद्धमप्यसुखावहम् ॥
तस्मात् कर्म च शास्त्रं च यो वेत्ति द्वितयं नरः ।
अष्टांगमपि यो वेत्ति स राज्ञः स्थपतिर्भवेत् ॥

Genesis and Genius of a residential house : Our Purāṇas and Āgamas proclaim शिलास्तम्भ शिलाकुड्यं नरावासे न योजयेत्' what is its implication ? Our climate is hot for the major part of the year. Can we afford to live in a hot house ? Shall this heat not terribly tell upon our health, Longivity and stature ? Were our fore-fathers fools or half-civilized to live in thatched houses or Śāla-Houses (a wooden-cum-mud structure) to ward off the heat of the sun ? While they could build soaring edifices for gods and goddeses, they preferred the mud houses for their own. Samarāṅgana's main contribution is the Civil Architecture which is accompanied with a scientific code of residential house. The very title denotes and connotes its character, i. e. architect of human dwellings, and gives its major contribution in the art of Town-planning and residential houses.

Code of masonary, the building Bye-laws and House-Plans : All these fully perfected in this standard compendium on art and architecture. The twenty good qualities of masonary विंशतिश्चयगुणाः and the procedure in laying the bricks चयविधिः with the aid of the eightfold measure of sutrāṣṭakam are our eye-opener in the advanced technique of civil architecture in ancient India. Other details have been studied and brought out in my work Vastusastra Vol. I—Hindu Science of Architecture with esp. ref. to Bhoja's Samarangana Sutradhara.

Fundamental Canons : This Subject demands that we should know something of the fundamental postulates on which the great edifice of this science stands. These fundamental postulates or canons, I may term as pillars. We know that the central post was the prime regulator of house-construction in India. It was as fundamental as the trunk of a tree. Tree-model was the primordial model of a house-plan (cf. the story of the birth of human home—the Śāla-house as related in Purāṇas and the S.S.) and the abundant application of pillars was one of the chief features of an Indian building whether a residential house or a palace, or a Sabha or a temple or a temple-pavilion. Naturally we cannot say which pillars are more basic than others But if you ponder over the problem and visualise the basic importance of the structure you must come to the conclusion that as many as five pillars carry cardinal worth. These are four Cardinal and one central posts. Similarly sustaining the analogy to my mind there are the following five fundamental pillars of the stable edifice of our Science and we can call them the fundamental canons :

1. Diṅnirṇaya, Doctrine of Orientation. 2. Vāstu-pada-Vinyāsa the Site-planning. 3. Māna (Hasta-lakṣaṇa), the proportionate measurements of a structure. 4. Āyādi-sadvarga, the six Canons of Hindu Architecture 5. Patākādi-saṭ-Chandas, the character of the building (its aspects and prospects etc.). I cannot elaborate all these here due to the paucity of time.

Vāstupada-Vinyāsas is a strereotyped institution in India. It has been in practice since the Vedic times. Now it is no more than a ritual. We do call a priest and an astrologer when we start a building but do we understand the scientific and technical implications of this fundamental canon as adumberate above like Diṅnirṇaya of Prācīsādhana ? Vāstupada-Vinyāsas a most scientific device in determining the site of a building or a town, has now been relegated to a paper device of just a ritual. Vāstupadas-Vinyāsa is a site-plan in the language of the modern architecture. The allotment of the padas to the deities was a very far sighted working of the minds of our ancient Acharyas. The Vāstupada-Vinyāsa is a technical device in a chart. Among

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

the host of the deities occupying the different padas or plots of the diagram, three are very important. The Central square is always reserved for Brahma. He is the central lord the creator lord. The north-east corner of the chart starts with Īśāna which corresponds to the *ultravoilet segment* of the solar spectrum and it has a variety of attributes which need to be studied properly. Similarly the south-east corner of the chart represents Agni. It coresponds to the *infra-red segment* of the solar spectrum. If properly and scientifically studied this device would be a revelation to the modern scientific world. We must pay a tribute to the genius of the ancient thinkers who, without any modern appliances, could study the properties of the Sun. All these deities really stand for the rays of the sun to be regulated in such a scientific manner as to ensure eastern frontage. This is the sum and substance of the Doctrine of Orientation, the most important canon of our Civil Architecture.

Professor,
Head of the Department of Sanskrit
Punjab University,
Chandigarh-14.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Problem of Two Besnagar Garuda Pillar Inscriptions

By B. C. Sinha

The successor of vasumitra is called Bhadraka in the Bhagavata Purana, Ardraka in the Vayu and Antaka in the Matsya Purana.[1] Dr. K.P. Jayaswal identified him with Udaka, a name occuring in Pabhosa inscription No. 904.

He has given good reason for supposing that the original form, from which all these varieties are derived was Odraka.[2] But we must recognise that an error has crept into the text of the Puranas, which as they stand assign either two or seven years to this king.[3] The Pabhosa epigraph has been translated thus : "By Asadhsena, the Son of Gopali Vaihidari and maternal uncle of king Bahasatimitra, Son of Gopali, a cave was caused to be made in the tenth year of Udaka for the use of the Kassapia Arhats." We learn from another Pabhosa inscription that Asadhasena belonged to the royal family of Ahichhatra, the capital of North Panchala.— Dr. Jayaswal held that Odraka was the paramount Sunga sovereign, while the family of Asadhsena was feudatory to the Sungas. The identification of Odraka with Udaka has no solid basis. Is it not possible that this Udaka might have been a ruler of Ahichhatra and Asadhasena was his near relative ? Pabhosa inscription only says that Asadhasena belonged to the royal family of Ahichhatra. Dr. Barua[4] points out that in the absence of the word rajno preceding Udaka, it is difficult to say at once whether Udaka is the personal name of a king, or the local name of a place, where the cave was excavated.

Sir John Marshall[5] on the other hand identified the so called fifth Sunga king with Kasiputra Bhagabhadra mentioned in a Garuda Pillar inscription found in the old city of Vidisa. Dr. Jayaswal identified Bhagabhadra with the ninth Sunga king Bhagavata of the Puranas. But this theory has to be given up in view of the discovery of another Besnagar Garuda Pillar inscription of the 12th year after the installation of Maharaja Bhagavata. It proves that there was at Vidisa, a king named Bhagavata apart from Kasiputra Bhagabhadra. In the absence of clear evidence connecting "Udaka" with Vidisa, it cannot be confidently assented that he belonged to the house of Agnimitra and Bhagavata.[6] In fact the so called fifth, sixth and seventh Sunga monarchs were Andhra rulers. The fourth Sunga king Vasumitra took up the life of ease and pleasure. The result was that the Sunga empire began to disintegrate. Bana tells us that he was killed by some Muladeva while enjoying a concert. Taking advantage of the murder of Vasumitra Andhras occupied the throne at Pataliputra. Andhraka, Pulindaka and Ghosha these three appear to be extraneous to the Sunga dynasty as their inclusion creates a chronological anomaly. The Puranas assign a total duration of 112 years to the Sunga dynasty. But if we add up the period of these three kings, the total comes to 120 years. By excluding their period of 8 years we arrive at the true figure of 112 years.

At the time of Andhra occupation of Pataliputra Bhagabhdra the local viceroy of Vidisa maintained his position against the Andhras. He might have been a close relation of the Sungas. We further assume that he was appointed viceroy of Vidisa, during the reign of Vasumitra. Vasumitra was ruling at Pataliputra and after

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

his murder Bhagabhadra declared himself the king of Vidisa.

But it has to be remembered that he always remained loyal to the Sunga family. In order to strengthen his position against the Andhras he sought friendly alliance with the Indo-Greeks. This alliance was in the interest of both the parties. We learn from Besnagar Inscription of the reign of Bhagabhadra that Maharaja Antialkidas of Taxila sent his ambassador Heliodoros to Vidisa when king Bhagabhadra was prospering in the fourteenth year of his reign. It was with the help of Bhagabhadra that the Sungas regained their position after 8 years of the Andhra rule. Vajramitra might have been the son of Vasumitra. Now there in no difficulty about the other Besnagar Garud Pillar Inscription of the Twelfth year after the installation of Maharaja Bhagavata. He appears to be the nint Sunga king according to the Puranic List, who had a long reign of 32 years.

References :

1 H. Raychaudhari, Political History of Ancient India, P. 328.
2. Cambridge History of India, p. 469.
3. K.P. Jayaswal, JBORS, 1917, pp. 473-5.
4. IHQ.—1930, P. 23.
5. A Guide to Sanchi—P. 11.
6. Political History of Ancient India, p. 329.

Reader
Ancient Indian History,
Culture & Archaeology
Department
Gurukula Kangri University
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Yoga Approach Towards Abnormal Human Behaviour

Dr. H.G. Singh

1. Definition and types of yoga : Yoga is much talked over topic of the present century with its popularity irrespective of caste, religion and continent amongst the orthodox as well as the ultra fashionable hippies of the world. Existing from the times of Vedas the word Yoga has been used in multifarious ways. Out of these it can be defined in two ways—general and specific. In general literal sense Yoga means union or connection. It also denotes any means or ways by which something apart is achieved or united with. During Vedic, Brahmanic, and Upanishadic times the word Yoga has been used for different ways to achieve something though mostly higher self. But Yoga in specific meaning came into existence in about 2nd century B.C. by the existence of "Yoga Sutra" of Patanjali and now Yoga specifically means the system of "Chitta-Vrittinirodh" of Patanjali. As a method Yoga is non-religious, practical and scientific.

Types of Yoga Schools : According to broad definition there are innumerable Yogas, as there are ways of union. But most important are Hatha, Raja, Gyan, Bhakti, Karam, Mantra, Tantra, Laya, Jaina, and Buddhist Yogas. All these yogas can be classified into different theoretical approaches as shown in the following diagram :

DIAGRAM SHOWING THE APPROACHES OF DIFFERENT YOGAS

Human Personality

Yoga

- Physiological approach
  Hath Yoga
  (Use of physical exercises for union)
- Psychological approach
  - (A) Whole psyche Raja Yoga. (Use of psychic exercises and Sadhna for union)
  - (B) Different psychic functions :
    1. Gyan Yoga (Use of intelect i.e. "cognition" for union).
    2. Bhakti Yoga (Use of eros i.e. "effection" for union).
    3. Karam Yoga (Use of volition i.e. "conation" for union).
- Psychophysical approach
  - (A) Mantra Yoga (Use of Psyche and sound for union)
  - (B) Tantra Yoga (Use of psychic and Physical cosmic elements for union)
  - (C) Laya Yoga : (Use of psychophysical assimilation with cosmic self for union)
- Atheistic approach
  - (A) Jain Yoga
  - (B) Buddhist Yoga

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

These are like the differnt roads which reach the same destination. Yoga systems believe in the functional unity not only in human personality but also in cosmic universe. The somatic, psychic and psychophysical approaches in their individuality lead to the same end. It also reflects that the broad mental functions of cognition, affection and conation have their own individual potentiality of compensating for and controlling not only the other two functions but the whole personality and further leading it to the union with universal self. Out of these schools only Hath Yoga and Raja Yoga have been most popular and Raja Yoga assimilates the best of Hath Yoga. The only approach of Raja Yoga of Patanjali being directly psychological is of utmost interest to the seekers of Psychology. Later Yogies of the Patanjali school widely applied Yoga to solve problems of human behaviour and here the approach of Yoga i.e. Raja Yoga towards abnormal human behaviour is being seen.

2. Theoretical Foundations

(a) **Concept of normality and abnormality :** We have already seen that the subject matter of Yoga is human behaviour and Raja Yoga specifically deals with mind and its functions. Kovoor T. Behanan rightly says, "Doctrine of Yoga assumes that the mind, by training, could be made to function at higher levels." Human personality according to Yoga is composed of Purush and Prakriti. Purush apart from Prakriti is pure being but by the admixture of Prakriti it begins to function as personality. Prakriti has there Gunas—Sattav, Rajas and Tamas. When Purush is in Sattav Guna it is pure and uncorrupt but as soon further mixture of Rajas and Tamas of Prakriti is added, the mind begins its function and gives rise to abnormal human behaviour. Patanjali takes a very wide view of abnormality and every human behaviour is abnormal which is the output of Rajas and Tamas Gunas. The Rajas and Tamas Gunas of Patanjali reminds of Eros and Thanatos of Freud. Purush or Atma in itself does not act or behave and upto Sattav Guna it is pure being, but actual behaviour begins with its mixture with Rajas and Tamas and that is all abnormal. So all human behaviour is abnormal because of its being initiated by Rajas and Tamas Gunas which give rise to five kinds of Vrittis. There is no true synonym for Vritti in English but we can very nearly translate it as channels of mental functions or natural motivating flow of behaviour or to some extent instinctual behaviour.

The Vrittis are five. The first is Praman (perception of all kinds). It is the natural Vritti of the mind to get affected by perceptual knowledge and make reactions to it. The second Vritti is Viparyaya (illusion) the effect of which is inevitable. The third Vritti is Vikalp (effective imagination). The fourth Vritti is Nidra (sleep) and the fifth is Smriti (memory) or the heap of past stored up ideas, which work as dynamic disposition of mind. The dynamic effect of these five Vrittis on mind is inevitable and they motivate the mind for behaviour and that is abnormality. The aim of Yoga is the removal of these Vrittis of mind by negating their effect. This is called, "Yogas-chittavrittinirodh". On the contrary the normality is the state of Purush remaining with Sattav Guna only. It is pure being without any of the Vrittis. Hence in wide definition concentration of mind and Samadhi is normality and Vrittis i.e. modification of mind and destruction of Samadhi is abnormality.

(b) **Nosology and Symptomatology of Abnormalities :** The nosology of disorders as we find in Atharva Veda and Ayurvedic literature is not found in Yoga. In a sense the above five Vrittis are the forms of abnormalities but their approach and nature is totally different from what we see in other therapeutic literature. Yoga is not limited to therapy of diseases. The area of Yoga is very vast and much inclusive. Due to its basic approach it covers all the aspects of human behaviour. No problem or attainment

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

of human life is spared for which its application is not made. Felix Guyot rightly says, "Freud brings everything back to sexual 'complex' where as Yoga psychoanalysis deals with all the complexes." We can broadly classify Yoga approach to personality modification in three categories. Firstly, it deals with health and hygiene programme of personality including cure and prevention of diseases and health improvements. Secondly, it deals with attainment of supernatural mental powers. Thirdly, it teaches how to attain Samadhi — the state of pure being. These three categories further have classifications. Yoga approach is psychological and practical to all these categories. Out of the above three categories we are dealing with the health and hygiene programme of personality. In it the Yoga methods are applied for the cure and prevention of diseases and attainment of health. Kovoor T. Behanan emphasises it like this, "What we have said so far about Yoga will, we hope, convince the reader that it too is a way of life a 'Prescription' for mental ills." Yoga is client centred, semi-directive and autotherapy hence psychotics cannot take it. So the abnormalities for which it is practical can broadly be classified as neuroses, mild ailments and mental ill-health.

(c) General etiology and diagnosis of abnormal behaviour : The behavioural abnormality arises by Prakriti getting mixed with Purush. Upto the time Purush is alone, there is no abnormality but as soon the Rajas and Tamas Gunas of Prakriti unite with Purush, the mind with the five Vrittis constitute abnormality. So we conclude that Rajas and Tamas Gunas of Prakriti are the causes of abnormality. Sattav Guna never gives rise to abnormality. The Yoga system of diagnosis is scientific and has clinical tests. Felix Guyot has very well commended Yoga diagnostic methods and tests for different mental abnormalities. He has illustrated so many tests as given in Hath Yoga and we shall explain two of them by way of example. The first test diagnoses whether a patient is suffering from morbid unconscious...impulsiveness and the second test is to diagnose if the patient is having nervous debility.

Test I—Trace a straight line on the ground in the direction of the sun. The client should stand with heels together at one end of the line in such a way that the line divides the shadow in two parts through the head and he should look at his shadow constantly. After a few minutes the shadow of the head will be seen deviated from the straight line either to the right or left in the case of abnormals. The experiment should be repeated several times during a fortenight. Each time the direction of deviation should be noted. In order to take more better results the test can be carried out in a room with a lamp or an electric bulb, instead of sun, which should be behind the subject. The projection to the left reveals morbid unconscious fears and that to the right an unconscious impulsiveness.

Test II—The position of the client's standing is the same as in the first test. But further the experimenter traces the outline of the shadow with a piece of chalk on the ground while he is motionless. Then the client must look attentively on the shadow. The abnormal having nervous debility will soon get tired and his head will oscillate and the shadow will not correspond with the tracing. The direction and extent of oscillations will help diagnosing the unconscious fears and impulsiveness as in the above test. But greater the extent of oscillations and lesser the time of first fatigue appearance, the more is the nervous debility. Again for the tests of differnt complexes Felix Guyot says, "Hath Yoga psychoanalysis unearths these complexes by means of short tales and stories of immemorial origin that Indian doctors have handed down from generation to generation."

The above two tests shown by way of example, are quite technical to be called at par

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

with modern clinical tests. So we conclude that Yoga method of diagnosis may be called scientific.

3. Psychotherapeutic Techniques of Yoga

(a) **Meaning and Object :** Yoga has two forms—general and applied. In its general form like a science it shows the what and how of psychic chittavrittinirodh from the very beginning to the highest end of Samadhi, the state of pure being. In the applied form it is applied to so many different purposes and the meaning & aim of applied Yoga differs according to the purpose it is applied for. Leaving the other purposes aside when its techniques are applied to cure Psychic disorders then it is Yoga Psychotherapy. Rajas and Tamas Vrittis create all behavioural deviations, so the suspension of these Vrittis and the establishment of required psychic equilibrium, is the aim of Yoga Psychotherapy. The degree of suspension of these Vrittis differ from case to case and purpose to purpose. In the case of a Sadhu it must be complete suspension, but in the case of worldly persons like us, a certain equilibrium in the forces of Rajas and Tamas is required. For example in the case of an architect more of Rajas, the constructive Vritti, and in a warrior at field more of Tamas, the distructive Vritti is required. Lord Krishna, the greatest Yogi analysed Arjun at the battle field and maintained proper warrior like equilibrium of Tamas i.e. destruction and decreased the Rajas i.e. familial erotic Vritti, in Arjun.

(b) **Classification of Yoga Psychotherapeutic Techniques :** Yoga is rich in methodology. For the same aim to be achieved several techniques have been prescribed according to the nature of client, situation and technique. Yoga believes in the functional unity of human personality along with cosmic unity. So due to this unity starting with any one function we can come to the same end. Yoga has numerous techniques but we take here only those which are used for therapeutic and hygienic purposes in the case of psychic disorders. The techniques are classified as follows :

1. Yama
2. Niyama

} I) Psychic disciplinary exercises.

3. Asana & Mudra
4. Pranayama

} II) Psychosomatic energising exercises.

5. Pratyahar } III) Psychic sublimating exsrcises.

6. Dharna
7. Dhyana
8. Samadhi

} IV) Psychic super normal attainment (Siddhi) exercises.

(c) Descriptions and applications

I. The first technique of psychic disciplinary exercises is Yama and Niyama. Yama are negative and Niyama are positive preliminary codes of behaviour. The Yamas are five i.e. abstain from (1) Himsa (killing), (2) Asatya (Falsehood), (3) Parigarh (greediness). The Niyamas are also five i.e. observe (1) Shauch (purity), (2) Santosh (contentment), (3) Tapas (mortification), (4) Suadhyaya (study), and (5) Ishwar Pranidhan (resignation to Supreme being). Regarding Yama and Niyama, Kovoor T. Behanan says, "we may now summarise the first two stages as the ethical code of Yoga by which a moral transformation involving important psychological changes or redirection of mental set, is brought about, marking the beginning of a veritable uphill climb in mental training." These are meant for the adjustment of super ego or the moral part of the self.

II. The second technique of psychosomatic energising exercises is Asanas (postures) and Pranayama (breathing). These are the most technical methods of Hath Yoga which in milder forms have been adopted by Patanjali. These are

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

based on psychosomatic functions of the personality and by their practice psychosomatic energy is charged. According to Gherand Samhita as taught by lord Shiva the asanas are eighty-four lakhs corresponding with the number of species of the universe, and the Mudras (postures) are twenty-five. Some of these Asanas and Mudras are, in the opinions of a few experts who have prescribed different Asanas and Mudras, useful for mental cures and hygiene. Shivanand says, that Shirshasan improves memory admirably and thus cures amnesia. Yogendra says that Sarvangasan, Shirshasan, Dhanurvakrasan, Paschimothanasan, Ardhmatsy-endrasan and Shavasan impart health to brain and nervous system. Acharya Bhadrasen prescribes Ardhsarwangasan, Matsyasan, Halasan and Chakrasan for mental debility, Shirshasan and Sarvangasan for epilepsy and insanity and Uttanpadasan, Pavanmuktasan, Ardh-Aatsyad-asan, Padangusthasan, Tadasan, Nabhyasan, Halasan, Sarvangasan and Shirshasan for nervous weakness. V.C. Vasu prescribes Vajrasan for psychic powers, Shavasan for quietening the agitation of mind, Padamasan, Simhasan, Matsyasana, Bhujangasan, Mahanmudrasan, Nabhumudra, Khechri Mudra for distroying all diseases. Mahavedha Mudra, Agneyi Mudra Destroy thanatophobia (fear of death). Ambasi Mudra destroys hydrophobia (fear of water) and Yonimudra destroys mortal and venal sins.

Pranayama (Breathing exercises) : Kovoor T. Behanan gives the word meaning of Pranayama as, "Prana means breath and Ayama, means pause" hence the compound pranayama literally means "a cessation or pause in the movement of breath." Shivanand defines Pranayama as, "Pranayama is the control of the Prana and the vital forces of the body. It is regulation of breath." Pranayama is the Hath Yoga par excellence which consists of breathing exercises. The chief aim of Pranayama is to unite the Prana with the Apana and take the united Prana-Apan slowly upwards to the head thus awakening the sleeping Kundalini. Shivanand describes the energy of Pranayamaas, "If you can control the Prana you can completely control all the forces of the universe, mental and physical." According to Yoga Pran, and Mana (breath and mind) are most close and exist together. Increase and decrease in one effects the other. If we control breath which is physical and easy to do we can control mind and its movements. These psychophysical energising exercises of Asana and Pranayama work in two ways. On the one hand they energise the soma and on the other hand indirectly they train and energise psyche. As we have seen Asana and Mudra energise body physiology and Pranayama energises nerves. The ego in maintaining Asana and Mudra and praticing Pranayama has to practice control and command over body and nervous system, which he becomes able to do in due course. In doing so the ego gets indirect training of Command, and control and gets self-confidence and energy. Ego getting thus energetic becomes ready to practice Pratyahar, the psychic sublimating exercises.

III. Psychic sublimating exercises (Pratya-har)—Now comes that method which is purely psychological and at the same time very advanced. The Pratyahar is the withdrawal of mind from all senses. Practically it is the complete mastery over the senses. It is done in two ways i.e. neither the senses should be affected by the stimulus nor they should disturb the mind by their sensations. But Pratyahar is not the incapacity of the senses. They (senses) remaining healthy, it is the complete mastery of psyche over them. Psyche must not be effected by them but whenever required psyche must be able to use them. Pratyahar is very useful in the field of psychopathology for breaking learned and condi-tioned responses and doing sublimation. The whole unconscious is cleared up by it. The Rajas and Tamas Vrittis become powerless. Yogic approach is semi-auto and directed so Pratyahar a technique of self analysis, free association,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

learning and sublimation can be practiced by any patient who is able to do them i.e. mild neurotics, mildly distrubed and those requiring mental health, under a psychotherapist. But the patient can do so only when he has already attained energy through undergoing earlier psychic disciplinary and psychological exercises. Pratyahar on the somatic side is the mastery over senses and on psychic side it is the clearing up of unconsciousness.

IV. **Psychic supernormal attainment (Siddhi) exercises (Dharna, Dhyan and Samadhi)**—Psychic supernormal attainment exercises of Dharna, Dhyan and Samadhi, usually used for the attainment of supernormal siddhis, mostly concern with Yogies and saints. The techniques of Yoga for general therapeutic purposes go usually upto Pratyahar but recently meditation for psychotherapeutic purposes is emphasised by Assagioli of Italy. Though the use of Yoga techniques for functional disorders, exist from Vedic times in India but recently trained Psychiatrists, Psychotherapists and Yogies have evaluated and used them with promising results. For instance Hans Jacobs, Kovoor T. Behanan, Felix Guyot, H.G. Singh, Geraldine Coster, Akhilanand, Schmitz, Aurobindo, Shivanand, and Yogendra, have high Psycho-therapeutic opinion about Yoga and some of these even evaluate Yoga better than Psychoanalysis.

4. Conclusions

In the field of psychotherapy some points in favour of Yoga are found. Although psychic diseases damage the whole personality but the most of destruction is done to ego's strength in psychic field. Ego becomes weak and unable to cope with reality, id and super ego. The main problem of psychotherapy is how to make ego energetic so that it can face these three and take charge of behaviour from which it has withdrawn. The controlling and administrative capacities of ego are finished. Yoga knows well that ego is weak and withdrawn in the psychological field so it gives it indirect training in the field of physiology. Yoga believes in the psychophysical unity of personality and that the action may start from any corner but it will ultimately effect the whole personality. That is why it lets ego withdrawn from psychic field and puts it on physiological field for practising Asana and Pranayama. In doing Asana and Pranayama ego has to put resistance and endurance to bodily functions and thus gains self confidence and controlling capacity. At the same time by these practices the physiological side of personality also gets toned up. Pranayama exercises give special energy to nerves. So by these Yogic exercises there is improvement in body nerves. When in due course ego has gained much self confidence and controlling capacity and physiological strength too, then the stage of Pratyahar is reached and ego is again brought to psychic field. Remaining withdrawn and inattentive from psychic problems and dealings for a long time, psychic field becomes more clean and quiet. By the practices of Pratyahar after sometime ego becomes successful in coping with the problems of psychic field and disease is removed. Thus Yoga psychotherapy is triple action. It treats body, nerves and psyche i.e. the whole personality while psychoanalysis treats only the psyche. Because it treats whole personality, therefore, the effects are more lasting and promising. Lesser time consumption is another advantage. Because Yoga takes aid of three things or rather applies therapeutic measures from three sides, therefore, it is able to control the disorder in lesser time.

Bibliography

1. Hans Jacobs,—Western Psychotherapy & Hindu Sadhna—(George Allen & Unwin Ltd., London, 1961).
2. Sri Yogendra, "Yoga Magazine" Yoga Institute, Bombay (Jan. 1934).
3. Felix Guyot—Yoga : The Science of Health —(Rider & Co. London).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. Pavitranand,—Common Sense About Yoga —(Mayavati Advita Ashram, Almora).

5. Kovoor T. Behanan—Yoga : A Scientific Evaluation—(Dover Publications Inc. New York, 1937).

6. Sri Aurobindo—On Yoga I—(Aurobindo Ashram Pondicherry).

7. T.V. Kapali Shastri,—Further Lights—The Veda and The Tantra—(Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1951).

8. Geraldine Coster—Yoga and Western Psychology—(Oxford University Press, London, 1957).

9. Sri Shivanand—Practical Guide for Students of Yoga—(The Divine Life Society, Hong Kong, 1957).

10. Swami Akhilanand—Mental Health and Hindu Psychology—(George Allen & Unwin Ltd., London, 1952).

11. H.G. Singh,—A Study of Indian Psychotherapeutic Practices (Agra University Ph. D. Thesis 1970, Unpublished).

(Paper read in the section of Psychology and Educational sciences, Indian Science Congress, Diamond Jubilee Session, Chandigarh, January 1973).

Dr. H. G. Singh,
Department of Psychology,
Gurukul Kangri University,
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Indian Sensibility in T.S. Eliot's Poetry

Amar Nath Dwivedi

With the introduction of Kalidasa's Shakuntalam to the West by Sir William Jones in 1789, an atmosphere was created in which the East and the West began to accommodate each other. The age-old concept 'East is East and West is West, And never the twain shall meet' became out-dated and out-fashioned. Immense possibilities of collaboration and mutual adjustment in different spheres of life and letters were in sight. As a natural result, many European and American scholars turned to a study of the vast, fathomless literary heritage of India. Breaking upon the Georgian literary scene, T.S. Eliot presented the credentials of a wide-ranging poetic sensibility by incorporating into his poetry not only the 'best' of European culture and literature but also of Indian thought and tradition.

As a serious scholar of philosophy at Harvard, T.S. Eliot applied himself to the study of Sanskrit and Pali for two years. In this matter he was helped and guided by Charles R. Lanman. Going through Eliot's poetry one may mark his irresistible fascination for the profound wisdom of ancient India. His was a troubled time and peace was then but 'a wandering fire'. The ideals of the Hindu Scriptures could restore 'calm of mind' in the otherwise 'burning' world,—Eliot was quite sure of it. In his poetry, therefore, references exist to show that he had some knowledge of the *Vedas*, the *Upanishads*, the *Bhagavadgita* and Patanjali's *Yoga Sutras*. He was well-versed in Buddhistic lore and literature too. The use of 'Shantih shantih shantih' by Eliot in *The Waste Land* is both Vedic in origin and Upanishadic in content. In the same poem the poet has drawn upon the *Brihadaranyaka-Upanishad* (5,1) in the three-fold message of the Thunder.[1] The *Gita*, which is mostly held as the 'New Testament' for the Hindus, was so dear to him that he calls it "the next philosophical poem to the *Divine Comedy* within my experience."[2] Under the supervision of Mr. J.H. Woods, Eliot learnt Patanjali's metaphysics which left him "in a state of enlightened mustification"[3] Buddhism also left its indelible marks upon the poet Eliot; this is to be gathered from *The Waste Land* and *Four Quartets*.

Like Somerset Maugham, Eliot also believed in; "The East has more to teach the West than the West conceives."[4] He has made overt references to the Hindu philosophy and ethics in *The Waste Land*, the *Quartets* and *To the Indians Who Died in Africa* in poetry and in *The Cocktail Party* in drama. But even elsewhere the Indian traces are not wholly wanting. It appears from the bulk of Eliot's poetry that he was ever haunted by the vision of nightmarish dilemma, the acutest of modern maladies, the escape from which was possible only through the sagacious sayings and broodings of the Hindu sages embodied in our Scriptures. Right from *The Love Song of J. Alfred Prufrock* to the *Quartets*, and on to the poetic plays, Eliot has tried his best to underline the spiritual discipline and rigorous asceticism, so conspicuous a feature of our rich tradition.

The Waste Land (1922) brought recognition to the poet. It is here that he comes out as a "universal poet".[5] With no fewer than six languages employed in the poem, the Indian touches are so obvious in it. In Part III, 'The Fire Sermon', the collocation of the two great representatives of eastern and western asceticism (i.e. Lord Buddha and St. Augustine) is "not an

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

accident."[6] Eliot likens the Buddha's Fire Sermon to the Sermon on the Mount. From Mr. Henry Clarke Warren's translation[7] the poet picked up the following :

"To Carthage then I came
Burning burning burning burning
O Lord Thou pluckest me out
O Lord Thou pluckest
burning."[8]
(11.308-311).

The next Part, 'Death by Water', is as significant as the futile, fruitless quest of Tiresias, who in person represents the entire humanity, in Part V. Equally significant is the quester's approach to the Chapel Perilous, the decay of which denotes the 'present decay of eastern Europe.' At this juncture, the poet refers to the Ganga and the Himavant. Then the message of the Thunder is delivered thrice: 'Da Da Da'. It is an important thing in itself that the poet looks at India to break through the barrenness of his own land. Who can dare deny the deliberate inclusion of the Hindu Scriptures by the poet, particularly at this point? 'Datta', 'Dayadhvani' 'Damyata' (i.e. Give, Sympathise, Control) are the words directly drawn from the *Upanishad*. The poet takes a further recourse to the sacred wisdom of of India at the close of the poem :

Datta. Dayadhvam. Damyata.
Shantih shantih shantih
(11. 433-434).

While the first line is the repetition of the Thunder and has been cited here for emphasis-sake, the second one is a new introduction altogether. According to the poet, this is 'a formal ending to an Upanishad.' But, to my thinking, this is of an earlier date in origin and occurs in the *Yajurveda*. Nobody will, however, deny that this is a part of the *Upanishads* too.

The *Quartets* (1943) is a series of four poems that appeared from time-to-time. These poems are named after different proper places. The most explicit note of Hinduism strikes us in *The Dry Salvages* (1941). In the second movement of the poem occurs "Time the destroyer is time the preserver", which verily recounts the Hindu concept of time in relation to timelessness.[9] It is a clear-cut clue to Shiva and Vishnu of the Hindu Trinity. Herein lies an exposition of the idea contained in the beginning of *Burnt Norton* where the continued flow of time has been highlighted :

"Time present and time past
Are both perhaps present in time future,
And time future contained in time past.
If all time is eternally present
All time is unredeemable".
(*Burni Norton*, 11.1-5).

In the third movement of *The Dry Salvages*, the teachings of Lord Krishna directed to enlighten Arjuna and to bring him out of the feelings of meum have been introduced. On the battlefield Krishna tells Arjuna "I am the Time Spirit"[10] and exhorts him further :

"You shall not think 'the past is finished'
Or 'the future is before us',"
(11.144—145)

and again :

"....., consider the future
And the past with an equal mind."
(11.153—155)

All time is centred in the Lord; the entire universe is His creation. Time which is Death finally merges into timelessness which is Immortality. So none should be afraid of time or death, and should perform one's duty unrufflledly.

The following extract from *The Dry Salvages* is identical with the sixth stanza of Chapter VIII in the *Gita* :

"....'on whatever sphere of being
The mind of a man may be intent
At the time of death'."
(11.156—158)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Towards the close of the movement, the poet takes up the theme of Karma ('action'). The *Gita* stresses throughout the importance of Karmayoga, which is the performance of one's duty with a sense of devotion and detachment. The 'selfless action', according to the *Gita*, is the highest and easiest kind of Yoga :

"And do not think of the fruit of action".[11]

The desire of getting 'the fruit of action' binds the soul ('jiva') to the body, whereas the duty done in perfect detachment liberates it for good. And the end of Yoga is liberation from the human bondage :

"The inner freedom from the practical desire,
The release from action and suffering, release
from the inner
And the outer compulsion,"
(*Burnt Norton*, II,11.70—72)

This is the sum and substance of Lord Krishna's admonition to Arjuna when he says :

"Not fare well,
But fare forward, voyagers".
(11.168—169)

The beautiful phrase in *The New Testament*—'carelessness for the morrow'—has the self-same idea. Its echo may be heard even in *The Rock* (1934) :

"I say to you : Make perfect your will
I say : take no thought of the harvest,
But only of proper sowing."
(Chorus I).

Eliot's remote poem, *To the Indians Who Died in Africa*, is a reversion to the same theme. In it he referred pointedly to the Hindu doctrine of Karma :

"Let those who go home tell the same story
of you :
Of action with a common purpose, action
None the less fruitful if neither you nor I
Know, until the judgment after death,
What is the fruit of action."[12]

Despite the adverse opinion of western critics like Miss Helen Gardner regarding the introduction of the 'great' Hindu Scriptures in the third movement of *The Dry Salvages*, the truth remains that neither the poet has made a new 'introduction' here, nor is it out of 'consonance with the poem's theme of annuntiations', nor does it destroy 'the imaginative harmony of the poem', as she puts it.

The world has become a single unit today; the distinction of East and West has been outgrown. There are "obvious points of contact between Eastern and Western thought."[13] People of different nations, tongues, and cultures have come closer than ever before. None should, therefore, get alarmed at the statement that T.S. Eliot, who lived, walked and talked among us, has at times justifiably drawn upon the Hindu Scriptures to soothe the restless soul of the seething time. The poet himself has confessed that his poetry "shows the influence of Indian thought and sensibility."[14]

REFERENCES

1. T.S. Eliot, *The Waste Land*, Part V, 11. 402—422.
2. T.S. Eliot, 'Dante', *Selected Essays* p. 258.
3. T.S. Eliot, *After Strange Gods*, p. 40.
4. S. Maugham, *The Razor's Edge*, ch. 6.
5. Octavio Paz, *T.S. Eliot: Papers and Proceedings of a Seminar*, p. 2.
6. T.S. Eliot, *Notes on 'The Waste Land'*, line 309.
7. H.C. Warren, *Buddhism in Translation*, Harvard Oriental Series, Vol. III, first published in 1896.
8. Cf. the text of 'The Fire Sermon' in Mr. Warren's work (Student's ed., 1953), pp. 351—353.
9. Vide the *Bhagavadgita*, VII, 26; IX, 7 ; X,20; X, 33.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. Ibid., XI, 32.
11. Cf. the *Bhagavadgita*, II, 47—51; although elsewhere too the theme of Karma recurs therein every now and then.
12. *Queen Mary's Book for India* (1943), p. 61
13. K. Smidt., *Poetry and Belief in the Work of T.S. Eliot*, p. 182.
14. T.S. Eliot, *Notes towards the Definition of Culture* (1948), p. 113.

Amar Nath Dwivedi,
Department of English,
Gurukul Kangri University,
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Christopher Fry's Language and Verse

Dr. R. L. Varshney

Fry occupies a place next only to that of Eliot. And like Eliot's Fry's achievement as a poet dramatist has been the subject of a critical controversy. Most of the critics have attested to the opposite extremes of partiality and prejudice. We have been informed that his language is almost that of Shakespeare or that of a merchant of ginger beer. To the one he appears to be "a panoplied bard"; to the other a sort of "effervescent coster." Those who hold an adverse opinion of his language and verse have drawn a very dismal picture of Fry. Stephen Spender makes a parody of Fry's manner :

> Rhythmically, it is extremely easy to write.
> You just go on making loose pentametres.
> Which, as everyone knows, is easier than writing prose.
> Then occasionally you introduce a gleaming line
> Eloquent as light around the horizon
> Of hills which are a background for your puns,
> And an occasional internal rhyme.[1]

Denis Donoghue in his essay, "Christopher Fry's Theatre of Words"[2] accuses Fry of "verbal flippancy," of a "self-regarding" style. He writes : To think of other writers in association with Mr. Fry is to realise that his peculiar weakness, even in "The Dark is Light Enough", is that he writes as if the lessons of Stendhal, Flaubert, Henry James, Eliot and Ford had eluded him; as if nothing of significance had happened in European literature between Southey and J.C. Squire. Mr. Fry's language has a soft centre, even where Flaubertian bone is urgently required. Its typical effect is not to concentrate feeling and thinking into the word, but to diffuse these activities over a broad verbal area. Indeed, there are few writers and fewer dramatists who yield so readily to the lyric moment. Where ideas are involved, Mr. Fry uses them to make verbal show-cases, rather than, like Shaw, to start dialectical battles. Frequently, Mr. Fry's language seems perversely designed to smooth away any conflict inherent in the situation. The picture of Fry which emerges from the press cuttings is that of "a man reeling intoxicated with words; they flow in a golden —or perhaps pinchbeck—stream from his mouth : they start out at his ears; they burst like rockets and jumping crackers and catherine-wheels round his head; they spring in wanton sport at his feet and trip him; but trip him or not, he loves them : let them all come, go where they may; let them strangle sense, flood the stage, break the dams of form : facility shall have its day. His typewriter continues to chatter long after it has been put back in its case. Words will grow out of him, like finger-nails, some time after his death."[3]

Thus the main charges against Fry's language are flippancy and verbosity, lack of distinction

1 The Spectator, CL XXXIV (March 31-April, 1950), p.364. Also see Stephen Spender, "Christopher Fry", Discussion (March 31, April 17, 1950), pp 37-49.

2. See Essays in Criticism, IX (Jan. 1959), pp 37-49.

3. Fry, An Experience of Critics (Oxford : New York, 1953), p. 23. Cue title An Experience.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

between the language of one character and the other, lack of suitable action to match words, lengthy sentences and a surfeit of similies and metaphors. Some critics are of the opinion that his plays are merely a treasury of beautiful words, and that his verse is a mere paper decoration and sheer bombast. Their judgement has a resemblance to that of Justice Tappercoom in *The Lady's not for Burning* :

> The whole thing's a lot of amphigourious
> Stultiloquential fiddle-faddle.[4]

But the defence by the Chaplain is equally appropriate :

> . . . . And what may seem nonsensical
> To men of affairs like yourselves might not seem so
> To me, since everything astonishes me
> Myself most of all.....[5]

Fry himself has answered some of these charges. He states :

> So many words, for instance. We know this criticism doesn't precisely mean what it says. There are the same number of words as in any other play; you have only to count them. It means, I think, that I dont't use the same words often enough; or else, or as well, that the words are an ornament on the meaning and not the meaning itself. That is certainly sometimes—perhaps often—true in the comedies, though almost as often I have meant the ornament to be, dramatically or comedically, an essential part of the meaning; and in my more sanguine moments I think the words are as exact to my purppse as I could make them at the time of writing.
>
> And then the question of relevance. The question is, relevance to what? The relevance of one kind of play is not necessarily the relevance of another...what I am most anxious to do here is to ask that criticism should look more deeply into the nature of a play, and to pursue the reason for its nature, rather than to try to force it into a category to which it doesn't belong.[6]

If we judge his plays in accordance with their nature, we will find that Fry never writes 'pretentious nonsense', nor is his language unsuitable for dramatic action. Its use is purposive, functional and reasonable. The criticism of Fry on the ground of using fifty words where five would do, in fact, betrays a failure to distinguish between eloquence and empty bombast.

To the charge that his people talk alike, Fry cheerfully answers, "According to the custom of men, they should, we do." Regarding long sentences, he explains in the introduction to *The Lady's not for Burning* how long a sentence should end is no body's business but his own. Perpetua's long speech in *Venus Observed* seems to be a reply to his detractors on this point.

So far as the suitability of words and deeds is concerned, Fry states that "words and actions are not unrelated. One illuminates the other; and the full significance of action can be explored only by words. If we compare the murder of Maria Marten in the Red Barn, with the murder of Duncan in Macbeth's castle, we see that in each the physical action is roughly the same, but the significance of the action is entirely different. The one is merely done, the other is experienced, and the experience is in the words. What is more, the experience is the true nature of the action. The experience ultimately is the action."[7]

These charges seem to have been based on the assumption, first, that the language of a play should be closely related to its structure, secondly that if the language becomes autonomous at any point the decorum of the play should be such as to

4. The Lady's not for Burning, p. 38. Cue title Lady.
5. Ibid, p. 41.
6. An Experience. pp 24-25.
7. "Why Verse"?, Vogue. CXXV (March 1, 1955), p. 166. Cue title "Why Verse ?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

support this autonomy for a special dramatic purpose. But such assumptions are unfounded for plays dealing not with action but with moods and seasons, man's spiritual problems, and his estrangement in the present-day world. Here we will have to view the matter strictly on merit with a view to encouraging fresh things on the stage. Viewed this way the main weakness of anti-Fry criticism is that it is carried on at a level higher than the lowly boards of the stage, and it is clear that in Mr. Spender's article on Christopher Fry the stage is nowhere in sight. Moreover, the detracting criticism of Fry misrepresents him in as much as it points to his main powers as his chief weaknesses. In *Curtmantle*, Fry perhaps has in his mind his severe critics when he makes Eleanor say :

I know your world, where an acid wit
Is valued higher than the mind hurt by it,
Where rules dictate how a man should move,
or love,
Or cough, or betray, or do nothing :
The unexceptional dance of what
Has withered within. Where every syllable's
Up for valuation by the code
Of the best poets, and nothing speaks from
goodwill.
I have understood at last the truth of the text :
A man's enemies are the men of his own
house.[8]

The most remarkable feature about Fry's language is its rich and motely vocabulary. Fry is interested in developing a powerful phraseology. He knows full well the importance of words in a play as they express a wide and proferred experience, and help in conveying sense, feeling, tone, mood, intention, thought and idea. He himself says, "Words give us a larger, or deeper experience of action." [9] That is why he prays through a character in *Venus Observed* :

God give me a few
Lithontriptical words[10]

perhaps because

the word is an arrow
Of larksong, shot from the earth's bow, and
falling
In a stillborn sunrise.[11]

Words have a compelling interest for him as they had for Shakespeare; they flow from his mouth like a torrent of gold; they often seem to brighten in his hands as jewels. Sometimes the words themselves are extended into images of a brilliant, even exotic daring, e.g. 'mesh of God',[12] 'dank rumour'.[13]

Fry often writes in heightened speech, in words that 'glow and ring', that colour page after page and 'the writing becomes jewelled with words, as a lawn with water drops in a summer dawn.'[14] Like O' Casey he is ready to make gold embroidery out of dancing words. We have only to quote the lines :

1. The Lanterns, Rosabel. They'll be very pale
Compared with the foment of wild flamboyant rose
We have in the sky to-night....[15]
2. Horses..., the caves of their nostrils
blowing
Bright clouds of breath, a foaming sea
Breaks against theit mouths, their flanks
are smoking
Like Abel's fire to heaven....[16]
3. ...I, as unlaborious
As a laburnum tree, hang in caresses of
gold.[17]

8. Curtmantle, p. 81.
9. "Why Verses?" p.166.
10. Venus, Observed, p. 42. Cue title Venus.
11. Lady, p. 87.
12. The Firstborn, p. 84.
13. Ibid. p. 58.
14. Ed. Martin Browne, Introduction to Four Modern Verse. Plays (Penguin Plays, London, 1957) p.11.
15. Venus, p.80.
16. Ibid. p. 55.
17. Ibid, p. 53.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. Our English sun, convalescent after passing
Through the valley of the shadow of the moon.[18]

5. ...the river
Where the water gives those girlish giggles around
The ford....[19]

6. I, the little heretic as he thinks,
The all unhallows Eve to his poor Adam....[20]

7. Such white doves were paddling in the sunshine
And the trees were as bright as a shower of broken glass.[21]

8. .....I've an April blindness.
You're hidden in a cloud of crimson catherine-wheels.[22]

9. .....those long jowls, my jewel,
Those ruminating thundercoloured bulls
Your brothers : and our pastry-pallid sons...[23]

"The foment of wild flamboyant rose", "the caves of their [horses'] nostrils blowing bright clouds of breath," "as unlaborious as a laburnum tree," "the girlish giggles" of water, "a shower of broken glass," "a cloud of crimson catherine-wheels," "the convolutions of convolvulus"[24] are but a few of the phrases that evince Fry's poetic gifts and his creative and evocative imagery. From the illustrations like these one can easily understand that Fry "can let down his bucket into a sea of dazzling verbal invention where he wishes, and bring it up brimming."[25] E.D. O'Brien has rightly observed, "for here was a phenomenon, a poet-playwright who used words as Shakespeare used them, to whom, as with Shakespeare, were open "all the realms of nature, all the mines of fancy," who possessed a gigantic treasure-chest of words into which he plunged his arms up to the elbows and let the lovely glittering, glowing things trickle through his fingers like the jewels they were."[26]

Fry has used a new and startling phraseology for love :

1. Having seen the beautiful teenagar Alizon Richard cries :
Is life sending a flame to nest in my flax ?[27]

2. TEGEUS. O Dynamene,
Let me unload something of my lips' longing
On to yours receiving. Oh, when I cross
Like this the hurt of the little space between us
I come a journey from the wrenching ice
To walk in the sun. That is the feeling.[28]

3. DYNAMENE.....Chromis, it's terrible
To be susceptible to two conflicting norths.
I have the constitution of a whirlpool.
Am I actually twirling, or is it just sensations?

4. TEGEUS.....To night I need to kiss you,
Dynamene. Let's see what the whirlpool does
Between, my arms; let it whirl on my breast.
O love,
Come in.
DYNAMENE...I am there before I reach you; my body
Only follows to join my longing which
Is holding you already—Now I am
All one again.
TEGEUS. I feel as the gods feel :
This is their sensation of life, not a man's :
Their suspension of immortality, to enrich

18. Ibid, p. 26.
19. Lady, p. 20.
20. Ibid, p. 70.
21. Ibid, p. 4.
22. Ibid, p. 4.
23. Thor, p. 6.
24. Lady, p. 33.
25. Quoted from a Review in the New Statesman and Nation by Raymond Williams in Drama from Ibsen to Eliot (London, 1965), p. 265.
26. "The Poet in the Theatre", The Illustrated London News, Aug. 11, 1951, p. 228.
27. Lady, p.4.
28. A phoenix Too Freqment, p. 30. cue title phoenix.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Themselves with time. O life, O death, O body,
O spirit, O Dynamene.

DYNAMENE. O all
In myself; it so covets all in you,
My care, my Chromis. Then I shall be
Creation.

TEGEUS. You have the skies already;
Out of them you are buffeting me with your gales
Of beauty. Can we be made of dust, as they tell us ?
What ! dust with dust releasing such a light
And such an apparition of the world
Within one body ? A thread of your hair has stung me.[29]

5. TEGEUS. Hush, smile of my soul,
My sprig, my sovereign: this is to hold your eyes,
I sign my lips on them both; this is to keep
Your forehead—do you feel the claim of my kiss
Falling into your thought ? And now your throat
Is a white branch and my lips two singing birds....[30]

6 ELEANOR. Nevertheless consider
The nature of love. In love a man and woman
Are newly minted as in the beginning of the world,
Creating themselves out of each other's eyes.
But in marriage, whatever world is made,
Has the bones of the woman walled up in the foundations,
No air to breathe, nor any light to move in.[31]

Hence to call his theatre 'the Theatre of Words' is an honour, and not an insult, because his theatre is not the theatre of superfluous, meaningless, or useless words, but of words that are not only heard but also seen through the eyes and experienced through the mind. There is, in fact, a kind of suave and Apollonian splendour in Fry which modifies the ardour of his thought. He has put into practice what he preaches so well in one of his speeches :

A poet wishing to write objectively, to create an act of poetry; to make that act of poetry, and also, an act of life; not only to represent other beings out of his own nature, but to share their creation with other men the actors; to attempt completely to exteriorize his will to sing, to make his inward search for truth an outward fact. To do this he must have a particular relationship to his poetry. He must wish it to come towards him not wish to impart it. He must be surprised into it by an imagined action. And for this reason it cannot be self-conscious. It may be artful, rhetorical, severely controlled, but it must be able to live its own life in a way that is neither necessary nor desirable in non-dramatic poetry. That is why a very experimental form is likely to be a dead-end, and why the first bridge to be crossed by any poet-dramatist should be the way to reconcile his poetry to common speech, not only by the avoidance of obvious poetical inversions and excisions, but by the method of metaphor and similie, by the way symbolic language is presented, and above all by the speech rhythms, which have to overcome the tone of written literature."[32]

It is in order to reconcile his language and verse to the common speech that we find a valley of metaphors and similies in his plays. They are to him of a vital significance, as they have been in drama since ancient times. Aristotle says, "But

29. Ibid, pp 31-32.
30. Ibid, p. 34.
31. Curtmantle, p.79.
32. Fry, "Poetry in the Theatre", Saturday Review, XXXVI, March 21, 1953, 18-19.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

far the greatest thing is a gift for metaphor. For this cannot be learnt from others, and is a sign of inborn power."[33] It is through metaphor that the language achieves its rich suggestiveness, and becomes the matching place for the wit of the reader and the wit of the writer. Hence it is something more than an amusing literary device; it is a continual play of wit, an illuminating double entendre, nimble magic. Metaphors often act to enrich reality, even to heighten it. "Living metaphor", says F.L. Lucas, "is a kind of two-headed Janus, looking two ways at once and making us see two things almost simultaneously,"[34] and that "a style without metaphor and simile is to me like a day without sun, or a woodland without birds."[35]

Metaphors and similes can give strength, clarity, and speed; they can add wit, humour, individuality, and poeticality. Sanskrit scholars went a step further and called drama "a metaphor." It is for these reasons that the hero in *The Lady's not for Burning* cries : "What a wonderful thing is a metaphor"[36]. Plainly enough Mr. Fry agrees with him. He has rather "invited straphangers, accustomed to travelling on the sunway, to take a ride on Pegasus."[37] Fry uses metaphors most effectively and wonderfully; but they are his slaves, not his master.

Another device by which he makes his verse nearer common speech is abusive language which is part of man's everyday life. Our daily language is also, occasionally, and among some people frequently, full of vituperations, oaths, abuse, swear-words, hyperbolic epithets, and interjections. Fry's people also use this natural medium naturally:

REEDBECK. You're a vain, vexing, incomprehensible, crimping, constipated duffer.....You grovelling little Gobemouche .....You spigoted, bigoted, operculated prig.[38]

In Thor with Angels the first page of the play is full of this beautiful rather regardful language :

QUICHELM. Colgrin,
You scrawny old scurfscratcher, is that you ?

COLGRIN. Frog-man, fen-fiend, werewolf, oul, elf.....

QUICHELM. Runt of an old sow's litter, you slop-headed
Pot-scourer, come here, you buckle-backed
Gutsack, come out of there'...[39]

In *The Lady's not for Burning* this type of idiom is full of hilarious amusement and is the source of delight :

1. NICHOLAS (to Richard) You canter off...
What shall I do
With this nattering wheygoose, Alizon ?
Shall I knock him down...[40]

2. NICHOLAS (to Humphrey), You slaway poodle, you tike,
You crapulous puddering pipsqueak.
Do I have to kill you a second time ?...
O blastoderm of injustice
You multiplication of double-crossing![41]

33. Aristotle, Poetics, XXXII
34. F.L. Lucas, Style (Collier Books, New York, 1962). p. 186
35. Lady, p. 168
36. Lady, p. 3
36. John Mason Browne, "Poets and Players" Dramatist Personae (London, Hamish Hamilton, 1963), p. 245; this essay was first published in 1950
38. Venus, p.42
39. Thor, with Angels, p.1. Cue title Thor
40. Lady, p.8
41. Ibid, pp. 14-15

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. THOMAS (to Tyson). You bubble-mouthing, fog-blathering,
Chin-chuntering, chap-flapping, liturgical,
Turgidical, base old man."[42]

Phrases like "vein, vexing, incomprehensible, crimping, constipated duffer," "grovelling little Gobemouche" "spigoted, bigoted, operculated prig" "strappling, ice-cold, donkey-witted douche tasteless writer," "buckle-backed gustsack" "nattering wheygoose", "bubble-mouthing, fog, blathering, chin-chuntering, chap-flapping, liturgical, turgidical, base old man" exhibit Fry's flair for inventive abuse and neologisms of vilification. They are the intellectual acrobatics of a writer whose aim is to show the futility of man's existence in a very pleasing and amusing manner.

Another example of this delight in verbal gymnastics is to be found in Tegeus' oath-speech :

I swear, I swear by Horkos and the Styx,
I swear by the nine acres of Tityos,
I swear the Hypnotic oath, by all the Titans
By Koeos, Krios, Iapetos, Kronos, and so on.
By the three Hekatoncheires, by the insomnia
Of Tisiphone, by Jove, by jove and the dew
On the feet of my boyhood, I am innocent
Of mocking you...[43]

Such names can be used only by a person well-versed in classical mythology. Fry frequently uses classical names and allusions, Greek and Latin phrases and proverbs. Such usages help him in creating the needed atmosphere, and are an aid to local colour.

Fry can use nouns as adjectives, e.g. "There is something shipwreck, about you"[44] or "My Pollen fingers."[45] 'His choice of verbs is more vigorous, more Shakespearean, than that of any other poet'.[46] Below are cited a few of Fry's verbs which he uses to 'activise' his language :

1. Is life sending a flame to *uest* in my flax.[47]
2. The sphere *churned* on.....[48]
3. And when I found my hands *crowded* him
Into my breast, he *buried* like a burr...[49]
4. All the court *flew-up* and *buzzed*
But what could they do ? Not even my
Pharaoh-father
Could sting him out of my arms...[50]
5. The flowers were *schooled*
With salemanders.....[51]
6. I'll *fume*
with feeling..... [52]
7. I thought that was why
We were *mooning* around celebrating...[53]
8. .....a blue sky *buffaloed*
by cloud.....[54]
9. The sun has *mooned*
Away half its light, already...[55]
10. Rosabel, where have you *mooning*
All the long afternoon ..[56]

Fry's coinages are comic, e.g. 'vastiness lusted'...[57] 'overwhelming solitude'[58] 'decontaminating life',[59] 'congenital generator, your nephew'[60] 'rumpled idiot-boy'[61] 'mumping pub',[62] and so on. Fry will use 'larceny' for theft,

42. Iblid, p. 27
43. Phoenix, p. 16
44. The Firstborn, p. 17
45. Ibid, p. 37
46. Derek Stanford. Christopher Fry : An Appreciation (London, 1951), p. 200. Cue title Appreciation.
47. Lady, p. 40
48. Ibid, p. 33
49. The Firstborn, p.4
50. Ibid, p. 4
51. Ibid, p. 37
52. Phoenix, p.29
53. Lady, p.65
54. Venus, p. 5
55. Ibid, p. 14
56. Ibid, p. 56
57. Lady, p. 32
58. Ibid, p. 32
59. Ibid, p. 26
60. Ibid, p. 28
61. Ibid, p. 41
62. Ibid, p. 18

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'abacation' for the theft of animals, 'peculation' for embezzlement, and 'incendiarism' for causing fire.[63]

His language contains within itself all the expected furnishings of verse, such as imagery, metaphor, simile, onomatopoeia, alliteration, and the like. As an example of onomatopoeia, we can cite the following passage :

Burst in among us, blashpheming against
Woden,
Broke his sword in the air—he swore it broke
Against a staggering light—and stood roaring,
Swaying in a sweat of wax, bestraddled
Over the fallen Briton.....[64]

And below are given a few samples of his alliterations :

1. ...Who's awake ? Where's
The welcome of women for wayfarers ?
Where's my Wodenfearing mother ?[65]
2. ...as bright and bristling
As Barney the boarhound...[66]
3. To doom and a damned journey into dust ..[67]
4. You should be crouching craven in a cave...[68]

Fry's love of and his skill in the use of paradox and anti-thesis can be illustrated from the following passages :

1. ..Joy is nothing
But the parent of doom.[69]
2. Death is a new interest in life...[70]
3. ...What is my freedom becomes
Another person's compulsion...[71]
4. Shall we live in mystery and yet
Conduct ourselves as though everything were
known ?[72]
5. In the belly of our misfortune
We find our hope.[73]
6. I followed a light into a blindness.[74]
7. Nothing has any truth and anything is true.[75]

And here is an example of Fry's pun :

DUKE — And I, as unlaborious
As a laburnum tree, hang in
caresses of gold.

EDGAR. — And what do I hang in ?

DUKE. — You hang in abeyance, Edgar...[76]

His plays, thus contain something of the intellectual acrobatics of the metaphysicals. There are far-fetched images which are spell-binding, the similes and metaphors that startle us, the puns that remind us of Janus, the play of engaging words that reminds us sometimes of Anouilh, sometimes of O'Casey, and at other times of the Elizabethans. His wit descends from the Restoration dramatists through Oscar Wilde. And while there is much exquisite grace of expression there is also the earthy salt of colloquialisms. One could fill a whole anthology with brief or copious extracts from his plays, demonstrating his varied use and employment of it as a comic agent, in paronomasia and other forms of word-play; his amazingly inventive powers of abuse; his gay neologisms and polysylabic clowning; or, again, on the serious side, his flair for giving to metaphysics the valid and immediate impact of metaphor; his creation of fresh vernacular of wooing; and his art as an 'inner portrait painter.'

Fry lays the acceptance of poetry in the theatre to two things :

63, See Lady, p. 36
64. Thor, p.4
65. Ibid, p. 1
66. Ibid p. 2
67. Ibid, p. 7
68. Ibid, p. 19
69. Phoenix, p. 33
70. Ibid, p. 4.
71. Venus, p. 96
72. The Firstborn, p. 46
73. Ibid, p. 31
74. Ibid, p. 31
75. Ibid, p. 48
76. Venus, p. 53

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

One's the reaction to the long hold of surface realism. The other is that the world seems rather cut down a bit.. and poetry provides something people lack, and wish for a richness and reaffirmation.[77]

At another place he states :

The use of verse in the modern theatre... comes, I think, from a certain spiritual searching which is part of our troubled times.[78]

He regards poetry as the language of reality, of economy, and of correctness. It is not unnatural. On the contrary, it is 'the reason itself'.[79] The pursuit of poetry or the creation of its works, in Fry's opinion, is "an apprehension of truth beyond the power of rational thought." In his defence he says, "Well if we have to be born into a world as wildly unprosaic as this one is, what else can be done, if we mean to be realistic ?"[80]

Fry has demonstrated over and over again that poetry preserves its force as a universal language, significant and immensely enjoyable. It has the privilege of showing us several planes of reality at once—sensuous, logical, psychological and spiritual. It is the language of emotion and power; it 'moves like an athelete over hurdles to perform the most most economically'.[81] Moreover, it is 'the central functionary of the play, the spring of all action, potent, shaping, and informing'. It has several advantages over prose. Certain experiences can be better experienced in and expressed through it; 'in prose we convey the eccentricity of things; in poetry, their concentricity.[81]' It is as natural as one of our senses. Moreover, it is an 'unrolling exploration' and 'the humility of language.' All our actions in Fry's view are the actions of poetry. He argues :

Poetry is the language in which man explores his own amazement. It is the language in which he sees heaven and earth in one word. It is the language in which he speaks to himself and his predicament as though for the first time. It has the virtue of being able to say twice as much as prose in half the time, and the drawback, if you do not happen to give it your full attention, of seeming to say half as much in twice the time . . . We can say that poetry is the language of reality.[82]

Poetry to Fry, therefore, is a sign of man's vitality. 'Fear of it, or lack of it, is the dead-end of his material needs.' In his theatre poetry is action and action is poetry. He is not a poet and a playwright separately : he is all the time a poet-playwright. He holds with Wordsworth's theory that poetry is something "felt in the blood, and felt along the heart."[83] He summarises his theory of verse as follows :

A verse play is not a prose play which happens to be written in verse. It has its own language. In a talk on *Poetry and the Theatre*, I tried saying something more about this, in these words : "The dramatist must view the world of his play, and the people of that world, with great precision : the poet-dramatist with the greatest poetic precision. The whole structure depends upon it, what scene follows another, what character goes and what character enters, where description or landscape becomes

77. Ed. Stanley J. Kunitz, Twentieth Century Authors: A Biographical Dictionary (New York, 1955), p. 355
78. Fry's letter to M P. Sanghal. pub. in his Christopher Fry and T.S. Eliot (Brij. Prakashan, Meerut, India, 1968). p. 127, originally a thesis submitted to Agra University.
79. "Why Verse?" p. 137.
80. Quoted by Denis Donogue, Essays in Criticism, IX, 38
81. "Why Verse?" p. 137.
82. "A Playwright Speaks", p. 332
83. Quoted by Fry from Wordsworth's 'Tintern Abbey' (1798) in "Why Verse", p. 166.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

part of the action, or where it needs a bare exchange. The poetry and the construction are inseparate. Who understands the poetry understands the construction, who understands the construction understands the poetry, for the poetry is the action and the action — even apart from the words — is the figure of poetry.....[84]

What Fry wants is that 'in exploring and recreating life in terms of the stage we should use language as fully charged and as plient as we can make it.' [85] So poetry should be used in the theatre to satisfy the spiritual needs of our age, to include the greater reality, to express the superstitions and the supernatural, to enact a mood or state of mind, to portray a character, to demonstrate the human dilemma, and above all, to achieve a union of word, action, character, tradition and discovery. "No event," observes Fry, "is understandable in a prose sense alone. Its eventual meaning... is a poetic meaning."[86] But Fry does not consider poetic drama to be something opposed to prose drama. In an interview with Lewis Nicholas, he said :

> I find it a pity to divide drama into verse and prose, for it's a false division. Each play shouldn't have to be forced into one category or the other, it happens that only poetry is for me, and I have never written a prose piece of my own. But the division is growing less. Tennessee Williams, for example, has written both.[87]

In another talk he points out :

> What reason is there for limiting the theatre to one form of communication ? It is even believed that the prose play and the verse play are in opposition : or that the one precludes the other : there appears to be a kind of colour bar in the matter. Such rivalry is nonsense. Indeed prose and verse existing side by side counter each other's dangers. If they pass altogether out of reach of each other's, they cease to be themselves : becoming on the one hand journalese, official cant, or any other string of sentences : and on the other a vagueness, an abstraction, a preciousness.[88]

The inter-play of prose and poetry to Fry is like "men and women dancing the Grand Chain,"[88] and it is this dance that keeps each in its own state of grade. So he shelves this debate between the poetic and the prosaic in the following manner :

> I have no answers to satisfy you if you believe that human nature, or human personality, is divided into two parts, of whatever proportion, the prosaic and the poetic. I think we always live with a foot in each camp, or rather, that there is no moment when we can safely say that even our apparently most insignificant actions have not a significance greatly beyond ourselves.[89]

Fry's plays live up to this compromise. Some of them—*The Boy with a Cart* and *Curtmantle*—use both verse and prose.

Fry's verse has its distinctive mark. William Arrowsmith has compared Fry's verse with Marlowe's. "There is," says he, "the same verbal impatience, the same laddering of effects towards an over-all tonal-roof, and the exuberance of the autonomous language."[90] But another critic, Mauris Bewley differs with Mr. Arrowsmith. Commenting on the same speech which Mr. Arrowsmith chose for Fry's appreciation, Mr. Bewley remarks, "The colours of this speech flake and fade, and the outline of its image grows misty. There is very

84. Christopher Fry, An Experience of Critics (Oxford), 1953, pp. 26-27. Hereafter referred to as An Experience.
85. "A Playwright Speaks", The Listener (Feb. 23, 1950), 332.
86. "Why Verse?" p. 162.
87. The New York Times, Sunday, 27 April, 1958, Sec. II, IX.
88. "Why Verse?" p. 166,
89. Ibid, p. 168.
90. See "Notes on English Verse Drama", Hudson Review, Summer, 1950, III, 213-16.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

little or concrete immediacy behind it, an even 'bryony, sloes, rosehipe' suggest second-hand literary gleanings rather than a genuine response to the real things, or even to the experience or words."[91] Mr. Bewley's other charges against Fry's verse are ironic over-statement, and a cynicism too youthful and exhibitionistic. But most of these charges again are a by-product of the modern antipoetic tendency. Mr. Bewley seems to undermine the fact that any piece of real art when it comes to public notice automatically becomes exhibitionistic, and that if Fry's pages are charged with a little extravagant wrath and vigour, they should not appear to any of us as full of 'cynicism'. In fact Fry's comedies are not the comedies of situations or characters ; here the action lies not in events and situations, but in the very words. So the critic does not need to bewilder himself by Fry's buyoant flights of imagery and this sometimes baroque rhetoric. Such effects are not interruptive. The most imaginative passages, instead of standing isolated as poems to be recited by the actors reinforce characterization and energize plot. Even the forty-eight line speech of Merlin in *Thor, with Angels,* and the forty-three line eloquence of Perpetua in *Venus Observed*, which have been the subject of adverse criticism are relevant to the meaning of the play concerned.

The most notable feature of Fry's verse is its dramatic quality. His poetry is dramatic enough to vivify character and energise plot. His plays are moving poetry. Like Bottomley's his lyricism is there not by accident but by design, because he is resolved to create a poetic drama in the true sense, a drama where the action is the poetry and the poetry is the action. "In Fry, then, as I have attempted to show, poetry and drama are not at war ; the first diminishing the sense of situation, the second detracting from the beauties of speech."[92] So "it would be wrong to think that the poetry is merely a spangled cloth, a number of yards of verbal tinsel, wherewith the author disguises or positively enhances the basic banality of his drama."[93] Hence to estimate Fry's success accurately we must see his plays "not so much as an achievement in poetic drama, as an original application of verse to familiar theatrical ends.[94] poetry is "the central functionary in the play, the spring of all action, potent, shaping and informing."[95]

He uses verse in a way that will enable actors, unused to such dialogues, to benefit by it instead of making them feel embarassed by it. His verse is very easy, chastened, melodious, and full of apt phrases, metaphors and similitudes. It has a dynamic structure and steadily moves towards a climax, and at the same time it is studded with pointed, witty and paradoxical statements and sentences. It rouses and shocks the mind and keeps it perpetually expectant, and gratified. He has the double gift of the musician and the rhetorician, which is clearly reflected in his verse-dialogue, where aptness and precision of phrasing, balance, economy and adjustment of part with part, of illustration and a veritable hail of pelting end sparkling witticisms and paradox abound.

Fry has been able to free himself from the fetters of the Elizabethan blank verse which sucked the vital lifeblood of the plays of Flecker. Like a hag his plays also emphasize the growing awareness of the necessity of simplification or the blending of the colloquial and the poetical for infusing the energy of real life into poetic drama. He has successfully created his medium—verse without any specifically poetic language or rhythm, fit

91. Mauris Bewley, "The Verse of Coristopher Fry," Scrutiny, XVIII (June, 1951), p. 79.
92. Appreciation, p. 48.
93. Ibid. p. 19.
94. Raymond Williams, op. cit., p. 262.
95. "Why Verse?" p. 137.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

for prosaic contexts, but also able to enhance dramatic tension by its precise and suggestive poetic condensation. It helps rather than hinders the audience. It has a burning energy and a splendid diction. Fry can switch over directly or indirectly to prose whenever he wishes to do so. Almost all his plays contain scenes in prose or in verse which is near prose.

Fry's verse, however, is not the prevalent staccato drives, 'the gutter-bred language polished to crest stone heights', nor the 'telegraphic lingo that passes for alive dramatic speech' but the singing and flowing of the English tongue, and to use J.C. Trewin's phrase, 'the singing of gold'. He is indeed, 'the freshest, and most singing voice that had sung in the dusty recess of the theatre'.[96] He is all the time "a silvery singer", a sort of Siamese Twin, in which the attributes of the muse of song and the muse of drama are featured together."[97] Derek Stanford has rightly called him "the 'pocket' Caruso[98] of contemporary stage-verse."[99]

Fry does not employ the ten-syllabled line with regularity; he uses much freer forms. He is a man with lively fancy. Fry's rhymes, when compared to Shakespeare's seem to be comparatively limp because he cannot fall back upon a standard of regularity from which any departure provides a rhythmic meaning to the ear. His rhythm is colloquial, easy, matter-of-fact, compounded of daily speech patterns. There is a tinge of monologue in some of his dialogues. We do not find in his verse that rhythmic woodenness and linguistic poverty which the Victorian poet-dramatist had. Fry is always rich and copious in his style. His rhythms and metres often resemble those of the Miracles, and the Morality and Mystery plays of the Middle Ages, notably *Everyman* (about 1490), If need be, he can repeat the rhythms to heighten the effect (for example, "But am I sure" in *Venus Observed* p. 95).

When we trace the development of Fry's style and medium we find that *The Boy With a Cart* reflects Fry's indecision about the choice of his medium. He appeared to waver between Eliot and Williams, and also between the prosaic and the poetic. He knew not whether to choose a florid language or a simple colloquial idiom. In fact, he appears to have expounded with both prose and verse. Much of the play, therefore, is written in prose, and the real poetry in the play is found in the lyrical utterances of the Chorus. But he was soon convinced that his powers lay between Shakespeare and Eliot. In *The Firstborn* his idoim is highly chiselled and finished. Although this play is not remarkable for the splendour of his comedies, yet it shows Fry's wonderful mastery of dialogue. Here the language is neither artful nor pompous, but simple and consistent :

> We're not enemies so much
> As creatures of division—you and I,
> Ramesses, like money in a purse,
> Ring together only to be spent
> For different reasons....[100]
>
> OR
>
> We're not concerned with hope,
> Or with despair ; our need is sometheing different ;
> To confront ourselves, to create within ourselves
> Existence which cannot fail to be fulfilled.[101]

There is in this play minimum decoration. The language has a remarkable economy and precision. In comparison with the language of comedies the language in his tragedies is suddued and controlled, yet it is not dead; it has its usual freshness, vigour and the singing quality.

In his comedies the language is typically Fryian. It has a wonderful store of figures of speech ; its imagery is of a very intense order ; it is like sea-foam or lightening without its terrific thunder. It has a continual sweet murmur. Whereas the comedies have a

96. New York Times, Nov. 8 1959, p. 87.
97. Appreciation, p. 12.
98. Enrico Caruso (1873-1921), a celebrated singer.
99. Appreciation, p. 12.
100. The Firstborn, p. 26,
101. Ibid, p. 31.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

bubbling spontaniety and flow of words, tragedies use them in a restrained manner. We may assign the reason of this simplicity to the severe criticism of his critics. But above and over this consideration are the theme and atmosphere of the tragedies. It is in accordance with the demand of the action, that Fry uses language. In short, whereas the language of the comedies (*A yard of Sun* is an exception) is florid, the language of the tragedies and later festival plays is subdued.

Fry's style may appear too mannered but, it comes to him naturally. He has violated the calendar in both directions, utilising the modern idiom in depicting the Middle Ages, and 'elevated' diction in realistic modern scenes. The diction of his verse ranges from the cockney in *A Phoenix Too Frequent* to the vulgar tongue of enlisted men in *A Sleep of Prisoners,* from the homely modern terms put into the mouth of St. Cuthman in *The Boy with a Cart* to the suave epigrams of *Curtmantle*. His gift for idiomatic usage has been equalled by no other contemporary poet-dramatist. He can make an effective use of slang and colloquialism, e.g. 'swiggty', 'oblit' (for obliterate). There is often an euphemistic touch in his style : "I think I see little phoebuses/rising and setting in your eyes." His is a melodious and picturesque style. One cannot but marvel at the amazing vocabulary and those flippant classical allusions which are a part of his style. "Fantasy, eloquence, rhetoric, and wit, when taken together combine to produce a remarkably high-spirited verbal compound. Such a component we have in Fry's plays."[102] His style is, therefore, both original and inimitable. That is why he has hardly any disciples.

To conclude, Fry's verse, has adaptability and flexibility. It has a dramatic function ; it relies on the potency of words and not on the urgency of action. He has a particular gift for describing, with his amplitude of similes and delicate fabric of language, the sounds, sights and smells of the English countryside. It possesses to a great extent sensibility, power, wit, humour, pun, paradox, a flood of figures of speech, artistic insight and imagination. "His Verse", says J. C. Trewin "is a foam, a sea, a walter of conceits. Wit flashes from it like a heliograph in sunlight.[103] Again it is for his uninterrupted raillery and horse-play, his striking untraditional, saucy images, vigorous metaphors, and vaunted wit that Fry is most popular among the contemporary audiences. Fry's verse is further notable for its burning energy, its splendour of diction, its sensuous richness, its variety of space, and its responsiveness to the demands of varying emotions. Fry's dialogue, in its mingled gaiety and melancholy, sweetness and irony, allusions to real things and kinship with a romantic world, has an altogether indefinable magic. He has created a personal style of his own; a mixture of the sublime, the simple and beautiful, the mysterious, the grotesque, the learned, and the unexpected. As one of his characters says, "I have done nothing monosyllabic. A spade is a spade ?"[104] Fry has rightly removed much of the monotony of the dull prosaic stage of the twentieth century, and has contributed a lot of literary drama without damaging its stageability. Colgrin in *Thor, with Angels* rightly summarises Fry's achievement :

There's not a devil
In the length of the land could pick such a posy of words
And not swoon smelling it.[105]

Dr. R.L. VARSHNEY
Department of English
University of Gurukul Kangri, Hardwar

102. Appreciation, p. 211.
103. J. C. Trewin, Drama : 1945-50 (Longman, 1951), p. 26.
104. Venus, p. 36.
105. Thor, pp. 1-2.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PRINTED AT S. NARAYAN & SONS, DELHI.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

XV

शोध भारती

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की अनुसन्धान पत्रिका)

सम्पादक

डा० रामनाथ वेदालङ्कार

डा० विष्णुदत्त राकेश

वर्ष १, अंक १

जनवरी १९७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोध भारती

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की अनुसन्धान पत्रिका)

सम्पादक

डा० रामनाथ वेदालङ्कार

डा० विष्णुदत्त राकेश

वर्ष १, अंक १

जनवरी १९७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

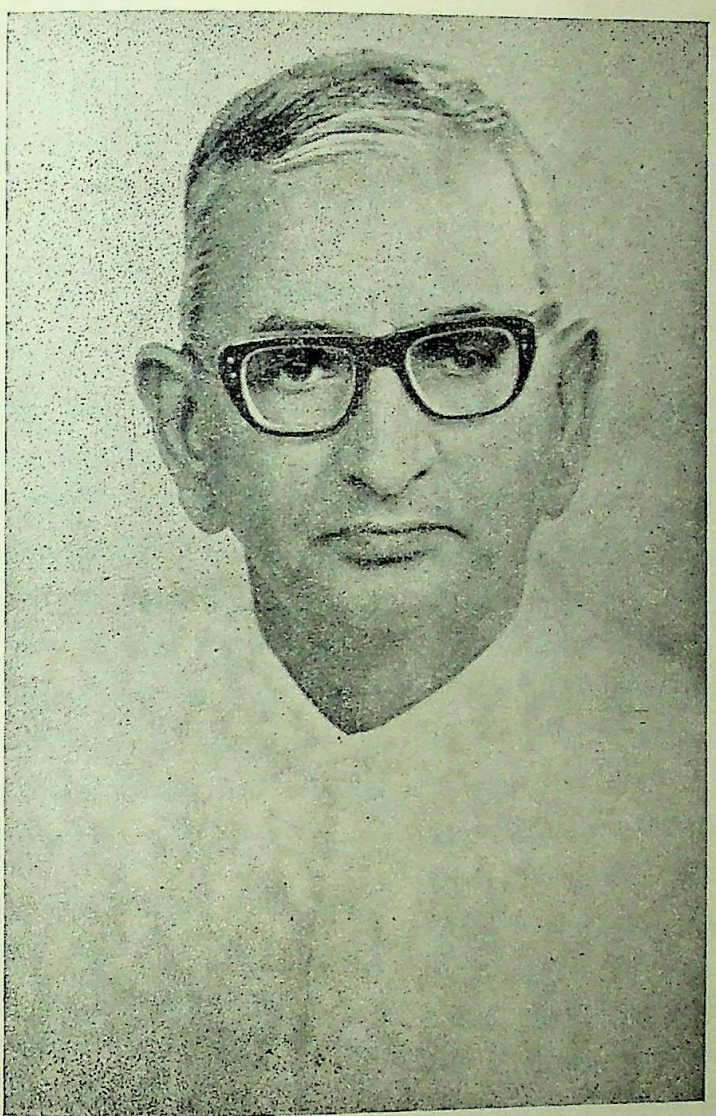

वैदिक साहित्य, इतिहास तथा दर्शन के

प्रकाण्ड विद्वान्

आचार्य रघुवीर सिंह शास्त्री

कुलपति

जिनके जीवन्त कर्त्तृत्व तथा गतिशील नेतृत्व का संस्पर्श पाकर

विश्वविद्यालय का शैक्षणिक स्तर संवर्द्धित

हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

७३ वर्ष के प्रौढ़ किन्तु नित्य यौवन छवि से दीप्त, सक्रिय तथा संस्फूर्त्त गुरुकुल विश्वविद्यालय कुलगुरु स्वामी श्रद्धानन्दजी के आदर्शों पर भारतीय साहित्य, संस्कृति, दर्शन, इतिहास तथा वेदांगों के क्षेत्रों में प्रचलित विश्वविद्यालयीय परिपाटी से भिन्न शिक्षा-मूल्यों का सामयिक परिप्रेक्ष्य में गतिशील प्रयोग करता रहा है। उसकी प्राच्य विद्या-संरक्षणगत उपलब्धियों का राष्ट्र के प्रबुद्ध विचारक वर्ग ने स्वागत किया है। अन्य उच्चस्तरीय शिक्षण संस्थाओं से उसकी यह मौलिकता भारतीय शिक्षा के इतिहास में अनिवार्य महत्त्व की साक्षी है।

गुरुकुल संस्था नहीं, विचारधारा है। परिपाटी नहीं, प्रयोग है। स्थिरता नहीं, गति है, चेतना है और है शाश्वत सांस्कृतिक मूल्य बोध। गुरुकुल परिसर में छात्र तथा शिक्षक प्रकृति के सुरम्य परिवेश में एक रचनात्मक उद्देश्य के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की प्रगति का परिचय प्राप्त करते हैं। वेद, दर्शन, मनोविज्ञान, गणित, विज्ञान, पुरातत्त्व, हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी साहित्य तथा आयुर्वेद जैसे विषयों का उच्चस्तरीय अध्यापन तथा शोध कार्य यहाँ व्यवस्थित रूप से हो रहा है। विश्वविद्यालय के समकक्ष मान्यता मिल जाने पर अपने मौलिक रूप की रक्षा करते हुए अन्य विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम, शोधस्तर तथा अध्यापन-परिपाटी के समस्तरीय रूप ग्रहण से इसने नव जीवन प्राप्त किया है। विद्वत् समिति, शिक्षा पटल, व्याख्यान-माला तथा पाठ्यक्रम समितियों के व्याज से देश के मूर्धन्य विद्वानों तथा शिक्षा शास्त्रियों के उपयोगी विचारों तथा परामर्शों से इसका पथ प्रशस्त हुआ है। शिक्षाविदों की दृष्टि गुरुकुल पर कृपापूर्ण रही है और उनकी आशाओं-आकांक्षाओं को साकार करने में यह निरन्तर सचेष्ट है। मास्को विश्वविद्यालय के प्राच्य-संस्थान के निदेशक डा० ई० चेलिशेव तथा भारत की माननीया प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इस सत्र में विश्वविद्यालय में पधारकर इसकी प्रगति पर सन्तोष का अनुभव किया है। सीमित साधनों तथा शक्तियों के होते हुए भी विश्वविद्यालय के अधिकारी, प्राध्यापक तथा छात्र बद्ध परिकर हो अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं। संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान्, कुशल प्रशासक तथा प्रमुख शिक्षाशास्त्री आचार्य रघुवीरसिंह शास्त्री के कुलपतित्व में विश्वविद्यालय में शान्ति, अध्यापन [illegible] तथा रचनात्मक प्रवृत्तियों को जैसा संरक्षण यूरोपीय [illegible] मिला है, तोड़फोड़ तथा विघटनात्मक गतिविधियों [illegible] यह अन्य शिक्षण-संस्थानों के लिए यह स्पृहणीय [illegible] कुतर [illegible] श्री शास्त्री जी की प्रेरणा से ही विश्व [illegible] स्थान पाने [illegible] शोध-पत्रिका प्रकाशित हो रही है। प्रस्तुत [illegible] नई [illegible] आस्था की [illegible] पाठकों के सामने है। हम आपके सक्रिय [illegible] स्वातन्त्र्य के [illegible] और आशीर्वाद के आकांक्षी हैं। [illegible] है—ऐसे [illegible]

अनुसन्धान एक दुरुह प्रक्रिया है। उन सुखपूर्ण [illegible] का निरुपण यहाँ अभिप्रेत नहीं है। आत्म सन्तुष्टि जिसकी [illegible] सम्पन्न होने वाला कार्य महत्त्वपूर्ण होता है, [illegible] सामग्री से संकलित इन शोध-निबन्धों से नये संकेत बिन्दुओं के पाठकों को अवश्य मिलेगी, इसका पूर्ण विश्वास है। परम्परा और विचारधारा संशय की दरार से टूटती है किन्तु जीवन बोध और महनीय सत्य का साक्षात्कार भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न चिन्हों के साथ ही उजागर होता है। सृजनात्मक साहित्य और आलोचना शोध के परिवृत्त में बंधकर ही विश्वसनीय बनते हैं, उनकी आयुकाल व्यापिनी होती है। वय का अनुमान और ठीक-ठीक मूल्याङ्कन आँखों की स्वस्थता का सूचक है। इस संकलन के निबन्ध शोध और आलोचना की नई दृष्टि से सम्पन्न हैं, यदि विषय-मर्मज्ञों को इससे सन्तोष मिल सका तो हम अपने श्रम को सफल मानेंगे। अन्त में जिन विद्वानों ने अपने मौलिक निबन्ध सरस्वती-प्रीत्यर्थ प्रकाशनार्थ देकर 'शोध-भारती' को भारती भवन में प्रवेश दिलाने का सुअवसर प्रदान किया है उनके प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। भविष्य में भी हमें इन मनीषियों का अधिक से अधिक सहयोग मिलता रहेगा, इस आशा के साथ प्रस्तुत अंक सहृदय पाठकों के कर कमलों में सौंप रहे हैं।

"यह मनुज ब्रह्माण्ड का सब से सुरम्य प्रकाश,
कुछ छिपा सकते न जिससे भूमि या आकाश।"

—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचरित के तीन गायक और उनकी काव्यकृतियाँ

वाल्मीकि, अज्ञातनाम कवि,और तुलसीदास कृतियाँ

—आचार्य किशोरीदासवाजपेयी

पौलस्त्यवध, वाल्मीकीय रामायण, और रामचरित मानस इनमें से एक (पौलस्त्यवध) नाटक है, और शेष दोनों महाकाव्य। 'महाकाव्य' की जो परिभाषा अर्वाचीन साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दी गई है, उसमें यदि वाल्मीकीय रामायण तथा 'रामचरित-मानस, गृहीत नहीं होते, तो यह 'परिभाषा' बनाने वालों का दोष है कि वे अपनी परिभाषा में इन महाकाव्यों को न ला सके। यह भी संभव है कि उनके सामने 'महाकाव्य' संस्कृत के ही रहे हों और 'मानस' पर उनका ध्यान न गया हो; या 'परिभाषा' बनाने तक 'मानस' का अवतरण न हुआ हो और वाल्मीकीय रामायण को वे साधारण महाकाव्यों में न रखना चाहते हों। वह तो 'आदिकाव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। तब 'महाकाव्य' की अर्वाचीन परिभाषा में वह कैसे आए!

वाल्मीकि रामचरित के आदि गायक हैं। उन्होंने करुण रसात्मक 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा था, जिसका या वाल्मीकीय रामायण के आरंभिक चार सर्गों से चलता है। प्रारंभिक सर्ग उस अज्ञातनाम महाकवि ने भूमिका के रूप में लिखे हैं, और फिर पाँचवें सर्ग से महाकाव्य की कथा आरंभ होती है।

'वाल्मीकीय रामायण' नाम इसलिए प्रचलित हो गया; क्योंकि महाकवि ने आरंभ के चार सर्गों में बताया कि रामायण (रामचरित) के प्रथम गायक वाल्मीकि हैं, और फिर अन्त में कृतज्ञापूर्वक कहा—

'आदिकाव्यमिदं चार्षम्,
पुरा वाल्मीकिनो 'कृतम्'

'पुरा' अति प्राचीन काल में मुनि वाल्मीकि ने इस आर्षकाव्य की—'रामायण' की रचना की थी। नाटक दृश्य काव्य है, और वाल्मीकि का 'पौलस्त्यवध' नाटक था, जिसे 'रामायण' नाम से प्रसिद्धि मिली। रामायण का रामचरित का—निबन्धन 'पौलस्त्यवध' में होने के कारण उसे 'रामायण' लोग कहने लगे। पहले 'राम-चरित' के अर्थ में 'रामायण' का प्रयोग होता था। वाल्मीकी रामायण के प्रौढ़ टीकाकार श्रीमान् राम महोदय ने लिखा है—रामस्य अयनम्, चरितम्—'रामायणम्'। यानी 'रामायण' तब तक काव्यविशेष की संज्ञा न थी। आगे चलकर 'रामायण' शब्द का प्रयोग उन काव्य-विशेषों के लिए होने लगा, जिनमें राम-च[illegible] यूरोपी[illegible] (रामायण) का निबन्धन हुआ हो—अध्यात्मराम[illegible] यह आदि। यहाँ तक कि तुलसीदास के 'रामचरित[illegible] (कुतर[illegible] की भी 'तुलसीकृत रामायण' नाम से ही स्थान पर[illegible] प्रसिद्धि है। नई गास्य की

सो, वाल्मीकि के 'पौलस्त्यवध' नाटक को [illegible]-स्वातंत्र्य के नाम मिला और फिर रामायण (रामचरित)[illegible] है—ऐसे जब किसी महाकवि ने एक महाकाव्य की रचना[illegible] सुखपूर्ण उसे भी 'रामायण' नाम मिला और वह वाल्मी[illegible] जिसकी नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस महाकाव्य को भी पौलस्[illegible] सीमा ए वध (रावण-वध) तक ही रखा गया था। 'युद्धकाण्ड[illegible] के (लंका-काण्ड) के अन्त में ही राम का, अयोध्या-आगमन [illegible] और राज्य-भार ग्रहण करने का वर्णन है और यहीं 'फल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुति' आदि है, जो ग्रन्थ की समाप्ति पर ही लिखी जाती है। 'उत्तरकाण्ड' उत्तर कालीन प्रक्षेप है। यह सब आगे बताया जायगा।

रामचरित के तीसरे प्रमुख गायक हैं जो स्वामी 'तुलसीदास' जिनका 'रामचरित - मानस' तुलसीकृत 'रामायण' नाम से देश भर में तथा विदेशों में भी गुंजित हो रहा है। जितना व्यापक प्रचार इस महान् काव्य का हुआ, उतना अन्य किसी भी ग्रन्थ का नहीं। इस लोकोत्तर लोक काव्य ने भारतीय जनता को काव्यानन्द के साथ-साथ आत्मबल तथा सदाचार की भी शिक्षा दी है। अपढ़-निरक्षर से लेकर बड़े से बड़े विद्वान् भी तुलसी के शब्दों का आनन्द लेते रहेंगे। यह काव्य पाञ्चाली और अवधी में है। ये दोनों भाषाएं 'हिन्दी संघ' की प्रमुख भाषाएं हैं। परन्तु कहा यही जाता है कि 'रामचरित-मानस' अवधी भाषा का काव्य है।

ये तीन रामचरित के प्रमुख गायक हैं। इनका तथा इनकी काव्य-कृतियों का विशद विवेचन इस छोटे से लेख में क्या होगा! संक्षेप में आगे परिचय दिया जाएगा।

वाल्मीकि और उनका "पौलस्त्यवध काव्य"

'वाल्मीकीय रामायण' के प्रमुख टीकाकार श्रीमान् राम महोदय ने लिखा है कि वाल्मीक नाम के कोई ऋषि थे। उनके पुत्र 'वाल्मीकि'। यों 'वाल्मीकि' नाम नहीं, का विशेषण ठहरता है, जैसे—'दाशरथि'। परन्तु यह ही नाम के रूप में चल पड़ा, और नाम लोग गए! बादशाह अकबर का नाम कितने लोग 'अकबर' तो उनके महत्त्व के लिए लगाया । नाम था-'जलालुद्दीन,' जो प्रायः लुप्त ही न्दी के महाकवि भूषण का नाम भी लुप्त है। की पदवी उन्हें दी गई थी। फिर 'कवि-ग कहने लगे। जैसे 'भूषण' नाम, और 'कवि' विशेषण, आगे 'भूषण' ही नाम प्रसिद्ध हो गया। कुछ यही स्थिति 'वाल्मीकि' मुनि की है।

सरस्वती उपासक मुनियों में केवल वाल्मीकि का ही नाम अमर है, शेष सब लुप्त हो गए। भरतमुनि तो बहुत बाद के हैं। इसी तरह असुर-कवियों में 'उशना' का नाम लिया जाता है—'कवीनामुशनाः कविः'। 'उशनाः-शुक्रः'। शुक्र (असुरों के गुरु, नेता तथा महाकवि) का नाम 'उशना' था। वे वीर-भाव (वीर्य वीरता) के पुंज थे, अपनी मृतसंजीवनी काव्य-शक्ति के कारण। इसलिए उन्हें 'शुक्र कवि' कहा गया। कालान्तर में 'शुक्र कवि' ही प्रसिद्ध हो गए और उनका नाम (उशना) भी कृष्ण-जैसे वीरता-प्रेरकों की ही जानकारी तक रह गया। नाम भर वाल्मीकि की कृति का शेष है; पर शुक्रकवि की कृति का नाम भी लुप्त हो गया।

एक दूसरे वाल्मीकि भक्त हुए हैं द्वापर में, जिन्हें युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में भगवान् श्री कृष्ण ने उजागर किया, और सर्वोपरि महत्त्व दिया। ये भक्त वाल्मीकि सफाई का काम करने वाले हरिजन (भंगी) परिवार में पैदा हुए थे। इनका वर्णन नाभा जी ने 'भक्त माल' में किया है। यह नाम के एक होने के कारण कुछ लोग द्वापर के भक्त वाल्मीकि को ही रामगायक मुनि वाल्मीकि समझ बैठे हैं।

वाल्मीकि मुनि में साहित्यिक प्रवृत्ति थी। वे कोई ऐसा काव्य लिखना चाहते थे, जो आदर्श वीरता का प्रेरक हो। इस के लिए उन्हें मुनिवर नारद से प्रेरणा मिली कि राम ही एक आदर्श पुरुष हैं। उन्हें ही काव्य का नायक बनाओ। इस के बाद ब्रह्मा जी वाल्मीकि से मिले। ब्रह्मा जी नाट्य-शास्त्र के आद्याचार्य हैं। उन्होंने ही कदाचित् 'दृश्य काव्य' लिखने की सलाह दी हो; क्योंकि 'श्राव्य काव्य' की अपेक्षा 'दृश्य काव्य' में अधिक प्रेरकता होती है! अपढ़-कुपढ़ भी दृश्य काव्य (नाटक आदि) में बराबर आनन्द लेते हैं और (लिपि- माध्यम के बिना ही) सीधे कवि की वाणी सुनते हैं, उन अभिनेताओं के द्वारा, जो राम, सीता, हनुमान आदि की भूमिका में आकर अभिनय करते हैं। सो वाल्मीकि को यह बात अच्छी लगी। उन्होंने 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा। रामायण-महाकाव्य के रचयिता ने भूमिकात्मक (बाल काण्ड के आरम्भ में) चौथे सर्ग में लिखा है—

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।
पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामायणम्—रामचरितम् 'पौलस्त्यवधमित्येवम्'-पौलस्त्यवधनामकम् ।

कृत्स्नम्-सम्पूर्णम् । वस्तुतः 'पौलस्त्य-वध' में सम्पूर्ण रामचरित आ जाता है । वन-गमन के प्रकरण में अयोध्या आ गई, और फिर विजय कर के अयोध्या लौटने पर राज-काज सँभालना । 'सीतायाश्यचरितं महत्' तो 'पौलस्त्यवध' का बीज ही है ।

सो, पौलस्त्य-वध' काव्य महर्षि 'वाल्मीकि ने लिखा, यह स्पष्ट हुआ । पता नहीं, 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने 'पौलस्त्यवध' काव्य देखा भी था; या विद्वत्परम्परा से प्राप्त कथा भर सुनी थी । परन्तु यह पक्की बात है कि वाल्मीकि ने 'पौलस्त्यवध' काव्य लिखा था ।

अब यह देखना है कि यह काव्य किस वर्ग का था । हम ने लिखा है कि यह 'दृश्य काव्य' या नाटक था । इस में आप प्रमाण मांगेंगे । प्रमाण में हम 'वाल्मीकीय रामायण' के भूमिका-सर्गों को ही सामने रखेंगे । वहाँ लिखा है कि वाल्मीकि 'पौलस्त्यवध' लिख कर इस चिन्ता में थे कि—

'को न्वेतत्प्रयुञ्जीयात् !'

अब इस का 'प्रयोग' कौन करे ! 'प्रयोग' 'दृश्य काव्य' का ही होता है । श्राव्यकाव्य तो पढ़ा जाता है । कौन इसे 'पढ़ेगा,' यह चिन्ता तो थी ही नहीं, क्योंकि मुनि-समाज में तथा उस समय के साधारण जन-समाज में सब निरक्षर तो होंगे ही नहीं ! हाँ, नाटक आदि का 'प्रयोग' करने वाले कलाकार (नट, कुशीलव) दुर्लभ होंगे । आज भी अच्छे नाट्य कलाकार बहुत कम हैं । कोई भी नाटककार यह सोचता है, कामना करता है कि मेरे नाटक का कहीं गुणग्राही समाज में कुशल नाट्य-कलाकारों के द्वारा 'प्रयोग' हो—मेरा नाटक रंगमंच पर 'खेला जाए' । अँगूठी की शोभा बढ़िया नग से होती है और नग की अँगूठी से । काव्य-रचना—नाटक का निर्माण—एक कला है और उस का 'प्रयोग' रंगमंच पर करना दूसरी कला । एक चीज कवि की है, दूसरी कुशीलवों की—नाट्यकला-विशारदों की । कभी-कभी कवि भी कुशीलव का काम करता है । महाकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने नाटकों के 'प्रयोग' में पात्र विशेष की भूमिका ग्रहण करके मंच पर अभिनय किया करते थे । परन्तु ये अपने ही नाटकों के प्रयोग में पात्र-विशेष की भूमिका ग्रहण करते थे; इस लिए कुशीलव नहीं, कवि ही कहे जाएँगे । कुशीलवों की कला का बहुत सम्मान था और राज-परिवार के जन भी इस क्षेत्र में आते थे ।

सो, जब वाल्मीकि 'पौलस्त्य-वध' के प्रयोग की चिन्ता में थे, तभी

तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
अगृह्णीतां ततः पादौ मुनिवेशौ कुशीलवौ ।।

—जब मुनि उस तरह नाटक के प्रयोग की चिन्ता में थे, तभी दो कुशीलव सीधे सादे वेश में वहाँ पहुँचे और मुनि की चरण-वन्दना की । उस समय मुनि का मन नाटक-प्रयोग के बारे में भावना विभोर हो रहा था ।

जैसे कवि कुशीलवों की खोज करता है, उसी तरह कुशीलव भी उत्तम नवीन नाटक की खोज में रहते हैं । पता लगा होगा कि वाल्मीकि ने 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा है; सो पहुँच गए । एक 'सूत्रधार' और दूसरा उस का प्रमुख सहचर-सहयोगी 'पारिपार्श्विक' थे ।

इन दोनों कुशीलवों के बारे में कहा है—

कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ ।

'आश्रमवासिनौ'—जब कुछ दिन आश्रम में [illegible] कुशीलव रहे, तब ज्ञात हुआ कि वे दोनों म[illegible] हैं; पर राजपुत्र हैं; सगे भाई हैं; उन का [illegible] स्थान पर [illegible] नीय है और (अपनी कला में) बहुत यश प्र[illegible] नई [illegible] हैं । यह भी लिखा है कि संगीत-विद्या में [illegible]-स्वरों के निपुण थे । वाल्मीकि ऐसे न थे कि किसी [illegible] ा है—ऐसे नाटक सौंप देते । खूब ठोक-बजा कर देख [illegible] न सुखपूर्ण —'अग्रायत प्रभुः'—अपना नाटक उन्हें सौंप दिया [illegible] जिसकी [illegible] सीमाएं

इस के अनन्तर उन कुशीलवों ने नाटक का अ[illegible] ों के किया; अपनी मंडली बुलाई; प्रयोग की तैयारी क[illegible] ने जिस पात्र का अभिनय जिस को सौंपा गया, उस ने उस में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दक्षता प्राप्त की और फिर मुनि-समाज में ही 'पौलस्त्य-वध' नाटक का प्रथम प्रयोग हुआ। नाटक देख कर मुनि जन मुग्ध हो गए और आवाज उठी—

'चिरनिर्वृत्तमप्येतत्,
प्रत्यक्षमिव दर्शितम्'

जो घटना बहुत पहले घटी थी, उसे आँखों के सामने ला दिया! ऐसा जान पड़ा कि वह सब हमारे सामने ही हुआ!

मुनियों ने फिर कुशीलवों को उपहार में तरह-तरह की वस्तुएँ भेंट की, जो उन के पास थीं। वे 'राजकुमार' थे कुशीलव; तो भी मुनिजनों के दिए हुए ये (वल्कल आदि) उपहार सम्मान-पूर्वक ग्रहण किए।

इस के बाद वे कुशीलव नाटक लेकर चले गए।

'कुशीलव' और 'कुशलव'

वाल्मीकीय रामायण के टीकाकारों ने 'कुशीलवौ' को 'कुशलवौ' समझ लिया है! लिखा है कि 'कुशलवौ' का आर्ष-प्रयोग है—'कुशीलवौ।' कितना भ्रम! आर्ष-प्रयोग जो ऐसे हुए हैं, उन में स्वर दीर्घ भर हुआ है, स्वर-परिवर्तन नहीं। 'अ' को 'आ' रूप मिल गया है—'सूर्यचन्द्रमसौ' का 'सूर्याचन्द्रमसौ' और 'इन्द्रवरुणौ' का 'इन्द्रावरुणौ' प्रयोग आर्ष है। 'अ' को कहीं भी 'ई' रूप नहीं मिला है।

फिर, यदि कुश-लव नाट्यकलाकार थे और उन के
में ही थे, तो फिर मुनि चिन्ता में क्यों पड़े कि
युञ्जीत'—इस नाटक का प्रयोग कौन करेगा!
आश्रम के कलाकारों को कोई नहीं जान
फिर उन कुशीलवों को 'राजपुत्रौ' कहा गया
ह नहीं, बीसों जगह। यदि कुश-लव होते, तो
की जगह 'रामपुत्रौ' विशेषण होता।

तः 'प्रयुञ्जीत' तथा 'कुशीलवौ' का अर्थ ही लोग
मझे?

अज्ञात महाकवि का महाकाव्य 'वाल्मीकीय रामायण'

'पौलस्त्य-वध' का 'रस'

'पौलस्त्य-वध' इस नाम से आभास मिलता है कि वह नाटक वीररस-प्रधान रहा होगा। परन्तु लोक-विश्रुति यह है कि वाल्मीकि की वह रचना करुण रस से ओत-प्रोत थी। इस पर विचार करना चाहिए।

कुशल कुशीलव ऐसा ही दृश्यकाव्य पसन्द करते हैं, जिसका प्रयोग पांच-छः घंटे में सम्पन्न हो जाए, और चतुर नाटककार कुशीलवों की इस रुचि का ध्यान रखते हैं। ऐसी स्थिति में सरलता से समझा जा सकता है कि 'पौलस्त्य वध' के लिए वाल्मीकि ने राम-चरित का कितना अंश लिया होगा। पाँच छह घंटे में सुकर-प्रयोग नाटक को पाँच-छह अंकों में विभक्त किया जा सकता है। निश्चय ही राम-निर्वासन से ही नाटक का श्रीगणेश हुआ होगा। 'आदौ रामतपोवनाधि गमनम्'। प्रथम अंक में अयोध्या से राम का निर्वासन और उस समय राज-परिवार की दशा का चित्रण मर्मस्पर्शी रहा होगा। दूसरे अंक में राम की वन में स्थिति, सीता का वह वन्य जीवन चित्रित हुआ होगा, जिसे देखकर दर्शकों के हृदय द्रवीभूत हो जाते होंगे। तीसरे अंक में सीता-अपहरण का कारुणिक दृश्य दर्शकों को रुला देता होगा। चौथे अंक में सीता के वियोग में राम की क्या दशा हुई, इस का चित्रण कवि ने किया होगा। पाँचवें अंक में लंका-स्थित सीता का विरह-सन्ताप चित्रित हुआ होगा और छठे अंक में किसी प्रमुख पात्र के मुख से सीता को सूचना मिली होगी कि भयंकर युद्ध में पौलस्त्य मारा गया और राम की विजय हो गई है। इस समाचार से सीता का पुनरुज्जीवन—'सूखत धान परा जनु पानी' की तरह दर्शकों को आह्लादित करता होगा। फिर राम और सीता का पुनर्मिलन। यों सुखान्त नाटक रहा होगा।

इस अन्तिम अंश (छठे अंक) को छोड़, शेष पूरे नाटक में करुणात्मक दृश्य और एक से एक बढ़कर दिल दहलाने वाले। तो, प्रधानता करुण रस की स्पष्ट ही है।

युद्ध रंगमंच पर दिखाया नहीं जा सकता; इसलिए उसकी सूचना किसी ढंग से दे दी जाती है। तो फिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीर रस में परिणति होने पर भी उसका परिपाक तो नहीं हुआ न ! दर्शकों के मन तो करुण रस से भरे हुए। उन में पौलस्त्य-वध की सूचना से सुख-संचार होने पर भी वह करुण दृश्यावली ही जमी रहना स्वाभाविक है और इसी लिए 'पौलस्त्य-वध' में करुण रस प्रधान रहा।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है। अर्वाचीन काव्य-विवेचकों ने पारिभाषिक 'करुण' रस की जो परिभाषा दी है, वह अधूरी है। उसके अनुसार तो किसी की मृत्यु हो गई हो, तभी वह 'करुण रस' की परिधि में आता है।

हाँ, 'पौलस्त्य-वध' के अंक-विभाजन की जो बात मैंने कही है, उस पर पाश्चात्य आलोचक और उनके भारतीय चेले कहेंगे कि "उस अति प्राचीन युग में 'लिखने' की कोई बात ही नहीं; क्यों कि तब तक लिपि का निर्माण आर्यों में हुआ ही न था और इसीलिए 'वेद' को 'श्रुति' कहा जाता था। सुनते-सुनाते वह चलता था।"

ऐसे मूर्खों को कैसे बताया जाए कि "कालिदास ने 'रघुवंश' में और तुलसीदास ने 'रामचरित-मानस' में कहा है—।" क्या इन के युग में भी लिपि न थी ? आज कल 'श्रव्य काव्य' ही अधिक लिखे जाते हैं। इस का क्या मतलब ? क्या आज भी लिपि नहीं है ? फिर 'श्रव्य काव्य' 'लिखे जाते हैं'; यह क्या ? इन्हें कैसे समझाया जाए कि 'लिखना-पढ़ना' भी (लिपि के माध्यम से) कहना-बोलना ही है। संसार के सब से प्राचीन साहित्य 'ऋग्वेद' के भी 'मण्डल' तथा 'सूक्त' रूपों में परिच्छेद हैं। तब उसके बहुत दिन बाद वाल्मीकि ने अपने दृश्य काव्य का विभाजन अंकों में किया, तो शंका किस बात की ?

वाल्मीकि के समय दृश्य काव्यों का प्रयोग करने के लिए रंगमंच की भी उत्तम व्यवस्था रही होगी और अभिजात वर्ग के विद्वान् कलाकार अपने को 'कुशीलव' कहलाने में गर्व का अनुभव करते होंगे। तभी तो दो राजकुमार कुशीलव वाल्मीकि की सेवा में जा कर हाजिर हुए थे।

एक बात और ! वह क्रौंच पक्षी की हत्या वाली बात कुछ जमती नहीं है और वाल्मीकि के प्रस्तुत करुण काव्य से मेल भी नहीं खाती। महाकवि निराला के सामने ही, उन की प्रकृति बताने के लिए, लोग कहानियाँ गढ़ लेते थे और मेरे सामने ही (मेरे दिल्ली-अभिनन्दन पर) अनेक विद्वान् मित्रों ने मेरी प्रकृति बतलाने के लिए कई कल्पित प्रसंग उपस्थित किए थे। अन्यत्र भी ऐसा होता है। सो, वाल्मीकि की मनोदशा को वैसे काव्य की रचना के अनुकूल बनाने के लिए वह क्रौंच पक्षी की हत्या वाली कहानी गढ़ी गई है; जो जमती नही है।

'पौलस्त्य-वध' से पहले और बाद में

'पौलस्त्य-वध' से पहले और उसके बाद संस्कृत में कितना साहित्य अवतरित हुआ होगा, इसका अनुमान कोई लगा नहीं सकता। यह हो नहीं सकता कि अचानक 'पौलस्त्य-वध' कूद पड़ा हो, उसके पहले कोई साहित्य प्रकट न हुआ हो ! अन्यविध साहित्य के अतिरिक्त दृश्यकाव्य भी काफी बन चुके होंगे और उनके प्रयोग करने वाले कुशीलवों की कला का विकास भी हो चुका होगा। अन्यथा, एकदम वे कुशीलव कहाँ से टपक पड़ते, जो वाल्मीकि के आश्रम में नवीन नाटक की प्राप्ति के लिए पहुँचे थे ? हाँ, यह हो सकता है कि रामचरित को लेकर वह पहला ही नाटक हो, जिसकी चर्चा 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने की है। उसे तो अपनी परम्परा से मतलब। यह भी हो सकता है कि रामचरित को लेकर भी काव्य-रचना हुई हो, जो 'पौलस्त्य-वध' के उदय से अस्त हो गई हो ! पाणिनि से पहले जो [illegible] यूरोपीकार हुए, उनके नाम तो 'अष्टाध्यायी' से मा[illegible] मत भी थोड़ा-बहुत मालूम हैं; पर उनके [illegible] कुतर [illegible] पता नहीं। इसी तरह यास्क ने अपने [illegible] स्थान पर भाषाविज्ञानियों के नामों का और उनके [illegible] नई [illegible] किया है, सामने हैं। परन्तु उनके ग्रन्थ [illegible] स्वाहेत्र के पाणिनी की 'अष्टाध्यायी' के बाद पहले [illegible] है—ऐसे ग्रन्थ अस्त हो गए और यास्क के 'निरु[illegible] न सुखपूर्ण सभी निरुक्तीय (भाषावैज्ञानिक) ग्रन्थों के [illegible] जिसकी कर दिया। पाणिनि तथा यास्क के समय [illegible] सौभाए का भी साहित्य होगा; अन्यथा व्याकरण त[illegible] ों के का प्रदुर्भाव ही संभव न था। परन्तु अपने-अप[illegible] के ही पूर्वाचार्यों के नाम और मत दोनों आचार्यों न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्र-तत्र प्रकट कर दिए हैं। इसी तरह 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने वाल्मीकि तथा उनकी कृति 'पौलस्त्य-वध' की चर्चा कर दी है। वही सर्वोत्कृष्ट जँचा होगा।

संभव है, 'पौलस्त्य-वध' के बाद भी रामचरित पर साहित्य बना हो, पर नगण्य रहा हो और इसी लिए उस की चर्चा अनावश्यक समझी गई हो। पं० कामता प्रसाद 'गुरु' के हिन्दी-व्याकरण के बाद भी सैकड़ों हिन्दी-व्याकरण बने, पर 'हिन्दी शब्दानुशासन' में केवल 'गुरु' जी का ही उल्लेख है। इस निबन्ध में रामचरित के तीन 'गायक' निर्दिष्ट हैं, परन्तु उनकी संख्या तीन ही तो नहीं है न ! तीन पर हमें विचार करना था।

'लिपि का उल्लेख'

लोग यह भी कहते हैं कि वैदिक साहित्य में कहीं 'लिपि' का उल्लेख नहीं है; जिस से स्पष्ट है कि उस समय 'लिखने' की व्यवस्था न थी !

इन लोगों को यह भी कहना चाहिए कि "चालीस वर्ष पहले तक हिन्दी में 'लिखने' की व्यवस्था न थी; क्योंकि अंग्रेजी के 'स्पेलिंग' और उर्दू के 'हिज्जे' की तरह हिन्दी साहित्य में कोई वैसा शब्द नहीं मिलता। हिन्दी में 'वर्तनी' शब्द चले अभी बहुत थोड़े दिन हुए हैं। यदि पहले हिन्दी में लिखने की व्यवस्था होती तो 'वर्तनी' शब्द जरूर मिलता।"

[illegible]ौर अधिक क्या कहा जाए। 'वाल्मीकीय [illegible]ाकाव्य जिस महाकवि ने लिखा, उसके [illegible]छ पता नहीं। यह भी पता नहीं कि वे [illegible] अपने इस महाकाव्य की रचना की। [illegible]क्की है कि यह 'वाल्मीकीय रामायण' [illegible] है।

[illegible]न वाल्मीकि का नाम कवि-रूप से सबको [illegible] उनके काव्य लुप्त हो गए और इस महा-[illegible]ा सामने है; पर नाम लुप्त हो गया। महा-[illegible]म 'वाल्मीकि' में अन्तर्हित हो गया।

[illegible]ल्मीकीय रामायण' ऊँचे दर्जे की काव्य-रचना है। [illegible]ृष्ठभ प्रकृति का तथा मानव-प्रकृति का जैसा सजीव वर्णन हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। महाकवि पर अपने युग के समाज का भी प्रभाव पड़ा है। प्रसिद्धि थी—'लंका में सीता की अग्नि-परीक्षा हो गई और उसमें वे खरी उतरीं'। वैसी भयंकर स्थिति में अपना सतीत्व सुरक्षित रखना भयंकर अग्नि-परीक्षा में खरा उतरना है। लोग इसका मतलब यह समझने लगे थे कि परीक्षा के लिए बहुत बड़ी चिता बनाई गई और सीता जी उस धधकती हुई चिता में कूद पड़ीं और फिर अपने सतीत्व के प्रभाव से ज्यों की त्यों, दमकते हुए कुन्दन की तरह, प्रकट हुईं।' महाकवि भी ऐसा ही समझे और यह भी कल्पना की होगी कि वाल्मीकि ने भी अपने रामचरित (रामायण) काव्य 'पौलस्त्यवध' में सीता जी के ऐसे ही अग्नि-प्रवेश का वर्णन किया होगा ! वह कैसा कारुणिक दृश्य रहा होगा ! महाकवि को इस प्रसंग ने अत्यधिक प्रभावित किया और उनकी यह भावना बनी कि 'पौलस्त्य-वध' इसी घटना के कारण 'करुण रस' का कहा जाएगा; इसी की संगति के लिए कहाकवि ने अपने महाकाव्य के आरम्भिक (भूमिकात्मक) सर्गों में और सब लिखते हुए क्रौंच पक्षियों की कल्पना-प्रसूत कथा लिखी।

महाकवि ने अपने महाकाव्य (वाल्मीकीय रामायण) में सीता के अग्नि-प्रवेश का अत्यन्त करुणात्मक वर्णन किया है। उसे पढ़ने वाले के मन में (सीता के प्रति वैसी कटूक्तियाँ सबके सामने कहते हुए) राम के प्रति असद्-भावना पैदा न हो, यह सम्भव नहीं और वहीं पाठक का सिर माता सीता के चरणों पर झुक जाता है। लोकोत्तर शील, संयम और शालीनता के दर्शन हैं।

जो भी हो, महाकवि का यह वर्णन अद्वितीय है। राम का वैसा रूप वर्णन करके भी महाकवि उन्हें 'धर्मज्ञ' कहता है; यह लोक-लीक ! निरपराध सीता का अग्नि-प्रवेश वर्णन भी लोक-लीक का ही पीटना है; अन्यथा, महाकवि की पूर्ण सहानुभूति माता सीता की ओर है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को निरपराध देश-भक्त समझते हुए भी न्यायाधीश ने उन्हें दण्ड दिया था। दण्ड देना पड़ा था। वह कानून से बंधा हुआ था। इसी तरह महाकवि लोक-लीक से चिपका हुआ था। उसे वैसा वर्णन करना पड़ा और खूब किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर काण्ड का प्रक्षेप

'वाल्मीकीय रामायण' युद्ध-काण्ड (लंका-काण्ड) पर ही समाप्त है। सातवाँ काण्ड बहुत बाद का प्रक्षेप है; यह उसके नाम से ही स्पष्ट है—'उत्तर काण्ड'—बाद का जोड़ा हुआ काण्ड। महाकाव्य के असली छहों काण्डों के नाम स्थान या घटनाओं को लेकर हैं—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, और युद्धकाण्ड। 'वाल्मीकीय रामायण' का अंग यह सातवाँ काण्ड होता, तो नाम होता—राज्यपालन काण्ड, या सीतानिर्वासन काण्ड।

दुनिया कितनी विचित्र है! कैसे-कैसे क्रूर राक्षस यहाँ पैदा होते हैं। सीता की उस 'अग्नि-परीक्षा' से भी सन्तोष न हुआ और तब 'उत्तर काण्ड' रच डाला। इसी काण्ड में तपस्वी शम्बूक की हत्या राम के द्वारा कराई गई है। और भी बहुत-सी ऐसी ही कहानियाँ हैं; परन्तु सबसे क्रूर कल्पना सीता-निर्वासन की है। निरपराध, अबला, गर्भवती और फिर उसकी वह दुर्गति! बियाबान जंगल में हिंस्र जानवरों को चीर-फाड़ कर खा जाने के लिए उसे छोड़ आना! फिर, कहा क्या गया है—अपने वंश की मर्यादा, अपनी कीर्ति तथा धर्म की रक्षा के लिए वैसा करना पड़ा! यदि यही बात होती, तो धर्मज्ञ राम स्वयं प्रायश्चित करते और वैसा कोई दण्ड स्वयं भुगतते; क्योंकि दोषी वे ही ठहरते हैं। वे सीता जी को पुष्पक-विमान में लंका से अयोध्या लाए और राजभवन में सम्मान के साथ रखा। तब प्रजा ने किसको दोषी समझा होगा?

पत्नी का परित्याग आगे दुष्यन्त ने जो किया, वह सच्ची घटना है; कल्पित नहीं। दुष्यन्त ने शोहदेपन से मुनि-आश्रम की एक बालिका को अपने जाल में फँसा लिया और फिर अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए उसे अपमानित करके भगा दिया कि यह मुझे कलंकित करके रानी बनने के लिए राँड़ कहाँ से आ पहुँची! शोहदे ऐसा करते ही हैं और जो लड़कियाँ गुरुजनों के परामर्श-अनुमति के बिना वैसा 'प्रेम-विवाह' कर लेती हैं, उनमें से अधिकांश प्रायः पछताती ही देखी जाती हैं। परन्तु दुष्यन्त ने शकुन्तला को पकड़वा कर बियाबान जंगल में नहीं छुड़वाया।

'सीता-निर्वासन' की क्रूर कल्पना हृदय दहलाने वाली है और इसके जोड़ की केवल एक ही और क्रूर कल्पना मिलती है, जो राजा मयूरध्वज की कथा है। कुछ ठिकाना है। एक साधु को प्रसन्न करने के लिए, उसके जानवर के लिए, माता और पिता अपने हाथों आरे से अपने पुत्र को चीर दें। सुनते ही रोम खड़े हो जाते हैं। सीता-निर्वासन के जोड़ की केवल यही एक क्रूरतम कल्पना और है। अन्य सब कुत्सित कल्पनाएँ इनके बाद हैं।

खैर, अधिक कहने को मन नहीं करता—'कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः'। चाहिए था कि किसी मधुर प्रसंग से इस प्रकरण की समाप्ति की जाती। परन्तु सामने यह बीभत्स नारकीय प्रसंग आ गया! आँखें बन्द करके सब भुला दो।

३. गोस्वामी तुलसीदास और 'रामचरित मानस'

ऊपर रामचरित के दो प्रमुख गायकों की चर्चा हुई, जिनके काव्य संस्कृत में बने। तीसरे महाकवि हमारे गोस्वामी तुलसीदास जी हैं, जिनकी 'भाषाभनिति' है—'रामचरित मानस'। यह महाकाव्य 'तुलसीकृत रामायण' नाम से अधिक प्रसिद्ध है। परन्तु इधर हिन्दी के जागरूक विद्वानों के सम्पादकत्व में जो संस्करण प्रकाशित हुए हैं, वे 'रामचरित मानस' नाम से ही अलंकृत हैं; तो भी कथापरिच्छेदों के नाम 'काण्ड' ही रखे गए हैं। गोस्वामी जी ने अपने 'मानस' के सात 'सोपान' रखे थे—'सप्त सोपान'। सातवें 'सोपान' का नाम लोगों ने 'उ[illegible] यूरोपी[illegible] रख लिया; परन्तु इसमें वाल्मीकीय रामाय[illegible] 'उत्तर काण्ड' की क्रूरता नहीं है। न यहाँ 'सीत[illegible] कुतर[illegible] चर्चा है; न किसी तपस्वी की हत्या ही [illegible] स्थान पर [illegible] गई है। इस 'सोपान' या 'उत्तरकाण्[illegible] नई [illegible]स्था की उत्तमाङ्ग कहना चाहिए; 'उत्तरकाण्ड' [illegible]-स्वातंत्र्य के [illegible] है। सीता और लक्ष्मण के साथ राम का [illegible]ा है—ऐसे राज्याभिषेक, अपने (लंका-युद्ध के) सहयोगी सुग्रीव, हनूमान आदि का कृतज्ञता-पूर्वक सम्मान, [illegible] जिसकी समृद्धि का वर्द्धन, धर्म-स्थापन आदि का वरण [illegible] फिर विविध कथा-प्रसंगों में भक्ति, ज्ञान, वैराग्य के का विशद वर्णन है तथा सर्वोपरि राम-भक्ति का प्रतिष्ठापन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यानी इस सातवें 'सोपान' को गोस्वामी जी ने लोक तथा परलोक, दोनों का आदर्श 'आदर्श' (दर्पण) बना दिया है—अपना हृदय प्रकट कर दिया है।

'आठवां काण्ड'

वाल्मीकीय रामायण छह काण्डों में है और उसमें सातवाँ 'उत्तरकाण्ड' प्रक्षिप्त है। गोस्वामी तुलसीदास का 'मानस' सात सोपानों में पूर्ण है। परन्तु लोगों ने एक आठवाँ 'काण्ड' गढ़ कर 'लव-कुश काण्ड' नाम से इसमें जोड़ दिया था, जिसमें वे सब क्रूर-कथाएँ तथा ऊल-जलूल निरर्थक कथाएँ भर दी गईं, जिनसे गोस्वामी तुलसीदास बहुत उद्विग्न थे। बीच-बीच में, अन्य सभी काण्डों में 'क्षेपक' भर दिए गए। ऐसे 'क्षेपकों' सहित, तुलसीकृत रामायण, आठों काण्ड' छाप-छाप कर लोगों ने खूब धन कमाया। यह धमाचौकड़ी देख कर हिन्दी के विद्वान् सजग हुए और सभी 'क्षेपक' हटा कर तथा अठवाँ 'लव-कुश काण्ड' काट कर पुनः 'मानस' को अपने निज रूप में कर दिया। अब उन क्षेपकों का तथा आठवें 'लवकुश काण्ड' का कहीं पता-ठिकाना नहीं है।

तुलसी ने एक कुंजी दे दी है

गोस्वामी तुलसीदास ने राम-चरित समझने के लिए विद्वानों के दिमागों पर लगे संशय-संदेहों के कपाट खोल दिए हैं। जड़ता का ताला खोलने की उनकी कुन्जी

'कलप-भेद हरि-चरित सुहाए,
ँति अनेक मुनीसन गाए'

ने लिखा है कि राम जी के चरित्र में
वह 'कल्प-भेद' से है। प्रत्येक 'कल्प'
न अवतार होता है और यों कथा-भेद
क ही हैं।

'कल्प-भेद' का मतलब 'कल्पना-भेद' है,
ई के होते हैं। वे अपने मन से कल्पना करते
सा हुआ, उसने वैसी ही कल्पना कर ली। यह
ही काव्य को 'सुकाव्य' या 'कुकाव्य' बना देती है। समाज की स्थिति तथा मान्यता में भी परिवर्तन होते रहते हैं। कविजन अपने समय की सामाजिक स्थिति से प्रभावित होते हैं और उसी के अनुसार काव्य-कल्पना कर लेते हैं। सो, राम-चरित में जो तरह-तरह के वर्णन-प्रसंग देश-विदेश में मिलते हैं, वे सब कवि-कल्पनाओं की सृष्टि हैं। उन कल्पनाओं को विवेक-दृष्टि से देखना चाहिए कि मर्यादा-पुरुषोत्तम राम से इसका कोई साम-ञ्जस्य-मेल है भी कि नहीं! राम से भी क्या कोई ऐसा क्रूर तथा अन्यायपूर्ण कृत्य संभव है? इस तरह विवेक के सूप से फटकने पर असार तत्त्व उड़ कर दूर जा पड़ेंगे और सार तत्त्व पास रह जाएगा।

'हरि-चरित सुहाय' जो चरित जिसे सुहाया-मन-भाया, उसी को राम के माथे थोप दिया।

'मुनीसन गाए' में 'मुनीसन' शब्द बड़े काम का है। कुत्सित कल्पना करने वाले भी 'मुनास'। खबीस भी 'मुनीस'! 'कथिता पुण्यजना निशाचराः'। राक्षसों का एक नाम 'पुण्यजन' भी है। यही बात कुकवि जनों को 'मुनीस' कहने में है। और, सुकवि रामगायक तो 'मुनीस' हैं ही; मुनीश वाल्मीकि की परम्परा में हैं; इसीलिए सब 'मुनीस'। साधारण सिख को भी आदर से 'सरदार' कहा जाता है। सो राम-चरित के सभी गायक 'मुनीस' हैं, तुलसी की दृष्टि में।

मैं समझता हूँ, 'कल्प-भेद से रामचरित में भिन्नता' बतलाकर तुलसीदास ने हमें एक ऐसी कुन्जी दे दी है, जिससे हम न केवल रामचरित-काव्यों को ही वरन सभी काव्यपुराण-कल्पना कथाओं को साफ-साफ देख सकते हैं। किसी क्रूर के लिए क्रूर चरित की कल्पना ठीक हो सकती है, परन्तु दयालु धर्मात्मा के लिए नहीं। कभी-कभी अपने काव्य-नायक की प्रतिष्ठा बचाने के लिए भी कविजन कल्पना कर लेते हैं, परन्तु किसी दुश्चरित्र के समाज विरोधी आचरण को कल्पना-बल से छिपाना सामाजिक अपराध है जो महाकवि कालीदास से भी हो गया है। दुष्यन्त के शकुन्तला के प्रति किए दुर्व्यवहार पर मुनि-शाप की कल्पना ऐसी ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मानव मूल्य

और

आधुनिक हिन्दी काव्य'

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

इतिहासविदों ने भारत और यूरोपीय संस्कृति के सम्पर्क काल को आधुनिक युग के नाम से अभिहित किया है और भारत में यूरोपीय संस्कृति का वचन-काल उन्नीसवीं शताब्दी है। इस शताब्दी में भारतीय जीवन मध्ययुगीन पौराणिक वातावरण में डूबा हुआ था और यह जीवन मन्द गति-पूर्ण और विस्तार भार से लदा हुआ था। इस प्रकृति के दर्शन उस समय की सबीह तथा चित्रकला के अन्य रूपों, शिल्प की पच्चीकारी तथा सजावट और हिन्दी की रीति कालीन कविता में होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में जब यूरोपीय उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद अपनी पूरी शक्ति के साथ देश में आया तो यदि एक ओर राजनीतिक और आर्थिक दृष्टियों से देश अधोगति को प्राप्त हुआ, तो दूसरी ओर वैज्ञानिक आविष्कारों और नवीन शिक्षा के प्रचार से देश के बौद्धिक और भावनात्मक जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित हुआ, देश के बुद्धिजीवियों का पाश्चात्य विचार-परम्परा और साहित्य के साथ सम्पर्क स्थापित होने के फलस्वरूप और साथ ही देश के अतीत गौरव के स्मरण से नवोत्थान की लहर फैलने में विलम्ब न हुआ। देश वासियों में नवीन साहित्यिक, कलात्मक और शासन संबंधी आकांक्षाएँ उत्पन्न हुई। यह बात विशेषरूप से ध्यान देने की है कि जहाँ देश में एक ओर पाश्चात्य प्रभाव अत्यन्त तीव्रता के साथ बढ़ रहा था, वहाँ दूसरी ओर अपनी प्राचीन साँस्कृतिक परम्पराओं से देश का ध्यान अपने प्राचीन गौरव की ओर गया। भारत के बुद्धिजीवि[illegible] यह देश 'विश्व-गुरु' के रूप में दृष्टिगोचर होने [illegible] यूरोपी[illegible] ऐसे देश के रूप में दृष्ट गोचर होने लगा [illegible] [illegible] एक ऐसा सन्देश था जिससे मानव का कल्[illegible] कुतर[illegible] था; जहाँ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'आत्[illegible] स्थान पर[illegible] जैसे स्वरों का उद्घोष हो चुका था।[illegible] नई [illegible] की 'पूर्व' और पश्चिम' का संघर्ष प्रारम्[illegible]-स्वातंत्र्य [illegible] एक विचित्र ऐतिहासिक घटना है कि आधुनि[illegible] है—ऐसे के समय से ही आधुनिक भारत का [illegible] सुखपूर्ण दयानन्द सरस्वती जैसे महापुरुषों द्वारा हुआ [illegible] जिसकी ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित होते हुए भी भारतीय आ[illegible] सीमाए गरिमा और सन्देश को भूले नहीं थे। यह भारतीय नेताओं के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रथम चरण था जिसके फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी देश के बौद्धिक एवं साँस्कृतिक जीवन में एक नितान्त नूतन मोड़ प्रस्तुत करती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय जीवन में अभिव्यक्त यह प्रक्रिया उस महान् ऐतिहासिक क्रम का एक अंग थी जो समस्त एशिया के जीवन को स्पन्दित कर रहा था। वास्तव में कोपर्निकस, मिल, मोर्ले तथा अन्य यूरोपीय चिन्तकों और विचारकों ने भारतीय मध्ययुगीन जीवन की जड़ हिलादी। यही उन्नसवीं शताब्दी का वास्तविक महत्त्व है, अन्यथा राजनीतिक उत्थान-पतन तो पहले भी हो चुके थे। इस नवीन ज्ञान के प्रकाश में जीवन का फिर से संस्कार किया जाने लगा।

अत: वैचारिक स्तर पर उन्नीसवीं शताब्दी एक नई संक्राँति का काल था। पश्चिमी समस्यता एवं संस्कृति के साथ टकराव फलस्वरूप लोगों का दृष्टिकोण बदला, प्रजा-तंत्र की नींव पड़ी और अनेस प्रकार की विपमताओं और वर्जनाओं का जीवन व्यतीत करते हुए भी एक नए युग का सूत्रपात हुआ और जड़ जीवन-पद्धतियों एवं निष्क्रियता के बीच नवीन उत्साह, सक्रियता एवं आत्म-विश्वास की भावना का उदय हुआ जिसकी अन्तिम परिणति बीसवीं शताब्दी में स्वतंत्रता-प्राप्ति में दृष्टिगोचर होती है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लगभग १५०-१७५ वर्ष की दासता के अभिशाप को भुगतते हुए और उसके मध्य भारत में अनेक अधुनातन विचारधाराओं का जन्म एवं विकास [illegible]सलिए जब आधुनिक काव्य के सन्दर्भ में मानव-[illegible]चातें उठाई जाती हैं तो उसका सीधा अर्थ [illegible]वेश एवं सामयिक जीवन की गति के भीतर [illegible] स्वरूप ग्रहण करते हुए प्रगतिशील तत्त्वों [illegible] आधुनिक काव्य और मानव-मूल्यों का [illegible]ंध स्थापित हो जाता है।

[illegible]ह था जब हिन्दी कविता परिपाटी विहित [illegible] राधा-कृष्ण की लीलाओं और नायक-[illegible] कल्पित ऐश्वर्य और विलास में डूबी हुई [illegible]ावों की अभिव्यक्ति के लिए कवियों के पास [illegible] साधन थे। परन्तु पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क में [illegible] हमारे कवियों का ध्यान प्राचीन काव्य-परम्परा के निर्वाह के अतिरिक्त नवीन भावों और विचारों और अपने चारों ओर की दुनिया की ओर भी जाने लगा। कविता दरबारों से निकल कर सड़क पर आगई। एक ओर तो रूढ़ियों और परम्पराओं ने, और दूसरी ओर अंगरेजी-शासन के कर्मचारियों ने साधारण जन को ऐसा दबोच रखा था कि उसे उभरने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो रहा था। हिन्दी के कवियों ने पहली बार देश की सामूहिक भलाई की ओर ध्यान दिया और मनुष्य को मनुष्य समझा। उन्होंने लोकहित की ओर ध्यान दिया। शताब्दियों से पीड़ित मानव का उद्धार करना चाहा। अंगरेजी राज्य के अन्तर्गत नवजात और नवशिक्षित मध्यम वर्ग ने इस दृष्टि से अग्रगण्य भाग लिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, बालमुकुन्द गुप्त, बद्रीनारायण चौधरी, 'प्रेमधन, श्रीधर पाठक आदि कवियों ने अपने समय के मनुष्य को उसके सामाजिक एवं राजनीतिक सन्दर्भों में, पूरी समग्रता के साथ मूल्याँकित करने का प्रयास किया और मानव को अपने चिन्तन का आधार बनाया। यदि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की सारी आधुनिक कविताओं को एक स्थान पर संकलित किया जाय तो उस समय के भारतीय मानव के समूचे जीवन का एक अच्छा चित्रफलक उपस्थित हो सकता है। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी कवियों की दृष्टि देश की दीनहीन दशा की ओर गई और ब्रिटिश शासनान्तर्गत घूमते हुए नर-कंकालों के प्रति सहानुभूति उमड़ी। जब वे भूख से पीड़ित, अर्द्ध-नग्न और आशिक्षित भारतवासी को देखते थे, जब वे उसे तरह-तरह की रूढ़ियों में ग्रस्त देखते थे, तो उनकी आत्मा कलप उठती थी। वे उसके सारे अभाव दूर कर उसे परिष्कृत और समृद्ध मानव के रूप में देखना चाहते थे। 'प्रेमधन' ने कहा भी था:—

'नहिं विद्या नहिं बाहुवल, नहिं खरचन को दाम'

भारतेन्दु का भावावेग भी ऐसे देशवासियों के प्रति उभरा जिनके घरों में भूंजी भाँग भी नहीं थी, मंहगी के कारण जो उदर-पोषण भी न कर पाते थे, जो फाके मस्ती करते थे, जिनके पास बुद्धि नहीं थी और जिनके संबंध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा:—

'दीन दसा अँसुअन पिचकारिन सब लिलार भिजयोरी।' उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हुए बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा था:—

'भारत घोर मसान है, तू आप मसानी।
भारतवासी प्रेत से डोलहिं कल्यानी।
हाड़ माँस नर रक्त है भूतन की सेवा।
यहाँ कहाँ मा पाइये चन्दन घी मेवा?

अथवा—

'पेट भरनहित फिरें हाय कूकर से दर दर।
चारहिं ताकें पैर लपकि मारहिं जो ठोकर॥
तुम्हीं बताओ राम तुम्हें हम कैसे जानैं।
कैसे तुम्हरी महिमा कलुषित हिय महं आनैं॥

इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में जब हिन्दी कविता ने करवट बदली तो वह मानवा-भमुख हुई।

किन्तु, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, उन्नीसवीं-शताब्दी की यह मानवोन्मुखी कविता उस व्यापक भारतीय मानवतावाद का अंग थी जो हमें अपने प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है। आधुनिक हिन्दी कविता में प्रारम्भ से हमें एक ऐसी निष्ठा मिलती है जिसमें अन्तरात्मा की शक्ति है, जिसमें परम्परागत मानव-मूल्यों को नवीन विज्ञान और समाज-संगठन के बीच पारस्परिक संबंध स्थापित कर फिर से खोजने का पुनीत प्रयास मिलता है। इस परम्परागत भारतीय मानवतावाद का परिवेश अत्यन्त व्यापक था। उसने शताब्दियों तक भारतीय चेतना को प्रभावित किया। जब हमारे यहां यह कहा गया कि विश्व के सभी मानव सुखी हों, सभी रोग मुक्त, सभी कल्याणकारी कार्यों का अवलोकन करें और कोई भी दुःख का भागी न बने, अपने-पराये की संकुचित भावना से सभी दूर रहें और उदार चरित वालों के लिए यह संपूर्ण धरती ही कुटुम्ब-सदृश है, तो वह मानव-मंगलापेक्षी भावनाओं से प्रेरित होकर ही कहा गया था। सहिष्णुता, समर्पण, प्रेम, अहिंसा, सद्भावना, करुणा, सहानुभूति, समानता, निःस्वार्थभाव, अन्तःकरण की शुद्धता, न्याय, आत्म-तुष्टि, त्याग, अंहकार विसर्जन, परोपकार आदि भारतीय मानवतावाद के प्रमुख तत्त्व हैं। मानव-जीवन को हमारे पूर्वजों ने अशोभन नहीं माना। वह तो अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने का एक पवित्र साधन है। भारतेन्दु-युगीन आधुनिक कविता का मानव-प्रेम इसी परम्परागत आदर्श का पोषण करने वाला है। किन्तु वह भावुकतापूर्ण अधिक और विचार-प्रधान कम था। कोई निश्चित परम्परा और स्पष्ट दिशा न होने के कारण इन मानव-मूल्यों में केवल मानव के प्रति प्रेम है, विचार-प्रसूत निश्चित दिशा देने का प्रयास नहीं है। जीवन के सत्व का अन्वेषण करना और उसके मानवीय पक्ष पर बल देना उनका प्रधान लक्ष्य था।

यह तो सर्व विदित है कि आर्य समाज ने एक विशेष शास्त्रीय और तार्किक प्रणाली को जन्म दिया था। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के समन्वय से इस प्रणाली ने तथा विवेकानन्द द्वारा प्रचलित वेदान्त द्वारा प्रचलित वेदान्त ज्ञान ने और भी अधिक व्यापक रूप धारण किया। स्वर्गीय विपिनचन्द्र पाल ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि इस प्रवृत्ति ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि जिन सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं की कुछ वर्ष पूर्व विगर्हणा की जाती थी, उनका बुद्धि और यूरोपीय ज्ञान के आधार पर समर्थन किया जाने लगा। यह बात सिद्ध की जाने की चेष्टा होने लगी, कुतर्क की मनीषा से प्राप्त उत्तराधिकार गंभीर सत्य स्थान पर था, उसके कारण विदेशियों के सामने नई दास्य की आवश्यकता नहीं। इस प्रवृत्ति से स्वातंत्र्य के शक्तियों को भी बल प्राप्त हुआ, तो भी इससे समाज में गतानुगतिकता के पीछे सत्य सुखपूर्ण प्रवृत्ति जाग्रत हुई। बीसवीं शताब्दी के प्रा जिसकी पच्चीस वर्षों में इस प्रवृति ने काफ़ी प्रमुखता प्राप्त ली थी। वैज्ञानिकता की प्रेरणा के कारण, ज्ञ के पिपासा और जिज्ञासा शान्त करने की दृष्टि से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रत्येक बात का कारण जानने और उसके प्रकाश में किसी विशेष समस्या के उचित-अनुचित, स्वस्थ-अस्वस्थ रूप का विश्लेषण कर अपना मत निर्धारित करने की आकांक्षा जाग्रत हुई। विवेक का प्रयोग किए बिना अब वह कोई बात स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। इस तर्क बुद्धिवाद में भावुकता के स्थान पर नीर-क्षीर-विवेक था। इस सन्देश के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति के आन्तरिक रूप पर बल दिया गया—यहाँ तक कि देवी-देवताओं और ईश्वर सेवा का रूप भी बदलने लगा। पौराणिक कथाओं और पात्रों की कथाएँ प्रस्तुत अवश्य की गईं, किन्तु उनमें मानव-जीवन का कोई-न-कोई सत्य अन्वेषित किया गया। शंका-पूर्ण स्थलों का खण्डन कर उन्हें आधुनिक और मानव-सापेक्ष रूप देने की चेष्टा की गई। कवियों को किसी अपार्थिव, अलौकिक और अतिमानवी रूप के प्रति अब कोई मोह नहीं रह गया था।

तर्क बुद्धिवाद द्वारा सम्मत हिन्दी कवियों के मानववादी दृष्टिकोण ने यदि राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में जनवादी रूप धारण किया, तो सामाजिक क्षेत्र में उसने दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया। दोनों रूप नवीन चेतना के प्रतीक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आधार बने। भौतिक दृष्टि से जनसाधारण के जीवन को सुखमय बनाना जनवाद की मूल भावना थी। इससे जनता के अधिकारों की रक्षा की बात सोची गई। राज्य-[illegible] और जन-हित का संघर्ष उसमें निहित था। भारत [illegible]त्र स्वतंत्रता-संग्राम में रत था, एक जबर-[illegible] वादी शक्ति से संघर्ष ले रहा था और [illegible]न में कर्मठता, आत्मोत्सर्ग की भावना [illegible]ति अनुराग की आवश्यकता थी, तो [illegible] विशिष्ट मानववादी दृष्टिकोण का जन्म [illegible]क था। उनका मुख्य उद्देश्य अपार [illegible] पशुवत् जीवन के गर्त से निकाल कर [illegible]रातल पर लाने का प्रयास था। गाँधी जी ने [illegible]क आवश्यकताओं से ऊपर आध्यात्मिकता पर [illegible]धक बल दिया। छायावादी-रहस्यवादी कवियों में सांस्कृतिक चेतना का उदय तो अवश्य हुआ था, किन्तु अधिकतर ये कवि वायवी लोक में ही अधिक विचरण करते रहे। स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म में उन्होंने एकात्मता का अनुभव अधिक किया। उसमें सात्विक उल्लास था, मानव के प्रति कल्याण-कामना भी थी, किन्तु उसका नैतिक-व्यावहारिक रुप हमारे समाने नहीं आता। राष्ट्रीयता परक काव्यधारा में भारत माता के साथ-साथ भारत-संतान के प्रति प्रत्यक्ष प्रेम था। जीवन के अभाव और लघुता उनके सामने स्पष्ट थी। तो भी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के फल-स्वरूप उत्पन्न कविता ने मानव-जीवन के आदर्श पक्ष पर ही अधिक बल दिया। उस समय की वैचारिक ईकाई थी—आदर्शवादिता (जो स्वतंत्रता-संग्राम-रत देश में स्वाभाविक था)। तत्कालीन कविता में आदर्श मानव-परक जो मूल्य उभरे उनके प्रति लोगों का रागात्मक संबंध था और देश की सामूहिक बुद्धि एक धार्मिक-नैतिक और सामाजिक परम्परा की पृष्ठभूमि पर किसी कृत्य का, किसी आचार-विचार का मूल्यांकन कर लेती थी। स्वतंत्रता-संग्राम ने कुछ सिद्धान्त स्थापित किए थे जो कालांतर में मूल्य के रूप में परिवर्तित हो गए। राजनीति के क्षेत्र में मनुष्य को मनुष्य के रूप में पहचानने की प्रवृत्ति ने जो दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया उसमें विवेकानन्द का अद्वैत-दर्शन था, साहित्य में 'प्रसाद' द्वारा गृहीत करुणा के सन्देश द्वारा 'विश्वात्मा' के दर्शन करना था, सब प्राणियों में समभाव रखते हुए कर्त्तव्य-पालन, अहिंसा, सहनशीलता, क्षमा-शीलता स्नेह, सहानुभूति आदि को जीवन में स्थान देना था, गरीब की सेवा में ही ईश्वर सेवा का रूप देखना था, मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर में ईश्वर का निवास न देखकर उसे गरीब की झोंपड़ी में देखना था। मानव-जीवन के इसी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक धरातल पर सब धर्मों की समानता, सामाजिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष की समानता और अछूतोद्धार और धार्मिक क्षेत्र में सबको ईश्वर की उपासना करने के अधिकार की घोषणा की गई। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक पच्चीस-तीस वर्षों में हिन्दी काव्य अधिकाधिक जीवन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सापेक्ष्य भाव-भूमि पर स्थित हुआ। 'प्रसाद' की इड़ा के साथ श्रद्धा का समन्वय स्थापित हुआ। निस्सन्देह जीवन के ये आध्यात्मिक एवं दार्शनिक मूल्य भारतेन्दु युगीन जीवन-मूल्यों से कहीं अधिक व्यापक थे। भारत वर्ष का सनातन आदर्श—विश्व-बन्धुत्व—फिर से लोगों के सामने आया। मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' आदि अनेक कवियों की रचनाओं में सामान्य मानव में 'विश्वात्मा' के दर्शन कराए गए हैं, मानव के समष्टि रूप के लिए व्यष्टि रूप के उत्सर्ग की उच्च भावना व्यक्त हुई है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जीवन के इन मानव-मूल्यों की स्थापना में विवेकानन्द और फिर महात्मा गांधी के विचारों का प्रभाव भी कम मात्रा में नहीं पड़ा। मानव-मूल्यों के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक और जनवादी पक्षों ने सामाज में आदर्शवाद की स्थापना की, अर्थात्, जीवन के एक उदात्त और उत्कृष्ट रूप की पुनः स्थापना और जीवन का निर्माण एक नैतिक धरातल पर करना, क्योंकि पराधीन भारत के सामने जीवन के अभाव और लघुता स्पष्ट थी। कवियों ने उस आदर्श को ग्रहण किया जिसमें प्राचीन और नवीन का अद्‌भुत सम्मिश्रण था। कवियों ने 'राम' की विजय 'रावण' पर देखनी चाही। उन्होंने लघुत्व के भीतर महत्त्व की स्थापना की। दूसरे शब्दों में, भारतीय आत्मा की खोज की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से गया। उनकी रचनाएँ सत, शिव और सुन्दर की मनोरम कल्पनाओं से अनुरंजित है। उन्होंने सीमा का अतिक्रमण भी किया, किन्तु आदर्शवाद की तो यह स्वाभाविक गति है। इस समय ऐसे आदर्श परक जीवन-मूल्य स्थापित किए गए जो सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, राष्ट्रीय आदि क्षेत्रों में सभी प्रकार विगर्हणा दूर कर जीवन को औदात्य और स्वातंत्र्य की ओर अग्रसर करने वाले थे। कहना चाहें तो हम यह कह सकते हैं कि उस समय के जीवन-मूल्यों का संबंध राष्ट्रवाद से था। यहाँ तक कि स्वच्छन्दतावादी काव्य का लक्ष्य भी जीवन को नवीन स्तर पर स्थापित करना था। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण शास्त्रगत नहीं, वरन् व्यक्ति की स्वतंत्र अनुभूति द्वारा उत्पन्न हुआ था। प्रत्यक्षतः उसका संबंध तर्क बुद्धिवाद से था, और अन्ततोगत्वा आदर्शवाद से भी। राष्ट्रीयता और स्वच्छन्दतावाद दोनों ने उस नवजागरण काल में अपनी-अपनी भूमिकाओं का निर्वाह किया और जीवन में ज्ञान, कर्त्तव्य, कर्मठता, सदाचार आदि का स्वर भरा। ये मूल्य राष्ट्र और व्यक्ति दोनों को सुख, कल्याण और समृद्धि की ओर ले जाने के लिए थे। भारत का मानवीकरण, या कहना चाहिए, दैवीकरण भी इसी उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए हुआ था और महात्मा गांधी का सत्य और अहिंसा का दर्शन भी इन्हीं जीवन-मूल्यों में से प्रस्फुटित हुआ था।

१९३० के आसपास हिन्दी कविता में प्रगतिवाद का जन्म हुआ—अर्थात् उस काव्य-धारा का जो कम्यूनिज़्म से प्रभावित थी। एक प्रकार से कम्यूनिज़्म का यह साहित्यिक मोर्चा था। राजनीति के क्षेत्र में इस काव्य-धारा ने गांधी वादी जीवन-मूल्यों का विरोध किया, तो साहित्य के क्षेत्र में छायावादी वायवी एवं रोमानी प्रवृत्तियों का और यथार्थवाद का आश्रय ग्रहण कर सर्व हारा वर्ग के अधिनायकत्व का स्वर उच्च किया। उन्हें लाल क्रान्ति में विश्वास था। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि प्रगतिवाद को न तो साधन और साध्य की पवित्रता में विश्वास था और न भौतिक जगत् के आतिरिक्त अन्य किसी सत्ता में। स्पष्ट है ऐसी विचार धारा को जीवन के आदर्शपरक मूल्यों में विश्वास नहीं हो सकता था। उनका समाज-दर्शन भी परम्परागत कुतर्कीय समाज-दर्शन से भिन्न था। ऐतिहासिक दृष्टि से [illegible] स्थान पर [illegible] प्रगतिवाद ने हिन्दी कविता को एक नया [illegible] नई शास्त्र की किया। किन्तु द्वितीय महा युद्ध के समाप्त [illegible]-स्वातंत्र्य के काव्य धारा समाप्त हो गई। भाषा, भाव [illegible] है—ऐसे की दृष्टि से प्रगतिवाद ने कुछ नाविन्य भी [illegible] न सुखपूर्ण तो भी जहाँ तक जीवन-मूल्यों से संबंध है [illegible] जिसकी काव्य-धारा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा के [illegible] सामने कोई विशेष दृष्टिकोण प्रदान न कर सकी। न तो [illegible]ओं के जीवन किसी एक विशेष दिशा की ओर मोड़ा, न [illegible]ये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सक्रिय बनाया। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा में जीवन को एक उदात्त और परिष्कृत रूप प्राप्त हुआ था, उसमें एक नई शक्ति आई थी। प्रगतिवादी काव्य-धारा ने व्यापक जीवन को प्रभावित करने के स्थान पर, एक सीमित संख्या के लोगों को नया दृष्टिकोण और नई आस्था प्रदान की। किन्तु जीवन में कोई नए मूल्य स्थापित न किए। उसने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा के सात्विक मूल्यों की उपेक्षा की और साथ ही कोई आध्यात्मिक या दार्शनिक या मानसिक संस्कार भी प्रदान न किया। अपनी संकीर्णता के कारण वह न तो हिन्दी साहित्य का प्रमुख अंग बन पाई और न अधिक दिन जीवित रही। उसने मूर्द्धन्य कोटि का कोई कवि भी न दिया। उसने अपनी सारी शक्ति परम्परागत जीवन-संस्कारों को झुठलाने में लगा दी और कुरूपता एवं विद्रूपता की सृष्टि की। यथार्थपरक होते हुए भी यह काव्यधारा जीवन की यथार्थता को संतुलित अभिव्यक्ति प्रदान न कर सकी। अतः जहाँ तक जीवन-मूल्यों की स्थापना से संबंध है, प्रगतिवादी काव्य-धारा के पोषक दावा चाहे जितना लम्बा-चौड़ा भरें, वस्तुस्थिति यह है कि वह बहुत कम सफलता प्राप्त कर सकी।

और महात्मा गाँधी 'राम-राज्य' का अपना सपना लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ संघर्षरत रहे। द्वितीय महायुद्ध भी समाप्त हो चुका था, किन्तु भीषण ज्वाला से संसार को संतप्त कर गया था। ऐसे ही माहौल में १५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता की [illegible] के बाद भारत में न तो 'राम-राज्य' की [illegible] और न द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार में [illegible]नों कारणों से हमारा आज का जीवन [illegible]खरा-सा हो गया है। प्रत्येक दिशा में [illegible]ं हैं और विच्छिन्न मूल्यों की अस्त-व्यस्त [illegible] इसका तात्कालिक परिणाम एक ओर [illegible]वं वैयक्तिक सीमाओं का टूटना तथा दूसरी [illegible]तक मान्यताओं की विकृति है। इन दोनों के [illegible]ानव-जीवन में अनास्था एवं कुण्ठाओं की ऊंची [illegible]रें उठ रही हैं तथा मानव-मूल्य की मर्यादा शंकालु बनती जा रही है। यह प्रवृत्ति बहुत कुछ विध्वंसात्मक है और ऐसी परिस्थिति में कवि का दायित्व बढ़ जाता है। वह नए उभरने वाले मानव-मूल्यों का अन्वेषण करता है तथा मानव जीवन के विविध प्रसंगों के सन्दर्भ में सहानुभूतिपरक दृष्टिकोण लेकर उन्हें अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है। मनुष्य अपने परिवेश, इतिहास-क्रम तथा काल-प्रवाह के सन्दर्भ में क्या स्थिति महत्त्व नहीं रखती कविता इस ओर इंगित करके जीवन के नए प्रतिमानों का निर्माण करती है।

वास्तव में स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद मनुष्य के सामने एक मोह-भंग की स्थिति उभर आई है। जब-जब परिस्थितियों में परिवर्तन होता है तब-तब मानव जीवन के सारे सम्बन्धों पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो हो जाता है। बदले हुए सम्बन्ध पूर्व-निर्धारित मूल्यों के लिए चुनौती बन जाते हैं। उस स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि परिवर्तन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आयामों को पहचाना जाए। हमारा आधुनिक काल ऐसा था, जहाँ एक बहुत बड़ा समुदाय अपने मूल्यों एवं आस्थाओं के खण्डित होने से बदहवासी की हालत में था और पराजय की गहन अनुभूति से जर्जर हो गया था। विभाजन में हत्याएं, बलात्कार तथा निर्मम अत्याचार ही नहीं हुए थे, बल्कि समग्रता के मोह में डूबा हुआ व्यक्ति भीतर से पूरी तरह से विच्छिन्न हो गया था और उसकी सारी आस्थाएँ तथा मूल्य-मर्यादा शून्यता के प्रवाह में विलीन हो गई थीं।

यह मानवीय संकट केवल यहीं का नहीं था, बल्कि समूचे विश्व का था। परिस्थितियों के सन्दर्भ हर राष्ट्र में चाहे भिन्न-भिन्न हों, लेकिन हर स्थान पर मानवीय संकट गहरा होता जा रहा था। मूल्य-मर्यादाएँ टूट रहीं थीं और मोह-भंग की स्थिति जड़ता उत्पन्न करती जा रही थी। कविता इस मानवीय संकट की उपेक्षा नहीं कर सकती थी, क्योंकि सभी साहित्यिक विधाओं की तुलना में वह मानव जीवन को अधिक समग्रता तथा सूक्ष्मता से आत्मसात् ही नहीं करती, वरन् जीवन-सदृश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सूक्ष्म चित्रफलक पर उसे अभिव्यक्त भी करती है।

अरविन्द ने भी स्वीकार किया है कि विकास की स्वाभाविक परम्परा में जैसे पशुता से मनुष्य की स्थिति आई है, ठीक उसी प्रकार हम इस स्थिति से भी आगे जाएंगे। वस्तुतः हमें यह स्वीकार लेना चाहिए कि जब तक मनुष्य को उसकी समग्रता में देखने की चेष्टा नहीं होगी, मानवीय पक्ष कविता में उभर ही नहीं सकता और मानवीय संकट निरन्तर गहरा ही होता जाएगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानवतावादी दृष्टिकोण का विस्तार उस व्यापक परिवेश में होता है, जहाँ तक इस सृष्टि का विस्तार है। कविता में अभिव्यक्त की जाने वाली सभी अधुनातन विचारधाराओं में मानवतावादी दृष्टिकोण का सर्वाधिक महत्त्व है तथा वह हमारे रचनाकारों को विभिन्न स्तरों पर प्रभावित करता रहा है।

जैसा की अभी-अभी कहा जा चुका है, आज संसार में चारों तरफ गहन संकट छाया हुआ है और सम्पूर्ण मानव-जाति का अस्तित्त्व खतरे में पड़ गया है। आज का संसार पहले से बहुत भिन्न है और हमें आज की तकनीकी क्रान्ति के साथ सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है। आज की सबसे बड़ी समस्या यह है कि मनुष्य जाति कैसे सुरक्षित रहे। आज दासता तथा स्वतन्त्रता का प्रश्न उतना नहीं है, जितना हमारी सभ्यता एवं संस्कृति के जीवन एवं मृत्यु का। मानवतावाद का उदय इन्हीं परिस्थितियों के सन्दर्भ में हुआ है। मानवतावादी विचारधारा हमें आधुनिक संकटग्रस्त जीवन की संक्रान्तियों को एक नए दृष्टिकोण से समझने में सहायता देती है। इससे आज की उलझी हुई मानव अनुभूति के अनेक उल्लेखनीय प्रसंगों को स्पष्टतया समझा जा सकता है। मानवतावाद का प्रमुख लक्ष्य इस सृष्टि में मनुष्य की वास्तविक स्थिति का अन्वेषण है। साथ ही यह भी कि, क्या प्राप्त करना उसके लिए वाछंनीय है और क्या अवांछनीय मानवतावाद इस प्रकार मानव उद्देश्यों, मूल्यों एवं आदर्शों को स्पष्ट करने के साथ-साथ उसे सम्पुष्ट भी बनाता है तथा उसे अपने आसपास के परिवेश, जीवन, समाज तथा विश्व-व्यवस्था के अधिक निकट लाकर अपने पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त करने में सहायता देता है।

विज्ञानवाद तथा मानवतावाद परस्पर विरोधी मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। विज्ञानवाद मनुष्य को भौतिक परिस्थितियों की तुलना में सर्वोपरि सिद्ध करके उसे स्वयं अपने ही ऊपर श्रेष्ठ सिद्ध करने और अपने द्वारा मनुष्यों का संहार करने के लिए प्रयोग करने पर बल देता है। इसके विपरीत मानवतावाद मनुष्यों को स्वतन्त्र करके उसकी मानवीयता के अन्वेषण एवं प्रतिष्ठापन पर बल देता है। वह मनुष्य को असीमित समाज एवं मानव भावनाओं के साथ समन्वय की दिशा में गतिशील करता है। इस प्रकार मानवतावाद मानव-सेवा को ही सर्वोच्च धर्म मानता है। वह उत्तम जीवन, सामंजस्य, सन्तुलन तथा उदारता में विश्ववास करता है। मानवतावाद एक जीवन पद्धति है, जो विश्व-परिवार एवं सद्भावना की स्थापना तथा हमारी दृष्टि के विस्तार में सहायता देती है।

सम्पूर्ण मानव इतिहास में न जाने कितने मानवतावादी विचार आए और गए, लेकिन स्थायी रूप से केवल तीन मानवतावादी दृष्टिकोण—भारतीय, चीनी तथा पश्चिमी—अपने शाश्वत मूल्यों के कारण जीवित रहे हैं। प्रत्येक ऐतिहासिक सभ्यता में मनुष्य और समाज के लिए सार्वभौमिक तथा उत्कर्षशील मूल्यों एवं सम्भावनाओं का मार्ग प्रशस्त करने के कारण ही ये तीनों विचारधाएं इतनी मूल्यवान सिद्ध हुई हैं। तीनों ने मानव-व्यक्तित्व की अनिवार्य आवश्यकता और सामाजिक व्यवस्था के समन्वय को सार्व स्थान पर ग्रहण किया है। तीनों ने ही मनुष्य में नई आस्था की प्रादेशिक एवं वर्गगत सीमाओं को तोड़कर 'स्वातन्त्र्य के एक है' की भावना को आत्मसात् करने का है—ऐसे है। सभी ने ऐतिहासिक सत्य, मूल्य एवं सुखपूर्ण के मध्य समन्वय स्थापित करने का यत्न किया है जिसकी आज चीनी तथा पश्चिमी मानवतावाद की अनेक सीमाएं बन गई हैं, और वे आज की मानव आवश्यकताओं के सन्दर्भ में अनुपयुक्त सी प्रतीत होती हैं, फिर भी इससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं हो जाता।

जीवन के प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण के विकास ने पश्चिमी मानवतावाद को दो रूपों में प्रभावित किया। एक तो यह यथार्थ से दूर पड़ गया, क्योंकि वहाँ के अधिकांश लोगों के लिए जीवन की समग्रता लगभग असम्भव प्रतीत होती है। दूसरे आर्थिक व्यवस्था तथा संस्थाओं के अन्याय तथा शोषण के प्रति विरोध एवं घृणा बौद्धिक विचार धारा के लिए एक सामान्य बात हो गई। चीनी मानवतावाद अनिवार्यतः प्राकृतिक, सामाजिक तथा ऐहिक है। उसके अनुसार कोई सिद्धान्त परम्परा द्वारा अनुमोदित होना चाहिए, न कि ज्ञान द्वारा। वह मानता है कि मानव अपनी वास्तविक विशिष्टता ठोस मानव-सम्बन्धों के माध्यम से ही प्राप्त कर सकता है।

मानवतावाद की स्थिति परम्परा तथा आधुनिकता के मध्य अत्यन्त विचित्र है। उसे फैशन की झोंक में पुरातनवादी होने का प्रतीक समझ लिया जाता है। आधुनिक पश्चिमी मानवतावादी विचारधारा में धार्मिक या आध्यात्मिक मनोवृत्तियों के प्रति सन्देह भाव पाया जाता है। इतिहास में एक लम्बे समय तक धर्म सभी संस्कृतियों का आधार स्वीकार किया जाता रहा। लेकिन धीरे-धीरे धर्म की तथाकथित महत्ता एवं समग्रता के प्रति आधुनिक विचारकों द्वारा सन्देह प्रकट किया जाने लगा, फलतः धर्म की उपयोगिता मानव और समाज के सन्दर्भ में विचारी जाने लगी। द्वितीय महायुद्ध ने मनुष्य को आ[illegible]मने खड़ा कर दिया है। वे अनुभव करने लगे [illegible] सामने दो विकल्प हैं। या तो मानवता की [illegible] मानव एवं सभ्यता का विध्वंस करें। यही [illegible]धर्म की तुलना में आज विज्ञान कहीं अधिक [illegible]ति होता है। लेकिन यह भी ध्यान में रखना [illegible] कि धर्म की रूढ़ियों का तिरस्कार किया [illegible] समूचे धर्म का नहीं। बिना आध्यात्मिक आधार क[illegible]ई नैतिक अनुशासन या मानवता के प्रतिमान स्थापित नहीं किए जा सकते।

मानवतावाद सेक्स के सम्बन्ध में भी यही धारणा रखता है कि किसी को भी हम 'उपभोग' की वस्तु न समझें, वरन् मानवीय स्तर पर लें। आधुनिक काल में मानवतावाद प्रजातन्त्र का विकास जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहता है। मानव का वास्तविक उद्देश्य उत्तरदायित्व-पूर्ण स्वतन्त्रता है, प्रजातन्त्र इस नैतिक सिद्धान्त की राजनीतिक अभिव्यक्ति है। इन परिस्थितियों में ही एक सार्वभौमिक परिवेश निर्मित होने की आशाएं बलवती होती हैं। यह एक प्रकार का विश्व मानवतावाद है।

मानवतावादी विचारधारा के विभिन्न तत्त्व इसी सन्दर्भ में अन्वेषित किए जा सकते हैं। भारतीय मानवतावाद में सहिष्णुता, समझौता, सहयोग, अहिंसा, बन्धुत्व-भावना, सभी के प्रति करुणा एवं सहानुभूति, समताभाव, शुद्धता, आत्म-संतोष, स्वत्व के यथार्थ, ईश्वर या ब्राह्मण के प्रति पूर्ण समर्पण भाव, परोपकार, अहं का हनन तथा स्वयं का प्रसार, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रति आत्मीय भाव, क्षमाशीलता तथा आत्म-निग्रह आदि तत्त्वों पर बल दिया गया है। आधुनिक हिन्दी काव्य के सन्दर्भ में इन बातों की ओर पीछे संकेत किया जा चुका है।

काव्य में जब मानवतावादी तत्त्वों का अन्वेषण किया जाता है, तो मुख्य रूप से उनका स्वर भावुकतापूर्ण हो जाता है। कला या शिल्प के प्रतिमानों से सम्बद्ध होकर मानवतावादी तत्त्व चर्च, मन्दिरों या धर्म-सम्प्रदायों में घोषित किए जाने वाले स्पष्ट उपदेशों की भांति नहीं आते, वरन् अनुभूति के रूप में अन्तर्निहित होते हैं। दृष्टिकोण का वैभिन्य उनमें चाहे जितना हो, लेकिन सबके मूल में केवल एक ही सत्य है कि मनुष्य अपने अर्थ की वास्तविक गरिमा प्राप्त करे। वह न तो सामाजिक शोषण के अन्तर्गत अपनी महत्ता खोए और न धार्मिक तथा राजनीतिक अत्याचार के नीचे उसकी आत्मा का हनन हो।

मानव के सन्दर्भ में मूल्य का अर्थ एक ऐसी धारणा या दृष्टि है जो मूलतः व्यक्ति के जीवन में पनपती है, किन्तु जिसका विकास समाज की ओर होता है, जो समाज में आचरण-व्यवहार-संबंधी मान्यताओं, विश्वासों और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिलाषाओं को तोलती है, उनका मानदण्ड बनती है। वह धारणा या दृष्टि मानवी व्यवहार का नियमन करती है, जिसके आधार पर हम समाज में व्यक्ति या उसके आचरण को उत्कृष्ट या निकृष्ट, उचित या अनुचित, अच्छा या बुरा, घोषित करते हैं। और क्योंकि समाज परिवर्तनशील है, सामाजिक मान्यताएँ आर्थिक तथा अन्य कारणों से बदलती रहती हैं, मान्यताओं के बदलने के साथ-साथ नैतिकता और सामाजिक वातावरण बदलता है, इसलिए मूल्यों में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है।

पीछे मैंने प्रगतिवाद का उल्लेख किया था। उसके बाद की काव्य-धारा ने जिसे प्रयोगवाद के नाम से अभिहित किया जाता है, जीवन की यथार्थता की गहराई में प्रवेश किया और युगानुकूल मानव-मूल्यों का अन्वेषण किया। छायावाद-रहस्यवाद में सामाजिक चेतना का अभाव था, तो प्रगतिवाद समाज के बाह्यरूप पर ही अटक गया। प्रयोगवाद ने सामाजिक चेतना व्यक्त करने के साथ-साथ व्यक्ति की स्वतंत्रता टटोलने का भी प्रयास किया। प्रयोगवाद ने ही जब नई कविता का रूप धारण किया तो वह मनुष्य की वर्जनाओं और कुण्ठाओं और रूढ़ियों को तोड़ कर व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित कर दोनों का जीवन गहराई से देखने और अनेक उलझी हुई अनुभूतियों के विभिन्न आयामों को बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से चित्रित करने की ओर अग्रसर हुई। छठे दशक की कविता ने नई कविता का केंचुल छोड़कर नया रूप धारण किया है। प्रयोगवाद और नई कविता का युग-बोध अब, परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार, पुराना पड़ गया है। जो कुछ भी हो, प्रयोगवाद से लेकर साठोत्तरी कविता तक के कवियों ने मनुष्य के अस्तित्व का अर्थ समझने की चेष्टा की है और इस बात को समझने की चेष्टा की है कि समाज में रहते हुए व्यक्ति अपनी स्वतंत्र सत्ता कैसे बनाए रख सकता है—विशेषतः जब कि आज के युग में वह भय, संत्रास, कुण्ठा, ऊब, अकेलेपन की अनुभूति आदि तथा अन्य राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक कारणों से त्रस्त है और मानव के अस्तित्व पर ही प्रश्न-सूचक चिह्न लग गया है। जीवन की इस स्थिति के प्रति सामयिक कवियों ने विभिन्न रूपों में अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं—समाजवादी, अस्तित्ववादी, व्यक्तिवादी, मानवतावाद आदि के रूप में—और जीवन की व्यर्थता, अराजकता, मृत्यु-भय, निस्संगता, विसंगतियों, विद्रूपताओं आदि पक्षों की ओर गम्भीर संकेत किए हैं। इसलिए सामयिक कविता का महत्त्व विशुद्ध साहित्यिक या सौन्दर्यात्मक दृष्टि से तो है ही, साथ ही जीवन की समस्याओं के प्रति कवि का क्या दृष्टिकोण है, यह भी विचारणीय है। स्वयं उसकी अपनी अध्यांतरिक समस्याएँ बहुत-कुछ बाह्य ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर हैं। यहाँ तक कि वह राजनीति से भी अपने को असंपृक्त नहीं रख सकता। स्टीफेन स्वेंडर के शब्दों में कवि या लेखक को वर्तमान की परिस्थिति में पूर्णतः डूब जाना चाहिए, नहीं तो उसके सामयिक संसार के लिए उसका कोई महत्त्व नहीं रह जाएगा। आज कवि जीवन को अन्दर से देख ही नहीं रहा, वरन् भावुकता और धार्मिकता के स्थान पर बुद्धि और वैज्ञानिकता के आश्रय से जीवन देख रहा है। वह जीवन के प्रति सतर्क है और वर्तमान परिस्थिति की संकटपूर्ण अवस्था को भली भाँति पहचान रहा है। उसके लिए अतीत अस्तित्व ही नहीं रखता, वर्तमान अराजकतापूर्ण है और भविष्य अन्धकार और भयावह आशंकाओं से पूर्ण। इसलिए उसके कवि-कर्म का आज उद्देश्य है व्यक्ति में आत्मविश्वास की भावना पैदा करना, क्योंकि वह देख रहा है कि व्यक्ति लड़खड़ा रहा है, वह भीड़ में खींचा जा रहा है और सभी शक्तियाँ उसके व्यक्तित्व को कुतरने में लगी हुई हैं। विघटित होते हुए मूल्यों के स्थान पर वह नए मूल्य, जीवन के प्रति नया उत्साह, नई आस्था की देखना चाहता है। विज्ञान, प्रजातंत्र, व्यक्ति-स्वातंत्र्य के आश्रय से वह नए मानव-मूल्य खोजने में लगा है—ऐसे मूल्य जिनसे मनुष्य का जीवन झाड़-झंखाड़ रहित सुखपूर्ण हो, उसके व्यक्तित्व का ऐसा स्वतंत्र विकास हो जिसकी अन्तिम परिणति समाज के साथ समन्वय में हो। मानव सम्बन्धों को वह शोषण-विहीन और गरिमामय रूप में देखना चाहता है। परस्पर राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता रओ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीषण संहारक अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ के बीच वह मृत्यु की मँडराती हुई छाया से इन्सान को बचाने के लिए व्याकुल है। मृत्यु और विनाश ही मनुष्य की नियति नहीं है, और न वह मुट्ठी भर सत्ताधारियों के हाथ में कठपुतली की तरह है। उसे अपना जीवन अपने ढंग से जीने का हक है। संक्षेप में आज का कवि सभी प्रकार के शोषणों, बन्धनों, आतंकों, भग्नाशाओं, विद्रूपताओं एवं विसंगतियों से मानव मात्र की मुक्ति की कामना करता है, नाना प्रकार की वर्जनाओं से उबार कर उसके जीवन में नया प्रकाश भरना चाहता है। परम्परागत मानवी-संबन्धों के स्थान पर वह परिवर्तित परिस्थितियों के प्रकाश में, आधुनिकता के बोध के साथ, नए आन्तरिक संबंध स्थापित करने के लिए उत्सुक है। सामयिक कविता मानव-जीवन के सही परिप्रेक्ष्य खोज रही है। कवि आत्मोपलब्धि के साथ-साथ मानव-अस्तित्व का सही अर्थ बूझना-बुझाना चाहता है। संकटपूर्ण परिस्थिति में रहते हुए वह संकट दूर करना चाहता है। जिन जीवन-मूल्यों की ओर मैंने संकेत किया है वे कवियों की रचनाओं से अप्रत्यक्ष रूप से निःसृत होते हैं। अन्यथा कविगण अकेलेपन, शून्यता, अजनबीपन, आतंक, संत्रास, कुण्ठा आदि की अभिव्यक्ति में लगे रहते हैं।

किन्तु प्रश्न उठता है कि सामयिक कविता में जो जीवन-दृष्टि पनप रही है, जिस भोगे हुए क्षण का, जीवन की जिस घुटन और टूटन, अन्तर्विरोधों और असंगतियों एवं विडंबनाओं को युवा पीढ़ी का कवि अभिव्यक्ति प्रदान करता है, उनका भारतीय जीवन के परिवेश से कहाँ तक सच्चा सम्बन्ध है, क्योंकि इन जीवन मूल्यों की सार्थकता, उनकी वास्तविकता तभी सिद्ध हो सकती है जबकि उनका जीवन के सही परिवेश से घनिष्ठ सम्बन्ध हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टता व्याप्त हो गई है और जीवन सुखी न होकर अभिशप्त है। किन्तु युवा पीढ़ी के कवियों ने जो अनुभूतियाँ व्यक्त की हैं वे बहुत-कुछ उधार ली हुई और जबरदस्ती ओढ़ी हुई हैं, क्योंकि न तो हमारे देश में एटमबम का विस्फोट हुआ और न युद्धजनित उन यातनाओं का ही यहाँ के कवियों को अनुभव है जिनका अनुभव यूरोप के कवियों को प्राप्त हुआ और जिसके फलस्वरूप वहाँ अस्तित्ववादी चिन्तन का प्रचार हुआ। विज्ञान और टेकनोलोजी के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों का भी उन्हें अनुभव नहीं है। अतः सामयिक कविता की प्रवृत्तियाँ बहुत-कुछ किताबी ज्ञान के फलस्वरूप हैं। विविध बन्धनों और वर्जनाओं से मानव की मुक्ति की बात जब वे करते हैं तो उनमें अतिरंजना का अंश ही अधिक रहता है।

निष्कर्षतः, आज मानव-मूल्य केवल वैयक्तिक अनुभव ही हैं। किन्तु उनका समग्र मानव-प्रकृति से सहज संवेदनात्मक तादात्म्य भी आवश्यक है। व्यक्ति-विशेष की स्वतः स्फूर्त, परम्परा-विहित, वातावरण-जन्य द्वन्द्वात्मकता के परिवेश में स्थान एवं काल के अनुसार क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तनशील गति की नियति ही मूल्य बन जाता है। और इस प्रकार जितने कवि हैं उनके द्वारा उतने ही मानव-मूल्यों का निर्धारण संभाव्य है। मूल्य-बोध और मूल्य-निर्धारण का संकट न केवल आधुनिक हिन्दी काव्य एवं अत्यानुधिक पाश्चात्य काव्य-कृतित्व के परिप्रेक्ष्य में, वरन् हर नई संभावना, संश्लिष्टि और साहित्य-सर्जना में स्वयमेव अनुस्यूत रहता है। आज, जहाँ एक ओर विविध काव्य-विधाओं की भीड़ है, वहीं आधुनिकता के अर्थ-बोध का अनुकल्पन विवादास्पद है। आधुनिकता, जीवन-क्रम के प्रत्येक परिवर्तन के साथ जागरूक प्रतिक्रिया का उच्छ्वास है। और, हमने आधुनिक हिन्दी काव्य की विभिन्न धाराओं में अन्तर्भूत मानव-मूल्यों का विश्लेषण भी इसी आधार-पीठिका पर किया है।

इधर, वर्षों से मेरे मन में पिछले तीन दशकों की अनेकशः नामाभिधेय और विविध वादों से युक्त कविता के प्रति शंकाएँ रही हैं जिन्हें सामाजिक उहापोहों, सांस्कृतिक असंगतियों और युगजनीन परिस्थितियों की अभिव्यक्तिमात्र नहीं कहा जा सकता। कहीं ऐसा तो नहीं है कि आत्यंतिक अहं के विस्फोट, अधकचरे समष्टिगत विन्यास और उधार लिए गए प्रतीकवाद, बिम्बवाद, दादावाद, अतियथार्थवाद और फ्रायडवाद के 'फैशनेबुल'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यञ्जन में मानव-मूल्यों का सहज संवेदनात्मक स्वरूप ही बिखर रहा हो ? अनुकरण किन्हीं परिस्थितियों में मान्य हो सकता है, किन्तु पाश्चात्य के प्रति अन्ध-भक्ति केवल प्रतिभा-शून्यता और वैचारिक गुलामी की ही प्रतीक मानी जाएगी। नित्य नवोन्मेष और नए प्रयोग 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' के केन्द्र-बिन्दु पर ग्राह्य होंगे। लेकिन शर्त यही है कि मानव-घाती मूल्यों की वर्जना हो, अन्यथा तरह-तरह के वादों-प्रतिवादों और नामों-नारेबाजियों की भस्मासुरी भँवरों में स्वयंभू कवि और काव्य खुद-ब-खुद डूब जाएँगे। इस प्रकार के तथा-कथित काव्य की क्या परिणति हो सकती है जिसे केवल उच्चवर्गीय या मध्यमवर्गीय एक-दो प्रतिशत नफ़ासत-नज़ाकतपूर्ण निठल्लू पाठक-श्रोता ही समझ सकें और वह तब, जबकि उसका विस्तृत भाष्य स्वतः रचयिता को ही प्रस्तुत करना पड़े ? हमें भय है कि कहीं यह तीन-चार दर्जन नामों से पुकारी जाने वाली तथाकथित तरह-तरह की कविता-कुण्डलियाँ अपने पूर्वज देशों, अमेरिका-इंगलैण्ड जैसी ही सामाजिक अरुचि की पात्र न बन जाएँ ?

मेरी दृष्टि में, नव्य-भव्य और उदात्त मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा का काव्य कृत्रिम नहीं होता, वह कोरे बौद्धिक वितण्डावाद की परिधि में नहीं समाता और न प्रयोगों के लिए प्रयोग के नाम पर 'सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्' का ही परित्याग करता है। आखिर, भावना, ज्ञान और कर्म का समवाय ही तो मानव है। इसी समवाय का अविरल रागात्मक सन्तुलन और जीवन्त संयोजन, अधुनातन मानव-मूल्य है और अनुभूतिपरक मानव-मूल्यों का सम्यक् स्वर ही काव्य है। तात्पर्य यह कि वादों के दायरे से मुक्त और युगनिरपेक्ष मानवीय काव्य-सृष्टि का उन्मेष तमाम विषम-ताओं के बीच करना ही होगा। आधुनिकता और नवीनता के सम्मोहक-सूत्रधार कहीं अमेरिका, इंगलैण्ड, जर्मनी और रूस में न बैठें। कविता केवल कठपुतलियों की 'कें-कें' न बन जाय। 'मानव', मानव है, न लघुमानव, न महामानव और न बौना या विद्रूप-विकृत माँसलपिण्ड। कविता, कविता है। न नई, न पुरानी और न भूखी-नंगी या ताज़ी-बासी। लोक वृत्यात्मक, मज़दूरों-मजलूमों और फाकाकशों का रुग्ण संगीत काफ़ी-हाउस और कनॉट-प्लेस में नहीं बल्कि खानों, खदानों और खेतों-खलिहानों में खपकर ही गाया जा सकेगा। अन्यथा मन-मस्तिष्क के कुहासों में, व्यक्ति-अभिषेक का अनुरणन—घोर वैयक्तिकता का आत्म-प्रदर्शन और सर्वनाशी मानव-मूल्यों का कथ्य बन जाएगा।

अस्तु, आवश्यकता है कि अधुनातन काव्य बौद्धिक-व्यायाम बन्द करे। अतिवादी यौनेषणा, अनियन्त्रित-ऊट-पटाँग-अभिव्यक्ति, सम्पूर्ण आस्था-विगलित अनास्था, आरोपित कुरूपता, क्लीव-चिन्तन और पतनोन्मुख मानव-मूल्य-संहतियों का पटाक्षेप करके; 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' से सम्पृक्त भारतीय संस्कृति की ज्योतिर्मय मूल-संचितना से आपूरित हो। राहों के अन्वेषी पथभ्रष्ट होकर न रह जाएँ। तमाम सामाजिक संकट, कच्छपीय-बुद्धि-संकुलता के मूर्त्तरूप न बनें। अनेकशः अन्तर्विरोधों के बीच भी, शाश्वत मानव-मूल्यों का अन्तर्बोध—कवि का अपना दायित्व है; और यदि यह मूल्य-चेतना जन-मानस में स्पन्दित नहीं होती, तो आधुनातन काव्य-कला की विविध बाँकी अदाएँ भी कूड़े के ढेर से ज्यादा सौन्दर्य-तत्त्व नहीं संजोएंगी। इसके लिए नए काव्य को न तो अधि-नायकवाद का ढिंढोरची ही बनाना है और न पूँजीवादी व्यवस्था के ध्वंसावशेषों का सुनियोजित रक्षा-प्रयास। अतः मानव-मूल्यों की ठोस स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि आधुनिक और नवीन युगबोध यथार्थ की ही धरती पर उतरे, न कि परिकल्पित वायव्य गगन में विहार करने लगे।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषा-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानस की दार्शनिक मान्यताएं अभिनव पक्ष

—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

परम्परागत मान्यताओं और तर्क के आधार पर मेरी यह निश्चित धारणा है कि मध्यकालीन आध्यात्मिक आचार और विचार 'आगम' से पूर्णतः प्रभावित हैं—प्रभावित ही नहीं, बहुत दूर तक वे तन्मूलक भी हैं। यह अवश्य है कि उस समय तो निश्चय ही कोई भी आचार और विचार भारत की धरा पर पनप नहीं सकते थे—जब तक वे अपने को श्रौत परम्परा से संबद्ध न कर लें। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रस्थान त्रयी का भाष्य इस तथ्य का साक्षी है। इसीलिए यदि समस्त तुलसी साहित्य को निगमागमकल्पतरु का परिणतफल कहा जाय—तो उसमें कोई त्रुटि न होगी। वैसे तो उन्हीं ने 'मानस' को 'नानापुराणनिगमागम-कल्पितं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' कहा ही है।

निगमागमकल्पितरु के परिणत-फल तुलसी-साहित्य के 'रस' रूप में 'भक्ति' की ही प्रतिष्ठा है। अतः इसकी दार्शनिक मान्यताओं पर विचार 'भक्ति' को ही केन्द्र में मानकर किया जा सकता है। तुलसी अपने समूचे आचार और विचार का लक्ष्य 'भक्ति' को ही मानते हैं। 'भक्ति' ही उनके लिए 'साध्य' है। मध्यकालीन 'भक्ति' के आचार्यों ने 'भक्ति' को पंचम पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्ठित किया है। मधुसूदन सरस्वती का यही पक्ष है। गोस्वामी जी भी 'मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने' कहकर इसी पक्ष का उपोद्वलन कर रहे हैं। वैसे तुलसी के भक्त पात्रों में 'सार्ष्टि' को छोड़कर अवशिष्ट अन्य द्वैत मुक्तियों—सालोक्य, सायुज्य तथा सामीप्य—का उल्लेख मिलता है। पर यह तो भेद-भगति का फल है। संतवर गोस्वामीजी 'अभेद-भगति' को सबसे बड़ा मानते हैं। 'अभेद-भगति' ज्ञानोत्तरा भक्ति है। ज्ञानोत्तरा भक्ति शांकर आत्म-साक्षात्कार के अनन्तर आरम्भ होती है। शांकर आत्म-साक्षात्कार के सोपान जो अद्वैत वेदांत सम्मत हैं—मानस में उपक्षिप्त हैं। 'सोऽहमस्मि इतिवृत्ति अखण्डा'—द्वारा जिस 'सोऽहमस्मि' इत्याकारक अखण्डाकार विद्यात्मिका मायीय वृत्ति का उपक्षेप किया गया है—वह 'श्रवण' तथा 'मनन' की विधियों का परिणाम है। उपनिषद् का कहना है—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मान्तव्यो निदिध्यासितव्यः" आत्मा ही द्रष्टव्य है और तदर्थ श्रवण, मनन और निदिध्यासन अपेक्षित हैं। किन्तु श्रवण का पात्र बनने से पहले मुमुक्षादि साधन चतुष्टय की सम्पत्ति आवश्यक है। मुमक्षादि की प्राप्ति, अन्तःकरण का शोधन "श्रुति-संमत हरिभक्ति पथ संयुतविरति विवेक"—से ही संभव है—वैधी भक्ति से ही संभव है—दास्य भक्ति से ही संभव है। 'विनय पत्रिका'—जो तुलसी की व्यक्ति-साधना का मार्मिक और सहज गीतात्मक समुच्छलन है—का 'विनय' शब्द ही आराध्य के प्रति 'माहात्म्य बोध' और स्व के प्रति लघुता बोध का प्रमाण है। द्वैतभूमि की यह वैधी भक्ति अन्तःकरण को शोधित कर श्रवण-बीज का भव्य क्षेत्र बनाती है। महावाक्यों या महावाक्य का श्रवण एवं मनन साधक को इस योग्य बना देता है कि वह आत्म साक्षात्कार कर सके। आत्मा तो सदैव अपरोक्ष है—अनादि आविधाजन्य मल या आवरण के कारण वह परोक्ष-सा लगता है। इसी आवरण का क्षय श्रवण तथा मनन द्वारा होता है। श्रुत का मनन करते-करते वृत्ति तदाकार हो जाती है और यह 'सोऽहमस्मि' रूपा विधा. त्मिका-वृत्ति आविधिक वृत्ति का उच्छेद कर डालती है। 'कतकर जो न्याय' से अन्ततः मायीय होने के कारण वह स्वयं भी उच्छिन्न हो जाती है। इस प्रकार प्रारब्ध कर्म भोग का निमित्त मात्र अविद्या शेष रह जाती है, शेष अविद्या का क्षय हो जाता है। इस प्रकार अन्यथा दर्शन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कराने वाली भेदजननी माया-निवृत्ति से आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। गोस्वामीजी की साधना यहीं नहीं रुकती। उनकी दृढ़ धारणा है कि द्रवशील प्रकृति के साधकों में आत्म साक्षात्कार के बाद भी एक आभ्यंतर मल शेष रह जाता है—जो ज्ञानोत्तरा भक्ति से निवर्त्य है। यह मल भी मल ही है—वह दूसरी बात है कि वह आत्म-सुख होने से शुद्ध मल कहा जाता है। महायानी बौद्धों में यही 'शुद्ध वासना' है—जिसकी निवृत्ति बोधिसत्व की प्रक्रिया से 'बुद्धत्वोपलब्धि' में है। गोस्वामीजी ने इसी के लिए कहा है—

"प्रेम भगति जल बिनु अन्हवाये।
अभिअन्तर मल कबहुं न जाये॥"

मेरी निजी धारणा है कि यह प्रेम भगति ज्ञानोत्तरा आत्म-रति है—अभेद-भगति है। शास्त्रों में कहा गया है—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक्, जाते बोधे **मनीषया**।
भक्तयर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

आत्मबोध से पहले का द्वैत—अनात्मबोध मोहकारी होता है—फलतः दुःख-संतति का प्रसवकारी है। पर विधात्मिका वृत्ति से आविधिक वृत्तियों का क्षय हो जाने के अनन्तर आत्म-साक्षात्कार—अद्वैत बोध के बाद का कल्पित द्वैतबोध—जो भक्ति के लिए है—अद्वैतबोध से भी सुन्दर और आनन्दमय है। इसका मतलब यह हुआ कि यहाँ का भजनीय, भजन तथा भक्त-तत्वतः हैं—अभिन्न ही, केवल 'भजन' के लिए त्रिधा कल्पित हैं। अर्थात् भक्ति भक्त, भगवंत ही नहीं, 'गुरु' भी—चतुर नाम किन्तु वपु एक ही हैं। भगवंत और गुरु में कोई भेद नहीं है। 'वैराग्यसंदीपनी' में कहा है—

तन करि मन करि वचन करि काहू दूषत नाहिं
तुलसी ऐसे संतजन, रामरूप जग माहिं।

राम स्वयं अपने और भक्ति के बीच 'गुरु' को सन्त कहते हैं—

भगति तात अनुपम सुख मूला।
मिलहिं जो संत होहिं अनुकूला॥

कहने का अभिप्राय यह है कि अद्वैत भक्ति के धरातल पर भक्ति, भगवान और भजनीय कल्पित भेद हैं—नाम मात्र का—अर्थ का नहीं। अर्थतः सभी एक ही हैं। यदि अर्थतः सभी एक हैं—तो इसका अर्थ यह है कि 'भगति' भी तत्वतः चिदानन्दमय है—भजनीय तो है ही। भक्त भी अभेद भूमि पर वही है। भाव का पूरा सुख कल्पित अभाववश ही मिल सकता है। कल्पित या स्वेच्छाधीन अभाव सुखकर तो हो सकता है—पर दुःखकर नहीं हो सकता।

अब, यह देखना चाहिए कि 'भक्ति' के इस रूप की कल्पना का उत्स क्या है—निगम या आगम या क्वचिदन्य? 'निगम' के ज्ञानकांड और कर्मकांड में तो 'भक्ति' का यह रूप है ही नहीं, उपासना कांड में भी यह रुप नहीं है। शांकरधारा में आत्म-रति या निर्गुणोपास्ति की बात पंचदशीकार ने यद्यपि सविस्तार उठाई है और कहा है कि जो आत्मा—'वेदन' का विषय बन सकता है, वह 'उपासन' का भी विषय बन सकता है। जिस भी रुप में वह वेदन का विषय है—उसी रुप की प्रत्यावृत्ति उपासना भी कही जा सकती है। इस 'अहंग्रहोपासना' का मध्यकालीन वैष्णवों की 'साध्य पंचम पुरुषार्थ रुपा भक्ति' से तालमेल बिल्कुल नहीं बैठता। कारण, वह सब आत्मसाक्षात्कार के लिए है और प्रक्रान्त भक्ति आत्मसाक्षात्कार के बाद की है—अतः पूर्ववर्ती से परवर्ती की एकरूपता का सवाल ही नहीं खड़ा होता। जो अहंग्रहोपासना साधन है—उसका भगवदभिन्न भक्ति से एकरूपता किस प्रकार? 'भक्ति' की यह कल्पना विशुद्ध आगमिक है। आगमिक परम्परा में 'भक्ति' मायिक अन्तःकरण की एक वृत्ति विशेष नहीं है—बल्कि उसके माध्यम से प्रकाशित होने वाली ह्लादिनी शक्ति की ही एक वृत्ति है—तरंग है—उच्छलन है। आत्मा की चिदानन्दमयी शक्ति की ही एक वृत्ति है—इसीलिए वह बोधमयी भी है और आनन्दमयी भी। तुलसी के "ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा" को इसी भूमिका पर परखा जा सकता है। चित् ही अनुकूल होकर आनन्द है—आनन्दरूपा ही भक्ति है। यही साध्य है—पर इसका आस्वाद कल्पित भेद की भूमि पर ही संभव है। एतदर्थ 'ज्ञानोत्तरा भक्ति' की बात कही जाती है। इस प्रकार भक्ति भगवान् की ही आत्मशक्ति की एक वृत्ति विशेष है। तुलसी को भक्ति का यही रूप अभीष्ट है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति के इस रूप की संगति के अनुरूप ही भजनीय चरमतत्व की कल्पना करनी पड़ेगी। गोस्वामीजी चरम परमतत्व को 'राम' नाम से अभिहित करते हैं—पर वे 'राम' शांकर-ब्रह्म की भाँति 'शक्ति' शून्य नहीं हैं—शक्तिमान् हैं। 'सिया' उनकी ऐसी शक्ति हैं—जो उनसे गिरा—अर्थ और जलवीचिवत् न एकांततः भिन्न ही कही जा सकती है और न एकान्ततः अभिन्न ही। बात यह है कि कहना वही और उतना ही सम्भव है जितना 'बुद्धि' में आ सके। 'बुद्धि' स्वयं सापेक्ष और सीमित है—अतः उसमें जो कुछ भी आयेगा—वह भी सापेक्ष और सीमित होगा—अतः बुद्धिपूर्वक समस्त कथन भी और कथ्य भी सापेक्ष और सीमित होगा—अतः बुद्धि की परिधि में समग्रतः न आ सकने वाले तत्त्व के विषय में निरपेक्ष कथन सम्भव ही नहीं है। फलतः चरमतत्व के विषय में सारा कथन एकांततः सत्य नहीं है। वह समस्त संभावनाओं का आगार है—अतः सारी संभावनाएँ संभावनाओं के रूप में ही कही जा सकती है—उसमें भेद की भी सम्भावना है और अभेद की भी—उभय की भी और अनुभय की भी, निषेध की भी और विधान की भी दोनों की और किसी की भी नहीं। इस प्रकार तुलसी की दृष्टि में चरमतत्व ऐसा ही है। आगमिक अद्वयवादी यही मानते हैं। शांकर अद्वैत तुलसी को यदि अभीष्ट होता, तो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर तक की ही कल्पना करने वाले शांकर अद्वैतियों की भाँति ये भी 'चिदानन्दमय देह' की बात न करते। चिदानंदमय शाक्त देह की कल्पना केवल अद्वैतवादी आगमिक ही मानते हैं। गोस्वामीजी ने परमतत्वज्ञ वाल्मीकि द्वारा कहलवाया है—"चिदानन्दमय देह तुम्हारी"। भगवद्रूप की इस बोधस्वातंत्र्यमय-चिदानन्दमय कल्पना के आलोक में ही गोस्वामीजी की 'भक्ति' का रूप समझा जा सकता है।

चरमतत्व विषयक दार्शनिक मान्यता के स्पष्टीकरण के अनन्तर उसकी अवरोहणात्मक या जागतिक स्थिति का निरूपण प्रसंग प्राप्त है। शांकर अद्वैत वेदांत सृष्टि को माया शक्ति का परिणाम मानता है और माया को स्वतंत्र मानता है—ईशाधीन नहीं। इसीलिए उनके यहाँ 'षडस्माकमनादयः' कहा गया है। तत्वतः अद्वैत सत्ता को स्वीकार करके भी चित्, अचित्, जीव, जीवेशभेद आदि को अनादि कह दिया गया है। 'लीला' दर्शन की सारी सम्भावनायें शांकर अद्वैत में निःशेष हो जाती हैं। ये आगम ही हैं, जो ईश्वर की स्वातंत्र्य शक्ति की लीला रूप में सृष्टि का समर्थन करते हैं। गोस्वामीजी ने अनेकत्र माया को ईशाधीन कहा है। इस प्रकार जहाँ एक ओर गोस्वामीजी माया को ईशाधीन कहकर शांकर प्रस्थान से अपने को पृथक् कर लेते हैं—वहीं दूसरी ओर 'सत्ख्याति' या 'आत्मख्याति' द्वारा भ्रम का आत्यंतिक उच्छेद मानने वाले विशिष्टाद्वैतवादियों से भी अपने को अलग कर लेते हैं। परतत्व आनन्दमय स्वरूप का अनुभव आत्मशक्तिवश जगदात्मक आत्मप्रसार द्वारा भी पा लेता है और स्वात्मविश्रांति द्वारा भी। गोस्वामीजी भी अद्वयवादी आगमिकों की भांति मानते हैं कि समूची सृष्टि चरमतत्व का ही प्रसार है। वे कहते ही हैं—

"सियाराममय सब जग जानी"

समस्त जगत शक्ति शक्तिमान् के अद्वय रूप की ही परिणति है। यही कारण है कि चरमतत्व की द्वयात्मकता के अनुरूप सारा जगत् "स्थितिगत्यात्मक" है। राम 'स्थिति' हैं और 'सिया'—गति। द्वयात्मकता में वे 'स्थितिगत्यात्मक' हैं और अद्वयात्मकता में उभयातीत। इस दृष्टि से चरमतत्व विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी। चाहे अणु-परमाणुमय जड़ जगत् को लें या जीवकोश रूप चेतन को—उभयत्र पुंस्त्व तथा स्त्रीत्व 'राम' और 'सिया' के प्रतिनिधि में संलग्न हैं। अणु-परमाणु में ऋणात्मक तथा धनात्मक शक्तियाँ हैं और जीवकोश में डी० एन० ए० तथा आर० एन० ए० हैं। अध्यात्म ही नहीं, विज्ञान भी इसे स्वीकार करता है।

अवरोहण के अनन्तर आरोहण की प्रक्रिया आती है है—प्रत्यावर्तन का प्रसंग आता है। प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया भगवदनुग्रह से ही संभव है। गोस्वामीजी उपनिषदों की

"यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः"

की भाषा में कहते हैं—

"सोई जानै जेहि देहु जनाई।
जानत तुमहि तुमहि होई जाई॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यावर्तन उसी की इच्छा से संभव है। यही इच्छा जीवन-विषयक होने से शक्तिपातात्मक अनुग्रह है। शक्तिपात की आनुपातिक मात्रा में 'गुरु' लभ्य 'दीक्षा' आती है। गोस्वामीजी की दृढ़ धारणा है "गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई।" 'विनयपत्रिका' भी कहती है—

"तुलसीदास हरि गुरु करुना बिनु..."

गुरु दीक्षा में 'नाम' देता है और नाम साधना साधक द्वारा सम्पादित की जाती है। गोस्वामीजी ने कहा है—

"नाम निरूपन नाम जतन तें।
जिमि प्रगटत अनमोल रतन तें॥"

तुलसीदास ने नाम निरूपन की बात तो बहुत की है—पर 'नाम जतन'—नाम विषयक अभ्यास की बात कम। एक स्थल पर यह अवश्य कहा गया है—

"जोग जंत्र जप मंत्र उपाऊ।
फलै तबहिं जब करिय दुराऊ॥

संभव है मंत्रात्मक (बीज मंत्र जेहि जपत महेसू) उपाय का दुराव किया हो। उपाय के नाम पर दो बातें ही मिलती हैं—एक तो उसे जीह देहरी पर रखना अर्थात् नामोच्चारण और दूसरे—

"रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा।"

श्वास प्रतिश्वास नाम की रट। क्या इस 'प्रतिस्वाशा' के माध्यम से गोस्वामीजी संतों की भांति श्वास प्रश्वासमय सहज जप की ओर तो संकेत नहीं कर रहे हैं? एक संत ने ठीक कहा है कि मुख से जप करना वैसा ही है जैसे नौकर-चाकर से पूजा करवाना। वास्तव में मुक्त होना या भक्तिरस का आस्वाद पाना लक्ष्य है—जीव को और साधन करें—जीवेतरं—यह संगत भी नहीं लगता। साधना तो ऐसी होनी चाहिए जो जीव ही करता हो। इसीलिए मानस जप अथवा सहज जप को जप परम्परा में महत्व दिया गया है। कविराज श्री गोपीनाथ ने नाम साधना द्विविध कही है—रस पर्यवसायी तथा नादपवर्यवसायी। निश्चय ही 'भक्ति' रस को साध्य मानने वाले गोस्वामीजी की नाम साधना 'रसपर्यवसायी' ही होनी चाहिए। "रामनाम कला मणि मंजूषा"—नाम की कृति को आधार बनाकर कविराज जी ने इनकी नामसाधना या 'नामजतन' का निरूपण किया है—पर परम्परा इस कृति को प्रामाणिक नहीं मानती। कहा गया है कि नाम के जाग्रत होने से सद्गुरु की और उनके प्रभाव से इष्टमंत्ररूपी विशुद्धबीज की प्राप्ति हो सकती है। बीज के प्रभाव से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है—फलतः देह और मत की मलिनता हटती है। भजन या नामजप की स्वाभाविक स्थिति इस मातृगर्भ संभूत मायिक देह से संभव नहीं है—तदर्थ भाव देह की अपेक्षा है। वास्तव में इसी भाव देह में स्वाभाविक भजन होता है। वैध-मार्ग तब तक के ही लिए उपादेय है जब तक मंत्र चैतन्य नहीं होता। मंत्र चैतन्य के बाद, विधि मार्ग की सार्थकता जाती रहती है। भाव देह के विकास के साथ-साथ भावरञ्जित दृष्टि के समक्ष इष्ट देवता का ज्योतिर्मय धाम प्रकट होता है। भजन के ही प्रभाव से भाव प्रेम में परिणत होता है और भाव के प्रेम रूप में परिणत होते ही उस ज्योतिर्मय धाम में इष्ट देवता का प्रत्यक्ष होता है। इसके पश्चात् भक्त और भगवंत का द्वैत विगलित हो जाता है। इस दशा में भक्त की शुद्ध वासनात्मक स्थायी भाव के अनुरूप अनन्तविध लीला का प्राकट्य होता है। भक्ति की यही सिद्ध दशा है। इस प्रकार नाम ही रसात्मक परिणति पाता है।

प्रसिद्धि है कि गोस्वामीजी को देहत्याग से कुछ ही समय पूर्व महावीरजी ने रामनाम का रहस्य बताया था। कहा था कि रामनाम का विश्लेषण करने पर उसमें पांच कलाओं का पता लगता है—ताटक, दण्डक, कुण्डल, अर्धचन्द्र तथा बिंदु। साधक नामसाधना वश क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण तथा कैवल्य देह का उक्त कलाओं में विलयन करता जाता है। बिंदु 'सिया' हैं और उनका भेद किए बिना रेफ रूप राम का संधान पाना कठिन है। महावीरजी के उपदेश का निष्कृष्ट अर्थ यही है कि बिंदु रूपा सीता का आश्रय लिए बिना निष्कल ब्रह्म की ओर नहीं बढ़ा जा सकता। विनयपत्रिका में भी सीता के माध्यम से राम की ओर बढ़ने में यही रहस्य इंगित है।

इस प्रकार नाम साधना से साध्य चिदानंदमय भक्ति का कल्पित द्वैतमय भूमिका पर आस्वाद लिया जाता है। गोस्वामीजी के अनुसार प्रत्यावर्तन की यही प्रक्रिया है। संक्षेप में गोस्वामीजी की मेरी धारणा के अनुसार ये ही मान्यताएं हैं।

(राममूर्ति त्रिपाठी)
आवास क्रमांक-२, कोठी रोड,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुष-सम्बन्धी युग-धारणाएँ एक शोध दृष्टि

—डॉ० छविनाथ त्रिपाठी

"पुरुष" के सम्बन्ध में युगानुकूल भिन्न-भिन्न धारणायें बनती रही हैं। किसी शब्द-विशेष के साथ जब एक विशेष प्रकार की धारणा सम्बद्ध हो जाती है, तब वह शब्द, सामान्य-शब्द की श्रेणी से ऊपर उठकर एक विशिष्ट अर्थ का बोधक बन जाता है। जब कोई कवि उस शब्द का प्रयोग करता है, तो उसके मानस-पटल पर युगानुरूप अर्थ का ही बिम्ब उभरता है और उसे आशा रहती है कि काव्य श्रोता या पाठक के मानस में भी वही बिम्ब उभरेगा। यह बिम्ब-निर्माण शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ मात्र से ही नहीं होता, अपितु उन धारणाओं के द्वारा भी होता है, जिन्हें लोक-मानस उस शब्द के साथ संबद्ध कर लेता है। 'पुरुष' शब्द के साथ रूप, गुण और व्यक्तित्व सम्बन्धी अनेक धारणायें सदा संबद्ध रही हैं। ये धाराणायें युग-परिवर्तन के साथ बदलती रही हैं, फल-स्वरूप अर्थ-विधान की उसकी क्षमता और बिम्ब-निर्माण सम्बन्धी उसकी स्पष्टता और व्यापकता में भी परिवर्तन होता रहा है।

अध्यात्म और धर्म-प्रधान वैदिक-युग में एक मन्त्र-द्रष्टा ऋषि ने 'पुरुष सूक्त' में 'पुरुष' को इतनी महत्ता प्रदान की है कि वह भूत और भविष्य का नियंता, अमृतत्व का स्वामी, सम्पूर्ण विश्व में अबाधित गति वाला, श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण भूमि और नगरों का अति-क्रान्ता मान मान लिया गया है।[1] पुरुष सूक्त के सोलह मन्त्रों में 'पुरुष' की जिस महनीयता का वर्णन हुआ है, उससे उसका आदर्श-व्यक्तित्व परमात्मा के समकक्ष पहुँच जाता है। वैदिक-युग का 'पुरुष' इन सम्पूर्ण धारणाओं का बिम्ब उभारने में समर्थ था। वायु-अन्तरिक्ष, वीर-वीर्य, मृत्यु-अमृत, अमृत, सत्य-अनृत तथा भूत और भव्य जब न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, तब यह 'पुरुष-प्राण' ही क्यों डरे।[2] वह तो कल्याण-पथ का निर्भीक पथिक है।[3]

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् काल में वैदिक 'पुरुष' का विराट-स्वरूप सर्वथा खो नहीं गया था, फिर भी भौतिक-जीवन की ओर अत्यधिक उन्मुख होने के कारण संकुचित अवश्य हो गया था। ऐतरेय ब्राह्मण में 'चरैवेति' की अनुगूंज अवश्य सुनाई पड़ती है, परन्तु

१. ऋक् १०।९०।२,३,५
२. शौनक-संहिता २।१५।२,९,११-१३ ॥
३. अथर्व १९।९।१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्देश्य रूप में ही; सूर्य-सदृश श्रम और गतिशीलता उसमें नहीं रह गई थी।[1] वह पुरुष, पुरः या शरीर में ही आबद्ध होकर रह गया था। गृहस्थ-जीवन की महत्ता बढ़ने के कारण 'शतपथ ब्राह्मण' ने 'पुरुष' को आधा मान कर पत्नी को उसका अर्ध-भाग कहा।[2] अपत्नीक को अयज्ञीय समझा जाने लगा[3] और पुत्रहीन के लिए तो यह लोक ही निरर्थक बन गया।[4] नारी का गौरव ही गृहस्थ-जीवन का गौरव है, वह जाया और सखा है[5], उसका सौन्दर्य आकर्षण का विषय है[6], इस धारणा ने पुत्रैषणा को बढ़ाया और सन्तानोत्पत्ति के लिए अनेक विवाह को भी विहित घोषित कर दिया गया।[7]

जब आरण्यकों के समय पुत्र-वित्त और लोकैषणाओं ने पुरुष को पूरी तरह बाँध लिया तो इनकी प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप इनके त्याग पर बल दिया जाने लगा।[8] 'पुरुष' का यह आबद्ध-रूप इतना सशक्त बन चुका था कि त्याग के सहस्रों उपदेश भी उसके अस्तित्व को उखाड़ फेंकने में असफल रहे।

'द्वा सुपर्णा'[9] से यह आभास तो मिलता ही है कि 'पुरुष' द्विमुखी बन गया था। या तो वह सांसारिक सुख की लालसा में मोह-शोक और चिन्ताग्रस्त था या इनके परे वीत शोक। 'यथाक्रतु' सांसारिक पुरुष ही था।[10] सैकड़ों हाथों से एकत्र करो और हजारों हाथों से वितरण,[11] जैसे आदेश, आसक्ति और त्याग के समन्वय को ही व्यक्त करते हैं। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'[12] का स्वर मुखरित करने वाला ईशावास्य भी यह स्वीकार करता है कि हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख ढँक गया है।[13] भोग-संलग्न आडम्बरपूर्ण जीवन को जीने वाले पुरुष की आयु भी कम हो गई। सौ या सौ वर्ष से भी अधिक जीने वाला 'पुरुष' वैदिक पुरुष था,[14] ऐसा पुरुष भोगासक्त होकर 'मनुष्य' मात्र रह गया।[15] इस 'नाति दीर्घ' जीवन के प्रति, उसके भोगों के प्रति, विरति का स्वर नचिकेता ने मुखरित किया था।

उपनिषद-काल के 'पुरुष' के दोनों रूपों को स्वीकृति प्राप्त हो गई। वैदिक विराट् पुरुष को 'परात्पर दिव्य पुरुष' मान लिया गया और तत्कालीन 'पुरुष' को नाम-रूप युक्त 'अंगुष्ठ-पुरुष'।[16] कर्म, प्रेय, अज्ञान और अमुक्त का सम्बन्ध अंगुष्ठ पुरुष से हो गया और त्याग, श्रेय, ज्ञान तथा मुक्त का सम्बन्ध विराट् पुरुष से। पुरुष के इस बौने रूप को महत्तम एवं विराट् रूप में उभारने का प्रयास ही उपनिषद् ग्रन्थ करते हैं। सारा मुण्डक उपनिषद् कर्मबद्ध पुरुष के मुक्त पुरुष तक आरोहण की कथा है। सारे ही उपनिषद् ससीम को असीम बनने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इन्द्र ने माया द्वारा पुरुष को यह ससीम रूप दे दिया था,[17] पर इस माया से मुक्ति सरल न थी। 'पुरुषान्न परं किंचित्'[18] में पुरुष-महिमा को ही पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु न तो यह कार्य सरल था न सर्वजन बुद्धि-गम्य। इस अंगुष्ठ मात्र पुरुष का बोध भी ज्ञानियों के लिए ही

---

१. ऐतरेय ३३।३।१५
२. शतपथ ५।१।६।१०, ५।२, १।१०
३. तैत्तिरीय २।२।२।१, ३।३।३।५
४. ऐतरेय ७।१३
५. वही ४।२७।५,६
६. शत० १३।१।९।६, ३।५।१।११, ६।५।१।१० आदि
७. ऐत० ३।२३, गोपथ २।३।१९
८. बृहदारण्यक ४।४।२२
९. श्वेता० ४।६
१०. वही ४।७
११. अथर्व ३।२४।५
१२. ईशा० १
१३. वही १५
१४. कौषीतकी ११।७, शत० १।९।३।१९
१५. कठ १।२।३
१६. मुण्डक ३।२।८, श्वे० ३।१९, कठ २।१।१२, २।३।१७
१७. वृह० उ० २।५।१९
१८. कठ १।३।११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभव रह गया। वे ही विराट् के इस बौने रूप को देख सकते थे। इसका ज्ञान-मात्र ही मुक्ति का साधन बन गया।[1] तात्त्विक-एकत्व-बोध मात्र से ही तो वामन, विराट् नहीं बन सकता था।

जिस प्रकार पुरुष और दिव्य-पुरुष का सम्बन्ध, लघु और महत् के सम्बन्ध का द्योतक बना, उसी प्रकार नर-राष्ट्र के भौतिक स्वरूप में प्रजा और राजा का सम्बन्ध भी लघु-महत् आधार पर प्रतिष्ठित हुआ। अंगुष्ठ पुरुष की महत्ता दिव्य पुरुष के साथ एकात्मता में है, अतः प्रजा की महत्ता राजा और राष्ट्र के साथ एकात्मता स्थापन में विहित हो गई। राजा और राष्ट्र जितने महान् एवं विराट् हैं उसकी प्रजा भी उतनी ही महान् और विराट् होगी, औपनिषदिक दर्शन का यह राजनैतिक रूप उत्तरोत्तर विकसित होता गया। यह तथ्य अधिक महत्त्व-पूर्ण नहीं बन सका कि राजा कैसे चुना या बनाया जाता था, उसे क्या-क्या प्रतिज्ञायें करनी पड़ती थीं, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह उभरा कि पुरुष के विराट् रूप का लौकिक प्रतीक राजा बन गया, उसे 'महती देवता' कहा गया तथा वह अपने विराट् स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ का आश्रय लेने लगा। ब्रह्मचर्य और तप[2] द्वारा राजा राष्ट्र की रक्षा अवश्य करता था, किन्तु उसके पौरुष का दर्शन[3] तो युद्ध में दिखाई पड़ता था। पौरुष के विराट् स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए ही वह साम्राज्य और सार्वभौम राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील एवं लक्ष्य-निष्ठ रहता था।[4] प्रजा का ससीम पौरुष राजा के असीम पौरुष में पुंजीभूत होकर विराट् का लौकिक रूप व्यक्त करता था।

सूत्र काल में श्रौत, पाक एवं संस्कार सहित महायज्ञों द्वारा यज्ञ को भी जीवन-व्याप्त विराट् आकार प्रदान किया गया। पुरुष 'यज्ञमयोऽयं पुरुषः' बन गया। श्रौत, गृह्य एवं धर्म सूत्रों ने ससीम पुरुष को सामाजिक, नियम-बद्ध, अनुशासित एवं पूर्णतः लौकिक पुरुष में ढाल दिया। यज्ञों का विराट् स्वरूप विशाल जनसामाज को प्रभावित कर सकता था।[5] पौरुष के विराट् स्वरूप को व्यक्त करने के लिए ही साधकों में महावीर और बुद्ध ने आरम्भ में कृच्छ्र-तप द्वारा जनसमाज के समक्ष त्याग और तप का उदाहरण प्रस्तुत किया था। लोकासक्त और लोक-विरक्त 'पुरुष' के द्विविध विराट् रूपों की तत्कालीन अभिव्यक्ति औपनिषदिक आरोहण कथा से भिन्न नहीं है। पुरुष की मनुष्य रूप में परिणति उसके और परिसीमन की कथा है। विधि-निषेध का पालक 'पुरुष' भ्रम, प्रमाद, इन्द्रिय-दोष और विप्रलिप्सा से युक्त होने के कारण और भी अप्रामाणिक तथा संकुचित बन गया। 'पुरुष' का दो रूप एक तीसरे और निम्न-स्तर तक पहुँच गया और विविध दर्शनों ने उसका वर्गीकरण—जीव, ईश्वर और दिव्य-पुरुष (ब्रह्म) के रूप में करते हुए 'जीव' को उस निम्न-स्तर की संज्ञा प्रदान की।

सांसारिक कर्म (संघर्ष)-निरत एवं उससे उत्पन्न कर्म फल का भोक्ता जीव तो दुःखी होता ही है। दुःखानुषंगी होने के कारण सांसारिक सुख भी दुःखमय है।[6] अतः दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति के अन्वेषण में ही भारतीय दर्शनों का विकास हुआ। दर्शन की इस चिन्तन-धारा से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि जीव-स्तरीय पुरुष अत्यन्त दुःखी था। वेदान्त के अनुसार शरीरेन्द्रिय का अध्यक्ष, कर्मफल का भोक्ता एवं अविद्यामूलक अहंकार से युक्त पुरुष ही जीव है। सांख्य का प्रकृतिबद्ध पुरुष ही जीव है। योग ने जीवात्मा और परात्पर पुरुष के मध्य ईश्वर को नहीं भुलाया। न्याय ने आत्मा को शरीरेन्द्रियादि से पृथक् तत्त्व ही माना।[7] तर्कपरक होते हुए भी शरीर, इन्द्रिय, विषय, ज्ञान सम्बन्धी तथा सुख-दुःख नामक इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक

---

१. वही २।२।८, २।३।८ श्वे० ३।८,९,१२
२. अथर्व ५।१।७
३. ऋक् ६।७५।१
४. ऐतरेय अध्याय ८
५. द्रष्टव्य-शांखायन श्रौतसूत्र।
६. तर्क भाषा-पृ० २३२
७. न्या० १।१।९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवृत्ति को ही अपवर्ग कहा। वैशेषिक तो आत्मेतर पदार्थों के ज्ञान पर ही आत्मा के ज्ञान को निर्भर मानता है। इन सभी दर्शनों ने आत्मा को चेतन तत्त्व ही मान कर उसका विवेचन किया है। भौतिकवादी चार्वाकों ने शरीर को ही सब कुछ मानते हुए भी 'चैतन्य विशिष्ट-कायः पुरुषः' चेतन तत्त्व को अस्वीकार नहीं किया है। जैन दर्शन ने भी सांख्य की भाँति कर्मास्रव लिप्त जीव की पृथक्-पृथक् सत्ता ही मानी है। बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद भी चेतना-प्रवाह का अस्तित्व स्वीकार करता है। अत्यन्त परवर्ती काल का शैव-दर्शन भी चिति के विराट् पुरुष शिव को ही महत्ता प्रदान करता है। प्रायः सभी दर्शनों का जीव चैतन्य-विशेष है। परम चेतन की स्थिति-प्राप्ति को ही वह कैवल्य या मुक्ति या परम पुरुषार्थ मानता है। इन सभी दर्शनों का लक्ष्य एक ऐसी स्थिति के अन्वेषण का प्रयत्न करना है जहाँ सांसारिक दुःख सह्य एवं उपेक्षणीय बन सके। संघर्ष जन्य दुःखों को वह खिलाड़ी की भाँति उत्साह के साथ झेल सके। इसके लिए उसे पुनः पुरुष के चैतन्य-स्वरूप को ही आधार बनाना पड़ा। सभी जीवों के लिए समान आधार पर समान निदान का निर्देश किसी तात्त्विक-साम्य के बिना संभव भी नहीं था। पृथक्-पृथक् शरीर के निदान की अपेक्षा उन्होंने सर्वव्यापक चैतन्य को पकड़ कर दुःख निवृत्ति का समवेत उपाय बताना अधिक सुकर समझा। जीव की स्वचैतन्य में स्थिति या चैतन्य-बोध एक ऐसी उपलब्धि है जिसमें सांसारिक भिन्नताएँ एवं बाधाएँ अवरोध नहीं उत्पन्न कर सकतीं। वेदान्त का जीवन्मुक्त और गीता का अनासक्त एक ऐसी स्थिति-प्राप्त व्यक्तित्व है, जैसी ही स्थिति की उपलब्धि बुद्ध और जिन भी करते हैं। यह स्थिति जीव का साध्य है। स्वयं के महत् चैतन्य का विराट पुरुषत्व का बोध प्रथम स्तर था और उस स्वरूप की उपलब्धि एवं उसमें स्थिति द्वितीय या सिद्धि-स्तर था।

गीता ने क्षर और अक्षर अथवा जीवात्मा और परमात्मा या पुरुष और पुरुषोत्तम के रूप में पुरुष के द्विविध रूप को स्वीकार किया है। पुरुष के स्वभाव का विश्लेषण करते हुए गीता ने उसे भी दैव और आसुर स्वभावनिष्ठ वर्ग में विभाजित किया है।[1] पुरुष श्रद्धामय है,[2] गुण, प्रवृत्ति और स्वभावगत वैषम्य ही उसे भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों में श्रद्धालु बनाते हैं। गीता के अर्जुन का विषाद पौरुष के आवृत रूप को ही व्यक्त करता है। उसके विषाद के मूल में लोक-संग्रही भाव का अभाव था। वह राज्य-सत्ता को अपने और अपने परिजनों के लिए सुखोपलब्धि का साधन मानता था।[3] श्रीकृष्ण ने 'विराट-पुरुष' का दर्शन कराकर अर्जुन की ससीमता को और अधिक स्पष्ट कर दिया है।[4] गीता ने 'विराट-पुरुष' को ही 'पुरुषोत्तम' विशेषण दिया है, इस रूप के अव्यक्त होते ही स्वयं श्रीकृष्ण के स्वरूप को गीता ने भी 'मनुष्य' ही कहा।[5]

आदि कवि वाल्मीकि को उत्तम पुरुष की खोज थी, जिससे वह एक आदर्श-चरित्र का निर्माण कर सकें। नारद से उन्होंने पूछा कि इस लोक में गुणवान् और वीर्यवान् कौन है।[6] नारद ने संक्षेप में राम का जो चरित्र प्रस्तुत किया,[7] वह एक तत्कालीन उत्तम पुरुष का चरित्र था। उत्तम पुरुष की धारणा राम के चरित में व्यक्त हुई है। ऐसा पुरुष गम्भीरता में समुद्र और धैर्य में हिमवान् होता है। उसके समस्त गुण उदात्त होते हैं और वह बलवान् तथा पराक्रमी होता है। वह यशस्वी होता है, जिसकी यशःगाथा कवियों के गान का विषय बने।[8] लोक-संग्रही होने के कारण ही राम को

१. गीता १५।१६-१९
२. वही १६।६
३. वही १७।३
४. वही १।३३
५. गीता-अ० ११
६. वही ११।५१
७. वाल्मीकि रामायण १।१।३-१६
८. वही १।१।१७-९८
९. वही १।२।४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैथिली तक का त्याग करना पड़ा।[1]

पुरुषार्थ का स्वरूप रामायण काल से महाभारत काल तक कितना परिवर्तित हो चुका था यह दोनों के अन्तर से प्रतीत होता है। रामायण काल में राज्य-सत्ता का उद्देश्य लोक कल्याण था जब कि महाभारत काल में वह व्यक्तिगत सुखोपलब्धि का साधन बन गई थी। ऐसे स्वार्थ-परायण युग में भी व्यास को यह विस्मृत नहीं हुआ था कि इस धरा पर मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।[2]

राम वैदिक परम्परा के कर्मशील पुरुष श्रेष्ठ थे। जिन विरक्त परम्परा के थे। बुद्ध मध्यमार्गी थे, परन्तु कृष्ण ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वयकर्त्ता थे; गीता से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। राज-सत्ता, राजा एवं प्रजा के साथ उनके सम्बन्धों का जो विकास परवर्ती काल में हुआ, उसका आधार-स्रोत रामायण वर्णित व्यवस्था थी। बुद्ध से प्रभावित अशोक स्वयं चक्रवर्तित्व में विश्वास रखता था। सामन्तवादी-व्यवस्था से उसका शासन भिन्न नहीं था। राजा के प्रति सैनिकों एवं प्रजा का भाव उसे दिव्य-पुरुष मानना अस्वीकार कर चुका था, अन्यथा कौटिल्य को राजा के लिए न लड़ने वाले व्यक्तियों या सैनिकों को नरक का भय न दिखाना पड़ता।[3] राजा भर्त्ता या स्वामी मात्र रह गया था। राजा का पुरुषार्थ, यश एवं पराक्रम उसका व्यक्तिगत विषय था। प्रजा उसमें अपनी समवेत शक्ति का विराट रूप देखने में असमर्थ हो चुकी थी,यही कारण है कि वीरता-प्रदर्शन भी व्यक्तिगत विषय बन गया था।

श्री अरविन्द घोष ने वाल्मीकि, व्यास और कालिदास को प्राचीन भारत के इतिहास का अमृत-स्रोत कहा है। इनकी दृष्टि में कालिदास राष्ट्रीयता के सूत्रधार थे[4]। वाल्मीकि को आदर्श-चरित राम में मिला और कालिदास को रघुवंशियों में। कालिदास के अनुसार वे दान करने के लिए धन-संग्रह करते थे, मितभाषी थे, यश के लिए विजय की कामना करने थे, शैशव में विद्या का अभ्यास करते थे, यौवन में संसार के भोगों का आनन्द लेते थे, बुढ़ापे में तप करते थे और अन्त में योग से शरीर त्याग करते थे। विवाह का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति ही समझते थे[5]। ये श्रेष्ठ पुरुषों के गुण थे। इन गुणों से युक्त रघुवंश के विविध राजाओं का चरित्र उन्होंने प्रस्तुत किया, किन्तु जब वे विलासी अग्निवर्ण का वर्णन करने लगे तो संभवतः उन्हें उस मूल प्रेरणा का स्मरण हो आया, और रघुवंश काव्य की समाप्ति हो गई।[6]

कालिदास की दृष्टि में भी हरि ही एक मात्र पुरुषोत्तम थे।[7] इनका स्मरण मात्र ही पवित्र करने वाला है।[8] कालिदास ने केवल दशरथ को पुरुष और राम को पुरातन पुरुष कहा है।[9] राम को ही वह हरि भी कहते हैं। शेष सभी रघुवँशियों को वह क्षितीश, नृप, नृपति, राजा, पार्थिव, ईश्वर आदि शब्दों से ही व्यक्त करते हैं, पुरुष या पुरुषोत्तम शब्द से नहीं। ये सभी यश और धन के इच्छुक हैं। दिलीप तक को अपने यशःशरीर की अधिक चिन्ता है।[10]

पुरुषार्थ प्रवर्तिनी प्रकृति होती है और उस प्रकृति को देखने पहचानने वाला ही पुरुष है।[11] काम की उक्तियाँ कालिदास ने जन-विलासिता की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रस्तुत की हैं।[12] शिव जैसे जितेन्द्रिय का तप भी काम ने भंग कर दिया था। रूप-गर्विता पार्वती को भग्न-मनोरथा दिखाकर भी कालिदास ने उसे मनस्विनी कह कर फलोदय तक प्रयत्नशील प्रस्तुत किया है। वस्तुतः

---

१. वही उ० ।९७।४
२. न हि मानुषात्श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्। म० भा०
३. कौटिल्य १०।१३ 'नवंशरावं...'
४. राष्ट्रकवि कालिदास-पृ०२५
५. रघुवंश १।७-८
६. द्रष्टव्य-रघुवंश सर्ग १९
७. रघुवंश ३।४९
८. रघु० १०।२९
९. वही ९।१६,११।८५
१०. वही-२।५७
११. कुमार संभव २।१३
१२. वही ३।३-१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईप्सितार्थ के लिए कृत-निश्चय मनुष्य ही मनीषी या मनस्विनी है।[1] पुरुष और पुरुषार्थ के स्थान पर मनस्वी और मनस्विता का प्रयोग धारणा-परिवर्तन का ही द्योतक है। धर्म और मोक्ष का साधक पुरुषार्थी है तथा अर्थ और काम का साधक मनस्वी। मन की प्रवृत्ति निम्नाभिमुखी हो सकती है जैसे जल की। दृढ़-संकल्प उत्तम और अधम दोनों प्रकार के लक्ष्य के लिए हो सकता है। मनोरथ के लिए अवरोध तो है ही नहीं।[2]

गीता में मनुष्य के दो रूप कहे गये हैं—श्रेष्ठ और लोक। एक अनुकरणीय है दूसरा अनुकर्त्ता। मनुष्यों में पौरुष ही विराट पुरुष का प्रतीक था।[3] कालिदास के समय इस पौरुष का प्रतीक था—समुद्रवसना पृथ्वी और नारी।[4] षष्ठांशवृत्ति राजा का कार्य शान्तिकाल में दुष्टों को दण्ड, विवाद का निबटारा और प्रजा का रक्षण था। सत्पुरुष बनने का अर्थ था परोपकार करना मात्र या सद्वस्तु का आदर करना। यद्यपि सामान्य-जन का लक्ष्य श्रद्धा (पत्नी), धन (पुत्र) और क्रिया (पति) मात्र था, पर बुद्धिवाद का अभ्युदय कालिदास-युग की विशेषता थी।[5] इस बुद्धिवाद की स्वाभाविक परिणति अर्थ और काम की सिद्धि के लिए ही होती है। फलस्वरूप पुरुष का एक 'नायक' स्वरूप उभरा जो सुन्दरी नारी के चरणों में पड़ा उसका दास प्रतीत होता है।[6] काम के साथ प्रीति, कृत्रिम-प्रेम, दूती, कातरता तथा प्रणय-निराशा में आत्महत्या का घनिष्ठ सम्बन्ध है।[7] राजा का पुरुषार्थ युद्ध-विजय और नारी-हरण था तो प्रजा का जातिगत कर्त्तव्य-निभाना।[8] डाका डालना भी एक वर्ग का कार्य बन गया था और राज्य में शान्ति इसलिए काम्य बन गई थी, जिससे ऐश्वर्य मत्त एवं विकार-मूर्छित काम-सिद्धि कर सकें।[9] लोकानुग्रह श्लाघनीय अवश्य था पर राजा और वित्तेश प्रजा का मूल लक्ष्य पुरुषार्थों में काम ही रह गया था।[10] नायक का यह रूप मधु-लोलुप मधुकर का ही था। पर-पुरुष संकीर्तन के श्रवण को भी अयुक्त मानने वाले भास की नारी से भिन्न स्थिति थी कालिदास के नारी की भी। लोकवाद कितना[11] उपेक्षणीय बन गया था, यह कालिदास की सीता के कथन से स्पष्ट है।[12]

कालिदास के बाद किसी भी कवि ने चक्रवर्तित्व की कल्पना नहीं की; रामचरित प्रस्तुत करने वालों में उसकी ध्वनि नहीं, प्रतिध्वनि मात्र है। कवियों ने स्पृहणीय गुणों से युक्त महात्माओं के चरित-वर्णन में मन भले ही लगाया हो।[13] सातवीं शती के अन्त में विद्यमान भट्ट-नारायण ने 'मदायत्तं तु पौरुषम्' जैसी कर्ण की उक्तियों में जाति एवं कुल से परे व्यक्तिगत पौरुष को खूब उभारा है।[14] हर्ष के बाद भारत में कोई विशाल राज्य था नहीं। सामंतवादी व्यवस्था में सम्राट् या चक्रवर्ती की

---

१. वही ५।५
२. वही ५।६४
३. गीता- ३।२१,७८
४. शाकुन्तला ३।१८
५. वही ५।८,५।१२,विक्रमो० १।२ शकु० ७।२९ माल० १।२
६. माल० ४।१४, विक्र० ४।६८, माल० ३।२०, शकु. १।२०,३।१० विक्र० २।३।, ३।७, माल० ३।२२, ४।१० आदि।
७. ऋतु० ३।२८, उ० मेघ ५५, माल० ३।३, ३।१४, ४।५, ३।५
८. माल० ५।२, शाकु० ६।१
९. माल० ५।१०, ५।२०, शाकु० ५।१८, विक्र० ५।२५ ऋतु० २।२९
१०. शाकु० ७।३४-३५, ३।१०
११. वासवदत्ता, भास नाटक चक्रम पृ० १८ अन्य स्थल-प्रतिज्ञा यौगन्धरायणं १।११ चारुदत्त भा० ना० च० पृ० १९७
१२. रघु० १४।३१
१३. किरातार्जनीय २।३४
१४. वेणीसंहार ३।३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पना की अपेक्षा पौरुष के नये मानदण्डों की स्थापना सरल थी। भागवत का 'मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्'[1] पुरुषादर्श कालिदास द्वारा स्थापित आदर्श से भिन्न नहीं है। योद्धाओं में योद्धा, मनुष्यों में राजा और स्त्रियों में मूर्तिमान् कामदेव; यह था वैदिक विराट पुरुष का सामन्ती व्यवस्था में रूप।

काम कथा रत व्यक्तियों के लिए धर्मकथा कुनैन से भी कड़वी लगती है। धर्मोपदेशकों के लिए यह एक बड़ी समस्या थी। वसुदेव हिण्डीकार ने शृंङ्गार कथा के आवरण में धर्म कथा का समावेश कर जनता को आकृष्ट करने का प्रयास किया।[2] प्राकृत एवं अपभ्रंश कथा-काव्यों ने इसी परम्परा का अनुसरण किया, क्योंकि ये अधिकतर जैन धर्म से संबद्ध हैं। कादम्बरी, नैषध और नलचम्पू जैसी संस्कृत कृतियां रस-कथा प्रस्तुत करती हैं,[3] जबकि कुवलयमाला, लीलावती कथा जैसी प्राकृत-कृतियाँ कामोत्थ-धर्मोत्थ होने के कारण संकीर्ण कथायें हैं।[4] सामन्तवादी व्यवस्था के ये सभी सुपुरुष चरित हैं;[5] कालिदास के अनुसार ये सभी उदात्त नायक हैं। जम्बु-चरिय कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञाता को ही पुरुष मान लेता है।[6]

स्वयंभू ने पउमचरिउ में सामन्तवादी पुरुष के युद्धवीर एवं धर्मवीर रूप को ही उभारा है। रण रस लोभी अनावृत यश, यशलोभी रावण, 'कलि-कलुष-सलिल पोषक पतङ्ग' लक्ष्मण, जैसी उक्तियों से पुरुष के उदात्त रूप के दूसरे पक्ष को प्रमुखता दी है।[7]

जैन-रास परम्परा में सुपुरुष वह है, जो गुरु से बोध प्राप्त करे, सत्य बोले, परिवाद से दूर एवं उसे नष्ट करने वाला हो, मोक्ष-मार्ग का वक्ता एवं श्रोता हो।[8] जैन-परम्परा ने चार आर्य-सत्यों के ज्ञाता को ही त्रिभुवन में महाभट माना और निर्ग्रन्थ को ही महावीर। सिद्धि के लिए किया जाने वाला संघर्ष ही महारण है और सिद्धि-प्राप्ति ही महा विजय। ऐसा सिद्ध ही पुरुष है।[9] इस दृष्टि में कभी परिवर्तन नहीं हुआ।

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक काल भी सामन्तवादी था। राहुलजी ने सिद्धों और सामन्तों के द्विविध दृष्टि-कोणों के आधार पर ही इस काल को सिद्ध-सामन्तकाल कहा है। चंद का 'पृथ्वीराज रासो' चली आती हुई 'पुरुष' सम्बन्धी धारणाओं को ही व्यक्त करता है। चंद की दृष्टि में पृथ्वीराज सामंतसूरों में अद्वितीय और आदर्श पुरुष थे। सामंती आदर्श के अनुसार पुरुष को वीर, राजा और कामदेव का अवतार होना चाहिए—

सामंत सूर प्रथिराज सम भयो न को रवि-चक्क तर।
पृ० रा० १६।२४८

अवतार भूप प्रथिराज पहु। पृ० रा० १।६
कामदेव अवतार हुअ। पद्मावती समयो।

इस रासो के तैंतीसवे समयो में पृथ्वीराज के सौन्दर्य का भी वर्णन हुआ है।

चंद ने सामन्ती व्यवस्था में निहित राजा, सामंत और सैनिकों के आदर्श को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। महाभारत, कौटिल्य-व्यवस्था और कुछ पौराणिक तथ्य ही उनके प्रेरक स्रोत थे। इन्हीं के आधार पर उन्होंने स्वामि-धर्म की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया था।[10] राष्ट्रीयता के अभाव में उन्होंने सामंत-सैनिकों के

---

१. भागवत ७।४३।८०
२. प्राकृत साहित्य का इतिहास पृ० ३६४
३. कादम्बरी कथा मुख ८, नैषद १।२, नलचम्पू १।२५
४. कुवलयमाला पृ० ४ लीला० पृ० १।२
५. सुव्वह सुपुरिस चरियं.....कु० मा० पृ० ४
६. कज्जाकज्जाइं जाणई पुरिसो। ज० च० २।३२।२६
७. पउमचरिउ ६।८।२।३७।१।१, १५।१०।६, २२।४।४
८. उपदेश रसायन रास, ४
९. मयण पराजय चरिउ २।५, २।१
१०. द्रष्टव्य—मेरा लेख—पृथ्वीराज रासो एक पौराणिक महाकाव्य—कुरुक्षेत्र युनिवर्सिटी रिसर्च जरनल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समक्ष यही आदर्श उपस्थित किया और रण-मरण की प्रेरणा दी—

जीविते लभ्यते लक्ष्मी मृते चापि सुराङ्गना।
क्षणे विध्वंसिनी काया का चिन्ता मरणे रणे।

इस आदर्श पर चन्द ने 'श्रेष्ठ पुरुष' की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है, उनमें अल्प-जीवन एवं कीर्ति को ही प्रमुखता दी है—

मरना जीना हक्क है, जुग्ग रहेगी गल्हां।
सा पुरुषां का जीवना, थोड़ा ही है भल्हां॥
पृ० रा० ६४।१६८

संसार अथिर सामंत मत। पृ०रा० ६६।६८३ पद

विद्यापति ने कीर्तिलता और कीर्ति पताका में 'पुरुष' की कहानी ही कही है।[1] कीर्तिलता में उन्होंने वीर पुरुष का लक्षण बताते हुए कहा है कि वह लब्ध-कीर्ति, संग्राम में सूर, धर्म परायण, अदीन, सानन्द होता है। जिसकी सम्पत्ति का उपभोग सुजन करते हैं, वह गुप्त दानी होता है। वैसे तो पुरुषोत्तम सदृश ही पुरुष होता है, केवल जन्म मात्र से नहीं। यशस्वी, यशार्जन में सक्षम ही पुरुष है।[2]

विद्यापति की पदावली यद्यपि मुक्तक एवं शृंगारी रचना है, परन्तु उसका नायक तो 'सुपुरुष' है, अतः अनेक स्थलों पर उनकी पुरुष सम्बन्धी धारणा व्यक्त हुई है—

(क) सुपुरुष वचन पषान क रेह। पदा० ८०॥
पुरुष लाख एक लखवा पारिअ॥ पदा० ७६।
वैभव गेला रहत विवेक। तैसन पुरुष लाख मँह एक।
पदा० १४६।
सुपुरुष सञो नेह विद्यापति ओल धरि हो निरबाहे।
पदा० २३१।

(ख) पुरुषक चंचल सहज सुभाव। पदा० ६२॥
एके मधुयामिनि सुपुरुष संग। पदा० ८०॥
सुपुरुषे पाओल सुमुखि सुनारि रे। पदा० १०॥[3]

विद्यापति के 'सुपुरुष' का जो प्रणयी रूप उनकी पदावली में व्यक्त हुआ है, उसमें भी वह लाखों में एक, वचन का पक्का, नागर और भागवत के अनुसार ही स्त्रियों के मध्य कामदेव है।

चिन्तन एवं शोध का यह भी एक आनन्ददायक विषय हो सकता है कि गृह त्यागी सिद्धों एवं सन्तों की वाणी में पुरुष तो रव-सम ठीक ही रहा, पर जीव ने पतिव्रता नारी का रूप कैसे प्राप्त कर लिया? किस सीमा तक सूफियों का प्रभाव है और किस सीमा तक सामन्ती-धारणाओं का? विद्यापति की प्रणय-कथा भी अकथ-कथा है और कबीर की प्रेम कथा भी।[4] विद्यापति की नारी चंचला भी है और कुल कामिनी भी, पर कबीर की यह नारी पतिव्रता और सदा सुहागिन है।[5] सन्तों में भी पुरुष, प्रिय एवं प्रेम का विषय बन ही गया है।

सूफी कवि जायसी ने तो 'पुरुष' के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा का यथातथ्य वर्णन करते हुए इसके व्यक्तित्व

---

१. सुपुरिस कहनी हौं कहउँ। की० ल० १। पंक्ति ३६.
२. कीर्तिलता—१। पं० २७-३३
३. पद संख्या—विद्यापति पदावली, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना—की हैं।
नागर-नागरी रूप के लिए द्रष्टव्य पद—२१,७१,७७ ८८, १६४ आदि।
४. पाछिलि कथा अकथ कथा। पदा० २१
अकथ कहाणी प्रेम की। कबीर ग्रन्थावली पृ० १२०
बरउदे दिलम नबाख्त यक जमजमां इश्क।
जां जमजमा अमजे पाये ता सर हम इश्क॥ जामी।
ईरान के सूफी कवि—पृ० ४००
५. जो पै पतिव्रता है नारी।
कैसे ही रहौ सो पियहि पियारी।
तन मन जीवन सौंपि सरीरा।
ताहि सुहागिन कहै कबीरा॥
कबीर ग्रं० पृ० ११५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को स्पष्ट आकार दे दिया है। पुरुष या सुपुरुष सम्बन्धी उनके विचार सारे पद्मावत में बिखरे पड़े हैं—

साहस जहाँ सिद्धि तँह होई। पद्मा० १४।१।३।
राजै दीन्ह कटक कंह बीरा। सुपुरुष होहु करहु मन धीरा।
प० १५।८।१

धन्नि पुरुष अस नवै न नाए। औ सुपुरुष होइ देस पराए।
प० २६।४।७

एक ही स्थल पर पुरुष की अनेक विशेषताओं का उल्लेख करते हुए जायसी ने कहा है कि उच्च हृदय एवं साहस के साथ उन्नति पथ पर अग्रसर होने वाला ही पुरुष है और बार बार फिसलने पर भी उन्नति का पथ नहीं छोड़ता—

पुरुषहिं चाहिय ऊँच हियाऊ। दिन दिन राखै ऊंचै पाऊ॥
सदा ऊँच पै सेइय बारा। ऊँचे सो कीजिय बेवहारा॥
ऊँचै चढ़ै ऊँच खंड सूझा। ऊँचे पास ऊँच कति बूझा॥
ऊँचै संग संगति नित कीजै। ऊँचै काज जीव पुनि दीजै॥
दिन दिन ऊँचे होइ सो, जेहि ऊँचे पर चाउ।
ऊँचे चढ़ता जो खसि परे, ऊँच न छाड़िय काउ।
पद्मा० १६।५

हिन्दी के पूर्व मध्यकाल में प्रकृति और पुरुष के प्रेम का जो रूप विद्यापति ने प्रस्तुत किया उसमें कुपुरुष के लिए भी अवकाश मिल गया।[1] सुपुरुष वह है जिसका प्रेम सोने की भांति खरा हो, कुपुरुष वह जिसका प्रेम खोटे सिक्के की भांति है।[2] पुरुष छैला बन गया और उसका नया नामकरण हुआ 'नागर' और नारी बनी 'नागरी'। ये नागर-नागरी चौसठ कला मर्मज्ञ थे और कान्ह तो अतिनागर थे ही।[3] नागर-नागरी के रूप में पुरुष और प्रकृति का जो रूप उभरा उसने पुरुषोत्तम कान्ह और प्रकृति-शक्ति राधा का रीतिकालीन रूप प्रस्तुत किया। प्रेमा भक्ति की प्रतिष्ठा इन सम्बन्धों को एक दार्शनिक धरातल प्रदान करना था।[4]

सौलहवीं शती के अभिनव कालिदास ने अपने भागवत चम्पू में कृष्ण का जो रूप प्रस्तुत किया है, वही मानो भागवत का रीतिकालीन अवतरण है। कृष्ण पुरुषोत्तम तो हैं किन्तु 'मायिक मनुष्यवेषभृत्' होने के कारण ही वे 'जारनाथ' बन गये हैं। गोपियां 'जारदयिता' बन गई हैं। कृष्ण 'भोगिनाथ' हैं और गोपियां 'भोगिन्यः'[5] कवि ने इसे 'कृष्ण वर्त्म' कहा है और उसका उत्तान-शृंगार-वर्णन रीतिकालीन कवियों को बहुत पीछे छोड़ गया है। भागवत की भी मर्यादा संभवतः यहां टूट गई हैं।[6] उषा-अनिरूद्ध के प्रणय को लेकर वाणासुर के साथ होने वाले युद्ध के समय कवि ने कहा है कि 'माहेश्वर ज्वरं हन्तुं भगवान वैष्णव ज्वरं। विनिर्ममेतयो रासीद् युद्धमद्भुत कर्मणोः।'[7] यह 'कृष्ण वर्त्म' वैष्णव ज्वर था और रीति-साहित्य वैष्णव-ज्वराक्रान्त 'पुरुष'-पथिक की कृष्ण वर्त्म पर नागर बन कर यात्रा थी।

तुलसीदास ने रामचरित मानस में राम को पुरुषोत्तम

---

१. प्रकृति परेषिअ सुपुरुष प्रेम। पदा० २२
२. सुपुरुष पेम हेम अनुमानि। पदा० ९६,
हृदय कपट मुखेकरहिं पिरीति। पदा० १३४
सपनेहुजनु होहु कुपुरुष संग। पदा० ११२
जउ कुपुरि भत्तारू। रस-विलास ३१
३. तोहर छैलपन निन्दत आन। पदा ११३
नागर हो से हेरितहि जान,
चौसठि कला क जाहि गिआन। पं० १४।
से अति नागर गोकुल कान्ह। पदा० १०९।
नागर गुणे नागरि रति बाढ़ी। पदा० ७१।
४. सर्वथा ध्वंस रहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद् भाव बन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तिताः।
उज्जवल नीलमणि, पृ० ४१८।
५. भागवत चम्पू ३। ४३,३।९३,६।१३१, स भोगिचूड़ा-
मणि रेष नाथो वयं च भोगिन्य इति प्रतीतिः।
भा० च० २।७८
६. भाग० च० ४।४७, ३।५०-११५ तुलनीय भागवत
१०।३३ के वर्णनों से।
७. भाग० च० ५।३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म के रूप में ही सामने रखा। सती-मोह के प्रसंग को उन्होंने सतर्कता के लिए ही प्रस्तुत किया था[1]। राम की नर-तनु-लीला से कोई भ्रान्ति न उत्पन्न हो जाय अतः वे बार-बार उनके 'ब्रह्मत्व' का स्मरण कराते रहते हैं। तुलसी के 'रामचरित मानस' की लोकप्रियता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि वैदिक-विराट-पुरुष की उसमें पुनः अवतारणा हुई और सामान्य-जनता को यह अनुभूति हुई कि उसे उसका खोया हुआ रूप प्राप्त होगया। इससे उसका आत्मबल जागा। राम के पुरुषोत्तम रूप का दर्शन धनुष यज्ञ के समय दिखाई पड़ता है। वहां 'जाकी रही भावना जैसी' में उनका विराट रूप व्यक्त हुआ है।

गंग कवि ने 'मति विना मर्द अरु नूर विना नारी कहा'[2] तथा 'ग्वाली के रसिक कान्ह काली के दवन जू'[3] में सामन्ती धारणा को ही व्यक्त किया है। कृष्ण-वर्त्मानुयायी कवियों 'किहिं रस रसिक ढरै'[4] और चतुर्भुज दास तो रसिक गोपाल को रस के वश में ही मानते हैं।[5] विद्यापति की भांति परमानन्द भी प्रेम-कथा को ही 'अकथ-कथा' कहते हैं।[6] 'नागर' पुरुष परवर्ती रीतिकाल में 'रसिक' पुरुष बन गया। 'कृष्ण वर्त्म' को कवियों ने इतना अधिक आकर्षक पाया कि कुछ ने राम को भी रसिक बनाने में कसर नहीं छोड़ी।

आधुनिक काल का पूर्वार्ध राष्ट्रीयता का और उत्तरार्ध अन्तर्राष्ट्रीयता का है। राष्ट्रीयता में विराट पुरुष का स्वरूप 'राष्ट्र-पुरुष' बना और अन्तर्राष्ट्रीयता में 'विश्व-मानव'। राष्ट्रपुरुष के स्वरूप की अभिव्यक्ति सब से अधिक माखन लाल चतुर्वेदी की कविताओं में हुई। दिनकर की कविताओं में भी राष्ट्रपुरुष की विराटता के दर्शन की ललक है। राष्ट्र-धर्म धर्म का, राष्ट्र-प्रेम काम का, राष्ट्र-समृद्धि अर्थ का और राष्ट्र-मुक्ति, मुक्ति का प्रतीक बन कर पुरुष के पुरुषार्थ को स्पष्ट करते हैं। विश्व-धर्म, विश्व-काम, विश्व-समृद्धि और विश्व-मुक्ति अभी मानव के साध्य हैं। बौद्धिक युग के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के साथ साथ उसके विराट स्वरूप की उपलब्धि का आधार व्यक्ति ही हो सकता है। हिन्दी के एक मात्र प्रसाद जी ने ही वैदिक विराट पुरुष को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में शैव-दर्शन के आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कामायनी में किया है।

यद्यपि 'कृष्णवर्त्म' के प्रेम का आध्यात्मिक पक्ष धूमिल पड़ गया था, किन्तु प्रसाद जी ने शैव दर्शन के माध्यम से उसे पुनः महत्त्व प्रदान किया। नर-शक्ति-शिव का त्रिक कामायनी में अधिक स्पष्ट हुआ है, यह जीव-ब्रह्म की अद्वैतवादी उपनिषद् परम्परा से भिन्न नहीं है। शिव ही चेतन पुरातन पुरुष है, भेद बुद्धिपरक जीव ही नर है, श्रद्धा ही अनुग्रह स्वाभावा पराशक्ति है, वही पूर्ण काम की प्रतिमा है।[7] प्रेम से ही हृदय जाग्रत होता है। पराये में भी अपने पन की अभेद भावना जागती है; यह भेद में

---

१. ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥
रा० च० मा०॥

२. गंग कवित्त ३९६

३. वही १२

४. सूर सागर भाग २ पद ३५

५. रसिक गोपाल रसिक रस रिझवत।
चतु० पद २९६।

६. परमानन्द स्वामी की लीला अकथ कथा नहिं जानी।
परमानन्द सागर ३३७।
परमानन्द प्रेम कथा सबहिन ते न्यारी।
प० सा० १३१२।

७. वह चेतन पुरुष पुरातन, निज शक्ति तरंगायित था।
कामायनी पृ० ७७। तंत्रालोक भाग २ आ० ३।६८
उस ज्योति मयी को देव कहो, कैसे कोई नर पाता है।
का० पृ० ७७
थी पूर्ण काम की प्रतिमा। का० पृ० २९०
तत्र भेद प्रधानो नरः, भेदाभेद प्रधाना शक्तिः,
केवलमभेद प्रधानः शिव इति। परात्रिंशिका विवरण
पृ० ७३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति कराने वाली शक्ति है।[1] चेतन शिव के लीला-विलास को ही विश्व समझ लेने वाले के लिए विश्व-प्रेम और विश्व-कल्याण की ओर उन्मुख हो जाना सरल है। व्यिष्ट से समष्टि-प्रेम की ओर बढ़ना, शिवत्व एवं अपने आनन्दमय स्वरूप की उपलब्धि के लिए आरोहण करना ही है।[2] प्रसाद जी न संसार को दुःखमय मानते थे और न दुःख-नाश के उपाय सोचने को पुरुषार्थ; दुःख-सुख तो इस आनन्दमय विश्व के धूप-छांह मात्र हैं।[3] यह विश्व र्म रंगस्थल है और दुःख सुख भूमा का मधुमय दान।[4] भेद बुद्धि का त्याग न करने वाला ही शैव दर्शन का पशु है, जिसे शिव की वामाशक्ति जकड़ लेती है।[5]

निष्कर्ष —

इन तथ्यों को ध्यान में रख कर कहा जा सकता है कि वैदिक 'पुरुष' कल्याण-पथ का पथिक, श्रेमाण और गतिशील था, किन्तु उत्तरोत्तर उसका विराट रूप वामन बनता चला गया है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् काल में पुत्र, वित्त और लोकैषणा ने उसे आधा, गृहस्थी, यथाक्रतु तो बना ही दिया है, वह 'अंगुष्ठ-पुरुष' मात्र रह गया है। बौनी प्रजा, राजा में ही अपने विराट स्वरूप का दर्शन करने लगी है। सूत्र काल में पुरुष का सामान्य रूप जीव, भौतिक विराट रूप ईश्वर या राजा तथा स्मरणीय रूप दिव्य पुरुष या ब्रह्म रह गया है। वह यज्ञ-मय होकर रह गया है। जीव दुखी है, वह कर्म फल का भोक्ता है, आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति ही पुरुषार्थ है; साधन कोई भी हो जीवन्मुक्ति ही साध्य है; दर्शनों की इस धारणा ने कर्मजन्य पौरुष का ह्रास कर पुरुष को संसार से पलायन की ओर उन्मुख किया। रामायण में वाल्मीकि ने राजा का उदात्त, गुणवान्, वीर्यवान् और लोक-संग्रही रूप प्रस्तुत कर तत्कालीन समाज के समक्ष एक बार पुनः वैदिक पुरुष के उत्तम रूप को प्रस्तुत किया। महाभारत तक आते आते पुरुष के भौतिक विराट रूप राजा का स्वरूप भी मलिन हो गया। राज्य-सत्ता व्यक्तिगत सुखोपभोग का साधन बन कर रह गयी थी और त्यागपूर्वक भोग का आदर्श ही नहीं लुप्त हो गया था अपितु अर्जुन जैसा वीर भी दिशा एवं लक्ष्य हीन बन कर रह गया था। गीता ने एक बार पुनः विराट पुरुष और मनुष्य के वास्तविक सम्बन्ध को उजागर किया। क्षर-अक्षर, लोक और श्रेष्ठ में भी उसने क्षर और लोक के देव और असुर रूप में दो वर्ग बना दिए। 'नृषु पौरुषम्' ही दिव्य पुरुष के बोध का प्रतीक रह गया। कौटिल्य ने राजा को 'भर्त्ता' बना दिया, फिर सामान्य जीव स्वाभाविक रूप से सेवक मात्र रह गया।

कालिदास की दृष्टि में हरि ही पुरुषोत्तम हैं, शेष क्षितीष, नृपति आदि। पुरुष का रूप 'मनस्वी' बना जो चार पुरुषार्थों में केवल अर्थ और काम का साधक रह गया। समुद्रवसना पृथ्वी और नारी की प्राप्ति ही पुरुषार्थ था, लोक-संग्रही रूप विलुप्त हो गया। जाति, वर्ण एवं सामन्तवादी व्यवस्था से पीड़ित पुरुष का स्वर सातवीं शती में 'दैवायत्तं कुले जन्ममदायत्तं तु पौरुषम्' के रूप में उभरता अवश्य है, पर सामन्ती-व्यवस्था ने इसे व्यक्ति-गत वीरता का प्रतीक बना कर अपने अनुकूल ढाल लिया।

सामान्ती व्यवस्था में आदर्श पुरुष वह था, जो योद्धा, राजा और मूर्तिमान् काम हो। विरक्त वर्ग का आदर्श सिद्ध था। स्वयंभू से विद्यापति तक पुरुष का यही रूप

---

१. प्रति फलित हुई सब आँखें, उस प्रेम ज्योति विमला से।
सब पहचाने से लगते, अपनी ही एक कला से॥
कामा० आनन्द०।
प्रेम-प्रेम सों होय, प्रेम सो पारहि जैए।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैए।
भ्रमर गीत १७। सूर

२. शिव समष्टि का होता है क्योंकि विश्वमय है
विश्वेश रहस्य प्रेम के ये उसके। प्रेम पथिक पृ०२६

३. एक घूंट, पृ० १६, कामायनी पृ० २४१

४. कामा० पृ० ७५, श्रद्धा सर्ग।
यो वौ भूमा तत्सुखम्। छान्दो० ७।२३।
शिवशक्ति सामरस्यमय ज़गदानन्द रूपम्।
तन्त्रालोक टीका पृ० ८४

५. तन्त्रालोक भा० ८। आ १३।३१४-१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्त हुआ है। विद्यापति के समय पुरुष नागर, नारी नागरी और प्रेमकथा, अकथ कथा बनी। प्रेम में कपटी के लिए 'कुपुरुष' भी प्रयुक्त हुआ। सन्त और सूफी भी इस अकथ-कथा से अप्रभावित नहीं रहे। जायसी ने साहस को, उच्चारोहण को पुरुष के पौरुष का प्रतीक अवश्य माना। तुलसी ने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप को सामने अवश्य रखा। यह निगमागम का प्रभाव था।

'कृष्ण वर्त्म' ने पुरुषोत्तम को मायिक मनुष्य वेशभृत् मान कर पुरुष को भोगिनाथ और नारी को भोगिन्यः बना दिया। इसने पुरुष को रसिक और नारी को रसिकनी बना दिया। माया के आवरण ने पुरुष के आलोकमय रूप को आवृत कर लिया।

आधुनिक काल 'राष्ट्रपुरुष' और विश्व मानव की धारणा को लेकर चला। प्रसाद ने प्रथम वार शिव को पुरातन पुरुष, जगत को उसकी लीला, भेद बुद्धि वाले को नर, आनन्द शक्ति को श्रद्धा या कामायनी तथा श्रद्धा-विहीन को पशु रूप में चित्रित किया। शैव दर्शन के आधार पर उन्होंने प्रेम कला और काम कला को हृदय के विस्तार की प्रेरणाशक्ति के रूप में प्रस्तुत कर उसका रीतिकाल से भिन्न रूप दिखलाया। शिव ही विश्वेश और विश्व मानव है, और शिवत्व की उपलब्धि ही पुरुषार्थ है। प्रसाद का 'पुरुष आलोकमय, मंगलमय, चेतनामय, समरस, अखंड, इच्छा-क्रिया-ज्ञान का केन्द्र विन्दु और आनन्द वेश है। वही कह सकता है—

हम केवल एक हमी हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो,
जिसमें कुछ कमी नहीं है। कामा० पृ २८७

'दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव कहरे! यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता॥
कामा० २८९, अष्टम संस्करण।

प्रसाद ने जिस आरोहणशील पुरुष की अवतारणा की है, वह राष्ट्रीयता की संकीर्ण सीमा से आबद्ध नहीं विश्वमानवता की व्यापक सीमा में व्याप्त वैदिक विराट पुरुष ही है।

हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में चेतना के धरातल पर इस विराट पुरुष के अवतरण के बाद भी यह प्रक्रिया मन्द नहीं पड़ी है। आत्म स्वार्थ और लोक क्षेत्र में ही नहीं राष्ट्र-स्वार्थ और विश्व-कल्याण में अब भी संघर्ष चल रहा है तथा पुरुष की द्विविध प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। पुरुष गतिशील तो है, पर उसकी गति अधः और ऊर्ध्व दोनों ओर ही है। पन्त ने अपने काव्य में इन दोनों प्रवृत्तियों का अत्यन्त स्पष्ट चित्रण किया है। पुरुष को अपने विराट स्वरूप को प्राप्त करने के लिए मनु की तरह प्रचुर संघर्ष करना है। पन्त के ही शब्दों में—

जाति वर्ण गौरव से पीड़ित वर्ग राष्ट्र स्वार्थों में सीमित।
जन समुद्र रे आज अचेतन अधः प्रवेगों से आन्दोलित॥
वार्धक्य।

फ्रायड के से नर-नारी, गत रीति-काव्य में मूर्तित।
उपमन कुंजों में करके, निज काम ग्रंथियां मुंचित॥
लोकायतन पृ. १५२

अचेतन उपचेतन के चित्र, मात्र अति वैयक्तिक उच्छ्वास।
रेंगती कला पंक कृमि तुल्य, अधोमुख कुत्सित बुद्धि विलास॥
लोका० २७८

जाति, वर्ण, वर्ग, राष्ट्र के स्वार्थों से जन-समुद्र पीड़ित है। फ्रायड के अनुयायी कवियों ने अचेतन, उपचेतन के चित्र अंकित करने प्रारम्भ कर दिए हैं। काम ग्रंथियों को कला का रूप देना अधोमुखी बुद्धि-विलास की ही अभिव्यक्ति है। कुण्ठा, संत्रास आदि को पुरुष का पौरुष क्यों सहेगा। आज का मानव नभ-ग्रह चारी बन कर धरा से ऊपर ब्रह्माण्ड के विविध छोरों को स्पर्श करने लगा है। सारा विश्व ही तीव्रता से गतिशील है—

बदलता रभस वेग से विश्व,
मनुज के तन, मन, जीवन, प्राण।
महत् युग चित्रपटी में वेग,
चेतना का अजेय आख्यान॥ लोका० पृ.२५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तो मानव की गति-मति पर निर्भर करता है कि कि वह देव या दनुज बने—

यह मानव मति गति पर निर्भर,
वह हो देव दनुज के आश्रित।

आत्म हीन मानवता त्यों ही,
दानवता की प्रतिमा कुत्सित ।। नव निर्माण ।।

चेतना के धरातल पर ही विराट पुरुष के विराट रूप को प्रस्तुत करना प्राथमिक आवश्यकता है। मानव और मानवता-प्रेमी ही दिव्य-चेतना का सन्देश सुना सकता है।[1] सत्य और अहिंसा ही मानवीय स्पर्श भर सकते हैं; इस लिए पन्त ने महात्मा गाँधी को पुराण पुरुष के रूप में चित्रित किया है—

तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण हे चिर नवीन
पट पर पट उठा दिए मन से
कर नर चरित्र का नवोत्थान।
आए तुम मुक्त पुरुष कहने—
मिथ्या जड़ बन्धन, राम सत्य;
नानृतं जयति सत्यं, मा भैः,
जय ज्ञान-ज्योति तुमको प्रणाम ।।बापू के प्रति।

गा गा एकोऽहं बहुस्याम। बापू के प्रति।

इस नव-पुराण पुरुष ने सत्य अहिंसा का जो पथ दिखलाया, वही शिवत्व की ओर जाता है। आज का सत्याग्रह यही है कि मानवता में देश और जाति लीन हो जाँय।[2] पन्त ने 'प्रेमलय' और 'शक्तिपात' के प्रयोग द्वारा शिवत्व सिद्धि को ही पुरुषार्थ माना है—

जगत नहीं, मैं नहीं,
प्रेमलय में ईश्वर साकार। किरण वीणा।
जब भू मानव होगा संस्कृत,
शक्तिपात से मनः शिराएं होंगी झंकृत ।।
पौ फटने से पहले।

कवि का लक्ष्य सौन्दर्य में सत्य और सत्य में शिव की प्रतिष्ठा ही है। इसी से भू मानव संस्कृत होगा। इस सुसंस्कृत भू मानव से ही विराट पुरुष साकार होगा। समस्त विश्व एक मन्दिर बन जाएगा। सर्वक्षेम की तभी स्थिति आयेगी। पुरुष की गति का लक्ष्य भी यही है—

एक मनुज हो, एक धरा हो,
यही भागवत जीवन निश्चित। नव निर्माण।

अणु-संत्रस्त मानव के लिए कोई गति नहीं है और हिन्दी सहित सभी भारतीय कवियों को अपनी महती सांस्कृतिक देन को सामने रख कर ही विश्व मानव की प्रतिष्ठा करनी है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग भी नहीं है—

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।'

रीडर, हिन्दी-विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय।

---

१. मैं मानव प्रेमी। मैं दिव्य-चेतना का संदेश सुनाता।
गीत विहग। पन्त !

२. नव-निर्माण। पन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्यप्रदेश की प्रागैतिहासिक संस्कृति

डा० कृष्णदत्त वाजपेयी

आधुनिक अनुसंधानों के आधार पर भारतीय पुरावृत्त को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया गया है :

१. प्राक् ऐतिहासिक काल (ईसवी पूर्व चतुर्थ सहस्राब्दी के पहले का युग),

२. आद्यऐतिहासिक काल (ई० पू० चतुर्थ सहस्राब्दी से लेकर ई० पूर्व सातवीं शती तक का युग),

३. ऐतिहासिक काल (ई० पू० सातवीं शती से लेकर परवर्ती युग)।

उक्त तीनों कालों में से द्वितीय एवं अपेक्षाकृत तृतीय के बारे में विशेष जानकारी उपलब्ध है। पिछले सवा सौ वर्षों में देश के विभिन्न भागों में उत्खनन तथा शोध के जो कार्य किए गए हैं उनसे इन दोनों युगों की संस्कृति की जानकारी के लिए पुष्ट प्रमाण प्राप्त हुए हैं। उनके आधार पर देश के प्राचीन भूगोल, राजनीतिक इतिहास, धर्म, भाषा, साहित्य, कला और लोकजीवन पर प्रभूत प्रकाश पड़ा है।

जहाँ तक प्रागैतिहासिक संस्कृति का सम्बन्ध है, उसके बारे में हमारा ज्ञान अपर्याप्त है। इसका मुख्य कारण यह है कि उस युग के विषय में आधारभूत प्रमाण बहुत कम प्राप्त हुए हैं। उनके आधार पर ही प्रागैतिहासिक भारतीय संस्कृति की झांकी प्रस्तुत करने का प्रयास विद्वानों द्वारा किया गया है।

मध्यप्रदेश अपने नामानुसार भारत के बीच में स्थित है। इस प्रदेश के बड़े भाग पर विंध्य पर्वत अपनी शृंखलाएं फैलाए हुए है। इस प्रदेश की मुख्य नदी नर्मदा है, जिसके दक्षिण के भूभाग पर महादेव तथा सतपुड़ा नामक पर्वतमालाएं हैं। सतपुड़ा का एक प्राचीन नाम ऋक्ष पर्वत था।

नर्मदा के अतिरिक्त मध्यप्रदेश की अन्य बड़ी नदियां चंबल, सिंध, बेतवा, धसान, केन, टोंस, सोन और महा नदी हैं। पर्वत-मालाओं तथा नदियों के अतिरिक्त मध्य-प्रदेश-क्षेत्र का अधिकांश प्राचीन काल में जंगलों से ढका हुआ था। यहाँ न उत्कट गर्मी थी, न अधिक सर्दी। अतः यहाँ पशु-पक्षी बड़ी संख्या में रहते थे।

मानव ने भी आदिम काल से मध्यप्रदेश के भूभाग को निवास के लिए सुविधाजनक पाया। प्रागैतिहासिक युग में यहाँ मानव बस्ती का आरम्भ कब हुआ, यह निश्चित रूप से कहना सम्भव नहीं। अनुमानतः अब से, आठ या सात हजार वर्ष पहले यहाँ मनुष्य ने बसना प्रारम्भ किया। मानव के लिए यहाँ की जलवायु अनुकूल थी। साथ ही जीविका के लिए पशु-पक्षी तथा कंदमूल-फल बड़ी संख्या में इस क्षेत्र में उपलब्ध थे। प्रागैतिहासिक मानव के लिए प्राचीन साहित्य में शबर, निषाद आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं। इन मानवों के कुछ शरीर-अवशेष उन पर्वत-गुफाओं में मिले हैं जहाँ वे रहते थे। रायसेन जिला के खरवई नामक स्थान की गुफाओं में आदिम जनों की कई खोपड़ियां प्राप्त हुई हैं।

प्राचीन मध्यप्रदेश में आदिम जन घने वृक्षों के नीचे या उनकी शाखाओं पर अथवा पहाड़ों की कंदराओं (शिलाश्रयों) में रहते थे। अपना उदर-पोषण वे प्रायः शिकार से करते थे। शिलाश्रयों में रहने वाले लोग कभी-कभी गुफाओं की भीतरी छतों और दीवारों पर अनेक ढंग की रोचक चित्र-रचना करते थे। उनके द्वारा बनाए गए चित्र भारत में सबसे अधिक मध्यप्रदेश में प्राप्त हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। मंदसौर, शिवपुरी, नरसिंहगढ़, सीहोर, रायसेन, होशंगाबाद, सागर, छतरपुर, पन्ना, रीवा, अम्बिकापुर तथा रायगढ़ जिलों के अनेक स्थानों में इन आदिम जनों के निवास के अवशेष मिले हैं। इनमें पत्थर के अनेक प्रकार के औजार तथा मिट्टी के बर्तन भी हैं। उन लोगों के बनाए हुए चित्रों में से बहुत से आज भी उनके द्वारा सैकड़ों वर्ष पूर्व आवासित गुफाओं में सुरक्षित हैं। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर तथा बांदा जिलों के कई पर्वतीय स्थानों में भी ऐसे अनेक गुफा-चित्र उपलब्ध हैं।

मध्यप्रदेश में उल्लेखनीय गुफा-चित्र निम्नलिखित स्थानों से मिले हैं :

होशंगाबाद जिला में आदमगढ़, पचमढ़ी तथा बोररानी; सीहौर में बरखेड़ा और भोपाल; रायसेन जिला में खरवई, हाथीपोल एवं पुतलीकरार; सागर में आबचंद, नरयावली तथा बरौदा छतरपुर में देवरा और रायगढ़ जिला में सिंहनपुर एवं कबरापहाड़।

इन स्थानों में बहुसंख्यक मनोरंजक गुफाचित्र मिले हैं। कहीं-कहीं उनके पुराने चटकीले रंग आज भी सुरक्षित हैं। कुछ पर बाद के युगों में रंग चढ़ाए गए और परवर्ती चितेरों ने इस प्रकार पुराने चित्रों पर अपनी कारीगरी दिखाई।

अधिकांश गुफा-चित्रों में लाल, सफेद, काला, नीला या पीला रंग प्रयोग में लाया गया। कई जगह भित्तियों पर पहले लाल या सफेद रंग की पृष्ठभूमि देकर उस पर चित्र उरेहे गए। प्राचीन गुफा-चित्रों से वहाँ निवास करने वाले लोगों की जीवन-चर्या तथा रुचि का पता चलता है। मुख्यतया जो दृश्य इन चित्रों में मिलते हैं वे हैं : विविध आयुधों से पशु-पक्षियों का शिकार, जानवरों की लड़ाई, मानवों में पारस्परिक युद्ध, पशुओं पर सवारी, गीत, नृत्य, पूजन, मधु-संचय तथा घरेलू जीवन सम्बन्धी अनेक दृश्य मिलते हैं। जिन जानवरों का शिकार किया जाता था वे बाघ, हिरण, भैंसा, बैल, हाथी, गैंडा, शूकर आदि थे। ये जानवर मध्यप्रदेश के गुफा-चित्रों में विशेष रूप से मिलते हैं। इनके अतिरिक्त रीछ, कुत्ता, बकरी, बन्दर, मोर आदि भी मिले हैं।

जिन गुफाओं में आदिमजन रहते थे वहाँ अनेक पशु-पक्षियों की हड्डियां भी मिली हैं। मिर्जापुर की गुफाओं में सुअर के शिकार के कई रोचक चित्र हैं। शिकार तथा रक्षा के लिए जिन आयुधों का प्रयोग किया जाता था उनमें भाला या बरछा, धनुष-बाण, चक्र, तलवार तथा ढाल मुख्य हैं। कुछ चित्रों में युद्ध करते हुए लोगों को एक हाथ में मूंठदार तलवार तथा दूसरे में ढाल लिए हुए प्रदर्शित किया गया है। परवर्ती काल के कुछ चित्रों में युद्ध के ऐसे दृश्य मिले हैं जिनमें घोड़ों पर सवार सरदार अपने सिर के ऊपर छत्र लगाए जा रहे हैं। उनके आगे-पीछे अन्य लोग हाथों में तलवार आदि आयुध लिए हुए पैदल चल रहे हैं। कई जगह शिकारियों और योद्धाओं के विचित्र पहनावे मिले हैं। बरोदा गाँव (जिला सागर) के समीप एक गुफा-चित्र में एक योद्धा शकों-जैसी ऊंची टोपी और लम्बा कोट पहने दिखाया गया है। अनेक चित्रों पर हाथी पर सवार लोग दिखाए गए हैं। व्याघ्रों (बाघों) के चित्र मध्यप्रदेश की अनेक गुफाओं में बड़ी संख्या में मिलते हैं। इस प्रदेश में बाघ बहुत थे। आबचन्द में एक स्थान पर चार भयंकर बाघ खड़े दिखाए गए हैं। उनके बीच एक पुरुष खड़ा है। दो बाघों की आपस में लड़ाई भी कई स्थानों पर चित्रित है। एक चित्र में दो हाथियों का युद्ध दिखाया गया है।

उक्त चित्रों से पता चलता है कि प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक परम्परा प्रारंभिक इतिहास-युग में भी जारी रही। लोकजीवन की यह धारा इस प्रदेश में दीर्घ-काल तक प्रवाहित होती रही।

बरखेड़ा, खरवई, रायसेन, पचमढ़ी आदि की गुफाओं में विविध पशु-पक्षियों के मनोरंजक चित्रण मिले हैं। इनमें से कुछ पालतू बना लिए गए थे। आबचन्द में एक स्थान पर एक व्यक्ति बैल को रस्सी से खींचता हुआ दिखाया गया है। लम्बी सींग वाले अरना (आरण्यक) भैंसे तथा विविध प्रकार के मृगों के चित्रण अधिक मिलते हैं। होशंगाबाद के समीप आदमगढ़ गुफा में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशालकाय अरना भैंसा चित्रित है। भैंसे का इतना बड़ा चित्र अन्यत्र नहीं मिला।

आमोद-प्रमोद तथा घरेलू जीवन-सम्बन्धी विविध दृश्य इन चित्रों में मिलते हैं। लोगों में नृत्य और संगीत का शोक था। पचमढ़ी-वर्ग के चित्रों तथा रायगढ़ और सागर जिलों के गुफा-चित्रों में कई स्त्री या पुरुष एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए नृत्य की मुद्रा में खड़े दिखाए गए हैं। कई स्थानों पर नृत्य-मुद्रा में सात स्त्रियों या पुरुषों का आलेखन है। सात की संख्या का प्राचीन चित्रकारों के लिए विशेष महत्व जान पड़ता है। वाद्य-यंत्रों में बड़ी और छोटी ढोलकें, बांसुरी, सितार आदि मिले हैं। पचमढ़ी तथा रायगढ़ के चित्रों में मधुमक्खियों को भगा कर मधु इकट्ठा करने के दृश्य हैं। बनियाबेरी (पचमढ़ी) की एक गुफा में शाखाओं पर खेल करते हुए शाखामृग (बन्दर) दिखाए गए हैं। नरयावली (जिला सागर) के एक गुफाचित्र में नटों को अनेक करतब दिखाते हुए अंकित किया गया है। बर्तन, भांड़े, डलिया, मोढ़े आदि के आलेखन कई प्राचीन गुफा-चित्रों में मिले हैं। कुछ चित्रों में कल्पवृक्ष, सूर्य, चंद्र, स्वस्तिक आदि प्रतीक प्रदर्शित हैं। बरखेड़ा में यज्ञ, शिव, गणेश, कार्तिकेय, देवी आदि के चित्र उल्लेखनीय हैं। इनमें से कई प्रारंभिक ऐतिहासिक युग के हैं। मध्य-प्रदेश के ये प्राचीन गुफा-चित्र यहाँ के आदिम वासियों की जीवन की कितनी ही मनोरंजक गाथाएं आज तक संजोए हुए हैं।

नर्मदा, चंबल, बेतवा, सोन आदि नदियों तथा उनकी सहायिकाओं के तटों से पाषाण तथा धातु के बहुसंख्यक उपकरण मिले हैं। विभिन्न शैलियों के आधार पर इन उपकरणों को पूर्व, मध्य तथा नव पाषाण-युगों का माना गया है। इनका उपयोग आयुध रूप में तथा दैनिक जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता था। प्राचीन शैलगृहों से भी ऐसे उपकरण मिले हैं।

इन उपकरणों की बहुत बड़ी संख्या इस बात का प्रमाण है कि मध्यप्रदेश में अनेक भागों में प्रागैतिहासिक तथा आद्यैतिहासिक युगों में लोग रहते थे। द्वितीय काल में लोगों को कृषि तथा पशुपालन का ज्ञान हो गया था। पत्थर के बेडौल तथा सुगढ़ औजारों के अतिरिक्त इस काल में मानव को तांबे का ज्ञान भी हो गया था। तांबे के बहुसंख्यक उपकरण मध्यप्रदेश के बालाघाट जिले में गुंगेरिया नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं। इतनी बड़ी संख्या में तांबे के प्रागैतिहासिक हथियार तथा औजार भारत में अन्यत्र नहीं मिले।

प्राचार्य तथा अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृत तथा पुरातत्व विभाग,
सागर विश्व विद्यालय,
सागर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छायानाट्य विमर्श

डा० रामजी उपाध्याय

संस्कृत के जिन नाटकों में आवश्यकतानुसार वास्तविक पात्र के स्थान पर उसकी छाया का समावेश किया है, उन्हें तेरहवीं शती से छायानाटक नाम देने की रीति चली। पात्रों की छाया से तात्पर्य उनकी परछाई नहीं है, अपितु बनावटी पात्र हैं, जिन्हें छायापात्र या मायापात्र कहना समीचीन है। छायापात्र पांच प्रकार के होते थे—

१. माया (इन्द्रजाल) के द्वारा किसी पात्र के सदृश पात्र बनाकर उसे रंगमंच पर मूल पात्र की भाँति आचरण कराया जाता था, जैसे दूतांगद में सीता के स्थान पर मायामैथिली।

२. मूल पात्र के स्थान पर उसकी ऐसी मूर्ति रंगमंच पर रख देना, जिसे दर्शक ही नहीं, रंगमंच के पात्र भी यह न समझ सकें कि यह मूल पात्र से भिन्न है। जैसे धर्माभ्युदय में संन्यास लेने के पश्चात् राजा दशार्णभद्र के स्थान पर उसकी मूर्ति।

३. मूलपात्र या पात्रों का चित्र। यह उनसे सम्बद्ध किसी घटना का चित्रपट पर आलेखन होता था। यथा उल्लाघराघव के सप्तम अंक में वृकमुख राम और लक्ष्मण का स्वरूप चित्रपट पर अंकित करके उसके नीचे राम, सुग्रीव, विभीषण और जाम्बवान् का संवाद लिखकर कार्पटिक को पढ़ने के लिए देता है, जिसे वह रंगमंच पर प्रेक्षकों को पढ़कर सुनाता है।

४. मूल पात्र का अपनी वेशभूषा परिवर्तित करके अपना नाम, गोत्रादि बदलकर प्रायः अज्ञात रहकर कार्य करना। यथा सुभद्रापरिणयन में अर्जुन तीर्थयात्रा करते हुए प्रच्छन्न रह कर सुभद्रा का अपहरण करता है।

५. अमानव की भूमिका में मानव पात्रों का रंगमंच पर आना। यथा शामामृत में हरिणादि पशुओं की भूमिका में मनुष्य-पात्रों का संवाद में भाग लेना।

दूतांगद, धर्माभ्युदय, उल्लाघराघव, सुभद्रा परिणयन और शामामृत के लेखकों ने अपनी-अपनी कृतियों को छाया नाटक कहा है। क्यों? यह गत पचास वर्षों से विवादास्पद प्रश्न रहा है, जिसका समाधान प्रस्तुत है।

अब तक प्रायः विद्वानों ने छाया-नाटकों में छायात्मक (परछाई का) अभिनय ढूँढ़ने का प्रयास किया है और निराधार प्रमाणों से त्रुटिपूर्ण सुझाव दिए हैं। कतिपय विद्वान् छाया को सार या संक्षिप्त संस्करण समझकर दूतांगदादि को बड़े नाटकों का सारभूत बताते हैं। ये मत अप्रामाणिक और निराधार हैं।[1]

डा० कीथ का मत है—

It is natural to suggest, as did Pischal that the Dutanganda of Subhata, which is styled a Chayanataka, really was a shadow. On the other hand, Rajendralalamitra suggested that the drama was perhaps simply intended as an enteracte, and this may be justified on the interpretation of the term of drama in the from of a shadow, i.e. reduced to the minimum for representation in such a form. Sanskrit Drama. P. 269.

डा० डे का मत है—

While the connotation of the term Chayanataka itself is extremely dubious, the shadow-play theory, however, appears to be entirely uncalled for and without foundation, and there is hardly any characteristic feature which is not otherwise intelligible by purely historical and literary considerations. History of Skt. Lit. P. 501.

If we leave aside the self-adopted title of Chayanataka, these plays do not differ in any respect from the ordinary play. Ibid P. 504.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छाया क्या है—यह समझने के लिए नीचे लिखी विवस्वान् और सरण्यू (संज्ञा) की कथायें उपादेय हैं—

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद्यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ।।

ऋग्वेद १०-१७-२

सृष्ट्वा मर्तुः परोक्षं तु सरण्यूः सदशीं स्त्रियम् ।
निक्षिप्य मिथुनं तस्यामश्वा भूत्वोपचक्रमे ।।

बृहद्देवता ७-७-१

ततस्तेजोमेयं रूहमसहन्ती विवस्वतः ।
नारीमुत्पादयामास स्वशरीरादनिन्दिताम् ।।
ततस्तेजोमयं रूपमसहन्ती विवस्वतः ।।
नारीमुत्पादयामास स्वशरीरादनिन्दिताम् ।
त्वाष्टीस्वरूपेण नाम्ना छायेति भामिनी तदा ।।
किंकरोमीति पुरतः स्थितां तामभ्यभाषत ।
छाये त्वं मम भर्तारमस्मदीयं वरानने ।।
अपत्यानि मदीयानि मातृस्नेहेन पालय ।
तथेत्युक्तवा तु सा देवमगमत् कापि सुव्रता ।।
कामयामास देवोऽपि संज्ञेयमिति चादरात् ।
जनयामास तास्यां तु पुत्रं च मनुरूपिणम् ।।

मत्स्यपुराण ११-४-८

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद की सवर्णा, बृहद्देवता की सदृशी स्त्री और मत्स्य पुराण की छाया समानार्थ हैं और छाया का अभिप्राय समान स्त्री या पुरुष है, जो माया (इन्द्रजाल) द्वारा बनाया गया हो।

छाया का उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग हरिवंश में नीचे लिखे पद्य में मिलता है—

मायया स्य प्रतिच्छाया दृश्यते हि नटालये
देहार्धेन तु कौरव्य सिषेवेऽसौ प्रभावतीम्

विष्णुपर्व ९४-३०

अर्थात् माया के द्वारा प्रद्युम्न की प्रतिच्छाया उस भवन में दिखाई देती थी, जहाँ वह नटों के साथ रह चुका था। वास्तविक शरीर से वह प्रभावती के साथ रहता था।

आरम्भ में छाया का मत्स्यपुराणीय अर्थ छायानाटक नाम रखने में ग्रहण किया गया है। शनैः शनैः किसी भी प्रकार के सादृश्य से लक्षित पात्रों, मूर्तियों या चित्रों वाले नाटकों को छायानाटक नाम दिया गया, जैसा इस निबन्ध के आरम्भ में लिखा गया है।

संविधानक

संस्कृत नाटकों के नाम उनके संविधानक के नाम पर भी रखने की रीति रही है। इस नामकरण पद्धति का उल्लेख कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में इस प्रकार किया है—

अद्भुतं पुनिरिदं यत् सारस्वत-संविधानकलक्षण—साक्षरेण नाना सुनिवेश्यते। यथा—अभिज्ञान शाकुन्तल—मुद्राराक्षस—प्रतिमानिरुद्ध—मायापुष्पक—कृत्यारावण—छलितराम—पुष्पदूषितकादीनि नामानि।

वक्रोक्तिजीवित पृष्ठ २२५

छायानाटकों में छाया संविधानक है। वास्तव में छायानाटक एक कोटि है। नाटकों के नाम तो कुछ और ही हैं।

नाटकों में अनेक संविधानक रहते हैं। प्रायः प्रत्येक अंक में एक संविधानक होता है, जिसके अनुसार उस अंक का नाम रखा जाता है।

भवभूति ने उत्तररामचरित के प्रत्येक अंक का नाम उसके संविधानक के अनुसार रखा है। इस नाटक का तृतीय अंक छायाअंक है। अनेक संविधानकों में से किसी एक को कवि कलात्मक दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानकर उसके अनुसार नाटक का नाम रख देता है।

भास ने प्रतिमा को प्रमुख संविधानक मानकर राम-चरित-विषयक नाटक का नाम प्रतिमा रखा, वैसे ही सीता की छाया (माया मैथिली) को संविधानक मानकर सुभट ने दूतांगद का छायानाटक कहा है।

कूटघटना तथा छायापात्र

कूटघटना के प्रसंग में छायापात्र प्रायः प्रयुक्त किये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते हैं। जहाँ किसी काम को करने के लिए किसी पात्र की अपने मौलिक रूप में असमर्थता होती है, वहाँ उस पात्र के स्थान पर छायापात्र का प्रयोग देखा जाता है। दूतांगद में वास्तविक सीता अंगद से इस प्रकार की बातें नहीं कर सकती थी, जैसी मायामैथिली ने की।

कूट घटनाओं के लिए भास ने स्वप्नवासवदत्त में वासवदत्ता और यौगन्धरायण को प्रथम अंक से प्रायः अन्त तक छायापात्र बनाकर रखा है। किरातार्जुनीय में शिव का किरात बनना सुविदित है। कूट घटना के लिए रामचन्द्र के सत्यहरिश्चन्द्र में अनेक पात्रों का छाया पात्र बनना प्रत्यक्ष है। मुद्राराक्षस के अन्तिम अंक में चाणम्य ने राक्षस से बताया कि जिन्हें तुम चाण्डाल समझते हो, वे वस्तुतः सिद्धार्थक और समिद्धार्थक हैं।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेणी-संहार-नाटक एक मूल्यांकन

डा० ठक्कन मिश्र

संस्कृत साहित्य में नाटकों का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' 'नाटकान्तं कवित्वम्' इत्यादि वाक्यों में इसका महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। भरत मुनि ने नाट्य को 'नाट्य वेद' कह कर इसका महत्त्व वेदों के समान स्वीकार किया।

संस्कृत नाटकों का विकास-क्रम तथा वेणीसंहार का स्थान:

संस्कृत नाटकों का आरम्भ कब से हुआ इस सम्बन्ध में कोई भी सर्वसम्मत विचार निश्चित नहीं हो सका है। नाटकों के सम्बन्ध में प्राचीनतम ग्रन्थ भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' माना जाता है। इसमें रूपक के भेदोपभेदों तथा मंच आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। लक्ष्य-ग्रन्थों के निर्माण के बाद ही लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण होता है। अतः भरत मुनि के समय तक अनेक नाटकों का लिखा जाना तथा मंच पर उनका अभिनीत होना निश्चित है।

आदि काव्य वाल्मीकि-रामायण में नट, नर्तक आदि शब्दों का उल्लेख देखा जाता है। श्रीमद्भागवत में भी इसकी सत्ता का परिचय प्राप्त होता है। अग्निपुराण में तो 'नाटक निरूपणम्' नामक एक पृथक् अध्याय ही विद्यमान है। वहाँ रूपक के १० तथा उपरूपक के १८ भेदों का, सन्धियों, कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों का, विदूषक आदि नाटकीय पात्रों की स्थिति, वेष-भूषा आदि का भी विशद वर्णन किया गया है। इन वर्णनों से निश्चित है कि इस समय तक नाटक रचना तथा उनके अभिनय की परम्परा प्रचलित हो चुकी थी।

हरिवंश पुराण की एक कथा के अनुसार वज्रनाभ दैत्य की कन्या प्रभावती को प्राप्त करने के लिये श्रीकृष्ण की अनुमति से यादव लोग वज्रपुर में गये हैं। वहाँ उन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथावस्तु का अभिनय किया है। इस अभिनय को देखकर दैत्यगण अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं। उन्होंने अनेक प्रकार के वस्त्राभरण आदि यादवों को प्रदान किये। किस यादव ने किस पात्र का अभिनय किया था यह उल्लेख भी यहाँ वर्तमान है। हरिवंश पुराण की इस कथा से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियाँ भी अभिनय में भाग लेती थीं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुसार शिलालिन् नामक नटसूत्रकार हो चुके थे। इनका नाटकों के अभिनय की परिपाटी के सम्बन्ध में अपना विशिष्ट सम्प्रदाय था। महाभाष्यकार पतंजलि के उल्लेखानुसार 'कंसवध' तथा 'बलिवध' नामक नाटकों का अभिनय इस समय तक हो चुका था।

वात्स्यायन मुनि ने अपने 'कामसूत्र' में ६४ कलाओं का उल्लेख करते हुए २० वीं कला के रूप में नाटक को स्वीकार किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी नट, नर्तक, गायक, वादक आदि का उल्लेख वर्तमान है[1]।

उल्लिखित विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृत में नाटकरचना तथा उनके अभिनय की प्राचीनता असन्दिग्ध है। परन्तु उल्लिखित वर्णनों में निर्दिष्ट कोई भी नाटक आज उपलब्ध नहीं है। इन नाटकों के लेखकों का नाम भी आज ज्ञात नहीं है।

---

१. नट नर्तक गायक वादक वाग्जीवन कुशीलव शौभिका वा पूर्णप्रणिहिताः परमुपतिष्ठेरन् ।।—कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, अधिकरण ७, अ० १७, प्रकरण १२२-२३, पृ० १८६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्ध कृतियों के आधार पर अधिकांश विद्वानों ने संस्कृत का प्रथम नाटककार 'भास' को स्वीकार किया है। कालक्रमानुसार संस्कृत नाटककारों में विशाखदत्त के पश्चात् भट्टनारायण का नाम आता है। महाभारत की सभी प्रमुख घटनाओं को इन्होंने अपने इस नाटक में समाविष्ट किया है।

कथावस्तु का मूलाधार तथा मूलकथा में परिवर्तन :

वेणीसंहार नाटक की कथावस्तु का मूल आधार महाभारत है। नाटकीय उपयोगिता को ध्यान में रखकर लेखक ने इसकी कथावस्तु तथा पात्रों के चरित्र में यत्र तत्र कुछ परिवर्तन भी किये हैं। इस नाटक के दुर्योधन की प्रणय-क्रीड़ा का प्रदर्शन, कर्ण-अश्वत्थामा-वाक्कलह, चार्वाक राक्षस का प्रपंच, आदि कुछ कथांश कवि-कल्पित हैं।

नाटक का नामकरण :

नाटक का नाम शास्त्र-सम्मत है। "नाटक का नाम तद्गत प्रमुख कथावस्तु का प्रकाशक होना चाहिये[1]।" 'वेणीसंहार' नाम ही स्पष्ट करता है कि इस नाटक में द्रौपदी-वेणी-बन्धन की कथा की प्रमुखता है। 'शब्द कल्पद्रुम' नामक कोष में इसे ७ अंकों का नाटक कहा गया है।[2] "हिन्दी विश्वकोष" में भी इसे ७ अंकों का ही नाटक माना गया है। वेणीसंहार की सभी मुद्रित तथा हस्तलिखित प्रतियों में सम्प्रति ६ अंक ही विद्यमान हैं। कहा नहीं जा सकता कि "शब्द कल्पद्रुम" जैसे प्रामाणिक कोष में ऐसा उल्लेख क्यों किया गया है। कुछ विद्वानों ने 'वेणीसंहार' का अर्थ 'वेणीमोक्षण' स्वीकार किया है। किन्तु 'संहार' का बन्धन अर्थ ही उपयुक्त है। एक पाण्डुलिपि में इस नाटक का नाम 'वेणीसंवरणं नाम नाटकम्' लिखा हुआ है।

शास्त्रीय नियमों का निर्वाह :

प्रस्तुत नाटक में शास्त्रीय नियमों का अधिकांशतः निर्वाह हुआ है। रूपक के भेदों में से इसे नाटक की श्रेणी में माना जायगा। नाटक के लिये निर्दिष्ट सभी लक्षणों की चरितार्थता इसमें देखी जा सकती है।

प्रस्तुत नाटक में वीर रस की प्रमुखता है। प० चन्द्रशेखर शास्त्री ने "संस्कृत साहित्य की रूप-रेखा" में विवेचन करते हुए इस नाटक में करुण रस की प्रधानता मानी है तथा इस नाटक का नायक दुर्योधन को स्वीकार किया है। श्री गजेन्द्र गदकर ने भी शास्त्री जी के मत का समर्थन किया है। अन्य सभी विद्वानों ने इसमें वीर रस की प्रमुखता स्वीकार की है एवं इसका नायक युधिष्ठिर को स्वीकार किया है। वस्तुतः राज्यप्राप्ति रूपी फल का अधिकारी होने के कारण युधिष्ठिर ही शास्त्र-सम्मत इस नाटक के नायक कहे जायंगे। नायक के लिये निर्दिष्ट प्रायः सभी गुण युधिष्ठिर के चरित्र में वर्तमान हैं। इस नाटक के सभी पात्रों के चरित्र का विकास स्वाभाविक रूप में हुआ है। इसमें सन्धियों, कार्यावस्थाओं का निर्वाह भी शास्त्रीय-लक्षणानुसार हुआ है। अतएव नाट्यदर्पण, दशरूपक, साहित्यदर्पण आदि नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अधिकांशतः सन्ध्यंगों के उदाहरण वेणीसंहार नाटक से उद्धृत किये गये हैं।

वेणीसंहार नाटक में संकलन-त्रय का निर्वाह भी यथार्थ रूप में हुआ है। इसमें केवल १८ दिनों की घटनाओं का ही समावेश हुआ है। स्थान भी रण-भूमि, कौरव पाण्डव-शिविर तथा रण-भूमि के समीप में वर्तमान वह न्यग्रोध वृक्ष है जहां आहत अवस्था में दुर्योधन ने विश्राम किया था। दोनों पक्षों के शिविर तथा न्यग्रोध वृक्ष भी रण-भूमि के इतने निकट हैं कि वहाँ से रण-कोलाहल स्पष्ट सुनाई पड़ता है।

नाटककार का संक्षिप्त परिचय :

वेणीसंहार नाटक के रचयिता भट्टनारायण का मूल निवास स्थान कन्नौज था। चार अन्य ब्राह्मणों के साथ यह बंगाल में आकर रहने लगे थे। बंगाल के राजा

---

१. नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशनम्॥—साहित्य-दर्पण ६।३३०।

२. वेणीसंहार : पुं० (वेण्याः द्रौपदीवेणिकायाः संहारो भीमेन मारितदुर्योधनशोणितेन मोचनं यत्र।) भट्टनारायण-कृत सप्तांकयुक्तः नाटकविशेषः शब्द-कल्पद्रुम, चतुर्थकाण्ड, पृ० ४६५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदिशूर या वीरसेन ने इन्हें यज्ञ-सम्पादनार्थ बुलाया था। उल्लिखित तथ्य को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महेशचन्द्र प्रसाद आदि प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। भट्ट-नारायण के १६ पुत्र हुए थे। इनमें से पाँचवा पुत्र निपु सम्पत्ति का अधिकारी बना था। भट्टनारायण को राजा आदिशूर ने कई गांव दिये तथा स्वयं भी थोड़े मूल्य से ही अनेक गांव इन्होंने खरीदे। इनका भी राजवंश चलता रहा। "क्षितीश वंशावली चरितम्" में इस वंश के राजाओं के नाम, राज्यकाल तथा अद्भुत कार्यों का वर्णन दिया गया है।

भट्टनारायण जाति से ब्राह्मण तथा गोत्र से शाण्डिल्य थे। इनकी जाति-सूचक उपाधि 'भट्ट' थी। 'मृगराज' उपाधि योग्यता-सूचक, राजप्रदत्त थी।

रचना-काल :

भट्टनारायण के स्थिति-काल के सम्बन्ध में विचारकों में बहुत मतभेद देखा गया है। ७ वीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर ११ वीं शताब्दी के अन्त तक इनका काल विद्वानों ने माना है। इतनी लम्बी सीमा किसी कवि के काल-निर्धारण के लिये उपयुक्त नहीं कही जा सकती है। ८ वीं शताब्दी में होने वाले वामन के ग्रन्थ में वेणीसंहार नाटक का श्लोक उदाहृत होने से भट्टनारायण के स्थिति-काल की परावधि ८५० ई० तक होनी चाहिये। इसी प्रकार ७ वीं शताब्दी से पूर्व के किसी काव्यकार के द्वारा भट्टनारायण अथवा उसके नाटक की चर्चा न होने के कारण इनके स्थिति-काल की पूर्वावधि ७५० ई० मानी जानी चाहिये। इस प्रकार वेणीसंहार कर्ता भट्टनारायण का स्थिति-काल ई० सन् ७५० से ८५० के मध्य में स्वीकार करना तर्क-संगत कहा जा सकता है। काल-निर्धारण के सम्बन्ध में 'अवन्ति सुन्दरी कथा' जिसे दण्डी-कृत कहा जाता है, का श्लोक[1] प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है। इनकी कृति एकमात्र 'वेणीसंहार नाटक' ही उपलब्ध हुई है। भट्टनारायण, नारायण भट्ट आदि के नाम से उपलब्ध ग्रन्थ तथा सुभाषित ग्रन्थों में संगृहीत सूक्तियां वेणीसंहार-कर्ता भट्टनारायण-कृत नहीं माने जा सकते।

भाषा-शैली, प्रकृति-चित्रण :

प्रस्तुत नाटक की भाषा-शैली नाटक की अपेक्षा श्रव्य-काव्य की दृष्टि से अधिक सफल हुई है। इसमें गौड़ी रीति को नाटककार ने प्रश्रय दिया है। युद्ध-मय वातावरण होने के कारण प्रकृति-चित्रण का यहाँ अवसर नहीं आया है। केवल द्वितीय अंक में वालोद्यान वर्णन में प्रकृति के सौम्य रूप का तथा यहीं वात्या-वर्णन में उसके कराल रूप का संक्षिप्त चित्रण देखा जाता है। अभिनय की दृष्टि से भी इस नाटक के अधिकांश स्थल सफल हैं।

अलंकार-योजना :

अलंकारों की योजना भी इस नाटक में सफल रही है। यद्यपि काव्य-शास्त्रियों ने 'नाटक में अलंकारों का स्थान' इस प्रश्न पर पृथक् विचार नहीं किया है। 'काव्य में अलंकारों का स्थान' इस विषय पर रोचक एवं तर्क-संगत ढंग से उन्होंने विचार किया है। परन्तु काव्य के भेद—श्रव्य-काव्य तथा दृश्य-काव्य में से नाटक दृश्य-काव्य के अन्तर्गत स्वीकृत होने से इस प्रश्न पर पृथक् विवेचन की आवश्यकता ही सम्भवतः उन्हें नहीं प्रतीत हुई। काव्य में अलंकारों का जो स्थान है, नाटकों में भी उनका वही स्थान काव्य-शास्त्रियों को सम्भवतः मान्य था। कालिदास, भवभूति आदि के नाटकों में भी अलंकारों की योजना वर्तमान है।

भरत मुनि ने नाटकाश्रय के रूप में उपमा, रूपक, यमक, दीपक, ये चार अलंकार स्वीकार किये हैं।[2] अतः नाटकों में अलंकारों का समावेश शास्त्र-सम्मत कहा जायगा। प्रस्तुत नाटक में उपमा, रूपक तथा काव्यलिंग

---

१. व्याप्तुं पदत्रयेणापि यश्शक्तो भुवनत्रयम्।
तस्य काव्यत्रयव्याप्तौ चित्रं नारायणस्यकिम्॥
अवन्तिसुन्दरी कथा, श्लोक १७, पृ० २

२. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥
नाट्यशास्त्र, अध्याय १७, श्लोक ४३, पृ० २०६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलंकारों की योजना अधिक हुई है। वीर रसानुकूल उपमानों के चयन से भाव सशक्त तथा मूर्तिमान् बन गये हैं। युद्ध-वर्णन के अवसर पर गद्य में सांगरूपक की विशद योजना हुई है। ऐसे कुछ स्थल सामाजिकों को थकाने वाले प्रतीत होते हैं। किन्तु सामूहिक रूप से अलंकारों की योजना सफल हुई है। कतिपय स्थलों के अतिरिक्त अधिकांशतः अलंकार शोभाधायक बने हैं। उपमानों के चयन में कवि ने लिंग, वचन, विभक्ति आदि के साम्य का भी प्रायः ध्यान रखा है।

विभिन्न मान्यताएँ :

कवि अपने काल का प्रतिनिधि होता है। उसकी रचनाओं पर उस काल की मान्यताओं का प्रभाव भी प्रायः पड़ता ही है। परन्तु यह प्रभाव विशेषतः वहीं पड़ता है जहाँ वह कथावस्तु के क्षेत्र में स्वतन्त्र रहता है। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथावस्तु के आधार पर लिखे गये काव्य या नाटक में अपने काल की मान्यताओं को वह अधिक स्पष्ट रूप से चित्रित न करके यत्र-तत्र किंचित् संकेत मात्र दे पाता है।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु भी महाभारत से ली गयी है। कवि ने महाभारत ग्रन्थ में लिखित मान्यताओं का ही अधिकतर चित्रण किया है। अतः कुछ अधिक निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि इस नाटक में प्रदर्शित मान्यताओं का सम्बन्ध सर्वथा महाभारत से ही है अथवा भट्टनारायण के काल से भी।

महाभारत काल में प्रायेण द्वन्द्व युद्ध होता था। वैसे इसमें अपवाद भी आने लगे थे। अभिमन्यु का वध अनेक महारथियों ने मिल कर किया था। परन्तु ऐसे युद्ध निन्दा की दृष्टि से देखे जाते थे। प्रतिपक्षी को ललकार कर, सावधान बनाकर युद्ध किया जाता था। आहत, मूर्च्छित योद्धा पर प्रहार नहीं किया जाता था। वीर लोग प्रतिज्ञा-पूर्वक युद्ध किया करते थे।

प्रहार से अंगों की रक्षा के लिये सैनिक कवच, हस्तावाप, शिरस्त्राण आदि धारण करते थे। प्रत्येक योद्धा के रथ में विशिष्ट चिन्ह युक्त अपनी ध्वजा लगी रहती थी। इसी ध्वज चिन्ह के कारण अर्जुन कपि-ध्वज कहाते थे। युद्ध के आरम्भ तथा विराम की घोषणा राजा की ओर से की जाती थी। प्रस्तुत नाटक में प्रथम अंक में युधिष्ठिर ने युद्ध की घोषणा की है। पंचम अंक में भी युधिष्ठिर ने सायंकाल हो जाने के कारण-युद्ध-विराम की घोषणा की है।

सेनापति के मारे जाने पर सैनिक युद्ध से लौट आते थे। पुनः अन्य सेनापति के अभिषिक्त हो जाने पर वे युद्ध में जाते थे। सच्ची वीरता की प्रशंसा शत्रु भी करते थे। वृषसेन के युद्ध-कौशल की प्रशंसा सबने की है। ऐसे युद्ध के अवसर पर दोनों पक्षों के योद्धा अपना-अपना युद्ध छोड़कर दर्शक बन जाते थे। वीरगति की महत्ता मान्य थी। सम्भवतः ब्राह्मण अवध्य माने जाते थे। परन्तु यह नियम भी सर्वत्र नहीं चरितार्थ था। ब्राह्मण द्रोणाचार्य का वध भी हुआ ही है। प्रतिपक्षी चुनने की स्वतन्त्रता सबको दी जाती थी।

इस समय समाज में द्यूत-प्रथा का प्रचलन था। द्यूत के दाव पर सम्पत्ति, बान्धव, यहाँ तक कि पत्नी को भी लोग लगा देते थे। ब्राह्मणधर्म की देश में या गौड़ देश में प्रतिष्ठा थी। स्वप्न के फलाफल पर जनता का विशेषतः स्त्रियों का विश्वास था। अंगस्पन्दन, विशेषेणअक्षिस्पन्दन के शुभाशुभ फल पर भी लोगों का विश्वास था। अरिष्ट-शान्ति के शास्त्रीय उपायों पर भी विश्वास किया जाता था। शाप तथा वरदान पर भी लोगों का विश्वास था। श्राद्ध-तर्पण आदि पितृकर्म में भी लोगों का विश्वास था।

भट्टनारायण की अन्य किसी कृति की उपलब्धि नहीं हुई। लेखक ने किसी नयी परम्परा को प्रश्रय नहीं दिया है। परन्तु नाटक के लिये निर्दिष्ट शास्त्रीय नियमों का निर्वाह इसमें अवश्य हुआ है। अतः शास्त्रीय-लक्षण-सम्पन्न वीररसप्रधान नाटकों में वेणीसंहार नाटक का महत्त्वपूर्ण स्थान कहा जा सकता है।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
एस० एम० जे० एन० कालिज,
हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेद के वृषभ और उक्षन् शब्दों का अर्थविचार

डा० रामनाथ वेदालंकार

वैयाकरणों के अनुसार वृषभ शब्द सेचनार्थक वृषु धातु से उणादि अभच्[1] प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इसमें प्रत्यय के किद्वत् होने से गुणाभाव तथा चित् होने से अन्तोदात्त स्वर रहते हैं। उक्षन् शब्द सेचनार्थक उक्ष धातु से उणादि कनिन्[2] प्रत्ययान्त निपातित होता है। लोक में इनका बैल अर्थ तो प्रसिद्ध ही है, इसके अतिरिक्त कोई भी पुंपशु, युवा पुरुष, श्रेष्ठ, ओषधिविशेष आदि अर्थों में भी ये प्रयुक्त होते हैं। ऋग्वेद में वृषभ शब्द विभिन्न विभक्तियों में कुल मिला कर १८३ वार तथा उक्षन् शब्द ३२ वार प्रयुक्त हुआ है।

बैल

बैल अर्थ में ये दोनों शब्द ऋग्वेद में आते तो हैं, पर अधिक नहीं। अग्नि को कहा गया है कि तुम्हारा शब्द वृषभ के समान है[3]। इन्द्र को वृषभ के समान भीम[4] कहा है। उषा का आगमन वृषभ के शब्द से जाना जाता है[5]। अग्नि अपनी ज्वालाओं को ऐसे ही प्रकम्पित करता है, जैसे वृषभ सींगों को[6]। इन्द्र तीक्ष्ण शृंगों वाले वृषभ के समान गर्जना करता है[7]। सिन्धु वृषभ के समान शब्द करती हुई बहती है[8]। वृषभ (बैल) तथा द्रुघण (लकड़ी की गदा) की सहायता से शत्रुसेनाओं को जीतने का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है[9]। अश्वियुगल जब अभीष्ट फल प्रदानार्थ दिवोदास के घर जाते हैं तब उनके रथ में वृषभ तथा शिशुमार वाहन रूप में नियुक्त रहते हैं[10]। प्लायोगि आसंग की दानस्तुति में कहा है कि वह दश सहस्र उक्षा दान में देता है[11]। इसी प्रकार प्रस्कण्व द्वारा दान में दिये गये सौ श्वेत उक्षाओं के विषय में वर्णन है कि वे ऐसे चमकते हैं, जैसे आकाश में तारे[12]। इन सब प्रसंगों में वृषभ तथा उक्षा शब्दों का स्थूल अर्थ बैल ही है।

अग्नि

ऋग्वेद में लगभग २० स्थलों में अग्नि को वृषभ कहा गया है। ३ स्थलों में उसे उक्षा नाम से भी स्मरण किया गया है। वृषभ या उक्षन् शब्द प्रायः अग्नि के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जिसका अर्थ है वर्षक अग्नि। कहीं-कहीं अग्नि को केवल 'वृषभ' न कह कर 'चर्षणीनां वृषभः'[13], 'स्तियानां वृषभः'[14] या 'क्षितीनां वृषभः'[15] कहा गया है, अर्थात् मनुष्यों पर अभिमत फलादि की वर्षा

---

१. ऋषिवृषिभ्यां कित्। उ० ३.४०३
२. श्वन्नुक्षन्पूषन्०। उ० १.१५७
३. १.६४.१०
४. ७.१६.१ तथा १०.१०३.१
५. ७.७६.४
६. ८.६०.१३
७. १०.८६.१५
८. १०.७५.३
९. १०.१०२
१०. १.११६.१८
११. ८.१.३३
१२. ८.५५.२
१३. ३.६.५
१४. ७.५.२
१५. १०.१८७.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाला, ओलों की वर्षा करने वाला, तथा भूमियों या प्रजाओं पर जल या सुखादि की वृष्टि करने वाला। अग्नि को सहस्र सींगों वाला वृषभ[1] तथा बहुत सी ग्रीवाओं वाला वृषभ[2] भी कहा गया है। इसे घृतपृष्ठ उक्षा[3] के रूप में भी चित्रित किया गया है।

यह वृषभ या उक्षा अग्नि पार्थिव यज्ञाग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय वैद्युताग्नि तथा द्युस्थानीय सूर्याग्नि तीनों के रूप में व्याख्यात किया गया है।। परमात्माग्नि, जीवात्माग्नि, प्राणाग्नि, संकल्पाग्नि आदि रूपों में भी इसकी व्याख्यायें होती हैं। वृषभ अग्नि के चित्रण के निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं :

यज्ञाग्नि :

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनि-
र्घृते श्रितो घृतमस्य धाम।
अनुष्वधमावह मादयस्व
स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्॥ऋग् २.३।११

"इस यज्ञाग्नि में मैं घृत का सिंचन करता हूँ। घृत इसका कारण है, उत्पन्न होकर यह घृत के ही आश्रय से रहता है, घृत ही इसका धाम है। हे वृषभ, तू हमारी प्रत्येक हवि के प्रति देवों का आवाहन कर, हमें आनन्दित कर, स्वाहापूर्वक दिए गए हमारे हव्य का वहन कर।"

समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तव श्रियम्।
वृषभो द्युम्नवाँ असि समध्वरेष्विध्यसे॥
ऋग् ५.२८.४

"हे यज्ञाग्नि, समिद्ध हुए तुझ तेजस्वी की श्री की मैं स्तुति करता हूँ। तू वृषभ है, तू यशस्वी है, तू यज्ञों में प्रदीप्त किया जाता है।"

वैद्युताग्नि या सूर्याग्नि :

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं
यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ
अधूनोत् काष्ठा अव शम्बरं भेत्॥
ऋग् १.५९.६

"वृषभ अग्नि के महत्त्व का मैं वर्णन करता हूँ जिस मेघसंहारक का मानवगण सेवन करते हैं। वह वैश्वानर अग्नि दस्यु को मार देता है, जलों को प्रकम्पित कर देता है, तथा मेघरूप शम्बरासुर का भेदन कर देता है।"

अग्निसूक्त के निम्न मन्त्र में एक महान् उक्षा का वर्णन किया गया है :

उक्षा महाँ अभि ववक्ष एने
अजरस्तस्थावितऊतिर्ऋष्वः।
उर्व्याः पदो निदधाति सानौ
रिहन्त्यूधो अरुषासो अस्य॥
ऋग् १.१४६.२

"एक महान् उक्षा (विशाल बैल) ने इन द्यावापृथिवी दोनों को अपने ऊपर उठाया हुआ है, तो भी वह जीर्ण नहीं होता तथा दर्शनीय बना हुआ खड़ा रहता है। वह पृथिवी के ऊर्ध्वप्रदेश (वेदि) में अपने पैरों को रखे है तथा इसकी लाल-लाल जिह्वायें ऊधस् (अन्तरिक्ष) को चाट रही हैं।" अग्निसूक्त में पठित होने से यह महान् उक्षा अग्नि ही है।

इन्द्र

ऋग्वेद में इन्द्र के लिए लगभग ६५ वार वृषभ शब्द प्रयुक्त हुआ है। उक्षा साक्षात् रूप से इन्द्र के लिए नहीं आया, यद्यपि एक स्थान पर सायण ने उक्षा का अर्थ इन्द्र किया है।[4] वृषभ कहीं इन्द्र का विशेषण बन कर आया है तथा कहीं स्वतन्त्र रूप से इन्द्र के पर्यायवाची के रूप में। कहीं-कहीं इन्द्र को 'जनानां वृषभः'[5], 'सतां वृषभः',[6]

१. ५.१.८
२. ५.२.१२
३. १०.१२२.४
४. द्रष्टव्य : ९.८९.३ का सायणभाष्य
५. १.१७७.१
६. २.१.३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्रतीनां वृषभः'[1], 'कृष्टीनां वृषभः'[2], 'क्षितीनां वृषभः'[3] तथा 'चर्षणीनां वृषभः'[4] भी कहा गया है। जल, सुख, मनोवांछित फल आदि का ववर्षक होने से तथा पशुओं में बैल के समान देवों में श्रेष्ठ होने से इन्द्र का वृषभ नाम है। इन्द्र स्वयं भी वृषभ है तथा वृषभ (बैल) के समान भीम भी।[5] इस इन्द्र रूपी वृषभ ने भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों लोकों को धारण किया हुआ है और यह अन्तरिक्ष से जलों को भी बरसाता है :

नि सामनामिषिरामिन्द्र भूमिं
महीमपारां सदने ससत्थ ।
अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षम्
अर्षन्त्वापस्त्वयेह प्रसूताः ॥ ऋग् ३.३०.९

भूमि के बैल के सींग पर टिके होने का पौराणिक विचार यहीं से लिया गया प्रतीत होता है।[6] अदिति द्वारा इन्द्र के जन्म का वृत्त वृषभ की पहेली के रूप में ऋग्वेद में इस रूप में वर्णित हुआ है :

गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागा-
मनाधृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम् ।
अरीढं वत्सं चरथाय माता
स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम् ॥ ऋग् ४.१८.१०

अर्थात् "सकृत्प्रसूता गौ (गृष्टि) ने एक बैल को को जन्म दिया है जो बल में प्रवृद्ध है, अपराजेय है, मोटा-ताजा है, शत्रुओं से अनभिभूत है, तो भी वत्स है।" यह बूढ़ा बैल इन्द्र ही है।

इन्द्र के सम्बन्ध में एक विचित्र बात यह है कि वह केवल स्वयं ही वृषभ, वृषा या वृष नहीं है, अपितु उसका वज्र भी वृषा है, उसका रथ भी वृषा है, उसके वाहन हरि भी वृषा या वृषभ हैं, उसके आयुध भी वृषभ हैं, उसका पेय सोमरस भी वृषभ है और सोमरस के पान से चढ़ने वाला मद भी वृषा या वृषभ है :

वृषा ते वज्र उत ते वृषा रथो
वृषणा हरी वृषभाण्यायुधा ।
वृष्णो मदस्य वृषभ त्वमीशिषे
इन्द्र सोमस्य वृषभस्य तृप्णुहि ॥ ऋग् २.१६.६

साथ ही इन्द्र का सोमपान का साथी अग्नि भी वृषभ है,[7] जिनसे सोमरस पीसा जाता है वे सिल-बट्टे (ग्रावा) भी वृषभ हैं, सोमरस को पीसने वाले अध्वर्यु भी वृषभ हैं, इन्द्र का अन्न भी वृषभ है,[8] इन्द्र के घोड़ों की रासें (रश्मियां) भी वृषभ हैं,[9] और इन्द्र का बल भी वृषभ है।[10]

सोम

ऋग्वेद में ११ वार स्पष्ट रूप से सोम को वृषभ कहा गया है। वृषभ सोम का रेतस् (रस) पाकर वत्स की मातृभूत धीतियाँ शब्दायमान हो जाती है।[11] जैसे भयंकर वृषभ बल दिखाने की इच्छा से अपने शृंगों को तीक्ष्ण करता हुआ दहाड़ता है, वैसे ही सोमरूप वृषभ भी अपने डंठल रूपी हरे-हरे सींगों को सिल-बट्टों पर तीक्ष्ण करता हुआ शब्द करता है।[12] जैसे वृषभ गोयूथ में जाता है, वैसे

---

१. ६.१७.२
२. ७.२६.५
३. ७.९८.१
४. ८.९६.४ तथा १८
५. १०.१०३.१
६. तुलनीय : उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ९.८३.३, उक्षा स द्यावापृथिवी विभर्ति १०.३१.८, अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम् । अथर्व. ४.११.१
७. २.१६.४
८. २.१६.५
९. ६.४४.१९
१०. ६.१९.९
११. ९.१९.४
१२. ९.७०.७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही सोमरूपी वृषभ 'आपः' के समीप जाता है।[1] दस अंगुलियां ग्रावाओं द्वारा वृषभ सोम को जलों में दुहती हैं।[2] यह सोम सहस्र धारों से बहने वाला वृषभ है, जो ऋतजात है :

सहस्रधारं बृषभं पयोवृधं
प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे
राजा देव ऋतं बृहत्॥ ऋग् ९.१०८.८

सोम उक्षा भी है। ऋग्वेद में ५ वार सोम-सूक्तों में में उसके लिए उक्षा शब्द आया है। उक्षा सोम जब निचोड़े जाने पर शब्द करता है, तब धेनुएँ (प्रीणयित्री स्तुतियाँ या आपः) उसके समीप जाती हैं।[3] इस पर्वतनिवासी (गिरिष्ठा) उक्षा को बुद्धिमान् लोग ऊर्ध्व स्थानों पर दुहते हैं।[4] यह सोम सिंधु की उत्ताल तरंगों में लहराने वाला उक्षा पशु है :

अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते
क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं
हिरण्यपावाः पशुमासु गृभ्णते॥ ऋग् ९.८६.४३

पर्जन्य

ऋग्वेद में तीन स्थलों में पर्जन्य को वृषभ कहा गया है।[5] ये तीनों स्थल पर्जन्य-सूक्तों के ही हैं। एक अन्य मन्त्र में वात के साथ युगलरूप में पर्जन्य को वृषभ कहा गया है।[6] सायण ने कुछ अन्य स्थलों पर भी जिनमें देवता यद्यपि पर्जन्य नहीं है, वृषभ का अर्थ मेघ या पर्जन्य किया है।[7] एक स्थल में वह उक्षा का अर्थ भी पर्जन्य करता है।[8] पर्जन्य वर्षा करने के कारण या ओषधि रूप गौओं में रेतस् का आधान करने के कारण वृषभ कहलाता है। इस पर्जन्य रूपी वृषभ का आश्रय होने के कारण ही वेद में अन्तरिक्ष को 'वृषभस्य नीडः' कहा गया है।[9] पर्जन्य वृषभ का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है :

अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः
स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास।
कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू
रेतो दधात्योषधीषु गर्भम्॥ ऋग् ५.८३.१

वायु और आदित्य

एक मन्त्र में सरस्वान् को वृषभ कहा गया है।[10] वहां सरस्वान् का अर्थ सायण ने जलकणों से युक्त वायु किया है। वात तो स्पष्ट रूप से ही वृषभ नाम से कथित हुआ है।[11] एक स्थल पर वायु के अश्वों को उक्षा कहा गया है, जो वायु को द्यावापृथिवी के मध्य में संचार कराते हैं तथा जिनकी गति मरुभूमि में भी अप्रहत नहीं होती।[12] ऋग्वेद के अनुसार तीनों लोकों में एक-एक वृषभ स्थित है[13], जिसकी व्याख्या सायण ने इस रूप में की है कि पृथ्वी लोक का वृषभ अग्नि, अन्तरिक्ष का वृषभ वायु तथा द्युलोक का वृषभ आदित्य है। एक प्रकरण में एक ऐसे सहस्र-शृंग वृषभ का वर्णन है जो समुद्र में से उदित हुआ

---

१. ९.७६.५
२. ९.८०.५
३. ९.६९.४
४. ९.९५.४
५. ५.८३.१, ७.१०१. १ तथा ६
६. ६.४९.६
७. १.७९.२, ३.५५.१७, ४.१.११ तथा १२, ५.५८.६, ७.३६.३
८. ४.५६.१
९. ४.१.११
१०. ७.९५.३
११. १०.६५.९
१२. १.१३५.९
१३. ५.६९.२
१४. ७.५५.७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है।[४] व्याख्याकारों के अनुसार यह आदित्य ही है। उक्षा नाम से सूर्य का निम्न चित्रण बड़ा ही रोचक है :

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः
पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा
विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ॥ ऋग् ५.४७.३

"सूर्य रूपी उक्षा है, जो तेज का समुद्र है, आरोचमान है, रश्मि रूपी सुन्दर पंखों वाला है, पूर्वदिग्वर्ती पिता आकाश के घर में प्रविष्ट हुआ है, मध्याह्न में आकाश के बीचोबीच स्थित हो जाता है, उसका नाम पृश्नि और अश्मा भी है, वह चङ्क्रमण करता रहता है और दिन के दोनों प्रान्तों उषा और सन्ध्या की पालना करता है।"

बृहस्पति, रुद्र और मरुत्

५ स्थलों में बृहस्पति[१] के लिए तथा ५ ही स्थलों में रुद्र[२] के लिए ऋग्वेद में वृषभ शब्द प्रयुक्त हुआ है। तीन स्थलों में मरुतों[३] को उक्षा कहा गया है। बृहस्पति रूप वृषभ का निम्न प्रसंग द्रष्टव्य है :

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा
बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न
आ रोदसी वृषभो रोरवीति ॥ ऋग् ६.७३.१

"जो पर्वत (मेघ) को तोड़ डालने वाला है, प्रथम प्रसिद्ध है, सत्यमय है, अंगारों से उत्पन्न हुआ है, हवि ग्रहण करने वाला है, दोनों लोकों में निर्बाध संचार करने वाला है, तप्त यज्ञ में स्थित है, हमारा पिता है, वह वृषभ बृहस्पति द्यावापृथिवी में गर्ज रहा है।"

रुद्र वृषभ का नमूना भी देखिए :

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्
त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम्।
घृणीवच्छायामरपा अशीया
विवासेयं रुद्रस्य सुम्नम् ॥ ऋग् २.३३.६

"मरुतों सहित वृषभ रुद्र ने मुझ प्रार्थी को तेजोमय गति से आनन्दित कर दिया है। जैसे सूर्य की धूप से व्याकुल मनुष्य छाया का सेवन करता है, वैसे ही मैं उस वृषभ की छाया (शरण) का सेवन करूं, मैं रुद्र के सुख को अपनाऊँ।"

मरुत् रूपी उक्षाओं का निम्न वर्णन भी कैसा चामत्कारिक है :

ते जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो
रुद्रस्य मर्या असुरा अरेपसः।
पावकासः शुचयः सूर्या इव
सात्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पसः ॥ ऋग् १.६४.२

वे मरुत रूपी उक्षा आकाश से उत्पन्न हुए हैं, रुद्र के पुत्र हैं, असुर (प्राणदायक) हैं, पापरहित हैं, पावक हैं, सूर्य के समान पवित्र हैं, पुरुषों के समान एक ओर तो उदकबिन्दुओं वाले (दयालु) हैं, दूसरी ओर घोर रूप वाले हैं।"

इतर अर्थ

अन्य भी कतिपय अर्थों में ऋग्वेद के उक्षा तथा वृषभ शब्द प्रयुक्त उपलब्ध होते हैं। एक मन्त्र में आकाश मे स्थित पाँच उक्षाओं का उल्लेख आया है।[४] ये वृषभ राशि के नक्षत्रपुंज के पाँच प्रमुख तारे प्रतीत होते हैं, यद्यपि सायण ने ये पाँच उक्षा इन्द्र, वरुण, अग्नि, अर्यमा तथा सविता अथवा अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत् बतलाये हैं। एक स्थान पर सायण ने उक्षा का अर्थ सेक्ता स्तोतृजन किया है।[५] सायण एक मन्त्र में उक्षा का वैकल्पिक अर्थ अश्व लेते हैं।[६] एक स्थल में उषाओं के वाहन अरुणी गौओं के लिए उक्षा शब्द का प्रयोग

१. १.१९०.१ तथा ८, ३.६२.६, ६.७३.१, १०.९२.१०
२. २.३३.४, ६, ७, ८, १५
३. १.६४.२, १.१६८.२, ५.५२.३
४. अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः। १.१०५.१०
५. ३.७.७
६. ६..६४.५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है[1]। एक प्रसंग में जहां द्यावापृथिवी के धारण का वर्णन है, सायण ने उक्षा का अर्थ हिरण्यगर्भ किया है।[2]

वृषभ एक मन्त्र में कुत्स[3] का विशेषण तथा एक मन्त्र में श्वित्र्य[4] का विशेषण बन कर आया है। मित्रावरुण को भी वृषभ कहा गया है[5]। सायण ने वृषभ के अर्थ यज्ञ[6], द्युलोक[7], प्रधान[8], रेतःसेक्ता पति[9], संवत्सर[10], स्तोत्र[11], दानी[12] तथा विक्रान्त कर्म[13] भी किये हैं। वृषभ पुंजाति[14] के लिए भी आता है।

एक अद्भुत वृषभ

ऋग्वेद में एक अद्भुत वृषभ का वर्णन आया है, जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं और सात हाथ हैं। वह तीन खूंटों से बंधा हुआ डकरा रहा है। वह महान् देव है, जो सब मनुष्यों के अन्दर आकर प्रविष्ट है। यह वर्णन यजुर्वेद में भी है[15]।

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥ ऋग् ४.५८.३

यास्कीय निरुक्त[16] के अनुसार यह वृषभ यज्ञ है। चार वेद ही उसके चार सींग हैं, प्रातः मध्याह्न तथा सायं के तीन सवन ही तीन पैर हैं। प्रायणीय तथा उदयनीय उसके दो सिर हैं। गायत्र्यादि सात छन्द हाथ हैं। वह यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण तथा कल्प इन तीन खूंटों से बंधा हुआ है। यज्ञ में होने वाला मन्त्रपाठ ही उस वृषभ का बोलना है। महाभाष्यकार पतंजलि के मत में यह वृषभ शब्द है। शब्द के चार भेद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ही इसके चार सींग हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान काल तीन पैर हैं। सुप् और तिङ् दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ सात हाथ हैं। उरस्, कण्ठ और सिर इन तीनों स्थानों में बंधा हुआ वह बोल रहा है, यतः तीनों स्थानों की सहायता से उच्चारित होता है।

सायण का कथन है कि इस सूक्त के अग्नि, सूर्य, अप्, गो तथा घृत ये पांच देवता होने से यह मन्त्र पंचधा व्याख्यात हो सकता है। यज्ञाग्नि तथा सूर्य के पक्ष में उसने व्याख्या प्रदर्शित भी की है। यज्ञपरक व्याख्यान प्रायः निरुक्त का ही अनुसरण करता है। सूर्यपरक व्याख्या के अनुसार चार दिशाएं सींग हैं, तीन वेद तीन पैर हैं, अहोरात्र दो सिर हैं, सात रश्मियां अथवा छः विलक्षण ऋतुएं तथा एक साधारण ऋतु सात हाथ हैं, तीन क्षित्यादि लोकों में अग्न्यादि रूप से संबद्ध है, अथवा ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त इन तीन द्वारा तीन रूपों में बद्ध है। वर्षक होने से वृषभ है तथा वृष्ट्यादि द्वारा शब्द भी करता है। प्राण, आत्मा, ब्रह्म, काव्यपुरुष, राष्ट्र आदि विषयक भी इसकी व्याख्यायें की गई हैं।

वृषभ-पाक

ऋग्वेद के दो स्थलों में वृषभ-पाक[17] का तथा अन्य दो स्थलों में उक्षा-पाक[18] का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग् १.१६४.४३ में कहीं दूर पर गोबर के उपले का धुआं दिखाई देने की चर्चा है। उसके विषय में कहा गया है कि वीरों ने उक्षा पृश्नि (चितकबरे बैल) को पकाया

---

१. ७.७९.१
२. १०.३१.८
३. १.३३.१४
४. १.३३.१५
५. ५.६३.३
६. १.१६६.१
७. १.१६०.३
८. २.३०.८
९ २.१६.८, १०.१०.१०, १०.४०.११
१०. ३.५६.३
११. ७.७९.४
१२. ८.९३.१ तथा ७
१३. १०..२८.३
१४. १०.५.७
१५. यजुः मा. वा. सं. १७.९१
१६. निरुत्त्म १३.७
१७. १०.२७.२, २८.३
१८. १.१६४.४३, १०.८६.१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, उसी का यह धुआं है :

शकमयं धूममारादपश्यं
विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।।

सायण यहां वीर का अर्थ विविध विधियां करने-कराने वाले ऋत्विग् या देव तथा उक्षा का अर्थ सोमवल्ली करते हैं। प्रमाण रूप में उन्होंने एक वचन भी उद्धृत किया है[1]। उक्षा-पाक विषयक दूसरा मन्त्र १०म मण्डल के इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद में उपलब्ध होता है। वहां इन्द्र कहता है कि मेरे लिए याज्ञिक लोग पन्द्रह और बीस उक्षाओं को पकाते हैं तथा उन परिपक्व उक्षाओं से वे मेरी दोनों कुक्षियों को भर देते है, उससे मैं खूब मोटा हो गया हूँ :

उक्षणो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमस्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।। ऋग् १०.८६.१४

इससे पूर्व के मन्त्र में भी इन्द्र द्वारा उक्षाओं के खाये जाने का संकेत है[2], जहाँ सायण ने सेचनसमर्थ पशुओं (सांडों) के भक्षण का ही भाव लिया है[3]। प्रस्तुत मन्त्र में भी वह उक्षा का अर्थ पशु ही लेता है[4]। पर वस्तुतः यहां भी प्रकरणानुसार उक्षा का अर्थ सोम ही संगत ठहरता है। सूक्त के प्रारंभ में इन्द्र की पुत्रवधू वृषाकपायी ने इस बात पर रोष व्यक्त किया है कि याज्ञिक लोग सोमरस तो खूब अभिषुत करते हैं, पर उसे वे इन्द्र को नहीं पिलाते, जबकि वृषाकपि सोम पीकर आकण्ठ तृप्त हो जाता है[5]। १३वें मन्त्र में वृषाकपायी की उसी आपत्ति का उत्तर दिया गया है कि तुम चिन्ता न करो, अब तुम्हारे श्वसुर इन्द्र को बहुत से सोमरस (उक्षा) पान करने मिलेंगे।[6] अतः १४वें मन्त्र में इन्द्र जिन १५ और २० पके हुए उक्षाओं को खाने की बात कर रहा है, वे सांड नहीं, प्रत्युत परिपक्व सोम के ही १५ और २० पात्र हैं। अन्यथा आपत्ति तो हो सोमरस न मिलने की और उसका परिहार किया जाये सांड खिलाकर, यह सर्वथा विसंगत प्रतीत होता है। अतः जैसे सायणाचार्य पूर्वोल्लिखित प्रसंग में उक्षा पृश्नि का अर्थ सोमवल्ली करते हैं, वैसे ही यहां भी करना उचित है। ऋग् ९.८६.४३ में तो 'उक्षणं पशुम्' शब्द आये हैं, तो भी सायण ने वहाँ बैल या सांड अर्थ न लेकर सोम अर्थ ही किया है, भले ही वहां उसे पशु का अर्थ द्रष्टा करना पड़ा है।

निम्न मन्त्र में वृषभ के पाक का प्रसंग है। वसुक्र इन्द्र से कह रहा है कि जब मैं शरीर से पुष्ट होते हुए अदेवयु (अयाज्ञिक) लोगों को युद्ध के लिए ललकारूंगा तब आपके लिए मैं मोटा-ताजा वृषभ पकाऊंगा और उसमें तीव्र अभिषुत पन्द्रहवें सोम को भी सिंचित करूंगा :

यदीदहं युधये संनयानि
अदेवयून् तन्वा शूशुजानान् ।
अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि
तीव्रं सुतं पञ्चदशं निषिञ्चम् ।।
ऋग् १०.२७.२

यहाँ भी सायण ने वृषभ का अर्थ सेचनसमर्थ पुंपशु (सांड) किया है। किन्तु वस्तुतः यह वृषभ भी सोम ही है। चौदह सोमपात्रों का एक पात्र में एकत्र किया हुआ सोम 'वृषभ' है, जिसे पकाया जाता है तथा उसमें पन्द्रहवें पात्र का सोमरस भी निषिक्त कर दिया जाता है।

अगले ही सूक्त में फिर वृषभ-पाक आता है :

अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान्
सुन्वन्ति सोमान् पिबसि त्वमेषाम् ।
पचन्ति ते वृषभां अत्सि तेषां
पृक्षेण यन्मघवन् हूयमानः ।। ऋग् १०.२८.३

वसुक्र इन्द्र से कह रहा है कि यजमान आपके लिए

---

१. सोम उक्षाभवत् पूर्वं तं देवाः शकृतापचन् ।
यज्ञार्थे तद्भवो धूमो मेघ आसीत् तदुच्यते ।।
२. घसत् त इन्द्र उक्षणः । १०.८६.१३
३. इन्द्रः उक्षणः सेचनसमर्थान्···पशून् घसत् प्राश्नातु । सायण
४. उक्षणः वृषभान् । सायण
५. विहि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा ।।
६. वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविः ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मदजनक त्वरित सोमों को ग्रावाओं से अभिषुत करते हैं तथा आप उनका पान करते हैं। वे आपके लिए वृषभ पकाते हैं तथा आप उनका भक्षण करते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में वसुक्रपत्नी ने ये उद्गार प्रकट किए हैं कि यज्ञ में अन्य सब देव तो आ गये, किन्तु मेरे श्वसुर इन्द्र नहीं आये, यदि वे आते तो धाना (भुने जौ) खाते और सोम पीते तथा पूर्णतः तृप्त हो कर घर जाते[1]। वे बैल या सांड खाते, ऐसा उसने नहीं कहा है। इतने में ही इन्द्र आ जाता है। तब वसुक्र ने उक्त तृतीय मंत्र का उच्चारण किया है कि आपके लिए सोमरस तथा वृषभ तैयार हैं। इस प्रसंग को देखते हुए यहाँ वृषभ का अर्थ धाना (यव) लेना ही उचित है। इन्द्र के अन्न का भी वृषभ नाम है, यह हम पहले देख चुके हैं। एवं 'पचन्ति ते वृषभान्' का अर्थ होगा कि आपके लिए यवों को भूनते हैं। अथवा पूर्ववत् वृषभ का अर्थ सोमवल्ली भी ले सकते हैं। इन्द्र सोमपान करता है तथा सोमवल्ली की पकाई हुई डंठलों का भक्षण करता है। इसी सूक्त में ११वें मन्त्र में उक्षा-भक्षण का उल्लेख आया है—'सिम उक्षणोऽवसृष्टाँ अदन्ति', जहाँ सायण ने उक्षा का सोम अर्थ ही लिया है[2]।

यह भी द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही इन्द्र का भोज्य धाना (भुने जौ), करम्भ (दही मिश्रित सत्तू) और पुरोडाश (अपूप) है तथा पेय सोमरस है[3], बैल उसका भोजन नहीं है। अतः वृषभ तथा उक्षा शब्दों को देखते ही तुरन्त बैल को पकाने की कल्पना कर लेना वेद के प्रति न्याय नहीं होगा। इन्द्र जिन परिपक्व वृषभों तथा उक्षाओं को खाता है वे भुने जौ, पुरोडाश या सोम ही हैं, बैल का मांस नहीं। वेद में इन्द्र को पुरोडाश तथा परिपक्व सोम भेंट करने की ही महिमा लिखी है[4], बैल खिलाने की नहीं।

उक्षा की आहुति

ऋग्वेद में चार बार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अग्नि में उक्षाओं की आहुति का उल्लेख आता है[5]। निम्न मन्त्र विशेषतः द्रष्टव्य है :

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो
वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे
हृदा मतिं जनये चारुमग्नये॥ ऋग् १०.९१.१४

यहाँ अश्व, वृषभ, वशा और मेष पशुओं के साथ उक्षा भी उल्लिखित है, और अग्नि का विशेषण सोमपृष्ठ पृथक् पठित होने से यहां उक्षा का अर्थ सोम भी नहीं हो सकता। परन्तु वस्तुतः इन पशुओं की अग्नि में आहुति अभिप्रेत नहीं है, अपितु ये पशु अग्नि को समर्पित कर सार्वजनिक हित के लिए उत्सर्ग कर दिए जाते हैं। मन्त्र में पठित 'अवसृष्टासः' पद इसी बात का ज्ञापक है। एक मन्त्र में यह भी कहा गया है कि अग्नि के लिए जो हम मन्त्रपूर्वक हृदय से संस्कृत हवियाँ देते हैं वे ही उक्षा, वृषभ और वशा हैं[6]। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि अग्नि केवल पार्थिव अग्नि ही नहीं है, अपितु उत्तर ज्योतियाँ विद्युत् और आदित्य भी अग्नि हैं[7]। सूर्य रूपी अग्नि के लोक द्यौ में अश्व, वृषभ, मेष आदि नामों वाले नक्षत्रपुंज आहुत करके छोड़े हुए हैं, यह भी मन्त्र का आशय हो सकता है। वेद में अग्नि का भोजन अश्व, वृषभ आदि पशु नहीं हैं, किन्तु समिधा और घृत ही

---

१. विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम ममेदह श्वसुरो नाजगाम। जक्षीयाद् धाना उत सोमं पपीयात् स्वाशितः पुनरस्तं जगायात्॥ १०.२८.१

२. उक्षणः अवसृष्टान् इन्द्रेण निसृष्टाननुज्ञातान् हविर्भूतान् सोमान् यज्ञेषु अदन्ति भक्षयन्ति। सायण

३. द्रष्टव्य : ऋग् ३.५२, जिसमें तीनों सवनों का पृथक्-पृथक् इन्द्र का भोज्य उल्लिखित है।

४. ऋग् ८.३१.१-४

५. २.७.५, ६.१४.४७, ८.४३.११, १०.९१.१४

६. ६.१६.४७

७. अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते। निरुक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है[1]। अतः अग्नि में पशुओं का होम करना निःसन्देह अवैदिक है।

उपसंहार

इस प्रकार हमने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद के वृषभ और उक्षन् शब्द, जो लोक में प्रायः बैल अर्थ को देते हैं, कितने विभिन्न अर्थों को अपने अन्दर गृहीत किये हुए हैं। अधिकतर हमने इस लेख में ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही विचार किया है। स्वयं ऋग्वेद ही जिन अग्नि, इन्द्र, सोम, सूर्य आदि को स्पष्ट रूप से वृषभ या उक्षा कहता है, उन्हीं को हमने लिया है। ये वृषभ या उक्षा शब्द से वाच्य अग्नि, इन्द्र आदि कौन हैं, इस विषय को यहाँ नहीं छेड़ा गया है। इन अग्नि, इन्द्र आदि की आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से व्याख्यायें करने पर उनके लिए प्रयुक्त वृषभ और उक्षा शब्दों के अर्थ भी तदनुसार हो सकते हैं। जो स्थिति वृषभ एवं उक्षा शब्दों की है वही बैलवाची वृष, अनड्वान्, वृषभ आदि शब्दों की भी है। अथर्ववेद में प्राण को अनड्वान् कहा गया है[2]। अनड्वान् द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष को तथा छहों दिशाओं को एवं सम्पूर्ण भुवन तक को धारण करता है, यह भी वर्णित हुआ है[3]। यह कार्य साधारण बैल पशु नहीं कर सकता। एवं वैदिक शब्द अपने अन्दर अनेक विशिष्ट अर्थों को गृहीत किये हुए हैं। वेदव्याख्याकार को वैदिक शब्दों का यह वैशिष्ट्य अवश्य ध्यान में रखना होगा। अन्यथा वह वेद के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। वृषभ-पाक तथा वृषभ-होम की चर्चा अभी की जा चुकी है। वैदिक शब्दों के रहस्य को न समझने से उन प्रकरणों का कैसा अनर्थ किया गया है। वैदिक शब्द-प्रयोग की शैली से अनभिज्ञ होने का ही यह परिणाम है कि आज अनेक पाश्चात्त्य तथा एतद्देशीय विद्वत्कोटि के व्यक्ति भी वेदों के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण विचार रखते हैं। इस लेख में वृषभ और उक्षा शब्दों के अर्थ पर विचार कर हम इसी बात पर प्रकाश डालना चाहते हैं कि वेद के किसी शब्द का क्या अर्थ है इस विषय में सर्वप्रथम प्रमाण स्वयं वेद ही है। वेद में कोई शब्द कहाँ-कहाँ किस अर्थ में आया है, इसका विचार करते हुए यदि हम वैदिक शब्दों का तथा वैदिक प्रकरणों का अर्थानुसन्धान करेंगे तभी वेद के साथ समुचित न्याय हो सकता है।

रीडर, संस्कृत-विभाग
गुरुकुल विश्वविद्यालय
हरिद्वार

—|—

१. द्रष्टव्य : २.७६, ७.३.१, १०.६९.२
२. अथर्व. ११.४.१३
३. अथर्व. ४.११.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर की दार्शनिक मान्यताएँ

डा० विष्णुदत्त राकेश

पुष्टि सम्प्रदाय में सम्मिलित होने से पूर्व सूरदास शैव थे या हरिदासी सम्प्रदाय के सखी भावोपासक भक्त, प्रामाणिक रूप से कह सकना कठिन है। किन्तु वार्ता सम्प्रदाय तथा बल्लभ सम्प्रदाय सम्बन्धी साहित्य के अनुशीलन द्वारा यह असन्दिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि वह पुष्टि मार्ग के जहाज थे। पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैत दर्शन सूर के जीवन काल का ख्याति लब्ध दर्शन था। इसका प्रमाण १५६५ वि० में सम्पन्न होने वाले विद्यानगर शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने पर राजा कृष्ण देवराय द्वारा आचार्य श्री का कनकाभिषेक वाला वृत्तान्त है। इसी शास्त्रार्थ में आचार्य बल्लभ ने शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद का प्रतिपादन करते हुए मायावाद का खण्डन किया। इस अभूतपूर्व ख्याति लाभ के उपरान्त दक्षिण यात्रा से लौटते हुए १५६८ वि० के लगभग आचार्य वल्लभ से सूरदास का साक्षात्कार हुआ। इसी भेंट में उन्होंने दीक्षा प्राप्त की। दीक्षा के बाद सूर की भक्ति पद्धति स्थिर हुई और वह सगुण स्वरूप के समर्थक तथा भगवदनुग्रह पद्धति के प्रबल पोषक हो गये। उनकी दार्शनिक मान्यताओं और भक्ति पद्धति पर आचार्य वल्लभ की गहरी छाप पड़ी और अपने अभिनिवेश के कारण अष्ट छाप के कवियों में शुद्धाद्वैत दर्शन के वह प्रथम अग्रदूत सिद्ध होते हैं।

पुष्टिमार्गी सेवा पद्धति तथा शुद्धाद्वैत दर्शन:,

आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म सूत्र तथा श्री मद्भागवत् पर क्रमश: अणुभाष्य एवं सुबोधिनी लिखकर सगुण भक्ति समर्थक विष्णु स्वामी सम्प्रदाय तथा निर्गुण साधना मूलक अनुग्रह सम्प्रदाय की समंजस सेवा भक्ति का प्रवर्तन किया। ब्रह्म सम्बन्ध को लेकर ब्रह्म सूत्रों के वैष्णव भाष्यों में एक विलक्षण तत्त्व चिन्तन का प्रभाव आचार्य वल्लभ पर दिखाई देता है। औपनिषद् परतत्त्ववाचक ब्रह्म, वेदान्ताभिमत तथा सांख्याभिमत दोनों हैं। इस संबंध में ब्रह्मसूत्रकार का समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। आचार्य वल्लभ ने स्वरूपत: केवल परतत्त्व ब्रह्म को ही एक मात्र तत्त्व माना है। वही अपने को जगद्रूप में परिणत करता है। परतत्त्व सच्चिदानन्द है। अत: "आनंदमयोऽभ्यासात्"[1] जैसे सूत्र की व्याख्या करते हुए आनन्दमय को आनन्द का हेतु कहा गया है। आनन्दमय आनन्द का विकार नहीं अपितु आनन्द का मूल होने के कारण प्रचुरानन्द पूर्ण है। आनन्दमय इतर जीव नहीं हो सकता। परतत्त्व सच्चिदानन्द ही जब अपने एक अंश में आनन्द का तिरोभाव कर देता है तब उक्त अंश को चिदंश या जीव समष्टि कहते हैं और जब दूसरे अंश में आनन्द और चित् दोनों का तिरोभाव कर देता है तब वह अंश जड़ तत्त्व हो जाता है। इस प्रकार परतत्व ही स्वयं चेतनाचेतनात्मक जगत् के रूप में परिणत होने के कारण जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।[2] तात्पर्य यह है कि माया सम्बन्ध रहित और जगत् के अद्वैत के कारण एक मात्र तत्त्व ब्रह्म है और जड़ जीवात्मक जगद्रूप कार्य भी ब्रह्म है। अत: दोनों का अद्वैत है। ब्रह्म जीवभाव को अविद्या या माया के कारण प्राप्त नहीं हुआ। वह अपनी इच्छा

---

१. ब्रह्म सूत्र १।१।१३,

२. ब्रह्म सूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, डा० रामकृष्णआचार्य पृष्ठ २१६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से चित् और आनन्द भाव का तिरोधान कर जड़ और जीव का हेतु बनता है। वह जब चाहे जड़ और जीव में व्यक्त गुणों का अविर्भाव कर सकता है। अविकृत परिणाम्वाद की कल्पना वल्लभ ने यहीं की। परब्रह्म के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रूप स्वीकार करते हुए उन्होंने एक ओर आध्यात्मिक रूप में अक्षर ब्रह्म स्वरूप की कल्पना की तथा उसे ज्ञान लभ्य और ज्ञानि-प्राप्य बताया तो दूसरी ओर आधिदैविक रूप को साकार पुरुषोत्तमरूप, भक्तिलभ्य तथा भक्त-सेव्य बताया। सूरदास ने सारावली में ब्रह्म का निरूपण इसी साम्प्रदायिक मान्यता के आधार पर किया है—

सोभा अमित अपार अखण्डित आप आतमाराम,
पूरन ब्रह्म प्रगट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम।
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प आहार,
ओंकार आदि वेद असुरहन निर्गुण सगुन अपार।
अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनाशी,
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक विलासी।
सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल,
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सब है अंश गुपाल।

ब्रह्म का आधिदैविक रूप ही सगुण लीला रूप है। श्रीमद्भागवतोक्त लीलातत्त्व पौराणिक तत्त्व है जिसे वैष्णव भक्ति साहित्य में सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ है। लीलावतार में विभिन्न रूपों में भगवान का दर्शन लाभ होता है, लीला की प्रमुखता का एक हेतु यह भी है, उनकी लीला अमोघ है। लीला से ही संसार की रचना, पोषण और संहार होता है। इतने पर भी लीलावतारी उसमें लिप्त नहीं होते।[1] आचार्य वल्लभ के उपास्य श्री कृष्ण एक ओर स्वधामगत् नित्य लीला करते हैं तो दूसरी ओर अवतार कालीन जगत्प्रवत्ति रूप बाह्य लीलायें भी करते हैं। श्री कृष्ण का उज्ज्वल रस मण्डित रूप लीलातत्त्व की समग्रता को प्रकाशित कर सकने के कारण ही ग्राह्य है।[2] इन लीलाओं के साधनागत हेतुओं पर विचार करते हुए आचार्य वल्लभ ने सुवोधिनी रास प्रकरण में स्पष्ट लिखा है—

ब्रह्मानन्दात्समुध्दृत्य भजनानंद योजने,
लीलायायुज्यते सम्यक् सातुर्येविनिरुप्यते।।

समग्र जगत् को परमात्मा की बाह्य लीला मानकर, अन्तरंग लीलाधाम में रमने वाले भक्तों के लिये लीलातत्त्व का महत्त्व व्याख्या से परे है। इसीलिये महात्मा सूर विनय की सामान्य भक्ति को छोड़कर सारावली में लीलागान के लिये प्रतिश्रुत हुए।

श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौं, लीला भेद बतायौ
तादिन ते हरिलीला गाई एक लक्ष पद बन्ध।

इस प्रकार अन्तरंग लीलातत्त्व उनके आनन्द रूप की अभिव्यक्ति के कारण वैष्णव सम्प्रदाय में मान्य हुआ है। परमानन्द के नित्य विलास का पृथ्वी पर अवतरण इसी माध्यम से होता है। आधुनिक विद्वान् लीलातत्त्व के प्रतीकार्थ की अनेक व्याख्या करते हैं। पर चिदंश और सदंश के अभावगुण आनदांशं की अभिव्यक्ति के लिये ही लीलातत्त्व की प्रतिष्ठा की गई है। सारावली का साक्ष्य भी है—

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप,
कोटि कल्प बीतत नहिं, जानत विहरत युगलस्वरूप।

भगवान का लीलाधाम उसका स्वरूपगत अंश होने के कारण माया शक्तिजन्य संसार के गुणात्मक रूप से भिन्न होता है। अन्य माधुर्य रस निरूपक आचार्यों से सूर का वृन्दावन धाम व्रजधाम का तात्पर्यवाची होकर पृथक् रूप में आया है। स्वयं वल्लभ ने अणु भाष्य ४।२।१५ में गोकुल को वैकुण्ठ से अधिक महत्त्व दिया है—

---

१. सवा इदं विश्वममोघलीलः, सृजत्य वत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्। श्रीमद्भागवत् १।३।३६

२. आनन्द मात्र कर पाद मुखोदराधिः। तत्त्वार्थ दीप निबन्ध पृष्ठ ८५,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूरसागर के दशम् स्कन्ध में लिखा है—

वृन्दावन व्रज को महतु कापै बरन्यो जाई,
चतुरानन पग परसि के लोक गयो सुखपाई।

वल्लभ सम्प्रदाय के गंभीर अन्वेषक डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार भी व्रजभूमि रस रूप भगवान के लीला-धाम गोलोक या गोकुल का ही अवतार है।[1] वृन्दावन बिहारी की लीला भूमि के प्रति अगाध आसक्ति का निरूपण इसी प्रकल्पना के कारण सूर ने सूरसागर की इन पंक्तियों में किया है—

नैननि की छवि यहै चतुर सोइ जो मुकुन्द दरसन हित धावै।
करतेई जु स्याम को सेवै चरननि चलि वृन्दावन जावै॥

ब्रह्म के अतिरिक्त शुद्धाद्वैत दर्शन में जीव को चिदंश होने के कारण सत्य माना गया है। अग्नि से विच्छुरित होने वाली चिंगारी की तरह जीव में भी ब्रह्म की सत्ता रहती है। जीव अणु है व्यापक विभु नहीं। तिरोहितानंद होने के कारण अज्ञान गम्य है। कर्म सापेक्षता के आधार पर जीव कोटियां निर्धारित होती हैं—सूरसागर कार के शब्दों में—

जिय करि कर्म जन्म बहुपावै,-फिरत फिरत बहुतै श्रम आवै।
ज्ञानी सदा एक रस जानै, तन के भेद भेद यहि मानै।
आत्म अजन्म सदा अविनासी, ताको देह मोह बड़ फांसी।

अविद्या ग्रस्त जीव संसारी अवस्था में कष्ट उठाते हैं पर पुष्टि मार्गी जीव भगवत्कृपा से ब्रह्मभाव के उदय पर व्यापकत्व पा जाते हैं। सूत्रकार ने यद्यपि जीव का परतत्त्व से स्वरूप भेद प्रतिपादित किया है तथा रामानुज, निम्बार्क एवं बलदेव ने भी अंशतत्त्व की व्याख्या इसी आलोक में की है। किन्तु वल्लभ का जीव विषयक मत अनुग्रह सिद्धान्त की कल्पना के कारण भक्ति तत्त्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है, दार्शनिक दृष्टिसे भले ही वह वैमत्य का विषय हो। जीवोपकरणों में इन्द्रिय, प्राण और मन को भी आचार्य वल्लभ स्वरूपतः उत्पन्न नहीं मानते। "यावद् विकारं तु विभागोलोकवत्" की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्वरूपतः सब कुछ ब्रह्म ही माना है तथा जीवतत्त्व और जड़ तत्त्व को परतत्त्व के आधीन माना है। कारण और कार्य वह दोनों है—सूर की निम्न पंक्तियों में इसी आशय की अभिव्यक्ति हुई है—

प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद बतायो
गोपी ग्वाल कान्ह दुइ नाही ये कहुं नेक न न्यारे।

ब्रह्म और जीव के अतिरिक्त आचार्य वल्लभ ने जगत् के स्वरूप पर भी विचार किया है। तैत्तरीयोपनिषद् के साक्ष्य पर वह जगत् का कारण भी आनन्द को मानते हैं। जगत् ईश्वरेच्छा जन्य है और जीव की अविद्या रचना संसार है। जगत् नित्य है संसार अनित्य। तत्त्वार्थ दीप निबन्ध में कहा गया है।—

"तस्माद्देतोरस्य भगवतः शक्त्या अविद्यया जीव संसार उच्यते न तु जायते, अभिमत्यात्मकत्वात्, असत्त-वेनास्यगणनात्। अज्ञानं, श्रमः आदित्यादिशब्दा अहमे-तिरूपे संसारे एव प्रवर्तन्त न तु प्रपंच इत्यर्थः तस्य ब्रह्मात्मत्कवात्।"

महाकवि सूर ने जगत् और संसार का यह सम्प्रदाय सिद्ध भेद अपने सामने रखा है। ब्रह्म रूप जगत् विषयक उनकी उक्ति है—

खेलत-खेलत चित में आई सृष्टि करन विस्तार,
अपनु आपु करि प्रगट कियो है हरि पुरुष अवतार।
कीने तत्व प्रगट ते ही छन सबै अष्ट अरु बीस।

ममतात्मक संसार की कल्पित सत्ता के सम्बन्ध में उनका दृढ़ मत है—

मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया,
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि विसराया।

ब्रह्म सूत्र में परमनिः श्रेयस या मुक्ति को अन्तिम लक्ष्य स्वीकार कर उसकी प्राप्ति का उपाय ब्रह्म विद्या

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—पृष्ठ ४०५, अणुभाष्य-२।३।१६।४३
२. विस्फुलिलंगा इवाग्नेर्हि जड़ जीवा विनिर्गताः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बताया गया है। आचार्य जैमिनी के मत का प्रतिवाद करते हुए सूत्रकार ने विद्या को कर्माग न मानकर स्वतन्त्र साधन माना है एवं "विकल्पो विशिष्ट फलत्वात्" (३।३।५७) की व्याख्या में उसके व्याख्याकारों ने सर्वथा भिन्न दृष्टि अपनाई है। आचार्य वल्लभ ने भी मर्यादा मार्ग तथा पुष्टि मार्ग के भेद से नई व्यवस्था की है। पुष्टि मार्गीय भक्ति में ब्रह्म सम्बन्ध अथवा आत्म निवेदन का प्रमुख स्थान है। इसमें आचार मार्ग का निरूपण है, अनुग्रह तत्त्व की प्रतिष्ठा है तथा सेवा परिचर्या की प्रमुखता है। भक्त की स्वत्व सहित सर्वात्मना समर्पित चेतना का प्रकटीकरण ही इसका लक्ष्य है। गोस्वामी हरिराय जी ने पुष्टिमार्ग-लक्षणानि शीर्षक श्लोकों में स्पष्ट कहा है—

अनुग्रहणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी,
न यत्नातन्यथा विघ्नः पुष्टि मार्गः सकथ्यते।

महाकवि सूर ने भी अष्टयाम सेवा तथा अनुग्रह मार्ग पर पर्याप्त छन्द लिखे। यहाँ पर पुष्टि भाव के पोषणार्थ "चरन कमल बन्दौ हरिराई" तथा "जापर दीनानाथ ढरै" जैसी छन्दों की शीर्ष पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं।

आचार्य वल्लभ ने जीवों के आनन्द भोग में ब्रह्म का आनन्द भोग माना है। यह आनन्द की उपलब्धि पुष्टि मार्गीय भक्तों को ही होती है, ज्ञान मार्गी भक्तों को नहीं।[1] आनन्द भोग की प्रक्रिया में भगवदनुग्रह से पुष्टि की प्राप्ति तथा लीलामय भगवत्साक्षात्कार की प्राप्ति की चर्चा उन्होंने की है। विभूतिमय विग्रह के दर्शन से भक्त प्रेम रूपा तीव्ररति का अनुभव करता है। भगवत्कर्तृक भोग्य लीला के अनुप्रवेश से भक्त रसास्वाद करता है, इन्द्रिय सुख का स्पर्श यहाँ नहीं होता।[2] लीलामय कृष्ण की रसमयता का साक्षात्कार ही मुक्ति है। महाकवि सूर ने कालमायातीत लीलारस की महत्ता का निरूपण करते हुए कहा है—

"मायाकाल कहूं नहि व्यापै यह रस रीति सो जानै"

मुक्ति के स्वरूप भेद पर भी सूरदास ने विचार किया है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य जैसे चार भेदों की चर्चा उन्होंने सिद्धान्ततः तथा व्यवहारतः की है। लीलाधाम निरूपण के प्रसंग में सालोक्य, चरणारविन्द लाभ के उछाह में सामीप्य, शृंगार-छवि-निरूपण में सारूप्य तथा विविध वियोग दशाओं में सायुज्य की व्यावहारिक व्यंजना महाकवि सूर ने कराई है। निम्न पद में गोपी के विरह भाव में मुक्ति के चारों प्रभेदों का विनियोग हमारे कथन को पुष्ट करता है।

ऊधो सूधौ नैकुं तिहारौ।
हम अबलनि को सिखवन आए सुन्यो सयान तिहारौ।
निरगुन कहो कहा कहियत है, तुम निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौ मुक्ति लही हम चारी।
हम सालोक्य सरूप सायुजो रहति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरै तुम अलि बड़े अदाई।

वल्लभ दर्शन में उपास्य भाव तथा रस-तत्व :

आचार्य वल्लभ ने भक्ति-भाव के परिप्रेक्ष्य में ही अपनी दार्शनिक मान्यतायें स्थिर की। अवतारवाद और हरिलीला तत्त्व के अनुप्रवेश से वैष्णव भक्ति-साधना ब्रह्मभाव की सिद्धि में निर्गुण भाव की अपेक्षा अधिक उपयोगी और सार्वजनीन सिद्ध हुई। यही कारण है कि आचार्य श्री ने भक्ति के प्रचलित सभी प्रकारों का विचार बिना किसी आग्रह बद्ध दृष्टि से किया। उपासना क्रम में गृहीत भाव वैविध्य के औचित्य-निरूपण के मूल में भी यही उदारवादी धारणा काम कर रही थी। डा० हरवंशलाल शर्मा ने परमानन्द सागर की भूमिका पृष्ठ २३ पर वल्लभ सम्प्रदाय का उपास्य भाव वात्सल्य माना है,

१. ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेनाक्षर ब्रह्माप्राप्तिः पुष्टि-मार्गीयस्य भक्तस्य तु सोश्नुत इत्यनेनोक्ता पर प्राप्तिरिति। अणु भाष्य ४।४।५।११.

२. लीलाया कालमायाद्यतीतत्वेप्न प्राकृतं जगत् दूरतरमितोपि हेतोर्न तत्संभवः। अणुभाष्य ४।४।५।१७.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु सख्य और माधुर्य का आत्यन्तिक निषेध भी यहाँ नहीं है। प्रभुदयाल मीतल ने अष्टछाप परिचय पृष्ठ १३१ पर स्पष्ट लिखा है कि सख्य वात्सल्य की तरह कान्ता भक्ति भी वल्लभाचार्य को मान्य थी। राधाभाव की पूर्ण प्रकल्पना के अभाव में यद्यपि माधुर्य की वैसी प्रतिष्ठा वल्लभ सम्प्रदाय में नहीं हो पाई जैसी अन्य सखी भावोपासना प्रधान साधना पद्धतियों में रही। गुसाँई विट्ठलनाथ कृत "गुप्त रस ग्रन्थ" में बाल भाव और माधुर्य भाव का गुणीभूत रूप इसीलिये परिलक्षित होता है, वैष्णवाचार्यों के द्वारा पुराणोपजीवी साहित्य साधना को स्वीकृति मिल जाने पर गोपीतत्त्व, सम्प्रदाय और साहित्य दोनों ही धाराओं में अपनाया गया। लीलास्मरण की उपासना भी पुराण सम्मत है।[1] विद्वन्मंडन नामक ग्रन्थ में वल्लभ के लिये गोपीपति रतिमार्ग प्रवर्तक विशेषण का उपपन्न होना इसी तथ्य का पोषक है। श्री बालकृष्ण भट्ट ने प्रमेय रत्नार्णव में गोपियों के आचार-भाव की विविध भूमिकाओं का पुष्टिमार्ग की २० परिभाषाओं में संश्लेष प्रस्तुत किया है। अतः मधुरलीला विषयक भावोपासना तथा तत्सम्बन्धी साहित्य प्रणेता अष्ट छाप के कवियों में मधुरभाव विषयक पदों का आधिक्य देखकर उसे सम्प्रदायेतर वस्तु नहीं समझना चाहिये। डा० देवीशंकर अवस्थी का यह मन्तव्य इस संबंध में अधिक सही है कि वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के बाल रूप की प्रतिष्ठा अवश्य है एवं सूर ने वात्सल्य सम्बन्धी प्रचुर एवं उत्तम साहित्य की रचना भी की परन्तु फिर भी वल्लभ सम्प्रदाय में (हरिदासी प्रभाव के कारण) मधुर भाव की साधना ही बढ़ती गई। स्वयं सूर ने अपने अन्तिम पद में युगलरूप में ही अपनी चित्त वृत्ति के रमे रहने का संकेत किया है।[2]

अष्टछाप के कवियों का वृन्दावन की रसोपासना से प्रभावित होने का विवरण 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'निजमत सिद्धान्त' जैसे ग्रन्थों से भी हो जाता है। सूर की "हरिरस वृन्दावन ते आया" उक्ति उक्त प्रभाव की अन्तः साखी भरती है किन्तु यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वल्लभ सम्प्रदाय का गोपीभाव सूर के साधनामत उत्कर्ष का बीजभाव है जो बालभाव की परिधि में ही स्फुरित हुआ है। श्रीकृष्ण की ब्रज-लीलाओं के प्रामुख्य के कारण राधा के कैंकर्य की अपेक्षा यहाँ सम्पोषित सखा साम्य कोटि का माधुर्य है। इसीलिये सहचरी भाव प्रधान नित्य संयोग सुख की अपेक्षा विरह प्रधान व्याकुलता का उत्कठारस ही यहाँ सर्वत्र दिखाई पड़ता है। भ्रमर गीत विषयक पदों का व्यावहारिक साधनागत बीज भाव यही है और पलकान्तर का वियोग-जन्य उत्ताप न सह सकने वाली अन्तः परिशोषित लतिका गोपी से सूर के साधक कवि के अनन्य एकात्मभाव का रहस्य भी यही है। डा० शरण बिहारी गोस्वामी ने सेवा और अधिकार भाव के भेद से वल्लभ सम्प्रदाय के सखी भाव को गोपीभाव का ही व्यापक रूप स्वीकार किया हैं। उनका कथन है कि "ब्रजलीलाओं के आधार के कारण इस सम्प्रदाय का गोपीभाव व्यापक हो गया है। सूर प्रारम्भ में तो वल्लभाचार्य के सम्पर्क में थे तब तक बाललीला का वर्णन विशेष रूप से करते रहे परन्तु बाद में वृन्दावन का रंग लगने पर उन्होंने अपने को सखीभाव के कवियों के रूप में ढाल दिया। इन कवियों के अन्तिम जीवन की रचनायें प्रायः राधा की प्रधानता को सिद्ध करने वाली सखी भाव सम्बन्धी रचनायें हैं। यह उनके जीवन का एक विकास क्रम है जो महत्वपूर्ण है।"[3] अस्तु निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भक्ति साधना में पुरुष भाव के भंग हो जाने पर सहज नारी भाव की उत्पत्ति ब्रह्मभाव साधन का सर्वोपरि अंग कहा जा सकता है। साधन-क्रम में यह भावातिरेकपूर्ण चर्या है जहाँ प्रेम के स्फुरण से देह भाव विसर जाता है। रस रीति की प्रक्रिया यहीं से प्रारम्भ होती है। जिसकी कोई अवधि

---

१. अनुग्रहस्य भक्तानां मानुषं देहमस्थितः,
भजते तादृशीं क्रीड़ायां स्मृत्वा तत्परो भवेत्।
श्रीमद्भागवत् १०।३३।३७.

२. १८ वीं शती के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति पृष्ठ १०७

३. कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव पृष्ठ ६५०,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है जिस पर काल का कोई नियंत्रण नहीं है। सारावली और सूरसागर के माधुर्य बोझिल अधिकांश पद इसी प्रक्रिया के समर्थन में लिखे गये हैं। सूर सागर के इस पद में श्रुतियों को रस रूप कृष्ण से उपदेश दिलाते हुए भक्त सूर ने भी मानो अपनी स्वीकृति की अन्तिम छाप लगा दी है—

तबै ऋचा है गोपिका हरि सो कियौ विहार,
जो कोई भरता भाव करि हरि पद ध्यावै।
नारि पुरुष कोउ होय सोइ श्रुति ऋचा गति पावै।
तिनकी पद रज जो कोउ वृन्दावन भुवि माहीं,
परसै सो गोपिका गति लहै संसै नाहीं।

अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ब्रह्मसूत्र की सांख्याभिमत परम्परा के प्रभाव के कारण सूर के प्रेरणा स्रोत आचार्य वल्लभ ने प्रकृति-पुरुष की एकात्म भावना को भागवतोक्त गोपीभाव में भक्तिवाद के आग्रह के कारण पुरस्सरित किया। गोपीभाव से गोपीदेह प्राप्ति के सूत्र भी विष्णुपुराण, पद्मपुराण तथा वृहद वामन पुराण से प्राप्त हुए। यामुनाचार्य के "आगम प्रमाण्य सिद्धि के फलस्वरूप" तन्त्र साहित्य की युग्म पूजा का प्रभाव भी भक्ति निरूपक आचार्यों पर पड़ा। इसी आलोक में रुद्रयामल, कृष्णयामल तथा गौतमीतन्त्र का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी योषितभाव की सिद्धि के लिये उत्तरदायी माना जाना चाहिये। यही कारण है कि ब्रह्मसूत्र के निः श्रेयस अभ्युदय आचार निरूपक सूत्रों की व्याख्या में वल्लभ कृत पुष्टिमार्ग का समर्थन मूल ग्रन्थकार तथा अन्य वैष्णवाचार्यों के भाष्य से मेल नहीं खाता। औपनिषदिक् मधु-विद्या की परम्परा तथा शक्ति-शक्तिमान् की सांख्याभिमत परम्परा का सम्मिश्रण यहीं हुआ। अतः सूर और उनके सम्प्रदायगत सिद्धान्त और उपास्य भाव की मीमांसा करते हुए हमें ब्रह्म सूत्र के अणुभाष्य की प्रक्रिया तथा पुराण सम्मत लीलातत्व का गंभीर अनुशीलन करना चाहिये तभी हम वल्लभ और सूर द्वारा प्रस्तुत ब्रह्म परतत्त्व अवतारवाद तथा लीलारस की धारणा में संगति बैठा सकेंगे।

हिन्दी-विभाग
गुरुकुल विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगन्मिथ्यात्ववाद और ब्रेडले के आभास सम्बन्धी विचार

डॉ० अभेदानन्द

ब्रेडले प्रतीयमान वस्तुओं को आभास या मिथ्या कहते हैं। प्रतीयमान वस्तुओं के अधिष्ठानरूप से जो सत्ता है उसे ब्रेडले सत् कहते हैं। ब्रेडले ने अपनी पुस्तक "एपीयरेन्स एण्ड रियलिटी" के प्रथम खण्ड में सभी प्रतीयमान वस्तुओं को तर्कों और युक्तिओं द्वारा आभास सिद्ध किया है। तार्किक बुद्धि से विचार करने पर वस्तुयें सत्य सिद्ध नहीं हो पातीं। ब्रेडले के अनुसार पूर्ण सत् कभी भी अपने में स्वव्याघातक नहीं होता।[1] इसका अर्थ ब्रेडले के अनुसार हुआ—सत् यदि सत् है तो असत् नहीं हो सकता। वह सत् ही है। यदि सत् अपने स्वरूप से विलग हो सकता तब वह सत् ही नहीं कहा जायेगा। इसके विपरीत आभास अपने अस्तित्त्व को बनाये नहीं रख पाते, कारण यह है कि आभास का अपना कोई स्वरूप नहीं है। उनका स्वरूप भी सत् का ही स्वरूप है। आभास अपने अस्तित्व से तादात्म्य नहीं रख पाते।[2]

ब्रेडले ने प्रतीयमान वस्तुओं को आभास सिद्ध करने के लिये प्रधान-अप्रधान गुण, द्रव्य और विशेषण, सम्बन्ध और गुण, दिक् और काल, गति और परिवर्तन, कारण और क्रिया, वस्तुयें अपने में, यहां तक कि आत्मा का भी विचार करके सभी को स्वव्याघातक सिद्धि किया है। उनके अनुसार ये सभी आभास हैं, न कि सत्। अप्रधान गुणों के विषय में उनके विचार हैं कि रूप रंग आदि अप्रधान गुण वस्तुगत नहीं हैं, वे अहं सापेक्ष हैं। इन्द्रियों के बिना अप्रधान गुणों की सत्ता नहीं सिद्ध हो पाती। वे वस्तुतः वस्तुओं में न होकर विषयी में हैं, अतः आभास हैं। ब्रेडले स्वतन्त्र सत्ता को ही सत् कहते हैं। अप्रधान गुण स्वतन्त्र नहीं हैं, अतः सत् न होकर आभास हैं।[3] इसी प्रकार प्रधान गुण भी सापेक्ष हैं। वे भी अपने आप में स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान नहीं हैं, अतः वे भी आभास ही हैं।[4] गुण-गुणी का सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। ब्रेडले ने शक्कर खण्ड का उदाहरण देकर समझाया है कि शक्कर मीठा है, ठोस है, श्वेत है, इन गुणों से वह विशिष्ट है, किन्तु मीठा, ठोस आदि ही शक्कर नहीं हैं। मीठा स्वयं एक गुण है, वह ठोस नहीं है श्वेत स्वयं एक गुण है, ठोस का प्रयोग श्वेत में भी नहीं हो सकता। शक्कर इन गुणों की समष्टिमात्र भी नहीं। तब वह है क्या ?[5] इस प्रकार तार्किक विश्लेषण करने पर वस्तुयें न विशेषणरूप होतीं हैं, न उनसे भिन्न रूप से सिद्ध हैं। "शक्कर श्वेत है" इस वाक्य में हम शक्कर को श्वेत कैसे कह सकते हैं ? शक्कर को उद्देश्य करके श्वेत का विधान करने पर उद्देश्य शक्कर के विषय में हमने कुछ भी कथन नहीं किया। और यदि उद्देश्य को ही विधेय में कहा जाय तब भी कुछ नहीं कहा जायेगा। इस प्रकार उभयतः पाश है। ब्रेडले के शब्दों में "यदि उद्देश्य का विधेय उससे भिन्न रखा जाय तो उद्देश्य को ऐसा बताया जायेगा जैसा

1. Ultimate reality is such that it doees not contradict itself. Appearance and Reality—P.120.Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).
2. Ibid.p.—165.
3. (Appearance and Reality) p. 10. Bradley (9th Ed., oxford 1930)
4. Ibid.—p. 15.
5. Ibid.—p. 16

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः नहीं है। इसके विपरीत यदि "विधेय उद्देश्य से भिन्न हो तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'उद्देश्य के विषय में कुछ कहा ही नहीं गया।"[1]

ब्रेडले के अनुसार विश्व में सभी वस्तुयें किसी न किसी रूप में सम्बन्धों से युक्त हैं और सम्बन्धित वस्तुओं का स्वरूप वह नहीं होता जोकि सम्बन्धावस्था में प्रतीत होता है। उन वस्तुओं का स्वरूप सम्बन्धों से परे परमसत् है। वह परमसत् सम्बन्धातीत है। फिर भी इन वस्तुओं का वही स्वरूप है।

अद्वैत वेदान्त में जिस प्रकार चित्सुखाचार्य ने तत्व-प्रदीपिका में और श्री हर्ष ने खण्डन में न्याय वैशेषिक द्वारा स्वीकृत प्रमाण प्रमेयादि का प्रत्याख्यान किया है और अनिर्वचनीयतासर्वस्व की स्थापना की है, उसी प्रकार ब्रेडले ने भी उसी पद्धति से प्रातीतिक वस्तु गुण-गुणी विशेषण-विशेष्यादि का प्रत्याख्यान किया है। इनमें उनके अनुसार किसी प्रकार की भी संगति नहीं है। जो स्वयं किसी सम्बन्ध पर निर्भरशील है उसकी सत्ता सत् न होकर प्रातीतिक है। ब्रेडले ने गुण-गुणी में सम्बन्ध के लिये जिस प्रकार सम्बन्धांतर की शृंखलारूपी अनवस्था-दोष दिखाया है,[2] उसी प्रकार अद्वैताचार्यों ने न्यायवैशेषिक के समवाय के प्रत्याख्यान में सम्बन्ध परम्परा की अनवस्था का दोष दिखाया है।[3]

ब्रेडले प्रतीयमान वस्तुओं को उक्त प्रकार से आभास सिद्ध करते हैं, और कहते हैं कि "सम्बन्ध-गुण-विशिष्ट सत् वास्तविक सत् नहीं है, अपितु आभास है।"[4] सम्बन्धों के बिना गुण नहीं पाये जाते, गुणों के बिना सम्बन्धों का अस्तित्व नहीं मिलता। इस प्रकार सभी निर्भरशील हैं, अतः स्वसत्ता से रहित, मात्र प्रातीतिक हैं।

ब्रेडले बाह्य वस्तुओं को विचार की दृष्टि से सत्ता से च्युत करके आन्तर वस्तु आत्मा (Ego) को भी प्रतीयमान कहते हैं। शरीर और आत्मा दोनों ही ब्रेडले के अनुसार आभास हैं।[5] आत्मा को जिस रूप में जानते हैं वह सम्बन्धों से विशिष्ट आत्मा है। सम्बन्धों से विशिष्ट वस्तु स्वयं सत्तावान नहीं होती, अतः इस कारण आत्मा भी आभास है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी शरीर इन्द्रिय मनोयुक्त तथाकथित सम्बन्धित आत्मा वस्तुतः अध्यस्त है। अध्यस्त आत्मा मिथ्या है।[6] स्वस्वरूप आत्मा शरीरेन्द्रियान्तः करण धर्मों से परे है जो कि ब्रह्मरूप है। जहां तक अहं की आत्मा होने की बात है वह विशुद्ध चेतनांश में आत्मा या विशुद्ध चेतन है, किन्तु अहन्तांश अध्यस्त एवं मिथ्या है, अद्वैताचार्यों ने कहा है कि कार्यस्वरूप से सदसद्रूप से निर्वचनीय नहीं है। कारणात्मना ही उसका निर्वचन सम्भव है; इसलिये कारण की ही सत्ता है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है "कारण सत्तैव कार्यस्य सत्ता न ततोऽन्या"[7] इसी प्रकार ब्रेडले के अनुसार भी सत् की सत्ता के बिना आभास की सत्ता सम्भव नहीं। आभास के विषय में 'अस्ति' का कथन भी सत् के कारण ही सम्भव है। सत् आभास नहीं, किन्तु सत् के बाहर आभास नहीं है। सत् एक होकर सर्वत्र अनुस्यूत है, अतः नानात्व को अपने में आत्मसात् किया हुआ है।[8] वेदान्त सिद्धान्तमुक्तावलीकार का भी यही कहना है कि आत्मा सत्ता ही द्वैत की सत्ता है। इसी कारण आत्मा को जान लेने पर कारण रूप से द्वैत को भी

---

1. Ibid.—p. 17.
2. Appearance and Reality—p.18. Bradley (9th. Ed., Oxford, 1930).
3. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य भामती कल्पतरु परिमल। पृ० ५११, ५१२ निर्णयसागर, १९३८।
4. The reality so characterized, is not True reality, but is appearance—Appearance and Reality—p. 21. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930.)
5. That neither body nor soul can be more than appearance.—Appearance and Reality p. 262. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).
6. पंचपादिका। पृ० ३२। मद्रास १९५८।
7. भामती। पृ० ४४६। निर्णयसागर १९३८।
8. Appearance and Reality—p. 213. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जान लिया जाता है।[1] ब्रेडले अद्वैत के ही समान यह मानते हैं कि सत् के बिना आभास सम्भव नहीं।[2] आभास की जब सत्ता है ही नहीं तब वह बिना सत् के किसका आभास होगा ? अतः सत् की सत्ता ही आभास की सत्ता है। अभास सत् की सत्ता से सत्तावान् है, इसलिये कहा जा सकता है कि जो कुछ भी है सभी सत्य है। अद्वैत वेदान्त की "सर्वं-खल्विदं ब्रह्म" की व्याख्या भी यही सिद्ध करती है कि सत् सर्वत्र व्याप्त है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जहां पर ब्रह्म नहीं हो, क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त मिथ्या की सत्ता पृथक्रूप से स्वीकार करने का अर्थ है द्वैतापत्ति।

सापेक्षसत्य इन वस्तुओं को पूर्ण सत् मान लेना ही ब्रेडले के अनुसार भ्रम है।[3] अद्वैत वेदान्त के अध्यास विवेचन में स्पष्ट दिखाया है कि किस प्रकार भ्रमस्थल में जो वस्तु नहीं उसी को वहीं पर सत्य मान लिया जाता है; इसीलिये उक्त स्थल की वस्तु और ज्ञान दोनों मिथ्या हैं। इसी प्रकार जगत् की वस्तुयें ब्रह्म में आरोपित हैं जो कि अधिष्ठान की सत्ता से सत्तावान् हैं, किन्तु उन वस्तुओं को पृथक् रूप से सत्तावान् मानना ही जगद्भ्रम है। अद्वैत के ही समान ब्रेडले भी सत् में नानात्व का निषेध करते हैं। उनका कहना है कि स्वतन्त्र सत्ता के नाना सत् सम्भव नहीं हैं।[4] नाना सत् होने पर स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र सत् होंगे। परतन्त्र सत् का अर्थ सत् न होकर आभास ही हुआ। वस्तुयें अपने स्वरूप में सत् हैं और सत् में एकीभूत हैं, फिर भी बुद्धि में स्वव्याघाती एवं नाना प्रतीत होती हैं।[5] अद्वैत के अनुसार नानात्व दर्शन अध्यासजन्य है। ब्रेडले भी नानात्व दर्शन, सत् को पूर्ण रूप से ग्रहण न कर सकने के कारण, कहते हैं। बुद्धि द्वारा सत् को पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता।[6] बुद्धि जब भी सत् को जानना चाहेगी उसे आभास के रूप में विखण्डित करके ही जानेगी। सत् को जानने के लिए सत् होना पड़ेगा। अद्वैत में "ब्रह्म वेद ब्रहैव भवति" माना गया है, उसी प्रकार ब्रेडले सत् को सत् होकर ही जाना जा सकता है, ऐसा कहते हैं।

हमने ऊपर ब्रेडले के दर्शन में जगत्-प्रपंच की स्थिति का एक संक्षिप्त विवरण दिया है। अद्वैत में स्वीकृत मिथ्यात्व के साथ ब्रेडले द्वारा प्रदर्शित आभास की तुलना की जा सकती है। चित्सुखाचार्य, मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों ने मिथ्यात्वानुमान में दृश्यत्वादि हेतु प्रदर्शित किये हैं। अतः स्पष्ट है कि अद्वैतवेदान्ती दृश्य वस्तुओं को ज्ञान विषय होने के कारण मिथ्या कहते हैं। ब्रेडले भी हमारी बुद्धि में प्रतीयमान वस्तुओं को आभास की संज्ञा देते हैं। ब्रेडले के अनुसार सत् एक है, अतः नानात्व आभास है। ब्रेडले के अनुसार सत् निरंशी है, अतः जो भी अंशी या नाना हैं आभास हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिथ्यात्व में जो हेतु अद्वैताचार्य देते हैं, उन्हीं हेतुओं के समान बातें ब्रडले भी आभास के के लिए कहते हैं। वस्तुतः अद्वैत के अनुसार भी सत् "एकमेवाद्वितीयम्" है। ब्रेडले के अनुसार भी सत् एकमेवाद्वित्तीय है। इसी कारण सदतिरिक्त वस्तुयें आभास हैं। अद्वैत के अनुसार भी सत् ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वेन सर्व मिथ्या है।

ब्रेडले के अनुसार सत् का मापदण्ड 'अविरोध' है और आभास का मापदण्ड विरोध है। सत् कभी भी सत्ता से पृथक् नहीं हो सकता। सत् होकर सत्ता से पृथक् होना "विरोध" माना जायेगा। जिसमें उस प्रकार की बातें

---

१. आत्मसत्तैवद्वैतस्य सत्ता नाऽन्या यतस्तत आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्।
—वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली
पृ० १६४, प्रकाशानन्द अच्युतग्रन्थमाला।

2. Appearnce without reality would be impossible. Appearance and Reality—p. 432. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).

3. Ibid.—p. 431

4. The absolute is not many, there are no independent reals. Appearance and Reality p. 127. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

5. Ibid.—p. 505.

6. Truely to realize the existence of the absolute is for finite beings impossible. Appearance and Reality—p. 140. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो वह आभास होगा न कि सत्। अद्वैत के अनुसार भी सत् त्रिकालाबाध्य है। अबाधित होना ही सत् का मापदण्ड है। जो बाधित होता है वह सत् न होकर मिथ्या है।[1] जो आदि में भी नहीं था, अन्त में भी न होगा, वह सत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उत्पत्ति विनाशशील वस्तुयें अबाधित नहीं हो सकतीं। उत्पत्ति से पूर्व भी जिसकी सत्ता नहीं और विनाश के बाद भी जिसकी सत्ता नहीं, वह अबाध्य नहीं रहा। ब्रेडले के अनुसार वह स्वव्याघाती हुआ, क्योंकि कोई भी वस्तु जब अपनी स्वसत्ता को छोड़ देती है तब वह सत्ताहीन हो जाती है। यदि वह स्वसत्ता से युक्त होती तो उसकी सत्ता उससे विलग नहीं हो सकती थी। उसकी सत्ता सत् से प्राप्त होने के कारण किसी भी समय वह सत्ताहीन हो जाती है, अतः वह वस्तु आभास है। एक ही वस्तु-घट में भाव अभावादि विरोधी बातें हैं, अतः व्याघातपूर्ण हैं। आज घट है, कल नष्ट होने पर नहीं रहेगा, उत्पत्ति के पूर्व भी घट नहीं होता, इस कारण अर्थात् भावाभावादि विरोधी बातों के कारण ही घट अद्वैत के अनुसार मिथ्या है। इस देश में घट है, अन्य देश में नहीं है, इस प्रकार भावाभाव दैशिक दृष्टि से भी घट में हैं, अतः घट सत्ताव्याभिचारी है। अद्वैतवेदान्त में परिच्छिन्न हेतु से जो मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है, उसका तात्पर्य भी यही है। देशकाल और वस्तुगत परिच्छेद वस्तुओं में सीमा खींच देता है। वस्तु देशकाल और वस्तु के परिच्छेद से स्वसत्ताव्याभिचारी हो जाती है। इसी कारण वस्तुओं का बाध हो जाता है। ब्रेडले के अनुसार भी नाना वस्तुओं में सत्ता होने पर भी वह आंशिक सत्ता है, क्योंकि वस्तुयें नाना रूप से सत् नहीं हो सकतीं। सत् निरपेक्ष होता है, अर्थात् सत्ता के लिए ज्ञान के लिए वह निरपेक्ष है, किन्तु वस्तुयें सत्ता और ज्ञान के लिये सापेक्ष हैं, अतः सापेक्षतया भी वे आभास हैं।

ब्रेडले ने आभास का मापदण्ड विरोध या व्याघात को व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है, क्योंकि जहां पर भी सम्बन्धादि की सिद्धि तार्किक विश्लेषण द्वारा नहीं कर पाये, ब्रेडले ने वहीं पर विरोध का प्रयोग करके उससे आभास कह दिया है। अद्वैत वेदान्त के "व्यावर्तमानत्व", "परिच्छिन्नत्व", "अवयवित्व", "जड़त्व", "दृश्यत्व" आदि मिथ्यात्व अनुमान के हेतु ब्रेडले के "विरोध" शब्द के अन्तर्भूत हैं। ब्रेडले ने विरोध का प्रयोग उक्त सभी अर्थों में किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्त स्वीकृत मिथ्यात्व का मापदण्ड ब्रेडले द्वारा स्वीकृत विरोध के समान है।

ब्रेडले ने प्रतीयमान वस्तुओं को आभास अवश्य कहा है, किन्तु उन्हें असत् नहीं कहा है। वस्तुयें आभास हैं—का अर्थ सापेक्ष सत् हैं। यद्यपि सत् वस्तु एक ही है, फिर भी आभास बिना सत्ता के सम्भव न होने के कारण सापेक्ष सत् है। सभी मिथ्या हैं फिर भी अंशतः सत्य हैं। इस प्रकार सभी प्रतीयमान वस्तुओं में कुछ सत्ता अवश्य होती है।[2] व्यावहारिक दृष्टि से ब्रेडले आभास को भी सत्य मानते हैं। यद्यपि सभी प्रतीयमान वस्तुओं को आभास कहा गया है, फिर भी व्यवहार में सत्य मिथ्या का अन्तर है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीयमान वस्तुयें सभी सत्य हैं।[3] ब्रेडले आभास को अद्वैत के मिथ्या के समान ही एक सर्वभौम व्यावहारिक सत्य मानते हैं। जहां पर ज्ञान के अनुकूल वस्तुयें नहीं प्राप्त होती वही भ्रम है। प्रतीयमान जागरिक वस्तु विषयक भ्रम उक्त भ्रम से भिन्न हैं।[4] प्रातीतिक वस्तुयें सापेक्ष सत् हैं। हमारे दैनिक व्यवहार में ये वस्तुयें मिथ्या नहीं हैं।

1. The Idealist thought of India—p. 102 P.T. Raju, London, 1953.
2. Every phenomena is somehow real. Appearance and Reality—p. 127. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)
3. From the relative point of view a truth is wholly true.—The Chief Currents of Contemporary Philosophy—Datta p. 74. 2nd Ed., Calcutta, 1961.
4. Appearance and Reality-p. 486. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सापेक्ष सत्य के बिना हमारा जीवन नहीं चल सकता।[1] प्रातीतिक ज्ञानों में जो ज्ञान सफल प्रवृत्तिजनक न हो, वह भ्रम है। जैसे सीपी में चांदी को देखने पर लेने के लिये प्रवृत्ति होने पर, वहां चांदी मिलती नहीं, इस कारण वह भ्रम ज्ञान है। भ्रमज्ञान का विषय भी भ्रम है,[2] किन्तु पुस्तक को देखने पर पुस्तक लेने की प्रवृत्ति दशा में पुस्तक की प्राप्ति होती है, अतः पुस्तक का ज्ञान सत्य-ज्ञान है। इस प्रकार ब्रेडले के अनुसार भी व्यवहार में सत्य मिथ्या का विभाजन किया गया है। वस्तुतः ब्रेडले के अनुसार सत्ताभेद नहीं है। सत् में सत्ताभेद सम्भव नहीं, क्योंकि सत् पूर्ण है। इसी कारण अन्य सत्ता, अधिक सत्ता, आदि बातें या अल्प-पूर्ण, अधिक-पूर्ण आदि बातें, वस्तुतः सत् में सम्भव नहीं।[3] सत् में सत्ता-भेद की कल्पना प्रातीतिक है।

अद्वैत वेदान्त में व्यवहार और परमार्थ का भेद हमने दिखाया है। अवगति पर्यन्त व्यावहारिक जगत् प्रमाण-प्रमेय-भाव, सब सत्य ही हैं; किन्तु बाध होने पर मिथ्या हैं। इस प्रकार अद्वैत का मिथ्या सदसदनिर्वचनीय है, ब्रेडले का आभास सापेक्ष सत् है। दोनों ही एक पूर्ण सत् की दृष्टि में जगत्-प्रपंच की व्याख्या देते हैं।

रीडर, दर्शन-विभाग,
गुरुकुल विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

1. The Chief Currents of Contemporary Philosophy—p.75. Datta, 2nd. Ed., Calcutta, 1961.
2. Ibid—p. 76.
Appearance and Reality—p. 319.Br adley (9th Ed., Oxford, 1930).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरतपुर में महाकवि देव

—लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

मानव-स्वभाव अपने परिवेश के साँचे में आकार ग्रहण करता है। यह बात सामान्य जनों की भाँति कवियों पर भी घटित होती है। हम कह सकते हैं कि कवि औरों की अपेक्षा अपने प्राप्त परिवेश से विशेष प्रभावित होता है। प्राचीन से लेकर अधुनातन तक सभी कवियों को हम इसी नियम का अनुवर्ती पाते हैं। कवि प्रकृति-परिवेश और सामाजिक परिवेश दोनों से समान रूप में प्रभावित होता है। उसमें परिवेश-परिवर्तन के साथ स्वभाव-परिवर्तन भी होता रहता है। उत्तर मध्यकाल के हिंदी-कवियों में से कतिपय को हम इस परिवेश या वातावरण से आश्चर्य-जनक ढंग से प्रभावित पाते हैं। आश्चर्यजनक इसलिये कि उन्होंने नया वातावरण पाकर अपने परंपरागत काव्य की राह कुछ देर के लिये छोड़ दी। जीवन भर शृंगार-परक रचना करने वाले कवि ने भी अपनी नई राह में वीर रस के कवियों से होड़ की। ऐसे कवियों में से एक महाकवि मतिराम भी हैं। इन्होंने अपने अग्रज महाकवि भूषण के आश्रय दाता छत्रपति महाराज शिवाजी और महाराज महाराज छत्रसाल बुंदेले के यहाँ यात्रा की थी। यह तथ्य है कि मतिराम शृंगार रस के अनुपम कवि थे। उनका रसपरक ग्रंथ 'रसराज' बहुत दिनों तक सर्वाधिक समादृत ग्रंथ रहा है। इन्होंने उपर्युक्त दोनों जननायकों के संपर्क में आकार वीर रस की श्रेष्ठ कविताएँ रच डाली थीं। याज्ञिक-बंधुओं (मयाशंकर याज्ञिक, जीवन शंकर याज्ञिक और भवानीशंकर याज्ञिक) ने माधुरी' पत्रिका के जुलाई, १९२४ के अंक में 'मतिराम और भूषण' नामक लेख में सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया था। नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय के कतिपय हस्तलेखों में मुझे भी कई छंद ऐसे मिल गए जिन्हें पाकर मुझे आश्चर्य-सम्मिश्र हर्ष हुआ। यहाँ मतिराम-रचित शिवाजी की प्रशंसा का एक छंद उद्धृत करके मैं प्रस्तुत विषय पर आ जाना चाहूँगा। छंद इस प्रकार है—

बान अरजुन के बखानियत मतिराम,
गदा भीमसैन की सदा ही सुभ साज की।
बासव को ब्रज, बलदेव को मुसल बासु—
देव जू ओ चक्र सुर कीरति इलाज की।
दंड दंडधर औ अदंडन के दंडिबे कौं,
नखन की पाँति नरसिंह सिरताज की।
सिव कौ त्रिसूल औ कुठार जामदग्नि औ ज्यौं
सिवा की सकति, समसेर सिवराज की॥

इसी प्रकार महाकवि देव एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने शृंगार को ही एकमात्र रस माना था—

'भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल सिंगार।'

और ये उसी रस के सिद्ध कवि माने जाते हैं। बहुतेरे राजाओं और रईसों के दरबारों में टक्कर खाने के बाद प्रतिक्रिया स्वरूप इनके मन में निर्वेद उत्पन्न हुआ था और वह जीवन के अंतिम दिनों में, जब इनकी वाणी अनायास फूट पड़ी थी—

ऐसो जौ हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ पाँय तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नट सों निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतों 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुंह मोरतो।
भारो प्रेम पाथर, नगारौ दै, गरे सों बाँधि,
राधावर बिरद के बारिधि मैं बोरतो॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी निर्विण्णता की स्थिति में इन्होंने वैराग्य और तत्त्व चिंतन परक चार पचीसियाँ लिख डाली थीं। अपनी वृद्धावस्था में देव काफी समय तक भरतपुर राज्य के आश्रित रहे। वहाँ के नरेशों की प्रशंसा में लिखे गए इनके छंद बहुत दिनों तक लोगों को अज्ञात रहे और बहुतों को तो आज भी उनका पता नहीं है। किसी हिन्दी साहित्य के इतिहासकार ने भी तत्परता के साथ खोज करने का कष्ट नहीं उठाया। इसीलिये हिंदी साहित्य के जो इतिहास इधर लिखे गए हैं, उनमें भी देव के भरतपुर राज्य के आश्रित होने का कहीं विवरण नहीं है। 'मत्स्य देश की हिंदी साहित्य को देन' नामक पुस्तक में देव का भरतपुर जाना उल्लिखित है, किंतु उसमें कहा गया है कि किसी सरदार के बार-बार आग्रह करने पर भी देव ने यही कहा कि सरस्वती मुझे कुछ कहने की आज्ञा नहीं दे रही है।

माधुरी नामक मासिक पत्रिका के वर्ष ३, खं० १६, संख्या चार के पृष्ठ ५३४ पर पं० मदनलाल जी मिश्र का एक लघु लेख 'महाकवि देव और भरतपुर राज्य' छपा है। इसमें याज्ञिक बंधुओं के कथन का खंडन करते हुए एक अनुश्रुत किंवदन्ती का उल्लेख किया गया है। वे लिखते हैं—

"मैंने कतिपय वयोवृद्धों से देव के विषय में यह एक किंवदंती सुनी है कि महाराज सूरजमल जी के दरबार में देव जी का आना समय-समय पर हुआ करता था। एक समय देव जी महाराज के दरबार में पधारे। उस समय कविवर घनआनंद जी भी उपस्थित थे। कविद्वय में वार्तालाप होते समय महाकवि देव जी ने कहा—"घनआनंद जी, आपकी कविता में जो चमत्कार और हृदयग्राहकता है वह हमारी कविता में क्यों नहीं आती?" इस पर घनानंद जी बोले—"महाराज, आप वर्तमान समय के कवि शिरोमणि और उत्कृष्ट पंडित हैं, परंतु इस दास की और श्रीमान् की कविता में जो अंतर है, उसका कारण एक रहस्य से पूर्ण है। वह यही कि आप जो वर्णन करते हैं, वह दूसरों पर बीती का, और यह दास अपने ऊपर बीती बात कहता है। जैसे कोई-व्यक्ति किसी के यहाँ मृत्यु होने पर शोक प्रदर्शित करने जाय तो उस समय उसको वैसा दुःख का अनुभव नहीं होता, जैसा जिसके घर मृत्यु हो गई हो, उसको होता है।"

इस किंवदंती का उल्लेख कई लेखकों ने अपने ग्रन्थों में किया है। पं० मदन लालजी मिश्र ने उसी लेख के अन्त में यह भी कहा है, "उन छः छन्दों के अतिरिक्त जवाहिर सिंह जी के विषय के कुछ छन्द देव के कहे और भी हैं।" किन्तु वे 'कुछ छन्द और भी' कौन से हैं उन्हें मिश्र जी ने उद्धृत नहीं किया और उन्हें उस समय यह भ्रम भी था कि वे छन्द प्रसिद्ध महाकवि देव के न होकर किसी और देव नामा कवि के हैं। इस भ्रम का खन्डन अपने एक लेख में याज्ञिक बधुओं ने बाद में कर दिया था। इधर मुझे प्राचीन हस्तलेखों को देखते समय कविवर देव के तीन छन्द और मिले हैं। इन तीनों कवित्तों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें से एक में महाराज सूरज मल्ल की युद्ध वीरता वर्णन है और शेष दो में महाराज जवाहर सिंह की प्रशंसा है। एक में उनकी युद्ध वीरता का उल्लेख है और दूसरे में उनके होली खेलने का रसमय वर्णन है। इससे यह बात साफ हो जाती है कि कविवर देव महाराज सूरजमल्ल के राज्यकाल में भरतपुर गए ही थे। बाद में उनके तेजस्वी पुत्र के राजत्वकाल में भी वहाँ पधारे थे और दोनों ही नरेशों ने उनका यथोचित सम्मान भी किया था। महाराज सूरजमल्ल के युद्ध का छन्द पहले देखें—

दुहूँ दल मार-मार मच्यौ घमासान और
नाचत-मसान जहाँ नाग गन छ्वै गयौ।
चल्यौ आसमान भान सहित बिमान जहाँ
चल्यौ मेरु मति औ सिथिल ससि ह्वै गयौ।
सोनित ओ नद चल्यौ, नन्दी तहाँ बहि चल्यौ,
सिव चल्यौ सहमि सिवाहू उर छ्वै गयौ।
बीर मद मत्ता तहाँ हाथ गहै कत्ता 'देव'
हल्यौ न चकत्ता लत्ता-लत्ता तन ह्वै गयौ॥

यह दिल्ली के उस युद्ध का वर्णन है, जिसमें महाराज सूरज मल्ल ने वीर गति पाई थी। शेष दोनों छन्द इस प्रकार हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूलैगो कतल जातें सुतल बितल काँप्यौ,
भूलैगो दिली मैं साति नादर को आयबौ।
भूलैगो रे भाऊरम्य भाज्यौ संसार जातें,
भूलैगो सुजान को जु सुरपुर जायबौ॥
ह्वै करि सकुद्ध उद्ध जुद्ध महा जैपुर को
जीत्यौ रजपूतन को गरब गरायबौ।
भूलैगो न जग मैं जवाहर नरिंद तेरौ
सिंघन बुलायबौ पौहौकर को न्हायबौ॥
ब्रज सिरताज श्री जवाहर नरेंद्र आज
होरी के समाज गज चढ़ि चहुँ ओर पर।
आनन्द उमंग प्रेम रस की तरंग भरि,
केसरि के रंग पिचकारिन झकोर पर॥
सुन्दर नवेली अलबेलिन के आनन पै
बरसैं सुगन्ध बारि मदन मरोर पर।
मानौं उदयाचल तै मारतन्ड मन्डल की
छूटीं लाल किरनैं कलानिधि की कोर पर॥

परम्परानुसार प्रचन्ड पराक्रमी महाराज जवाहर सिंह की वीरता और संस्कृति-प्रेम-जन्य उनकी रसिकता का वर्णन करके उनकी सर्वतोभावेन पूर्णता का निदर्शन कवि-वर देव ने कर दिया है।

जिन प्राचीन हस्तलेखों से मैंने ये छन्द प्राप्त किए हैं, उनमें सैकड़ों ज्ञात और बहुतेरे अज्ञात कवियों की उत्तम रचनाएँ संकलित हैं। यदि इन हस्तलेखों का प्रकाशन हो जाय तो मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का वह भाग जो अंधकाराच्छन्न है, बहुत कुछ प्रकाश में आ जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी साहित्य और दयानन्द युग

कृष्णकुमार कौशिक

सन् १७५७ ईसवी में प्लासी के युद्ध ने बंगाल में ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रमुख प्रभुत्व स्थापित कर दिया। इसके सात वर्ष बाद अर्थात् १७६४ ई० में बक्सर की लड़ाई के उपरान्त अवध पर भी कंपनी का झन्डा फहराने लगा। १८०० ईसवी तक इस देश का बहुत बड़ा भाग कंपनी के अधिकार में आ चुका था। थोड़ा बहुत जो शेष रह गया था उसकी पूर्ति १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम ने (जिसे अंग्रेज इतिहासकारों ने गदर या सिपाही विद्रोह का नाम दिया था) कर दी।

इस तथाकथित विद्रोह के समाप्त हो जाने के बाद कम्पनी के काले शासन का भी अन्त होगया। शासन सत्ता कम्पनी के हाथों सेनिकल कर महारानी विक्टोरिया के पास चली गयी। दूसरे शब्दों में एक विदेशी शासन के विरुद्ध जनता के हृदय में सुलगने वाली आग कुछ समय के लिए शांत हो गयी। इस प्रकार सन् १७५७ ईसवी से लेकर १८५७ ईसवी तक के इन १०० वर्षों में अंगरेजों ने सम्पूर्ण भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था।

अंगरेजी रहन सहन तथा बोलचाल उस समय के भारतीय युवकों के लिए आकर्षण की वस्तु थी। धार्मिक मुसलमान और हिन्दू दोनों ही देश के नवयुवकों को पाश्चात्य के प्रभाव से प्रभावित होते हुए देखकर चिंतित थे। ऐसी दशा में सारे देश में दो विरोधी विचार धाराओं में संघर्ष छिड़ना आवश्यक था। राजा राममोहनराय और सर सैयद अहमद खां उसे दूरदर्शी नेता अंगरेजी- शिक्षा और विलायती भाषा का समर्थन करके युग का नेतृत्व कर रहे थे।

यद्यपि ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी में ईसाई धर्म प्रचारकों ने दक्षिण भारत में ईसाई धर्म का झण्डा गाड़ दिया था पर अंग्रेजों के शासनकाल में उन्हें अपने धर्म प्रचार की खुली छुट्टी मिल गयी, अंग्रेजी रहन सहन को अपना कर लोग शरीर से ही अंगरेज बन रहे थे पर ईसाई पादरी इस देश की आत्मा को भी बदल देना चाहते थे। ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने इस देश की भाषाएं सीखी। और सभी भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद किए। उस समय तक देशी भाषाओं का एक भी व्याकरण नहीं था। उन्हें विदेशी होने के कारण इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता थी। अतः उन्होंने यहाँ की भाषाओं की व्याकरणों की रचना करके एक ऐसा महत्त्व पूर्ण कार्य किया जिसने आगे चलकर भाषा विज्ञान तथा भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन को जन्म दिया। हिन्दी भाषा में बाइबिल का अनुवाद जार्ज विलियम कैरे ने किया। इस अनुवाद में उन्होंने इस देश की भोली भाली तथा साधारण पढ़ी लिखी जनता को प्रभावित करने के लिए भाषा कथावाचक पंडितों जैसी रखी। बाईबिल के पुराने धर्म नियम में से इसका एक उदाहरण दिया जाता है।

"सारी पृथ्वी पर एक ही भाषा और एक ही बोली थी उस समय लोग पूर्व की ओर चलते-चलते शिनार देश में मैदान पाकर उसमें बस गये। तब वे आपस में कहने लगे कि आओ हम ईंटे बनाकर भली-भाँति आग में पकाऐं और उन्होंने पत्थर के स्थान में ईंट से और चूने के स्थान में मिट्टी के गारे से काम लिया। फिर उन्होंने कहा आओ हम एक नगर गुम्बद बना लें जिसकी चोटी आकाश से बातें करे।

जब लोग नगर और गुम्बद बनाने लगे तब इन्हें देखने के लिए यहोवा उतर आया और यहोवा ने कहा सब एक ही दल के है और भाषा भी उन सबकी एक ही है।

इसलिए आओ हम उतर के उनकी भाषा में गड़बड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डालदें कि वे एक दूसरे की बोली न समझ सकें। इस प्रकार यहोबा ने उन्हें वहाँ से सारी पृथ्वी के ऊपर फैला दिया।

इस कारण उस नगर का नाम बाबुल पड़ा क्योंकि सारी पृथ्वी की भाषा में जो गड़बड़ी है सो यहोवा ने यहीं से डाली।' उत्पन्ती पर्व ११

प्रचार की दृष्टि से लिखी गयी बाईबिल की भाषा को साहित्यिक नहीं कहा जा सकता। उसमें एक प्रकार का अखड़पन भी मिलता है तथा साथ ही साथ उनकी भाषाओं में शब्दों के अनगढ़ रूपों को देखने से जान पड़ता है कि उसमें गंवारूपन तथा कथावाचक पंडितों की कथा बाचने की शैली का समावेश जानबूझ कर किया गया है। यदि वह चाहते तो इस दिशा में अच्छा कदम भी उठा सकते थे साधारण पढ़े। लिखे हिन्दुओं को धर्म विमुख करने के लिए वह मेलों में जाजा कर ऐसे ट्रैक्ट भी बाँटा करते थे जिनमें वेद शास्त्रों की कड़ी आलोचना होती थी सत मत निरूपण, धर्म तुला, सतगुरु की खोज, आदि ट्रैक्ट जिन्हें अब भी ईसाई धर्म प्रचारक मेले-ठेलों में बांटा करते हैं उन्हें यदि ध्यान से पढ़ा जाय तो ऐसी बहुत सी बातें मिलेंगी जिनका उद्देश्य धार्मिक महा पुरुषों की निन्दा करके भोली भाली जनता को धर्म विमुख बनाना ही जान पड़ता है। सतगुरु निरूपण से एक उदाहरण लीजिए:—

वह सोचेगा कि मैं पाप से काहे को भयभीत होऊं मैं बुरा तो हूं परन्तु देवताओं से बुरा तो नहीं हूं वरन् उनसे कहीं भला हूँ। शिव के समान जाति से अप्रतिष्ठित तो नहीं हुआ ब्रह्मा की नाई कामातुर होके अपनी कन्या से कुकर्म नहीं किया। विष्णु के समान स्त्री को नहीं ठगा। इन्द्र के समान अपने गुरु की पत्नी को भ्रष्ट नहीं किया।

ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने सारे भारत में मिशन स्कूलों का जाल बिछा दिया। जिनमें इसी देश की देशी भाषाओं में अनिवार्य रूप से बाइबिल की शिक्षा भी दी जाती थी। उन्होंने पाठ्य विषयों को उन विद्यालयों के छात्रों को पढ़वाने के लिए यहाँ की देशी भाषाओं में पाठ्य पुस्तकों की रचना भी कराई थी।

हिन्दी के कुछ विद्वानों का यह कहना कि ईसाईयों ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा मानकर उसे अपने धर्म प्रचार का माध्यम बनाया था कुछ उचित नहीं जान पढ़ता क्योंकि उन्होंने जहाँ उत्तर प्रदेश के कुछ भाग में प्रचार करने के लिए हिन्दी को प्रचार का माध्यम बनाया वहां वहाँ उन्होंने बंगला, मराठी, पंजाबी, उर्दू, राजस्थानी, नेपाली, गुजराती, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं को प्रचार का माध्यम बनाया था। शायद भारत की कोई भाषा होगी जिसमें इसाई धर्म प्रचारकों ने बाईबिल का अनुवाद नहीं किया होगा।

ईसाई पादरियों के इस धार्मिक प्रचार के प्रभाव से तो इतने नहीं पर नये शासकों की बिरादरी में शामिल होने के लोभ से माईकिल मधुसूदन दत्त जैसे सुशिक्षित हिन्दू भी ईसाई धर्म में दीक्षित हो रहे थे। समुद्र पार जाने को धर्म विरुद्ध समझने वाले धार्मिक हिन्दुओं की कट्टरता के कारण बहुत से विलायत से शिक्षा प्राप्त करके लौटकर आने वाले हिन्दू विवश होकर शासकों का धर्म स्वीकार कर रहे थे।

यह परिस्थितियाँ थी जिन्होंने युग पुरुष दयानन्द के लिए कार्य क्षेत्र तैयार कर दिया था। अपनी लेखनी के द्वारा जो कार्य उन्होंने किया था, वही योरप में वहाँ की धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार मार्टिन लूथर ने किया था।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने वाले विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ सम्वत् १९०० में माना है इसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने आगे चलकर सम्वत् १९२५ से १९५० तक प्रथम उत्थान; १९५० से ७५ तक द्वितीय उत्थान १९७४ से अब तक तृतीय उत्थान मानकर इन तीन भागों में इस समस्तकाल को बांट दिया है। इन तीनों उत्थानों को अब हिन्दी के विद्वान् भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावादी युग का नाम, प्रदान करते हैं परन्तु १९२५ से पहले २५ वर्षों के युग को क्या कहा जाय यह एक प्रश्न हमारे सामने अभी तक बना हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे विचार में यही काल वास्तव में हिन्दी का प्रथम उत्पादन काल है। इसकी भूमिका ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने खण्डन मन्डनात्मक ट्रैक्टों के द्वारा आरम्भ करदी दी थी। ईसाई पादरी कबीर के समान जिस लक्कड़ भाषा में खण्डन, मन्डन कर रहे थे उसका उत्तर स्वामी जी ने जिस भाषा में दिया उसे हम ईंट का जवाब पत्थर से देना ही कहेंगे। हिन्दी के विद्वान स्वामी जी की गद्यशैली की समीक्षा करते हुए उसके खण्डनात्मक रूप को ही लेते हैं। इस समीक्षा में वह सत्यार्थ प्रकाश से आगे नहीं बढ़ पाते। सत्यार्थ प्रकाश में भी केवल खण्डन मण्डन वाले प्रकरणों को लेकर स्वामी जी की गद्य शैली की समीक्षा करके रह जाते हैं।

कितना अच्छा होता यदि यह विद्यवान स्वामी जी के अन्य ग्रन्थों ऋग्वेद आदि भाष्यभूमि का तथा संस्कार विधि आदि पर भी एक दृष्टि डाल लेते। स्वामीजी के वेद भाष्य की भाषा का भी अध्ययन कर लेते। एक ही विद्वान् जब विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रकट करता है तो उसकी शैली भी विषयों के अनुरूप बदलती चली जाती है। यदि यह सत्य है तो स्वामी जी की भाषा शैली के भी सभी समीक्षकों को उनकी समस्त रचनाओं को सम्मुख रखकर उस पर अपना सही निर्णय देना पड़ेगा।

स्वामी जी को केवल एक धर्म प्रचारक मानकर उनकी गद्य शैली की समीक्षा करते समय उसकी उपेक्षा करना एक संकुचित दृष्टि कोण ही कहा जायगा। वास्तव में जिस गद्य शैली का प्रतिष्ठापक लोग भारतेन्दु को बताते हैं उसका शिलान्यास स्वामीजी ने ही किया था। यदि साहित्य, उपन्यास, नाटक कहानी, निबन्ध, आदि विद्याओं का श्रीगणेश भारतेन्दु तथा उनके युग के लेखकों द्वारा हुआ तो शास्त्रीय पद्धति से समीक्षा और व्याख्या करने की पद्धति का आरम्भ स्वामी जी और उनके युग के लेखकों के द्वारा हुआ। इस निर्विवाद सत्य को कौन नहीं स्वीकार करेगा।

स्वामी जी की लेखनी ने धार्मिक क्षेत्र में जो क्रान्ति की थी उसने भारतीय चिन्तन परम्परा को सर्वथा बदल दिया। उससे पूर्व ईसाई पादरी अपनी कठोर भाषा में वेदों तथा पुराणों की आलोअना करके भारतीय जनता के धार्मिक विश्वास को चोट पहुंचा रहे थे। संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण जनता उनके कुतर्कों का उत्तर दे सकने में असमर्थ थी। अतः समय की मांग थी कि कोई विद्वान् संस्कृत में लिखे गये हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों को बोलचाल की भाषा में समझा कर सर्व साधारण के लिए उनका अध्ययन सुलभ कर सके।

साथ ही एक प्रश्न यह भी था कि वह भाषा क्या हो? हमारा भारत जहां मराठी, बंगला, गुजराती, मलयालम तेलगू, कन्नड आदि सैकड़ों भाषाऐं बोली जाती हैं वहाँ इस भाषा सम्बन्धी समस्या को हल करना सुगम नहीं था। अपने प्रचार कार्य का श्री गणेश राष्ट्र भाषा हिन्दी में करके युग पुरुष दयानन्द ने युग को एक नई दिशा दिखाकर जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया उसके लिए उनका नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिए था। अपनी मातृ भाषा गुजराती होते हुए भी उनका हिन्दी में ग्रन्थ रचना करना यह स्पष्ट कर देता है कि वह हिन्दी को राष्ट्र भाषा के स्वर्ण सिंहासन पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उनका उद्देश्य केवल ग्रन्थ रचना ही नहीं था बल्कि समूचे भारत की बिखरी हुई कड़ियों को जोड़कर शृंखला का रूप देना भी था एक देश एक वेष, एक भाषा, एक धर्म, एक संस्कृति का जो मधुर स्वप्न उन्होंने देखा था वह उनके ग्रन्थों में ही मिल सकता है। अपने इस स्वप्न को साकार करने के लिए उन्होंने हिन्दी में ही ग्रन्थ रचना की।

एक ओर तो उनकी मातृ भाषा गुजराती थी और दूसरी ओर उनके पठन की भाषा संस्कृत थी ऐसी दशा में जितनी सुगमता से वह इन दोनों भाषाओं में लिख सकते थे उतनी सुगमता से हिन्दी में लिख सकना उनके लिए कठिन था फिर भी उन्होंने इन दोनों भाषाओं में रचना न करके हिन्दी के प्रचार व प्रसार में जो महत्त्व पूर्ण कार्य किया वह हमारे सामने है। हिन्दी भाषा को आर्य भाषा का नाम देकर देश की भावात्मक एकता की आधार शिला सर्व प्रथम उन्होंने ही रक्खी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी जी की क्रान्तिकारी लेखनी ने दो महत्वपूर्ण कार्य किए जिनमें एक था विपक्षियों का खण्डन दूसरा था प्राचीन संस्कृति की सुरक्षा। प्राचीन संस्कृत साहित्य के विविधि क्षेत्रों में जो आज अनुसन्धान सम्बन्धी कार्य हिन्दी भाषा के माध्ययम से हो रहे हैं उसका आरम्भ स्वामी जी की लेखनी के द्वारा ही हुआ था।

उनकी शैली की समीक्षा करते समय हमें यह भी ध्यान में रखना है कि उनके पीछे एक युग अभी तक चला आ रहा है। ऐसी स्थिति में स्वामीजी की गद्य शैली को समीक्षा करते समय केवल इतना कह देने से काम नहीं चलेगा कि वे एक धर्म प्रचारक थे : इसलिए उनका गद्य साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। यदि उदार दृष्टिकोण से हम उनकी शैली की समीक्षा करें तो हमें हिन्दी गद्य शैली को वर्तमान रूप देने वाले लेखकों में स्वामी जी को प्रथम स्थान देना पड़ेगा। प्राचीन संस्कृत वांङ्मय को जनता की भाषा में रखने वालों में स्वामी जी ही पहले भारतीय विद्वान् हैं। क्या यह हमारे लिए कम लज्जा की बात नही है कि इस कार्य को बहुत पहले विदेशी भाषाओं में मैक्समूलर, कीथ तथा मैग डानल जैसे विद्वान् प्रारम्भ कर चुके थे। स्वामी जी के कार्य क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व संस्कृत विद्वान् हिन्दी में कुछ लिखना भी अपमान समझते थे। अतः वे इस कार्य का श्रीगणेश कैसे कर सकते थे। हमारे प्राचीन ग्रन्थ दीमकों के भोजन बनते जा रहे थे। पश्चिमी देशों के विद्या प्रेमी विद्वान् दुर्लभ ग्रन्थ रत्नों की पांडुलिपियाँ मुंह मांगे दामों में खरीद कर अपने ग्रन्थागारों का गौरव बढ़ा रहे थे। स्वामी जी के वेद भाष्य छप जाने पर भारतीय विद्वानों में भी इन अमुद्रित ग्रन्थों को छपवाने तथा संग्रह करने की ओर रुचि उत्पन्न होना स्वाभाविक था। उनसे प्रेरणा पाकर भारतीय विद्वान् इस क्षेत्र में आगे बढ़े आज तो सभी विद्वान् यह स्वीकार कर रहे हैं कि हिन्दी के माध्यम से संस्कृत साहित्य के अध्ययन को सर्व सुलभ बनाने के सम्बन्ध में अब तक जितना भी कार्य हुआ है उसके पथ प्रदर्शक केवल स्वामी दयानन्द ही हैं। स्वराज का स्वप्न देखने वाले युग पुरुष दयानन्द के हृदय के भीतर भारत को स्वतन्त्र देखने की जो भावना काम कर रही थी उसका आभास उनकी इन पंक्तियों में मिल जाता है:—

यह आर्यवर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है इसलिए इस भूमि का नाम स्वर्णभूमि है। पारस मणि पत्थर सुना जाता है वह बात झूंठी है परन्तु आर्यवर्त देश ही सच्चा पारस मणि है जिसका लोहे रूपी दरिद्र विदेशी देश छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।

विषय को बोध गम्य तथा स्पष्ट करने के लिए स्वामीजी ते सर्वत्र इसी शैली का प्रयोग किया है विरोधियों का खण्डन करते समय उनकी भाषा अवश्य ही कठोर हो गयी है परन्तु यह सब होते हुए भी स्वामी जी की इस शैली को पंडितों की कथा वार्ता की भाषा कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता उसकी भी अपनी ही विशेषता है।

इस प्रकार स्वामी जी की शैली को हम प्रतिपादनात्मक, निर्वचनात्मक, वादात्मक इन तीन शैलियों में विभक्त कर सकते हैं। वेद मन्त्रों की व्याख्या जिस शैली में है वह निर्वचनात्मक शैली का उत्तम उदाहरण है। वह इस क्षेत्र में इस शैली के जन्मदाता कहे जायेंगे क्योंकि उनसे पूर्व किसी ने किसी भी भारतीय भाषा में यह कार्य सम्पादित नहीं किया था। प्रतिपादनात्मक शैली में उन्होंने अपने विषय को संस्कृत निष्ठ हिन्दी में सर्व साधारण के सम्मुख रखने का सफल प्रयत्न किया है। जबकि उनकी उनकी मातृ भाषा हिन्दी नहीं थी। वादात्मक शैली का प्रयोग उन्होंने विपक्षियों का खण्डन मण्डन करते समय किया है। इसमें उनके पथ प्रदर्शक ईसाई धर्म प्रचारक रहे हैं। फिर भी स्वामीजी की शैली ईसाई धर्म प्रचारकों की भाषा की अपेक्षा अधिक परिमार्जित और परिष्कृत है।

लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी इसमें प्रचुर मात्रा में मिलता है। उनकी इस शैली में भाषा की वक्रता और लाक्षणिकता देखते ही बनती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या गोसाईं तुलसीदास बलिया के भूमिहार थे?

डा० किशोरीलाल गुप्त

तुलसी जयंती सं० २०२९ के अवसर पर 'गोस्वामी तुलसीदास जीवन वृत्त और व्यक्तित्व' नामक ६८८ बड़े पृष्ठों की एक विशाल पोथी प्रकाशित हुई है। इसके लेखक हैं लिलकर जिला बलिया निवासी श्री कुलदीपी नारायण राय 'झड़प', मुद्रक हैं श्री कमला प्रसाद राय, जनता प्रेस, ४२ पथरिया घाट स्ट्रीट, कलकत्ता-६ तथा प्रकाशक हैं अ० भा० ब्रा० परिषद (बंग) ५० राम-कृष्णपुर लेन हवड़ा। ग्रंथ का मूल्य है ३१ रु० इस विशाल ग्रंथ का प्रतिपाद्य है—तुलसीदास जी को बलिया जिले के गंगा तट-स्थित एक गाँव राजापुर का रहने वाला भूमिहार ब्राह्मण सिद्ध करना। प्रासंगिक प्रति-पाद्य विषय हैं—स्वामी रामानन्द, प्रसिद्ध अष्टछापी कवि नंद-दास एवं महाकवि सेनापति को भी भूमिहार ब्राह्मण सिद्ध करना। झड़प जी द्वारा प्रस्तुत तर्क इस ग्रंथ में दिए तुलसी दास के जीवन वृत्त को प्रामाणिक बनाने में असमर्थ हैं। उनमें कोई दम नहीं है। हाँ, इस ग्रंथ से भूमिहारों के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी अवश्य प्राप्त हो जाती है। प्रस्तुत निबन्ध दो खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में जन्म स्थान पर विचार किया गया है और दूसरे खण्ड में जाति पर। पहले खण्ड में झड़प जी ने जो उपशीर्षक लगाए हैं, उन्हीके अन्तर्गत क्रमशः विचार प्रस्तुत किया गया है। दूसरे खण्ड में उन उपशीर्षकों को त्यक्त कर दिया गया है और चालीस विचार बिन्दु प्रस्तुत किये गये हैं। यह न समझा जाय कि ये तर्क इतने ही हैं। झड़प जी ने अपने विषय पर पर्याप्त विचार किया है, यह दूसरी बात है कि इन विचारों से लोक-मत सहमत न हो।

(क) जन्म-स्थान विचार

(१) जन्मस्थान गंगातटस्थित राजापुर बलिया

१. यह भरत खण्ड समीप सुरसरि,
थल भलो संगति भली

२. बरु बारहिं बार सरीर धरौं,
रघुवीर को है तव तीर रहौंगो
भागीरथी बिनवौ कर जोरि,
बहोरि न खोरि लगै, सो कहौंगों

३. तुलसी तव तीर तीर, सुमिरत रघुवंश वीर,
बिचरत मति देहि मोह-महिप-कालिका

४. सिय सुरसरिहिं कहेउ कर जोरी
मातु, मनोरथ पुरवबि मोरी

५. धन्य सो देश जहाँ सुरसरी

६. सरित गंभीर वानीर दुहुँ तीर वर,
मध्य धारा विशद विश्व अभिरामिनी।
हरित पयंक पर शयित सर्पेश जनु,
सहस सीसावली स्रोत सुर स्वामिनी॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७. चेरो राम राय को, सुजस सुनि तेरो हर,
पायँ तर आइ रह्यों सुरसरि-तीर हौं ।

ये सभी अंश झड़प जी द्वारा उद्धृत हैं और इनसे यह निकालने का प्रयत्न किया गया है कि तुलसीदास का जन्म गंगा-तट पर हुआ था और यह गंगा-तट काशी के पूर्व में बलिया वाला है । छठे उद्धरण के 'सहस सीसावली स्रोत' का अर्थ किया गया है कि तुलसीदास के समय में बलिया के पास गंगा जी की सहस्र धाराएँ थीं। उक्त उद्धरण में गंगा के किसी एक खण्ड-विशेष का चित्र नहीं है, समग्र गंगा का चित्र है । गंगा की धारा गहरी है, दोनों ओर बानीर (वेंत, प्रतीक रूप में) है । बीच में गंगा की धारा हैं । लगता है नीली शय्या पर शेष नाग सो रहे हैं । शेष का रंग श्वेत है । सागर में जहाँ गंगा मिलती है, उसे गंगा सागर कहते हैं । यहां गंगा की सहस्र धाराएँ मानी जाती हैं । गंगा सागर में गिरने वाली गंगा की यही सहस्र धाराएँ शेष नाग के सहस्र शीश हैं । इनके अतिरिक्त तुलसीदास के बलिया में गंगा-तट पर जन्मने के सम्बन्ध में और भी कुछ लचर प्रमाण दिए गए हैं, यथा—

१. 'आक जवास पात विनु भयऊ' । झड़प जी के अनुसार यह दृश्य बलिया शाहाबाद में गंगा-सरयू के कछार में ही देखा जाता है । तुलसी के इस सर्वदेशीय कथन को एकदेशीय करना ठीक नहीं ।

२. तुलसी तृन जल कूल को, निरबल निपट निकाज
कै राखै कै सँग चलै, बाँह गहे की लाज ।
दोहावली ५४४.

झड़प जी के अनुसार 'तुलसीदास ने किसी ऐसी बड़ी नदी के तट पर बाल्यावस्था बिताई थी, जिसका कगार ऊँचा होगा एक कगार की भूमि कँकरीली पथरीली अथवा बहुत कड़ी न होगी । ऐसी स्थिति बक्सर के पूरब में ही गंगा नदी की है । उधर गंगा का विस्तार भी शेषनाग के हजारों फणों के समान सुविस्तृत हो जाता है ।'

क्या इस दोहे के आधार पर बलिया जिले के किसी राजापुर गाँव को तुलसी के जन्म स्थान होने का गौरव दिया जा सकता है ?

तुलसीदास जी हिंदू होने के नाते गंगा भक्त थे। काशी में उनके जीवन का अधिकांश बीता । अतः गंगा के प्रति उनका सामान्य हिन्दू-प्रेम विशेष-भक्त-प्रेम में बदल गया । आजतक किसी ने नहीं कहा कि तुलसीदास का जन्म गंगा जी के किनारे स्थित किसी गाँव में हुआ । झड़प जी ने जो दलीलें दी हैं, उनमें कोई तत्त्व नहीं । सातवे उद्धरण से तो स्पष्ट है कि तुलसीदास शिव की प्रशंसा सुन, उनकी चरण शरण में आकर, सुरसरि-तीर पर, काशी में रहने लगे थे, वे गंगा तट पर जन्मे नहीं थे ।

गोसाईं जी गंगाजी के भक्त हैं । इससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि उनका जन्म गंगा तट पर स्थित किसी गाँव में हुआ था । गंगा का प्रेमी तो हर हिंदू है ।

(२) शिव पीठ की निकटता

इस प्रकरण में झड़प जी का कहना है कि गोसाईं जी अनन्य राम-भक्त होकर भी परम शिव भक्त थे । इससे स्पष्ट है कि उनका जन्म किसी ऐसे कुल में हुआ जो शैव था । हमें इससे इनकार नहीं कि गोसाईं जी राम-भक्त के साथ-साथ परम शिव भक्त भी थे । पर हम उनके इस मत से सहमत नहीं कि तुलसी की जन्म-भूमि का सोरों, राजापुर, (बाँदा) और अयोध्या में होने की अपेक्षा भोजपुरी प्रदेश में होना अधिक संगत प्रतीत होता है, जहाँ काँट ब्रम्हपुर (शाहाबाद), छितौनी असेगा (बलिया) और मेंहदार ढोढ (सारन) में भगवान शिव के प्राचीन मन्दिर हैं । हिंदुस्तान का शायद ही कोई अभागा गाँव होगा जहाँ शिवालय न हो । जहाँ शिवालय नहीं हैं, वहाँ भी किसी नीम या पीपल के पेड़ के नीचे किसी पत्थर पर दो चार शिव लिंग अवश्य हैं और उन पर जल भी चढ़ाया ही जाता है । मन्दिरों में प्रायः शिव, गणेश, पार्वती, हनुमान जी की मूर्तियाँ एक साथ मिलती हैं, जो उदार विचार-धारा का ही प्रतीक हैं । तुलसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ भी पैदा हुए रहे होगें, वहाँ शिवालय का अभाव नहीं रहा होगा।

(३) भीतरी झलक

(१) हाथी हथि सारें जरे घोरे घोरसारही

—कवितावली सुन्दरकांड २३

झड़प जी के अनुसार हाथी, हथिसारें, घोरसारही, घोरे सभी भोजपुरी शब्द हैं और किसी राजा की विपत्ति का विवरण देते समय भोजपुरी लोककथाओं में इनका प्रयोग किया जाता है।

मैं अवधी भाषा-भाषी हूँ और ऐसी लोककथाएँ मैंने भी लड़कपन में सुनी हैं। ये सभी शब्द समान रूप से अवध में भी प्रचलित हैं।

(२) 'तेरी मरजी तें चलें चिचिनी चियाँ रें'

इमली की चियाँ सभी जगह होती है। हमारे यहाँ भी इमली के बीज को 'चीयाँ' ही कहते हैं। बलिया में यह सिक्के की तरह चलता है क्या? जहाँ तक बटुवलिया पैसे की बात है, हमने भी लड़कपन में इसे चालू सिक्के के रूप में देखा था—इसे गोरखपुरी पैसा या मोटका पैसा कहा जाता था।

(३) नाम राम रावरे तो चाम की सलाई है

—कवितावली उत्तर कांड ७४

झड़प जी का कहना है कि चौसा के पास हुंमायूं को एक भिश्ती ने मशक पर चढ़ाकर गंगा पार उतारा था। हुमायूँ ने प्रसन्न हो कर उसे एक दिन की बादशाहत दे दी थी और उसने चमड़े का सिक्का चलाया था। तुलसी दास बलिया वासी थे, इसीलिए उन्हें यह घटना मालूम थी और उन्होंने चाम का दाम चलाने की बात का उल्लेख किया है।

भिश्ती के चमड़े का सिक्का चलाने की बात ऐतिहासिक तथ्य है। यह अद्भुत कथा तो सारे हिंदुस्तान में वन की आग की तरह फैल गई होगी, और इस तथ्य को जानने के लिए तुलसी के बलिया में जन्म लेने की कोई आवश्यकता नहीं, वह भारत के हिन्दी भाषा भाषी किसी प्रदेश में जन्म लेकर यह बात जान सकते थे। वस्तुतः यहाँ इतिहास प्रसिद्ध इस घटना की ओर संकेत नहीं है। यह मुहावरा मात्र है। रीतिकालीन कवियों ने तो रूपगर्विता नायिकाओं के लिए चाम के दाम लगने की बात बराबर कही है। वे शृंगारी प्रयोग हैं, तुलसी का प्रयोग शांत-परक है।

(४) 'एक पूजें बाहु बल मूल तोरि फूल हैं'

—कवितावली सुंदरकांड ३०

झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी के जन्म के प्रायः पचास वर्ष पहले बलिया के राजा कर्णदेव ने सिकदर लोदी से युद्ध कर हिंदू जनता को उसके अत्याचारों से बचाया था। तब हिंदू नेताओं ने उनकी बाँहों की पूजा की थी। बलिया में जन्म लेने के कारण तुलसी इस कथा से परिचित थे, इसीलिए उन्होंने सीता का पता लगाकर वापस आने पर हनुमान की बाँहों की पूजा उनके साथियों से कराई है।

यह भी झड़प जी का शुद्ध भ्रम है। वीरों की पूजा की यह एक सामान्य पद्धति ही थी। गोवर्धन धारण के पश्चात श्री कृष्ण की भी पूजा हुई है। तो क्या यह कंसोपाटन (बलिया) के कर्णदेव की बाहु-पूजा के आधार पर हुई है?

सूरदास जी लिखते हैं—

सबै मिलि पूजौ हरि की बहियाँ
जौ नहिं लेत उठाइ गोवर्धन, को बाँचत ब्रज महियाँ
'कोमल कर गिरि धरयो घोष पर; सरद कमल की छहियाँ
'सूरदास' प्रभु तुम दरसन सौं, आनँद है सब कहियाँ

—सूरसागर पद १५८८

देव ने भी गोवर्धन-धारण के पश्चात् ग्वाल बालों द्वारा बलवीर की बाहों के भेंटने का वर्णन किया है—

तीर धरयो जु गहीर गुहा,
गिरि धीर धर्‌यो सु अधीर महा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूँछती पीर भरे दृग नीर,
त्यों एकै समीर करैं और सराहैं
छोर मिजै यक पोंछती चीर लै,
राधे रहैं तिरछो करि छाहैं
भेंटती भीर अहीरन की,
वर वीरज की बलवीर की बाँहैं

—देवसुधा ४

(५) क गोंड़ गँवार नृपाल महि जवन महा महिपाल
—दोहावली

ख वेद धर्म दूरि गये, भूमिचोर भूप भए
—कवितावली उत्तर कांड १७७

झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी का संबंध ऐसे राज्य से अवश्य था, जहाँ गोंड, गँवार, नृपाल का राज्य था, जो चोरी चोरी राजा बन गया था। बलिया में उस समय हल्दी में ऐसा ही राज्य था, जो गोंडवाना से आया था और हल्दी की ब्राम्हण रानी को धोखा देकर राज्य छीन लिया था।

हल्दी का राज्य तो एक जमींदारी मात्र रहा होगा, जो इतिहास की दृष्टि से नगण्य है। तुलसी के ही समय में मध्य प्रदेश के एक विशाल भू-भाग गोंडवाना पर गोंड़ों का राज्य था। प्रसिद्ध गोंड रानी दुर्गावती अकबर बादशाह एवं गोसाईं तुलसी दास की समकालीन थी। तुलसी को निश्चय ही इसका पता रहा होगा।

(६) पुनः झड़प जी कहते हैं—

"यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो तुलसीदास जी ने अपने को आरा बलिया का निवासी होने की ओर स्पष्ट संकेत भी किया है। तुलसीदास जनकपुर की यात्रा में श्रीरामचन्द्र जी के साथ दिखाई देते हैं और उनकी अनन्य निष्ठा देख श्री रामचन्द्र जी उन पर अपनी कृपा दृष्टि डालते हैं—

सनमुख सबहिं बिलोकत सबहिं नीके।
कृपा से हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं॥
—गीतावली, बालकांड ७१

जिसे झड़प जी ने स्पष्ट संकेत कहा है, वह अत्यन्त दुर्बल है और स्पष्ट क्या अस्पष्ट संकेत तक नहीं है। भक्त सदैव अपने को इसी प्रकार अपने प्रभु के निकट रखना चाहता एवं कृपा पाना चाहता है। सीता जी के कहने पर राम जी ने तुलसी की विनय पत्रिका पर अपनी सही कर दी—क्या झड़प जी इसे ऐतिहासिक तथ्य कहना पसंद करेंगे ?

'तुलसीदास' अनुराग अवध आनंद अनुभवत तव को सो अबहुँ अघाई
—गीतावली बालकांड ३०

क्या इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने राम के बाल्यकाल के आनंद का अनुभव किया था और अब भी अयोध्या में रहकर उस आनंद का अनुभव कर रहे हैं तथा अयोध्यावासी हैं ?

अपने इष्ट से नैकट्य स्थापित करने के ही लिए तुलसीदास ने राम को स्थान स्थान पर तुलसी के प्राण पिआरे, तुलसी के जीवन धन, तुलसीदास के ईस आदि कहा है—

१. अवलोके भरि नयन आज तुलसी के प्रानपियारे
—गीतावली, बालकांड ६६

२. सकल सुकृत फल माता पिता के, जीवन धन तुलसी के
बही बालकान्ड ५६

३. सकल तनय चिरजीवहु, तुलसीदास के ईस
—राम चरित मानस बालकांड १९६

शृंगारी कविताओं में भी इसी प्रकार रीतिकालीन कविन्दों ने अनेक स्थलों पर जहाँ कवि छाप दी है, अपने पर नायकत्व का भी आरोप कर लिया है। उदाहरणार्थ केवल एक छंद उद्धृत किया जा रहा है—

चूमत पी को कपोल तिया,
तिय को पियहूँ अधरा रस चाखै।
अंक गहै 'हरिऔध' को कामिनि,
पी नवला को भुजा भरि भाखै।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपने जीवन प्रान समान,
लला को लली करिबे अभिलाखै ।
लालहू नेहमयी नव बाल को,
आँखिन की पुतरी करि राखै ।

रस कलस, पृष्ठ ६

(४) संप्रदाय और समाज

इस प्रकरण में झड़प जी का कहना है रामानंद जी ने अपने पंथ का प्रसार काशी में रहकर किया और उनके मत का व्यापक प्रसार केवल भोजपुरी प्रदेश में हुआ। सारन आदि जिलों में रामानंदी संप्रदाय के अन्तर्गत एक चतुर्भुजी उपवर्ग है, जो तुलसी संप्रदाय भी कहा जाता है। भोजपुरी क्षेत्र में रामानंद और रामनंदन नामों की अधिकता है। अतः रामानंद जी भोजपुरी क्षेत्र के ही निवासी थे।

स्वामी रामानंद जी का जन्म स्थान प्रयाग है, यह स्थापित सत्य है। फिर उन्हें भोजपुरी प्रदेश का निवासी कहना कहाँ तक ठीक है? रामानंदी संप्रदाय केवल भोजपुरी प्रदेश में व्यापक रूप से फैला, यह भी ठीक नहीं। अयोध्या रामानंदियों का गढ़ है। अयोध्या के ही मुसलमानों तक को रामानंद जी ने हिन्दू बना लिया था, जो संजोगी कहे गये। तो क्या यह धर्म-परिवर्तन विना प्रभाव के ही हुआ था?

झड़प जी का मत है कि तुलसीदास का जन्म ऐसे क्षेत्र में हुआ था, जहाँ राम की उपासना का व्यापक प्रचार था, जहाँ शिव, हनुमान, दुर्गा आदि को भी महत्त्व देते थे। ऐसा प्रदेश भोजपुरी क्षेत्र ही है, जिसके विषय में तुलसीदास की जन्मभूमि होने की सम्भावना की जा सकती है।

इस संबंध में निवेदन करना है कि संपूर्ण भारत भूमि में राम का व्यापक प्रभाव है। यहाँ तक कि व्रजमंडल में भी लोग परस्पर मिलने पर अभिवादन के लिए 'राम राम साव' (साहब)' ही कहते हैं।

झड़प जी के अन्य प्रमाण हैं—

(१) भोजपुरी प्रदेश में ही पुरोहिती को निंद्य वृत्ति माना गया है।

(२) भोजपुरी प्रदेश के ब्राह्मणों में ही सहिष्णुता और उदारता है और धार्मिक असहिष्णुता एवं छुआछूत संबंधी संकीर्णता कम मिलती है।

(३) भोजपुरी प्रदेश में राजा के लिए 'महता' और मंत्री के लिए 'प्रधान' शब्द प्रयुक्त होता है। इन शब्दों का प्रयोग रामानंद एवं कबीर ने इन्हीं अर्थों में किया है।

इन प्रमाणों की प्रामाणिकता पर प्रामाणिक लोग स्वयं विचार करें। मुझे तो इनमें कोई भी वास्तविकता नहीं दिखाई देती।

(५) भावना

झड़प जी के अनुसार भोजपुरी भावना और विचारों की छाप तुलसीदास जी की रचनाओं में प्रायः सब कहीं पाई जाती है। जिन्हें उन्होंने भोजपुरी भावना और विचार समझा है, वस्तुतः वे उतने सीमित दायरे में ही नहीं संकुचित हैं। वे अवध में भी व्याप्त हैं और अन्यत्र भी व्याप्त हो सकते हैं। इस प्रकरण में झड़प जी ने निम्नांकित उदाहरण दिये हैं—

(क) रामहि राम रटन करु जिभिया

इसे लड़कपन में मैंने भी अपने यहाँ अवध प्रांत में बराबर सुना है।

(ख) एक भोजपुरी गीत में रावण का आतंक एवं ऐश्वर्य वर्णन। मंदोदरी रावण को समझाती है। ऐसे कथन अन्यत्र भी हैं।

(ग) भोजपुरी प्रदेश में सबेरे उठने पर घड़ी रात रहते प्रभाती गाने का प्रचलन है—

'जागीं ए सिव शंकर सबेरे उठि'। मेरे पिता जी भी सबेरे उठकर नित्य गाते थे। यह गीत वे यों गाते थे—'सबेरे उठि जागऽहो बंभोला'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) भोजपुरी प्रदेश में गंगा जी सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाली मानी जाती हैं। उन्हें पियरी चढ़ाई जाती है और गंगा जी के गीत गाए जाते हैं। यह भोजपुरी प्रदेश की ही विशेषता नहीं है। अन्यत्र भी लोग गंगा के गीत गाते हैं और मनौती पूरी होने पर रोट और पियरी चढ़ाते हैं।

(ङ) एक भोजपुरी गीत में भक्त चिंतित है कि भगवान को क्या चढ़ाए, क्योंकि सभी चीजें जूठी हैं। यह भाव भी अन्यत्र खड़ी बोली में सुलभ है। "अजब हैरान हूँ भगवन्, तुम्हें कैसे रिझाऊँ मैं।"

(च) एक भोजपुरी शिव स्तुति—

"अपने भिखारी वन पतई चबाई ले
आन के देवे के धन कहां से ले आई ले।'

ऐसी शिव स्तुतियां भोजपुरी प्रदेश के बाहर भी प्रचलित हैं।

(छ) सीता का रूप वर्णन एक भोजपुरी गीत में। ऐसे रूप वर्णन हर प्रांत के लोक गीतों में मिलेंगे।

(ज) भोजपुरी प्रदेश में कूटि कहने का विशेष प्रचलन रहा है, इसी से तुलसी ने भी लिखा—

'तुलसी तेहि औसर लावनिता,
दस चारि नौ तीन इकीस सबै।'

सूर ने कूटों की एक पोथी ही 'साहित्य लहरी' नाम से रच दी। झड़प जी के इस तर्क के अनुसार सूर को निश्चित रूप से भोजपुरी प्रदेश में पैदा होना चाहिए।

(झ) सीता-हरण के पश्चात तुलसी के राम वन के पशु पक्षियों से सीता का पता पूछते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी
तुम देखी सीता मृग नयनी

झड़प जी ने एक भोजपुरी लोककथा दी है और कहा है कि उसी कथा के आधार पर तुलसी ने राम से यह पृच्छाएँ कराई हैं।

तुलसी के सामने भोजपुर की यह लोककथा रही हो, चाहे न रही हो—महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशी के पुरुरवा का विलाप अवश्य था।

(ञ) भोजपुरी प्रांत में बहुधा गुरु, गौ और जनेऊ की शपथ लेने का प्रचलन है। यह प्रचलन भोजपुरी प्रदेश के बाहर भी यत्र तत्र सर्वत्र है।

(ट) भोजपुरी प्रांत की स्त्रियाँ प्रायः कौवे से प्रवासी के आगमन के संबंध में सगुन कराती हैं। हिंदी भाषा भाषी प्रदेश की सभी स्त्रियाँ इस दृष्टि से समान हैं। भोजपुरी प्रांत को ही यह गौरव क्यों दिया जाय?

(ठ) भोजपुरी प्रदेश में प्रातःकाल लोग सूम का नाम नहीं लेते। यह बात भी सर्वत्र है। सूम ही नाम क्या, बुरे गाँव का भी नाम नहीं लेते।

(ड) भोजपुरी प्रदेश में काशीफल को कोंहड़ा कहा जाता है। हमारे यहाँ अवधी-भाषी-प्रदेश में भी। कुम्हड़ बतिया के तर्जनी देखते ही मुरझा जाने वाली बात भी प्रचलित है।

(ढ) भोजपुरी प्रदेश में स्त्रियाँ शीतलाष्टमी और शिशुओं की छठी आदि के अवसर पर दाहिने हाथ से दीवाल पर सात छाप लगाकर ऐपन बनाकर पूजा करती हैं। यह प्रक्रिया अन्यत्र भी है। मेरे पिता जी शीतला जी के सेवकिया थे, वे भी दीवार पर हाथ से ऐसे ऐपन बनाते थे।

(ण) विनय पत्रिका में गणेश की स्तुति के बाद सूर्य की स्तुति है। इसके संबंध में झड़प जी का यह मत है कि यह भोजपुर एवं बिहार में प्रचलित कार्तिक शुक्ल षष्ठी के सूर्यव्रत के प्रभाव स्वरूप है। सूर्य तो इतने जाग्रत देवता हैं कि इन्हें सूर्य नारायण कहा जाता है और प्रत्येक भक्त हिन्दू स्नानोपरांत सूर्य को अर्घ्य देता है। अतः इस आधार पर तुलसी को बलिया का भोजपुरिया नहीं सिद्ध किया जा सकता।

(त) तुलसी हनुमान के भक्त हैं। झड़प जी के अनुसार भोजपुरी प्रदेश में हनुमान जी की पूजा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम प्रचलन है। विशेषकर भूमिहारों में। हनुमान जी भारत वर्ष में सर्वत्र पूजनीय हैं। भोजपुरी प्रदेश के भूमिहारों में ही नहीं।

६. आचार व्यवहार

झड़प जी के अनुसार राम चरित मानस आदि ग्रंथों के अनुशीलन से विदित होता है कि उनमें जिस प्रकार के आचार व्यवहार का वर्णन है, वे प्रायः भोजपुरी प्रदेश के आचार व्यवहार के अनुसार ही हैं। हास-परिहास, नातेदारों के भोजनकाल में मनोरंजनार्थ गाली गाना, पंचकौर निकालना, नहछू, बरात की तैयारी, विवाहोत्सव, पुत्रोत्सव, भोज आदि की विधियाँ भी सब वैसी ही हैं।

(क) बरात में दही चिउरा और मछली भेजने का उल्लेख रामचरित मानस में है।

झड़प जी के अनुसार यह भोजपुरी रिवाज हैं। झड़प जी यह भी मानते हैं कि यह रिवाज मिथिला में भी है। यह रिवाज मेरे अपने क्षेत्र में नहीं है।

(ख) भोजपुरी प्रदेश में कन्या पक्ष की ओर से बरातियों के पैर धुलाने की प्रथा है। रामचरित मानस में जनक ने दशरथ आदि के पैर धोए हैं। यह प्रथा हमारे यहाँ भी रही है। पर पैर धोने का काम नाई करता रहा है। अब इस प्रथा का उठान-सा हो गया है।

(ग) भोजपुरी प्रदेश में मछली की सौगात देना, मछली का दर्शन करना शुभ माना जाता है। मछली का शकुन तो प्रायः सर्वत्र माना जाता है। झड़प जी कहते हैं—तुलसीदास की जन्म-भूमि ऐसे प्रदेश में थी, जहाँ बड़े लोग मनोरंजनार्थ वंशी द्वारा मछली का शिकार करते हैं। कटिया में चारा लगाकर मछली फँसाने का काम सर्वत्र होता है, केवल भोजपुर में नहीं।

(घ) भोजपुरी प्रदेश में कुलीन ब्राह्मणों में पर्दा का प्रचार है, बुंदेलखंड एवं पश्चिम के ब्राह्मणों में नहीं। पर्दा मुसलमानी प्रभाव है और हिंदी भाषा-भाषी प्रदेश में प्रायः सभी बड़े लोगों में रहा है और अब भी है।

(ङ) भोजपुरी प्रदेश और बिहार में ही संबोधनार्थ 'बाबू' शब्द का व्यवहार होता रहा है। गोस्वामी जी ने भी 'बाबू' शब्द का व्यवहार साधुओं से कराया है यथा—

'आयसु, आदेश, बाबू'

—कवितावली उत्तरकांड १४०।

उक्त छंद में 'बाबू' नहीं है, 'बाबा' है।

(च) भोजपुरी प्रदेश में स्त्रियाँ दिए को आंचल से बुझाती हैं और आँचल पसार कर ही आशीर्वाद लेती देती हैं।

आँचल से दिया बचाने और दिया बुझाने दोनों का काम अन्यत्र सर्वत्र होता रहा है दिल्ली आगरा वाले रहीम भी यह जानते थे—

जो रहीम दीपक दसा, तिय राखत पट ओट
समय परे ते होत है, वाही पट की चोट।

हमारे यहाँ भी बहुएँ अपनी सासुओं एवं सासु तुल्या अन्यों के पैर आँचल पसार कर छूती हैं और आशीर्वाद लेती हैं। आँचर पसार कर आशीर्वाद देने की प्रथा भोजपुरी की विशेषता होगी?

(छ) 'सदा सुहागिन होहु तुम' और 'अचल होय अहिवात तुम्हारा' कहकर आशीर्वाद देने का ढग भी भोजपुरी ही है। क्या यह तथ्य है? अन्यत्र ऐसा आशीर्वाद नहीं दिया जाता?

(ज) बनारस प्रांत और बिहार बंगाल में ब्रह्म हत्या घोर सामाजिक अपराध है। क्या हिंदुस्तान के किसी कोने में ब्राह्मण हत्या सामाजिक पुण्य है? भारत भूमि में ब्राह्मण सर्वत्र पूज्य हैं।

(झ) जे वर्णाधम तेलि कुम्हारा।
सुपच किरात कोल कलवारा।

झड़प जी के अनुसार ए जातियाँ भोजपुर में अधम मानी जाती हैं। इसीलिए तुलसी ने लिखा। अन्यत्र भी, सर्वत्र नहीं, ए जातियाँ अधम मानी जाती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ञ) भोजपुरी प्रदेश में लोग रात में किसी स्थान पर बैठकर इतिहास पुराण कथावार्ता सुनते थे। यह स्थिति अन्यत्र भी है। रात में ही किसानों को फुरसत मिलती है।

(ट) भोजपुरी प्रदेश में पुत्री के घर एवं गांव का अन्न जल ग्रहण करना उचित नहीं। यह बात अन्यत्र भी है।

(ठ) भोजपुर में अधिक अधीनता प्रकट करने के लिए कहा जाता है कि मैं आपके जूते तर का हूँ। बड़ों के पैर छूकर प्रणाम करने की परिपाटी है। स्त्रियाँ बड़ों के चरणों पर अंचल रोपती हैं। ये बातें सर्वत्र हैं, केवल भोजपुर में नहीं।

(ड) गोस्वामी जी द्वारा गोंड़ऊ शैली में पद-रचना तथा उसमें भोजपुरी शब्दों और प्रयोगों की अधिकता इस बात की सूचक है कि गोस्वामी जी की बाल्यावस्था भोजपुरी प्रदेश में व्यतीत हुई थी। गोंड और कहार अन्यत्र भी हैं और कहरवा प्रसिद्ध लोक गीत है, जो अवध में भी प्रचलित है।

(ढ) होली पर गधे की सवारी के जलूस भोजपुरी प्रदेश में निकाले जाते हैं। ऐसी मजाकिया चीजें अन्यत्र भी होती रही हैं। मेरे गाँव में भी काजल चूना पोतकर गधे की सवारी करने वाले के दर्शन होली पर किए जा सकते हैं।

(ण) भर जाति का केन्द्र भोजपुरी प्रदेश है। ऐसा नहीं माना जा सकता। यदि भर शब्द भार शिव से बना है, तो भारशिवों का राज्य विन्ध्याचल में था, जो भोजपुरी प्रदेश के बाहर है और अवधी भाषी क्षेत्र में है। हमारे भी क्षेत्र में भरों की पुरानी कोटें मिलती हैं।

(त) झड़प जी के अनुसार बैल लादने का प्रचार विशेष रूप से भोजपुरी प्रदेश में रहा है। बैलों पर वाणिज्य का कार्य बहुत होता था और संपूर्ण भारत में होता था। अब भी यत्र तत्र होता है। बरेली में तो धोबी बैल पर लादी लादते हैं—अन्यत्र गधे पर।

(थ) राय और साहि भोजपुरी प्रदेश में भूमिहारों के नामांत में प्रायः प्रयोग में आते हैं। पर ये दोनों राजा के सूचक शब्द हैं और अन्यत्र भी प्रयुक्त होते हैं।

(द) काहि जय जीअ बैठ सिर नाई

जय जीअ भोजपुरी प्रदेश के आशीर्वाद शब्द हैं ऐसा झड़प जी का कहना है। हमारे यहाँ भी ये शब्द 'जय हो', 'जीअऽ' (जियो) रूप में प्रचलित हैं।

(ध) तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत संवादों में स्पष्ट रूप से भोजपुरी प्रकृति की विशेषता है। शालीन के साथ शालीनता का एवं अधम के साथ अधमता का व्यवहार भोजपुरिया करता है। यह विशेषता केवल भोजपुरियों की नहीं।

(न) झड़प जी के अनुसार भोजपुरी प्रदेश में जन्म पर बधावा बजाने वाले स्वयं आते हैं, अवध में बुलाये जाते हैं। ऐसी कोई बात नहीं। वे व्यक्ति के हैसियत के अनुसार आते भी हैं और बुलाये भी जाते हैं।

(प) नहछू बरात के घर से चलने के समय होता है। यजोपवीत पर भी होता है और भोजपुर से बाहर के क्षेत्रों में भी होता है। हल्दी चढ़ना, कलस स्थापना, तेल चढ़ना, सभी बातें अवध में भी होती हैं। गाली भी प्रायः सर्वत्र गाई जाती है। इन बातों को भोजपुरी क्षेत्र की विशेषता मानना और इनके आधार पर तुलसी को बलिया में पैदा हुआ कहना समीचीन नहीं।

७. कृषि और खानपान

तुलसी ने एक दोहे में 'पाही खेती' का उल्लेख किया है—

पाही खेती, लगन बट, रिन कुब्याज, मग खेत
बैर बड़े सों आपने किए, पाँच दुख देत
—दोहावली ४७८

झड़प जी ने पाही खेती को पकड़ा है और बलिया जिले के गंगा सरयू के दियारे की खेती के कष्टों का वर्णन किया है तथा तुलसीदास को बलिया वाला बनाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और पाही बलिया का वैशिष्टय नहीं है। पाही खेती वह खेती है, जिसका किसान दूसरे दूर के गाँव में रहता है। हमारे यहाँ की एक लोकोक्ति है—

घर घोसिया मड़ियाहू पाही
लड़िका मरि गए आवाजाही

घोसिया माधोसिंह स्टेशन के पास वाराणसी जिले में कालीन का प्रसिद्ध निर्माण केन्द्र है और मड़ियाहूँ, जौनपुर जिले की तहसील है। स्पष्ट है इस पाही खेती से तुलसी को गंगा सरजू के संगम के निकट का निवासी नहीं सिद्ध किया जा सकता।

झड़प जी ने तुलसी की निम्नांकित उक्तियां उद्धृत की हैं और इनके सहारे इन्हें भोजपुरी प्रदेश का निवासी बनाने की कृपा की है—

१. तुलसी अति नीचे सुखाद,
ऊख नन्न अरु धान
अति ऊँचे भूधरन पर,
भुजगनि हो को थान
—दोहावली

२. ऐसी हठ जैसी गाँठ पानी परे सन की
—क० उत्तरकांड

३. आपनो चना चबाइ हाथ चाटियतु है—क० उ०

४. मानत हौं चारि फल चारि ही चनक को
—क० उ०

५. फरइ कि कोदव बालि सुसाली—राम चरित मानस

६. सूखत धान परा जनु पानी—राम चरित मानस

७. सुचि सुन्दर साालि सकेली—क० उ०

८- होइहि जब कर कीट अभागा—राम चरित मानस

९. विविध विधान धान जरत बखारहीं—
क० सुन्दरकांड

क्या इनसे तुलसी किसी प्रकार भोजपुरिया बनाए जा सकते हैं ?

इसी प्रकार झड़प जी ने भाँग, सेतुआ, पीने का भी निरर्थक सहारा लिया है। भाँग तराई इलाके में स्वतः होता है। सारन जिले में ही नहीं, मैंने इसके पौधे मुजफ्फरपुर जिले में देखा हैं, साथ ही हरिद्वार में भी।

८. भाषा

पृष्ठ १७६-९९ तक झड़प जी ने तुलसी की भाषा में भोजपुरी बैशिष्ट्य दिखाने का प्रयास किया है, जो व्यर्थ है क्योंकि जितनी भी बातें कही गई हैं, वे सभी अवधी में भी पाई जाती हैं। अतः इस प्रकरण पर तूल देना व्यर्थ है।

९. झलक

इस प्रकरण में निम्नांक्ति कथन हैं :—

१. संवादों में तुलसीदास की मातृ भाषा भोजपुरी की झलक है।

२. तुलसीदास कुलक्षणी थे, अतः 'मुलहा' कहे जाने लगे थे। इस प्रयोग के आधार पर इनका निवास स्थान काशी और बलिया के मध्य कहीं होना चाहिए।

३. राम बोला और हुलसी गुणपरक नाम भोजपुरी प्रदेश को विशेषता है। अतः तुलसी पूर्वीय भोजपुरी प्रदेश केनिवासी थे।

४. राम चरित मानस का रूपक प्रस्तुत करते हुए गोसाईं जी ने गंगा सरयू एवं सोन संगम का वर्णन किया है, जो इनके जन्म स्थान का सूचक है।

५. राम और तुलसी दोनों का गोत्र वसिष्ठ था। सीता और तुलसी की माता हुलसी का गोत्र गौतम था। इस लिए तुलसी ने कहा है—

तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को।

६. राम ने कहा है—

जन्म भूमि मम पुरी सुहावनि
उत्तर दिसि सरजू बह पावनि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झड़प जी के अनुसार प्रकारांतर से यदि इसे तुलसी की भी जन्म भूमि का संकेत मानें, तो सरयू जी बलिया से उत्तर को बहती है।

इन सब तर्कों में कितना बल है, इसपर पाठक स्वयं विचार कर लें।

१०. हुलसी-स्थान

किसी हुलसी सती का स्थान बलियानगर से ९मील पूरब गंगा तट पर स्थित है। यह हल्दी के पास है। झड़प जी का अनुमान है कि यह तुलसीदास की माँ का स्थान है, जो तुलसी के पिता के निधन होने पर सती हो गई थीं।

अवधी और भोजपुरी में ईकारांत स्त्रीलिंग व्यक्ति-वाचक संज्ञाएं जब संबोधित की जाती है, तो आदरार्थ उन्हें आकारान्त कर दिया जाता है। ईकारान्त संबोधन में कुछ अनादर की सी भ्रांति होती है। जैसे हे सजनी, न कहकर लोग हे सजना कह देते हैं। उसी प्रकार हुलसी का आदरार्थक रूप हुलसा होगा। हुलसी से हुलसा होगा, न कि हुलासो।

झड़प जी के इस हुलासो सती वाले विवेचन में भी मुझे कोई सार नहीं दिखाई देता

(ख) जाति विचार

तुलसीदास जी ब्राह्मण हैं। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी एक मत हैं। वे कौन से ब्राह्मण हैं—इसी में मतभेद है। उन्हें कान्यकुब्ज, सनाढ्य एवं सरयूपारीण कहा जाता है। बहुमत उनको सरयूपारीण ब्राह्मण मानता है। श्री कुलदीप नारायण राय 'झड़प' ने अपनी पोथी के पंचम अध्याय (पृ० २४५-३५६) में इन्हें भूमिहार ब्राम्हण सिद्ध करने का प्रयास किया है। झड़प जी का कहना है कि आदि काल में ही ब्राम्हणों के दो वर्ग रहे हैं। एक वर्ग वह जो पुरोहिती करता था और दूसरा वर्ग जो पुरोहिती को हीन वृत्ति मान कर उससे घृणा करता था। एक दान लेने वाला था, दूसरा दान न लेने वाला था। एक दीन हीन था, दूसरा वैभव-संपन्न। एक प्रतिग्राही था, दूसरा अप्रतिग्राही। एक निर्धन विपन्न किसान था, दूसरा संपन्न जमीदार। गोसाईं तुलसीदास जी इसी दूसरे वर्ग में उत्पन्न हुए थे और भूमिहार थे।

इस सम्बन्ध में मेरा कहना है कि सामान्यतया जिसको ब्राम्हण कहा जाता है, वह भूमिहार से सर्वथा अलग है। भूमिहार लोग ठाकुर कहे जाते हैं और उनके संस्कार ब्राम्हणों के कम, राजपूतों के अधिक हैं। बहुत पहले यह विभेद संभवतः नहीं था। चाणक्य ब्राम्हण माने जाते हैं, हैं वह भूमिहार। इनके वंशज बिहार में चनकिया बाभन कहे जाते हैं। बिहार में 'बाभन' और 'ब्राह्मण' दो वर्ग हैं। 'बाभन' भूमिहार का द्योतक है। ब्राह्मण और बाभन का या भूमिहार का यह विभेद मुस्लिम काल से प्रारम्भ होता है, जब मुस्लिम संपर्क के कारण भूमिहारों में ब्राह्मणों से विभिन्न संस्कृति का, रहन-सहन का, बोलचाल का विकास होने लगा। यहाँ तक कि भूमिहारों का ब्राम्हणों से अलग एक वर्ग ही हो गया और भूमिहार अब्राम्हण माने जाने लगे। यह तो आधुनिक युग में स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने, जो स्वयं भूमिहार थे, भूमिहारों को ब्राह्मण कहने का आन्दोलन चलाया और नामों के अन्त में शर्मा लगाने की चाल चलाई तथा भूमिहार लोग अपने को ब्राम्हण कहने लगे। तुलसीदास के युग में भूमिहारों की स्थिति क्या थी, राम जाने, वे ब्राम्हण कहलाते थे, या आज की ही तरह एक अन्य ब्राम्हणेतर जाति कहे जाते थे। हाँ, उनके मान, वैभव, ऐश्वर्य, संपन्नता में कभी भी कमी नहीं थी। न तब, न अब।

मुझे दूसरी बात यह कहनी है कि झड़प जी ब्राम्हणों की जो दो श्रेणियाँ मानते हैं—प्रतिग्राही और अप्रतिग्राही, वह भूमिहारों को अलग कर देने पर भी अपनी जगह पर ठीक है। भूमिहार तो अप्रतिग्राही हैं ही, ब्राह्मणों में भी अधिकांश अप्रतिग्राही ही हैं। झड़प जी ने प्रतिग्राही ब्राह्मणों को पुरोहित भी कहा है। ब्राह्मणों की संख्या बहुत है और उनमें से बहुत कम पौरोहित्य करते हैं। यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी ब्राम्हण केवल पौरोहित्य करने लगें, तो वे खाए बिना मर जायँ। अस्तु, भूमिहारों को अलग कर देने पर भी, ब्राह्मणों में दो वर्ग हैं—प्रतिग्राही और अप्रतिग्राही—ऐसे ही अप्रतिग्राही, संपन्न ब्राह्मण परिवार में तुलसी ने जन्म लिया, यह मानने में मुझे आपत्ति नहीं है। जिस अप्रतिग्राही, संपन्न, जमींदार ब्राह्मण वंश में, तुलसी ने जन्म लिया, वह ब्राम्हण वंश ही था, भूमिहार वंश नहीं, झड़प जी के सारे तर्क यही सिद्ध करने में लगे हैं कि तुलसी ने जिस कुल में जन्म लिया, वह अप्रतिग्राही जमीदार ब्राह्मण कुल था। ब्राह्मणों में से अधिकांश अप्रतिग्राही हैं—पुरोहित नहीं हैं—साथ ही ब्राह्मणों में भी बहुत से जमींदार हैं, संपन्न हैं। इसके उलटे सभी भूमिहार जमींदार नहीं हैं और न सभी एक से संपन्न ही। उनमें भी निर्धन एवं भूमिहीन लोग हैं। किसी युग में इनके पुरखा जमींदार रहे होंगे। यह विशाल भूमि न जाने कितनी बार टुकड़ों में बँटती चली आयी है और जो भूमि किसी युग में एक के आधीन थी, वही आज उसके वंशजों में हजार-हजार टुकड़ों में बँट गई है। अस्तु, झड़प जी ने तुलसी को भूमिहार सिद्ध करने के जो तर्क दिए हैं, वे ठीक नहीं। उनसे तुलसी भूमिहार नहीं सिद्ध होते। अप्रतिग्राही संपन्न ब्राह्मण मात्र सिद्ध होते हैं।

झड़प जी ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, उन्हें भी यहाँ संक्षेप में एक एक बार देख लेना असंगत न होगा। उनकी आलोचना करना भी व्यर्थ ही है।

(१) तुलसी प्राकृत जन का गुण गान अनुचित मानते थे। अतः वे किसी के चाटुकार नहीं थे और पुरोहित स्वभाव की कसौटी पर नहीं उतरते। उनका स्वभाव अप्रतिग्राही ब्राह्मणों के अनुवंशिक स्वभाव से मिलता है। निर्भीकता और स्पष्टवादिता उनकी विशेषता है।

(२) तुलसी ने स्पष्ट रूप से पुरोहिती की निन्दा की है। दान लेने की निन्दा में तो उन्होंने यहाँ तक कहा है—

तुलसी दान जो देत है, जल में हाथ उठाय
प्रतिग्राही जीवै नही, दाता नरके जाय।
—दोहावली ५३३।

अतः वे पुरोहित वर्ग के नहीं थे।

(३) विनय पत्रिका में तुलसी ने अपना पेशा निम्नांकित प्रकार बताया है—

मध्य वयस धन हेतु गँवाई,
कृषी बनिज नाना उपाय।

स्पष्ट है तुलसी का पेशा कृषी था, जो भूमिहारों का प्रमुख पेशा है।

(४) तुलसीदास ने ऐसे अनेक शब्दों का व्यवहार किया है, जो जमींदारों और कृषकों के यहाँ ही व्यवहार में आते हैं—यथा—मिलिक, कारनिक, नापजोख, खेत का धोखा।

(५) पुरोहित वर्ग का ब्राह्मण शिकार-प्रिय नहीं होता। तुलसी ने रामचन्द्र के मृगया विहार के जो स्पष्ट चित्र अंकित किए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वे कभी न कभी शिकार खेलने वालों की मंडली में अवश्य सम्मिलित हुए थे और उसे भलीभाँति देखा था। शिकार एवं शिकारियों की प्रकृति और व्यवहार से वे पूर्ण परिचित थे।

(६) अनुचित बातों पर उत्तेजित हो उठना जमींदार ब्राह्मणों का गुण है। तुलसी परम उदार थे, फिर भी उनमें यह जातीय गुण है—

हम लखि, हमहिँ हमार लखि,
हम हमार के बीच
तुलसी अलखहिँ का लखै,
राम नाम जपु नीच

(७) जमींदार ब्राह्मणों की एक विशेषता अच्छी व्यवस्था-'बुद्धि और राजनीति में पटु होना भी है। इसी को भूइँहरई' कहते हैं। सारे संसार को सियाराम मय देखने वाले तुलसी ने भी राजनीतिक व्यवहार में कूटनीति को बुद्धिमानी कहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्रु सयानो सलिल ज्यों,
राखि सीस रिपु नाव
बूड़त लखि, पग डगत लखि,
चपरि चहूँ दिसि घाव
—दोहावली ५२०

तुलसी केवल सरलता को दोष मानते हैं।

(८) तुलसी के आराध्य इष्टदेव अस्त्रशस्त्र धारी, कानन-चारी, लोकमर्यादा की रक्षा में तत्पर तपस्वी वेषधारी असुरारी राम हैं। बोल को अटल, बाँह को पगारु, दूबरे को दानी, दिबोई भावै, मारि कै मार थप्यो, भट ठाकुर की रीझि आदि के द्वारा गोस्वामी जी ने अपने वंश परमंरागत गुणों का ही दर्शन कराया है।

(९) दान के विषय में तुलसी का मत है कि जैसे तैसे देना ही चाहिए। जो दान देने में असमर्थ है, उसे भी चाहिए कि वह किसी से कुछ न ले। अप्रति-ग्राही ब्राह्मण वर्ग में प्रायः यह प्रवृत्ति आज भी पाई जाती है।

(झड़प जी को शायद जानकारी नहीं है कि तीर्थराज प्रयाग के सारे पंडे जो प्रयागवाल कहलाते हैं और दान लेते हैं, भूमिहार ही हैं)।

(१०) भूमिहार ब्राह्मणों के मूलस्थान धर्मारण्य (कान्य-कुब्ज प्रदेश का मदारपुर) में ही प्राचीन काल से गणेश, सूर्य, धर्मराज, देवी, हनुमान, नृसिंह आदि देवताओं की पूजा प्रचलित थी। इसीलिए यदि तुलसीदास ने विनय पत्रिका में सर्व प्रथम क्रमशः गणेश, सूर्य, देवी, हनुमान, गंगा और जमुना के व्याज से धर्मराज आदि देवताओं की वंदना की है, तो इसका अभिप्राय यह है कि इसका सम्बन्ध उनके परपंरागत (भूमिहार)—कुलाचार से है।

(इन देवी देवताओं की पूजा तो समस्त हिन्दुओं द्वारा होती है—भूमिहार ही इनकी पूजा नहीं करते।)

(११) तुलसी ने पार्वती मंगल, जानकी मंगल नामक मंगल ग्रंथों की रचना भूमिहार कुलाचार से प्रेरित होकर स्त्रियों के निमित्त की। झड़प जी के अनुसार भूमिहारों में विवाह के अवसर पर सर्व प्रथम शिव विवाह के ही गीत गाए जाते हैं।

(शिव और गौरी समस्त हिन्दुओं के पूज्य देव हैं और इनके गीत किस हिन्दू समाज में मांगलिक अवसर पर नहीं गाए जाते ?)

(१२) झड़प जी के अनुसार तुलसी वर्णित विवाह की पद्धति एवं आचार भूमिहार ब्राह्मणों के आचार एवं पद्धति के मेल में है, अतः तुलसी भूमिहार थे। झड़प जी ने इन आचारों का कुछ विस्तार से वर्णन किया है, जिसकी चर्चा यहाँ व्यर्थ है। ये आचार प्रायः सभी उच्च वर्गीय हिन्दुओं के यहाँ विवाह काल में देखे जा सकते हैं।

(१३) गो० तुलसीदास ने स्पृश्यास्पृश्य के संबंध में अपनी रचनाओं में जैसे उदार भाव व्यक्त किए हैं, उससे भी उनके पुरोहित वर्गीय ब्राह्मण होने का मेल नहीं बैठता। तुलसी ने वशिष्ठ द्वारा निषाद को गले लगवाया है, शबरी द्वारा राम का—आतिथ्य कराया है। गृद्ध की अंत्येष्ठि कराई है, ब्राह्मण द्वारा शूद्र को शिक्षा दिलाई है। स्वयं तुलसी ने श्वपच को गले लगाया और गौ—हत्यारे के हाथ भोजन किया।

(१४) परंपरागत कुलाचार का पालन जमींदार ब्राह्मणों की विशेषता है और तुलसी ने परंपरागत कुला-चारों का पालन कराया है।

(१५) भूमिहार ब्राह्मणों में परदा है : तुलसी में भी—
सीस उघारन किन कहयो—दोहावली २५४

(१६) राम के बन चले जाने पर अयोध्या की दशा—
लागति अवध भयावनि भारी
मनहूँ काल राति अँधियारी

यहाँ 'कालराति' का अर्थ प्रलय की रात्रि नहीं है, भादों की अमावस्या है। बिहार में शाहाबाद और सारन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिलों के मनेरिया और एकसरिया भूमिहार बाभनों के यहाँ कालरात्रि की पूजा का विशेष रूप से प्रचार है, जो उक्त तिथि को होती है, ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि तुलसी का सामान्यतया भूमिहार ब्राह्मण समाज से घनिष्ठ संबंध था।

(१७) भूमिहार ब्राह्मण परंपरा या रामोपासक थे तथा हनुमतपूजक भी, इसीलिए तुलसी रामोपासक एवं हनुमत पूजक हुए।

(राम और हनुमान समस्त हिंदुओं में पूजित हैं)

(१८) धूत कहौ, अवधूत कहौ,
रजपूत कहौ,जोलहा कहौ
कोई काहू की बेटी से बेटा न ब्याहब,
काहु की जाति बिगार न सोऊ।

झड़प जी के अनुसार ये सारे गुण भूमिहारों के हैं—धूत=धूर्तता या मुंड़हरई। अवधूत=रामानंदी संप्रदाय का वैरागी, जो सैनिक भी होता था, रामानन्द स्वतः भूमिहार थे। रजपूत=सैनिक वृत्ति। जोलहा=मुसलमान, मुसलमानों से संपर्क रखनेवाला। किसी की बेटी से अपना बेटा ब्याहना=सरयूपारीण ब्राह्मणों की बेटियाँ भूमिहारों में आती हैं। अतः स्पष्ट है कि तुलसीदास रामानंदी परंपरा के जमींदार भूमिहार ब्राह्मण थे।

(१९) पुराहित वर्ग के ब्राह्मण अरबी फारसी पढ़ते थे, न इन भाषाओं के शब्दों का उच्चारण करते थे, जन-भाषा में रचना करना अपनी हेठी समझते थे। इसके विपरीत जमींदार वर्ग के ब्राह्मण मुसलमान शासकों के सम्पर्क में थे, अतः फारसी पढ़ते थे और इनकी भाषा में अरबी फारसी के शब्दों का मिश्रण हो जाता था।

तुलसीदास की भाषा में अरबी फारसी के शब्द हैं, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२०) राम चरित मानस में परशुराम लक्ष्मण संवाद, हनुमान रावण संवाद, अंगद रावण संवाद में जिस हाजिर जवाबी, निर्भीक कथनशैली और वाक्पटुता का दर्शन होता है, वह जमींदार ब्राह्मणों की जातीय विशेषता के अनुसार है।

(२१) तुलसी-शिष्य रामू द्विवेदी ने 'प्रेम रामायण', में तुलसी को 'कुल शील सीमा' कहा है। झड़प जी के अनुसार यह कुल-शील-सीमा' भूमिहारों में ही सीमित है, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२२) घट रामायण के रचयिता तुलसी साहब ने गोसाईं तुलसीदास को कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहा है। पूर्व में कान्यकुब्ज ब्राह्मण नहीं होते। पूर्व के भूमिहार ही मूलतः कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। अतः तुलसी कान्यकुब्ज अर्थात भूमिहार ब्राह्मण थे। 'भक्त कल्पदुम' में राजा प्रताप सिंह द्वारा तुलसी को कान्यकुब्ज लिखने का भी यही रहस्य है।

(२३) हिन्दू संस्कृति ब्राह्मण संस्कृति है। गोसाईं जी भी सबसे पहले ब्राह्मण की,—महिसुर की, वन्दना करने-वालों में है। ब्रह्मशक्ति समाज की पोषक है। इसमें क्षात्र-शक्ति का समन्वय भी उचित है। गोस्वामी जी ने ब्रह्म-तेज और क्षात्रशक्ति का जो समन्वय कर उसका लोक कल्याणकारी रूप प्रस्तुत किया है, उससे ऐसी वंश-परम्परा के प्रति आकर्षण प्रकट होता है, जो इन दोनों शक्तियों से युक्त है—

सापत ताड़प परूष कहंता
बिप्र पूज्य अस गावहिं संता

'शापादपि शरादपि' दोनों की शक्ति भूमिहार में ही है, अतः तुलसी भूमिहार थे।

(२४) भूमिहारों को जो पत्र लिखे जाते रहे हैं, उनके सिरनाये हैं—

"स्वति श्री·····सर्व उपमा योग्य नाम उदित, परम पुनीत, नीति निपुण, सामर्थ्य, भार गुन गरिष्ट, मर्यादा सागर, गऊ ब्राह्मण के रछपालक, धर्मावतार' आदि। झड़प जी के अनुसार गोस्वामी जी ने राम-स्तुति में जो 'गो द्विज हितकारी' 'श्रुति सेतु पालक' आदि विशेषण रखे हैं, वे भूमिहारों के पत्रों में लिखी जाने वाली सिरनामे की प्रशस्तियों से ही प्रेरित हैं।

(२५) 'जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागि बस,
खाए अन्न सब के विदित बात दुनी सो।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि तुलसीदास सामान्य या पुरोहित वर्ग के ब्राह्मण होते, तो उन्हें स्वजाति और सुजाति क्या, कुजाति का भी अन्न खाने में ग्लानि न होती, अतः वे किसी विशिष्ट कुलीन जमींदार ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे।

(२६) राम कथा का समापन करते हुए गोस्वामी जी ने काकभुशुंड द्वारा भक्ति का महत्त्व बतलाते हुए जिस आदर्श—चरित्र का विवरण दिया है, वह जमींदार-ब्राह्मण आदर्श के अनुरूप ही है—

सोइ सर्वज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता
सोइ महि मंडित पंडित दाता

महि मुडित = स्कन्द पुराण का 'महि मन्ड' = लक्ष्मणाचार्य का भूमि-भूषण = भूमिहार।

(२७) गोस्वामी जी ने मंडप की सजावट, बरात का ठाटबाट, पुत्र-जन्मोत्सव, दान दहेज, उत्तर-प्रत्युत्तर और युद्धों का जैसा सजीव वर्णन किया है, उससे वे जमींदार वर्ग के ही ब्राह्मण सिद्ध होते हैं।

(२८) कै जूझिबो कि बूझिबो, दान कि काय कलेस
चारि चारू परलोक पथ, जथा जोग उपदेस
—दोहावली ४५१

इस दोहे में बूझिबो के पहले जूझिबो आया है, अतः तुलसी भूमिहार या जमींदार वर्ग के थे।

(२९) सब अंग हीन, सब साधन विहीन,
मन बचन मलीन, हीन कुल करतूति हौं
बुधि-बल-हीन, भाव-भगति-विहीन,
हीन-गुन, ज्ञान-हीन, भाग ही विभूति हौं।
—कवितावली उत्तरकान्ड ६९

वैभव रहित होने के कारण कुलाचार में विरोध पड़ने की बात जमींदार ब्राह्मण ही कह सकता है, क्योंकि उसी के कुलाचारों का सम्बन्ध वैभव पर अवलंबित है।
(औरों के कुलाचार क्या फोकट में हो जाते हैं?)

(३०) [क] बार-बार लालच धरनि धन-धाम की
—कवितावली उत्तरकाण्ड १३४
[ख] जाय तो न जरनि धरनि धन धाम की
—वही, ११९

इस कथन से साफ प्रकट है कि गोस्वामी जी का जन्म एक भूम्याधिकारी, संपत्तिशाली और प्रतिष्ठित वंश में हुआ था, किन्तु इनका सब कुछ दूसरों ने ले लिया था, जिसका क्षोभ साधु होने पर भी उनके मन से दूर नहीं हो पाता था।

(३१) राम सोहातो तोहि जो, तू सबहि सोहातो
काल कर्म कुल कारनी कोऊ न कोहातो
—विनय पत्रिका १५१

गोस्वामी जी का जन्म एक परम्परागत जमींदार परिवार में हुआ था। यहाँ कारनी (कार्णिक = जमींदारी का पट्टा देने वाला रजिस्ट्रार) का उल्लेख इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर देता है।

(३२) 'हाथी स्वान लेवादेई' का सम्बन्ध जमींदार को छोड़ और किससे हो सकता है?

(३३) कृष्ण गीतावली के पद ३२ में मिलिक, बैरख, नकीब आदि शब्द सरकार सम्बन्धी हैं। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग जमींदार ब्राह्मणों द्वारा होना ही सम्भव है, क्योंकि उनका राजकाज से सम्बन्ध था।

(३४) तुलसी की माता 'हुलसी सती' कस्तुवार भूमिहार ब्राह्मण वंश की बताई जाती हैं।

(३५) तुलसी की ससुराल इलाहाबाद जिले में टोंस और गंगा के संगम पर स्थिति पनासा के हीरापुरी पाण्डेय वंश में थी, जो भूमिहार वंश है।

(३६) तुलसी का भदैनी (काशी) के टोडर से नाता-रिश्ते का घनिष्ट सम्बन्ध था। उक्त टोडर भूमिहार थे।

(३७) गो० तुलसीदास को जमींदार ब्राह्मणों ने आश्रय दिया, उनकी रामायण और रामलीला का प्रचार किया कराया तथा उनके द्वारा श्री हनुमान जी के विग्रह स्थापित कराए। यहाँ तक नहीं, उनके नाम पर स्मारक खड़े करने वाले, उनकी स्मृति में ग्रन्थ रचना करने वाले इसी समाज के लोग हैं। श्री तुलसीदास की निवास भूमि अयोध्या, काशी, चित्रकूट, राजापुर आदि में इसी समाज के लोगों ने अनेक कृतियाँ खड़ी कीं। उक्त स्थानों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी समाज के लोग आज भी आच्छादित किए हुए हैं, जबकि वे प्रायः (काशी छोड़कर) उन क्षेत्रों के निवासी नहीं हैं। प्रायः तुलसीदास द्वारा राजापुर का मन्दिर भी काशिराज द्वारा निर्मित कराया गया कहा जाता है। स्पष्ट है कि तुलसीदास से भूमिहार—ब्राह्मणों का कुछ विशेष लगाव और अपनत्व रहा है; जो वंशगत होना सिद्ध है। स्वजातौ परमा प्रीतिः।

(३८) गीतावली में राम राज्यभिषेक का वर्णन है—

वेद पुरान विचारि लगन सुभ,
महाराज अभिषेक कियो
'तुलसीदास' जिय जानि सुअवसर;
भगति-दान तब माँगि लियो।

झड़प जी के अनुसार "तुलसीदास ने वेद पुराण को विधि से शुभ लग्न में (राम का) राज्याभिषेक किया"।

स्पष्ट है कि तुलसीदास अपने को वसिष्ट का प्रतिनिधि अर्थात वंश परम्परा में होना मानते हैं अर्थात् वशिष्ट गोत्रीय हैं।

'तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को,

के अनुसार भी तुलसी वशिष्ट गोत्रीय थे।

(३९) तुलसी वशिष्ट गोत्रीय थे, उनकी ननिहाल गौतम गोत्र में थी और ससुराल भरद्वाज गोत्र में। इन सभी भूमिहार कुलों के कुलदेवता शिव हैं, अस्तु तुलसी की शिव-भक्ति उनकी कुल-परम्परा से सम्बन्धित है।

(४०) गोस्वामी जी की वंशगत उपाधि ठाकुर रही होगी। इसके लिए दो उद्धरण झड़प जी ने दिए हैं—

१. ठाकुर महेश ठकुराइन उदासी जहाँ
—कवितावली उत्तरकांड

२. ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो
—विनय पत्रिका

अपने मित्र टोडर को भी गोस्वामी जी ने ठाकुर कहा है। इससे ठाकुर आस्पद के प्रति इनकी आस्था प्रकट होती है और अपनत्व भी। यह ठाकुर तीन अर्थ देता है, ब्राह्मण, नाई और राजपूत—

ठाकुर ठाकुर तीन ठाकुर
बाभन ठाकुर, नाऊ ठाकुर, ठाकुर ठाकुर

तो तुलसी बाभन (भूमिहार) ठाकुर थे।

उपसंहार

झड़प जी ने ९ शीर्षकों में तुलसीदास के जन्म-स्थान पर विचार किया है। उनके निष्कर्ष कई हैं—

१. तुलसीदास का जन्म भोजपुरी प्रदेश में कहीं हुआ।
२. तुलसीदास का जन्म काशी और बलिया के बीच कहीं हुआ।
३. तुलसीदास का जन्म पूर्वीय भोजपुरी प्रदेश में हुआ।
४. तुलसीदास का जन्म गंगा सरयू संगम के निकट कहीं हुआ।
५. तुलसीदास की जन्मभूमि गंगातट-स्थित राजापुर गंगौली (गंगा तट का गाँव) है, जो बलिया नगर से नौ मील पूरब है।

बलिया के इस राजापुर के लिए कोई विशेष प्रमाण जुटाने की आवश्यकता नहीं समझी गई है। बाँदा जिले के राजापुर नाम को ही आधार मानकर इस राजापुर को तुलसी की जन्मभूमि मानने की कष्ट—कल्पना की गई है। बाँदा का राजापुर तुलसी की जन्मभूमि माना जाता रहा है। अतः तुलसी की वास्तविक जन्मभूमि का नाम राजापुर होना चाहिए। यह विचार धारा झड़प जी के मन में है। भरत-भूमि विशाल है। इसमें सैकड़ों राजापुर एवं सैकड़ों तुलसीपुर हो सकते हैं और हैं। वे सभी राजापुर न तो तुलसी के बसाये हुए हैं और न तुलसी की स्मृति में तुलसीपुर ही अन्यों द्वारा बसाये गये हैं।

जहाँ तक जाति वाली बात है, तुलसीदास ब्राह्मण थे, अप्रतिग्राही ब्राह्मण थे, जमींदार ब्राह्मण थे, पुरोहित वर्ग के नहीं थे—सब ठीक, पर वे भूमिहार ब्राह्मण थे यह प्रबल रूप से सिद्ध नहीं किया जा सका है।

झड़प जी ने अपुष्ट, उपहासास्पद, दुर्बल तर्क पचासों दिए हैं। अच्छा होता दो ही चार तर्क दिए होते, जो परम पुष्ट होते और जो लोगों को इस दिशा में सोचने के लिए विवश कर देते।

० ० ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Technical Heritage of Ancient early and medieval India - a new light

By Dr. D.N. Shukla

Vedic Foundations—Upa-Vedas, the Founders of Technical Sciences :

In India there was hardly any line of demarcation between Science and Art, and Science without philosophy had no meaning for us. Hence our lore was an integrated whole. As there were Vedas, there were also Upa-Vedas and these Upa-Vedas were the founders of the Technical Sciences and Fine Arts in India. Let me briefly enunciate this proposition.

While Vedic studies relating to the four Saṁhitās, their Brāhmaṇas, Upaniṣads and the Auxilliary Sciences, the Vedāṅgas Śikṣā, recitation (articulation and pronunciation); Chandas, metrical science or the science of ryhthms; Vyākaraṇa, Grammar; Kalpa, ritual;Nirukta hermeneutics, etymology; Astronomy-astrology have born fruitful investigations in realm of Oriental Studies in India and abroad, no serious and concentrated study has ever been bestowed upon our Upa-Vedas. There are numerous references to Upa-Vedas like Dhanurveda, Military Science; Gandharva-Veda, Science of Music; Artha-Veda and Sthāpatya-Veda, etc. etc. in the literature, but where are their texts and treatises ? Are we to suppose that they are all consumed to oblivion due to the neglected study of this technical heritage ?

In military Science, besides immortal classic of Kauṭilya, there are certain later treatises also like Kodaṇḍamaṇḍana, Ornament of the Bow, the Dhanu, the science and art of archery written by the Encyclopaedic and reputed author, King Bhojadeva of Dhara who is credited to have exhausted practically all the main branches of literature, Grammar, Rhetoric, Aesthetics, Architectures, Medicine and Philosophy—vide more than 3 dozen of massive treatises on these subjects attributed to his authorship. As regards the later technical treatises on Music, Dance Śilpa Drama, Kalās,[1] Kama, Astronomy and Medicine they are well known to us. My purpose, therefore, is to make a passionate plea to start investigations into this branch of knowledge which is not only very appropriate in the present misunderstanding if Ancient India had ever a material culture depending upon the material sciences, positive, technical and pure.

Brajendra Nath Seal took a lead in writing a monumental monograph "The Positive Sciences of the Ancient Hindus", but his investigations, as he himself claims relate to rather post-Vedic period 500 B. C. to 500 A.D. As regards the technical sciences like Vāstu and Śilpa, my humble contributions are also known to the scholars.

My contention is that if there were Vedas representing ritual, religion and philosophy, there were also Upa-Vedas, founding the material sciences—technical as well as positive. Hindus had founded both the Vidyās, the Parā and the Aparā. Every Veda has an Upaveda. Āyurveda, the science of medicine (including Chemistry, Botany and Physiology) was attached to Ṛgveda. Similarly, Dhanurveda, the Military Science was attached to Yajurveda, Gandharva-Veda and Sthāpatya-cum-Artha-Veda to Sāma & Atharva respectively. This Artha-Upaveda represents Social organisation and State-craft. We know of the Arthaśāstra of Kauṭilya, the most reputed treatise on polity and war-strategy. Thus our

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Vedas and Upa-Vedas have given composite content to make our life perfect in both the aspects the spiritual and the material. How could otherwise we have evolved the definition of Dharma as :

यतोऽभ्युदयनिःश्रेससिद्धिः सधर्मः ।।

Dharma does not mean dogma or ritual ; it means the sustaining factor of life in its most complete aspect. Abhyudaya stands for material prosperity and Niśśreyasa for Mokṣa, the release of the soul from bondage. These are cardinal postulates which have prefected our culture. Thus we can appreciate the balancing of Materialism and Spritualism in our culture.

Āyurveda : The two Upavedas namely Āyurveda and Sthāpatyaveda being very intimately related to the very existence and living of man, naturally were very popular and their culture, studies systematisation, propogation as well as incorporations found appropriate codification in later literature. The founders of these two sciences belong to a hoary past as ancient as Vedic times. Though much has been written on Āyurveda, its study on profounder scientific foundations needs revival so that the modern Positive Science like Chemistry, Physics, Physiology and Botany may come to their own. The health ideals of the Nation need be based on the ideals of living, cutlure and civilization.

Hindu achievements in the fileld of Medicine and Surgery, Chemistry and Mathematics have been well known. Hindu contributions in the fileld of Botany, Zoology and Veterinary Sciences are equally profound and their scientific investigations need be taken up, as there is still misconception in the minds of our own scientists about them. Botanical and Zoological data in a voluminous treatise the Mānasollāsa or Abhilaṣitārtha-Cintāmaṇi of the later Chalukyan king Someśvara III, presupposes very early beginings. Similarly the treatment of Veterinary sciences in this treatise and others like Śukranīti, Śālihotra, Aśvaśāstra, Vāji-praśaṅsā, Harihara-caturanga, Nakula's Aśva-śāstra, Jayadatta's Aśva-Vaidyaka, Sāra Sindhu (a referred text by Nakula) etc. alongwith Mātanga-līlā, Hastyāyurveda, Gaja-Cikitsā and a host of others fully corroborate this technical heritage of ancient India. Classifications—botanical, medical and dietatic; morphology; Physiology (stems, roots, flowers, leaves, plants), Heredity, Ecology of Plants, Plant-Pathology and breeding etc. were well known to our ancient scientists. Further India being an agricultural country could not have afforded to neglect the Veterinary Sciences.

The pure race-culture was based on 'Trayi'. The later tradition of 'Catvāro Vedāh' is non-Aryan contribution with comingling of cultures. The Atharva-Veda the fourth veda is an illustration. This Veda is a store house of medical foundations which is the gift of the Rgveda as already noticed.

Sthapatya-Veda : This Upaveda gave rise to to two most technical sciences—Vāstuśāstra and Śilpaśāstra. They may be rendered as Science of Architecture including Engineering and Town-planning alongwith the Canons of Iconography-Sculpture including painting and other allied arts. The textbooks of Vāstuśāstra, the Science of Architecture, are records of oral tradition which go back to an undefined past. The testimony of the Bṛhatsamhitā of the 6th Centuary A. D. in this context also supports this antiquity. Varahamihira himself proclaims the authority of the master architect acharyas like Garg and Manu on this lore. Matsyapurāṇa enumerates the eighteen preceptors of vāstuśāstra :

भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा ।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः ।।
ब्रह्मकुमारो नन्दीशः शौनकी गर्ग एव च ।
वासदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती ।।
अष्टादशैते विख्याताः शिल्पशास्त्रोपदेशकाः ।।

and most of these were Vedic Ṛsis.

Hence The Vedic Foundations of Vāstuśāstra cannot be said to be over-estimated. The conception of Vāstu, its Mandala and its pre-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

siding lord Puruṣa are equally as ancient as Vedic Times. The very Mantra of Vāstu-Purusa is based on the analogy of the Vedic Vāstoṣpati. The foundations of the building construction whether an altar of a shed of initiation or of sacrifice, a residential house or the abode of deity, all go back to the Sutra-period as practically all important Sutra works have detailed expatiations on this side of the Science.

The word 'Śilpa' though comparatively later than 'Vāstu' as per its genesis of ornamentaion and varied and rich motifs, is also as old as Vedic Times. The Aitreya Brāhmaṇa VI.5.27 is a valuable testimony on this subject : 'Śilpāni-works of art, are an imitation of divine forms; by employing their rhythms, a material reconstitution is effected of the limited human personality. Similarly Śulva-Sūtra are a clear development in the science of Architecture, the Sthapatyā-Veda. The Śrauta-Sūtras belonging to the 2000-1500 B.C., contain the rules for rites ordained by the Veda. Each Śrauta-Sūtra seems to have had its own Śulva-Sūtra or section dealing with the measurements and the 'geometry' of the altar. The Vedi is the sacred ground measured out for the Yajña and this Vedi is the mother of Hindu Temple, the richest, the profile development of the art. Science, philosophy, ritual, religion and metaphysics have each contributed to evolve a meeting of Macrocosm and microcosm in Prāsāda, the Hindu Temple. Prāsāda is thus designated as Prāsāda-Puruṣa and Vimāna, the body corporate. Thus this Sthāpatya-Veda contributed a vast literature in the Purānās, Āgamas, Tantras, Pratiṣṭhāpaddhati and Vāstu Śilpa texts proper for the later codifications and enrichments.

Artha-Veda : This Upa-veda gave rise to all the later literature dealing with social organisation, Polity and war. Arthaśātra dominated all thinkers of ancient India. It deals with the totality of social, political and economic relationship and indicates how they are to be properly organised and integrated with one another. All relationship, says Usanas, is rooted in the Daṇḍanīti (Mah XII. 62, 28-9). Manu goes to the extent of declaring that it is Danda who is the real king, the real leader and the real protector.

"धर्मं दण्डं विदुर्बुधाः"

The rules about the functions and duties of the king and the welfare of the state were therefore naturally called Daṇḍanīti. No truly ancient Indian Aryan thinker has ever subscribed or surrendered or relegated the fundamental strategy of diplomacy to the socalled canons of morality and religion. The Promulgator and Preserver, the Defender of the world is Yama, who is not only Yamaraja but alṣo Dharmaraja and the first king on the arch, Prthu was the prototype of Yamaraj and Dharmaraja both, who gave the name of this earth Prithvi. According to Parāśara, wealth is the root of virtue (Dharma) and pleasure (Kama) and this indicates the strong tendency towards a materialistic view of human ends especially the notions and conceptions of Government.

The sum and substance of early predecessors of Kauṭilya like Bhāradvaja and Vātavyādhi was the security not only of the person of the administrator and the state as a whole by all means. Should Kautilya's ever-shining light the 'Arthaśāstra' be not a manual of polity, even to-day ? The ancient Indian Aryans, who were lovers of the nature and are said to have evolved the whole culture and civilization in midst of forests and on the banks of rivers, are the strongest advocates of the fortification of frontiers. Kauṭilya himself precribed the first duty of the state to establish the Durgas, the Forts, not only all around the territories but also in midst of the territories. Himalaya has been our greatest frontier and fortification and in the terminology of Kautilya Durg-varieties, the Pārvata-Durga (Mountain Fort) and the Daiva-Durga (the Celestial Fort) are very important and should these ranges, especially our North-West Frontiers not have been considered to be the most impor-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

tant subject of fortification ? This is the elementary prescription for the security of the State.

Gandharva-Veda : The science of Music, no doubt, is as old as any of these Upavedas and there are abundant references to its antiquity in the later literature on Music, but unfortunately, this branch of technical lore is also hidden from the stand-point of systematic and scientific exposition. Much has been done in the preservation of folk-lore in an intimate relationship with Dance, Drama and Instrumental Music but its codifications, as are found in ancient, early medieval and later medieaval literature, need a projected planning of research. South Indian Musicians, Sangita-Panditas, Nṛtta-Nāṭya-kovidas have done a remarkable service in the preservation of this lore, but Sanskrit scholars especially the Vedists, the experts of Sāma, may take up the lost thread to reconstruct the whole science.

Science of Music is intimately related with Metaphysics. The whole cosmology is based on Icchā and Nāda and the concepts of Nāda-Brahma and Śabda-Brahma are well known. The ancient music aimed at sound in pure form or Brahman, now it is conceived as a means of aesthetic enjoyment. The non-Aryan contributions in the realm of ancient music especially the pre-Vedic times were the real contents. Then followed the period of Hymns of the Ārcikā period or more appropriately the Gāthā period or the period of Tune or the Sāman. It was on the basis of the three Svaras, Udātta etc. that seven notes were discovered in Indian Music. This development may be termed as religious culture. Secular music was also gradually asserting itself. Various types of regional music developed in different regions of the land, sung for the communal entertainment and enjoyment. Epics, Puranas and other ancient literature all corroborate this culture. Ancient authors like Five Bharatas—Nandi, Kohala, Dattila, Bharata and Matanga are the first promulgators. Narada's Sangitamakaranda is another landmark.

The Buddhist period is also noted for the exhuberance in musical authorship as referred by Abhinava-gupta, Śāradatanaya, Nānyabhūpala, Pārśvadeva and Śārangadeva the 10-12th centuary writers. Some of these celebratries are Āstika, Apisali, Uttara, Umāpati, Katyāyana, Kāmadeva, Kumbhodbhava, Ghantaka, Chatraka Datta, Devara, Drauhini, Dhenuka, Priyatithi, Binduraja, Brhat-Kasyapa. Several Bhaṭṭas (as many as six), Rahul, Vena, Vyasa, Vraspati, Sakaligarbha, Surya and Suresvara.

The 3rd period of Indian Music begins with the Hindu Revival after the decline of Buddhism. Most of the treatises are lost, the writers can only be reconstructed from the references and the modest list is : Udbhata, Lollata, Sankuka, Utpaladeva, Nrsimhagupta, Abhinavagupta the reputed author of Abhinavbharati, Bhojadeva, Simhana, Abhayadeva, Mammata (different from Kavyaprakasakara), Rudrasena, Somesvara III (the author of Mansollasa), Locanakavi (Rajatarangani). Paramardi, Devendra (Sangitmuktavali), Somesvaradeva (Sangitaratnavali), Saradatanaya (Bhavaprakasa), Nanyabhupala (Sarasvatihrdayalankara).

In this limited time and space it is not possible to dilate upon the massive treatment of this fascinating science with special reference to the classification of Rāgas—Śuddha, Bhinna and Sādhārana etc. and their Jātis, Nomenclature. However, a note may be struck that King Someśvara's, Mānsollasa, is a store house for some rare information in regard to Non-aryan influence vide Velavulli melody mentioned in it. Hence in the development of Indian Music, the two distinct styles, Northern and Southern styles cannot be under-estimated. Prabandhas or Musical compositions are also a notable development in the technique of the Indian Music.

As regards musical instruments, it is equally a formidable subject. The references go to the earliest times, even to pre-Vedic or pre-Aryan age. The varied instruments found in Mohenjodaro and Harappa excavations include a seven-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

keyed flute which denotes seven note-places, and a stringed musical instrument resembling the Viṇā. Vīṇā and Mṛidaṅga were current in Vedic times and the types of the Viṇā as referred in later literature are as many as fifteen to eighteen. Duṅdubhi and Bhūmi are also referred in Samhitās. The Nāradīya-Sikṣā mentions both the Vīṇā and the Veṇu connecting former with Vedic music and the latter with Gandharva or popular music. The Viṣṇudharmottara devotes one full chapter on musical instruments entitled 'Ātodya-vidhi' and here the four types of traditional musical instruments, Ghana, i. e. metallic instruments and Avanaddha, i. e. stretched instruments like drum.

Someśvara's Mānsollasa also incorporates further deveopments in this art along with so many varieties and sub-varieties of the principal classes of musical instrument. Kinnarī Veeṇā may be said to represent Kinnaragāna and Yaksagāna still prevalent in South India.

Characterstics of the Technical Science and Fine Arts in India :

After this brief enunication of the Foundation of Technical Sciences and Fine Arts let me now proceed with the character and characterstics of this technical heritage. The most important characterstics of our technical sciences especially the Hindu Science of Architecture are : Philosophical back-ground particularly the Philosophy of Vāstu-Brahma, the Aesthetic ideals and symbolism. Among these I may leave the first on which I am dwelling at length in my volume entitled Śilpaśāstra 'Philosophy of Vāstu-Brahma' and its impact on Temple Architecture.

Aesthetic Ideal of our Fine Arts : Art in India is Iconography. The Viṣṇu-Dharmottara has remarkable contribution on this score and Raja Bhoja in his celebrated treatise, the Samarāṅ gaṇasūtradhāra, has simply cannonised this aspect of Indian Art, which distinguishes it from the Greek Art and provides a Philosophy for Art which is its genesis and genious.

Iconography is both a Science and Art. For an artistic perfection of an image, it has to be accomplished in such a way as to arouse in us the aesthetic experience akin to one as we get from poetry and music. According to the Indian aestheticians, the main purpose of a poetical composition is to arouse pleasure, the 'Āsvāda' what is called 'Rasāsvāda'. And this Rasāsvāda is extolled as 'Brahmānanda-Sahodara'. It is from this fundamental stand point of Indian aestheticism that we do not have tragedies in our dramatic literature. The Indian view or more appropriately the Hindu view of life is one of unbounden faith in eternity, a profound sense of optimism and a sublime outlook of life, coloured by the pneumal existence and heavenly bliss, both Svarga and Apavarga. Naturally, therefore, all arts, be it poetry or music, painting or dance, are to be viewed from this lofty idealism of aestheticism.

In nearly all the phases of Indian art, the Rasa (or impassioned feeling) has played a very prominent role. The Indian belief is that the Supreme Being is Rasa-svarupa (cf. the Indian theory of Rasa-Brahmavada (रसो वै सः) Again image-worship for which icons used to be made of the manifold materials with manifold symbols to be worthy of desired end has to be done in a manner of accomplished art. In dance and drama there is an identification of the spectator with the Naṭa, the actor. A similar identification is essential between the worshipper and the worshipped. This is possible only through the arousing of rasa, the aestheticism, in art. The sculptural monuments in our possession do corroborate this dictum and there we find a number of different 'Rasas' which the artists endeavoured to chisel upon in the dry stones and metals.

Thus aesthticism in art becomes instrumental in producing the भावव्यक्ति and this भावव्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

is dependent on the rasas or rasadrstis cf. the following lines of the Samarangana :—

रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीनामिह लक्षणम् ।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते ।।

Here Citra can stand both for the pictorial images as well as the sculptural ones. Hence according to the Samarāñgana it is the supreme achievement of the image-maker or the sculptor to see to this side of aestheticism in art, the 'bhāva-vyakti'. This aesthetic ideal is really one of the major contributions of Indian Canons of Art as prpounded in the texts like Viṣṇudharmottara and the Samarāñgaṇasūtradhāra, to give a distinct and unique character of Fine Arts in India. The oft-quoted aphorism ब्रह्मानन्द सहोदरो रसः is not without significance and high meaning. It aims at annobling life. Even birds and beasts, the socalled brutes, when characterized with these different sentiments in accordance with the different situations if can go higher up, men and women imbuded with them simply become divine. Further more this aesthetic element in Indian Art pre-supposes the ideal of 'Beautiful' in its real perspective. The beautiful is not only to be viewed in anatomical perspective, but also in the inner manifestation, the sole criterion of the beautiful, the 'Sundara' from the Hindu view of life. Beautiful internally, in its turn, presupposes the truthful the 'Satya' both internally and externally and the art which is both Satya and Sundara, that alone becomes the Beneficient, the 'Śiva' the supreme ideal of life. It is this 'God' of the humanity at large that the Indian seers have always aimed at. Any creation, unless it is condusive to the well being of life, unless inspiring to annobling it and unless high enough for creative urge, is not worth the ideal. It is from this fundamental angle that aestheticism in iconographical art is to be viewed and purviewed.

The following lines from the Samarāñgana Sūtradhara will suffice to illustrate this theme :

हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन् ।
सजीव इव दृश्येत सर्वाभिनयदर्शनात् ।।
आंगिके चैव चित्रे च इदं साधनमुच्यते ।
.....तस्मादनयोश्चित्रमात्रितम् ।।

विना तु नृत्यशास्त्रेण etc. the Visnudharmottara lines especially 'त एव चित्रे विज्ञेया नृतं चित्रं परं मतम्' etc. also propound the same truth.

The Samarāñgana Sūtradhāra recognises as many as eleven Rasas adding Prema etc. and Eighteen Rasadrstis, Lalitā, Hṛṣṭā Vikasitā etc.

The important points in relation to the aesthetics in the pictorial art still need to be expounded. Firstly all these rasas, though characterstics of only human beings, men, women and children and in their likeness the anthropomorphic forms of the gods and demi-gods and demons, they have an application to all sentiment creations 'मानुषानि पुरस्कृत्य सर्वसत्वेषु योजयेत् ।' This statement goes to the very core of the art and shows that if birds and animals in paints could be shown manifesting the sentiments, it is really the master-piece, the supreme achievement of the artist. It becomes a new creation, a superior creation to that of Brahma, the Primordial Creator Himself. If it is through the symbolism of Mudrās, hand poses, bodily poses and the postures of the leges that the mute gods speak to us giving vent to the sublimest of thoughts and noblest of expressions, these so-called brutes can also become our co-shares in the aesthetic experience. It is neither extraordinary nor supernatural about it. It is the marvel of the art. If poetry can create an idealistic world, full of beauty and bliss, the painting, her sister must also follow the suit.

Thus a perusal of the sections on painting in the Viṣṇudharmottara and Bhoja's Samarāñgana Sūtradhāra will show how Citra is based on the canons of Nāṭya. For them Citra is only one scene of Nāṭya and Nāṭya a succession of Citras. The Viṣṇudharmottara says that Citra is

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

as much the art of immitation (anukaraṇa) as Natya. The poses, the hands of dance called Nṛtyahastas and the Rasadṛṣṭis—these are studied elaboratly in Nātya and this study is absolutely necessary for, and is fully utilized in painting.

What the hand-poses have implicity expressed (cf. manifold hand poses, like Varada Vyākhyāna Jñaña, Yoga etc. Mudras and 64 Hast postures), the rasas and the rasa-dṛṣṭis make that explicit. Thus the images are bestowed life movement through the symbolism of gesticulation, the very essence of dramatics both put together (Sarvābhinayadarśanāt). Therefore, this delineation of the rasas and rasa-dṛṣṭis and their representation thereof, constitute the fundamental background both in Āṅgika (Drama) and the Citra (Painting) arts. The Science of Painting is dependent on the Science of Aesthetics (Dramatics included).

Symbolism in Indian Art : Symbolism in art is a very very profound and massive subject and it is impossible for me to do any justice here owing to the paucity of the time. However, in this regard I have a thesis to propound that Mudrās should be taken in a wider sense to denote the whole kingdom of symbolism associated with the images of divinities.

So far we have been treating Mudras in a traditionally accepted sense, this view of the previous writers, however, is not correct. Mudrās, the symbols should not be taken only in their subjective, i. e. mental and spiritual attitude manifesting themselves in the bodily poses, they should also be extended in an objective manner, otherwise, the implications of the lakṣaṇas and lāñchanas in Brahmanic images have no meaning. There is a multitude of terms which denote the costume ornaments and headgear in which images are represented together with the objects which images of gods are shown to bear in their hands, such as weapons, implements, musical instruments, animals, birds etc.

I have maintained the thesis that Mudras should not be taken only to denote the poses of hands, body and legs and feet alone, but they are also the symbolic representation of the characterstic emblems of the divinities. In this sense all the symbols characterstic of a particular deity can stand for Mudras. Mudras the poses of hands, etc. as current in literature are more intimately connected with Buddhist images. The Brahmanic images being full of their characterstic emblems like dresses, ornaments, seats and conveyance have not shown so many intricacies of the Mudras as they are generally understood by the Indian artists.

It may, however, be again remarked that in orthodox Hindu Literature, the Mudras are symbolic manifestations and reproductions of the characterstic emblems of the divinities and not generally speaking, the peculiar positions of hands, fingers or feet and body as those of Buddhist and Jain figures. The reason why these so called Mudras are less important in Orthodox Hindu art, may be explained by the presence of their substitutes in great number of weapons and attributes held by Brahmanic deities and these too are Mudras. This contention is borne out by the following quotation.

एकोनविंशतिर्मुद्राः विष्णोरुक्ता मनीषिभिः ।
शंखचक्रगदापद्म·····वेणुश्रीवत्सकौस्तुभः ।।
·····शिवस्य दशमुद्रिकाः ।
लिंगयोनित्रिशूलाख्या मालेष्टाभीमृगाह्वयाः ।।
सूर्यस्यैकैव पद्माख्या सप्तमुद्रा गणेशितुः ।
लक्ष्मीमुद्राचने लक्ष्म्या वाग्वादिन्याश्च पूजने ।।
अक्षमाला तथा वीणा व्याख्या-पुस्तक-मुद्रिकाः
सप्रजिह्वाह्वया मुद्रा विज्ञेया वह्नि पूजने ।

Thus nineteen mudras are known to be of Viṣṇu, some of them being Śaṅkha, Cakra, Gadā, Padma, Śrīvatsa, Kaustubha, Vanamālā etc. Śiva has ten mudras sacred to him i.e. the lingam or the phyllic symbol, the trident, the rosary damaru etc. Sūrya or the sun has only one mudra namely the lotus, Ganesa has seven mudras some of which are the tusk, the goad, the axe, the rice-ball etc. The mudras for Saraswaṭi are

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

are the lute, the book and the rosary. Similarly the mudras of Agni is seven flames.

The symbols of mudras in the broad sense of the term which have been introduced by me for the first time in contemporary studies on Indian Art, are really accessories to the main figure, the conductors, as it were, between the image and the idea. Thus the observation of the elephant in the image of Indra, brings back the whole idea of Royality of which an elephant used to be fundamental emblem. The bull, in India, is a symbol of Dharma and was thus used as the Vehicle of Śiva, the Great Yogi. Symbolism in India is the key-note of its culture and philosophy.

Contribution that Our Technical heritage can make in present day National Reconstruction.

With this brief account of the characrter and content of the Technical science and Fine Arts in ancient India, let me come to my fundamental proposition viz, their place in the present day National Reconstruction.

Sanskrit Language Literature and Civilization was the real bed rock, on which our National Integration was founded. Study of Sanskrit in the past was not confined to a department, as we do today. Sanskrit in the past was a full fledged faculty where different branches of learning including Medicine, Town-planning, Arts, Astronomy, Military Science, Polity, strategy of war and State craft consituted a modest curriculum. The ancient Universities like Nalanda, Taksasila, Vikramasila were all noted for this fundamental organisation of Sanskrit learning in the past. Because we have relegated the study of Sanskrit just as classical languages we are unable to do anything in the reconstruction of the modern India. Modern India needs planning which may bring about national integration based on cultural heritage and its revival. We always see to the West and imitate their pattern. There is a rich literature in Sanskrit on all these branches, study and researches on which can certainly unfold fascinating ideas and practical working in all these sphperes. Let me just take only one branch which is my specialised field, i.e. Ancient Hindu Canon of Architecture including civil engineering, the erudite and scientific treatises like the Mānasāra, Mayamata Śilparatna, Samarāṅganasūtradhāra, Aparājitapṛcchā etc. etc. and the most sublime and remarkable archaeological remains in the realm of town-planning and architecture, we still think that all this is worthy of incorporation.

The Indus valley civilisation and Harappa culture were beginnings in the advanced technique of town-planning. The Vedic village was an ideal habitation. The later onslaughts are a living history of our art and architecture. Who contributed all this ? It is the Sthapatis (the ancient architects and their guildes) and the Sthāpakas the presiding Ācharyas together with the patrons of the art and architecture, the ruling dynasties, Guptas, Pratiharas, Chandellas, Kesaris, Chalukyas, Pallavas, Rastrakutas, Pandyas, Nayakas etc. etc. who could devotedly and dedicatedly surrender all their wealth in the establishments of huge Cathedral temples, the greatest and the largest of the Prasadas, the Hindu temples throughout the length and breadth of this vast sub-continent, the north and the south, the east and the west and the Daccan. Some of the temples like Lingaraja[1] at Bhuvanesvara, Sun Temple at Konark Kandariya Mahadeva at Khajuraho, Minaksi-Sundaresvara at Madura, Siva Temples at Tanjore and Rameswaram and a host of them at such famous sites as Mamallapuram, Kanchipuram, Chiddambaram, Aiohole, Badami, Pattadakal in the South and Udaipur, Modhera, Mount Abu in the north are a testimony of this great artistic upsurge. This could not have been possible if we did not have a systematised body of knowledge of art and architecture and the learned, trained devoted architects. I admit that we are not going to revive our architectural policy of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Temple-building in the modern age, we cannot afford to lavishly spend our national wealth on the construction of temples. We need to found new town-ship, replacing the existing town and build residential houses, construct factories, laboratories, plan out secretariats, offices, embassies, bridges, dams and the like. This is our need. These are our national requirements. Are we not competent to re-orientiate our architectural policy on the fundamentals of ancient Indian canons of architecture. If we could do this, we can certainly have our nationality, otherwise, we merge in this great ocean of imitation. We need influence and not merging. This can be done by the study of technical literature in Sanskrit, the erudite and scientific treatises on art and architecture. A western engineer or architect is familiar with the treatise of Virtuvius but our Indian architects are quite ignoratnt of even names of Manasara, Mayamata, Samarangana and Visvakarma. We have founded so many colleges of architecture. Is there any place for these treatises in the curriculam ? Let me briefly cite some striking contributions. *Sthapati and Sthāpatya* the role of an architect. In our tradition Sthāpatya is four fold from the stand point of a Sthapati, i.e. his equipment and it is eight fold from the stand point of his art. According to the Samarāṅganasūtradhara an architect must possess the four fold equipment of Śāstra (knowledge of the Science and its allies like Mathematics and Astronomy etc.) Karma, the skill in art craftmanship; Prajñā, the initiative and the genius of mind and intellect which must help him at the time of the operation because sometimes new situations demand immediate handling of the operations and Śila, the character above reproach. This last qualification is very important in the present day national reconstruction. The following quotation will be very interesting to help us realise the importance of Sanskrit lore even in the education of modern Engineers and Architects :

यस्तु शास्त्रमविज्ञाय प्रयोक्ता स्थपतिभवेत् ।
हन्तव्यः स स्वयं राज्ञा मृत्युवद् राजहिंसकः ॥
यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुह्यति क्रियाकाले दृष्ट्वा भीरुरिवाहवम् ॥
केवलं कर्म यो वेत्ति शास्त्रार्थं नाधिगच्छति ।
सोऽचक्षुरिव नीयेत विवशो न्येन वर्त्मसु ॥
शास्त्रकर्मसमर्थोऽपि स्थपतिः प्रज्ञया विना ।
फलेयु कर्मभिरन्याभिः(?)ख्यान्निर्मद इव द्विपः ॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्यः स्याद् वाहकः स्थपतिस्तथा ।
कर्मकाले न मुह्येत स प्रज्ञानेनोपबृंहितः ॥
अप्रज्ञेयं दुरालोकं गूढार्थं बहुविस्तरम् ।
प्रज्ञपोतं समारुह्य प्राज्ञो वास्तुनिधि तरेत् ॥
ज्ञानावांश्च तथा वाग्मी कर्मस्वपि च निष्ठितः ।
एवं युक्तोऽपि न श्रेयान् यदि शीलविवर्जितः ॥
रोषाद् द्वेषात् तथा लोभान्मोहाद् रागात् तथैव च ।
अनन्यचिन्त्यतत्वमायाति दुःशीलानामविक्षयात् (?)॥
शीलवान् सर्वकर्मार्हः शीलवान् प्रियदर्शनः ।
शीलाधाने परं यत्नमाधिष्ठेत् स्थपितः सदा ॥
ततः कर्माणि सिध्यन्ति जनयन्ति शुभानि च ।

This is the Caturdhā Sthāpatya. As regards Aṣṭāṅga Sthāpatya, the following quotations from the Samarāṅganasūtradhāra, the most representative and standard medieval manual on Architecture will give you a peep into our most systematised science of architeture :

प्रोक्तं चतुर्धा स्थापत्यं वास्तुतत्वस्य सिद्धये ।
डूमस्तदेव वेदानीमंगैः संयुक्तमष्टाभिः ॥
तेष्वंगः प्रथमं प्रोक्तं वास्तुपुंसो-विकल्पना ।
पुरस्य विनिवेशस्तु द्वितीयं द्वारकर्म च ॥
रथ्याविभागः प्राकारनिवेशोऽट्टालकस्य च ।
विनिवेशः प्रतोलीनां विभागास्थानकानि च ॥
प्रासादश्च तृतीयं स्याच्चतुर्थं च ध्वजोच्छ्रितिः ।
पंचमं नृपतेर्वेश्म स्थानान्तरविभक्ति च ॥
चातुर्वर्ण्यविभागश्च गृहभागश्च षष्ठकम् ।
सप्तमं यजमानस्य शालायां मानमीरितम् ॥
यज्ञवेदीप्रमाणं च कोटिहोमविधिस्तथा ।
अष्टमं राजशिविरनिवेशो दुर्गकर्म च ॥
यो वेत्यंगान्यमून्यष्टौ सोऽत्र स्थपतिसत्तमः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यशो मानं स लभते पूज्यते न नराधिपैः ॥
अशास्त्रज्ञमकर्मज्ञं स्थपतिं यः प्रयोजयेत् ।
न तस्य वास्तु सिद्धयेत सिद्धमप्यसुखावहम् ॥
तस्मात् कर्म च शास्त्रं च यो वेत्ति द्वितयं नरः ।
अष्टांगमपि यो वेत्ति स राज्ञः स्थपतिर्भवेत् ॥

Genesis and Genius of a residential house : Our Purāṇas and Āgamas proclaim शिलास्तम्भ शिलाकुड्यं नरावासे न योजयेत्' what is its implication ? Our climate is hot for the major part of the year. Can we afford to live in a hot house ? Shall this heat not terribly tell upon our health, Longivity and stature ? Were our fore-fathers fools or half-civilized to live in thatched houses or Śāla-Houses (a wooden-cum-mud structure) to ward off the heat of the sun ? While they could build soaring edifices for gods and goddeses, they preferred the mud houses for their own. Samarāṅgana's main contribution is the Civil Architecture which is accompanied with a scientific code of residential house. The very title denotes and connotes its character, i. e. architect of human dwellings, and gives its major contribution in the art of Town-planning and residential houses.

Code of masonary, the building Bye-laws and House-Plans : All these fully perfected in this standard compendium on art and architecture. The twenty good qualities of masonary विंशतिश्चयगुणाः and the procedure in laying the bricks चयविधिः with the aid of the eightfold measure of sutrāṣṭakam are our eye-opener in the advanced technique of civil architecture in ancient India. Other details have been studied and brought out in my work Vastusastra Vol. I—Hindu Science of Architecture with esp. ref. to Bhoja's Samarangana Sutradhara.

Fundamental Canons : This Subject demands that we should know something of the fundamental postulates on which the great edifice of this science stands. These fundamental postulates or canons, I may term as pillars. We know that the central post was the prime regulator of house-construction in India. It was as fundamental as the trunk of a tree. Tree-model was the primordial model of a house-plan (cf. the story of the birth of human home—the Śāla-house as related in Purāṇas and the S.S.) and the abundant application of pillars was one of the chief features of an Indian building whether a residential house or a palace, or a Sabha or a temple or a temple-pavilion. Naturally we cannot say which pillars are more basic than others But if you ponder over the problem and visualise the basic importance of the structure you must come to the conclusion that as many as five pillars carry cardinal worth. These are four Cardinal and one central posts. Similarly sustaining the analogy to my mind there are the following five fundamental pillars of the stable edifice of our Science and we can call them the fundamental canons :

1. Diṅnirṇaya, Doctrine of Orientation. 2. Vāstu-pada-Vinyāsa the Site-planning. 3. Māna (Hasta-lakṣaṇa), the proportionate measurements of a structure. 4. Āyādi-sadvarga, the six Canons of Hindu Architecture 5. Patākādi-ṣaṭ-Chandas, the character of the building (its aspects and prospects etc.). I cannot elaborate all these here due to the paucity of time.

Vāstupada-Vinyāsas is a strereotyped institution in India. It has been in practice since the Vedic times. Now it is no more than a ritual. We do call a priest and an astrologer when we start a building but do we understand the scientific and technical implications of this fundamental canon as adumberate above like Diṅnirṇaya of Prācīsādhana ? Vāstupada-Vinyāsas a most scientific device in determining the site of a building or a town, has now been relegated to a paper device of just a ritual. Vāstupadas-Vinyāsa is a site-plan in the language of the modern architecture. The allotment of the padas to the deities was a very far sighted working of the minds of our ancient Acharyas. The Vāstupada-Vinyāsa is a technical device in a chart. Among

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

the host of the deities occupying the different padas or plots of the diagram, three are very important. The Central square is always reserved for Brahma. He is the central lord the creator lord. The north-east corner of the chart starts with Īśāna which corresponds to the *ultravoilet segment* of the solar spectrum and it has a variety of attributes which need to be studied properly. Similarly the south-east corner of the chart represents Agni. It coresponds to the *infra-red segment* of the solar spectrum. If properly and scientifically studied this device would be a revelation to the modern scientific world. We must pay a tribute to the genius of the ancient thinkers who, without any modern appliances, could study the properties of the Sun. All these deities really stand for the rays of the sun to be regulated in such a scientific manner as to ensure eastern frontage. This is the sum and substance of the Doctrine of Orientation, the most important canon of our Civil Architecture.

Professor,
Head of the Department of Sanskrit
Punjab University,
Chandigarh-14.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Problem of Two Besnagar Garuda Pillar Inscriptions

By B. C. Sinha

The successor of vasumitra is called Bhadraka in the Bhagavata Purana, Ardraka in the Vayu and Antaka in the Matsya Purana.[1] Dr. K.P. Jayaswal identified him with Udaka, a name occuring in Pabhosa inscription No. 904.

He has given good reason for supposing that the original form, from which all these varieties are derived was Odraka.[2] But we must recognise that an error has crept into the text of the Puranas, which as they stand assign either two or seven years to this king.[3] The Pabhosa epigraph has been translated thus : "By Asadhsena, the Son of Gopali Vaihidari and maternal uncle of king Bahasatimitra, Son of Gopali, a cave was caused to be made in the tenth year of Udaka for the use of the Kassapia Arhats." We learn from another Pabhosa inscription that Asadhasena belonged to the royal family of Ahichhatra, the capital of North Panchala.— Dr. Jayaswal held that Odraka was the paramount Sunga sovereign, while the family of Asadhsena was feudatory to the Sungas. The identification of Odraka with Udaka has no solid basis. Is it not possible that this Udaka might have been a ruler of Ahichhatra and Asadhasena was his near relative ? Pabhosa inscription only says that Asadhasena belonged to the royal family of Ahichhatra. Dr. Barua[4] points out that in the absence of the word rajno preceding Udaka, it is difficult to say at once whether Udaka is the personal name of a king, or the local name of a place, where the cave was excavated.

Sir John Marshall[5] on the other hand identified the so called fifth Sunga king with Kasiputra Bhagabhadra mentioned in a Garuda Pillar inscription found in the old city of Vidisa. Dr. Jayaswal identified Bhagabhadra with the ninth Sunga king Bhagavata of the Puranas. But this theory has to be given up in view of the discovery of another Besnagar Garuda Pillar inscription of the 12th year after the installation of Maharaja Bhagavata. It proves that there was at Vidisa, a king named Bhagavata apart from Kasiputra Bhagabhadra. In the absence of clear evidence connecting "Udaka" with Vidisa, it cannot be confidently assented that he belonged to the house of Agnimitra and Bhagavata.[6] In fact the so called fifth, sixth and seventh Sunga monarchs were Andhra rulers. The fourth Sunga king Vasumitra took up the life of ease and pleasure. The result was that the Sunga empire began to disintegrate. Bana tells us that he was killed by some Muladeva while enjoying a concert. Taking advantage of the murder of Vasumitra Andhras occupied the throne at Pataliputra. Andhraka, Pulindaka and Ghosha these three appear to be extraneous to the Sunga dynasty as their inclusion creates a chronological anomaly. The Puranas assign a total duration of 112 years to the Sunga dynasty. But if we add up the period of these three kings, the total comes to 120 years. By excluding their period of 8 years we arrive at the true figure of 112 years.

At the time of Andhra occupation of Pataliputra Bhagabhdra the local viceroy of Vidisa maintained his position against the Andhras. He might have been a close relation of the Sungas. We further assume that he was appointed viceroy of Vidisa, during the reign of Vasumitra. Vasumitra was ruling at Pataliputra and after

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

his murder Bhagabhadra declared himself the king of Vidisa.

But it has to be remembered that he always remained loyal to the Sunga family. In order to strengthen his position against the Andhras he sought friendly alliance with the Indo-Greeks. This alliance was in the interest of both the parties. We learn from Besnagar Inscription of the reign of Bhagabhadra that Maharaja Antialkidas of Taxila sent his ambassador Heliodoros to Vidisa when king Bhagabhadra was prospering in the fourteenth year of his reign. It was with the help of Bhagabhadra that the Sungas regained their position after 8 years of the Andhra rule. Vajramitra might have been the son of Vasumitra. Now there in no difficulty about the other Besnagar Garud Pillar Inscription of the Twelfth year after the installation of Maharaja Bhagavata. He appears to be the nint Sunga king according to the Puranic List, who had a long reign of 32 years.

References :

1. H. Raychaudhari, Political History of Ancient India, P. 328.
2. Cambridge History of India, p. 469.
3. K.P. Jayaswal, JBORS, 1917, pp. 473-5.
4. IHQ.—1930, P. 23.
5. A Guide to Sanchi—P. 11.
6. Political History of Ancient India, p. 329.

Reader
Ancient Indian History,
Culture & Archaeology
Department
Gurukula Kangri University
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Yoga Approach Towards Abnormal Human Behaviour

Dr. H.G. Singh

1. Definition and types of yoga : Yoga is much talked over topic of the present century with its popularity irrespective of caste, religion and continent amongst the orthodox as well as the ultra fashionable hippies of the world. Existing from the times of Vedas the word Yoga has been used in multifarious ways. Out of these it can be defined in two ways—general and specific. In general literal sense Yoga means union or connection. It also denotes any means or ways by which something apart is achieved or united with. During Vedic, Brahmanic, and Upanishadic times the word Yoga has been used for different ways to achieve something though mostly higher self. But Yoga in specific meaning came into existence in about 2nd century B.C. by the existence of "Yoga Sutra" of Patanjali and now Yoga specifically means the system of "Chitta-Vrittinirodh" of Patanjali. As a method Yoga is non-religious, practical and scientific.

Types of Yoga Schools : According to broad definition there are innumerable Yogas, as there are ways of union. But most important are Hatha, Raja, Gyan, Bhakti, Karam, Mantra, Tantra, Laya, Jaina, and Buddhist Yogas. All these yogas can be classified into different theoretical approaches as shown in the following diagram :

DIAGRAM SHOWING THE APPROACHES OF DIFFERENT YOGAS

Human Personality

Yoga

- Physiological approach
  Hath Yoga
  (Use of physical exercises for union)
- Psychological approach
  - (A) Whole psyche Raja Yoga. (Use of psychic exercises and Sadhna for union)
  - (B) Different psychic functions :
    1. Gyan Yoga (Use of intelect i.e. "cognition" for union).
    2. Bhakti Yoga (Use of eros i.e. "effection" for union).
    3. Karam Yoga (Use of volition i.e. "conation" for union).
- Psychophysical approach
  - (A) Mantra Yoga (Use of Psyche and sound for union)
  - (B) Tantra Yoga (Use of psychic and Physical cosmic elements for union)
  - (C) Laya Yoga : (Use of psychophysical assimilation with cosmic self for union)
- Atheistic approach
  - (A) Jain Yoga
  - (B) Buddhist Yoga

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

These are like the differnt roads which reach the same destination. Yoga systems believe in the functional unity not only in human personality but also in cosmic universe. The somatic, psychic and psychophysical approaches in their individuality lead to the same end. It also reflects that the broad mental functions of cognition, affection and conation have their own individual potentiality of compensating for and controlling not only the other two functions but the whole personality and further leading it to the union with universal self. Out of these schools only Hath Yoga and Raja Yoga have been most popular and Raja Yoga assimilates the best of Hath Yoga. The only approach of Raja Yoga of Patanjali being directly psychological is of utmost interest to the seekers of Psychology. Later Yogies of the Patanjali school widely applied Yoga to solve problems of human behaviour and here the approach of Yoga i.e. Raja Yoga towards abnormal human behaviour is being seen.

2. Theoretical Foundations

(a) Concept of normality and abnormality : We have already seen that the subject matter of Yoga is human behaviour and Raja Yoga specifically deals with mind and its functions. Kovoor T. Behanan rightly says, "Doctrine of Yoga assumes that the mind, by training, could be made to function at higher levels." Human personality according to Yoga is composed of Purush and Prakriti. Purush apart from Prakriti is pure being but by the admixture of Prakriti it begins to function as personality. Prakriti has there Gunas—Sattav, Rajas and Tamas. When Purush is in Sattav Guna it is pure and uncorrupt but as soon further mixture of Rajas and Tamas of Prakriti is added, the mind begins its function and gives rise to abnormal human behaviour. Patanjali takes a very wide view of abnormality and every human behaviour is abnormal which is the output of Rajas and Tamas Gunas. The Rajas and Tamas Gunas of Patanjali reminds of Eros and Thanatos of Freud. Purush or Atma in itself does not act or behave and upto Sattav Guna it is pure being, but actual behaviour begins with its mixture with Rajas and Tamas and that is all abnormal. So all human behaviour is abnormal because of its being initiated by Rajas and Tamas Gunas which give rise to five kinds of Vrittis. There is no true synonym for Vritti in English but we can very nearly translate it as channels of mental functions or natural motivating flow of behaviour or to some extent instinctual behaviour.

The Vrittis are five. The first is Praman (perception of all kinds). It is the natural Vritti of the mind to get affected by perceptual knowledge and make reactions to it. The second Vritti is Viparyaya (illusion) the effect of which is inevitable. The third Vritti is Vikalp (effective imagination). The fourth Vritti is Nidra (sleep) and the fifth is Smriti (memory) or the heap of past stored up ideas, which work as dynamic disposition of mind. The dynamic effect of these five Vrittis on mind is inevitable and they motivate the mind for behaviour and that is abnormality. The aim of Yoga is the removal of these Vrittis of mind by negating their effect. This is called, "Yogas-chittavrittinirodh". On the contrary the normality is the state of Purush remaining with Sattav Guna only. It is pure being without any of the Vrittis. Hence in wide definition concentration of mind and Samadhi is normality and Vrittis i.e. modification of mind and destruction of Samadhi is abnormality.

(b) Nosology and Symptomatology of Abnormalities : The nosology of disorders as we find in Atharva Veda and Ayurvedic literature is not found in Yoga. In a sense the above five Vrittis are the forms of abnormalities but their approach and nature is totally different from what we see in other therapeutic literature. Yoga is not limited to therapy of diseases. The area of Yoga is very vast and much inclusive. Due to its basic approach it covers all the aspects of human behaviour. No problem or attainment

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

of human life is spared for which its application is not made. Felix Guyot rightly says, "Freud brings everything back to sexual 'complex' where as Yoga psychoanalysis deals with all the complexes." We can broadly classify Yoga approach to personality modification in three categories. Firstly, it deals with health and hygiene programme of personality including cure and prevention of diseases and health improvements. Secondly, it deals with attainment of supernatural mental powers. Thirdly, it teaches how to attain Samadhi — the state of pure being. These three categories further have classifications. Yoga approach is psychological and practical to all these categories. Out of the above three categories we are dealing with the health and hygiene programme of personality. In it the Yoga methods are applied for the cure and prevention of diseases and attainment of health. Kovoor T. Behanan emphasises it like this, "What we have said so far about Yoga will, we hope, convince the reader that it too is a way of life a 'Prescription' for mental ills." Yoga is client centred, semi-directive and autotherapy hence psychotics cannot take it. So the abnormalities for which it is practical can broadly be classified as neuroses, mild ailments and mental ill-health.

(c) General etiology and diagnosis of abnormal behaviour : The behavioural abnormality arises by Prakriti getting mixed with Purush. Upto the time Purush is alone, there is no abnormality but as soon the Rajas and Tamas Gunas of Prakriti unite with Purush, the mind with the five Vrittis constitute abnormality. So we conclude that Rajas and Tamas Gunas of Prakriti are the causes of abnormality. Sattav Guna never gives rise to abnormality. The Yoga system of diagnosis is scientific and has clinical tests. Felix Guyot has very well commended Yoga diagnostic methods and tests for different mental abnormalities. He has illustrated so many tests as given in Hath Yoga and we shall explain two of them by way of example. The first test diagnoses whether a patient is suffering from morbid unconscious...impulsiveness and the second test is to diagnose if the patient is having nervous debility.

Test I—Trace a straight line on the ground in the direction of the sun. The client should stand with heels together at one end of the line in such a way that the line divides the shadow in two parts through the head and he should look at his shadow constantly. After a few minutes the shadow of the head will be seen deviated from the straight line either to the right or left in the case of abnormals. The experiment should be repeated several times during a fortenight. Each time the direction of deviation should be noted. In order to take more better results the test can be carried out in a room with a lamp or an electric bulb, instead of sun, which should be behind the subject. The projection to the left reveals morbid unconscious fears and that to the right an unconscious impulsiveness.

Test II—The position of the client's standing is the same as in the first test. But further the experimenter traces the outline of the shadow with a piece of chalk on the ground while he is motionless. Then the client must look attentively on the shadow. The abnormal having nervous debility will soon get tired and his head will oscillate and the shadow will not correspond with the tracing. The direction and extent of oscillations will help diagnosing the unconscious fears and impulsiveness as in the above test. But greater the extent of oscillations and lesser the time of first fatigue appearance, the more is the nervous debility. Again for the tests of differnt complexes Felix Guyot says, "Hath Yoga psychoanalysis unearths these complexes by means of short tales and stories of immemorial origin that Indian doctors have handed down from generation to generation."

The above two tests shown by way of example, are quite technical to be called at par

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

with modern clinical tests. So we conclude that Yoga method of diagnosis may be called scientific.

3. Psychotherapeutic Techniques of Yoga

(a) **Meaning and Object :** Yoga has two forms—general and applied. In its general form like a science it shows the what and how of psychic chittavrittinirodh from the very beginning to the highest end of Samadhi, the state of pure being. In the applied form it is applied to so many different purposes and the meaning & aim of applied Yoga differs according to the purpose it is applied for. Leaving the other purposes aside when its techniques are applied to cure Psychic disorders then it is Yoga Psychotherapy. Rajas and Tamas Vrittis create all behavioural deviations, so the suspension of these Vrittis and the establishment of required psychic equilibrium, is the aim of Yoga Psychotherapy. The degree of suspension of these Vrittis differ from case to case and purpose to purpose. In the case of a Sadhu it must be complete suspension, but in the case of worldly persons like us, a certain equilibrium in the forces of Rajas and Tamas is required. For example in the case of an architect more of Rajas, the constructive Vritti, and in a warrior at field more of Tamas, the distructive Vritti is required. Lord Krishna, the greatest Yogi analysed Arjun at the battle field and maintained proper warrior like equilibrium of Tamas i.e. destruction and decreased the Rajas i.e. familial erotic Vritti, in Arjun.

(b) **Classification of Yoga Psychotherapeutic Techniques :** Yoga is rich in methodology. For the same aim to be achieved several techniques have been prescribed according to the nature of client, situation and technique. Yoga believes in the functional unity of human personality along with cosmic unity. So due to this unity starting with any one function we can come to the same end. Yoga has numerous techniques but we take here only those which are used for therapeutic and hygienic purposes in the case of psychic disorders. The techniques are classified as follows :

1. Yama
2. Niyama

} I) Psychic disciplinary exercises.

3. Asana & Mudra
4. Pranayama

} II) Psychosomatic energising exercises.

5. Pratyahar } III) Psychic sublimating exsrcises.

6. Dharna
7. Dhyana
8. Samadhi

} IV) Psychic super normal attainment (Siddhi) exercises.

(c) **Descriptions and applications**

I. The first technique of psychic disciplinary exercises is Yama and Niyama. Yama are negative and Niyama are positive preliminary codes of behaviour. The Yamas are five i.e. abstain from (1) Himsa (killing), (2) Asatya (Falsehood), (3) Parigarh (greediness). The Niyamas are also five i.e. observe (1) Shauch (purity), (2) Santosh (contentment), (3) Tapas (mortification), (4) Suadhyaya (study), and (5) Ishwar Pranidhan (resignation to Supreme being). Regarding Yama and Niyama, Kovoor T. Behanan says, "we may now summarise the first two stages as the ethical code of Yoga by which a moral transformation involving important psychological changes or redirection of mental set, is brought about, marking the beginning of a veritable uphill climb in mental training." These are meant for the adjustment of super ego or the moral part of the self.

II. The second technique of psychosomatic energising exercises is Asanas (postures) and Pranayama (breathing). These are the most technical methods of Hath Yoga which in milder forms have been adopted by Patanjali. These are

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

based on psychosomatic functions of the personality and by their practice psychosomatic energy is charged. According to Gherand Samhita as taught by lord Shiva the asanas are eighty-four lakhs corresponding with the number of species of the universe, and the Mudras (postures) are twenty-five. Some of these Asanas and Mudras are, in the opinions of a few experts who have prescribed different Asanas and Mudras, useful for mental cures and hygiene. Shivanand says, that Shirshasan improves memory admirably and thus cures amnesia. Yogendra says that Sarvangasan, Shirshasan, Dhanurvakrasan, Paschimothanasan, Ardhmatsyendrasan and Shavasan impart health to brain and nervous system. Acharya Bhadrasen prescribes Ardhsarwangasan, Matsyasan, Halasan and Chakrasan for mental debility, Shirshasan and Sarvangasan for epilepsy and insanity and Uttanpadasan, Pavanmuktasan, Ardh-Aatsyadasan, Padangusthasan, Tadasan, Nabhyasan, Halasan, Sarvangasan and Shirshasan for nervous weakness. V.C. Vasu prescribes Vajrasan for psychic powers, Shavasan for quietening the agitation of mind, Padamasan, Simhasan, Matsyasana, Bhujangasan, Mahanmudrasan, Nabhumudra, Khechri Mudra for distroying all diseases. Mahavedha Mudra, Agneyi Mudra Destroy thanatophobia (fear of death). Ambasi Mudra destroys hydrophobia (fear of water) and Yonimudra destroys mortal and venal sins.

Pranayama (Breathing exercises) : Kovoor T. Behanan gives the word meaning of Pranayama as, "Prana means breath and Ayama, means pause" hence the compound pranayama literally means "a cessation or pause in the movement of breath." Shivanand defines Pranayama as, "Pranayama is the control of the Prana and the vital forces of the body. It is regulation of breath." Pranayama is the Hath Yoga par excellence which consists of breathing exercises. The chief aim of Pranayama is to unite the Prana with the Apana and take the united Prana-Apan slowly upwards to the head thus awakening the sleeping Kundalini. Shivanand describes the energy of Pranayamaas, "If you can control the Prana you can completely control all the forces of the universe, mental and physical." According to Yoga Pran, and Mana (breath and mind) are most close and exist together. Increase and decrease in one effects the other. If we control breath which is physical and easy to do we can control mind and its movements. These psychophysical energising exercises of Asana and Pranayama work in two ways. On the one hand they energise the soma and on the other hand indirectly they train and energise psyche. As we have seen Asana and Mudra energise body physiology and Pranayama energises nerves. The ego in maintaining Asana and Mudra and praticing Pranayama has to practice control and command over body and nervous system, which he becomes able to do in due course. In doing so the ego gets indirect training of Command, and control and gets self-confidence and energy. Ego getting thus energetic becomes ready to practice Pratyahar, the psychic sublimating exercises.

III. Psychic sublimating exercises (Pratyahar)—Now comes that method which is purely psychological and at the same time very advanced. The Pratyahar is the withdrawal of mind from all senses. Practically it is the complete mastery over the senses. It is done in two ways i.e. neither the senses should be affected by the stimulus nor they should disturb the mind by their sensations. But Pratyahar is not the incapacity of the senses. They (senses) remaining healthy, it is the complete mastery of psyche over them. Psyche must not be effected by them but whenever required psyche must be able to use them. Pratyahar is very useful in the field of psychopathology for breaking learned and conditioned responses and doing sublimation. The whole unconscious is cleared up by it. The Rajas and Tamas Vrittis become powerless. Yogic approach is semi-auto and directed so Pratyahar a technique of self analysis, free association,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

learning and sublimation can be practiced by any patient who is able to do them i.e. mild neurotics, mildly distrubed and those requiring mental health, under a psychotherapist. But the patient can do so only when he has already attained energy through undergoing earlier psychic disciplinary and psychological exercises. Pratyahar on the somatic side is the mastery over senses and on psychic side it is the clearing up of unconsciousness.

IV. Psychic supernormal attainment (Siddhi) exercises (Dharna, Dhyan and Samadhi)—Psychic supernormal attainment exercises of Dharna, Dhyan and Samadhi, usually used for the attainment of supernormal siddhis, mostly concern with Yogies and saints. The techniques of Yoga for general therapeutic purposes go usually upto Pratyahar but recently meditation for psychotherapeutic purposes is emphasised by Assagioli of Italy. Though the use of Yoga techniques for functional disorders, exist from Vedic times in India but recently trained Psychiatrists, Psychotherapists and Yogies have evaluated and used them with promising results. For instance Hans Jacobs, Kovoor T. Behanan, Felix Guyot, H.G. Singh, Geraldine Coster, Akhilanand, Schmitz, Aurobindo, Shivanand, and Yogendra, have high Psycho-therapeutic opinion about Yoga and some of these even evaluate Yoga better than Psychoanalysis.

4. Conclusions

In the field of psychotherapy some points in favour of Yoga are found. Although psychic diseases damage the whole personality but the most of destruction is done to ego's strength in psychic field. Ego becomes weak and unable to cope with reality, id and super ego. The main problem of psychotherapy is how to make ego energetic so that it can face these three and take charge of behaviour from which it has withdrawn. The controlling and administrative capacities of ego are finished. Yoga knows well that ego is weak and withdrawn in the psychological field so it gives it indirect training in the field of physiology. Yoga believes in the psychophysical unity of personality and that the action may start from any corner but it will ultimately effect the whole personality. That is why it lets ego withdrawn from psychic field and puts it on physiological field for practising Asana and Pranayama. In doing Asana and Pranayama ego has to put resistance and endurance to bodily functions and thus gains self confidence and controlling capacity. At the same time by these practices the physiological side of personality also gets toned up. Pranayama exercises give special energy to nerves. So by these Yogic exercises there is improvement in body nerves. When in due course ego has gained much self confidence and controlling capacity and physiological strength too, then the stage of Pratyahar is reached and ego is again brought to psychic field. Remaining withdrawn and inattentive from psychic problems and dealings for a long time, psychic field becomes more clean and quiet. By the practices of Pratyahar after sometime ego becomes successful in coping with the problems of psychic field and disease is removed. Thus Yoga psychotherapy is triple action. It treats body, nerves and psyche i.e. the whole personality while psychoanalysis treats only the psyche. Because it treats whole personality, therefore, the effects are more lasting and promising. Lesser time consumption is another advantage. Because Yoga takes aid of three things or rather applies therapeutic measures from three sides, therefore, it is able to control the disorder in lesser time.

Bibliography

1. Hans Jacobs,—Western Psychotherapy & Hindu Sadhna—(George Allen & Unwin Ltd., London, 1961).
2. Sri Yogendra, "Yoga Magazine" Yoga Institute, Bombay (Jan. 1934).
3. Felix Guyot—Yoga : The Science of Health —(Rider & Co. London).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. Pavitranand,—Common Sense About Yoga —(Mayavati Advita Ashram, Almora).

5. Kovoor T. Behanan—Yoga : A Scientific Evaluation—(Dover Publications Inc. New York, 1937).

6. Sri Aurobindo—On Yoga I—(Aurobindo Ashram Pondicherry).

7. T.V. Kapali Shastri,—Further Lights—The Veda and The Tantra—(Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1951).

8. Geraldine Coster—Yoga and Western Psychology—(Oxford University Press, London, 1957).

9. Sri Shivanand—Practical Guide for Students of Yoga—(The Divine Life Society, Hong Kong, 1957).

10. Swami Akhilanand—Mental Health and Hindu Psychology—(George Allen & Unwin Ltd., London, 1952).

11. H.G. Singh,—A Study of Indian Psychotherapeutic Practices (Agra University Ph. D. Thesis 1970, Unpublished).

(Paper read in the section of Psychology and Educational sciences, Indian Science Congress, Diamond Jubilee Session, Chandigarh, January 1973).

Dr. H. G. Singh,
Department of Psychology,
Gurukul Kangri University,
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Indian Sensibility in T.S. Eliot's Poetry

Amar Nath Dwivedi

With the introduction of Kalidasa's Shakuntalam to the West by Sir William Jones in 1789, an atmosphere was created in which the East and the West began to accommodate each other. The age-old concept 'East is East and West is West, And never the twain shall meet' became out-dated and out-fashioned. Immense possibilities of collaboration and mutual adjustment in different spheres of life and letters were in sight. As a natural result, many European and American scholars turned to a study of the vast, fathomless literary heritage of India. Breaking upon the Georgian literary scene, T.S. Eliot presented the credentials of a wide-ranging poetic sensibility by incorporating into his poetry not only the 'best' of European culture and literature but also of Indian thought and tradition.

As a serious scholar of philosophy at Harvard, T.S. Eliot applied himself to the study of Sanskrit and Pali for two years. In this matter he was helped and guided by Charles R. Lanman. Going through Eliot's poetry one may mark his irresistible fascination for the profound wisdom of ancient India. His was a troubled time and peace was then but 'a wandering fire'. The ideals of the Hindu Scriptures could restore 'calm of mind' in the otherwise 'burning' world,—Eliot was quite sure of it. In his poetry, therefore, references exist to show that he had some knowledge of the *Vedas*, the *Upanishads*, the *Bhagavadgita* and Patanjali's *Yoga Sutras*. He was well-versed in Buddhistic lore and literature too. The use of 'Shantih shantih shantih' by Eliot in *The Waste Land* is both Vedic in origin and Upanishadic in content. In the same poem the poet has drawn upon the *Brihadaranyaka-Upanishad* (5,1) in the three-fold message of the Thunder.[1] The *Gita*, which is mostly held as the 'New Testament' for the Hindus, was so dear to him that he calls it "the next philosophical poem to the *Divine Comedy* within my experience."[2] Under the supervision of Mr. J.H. Woods, Eliot learnt Patanjali's metaphysics which left him "in a state of enlightened mustification"[3] Buddhism also left its indelible marks upon the poet Eliot; this is to be gathered from *The Waste Land* and *Four Quartets*.

Like Somerset Maugham, Eliot also believed in; "The East has more to teach the West than the West conceives."[4] He has made overt references to the Hindu philosophy and ethics in *The Waste Land*, the *Quartets* and *To the Indians Who Died in Africa* in poetry and in *The Cocktail Party* in drama. But even elsewhere the Indian traces are not wholly wanting. It appears from the bulk of Eliot's poetry that he was ever haunted by the vision of nightmarish dilemma, the acutest of modern maladies, the escape from which was possible only through the sagacious sayings and broodings of the Hindu sages embodied in our Scriptures. Right from *The Love Song of J. Alfred Prufrock* to the *Quartets*, and on to the poetic plays, Eliot has tried his best to underline the spiritual discipline and rigorous asceticism, so conspicuous a feature of our rich tradition.

The Waste Land (1922) brought recognition to the poet. It is here that he comes out as a "universal poet".[5] With no fewer than six languages employed in the poem, the Indian touches are so obvious in it. In Part III, 'The Fire Sermon', the collocation of the two great representatives of eastern and western asceticism (i.e. Lord Buddha and St. Augustine) is "not an

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

accident."[6] Eliot likens the Buddha's Fire Sermon to the Sermon on the Mount. From Mr. Henry Clarke Warren's translation[7] the poet picked up the following :

"To Carthage then I came
Burning burning burning burning
O Lord Thou pluckest me out
O Lord Thou pluckest
burning."[8]

(11.308-311).

The next Part, 'Death by Water', is as significant as the futile, fruitless quest of Tiresias, who in person represents the entire humanity, in Part V. Equally significant is the quester's approach to the Chapel Perilous, the decay of which denotes the 'present decay of eastern Europe.' At this juncture, the poet refers to the Ganga and the Himavant. Then the message of the Thunder is delivered thrice: 'Da Da Da'. It is an important thing in itself that the poet looks at India to break through the barrenness of his own land. Who can dare deny the deliberate inclusion of the Hindu Scriptures by the poet, particularly at this point? 'Datta', 'Dayadhvani' 'Damyata' (i.e. Give, Sympathise, Control) are the words directly drawn from the *Upanishad*. The poet takes a further recourse to the sacred wisdom of of India at the close of the poem :

Datta. Dayadhvam. Damyata.
Shantih shantih shantih

(11. 433-434).

While the first line is the repetition of the Thunder and has been cited here for emphasis-sake, the second one is a new introduction altogether. According to the poet, this is 'a formal ending to an Upanishad.' But, to my thinking, this is of an earlier date in origin and occurs in the *Yajurveda*. Nobody will, however, deny that this is a part of the *Upanishads* too.

The *Quartets* (1943) is a series of four poems that appeared from time-to-time. These poems are named after different proper places. The most explicit note of Hinduism strikes us in *The Dry Salvages* (1941). In the second movement of the poem occurs "Time the destroyer is time the preserver", which verily recounts the Hindu concept of time in relation to timelessness.[9] It is a clear-cut clue to Shiva and Vishnu of the Hindu Trinity. Herein lies an exposition of the idea contained in the beginning of *Burnt Norton* where the continued flow of time has been highlighted :

"Time present and time past
Are both perhaps present in time future,
And time future contained in time past.
If all time is eternally present
All time is unredeemable".

(*Burni Norton*, 11.1-5).

In the third movement of *The Dry Salvages*, the teachings of Lord Krishna directed to enlighten Arjuna and to bring him out of the feelings of meum have been introduced. On the battlefield Krishna tells Arjuna "I am the Time Spirit"[10] and exhorts him further :

"You shall not think 'the past is finished'
Or 'the future is before us',"

(11.144—145)

and again :

"....., consider the future
And the past with an equal mind."

(11.153—155)

All time is centred in the Lord; the entire universe is His creation. Time which is Death finally merges into timelessness which is Immortality. So none should be afraid of time or death, and should perform one's duty unruffledly.

The following extract from *The Dry Salvages* is identical with the sixth stanza of Chapter VIII in the *Gita* :

".....'on whatever sphere of being
The mind of a man may be intent
At the time of death'."

(11.156—158)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Towards the close of the movement, the poet takes up the theme of Karma ('action'). The *Gita* stresses throughout the importance of Karmayoga, which is the performance of one's duty with a sense of devotion and detachment. The 'selfless action', according to the *Gita*, is the highest and easiest kind of Yoga :

"And do not think of the fruit of action".[11]
The desire of getting 'the fruit of action' binds the soul ('jiva') to the body, whereas the duty done in perfect detachment liberates it for good. And the end of Yoga is liberation from the human bondage :

"The inner freedom from the practical desire,
The release from action and suffering, release
from the inner
And the outer compulsion,"
(*Burnt Norton*, II,11.70—72)

This is the sum and substance of Lord Krishna's admonition to Arjuna when he says :

"Not fare well,
But fare forward, voyagers".
(11.168—169)

The beautiful phrase in *The New Testament*—'carelessness for the morrow'—has the self-same idea. Its echo may be heard even in *The Rock* (1934) :

"I say to you : Make perfect your will
I say : take no thought of the harvest,
But only of proper sowing."
(Chorus I).

Eliot's remote poem, *To the Indians Who Died in Africa*, is a reversion to the same theme. In it he referred pointedly to the Hindu doctrine of Karma :

"Let those who go home tell the same story
of you :
Of action with a common purpose, action
None the less fruitful if neither you nor I
Know, until the judgment after death,
What is the fruit of action."[12]

Despite the adverse opinion of western critics like Miss Helen Gardner regarding the introduction of the 'great' Hindu Scriptures in the third movement of *The Dry Salvages*, the truth remains that neither the poet has made a new 'introduction' here, nor is it out of 'consonance with the poem's theme of annuntiations', nor does it destroy 'the imaginative harmony of the poem', as she puts it.

The world has become a single unit today; the distinction of East and West has been outgrown. There are "obvious points of contact between Eastern and Western thought."[13] People of different nations, tongues, and cultures have come closer than ever before. None should, therefore, get alarmed at the statement that T.S. Eliot, who lived, walked and talked among us, has at times justifiably drawn upon the Hindu Scriptures to soothe the restless soul of the seething time. The poet himself has confessed that his poetry "shows the influence of Indian thought and sensibility."[14]

REFERENCES

1. T.S. Eliot, *The Waste Land*, Part V, 11. 402—422.
2. T.S. Eliot, 'Dante', *Selected Essays* p. 258.
3. T.S. Eliot, *After Strange Gods*, p. 40.
4. S. Maugham, *The Razor's Edge*, ch. 6.
5. Octavio Paz, *T.S. Eliot: Papers and Proceedings of a Seminar*, p. 2.
6. T.S. Eliot, *Notes on 'The Waste Land'*, line 309.
7. H.C. Warren, *Buddhism in Translation*, Harvard Oriental Series, Vol. III, first published in 1896.
8. Cf. the text of 'The Fire Sermon' in Mr. Warren's work (Student's ed., 1953), pp. 351—353.
9. Vide the *Bhagavadgita*, VII, 26; IX, 7 ; X,20; X, 33.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. Ibid., XI, 32.
11. Cf. the *Bhagavadgita*, II, 47—51; although elsewhere too the theme of Karma recurs therein every now and then.
12. *Queen Mary's Book for India* (1943), p. 61
13. K. Smidt., *Poetry and Belief in the Work of T.S. Eliot*, p. 182.
14. T.S. Eliot, *Notes towards the Definition of Culture* (1948), p. 113.

Amar Nath Dwivedi,
Department of English,
Gurukul Kangri University,
Hardwar.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Christopher Fry's Language and Verse

Dr. R. L. Varshney

Fry occupies a place next only to that of Eliot. And like Eliot's Fry's achievement as a poet dramatist has been the subject of a critical controversy. Most of the critics have attested to the opposite extremes of partiality and prejudice. We have been informed that his language is almost that of Shakespeare or that of a merchant of ginger beer. To the one he appears to be "a panoplied bard"; to the other a sort of "effervescent coster." Those who hold an adverse opinion of his language and verse have drawn a very dismal picture of Fry. Stephen Spender makes a parody of Fry's manner :

> Rhythmically, it is extremely easy to write.
> You just go on making loose pentametres.
> Which, as everyone knows, is easier than writing prose.
> Then occasionally you introduce a gleaming line
> Eloquent as light around the horizon
> Of hills which are a background for your puns,
> And an occasional internal rhyme.[1]

Denis Donoghue in his essay, "Christopher Fry's Theatre of Words"[2] accuses Fry of "verbal flippancy," of a "self-regarding" style. He writes : To think of other writers in association with Mr. Fry is to realise that his peculiar weakness, even in "The Dark is Light Enough", is that he writes as if the lessons of Stendhal, Flaubert, Henry James, Eliot and Ford had eluded him; as if nothing of significance had happened in European literature between Southey and J.C. Squire. Mr. Fry's language has a soft centre, even where Flaubertian bone is urgently required. Its typical effect is not to concentrate feeling and thinking into the word, but to diffuse these activities over a broad verbal area. Indeed, there are few writers and fewer dramatists who yield so readily to the lyric moment. Where ideas are involved, Mr. Fry uses them to make verbal show-cases, rather than, like Shaw, to start dialectical battles. Frequently, Mr. Fry's language seems perversely designed to smooth away any conflict inherent in the situation. The picture of Fry which emerges from the press cuttings is that of "a man reeling intoxicated with words; they flow in a golden —or perhaps pinchbeck—stream from his mouth : they start out at his ears; they burst like rockets and jumping crackers and catherine-wheels round his head; they spring in wanton sport at his feet and trip him; but trip him or not, he loves them : let them all come, go where they may; let them strangle sense, flood the stage, break the dams of form : facility shall have its day. His typewriter continues to chatter long after it has been put back in its case. Words will grow out of him, like finger-nails, some time after his death."[3]

Thus the main charges against Fry's language are flippancy and verbosity, lack of distinction

1 The Spectator, CL XXXIV (March 31-April, 1950), p.364. Also see Stephen Spender, "Christopher Fry", Discussion (March 31, April 17, 1950), pp 37-49.

2. See Essays in Criticism, IX (Jan. 1959), pp 37-49.

3. Fry, An Experience of Critics (Oxford : New York, 1953), p. 23. Cue title An Experience.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

between the language of one character and the other, lack of suitable action to match words, lengthy sentences and a surfeit of similies and metaphors. Some critics are of the opinion that his plays are merely a treasury of beautiful words, and that his verse is a mere paper decoration and sheer bombast. Their judgement has a resemblance to that of Justice Tappercoom in *The Lady's not for Burning* :

> The whole thing's a lot of amphigourious
> Stultiloquential fiddle-faddle.[4]

But the defence by the Chaplain is equally appropriate :

> . . . . And what may seem nonsensical
> To men of affairs like yourselves might not seem so
> To me, since everything astonishes me
> Myself most of all.....[5]

Fry himself has answered some of these charges. He states :

> So many words, for instance. We know this criticism doesn't precisely mean what it says. There are the same number of words as in any other play; you have only to count them. It means, I think, that I dont't use the same words often enough; or else, or as well, that the words are an ornament on the meaning and not the meaning itself. That is certainly sometimes—perhaps often—true in the comedies, though almost as often I have meant the ornament to be, dramatically or comedically, an essential part of the meaning; and in my more sanguine moments I think the words are as exact to my purppse as I could make them at the time of writing.
>
> And then the question of relevance. The question is, relevance to what ? The relevance of one kind of play is not necessarily the relevance of another...what I am most anxious to do here is to ask that criticism should look more deeply into the nature of a play, and to pursue the reason for its nature, rather than to try to force it into a category to which it doesn't belong.[6]

If we judge his plays in accordance with their nature, we will find that Fry never writes 'pretentious nonsense', nor is his language unsuitable for dramatic action. Its use is purposive, functional and reasonable. The criticism of Fry on the ground of using fifty words where five would do, in fact, betrays a failure to distinguish between eloquence and empty bombast.

To the charge that his people talk alike, Fry cheerfully answers, "According to the custom of men, they should, we do." Regarding long sentences, he explains in the introduction to *The Lady's not for Burning* how long a sentence should end is no body's business but his own. Perpetua's long speech in *Venus Observed* seems to be a reply to his detractors on this point.

So far as the suitability of words and deeds is concerned, Fry states that "words and actions are not unrelated. One illuminates the other; and the full significance of action can be explored only by words. If we compare the murder of Maria Marten in the Red Barn, with the murder of Duncan in Macbeth's castle, we see that in each the physical action is roughly the same, but the significance of the action is entirely different. The one is merely done, the other is experienced, and the experience is in the words. What is more, the experience is the true nature of the action. The experience ultimately is the action."[7]

These charges seem to have been based on the assumption, first, that the language of a play should be closely related to its structure, secondly that if the language becomes autonomous at any point the decorum of the play should be such as to

4. The Lady's not for Burning, p. 38. Cue title Lady.
5. Ibid, p. 41.
6. An Experience. pp 24-25.
7. "Why Verse"?, Vogue. CXXV (March 1, 1955), p. 166. Cue title "Why Verse ?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

support this autonomy for a special dramatic purpose. But such assumptions are unfounded for plays dealing not with action but with moods and seasons, man's spiritual problems, and his estrangement in the present-day world. Here we will have to view the matter strictly on merit with a view to encouraging fresh things on the stage. Viewed this way the main weakness of anti-Fry criticism is that it is carried on at a level higher than the lowly boards of the stage, and it is clear that in Mr. Spender's article on Christopher Fry the stage is nowhere in sight. Moreover, the detracting criticism of Fry misrepresents him in as much as it points to his main powers as his chief weaknesses. In *Curtmantle*, Fry perhaps has in his mind his severe critics when he makes Eleanor say :

I know your world, where an acid wit
Is valued higher than the mind hurt by it,
Where rules dictate how a man should move,
or love,
Or cough, or betray, or do nothing :
The unexceptional dance of what
Has withered within. Where every syllable's
Up for valuation by the code
Of the best poets, and nothing speaks from
goodwill.
I have understood at last the truth of the text :
A man's enemies are the men of his own
house.[8]

The most remarkable feature about Fry's language is its rich and motely vocabulary. Fry is interested in developing a powerful phraseology. He knows full well the importance of words in a play as they express a wide and proferred experience, and help in conveying sense, feeling, tone, mood, intention, thought and idea. He himself says, "Words give us a larger, or deeper experience of action." [9] That is why he prays through a character in *Venus Observed* :

God give me a few
Lithontriptical words[10]

perhaps because

the word is an arrow
Of larksong, shot from the earth's bow, and
falling
In a stillborn sunrise.[11]

Words have a compelling interest for him as they had for Shakespeare; they flow from his mouth like a torrent of gold; they often seem to brighten in his hands as jewels. Sometimes the words themselves are extended into images of a brilliant, even exotic daring, e.g. 'mesh of God',[12] 'dank rumour'.[13]

Fry often writes in heightened speech, in words that 'glow and ring', that colour page after page and 'the writing becomes jewelled with words, as a lawn with water drops in a summer dawn.'[14] Like O' Casey he is ready to make gold embroidery out of dancing words. We have only to quote the lines :

1. The Lanterns, Rosabel. They'll be very pale
Compared with the foment of wild flam-
boyant rose
We have in the sky to-night....[15]

2. Horses..., the caves of their nostrils
blowing
Bright clouds of breath, a foaming sea
Breaks against theit mouths, their flanks
are smoking
Like Abel's fire to heaven....[16]

3. ...I, as unlaborious
As a laburnum tree, hang in caresses of
gold.[17]

8. Curtmantle, p. 81.
9. "Why Verses?" p.166.
10. Venus, Observed, p. 42. Cue title Venus.
11. Lady, p. 87.
12. The Firstborn, p. 84.
13. Ibid. p. 58.
14. Ed. Martin Browne, Introduction to Four Modern Verse. Plays (Penguin Plays, London, 1957) p.11.
15. Venus, p.80.
16. Ibid. p. 55.
17. Ibid, p. 53.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. Our English sun, convalescent after passing
Through the valley of the shadow of the moon.[18]

5. ...the river
Where the water gives those girlish giggles around
The ford....[19]

6. I, the little heretic as he thinks,
The all unhallows Eve to his poor Adam....[20]

7. Such white doves were paddling in the sunshine
And the trees were as bright as a shower
of broken glass. [21]

8. .....I've an April blindness.
You're hidden in a cloud of crimson catherine-wheels.[22]

9. .....those long jowls, my jewel,
Those ruminating thundercoloured bulls
Your brothers : and our pastry-pallid sons...[23]

"The foment of wild flamboyant rose", "the caves of their [horses'] nostrils blowing bright clouds of breath," "as unlaborious as a laburnum tree," "the girlish giggles" of water, "a shower of broken glass," "a cloud of crimson catherine-wheels," "the convolutions of convolvulus"[24] are but a few of the phrases that evince Fry's poetic gifts and his creative and evocative imagery. From the illustrations like these one can easily understand that Fry "can let down his bucket into a sea of dazzling verbal invention where he wishes, and bring it up brimming."[25] E.D. O'Brien has rightly observed, "for here was a phenomenon, a poet-playwright who used words as Shakespeare used them, to whom, as with Shakespeare, were open "all the realms of nature, all the mines of fancy," who possessed a gigantic treasure-chest of words into which he plunged his arms up to the elbows and let the lovely glittering, glowing things trickle through his fingers like the jewels they were."[26]

Fry has used a new and startling phraseology for love :

1. Having seen the beautiful teenagar Alizon Richard cries :
Is life sending a flame to nest in my flax ?[27]

2. TEGEUS. O Dynamene,
Let me unload something of my lips' longing
On to yours receiving. Oh, when I cross
Like this the hurt of the little space between us
I come a journey from the wrenching ice
To walk in the sun. That is the feeling.[28]

3. DYNAMENE.....Chromis, it's terrible
To be susceptible to two conflicting norths.
I have the constitution of a whirlpool.
Am I actually twirling, or is it just sensations?

4. TEGEUS.....To night I need to kiss you,
Dynamene. Let's see what the whirlpool does
Between, my arms; let it whirl on my breast.
O love,
Come in.
DYNAMENE...I am there before I reach you; my body
Only follows to join my longing which
Is holding you already—Now I am
All one again.
TEGEUS. I feel as the gods feel :
This is their sensation of life, not a man's :
Their suspension of immortality, to enrich

18. Ibid, p. 26.
19. Lady, p. 20.
20. Ibid, p. 70.
21. Ibid, p. 4.
22. Ibid, p. 4.
23. Thor, p. 6.
24. Lady, p. 33.
25. Quoted from a Review in the New Statesman and Nation by Raymond Williams in Drama from Ibsen to Eliot (London, 1965), p. 265.
26. "The Poet in the Theatre", The Illustrated London News, Aug. 11, 1951, p. 228.
27. Lady, p.4.
28. A phoenix Too Freqment, p. 30. cue title phoenix.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Themselves with time. O life, O death, O body,
O spirit, O Dynamene.

DYNAMENE. O all
In myself; it so covets all in you,
My care, my Chromis. Then I shall be Creation.

TEGEUS. You have the skies already;
Out of them you are buffeting me with your gales
Of beauty. Can we be made of dust, as they tell us ?
What ! dust with dust releasing such a light
And such an apparition of the world
Within one body ? A thread of your hair has stung me.[29]

5. TEGEUS. Hush, smile of my soul,
My sprig, my sovereign: this is to hold your eyes,
I sign my lips on them both; this is to keep
Your forehead—do you feel the claim of my kiss
Falling into your thought ? And now your throat
Is a white branch and my lips two singing birds....[30]

6 ELEANOR. Nevertheless consider
The nature of love. In love a man and woman
Are newly minted as in the beginning of the world,
Creating themselves out of each other's eyes.
But in marriage, whatever world is made,
Has the bones of the woman walled up in the foundations,
No air to breathe, nor any light to move in.[31]

Hence to call his theatre'the Theatre of Words' is an honour, and not an insult, because his theatre is not the theatre of superfluous, meaningless, or useless words, but of words that are not only heard but also seen through the eyes and experienced through the mind. There is, in fact, a kind of suave and Apollonian splendour in Fry which modifies the ardour of his thought. He has put into practice what he preaches so well in one of his speeches :

A poet wishing to write objectively, to create an act of poetry; to make that act of poetry, and also, an act of life; not only to represent other beings out of his own nature, but to share their creation with other men the actors; to attempt completely to exteriorize his will to sing, to make his inward search for truth an outward fact. To do this he must have a particular relationship to his poetry. He must wish it to come towards him not wish to impart it. He must be surprised into it by an imagined action. And for this reason it cannot be self-conscious. It may be artful, rhetorical, severely controlled, but it must be able to live its own life in a way that is neither necessary nor desirable in non-dramatic poetry. That is why a very experimental form is likely to be a dead-end, and why the first bridge to be crossed by any poet-dramatist should be the way to reconcile his poetry to common speech, not only by the avoidance of obvious poetical inversions and excisions, but by the method of metaphor and similie, by the way symbolic language is presented, and above all by the speech rhythms, which have to overcome the tone of written literature."[32]

It is in order to reconcile his language and verse to the common speech that we find a valley of metaphors and similies in his plays. They are to him of a vital significance, as they have been in drama since ancient times. Aristotle says, "But

29. Ibid, pp 31-32.
30. Ibid, p. 34.
31. Curtmantle, p.79.
32. Fry, "Poetry in the Theatre", Saturday Review, XXXVI, March 21, 1953, 18-19.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

far the greatest thing is a gift for metaphor. For this cannot be learnt from others, and is a sign of inborn power."[33] It is through metaphor that the language achieves its rich suggestiveness, and becomes the matching place for the wit of the reader and the wit of the writer. Hence it is something more than an amusing literary device; it is a continual play of wit, an illuminating double entendre, nimble magic. Metaphors often act to enrich reality, even to heighten it. "Living metaphor", says F.L. Lucas, "is a kind of two-headed Janus, looking two ways at once and making us see two things almost simultaneously,"[34] and that "a style without metaphor and simile is to me like a day without sun, or a woodland without birds."[35]

Metaphors and similes can give strength, clarity, and speed; they can add wit, humour, individuality, and poeticality. Sanskrit scholars went a step further and called drama "a metaphor." It is for these reasons that the hero in *The Lady's not for Burning* cries : "What a wonderful thing is a metaphor"[36]. Plainly enough Mr. Fry agrees with him. He has rather "invited straphangers, accustomed to travelling on the sunway, to take a ride on Pegasus."[37] Fry uses metaphors most effectively and wonderfully; but they are his slaves, not his master.

Another device by which he makes his verse nearer common speech is abusive language which is part of man's everyday life. Our daily language is also, occasionally, and among some people frequently, full of vituperations, oaths, abuse, swear-words, hyperbolic epithets, and interjections. Fry's people also use this natural medium naturally:

REEDBECK. You're a vain, vexing, incomprehensible, crimping, constipated duffer.....You grovelling little Gobemouche.....You spigoted, bigoted, operculated prig.[38]

In Thor with Angels the first page of the play is full of this beautiful rather regardful language :

QUICHELM. Colgrin,
You scrawny old scurfscratcher, is that you ?

COLGRIN. Frog-man, fen-fiend, werewolf, oul, elf.....

QUICHELM. Runt of an old sow's litter, you slop-headed
Pot-scourer, come here, you buckle-backed
Gutsack, come out of there'...[39]

In *The Lady's not for Burning* this type of idiom is full of hilarious amusement and is the source of delight :

1. NICHOLAS (to Richard) You canter off...
What shall I do
With this nattering wheygoose, Alizon ?
Shall I knock him down...[40]

2. NICHOLAS (to Humphrey), You slaway poodle, you tike,
You crapulous puddering pipsqueak.
Do I have to kill you a second time ?...
O blastoderm of injustice
You multiplication of double-crossing![41]

33. Aristotle, Poetics, XXXII
34. F.L, Lucas, Style (Collier Books, New York, 1962). p. 186
35. Lady, p. 168
36. Lady, p. 3
36. John Mason Browne, "Poets and Players" Dramatist Personae (London, Hamish Hamilton, 1963), p. 245; this essay was first published in 1950
38. Venus, p.42
39. Thor, with Angels, p.1. Cue title Thor
40. Lady, p.8
41. Ibid, pp. 14-15

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. THOMAS (to Tyson). You bubble-mouthing, fog-blathering,
Chin-chuntering, chap-flapping, liturgical,
Turgidical, base old man."[42]

Phrases like "vein, vexing, incomprehensible, crimping, constipated duffer," "grovelling little Gobemouche" "spigoted, bigoted, operculated prig" "strappling, ice-cold, donkey-witted douche tasteless writer," "buckle-backed gustsack" "nattering wheygoose", "bubble-mouthing, fog, blathering, chin-chuntering, chap-flapping, liturgical, turgidical, base old man" exhibit Fry's flair for inventive abuse and neologisms of vilification. They are the intellectual acrobatics of a writer whose aim is to show the futility of man's existence in a very pleasing and amusing manner.

Another example of this delight in verbal gymnastics is to be found in Tegeus' oath-speech :

I swear, I swear by Horkos and the Styx,
I swear by the nine acres of Tityos,
I swear the Hypnotic oath, by all the Titans
By Koeos, Krios, Iapetos, Kronos, and so on.
By the three Hekatoncheires, by the insomnia
Of Tisiphone, by Jove, by jove and the dew
On the feet of my boyhood, I am innocent
Of mocking you...[43]

Such names can be used only by a person well-versed in classical mythology. Fry frequently uses classical names and allusions, Greek and Latin phrases and proverbs. Such usages help him in creating the needed atmosphere, and are an aid to local colour.

Fry can use nouns as adjectives, e.g. "There is something shipwreck, about you"[44] or "My Pollen fingers."[45] 'His choice of verbs is more vigorous, more Shakespearean, than that of any other poet'.[46] Below are cited a few of Fry's verbs which he uses to 'activise' his language :

1. Is life sending a flame to *uest* in my flax.[47]
2. The sphere *churned* on.....[48]
3. And when I found my hands *crowded* him
Into my breast, he *buried* like a burr...[49]
4. All the court *flew-up* and *buzzed*
But what could they do ? Not even my
Pharaoh-father
Could sting him out of my arms...[50]
5. The flowers were *schooled*
With salemanders.....[51]
6. I'll *fume*
with feeling..... [52]
7. I thought that was why
We were *mooning* around celebrating...[53]
8. .....a blue sky *buffaloed*
by cloud.....[54]
9. The sun has *mooned*
Away half its light, already...[55]
10. Rosabel, where have you *mooning*
All the long afternoon...[56]

Fry's coinages are comic, e.g. 'vastiness lusted'...[57] 'overwhelming solitude'[58] 'decontaminating life',[59] 'congenital generator, your nephew'[60] 'rumpled idiot-boy'[61] 'mumping pub',[62] and so on. Fry will use 'larceny' for theft,

42. Iblid, p. 27
43. Phoenix, p. 16
44. The Firstborn, p. 17
45. Ibid, p. 37
46. Derek Stanford. Christopher Fry : An Appreciation (London, 1951), p. 200. Cue title Appreciation.
47. Lady, p . 40
48. Ibid, p. 33
49. The Firstborn, p.4
50. Ibid, p. 4
51. Ibid, p. 37
52. Phoenix, p.29
53. Lady, p.65
54. Venus, p. 5
55. Ibid, p. 14
56. Ibid, p. 56
57. Lady, p. 32
58. Ibid, p. 32
59. Ibid, p. 26
60. Ibid, p. 28
61. Ibid, p. 41
62. Ibid, p. 18

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'abacation' for the theft of animals, 'peculation' for embezzlement, and 'incendiarism' for causing fire.[63]

His language contains within itself all the expected furnishings of verse, such as imagery, metaphor, simile, onomatopoeia, alliteration, and the like. As an example of onomatopoeia, we can cite the following passage :

Burst in among us, blashpheming against
Woden,
Broke his sword in the air—he swore it broke
Against a staggering light—and stood roaring,
Swaying in a sweat of wax, bestraddled
Over the fallen Briton.....[64]

And below are given a few samples of his alliterations :

1. ...Who's awake ? Where's
The welcome of women for wayfarers ?
Where's my Wodenfearing mother ?[65]
2. ...as bright and bristling
As Barney the boarhound...[66]
3. To doom and a damned journey into dust ..[67]
4. You should be crouching craven in a cave...[68]

Fry's love of and his skill in the use of paradox and anti-thesis can be illustrated from the following passages :

1. ..Joy is nothing
But the parent of doom.[69]
2. Death is a new interest in life...[70]
3. ...What is my freedom becomes
Another person's compulsion...[71]
4. Shall we live in mystery and yet
Conduct ourselves as though everything were known ?[72]
5. In the belly of our misfortune
We find our hope.[73]
6. I followed a light into a blindness.[74]
7. Nothing has any truth and anything is true.[75]

And here is an example of Fry's pun :

DUKE — And I, as unlaborious
As a laburnum tree, hang in caresses of gold.

EDGAR. — And what do I hang in ?

DUKE. — You hang in abeyance, Edgar...[76]

His plays, thus contain something of the intellectual acrobatics of the metaphysicals. There are far-fetched images which are spell-binding, the similes and metaphors that startle us, the puns that remind us of Janus, the play of engaging words that reminds us sometimes of Anouilh, sometimes of O'Casey, and at other times of the Elizabethans. His wit descends from the Restoration dramatists through Oscar Wilde. And while there is much exquisite grace of expression there is also the earthy salt of colloquialisms. One could fill a whole anthology with brief or copious extracts from his plays, demonstrating his varied use and employment of it as a comic agent, in paronomasia and other forms of word-play; his amazingly inventive powers of abuse; his gay neologisms and polysylabic clowning; or, again, on the serious side, his flair for giving to metaphysics the valid and immediate impact of metaphor; his creation of fresh vernacular of wooing; and his art as an 'inner portrait painter.'

Fry lays the acceptance of poetry in the theatre to two things :

63, See Lady, p. 36
64. Thor, p.4
65. Ibid, p. 1
66. Ibid p. 2
67. Ibid, p. 7
68. Ibid, p. 19
69. Phoenix, p. 33
70. Ibid, p. 4.
71. Venus, p. 96
72. The Firstborn, p. 46
73. Ibid, p. 31
74. Ibid, p. 31
75. Ibid, p. 48
76. Venus, p. 53

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

> One's the reaction to the long hold of surface realism. The other is that the world seems rather cut down a bit.. and poetry provides something people lack, and wish for a richness and reaffirmation.[77]

At another place he states :

> The use of verse in the modern theatre... comes, I think, from a certain spiritual searching which is part of our troubled times.[78]

He regards poetry as the language of reality, of economy, and of correctness. It is not unnatural. On the contrary, it is 'the reason itself'.[79] The pursuit of poetry or the creation of its works, in Fry's opinion, is "an apprehension of truth beyond the power of rational thought." In his defence he says, "Well if we have to be born into a world as wildly unprosaic as this one is, what else can be done, if we mean to be realistic ?"[80]

Fry has demonstrated over and over again that poetry preserves its force as a universal language, significant and immensely enjoyable. It has the privilege of showing us several planes of reality at once—sensuous, logical, psychological and spiritual. It is the language of emotion and power; it 'moves like an athelete over hurdles to perform the most most economically'.[81] Moreover, it is 'the central functionary of the play, the spring of all action, potent, shaping, and informing'. It has several advantages over prose. Certain experiences can be better experienced in and expressed through it; 'in prose we convey the eccentricity of things; in poetry, their concentricity.[81]' It is as natural as one of our senses. Moreover, it is an 'unrolling exploration' and 'the humility of language.' All our actions in Fry's view are the actions of poetry. He argues :

> Poetry is the language in which man explores his own amazement. It is the language in which he sees heaven and earth in one word. It is the language in which he speaks to himself and his predicament as though for the first time. It has the virtue of being able to say twice as much as prose in half the time, and the drawback, if you do not happen to give it your full attention, of seeming to say half as much in twice the time . . . We can say that poetry is the language of reality.[82]

Poetry to Fry, therefore, is a sign of man's vitality. 'Fear of it, or lack of it, is the dead-end of his material needs.' In his theatre poetry is action and action is poetry. He is not a poet and a playwright separately : he is all the time a poet-playwright. He holds with Wordsworth's theory that poetry is something "felt in the blood, and felt along the heart."[83] He summarises his theory of verse as follows :

> A verse play is not a prose play which happens to be written in verse. It has its own language. In a talk on *Poetry and the Theatre*, I tried saying something more about this, in these words : "The dramatist must view the world of his play, and the people of that world, with great precision : the poet-dramatist with the greatest poetic precision. The whole structure depends upon it, what scene follows another, what character goes and what character enters, where description or landscape becomes

77. Ed. Stanley J. Kunitz, Twentieth Century Authors: A Biographical Dictionary (New York, 1955), p. 355
78. Fry's letter to M P. Sanghal. pub. in his Christopher Fry and T.S. Eliot (Brij. Prakashan, Meerut, India, 1968). p. 127, originally a thesis submitted to Agra University.
79. "Why Verse?" p. 137.
80. Quoted by Denis Donogue, Essays in Criticism, IX, 38
81. "Why Verse?" p. 137.
82 "A Playwright Speaks", p. 332
83. Quoted by Fry from Wordsworth's 'Tintern Abbey' (1798) in "Why Verse"; p. 166.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

part of the action, or where it needs a bare exchange. The poetry and the construction are inseparate. Who understands the poetry understands the construction, who understands the construction understands the poetry, for the poetry is the action and the action — even apart from the words — is the figure of poetry.....[84]

What Fry wants is that 'in exploring and recreating life in terms of the stage we should use language as fully charged and as plient as we can make it.' [85] So poetry should be used in the theatre to satisfy the spiritual needs of our age, to include the greater reality, to express the superstitions and the supernatural, to enact a mood or state of mind, to portray a character, to demonstrate the human dilemma, and above all, to achieve a union of word, action, character, tradition and discovery. "No event," observes Fry, "is understandable in a prose sense alone. Its eventual meaning... is a poetic meaning."[86] But Fry does not consider poetic drama to be something opposed to prose drama. In an interview with Lewis Nicholas, he said :

> I find it a pity to divide drama into verse and prose, for it's a false division. Each play shouldn't have to be forced into one category or the other, it happens that only poetry is for me, and I have never written a prose piece of my own. But the division is growing less. Tennessee Williams, for example, has written both.[87]

In another talk he points out :

> What reason is there for limiting the theatre to one form of communication ? It is even believed that the prose play and the verse play are in opposition : or that the one precludes the other : there appears to be a kind of colour bar in the matter. Such rivalry is nonsense. Indeed prose and verse existing side by side counter each other's dangers. If they pass altogether out of reach of each other's, they cease to be themselves : becoming on the one hand journalese, official cant, or any other string of sentences : and on the other a vagueness, an abstraction, a preciousness.[88]

The inter-play of prose and poetry to Fry is like "men and women dancing the Grand Chain,"[88] and it is this dance that keeps each in its own state of grade. So he shelves this debate between the poetic and the prosaic in the following manner :

> I have no answers to satisfy you if you believe that human nature, or human personality, is divided into two parts, of whatever proportion, the prosaic and the poetic. I think we always live with a foot in each camp, or rather, that there is no moment when we can safely say that even our apparently most insignificant actions have not a significance greatly beyond ourselves.[89]

Fry's plays live up to this compromise. Some of them—*The Boy with a Cart* and *Curtmantle*—use both verse and prose.

Fry's verse has its distinctive mark. William Arrowsmith has compared Fry's verse with Marlowe's. "There is," says he, "the same verbal impatience, the same laddering of effects towards an over-all tonal-roof, and the exuberance of the autonomous language."[90] But another critic, Mauris Bewley differs with Mr. Arrowsmith. Commenting on the same speech which Mr. Arrowsmith chose for Fry's appreciation, Mr. Bewley remarks, "The colours of this speech flake and fade, and the outline of its image grows misty. There is very

---

84. Christopher Fry, An Experience of Critics (Oxford), 1953, pp. 26-27. Hereafter referred to as An Experience.
85. "A Playwright Speaks", The Listener (Feb. 23, 1950), 332.
86. "Why Verse?" p. 162.
87. The New York Times, Sunday, 27 April, 1958, Sec. II, IX.
88. "Why Verse?" p. 166,
89. Ibid, p. 168.
90. See "Notes on English Verse Drama", Hudson Review, Summer, 1950, III, 213-16.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

little or concrete immediacy behind it, an even 'bryony, sloes, rosehipe' suggest second-hand literary gleanings rather than a genuine response to the real things, or even to the experience or words."[91] Mr. Bewley's other charges against Fry's verse are ironic over-statement, and a cynicism too youthful and exhibitionistic. But most of these charges again are a by-product of the modern antipoetic tendency. Mr. Bewley seems to undermine the fact that any piece of real art when it comes to public notice automatically becomes exhibitionistic, and that if Fry's pages are charged with a little extravagant wrath and vigour, they should not appear to any of us as full of 'cynicism'. In fact Fry's comedies are not the comedies of situations or characters ; here the action lies not in events and situations, but in the very words. So the critic does not need to bewilder himself by Fry's buyoant flights of imagery and this sometimes baroque rhetoric. Such effects are not interruptive. The most imaginative passages, instead of standing isolated as poems to be recited by the actors reinforce characterization and energize plot. Even the forty-eight line speech of Merlin in *Thor, with Angels,* and the forty-three line eloquence of Perpetua in *Venus Observed*, which have been the subject of adverse criticism are relevant to the meaning of the play concerned.

The most notable feature of Fry's verse is its dramatic quality. His poetry is dramatic enough to vivify character and energise plot. His plays are moving poetry. Like Bottomley's his lyricism is there not by accident but by design, because he is resolved to create a poetic drama in the true sense, a drama where the action is the poetry and the poetry is the action. "In Fry, then, as I have attempted to show, poetry and drama are not at war ; the first diminishing the sense of situation, the second detracting from the beauties of speech."[92] So "it would be wrong to think that the poetry is merely a spangled cloth, a number of yards of verbal tinsel, wherewith the author disguises or positively enhances the basic banality of his drama."[93] Hence to estimate Fry's success accurately we must see his plays "not so much as an achievement in poetic drama, as an original application of verse to familiar theatrical ends.[94] poetry is "the central functionary in the play, the spring of all action, potent, shaping and informing."[95]

He uses verse in a way that will enable actors, unused to such dialogues, to benefit by it instead of making them feel embarassed by it. His verse is very easy, chastened, melodious, and full of apt phrases, metaphors and similitudes. It has a dynamic structure and steadily moves towards a climax, and at the same time it is studded with pointed, witty and paradoxical statements and sentences. It rouses and shocks the mind and keeps it perpetually expectant, and gratified. He has the double gift of the musician and the rhetorician, which is clearly reflected in his verse-dialogue, where aptness and precision of phrasing, balance, economy and adjustment of part with part, of illustration and a veritable hail of pelting end sparkling witticisms and paradox abound.

Fry has been able to free himself from the fetters of the Elizabethan blank verse which sucked the vital lifeblood of the plays of Flecker. Like a hag his plays also emphasize the growing awareness of the necessity of simplification or the blending of the colloquial and the poetical for infusing the energy of real life into poetic drama. He has successfully created his medium—verse without any specifically poetic language or rhythm, fit

91. Mauris Bewley, "The Verse of Coristopher Fry," Scrutiny, XVIII (June, 1951), p. 79.
92. Appreciation, p. 48.
93. Ibid. p. 19.
94. Raymond Williams, op. cit., p. 262.
95. "Why Verse?" p. 137.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

for prosaic contexts, but also able to enhance dramatic tension by its precise and suggestive poetic condensation. It helps rather than hinders the audience. It has a burning energy and a splendid diction. Fry can switch over directly or indirectly to prose whenever he wishes to do so. Almost all his plays contain scenes in prose or in verse which is near prose.

Fry's verse, however, is not the prevalent staccato drives, 'the gutter-bred language polished to crest stone heights', nor the 'telegraphic lingo that passes for alive dramatic speech' but the singing and flowing of the English tongue, and to use J.C. Trewin's phrase, 'the singing of gold'. He is indeed, 'the freshest, and most singing voice that had sung in the dusty recess of the theatre'.[96] He is all the time "a silvery singer", a sort of Siamese Twin, in which the attributes of the muse of song and the muse of drama are featured together."[97] Derek Stanford has rightly called him "the 'pocket' Caruso[98] of contemporary stage-verse."[99]

Fry does not employ the ten-syllabled line with regularity; he uses much freer forms. He is a man with lively fancy. Fry's rhymes, when compared to Shakespeare's seem to be comparatively limp because he cannot fall back upon a standard of regularity from which any departure provides a rhythmic meaning to the ear. His rhythm is colloquial, easy, matter-of-fact, compounded of daily speech patterns. There is a tinge of monologue in some of his dialogues. We do not find in his verse that rhythmic woodenness and linguistic poverty which the Victorian poet-dramatist had. Fry is always rich and copious in his style. His rhythms and metres often resemble those of the Miracles, and the Morality and Mystery plays of the Middle Ages, notably *Everyman* (about 1490), If need be, he can repeat the rhythms to heighten the effect (for example, "But am I sure" in *Venus Observed* p. 95).

When we trace the development of Fry's style and medium we find that *The Boy With a Cart* reflects Fry's indecision about the choice of his medium. He appeared to waver between Eliot and Williams, and also between the prosaic and the poetic. He knew not whether to choose a florid language or a simple colloquial idiom. In fact, he appears to have expounded with both prose and verse. Much of the play, therefore, is written in prose, and the real poetry in the play is found in the lyrical utterances of the Chorus. But he was soon convinced that his powers lay between Shakespeare and Eliot. In *The Firstborn* his idoim is highly chiselled and finished. Although this play is not remarkable for the splendour of his comedies, yet it shows Fry's wonderful mastery of dialogue. Here the language is neither artful nor pompous, but simple and consistent :

> We're not enemies so much
> As creatures of division—you and I,
> Ramesses, like money in a purse,
> Ring together only to be spent .
> For different reasons. ..[100]
>
> OR
>
> We're not concerned with hope,
> Or with despair ; our need is something different ;
> To confront ourselves, to create within ourselves
> Existence which cannot fail to be fulfilled.[101]

There is in this play minimum decoration. The language has a remarkable economy and precision. In comparison with the language of comedies the language in his tragedies is suddued and controlled, yet it is not dead; it has its usual freshness, vigour and the singing quality.

In his comedies the language is typically Fryian. It has a wonderful store of figures of speech ; its imagery is of a very intense order ; it is like sea-foam or lightening without its terrific thunder. It has a continual sweet murmur. Whereas the comedies have a

96. New York Times, Nov. 8 1959, p. 87.
97. Appreciation, p. 12.
98. Enrico Caruso (1873-1921), a celebrated singer.
99. Appreciation, p. 12.
100. The Firstborn, p. 26,
101. Ibid, p. 31.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

bubbling spontaniety and flow of words, tragedies use them in a restrained manner. We may assign the reason of this simplicity to the severe criticism of his critics. But above and over this consideration are the theme and atmosphere of the tragedies. It is in accordance with the demand of the action, that Fry uses language. In short, whereas the language of the comedies (*A yard of Sun* is an exception) is florid, the language of the tragedies and later festival plays is subdued.

Fry's style may appear too mannered but, it comes to him naturally. He has violated the calendar in both directions, utilising the modern idiom in depicting the Middle Ages, and 'elevated' diction in realistic modern scenes. The diction of his verse ranges from the cockney in *A Phoenix Too Frequent* to the vulgar tongue of enlisted men in *A Sleep of Prisoners*, from the homely modern terms put into the mouth of St. Cuthman in *The Boy with a Cart* to the suave epigrams of *Curtmantle*. His gift for idiomatic usage has been equalled by no other contemporary poet-dramatist. He can make an effective use of slang and colloquialism, e.g. 'swiggty', 'oblit' (for obliterate). There is often an euphemistic touch in his style : "I think I see little phoebuses/rising and setting in your eyes." His is a melodious and picturesque style. One cannot but marvel at the amazing vocabulary and those flippant classical allusions which are a part of his style. "Fantasy, eloquence, rhetoric, and wit, when taken together combine to produce a remarkably high-spirited verbal compound. Such a component we have in Fry's plays."[102] His style is, therefore, both original and inimitable. That is why he has hardly any disciples.

To conclude, Fry's verse, has adaptability and flexibility. It has a dramatic function ; it relies on the potency of words and not on the urgency of action. He has a particular gift for describing, with his amplitude of similes and delicate fabric of language, the sounds, sights and smells of the English countryside. It possesses to a great extent sensibility, power, wit, humour, pun, paradox, a flood of figures of speech, artistic insight and imagination. "His Verse", says J. C. Trewin "is a foam, a sea, a walter of conceits. Wit flashes from it like a heliograph in sunlight.[103] Again it is for his uninterrupted raillery and horse-play, his striking untraditional, saucy images, vigorous metaphors, and vaunted wit that Fry is most popular among the contemporary audiences. Fry's verse is further notable for its burning energy, its splendour of diction, its sensuous richness, its variety of space, and its responsiveness to the demands of varying emotions. Fry's dialogue, in its mingled gaiety and melancholy, sweetness and irony, allusions to real things and kinship with a romantic world, has an altogether indefinable magic. He has created a personal style of his own; a mixture of the sublime, the simple and beautiful, the mysterious, the grotesque, the learned, and the unexpected. As one of his characters says, "I have done nothing monosyllabic. A spade is a spade ?"[104] Fry has rightly removed much of the monotony of the dull prosaic stage of the twentieth century, and has contributed a lot of literary drama without damaging its stageability. Colgrin in *Thor, with Angels* rightly summarises Fry's achievement :

There's not a devil
In the length of the land could pick such a posy of words
And not swoon smelling it.[105]

Dr. R.L. VARSHNEY
Department of English
University of Gurukul Kangri, Hardwar

---

102. Appreciation, p. 211.
103. J. C. Trewin, Drama : 1945-50 (Longman, 1951), p. 26.
104. Venus, p. 36.
105. Thor, pp. 1-2.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PRINTED AT S. NARAYAN & SONS, DELHI.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

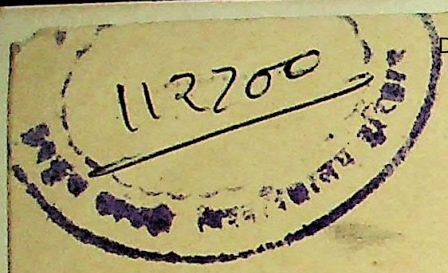

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri